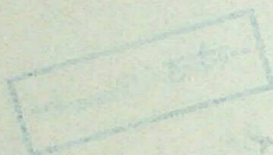
अद्वैतचिन्ताकौस्तुभसहितम्

तत्त्वानुसन्धानम्

•

सम्पादक-अनुवादक

पं. गजानन शास्त्री मुसलगाँवकर



श्रीमहादेवानन्दसरस्वतीकृतम्

अद्वैतचिन्ताकौस्तुभसहितम्

तत्त्वानुसन्धानम्



श्री दक्षिणामूर्त्ति-पीठाधीश्वर-महामण्डलेश्वर

श्री महेशानन्द गिरि जी महाराज

के निर्देश से—

सम्पादक - अनुवादक

पं. श्री गजानन शास्त्री मुसलगाँवकर

श्री दक्षिणामूर्त्ति मठ

वाराणसी

प्रकाशक —

श्री दक्षिणामूर्त्ति मठ

डी० ४९/९ मिश्र पोखरा, वाराणसी - २२१०१०

प्रथम संस्करण

भगवत्पादाब्द १२०६

वैक्रमाब्द २०५१

खैष्टाब्द १९९४

मूल्य— ३००.०० [तीन सौ रुपये मात्र]

मुद्रक —

तारा प्रिंटिंग वर्क्स

कमच्छा, वाराणसी

भूमिका

परम पुरुषार्थ मोक्ष की अभिलाषा किसे नहीं रहती? क्योंकि मोक्ष की प्राप्ति होने पर यह जीव पुनः जनन-मरण के चक्र में नहीं फँसता। इसी आशय को श्रुति/स्मृतियों एवं पुराणों में भी बताया गया है। 'न स पुनरावर्त्तते', 'यद् गत्वा निवर्तन्ते', 'अनावृत्तिः शब्दात्' इत्यादि। अतएव अधिकारी ज्ञानी पुरुष मोक्षप्राप्ति के लिये ही प्रयत्नशील रहते हैं। अज्ञान निवृत्ति पूर्वक सच्चिदानन्द ब्रह्मरूप में जीवात्मा की स्थिति को ही मोक्ष कहते हैं। ब्रह्मलोक आदि की प्राप्ति होना 'मोक्ष' नहीं है। क्योंकि तद् यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते एवमेवाऽमुत्र पुण्यचितोलोकःक्षीयते'— यह श्रुति बता रही है कि ब्रह्मलोक आदि लोकों का भी इस लोक के समान ही नाश होता है। 'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तितोऽर्जुन'— इस गीतावचन के अनुसार स्पष्ट है कि ब्रह्मलोकादि लोक भी पुनरावृत्तिमान् हैं, इसकारण उन लोकों की प्राप्ति को 'मोक्ष' नहीं कहा जाता। 'मोक्ष' की प्राप्ति तो 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्'— इस वचन के अनुसार 'आत्मज्ञान' से अधिकारी ज्ञानी पुरुषों को ही हुआ करती है। उपासना आदि किसी अन्य कर्मों से मोक्ष प्राप्ति नहीं होती। 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेतिनान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय, ज्ञानदेव तु कैवल्यम्'— आदि श्रुतियों ने मोक्षप्राप्ति में 'साधन' एकमात्र ज्ञान को ही बताया है। तथा 'नास्त्यकृतः कृतेन, न कर्मणा न-प्रजया न धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः'— आदि श्रुतियों ने कर्मोपासना आदि में मोक्ष प्राप्ति की साधनता का निषेध किया है। एवं च आत्मज्ञान ही एक मात्र, 'मोक्ष' प्राप्ति का साधन है— यह स्पष्ट हो जाता है।

जीव और ब्रह्म को अभिन्न समझकर अपनी 'आत्मा' का 'अहं ब्रह्माऽस्मि'— इत्याकारक ज्ञान को ही 'आत्मज्ञान' कहते हैं। एवं च 'जीव-ब्रह्मैक्यज्ञान से ही मोक्षोपलब्धि होती है। जीवब्रह्म के भेदज्ञान से मोक्ष प्राप्ति नहीं होती। क्योंकि 'उदरमन्तरं कुरुतेऽथ तस्य भयं भवति। द्वितीयाद्वै भयं भवति— इत्यादि श्रुतियों ने भेददर्शी पुरुष को भय की प्राप्ति बतायी है। तथा 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति'— इत्यादि श्रुतियों ने भेददर्शी पुरुष को पुनः पुनः जन्म— मरण की प्राप्ति बतायी है। 'अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुः'— इत्यादि श्रुतियों ने उस भेददर्शी पुरुष को 'पशु' कहा है। उसकारण 'भेदज्ञान' में मोक्ष की साधनता का होना कदापि संभव नहीं है। प्रत्युत उक्त श्रुतियों से तो जन्म-मरणरूप संसार की साधनता ही 'भेदज्ञान' में बतायी जा रही है।

'प्रज्ञानं ब्रह्म', 'अहं ब्रह्मास्मि', 'तत्त्वमसि', 'अयमात्मा ब्रह्म'— इत्यादि श्रुतियों ने तथा 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि'— इत्यादि श्रुतियों ने 'जीव-ब्रह्म' के अभेद को ही बताया है। उस कारण 'अहं ब्रह्माऽस्मि'— इस प्रकार से होने वाला जीव-ब्रह्म का जो अभेदज्ञान है, वही 'मोक्ष' प्राप्ति का साधन सिद्ध होता है।

ज्ञानी अधिकारी पुरुषों को जीव-ब्रह्मैक्यज्ञान की प्राप्ति, ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रियगुरु के मुख से वेदान्तशास्त्र के श्रवण-मनन-निदिध्यासन करने पर ही होती है। अतः मुमुक्ष पुरुष को चाहिये कि उपर्युक्त श्रवणादि साधनों के द्वारा आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिये सतत् प्रयत्नशील रहना चाहिये।

जो मुमुक्षु पुरुष आलस्यादि प्रमाद के कारण आत्मज्ञान की प्राप्ति में प्रयत्नशील नहीं रहते उनके विषय में भगवती श्रुति ने कहा है— 'न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः' अर्थात् उन लोगों ने जन्म-मरणादि दोनों को प्राप्त करके अपनी महान् हानि कर ली है। 'यो वा एतदक्षरं गार्ग्याऽविदित्वाऽस्माल्लोकात् प्रैति स कृपणः'। जैसे लोक व्यवहार में 'कृपण कहे जाने वाले पुरुष, प्राप्त हुए धन का उपभोग नहीं किया करते वैसे ही अज्ञानी पुरुषों की भी नित्य प्राप्त ब्रह्मानन्दरूप धन के साक्षात्कारात्मक उपभोग से रहित रहने के 'कारण' ही समझना चाहिये।

जो मुमुक्षु अधिकारी पुरुष, श्रवणादि साधनों के करने में प्रयत्नशील रहते हैं, उन्हें भगवती श्रुति ने 'अथ य एतदक्षरं गार्गि विदित्वाऽस्माल्लोकात् प्रैति स ब्राह्मणः' कहकर 'ब्राह्मण' कहा है। तथा श्रीमद्भगवद्गीता में भी भगवान् स्वयं अपने श्रीमुख से 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' कहकर 'ज्ञानी पुरुष' को अपना 'आत्मा' ही माना है। अतः मोक्ष प्राप्त्यर्थ श्रवणादि साधनों के द्वारा 'आत्मज्ञान' प्राप्त करना मुमुक्षु पुरुष के लिये अत्यावश्यक है। इसीलिये वेद में 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः'— इस वचन से आत्मज्ञान की अवश्य कर्त्तव्यता को बताते हुए आत्मज्ञान प्राप्त्यर्थ 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः'— इस वचन से 'श्रवण-मनन-निदिध्यासन'— इन तीन साधनों का विधान किया गया है। एवंच वेदों का तात्पर्य साक्षात्, कहीं परंपरया 'आत्मज्ञान' की प्राप्ति में ही है। निष्कर्ष यह है— वेद में तीन काण्ड हैं— (१) कर्मकाण्ड, (२) उपासनाकाण्ड, (३) ज्ञानकाण्ड वेद के कर्मकाण्ड भाग का तात्पर्य 'अन्तःकरणशुद्धि' के द्वारा 'आत्मज्ञान' में है। उपासनाकाण्ड का तात्पर्य 'चित्त की एकाग्रता के द्वारा 'आत्मज्ञान' में है। और उपनिषद्रूप ज्ञानकाण्ड का तो साक्षात् ही 'आत्मज्ञान' में है। इसी प्रकार मनु, याज्ञवल्क्य, पराशर आदि ऋषियों ने अपनी विरचित स्मृतियो में तथा भगवान् बैदरायणव्यास ने स्वविरचित ब्रह्मसूत्र, तथा महाभारतादि इतिहास और अन्यान्य पुराणों में भी ब्रह्मात्मैक्यज्ञान में ही सभी का तात्पर्य बताया है। महर्षि वाल्मीकि ने एवं योगवासिष्ठ रामायण में भी अनेक विध इतिहासों को बताते हुए 'आत्मज्ञान, का ही निरुपण किया है। अनादि श्रुति-स्मृतिसिद्ध 'आत्मज्ञान' को ही भगवान् श्री शंकराचार्य ने उपनिषद्भाष्य में और ब्रह्मसूत्रभाष्य में एवं श्रीमद्भागवद्गीता के भाष्य में उसी आत्मज्ञान का निरुपण अत्यन्त स्पष्टया किया है। आदि शंकराचार्य के भाष्यों का प्रामाण्य सर्वतोपरि है। भगवान् व्यास ने शिवपुराण में कहा है—

"व्याकुर्वन् व्याससूत्रार्थं श्रुत्तेरर्थं यथोचिवान्।
श्रुतेर्न्याय्यः स एवार्थः शंकरो वितितान वै"।।

वेदों का अन्यथा अर्थ लगाकर अनर्थ में ग्रस्तहुए लोगों को देखकर देवताओं ने भगवान् शंकर से प्रार्थना की। उनकी प्रार्थना को स्वीकार कर इस भूमण्डल पर भगवान् शंकर ने ही श्रीशंकराचार्य के रूप में अवतार लिया और भगवान् बादरायणव्यास रचित ब्रह्मसूत्रों का व्याख्यान करते हुए श्रुतिवाक्यों का यथावस्थित अर्थ प्रदर्शित किया। श्रीशंकराचार्य के द्वारा किया गया श्रुत्यर्थ है समुचित है। तदनुकूल ही कितनी विपुलराशि में अनेकानेक ग्रंथ विद्वन्मूर्धन्य पण्डितों नें भी लिखे हैं। सभी ने अपने-अपने ग्रन्थों में जीव-ब्रह्मैक्य ही सिद्ध किया है। अर्थात् अद्वैत (अभेद) ही सिद्ध किया है। कितने ही विद्वानों ने तो परमतखण्डन करते हुए स्वमत (अद्वैतमत) के प्रतिपादनार्थ लिखे हैं। जैसे— अद्वैत-सिद्धि, चित्सुखी, स्वाराज्यसिद्धि, संक्षेपशारीरक, वेदान्तपरिभाषा, सिद्धान्तलेश, अद्वैतकौस्तुभ, भेदधिक्कार आदि।

कुछ ग्रन्थ, केवल अपने मत की स्थापना के लिये लिखे गये हैं। जैसे— पंचदशी, वेदान्तसार, अपरोक्षानुभूति, वाक्यवृत्ति, वाक्यसुधा, जीवन्मुक्तिविवेक, विवेकचूडामणि, आत्मबोध, तत्त्वबोध अनेकानेक विद्वानों ने स्व-स्वबुद्धि के अनुसार बृहत् तथा लघुकाय वाले क्लिष्ट तथा सुबोध ग्रन्थों की भी रचना की है। सभी ग्रन्थोकर्त्ताओं का उद्देश्य एकमात्र यही था कि अधिकारी पुरुषों को आत्मज्ञान का मार्ग सुबोध करा दिया जाय। अधिकारी पुरुष, प्रदर्शित मार्ग का अनुकरण कर आत्मसाक्षात्कार करके मोक्ष की प्राप्ति कर सके।

जिस समय में उपर्युक्त अनेकानेक श्रेयस्कारक ग्रन्थों की रचना हुई और उनका सर्वत्र अप्रतिहत प्रचार-प्रसार हुआ, वह समय, संस्कृति और संस्कृत भाषा से ओत-प्रत पूर्ण था। तदनन्तर दैवदुर्विपाक के कारण काल की करालता से घोर-घोरतर परिस्थिति ने विकट स्वरूप धारण किया। फलस्वरूप संस्कृत का अध्ययन-अध्यापन लुप्त प्राय सा ही हो गया। शिक्षा का स्तर ही बदल गया। आज की शिक्षा-दीक्षा एक तरह से निकम्मी हो गई है। धान के छिलकों को कूटने के तुल्य आज की शिक्षा केवल शुष्क शिक्षा है, रसहीन शिक्षा है। आज की शिक्षा ने केवल 'साक्षरता' का स्वरूप ही ग्रहण कर लिया है। परिणाम यह हुआ है कि साक्षरों ने 'राक्षसों' का रूप धारण कर लिया है और तदनुरूप ही सम्पूर्ण व्यवहार अपनाया जा रहा है। इसी कुपरिस्थिति को एक पद्य के द्वारा बताया गया है—

"सरसो विपरीतश्चेत् सरसत्वं न हीयते।
साक्षरा विपरीताश्चेत् राक्षसा एव केवलम्"।।

आज की कूटशिक्षा से तथा संस्कृत भाषा का भी ज्ञान, सर्वसाधारण आधुनिक शिक्षितों को न होने के कारण केवल लोक-कल्याण की कामना से प्रेरित होकर प्रस्तुत "तत्त्वानुसन्धान" संज्ञक ग्रन्थ को श्रेयस्कर जानकर उसे सुबोध हिन्दी भाषा में विस्तार के साथ समझाने का प्रयत्न किया गया है। इस हिन्दी व्याख्या का सार्थक नाम भी 'साक्षात्कार' रखा गया है। क्योंकि तत्त्वानुसन्धान के फलस्वरूप 'साक्षात्कार' ही हुआ करता है।

आत्मज्ञान में अभिरुचि रखनेवाले मुमुक्षु सत्पुरुष, प्रस्तुत ग्रन्थ का मनोयोग के साथ पठन, मनन, निदिध्यासन करके स्वयं अनुभव करके प्रस्तुत ग्रन्थ की यथार्थता से परिचय प्राप्त करते हुए अपने सन्मनोरथ को सफल बनावें, और परब्रह्म परमेश्वर उनके प्रयत्नों की सफलता में सहायक हो, यही परमेश्वर के चरणारविन्दों में अहर्निश प्रार्थना करते हुए उसे पुनः-पुनः प्रणाम कर अपनी लेखनी को विश्राम दे रहे हैं, इतिशम्।

मुमुक्षुजनहितैषी
गजाननशास्त्री मुसलगाँवकर

प्रतिपाद्यविषयानुक्रम-बोधनी

द्वितीय-परिच्छेद १२७-२६६

तृतीय-परिच्छेद २६७-३४४

चतुर्थ-परिच्छेद ३४५-४२४

■

शुद्धि-पत्रम्

संस्कृतम्

अशुद्ध	शुद्धम्	पृ. सं.
प्रगङ्गात्	प्रसङ्गात्	९
आत्मतः	आत्मनः	१०
श्रुतिस्मृतिहास	श्रुतिस्मृतीतिहास	१०
भूताति	भूतानि	२३
युक्त्यादौ	शुक्त्यादौ	३२
आकाशप्रबिम्ब	आकाशप्रतिबिम्ब	५६
मतः	मत्तः	६३
दितीयः	द्वितीयः	८२
कामान्	कामान	८५
कर्मफमत्वेन	कर्मफलत्वेन	८५
तस्मिंन्नित्व	तस्मिन्नित्य	८६
कर्मान्तरेण व, ज्ञानेन बा	कर्मान्तरेण वा, ज्ञानेन वा	८७
यायेन	न्यायेन	९२
द्वितायमैच्छत्	द्वितीयमैच्छत्	९३
व्यष्टिष्रनुस्यूतं	व्यष्टिरनुस्यूतं	९४
बुद्धा	बुद्ध्या	९६
तस्काद्वैश्वानर	तस्माद्वैश्वानर	९६
विज्ञनोपरमसत्वात्	विज्ञानोपरमसत्वात्	९८
तद्द्यतिरेकेण	तद्व्यतिरेकेण	११४
लक्ष्वार्थमाह	लक्ष्यार्थमाह	११७
वाचकायशब्दस्य	वाचकायंशब्दस्य	११८
प्रयक्षादि	प्रत्यक्षादि	१२०
श्रून्ययत्वं	शून्यत्वं	१२४
पिषयत्वम्	विषयत्वम्	१५८
पदार्थोपस्यितिः	पदार्थोपस्थितिः	१७८

अशुद्ध	शुद्ध	पृ.सं.
वैराग्र्य	वैराग्यं	१८९
प्रभतीनाम्	प्रभृतीनाम्	१९१
गृहस्वादीनाम्	गृहस्थादीनाम्	२०७
विशकलितस्मले	विशकलितस्थले	२१४
वह्न्याधिष्ठान	वह्न्याधिष्ठान्	२१५
तादात्यमरोक्षत्वम्	तादात्म्यमपरोक्षत्वम्	२१५
विविक्षितम्	विवक्षितम्	२१६
अनृपपद्यमानार्थ	अनुपपद्यमानार्थ	२२१
समुदुद्धसंस्कार	समुद्बुद्धसंस्कार	२३१
षड्घिधप्रमाभिः	षड्विधप्रमाभिः	२६३
अनुभानेन	अनुमानेन	२६९
अभिव्यक्तिस्तु	अभिव्यक्तिस्तु	२९१
ऱिनपाधिकः	निरुपाधिकः	२९५
आम्यन्तर	आभ्यन्तर	२९५
यथार्थंस्मरणं	यथार्थस्मरणं	२९६
तद्वपरीत्याद्	तद्वैपरीत्याद्	३०१
आत्मेर्ति	आत्मेति	३०२
स्दस्य	स्वस्य	३१०
धीदपस्तेन	धीपदस्तेन	३२८
उपद्यत	उपपद्यत	३३८
निशशेष	निश्शेष	३५०
क्षयीते	क्षीयते	३५१
पुंयत्नेन	प्रयत्नेन	३५१
विविदषा	विविदिषा	३६२
स्यादस्तेषाम्	स्यादतस्तेषाम्	३६६
ज्ञेयमखण्डैकरमानन्दं	ज्ञेयमखण्डैकरसमानन्दं	३६८
सवंमात्मव्यतिरिक्तब्या	सर्वमात्मव्यतिरिक्ततया	३७२
गगनं	गमनं	३७६
प्राणिनिरोधोवायः	प्राणनिरोधोपायः	३८६

■

तत्त्वानुसन्धान की भूमिका

विश्व में अभी तक मानव ही एक प्राणधारी ज्ञात हो सका है जो अपने ज्ञान को विचार का विषय बनाता है। ज्ञान के विषय की वास्तविकता को वह कसौटी पर कस कर उसको सत्य या मिथ्या से क्रोडीकृत करके प्रमाणमीमांसा में प्रवृत्त होता है। सबसे अधिक व्यावहारिक सत्य का लक्षण कार्यकारिता है। अनेक दार्शनिक इसी को अन्तिम लक्षण स्वीकारते हैं। सबसे अधिक संश्लिष्ट लक्षण है कि तीनों कालों में जो बाध के योग्य न हो। आचार्य गौडपाद आदि ने इसी लक्षण को स्वीकारा है। सत्य के ज्ञान से बन्धनिवृत्ति होती है। ऐसा सभी दार्शनिक मानते हैं। बन्धन के स्वरूप के विषय में, उसके साधन के विषय में तथा बन्धनिवृत्ति के रूप के विषय में अनेक मतभेद होने पर भी सत्य ज्ञान की अनिवार्यता सभी को स्वीकृत है। आध्यात्मिक दार्शनिक प्रायः अज्ञान से ही बन्धन की उत्पत्ति मानते हैं। अतः उन दर्शनों में सत्यज्ञान के निश्चय पर जोर है। अन्य दार्शनिक सत्यज्ञान प्रसूत मानस या बाह्य क्रिया को बन्धन निवृत्ति का कारण मानते हैं। अतः उनका जोर इस पर रहता है कि क्रिया या भाव की प्रवृत्ति ठीक हो। यदि विचार से निश्चय करने की योग्यता नहीं भी है, पर सत्यज्ञान में श्रद्धा करके तदनुकूल क्रिया करली जाय, तो बन्धनिवृत्ति हो जायगी। वे भी विचार तो करते हैं पर उनके अधिकतर अनुयायी श्रद्धामात्र से काम चलाते है। आध्यात्मिक दर्शनों में श्रद्धा का स्थान गौण नहीं है, परन्तु वहाँ श्रद्धा प्रमाण पर करना आवश्यक है, प्रमेय पर नहीं। इन दर्शनों में सत्यज्ञान से प्रसूत क्रिया बन्धन निवर्त्तक नहीं वरन् सत्यज्ञान स्वतः ही बन्धननिवर्तक है। इस प्रकार हर्यश्वद्वीप (Europe) का 'सत्य तुम्हें मुक्त करेगा' इसी आध्यात्मिक परम्परा की देन है। (Thou shalt know the Truth, and the Truth shall make thee free)। वर्तमान काल में ईश्वर को सत्य से अभिन्न माननेवाले महात्मागाँधी भी इसी परम्परा के अनुयायी हैं।

सूक्ष्म दृष्टि से विवेचन करने पर सत्य में व्यावहारिक व पारमार्थिक-भेद मानने को बाध्य होना पड़ता है। व्यावहारिक सत्य (common-sense-view) तो सभी को ज्ञात है, परन्तु वे मुक्त नहीं है। अतः उस पर विचार करके जो वास्तविक सत्य है वही पारमार्थिक सत्य है। इस सत्य का साक्षात्कार यद्यपि मन से होता है, परन्तु वह स्वतः मन से अतीत है। मन की सत्ता न रहने पर भी वह बना रहता है। वह मन की रचना नहीं है, वरन् मन ही उसकी रचना है। जिस प्रकार आँख रूप को देखती है, परन्तु आँख रूप को रचती नहीं है, उसी प्रकार यहाँ समझना है। जैसा रूप है वैसा आँख अभिव्यक्त करती है। उसी प्रकार मन जब सभी वासनाओं से मुक्त होकर सत्य के अभिमुख होता है तो सत्य जैसा है वैसा ही अभिव्यक्त होता है। मन चूँकि स्वतः बिना किसी माध्यम के किसी भी अमानसिक तत्त्व को ग्रहण करने में अक्षम है अतः यहाँ भी उसे किसी प्रमाण की आवश्यकता होती है। जैसे मन ही रूप को जानता है पर आँख रूपी प्रमाण के माध्यम से, रस को जीभ प्रमाण के माध्यम से, गन्ध को नासिका द्वारा इत्यादि। शब्द प्रमाण ही परमसत्य का माध्यम बनता है। अन्य सभी प्रमाण व्यावहारिक सत्य को प्रकट करते हैं। शब्द भी व्यावहारिक सत्य को प्रकट करता है। पर शब्द में एक विलक्षण सामर्थ्य है कि एक साथ ही व्यावहारिक सत्य को प्रकट करते हुए परामार्थिक सत्य को भी लक्षित करा देता है। व्यंजना, लक्षणा, ध्वनि आदि वाच्य के द्वारा वैसे ही प्रकट होते हैं जैसे वाच्यार्थ। परन्तु वाच्यार्थ को जैसे सभी भाषाज्ञ जान लेते हैं, या कोश आदि के द्वारा जाना जा सकता है वैसा इन अर्थों के बारे में नहीं कहा जा सकता। जब तक मन उन विशिष्ट संस्कारों से भरता नहीं तब तक ये गुप्त ही रहते हैं। इसीलिये गद्य को सभी समझते हैं पर काव्य को विरले ही समझ पाते हैं। इसीलिये इसे समाधिभाषा (Mystic Language) कहा जाता है। यह अनुभूति भी समाधि (Mystic experience) कही जाती है यदि यह अनूभूति विचार सिद्ध होती है तो इसे अपरोक्ष दर्शन कहा जाता है और यदि यह ऐसी नहीं होती तो इसे भावसमाधि कहा जाता है। विचारसिद्ध में प्रमाण जन्यता है, तथा प्रमा की दृढता के लिये विरोध परिहार कर लिया जाता है। अतः व्यावहारिक सत्य का दर्शन इसे बाध नहीं पाता। यदि ऐसा नहीं

है तो भावान्तर से यह अभिभूत हो जाती है। अतः भाव की अपेक्षा हमेशा ही रह जाती है। निश्चयात्मिका अनुभूति को निरन्तर रखना प्रयत्न साध्य नहीं वरन् स्वाभाविक है। यह बात दूसरी है कि ऐसा निश्चय दुःसाध्य होने से सभी को सरलता भाव समाधि में ही होती है। शांकर सिद्धान्त में प्रथम को ज्ञानमार्ग व दूसरे को उपासनामार्ग कहा गया है। ज्ञान से सद्योमुक्ति एवं उपासना से क्रममुक्ति प्राप्त होती है।

संक्षिप्त रूप से सिद्धान्त है कि ब्रह्म ही जीव व सारा जगत् है, इस अखण्डबोध में स्थित रहना ही मोक्ष है, ब्रह्म की अद्वितीयता में उपनिषद् ही प्रमाण है। इसी का विस्तार सारे वेदान्त ग्रन्थो में है। विस्तार का प्रयोजन विचारों को स्पष्ट करके उनके विरोधी प्रमाणाभासों को निवृत्त करना है। साथ में पारमार्थिक सत्य और व्यावहारिक सत्य में सामंजस्य स्थापित करना भी आवश्यक होता है। पूर्ववर्ती विचारकों में तत्त्व प्रतिपादन पर जोर है अतः वे प्रमेय बहुलग्रन्थ कहे जाते हैं। परवर्ती विचारकों में तत्त्वसिद्धि पर जोर होने के साथ व्यवहार से समन्वय की दृष्टि होने से उन्हें प्रमाण बहुल कहा जाता है। प्रमाता की शुद्धि तो साधनाधीन है, एवं उसके बिना दोनों ही प्रकार के विचार कौए के दाँतों की परीक्षा की तरह व्यर्थ हो जाते हैं। वेद तो सत्य को राजाज्ञा की तरह सीधी घोषणा के द्वारा कह देता है। 'आत्मैवेदम् सर्वं' 'पुरुषः एवेदं सर्वं' सभी कुछ आत्मा ही है। परन्तु साधक को भेद दिखता है। अतः इसको हृदयंगम करना कठिन होता है। सर्वज्ञ शंकर ने अध्यासभाष्य में सिद्ध किया कि प्रमाणसिद्ध से विपरीत दिखने का कारण अज्ञान ही है। आगे इस अज्ञान का सम्बन्ध और कारणता किस प्रकार की है इसे स्पष्ट करने का उन्हें अवसर नहीं मिला। उनके प्रधान शिष्य पद्मपादाचार्य ने इस पर विचार किया। महामहिम आचार्य वाचस्पति मिश्र ने इस पर प्रकाश डाला। महादार्शनिक सर्वज्ञात्म महामुनि ने तथा प्रकाशात्मा ने इस पर विस्तृत विचार किया। भिन्न-भिन्न समस्याओं का समाधान करने में तत्पर होने से उनके समाधानों में भेद दिखता है, पर जैसा भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि वे सभी वस्तुतः तत्वनिष्ठा कराने में भिन्न-भिन्न संस्कारों वाले अन्तःकरणों के उपयोगी होने से सभी उपादेय है। जिस प्रकार स्वास्थ्य प्राप्ति ही आयुर्वेद का उद्देश्य है। भिन्न-भिन्न प्रकृति वालों को भिन्न-भिन्न औषधियाँ अनुकूल पड़ती हैं। उनमें विरोध नहीं है क्योंकि स्वास्थ्य प्राप्ति रूपी एक ही उद्देश्य के लिये प्रवृत्त हैं। रोगियों का प्रकृतिवैलक्षण्य ही औषधियों की भिन्नता में हेतु है। इसी प्रकार साधकों के संस्कारों के भेद से उनकी शंकाएं भिन्न होने से उनको दूर करने में भिन्न प्रक्रियाएँ उपयोगी हैं। कालान्तर में प्रक्रियाएँ भी नई समस्याओं को उत्पन्न कर देती हैं, तब उनका परिष्कार आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार शांकरदर्शन का विस्तार होता गया। विरुद्ध प्रतीत होने वाली प्रक्रियाओं में एकरूपता लाने का प्रयास भी आवश्यक होता है। फिर ऐसे ग्रन्थ भी आवश्यक होते हैं जो इन प्रक्रियाओं को ऐसे रूप से प्रकट करें कि प्रारम्भिक साधक इस निश्चय पर पहुँच सके। तत्त्वानुसंधान इसी परम्परा की अन्तिम कड़ियों में से अन्यतम है। इसमें प्रायः इस प्रकार से ब्रह्मात्मैक्य का बोधन कराया है कि सामान्य से सामान्य भी साधक लक्ष्य प्राप्त कर सके। अपेक्षित चित्तैकाग्र्य के साधनों का भी निर्देश कर दिया है।

पूर्वाचार्यों ने तत्त्वप्रतिपादन करने में लक्षण आदि करने पर विशेष ध्यान नहीं दिया। जबकि सभी लक्षण दोषग्रस्त होकर के अनिर्वचनीयता का ही प्रतिपादन करने में गतार्थ हैं तो उनके लिये आग्रह अनावश्यक है। भगवान् गौडपाद की घोषणा है 'विवदन्तो द्वया ह्येवमजातिङ्ख्यापयन्ति ते' वादी प्रतिवादी दोनों एक दूसरे का खण्डन करके द्वयातीत का ही प्रतिपादन करते हैं। सर्वज्ञ शंकर भी न्याय की युक्ति से बौद्ध का, सांख्य की युक्ति से न्याय का खण्डन करके यही बताते हैं। हजारों वर्षों से निरन्तर चल रहा संघर्ष दोनों की सत्यता को असिद्ध कर रहा है। अद्वैत इन विरोधों से ही सिद्ध हो जाता है। द्वैत कल्पित होने से विरुद्ध कल्पनाएँ संभव हैं। अतः दो द्वैतियों में विवाद संभव है। कल्पित द्वैत का अकल्पित अद्वैत से विरोध संभव ही नहीं हो सकता। 'अद्वैतं परमार्थो हि द्वैतं तद्भेद उच्यते। तेषामुभयथा द्वैतं तेनायंन विरुध्यते' आचार्य शंकर समझाते हैं कि मस्त हाथी पर चढ़े व्यक्ति का, पागल जमीन पर खड़े 'मुझ पर चढ़ा देखें' ऐसे कहने वाले व्यक्ति का विरोध संभव न होने से, हाथी पर चढ़ा व्यक्ति उस पागल पर हाथी नहीं चढ़ाता। इसी प्रकार अद्वैती को द्वैती अपना विरोधी नहीं मानता है। अतः काम चलाने के लिये जब जैसी लक्षण आदि की व्यवस्था उपयोगी हुई वैसी ही कर ली। परन्तु कालान्तर में वादियों ने इसको न समझकर

इन्हीं में अन्तर्विरोध दिखाकर अद्वैत का खण्डन प्रारम्भ किया, जिससे अकुशल साधक भ्रान्त होने लगे। तब आचार्यों ने दया करके इनमें यथाशक्य व्यवस्था करना प्रारम्भ किया। इस प्रकार वेदान्त की साधनशास्त्रता में उपयोगीरूप से लक्षण आदि का निवेश हुआ। दर्शन का अर्थ साक्षात्कार से युक्तियुक्त की तरफ झुकने लगा। अनुभव का स्थान जल्प लेने लगा, थोड़ी बहुत वितण्डा भी होने लगी। यह बुद्धि का विलास आवश्यक था, पर कई बार साधक इसमें उलझकर तत्त्व साधन स्थिति से दूर हो जाता था। सर्वज्ञ शंकर ने इसीलिये आगाह किया था कि वैखरी शब्दझरी वाक् शास्त्र व्याख्यान कुशलता से सम्पन्न होने पर भी मुक्ति का साधन नहीं है। संकेत से महर्षि वेदव्यास ने भी तर्क को अप्रतिष्ठित कहा था। स्वयं वेद भी इसे तर्क से अप्राप्य कहता है। तर्क के बिना भी काम नहीं चलता अन्यथा मनन की विधि ही नहीं होती। भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर 'श्रुत्युपदिष्टस्य सर्वात्मब्रह्मण आत्मत्वदर्शनेन विद्यया तदाप्तिः' (तै. भा. ब्र.१) 'श्रुत्याचार्यप्रसादेन दृढो बोधः' (वा. वृ. ५०) आगमार्थस्यैव परीक्षापूर्वकं निर्धारणाय याज्ञवल्कीयं काण्डमुपपत्तिप्रधानमारभ्यते (बृ. भा. २१६) 'आगमोपपत्तिभ्यां हिं निश्चितोर्थः श्रद्धेयो भवति' (तत्रैव ३७९) इत्यादि कहकर इसे स्पष्ट करते हैं। अविरोधाध्याय के आरंभ में स्पष्ट ही तर्क का लक्ष्य सामान्य साधक के पथभ्रेष को मिटाना ही निर्देश करते हैं। अतः साधक को दोनों ही खतरों से बचना चाहिये। तर्काभाव से निश्चयाभाव भी न रहने देना चाहिये, एवं प्रतिकूल तर्कों से भी निश्चय को, प्रतिबद्ध न होने देना चाहिये। जिस प्रकार जिसे सत्य समझा है उसी का ध्यान करने के लिये सजातीय वृत्ति का प्रवाह व विजातीयवृत्ति का निरोध ध्यानयोगी के लिये आवश्यक है वैसे ही श्रुति द्वारा निर्णीत, मीमांसित व गुरूपदिष्ट सत्य के अनुकूल तर्कों का समर्थन रूपी प्रवाह व विरोधी तर्कों का खण्डन रूपी निरोध आवश्यक होता है। दृढबोध होने के बाद तो चित्त का हिलना असंभव हो ही जाता है। सभी प्रक्रियाएँ इसी दृढबोधार्थ है।

प्रक्रियाओं का विस्तार परम्परा से होता है। जिस प्रकार सूफियों में विचार व ध्यान का विस्तार सिलसिला में होता रहा है, अथवा इसाइयों में बेनेडेक्टयन आदि स्कूलों में हुआ है, वैसे ही वेदान्त में परम्परा है। इसमें प्रधान तीन परम्परायें रही हैं— पद्मपादाचार्य का विवरण प्रस्थान (प्रतिबिम्बवाद), सुरेश्वराचार्य का वार्तिक प्रस्थान (आभासवाद), एवं वाचस्पति मिश्र का भामती प्रस्थान (अवच्छेदवाद)। प्रथम दोनों साक्षात् आचार्य शङ्करभगवत्पाद के शिष्य थे। अतः उनके प्रस्थानों में भेद अतिन्यून है। तीसरे षड्दर्शनों में समान रूप से सिंह के समान विचरण करने वाले महापण्डित होने से विद्वानों के मूर्धन्य थे। उन्होंने मण्डनमिश्र की ब्रह्मसिद्धि पर भी व्याख्या लिखी थी। स्वभावतः दोनों वेदान्त के अद्वैतमत के समर्थक होने से उन्होंने भामती में उनका समन्वय करने का यत्न किया था। इसी प्रकार न्याय, सांख्य, योग, मीमांसा आदिदर्शनों का पुट भी उनमें मिलता है। अतः साक्षात् शिष्य न होने पर भी उनकी मान्यता वैसी ही रही है। काल की दृष्टि से भी आचार्य शंकर के महानिर्वाण के ५० वर्षों में ही भामती प्रकाशित हो चुकी थी। किंच विवरण भाष्य के प्रथम चारसूत्रों पर ही होने से समग्रभाष्य पर लिखी भामती की विशेषता निर्वाद है। अतः परवर्ती सभी आचार्य भामती से उपकृत रहे है। इन तीन प्रस्थानों में भी विवरण के अनुयायी ही सर्वाधिक रहे हैं। परवर्ती ग्रंथों में दोनों में शनैः-शनैः अविरोध ही लाने का प्रयास रहा है। प्रस्तुत ग्रंथ तत्त्वानुसंधान में भामती व विवरण दोनों प्रस्थानों का संश्लेष है।

शांकरमत के अनुसार स्वप्रकाश चैतन्य सत् आनन्द अखण्ड ब्रह्म का साक्षात्कार किसी भी कर्म से सम्बद्ध होकर मोक्ष नहीं देता वरन् सर्वकर्म संन्यास ही दृढनिष्ठा का जनक है। श्रवण व गुरु से उपदिष्ट युक्तियों से अधिष्ठान साक्षात्कार स्वयं अध्यस्त जीव व जगत की निवृत्ति कर देता है। अध्यस्त ही दुःखजनक है अतः आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति सहज हो जाती है। निरतिशय आनन्द तो अधिष्ठान का स्वरूप ही है। परन्तु यह बात कर्ममीमांसकों के सर्वथा विरुद्ध है क्योंकि वे विधिरहित वेदार्थ को सफल नहीं मानते। नित्य व नैमित्तिक कर्म कभी भी उनकी दृष्टि में नहीं छोड़े जा सकते। अतः उनका समाधान आवश्यक था। आचार्य ने स्वयं तथा सुरेश्वर के द्वारा बृहद्वार्तिक में अनेक मीमांसा मतों का विश्लेषण किया व करवाया है। सम्प्रदाय के अनुसार तो सुरेश्वर का संन्यास इसी उद्देश्य से कराया गया था। भामती के अनुसार कर्म ज्ञान की इच्छा मात्र उत्पन्न करने में समर्थ हैं, तो विवरण में कर्म ज्ञानोत्पत्ति तक सहायता देते हैं। इसी प्रकार एक पक्ष में साधनचतुष्टय में उपरति से नित्य नैमित्तिक

सहित सभी वैदिक कर्मों का त्याग है तो द्वितीय पक्ष में केवल काम्य व प्रतिषिद्ध कर्मों का त्याग है। ज्ञानोत्पत्ति के अनन्तर तो सभी शांकर संप्रदाय अनुयायी कर्मों का सर्वथा त्याग ही स्वीकारते हैं। ब्रह्मसिद्धि का सम्प्रदाय अवश्य जीवन्मुक्ति पक्ष को अर्थवाद मानकर कर्मानुष्ठान की शरीरस्थितिपर्यन्त आवश्यकता मानता है। अतः उस पक्ष में यद्यपि संन्यास को आश्रम स्वीकार किया है तथापि आश्रमकर्म के साथ ही ज्ञान सफल होने से एवं गृहस्थाश्रम में कर्मों का विस्तार होने से एवं संन्यासाश्रम में कर्मों का संक्षेप होने से संन्यास की अपेक्षा गृहस्थ की ज्ञानमार्ग में भी प्रशस्तता का प्रतिपादन है।

आचार्य शंकर ने ज्ञान के लिये संन्यासी को श्रवण तथा मनन में प्रवृत्त होने को कहा है। पर यह प्रवृत्ति किस प्रकार की विधि से है इस विषय में वार्तिककार सुरेश्वर तो परिसंख्याविधि को स्वीकारते हैं। उनका तात्पर्य है कि यदि करे तो श्रवणादि करे अन्यथा श्रवणादि के उपयोगी जीवनधारणार्थ भिक्षाटनादि से अतिरिक्त कुछ न करे। विवरण प्रस्थान में नियमविधि स्वीकारी है। उनका तात्पर्य है कि यद्यपि ब्रह्मप्रतिपादक होने से उपनिषद् भी पक्षतः श्रवणार्थ प्राप्त है, तथापि उपनिषद् का श्रवण ही कर्त्तव्य है। संभवतः आचार्य शंकर भी इसी को प्रधानतया प्रतिपादित करते हैं। इस पक्ष के अन्यतम आचार्य अनुभूतिस्वरूप तो साधक का अपूर्वविधि से प्रवृत्त होना स्वीकारते हैं। उनका कहना है कि मोक्ष के लिये 'क्या करें' यह वैसा ही अप्राप्त है, जैसे स्वर्ग के लिये 'क्या करें'। अतः वेदान्त श्रवण जन्य ज्ञान यह सर्वथा अप्राप्त साधन है। वाचस्पति मिश्र तो ज्ञानमार्ग में किसी भी प्रकार के विधिनिषेध का स्पर्श ही अनुचित मानते हैं। वे तो जैसे सभी अद्वैती 'देखें' का अर्थ 'देखने के योग्य' मानते हैं वैसे ही श्रोतव्य का अर्थ भी सुनने के योग्य ही मानते हैं। स्वाध्यायविधि से ही वेदान्तों का ग्रहण पर्याप्त है। इस प्रकार भिन्न प्रस्थानों में सारे ही विकल्प आ गये हैं। इनमें विरोध प्रतीत होने पर भी वस्तुतः अधिकारीभेद से वेदान्त में ही प्रवृत्ति स्वीकृत है। जो संन्यासी आश्रम में प्रवेश मात्र से सन्तुष्ट होकर 'संन्यासाद्ब्रह्मणः स्थानम्' आदि वचनों से अपने को कृतार्थ मानता है उसकी प्रवृत्ति के लिये संन्यासी को श्रवणमनन की अपूर्वविधि पक्ष ही समीचीन होगा। जो पूर्व संस्कारों से श्रवण से ज्ञान को मान कर भी पुराणादि में प्रवृत्त हो जाय उसके लिये नियमविधि, एवं जो ध्यान, योग आदि साधनान्तरों में प्रवृत्त हो उसके लिये परिसंख्यान उचित है। जो वेदान्त विचार में लगा है एवं विषय सौन्दर्य से ही आकृष्ट है उसको वाचस्पतिमत उचित लगेगा। इस प्रकार प्रक्रिया भेद का सर्वत्र समाधान करना चाहिये। शंका भेद से परिहार भेद मानने से विरोधाभास निवृत्त हो जायेगा।

अद्वैत की तत्त्वमीमांसा में केन्द्रीभूत प्रश्न है ब्रह्म की कारणता का। वेद ब्रह्म को अविकारी भी कहते हैं एवं जगत्कारण भी। कार्योत्पत्ति तो कारण में विकार ही हो सकतीहै। अतः श्रुति द्वारा नानात्व व नामरूप के निषेध से आचार्य गौडपाद ने कार्योत्पत्ति को विवर्तवाद से संगत किया। कार्योत्पत्ति के बिना कार्य की प्रतीति ही कारण को अविकृत रख सकती है। अतः जैसे मशाल में रूपों की प्रतीति होने मशाल में विकृति नहीं होती, इसी प्रकार ब्रह्म से आकाशदि प्रतीत होने पर भी ब्रह्म अविकृत रहता है। ब्रह्म ही जगत् व जीव दोनों रूपों से प्रतीत होता है। ब्रह्म में इस प्रतीति का कारण माया है। माया से ब्रह्म का सम्बन्ध भी मायाकल्पित ही है। भाष्य में इस सम्बन्ध व माया के स्वरूप पर खुलकर प्रकाश नहीं डाला गया है। वे साधक को ब्रह्मस्वरूप स्पष्ट हो कर उससे एकता का अनुभव दृढ हो जाय इसके लिये अधिक यत्नशील थे। सांख्य की प्रकृति कारणता व मीमांसक का वेदों का विधि में पर्यवसानतावाद उनका मुख्य आस्तिक प्रतिपक्षी था। क्षणिक विज्ञानवाद मुख्य नास्तिक विरोधी था। वैशेषिक परमाणुजन्य आरंभवाद का कारण विचार दार्शनिक पक्ष का विरोधी था। इन शंकाओं का समूल उच्छेद उन्होंने किया। माया व ब्रह्म का सम्बन्ध अभी विरोध करने वालों का लक्ष्य नहीं बन पाया था। वैचारिक विश्व में यह निर्विवाद है कि शंकाकार ही विचारों में स्पष्टता लाने का कारण बनते हैं। जिस प्रकार अर्थशास्त्र में प्रतिस्पर्धा से ही द्रव्यों में गुणवत्ता का आधान होता है उसी प्रकार यहाँ समझना चाहिये। हमारे देश ने इसीलिये विचारस्वातन्त्र्य का सदा आदर किया है। अध्यासभाष्य ने जिस ख्यातिवाद को ब्रह्म व माया के सम्बन्ध की आधारशिला बनाया वही अनेक शिल्पियों के द्वारा तराशी जाकर लघुचन्द्रिका की दिव्यमूर्ति बन पाई है। अतः यह भी प्रस्थानों में भेद का कारण बना। यद्यपि सर्वज्ञ शंकर के विचार सामान्यतः स्पष्ट व एकरूप थे, तथापि भाष्य व प्रकरणों में स्थलविशेषों में प्रसंगानुसार किसी विशेष पक्ष पर बल मिलना स्वाभाविक था। अतः सर्वत्र एक ही जवाब

स्पष्टतः व्यक्त नहीं हुआ है। सिद्धान्त लेश संग्रह में अप्पय दीक्षित कहते हैं कि प्राचीन आचार्य जीवेश्वरैक्य के आधारभूत सिद्धान्त के प्रति अधिक जागरूक थे, अतः आविर्भाव प्रक्रिया के प्रति अपेक्षतया उदासीन थें। जैसे रामलीला में रावण के पुतले का जलाने के उद्देश्य से बनाया जाता है अतः उस के नाक नक्श व अंगो के गठन के प्रति उपेक्षा ही बरती जाती है, वैसे ही सृष्टि प्रक्रिया अध्यारोपित करने का उद्देश्य उसे अपवादित करने के लिये होने से उसके प्रति उदासीनता स्वाभाविक है। स्वयं सम्प्रदायाचार्य गौड़पाद भी कहते हैं 'उपायः सोवताराय नास्ति भेदः'। जितना अध्यारोप पुष्ट किया जायेगा उतना ही अपवाद भी क्लिष्टतर हो जायगा। परन्तु अध्यारोप ही द्वैत का विषय होने से वादी तो उसकी असंगति से ही सिद्धान्त की असंगति बताने का प्रयत्न करने लगे। अतः परवर्ती आचार्यों ने इधर अधिक ध्यान दिया। सिद्धान्त की स्पष्टता कर आचार्य शंकर ने उधर से तो आक्रमण को सदा के लिये समाप्त कर दिया था।

आचार्य के साक्षत् शिष्य सुरेश्वराचार्य ने माया को केवल निमित्तमात्र माना था जिसका स्पष्टीकरणर्सवज्ञात्म महामुनि ने द्वारकारणता का प्रतिपादन करके किया। जिस प्रकार कुन्ती का पुत्र कर्ण अपने को राधा का पुत्र समझता था वैसे ही चैतन्य अपने को जीवात्मा समझता है। सूर्य के उपदेशं से उसने अपने वास्तविक कौन्तेय भाव को जान लिया वैसे ही महावाक्योपदेश से जीव अपनी ब्रह्मरूपता को अपरोक्ष रूप से जान लेता है। यहाँ माया भाव रूप भी है और उसका आश्रय व विषय शुद्ध चैतन्य ही है, फिर भी वह कोई विशेष स्वतंत्र विचार का विषय नहीं बनता। ब्रह्म ही वास्तविक कारण सारे नामरूप प्रतीतियों का है, माया तो अन्धकार की तरह पर्दा डालने वाली है, जिसके एक सत् नाना रूपों से प्रतीत हो जाता है। दार्शनिक तत्त्वमीमांसा की दृष्टि से स्पष्ट है कि इस प्रस्थान में जगत की व्यवस्था की तरफ ध्यान न देकर ब्रह्म की तात्विक सत्यता तथा उसकी जीवरूपता की ओर ध्यान देकर गौडपाद के अजातवाद से संगति सरल है। परन्तु जो साधक अभी जगत के प्रति जागरूक है उसको यह आकृष्ट नहीं कर सकेगा। वैराग्यवान् सर्वकर्मसंन्यासी परमहंस की दृष्टि से यह पक्ष सर्वोत्तम है यह निर्विवाद है। महापण्डित वाचस्पति दार्शनिक सार्वभौम थे। स्वभावतः उनमें जगत् की व्यवस्था की ओर ध्यान देने की प्रवृत्ति थी। अतः उन्होंने माया में कुछ अधिक द्रव्यता प्रतिपादित की। शंकर की दृष्टि से माया शक्तिरूप है। शक्ति मीमांसा में पदार्थ है। अतः वाचस्पति माया को ब्रह्म के साथ व ब्रह्म के अधीन सत्तावाली स्वीकारते हैं। माया ऐसी सहकारी है जिसके व्यापार से जगत् प्रतीति संभव होती है। माया ब्रह्म को ढांकती है पर जीव में रहती है। अर्थात् जीव ब्रह्म को नहीं जानता है। जीव माया का कार्य होकर भी माया का आश्रय है। आदि न होने से परस्पराश्रयता का दोष संभव नहीं है। अतः भामती में ज्ञान के विषय को अनिर्वचनीय माना है मानसिक नहीं। (२.२.२८) श्री प्रकाशात्मा वाचस्पति के समकालीन नहीं तो काफी नजदीकी जरूर हैं। कई आधुनिक तो उन्हें वाचस्पति से पूर्व भी मानते हैं। उन्हें पद्मपाद की विचारसरणि का प्रामाणिक साम्प्रदायिक ज्ञान था। अतः व्यासपीठ में गुरूपूर्णिमापूजन के अवसर पर विवरणाचार्य का पूजन भी श्री परमहंस सम्प्रदाय में नियमतः विधिपूर्वक प्रचलित है। पद्मपादाचार्य के अत्यन्त संक्षिप्त सूत्रभूत वाक्यों का दर्शनिक पक्ष विवरण के बिना लगना संभव नहीं है। परन्तु लगने पर पद्मपादाचार्य के शब्दों में वह अर्थ स्पष्ट जाज्वल्यमान हो उठता है, व कहीं भी किसी भी प्रकार की खींचतान नजर नहीं आती। आचार्य शंकर के प्रथम व पट्ट शिष्य होने के साथ ही पद्मपादाचार्य को ही यह गौरव प्राप्त था कि उन्होंने ब्रह्मसूत्रभाष्य स्वयं शंकर से ३ बार पढ़ा। अतः भाष्यार्थ के विषय में उनका प्रामाण्य संशयातीत है। यही कारण है कि वेदान्त के ग्रंथनिर्माताओं में यही पक्ष सर्वाधिक प्रचलित रहा है। पंचपादिका प्रथम दार्शनिक ग्रंथ है, जिसमें अज्ञान को जडात्मिका व शक्ति कहा है। इस प्रकार उसे उपादानकारण स्पष्टतः कहा जा सकता है। शक्ति होने से वस्तुतस्तु शक्तिमान् ब्रह्म ही उपादानकारण हुआ परन्तु परिणामीरूप से उसे उपादान कह सकते हैं। मिथ्याज्ञाननिमित्तः के अर्थ में उन्होंने इसे स्पष्ट किया है। प्रकाशात्म श्रीचरणों ने इस पर विस्तृत विवेचन उपस्थित किया है। इसी प्रकार ज्ञान प्रक्रिया का भी पंचपादिका में ही प्रथम उपस्थापन है जिसका विवरण में विस्तार है। यह भी जगत् को व्यवस्थित करने का प्रयास है जो प्रारंभिक साधकों के लिये तो उपादेय है ही, वेदान्त को दार्शनिक भित्ति देने के लिये आवश्यक भी है। इस प्रकार पद्मपादाचार्य ने माया को विश्व की पहेली सुलझाने का अस्त्र बनाया। सुरेश्वराचार्य माया को मोक्ष की समस्या को हल करने में प्रयुक्त करते हैं। इस प्रकार आचार्य शंकर के इन दो शिष्यों ने माया की सर्वविध

व्याख्या उपस्थित करने का द्वार खोल दिया, जिसका परवर्ती आचार्यों ने पूरा उपयोग किया। विवरण में माया की ज्ञान शक्ति व क्रिया शक्ति रूपों में विवृति की गई है। ज्ञानशक्ति से सारा प्रमातृ जगत् एवं क्रिया शक्ति से प्रमेय जगत् अनुस्यूत है। ज्ञान शक्ति, क्रियाशक्ति वाले सदाशिव ही मायाधीश्वर होने से जंगत् के कारण हैं।

वाचस्पति मिश्र (८५०) के बाद ९०० में सर्वज्ञात्म महामुनि ने संक्षेप शारीरक की रचना करके वेदान्त में विचार की प्रौढता को भी लाया तथा सूत्र साहित्य में उपासना काण्ड को निकालकर शुद्ध दार्शनिक ग्रन्थ निर्माण का स्तुत्य यत्न किया जो बाद में वाद प्रस्थान के निर्माण में सहायक हुआ। इस पर नृसिंहाश्रम एवं मधुसूदन सरस्वती जैसे प्रौढ विद्वानों की व्याख्या से इसकी महत्ता में वृद्धि होना स्वाभाविक था। १५०० के पूर्व भी इस पर व्याख्यायें थी जिनका संकेत इन व्याख्याओं में मिलता है, यद्यपि काल के कराल गाल में आज वे लीन हो चुकी हैं। यद्यपि इनके प्रकरणपंजिका आदि ग्रन्थ है। तो भी संक्षेप शारीरक ही प्रधान है। १२३९ श्लोक वाले इस ग्रन्थ में अनेक छन्दों का प्रयोग किया गया है। कहीं कहीं काव्य की छटा भी मिलती है। इनका स्पष्ट मत है कि शुद्ध आत्मा के आश्रय में रहने वाला अज्ञान उसे ही विषय करके आच्छादित करता है तथा ईश्वर, जीव एवं जगत् रूप से विक्षिप्त करता है। अज्ञान से संबंध होने से दो मिथ्या पदार्थ बनते हैं— अज्ञान एवं अज्ञात ब्रह्म। परन्तु अज्ञात ब्रह्म का केवल संसर्ग कल्पित है, स्वरूप नहीं। आधार व अधिष्ठान का भेद इनकी विशेष देन है। शुद्धात्मा अधिष्ठान है व अज्ञात आत्मा आधार है। अज्ञात आत्मा ही ईश्वर है। अतः ईश्वर स्वरूप से अध्यस्त नहीं वरन् ब्रह्म ही है। अन्तःकरण पारदर्शी होने से चेतन की तरह प्रतीत होता है। व्यावहारिक जगत् में इसीलिये इसे ही चेतन समझ लिया जाता है। जिस प्रकार रजतप्रतीति काल में शुक्ति होने पर भी नहीं होने की तरह ही प्रतीत होती है उसी प्रकार अज्ञान काल में जीव, जगत्, ईश्वर ही प्रतीत होता है एवं शुद्ध ब्रह्म नहीं की तरह ही रहता है। इनसे अलग किसी ब्रह्म की प्रतीति नहीं होती। शीत से जमें बर्फ में द्रवता या जलरूपता का पता नहीं चलता है, पर गर्मी के स्पर्श से बर्फ अपने जल द्रव स्वरूप में अभिव्यक्त हो जाता है। इसी प्रकार अज्ञान का ज्ञान से नाश होकर ब्रह्म रूपता प्रकट हो जाती है एवं जीव, ईश्वर व जगत् रूप की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है।

ग्यारहवीं शताब्दी के अन्त में अव्ययात्मा के शिष्य विमुक्तात्मा ने इष्टसिद्धि प्रकाशित की। मधसूदन सरस्वती एवं रामाद्वय ने अपनी अद्वैतसिद्धि व वेदान्त कौमुदी में इनको उद्धृत किया है। चित्सुखाचार्य के गुरू ज्ञानोत्तम ने इस पर इष्टसिद्धि विवरण लिखा है। प्रमाणवृत्ति निर्णय नामका इनका ग्रन्थ अभी अप्रकाशित है। शांकर सम्प्रदाय में भगवान् सुरेश्वराचार्य की नैष्कर्म्यसिद्धि व मधुसूदन सरस्वती की अद्वैतसिद्धि के साथ इसे सिद्धित्रयनाम से कहा जाता है। आत्मा की नित्यता को सिद्ध इन्होंने आत्मा के अभाव का ज्ञान असंभव होने की हेतुता से किया है। आत्मा अनुभव स्वरूप होने से उसकी अर्थात् अनुभव के अभाव का अनुभव 'मेरे मुख में जिह्वा नहीं है' की तरह की बात हो जायगी। जगत् की चित्ररूपता का प्रतिपादन कर वे प्रतिपादित करते हैं कि भित्ति को चित्र का उपादान साक्षात् रूप से नहीं कहा जा सकता। न चित्र भित्ति से सहज ही है, न भित्ति का अवस्थान्तर है, न गुणान्तर का आना है, फिर भी भित्ति के बिना चित्र कभी भी कहीं भी नहीं हैं, परन्तु चित्र धुलने के बाद भी भित्ति वैसी ही रहेगी। शुद्धचित् और जगत् आदि का ऐसा ही संबंध विमुक्तात्मा ने प्रतिपादित किया है। सारे जडो की उपादान भूत माया ही अविद्याशक्ति है। जैसे बांस से प्रकटी अग्नि बांस को जडसहित जला देती है, वैसे ही अज्ञान से प्रसूत ब्रह्माकार वृत्ति सकार्यअविद्या को जला देती है। कूप को खोदने के लिये पानी के ऊपर का मिट्टी पत्थर निकालना पड़ता है, उसी प्रकार प्रमाण का कार्य अज्ञान निवृत्ति ही है। इस अज्ञाननिवृत्ति को सत्, असत्, सदसत्, सदसद्विलक्षण से भिन्न पंचम प्रकार मानना इनकी विशेषता है। ख्यातियों का तथा भेद का विस्तृत विचार भी इन्होंने किया है।

बौद्धों ने नागार्जुन के समय से ही तर्क प्रधान खण्डन को अपनाया था। नैयायिकों में भी वात्सायन, उद्योतकर आदि ने भी इसका उपयोग किया था। स्वयं भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर ने भी बौद्ध, जैन, वैशेषिक आदि के खण्डन में इसका प्रयोग किया था। परन्तु इनमें से किसी ने इसे प्रधानता नहीं दी थी। पदार्थ का परिशुद्ध लक्षण करना या वादी के लक्षण का

इसी प्रकार तर्क मात्र से खण्डन करना, तथा सम्प्रदाय के लक्षणों में विरोध प्रदर्शित करना आस्तिकों में बारहवीं शताब्दी के पूर्व प्रतिष्ठित न हो सका। मिथिला के प्रकाण्ड तार्किक गंगेशोपाध्याय ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ चिन्तामणि के द्वारा इसकी नीव रखी। रघुनाथ शिरोमणि, जगदीश भट्टाचार्य, मथुरानाथ भट्टाचार्य, गदाधर भट्टाचार्य आदि ने इस नीव पर जिस महल को प्रतिष्ठित किया उससे फिर कोई भी संस्कृत शास्त्र बच नहीं सका। विषय की अपेक्षा अब प्रकार प्रधान हो गया। व्याकरण, साहित्यमीमांसा आदि भी जब इससे न बचे तो वेदान्त पर तो इसका प्रभाव पड़ना ही था। लगता है कि दशम व एकादश शताब्दी में इस प्रकार का तर्क प्राधान्य प्रारंभ हो गया था। इसी समय कुलार्क पण्डित ने महाविद्यानुमान की रचना की। ११८७ में श्री हर्ष ने खण्डनखण्डखाद्य में तर्क प्रधान ढंग से वैशेषिकों का विस्तृत खण्डन कर अनिर्वचनीयता की सिद्धि की। महाविद्यानुमान का उपयोग चित्सुखी, कल्पतरु, न्यायपरिशुद्धि, तर्कसंग्रह आदि में खुलकर किया गया। पुरुषोत्तम वन एवं पूर्णप्रज्ञ की व्याख्यायें कुलार्क पण्डित के दशश्लोकी महाविद्यासूत्र पर मिलती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि आस्तिक नैयायिक व वेदान्ती इस विषय में नागार्जुन, आर्यदेव आदि बौद्धों से अनुगृहीत हैं जो तीसरी से सातवीं शताब्दी तक शुष्क तर्कवाद में निपुणता से लगे रहे। आठवीं शताब्दी के बाद ही इस प्रकार का ग्रन्थ निर्माण आस्तिकों में प्रवृत्त हुआ। वाचस्पति, उदयन, आनन्द बोध, श्रीहर्ष आदि ने इसे विकसित किया। तेरहवीं शताब्दी में गंगेशोपाध्याय ने अवच्छेदकता का नवीन विचार अपनी प्रज्ञा से विकसित किया जिसका अभूतपूर्व प्रभाव सभी विचारकों पर पड़ा। श्रीहर्ष (११८७), चित्सुख (१२२०), आनन्द गिरि (१२६०) से १७ वीं शताब्दी के नृसिंह आश्रम व मधुसूदन सरस्वती तक यह वेदान्त ग्रन्थों में परिवृद्ध होकर ब्रह्मानन्द सरस्वती में चोटी को स्पर्श कर गया। अनेक विचारकों का तो मत है कि श्रीहर्ष ने नैयायिकों को बाध्य कर दिया कि वे अपने लक्षणों के परिष्कार की ओर लगें तथा तार्किक प्रारूप को संशुद्ध तरीके से पेश करें, एवं सम्यक्ता (Precision) लावें। पर एक बार इधर लगने पर उन्होंने नवीन तत्त्वों का गवेषण, अनभिव्यक्त अनुभूतियों का निरुपण, नवीन समस्याओं का विचार, नवीन जिज्ञासाओं पर विचार आदि करना सर्वथा छोड़कर परिष्कार प्रणाली (Formalism & Scholasticism) पर ही केन्द्रित होकर दर्शन की वास्तविक उपयोगिता से दूर हटते गये। उनको प्रत्युत्तर देकर उसी प्रकार से अपने मान्य सिद्धान्तों का रक्षण करने में वेदान्ती भी इसी जाल में फँस गये। बारहवीं शताब्दी के बाद इसी से शुष्कता बढ़ती गयी। अनुभूति का विश्लेषण एवं जीवन तथा शास्त्र की वास्तविक समस्यायें गौण होती गयी। अधिकतर वैशेषिक आदियों के लक्षणों पर ही विचार होता रहा एवं अपने लक्षणों का उनके द्वारा आक्षिप्त होने पर परिष्कार होता रहा।

इस प्रकार श्रीहर्ष (११५०) भारतीय दर्शन के एक चौराहे के खम्भे हैं। लक्षणावली में उदयन ने शकाब्द ९०६ अर्थात् १०८४ प्रणयन काल दिया है। 'तर्काम्बरांक (९०६) प्रमितेष्वतीतेषु शकान्ततः। वर्षेषूदयनश्चके सुबोधां लक्षणावलीम्।' श्रीहर्ष ने प्रायः उदयन के लक्षणों का ही खण्डन किया है तथा सम्प्रदाय में प्रसिद्ध भी है कि उदयन ने श्रीहर्ष के पिता को शास्त्रार्थ में हराया था जिसका प्रतिकार उन्होंने किया। १२०० में गंगेशोपाध्याय श्री हर्ष को उद्धृत करके उनका खण्डन करते हैं। अतः इसके पूर्व वे अवश्य थे। ११९५ में कान्यकुब्जनरेश जयचंद यवनों से मारे गये थे एवं उनकी प्रशस्ति श्रीहर्ष ने लिखी है। अतः श्री हर्ष का समय बारहवीं शताब्दी का मध्य निश्चित ही है। उनका प्रयत्न है कि जो भी ज्ञात है वह अलक्षण (indefinable) होने से प्रमाणसिद्ध नहीं है। सापेक्ष और व्यवहार, मान्यता आदि से सिद्ध ही सभी कुछ है। अतः न्याय का पक्ष जो लक्षण व प्रमाणों से वस्तुसिद्धि मानता है वह समीचीन नहीं है। जो जैसा प्रतीत होता है एवं जितने से प्रतीति सिद्ध व्यवहार निभ जाय उतना ही व्यावहारिक सत्य है। वस्तु तो एक मात्र औपनिषद अखण्ड अद्वितीय चेतन ही है। अनुभव के बिना कोई भी व्यवहार सिद्ध नहीं होता है, वह अनुभव ही स्वप्रकाश व स्वतः सिद्ध है। उसे लक्षण या प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार श्रीहर्ष का स्पष्ट विचार है कि प्रत्यक्ष, अनुमान आदि व्यवहार में अविचारित वैज्ञानिक मान्यताएं संवित्प्रतीति रूप से चलती रहें, विचार से सिद्ध सभी की अनिर्वचनीयता के निश्चय से औपनिषद् पुरुष की स्वतः सिद्ध मोक्ष तो है ही। गौडपाद की परम्परा का यह मौलिक ग्रन्थ है। इसमें व्यवस्था की सर्वथा उपेक्षा है। यद्यपि श्रीहर्ष ने प्रधानतः वैशेषिक ब न्याय को खण्डन का लक्ष्य बनाया है क्योंकि वे ही तर्क के अभिमान में चूर रहते हैं, परन्तु उनकी युक्तियाँ नागार्जुन की युक्तियों की तरह ऐसा ब्रह्मास्त्र

हैं जो किसी भी मान्यता को छिन्न-भिन्न करने में समर्थ है। प्रायशः जो अपनी किसी लक्षणसिद्ध मान्यताओं को प्रमाणसिद्ध करने के लिये दूसरे के लक्षण का खण्डन करते हैं, वे कुछेक लक्षणों को छोड़कर दूसरे को स्वीकारते हैं। शून्यवादी व श्रीहर्ष सभी लक्षणों के खण्डन में प्रवृत्त हैं। वस्तुतः यह सत्य है कि कुछ मान कर ही कुछ सिद्ध किया जा सकता है। अतः दूसरा भी हमारी मान्यता को हटा सकता है अतः हम उसकी मान्यताओं को स्वीकारते हैं। श्रीहर्ष का इस सापेक्षता पर कड़ा प्रहार है। न्याय ने तर्क के बल से वस्तुत्व को अखण्ड्य लक्षण के सहारे सिद्ध माना है। श्रीहर्ष ने सभी लक्षणों को दूसरे असिद्ध लक्षणों के सहारे सिद्ध होने से उनके खण्डन में अनवस्था आदि दोष सिद्ध करके यह दर्शा दिया कि तर्क या लक्षण के सहारे किसी भी पदार्थ की वास्तविकता सिद्ध नहीं हो सकती। ज्ञाता व ज्ञान के बिना ज्ञेय की सिद्धि असंभव है तो ज्ञान के बिना ज्ञाता व ज्ञेय की। एक का लक्षण दूसरे को अविचारित सिद्ध मानकर ही संभव है। अतः स्वतन्त्र लक्षण असंभव है। यह सापेक्षता ही सभी पदार्थों की लक्षण व प्रमाण से सिद्धि नहीं होने देती। वर्तमान युग में वैज्ञानिक सापेक्षता भी इसी प्रकार की है। किसी भी स्थल या बिन्दु को अन्य बिन्दुओं की स्थिरता माने बिना सिद्ध नहीं किया जा सकता, अतः स्थिरता या चलता सापेक्ष ही रहेगी। अतः किसी भी सूक्ष्माणु को स्थिर मानकर उसकी गति का निर्देश संभव है, या गति को स्थिर मानकर उसका स्थल निर्देश संभव है, परन्तु दोनों में से कोई एक तो केवल मान्यता से सिद्ध है। श्रीहर्ष कहते हैं फिर प्रथम संवित् को ही जैसी है वैसी ही मानकर व्यवहार क्यों न सिद्ध कर लिया जाय। व्यवहार से सिद्ध अनुमान आदि भी इसी कोटि के हैं। स्पष्ट है कि सर्वकर्म संन्यासी श्री परमहंसों की यही दृष्टि संभव है। गौडपाद आदि प्रधान आचार्यों ने इसे ही अपनाया था। परन्तु व्यवस्थावादी इतने वर्तमान द्रष्टा व त्यागी नहीं हो सकते। अतः उनके लिये व्यवस्थावादी चित्सुख, अद्वैतानन्द, मधुसूदन आदि ने यह भी दिखा दिया कि जितनी व्यवस्था कोई भी द्वैतवादी बना सकते हैं उतनी या उससे अधिक तो अद्वैत दृष्टि से भी बन ही जाती है। परन्तु इतना बनाने पर भी अद्वैती इस भ्रम में नहीं रहता कि यह अखण्ड्य अथ च वास्तविक है। इस अनिर्वचनवाद का एक वैज्ञानिक पक्ष भी है। जिस प्रकार वैज्ञानिक निरन्तर शंका उठाकर पुनः और अधिक स्पष्टता से ज्ञान विस्तार करता है उसी प्रकार अद्वैती भी दर्शन के क्षेत्र में सदा आगे बढ़ता रहता है। यद्यपि यह सत्य है कि गत कुछ सदियों से इधर बेखबरी रही है। शून्यवादी विज्ञान (cognition) को भी असत्य मानना चाहता है जिसे सिद्ध करने का वह अशक्य प्रयास करता है। वेदान्त अनुभव को छोड़कर बाकी सबको सदसद्विलक्षण मानता है। अनुभव स्वतः सिद्ध है एवं लक्षण या प्रमाण से उसकी सिद्धि अपेक्षित नहीं है। इस भेद को ध्यान में न रखने पर अवश्य दोनों की समानता भात होने लगती है।

यह तो अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि श्रीहर्ष का खण्डन अनेक स्थलों पर शाब्दिक जाल बन जाता है, एवं प्रतिवादी के लक्षण के शब्दों के विन्यास को लक्ष्य बनाते हुए उसके द्वारा प्रतिपादित सामान्य विषय के बारे में उदार वृत्ति नहीं अपनाई गयी हैं। इसीलिये प्रत्युत्तर में प्रतिवादी भी अद्वैत की प्रतिपाद्यभावना की ओर ध्यान न देकर लक्षणों को अधिक संगत बनाने के प्रयत्न में विशेषण एवं शर्तों सहित रखकर परिष्कृत करके अपने कवच के उन छिद्रों को दूर करने में लग गया। अद्वैती भी उसके नये परिष्कारों में नये छिद्र ढूँढने में ही सफलता मानने लगा। इस प्रकार विषय विचार गौण होता गया। यह एक प्रकार से तार्किक की विजय थी क्योंकि लक्षण-प्रमाण से ही पुनः सिद्धि या असिद्धि की चर्चा चल पड़ी। श्रीहर्ष का असली उद्देश्य कि लक्षण प्रमाणों से हट कर विज्ञान को महत्ता दी जाय सफल नहीं हो पाया और धीरे-धीरे दर्शन का विकास न जीवन पर प्रकाश डाल सका, न अध्यात्म पर ही प्रकाश डाल पाया। इस पद्धति ने जैसा पहले भी बताया जा चुका है सभी शास्त्रों पर प्रभाव डाला। किसी के लक्षण का खण्डन जितना प्रमोदप्रद होता गया उतना अपनी तरफ से व्यवस्था देना नहीं रह गया। निर्वचन करने की सामर्थ्य का अभाव अनिर्वचनीयता नहीं वरन् निर्वचन करने की अयोग्यता अनिर्वचनीयता है। इस अयोग्यता का प्रतिपादन अनावश्यक माना गया या श्रुतिसिद्ध कहकर छोड़ दिया गया। तर्काप्रतिष्ठानात् की अत्यन्त व्यापक व्याख्या श्रीहर्ष ने की यह निःसन्दिग्ध है एवं वेदान्त ही नहीं विश्वदर्शन में इस प्रकार का दूसरा दार्शनिक मिलना दुर्लभ है। सबसे विलक्षण सत्य तो यह है कि इतने पर भी श्रीहर्ष अज्ञेयवादी (agnostic) न होकर अद्वैतवादी हैं।

श्रीहर्ष के बाद बारहवीं शताब्दी के अन्त में आनन्दबोधयति ने वाद प्रस्थान को आगे बढ़ाया। उनके न्याय मकरन्द पर आचार्य चित्सुख ने टीका लिखी, तथा आचार्य अनुभूति स्वरूप ने आनन्द बोधयति के तीनों ग्रन्थ का व्याख्यान उपस्थापित किया। न्याय दीपावली व प्रमाणमाला उनके अन्य दो ज्ञात ग्रन्थ हैं। एकात्मवाद का प्रतिपादन करते हुए अनेकात्मवाद का विस्तृत खण्डन उन्होंने किया। काल्पनिक पुरुष भेद के द्वारा सांख्यपक्ष में उपस्थापित पुरुष भेद के हेतुओं की व्यवस्था संभव होने से वास्तविक अनेकात्मा स्वीकारना अनावश्यक भी है व श्रुतिविरुद्ध तो है ही। इसी विचारधारा से आगे चिदाभासों की अनेकता से सृष्टि व्यवस्था तथा बिम्बभूत चेतन से श्रुतिव्यवस्था समीचीन हो पाई है। भेद का भी किसी प्रमाण से सिद्ध न हो पाना विस्तार से वर्णित है। प्रत्यक्ष से भेद ग्रहण की असंभाव्यता का प्रतिपादन युक्ति संगत किया गया है। आत्मा संविद्रूप होने से अपने को प्रकाशित करते हुए विषय को भी प्रकाशित करती है। विषयों के वैचित्र्य व अभाव दोनों काल में अनुभव की एकरूपता पर ध्यान देने से स्वप्रकाशता स्पष्ट होती है। माध्वसम्प्रदाय के व्यासतीर्थ ने अपने न्यायामृत में आनन्दबोध-यति एवं प्रकाशात्मश्रीचरण का ही विशेषतः खण्डन किया है। इस प्रकार इनके ढंग से प्रभावित हो एक लम्बी व प्रौढ खण्डन-मण्डन परम्परा प्रवृत्त हुई।

बारहवीं शताब्दी में ही आनन्द बोध से संभवतः कुछ पूर्व गंगापुरी ने 'पदार्थतत्त्व निर्णय' की रचना की जिस पर आनन्द गिरि ने विचारपूर्ण व्याख्या रची। वे ब्रह्म और माया दोनों की जगत्कारणता के पक्षधारी थे। ब्रह्म विवर्तकारण है व माया परिणामी कारण। सत्ता सर्वत्र सम रहते हुये ही सर्वत्र अनुगत दीखती है, अतः सद्ब्रह्म को भी कारण मानना आवश्यक है। ब्रह्म की अविकारिता श्रुति सिद्ध होने से वह विवर्तकारण ही हो सकता है। परन्तु विचित्रताएँ एवं तत्तत्पदार्थ भी नियमतः किसी कारण के व्यापार से उत्पन्न होते अनुभव में आते हैं। अतः उनका भी कारण होना जरूरी है जो परिणामी हो। वह कारण माया है। यह ज्ञान निवर्त्य है अतः मिथ्या है। परन्तु संसार में जो हमको 'होना और है' (Becoming and being) की प्रतीति है उसकी संगति सामान्य साधक के लिये यह प्रकरण स्पष्ट कर देता है। परन्तु इसमें दार्शनिक पक्ष गौण हो जाता है अतः आनन्दबोध ने प्रमाण माला में इस प्रकार का पक्ष संभावित कर उसके दोषों का निरुपण किया है। पर गंगापुरी के विचारों से स्पष्ट है कि वेदान्त सम्प्रदाय में साधारण साधकों को समझाने का प्रयास शुरू से रहा है। यह बात दूसरी है कि जगत्कारणता ब्रह्म की ही है यह ब्रह्म सूत्र का निर्णय है तथा प्रकृति की कारणता को स्वीकार करना सांख्यपक्ष के सेश्वरवाद की ओर झुककर वेदान्त के हृदय को ही अस्वीकार किया जा सकता है। इस संभावना से साधक को बचाना आवश्यक होने से आचार्यों ने इस पक्ष को प्रधानता नहीं दी। पर सामान्यतः यह पक्ष चलता रहा एवं प्रकाशानन्द सरस्वती ने सिद्धान्त मुक्तावली में नये सिरे से १७वीं शताब्दी में इस पर विचार किया।

बारहवीं व तेरहवीं शताब्दी में अनुभूति स्वरूपाचार्य ने वेदान्त को जगमगा दिया। कुलार्क पण्डित ने जब महाविद्यानुमान को प्रारंभ किया व जयन्त व उदयन जैसे महादार्शनिकों ने नवीं व दसवीं शताब्दी में दर्शन में तार्किक प्रधानता का प्रवेश कराते हुए सभी प्रमेयों को पदार्थों में बाँटकर उनको परिष्कृत लक्षणों द्वारा उपस्थापित कर 'लक्षण प्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः' को प्रधानता दी तो यही निर्वचनीयता पदार्थों की सिद्धि का कारण बनती गयी। संभवतः प्राचीन नागार्जुन आदि व तत्कालीन कमलशील, शान्तरक्षित आदि की प्रणाली से पुनः इस प्रकार के अव्यवस्थित नास्तिकवाद का प्रसार रोकने के लिये ही इन पाशुपत धर्म के आचार्यों का यह प्रयास था। यही समय पाशुपत धर्म के पुनरुद्धारक लकुलीश का है। अतः जैसा कि इतिहासज्ञों को सुविदित है कि धर्म का अनुसरण ही दर्शन करता है। जब जिस धर्म का उत्थान होता है तभी उस धर्म का दर्शन भी परिष्कृत होता है। लक्षणों के परिष्कार से अद्वैत की अनिर्वचनीयता का खोखलापना दिखाना इनको इष्ट था। अतः वेदान्त इन लक्षणों में रन्ध्रों का अन्वेषण करके अनिर्वचनीयता को पूर्ववत् रक्षित करने को यत्नशील हो गया। इस प्रकार निर्वचन न कर पाना या कर पाना ही लक्ष्य हो गया। अनिर्वचनीयवाद का रहस्यमय या ऐन्द्रजालिक पक्ष गौण होता गया। आनन्दबोध ने इस प्रणाली को अपनाया, परन्तु यह ताज तो श्रीहर्ष का ही है कि उन्होंने सारे ही तर्कवाद का साम्राज्य ढा दिया। तेरहवीं शताब्दी के आरंभ में गंगेशोपाध्याय

ने अपनी चिन्तामणि से इस खण्डहर पर नयी अट्टालिका बनाई, पर अब पदार्थ निर्णय का स्थान परिभाषा ले चुकी थी, अतः रघुनाथ शिरोमणि आदि ने प्राचीन अनेक पदार्थों को स्वतंत्रता से अस्वीकारा एवं अनेक स्थलों में वेदान्त के अनिर्वचनीय वाद को भी मान लेने में उन्हें कोई उज्र नहीं हुआ। अब तक लकुलीश सम्प्रदाय नष्ट सा हो गया था। अंतः सम्प्रदाय की कमजोरी इस दार्शनिक शुद्ध उदार दृष्टि में हेतु रहा हो यह संभव है। श्रीहर्ष के बाद अनुभूति स्वरूपाचार्य ने वेदान्त को मुखरित किया। ये विचक्षण वैयाकरण थे जो इनकी भाषा में सर्वत्र प्रकट होता है। यद्यपि इनकी सारस्वत प्रक्रिया के उद्भव का हेतु पण्डित समाज में इनके वृद्धावस्था में निकले अशुद्ध उच्चारण को शिष्ट सिद्ध करने का प्रयास माना जाता है परन्तु इसमें कोई पुष्ट प्रमाण नहीं मिलता है। इनकी माण्डूक्यभाष्य व्याख्या व शारीरिक शांकरभाष्य व्याख्या मुद्रित हो चुकी है व दोनों में इनका प्रौढपाण्डित्य, व गंभीर दर्शन चिन्तन तो प्रकट होता ही है, इनकी अनुभवपूर्ण ब्रह्मनिष्ठा भी जगमगाती दिखती है। वेदान्त कौमुदी में रामाद्वय ने इनको उद्धृत किया है तथा इनसे उपकृत भी हुए हैं। भूतप्रकृति को अनिर्वचनीय माया से संबंधित चिन्मात्र स्वीकारा है। इसमें प्रतिबिम्बित ईश्वर है जो सत्वप्रधानता से विष्णु आदि बनता है तथा उसके परिच्छिन्न एक देश अज्ञान में प्रतिविम्बित जीव है। जीव में आवरण व विक्षेप दोनों शक्तियाँ कार्यकारी है। आवरणता व ज्ञानहेयता से माया अन्धकार की तरह प्रमाण के अयोग्य है, फिर भी भ्रमकारणत्वादि धर्म विशिष्ट रूप से प्रामाणिक ही है। तात्पर्य है कि जगत्कारण रूप से इसे जान सकते हैं, पर स्पष्टतया केवल माया को कार्यानुमेया से अतिरिक्त रूप से नहीं जाना जा सकता है। स्वसंविन्नैरपेक्ष्येण स्फुरण ही अनुभूति स्वरूपाचार्य के पक्ष में स्वप्रकाशता है। किसी भी दूसरे प्रकार से अनुपपन्न प्रकाशमानता ही इसका स्वरूप है। प्रकटार्थ कार ने कुमारिल की ज्ञान प्रक्रिया का भी खण्डन किया है। माया व अविद्या का भेद भी इन्होंने स्वीकारा है। बीसवीं शताब्दी के श्री शंकर चैतन्यभारती जी ने अपने दर्शन सर्वस्व में इस मत को पुष्ट किया है।

तेरहवीं शतांब्दी में अव्ययात्मा के शिष्य परमहंस विमुक्तात्मा ने इष्ट सिद्धि की रचना की। इस पर चित्सुखाचार्य के गुरू ज्ञानोत्तम की टीका भी प्रकाशित हो चुकी है। इसमें अनुभूति को अनादि तथा अनन्त स्वीकारा है। यही एकमात्र पदार्थ अविभक्त होने से पूर्ण है। इसे कभी भी 'यह' नहीं कहा जा सकता। भेद तभी अनुभव में आता है जब दो वस्तुओं का प्रत्यक्ष होता है और दृष्टा का कभी प्रत्यक्ष नहीं होने से उसे दृश्य से भिन्न मानने में कोई हेतु नजर नहीं आता। उन्हें स्वप्रकाश व परप्रकाश होने से एक मानना तो सर्वथा असंगत है। रामानुज व भास्कर का भेदाभेद तो सर्वथा अयुक्त है। अतः अवास्तविक पक्ष ही स्वीकार्य है। पर वे कहते हैं कि प्रपंच में वास्तविकता नहीं है अतः अद्वैत पक्ष की हानि भी नहीं है, तथा अवस्तुताभी सच्ची नहीं है अतः प्रत्यक्षादि भी अप्रमाण नहीं कहे जा सकते। चित्र के दृष्टान्त से वे समझाते हैं कि जैसे चित्र को चित्रपट का परिणाम नहीं कह सकते और न वह चित्र का अंग ही है वैसे ही शिव का परिणाम भी जगत् नहीं है व शिव जगत् का अंग भी नहीं है। माया से चित्रित ब्रह्म है। पट जैसे चित्र धुलने के बाद भी रहेगा। पर पट के बिना चित्र नहीं रह सकता इसी प्रकार सारे माया के खेल समाप्त होने पर भी शिवचैतन्य वैसा ही रहेगा। ख्यातिवाद का इन्होंने विस्तृत विचार किया है।

चौदहवीं शताब्दी में विद्यारण्य का उदय वैदिक दर्शन व धर्म के इतिहास में चिरस्मरणीय है। इनकी वेदान्त प्रज्ञा अनुपम है। पंचदशी में इन्होंने वेदान्त के सर्वस्वरूपता का दिग्दर्शन कराया है। जीव, जीवसाक्षी, ईश्वर, ईश्वरसाक्षी या कूटस्थ का इनका निरूपण अभूतपूर्व है जो साधारण प्रारंभिक वेदान्ताध्यायी के लिये सुगम है। इनकी विलक्षणता है कि सामान्य युक्ति व दृष्टान्त के सहारे ये क्लिष्ट स्थलों का भी ऐसा चित्रण करते हैं कि पदार्थ प्रत्यक्ष सा भासने लगता है। (Analogy) दृष्टान्त से पदार्थ सिद्धि भले ही न हो, प्रमेय का निश्चय तो हो ही जाता है। ये बड़े ही उच्चकोटि के विद्वान तो थे ही इनकी निष्ठा भी अद्वितीय थी। जीवन्मुक्ति विवेक में इसे स्पष्ट देखा जा सकता है। इतना विस्तृत मनोनाश तथा वासनाक्षय का विश्लेषण जो वेदान्त की साधना का अंग है ज्ञानवासिष्ठ से अतिरिक्त कहीं नहीं मिलता।

पन्द्रहवी शताब्दी में श्री परमहंस नृसिहाश्रम का प्रकाश सर्वत्र फैला। ये जगन्नाथाश्रम के शिष्य थे। इनका भेदधिक्कार, अद्वैतदीपिका, अद्वैतवाद तथा वेदान्ततत्त्व विवेक प्रसिद्ध है। संक्षेप शारीरक की इनकी टीका अत्यन्त प्रौढ तथा विस्तृत है।

पंचपादि के विवरण पर भी इन्होंने टीका लिखी है। अप्पय दीक्षित को इन्होंने परिमल लिखने को प्रेरित किया। प्राचीन आचार्यों की तरह जीवब्रह्मैक्य निरूपण तथा जगन्मिथ्यात्व पर इनका विस्तृत विवेचन है। ये माया के स्वरूप व कारणता के लक्षणो की तरफ नहीं झुकते। जहां प्रतीत हो वहीं उसका अभाव निश्चय ही मिथ्यापना है। अहंकार का चैतन्य से भेद यद्यपि न अनुभूत है, न अनुमान सिद्ध तथापि श्रुतिसिद्ध है।

सोलहवीं शताब्दी में परिमलकार अप्पय दीक्षित का पाण्डित्य अद्भुत था। आज तो परिमल का आद्योपान्त पठन-पाठन करने वाला भी दुष्प्राप्य है। परन्तु मधुसूदन सरस्वती के वेदान्त शास्त्र शब्द की विवेचना करते हुए वेदान्तवादमूर्धन्य लघुचन्द्रिका-कार ब्रह्मानन्द सरस्वती कहते हैं कि ब्रह्मसूत्र उसका शंकरभाष्य, भाष्य की वाचस्पति की टीका, इस टीका का विवेचन कल्पतरु व उसकी व्याख्या परिमल यह सारी ग्रंथराशि वेदान्तशास्त्र शब्द का तात्पर्य है। इससे प्रकट होता है कि परिमल की महत्ता कितनी ज्यादा है। अप्पय दीक्षित ने सिद्धान्त लेश संग्रह लिखकर उसमें सभी वेदान्त सम्प्रदाय की परम्पराओं का संक्षिप्त संकेत भी दिया है व उनमें किस दृष्टि को अपनाया गया है इसे भी स्पष्ट किया है। उन्होंने सर्वमुक्तिवाद का अद्भुत प्रतिपादन किया है जो आधुनिक मानव को नवीन दृष्टि देता है। ज्ञान से अज्ञान की आवरणशक्ति निवृत्त होकर, जिस प्रकार प्रतिबिम्ब निवृत्त होकर बिम्ब में लीन हो जाता है, उसी प्रकार जीव ईश्वर में लीन हो जाता है। ईश्वर अपने को स्वरूप से शुद्धचित् हि समझता है। इसी प्रकार मुक्त जीव अपने को शुद्धचित् ही समझकर ब्रह्मभाव में ही स्थित है, यद्यपि दूसरे प्रतिबिम्ब रूप जीव उन्हें बिम्ब अर्थात् ईश्वरभाव प्राप्त ही देखते रहते हैं। सर्वथा बिम्बभाव की निवृत्ति तो सभी प्रतिबिम्बों के निवृत्त होने से ही प्रतिपादित की जाती है जो सर्वमुक्तिवाद की आधारशिला है। अप्पय दीक्षित की यहसर्वथा नवीन अनुभूति है। अप्पय दीक्षित ने शिवार्कमणि दीपिका नामक श्री कण्ठभाष्य की व्याख्या भी लिखी है। इन्होंने श्री रामानुजाचार्य, श्री मध्वाचार्य के भाष्यों का भी पद्यमय संक्षेप लिखा है। इस प्रकार ये शिवविशेषाद्वैत, विष्णुविशिष्टाद्वैत एवं द्वैतवाद के मर्मस्पर्शी विद्वान भी थे। परिमल उनका प्रौढ व अन्तिम बृहद्ग्रन्थ है। अतः इन सभी मतवादों में जो सामंजस्य उन्हें दृष्टिगोचर हुआ उन सबका यहाँ संग्रह स्वाभाविक रूप से हो पड़ा है। वे स्वयं शिवभक्ति में अत्यन्त परिवृद्ध सिद्ध थे।

आत्मार्पण स्तुति की टीका में कालहस्तीशरण शिवानन्द योगीन्द्र ने कलि संवत् ४६५४ अर्थात् १५५४ ख्रीष्टाब्द को आचार्य अप्पय दीक्षित का जन्म काल माना है। ७२ वर्ष जीने से १६२५ में उनका शिवलोक गमन सिद्ध होता है। शिवार्कमणि दीपिका राजा चिन्नबोम्म की प्रेरणा से लिखी गई ऐसा उसमें स्वयं अप्पय दीक्षित ने लिखा है। चिन्नबोम्म के भूमिदान पत्र १५६६ से १५७५ ख्रीष्टाब्द तक के मिलते हैं। श्री (Taylor) टेलर के O.H.M.C. II में कहा है कि शैव वैष्णवों के विवाद का निर्णय करने के लिये पाण्ड्यदेश के राजा तिरूमलय नायक ने १६२६ में उन्हें बुलाया था। इस प्रकार सारी ही संगतियाँ तिथि विषयक सम्पन्न हो जाती हैं। अतः १५५४ से १६२६ ख्रीष्टाब्द ही उनका समय मानना ठीक है। इन्होंने स्वयं अपने जीवन की कृतार्थता मरते समय के एक श्लोक में लिखी है। 'आभाति हाटकसभानटपादपद्मज्योतिर्मयो मनसि मे तरुणारुणोयम्' मेरे मन में स्पष्ट ही कनक सभा में वर्तमान नटराज के जगमगाते चरण कमल बालसूर्य की भाँति अनुभव में आ रहे हैं। इनके घरवालों ने इसके आगे की पंक्ति पूरी करते हुए लिखा है 'नूनं जरामरणयोरपिशाचकीर्णा संसारमोहरजनी विरतिं प्रयाता' ऐसा कहते ही संसार मोह की रात्रि विरति को प्राप्त हो गयी। इस समय वे चिदम्बर में ही थे। उन्होंने उसको भी कहा है 'चिदम्बरमिदं पुरं प्रथितमेव पुण्यस्थलं सुताश्च विनयोज्ज्वलाः सुकृतयश्च काचित् कृताः। वयांसिमम सप्ततेरुपरि नैव भोगे स्पृहा न किंचिदहमर्थये शिवपदं दिदृक्षे परम्' यह प्रसिद्ध पुण्यस्थान चिदम्बर नगर है। सत्तर से ऊपर मेरी उमर है। मेरे पुत्र धर्माचरण व नम्रता की पूर्ण चमक से तेजस्वी हैं। कुछ अच्छे काम भी जीवन में सम्पन्न कर लिये हैं। भोगों के प्रति मेरी तृष्णा नहीं है। अब शिव के चरणारविन्दों के दर्शन को छोड़कर और किसी चीज की मैं चाहना नहीं करता हूँ। इस प्रकार अपने जीवन की पूर्णता से वे पूर्ण सन्तुष्ट थे और अन्तिम इच्छा भी उनकी महादेव ने पूर्ण कर दी।

आत्मार्पण स्तुति की रचना इन्होंने भांग के नशे का सेवन करके की थी। वे एक वैज्ञानिक की तरह अपने चित्त की छिपी वासनाओं को देखना चाहते थे। नशे की दशा में सभी चेतन मन के द्वारा किये जाने वाले नियन्त्रण समाप्त हो जाते हैं। अतः

सभी छिपी वासनायें प्रकट हो जाती हैं। इस मनोवैज्ञानिक सत्य का उन्हें पता था। अतःनशे की दशा में वे जो भी बड़बड़ावें उसे लिखने का अपने शिष्यों को निर्देश देकर उन्होंने भांग पी। उस दशा में जो भी कहा वही यह स्तुति है। इससे उन्हें विश्वास हो गया था कि शिव के सिवाय उनके मन की वासना और किसी विषय में नहीं है। महावैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी के प्रणेता ने वेदान्त इन्हीं से पढ़ा था। अपने वेदान्त ग्रन्थ तंत्र सिद्धान्तदीपिका में स्वयं इसका उल्लेख उन्होंने किया है। वे जब पढ़ने के लिये काशी से दक्षिण पहुँचे तो अप्पय दीक्षित का अत्यन्त साधारण रहन सहन देखकर विस्मयाविष्ट हो गये। जिनके शिष्य कई राजा हों व जिनका कई बार कनकाभिषेक हुआ हो उनका चटाई पर ही सोना, जमीन पर ही बैठना उनको अद्‌भुत लगा। वे सारे धन को विद्यार्थियों को पढ़ाने के लिये खर्च कर देते थे। अपने पास कुछ नहीं रखते थे। इस प्रकार वैराग्य उनका स्वाभाविक जीवन था। ऐतिहासिक दृष्टि से यह घटना महत्त्वपूर्ण है। सोलहवीं शताब्दी तक मुगलों का शासन उत्तर भारत में जम कर यहाँ के जनजीवन पर भोग की छाया डाल चुका था जिससे काशी के विद्वान भी अछूते नहीं रह पा रहे थे। पंडित राज जगन्नाथ भी इसी के आसपास के काल में थे जिन्होंने दिल्लीश्वर को जगदीश्वर तक कह दिया था। परन्तु दक्षिण भारत एवं विशेषकर वहाँ के वैदिक ब्राह्मण अभी भी अपनी प्राचीन तपस्यामयी जीवनचर्या निभा रहे थे।

अप्पय दीक्षित ने प्रायः १०० ग्रन्थों का निर्माण किया। व्याकरण में उन्होंने व्याकरणवादनक्षत्रमाला लिखी। मीमांसा में पूर्वोत्तर मीमांसा वादनक्षत्रमाला का प्रणयन किया। मीमांसाधिकरणमाला, उपक्रमपराक्रम, धर्ममीमांसापरिभाषा, विधिरसायन, इत्यादि अन्य मीमांसा ग्रन्थ उनके है। धर्मशास्त्र में मयूखावली, चित्रपट, तांत्रिक मीमांसा आदि रचनाएँ हैं। कुवलयानन्द, चित्रमीमांसा व वृत्तिवार्तिक अलंकारग्रंथ इनके हैं। नामसंग्रहमाला व शब्द प्रकाश कोश अभिधान ग्रंथ हैं। शैव सम्प्रदाय के शिवध्यान पद्धति, शिवपूजाविधि, शिवार्चनचन्द्रिका, भस्मवादावली आदि ग्रंथ हैं। स्तोत्र तो अनेक हैं ही जिनमें आत्मार्पण स्तुति, अपीत कुचाम्बास्तव, निग्रहाष्टक, दुर्गाचन्द्रकलास्तुति, मार्गबन्धुपंचरत्न, गंगाधरशतक आदि समधिक प्रसिद्ध हैं। परन्तु प्रधानतः तो ये वेदान्त के ही आचार्य थे। सिद्धान्त लेशसंग्रह, न्यायरक्षामणि, परिमल, अधिकरणमाला, तत्त्वमुक्तावली, न्यायरत्नमाला शांकरवेदान्त के इनके प्रधान ग्रंथ हैं। मध्वतंत्रमुखमर्दन, मध्वमतविध्वंसन (मर्दनटीका), तथा रामानुजशृंगभंग व उसकी टीका तत्त्वमुद्राविद्रावण अन्य वेदान्तों का विचार कर शांकर सिद्धान्त के समर्थन के मुख्य ग्रंथ हैं। चतुर्मतसारसंग्रह में मध्व, रामानुज, श्रीकंठ तथा शांकर भाष्यों का सार इतने सुन्दर व प्रामाणिक ढंग से समुत्थापित किया गया है कि प्रत्येक सम्प्रदाय इन्हें प्रामाणिक स्वीकारता है। यह इस बात को झुठला देता है कि अन्य मतों को न समझने से ही उनका विरोध होता है।

श्री कण्ठाचार्य के ब्रह्मसूत्रभाष्य पर इनकी शिवार्कमणि दीपिका प्रौढ तथा एकमात्र उपलब्ध व्याख्या है। कई लोग इससे भ्रम में पड़ जाते हैं कि अप्पय शैवविशेषाद्वैती थे या अद्वैतवादी थे। इसका समुचित उत्तर उन्होंने इस ग्रंथ के मंगलाचरण में ही दे दिया है। 'यद्यप्यद्वैत एव श्रुतिशिखरगिरामागमानांच निष्ठा साकं सर्वैः पुराण-स्मृति-निकर-महाभारतादिप्रबन्धैः। तत्रैव ब्रह्मसूत्राण्यपि च विमृशतां भांति विश्रान्तिमन्ति प्रत्नैराचार्यरत्नैरपि परिजगृहे शंकराद्यैस्तदेव' हालां कि वेदान्तों, आगमों, सारे पुराणों, सारी स्मृतियों एवं महाभारत आदि का उद्देश्य अद्वैत प्रतिपादन में ही है, विचारशीलों को ब्रह्मसूत्रों का तात्पर्य भी उसी में पर्यवसित होता प्रतीत होता है व प्राचीन श्रेष्ठ शंकर आदि ने भी इसी को स्वीकारा है, 'तथाप्यनुग्रहादेवतरुणेन्दुशिखामणे अद्वैतवासना पुंसां आविर्भवति नान्यथा' फिर भी चन्द्रमौलीश्वर की कृपा से ही उस अद्वैत की स्वानुभूति की अवतरण होता है अन्यथा नहीं एवं इस अनुग्रह की प्राप्ति उनके वास्तविक रूप को जानकर ध्यान करने से ही होती है। अतः उसको प्रकट करना आवश्यक है। शिखरिणीमाला तथा उसकी व्याख्या शिवतत्त्व विवेक, ब्रह्मतर्कस्तव टीका, शिवाद्वैतनिर्णय, आनंद लहरी तथा उसकी टीका चंद्रिका, रत्नत्रयपरीक्षा तथा टीका, शिवमहिम कलिका स्तुति, टीका के साथ पंचरत्न स्तुति, शिव पुराण तामसत्वखंडन आदि ग्रन्थ इसी को पुष्ट करने के प्रकरण ग्रंथ हैं। सटीक रामायण तात्पर्य संग्रह व भारततात्पर्य संग्रह भी इसी प्रकार की रचना है। उस समय के चारों ओर से वैष्णवों के प्रहार को रोकने में उन्होंने एक महारथी की भाँति अकेले ही कार्य किया। उन्होंने इस बात को भलीभाँति समझ लिया था कि वैष्णवों का प्रवाह धर्म की दृष्टि से शिव का विरोध करके अद्वैत

दर्शन के मानने वालों की संख्या में कमी करके उस दर्शन को समाप्त करने का है। अतः जब तक स्मार्त सम्प्रदाय की परमेश्वर विषयिणी धारणा को प्रचारित नहीं किया जायगा वेदान्त का रक्षण भी असंभव हो जायगा। चूँकि उत्तर भारत में वैष्णवाचार्यों का प्रचार नहीं था। अतः यहाँ इस प्रकार का कार्य नगण्य ही रहा।

सरस्वती श्री प्रकाशानन्द परमहंस का समय १५५०-१६०० के बीच का है। इन्होंने दृष्टिसृष्टिवाद का ग्रंथ वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावली लिखकर विशिष्ट कार्य किया। इन्होंने योगवासिष्ठ को प्रमाण रूप से प्रायः स्वीकारा है। एवं स्वयं उनकी घोषणा है कि 'अज्ञेयमधुनातमैः' वेदान्त रहस्य को जैसा उन्होंनें समझा व प्रतिपादित किया हैं लोगों को अज्ञात था। इनके शिष्य प्रशिष्य काफी हुए एवं भारत के कोने-कोने में वेदान्त प्रचार का कार्य करने में उत्साह से लगकर वेदान्त की पुनर्जागृति के निमित्त बने। 'यच्छिष्यशिष्यसन्दोहव्याप्ता भारतभूमयः'। इन्होंने वेदान्त में शनैः-शनैः प्रविष्ट होने वाले सांख्य प्रवृत्ति की समानता वाले अज्ञान को अस्वीकार करके विषय को विषयदर्शन काल से भिन्न सत्ता वाला नहीं माना। यद्यपि इससे बौद्धवाद की ओर झुकाव हो सकता है परन्तु इन्होंने उनसे भेद को भी स्पष्ट किया है। वस्तुतः वेदान्त बौद्धों के आदर्शवाद व सांख्यों के यथार्थवाद की मर्यादा रेखा पर खड़ा है। अतः साधक को दोनों खतरों से सावधान रहना आवश्यक होता है। ग्रन्थकार तो जिस काल में होता है उस समय जिधर का दबाव अधिक होता है उससे विपरीत दिशा में बल देना आवश्यक मानता है। जिस प्रकार द्विचक्रिका चलानेवाला सदा समतोल बनाये रखता है वैसा ही यहाँ समझना चाहिये।

कार्यकारण के विचार में प्रकाशानन्द का स्पष्ट मत है कि वास्तविक कार्यकारण वेदान्त को अस्वीकृत है। 'वेदान्त बहिर्भूतत्वात् कार्यकारणवादस्य (३८) एवं 'ब्रह्मणोऽकारणत्वतः ब्रह्माज्ञानाज्जगज्जन्म'। 'साक्षात्कृते त्वधिष्ठाने समनन्तरनिश्चितिः अध्यस्यमानं नास्तीति बाधइत्युच्यते बुधैः' अधिष्ठानसाक्षात्कार के बाद अध्यस्यमान के त्रैकालिक अभाव का निश्चय ही बाध है। इसीलिये इनकी दृष्टि में ज्ञान के साथ ही अज्ञान व उसके कार्य की सर्वथा निवृत्ति हो जाने से प्रपंच निवृत्ति के लिये कारणान्तर अपेक्षित नहीं है। आनन्द को यह आत्मा का स्वरूप ही मानते हैं। इस विषय में संक्षेपशारीरक १.१.१७४ में प्रतिपादित आनंद का दुःखव्यावर्तक अर्थ इन्हें अस्वीकार्य है। न इन्हें विवरण का यह मत ही स्वीकार है कि आनन्द से जो आनन्दवाली वस्तु हो उसे लिया जाय। प्रकाशात्मश्रीचरण ने आत्मा पर आनन्दत्व का आरोप स्वीकार है। वे उसे आनन्दरूप ही मानते हैं। ब्रह्म ही अविद्या से जीव है यह तो वेदान्त का सर्वमान्य ही सिद्धान्त है। प्रतिकर्म व्यवस्था, गुरुशिष्य व्यवस्था आदि को ये अर्थवाद ही मानते हैं। इस अंश में संक्षेप शारीरककार सर्वज्ञात्म महामुनि का मुख्य पक्ष ही इन्हें स्वीकार्य है।

यहाँ प्रकटार्थकार के तत्त्वालोक व आनन्दगिरि के तर्कसंग्रह की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक है। इन्होंने आचार्य शंकर के पक्ष को सृष्टिदृष्टिवाद की दृष्टि से उपस्थापित किया है। भाष्य व्याख्याओं में तो आनन्दगिरि ने सर्वत्र भाष्य की संगत व्याख्या को ही प्रधानता दी है। स्वामी गंगापुरी के पदार्थतत्त्व निर्णय की स्वामी आनन्दगिरि की टीका भी इस दृष्टि से उपादेय है। स्वामी गंगापुरीजी का समय आनन्दबोध के पूर्व का है ऐसा चित्सुखाचार्य का संकेत है। अतः दशम शताब्दी का अंतिम या ग्यारहवीं का पूर्वभाग इनका समय प्रतीत होता है। पदार्थ तत्त्वनिर्णय में इन्होंने प्रकाशात्म श्रीचरण के, ब्रह्म व माया दोनों को दो रंग की धागे की रस्सियों की तरह, समान उभय कारण मानकर व्यवस्था बनाई है। चूँकि सारा ही प्रपंच सद्रूप से प्रतीत होता है अतः सद्रूप ब्रह्म उसका कारण मानना ही पड़ता है। सत् तो एक रूप ही है, पदार्थों का जो भी रूप हो। इस प्रकार ब्रह्म विवर्त्त या अपरिणामी कारण है। परिवर्तित होने वाला नामरूपकर्मात्मक उन उन वस्तुओं का भी कोई न कोई कारण मानना पड़ता है। यह बदलने वाला या परिणामी कारण ही है। यह माया है। इस प्रकार ब्रह्म जगत् का विवर्त एवं माया परिणामी कारण है। संसार में हमें अपरिवर्तित स्थायी सत् मात्र की भी उपलब्धि होती है एवं क्षणपरिणामी अस्थायी पदार्थता की भी प्रतीति होती है। 'ब्रह्म माया च इति उभयोपादानं सत्त्व-जाड्य-रूपोभयधर्मानुगत्युपपत्तिश्च' (पदार्थ तत्त्व निर्णय में सिद्धान्त विवेक परिच्छेद में) आनन्द बोध की प्रमाणमाला पृ. १६ में इस पक्ष का खण्डन किया गया है। आनन्दगिरि ने 'पदार्थ-तत्त्वनिर्णय' की अपनी टीका में आनन्द बोध के खण्डन का प्रत्युत्तर दिया है। इस प्रकार अनुभूति स्वरूप की परम्परा भी काफी लम्बी है। वस्तुतस्तु

परिणामी एवं विवर्त्त कारण का प्रतिपादन कार्यकारण निर्मुक्त तत्त्व में साधक की समझ के लिये है। अतः सर्वज्ञात्म महामुनि 'विवर्त्तवादस्यहि पूर्वभूमिर्वेदान्तवादे परिणामवादः' परिणामवाद को विवर्त्तवाद की पूर्व भूमि ही स्वीकारते हैं। अधिकतर वेदानुवर्ती शास्त्रों में परिणामवाद की स्वीकृति का कारण बताते हुए वे ही कहते हैं 'उपायं आतिष्ठति पूर्वमुच्चैः उपेयमाप्तुं जनता यथैव श्रुतिर्मुनींद्रा च विवर्त्तसिध्यै विकारवादं वदतस्तथैव' जिस प्रकार सभी लोग लक्ष्य की प्राप्ति के लिये जोर शोर से उपाय का ही अनुष्ठान करते हैं वैसे ही वेद व मुनिश्रेष्ठ विवर्तसिद्धि के लिये विस्तार से विकारवाद रूप परिणाम का प्रतिपादन करते हैं। इसमें ब्रह्म की अविकारिता कोलोग भूलने लगते हैं तब माया को विकारी कारण मान कर काम चला लिया जाता है। इससे माया को ब्रह्म समानता प्राप्त होने पर उसे द्वार मान लिया जाता है। आचार्य नरेन्द्रपुरी ही पुरी सम्प्रदाय के अन्य प्रसिद्ध आचार्य हैं जिन्होंने छान्दोग्यभाष्य की व्याख्या लिखी है। स्वामी आनन्द गिरि ने इसी व्याख्या को विस्तृत किया है। नरेन्द्रपुरी भी अनुभूतिस्वरूप से सम्बद्ध रहे हैं। यह सुविदित है।

दक्षिण भारत के जगन्नाथ आश्रम पन्द्रहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध वेदान्तचार्य थे। नृसिंहाश्रम इन्हीं के शिष्य थे। इनके ग्रंथों में विवरण, श्री हर्ष, चित्सुख के साथ-साथ संक्षेप शारीरिक का चुनकर समन्वय परिलक्षित होता है। इससे उसकाल की समन्वय वृत्ति परिलक्षित होती है। नृसिंहाश्रम की शिष्य परम्परा में धर्मराजाध्वरीन्द्र प्रसिद्ध हुए। उनकी वेदान्त-परिभाषा अद्वैतवाद के दुर्ग में प्रवेश करने के लिये सिंहद्वार रूप है। इन्होंने पंचपादिका की टीका भी लिखी थी। ये बड़े प्रामाणिक नैयायिक थे। स्वयं इन्होंने कहा है कि गंगेश के तत्त्वचिन्तामणि की अपनी तर्कचूडामणि नामक टीका में इन्होंने दश पूर्ववर्ती टीकाओं का खण्डन करके अपने पक्ष को पुष्ट किया है। अतः इस प्रवृत्ति से वेदान्त परिभाषा में भी न्याय-संस्कार-गन्ध का मिलना स्वाभाविक है। इनके पुत्र व शिष्य रामकृष्ण ने वेदान्त-परिभाषा की वेदान्त-शिखामणि टीका लिखी जो प्रौढ है। अतः इस पर अमरदास ने मणिप्रभा व्याख्या की रचना की। पेड्डा दीक्षित ने वेदान्त-परिभाषा पर प्रकाशिका नाम की संक्षिप्त व्याख्या लिखी है जो वेदान्त के पदार्थों पर अधिक प्रकाश डालती है। काशीनाथ शास्त्री एवं स्वामी ब्रह्मेन्द्र सरस्वती ने अपने अपने वेदान्त परिभाषा नामक ग्रन्थ लिखे हैं जो सर्वथा भिन्न हैं एवं किसी भी महत्त्व के नहीं है। ये यद्यपि धर्मराजाध्वरीन्द्र के २५० वर्ष बाद लिखे गये तथापि इनमें धर्मराजाध्वरीन्द्र की कोई प्रतिभा नहीं है। भट्टो जी दीक्षित का तत्त्व-कौस्तुभ अवश्य वेदान्त का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। नृसिंहाश्रम के शिष्य नारायणाश्रम ने वेदान्त-तत्त्व-विवेक की तत्त्वदीपनव्याख्या लिखी थी। भट्टो जी दीक्षित ने नृसिंहाश्रम से भी अध्ययन किया था। अतः तत्त्वदीपनव्याख्या पर तत्त्व-विवेक नामक व्याख्या की रचना भी उन्होंने की। नारायणाश्रम ने भेदधिक्कार की सत्क्रिया नामक टीका बनाई। अठारहवीं शताब्दी में इसी भेदधिक्कार पर नरसिंहभट्ट ने अद्वैतचन्द्रिका नामक प्रौढ टीका लिखी थी। इस प्रकार नृसिंहाश्रम ने अपने शिष्य प्रशिष्यों द्वारा अद्वैत के उद्धार में महान् योगदान दिया। ब्रह्म विद्याभरण के लेखक अद्वैतानन्द भी इसी काल के हैं। उनके गुरु रामतीर्थ ने संक्षेप-शारीरक पर अन्वयार्थ-प्रकाशिका लिखी है।

भट्टो जी दीक्षित के छोटे भाई रंगो जी भट्ट ने अद्वैत-चिन्तामणि एवं अद्वैत-शास्त्र-सरोद्धार की रचना की। ये भट्टो जी से ही पढ़े भी थे। परन्तु सोलहवीं शताब्दी के सूर्य कीतरह अद्वैत का प्रकाश सर्वत्र फैलाने वाले तो निःसन्दिग्धरूप से मधुसूदन सरस्वती ही हैं। एक परम्परा सुनी जाती है कि मधुसूदन के विद्यागुरु माधव सरस्वती को नृसिंहाश्रम ने हराया था। पर किस विषय पर शास्त्रार्थ हुआ था यह पता नहीं चलता क्योंकि दोनों ही अद्वैती थे एवं विवरण सम्प्रदाय के अन्तर्भुक्त भी थे। माधव सरस्वती का कोई उपलब्ध ग्रंथ नहीं है। मधुसूदन ने कहीं भी नृसिंहाश्रम के विचारों का निरादर नहीं किया है। माधव सरस्वती एवं मधुसूदन सरस्वती उत्तर भारत के पंचगौड़ो के अन्तर्गत थे एवं नृसिंहाश्रम दक्षिण भारत के पंचद्राविड़ो के अन्तर्भूत। पंचद्राविड अपने को आचार्य परम्परा के स्रोत होने के कारण श्रेष्ठ मानते रहे हैं। यह भी प्रसिद्धि है कि मधुसूदन सरस्वती के पूर्व वे एकदण्ड का अधिकार केवल पंचद्राविड़ों का ही मानते थे एवं बीसवीं शताब्दी तक चारों शंकराचार्य पीठों पर पंचद्राविडों का ही पट्टाभिषेक मान्य था। इस विषय में शास्त्रार्थ की संभावना हो सकती है। मधुसूदन के संन्यासाश्रम गुरु तो निश्चित रूप से स्वामी विश्वेश्वर सरस्वती ही थे। मधूसूदन की इन पर इतनी श्रद्धा थी कि वे इन्हें जगद्गुरु शंकराचार्य के ही अवतार रूप से मानते थे। सिद्धान्त

बिन्दु के प्रारब्ध में 'श्री शंकराचार्य नवावतारं विश्वेश्वरं विश्वगुरुं प्रणम्य' कहकर उन्होंने यह प्रतिपादित किया है। सिद्धान्त बिन्दु या सिद्धान्त-तत्त्व-बिन्दु आचार्य शंकर की दशश्लोकी की व्याख्या है। दशश्लोकी की अभिधा 'चिदानन्द-स्तवराज' प्राचीन है। सिद्धान्त बिन्दु न केवल मधुसूदन की उत्कृष्ट रचना है वरन् अद्वैत के श्रेष्ठ प्रकरण ग्रंथों में से एक है जिसमें नाना प्रक्रियाएं एकत्र मिल जाती हैं। स्वयं मधुसूदन इसे नव्यवेदान्त की आधारशिला मानते थे जो उनके ग्रन्थान्त में 'चिन्तामणिरिव' कहकर संकेतित किया गया है। प्रसिद्ध है कि गंगेश की चिन्तामणि के आधार से ही नव्यन्याय बना है। वैसे सिद्धान्त बिन्दु की भी एक दर्जन से अधिक टीकाएँ उपलब्ध हैं। शायद सबसे प्राचीन सिद्धान्त-तत्त्व-बिन्दु-सन्दीपन टीका है। यह मधुसूदन के साक्षात् शिष्य स्वामी पुरुषोत्तम सरस्वती की लिखी हुई है। उनके अन्य शिष्य ब्रह्मचारी बलभद्र की प्रार्थना पर ही उन्होंने ग्रंथरचना की थी। मधुसूदन के तीसरे शिष्य शेष गोविन्द ने आचार्य शंकर के सर्वदर्शन सिद्धान्त संग्रह पर सर्वसिद्धान्तरहस्य टीका की रचना की थी। इस प्रकार इनके न्यूनतम ३ शिष्य थे। आचार्य मधुसूदन बंगाल में फरीदकोट तहसील के कोटलीपाड़ा गाँव में प्रकट हुए थे। ये आचार्य प्रमोद पुरन्दर के तृतीय पुत्र थे। इनके सबसे बड़े भाई श्रीनाथ चूडामणि थे। उससे छोटे यादवानन्द न्यायाचार्य थे। यह उससे छोटे थे एवं इनका नाम कमलनयन रखा गया था। सबसे छोटे वागीश गोस्वामी थे। इस प्रकार यह परिवार न्यायशास्त्र एवं वैष्णवसम्प्रदाय का था। इनके परिवार के सदस्य वर्तमान शताब्दी में भी विद्यमान हैं व उनकी कुलपंजिका प्रकाशित भी हो चुकी है। अभी भी उनके कुलवाले विश्वविद्यालयों में प्राचार्य पद पर कार्य कर रहे हैं। मधुसूदन का भी युवाजीवन नव्यन्याय तथा वैष्णव विचार धारा से प्रभावित था। काशी में नवद्वीप से ये न्यायदृष्टि से वेदान्त का खण्डन करने के लिये ही वेदान्त पढ़ने गये थे। नवद्वीप उस समय न्याय का प्रधान गढ़ था। मिथिला से न्याय यहीं आया था। महाप्रभु चैतन्य ने नवद्वीप में वैष्णव भक्ति की बाढ भी ला दी थी। परन्तु अद्वैत ग्रंथों का पठन पाठन यहाँ नहीं था। वैसे बंगाल कभी भी वैदिक ग्रंथों के अध्ययन में अग्रगण्य नहीं हो पाया, न यहाँ मीमांसा ही पनपी। इसीलिये मधुसूदन काशी गये। काशी उस समय मीमांसा और वेदान्त का केन्द्र था। अध्ययन के दौरान ही अद्वैत उनके हृदय में छा गया। यह अद्वैत वेदान्त की विशेषता है कि वह हृदय को स्पर्श करता है। श्रुति, युक्ति और अनुभव का जैसा समन्वय इसमें होता है वैसा अन्यत्र कहीं नहीं। वेदान्ती दूसरे को चुप कराने या उसके दिल को दुखाने के लिये कभी खण्डन में प्रवृत्त नहीं होता। उसे तो लगता है कि भ्रान्ति दूर होकर कैसे किसी की तत्त्वनिष्ठा बने। यह कार्य मुंहतोड़ जवाब से संभव नहीं होता। अन्त में अपनी दुविधा को उन्होंने परमहंस शिरोमणि विश्वेश्वर सरस्वती को निवेदित किया। कमलनयन स्वामी मधुसूदन सरस्वती बने एवं तात्कालिक वैष्णवों के अग्रगण्य तार्किक आचार्य व्यास तीर्थ के जबाब में अद्वैत सिद्धि लिख कर अमर हो गये। वे काशी में चौसट्ठीघाट पर जिस मठ में रहते थे वह अभी भी गंगातट पर मौजूद है। प्रौढ अवस्था में ये हरिद्वार गये एवं वहीं इनकी जलसमाधि हो गयी। कुछ समय यह वृन्दावन में भी रहे एवं वहाँ श्रीकृष्ण के एक मन्दिर की स्थापना के निमित्त भी बने। भक्ति के विशेष ग्रंथ भगवद्-भक्ति-रसायन का प्रणयन भी यहीं किया। इसमें भक्ति की पंचम पुरुषार्थता का प्रतिपादन अभिनव ढंग से किया है एवं ज्ञान से मोक्ष का सिद्धान्त अखण्ड्य माना है। भक्त मोक्ष का अभिलाषी ही नहीं है तो प्राप्ति की संभावना कहाँ। इस प्रकार धर्म की तरह भक्ति के भी अधिकारी, प्रयोजन आदि मोक्ष के अधिकारी आदि से भिन्न हैं। भक्ति पर इन्होंने गूढार्थ-दीपिका में, जो इनकी गीता-चिन्तनिका है, विशेष प्रकाश डाला है। शांकर भाष्य के सभी प्रसंगों का अति प्रमाणिक प्रतिपादन करके भक्ति व संन्यास के विषय में अपना मतभेद भी दिखाया है। धनपति सूरि ने अपनी भाष्योत्कर्ष दीपिका में प्रायः प्रत्येक ऐसे मतभेद का प्रत्युत्तर दिया है। मधुसूदन का अत्यन्त आदर पूर्वक अकबर के द्वारा बुलाया जाना इतिहास में प्रसिद्ध है एवं अकबरनामा में इसका वर्णन है। इन्हीं के प्रभाव से अखाड़ों में शस्त्रधारी नागों ने धर्म रक्षणार्थ युद्ध करना प्रारंभ किया एवं अकबर ने इस प्रकार मुसल्मानों के द्वारा किये जाने वाले अत्याचारों का विरोध करना साधुओं का अधिकार स्वीकार किया। इस प्रकार मधुसूदन सभी क्षेत्रों में अद्वैत को पुष्ट करने वाले अद्भुत आचार्य थे। अपने जीवन के अन्तिम दिन हरिद्वार में सर्वथा निदिध्यासन रूप विज्ञान में स्थित होकर व्यतीत किये। कृष्णभक्ति तो इनके श्वास प्रश्वास में थी। सिद्धान्त बिन्दु पर गौड ब्रह्मानन्द की टीका न्यायरत्नावली अत्यंत प्रौढ है व वेदान्त के कई रहस्यों की गुत्थी खुलती है। स्वयं उन्होंने 'अद्वैतसिद्धेष्टीकायास्तदीयायाश्च संग्रहः विचित्ररचना काचिद् ब्रह्मानन्देन' कहकर इसकी घोषणा

की है। नारायण यति ने सिद्धान्त बिन्दु पर लघुटीका की रचना की है। ब्रह्मानन्द की न्यायरत्नावली पर भी कृष्णकान्त ने सिद्धान्त न्यायरत्न प्रदीपिका लिखी है जो नव्यन्यायशैली में ग्रथित होने से अधिक प्रचलित नहीं हो पाई। पूर्णानन्द सरस्वती ने सिद्धान्त बिन्दु पर तत्त्वविवेक नाम की सरल टीका लिखी है। सच्चिदानन्द व शिवलाल शर्मा की टीकाएँ भी सिद्धान्त बिन्दु पर ज्ञात हैं। वर्तमान शताब्दी में वासुदेवशास्त्री अभ्यंकर ने भी इस पर एक सुन्दर व विशाल टीका लिखी है जो उपादेय है।

मधुसूदन सरस्वती की अद्वैतसिद्धि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है क्योंकि व्यासतीर्थ का मुंहतोड़ उत्तर होने के अलावा सभी वेदान्त के अवान्तर भेदों का निरुपण व यौक्तिक समर्थन इसमें एक ही जगह उपलब्ध हो जाता है। उनकी वेदान्त कल्पलतिका व अद्वैत वेदान्तरत्नरक्षण भी इस दृष्टि से समधिक महत्त्वपूर्ण है। इनके व्याख्यान ग्रंथों में गीतागूढार्थ दीपिका एवं संक्षेप शारीरक सारसंग्रह विशेष महत्त्व के हैं। सिद्धान्त बिन्दु तो टीका की अपेक्षा स्वतंत्र विचार रूप ज्यादा है। पुष्पदन्ताचार्य के प्रसिद्ध शिवमहिम्नः स्तोत्र की हरिहरात्मक व्याख्या के साथ प्रस्थानभेद एक अलग ही प्रकार की रचना है। लगता है कि युवा श्रीकृष्ण भक्त संन्यासी को सम्प्रदाय परम्परानुसार प्रतिदिन सायंकाल शिवमहिम्न का पाठ करते समय अपने इष्ट चिन्तन का प्रवाह रखने के लिये सहायक रूप से इसका सहज संग्रथन हो गया है। परन्तु इसमें मधुसूदन के कल्पनासाम्राज्य व व्याकरण व साहित्य ज्ञान का परिचय मिल जाता है। प्रस्थान भेद से इनके समन्वयात्मक आयाम का पता लगता है। आनन्दमन्दाकिनी भक्ति रचना है। भागवत के मंगलश्लोक की एवं वेदस्तुति की इनकी टीका भी हृद्य है। यद्यपि इनकी भक्ति विषयक शाण्डिल्यसूत्र की व्याख्या के बारे में सुना जाता है परन्तु अभी संभवतः प्रकाशित नहीं हुई है। इनके नाम से कलकत्ता से छपी आत्मबोधकी टीका तो पद्मपादाचार्य की टीका की ही प्रतिलिपि है। आचार्य मधुसूदन सरस्वती अपने ग्रंथों का निर्देश ग्रन्थान्तर में प्रायः करते हैं। जैसे अद्वैतसिद्धि में गूढार्थ-दीपिका का, गूढार्थ-दीपिका में भक्तिरसायन व भागवत टीका का, भक्ति रसायन में वेदान्त-कल्प-लतिका का, अद्वैत रक्षण में अद्वैतसिद्धि का, महम्नि टीका में वेदान्त कल्पलतिका का इत्यादि। अतः जो ग्रन्थ उनके द्वारा इस प्रकार निर्दिष्ट नहीं है उसका इनके नाम से एवं अन्य ग्रन्थकार के नाम से मिलने पर बिना पुष्ट प्रमाण के निर्णय करना कठिन है। इस प्रकार आचार्य शंकर के बाद वाचस्पति, विद्यारण्य जैसे बहुमुखी प्रतिभा के धनी ये थे यह निःसन्दिग्ध हैं एवं वेदान्त का अध्ययन इनको पढ़े बिना पूर्ण नहीं माना जा सकता। चित्सुखाचार्य की परम्परा में ही इनकी अद्वैतसिद्धि है।

व्याख्याकार के रूप में आनन्द गिरि स्वामी ही वेदान्त सम्प्रदाय में सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। आचार्य शंकर के दशोपनिषद्भाष्य ब्रह्मसूत्रभाष्य व गीता भाष्य पर इनकी विख्यात टीकाएँ हैं। सुरेश्वराचार्य के तैत्तिरीयवार्तिक, बृहदारण्यकवार्तिक, पंचीकरण वार्तिक, पर भी इनकी टीका है। आनन्दबोध के ग्रन्थों पर भी इन्होंने लिखा है। यद्यपि विवरण या भामती पर इन्होंने नहीं लिखा है पर प्रसिद्ध है कि जनार्दन इन्हीं का संन्यास लेने के पूर्व का नाम है। इनके शिष्य स्वामी अखण्डानन्द ने विवरण पर तत्त्वदीपन लिखा है। अपरोक्षानुभूति पर चंडेश्वर वर्मा की अनुभव दीपिका एवं विद्यारण्य की दीपिका टीकायें हैं। आचार्य शंकर की आत्म-ज्ञानोपदेश विधि पर भी आनन्द गिरि की विस्तृत टीका है। एक श्लोकी पर तत्त्वदीपन नामक टीका स्वयंप्रकाशयति द्वारा प्रणीत है जो विशेष प्रौढ नहीं है। यह प्रसिद्ध स्वयंप्रकाश से भिन्न प्रतीत होते हैं। आत्म बोध पर बोधेन्द्र की भावप्रकाशिका व्याख्या भी है। उपदेश साहस्त्री, जो आचार्य शंकर का अत्यन्त प्रामाणिक ग्रन्थ है, क्योंकि स्वयं सुरेश्वराचार्य ने नैष्कर्म्यसिद्धि में इसे उनका ग्रंथ कहकर उद्धृत किया है, पर भी आनन्द गिरि की टीका है। इस पर रामतीर्थ की पदयोजनिका भी प्रकाशित है। विद्याधाम के शिष्य की इस पर बोधविधि नामक टीका भी सुनी जाती है। दृग्दृश्य प्रकरण पर रामचन्द्रतीर्थ की टीका है। आचार्य शंकर के पंचीकरण पर भावप्रकाशिका, तत्त्वचंद्रिका, तात्पर्यचंद्रिका के साथ आनन्दगिरि का विवरण भी मिलता है। स्वयंप्रकाशयति का विवरण भी इस पर मिलता है। पंचीकरणवार्तिक पर अभिनवनारायणेन्द्रसरस्वती का वार्तिकाभरण भी सुन्दर विवेचन है। अभिनवनारायणेन्द्र का तैत्तिरीयभाष्य व्याख्यान तथा छान्दोग्यभाष्य व्याख्यान भी मिलता है एवं ब्रह्मसूत्रभाष्य पर विस्तृत वार्त्तिक भी प्रकाशित है।

आचार्य शंकर का गीताभाष्य अनेक दृष्टियों से महत्त्व का है। उपनिषद् ब्रह्म का प्रतिपादन वैदिक वातावरण में है। अतः वैदिक संस्कारों से रहित को अधिकतर स्थल गूढ व दूर प्रतीत होते हैं। जहाँ तक भाष्य के द्वारा स्पष्टीकरण का महत्त्व है,

इसे किसी भी प्रकार से कम किये बिना यह कह सकते हैं कि प्रतिपाद्यतात्पर्य भूत निर्विषय तत्त्व तो सूर्य की तरह चमक जाता है, परन्तु अन्य उसके गौण पदार्थ स्पष्ट नहीं हो पाते। आचार्य शिरोमणि सर्वज्ञात्ममहामुनि ने तो संक्षेप शारीरक में इसीलिये उस हिस्से का विचार ही छोड़ दिया। उत्तम वैराग्यवान् परमहंस परिव्राजकों के लिये तो इससे बेकार का परिश्रम बच गया। परन्तु मन्द मध्यम अधिकारी तो छूट ही गया। ब्रह्मसूत्र में शारीरक भाष्यकार मतान्तरों की प्राप्ति के परिहार में दत्तचित्त हैं। अतः वहाँ भी स्पष्टीकरण संभव नहीं है। गीता का वातावरण हम लोगों के अधिक नजदीक है। अतः उसमें ये कठिनाइयाँ नहीं है। स्मार्त्तप्रस्थान होने से साधना विषय का वर्णन, साध्य या सिद्ध वस्तु की अपेक्षा, ज्यादा विस्तृत है। आचार का भी आधारभूत वर्णन है। इस प्रकार मन्द व मध्यम अधिकारी के हितार्थ यह भाष्य ज्यादा बन पड़ा है। भाष्य में तत्तत्स्थलों में सिद्धब्रह्म व सर्वकर्म-संन्यास का भी युक्तिपूर्ण तथा शास्त्रसंगत विचार होने से उत्तमाधिकारी के लिये भी पर्याप्त है। परन्तु इसीलिये अन्य कर्म, उपासना, भक्ति सम्प्रदायों ने भी इस पर टीकायें लिखकर गीतार्थ को अन्यथा करने का पूरा प्रयत्न कर अधिकारी को पथभ्रष्ट करने का पूरा यत्न किया है। साधना प्रधान होने से उन्हें मूल में एतदर्थ पर्याप्त अवकाश भी मिल पाया है। अनेक आधुनिकों ने तो इसे भागवत मत या एकायन मत का ग्रन्थ भी सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। बालगंगाधर तिलक, सुरेन्द्रनाथ दास गुप्ता आदि इसी मत के पोषक हैं। पर भागवतों की प्रधान साधना अभिगमन इज्या इत्यादि का कोई भी संकेतमात्र गीता में उपलब्ध नहीं है, न चतुर्व्यूह या व्यूह शब्द मात्र भी गीता में मिलता है। गीता में भगवान् ने जिस सम्प्रदाय का उल्लेख किया है उसमें विवस्वान् ने याज्ञवल्क्य को विस्तृत उपदेश दिया एवं मानवधर्म संहिता मनु ने लिखी। इन दोनों ने भी भागवत मत के विशिष्ट रूप का प्रतिपादन किंचिन्मात्र कुत्रापि नहीं किया। महाभारत के जिस 'हरिगीता' के उल्लेख को यह आधार बनाते हैं वहाँ नारायण से सनत्कुमार व सनत्कुमार से प्रजापति, प्रजापति से रैभ्य एवं रैभ्य से कुक्षि यह शिष्य सम्प्रदाय परम्परा बताई है। कालान्तर में इस सम्प्रदाय का नाश होने पर नारायण से ब्रह्मा, ब्रह्मा से बर्हिषद एवं उनसे ज्येष्ठ ने प्राप्त की। पुनः इस सम्प्रदाय का लोप होने पर नारायण से ब्रह्मा, ब्रह्मा से दक्ष ने प्राप्त की। यह परम्परा गीता में कही परम्पराओं से सर्वथा भिन्न है। गीता में स्वयं श्रीकृष्ण ने, जो अव्ययपरमात्मा है, इस योग को विवस्वान् को दिया, विवस्वान् ने मनु को, मनु ने इक्ष्वाकु को दिया। एवं परम्परा के नष्ट हो जाने से फिर श्रीकृष्ण ने अर्जुन को दिया। यहाँ ब्रह्मा का तो कोई जिक्र ही नहीं है। श्रीकृष्ण को नारायण से अभिन्न मान भी लिया जाय तो भी इतने मात्र से सारी परम्परा को तो नहीं भुला सकते। हरिगीता के सन्दर्भ में अन्तिम उद्धार के समय दक्ष ने विवस्वान् को एवं उससे क्रमशः मनु को तथा इक्ष्वाकु को प्राप्त हुई। परन्तु यह परम्परा गीतोक्त परम्परा से किसी अंश में साम्य रखती भी हो तो विवस्वान् को दक्ष से प्राप्ति की व्यवस्था कैसे बनेगी। दक्ष को श्रीकृष्ण का स्वरूप मानना तो संभवतः किसी को भी इष्ट नहीं होगा। एवं इस परम्परा को गीता शब्दतः राजर्षियों की परम्परा बता रही है। भागवत मत या एकायन मत के प्रथम काल में सनत्कुमार व रैभ्य तो कहीं भी राजर्षि नहीं कहे गये हैं। इस प्रकार हरिगीता को भगवद्गीता से एक सम्प्रदाय का मानना इस भूलको बढ़ावा देता रहा है। भागवत या एकायन मत में अहिंसा की प्रधानता है एवं यह स्वरूपतः पशुहिंसा के विरोध का सम्प्रदाय है। गीता के सम्प्रदाय में अहिंसा का स्वरूप वैदिक है। अतः अर्जुन को श्री कृष्ण अनेक बार युद्ध में प्रवृत्त कर रहे हैं। हो सकता है कि अर्जुन भागवतमत से प्रभावित होकर अंहिंसा के उस स्वरूप से प्रभावित हो युद्ध से निवृत्ति चाहता हो, और इस प्रकार गीता का पूर्वपक्ष एकायन मत का हो, और इस दृष्टि से ये विचारक गीता को भागवत मत मान लेते हों, पर श्रीकृष्ण द्वारा प्रतिपादित अंश तो इस मत का खण्डन ही करता है। गीता में चातुर्वर्ण्य कर्मों को ही अर्चना कहा है, 'स्वकर्मणातमभ्यर्च्य' कहने से ठीक पहले श्रीकृष्ण ने उन कर्मों का ही प्रतिपादन किया है, अभिगमना आदि का नहीं। भागवत या एकयतन का प्रधान इष्ट नारायण कहीं गीता में उल्लिखित भी नहीं है। विष्णु केवल आदित्यों में विभूति रूप से प्रतिपादित है। भागवत सम्प्रदाय प्राचीन हो सकता है पर भगवद्गीता के सम्प्रदाय से भिन्न है। भगवद्गीता तो जैसा स्वयं वेद व्यास ने गीता माहात्म्य में कहा है उपनिषद् रूपी गायों का ही दूध है। इसमें उपनिषदों का शब्दशः भी उद्धरण है एवं अर्थतः भी। ईश, कठ, मुण्डक, छान्दोग्य एवं श्वेताश्वतर का सर्वाधिक वर्णन इसमें है। इसमें अपाणिनीय प्रयोग की बहुलता एवं अन्य भाषा के ढंग से इसे बुद्ध से पूर्ववर्ती ही माननी पड़ेगी। युध् से युध्य, यत् व रम् का परस्मैपदी प्रयोग,

इसी प्रकार परस्मैपदी कांक्ष्, व्रज, विश, इंग का आत्मने प्रयोग पुष्कल स्थानों में मिलता है। उद्विज् का परस्मै प्रयोग है। निवत्स्यसि के स्थान पर निवसिष्यसि प्रयुक्त है। माशुचः के स्थान पर माशोचीः पाणिनी को सम्मत होता। प्रसविष्यध्वम् भी इसी प्रकार का प्रयोग है। इन सबका समाधान भाष्य व टीका में मिलता है। आर्ष प्रयोग होने से छन्दसि बहुलम् से पाणिनी ने इन्हें शुद्ध प्रयोग ही माना है। परन्तु इसकी रचना करते समय लौकिक संस्कृत ने वैदिक संस्कृत को ढांका नहीं था यह तो निश्चित है। अतः यह उपनिषदों के ही नजदीकी सिद्ध होती है। परवर्ती भागवतों का ग्रंथ नहीं। आचार्य शंकर ने अपने भाष्य में इसे सर्वथा औपनिषद् सिद्ध किया है। इस प्रकार अद्वैत सम्प्रदाय का साधना ग्रंथ तो गीता ही सर्वश्रेष्ठ सिद्ध होता है व श्री शंकरभगवत्पाद ने इसी रूप से इसका भाष्य लिखा है। आचार्य के पूर्व कई व्याख्याताओं ने इसकी विरुद्ध व्याख्याएँ प्रस्तुत की थीं जिनका सम्यक् उत्तर दिया गया है। शांकर भाष्य से पूर्व की सभी व्याख्यायें अनुपलब्ध हो गयीं इसी से सिद्ध होता है कि भाष्य के बाद वे व्यर्थ प्रतीत होकर अनादृत हो गयीं। भास ने कर्णाभरण नाटक में 'हतोपि लभते स्वर्गं, जित्वा तु लभते यशः उभे बहुमते लोके नास्ति निष्फलता रणे' लिखकर गीता का प्रभाव उस समय कितना था इसको स्पष्ट कर दिया है। अगर गीता भागवत सम्प्रदाय का ग्रंथ होता तो काश्मीर के शैवाचार्य सर्वतोभद्र एवं अभिनवगुप्त अपनी टीका इस पर न लिखते। वे गीता को महाशैव श्रीकृष्ण का उपदेश मानकर इसका अत्यधिक आदर करते हैं।

आचार्य शंकर की लघुवाक्य वृत्ति पर पुष्पांजलि नाम की टीका प्रकाशित हो चुकी है। रामानन्द सरस्वती ने इस पर प्रकाशिका नामक टीका लिखी है। वाक्य वृत्ति पर तो स्वयं आनन्द गिरि की ही टीका है। पण्डित विश्वेश्वर की वाक्यवृत्ति प्रकाशिका भी उपलब्ध होती है। वाक्यवृत्ति का प्रारंभ ईश्वर कृष्ण की सांख्यकारिका की तरह त्रिविधताप के उपाय प्रतिपादन से किया गया है। इस प्रकार धर्म व दर्शन का संयोग यहाँ दीख पड़ता है। अपरोक्षानुभूति में विशेष प्रकार के राजयोग का वर्णन करके अन्त में हठयोग की मदद को भी मन्दाधिकारी के लिये स्वीकार कर लिया है। अनेक लोग इसे आचार्य के चिन्तन में बदलाव या परिवर्तन मान लेते हैं। भक्ति के बारे में भी प्रबोध सुधाकर आदि से सन्देह कर लेते हैं। पर वस्तुतः यह सब वेदान्त का परिपूर्ण सन्देश न समझने के कारण ही है। साधक अनेक प्रकार के होते हैं। जो जहाँ है वहाँ से उसे शनैः-शनैः अद्वैत की अखण्डानुभूति में स्थिर करना है। अतः ग्रंथकार के विचारों में उन्नति होना या परिवर्तन होना मानने में कोई प्रमाण नहीं है। कारिका के भाष्य व सूत्रभाष्य में भी इसी प्रकार का विरोध मिल जाता है। कारिका अजातवाद की दृष्टि से होने से वहाँ स्वप्न और जागृत् दोनों की अन्यथा ग्रहणावस्था मानकर व्यवस्था है, तो सूत्र भाष्य में सृष्टि दृष्टिवाद से प्रातिभासिक और व्यावहारिक का भेद प्रायः स्वीकृत है। यद्यपि सूत्र शास्त्र होने से अजातवाद, दृष्टिसृष्टिवाद एवं सृष्टि दृष्टिवाद तीनों बातों कोतत्र तत्र स्थलों में प्रतिपादित करते ही हैं। अद्वैतानुभूति, तत्त्वोपदेश, प्रौढानुभूति आदि मननार्थ अच्छे संग्रह हैं। शिवानन्दलहरी, सौन्दर्यलहरी, हरिमीडे स्तोत्र, शिव केशादिपादान्त आदि स्तोत्र भक्ति के साधकों के लिये हैं। देवेन्द्र की स्वानुभूति प्रकाश भी इसी कोटि की पुस्तक है। ये देवेन्द्र नृसिंहाश्रम के समकालीन थे। पर नृसिंहाश्रम का प्रभाव इन पर नहीं था अतः प्राय इनकी प्रक्रिया भिन्न ही है।

सत्रहवीं शताब्दी तक वाद प्रस्थान एवं शास्त्र प्रस्थान पर पुष्कल विचार चला। एक ने यदि वेदान्त को दृढ दार्शनिक व यौक्तिक भित्ति पर खड़ा कर दिया, तो दूसरे ने इसे सनातन वैदिक समाज का सर्वोच्च धर्म सिद्ध कर दिया। न्याय, वैशेषिक, सांख्य व मीमांसा अब वेदान्त के अंग से हो गये। वैदिक समाज वेदान्ती था, जीवन व विचारों में। उस समाज में नैयायिक विद्वान् बन कर न्याय की रक्षा करते थे, या मीमांसक विद्वान् बन कर मीमांसा की रक्षा करते थे। ये भी पूर्व पक्ष रूप से अपेक्षित हैं यही सामान्य जनता की मान्यता थी। वैष्णव सम्प्रदाय भी पूरे प्रयत्न से अपने को वेदान्तानुयायी ही सिद्ध कर रहे थे एवं उनकी मान्यता भी समाज में इसी पर आधारित थी कि वे वेदान्तानुयायी है। वेदान्त का प्रधान पक्ष अद्वैत भी सिद्ध था। अतः या इसका खण्डन या मण्डन यही वाद था। जिस प्रकार राजनीति में कांग्रेस या कांग्रेस विरोधी दो ही पक्ष होते थे उसी प्रकार वेदान्त में अद्वैत या अद्वैत विरोधी दो ही पक्ष होते थे। विरोधी खेमें में विशिष्टाद्वैत, भेदाभेद, अचिन्त्यभेद, द्वैत आदि सभी मिलकर अपने भेदों के रहते हुए भी केवल अद्वैत पर ही आक्षेप करते थे। अब अद्वैत के मूल विचारों पर आघात कम किया जाने लगा, प्रक्रिया विशेषों पर ज्यादा। अतः अब आवश्यकता हुई ऐसे ग्रन्थों के निर्माण की जिनमें व्यवस्थित वेदान्त उपस्थापित

करने का प्रयत्न किया जाय। उत्तर प्रत्युत्तर में विकसित वेदान्त के सिद्ध रूप को विचारकों व साधकों के सामने लाया जाय। अब वेदान्त सम्प्रदाय में अधिकांश वे लोग थे जो न्याय, मीमांसा, सांख्य आदि सम्प्रदायों के नहीं थे। इन मान्यताओं को लेकर वेदान्त में दीक्षा ग्रहण करना अब नहीं रह गया था क्योंकि जन्मना इन सम्प्रदायों में लोग नहीं होते थे। जन्मना तो वेदान्ती ही होते थे। अतः वे वेदान्त को ही जानना चाहते थे। यद्यपि यह ठीक है कि वेदान्त का मुख्य सिद्धान्त तो 'सर्वापह्नव एवहि' है। अतः कोई भी व्यवस्था वेदान्ती अकाट्य नहीं मानेगा। पर सामान्य जन तो किसी आधार पर ही साधना में प्रवृत्त होगा। अतः इस प्रकार के व्यवस्था प्रधान निबन्धों की रचना आवश्यक थी। जिस प्रकार स्मृतियों में समन्वय लाने को निर्णयसिन्धु, स्मृतिमयूख, रणवीरकल्पद्रुम आदि का निर्माण हुआ उसी प्रकार अद्वैत की प्रक्रियाओं में भी समन्वय बैठाकर निबन्धों का निर्माण हुआ। इस परम्परा का बड़ा ही सुन्दर ग्रंथ है स्वामी कृष्णानन्द का सिद्धान्त सिद्धांजन। यह प्रायः १७वीं शताब्दी के मध्य में लिखा गया। इस पर स्वामी कृष्णानन्द के शिष्य भास्कर दीक्षित ने रत्नतूलिका लिखी है। इसमें वेदान्त के सभी विषयों का तरतीब से प्रतिपादन किया है। धर्म एवं ब्रह्म के अधिकारी, विषय, प्रयोजन, प्रमाण आदि भेदों का निरूपण इसमें विस्तार से है। विधियों का विचार व ब्रह्मज्ञान की आवश्यकता पर भी इस प्रकार लिखा है कि मीमांसा के अपेक्षित विषय भी यहीं समझ में आ जावें एवं उनकी वेदान्त में आवश्यकता तथा मीमांसा से भेद भी प्रकाशित हो जाय। ज्ञान व अज्ञान का भी विश्लेषण है। पर इसमें प्रत्यक्ष तथा अन्तःकरण व उसकी वृत्तियों का अधिक विचार नहीं किया है। संभवतः इसके पूर्व नृसिंहाश्रम, अप्पय दीक्षित आदि ने इन विषयों पर इतना सूक्ष्म चिन्तन किया था कि लोग इस विचार से ऊबने लगे हों। चूँकि विवरण की प्रधानता इसी पर है अतः इस ग्रंथ में विवरण अस्पृष्ट सा ही रह गया है। यह भी संभव है कि यतः कृष्णानंद के गुरु रामभद्रानन्द स्वयम्प्रकाशानन्द के शिष्य थे, जिन्होंने भामती प्रस्थान का अनुसरण करके सूत्रों पर वेदान्तनयभूषण की रचना की थी, अतः ये भामती के ज्यादा नजदीकी रहे हों। इसी काल के लक्ष्मीधर के अद्वैत मकरन्द के टीकाकार कैवल्यानन्द योगीन्द्र के शिष्य स्वयं प्रकाश सर्वथा भिन्न व्यक्ति हैं। इसी काल में रामानन्द सरस्वती ने वेदान्त सिद्धान्त चन्द्रिका का निर्माण किया। वेदान्त सिद्धान्त चन्द्रिका पर गंगाधरेन्द्र सरस्वती ने १८२६ खीष्टाब्द में व्याख्या का निर्माण किया। गंगाधरेन्द्र सरस्वती स्वयं सर्वज्ञ सरस्वती के शिष्य रामचन्द्र सरस्वती के शिष्य थे। गंगाधरेन्द्र सरस्वती ने साम्राज्यसिद्धि या स्वाराज्यसिद्धि भी लिखी जो चन्द्रिका की तरह ही वेदान्त को उपस्थित करता है। स्वाराज्यसिद्धि पर इन्होंने स्वयं कैवल्यकल्पद्रुम नाम की प्रौढ व्याख्या लिखी है।

स्वयम्प्रकाशानन्द के शिष्य महादेवानन्द सरस्वती हैं जो प्रकृतग्रंथ के लेखक हैं। महादेवानन्द सरस्वती को वेदान्ती महादेव के नाम से प्रसिद्धि मिली हुई है। ये अठारहवीं शताब्दी के मध्य में विद्यमान थे। इन्होंने तत्त्वानुसन्धान लिखकर वेदान्त के मूल सिद्धान्तों का संक्षिप्त परिचय करा दिया। फिर उस पर अतिविस्तार से अद्वैत चिन्ता कौस्तुभ नाम की टीका लिखी। प्रस्तुत अनुवाद इन दोनों का ही अनुवाद है। इसके परिशीलन से वेदान्त सर्वथा स्पष्ट हो जाता है। अतः स्वामी चिद्धनान्द गिरि जी ने उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में इसका हिन्दी अनुवाद तत्कालीन प्रचिलत मुहावरे में किया था। ये काशी के गोविन्दमठ के संस्थापक परमहंस महामण्डलेश्वर स्वामी गोविन्दानन्द गिरिजी के शिष्य थे। अद्वैत चिन्ता कौस्तुभ में वाचस्पति, सुरेश्वर तथा सर्वज्ञात्ममुनि का प्रभाव विवरण की अपेक्षा अधिक प्रतीत होता है। इसी प्रकार सदानन्द काश्मीरक की अद्वैत ब्रह्मसिद्धि भी वेदान्त के सभी मान्यताओं का विवरण उपस्थित करती है। यह भी अठारहवीं शताब्दी की रचना है। इन सदानन्द से वेदान्तसार के लेखक सदानन्द सर्वथा भिन्न हैं। वेदान्तसार की जनप्रियता इन सबसे अधिक रही है, और यह उचित भी है। परन्तु सामान्य व्यक्ति जो दर्शन का विद्यार्थी नहीं है वेदान्तसार में अपनी जिज्ञासा का समाधान नहीं कर पाता। दार्शनिक दृष्टि से चुस्त न होने पर भी तत्त्वानुसन्धान ने अनेक जिज्ञासाओं को, जो साधक के मन को व्यथित करती हैं, अपनी शैली से समाहित किया है।

नृसिंहाश्रम के पौत्र व सर्वज्ञ नारायण के पुत्र लोकनाथ ने अद्वैत मुक्तासार एवं उसकी व्याख्या कान्ति का निर्माण किया। ब्रह्मानन्द सरस्वती ने अद्वैत सिद्धान्त विद्योतन प्रकाशित किया। योगानन्द के शिष्य गोपालानन्द सरस्वती ने अखण्डात्म प्रकाशिका लिखी। विश्वेश्वराश्रम के शिष्य शिवराम के शिष्य हरिहर परहमंस ने अनुभव विलास की रचना की। उन्नसवीं शताब्दी के मध्य

में ब्रह्मानन्द के शिष्य सामी ने १२ अध्यायों में विभक्त ब्रह्मानन्द विलास की रचना की। वासुदेवेन्द्र का तत्त्वबोध, स्वयं प्रकाश योगीन्द्र का गुणत्रयविवेक, रामेन्द्रयोगी की जगन्मिथ्यात्व दीपिका, शिवानन्दयति का आनन्ददीप, योगीश्वर का स्वात्मयोग प्रदीप, वरदपण्डित का वेदान्त हृदय भी इसी प्रकार के ग्रंथ हैं। आनन्ददीप पर रामनाथ की टीका एवं स्वात्मयोग प्रद्रीप पर अमरानन्द की टींका भी मिलती है।

कुछ ग्रंथ वाद रूप से भी लिखे गये। सत्रहवीं शताब्दी के आनन्दपूर्ण ने श्रीहर्ष के खण्डन की एवं बृहदारण्यक वार्तिक की टीका लिखी। आनन्दपूर्ण ने न्यायचन्द्रिका भी लिखी जिसमें न्याय, वैशेषिक व मीमांसा का खण्डन किया। नारायण ज्योतिष के शिष्य आनन्दानुभव ने अठारहवीं शताब्दी में पदार्थ तत्त्व निर्णय भी इसी प्रकार का लिखा। ज्ञानघन ने तत्त्वशुद्धि नामक ३३ प्रकरणों में विभक्त विशाल ग्रंथ भी इसी दृष्टि से लिखा। कुछ लोग इन्हें चित्सुख से सम्बन्धित मानकर तेरहवीं शताब्दी का भी बताते हैं। परन्तु दोनों की एकता केवल नाम के आधार पर करंना संगत नहीं लगता है। ये सभी ग्रंथ घिसी पिटी बातों की पुनरावृत्ति ही करते हैं, किसी नवीन दृष्टि का उद्भावन नहीं, जो तभी संभव होता है जब पूर्वपक्षी नई युक्तियों को सामने लावें। विरोधी सम्प्रदायों के अभाव में सिद्धान्त में भी नई चमक नहीं आ पाती। इस काल के वाद ग्रंथों में वादावली प्रधान है। इसके लेखक श्री निवासयज्वा हैं। इसमें विशिष्टाद्वैत व द्वैत का २६ अध्यायों में खण्डन किया है। इसी प्रकार का ग्रंथ भवानी शंकर की सिद्धान्त दीपिका है। ये ग्रंथ सत्रहवीं शताब्दी के हैं। चूँकि द्वैत व विशिष्टाद्वैत नये प्रकार से अद्वैत का विरोध कर रहे थे अतः इन ग्रंथों में भी काफी नवीन विचार मिल जाते हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में भारी राजनैतिक परिवर्तन के साथ सामाजिक परिवर्तन भी आया। ईसाई व यूरोपीय विचार भारतीय धर्मों को व दर्शन को उद्वेलित करने लगे। कुछ विचारक इनके प्रभाव से इनके जैसी मान्यताएं प्राचीन ग्रंथों में ढूँढने लगे, तो कुछ अन्य विचारक अपनी ही सांस्कृतिक भूमि में परिवर्तन करने का प्रयत्न करने लगे। इस आधार पर अनेक पंथों व मतमतान्तरों का निर्माण होने लगा। शास्त्रार्थ परम्परा से तत्त्वनिर्णय अब संभव नहीं था, क्योंकि राजा के अभाव में न तो कोई निर्णायक था और न उस निर्णय को मान्य कराने वाला। विचारस्वातंत्र्य की वायु ने विचार के ढंग को भी नियमहीन कर दिया। हिन्दू समाज ने विचार की पूरी स्वतंत्रता दी थी पर विचार के नियम (LOGIC) निर्णीत थे। वदतो व्याघात को (Self-contradiction) सभी दोष मानते थे। अब ये नियम भी अमान्य हो गये। अब निर्णायक मध्यस्थ विद्वान् न होकर सामान्य जनता हो गयी एवं उसको रोचकढंग से उपस्थित करके प्रभाव में लेना आवश्यक हो गया। संस्कृत की जगह लोकभाषा ने, जिनमें विदेशी भाषा भी है, ले ली। तदनुरूप वेदान्त ने भी अपना ढंग बदला। पर यह मानना ही पड़ेगा कि इन सब परिवर्तनों में भी वेदान्त की प्रधानता को नहीं हटाया जा सका है। परन्तु विश्व अब इक्कीसवीं शती के द्वार पर खड़ा है। विज्ञान ने ऋग्वेद के विश्व की एकनीड़ता का विचार अनुभव में बदल दिया है। इससे जहाँ अनेक लाभ हुए हैं वहाँ संघर्ष भी बहुत बढ़ गये हैं। भिन्न भिन्न देश कालों में पनपे नैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक मूल्यों का अविवेक से प्रतीत होने वाला विरोध ही संघर्ष का स्रोत है। विवेक के आधार पर उनमें समन्वय संभव है। इस दिशा में वेदान्त की दृष्टि ही मार्गदर्शन करा सकती है जो इन सारे भेदों में अभेद दृष्टि की शिक्षा देती है। यह दृष्टि शून्यवाद की तरह निरानन्दरूप भी नहीं है, एवं अनेकान्तवाद की तरह अनिश्चयात्मक भी नहीं है, और अज्ञेयवाद या संशयवाद की तरह निरालंब तो कतई नहीं है। यह वेदान्त की विश्वशान्ति को देन होगी। प्रस्तुत प्रकाशन इसी दृष्टि को प्रशस्त करने में मदद करेगा। यह विश्वास है। स्वामी महादेवानन्द सरस्वती ने अधिकतर जीवन काशी में व्यतीत किया। संन्यासी के पूर्वाश्रम का पता प्रायः नहीं रहता है। अपेक्षित भी नहीं है। जो वेदान्त साधना में रत रहकर देश-कालातीत में स्थित रहने का शील पालन करता है उसकी इस देशकाल से अतीत अवस्था को ही समझने का प्रयत्न कर्तव्य है, उससे असम्बद्ध देश व काल को समझने का व्यर्थ प्रयत्न नहीं। यही इनका एकमात्र वेदान्त का उपलब्ध ग्रंथ है। इसमें अत्यन्त व्यवस्थित ढंग से वेदान्त के एक एक विषय को उपस्थित किया है तथा साधना विषयक सगुणोपासना, अहंग्रहोपासना के साथ अपेक्षित वैदिक योग का भी वर्णन कर दिया है। पदार्थ शोधन तथा अखण्ड वाक्यार्थ

की प्रक्रिया भी स्पष्ट कर दी है। यत्र तत्र वेदान्तनय के अनुरूप उपमानों का भी काफी प्रयोग किया है। उपनिषद् के ऋषियों से प्रारंभ करके आज तक के ब्रह्मविद् वरिष्ठ गुरु शिष्य को समझाने में उपमा या दृष्टान्तों का प्रयोग करते हैं। ये विषय को सिद्ध करने के लिये नहीं वरन सिद्ध विषय को हृदय में उतारने के लिये होते हैं। ये वेदान्त को सरस बना देते हैं।

दर्शन, धर्म, विज्ञान आदि सभी हमारे अनुभव व उससे सिद्ध जगत् को ठीक ढंग से समझ कर उसकी ऐसी व्याख्या करने का प्रयत्न है जो जीवन में राह दिखा सके। वेदान्त उपनिषद् प्रतिपादित सिद्धान्तों पर आधारित व्याख्या है जो जीवन को आनन्द से परिपूर्ण करने में समर्थ है। परमसत्य को समझने का प्रयत्न जीवन के लक्ष्य को निश्चित करने में आवश्यक है। असत्य को लक्ष्य बनाने से असफलता ही अन्ततः हाथ लगेगी। परमसत्य किस प्रकार द्रष्टा व दृश्य रूप विचित्र जगत् में प्रकट होता है इसे समझना आवश्यक है जिससे हम लौटकर पुनः परमसत्य में स्थित हो सकें। शास्त्र में अधिकार मानव का ही है। अतः मानव का क्या स्थान है व क्या नियति है यह जानना भी जरूरी है। वस्तुतः अनुभव का स्रोत व सत्य का स्वरूप तत्वतः निर्णय करना, व कर्त्तव्य या धर्म या नैतिक जीवन के रहस्य को खोलकर साधना का व्यावहारिक निर्णय करना वेदान्त का प्रधान रूप है। मानव के चरम लक्ष्य व तात्कालिक लक्ष्य दोनों का विचार वेदान्त में किया गया है। वेदान्त केवल श्रद्धा पर आधारित नहीं है। इसकी श्रद्धा युक्ति से संगत है। भारत के वंशजों में यह दृढबद्ध मूल है एवं अनेकों के लिये इसके सिद्धान्त निःसंदिग्ध रूप से मान्य हैं। परन्तु इसका कारण है कि वे प्रक्रिया न जानते हुए भी जानते हैं कि यह तर्कसंगत व अनुभव सिद्ध बातें हैं, जो याज्ञवल्क्य व वसिष्ठ से लेकर आज पर्यन्त प्रत्येक पीढ़ी ने साक्षादनुभव से सिद्ध की हैं। विश्व के अनेक दार्शनिक इसके दर्शन को श्रेष्ठ मानते हैं तो अनेक आध्यात्मिक लोग (Mystics) इसके अनुभूतियों के कायल हैं। जीवन की तलस्पर्शी अनुभूतियाँ वेदान्त को छोड़कर अन्यत्र कहीं भी तर्क व युक्ति से प्रकाशित नहीं हैं। वेदान्त में प्रायः ४ प्रकरणों के ग्रंथ हैं। सत्यमीमांसा, जगत् मीमांसा, साधनमीमांसा व फलमीमांसा इन प्रकरणों में प्रतिपादित होते हैं। ये ब्रह्मसूत्र के चार अध्यायों की तरह हैं। वहाँ पहला अध्याय समन्वयाध्याय है जिसमें उपनिषदों का समन्वय एकमात्र ब्रह्म में बताकर सत्य का निर्णय किया गया है। प्रकृति आदि में उपनिषदों का समन्वय नहीं हो सकता यह बात स्पष्ट हो जाती है। फिर अविरोधाध्याय में जगत् के अन्य विचारकों की मान्यताएँ परस्पर विरुद्ध हैं एवं अपने मान्य आधारों के भी विरुद्ध हैं यह प्रतिपादित कर उपनिषद् सिद्धान्त व्यवहार के विरुद्ध नहीं है यह बताया गया है। यह अध्याय ही वादप्रस्थान का मूल है। इस प्रकार प्रमाणगत संशय तथा प्रमेयगत संशय की निवृत्ति होने पर इसमें स्थिति के लिये आवश्यक विपरीत भावना की निवृत्ति के उपयोगी विचार तीसरे में हैं। वेदान्त चूँकि स्वानुभूति का विषय है अतः फलाध्याय से अपने आपको परखने की कसौटी मिल जाती है। यह अध्याय दूसरे को परखने के काम में नहीं आ सकता। जैसा सर्वज्ञ शंकरभगवत्पाद कहते हैं कि एक साथ अपनी निर्विकारता एवं जगत् की अन्तःकरणादि रूप विकारिता को स्वानुभव से जानने के कारण इस विषय में विवाद नहीं करना चाहिये। सिद्धान्त सिद्धांजन ने श्रवण सम्पन्न होने पर ब्रह्मविद्, मनन संपन्न होने पर ब्रह्मविद्वर, तथा निदिध्यासन पकने पर ब्रह्मविद्वरीयान् माना है। मनन से असंभावना आदि संशय निवृत्त होकर ज्ञान स्थिर हो जाता है। विपर्ययनिवृत्ति होने से साक्षात्कार जैसी स्थिति निदिध्यासन से सम्पन्न हो जाती है। सर्वदा विज्ञान रूप से प्रतिष्ठा ही ब्रह्मविद्वरिष्ठता है। (खण्ड १५.८३) इसे प्राप्त करने पर प्रारब्धनिवृत्ति होते ही अखण्डानन्द रूपता हो जाती है। प्रारब्ध चाहे एक देह का हो या अनेक देह का यह विषय दूसरा है। उपनिषद् स्पष्ट कहते हैं कि 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'। अतः मोक्ष में ज्ञान व आनन्द तो स्वरूप से रहेंगे। अतः न केवल दुःखनिवृत्ति वरन् आनन्द स्थिति भी भावरूप से मोक्ष में प्रकट रहेगी। वस्तुतः अज्ञान रूपी अहंकार ही आगन्तुक व्यक्तित्त्व है जो ज्ञान व आनन्द का आश्रय प्रतीत होता है। इस आगन्तुक भाव की निवृत्ति होकर ज्ञानानन्द का अनावृत्त होना ही मोक्ष है। अब जगत की सत्यता एवं हमारा इसमें कर्तृत्त्व व भोक्तृत्त्व सर्वथा निवृत्त हो जाता है। जैसा आचार्य शंकर कहते हैं 'कस्तां परानन्द रसानुभूतिं उत्सृज्य शून्येषु रमेत विद्वान् चन्द्रे महाह्लादिनि दीप्यमाने चित्रेन्दुमालोकयितुं क इच्छेत्' पूर्णचन्द्र के उदय होने पर जब महान् आह्लाद का रस प्रवहित हो रहा हो तो कौन पटचित्र के चन्द्रमा को देखना चाहेगा। इसी प्रकार अज्ञान का पर्दा हट जाने पर परमानन्द के रस का प्रवाह जब अनुभूति रूप हो रहा हो तब असत् तुच्छ विषयानन्द को कौन बुद्धिमान चखना चाहेगा। क्योंकि विषय दृष्टि तभी बनेगी जब निर्विषय

दृष्टि हटेगी। इसी दृष्टि से लघुचन्द्रिका में गौडब्रह्मानन्द सरस्वती ने कहा है कि 'विदेहकालीनोऽस्तमय एव मुख्यो मोक्षः' क्योंकि जीवन्मुक्ति में 'ज्ञातत्वोपलक्षितस्य सर्वदासंभवाद् उपलक्षितस्यैव मोहनिवृत्तित्वम्' अर्थात् विदेह कालीन अस्तमय ही मोक्ष का मुख्य अर्थ है क्योंकि उसके पहले सबसमय ज्ञातत्त्व से उपलक्षित चैतन्य नहीं हो सकता, एवं ज्ञातत्त्व से उपलक्षितकी ही मोहनिवृत्ति रूपता कही जा सकती है। स्वरूप से तो ब्रह्म सर्वदा ही मुक्त है। परन्तु ज्ञातता से ही मुक्ति का प्रतिपादन संभव है। आचार्य शंकर इस विषय में अधिक उदार दृष्टि अपनाते हैं। अज्ञाननिवृत्त होने पर कर्त्तव्यनिवृत्ति हो जाती है। प्रारब्ध काल में तथा उसके बाद भी मोक्ष के लिये कुछ भी कर्त्तव्य अविशिष्ट नहीं है। इस प्रकार की अवस्था को ही वे मोक्ष मान लेते हैं। कहा जा सकता है कि ब्रह्मानन्द स्वरूप व लक्षण से मोक्ष को कहना चाहते हैं, परन्तु सर्वज्ञ शंकर ज्ञानी की दृष्टि से उसीका प्रतिपादन करते हैं। मण्डनमिश्र ने मरणपर्यन्त कर्त्तव्य का ध्यान रखने को कहा है अन्यथा यथेच्छाचरण प्राप्त होकर ज्ञान के फल मोक्ष का प्रतिबन्धक हो जायगा। यह सुरेश्वर को सर्वथा असंगत लगता है। यदि ज्ञान से अज्ञान नहीं हटा तो कालान्तर में हटेगा किंससे, एवं हट गया तो अनादि होने से पुनः उत्पन्न हो नहीं सकता। अतः अज्ञाननिवृत्ति होने पर कर्त्तव्य की सर्वथा निवृत्ति ही शांकर सम्प्रदाय में सर्व सम्मत है। इसी दृष्टि से गौड ब्रह्मानन्द का मुख्य मोक्ष भी मोक्ष है व गौण मोक्ष भी मोक्ष है। अविद्या लेश की अनुवृत्ति से गौणता है, एवं अननुवृत्ति से मुख्यता। जैसे रस्सी के जल जाने पर भी राख उड़ने तक रस्सी की ऐंठन दिखती रहती है। इस दिखने को लेकर गौण निवृत्ति कह सकते हैं व उडने पर मुख्य निवृत्ति। ऐसा ही यहाँ समझना चाहिये। परन्तु रस्सी तो जलकर निवृत्त हो ही गयी है।

इस प्रकार शांकर मतावलम्बियों ने मानव जन्म की दुर्लभता मानकर इस दुर्लभता में क्या वैशिष्ट्य है इसका विचार करके पाया कि ज्ञान को प्रमाण कसौटी पर परख कर सत्यविषयक ज्ञान व मिथ्या विषयक ज्ञान का भेद अन्यत्र पशुओं में नहीं मिलता है, अतः सत्यज्ञान ही इसका दौर्लभ्य है एवं इससे रहित मनुष्य पशु के समान ही है। ज्ञान यद्यपि अपनी बुद्धि में ही होगा पर इसकी करणता प्रमाणों में होगी। शब्द प्रमाण ही अनैन्द्रिय ज्ञानों का स्रोत हो सकता है एवं इस में वेद ही अकाट्य सिद्ध होता है। वेद ब्रह्म का प्रतिपादन कर हमें मार्ग दर्शन कराता है। उसी का युक्ति संगत अविरोध कायम कर रातदिन उसी प्रकाश में रहने से ही अज्ञान निवृत्त हो मोक्ष का प्रकाश नित्यनिरतिशय आनन्द रूप से होता है। इसी सत्यको प्रत्येक युग में परमहंस स्वानुभव से सिद्ध करते रहे हैं व जैसा सर्वज्ञ भाष्यकार शंकरभगवत्पाद कहते हैं इसका प्रचार भी आज तक करते रहे हैं। युगानुरूप भाषा, संस्कार, परिवेष, तर्क आदि बदलते रहे हैं। पर वस्तु (content) सदा एक रूप ही रही है। स्वामी महादेवानन्द सरस्वती का तत्त्वानुसंधान भी इसी की एक कड़ी है। चूँकि यह काल दृष्ट्या हमारे सर्वाधिक नजदीक है अतः इसका उत्थापन (Presentation) विशेष महत्त्व रखता है। किंच सभी पदार्थों का समावेश भी यहाँ एकत्र है तथा अधिक परिष्कृत लक्षण व भाषा का प्रयोग न होने से सामान्य पाठक का भी उपकार करेगा। यह ग्रंथ पहले कलकत्ता से प्रकाशित था। इसका मूल भाप्रतिरूप मुद्रण के लिये हमें ब्रह्मविद्वरिष्ठ स्वामी योगेन्द्रानन्द जी महाराज, उदासीन संस्कृत पाठशाला काशी से मिला था। वे इस प्रकाशन के पूर्व ही विदेहावस्था को प्राप्त हो गये। उसके लिये उनके अधमर्ण तो रह ही गये। वे काशी में वेदान्त के एक स्तम्भ थे। अनेक प्रामाणिक वेदान्त ग्रंथों का हिन्दीभाषान्तर उनके द्वारा हुआ। हिन्दी अनुवाद पंडितराज उभयमीमांसामूर्धन्य अनेक दार्शनिक ग्रंथों के अनुवादक गजानन शास्त्री मुसलगाँव कर जी हैं। उन्हें श्री विश्वनाथ स्वस्थ दीर्घ जीवन प्रदान करें। वे वर्तमान में भारत वर्ष के विशेषदार्शनिकों में से हैं। उनका अनुवाद सरल तथा रुचिकर है। पाठक इसका आनन्द पावें।

महेशानन्द गिरिः

श्री दक्षिणामूर्ति मठ
वाराणसी।

ॐ

श्रीभगवन्महादेवानन्दसरस्वतीकृतम्

तत्त्वानुसन्धानम्

प्रथमः परिच्छेदः

ब्रह्माऽहं यत्प्रसादेन मयि विश्वं प्रकल्पितम् । श्रीमत्स्वयम्प्रकाशाख्यं प्रणौमि जगताङ्गुरुम् ॥१॥

मूलकारविरचितं व्याख्यानम्

अद्वैतचिन्ताकौस्तुभः

यः परमात्मा[1] जगत् सृष्ट्वा प्रविवेश पुनः स्वयम् । तङ्कृष्णं प्रत्यगात्मानं वन्दे गोपीमनोहरम् ॥१॥
यस्य प्रसादादहमद्वयात्मा विश्वं समस्तं मयि कल्पितञ्च । तं सर्वलोकैकगुरुं सदा श्रीस्वयम्प्रकाशङ्गुरुमानतोऽस्मि ॥२॥
गुरूणाञ्चरणाम्भोजं प्रणिपत्य निरन्तरम् । तत्कृपालेशतोऽद्वैतचिन्ताकौस्तुभमारभे ॥३॥

प्रारिप्सितस्य ग्रन्थस्य निर्विघ्नसमाप्तिकामनया गुरुप्रसादलभ्यतत्त्वानुसन्धानलक्षणं मङ्गलमाचरन्नर्थात्प्रेक्षावत्प्रवृत्त्यङ्गमभिधेयादि सूचयन्—

'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ । तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः' ॥

इत्यादिश्रुत्या गुरुभक्तेस्तत्त्वानुसन्धानं प्रत्यन्तरङ्गसाधनत्वावगमात् स्वगुरुं नमस्करोति—ब्रह्मेति ॥ यस्य गुरोः प्रसादेन ब्रह्माहं तङ्गुरुं प्रणौमीति सम्बन्धः । अत्र ब्रह्मशब्देन मायाविनिर्मुक्तमखण्डचैतन्यमभिधीयते । अहंशब्देन स्थूलसूक्ष्मकारणशरीरविनिर्मुक्तं

श्री गजाननशास्त्री मुसलगाँवकरकृत

हिन्दी व्याख्या

जिस गुरु की कृपा से मैं ब्रह्मरूप हूँ तथा यह सारा विश्व मुझ में कल्पित है ऐसे जो श्रीमत् स्वयम्प्रकाशसरस्वती नामक हमारे गुरु हैं तथा अधिकारिजन रूप सारे जगत् के गुरु हैं उन सद्गुरु को मैं नमस्कार करता हूँ ॥१॥

'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' (तै० उप० २।६) इस श्रुतिवाक्य के अनुसार जो परमात्मा, जगत् को उत्पन्न करके पुनः स्वयं उसी में प्रविष्ट हुआ, उस गोपीजनमनमोहन प्रत्यगात्मस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण को मैं प्रणाम कर रहा हूँ ॥१॥

जिसके कृपाप्रसाद से 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृह० उप० १।४।१०) इस श्रुति के अनुसार मैं ब्रह्मात्मैक्यभाव को प्राप्त हुआ—अर्थात् अद्वयात्मा हो पाया और सम्पूर्ण विश्व, मुझ में कल्पित है—यह प्रतीत कर पाया, उन सर्वलोकैकगुरु श्रीस्वयम्प्रकाश संज्ञक अपने गुरु को मैं प्रणाम कर रहा हूँ ॥२॥

अपने सद्गुरु के पादारविन्द पर निरन्तर कायिक, वाचिक, मानसिक प्रणाम करके, उनके कृपालेश का अवलम्ब कर प्रस्तुत अद्वैतचिन्ताकौस्तुभ नामक व्याख्या की रचना का आरम्भ कर रहा हूँ ॥३॥

जिस ग्रन्थ की रचना का आरम्भ करना चाहता हूँ, उसकी निर्विघ्नतया समाप्ति हो, इस इच्छा से गुरुप्रसादलभ्यतत्त्वानुसन्धानात्मक मङ्गल करते हुए तथा बुद्धिमान् लोगों की प्रवृत्ति कराने में अंगभूत प्रतिपाद्यविषय आदि को भी सूचित करते हुए—

जिस जिज्ञासु व्यक्ति की परमेश्वर के चरणारविन्दों में अत्यन्त भक्ति रहती है, और ईश्वर भक्ति के तुल्य ही अपने विद्यागुरु के चरणारविन्द में भी सुदृढ भक्ति रहती है, उसी महात्मा जिज्ञासु के चित्त में ये शास्त्र-प्रतिपादित पद-पदार्थ एवं सिद्धान्त यथावत् प्रकाशित हो पाते हैं ।—

इत्यादि श्रुतिवचन के अनुसार तत्त्वानुसन्धान के प्रति गुरुभक्ति अन्तरङ्ग साधन है, यह अवगत होता है । अतः ग्रन्थकार अपने गुरु को प्रणाम कर रहे हैं—ब्रह्मेति । यत्प्रसादेन—जिस गुरु के प्रसाद (अनुग्रह) से मैं ब्रह्मरूप हो पाया,

---

१. परात्मेति पाठः कल्प्यते ।

प्रत्यक्चैतन्यं लक्षणया प्रतिपाद्यते। ब्रह्माहंशब्दयोः सामानाधिकरण्यात् ब्रह्मात्माभेदः 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मी' त्यादिमहावाक्यार्थ-प्रकरणप्रतिपाद्यो विषयस्सूचितः। तज्ज्ञानादज्ञाननिवृत्तिद्वारानन्दावाप्तिः प्रयोजनम्। तत्कामोऽधिकारी। प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावः सम्बन्धश्चेति। ब्रह्माहमिति तत्त्वानुसन्धानमेव मङ्गलम्। तथा च स्मृतिः—

'स्मृतेः सकलकल्याणभाजनं यस्य जायते। पुरुषन्तमजं नित्यं व्रजामि शरणं हरिम् ॥१॥
सर्वदा सर्वकार्य्येषु नास्ति तेषाममङ्गलम्। येषां हृदिस्थो भगवान्मङ्गलायतनो हरिः ॥२॥
अशुभानि निराचष्टे तनोति शुभसन्ततिम्। स्मृतिमात्रेण यत्पुंसां ब्रह्म तन्मङ्गलं विदुः ॥३॥
हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः। अनिच्छयापि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावकः ॥४॥
सकृदुच्चरितं येन हरिरित्यक्षरद्वयम्। बद्धः परिकरस्तेन मोक्षाय गमनं प्रति ॥५॥
अवश्येनापि यन्नाम्नि कीर्त्तिते सर्वपातकैः। पुमान् विमुच्यते सद्यः सिंहत्रस्तैर्मृगैरिव' ॥६॥ इत्यादि।

ननु ग्रन्थारम्भे मङ्गलाचरणमनुपपन्नं, प्रमाणप्रयोजनयोरभावात्। तथाहि—न तावत्प्रत्यक्षं प्रमाणं, मङ्गलाचरण-कर्त्तव्यताया अतीन्द्रियत्वात्। किञ्च नास्तिकादिग्रन्थस्य मङ्गलाचरणाभावेऽपि समाप्तिदर्शनात् कृतेऽपि मङ्गले क्वचिद् ग्रन्थस्य समाप्त्यदर्शनात्, तस्मादन्वयव्यतिरेकव्यभिचारान्मङ्गलस्य प्रत्यक्षेण निर्विघ्नसमाप्तिकारणत्वमवगन्तुमशक्यम्।

●

उस गुरु को मैं प्रणौमि—प्रणाम करता हूँ। यहाँ पर ब्रह्म शब्द से मायाविनिर्मुक्त अखण्डचैतन्य बताया गया है और अहम् शब्द से स्थूल-सूक्ष्म-कारण-शरीर-विनिर्मुक्त प्रत्यक्चैतन्य लक्षणावृत्ति से बताया गया है। ब्रह्माऽहम्—इन दो शब्दों के सामानाधिकरण्य से ब्रह्म और आत्मा के अभेद को सूचित किया गया है। यह ब्रह्मात्माऽभेद अर्थात् दोनों की अभिन्नता (एकता) ही 'तत्त्वमसि, अहम्ब्रह्माऽस्मि' इत्यादि महावाक्यार्थ के प्रकरण का प्रतिपाद्य (अभिधेय) विषय है यह सूचित किया गया है। उस अभेदज्ञान से अज्ञान-निवृत्ति के द्वारा आनन्दावाप्ति रूप प्रयोजन, तथा उस परमानन्दावाप्ति का कामनावान् (इच्छुक) व्यक्ति ही प्रस्तुत वेदान्तग्रन्थ के अध्ययन का अधिकारी है। और ग्रन्थ के साथ प्रतिपाद्य विषय का प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभाव-सम्बन्ध सूचित किया गया है। इस प्रकार अनुबन्धचतुष्टय का निर्देश किया गया है। अनुबन्धचतुष्टय का ज्ञान ही प्रवृत्ति में प्रयोजक (कारण) होता है।[1] विषय, प्रयोजन, अधिकारी और सम्बन्ध—इन चारों को अनुबन्धचतुष्टय कहते हैं। प्रत्येक ग्रन्थ के आरम्भ में इन चारों [2]अनुबन्धों का निरूपण आवश्यक माना गया है।

'सिद्धार्थं ज्ञातसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते। शास्त्रादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः' ॥

—(श्लो० वा० प्रति० सू०, श्लो० १७)

इन चार अनुबन्धों में विषय तथा प्रयोजन ये दो अनुबन्ध मुख्य हैं। अतः उनका शब्दतः निरूपण आवश्यक होता है। शेष अधिकारी तथा सम्बन्ध, उनकी अपेक्षा गौण हैं, उनकी सिद्धि शब्दतः कहे बिना अर्थतः ही हो जाती है।

मूलग्रन्थ में स्थित ब्रह्माऽहम् के द्वारा तत्त्वानुसन्धान ही मङ्गल है—यह कहा गया है। इस तथ्य का समर्थन अनेक स्मृतियों ने भी किया है।

शङ्का—ग्रन्थ के आरम्भ में मङ्गलाचरण करने के लिए न कोई प्रमाण है और न प्रयोजन ही है। अतः प्रमाण तथा प्रयोजन के अभाव में मङ्गलाचरण करना अनुपपन्न है।

तथाहि—प्रत्यक्ष प्रमाण से मङ्गलाचरण करना चाहिए—यह नहीं कह सकते, क्योंकि मङ्गलाचरण की कर्तव्यता तो अतीन्द्रिय है। अनुमान इस तरह होगा—मङ्गलाचरणकर्तव्यत्वं, प्रत्यक्षाऽप्रमाणकम्, मङ्गलाचरणकर्तव्यताया अतीन्द्रियत्वात्।

किञ्च—नास्तिकों के ग्रन्थारम्भ में मङ्गलाचरण के न रहने पर भी उनके ग्रन्थों की समाप्ति हुई दिखाई देती है, और कादम्बरी जैसे आस्तिकों के ग्रन्थों में मङ्गलाचरण के रहने पर भी ग्रन्थ की समाप्ति का होना नहीं दिखाई देता। इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक का व्यभिचार रहने से मङ्गल में निर्विघ्न-परिसमाप्ति की कारणता को प्रत्यक्ष प्रमाण से अवगत नहीं किया जा सकता।

---

१. प्रवृत्तिप्रयोजकज्ञानविषयत्वमनुबन्धत्वम्।
२. पुरुषम् अनुबध्नाति—स्वज्ञानेन प्रेरयति इति अनुबन्धः।

नाप्यनुमानं, लिङ्गाभावात्। न च शिष्टाचारात्तदनुमानमिति वाच्यम्, तस्यानिर्वचनाद् नाप्यागमः, प्रत्यक्षस्य तस्याभावात्। अनुमानासम्भवोक्त्यानुमेयागमस्याप्यसम्भवात्। नाप्यर्थापत्तिः, अन्यथोपपत्तेर्दर्शितत्वात्। तस्मान्मङ्गलाचरणे न प्रमाणमस्ति।

नापि प्रयोजनं पश्यामः, ग्रन्थसमाप्तेस्तेन विनापि सम्भवेन तत्प्रयोजनत्वानुपपत्तेः। विघ्नध्वंसस्य तु स्वतः सिद्ध-विघ्नविरहस्थलेऽसम्भवेन तत्प्रयोजनत्वानुपपत्तेः। तस्मात्प्रयोजनप्रमाणयोरभावान्मङ्गलाचरणमनुपपन्नमिति।

अत्रोच्यते—ग्रन्थारम्भे मङ्गलाचरणमवश्यं कर्त्तव्यम्। न च तत्र प्रमाणाभावः, अनुमितश्रुतेरेव प्रमाणत्वात्। नचानुमानासम्भवः, शिष्टाचारत्वेन तदनुमानात्। तथाहि, मङ्गलं वेदबोधिताभीष्टोपायताकम् अलौकिकाविगीतशिष्टाचारत्वाद् दर्शादिवत्। मङ्गलत्वन्नाम विघ्नोत्सारणासाधारणकारणत्वम् अतो नाश्रयासिद्धिः। अलौकिकत्वन्नाम अन्वयव्यतिरेकाप्रमापितत्वम्। अविगीतत्वन्नाम बलवदनिष्टाननुबन्धीष्टसाधनत्वम्। शिष्टत्वन्नाम क्षीणदोषपुरुषत्वम् वेदप्राmाण्याभ्युपगन्तृत्वं वा, ततो न

●

उसी प्रकार लिङ्ग (हेतु) के अभाव में अनुमान प्रमाण से भी मङ्गल को निर्विघ्न परिसमाप्ति का कारण नहीं कहा जा सकता।

(सि०) शङ्का—शिष्टाचार को हेतु मानकर मङ्गल में निर्विघ्न-परिसमाप्ति की कारणता का अनुमान क्यों नहीं किया जा सकेगा ?

(पू०) समा०—शिष्टाचार को हेतु तब माना जा सकेगा जब शिष्टाचार का कोई निर्वचन हो। उसका किसी प्रकार का कोई निर्वचन न होने से उसे हेतु नहीं माना जा सकता। इसलिये उसके आधार पर अनुमान नहीं किया जा सकता।

(सि०) शङ्का—आगमप्रमाण (वैदिक शब्दप्रमाण) से मंगल में निर्विघ्न परिसमाप्ति की कारणता क्यों नहीं मानते ?

(पू०) समा०—उसकी कारणता का प्रतिपादक कोई आगमप्रमाण (वैदिक शब्द) प्रत्यक्षतया उपलब्ध नहीं है जिसके बल पर हम उसे कारण कह सकें। यदि कहें कि आगमवाक्य का अनुमान कर लिया जायेगा तो वह भी सम्भव नहीं है, क्योंकि जब अनुमान करना ही सम्भव नहीं है तब उससे होने वाले अनुमेय आगमवाक्य का उदय होना कैसे सम्भव हो सकेगा ? अर्थात् अनुमेय आगमप्रमाण का होना भी सम्भव नहीं है।

(सि०) शङ्का—अन्यथानुपपत्तिरूप अर्थापत्ति-प्रमाण से मङ्गल में समाप्तिकारणता को क्यों नहीं जान सकते ?

(पू०) समा०—ग्रन्थसमाप्ति अन्य प्रकार से भी हो सकती है। अतः अन्यथानुपपत्तिरूप अर्थापत्ति प्रमाण के बल पर मङ्गल में समाप्ति की कारणता सिद्ध नहीं हो पा रही है।

एवञ्च यह स्पष्ट हो रहा है कि मङ्गलाचरण करने में कोई प्रमाण नहीं है। इस रीति से पूर्वपक्षी ने मङ्गलाचरण करने में कोई भी प्रमाण नहीं है कहकर मङ्गलाचरण करना प्रमाणशून्य है, यह अपना पक्ष उपस्थित किया है।

(पू०) शङ्का—उसी तरह वह कह रहा है कि मङ्गलाचरण करने का कोई प्रयोजन (फल) भी नहीं दिखाई देता है। ग्रन्थसमाप्ति को यदि मङ्गलाचरण का फल कहें तो वह भी उचित नहीं है, क्योंकि मङ्गलाचरण न करने पर भी समाप्तिरूप प्रयोजन (फल) का सम्भव दिखाई देता है। अतः मङ्गलाचरण का प्रयोजन (फल) ग्रन्थसमाप्ति है—यह कहना उचित नहीं है। यदि मङ्गलाचरण का (फल) विघ्नध्वंस (विघ्ननाश) है—यह कहें, तो जहाँ विघ्नविरह (विघ्न का अभाव अथवा विनाश) स्वतः सिद्ध (स्वाभाविक) ही है, उन स्थलों में विघ्नों का सम्भव ही न रहने से विघ्नध्वंस को मङ्गलाचरण का प्रयोजन (फल) कहना उचित न होगा।

अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि मङ्गलाचरण करने में किसी प्रमाण तथा प्रयोजन की उपलब्धि न रहने से मङ्गलाचरण करना उचित नहीं है। यह कहकर पूर्वपक्षी ने मङ्गलाचरण की निष्फलता का अपना पक्ष उपस्थित किया है।

(सि०) समा०—उक्त पूर्वपक्ष पर सिद्धान्ती समाधान देता है कि ग्रन्थ के आरम्भ में मङ्गलाचरण अवश्य करना चाहिए।

स्वरूपासिद्धिः[1] व्यभिचारो वा। एवञ्च निर्विघ्नसमाप्तिकामो मङ्गलमाचरेदित्यनुमितया श्रुत्या मङ्गलस्याभीष्टनिर्विघ्नसमाप्ति-फलकत्वन्निश्चीयते। तस्मान्नास्तिकादीनां मङ्गलाचरणाभावे जन्मान्तरीयमङ्गलाद् ग्रन्थसमाप्तिरुपपद्यते। यत्र कृतेऽपि मङ्गले

●

पूर्वपक्षी ने मङ्गलाचरण के करने में किसी भी प्रमाण का न होना (प्रमाणाऽभाव) जो बताया है—वह ठीक नहीं है, क्योंकि अनुमितश्रुति (अनुमेयश्रुति) ही मङ्गलाचरण के करने में प्रमाण है। उसने श्रुति का अनुमान करना सम्भव ही नहीं है—यह जो कहा था, वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि शिष्टाचार के बल पर श्रुति (आगम) का अनुमान किया जाता है। अनुमान है—मंगल, वेद से बतायी इष्ट-उपायता वाला है, अलौकिक व अविगीत शिष्टाचार होने से, जैसे दर्श आदि।

मङ्गल उसे कहते हैं, जो विघ्न के उत्सारण में असाधारण कारण हो। इसी को हम इस प्रकार से कह सकते हैं—**विघ्नभिन्नत्वे सति विघ्नध्वंसप्रतिबन्धकाभावभिन्नत्वे च सति प्रारीप्सित-विघ्नध्वंसाऽसाधारणकारणत्वं मङ्गलत्वम्।** अर्थात् विघ्नों से भिन्न तथा विघ्नध्वंस के प्रतिबन्धकाभाव से भिन्न रहकर प्रारम्भ करने की इच्छा के विषयभूत कार्य में होने वाले विघ्नों के ध्वंस (विनाश) का असाधारण कारण जो हो, उसे मङ्गल कहते हैं।

ग्रन्थकार के द्वारा किया गया मङ्गल विघ्नों से भिन्न भी है, तथा विघ्नध्वंस रूप कार्य का जनक जो प्रतिबन्धकाभाव है, उससे भी भिन्न है, तथा प्रारम्भ करने की इच्छा का विषयभूत जो ग्रन्थ है, उसके प्रतिबन्धक विघ्नों के ध्वंस का असाधारणकारण भी है। अतः उक्त लक्षण का अपने लक्ष्य (मङ्गल) में समन्वय हो जाता है। अनुमान प्रयोग में प्रयुक्त हेतु को आश्रयासिद्ध भी नहीं कह सकते। हेतु में आश्रयासिद्धि दोष तब उत्पन्न होता है, जब हेतु के पक्षभूतपदार्थ में पक्षतावच्छेदक-धर्म न रहे जैसे—गगनारविन्दं, सुरभि, अरविन्दत्वात्, सरोजारविन्दवत्। इस अनुमान में अरविन्दत्वरूप हेतु का पक्षभूत जो गगनारविन्द है, उसमें गगनीयत्व रूप पक्षतावच्छेदक धर्म नहीं रहता। उस कारण अरविन्दत्व हेतु में आश्रयासिद्धि दोष उत्पन्न हो जाता है। इसलिये यह अरविन्दत्व हेतु आश्रयासिद्ध कहलाता है, और उससे अनुमानप्रयोग दूषित हो जाता है। उसी कारण साध्य की सिद्धि नहीं हो पाती।

अलौकिक उसे कहते हैं जो अन्वय-व्यतिरेक से प्रमापित न हो। जैसे—पौष्टिक वस्तु के भक्षण करने से शक्ति की प्राप्ति होती है, न करने से नहीं होती। अथवा अध्ययन करने से अर्थज्ञान होता है, न करने से अर्थज्ञान नहीं होता—इस प्रकार का लौकिक (व्यावहारिक) कार्य-कारणभाव तो अन्वयव्यतिरेक से ही ज्ञात हो जाता है, किन्तु इस प्रकार लौकिक-अन्वय-व्यतिरेक से जिस कार्य-कारणभाव का ज्ञान नहीं हो पाता, अपितु आगमप्रमाण से ही जिसका ज्ञान होता है, उसे अलौकिक कहते हैं।

अविगीत—उसे कहते हैं, जो बलवदनिष्टाऽननुबन्धीष्टसाधन हो अर्थात् प्रबल अनिष्ट से सम्बन्धित न होकर जो अपने अभीष्ट का साधन (उपाय—हेतु) हो, उसे अविगीत कहते हैं।

शिष्ट—उसे कहते हैं जो क्षीणदोष-पुरुष हो तथा वेद को प्रमाण मानता हो।

अतः स्वरूपासिद्धि दोष भी यहाँ नहीं कह सकते। स्वरूपासिद्ध हेतु उसे कहते हैं, जो हेतु अपने पक्ष में नहीं रहता है। जैसे शब्दो गुणः चाक्षुषत्वात् रूपवत्—अर्थात् शब्द में गुणत्व है, क्योंकि वह (शब्द) चाक्षुष है यानो चक्षुरिन्द्रियजन्य चाक्षुषप्रत्यक्ष का विषय है, रूप गुण के समान। किन्तु इस अनुमान में वह चाक्षुषत्व हेतु, अपने शब्दरूप पक्ष में कभी भी नहीं रहता, यानी वर्तमान (वृत्ति) नहीं है। वह (शब्द) तो श्रोत्रेन्द्रियजन्य श्रावणप्रत्यक्ष का विषय होता है। अतः इस अनुमान में चाक्षुषत्व रूप हेतु अपने पक्षभूत शब्द में अवृत्ति होने से स्वरूपासिद्ध हो गया है। एवंच हमारे मङ्गलसाधक अनुमान का हेतु न स्वरूपासिद्ध है, और न उसमें किसी प्रकार का व्यभिचार ही है। एवंच निर्विघ्नसमाप्तिकामो मङ्गलमाचरेत्—इस अनुमितश्रुति के बलपर अभीष्ट-निर्विघ्नसमाप्ति को ही मङ्गल का फल कहा जाता है। इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं करना चाहिये।

तस्मात् नास्तिकों के द्वारा मङ्गलाचरण न किये जाने पर भी उनके द्वारा किये गये जन्मान्तरीय मङ्गल का अनुमान करने से उनके ग्रन्थ की समाप्ति का हो जाना संभव है। अतः जन्मान्तरीय मङ्गलाचरण ही उनके ग्रन्थ की समाप्ति में कारण है।

---

१. स्वरूपासिद्ध इति पाठान्तरम्।

समाप्त्यभावस्तत्र विघ्नप्राचुर्य्यं बलवत्तरविघ्नो वा बोध्यः। तन्निवृत्तिस्तु मङ्गलप्राचुर्य्याद्वा बलवत्तरमङ्गलाचरणाद्वा भवत्यतो नान्वयव्यतिरेकव्यभिचारः।

अथ वा मङ्गलाचरणस्य विघ्नध्वंस एव फलम्। न च स्वतःसिद्धविघ्नविरहवता कृतस्य मङ्गलस्य फलाभावेन तत्साधनताबोधकश्रुतेरप्रामाण्यप्रसङ्ग इति वाच्यम्, स्वतःसिद्धपापविरहवता पापभ्रान्त्या कृतस्य प्रायश्चित्तस्य पापनिवृत्तिलक्षण-फलाभावेऽपि प्रायश्चित्तविधायकशास्त्रस्येवास्यापि प्रामाण्योपपत्तेः।

नच फलव्यभिचारशङ्कया मङ्गलाचरणे प्रवृत्तिर्न स्यादिति वाच्यम्, संशयादपि प्रवृत्त्युपपत्तेः। एवमप्रतिपत्त्यन्यथा-प्रतिपत्तिविप्रतिपत्त्यादिनिवृत्तिः शिष्टाचारः प्रतिभा चेत्येवमादीनि बहूनि फलानि मङ्गलस्य सन्ति।

एवं मङ्गलाचरणेन विघ्ने निवृत्ते बुद्धिप्रतिभादिदृष्टकारणकलापाद्ग्रन्थस्य समाप्तिर्भवति। तस्मात् प्रमाणप्रयोजनयोः सम्भवात् ग्रन्थारम्भे मङ्गलाचरणमवश्यं कर्त्तव्यमिति॥

ननु ब्रह्मात्मनोरैक्यमनुपपन्नं, विरुद्धधर्म्माक्रान्तत्वात्। तथाहि—श्रुत्यादिभिर्जगत्कल्पनाधिष्ठानं सर्वज्ञं ब्रह्मावगम्यते

●

इसलिये पूर्वपक्षी के द्वारा प्रदर्शित व्यतिरेक-व्यभिचार का यहाँ संभव नहीं हो रहा है, और जहाँ नास्तिकादिकों के द्वारा मंगलाचरण के किये जाने पर भी ग्रन्थ की समाप्ति का होना संभव नहीं हो पाया है वहाँ पर समाप्ति के न हो पाने में विघ्नबाहुल्य का होना, अथवा किसी बहुत प्रबल विघ्न का रहना ही कारण है—यह समझना चाहिये। उसकी निवृत्ति, मंगल की प्रचुरता से अथवा बहुत प्रबल मङ्गलाचरण के करने से ही हो सकती है—यह समझना चाहिये। इस रीति से अन्वयव्यभिचार का निवारण हो जाता है। अतः पूर्वपक्षी ने जो अन्वयव्यतिरेक व्यभिचार का प्रदर्शन किया था उसका भी निरसन हो जाता है।

अथवा विघ्नध्वंस को ही मङ्गलाचरण का फल कहा जाय। क्योंकि ग्रन्थसमाप्ति में प्रतिबन्धक विघ्न ही हुआ करते हैं।

(पू०) **शङ्का**—जिस पुरुष के कार्य में विघ्नों का अभाव स्वतः सिद्ध हो, उसके द्वारा किये गये मंगलाचरण का कोई फल निष्पन्न न हो पाने से मंगल में विघ्नध्वंससाधनता की बोधक श्रुति को अप्रमाण कहना पड़ेगा।

(सि०) **समा०**—फलसाधनताबोधक श्रुति को अप्रमाण नहीं कहना पड़ेगा। क्योंकि जो ऐसे पुण्यशाली पुरुष हैं, जो निसर्गत एव निष्पाप (पापशून्य) हैं, उनके द्वारा कदाचित् पाप होने के भ्रम से जो प्रायश्चित्त किया जाता है, उसका पापनिवृत्तिरूप फल निष्पन्न न हो पाने पर भी—प्रायश्चित्तविधायक शास्त्र को अप्रमाण नहीं माना जाता। उसी तरह फल-साधनता बोधक श्रुति को भी अप्रमाण नहीं माना जा सकता।

(पू०) **शङ्का**—उपर्युक्त कथनानुसार तो फलव्यभिचार की आशङ्का रहने से मङ्गलाचरण करने में प्रवृत्ति का होना असंभव भी हो सकता है।

(सि०) **समा०**—संशय के रहने से भी प्रवृत्ति हुआ करती है। दूसरी बात यह है—अप्रतिपत्ति, अन्यथाप्रतिपत्ति विप्रतिपत्ति आदि की निवृत्ति का होना तथा शिष्टाचार का परिपालन, और प्रतिभोत्पत्ति, आदि अनेक फलों की उपलब्धि मङ्गलाचरण के करने से हुआ करती हैं। इस प्रकार मङ्गलाचरण से विघ्ननिवृत्ति के होने पर तथा बुद्धि-प्रतिभादि दृष्ट (प्रत्यक्ष) कारण कलाप के स्फुरित होने से ग्रन्थ की समाप्ति हो जाती है। तस्मात् प्रमाण और प्रयोजन दोनों का सम्भव रहने से ग्रन्थारम्भ करते समय मङ्गलाचरण अवश्य करना चाहिये।

(पू०) **शङ्का**—**अहं ब्रह्मास्मि** इस वाक्य से ब्रह्म और आत्मा को जो एकता बताई गई है, वह कैसे संभव हो सकेगी? क्योंकि ब्रह्म और जीवात्मा ये दोनों परस्पर विरुद्ध धर्मों वाले हैं। जो पदार्थ परस्पर विरुद्ध धर्म वाले होते हैं, उन पदार्थों की एकता नहीं हुआ करती। जैसे—उष्ण स्पर्श वाले अग्नि की तथा शीत स्पर्श वाले बर्फ की एकता नहीं होती है। उसी तरह जीव और ब्रह्म की एकता का होना भी संभव नहीं है।

यः सर्वज्ञः सर्ववित्—इत्यादि श्रुति वाक्यों से वह ब्रह्म तो इस कल्पित जगत् के अधिष्ठान रूप में तथा सर्वज्ञ के रूप में जाना जाता है। और **अनीशया शोचति मुह्यमानः**—इत्यादि श्रुतिवाक्यों से यह जीवात्मा, उस ब्रह्म से विपरीत अल्पज्ञत्वादि धर्म वाला प्रतीत होता है, और मैं ब्रह्म नहीं हूँ—यह प्रत्यक्ष अनुभव भी लोगों को होता रहता है। अतः

जीवस्तद्विपरीतः कथं तयोरैक्यं स्यादित्याशङ्क्य; जीवस्याहंपदवाच्यस्य वैपरीत्येऽप्यन्तःकरणोपलक्षितस्य मायोपलक्षितेन नाममात्रदृते भेदाभावात् तस्यापि जगत्कल्पनाधिष्ठानत्वसम्भवेन विरोधाभावादैक्यं सम्भवतीत्यभिप्रेत्याह—**मयीति**। मय्यन्तःकरणोपलक्षिते तत्साक्षिणि विश्वङ्गिरिनद्यादिभेदभिन्नं ब्रह्माण्डान्तमध्यस्तम्। अध्यासन्निरूपयिष्यति। तथा च श्रुतिः

"मय्येव सकलं जातं मयि सर्व्वं प्रतिष्ठितम्। मयि सर्वं लयं याति तद् ब्रह्माद्वयमस्म्यहम्"॥

●

अनुभव से भी जीव और ब्रह्म का भेद ही सिद्ध होता है। इसलिये **ब्रह्माऽहमस्मि** इस वाक्य से कही गई जो जीवब्रह्मैकता वह कैसे संभव हो सकती है?

(सि०) समा०—पूर्वपक्षी की उक्त आशङ्का के समाधानार्थ ग्रन्थकार ने कहा है—**मयि विश्वं प्रकल्पितम्**। अन्तःकरणोपलक्षित साक्षी आत्मा जो मैं हूँ, उसमें गिरि नदी आदि के भेद से भिन्न प्रतीत होने वाला ब्रह्माण्ड पर्यन्त समस्त विश्व, कल्पित (अध्यस्त) है।

अभिप्राय यह है—अहम् शब्द का वाच्यार्थ जो जीव है, उसकी ब्रह्म शब्द के वाच्यार्थ से विलक्षणता रहने पर भी अहम् शब्द का लक्ष्यार्थ जो अन्तःकरण आदि का साक्षी प्रत्यगात्मा है, उसका मायोपलक्षित ब्रह्म के साथ केवल नाममात्र का ही भेद है। वस्तुतः उन दोनों के लक्ष्यार्थं में परस्पर भेद नहीं है। उस कारण जैसे ब्रह्म में जगत्कल्पना की अधिष्ठानता का होना संभव है, वैसे प्रत्यगात्मा में जगत्कल्पना की अधिष्ठानता का होना भी संभव है। अतः उक्त विरोध के न रहने से उन दोनों लक्ष्यार्थों की एकता संभव हो पाती है। इस तथ्य का भगवती श्रुति ने भी समर्थन किया है। भगवती श्रुति कहती है—

"मैं-इत्याकारक प्रत्यगात्मा में ही सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न होता है, तथा मुझ में ही सम्पूर्ण जगत् स्थित है, तथा मुझमें ही यह सम्पूर्ण जगत् लीन हो जाता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्म के समान ही सम्पूर्ण जगत् को कल्पना का अधिष्ठान होने के कारण मैं-इत्याकारक प्रत्यगात्मा अद्वितीय ब्रह्मरूप ही हूँ"—यह श्रुति, अन्तःकरणोपलक्षित प्रत्यक् साक्षी आत्मा में समस्त जगत् की कल्पना को बताकर उस प्रत्यगात्मा का ब्रह्म के साथ अभेद का ही बोधन कर रही है। उस कारण **ब्रह्माऽहमस्मि** इस वाक्य से ग्रन्थकार ने जो जीवात्मा और ब्रह्म का अभेद प्रदर्शित किया है, उसे किसी भी प्रकार से विरुद्ध नहीं कहा जा सकता। अतः उनका कथन सर्वथैव अविरुद्ध ही है।

किञ्च **मयि विश्वं प्रकल्पितम्**—इस वाक्य में ग्रन्थकार ने प्रपञ्च में मिथ्यात्व भी सूचित किया है। प्रपञ्च के मिथ्यात्व का समर्थन, अनेक श्रुतिवाक्यों ने भी किया है। तथा अनुमान प्रमाण से भी प्रपञ्च का मिथ्यात्व बताया जा सकता है। अनुमान प्रयोग इस प्रकार है—व्यावहारिक प्रपञ्च मिथ्या है, क्योंकि वह दृश्यरूप है, जो-जो पदार्थ दृश्य रहता है, वह सब (पदार्थ) मिथ्या ही हुआ करता है, जैसे शुक्ति में प्रतीयमान रूप्य, दृश्य होने से मिथ्या ही कहा जाता है।

पूर्वपक्षी ने यह कहा था कि **नाऽहं ब्रह्माऽस्मि** अर्थात् मैं ब्रह्म नहीं हूँ—इस प्रकार से जीव और ब्रह्म के भेद का ग्राहक प्रत्यक्ष, सभी को अनुभव सिद्ध है।

किन्तु पूर्वपक्षी से हम (सिद्धान्ती) यह पूछते हैं कि क्या अन्तःकरणादिविशिष्ट आत्मा में ब्रह्म के भेद का सबको प्रत्यक्ष होता है? अथवा शुद्ध आत्मा में ब्रह्म के भेद का प्रत्यक्ष होता है? केवल भेद का प्रत्यक्ष होता है इतना कहने मात्र से काम नहीं चलेगा। अपने अभिप्राय को प्रथमतः स्पष्ट करिये।

यदि पूर्वपक्षी प्रथम विकल्प का ग्रहण करता है, तब तो वह पक्ष हमें भी इष्ट है, क्योंकि विशिष्ट आत्मा का ब्रह्म के साथ तो भेद है ही। ब्रह्म के साथ उसका अभेद तो हमें भी स्वीकार नहीं है।

पूर्वपक्षी यदि द्वितीय विकल्प का ग्रहण करता है, तो वह भी संभव नहीं हो सकेगा, क्योंकि शुद्ध आत्मा तो अतीन्द्रिय है, यानी इन्द्रियजन्यज्ञान का विषय नहीं है। उस शुद्ध आत्मा के ग्रहणार्थ चक्षुरादि इन्द्रियों की प्रवृत्ति होना असंभव ही है। जबकि उस भेद के धर्मीरूप शुद्ध आत्मा का ही इन्द्रियों से ग्रहण नहीं होता है, तो शुद्ध आत्मा के आश्रित रहने वाला जो ब्रह्म का भेद है, उसका ग्रहण, इन्द्रियों से होना कैसे संभव हो सकता है? उसका ग्रहण होना नितान्त असंभव है। जब कि अनुयोगी तथा प्रतियोगी के ज्ञान के बिना भेद का ज्ञान नहीं हो पाता, अर्थात् अनुयोगी तथा प्रतियोगी

इत्यन्तःकरणोपलक्षिते प्रतीचि सर्वकल्पनां दर्शयति ।एतेन प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वमपि सूचितम् । तत्रानुमानमपि—व्यावहारिकः प्रपञ्चो मिथ्या दृश्यत्वात् शुक्तिरूप्यवद् इत्यादिमिथ्यात्वसाधकं द्रष्टव्यम् । शुक्तिरूप्यमग्रे निरूपयिष्यते । ततश्च ब्रह्मात्मैक्यमुपपन्न-मितिभावः ॥१॥

●

के ज्ञान होने पर ही भेद का ज्ञान हो पाता है। जैसे—घटः पटो न—इस प्रतीति में घटनिष्ठ (घट में) प्रतीयमान (प्रतीत होने वाला) जो पटभेद (पट का भेद) है, उसका (उस भेद का) अनुयोगी (धर्मी) तो वह घट है, और (उस भेद का) प्रतियोगी वह पट है। उस घट रूप धर्मी के तथा पट रूप प्रतियोगी के ज्ञात होने पर ही उस घट में पट के भेद का ज्ञान हो पाता है। उसी प्रकार पूर्वपक्षी (भेदवादी) के द्वारा शुद्ध आत्मा में स्वीक्रियमाण जो ब्रह्म का भेद है, उस भेद का अनुयोगी (धर्मी) होगा शुद्ध आत्मा, और प्रतियोगी होगा ब्रह्म। उन अनुयोगी तथा प्रतियोगी के ज्ञात हुए बिना उस भेद का ज्ञान हो पाना संभव ही नहीं है। और उस भेद का अनुयोगी जो शुद्ध आत्मा, तथा प्रतियोगी जो ब्रह्म है—वे दोनों ही अतीन्द्रिय हैं। इसलिए उसके (भेद के) अनुयोगी और प्रतियोगी के प्रत्यक्ष हुए बिना भेद का प्रत्यक्ष कैसे हो सकेगा ? यानी कभी भी नहीं होगा। अतः जीव-ब्रह्म के भेद का ग्राहक प्रत्यक्ष प्रमाण है—यह कहना केवल मनोरथ मात्र है।

वस्तुतः किसी भी भेद की स्थिति कहीं सम्भव नहीं है। क्योंकि विचार करना होगा कि भेद, अपने से अभिन्न धर्मी में रहता है ? या भिन्न धर्मी में रहता है ? अभिन्न उसे कहते हैं जो भेद से रहित हो, और भिन्न उसे कहते हैं जो भेद से विशिष्ट हो, अर्थात् भेदवाले को भिन्न कहते हैं।

प्रथम विकल्प को स्वीकार करने पर व्याघात दोष होता है। परस्पर विरुद्ध धर्मों का किसी एक अधिकरण में समुच्चय मान लेना व्याघात कहते हैं। जैसे—भेदराहित्य तथा भेद—ये दोनों परस्पर विरुद्ध धर्म हैं। अर्थात् जो भेदरहित हो, उसे भेदसहित, तथा जो भेदसहित हो उसे भेदरहित नहीं कहा जाता, क्योंकि दोनों परस्पर विरुद्ध धर्म हैं। निष्कर्ष यह है कि जहाँ भेदाऽभाव रहेगा, वहाँ भेद नहीं रह सकता, और जहाँ भेद रहेगा वहाँ भेदाऽभाव नहीं रह सकता। इन विरुद्ध धर्मों का एक अधिकरण में समुच्चय मानने पर व्याघात दोष स्पष्ट प्रतीत होता है।

किञ्च—भेदरहित धर्मी में भेद का ग्रहण करनेवाले प्रत्यक्ष को भ्रम कहना होगा। इसलिये अभिन्न धर्मी में भेद का रहना सम्भव नहीं है।

इस पर भेदवादी उक्त दोनों दोषों (व्याघात और असम्भव) को दूर करने की इच्छा से यदि यह कहे कि भेद, अभिन्नधर्मी में न रहकर भिन्नधर्मी में रहता है—इस द्वितीय पक्ष का स्वीकार करता है, तो हम उससे यह पूछ रहे हैं—पहिले यह बताओ कि वह भेद, अपने द्वारा भिन्न किये हुए धर्मी में आप-स्वयं रहता है ? अथवा किसी अन्य भेद के द्वारा भिन्न किये गये धर्मी में वह भेद रहता है ?

भेदवादी यदि प्रथमकल्प का स्वीकार करता है तो आत्माश्रय दोष उपस्थित होगा। आत्माश्रय दोष तब होता है—जब वस्तु अपनी उत्पत्ति में अपनी ही अपेक्षा रखे, अथवा अपनी स्थिति में अपनी ही अपेक्षा करे, अथवा अपने ज्ञान में अपनी ही अपेक्षा रखे।

प्रस्तुत प्रसंग में भेदविशिष्ट धर्मी में भेद की स्थिति मानने के लिये अपनी स्थिति में अपनी अपेक्षा करनी पड़ रही है। अतः आत्माश्रय दोष स्पष्ट है। इस आत्माश्रय दोष के कारण उस भेदविशिष्ट धर्मी में उस भेद का रहना सम्भव नहीं है।

इस आत्माश्रय दोष के निरासार्थं भेदवादी यदि यह कहे कि किसी द्वितीय (अन्य = दूसरे) भेद से भिन्न किये गये धर्मी में वह (भेद) रहता है—इस द्वितीय कल्प का स्वीकार करता है, तो उससे हम यह पूछते हैं कि वह दूसरा (अन्य) भेद भी क्या अभिन्न धर्मी में रहता है। अथवा भिन्न धर्मी में रहता है ?

इस पर वह भेदवादी यदि प्रथमपक्ष का स्वीकार करता है तो पूर्व जैसा पुनः व्याघात दोष प्राप्त होगा। उस व्याघात के निराकरणार्थं वह भेदवादी यदि द्वितीयपक्ष का स्वीकार करता है, तो पुनः हमारा प्रश्न है कि अन्य (दूसरा) भेद भी अपने द्वारा भिन्न किये हुये धर्मी में वह स्वयं (आप) रहता है ? अथवा उस प्रथम भेद के द्वारा भिन्न किये हुए धर्मी में वह दूसरा भेद रहता है ? अथवा किसी तीसरे भेद के द्वारा भिन्न किये हुए धर्मी में यह दूसरा भेद रहता है ?

देहो नाहं श्रोत्रवागादिकानि नाहं बुद्धिर्नाहमध्यासमूलम् । नाहं सत्यानन्दरूपश्चिदात्मा मायासाक्षी कृष्ण एवाहमस्मि ॥२॥

●

इन प्राश्निक विकल्पों में से यदि प्रथम विकल्प का स्वीकार करता है तो पहिले जैसा ही पुनः आत्माश्रयदोष होगा। यदि द्वितीय विकल्प का स्वीकार करता है, तो अन्योऽन्याश्रय दोष होगा। अन्योऽन्याश्रयदोष तब होता है, जब दो पदार्थों को अपनी उत्पत्ति में अथवा अपनी स्थिति में अथवा अपने ज्ञान में परस्पर अपेक्षा रहती है। प्रस्तुत प्रसंग में प्रथम भेद को अपनी स्थिति के लिये दूसरे भेद की अपेक्षा रहती है और दूसरे भेद को अपनी स्थिति के लिये प्रथम भेद की अपेक्षा रहती है। उस कारण प्रथमभेदविशिष्ट धर्मी में दूसरे भेद की स्थिति मानने के लिये अन्योऽन्याश्रय दोष का सामना करना पड़ता है। उस अन्योऽन्याश्रय दोष के निवृत्त्यर्थ यदि तृतीयपक्ष का स्वीकार करता है, अर्थात् तीसरे भेद के द्वारा भिन्न किये हुए धर्मी में वह द्वितीय भेद रहता है—तो हम भेदवादी से पुनः प्रश्न करेंगे कि वह तृतीय (तीसरा) भेद भी अपने से अभिन्न धर्मी में रहता है? अथवा भिन्न धर्मी में रहता है?

प्रथम पक्ष का स्वीकार करने पर पहिले जैसा ही व्याघातदोष प्राप्त होगा। उस व्याघात दोष के निवृत्त्यर्थ यदि द्वितीय पक्ष का स्वीकार करता है तो प्रथमतः वह इस बात को स्पष्ट करे कि वह तीसरा भेद भी अपने द्वारा भिन्न किये हुए धर्मी में वह स्वयं (आप) ही रहता? अथवा दूसरे भेद के द्वारा भिन्न किये हुए धर्मी में वह (तृतीय भेद) रहता है? अथवा किसी चतुर्थ भेद के द्वारा भिन्न किये हुए धर्मी में वह (तृतीय भेद) रहता है?

इन विकल्पों में से प्रथम विकल्प का स्वीकार करने पर पूर्व की तरह पुनः आत्माश्रय दोष प्राप्त होगा। द्वितीय पक्ष का स्वीकार करने पर पुनः अन्योऽन्याश्रय दोष प्राप्त होगा। तृतीय पक्ष का स्वीकार करने पर चक्रिका दोष उपस्थित होता है। चक्रिका दोष उसे कहते हैं—जहाँ प्रथम को अपेक्षित जो द्वितीय है, उस द्वितीय को अपेक्षित जो तृतीय है, उन तृतीयादिकों को जब पुनः प्रथम की अपेक्षा रहती है तब चक्रिका या चक्रक दोष कहलाता है। प्रस्तुत प्रसंग में प्रथम भेद को अपनी स्थिति के लिये दूसरे भेद की अपेक्षा रहती है, और उस दूसरे भेद को अपनी स्थिति के लिये तीसरे भेद की अपेक्षा होती है और तीसरे भेद को अपनी स्थिति के लिये पुनः प्रथम भेद को अपेक्षा होती है। इसी प्रकार चतुर्थ-पञ्चमादिकों को भी पुनः प्रथम की अपेक्षा होती है, अतः चक्रिका दोष हो जाता है। उस चक्रिका दोष को दूर करने के लिये यदि वादी चतुर्थ पक्ष का स्वीकार करता है, अर्थात् तृतीय भेद किसी चतुर्थ भेद से भिन्न किये गये धर्मी में रहता है, तो अनवस्था दोष होगा, क्योंकि चतुर्थ भेद भी पूर्वोक्त व्याघात, आत्माश्रय, अन्योन्याश्रय, चक्रिका आदि दोषों की उपस्थिति के भय से अभिन्न धर्मी में अथवा स्व-विशिष्ट धर्मी में, अथवा भेदविशिष्ट धर्मी में अथवा प्रथम भेदविशिष्ट धर्मी में रहेगा नहीं, अपितु किसी पञ्चम भेदविशिष्ट धर्मी में ही रहेगा। वह पञ्चम भेद भी किसी षष्ठ भेद से विशिष्ट धर्मी में ही रहेगा। इसी प्रकार पुनः पुनः भेदों की धारा का स्वीकार करने में अनवस्था दोष प्राप्त होगा। जहाँ पूर्व-पूर्व को उत्तर-उत्तर की पर्यवसान (विश्रान्ति) रहित अपेक्षा रहती है, उसे अनवस्था दोष कहते है। इस प्रकार जीव और ब्रह्म दोनों में भेद की संभावना न रहने के कारण ब्रह्माऽहमस्मि वचन से तत्त्वानुसन्धान रूप मङ्गल का होना संभव है।

(पू०) शङ्का—जब ब्रह्माहमस्मि—इस तत्त्वानुसन्धानरूप मंगल से ही ग्रन्थ की निर्विघ्नतया समाप्ति का होना संभव हो सकता है तब ग्रन्थकार ने गुरुं प्रणौमि कहकर पुनः गुरु को प्रणाम किसलिये किया?

(सि०) समा०—ब्रह्मनिष्ठ गुरु के चरणों में भक्ति किये बिना वह तत्त्वानुसन्धान प्राप्त नहीं होता। अर्थात् गुरु भक्ति से ही उस तत्त्वानुसन्धान की प्राप्ति होती है। भगवती श्रुति ने भी उक्त अर्थ का समर्थन यह कहकर किया है कि जिसे देव और गुरु में समान परा भक्ति होती है उस अधिकारी पुरुष की बुद्धि में ही वेदान्तप्रतिपादित जीव-ब्रह्मैक्य रूप तत्त्व प्रकाशित होता है। गुरुभक्तिरहित पुरुष के हृदय में वेदान्तप्रतिपादित तत्त्व, कभी भी प्रकाशित नहीं होता। निष्कर्ष यह है कि तत्त्वानुसन्धान के प्रति गुरुभक्ति अन्तरङ्ग साधन है। अतः ग्रन्थकार ने प्रणाम के द्वारा गुरुभक्ति को प्रकाशित किया है ॥१॥

अर्थ—मैं स्थूलदेह नहीं हूँ, अर्थात् यह स्थूलदेह आत्मा नहीं है, तथा श्रोत्र-वाक् आदि इन्द्रियाँ भी मैं (आत्मा) नहीं हूँ, तथा मैं बुद्धि भी नहीं हूँ, अर्थात् अन्तःकरण तथा उसकी वृत्ति—दोनों नहीं हूँ, तथा मैं अध्यास का मूल (कारणभूत अज्ञान) भी नहीं हूँ। मैं तो सत्यानन्दरूप चिदात्मा मायासाक्षी कृष्ण ही हूँ ॥२॥

अहंशब्दार्थविवेकपूर्वकं पूर्वमनुसन्धितं ब्रह्मात्मतत्त्वम् इष्टदेवतावाचकशब्देन निर्दिश्य पुनस्तदनुसन्दधाति—देह इति। स्वप्ने स्थूलदेहप्रतीतेरभावादहं स्थूलदेहो न भवामीत्यर्थः। ननु स्थूलोऽहं कृशोऽहमित्याद्यनुभवात्तदतिरिक्तस्यात्मनोऽननुभवात् स्वप्नेऽपि स्थूलोऽहमित्यनुभवस्य सार्वजनीनत्वात् स्थूलदेह एव आत्मेति चेन्न। स्थूलशरीरस्योत्पत्तिविनाशवत्वेनाऽनात्मत्वम्। आत्मत्वे कृतहानिः अकृताभ्यागमप्रगङ्गात्।

•

पूर्व पद्य में ब्रह्माऽहमस्मि इस वचन द्वारा अहम् शब्द के अर्थ का विवेचन करते हुए आत्मतत्त्व का अनुसन्धान किया था। अब इस द्वितीय पद्य में अपने आराध्य इष्टदेवता के वाचक कृष्णशब्द से उस ब्रह्मात्मतत्त्व का ही पुनः अनुसन्धान कर रहे हैं—देहोनाहमिति। स्वप्नावस्था में इस स्थूलशरीर की प्रतीति नहीं होती, और मैं तो स्वप्नावस्था में भी साक्षी के रूप में प्रकाशित रहता हूँ। उस कारण मैं स्थूलदेह नहीं हूँ, यानी स्थूलशरीर को आत्मा शब्द नहीं कह सकते।

(पू०) शंका—स्थूलोऽहम् कृशोऽहम् मनुष्योऽहम् इत्याकारक अनुभव तो सभी को होता रहता है, अतः इस अनुभप के बलपर स्थूलदेह को ही आत्मा कहना उचित प्रतीत होता है, क्योंकि सभी शास्त्रों के अनुसार अहम् शब्द का अर्थ तथा अहम्प्रतीति का विषय आत्मा ही हुआ करता है, तथा उस अहम्प्रतीति की विषयता स्थूलत्व कृशत्व मनुष्यत्व आदि धर्मों से विशिष्ट हुए स्थूलदेह में ही प्रतीत होती है।

किञ्च—स्थूलदेह से भिन्न किसी अन्य आत्मा की प्रतीति भी नहीं होती। और स्वप्नावस्था में भी स्थूलोऽहम् कृशोऽहम् इत्याकारक अनुभव भी सब को होता है। इन सब कारणों से यही समझ में आता है कि यह स्थूलदेह ही आत्मा है।

(सि०) समा०—स्थूलशरीर की उत्पत्ति तथा विनाश होता रहता है—यह सभी को प्रत्यक्ष है। जिस वस्तु की उत्पत्ति और विनाश होता है, वह वस्तु अनात्मा (जड) शब्द से ही कही जाती है। जैसे—घट-पट आदि पदार्थ (वस्तु) उत्पत्ति-विनाशवान् हैं, अतएव उन्हें अनात्मा (जड) कहा जाता है उसी प्रकार यह स्थूल शरीर भी उत्पत्ति-विनाशवान् है, अतः उसे भी अनात्मा (जड) शब्द से कहना होगा। किञ्च—स्थूल शरीर को ही यदि आत्मा कहेंगे तो कृतनाश और अकृताभ्यागम इन दोषों की प्राप्ति होगी।

कृतनाश उसे कहते हैं—पूर्व किये हुये पुण्य-पाप कर्मों का सुख-दुःखादि फलभाव के रूप में परिणाम हुए बिना ही नष्ट हो जाना; तथा अकृताभ्यागम उसे कहते हैं—पुण्य-पाप कर्मों को बिना किये ही सुख-दुःख रूप फल की प्राप्ति होना।

स्थूलदेह को यदि आत्मा कहा जायेगा तो स्थूलदेहरूप आत्मा का नाश तो सर्वविदित है, तब नष्ट हुए देह से भिन्न अन्य किसी आत्मा के न होने से स्थूलदेहरूप आत्मा के द्वारा किए गये पुण्य-पाप रूप कर्म फलभोग के बिना ही नष्ट हो जाएंगे, और नवीन उत्पन्न हुए देहरूपी आत्मा ने अपनी उत्पत्ति से पूर्व कोई पुण्य-पाप रूप कर्म किया नहीं है, तब भी जन्मकाल से लेकर सुख-दुःखरूप फल की प्राप्ति तो होती ही है। उस फलप्राप्ति को बिना पुण्य-पाप कर्म के ही स्वीकार करना होगा। इस परिस्थिति में कृतकर्म के फलभोग के बिना ही उसका (कृतकर्म का) नाश, और अकृतकर्म का फलभोग मानना होगा, जो शास्त्रविरुद्ध है।

यद्यपि फलभोग कराये बिना ही कर्मों का नाश प्रायश्चित करने से तथा तत्त्वज्ञान के होने से हो जाता है, तथापि शास्त्रोक्त प्रायश्चित्तादि उपायों के बिना ही तथा फलभोग कराये बिना ही जहाँ कर्मों का नाश मानना पड़ता है, उसे कृतनाश शब्द से कहा जाता है। अतः स्थूल देह को आत्मा नहीं कह सकते।

पूर्वपक्षी चार्वाकादिकों का जो कहना है कि स्थूलोऽहम्, कृशोऽहम्—इस प्रत्यक्ष अनुभव के बल पर अहम् शब्द से वाच्य यह स्थूलदेह ही हो सकता है।

उस पर सिद्धान्ती का उत्तर यह है कि जिसे तुम प्रत्यक्ष अनुभव समझ रहे हो, वह केवल भ्रम ही है। जैसे—लोहितः स्फटिकः—यह प्रत्यक्ष अनुभव केवल भ्रम रूप है, क्योंकि स्फटिक तो स्वभावतः ही शुक्ल रहता है, लोहित नहीं। उसी तरह स्थूलोऽहम्, कृशोऽहम् आदि अनुभव भी स्थूलता, कृशता आदि भावों से रहित आत्मा में उन भावों को अपना विषय बना रहा है। इसलिये उक्त प्रत्यक्ष अनुभव भ्रम ही है, यथार्थ अनुभव नहीं है। उस कारण पूर्वपक्षी का अयथार्थानुभव रूप भ्रम, स्थूलदेह में आत्मत्व को सिद्ध नहीं कर पा रहा है।

स्थूलोऽहमित्याद्यनुभवस्य भ्रमत्वेन तस्यात्मत्वाऽसाधकत्वाद्देहातिरिक्तस्यात्मतः श्रुतीस्मृतिहासपुराणयुक्तिविद्वदनुभवसिद्धत्वेन तस्यापलापायोगात्। स्वप्ने स्थूलोऽहमित्यनुभवस्य जाग्रद्वासनाजन्यतया तदविषयत्वात्। अन्यथा वाराणस्यां सुप्तः रामसेतौ रामनाथमनुभवन् प्रबुद्धस्तत्रैवावतिष्ठेत्। तस्मात् स्थूलशरीरस्य स्वप्नेऽभावादात्मनः स्वप्नेऽप्यहमित्यनुभवादहं स्थूलदेहो न भवामि।

अस्तु तर्हीन्द्रियाण्यात्मा, काणोऽहं मूकोऽहमित्यनुभवदर्शनात्, प्राणसंवादादिष्विन्द्रियाणां चेतनत्वावगमाच्चेति

●

किञ्च—देहात्मवादी ने स्वप्न में होने वाले स्थूलोऽहम्, कृशोऽहम् इत्यादि अनुभव को बताकर स्थूल देह की सिद्धि की थी।

किन्तु उसका उक्त कथन उचित नहीं है। क्योंकि स्वप्न में होने वाला स्थूलोऽहम् इत्यादि जो अनुभव है, वह जाग्रत् अवस्था के स्थूलोऽहम्—इत्याकारक अनुभव से होने वाले संस्कार के कारण होता है। इसलिए वह स्वप्न का अनुभव, जाग्रत् अवस्था के स्थूलदेह को अपना विषय नहीं बनाता। स्वप्न में होने वाले अनुभव का विषय तो स्वप्न का वासनामय शरीर ही होता है।

इस पर पूर्वपक्षी दुराग्रहवशात् कदाचित् यह कहे कि स्वप्न का अनुभव तो जाग्रत् के स्थूलदेह को ही विषय करता है।

किन्तु इस प्रकार उसे दुराग्रह नहीं करना चाहिए। अन्यथा वाराणसी में सोया हुआ आदमी स्वप्न में कदाचित् रामकृत सेतु पर रामनाथ का अनुभव करता है, किन्तु जब जगता है, तब वह अपने को वाराणसी में ही सोता हुआ पाता है रामकृत सेतु में नहीं। पूर्वपक्षी के अनुसार तो उसे रामकृत सेतु में ही अपने को स्थित हुआ पाना चाहिए था, किन्तु वैसा किसी के देखने में नही आता है। अतः यह मानना होगा कि स्वप्न में इस स्थूल शरीर का अभाव ही है।

किन्तु उस स्वप्न में भी आत्मा का अनुभव, स्वाप्निक पदार्थों के द्रष्टा (साक्षी) के रूप में सभी को होता है। इन समस्त कारणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि मैं स्थूलदेह नहीं हूँ, अर्थात् अहम् शब्द से वाच्य यह स्थूल देह नहीं है।

पूर्वपक्षी ने जो यह कहा था कि स्थूलदेह से भिन्न कोई आत्मा नहीं है, उसका यह कहना भी असंगत हो है। क्योंकि मेरा देह रोगी है, मेरा देह नीरोग है—इत्याकारक अनुभव सभी लोगों को होता है। अतः इस अनुभव के बल पर स्पष्ट हो रहा है कि देह का द्रष्टा (साक्षी) आत्मा, देह से भिन्न ही है।

किञ्च—श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण, युक्तियों व विद्वानों के अनुभव से भी स्पष्ट है कि स्थूलदेह से आत्मा भिन्न ही है। एवं च अनेक प्रमाणों से सिद्ध होने वाले आत्मा का निषेध करना उचित नहीं है।

शंका—उपर्युक्त दोषों की उपस्थिति के भय से स्थूल देह को आत्मा यदि नहीं कह सकते, तो चक्षुरादि इन्द्रियों को ही आत्मा मान लिजिये क्योंकि काणोऽहम्, मूकोऽहम् बधिरोऽहम् इत्याकारक अनुभव लोगों को हुआ करता है। इस अनुभव के बल पर काणत्व मूकत्व बधिरत्वादिधर्मविशिष्ट चक्षुरादि इन्द्रियों को आत्मा कहा जा सकता है।

किञ्च—अपनी-अपनी श्रेष्ठता के सम्बन्ध में प्राण और इन्द्रियों का संवाद वेद में उपलब्ध होता है। यह तो सभी जानते हैं कि परस्पर संवाद चेतनों का हो हुआ करता है जड पदार्थों का नहीं, और चेतन पदार्थ को ही आत्मा कहा जाता है, जड को नहीं। अतः इस प्राण और इन्द्रियों को संवादश्रुति से इन्द्रियों का चेतनता अवगत होने के कारण इन्द्रियों को ही आत्मा कहना उचित प्रतीत हो रहा है। अतः इन्द्रियों को ही आत्मा कहा जाये।

समा०—जिस प्रकार स्थूलदेह को आत्मा नहीं कह सकते, उसी प्रकार चक्षुरादि इन्द्रियों को भी आत्मा नहीं मान सकते। क्योंकि लोग कहा करते हैं कि मैं चक्षु से रूप देखता हूँ, श्रोत्र से शब्द को सुनता हूँ,—इस लोक व्यवहार के बल पर दर्शन-श्रवणाकि क्रिया के प्रति इन्द्रियों में करणत्व की ही प्रतीति होती है। जो भी पदार्थ, किसी क्रिया के प्रति करण होता है, वह अनात्मा (जड) ही होता है। जैसे—छेदन क्रिया के प्रति कुठार आदि करण होते हैं, उस कारण वे अनात्मा (जड) ही हैं। उसी तरह दर्शन आदि क्रिया के प्रति चक्षु आदि इन्द्रिय भी करण होने से वे अनात्मा (जड) ही होंगे।

ऊपर प्रदर्शित अनुभव तथा युक्ति के अतिरिक्त अनुमान प्रमाण से भो इन्द्रियों में अनात्मत्व सिद्ध होता है। तथाहि—इन्द्रियाँ अनात्मा हैं, करण होने से, कुल्हाड़ी की तरह—इस अनुमान प्रयोग से भी इन्द्रियों का अनात्मत्व स्पष्ट हो रहा है।

-चेन्न। करणत्वेन वास्यादिवदिन्द्रियाणामात्मत्वायोगात्।

करणकर्तृत्वयोर्विरुद्धत्वात्।बहूनामिन्द्रियाणामात्मत्वे विद्धाभिप्रायतया सद्यः शरीरपातप्रसङ्गात्।

योऽहमद्राक्षं सोऽहं स्पृशामीत्यात्मैक्यबाधप्रसङ्गाच्च। प्राणसंवादस्याभिमानिनोदेवताविषयत्वेनेन्द्रियाणमात्मत्वा-साधकत्वाच्च। उत्पत्तिविनाशवत्त्वेन पूर्वोक्तदोषप्रसङ्गात्। काणोऽहमित्याद्यनुभवस्य भ्रमरूपत्वाच्च। श्रुत्यादिभिस्तदतिरिक्तात्म-

●

किञ्च—छेदनादि क्रिया का कर्ता जैसे पुरुष होता है, कुल्हाड़ी आदि नहीं, वैसे ही दर्शनादि क्रियाओं का कर्ता, इन्द्रियात्मवादि के मतानुसार इन्द्रियरूप आत्मा ही होगा। किन्तु ऐसा होना, लोकव्यवहार के अत्यन्त विरुद्ध है क्योंकि लोकव्यवहार में देखते हैं कि जो पदार्थ, जिस क्रिया के प्रतिकरण करता है वह पदार्थ उस क्रिया के प्रति कर्ता नहीं हुआ करता। और जो पदार्थ जिस क्रिया के प्रति कर्ता होता है, वह पदार्थ उस क्रिया के प्रति कभी करण नहीं बनता। क्योंकि करण और कर्ता दोनों एक-दूसरे से भिन्न-भिन्न ही हुआ करते हैं। जैसे छेदन क्रिया के प्रति करण रूप कुठार को कर्ता नहीं कहा जाता, तथा छेदन क्रिया के प्रति कर्ता जो पुरुष है, उसे करण नहीं कहा जाता। अर्थात् कुठार (करण) और पुरुष (कर्ता) भिन्न-भिन्न ही हैं। अतः दर्शनादि एक क्रिया के प्रति चक्षुरादि एक इन्द्रिय को कर्ता कहना तथा करण भी कहना तो प्रत्यक्ष प्रमाण के विरुद्ध है। एक ही पदार्थ में किसी एक क्रिया का करणत्व और कर्तृत्व कभी नहीं रहता। करणत्व और कर्तृत्व दोनों परस्पर विरुद्ध धर्म हैं अतः इन्द्रियों को आत्मा कहीं कह सकते।

किञ्च—इन्द्रयात्मवादी के मत के अनुसार एक ही शरीर में चक्षुःश्रोत्रादिरूप अनेक आत्माओं को मानना होगा। तब महान् दुर्धर प्रसंग का सामना करना पड़ेगा। क्योंकि भिन्न-भिन्न इन्द्रिय अपने-अपने विभिन्न पदार्थों (विषयों) को ग्रहण किया करते हैं अतः पूर्व दिशा में किसी रूप के ग्रहणार्थं चक्षुरिन्द्रिम इस शरीर को पूर्व दिशा की ओर खींचेगा, उसी समय कदाचित् पश्चिम दिशा में हो रहे शब्द का श्रवण करने के लिये वह श्रवणेन्द्रिय, इस शरीर को पश्चिम दिशा की ओर खींचेगा। उसी तरह अन्य-अन्य त्वक् आदि इन्द्रिय भी तत्तद् दक्षिण आदि दिशाओं में होने वाले स्पर्श आदि के ग्रहणार्थ इस शरीर को तत्तद् दक्षिण आदि दिशाओं की ओर खींचेंगे। उस स्थिति में अनेक हाथियों के द्वारा अपनी-अपनी ओर खींचे जाने वाले कदली-वृक्ष के समान, परस्पर विरुद्ध अभिप्राय वाले चक्षुरादि इन्द्रियों के द्वारा तत्तद् दिशाओं में खींचा जाने वाला यह शरीर ही नष्ट हो जाएगा। अतः इन्द्रयों को आत्मा कहना उचित नहीं है।

किञ्च—एक ही शरीर में अनेक इन्द्रियाँ हैं, तब इन्द्रियात्मवादी के मतानुसार अनेक आत्माओं को एक ही शरीर में मानना होगा। उस स्थिति में जिसे मैंने देखा था वही मैं छू रहा हूँ—इस व्यवहार के बल पर आत्मा की जो एकता प्रतीत होती है, उसका बाध होने लगेगा। क्योंकि जिसने पहले रूप देखा था, वही अब स्पर्श कर रहा है—यह तभी हो सकेगा जब आत्मा को एक ही माना जायेगा। इन्द्रियात्मवादी के मत से चक्षुरिन्दियरूप आत्मा और त्वगिन्द्रियरूप आत्मा दोनों एक नहीं हैं, भिन्न-भिन्न हैं। इसलिए इन्द्रियों को आत्मा कहना उचित नहीं है।

किञ्च—इन्द्रियात्मवादी ने इन्दीयों की चेतनता के विषय में जिस प्राणसंवाद को उपस्थित किया था, वह तो इन्द्रियों के अभिमानी देवताओं से सम्बन्ध रखता है। उसका इन्द्रियों से कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः उस प्राणसंवाद के बल पर भी इन्द्रियों को आत्मा नहीं कह सकते।

किञ्च—चक्षुरादि इन्द्रियों को भी स्थूल शरीर के समान ही उत्पत्ति विनाश हुआ करता है। अतः उत्पत्ति विनाशशाली इन्द्रियों को आत्मा मानने पर स्थूलदेहात्मवाद की तरह यहां भी कृतनाश और अकृताभ्यागम—ये दोनों दोष प्राप्त होंगे। इसलिए भी इन्द्रियों को आत्मा नहीं कह सकते।

काणोऽहं, मूकोऽहम्—यह अनुभव तो लोहितः स्फटिक—इस अनुभव के समान ही भ्रमरूप है। अतः इस अनुभव के बल पर भी इन्द्रियों की आत्मरूपता सिद्ध नहीं हो रही है।

किञ्च—मेरा चक्षुरिन्द्रिय मन्द दृष्टि वाला है—इस अनुभव से स्पष्ट हो रहा है कि चक्षुरादि इन्द्रियों का द्रष्टा, जो आत्मा है। वह उन चक्षुरादि इन्द्रियों से भिन्न है और इन्द्रीयों से आत्मा की भिन्नता का प्रतिपादन श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहास में भी किया गया है। अतः चक्षुरादि इन्द्रियों को आत्मा नहीं कह सकते।

प्रतिपादनाद् इन्द्रियाणि नात्मा ।

अस्तु तर्हि प्राण आत्मा, क्षुत्पिपासावानहमित्यनुभवदर्शनाद्, 'अन्योऽन्तरात्मा प्राणमय' इति श्रुतेः, जाग्रदाद्यवस्थास्वनुवर्त्तमानत्वाच्चेति चेन्न। तस्य वायुविकारत्वाद् नात्मत्वमित्यभिप्रेत्याह—**श्रोत्रमिति**। **श्रोत्रमिति** ज्ञानेन्द्रियाणामुपलक्षणम्। **वागिति** कर्म्मेन्द्रियाणामुपलक्षणम्। **आदिशब्देन** मुख्यप्राणो गृह्यते। तथाचाहं ज्ञानेन्द्रियकर्म्मेन्द्रियमुख्यप्राणो न भवामि तेषां स्वप्नसुषुप्त्योर्लयदर्शनात्। यद्यपि परदृष्ट्या प्राणोऽनुवर्त्तते स्वप्नादौ तथापि स्वदृष्ट्यानुपलम्भात् प्राणस्य लयाभिधानं द्रष्टव्यम्। "तानि यदा गृह्णाति अथ हैतत्पुरुषः स्वपितिनाम तद् गृहीत एव प्राणो भवती" त्यादिश्रुतेः। अन्यथा पूर्वोक्तदोषानपायात्। एतेन क्षुत्पिपासावानहमिति प्राणस्यात्मत्वानुभवो भ्रमतया परास्तः। तस्मात्प्राणादीनामनात्मत्वमिति भावः।

●

(पू०) **शङ्का**—पूर्वोक्त दोषों के कारण इन्द्रियों की आत्मरूपता भले ही सिद्ध न हो, तथापि प्राण को आत्मा कहने में कोई हानि नहीं है। क्योंकि मैं भूख और तृष्णा से युक्त हूँ—इत्याकारक लोकानुभव से क्षुत्पिपासा धर्मविशिष्ट प्राण की आत्मरूपता सिद्ध हो रही है। तथा **अन्योन्तर आत्मा प्राणमयः**—इस श्रुति से प्राण की आत्मरूपता का प्रतिपादन भी किया जा रहा है। और स्वप्न तथा सुषुप्ति की अवस्था में इन्द्रियों का लय होने पर भी प्राण तो विद्यमान रहता ही है। अतः प्राण को ही आत्मा कहना उचित प्रतीत हो रहा है।

(सि०) **समा०**—यह प्राण तो वायु का विकार है, उस कारण उसे आत्मा नहीं कह सकते जैसे बाह्य वायु को कोई भी मनुष्य आत्मा के रूप में नहीं मानता।

किञ्च मैं भूखा प्यासा हूँ—इत्याकारक अनुभव तो लोहितः स्फटिकः—इस अनुभव के तुल्य भ्रमरूप ही है। अतः उस भ्रमात्मक अनुभव से प्राण की आत्मरूपता सिद्ध नहीं हो सकती।

किञ्च प्राण की आत्मरूपता सिद्ध करने के लिये जो श्रुति—**अन्योन्तर आत्मा प्राणमयः**—उपस्थित की गयी थी, उसका तात्पर्य प्राण की आत्मरूपता का बोधन करने में नहीं है, किन्तु मुमुक्षुजनों को सोपानक्रम के द्वारा शुद्ध आत्मा का ज्ञान कराने में उक्त श्रुति का तात्पर्य है। प्राण की आत्मरूपता बताने में ही यदि उसका तात्पर्य माना जाये तो मन की आत्मरूपता का प्रतिपादनकरने वाली अन्य श्रुति असंगत हो जायेगी। अतः प्राण को आत्मा नहीं कह सकते।

उपर्युक्त समस्त अभिप्राय को ग्रन्थकार ने—**श्रोत्रवागादिकानि नाहम्**—श्रोत्र-वागादिक भी मैं नहीं हूँ—इस ग्रन्थ से प्रकट कर दिया है। यहाँ श्रोत्र से सभी ज्ञानेद्रियों का और वाक् से भी कर्मेन्द्रियों का, तथा आदि शब्द से वायुरूप मुख्य प्राण का ग्रहण करना चाहिए।

निष्कर्ष यह हुआ कि मैं श्रोत्रादिक पञ्च ज्ञानेन्द्रियरूप भी नहीं हूँ, तथा वागादिक पञ्च कर्मेन्द्रिय रूप भी नहीं हूँ, और पञ्च प्राणरूप भी नहीं हूँ क्योंकि स्वप्न-सुषुप्ति की अवस्थाओं में इन्द्रियों का और प्राणों का लय हो जाता है, किन्तु मैं शब्द से वाच्य आत्मा, स्वप्न-सुषुप्ति की अवस्था में भी द्रष्टा (साक्षी) के रूप में विद्यमान रहता है।

यद्यपि स्वप्न-सुषुप्ति में अन्य लोगों की दृष्टि से प्राण की प्रतीति होती है, तथापि सोये हुए पुरुष की दृष्टि से प्राण की प्रतीति वहाँ नहीं होती है। अतएव स्वप्न और सुषुप्ति में प्राण का लय बताया गया है।

शंका—उपर्युक्त दोषों के कारण इन्द्रियों की तथा प्राण की आत्मरूपता भले ही न हो, तथापि विज्ञान को आत्मा कहने में कोई हानि नहीं है, क्योंकि अहंकर्ता, अहं भोक्ता—इस लोकानुभाव से कर्तृत्व भोक्तृत्व विशिष्ट विज्ञान की आत्मरूपता सिद्ध हो सकती है।

किञ्च **अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः**—यह श्रुति भी विज्ञान को आत्मा कह रही है। इसलिये विज्ञान ही आत्मा है।

(सि०) **समा०**—**बुद्धिर्नाहम्**—मैं बुद्धि भी नहीं हूँ। यहाँ बुद्धि शब्द से अन्तःकरण की वृत्ति का भी ग्रहण करना चाहिये। अर्थात् यहाँ बुद्धि को अन्तःकरण का भी उपलक्षण समझना चाहिये। निष्कर्ष यह है कि मैं अन्तःकरण तथा अन्तःकरणवृत्ति दोनों ही नहीं हूँ। क्योंकि श्रुति ने आकाशादिक भूतों के सात्त्विक अंश से अन्तःकरण की उत्पत्ति का प्रतिपादन किया है, अतः भूतों का विकार होने से वह अन्तःकरण, घट-पटादि के तुल्य जड ही है।

अस्तु तर्हि विज्ञानमात्मा, कर्त्ता भोक्ताहमित्यनुभवदर्शनात्, 'अन्योऽन्तरात्मा विज्ञानमय' इति श्रुतेरित्यत आह— बुद्धिरिति। बुद्धिरन्तःकरणवृत्तिः, इयमन्तःकरणस्याप्युलक्षणं। तथाचाहमन्तःकरणं तद्वृत्तिश्चेत्युभयं न भवामि, तस्य भौतिकत्वेन जडत्वात्, सुषुप्तौ लयदर्शनाच्च। कर्त्ता भोक्ताहमित्यनुभवस्य भ्रमत्वेन तस्यात्मसाधकत्वायोगात्। श्रुतेस्तत्र तात्पर्य्याभावात्। "अन्योऽन्तरात्मानन्दमय" इत्यतिरिक्तात्मश्रुतेः। तथाचान्तःकरणं तद्वृत्तिश्च नात्मेति भावः। एतेन मनोमयकोशस्याप्यात्मत्वं परास्तम्।

अस्तु तर्हि सर्वाध्यासमूलमानन्दमयशब्दवाच्यमज्ञानमात्मा, अहमज्ञ इत्यनुभवादित्यत्राह—**अध्यासमूलमिति**। अध्यासो विपर्य्ययो मिथ्याज्ञानम् अतस्मिंस्तद्बुद्धिरिति यावत्। अयं विस्तरेणाग्रे निरूपयिष्यते। तस्याध्यासस्य मूलं कारणमज्ञानम्। तथाचाहमध्यासकारणमज्ञानन्न भवामि, तस्य ज्ञाननिवर्त्यत्वाज्जडत्वात्समाधावप्रतीयमानत्वादज्ञोऽहमित्यनुभवस्य भ्रान्तित्वात्। "ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठे"त्यानन्दमयकोशाधिष्ठानस्य तत्साक्षिणोऽतिरिक्तस्य प्रतिपादनेन श्रुतेरानन्दमयस्यात्मत्वे तात्पर्य्यायोगाच्चाज्ञानमनात्मेति भावः।

कस्तर्ह्यात्मा यस्य ब्रह्मत्वमनुभवस्यहं ब्रह्मास्मीति? तत्राह—**सत्येति**। अज्ञानतत्कार्य्यसाक्षी आत्मा स एवाहमित्यनुभूयते। तस्यैव ब्रह्मत्वमनुभवाम्यहं ब्रह्मास्मीति। किं तद्ब्रह्मेत्यत आह—**कृष्ण इति**। कृष्णः परं ब्रह्म।

"कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः। तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते।"

●

किञ्च सुषुप्ति में अन्तःकरण का लय होना देखा गया है जिसका लय होता है, उसे आत्मा नहीं कहा करते। अतः अन्तःकरण को आत्मा नहीं कह सकने, और अहं कर्ता अहं भोक्ता—यह अनुभव तो लोहितः स्फटिकः—इस अनुभव के समान भ्रमरूप ही है। अतः उक्त अनुभव के बल पर भी अन्तःकरण की आत्मरूपता सिद्ध नहीं हो रही है।

किञ्च **अन्योऽन्तरआत्मा विज्ञानमयः**—इस श्रुति का तात्पर्य बिज्ञानमय की आत्मरूपता बताने में नहीं है, क्योंकि **अन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमयः**—यह श्रुनि उस विज्ञानमय के भी भीतर स्थित एक अन्य आनन्दमय की ही आत्मरूपता का प्रतिपादन कर रही है। इस कारण उक्त श्रुति से भी विज्ञानमय की आत्मरूपता सिद्ध नहीं हो सकती। अतः अन्तःकरण तथा अन्तःकरणः की वृत्ति को भी आत्मा कहना ठीक नहीं हैं। इस कथन से मनोमयकोश की आत्मरूपता का भी खण्डन हो जाता है। क्योंकि बुद्धि के तुल्य वह मन भी उस अन्तःकरण की वृत्ति ही है। अतएव मन को भी आत्मा नहीं कह सकते।

(पू) शंका—उक्त दोषों के कारण विज्ञानमय की आत्मरूपता सिद्ध न हो सकने पर भी समस्त अभ्यास का कारण तथा आनन्दमय शब्द का वाच्य अर्थ जो अज्ञान है उसे ही आत्मा कहा जाये। क्योंकि **अज्ञोऽहम्**—इस लोकानुभव के बल पर अज्ञान को ही आत्मरूपता सिद्ध हो रही है। किञ्च **अन्योन्तर आत्मा आनन्दमयः**—यह श्रुति भी उस आनन्दमय की ही आत्मरूपता को बता रही है। अतः आनन्दमय कोश अर्थात् अज्ञान को ही आत्मा कहना उचित प्रतीत हो रहा है।

(स०) समा०—ग्रन्थकार ने कहा है कि **अध्यासमूलं नाहम्** अर्थात् मैं अध्यास का मूल (अज्ञान) भी नहीं हूँ। **अतस्मिंस्तद्बुद्धिः**—अतद् में तद्बुद्धि का होना—यही विपर्ययबुद्धि है। विपर्यय को मिथ्याज्ञान कहते हैं—उसी को अध्यास कहते हैं। जैसे—आत्मत्व धर्म से रहित देह-इन्द्रियादिकों में जो आत्मत्वबुद्धि होती है, तथा रजतत्व धर्म से रहित शुक्ति में जो रजतत्व बुद्धि होती है, उसी को अध्यास कहते हैं। उस अध्यास का मूल (कारण) जो अज्ञान है, वह (अज्ञान) भी मैं नहीं हूँ। क्योंकि **तत्त्वमसि** आदि महावाक्य से उत्पन्न हुए ज्ञान के द्वारा अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है। वह अज्ञान भी देह आदि के समान जड ही है। तत्त्वज्ञानी पुरुषों को समाधि की अवस्था में अज्ञान की प्रतीति नहीं हुआ करती। अतः अज्ञान को भी आत्मा नहीं कह सकते।

किञ्च **अज्ञोऽहम्**—यह अनुभव भी लोहितः स्फटिकः के अनुभव के समान भ्रमरूप ही है। अतः उक्त अनुभव के बल पर भी अज्ञान की आत्मरूपता सिद्ध नहीं की जा सकती।

किञ्च **ब्रह्मपुच्छम्प्रतिष्ठा**—यह श्रुति, आनन्दमयकोश से भिन्न उनके (आनन्दमय कोष के) अधिष्ठानरूप तथा साक्षीरूप आत्मा को कह रही है। अतः—**अन्योन्तर आत्मा आनन्दमयः**—इस श्रुतिका तात्पर्य, मान्त्रवर्णिक ब्रह्म में ही है। आनन्दमय की आत्मरूपता में तात्पर्य नहीं है। अतः उक्त श्रुति से भी आनन्दमय कोष को आत्मरूपता सिद्ध नहीं हो रही है। उस कारण अज्ञान को भी आत्मा नहीं कह सकते।

इति स्मरणात्; कृष्ण एवाहमस्मीत्यभिप्रायः।

अयं भावः—'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशद्' 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' 'स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्य' इत्यादिश्रुतय: अविक्रियो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव आत्मा अनाद्यनिर्वचनीयमायाशक्त्या आकाशादिस्थूलशरीरान्तं सृष्ट्वा तदनुप्रविश्य तत्साक्षी भूत्वाऽविवेकात्तदीयधर्म्मानात्मन्यारोप्याहं कर्त्ता भोक्तेति संसारमनुभवति, श्रुत्याचार्य्यप्रसादेन विवेकात्तं परित्यज्य स्वात्मसाक्षात्कारेण मायां विनाश्य परमानन्दस्वरूपमनुभवतीति वदन्तीति। ततो न कोऽपि विरोधः। एतच्चाग्रे स्फुटतरं व्युत्पादयिष्यते।

साक्षात्कर्त्तव्यस्य ब्रह्मणः स्वरूपतटस्थलक्षणं दर्शयति—सत्येत्यादिना। मायासाक्षित्वं तटस्थलक्ष्म्। मायां साक्षा-

•

पू०) शंका—जब इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि, आनन्दमय (अज्ञान) इनमें से किसी को भी आत्मा के रूप में नहीं मान रहे हो, तो तुम किसको आत्मा मान रहे हो जिस आत्मा को अहं ब्रह्मास्मि समझकर उसकी ब्रह्मरूपता का अनुभव कर सकोगे?

(सि०) समा०—ग्रन्थकार बता रहे हैं कि सत्यानन्दरूपश्चिदात्मा—अर्थात् अज्ञान का तथा उसके (अज्ञान के) कार्य का साक्षी तथा सत्य-आनन्दस्वरूप जो चेतन है, वही हमारे मत में आत्मा है। उस साक्षी आत्मा का ही अहम् शब्द से अनुभव होता है। अहं ब्रह्मास्मि इस अनुभव वाक्य से उस साक्षी आत्मा के ही ब्रह्मरूपत्व का हम अनुभव करते हैं।

(पू०) प्रश्न—साक्षी आत्मा में जिस ब्रह्मरूपता का अनुभव करते हो, वह ब्रह्म कौन है?

(सि०) उत्तर—ग्रन्थकार कहते हैं—कृष्ण एवाहमस्मि—अर्थात् श्रीकृष्ण ही वह परब्रह्म है। स्मृति 'परब्रह्म' को ही श्रीकृष्ण के नाम से कह रही है। क्योंकि 'कृष' शब्द भूवाचक है। धातुपाठ में 'भू सत्तायाम्' पढ़ा गया है। तथा 'ण' शब्द का अर्थ 'आनन्द' है। (निर्वृति' का अर्थ, 'सुख' है)। एवंच 'सत्ता' और 'आनन्द'—दोनों की एकरूपता को ही 'परब्रह्म' कहते हैं। वह 'परब्रह्म' ही 'कृष्ण' के नाम से कहा जाता है। अतः 'कृष्ण एवाऽहमस्मि' अर्थात् 'ब्रह्म ही 'मैं' हूँ'—यह अनुभव होने लगता है।

निष्कर्ष यह है—"तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राऽविशत्, अनेन जीवेनआत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि। स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यः"—अर्थात् उस परमेश्वर ने इस 'जगत्' का सर्जन कर, उसमें 'स्वयं' उसने प्रवेश किया, 'जीव' रूप से 'जगत्' में प्रवेश करके 'मैं' अर्थात् 'परमेश्वर' ही 'नाम और 'रूप' को प्रकट करता हूँ, और 'मैं' अर्थात् वह परमात्मा ही उन 'संघातों' अर्थात् जगत् के समस्त पदार्थों में, यहाँ तक कि 'नखों के अग्रभाग' तक प्रविष्ट हुआ हूँ, इस प्रकार से श्रुति अपना अभिप्राय अभिव्यक्त किया है।

वस्तुतः जन्म-मरणादि षड्भावविकारों से रहित तथा 'नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव' जो आत्मा है, वह—अनादि, अनिर्वचनीय अपनी मायाशक्ति की सहायता लेकर आकाश से आरंभ कर स्थूलशरीर तक के सम्पूर्ण जगत् को उत्पन्न करके पुनः उसी में प्रविष्ट होता है। उस 'सम्पूर्ण जगत्' का साक्षी होता हुआ भी 'अविवेक' के कारण उस 'जगत् के धर्मों' का 'अपने' में आरोप कर लेता है, और 'मैंकरता हूँ, मैं-भोक्ता हूँ, मैं मनुष्य हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ'—इस प्रकार के संसार का अनुभव करने लगता है।

वही जीवात्मा, जब किसी पूर्वजन्मार्जित—पुण्यकर्म के प्रभाव से 'साधनचतुष्टय' से सम्पन्न हो जाता है, तब सद्गुरु के द्वारा अनुग्रह को प्राप्त कर विवेक ज्ञानसम्पन्न' होता है। विवेकज्ञान से सम्पन्न होने पर ही वह 'कर्तृत्व, भोक्तृत्वादि-रूप संसार' का परित्याग करके अपने 'निजी स्वरूप' का साक्षात्कार करने लगता है, उससे 'माया' की निवृत्ति होती है, तब उस जीवात्मा को 'परमानन्द स्वरूप' का अनुभव होने लगता है। अतः इस साक्षी आत्मा की ब्रह्मरूपता में किसी भी प्रकार का कोई विरोध नहीं है।

जीवात्मा के द्वारा साक्षात्कार करने योग्य 'ब्रह्म' के 'स्वरूपलक्षण' तथा 'तटस्थलक्षण' का निरूपण ग्रन्थकार ने किया है—'सत्यानन्दरूपश्चिदात्मा, मायासाक्षी' अर्थात् वह परब्रह्म 'सत्यस्वरूप' है, तथा 'आनन्दस्वरूप' है, और चिदात्मस्वरूप एवं माया का साक्षी है। यहाँ पर 'मायासाक्षी'—यह उसका 'तटस्थलक्षण' है। 'जगत्' की उपादानकारणभूत 'माया' को जो साक्षात् प्रकाशित करता है, उसे 'मायासाक्षी' कहते हैं। 'सत्यानन्दश्चिदात्मा'—यह 'ब्रह्म' का स्वरूपलक्षण

दीक्षते भासयतीति **मायासाक्षी**। मायां व्युत्पादयिष्यति। अन्यत् स्वरूपलक्षणं—कालत्रयाबाध्यः सत्यः, आनन्दः सुखं निरतिशय-सुखस्वरूप इत्यर्थः, चिदात्मा ज्ञानस्वरूपः। **सत्यमिति** मिथ्यावस्तुतादात्म्यं व्यावर्त्तयति। **आनन्द इति** दुःखतत्साधनतादात्म्यं व्यावर्त्तयति। **चिदात्मेति** जडतादात्म्यं व्यावर्त्तयति। तथाच सत्यज्ञानानन्दस्वरूपः सर्वसाक्षी परमात्माहमस्मि 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मी'ति श्रुतेरिति भावः ॥२॥

'अथातो ब्रह्मजिज्ञासेत्यत्र साधनचतुष्टयसम्पत्त्यनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासा सूचिता। तत्र विचारितं तत्त्वमस्यादिवाक्य-जन्यमवगतिपर्यन्तं ब्रह्मात्मैक्यगोचरं फलीभूतं ज्ञानमिच्छाकर्म। तच्च पदार्थज्ञानाधीनम्, अविदितपदार्थस्य पुरुषस्य वाक्यार्थ-ज्ञानानुदयात्। तदपि पदार्थज्ञानं विचाराधीनमित्यर्थाद्विचारकर्त्तव्यता सूचिता।

स च विचारो द्विविधः—प्रधानविचारस्तत्सहकारिविचारश्चेति। ज्ञानेनाप्तुमिष्टतमत्वाद्ब्रह्म प्रधानम्। तद्विचारः

●

है। तीनों कालों में जिसका बाध नहीं होता, उसे **'सत्य'** कहते हैं। जो 'निरतिशय सुख' हो, उसे **आनन्द**—कहते हैं और जो ज्ञानस्वरूप' हो उसे **'चिदात्मा'** कहते हैं। एवंच **'सत्य-आनन्द-चिद्रूप'** जो है, वही **'ब्रह्म'** है। **'ब्रह्म'** के अतिरिक्त कोई भी 'सत्य-आनन्द-चिद्रूप' नहीं है।

इस **स्वरूपलक्षण** में निविष्ट **'सत्य'** पद के द्वारा 'ब्रह्म' में, भ्रान्ति के कारण जो मिथ्यावस्तु के 'तादात्म्य' की प्रतीति होती है, उसका निवारण किया गया है। तथा 'ब्रह्म' के विषय में 'भ्रान्ति' के कारण प्रतीयमान दुःख और दुःख-साधनों के तादात्म्य की, **'आनन्द'** पद से निवृत्ति की गई है। तथा ब्रह्म के विषय में भ्रान्ति से प्रतीयमान-जड़ के तादात्म्य की निवृत्ति **'चिदात्मा'** पद से की गई है।

निष्कर्ष यह हुआ कि **'सत्य'** रूप होने से 'ब्रह्म' को **'मिथ्यावस्तुरूप'** नहीं कह सकते। **'आनन्दरूप'** होने से 'ब्रह्म' को 'दुःख' या 'दुःखसाधन रूप' नहीं कह सकते। तथा **'चिदात्मा'** कहने से 'ब्रह्म' को 'जड' नहीं कह सकते। एवंच सत्-चित्-आनन्दस्वरूप और सभी का साक्षी परमेश्वर परब्रह्म **'मैं'** हूँ। अतएव **'तत्त्वमसि', 'अहंब्रह्मास्मि'** इत्यादि श्रुति वचनों ने **'जीवात्मा'** को **'ब्रह्मरूप'** ही कहा है ॥२॥

क्योंकि मोक्ष विवेकादिप्राप्ति के बाद होने वाले वाक्यार्थज्ञान से होता है तथा वह तभी होता है जब पदार्थज्ञान हो, इसलिये तत्पदार्थ का निरूपण करते हैं। तत्पदार्थ का लक्षण दो प्रकार का है—तटस्थलक्षण व स्वरूपलक्षण। सृष्टि, स्थिति एवं प्रलय की कारणता तत्पदार्थ का तटस्थलक्षण है।

'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'—यह शारीरकमीमांसाशास्त्र (विदान्तशास्त्र) का प्रथमसूत्र है। इस सूत्र के द्वारा साधनचतुष्टयसम्पन्न 'अधिकारी' के लिये 'ब्रह्मज्ञान' की इच्छा करने का (ब्रह्मजिज्ञासा का) विधान किया गया है। अर्थात् **'जिज्ञासा कर्त्तव्या'**—यह कहा गया है। **'जिज्ञासा'** का अर्थ होता है—**'ज्ञातुम् इच्छा'** अर्थात् जानने की इच्छा। यहाँ पर **'इच्छा'** का कर्मः ज्ञान है, किन्तु वह 'साधारण लौकिक ज्ञान' नहीं, अपितु **'शास्त्र प्रक्रियाद्वारा** सुविचारित-**'तत्त्वमसि'** आदि वाक्य से उत्पन्न होने वाला, और **'ब्रह्मात्मैक्य'** को विषय करने वाला **'अहं ब्रह्मास्मि'**—इत्याकारक जो 'फलरूप ज्ञान' है, वही यहाँ पर **'इच्छा'** का **'कर्म'** है। वह **'फलरूपज्ञान'** ही 'मोक्ष' का हेतु (कारण) है। वह मोक्ष प्रद 'फलरूप-ज्ञान', **'तत् व त्वम्'** पदार्थों के ज्ञान के अधीन है। 'पदार्थज्ञान' जब तक नहीं होता, तब तक 'वाक्यार्थज्ञान' नहीं होता है। 'पदार्थज्ञान वाले' को हो 'वाक्यार्थज्ञान' होता है। 'वाक्यार्थज्ञान' में कारणीभूत 'पदार्थज्ञान' भी, 'तत्' और 'त्वम्' पदार्थविचार के अधीन है। 'तत्-त्वम्' पदार्थ का विचार किये बिना 'पदार्थज्ञान' का होना संभव नहीं है, इसलिये उक्त सूत्र ने अर्थतः 'विचार को कर्तव्यता' का विधान किया है। अर्थात् 'साधनचतुष्टयसम्पत्ति' के अनन्तर 'अधिकारी पुरुष' 'ब्रह्म' का विचार करे।

विचार भी 'दो प्रकार' का होता है—(१) प्रधानविचार, (२) सहकारी विचार। **'अहं ब्रह्मास्मि'**—इस प्रकार के वाक्यार्थज्ञान से प्राप्त होने वाला **'ब्रह्म'**, अत्यन्त अभीप्सित होने के कारण **'प्रधान'** है। उस **'ब्रह्म'** का जो विचार है, उसे **'प्रधानविचार'** कहा जाएगा। वह प्रधानभूत 'ब्रह्मविचार', 'समन्वय' आदि का विचार किये बिना संभव नहीं है, अतः (१) **'समन्वय, (२) विरोध, (३) साधन, (४) फल'**—इन चारों के सम्बन्ध में जो विचार है, उसे **'सहकारी विचार'** कहा गया है।

अथ मोक्षस्य वाक्यार्थज्ञानाधीनत्वात्तस्य[1] च पदार्थज्ञानाधीनत्वात्तदर्थं तत्पदार्थं निरूपयामः। तत्पदार्थस्य लक्षणं द्विविधं—तटस्थलक्षणं स्वरूपलक्षणञ्चेति। सृष्टिस्थितिलयकारणत्वं तटस्थलक्षणम् ॥३॥

●

प्रधानविचारः। समन्वयादिविचारैर्विना ब्रह्मविचारासम्भवात्समन्वयाविरोधसाधनफलविचारास्तत्सहकारिणः। समन्वयो नाम ब्रह्मात्मैकत्वप्रतिपादकत्वेन वेदान्तवाक्यानां समनुगतत्वं तात्पर्य्यमिति यावत्। तद्विचारः शारीरके प्रथमाध्याये कृतः। श्रुतिविरोधे स्मृत्यादीनां प्रत्यक्षादीनाञ्च आभासत्वाद्वेदान्तसमन्वयस्य प्रमाणान्तरेण विरोधाभावोऽविरोधः, सोऽपि द्वितीयाध्याये विचारितः। द्विविधमपि साधनं तृतीये विचारितम्। द्विविधमपि फलं चतुर्थे विचारितम्।

साधनमध्ये वाक्यार्थविचारस्य ज्ञानं प्रत्यन्तरङ्गसाधनत्वात् तत्सहकारित्वेन पदार्थविचारस्याप्यन्तरङ्गसाधनत्वात् पदार्थविचारं सप्रयोजनं प्रतिजानीते—**अथेति**। अथ साधनचतुष्टयसम्पत्त्यनन्तरं **तत्पदार्थं निरूपयाम** इति सम्बन्धः॥

ननु काकदन्तपरीक्षावत्पदार्थनिरूपणस्य प्रयोजनशून्यत्वात्तन्निरूपणमसङ्गतमित्याशङ्क्याह—**तदर्थमिति**। पदार्थज्ञानार्थं प्रथमं तत्पदार्थं निरूपयामः, क्रमेण त्वंपदार्थमपीति भावः॥

ननु पदार्थज्ञानस्य सुखप्राप्तिदुःखनिवृत्त्योरन्यतरत्वाभावेन कथं पुरुषार्थत्वमित्याशङ्क्याह—**तस्येति**। वाक्यार्थज्ञानं परामृश्यते। ततश्च वाक्यार्थज्ञानस्य पदार्थज्ञानाधीनत्वाद्[2] अविदितपदार्थस्य वाक्यार्थज्ञानासम्भवात्तदर्थं पदार्थज्ञानं सम्पादनीयम्,

●

उपनिषद्रूप वेदान्तों में स्थित 'वाक्यों' का **ब्रह्मात्मैक्य** के प्रतिपादन में जो तात्पर्य है, उसी को **'समन्वय'** कहते हैं, उस समन्वय का विचार, शारीरकमीमांसाशास्त्र' के **'प्रथम अध्याय'** में किया है, और 'श्रुतिवाक्यों' का **विरोध** रहने पर 'स्मृति' तथा 'प्रत्यक्षादि प्रमाण' आभासरूप माने जाते हैं। उनके आभास रूप होने से उस वेदान्तसमन्वय का उन प्रमाणान्तरों के साथ अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाणों के साथ जो **विरोधका अभाव है**, उसी को **'अविरोध'** कहते हैं। उस **'अविरोध'** का विचार, 'शीरीरकमीमांसाशास्त्र' के **द्वितीय अध्याय'** किया गया है। तदनन्तर **'ज्ञान'** की **प्राप्ति** के उपायों (साधनों) को **'साधन'** कहते हैं। वे 'साधन' भी **'अन्तरंग'** और **'बहिरंग'** भेद से दो प्रकार के होते हैं। उन दोनों प्रकार के साधनों का विचार, 'शारीरकमीमांसाशास्त्र' के तृतीय अध्याय में किया गया है। उन साधनों से प्राप्त होने योग्य जो 'अर्थ है, उसको **'फल'** कहते हैं। उस 'फल' के भी **दो भेद** हैं—(१) **'पर'** और (२) अपर। उन दोनों प्रकार के फलों का विचार, 'शारीरकमीमांसाशास्त्र के **'चतुर्थ अध्याय'** में किया गया है। इस प्रकार से 'समन्वयादिचारों' के विचार को **'सहकारी विचार'** कहते हैं। उन साधनों के मध्य में जो **'तत्त्वमसि'** आदि महाक्यों के अर्थों का जो विचार है, वह **'ब्रह्मज्ञान'** के प्रति **'अन्तरङ्गसाधन'** हैं। उस वाक्यार्थविचार' के प्रति **'तत्-त्वम्'** पदार्थ का विचार, **'सहकारी' है। अतः 'तत्-त्वम्'** पदार्थ के विचार को भी 'ब्रह्मज्ञान' के प्रति **अन्तरङ्गसाधन** ही माना जाता है। **इसलिये** प्रस्तुत ग्रन्थ के आरंभ में प्रथमतः उस **'तत्-त्वम्'** पदार्थ के विचार का ही निरूपण ग्रन्थकार ने किया है।

उपर्युक्त निरूपण का तात्पर्य यही है कि 'साधनचतुष्टयसम्पन्न अधिकारी पुरुष' को **'मोक्ष'** की प्राप्ति, **'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य के अर्थज्ञान** से ही होती है, और **वाक्यार्थज्ञान की प्राप्ति 'तत्-त्वम्' पदार्थ के ज्ञान से ही** होती है, और उस 'पदार्थ ज्ञान' की प्राप्ति 'तत्-त्वम्' पदों के अर्थ के विचार से ही होती है। **इसलिये 'तत्-त्वम्'** पदार्थों का विचार', **मुमुक्षुजनों** को अवश्य करना चाहिये।

मूलग्रन्थ में **'अथ मोक्षस्य........तत्पदार्थं निरूपयामः'** कहा गया है। उसमें प्रयुक्त **'अथ'** का अर्थ, **'साधनचतुष्टयसम्पत्त्यनन्तरम्** है। उसका "**तत्पदार्थं निरूपयामः**' के साथ अन्वय करना चाहिये।

(पू०) शङ्का—**लोकव्यवहार में तथा शास्त्र में** भी 'सुख की प्राप्ति' और 'दुःख की निवृत्ति' को ही **'पुरुषार्थ'** शब्द से जाना जाता है, क्योंकि उनके सम्पादनार्थ ही मनुष्य प्रयत्नशील रहता है। किन्तु वेदान्तो तो **'तत्-त्वम्'** पदार्थ की ज्ञान प्राप्ति के लिये कह रहे हैं। जां ('तत्-त्वम्' पदार्थ का ज्ञान,) न 'सुख प्राप्ति रूप' है और न 'दुःखनिवृत्तिरूप' ही है।

१. तस्य च पदार्थज्ञानाधीनत्वात् इति सीरीजपुस्तके नास्ति।
२. पदार्थज्ञानजन्यत्वादि पाठान्तरम्।

'हेतुः पदार्थबोधो हि वाक्यार्थावगतेरिह' त्यादिवचनादिति¹ भावः। वाक्यार्थज्ञानस्य वा कथं प्रयोजनत्वं तस्मिन् सत्यपि संसारोपलम्भादित्यत आह—**मोक्षस्येति।**

ननु कोऽयं मोक्षः—अज्ञाननिवृत्तिर्ब्रह्मभावो वा ? नाद्यः, अज्ञाननिवृत्तेर्ब्रह्मस्वरूपापेक्षया भिन्नत्वे अद्वैतश्रुतिविरोधापत्तेः। न च श्रुतेर्भावाद्वैतपरत्वान्नोक्तदोष इति वाच्यम्, संकोचे मानाभावात्। किञ्च ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य कल्पितत्वनियमेनाविद्यानिवृत्तेरपि कल्पितत्वेन मिथ्यात्वापत्त्या मोक्षस्यानित्यत्वप्रसङ्गेनाविद्यायाः कल्पितत्वेन तत्प्रतियोगिकनिवृत्तेस्तत्सत्ताधीनसत्ताकतया सत्यत्वायोगेन मोक्षस्यानित्यत्वं स्यात्। न च तदिष्टं सर्वैर्मोक्षवादिभिर्मोक्षस्य नित्यत्वाभ्युपगमादन्यथामुक्तानां पुनरुत्पत्तिप्रसङ्गात्। न द्वितीयः, मोक्षस्य ज्ञानसाध्यत्वन्न स्यात्। तस्मान्मोक्षस्यानिरूपणाद्वाक्यार्थज्ञानस्य तत्साधनत्वेन प्रयोजनवत्त्वं दुर्निरूप्यमिति ॥

●

अतः उस 'ज्ञान' को 'पुरुषार्थ'—कैसे कह सकते हैं ? वह तो 'अपुरुषार्थरूप' है। अतः 'तत्'-'त्वम्' पदार्थ का ज्ञान, सम्पादन करने योग्य नहीं है। इस लिये काकदन्त परीक्षा के समान 'तत्' पदार्थ का निरूपण प्रयोजन शून्य है। अतः उसका निरूपण करना असंगत है।

(सि०) समा०—तदर्थमिति। यद्यपि 'तत्' पदार्थ का ज्ञान 'स्वरूपतः' पुरुषार्थरूप नहीं है, तथापि 'पुरुषार्थ' का साधन जो 'महावाक्यार्थज्ञान' है, उस 'वाक्यार्थज्ञान' के प्रति 'तत्' पदार्थ का ज्ञान हेतुभूत है। अतः 'वाक्यार्थज्ञान' के के द्वारा, 'तत्' पदार्थज्ञान में, 'पुरुषार्थ' की साधनता रहने से 'तत् पदार्थ' का ज्ञान अवश्य ही सम्पादन करने योग्य है। इसलिये **पदार्थज्ञानार्थ**—प्रथमतः 'तत्' पदार्थ का निरूपण करते हैं, तदनन्तर क्रम प्राप्त 'त्वम्' पदार्थ का निरूपण करेंगे।

(पू०) शंका—'वाक्यार्थज्ञान' को मोक्ष का साधन कैसे माना जाय ? क्योंकि 'वाक्यार्थज्ञान' के होने पर भी 'संसार' की उपलब्धि तो बनी ही रहती है।

(सि०) समा०—उक्त शंका के समाधानार्थ ही ग्रन्थकार ने कहा है कि—'मोक्षस्य वाक्यार्थज्ञानाधीनत्वात्' आदि।

(पू०) शंका—जिस 'मोक्ष' के लिये 'तत्-त्वम्' पदार्थ का निरूपण किया जा रहा है, वह 'मोक्ष' पदार्थ कौन-सी वस्तु है ? क्या 'अज्ञान की निवृत्ति' का नाम 'मोक्ष है ? अथवा 'ब्रह्मभाव' की प्राप्ति का नाम 'मोक्ष' है ? उक्त दो विकल्पों में से प्रथम विकल्प, इसलिये सम्भव नहीं होगा, कि 'अज्ञान की निवृत्तिरूप मोक्ष', तो 'ब्रह्म' के स्वरूप से भिन्न ही होगा, तब एकमेवाऽद्वितीयम् ब्रह्म'—इस श्रुति से विरोध होगा।

किञ्च यद्यपि ब्रह्म से भिन्न अन्य कोई 'भाव पदार्थ' नहीं है, और 'अज्ञान निवृत्ति' अभावरूप है। अतः अज्ञान निवृत्ति के विद्यमान रहते भी 'ब्रह्म' की अद्वितीय रूपता में कोई हानि नहीं हो पाती, वह स्थिर ही है। इस प्रकार 'भावाऽद्वैतपरता' होने से उक्त श्रुति के साथ यद्यपि विरोध नहीं हो रहा है, तथापि 'ब्रह्म' से भिन्न 'भाव-अभावरूप' सम्पूर्ण प्रपञ्च का निषेध करनेवाले 'अद्वैत' पद का संकोच करके उसमें केवल भावपदार्थों को निषेधपरता मानने में कोई प्रमाण नहीं है।

किञ्च—वेदान्तियों के मत में 'ब्रह्म' से भिन्न सभी पदार्थों को 'कल्पित' माना गया है। अतः अविद्या भी 'ब्रह्म' से भिन्न होने के कारण उसकी (अविद्या को) निवृत्ति को भी कल्पित ही मानना होगा। उस अवस्था में जो-जो पदार्थ, 'कल्पित' होते हैं, वे पदार्थ, 'शुक्तिरजत' के समान मिथ्या हुआ करते हैं। उस कारण 'अविद्या निवृत्तिरूप मोक्ष भी कल्पित होने से उसे अनित्य ही मानना होगा।

अथवा शांकर वेदान्तियों के मत में 'अविद्या को कल्पित ही माना गया है, तथा कल्पित वस्तु का अभाव भी कल्पित ही होता है। उस कारण कल्पित अविद्या की निवृत्ति भी 'कल्पित' ही रहेगी। और 'कल्पित वस्तु' में सत्यरूपता का सम्भव न रहने से भी 'अविद्यानिवृत्तिरूप मोक्ष' को अनित्य ही कहना होगा किन्तु मोक्ष को अनित्यता, मोक्षवादियों को कभी भी अभीष्ट नहीं हो सकती। क्योंकि सभी मोक्षवादियों ने मोक्ष की नित्यता का ही स्वीकार किया है। कोई भी मोक्षवादी 'मोक्ष' को अनित्य नहीं मानता।

यदि कदाचित् 'मोक्ष' भी 'अनित्य' हो, तो 'मुक्त पुरुषों' की पुनः-पुनः उत्पत्ति होनी चाहिये थी, किन्तु

---

१. इत्याद्याचार्यवचनादिति पाठान्तरम्। वाक्यवृत्तौ दशमश्लोकस्यानमिदं वाक्यम्।

अत्रोच्यते—अविद्यानिवृत्तिरेव मोक्षः। सा चाधिष्ठानब्रह्मस्वरूपैव। कल्पितप्रतियोगिकाभावस्याधिष्ठानव्यतिरेकेण दुर्निरूप्यत्वात्। न च मोक्षस्य ज्ञानसाध्यत्वं न स्यादिति वाच्यम्। न हि साध्यत्वं नाम मोक्षस्य जन्यत्वम् ब्रह्मभावस्यानादि-सिद्धत्वेनोत्पत्तेरनिरूपणात्। किन्तर्हि? अभिव्यक्तिमात्रम्। अभिव्यक्तिर्नाम ज्ञानेन भ्रमतिरस्कारः, अखण्डैकरमानन्दस्फूर्त्तिरिति यावत्। तस्माद्वाक्यार्थज्ञानस्य मोक्षसाधनत्वमुपपन्नम्॥

तस्मिन् सत्यपि संसारोपलम्भात् कथम्मोक्षसाधनत्वम्? तस्माच्छास्त्रेण ब्रह्म निश्चित्य यावज्जीवं कर्म्मानुतिष्ठन् ब्रह्मध्यानाभ्यासं कुर्य्यात्। ततश्च ध्यानाभ्यासकर्म्मभ्यां मरणकाले शुद्धे मनस्यभ्यासपाटवेन चरमप्रत्ययः साक्षात्कार उदेति। ततो मोक्षो भवति। अथवा प्रसंख्यानं कर्त्तव्यम्। प्रसंख्यानं नाम शब्दयुक्तिप्रत्ययानामावृत्तिः। तेनासंसृष्टाद्वितीयब्रह्मसाक्षात्कारो भवति। तदुक्तम्—

•

'न स पुनरावर्तते', तथा 'यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम'—इत्यादि श्रुति-स्मृति के वचनों ने मुक्त पुरुष की पुनरुत्पत्ति का निषेध किया है। अतः अविद्या निवृत्ति को 'मोक्ष' कहना संभव नहीं है।

अब 'ब्रह्मभाव को मोक्ष' कहने के द्वितीय—विकल्प का स्वीकार यदि करें, तो वह भी संभव नहीं है, क्योंकि 'ब्रह्मभाव', अनादि होने से 'नित्यसिद्ध' है। जो पदार्थ नित्यसिद्ध होता है, वह, किसी 'साधन' से साध्य नहीं होता। अनित्य पदार्थ ही साधन से 'साध्य' हुआ करते हैं। इसलिये 'आत्मज्ञानरूपसाधन' से 'ब्रह्मभावरूप मोक्ष' साध्य है—यह नहीं कह सकते। किन्तु शांकरवेदान्ती तो 'मोक्ष' को 'आत्मज्ञान' से साध्य मानते हैं, किन्तु वह ठीक नहीं है। अतः 'ब्रह्मभाव' की भी मोक्षरूपता संभव नहीं हो रही है।

इस रीति से 'मोक्ष' पदार्थ का निरूपण न हो सकने से 'महावाक्यार्थज्ञान' को उसका साधन बताना कहाँ तक उचित होगा? एवं च 'महावाक्यार्थज्ञान' की प्रयोजनवत्ता बताना निरर्थक है। उसकी प्रयोजनवत्ता का निरूपण करना अशक्य है। एवं च द्वितीय विकल्प (ब्रह्मभावरूप मोक्ष) भी ठीक नहीं है।

(सि०) समा०—शाङ्करवेदान्ती के मत में तो 'अविद्यानिवृत्तिर्मोक्षः' अर्थात् अविद्या की निवृत्ति ही 'मोक्ष' है। अर्थात् प्रथम विकल्प ही उन्हें सम्मत है। वह 'अविद्यानिवृत्ति; 'ब्रह्म' से भिन्न नहीं है, अपितु वह 'अधिष्ठानब्रह्मरूप' ही है। क्योंकि कल्पित वस्तु का अभाव, 'अधिष्ठान' से भिन्न नहीं होता है। जैसे—'कल्पित 'सर्प, रजत' आदिका अभाव, रज्जु, शुक्ति' आदि अधिष्ठान से भिन्न नहीं होता है। अपितु 'अधिष्ठानरूप' ही होता है। उसी तरह कल्पित अविद्या की निवृत्ति भी 'अधिष्ठान ब्रह्मरूप' ही है।

(पू०) शङ्का—अविद्यानिवृत्तिरूप मोक्ष को यदि ब्रह्मरूप माना जाय तो वह 'ब्रह्मरूप मोक्ष', 'ज्ञान' से साध्य नहीं हो सकेगा, किन्तु शाङ्करवेदान्तियों ने 'मोक्ष' को ज्ञान से 'साध्य' माना है। वह कैसे संभव हो सकता है?

(सि०) समा०—'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्'—अर्थात् ज्ञान से 'मोक्ष'—'साध्य' है। इस कथन में 'साध्य' शब्द से 'जन्यता' विवक्षित नहीं है। अर्थात् 'ज्ञान से 'मोक्ष'—उत्पन्न (जन्य) होता है'—यह हमारा अभिप्राय नहीं है। क्योंकि 'ब्रह्मभाव' के अनादि सिद्ध होने से उसकी उत्पत्ति का होना संभव ही नहीं है। अतः 'साध्य' शब्द से शाङ्करवेदान्तियों को 'अभिव्यक्तिमात्र' विवक्षित है। अर्थात् 'ज्ञान' के द्वारा उस मोक्ष की अभिव्यक्ति मात्र होती है। 'अहं ब्रह्माऽस्मि' इत्याकारक ज्ञान से जो द्वैतभ्रम की निवृत्ति तथा अखण्ड एकरस आनन्द की स्फूर्ति (स्फुरण) होती है, वही तो 'मोक्ष' की अभिव्यक्ति है। इस रीति से 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारक वाक्यार्थज्ञान में 'मोक्ष' की साधनता का होना संभव है।

इस प्रकार का 'वाक्यार्थज्ञान', 'तत्-त्वम्' पदार्थ के ज्ञान से ही होता है, और वह 'पदार्थज्ञान', 'तत्-त्वम्' पदार्थ के निरूपण से ही होगा, इसलिये प्रथमतः 'तत्'—पदार्थ का निरूपण ग्रन्थकार ने किया है।

शंका—वाक्यार्थ का ज्ञान रोने पर भी संसार की उपलब्धि बनी रहती है, अतः वाक्यार्थज्ञान मोक्ष साधन नहीं है।

अतः 'शास्त्रवाक्यों' से 'ब्रह्म' का निश्चय कर लेना चाहिये, और जीवन पर्यन्त 'कर्मानुष्ठान' करते हुए 'ब्रह्म' के ध्यान का अभ्यास करते रहना चाहिये। उससे अर्थात् 'ध्यान के अभ्यास' और 'कर्म' के अनुष्ठान से 'मृत्यु' के समय शुद्ध हुए मन (अन्तःकरण) में अहर्निश किये गये अभ्यास की कुशलता से 'साक्षात्कार' (चरम प्रत्यय) उत्पन्न होता है, और उससे मोक्ष होता है।

'शब्दयुक्तिप्रसंख्यानैरात्मना च मुमुक्षवः। पश्यन्ति मुक्तमात्मानं प्रमाणेन चतुष्पदाः' ॥

इति। तस्माद्वाक्यार्थज्ञानान्मोक्ष इति मनोरथमात्रम्। किन्तु यथोक्तप्रकारेणैव ब्रह्मसाक्षात्कारान्मोक्षः तथाच

"विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयं सह। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते" ॥

"तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः"।

इत्येवमाद्याः श्रुतयोऽनुगृहीता भवन्ति ॥ तस्मान्मोक्षस्य वाक्यार्थज्ञानाधीनत्वमनुपपन्नमिति ॥

अत्रोच्यते—चरमसाक्षात्कारात्कीदृशो मोक्षो भवतीति विवेक्तव्यम् अविद्यानिवृत्तिर्वा ब्रह्मभावो वा? नाद्यः चरमप्रत्ययादविद्यानिवृत्तिर्भवति प्रथमप्रत्ययान्नेत्यत्र को हेतुः, प्रत्ययत्वाविशेषात्? संसारोपलम्भ एव ज्ञापक इति चेन्न। तस्य साक्षात्कारोत्तरमपि प्रारब्धवशादप्युपपत्तेः। किञ्च "ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति", "तरति शोकमात्मवि" दित्यादिश्रुतिषु ज्ञानमात्रस्य

●

अथवा 'प्रसंख्यान' करना चाहिये। 'प्रसंख्यान' उसे कहते हैं—'शब्द, युक्ति, प्रत्यय' की आवृत्ति (अभ्यास) करते रहना।

कहा भी है—

कि मुमुक्षु लोग चार साधनों (चतुष्पद) से युक्त रहते हैं। वे 'शब्द, युक्ति, प्रसंख्यान, और आत्मा के द्वारा ही अपने को मुक्त हुआ—जानते हैं। अर्थात् आत्मा को मुक्त हुआ जानने में ये 'चार ही प्रमाण' (साधन) होते हैं। इसलिये 'वाक्यार्थज्ञान' से 'मोक्ष' होता,—यह कहना, केवल मनोरथमात्र है।

किन्तु प्रतिपादित प्रकार से ही ब्रह्म साक्षात्कार होता है, और उसी से 'मोक्ष' होता है।

तथा च—

'जो मनुष्य, विद्या और अविद्या दोनों को जानता है, वही 'अविद्या' के द्वारा मृत्यु का अतिक्रमण कर 'विद्या' के द्वारा 'अमृत' को प्राप्त कर पाता है।' 'उसे जान कर प्रज्ञा करे' इत्यादि श्रुतियाँ भी उपर्युक्त मन्तव्य के अनुसार अनुगृहीत हो जाती हैं।

अतः 'मोक्ष' को 'वाक्यार्थज्ञान' के अधीन कहना सम्भव नहीं है।

समा०—उपर्युक्त आशंका का उत्तर पाने के लिये यह विचार करना होगा कि 'चरमसाक्षात्कार' से किस प्रकार का मोक्ष होगा? क्या 'अविद्यानिवृत्तिरूप मोक्ष' होगा, या ब्रह्मभावरूप मोक्ष होगा?

इन दोनों में से प्रथम प्रकार का मोक्ष, हो नहीं सकता। क्योंकि 'चरमप्रत्यय' से अविद्यानिवृत्ति होती है, 'प्रथम प्रत्यय' से नहीं—यह मानने में कोई कारण नहीं है। क्योंकि 'प्रत्ययत्व' दोनों में समानरूप से है, अर्थात् दोनों ही 'प्रत्यय' हैं।

यदि कहो कि 'संसारोपलब्धि' को ही उसमें 'ज्ञापक' मान लेंगे, तो वह भी उचित न होगा, क्योंकि 'साक्षात्कार' होने के पश्चात् भी 'प्रारब्धवशात्' उसकी उपलब्धि होती ही है।

किञ्च—'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति', 'तरति शोकमात्मवित्'—इत्यादि श्रुतिवचनों में 'ज्ञानमात्र' को 'मोक्षहेतुत्व' श्रुत नहीं हो रहा है, और ज्ञान होने के बाद किञ्चिन्मात्र भी कर्तव्य, शेष नहीं रह जाता। अतः 'चरमप्रत्यय' ह 'मोक्ष प्राप्ति' में हेतु है, 'प्रथयप्रत्यय' नहीं—इस कल्पना में कोई प्रमाण नहीं है।

'ज्ञान' से अज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर अज्ञानकृत कर्तृत्वादि अभिनिवेश की भी निवृत्ति हो जाती है। इस प्रकार विधिकिङ्कर 'अभिनिवेश' का सम्बन्ध न रहने से ध्यानादि कर्मों में प्रवृत्ति का होना सम्भव ही नहीं है।

यदि यह कहो कि 'ब्रह्म' प्रत्यग्रूप होने से वह नित्य अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) है। उस कारण प्रथमतः 'परोक्षज्ञान', पश्चात् 'अपरोक्षज्ञान' होगा, किन्तु इस कल्पना में कोई प्रमाण नहीं है।

अतएव द्वितीय पक्ष अर्थात् 'ब्रह्मभावरूप मोक्ष' कहनां भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'चरमज्ञान' के समान 'प्रथमज्ञान' से भी 'ब्रह्मभाव' की अभिव्यक्ति का होना सम्भव हो सकता है। अतः 'वाक्यजन्यप्रत्यय' (वाक्यार्थज्ञान), प्रथम रहे, चाहे मध्यम रहे अथवा चरम रहे, कोई भी हो, वह असन्दिग्ध तथा अविपर्यस्त यदि होगा तो वही (वाक्यजन्यप्रत्यय), मोक्ष की प्राप्ति में हेतु होता है।

मोक्षहेतुत्वं श्रूयते। न तु ज्ञानोत्तरं किञ्चित्कर्त्तव्यमवगम्यते। ततश्चरमस्यैव मोक्षहेतुत्वं न प्रथमस्येति कल्पनायां मानाभावात्। ज्ञानेनाज्ञाननिवृत्तौ तत्कृतकर्तृत्वाद्यभिनिवेशस्यापि निवृत्तत्वात्तस्य विधिकिङ्करत्वायोगेन ध्यानकर्म्मप्रवृत्त्यसम्भवात्। ब्रह्मणः प्रत्यग्रूपत्वेन नित्यापरोक्षतया प्रथमं परोक्षज्ञानं पश्चादपरोक्षज्ञानमिति कल्पनायां मानाभावाच्च।

अत एव न द्वितीयोऽपि चरमज्ञानेनेव प्रथमज्ञानेनापि ब्रह्माभावाभिव्यक्तेस्सम्भवात्। तस्मात्प्रथमो वा मध्यो[1] वा चरमो वाऽसन्दिग्धाविपर्य्यस्तो वाक्यजन्यप्रत्ययो मोक्षहेतुः॥

अत एव न प्रसंख्यानविधिरपि। 'विद्यां चाविद्याञ्चे'ति वाक्यस्योपासकविषयत्वात्। 'तमेव धीरो विज्ञाये'ति वाक्यस्य साक्षात्कारोद्देशेन निदिध्यासनविधिपरत्वात्। तस्मान्मोक्षस्य वाक्यार्थज्ञानाधीनत्वमुपपन्नमेवातो वाक्यार्थज्ञानं सम्पादनीयमिति भावः॥

●

अतएव **'विद्यां चाऽविद्याञ्च'**—इस वाक्य को 'प्रसंख्यानविधि' भी उपासक के लिये है। तथा **'तमेव धीरो विज्ञाय'** यह वाक्य, साक्षात्कार को लक्ष्य (उद्देश्य) करके विधीयमान **'निदिध्यासन'** के लिये है। अतः **'मोक्ष'** को 'वाक्यार्थज्ञान' के अधीन बताना ठीक ही है। अतः वाक्यार्थज्ञान' का सम्पादन करना उचित ही है।

किसी भी पदार्थ (वस्तु) की सिद्धि, 'लक्षण' और 'प्रमाण' दोनों से हुआ करती है। उनमें से 'असाधारण धर्म' को 'लक्षण' कहते हैं और 'प्रत्यक्षादिको' को प्रमाण कहते हैं। अतः 'लक्षण प्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः' इस नियम को ध्यान में रखते हुए प्रथमतः 'तत्' पदार्थ का लक्षण कहते हैं। 'ब्रह्म' रूप 'तत्' पदार्थ का लक्षण दो प्रकार का होता है—(१) तटस्थ लक्षण, और (२) स्वरूप लक्षण। उनमें से जो लक्षण (चिह्न) अपने लक्ष्य में कदाचित् रहता हुआ अपने लक्ष्य को अन्य पदार्थों से भिन्न (पृथक्) करता है, उसे तटस्थ लक्षण कहते हैं। जैसे—पृथिवी का गन्धवत्त्व लक्षण **'तटस्थलक्षण'** है। क्योंकि महाप्रलय में समस्त कार्य पदार्थों (जन्य पदार्थों) का नाश हो जाता है। अतएव **नैयायिकों** के मतानुसार महाप्रलयकाल में वह 'गन्धगुण', 'परमाणुरूप पृथिवी' में नहीं रहता। और **नैयायिकों** के मतानुसार ही 'जिस क्षण' में 'द्रव्य' उत्पन्न होता है, 'उस क्षण' में उस उत्पद्यमान द्रव्य में 'रूपादिक' गुण, उत्पन्न नहीं हुआ करते। किन्तु द्वितीय क्षण में वे रूपादिकगुण, उसमें उत्पन्न होते हैं। उत्पत्ति के प्रथम क्षण में तो 'वह द्रव्य' 'निर्गुण' ही उत्पन्न होता है। अर्थात् 'पृथिवी' के उत्पत्तिक्षण में भी वह गन्धगुण उस पृथिवी में नहीं रहता है। एवञ्च 'उपत्ति' और 'महाप्रलयकाल' के मध्यकाल में ही वह 'गन्धगुण', उस पृथिवी में रहता है। अतः 'गन्धगुण' **कादाचित्कं'** है, और वह गन्धगुण, अपने आश्रयभूत 'पृथिवी' को दूसरे जलादिपदार्थों से भिन्न भी करता है। एवञ्च 'कादाचित्क' होने से तथा 'व्यावर्तक' होने से **'गन्धवत्त्व'** लक्षण, उस 'पृथिवी' का **तटस्थलक्षण** ही है।

इसी प्रकार 'तत्पदार्थरूप ब्रह्म' का भी **'सृष्टिस्थितिलयकारणत्वं'**—यह **तटस्थलक्षण** है। 'सृष्टि' का अर्थ—'जगत् की उत्पत्ति', 'स्थिति' का अर्थ—'जगत् का पालन, और 'लय' का अर्थ—'जगत् का प्रलय'। **जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय का कारणत्व**, 'ब्रह्म' में सर्वदा नहीं रहता, किन्तु **'माया'** की अधिष्ठानता का ग्रहण करने पर ही 'वह कारणत्व' 'ब्रह्म' में रहता है। अतः उसमें **'सृष्टिस्थितिलयकारणत्व'** कादाचित्क ही रहता है, और **सांख्य-नैयायिकादि** दार्शनिकों ने जगत् (सृष्टि) का कारण जिन 'प्रधान', ''परमाणु' आदि को माना है, उनसे अपने लक्ष्यरूप 'ब्रह्म' को 'पृथक्' (भिन्न) भी कर रहा है, अतः **व्यावर्तक** भी है। इस रिति से 'कादाचित्क' होने के कारण तथा 'व्यावर्तक' होने के कारण **'सृष्टि-स्थिति-लयकारणत्व'** को 'ब्रह्म' का **तटस्थलक्षण** कहा गया है।

इस 'तटस्थलक्षण' में प्रयुक्त पदों का प्रयोजन यह है—उक्त लक्षण में केवल **'लयकारणत्वम्'** इतना ही कहें तो 'ब्रह्म' में जगत् की केवल 'उपादानकारणता' ही सिद्ध हो पाएगी, क्योंकि जो कार्य, जिस कारण में विलीन होता है, उस कार्य के प्रति उस कारण में केवल 'उपादानकारणता' रहती देखी गई है। जैसे—'घट' का लय, अपने कारणभूत 'मृत्तिका' में होता है। अतः 'मृत्तिका', उस घट का केवल 'उपादानकारण' कही जाती है, उसे 'निमित्त कारण' नहीं माना जाता। 'निमित्तकारण' तो उस उपादानकारणभूत मृत्तिका से भिन्न 'कुलाल' आदि को ही माना जाता है। उसी तरह जगत् के उपादान कारण भूत **'ब्रह्म'** से भिन्न ही किसी को 'जगत्' का निमित्तकारण' मानना होगा। तब **एकमेवाऽद्वितीयं ब्रह्म'**—इस श्रुति से विरोध होगा। उसके निवारणार्थ उक्त लक्षण में **'स्थितिकारणत्व'** का निवेश किया है।

---

१. मध्यम इति पाठान्तरम्।

लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिरिति न्यायात्ताभ्यां तत्पदार्थं निरूपयितुं लक्षणं विभजते—**तत्पदार्थस्येति**। द्वैविध्यमाह—**तटस्थेति**। कादाचित्कत्वे सति व्यावर्त्तकत्वं तटस्थलक्षणम्। यथा पृथिवीलक्षणस्य गन्धवत्त्वस्य, तस्य पृथिव्यां महाप्रलये उत्पत्तिक्षणे चाभावात्। सकलकार्य्यविनाशस्यैव प्रलयत्वात्। न्यायमते उत्पन्नं द्रव्यं क्षणमगुणन्तिष्ठतीति प्रथमक्षणे तैर्द्रव्यस्य निर्गुणत्वस्वीकारात्। तस्मात्कादाचित्कत्वात् पृथिव्या गन्धवत्त्वं तटस्थलक्षणमेवं ब्रह्मणोऽपीत्युदाहरति—**सृष्टीति**। सृष्टिरुत्पत्तिः स्थितिः परिपालनं लयो नाशः। लयकारणत्वमित्युक्ते ब्रह्मण उपादानत्वमेव स्याद् यत्कार्य्यं यत्र लीयते तत्कार्य्यम्प्रति तस्योपादानत्वनियमाद्; निमित्तकारणमन्यदेव स्यात्। तथा चाद्वैतश्रुतिविरोधः स्यात्तदर्थमुक्तम्—**स्थितीति**। स्थितिलयकारणत्वमित्युक्ते उत्पत्तिकारणं दण्डादिवन्निमित्तकारणमन्यदेव स्यात्तथा च पूर्वोक्तदोषः, तद्व्यावृत्त्यर्थमुक्तं—**सृष्टीति**। सृष्टिस्थितिकारणमित्युक्ते कुलालादिवद्ब्रह्मणो निमित्तकारणत्वमेव स्यादुपादानकारणमन्यदेव स्यात्तथा च सिद्धान्तविरोधः, अत उक्तं—**लय इति**। सृष्टिस्थितिलयकारणत्वं तटस्थलक्षणमित्युक्त्या ब्रह्मणोऽभिन्ननिमित्तोपादानत्वं सिध्यति। एव च 'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधादि'ति सिद्धान्तो न विरुध्यते। तथा च लक्षणस्यायं निष्कर्षः—जगत्कर्तृत्वे सति जगदुपादानत्वं तटस्थलक्षणम् ब्रह्मण इति। जगदुपादानत्वं तटस्थलक्षणमित्युक्ते मायायामतिव्याप्तिः। मायाविशिष्टस्य जगदुपादानतया विशेषणीभूतमायाया अप्युपादानत्वावश्यम्भावात्। कार्य्यान्वितस्यैव विशेषणत्वात्। "मायान्तु प्रकृतिं विद्यादि"त्यादिश्रुत्या मायायास्तदुपादानत्वावगमाच्च। तत्रातिव्याप्तिवारणाय जगत्कर्तृत्वे सतीत्युक्तं। लक्षणस्य त्रीणि दूषणानि भवन्त्यव्याप्त्यतिव्याप्त्यसम्भवाश्चेति। लक्ष्यैकदेशे लक्षणस्यावर्त्तनमव्याप्तिः। अलक्ष्ये लक्षणस्य गमनमतिव्याप्तिः। लक्ष्ये क्वाप्यवर्त्तनमसम्भवः। ततश्चातिव्याप्तेरपि दूषणत्वाद्विशेषणमर्थवत्। कर्तृत्वं नाम उपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमत्त्वम्। तच्च चेतनस्यैव सम्भवतीति न मायायामति-

●

यदि उक्त लक्षण में **'स्थितिलयकारणत्वम्'** इतना ही कहें तो जैसे 'घट' की उत्पत्ति के **निमित्तकारण** 'दण्डादिक' होते हैं, वैसे ही **'ब्रह्म'** से भिन्न किसी को 'जगत्' का निमित्तकारण कहना होगा। तब पुनः अद्वैतश्रुति के साथ विरोध होगा। उस विरोध के निवारणार्थ उक्त लक्षण में **'सृष्टिकारणत्वम्'** कहा गया है।

अब लक्षण में यदि **'सृष्टि-स्थितिकारणत्वम्'** इतना ही कहें तो जैसे 'घट' के प्रति 'कुलाल' निमित्त-कारण होता है, वैसे **'ब्रह्म'** को भी 'जगत्' का केवल निमित्त कारण ही कहा जायगा। उसका 'उपादान कारण' कोई अन्य ही होगा। तब तो वेदान्त सिद्धान्त के साथ विरोध होगा। उसके निवारणार्थ उक्त लक्षण में **'लयकारणत्वम्'** कहा गया है। एवञ्च सृष्टि-स्थिति-लय तीनों के कारणत्व की सूचना उक्त 'तटस्थ लक्षण' में सन्निविष्ट रहने से **'ब्रह्म'** को जगत् (सृष्टि) का **'अभिन्न-निमित्तोपादानकारण'** कहा गया है। एवं 'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्'—इस सिद्धान्त के साथ कोई विरोध भी नहीं है।

निष्कर्ष यह है कि एक ही ब्रह्म, 'जगत्' का उपदानकारण तथा निमित्तकारण दोनों ही है। अतः ब्रह्म का तटस्थ-लक्षण यह हुआ कि 'जगत्कर्तृत्वे सति जगदुपादानत्वम्'—अर्थात् जगत्कर्तृत्वविशिष्ट जगदुपादानकारणता का होना ही **'ब्रह्म'** का तटस्थ लक्षण है।

अब यदि 'जगदुपादानत्वं' इतना ही 'ब्रह्म' का तटस्थलक्षण करें तो **'माया'** में उस लक्षण की **अतिव्याप्ति** होगी। क्योंकि **'शुद्ध ब्रह्म'** में तो जगत् की 'उपादानता' है नहीं, अपितु **'मायाविशिष्ट ब्रह्म'** में ही जगत् की उपादानकारणता है। **'विशिष्ट'** में रहने वाला धर्म **'विशेषण'** में भी अवश्य रहता है। इस नियम के अनुसार **'ब्रह्म'** की विशेषणीभूत **'माया'** में भी वह जगदुपादानकारणता अवश्य रहेगी। **'माया'** में 'जगदुपादानकारणत्व' का समर्थन **'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्'** कह कर श्रुति ने भी किया है। अतः उस अतिव्याप्ति दोष के निवारणार्थ उक्त लक्षण में **'जगत्कर्तृत्वे सति'**—यह सत्यन्त पद रखा गया है। **'कर्ता'** उसे कहते हैं, जिसे कार्य के 'उपादान' का अपरोक्षज्ञान (प्रत्यक्ष) हो, तथा कार्य के करने की 'इच्छा' हो, और इच्छाजन्य प्रयत्नरूप 'कृति'—ये तीनों (अपरोक्षज्ञान, इच्छा और कृति) जिसमें रहते हैं, उसे **'कर्ता'** कहते हैं। जैसे कुलाल आदि पुरुषों में ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न—ये तीनों रहते हैं, उस कारण वे कुलालादि 'घटा'दि कार्यों के 'कर्ता' कहे जाते है। इस प्रकार के कर्तृत्व का होना 'चेतन' में ही सम्भव हो सकता है। जडभूत 'माया' में उसका होना सम्भव नहीं है। अतः **'जगत्कर्तृत्व'** पद के रखने से **'माया'** में उक्त लक्षण की 'अतिव्याप्ति' नहीं होती।

अब उक्त लक्षणों में यदि केवल **'जगत्कर्तृत्व'** पद ही रखें तो **नैयायिकों** ने 'ईश्वर' को जगत् का केवल 'कर्ता' के रूप में माना है, उस ईश्वर में उक्त लक्षण की **'अतिव्याप्ति'** होगी। उस अतिव्याप्ति के निवारणार्थ उक्त लक्षण में **'जगदुपादानत्वम्'** पद रखा गया है।

व्याप्तिः। तावत्युक्तनैयायिकाभिमततटस्थेश्वरेऽतिव्याप्तिस्तस्य वेदान्तासंमतत्वेनाऽलक्ष्यत्वात्तद्व्यावृत्त्यर्थमुत्तरदलम्। परमाणवो जगत्समवायिकारणमीश्वरो जगत्कर्तेति जगदुपादानजगत्कर्त्रोर्नैयायिकैर्भेदाभ्युपगमादस्माभिरभिन्ननिमित्तोपादानत्वाङ्गीकारान्नातिव्याप्तिः॥

नन्वेकस्योपादानत्वं कर्तृत्वं च विरुद्धं, तथा लकेऽदर्शनात्। नहि घटकर्त्ता कुलालो घटोपादानम्। घटोपादानभूतो वा मृत्पिण्डो न वा घटकर्त्ता। किन्तु मृत्पिण्ड उपादानं,; कुलालः कर्त्ता। एवमीश्वरोऽपि जगकर्त्ता तदन्यदुपादानम्। अन्यथा दृष्टविरोधापत्तेः, दृष्टपूर्वकत्वाददृष्टकल्पनायाः। ननु वयन्न कल्पयामः, "तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेये" त्यादि-श्रुतिरेव विरोधयतीति चेन्न। दृष्टविरोधे श्रुतेरर्थान्तरसम्भवात्। तस्मादभिन्ननिमित्तोपादानत्वमनुपपन्नमिति॥

अत्र ब्रूमः—"तदैक्षत बहु स्यां" "सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेये" त्यादिश्रुत्याबहुभवनकामयितृत्वश्रवणेन चेतनस्य ब्रह्मण एवोपादानत्वं जगत्कर्तृत्वं चावगम्यते। न च तद्बाधितुं युक्तम्। उपक्रमोपसंहारप्रभृतितात्पर्य्यलिङ्गैरद्वितीये ब्रह्मणि वेदान्ततात्पर्य्ये निर्णीते सामान्यतो दृष्टानुमानेन श्रुत्यर्थबाधायोगात्। श्रुतिविरोधे प्रमाणान्तराणामाभासत्वात्॥

●

नैयायिकों ने 'परमाणुओं' को तो जगत् का उपादान-कारण माना है और 'ईश्वर' को जगत् का कर्ता माना है। इस प्रकार नैयायिकों ने जगत् के उपादान तथा उसके कर्त्ता दोनों में भेद माना है। किन्तु **शाङ्करवेदान्तियों** ने तो '**ब्रह्म**' को जगत् का '**अभिन्ननिमित्तोपादानकारण**' माना है। अतः '**जगदुपादानत्व**' पद के रखने से नैयायिकाभिमत 'ईश्वर' में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी।

(पू०) **शङ्का—'ब्रह्म'** तो एक ही है, अतः उसी में '**कर्तृत्व**' और '**उपादानत्व**' दोनों का होना सम्भव नहीं है, क्योंकि लोकव्यवहार में ऐसा दृष्टिगोचर नहीं होता। जैसे 'घट' का कर्ता जो 'कुलाल' है, वही 'घट' का 'उपादान' नहीं कहलाता, तथा 'घट' का उपादानकारण जो 'मृत्पिण्ड' है, वही 'घट' का कर्ता नहीं कहलाता। 'मृत्पिण्ड' तो 'घट' का 'उपादानकारण' ही होता है, और 'कुलाल', उस घट का कर्ता ही होता है। इस प्रकार 'घटादिकार्यों' में उपादानकारण और निमित्तकारण, भिन्न-भिन्न ही दिखाई देते हैं। 'अदृष्ट अर्थ' की कल्पना, 'दृष्ट अर्थ के अनुसार ही की जाती है। दृष्ट अर्थ के विरुद्ध अदृष्ट अर्थ की कल्पना नहीं किया करते।

एक ही 'ब्रह्म' को जगत् का उपादान तथा कर्ता—कहना—भी अदृष्ट अर्थ की कल्पना है, वह दृष्ट अर्थ के विना कैसे संभव होगी? अतः दृष्ट विरोध के कारण एक ही 'ब्रह्म' में 'जगदुपादानत्व' तथा 'जगत्कर्तृत्व' दोनों मानकर उसे सृष्टि (जगत्) का '**अभिन्ननिमित्तोपादानकारण**' कहना नितान्त असंगत है। '**ईश्वर**' को तो जगत् (सृष्टि) का कर्ता मानना चाहिये और ईश्वर से भिन्न '**परमाणु**' आदि को 'जगत्' का '**उपादानकारण**' मानना चाहिये। ऐसा मानने पर 'दृष्टविरोध' भी नहीं होगा, क्योंकि घटादि कार्यों में उसके 'उपादान' और 'कर्ता' का भेद, सर्वलोक प्रसिद्ध है।

किञ्च **अनुमानप्रमाण** से भी उक्त अर्थ को बताया जा सकता है—'**इदं जगत् भिन्ननिमित्तोपादानकं कार्यत्वात् घटादिवत्**'—यह जगत्, भिन्न-भिन्न निमित्तकारण और उपादानकारण से युक्त है, क्योंकि वह (जगत्) कार्य है, 'घट' आदि कार्यों के समान—अतः अनुमान प्रमाण से भी जगत् का निमित्त कारण और उपादानकारण भिन्न-भिन्न सिद्ध हो रहे हैं।

इस पर **शाङ्करवेदान्ती** यदि यह कहे कि 'ब्रह्म' में 'जगत्' की **अभिन्ननिमित्तोपादानकारणता** की कल्पना हम नहीं कर रहे हैं, अपितु '**तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय**'—यह श्रुति ही उसको बता रही है।

किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'दृष्टार्थ के विरुद्ध, 'श्रुति' का अर्थ करना उचित नहीं है। उसका अन्य अर्थ भी हो सकता है। अतः '**ब्रह्म**' में सृष्टि की **अभिन्ननिमित्तोपादानता** को बताना अत्यन्त अनुचित है।

(सि०) समा०—'तदैक्षत बहुस्यां' 'सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेय' अर्थात् वह परमेश्वर सङ्कल्प करने लगा कि मैं अनेक रूप में हो जाऊं, और मैं अनेक रूप से उत्पन्न होऊं—यह कामना करने लगा—यह श्रुति **एक ही ब्रह्म** (परमेश्वर) की 'अनेक रूप होने की कामना' को व्यक्त कर रही है। इस प्रकार कामना करना 'चेतन' का ही धर्म हो सकता है, जड का नहीं। एवञ्च उक्त श्रुति के बल पर '**चेतन ब्रह्म**' में ही जगदुपादानता तथा **कर्तृता** का निश्चय होता है। तथा तात्पर्य समझने में निश्चायक जो 'उपक्रम-उपसंहारादि षड् लिङ्ग' हैं, उनसे भी समस्त वेदान्त वाक्यों का तात्पर्य '**अद्वितीय ब्रह्म**' में ही निश्चित हो रहा है।

"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ती"ति श्रुतेः। तदुक्तं भगवता सूत्रकारेण "जन्माद्यस्य यत" इति ॥

●

यदपि लोकेऽदर्शनादुपादाननिमित्तयोर्भेदोऽभ्युपेय इति। तदसत्, ऊर्णनाभ्यादेरभिन्ननिमित्तोपादानत्वस्य दृष्टत्वात्। किञ्च यथा नैयायिकादिभिर्जीवात्मनो ज्ञानादिकं प्रत्युपादानत्वं निमित्तत्वञ्चाभ्युपगम्यते तथा ब्रह्मणस्तदुपपत्तेर्न कोऽपि दोषः। तस्मादभिन्ननिमित्तोपादानत्वम् ब्रह्मण इति सिद्धम् ॥३॥

ब्रह्मणः सृष्ट्यादिकारणत्वे श्रुतिमुदाहरति—यतो वेति। तत्र सूत्रसम्मतिमाह—तदुक्तमिति।

'उत्पत्तिं च विनाशञ्च भूतानामागतिं गतिम्। वेत्ति विद्यामविद्याञ्च स वाच्यो भगवानिति ॥'

●

अतः पूर्वोक्त अनुमान से उक्त श्रुति के अर्थ का ज्ञान नहीं हो पाता, प्रत्युत उक्त श्रुति के विरुद्ध होने के कारण प्रत्यक्ष और अनुमान आदि प्रमाण ही 'आभासरूप' हो गये हैं।

पूर्व पक्षी ने जो कहा था कि लोक व्यवहार में कोई भी 'कारण' अपने कार्य का अभिन्ननिमित्तोपादान' होता दृष्टिगोचर नहीं होता है, उस कारण 'जगत्' (सृष्टि) के उपादान कारण और निमित्त कारण में भेद का स्वीकार अवश्य ही करना चाहिये।

पूर्व पक्षी का उपर्युक्त कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि लोक में भी ऊर्णनाभि (मकडी) नामक प्राणि में उसके अपने द्वारा निर्माण किये जाने वाले 'तन्तु' कार्य के प्रति 'अभिन्न निमित्तोपादन कारणता' रहती देखी जाती है। अर्थात् वह ऊर्णनाभि (मकडी) नामक प्राणि, 'तन्तु' रूप कार्य के प्रति स्वयं ही 'उपादान कारण' रहता है, तथा स्वयं ही उसका कर्ता बन कर 'निमित्त कारण भी हो जाता है।

जैसे नैयायिकों के मत में 'घट' और 'ईश्वर'—दोनों का जो 'संयोग सम्बन्ध' है, वह 'समवाय सम्बन्ध' से 'घट' और 'ईश्वर' दोनों में रहता है। उस कारण 'ईश्वर', उस संयोग के प्रति 'उपादान कारण' है, और वही ईश्वर 'कार्यमात्र' के प्रति 'निमित्तकारण' भी रहता है। अतः उस 'संयोगरूपकार्य' के प्रति वह (ईश्वर) निमित्तकारण भी माना जाता है। ऐसे ही जीवात्मा में 'ज्ञान' के प्रति उपादानत्व और निमित्तकारणत्व दोनों ही माने जाते हैं। एवञ्च नैयायिकों ने जिस प्रकार 'संयोगरूपकार्य' के प्रति 'ईश्वर' को 'अभिन्ननिमित्तोपादनकारणता' को स्वीकार किया है, वैसे ही सिद्धान्ती भी 'ब्रह्म' को 'जगत्' (सृष्टि) का 'अभिन्ननिमित्तोपादानकारण' मानता है। अतः पूर्वोक्त 'दृष्टविरोध' भी नहीं हो रहा है। एवञ्च 'ब्रह्म', ही 'जगत्' (सृष्टि) का 'अभिन्ननिमित्तोपादानकारण' होने से वही (सृष्टिस्थितिलयकारणत्वम्), 'ब्रह्म' का तटस्थलक्षण हो सकता है, यह निश्चय किया गया ॥३॥

'निश्चय ही जिससे ये भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न हो चुक कर जिससे जीवित रहते हैं, विनाशकाल में जिसमें जाते हैं, जिससे तादात्म्य प्राप्त करते हैं' इस श्रुतिवचन से उक्त तटस्थ लक्षण सिद्ध है। ब्रह्मसूत्रों के रचयिता भगवान् बादरायण ने कहा है 'इसका जन्मादि जिससे होता है (वह ब्रह्म है)'।

सत्य ज्ञान अनन्त आनन्द स्वरुपलक्षण हैं। 'सत्य ज्ञान अनंत ब्रह्म है', आनन्द ब्रह्म है यह जाना' इत्यादि श्रुतिवचनों से यह निर्णीत होता है।

शङ्का—'ब्रह्म' का उपर्युक्त 'तटस्थलक्षण' तभी सम्भव हो सकता है, जब किसी 'प्रमाण' से 'ब्रह्म' में जगत् (सृष्टि) की 'कारणता' सिद्ध होती हो। उसमें 'कारणता' की सिद्धि हुए बिना, उक्त लक्षण की सम्भावना नहीं की जा सकती।

समा०—'ब्रह्म' में 'जगत्' की उत्पत्ति, स्थिति, और लय की कारणता को साक्षात् श्रुति बता रही है—'यतो वेति'। इस सन्दर्भ में सूत्रकार की सम्मति को भी बता रहे हैं—'तदुक्तमिति'।

'प्राणियों' की उत्पत्ति और विनाश, तथा उनका आगमन-गमन, और विद्या-अविद्या को जो जानता है, वह 'भगवान्' कहने के योग्य है।

सत्यज्ञानानन्तानन्दाः[1] स्वरूपलक्षणम्, "सत्यञ्ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानादि"त्यादि श्रुतेः ॥४॥

श्लोकोक्तलक्षणो भगवान् तेन बह्वर्थसूचनात् सूत्रम्। यथाहुः

'लघूनि सूचितार्थानि लघ्वक्षरपदानि च। सर्वतः सारभूतानि सूत्राण्याहुर्मनीषिणः ॥'

इति। सूत्रं करोतीति सूत्रकारस्तेन बादरायणाचार्येणेति यावत्। समन्वयलक्षणे स्थितमधिकरणमनुक्रमते। तल्लक्षणञ्च—

'विषयोऽविशयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरम्। प्रयोजनञ्च पञ्चैते प्राञ्चोऽधिकरणं विदुः ॥'

इति वदन्ति ॥ 'यतो वा इमानी'त्यादिवाक्यं विषयः, ब्रह्मणो लक्षणं समर्थयति न वेति संशयः। न समर्थयतीति पूर्वपक्षः तथाहि-जगतोऽनित्याशुचिदुःखजडपरिच्छिन्नत्वेन ब्रह्मणस्तद्विलक्षणत्वेन तत्कारणत्वायोगान्न तटस्थलक्षणं सम्भवतीति। तथा ब्रह्मणस्स्वरूपलक्षणञ्च न सम्भवति, नित्यशुद्धत्वादीनामप्रसिद्धत्वादिति। वास्तवकारणत्वासम्भवेऽपि कल्पितसर्पादेः रज्वादेरिवाध्यस्तजगज्जन्मादिकारणत्वं मायिकं ब्रह्मणो न विरुध्यत इत्युत्तरं भवति। तस्माल्लक्षणं सम्भवतीतिसिद्धान्तः ॥ अस्याधिकरणस्य लक्षणविचारात्मकत्वेन पूर्वाधिकरणपूर्वपक्षसिद्धान्तयोर्यत्प्रयोजनं तदेव द्रष्टव्यम्। तदुक्तम्—

'आक्षेपे चापवादे च प्राप्त्यां लक्षणकर्म्मणि। प्रयोजनं न वक्तव्यं यत्र कृत्वा प्रवर्त्तते ॥'

इति।

जन्मादिसूत्रस्यायमर्थः—अस्य नामरूपाभ्यां व्याकृतस्याकाशादिप्रपञ्चस्य जन्मादिर्यतः तत् तथा जन्मस्थितिभङ्गं यतः सर्वज्ञात्सर्वशक्तेः कारणाद्भवति तद् ब्रह्मेत्यनुषङ्गेन योजनया सृष्टिस्थितिलयकारणत्वं ब्रह्मणस्तटस्थलक्षणमिति फलितोऽर्थः ॥

●

उपर्युक्त लक्षण जिसमें हो उसे 'भगवान्' शब्द से कहा जाता है। अल्प शब्दों से बहुत सारे (विपुल) अर्थ की सूचना दी जाने के कारण 'स्वल्प शब्द', सूत्र कहलाते हैं। कहा भी है—

जो सूत्र की रचना करता है, उसे सूत्रकार कहते हैं, उस सूत्रकार भगवान् बादरायणाचार्य के द्वारा 'समन्वयसूत्र' पर रचे गये 'अधिकरण' को भी प्रदर्शित किया जा रहा है।

अधिकरण की 'परिभाषा' यह है—

(१) विचारणीय विषय, (२) संशय, (३) पूर्वपक्ष, (४) उत्तरपक्ष, (५) प्रयोजन—इस पाँचों के समुदाय को प्राचीन विद्वान् 'अधिकरण' कहते हैं। जैसे—'यतो वा इमानि' इत्यादिवाक्य—'विषय' है। 'वह 'ब्रह्म' के लक्षण का समर्थन करता है, या नहीं' ?—यह 'संशय' (विशय) है। 'समर्थन नहीं करता है'—यह 'पूर्वपक्ष' है। तथाहि—'जगत्', अनित्य है, अशुचि है, 'दुःखमय' है तथा 'जड' है, किन्तु 'ब्रह्म', उससे 'विलक्षण' है। अतः वह, उसका (जगत् का) 'कारण' नहीं हो सकता। इसलिये 'यतो वा'—यह उसका (ब्रह्मका) 'तटस्थलक्षण' नहीं हो सकता। तथा 'ब्रह्म' का स्वरूपलक्षण भी करना संभव नहीं है। क्योंकि उसके 'नित्यत्व-शुद्धत्व आदि धर्म', प्रसिद्ध नहीं हैं, अर्थात् अप्रसिद्ध हैं। इस कारण उसमें (ब्रह्म में) वास्तविक 'कारणता' का संभव न रहने पर भी जैसे 'कल्पित सर्प' का कारण 'रज्जु' आदि होती है, उसी तरह 'अध्यस्त जगत्' के जन्म आदि का कारण 'मायिक ब्रह्म' के होने में कोई विरोध नहीं है—यह 'उत्तरपक्ष' है। तस्मात्—'ब्रह्म' का लक्षण करना संभव हो सकता है, असम्भव नहीं है,—यह सिद्धान्त है। यह 'अधिकरण'—'लक्षणविचारात्मक' होने से पूर्वाधिकरण के पूर्वपक्ष और सिद्धान्त का जो 'प्रयोजन' था, उसी को यहाँ भी 'प्रयोजन' के रूप में समझना चाहिये।

प्रकृत 'जन्मादिसूत्र' (जन्माद्यस्य यतः) का यह अर्थ हुआ कि नाम-रूप के द्वारा व्याकृत हुए इस 'आकाशादि प्रपञ्च' का 'जन्म आदि', जिससे होता है, वह, ब्रह्म है। अर्थात् 'जन्म-स्थिति-भङ्ग', जिस 'सर्वज्ञ, सर्वशक्तियुक्त कारण' से होता है, वह 'ब्रह्म' है, ऐसा अनुषङ्ग करने से 'सृष्टि-स्थिति-लयकारणत्वम्' यह तटस्थलक्षण 'ब्रह्म' का किया जा सकता है। 'जगत्' की उत्पत्ति, स्थिति और लय का कारण 'ब्रह्म' ही है, यह 'श्रुतिप्रमाण' से सिद्ध हो रहा है। उसी तरह बादरायण-व्यास के सूत्र से भी सिद्ध होता है कि—'ब्रह्म' ही 'सृष्टि' को उत्पत्यादि का कारण है। भगवती श्रुति, बता रही है कि जिस 'ब्रह्म' से ये 'समस्तभूत' उत्पन्न होते हैं, और उत्पन्न होने के बाद वे 'भूत' (प्राणिवर्ग) जिस 'ब्रह्म' के कारण ही जीवित रहते हैं, और मृत्यु को प्राप्त होने पर, वे 'समस्त भूत', जिस ब्रह्म में 'विलीन' हो जाते हैं, वही 'ब्रह्म' है।

यहाँ तक 'ब्रह्म' का तटस्थलक्षण बताया है। किन्तु 'तटस्थलक्षण' का ज्ञान होने पर भी जब तक ब्रह्म के

---

१. 'अनन्त' इति सीरीजपुस्तके नास्ति।

स्वरूपलक्षणापरिज्ञातेन तटस्थलक्षणमात्रेण ब्रह्म ज्ञातुमशक्यमिति स्वरूपलक्षणमाह—सत्यमिति। स्वरूपं सद्व्यावर्त्तकं स्वरूपलक्षणं, यथा पृथिव्याः पृथिवीत्वम्, जातिव्यक्त्योस्तादात्म्याभ्युपगमाद् पृथिवीस्वरूपं सत् पृथिवीत्वं पृथिवीमितरेभ्यो व्यावर्त्तयत्यतः पृथिव्याः पृथिवीत्वं स्वरूपलक्षणमेवं सत्यज्ञानानन्दादयः ब्रह्मणः॥

ननु लक्ष्यलक्षणभावस्य भेदगर्भत्वात् ब्रह्मणोऽखण्डैकरसत्वेन कथं सत्यादेर्लक्षणमिति चेन्नैष दोषः। काल्पनिकभेदाभ्युपगमेन तदुपपत्तेः। तदुक्तम्—"आनन्दो विषयानुभवो नित्यत्वञ्चेति सन्ति धर्माः ब्रह्मणोऽपृथक्त्वेऽपि पृथगिवावभासन्त" इति॥

नचापृथक्त्वे तेषां पृथक्त्वावभासः किं प्रयुक्त इति वाच्यम्। अन्तःकरणतद्धर्मोपाधिवशात् पृथक्त्वावभासोपपत्तेः। तथाहि—बाधाभावविशिष्टं सत्यं, वृत्त्यवच्छिन्नं चैतन्यं ज्ञानं, प्रीत्यादिवृत्त्यवच्छिन्न आनन्दः। यद्वा व्यञ्जकवृत्त्युपहितं चैतन्यं ज्ञानम्, अनुकूलवृत्त्युपहितमानन्दः ततस्तेषां ब्रह्मणश्च वास्तवभेदाभावेऽप्यौपाधिकभेदसत्त्वाद्लक्ष्यलक्षणभाव उपपद्यते।

●

'स्वरूपलक्षण' का ज्ञान न हो तब तक 'ब्रह्म' के 'स्वरूप' का ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिये 'तत्' पदार्थरूप 'ब्रह्म का अब स्वरूपलक्षण बता रहे हैं। जो 'लक्षण', अपने 'लक्ष्य' के स्वरूप को बताते हुए उसे (लक्ष्य को) 'अन्य पदार्थों से पृथक् करता हो उसे स्वरूपलक्षण कहते हैं। जैसे—'पृथिवी' का 'स्वरूपलक्षण'—'पृथिवीत्व' है। 'जाति' और 'व्यक्ति' दोनों का 'तादात्म्य' माना जाता है। अतः 'पृथिवीत्व' जाति का 'पृथिवी' व्यक्ति के साथ 'तादात्म्य' है। इसलिये 'पृथिवीत्व' जाति, उस 'पृथिवी' का स्वरूप ही है, और वह, उस 'पृथिवी' को 'जलादि' अन्य (इतर) पदार्थों से 'पृथक्' कराती है। इसलिये 'पृथिवीत्व' जाति, उस 'पृथिवी' का स्वरूपलक्षण है।

उसी तरह 'सत्य आदि तीनों' उस ब्रह्म के स्वरूप हैं, और उस 'ब्रह्म' को असत्, जड, दुःखमय 'जगत्' से भिन्न कराते हैं। अतः 'सत्यादिकों' में 'ब्रह्म' की 'स्वरूप लक्षणता' उपपन्न होती है। एवञ्च 'सत्य-ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'—यह 'ब्रह्म' का 'स्वरूप लक्षण' है।

शंका—'सत्यादि तीनों' को यदि 'ब्रह्म' का स्वरूप कहें तो उन्हें 'ब्रह्म' का लक्षण नहीं कहा जा सकेगा। तथा 'ब्रह्म' भी उस 'सत्यादि लक्षण' का 'लक्ष्य' नहीं हो सकेगा। क्योंकि वह 'लक्ष्य-लक्षणभाव', 'भेद' के अधीन होता है। 'अभेद' में 'लक्ष्य-लक्षणभाव' नहीं हुआ करता। यदि कदाचित् 'अभेद' में भी 'लक्ष्य-लक्षणभाव' हो तो 'पृथिवी' को भी 'पृथिवी' का लक्षण समझ लेना होगा—वैसे ही 'ब्रह्म' भी 'ब्रह्म' का लक्षण हो जायगा।

समा०—'सत्यादिक', यद्यपि वस्तुतः 'ब्रह्म' का स्वरूप ही है, तथापि उन 'सत्यादिकों' में 'ब्रह्म' के 'कल्पित भेद' को हमने माना है। उस 'कल्पित भेद' को मानकर हो 'ब्रह्म' 'सत्यादिक' दोनों का 'लक्ष्य-लक्षणभाव' उपपन्न हो जाता है। हमारे, उक्त कथन में वृद्ध पुरुषों की सम्मति भी है क्योंकि उन्होंने बताया है कि आनन्द, ज्ञान, नित्यता—ये तीनों धर्म, 'ब्रह्म' के हैं। ये 'तीनों धर्म', वस्तुतः 'ब्रह्म' से अपृथक् हैं, फिर भी 'पृथक्' से प्रतीत होते हैं।

शंका—'सत्यादि धर्म' यदि वस्तुतः 'ब्रह्म' से अपृथक् ही हैं, तो 'ब्रह्म' से उनको 'पृथक् प्रतीति' क्यों होती है?

समा०—'अन्तःकरण' तथा उसके 'धर्म रूप उपाधि' के कारण उन 'सत्यादि धर्मों को 'ब्रह्म' से पृथक् प्रतीति का होना संभव है, जो इस प्रकार है—

'सत्य' पद का वाच्यार्थ—'बाधाभाव विशिष्ट चैतन्य' है, और 'ज्ञान' पद का वाच्यार्थ—'वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य' है, और 'आनन्द' पद का वाच्यार्थ—'प्रीत्यादिवृत्त्यच्छिन्नचैतन्य' है। अथवा 'ज्ञान' का अर्थ है—'व्यञ्जकवृत्त्युपहित चैतन्य', और 'आनन्द' का अर्थ है—अनुकूलवृत्त्युपहित चैतन्य। उन 'सत्यादिकों' या 'चैतन्यों' में और 'ब्रह्म' में वस्तुतः भेद न रहने पर भी उपाधिकृता (औपाधिक) भेद के रहने से 'लक्ष्य-लक्षणभाव' उपपन्न हो जाता है। 'सत्यादि' पद, 'भागत्यागलक्षणा' से 'अखण्ड ब्रह्म' को बोधित करते हैं। उक्त लक्षणवाक्य से 'सत्यादिकों' का और 'ब्रह्म' का 'गुण-गुणि भाव' नहीं समझना चाहिये। क्योंकि 'सत्यादि' पदों के वाच्य अर्थ, भिन्न-भिन्न हैं। फिर भी उन सत्यादि पदों में पर्यायता नहीं समझनी चाहिये।

अब उस लक्षण वाक्य में प्रयुक्त 'सत्यादि पदों' के प्रयोजन को बताते हैं —

'ब्रह्म' के उक्त 'स्वरूप लक्षण' में 'सत्यं ब्रह्म' इतना ही यदि कहें तो 'सत्ता' जाति में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति

एवं च सत्यं ब्रह्म इत्युक्ते नैयायिकाभिमतसत्तासामान्येऽतिव्याप्तिर्लक्ष्यस्य ब्रह्मणो जडत्वप्रसङ्गश्च। अत उक्तं ज्ञानमिति। तावत्युक्ते पराभिमतात्मसमवेतज्ञानेऽतिव्याप्तिर्लक्ष्यब्रह्मणोऽनित्यत्वापुरुषार्थत्वप्रसङ्गश्च तन्निरसनायोक्तमानन्द इति। नचैवमप्यपुरुषार्थत्वाभावे ब्रह्मणोऽनित्यत्वं दुष्परिहरमिति वाच्यम्, सत्यमिति विशेषणेन तत्परिहारसम्भवात्। "आनन्दोब्रह्म" इत्युक्ते विषयसुखेऽतिव्याप्तिर्लक्ष्यस्य जडत्वप्रसङ्गश्च, तन्निवारणाय ज्ञानमित्युक्तम्। लक्ष्यस्यानित्यत्वपरिहाराय सत्यमित्युक्तम् ॥

ननु सत्यज्ञानानन्दादिशब्दानां भिन्नार्थत्वेनानन्दादिगुणकं ब्रह्मैव लक्षणवाक्येन प्रतिपाद्यते ततश्च कथमखण्डैकरसत्वं ब्रह्मण इति चेन्नैवं। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' 'विज्ञानमानन्दो ब्रह्मे'त्येवमादिवाक्येषु सत्यज्ञानानन्दादिशब्दानां भिन्नार्थत्वेनानन्दादिशब्दानां सामानाधिकरण्येनाखण्डैकरसानन्दब्रह्मबोधकतया गुणगुणिभावकल्पानायां मानाभावात्।

नच तेषामेकार्थप्रतिपादकत्वे पर्य्यायता स्यादिति वाच्यम् वाच्यभेदस्योक्तत्वात् ॥

नन्वेवमपि लोके वाक्यस्य संसर्गविशिष्टान्यतरप्रतिपादकत्वदर्शनेन कथमखण्डव्यक्तिप्रतिपादकत्वमिति चेन्न। घटः

●

हो जाएगी क्योंकि नैयायिकों ने 'सत्ता' जाति मानी है, जो 'द्रव्य, गुण और कर्म' पर रहती है। उस अतिव्याप्ति दोष के अतिरिक्त लक्ष्य जो 'ब्रह्म' है, उसमें 'जडत्व' प्राप्त होगा। उस 'दोष' के निवारणार्थ उक्त 'लक्षण' में 'ज्ञान' पद का निवेश किया गया है। तब उस 'सत्ता जाति' में 'ज्ञानरूपता' के न रहने से 'सत्ताजाति' में 'उक्त लक्षण' की अतिव्याप्ति नहीं होगी। और 'ब्रह्म' में 'जडत्व' की भी सिद्धि नहीं होगी। अब यदि 'ज्ञानं ब्रह्म' इतना ही यदि कहें तो नैयायिकों के द्वारा स्वीकृत 'आत्मा' के 'ज्ञान' रूप 'गुण' में 'उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। और उस 'लक्ष्य ब्रह्म में अनित्यता तथा 'अपुरुषार्थता' की प्राप्ति होगी। इस 'दोष' के—निवारणार्थ उक्त लक्षण में 'आनन्द' पद का—निवेश किया गया हैं तब 'ज्ञान' रूप 'गुण' में आनन्दरूपता के न होने से नैयायिकाभिमत 'ज्ञान रूप' गुण में 'उक्त लक्षण' की अतिव्याप्ति नहीं हो सकेगी। तथा 'लक्ष्य ब्रह्म' में अपुरुषार्थकता की भी प्राप्ति नहीं होगी।

शङ्का—'अपुरुषार्थता' की प्राप्ति न होने पर भी 'ब्रह्म' में अनित्यता प्राप्ति का परिहार करना कठिन है।

समा०— यह 'शंका' ठीक नहीं है, क्योंकि 'सत्यम्' इस विशेषण से 'उक्त शंका परिहार हो जाता है।

अब यदि 'आनन्दो ब्रह्म' इतना ही लक्षण करें तो 'विषयजन्य सुख' में 'उक्त लक्षण' की अतिव्याप्ति होगी, और 'लक्ष्य ब्रह्म' में 'जडत्व' भी प्राप्त होगा। इस दोष के निवारणार्थ उक्त लक्षण में 'ज्ञान' पद का निवेश किया गया है। उस कारण 'विषयजन्य सुख' में 'ज्ञानरूपता' के न होने से 'उक्त लक्षण' की अतिव्याप्ति नहीं हो सकेगी। तथा 'लक्ष्य ब्रह्म' में 'जडत्व' भी नहीं हो पायेगा। उस 'लक्ष्य ब्रह्म' की अनित्यता के निवारणार्थ 'लक्षण' में 'सत्य' पद का निवेश किया गया है। अतः लक्षण में प्रयुक्त हुए 'सत्य, ज्ञान, आनन्द' तीनों पद, सप्रयोजन (सार्थक) हैं। इसलिए 'सत्य-ज्ञान-आनन्द'—ये तीनों धर्म मिलकर 'ब्रह्म' के स्वरूपलक्षण को बता रहे हैं।

शङ्का—उक्त 'सत्यादिकों' में 'ब्रह्म' की स्वरूपलक्षणता तभी बन सकती है, जब 'ब्रह्म' की 'सत्यादिरूपता' किसी 'प्रमाण' से सिद्ध होती हो, अन्यथा नहीं।

समा०—'ब्रह्म' की 'सच्चिदानन्दरूपता' को तो भगवती श्रुतिमाता स्वयं ही कह रही है। अतः वही प्रमाण है। उसी तरह भगवान् बादरायण व्यास का सूत्र भी ब्रह्म की 'सच्चिदानन्दरूपता' में प्रमाण है। भगवती श्रुतिमाता कह रही है—

'ब्रह्म'—सत्यरूप है, ज्ञानरूप है, तथा अनन्तरूप है, और आनन्दरूप है।

शङ्का—'सत्य, ज्ञान आनन्द'—ये सभी शब्द भिन्नार्थक रहने से 'आनन्दादि गुण विशिष्ट'—'ब्रह्म' का प्रतिपादन, लक्षणवाक्य से किया जा रहा है, तब 'ब्रह्म' की 'अखण्डैकरसता' का बोधन कैसे हो पाएगा ?

समा० 'सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म, 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्, 'विज्ञानमानन्दो ब्रह्म—इत्यादि वाक्यों में 'सत्य, ज्ञान, आनन्दादि शब्द, भिन्नार्थक रहने पर भी उनका सामानाधिकरण्य, दृष्टिगोचर होने से वे 'अखण्डैकरसानन्द ब्रह्म का ही का बोधन करते हैं। अतः 'गुण-गुणिभाव' की कल्पना करने में कोई प्रमाण नहीं है।

शंका—फिर भी लोक व्यवहार में देखा जाता है, कि 'वाक्य' में संसर्गविशिष्टान्यतरप्रतिपादकता हुआ करती है, तब उसे अखण्डव्यक्तिप्रतिपादकत्व कैसे कह सकते हैं ?

उक्तञ्च, 'आनन्दादयः प्रधानस्ये'ति तत्पदार्थः[1] ॥५॥

सन्, द्रव्यं "पृथिवी, प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र इत्यादिवाक्यानां लक्षणयाऽखण्डव्यक्तिप्रतिपादकत्वदर्शनेन प्रकृतेऽपि तत्सम्भवात्। विशिष्टे शक्तानां सत्यादिपदानां अखण्डचैतन्ये भागलक्षणया सत्यादिपदान्यखण्डैकरसानन्दव्यक्तिं बोधयन्ति।

नचैकेन पदेन तद्बोधसम्भवे पदान्तरवैयर्थ्यमिति वाच्यम्। पदस्य स्मारकत्वेन वाक्यस्यैवानुभावकत्वात्; प्रयोजनान्तरस्यापि प्रतिपादितत्वाच्च। अन्यथा ब्रह्मणोऽद्वितीयत्वं न सिध्येत्। इदमेव वाक्यस्याखण्डार्थत्वम्। तदुक्तम्—

'संसर्गासङ्गिसम्यग्धीहेतुता या गिरामियम्। उक्ताखण्डार्थता, यद्वा तत्प्रातिपदिकार्थता ॥' इति।

प्रातिपदिकार्थमात्रपरत्वमखण्डार्थत्वमिति चतुर्थपादार्थः। तस्मात्सत्यज्ञानानन्दाः स्वरूपलक्षणं ब्रह्मण इत्यनवद्यम् ॥

तत्र श्रुतिमुदाहरति—**सत्यमित्यादिना**। अन्तः परिच्छेदो न विद्यते यस्य तदनन्तं त्रिविधपरिच्छेदशून्यमित्यर्थः। तथाचोक्तं—

'न व्यापित्वाद्देशतोऽन्तो नित्यत्वान्नापि कालतः। न वस्तुतोऽपि सार्वात्म्यादानन्त्यं ब्रह्मणि त्रिधा ॥' इति।

आदिशब्देन 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्मे'त्यादीनां ग्रहणम् ॥४॥

आनन्दादीनां ब्रह्मलक्षकत्वे व्याससूत्रं संवादयति—**उक्तञ्चेति**। तृतीये गुणोपसंहारे स्थितं 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे'ति तैत्तिरीयके। तत्रैव 'आत्मन आकाशस्सम्भूत' इति। "विज्ञानमानन्दं ब्रह्मे"ति "स वा एष महानज आत्मा, 'असङ्गोह्ययं पुरुषः इत्यादि वृहदारण्यके। 'अस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्' इति ईशावास्ये। एवं तत्र तत्र श्रूयते। तत्र संशयः-यस्यां शाखायां

•

समा०—उक्त आशंका ठीक नहीं है, क्योंकि घड़ा है, पृथ्वी द्रव्य है, प्रकृष्ट प्रकाश वाला चाँद है। इत्यादि वाक्यों में 'लक्षणा' से अखण्डव्यक्तिप्रतिपादकता जैसे दिखाई देती है, उसी तरह प्रकृत में भी वह सम्भव हो सकती है। अतः 'विशिष्ट' में 'शक्ति' रखने वाले 'सत्य' आदि पदों की 'अखण्ड चैतन्य' में 'भागत्याग लक्षणा' की जाती है, जिससे वही 'सत्यादि पद', अखण्डैकरसातनन्दव्यक्ति को बोधित कर देते हैं।

शंका—'अखण्डैकरसानन्द व्यक्ति' का बोधन, उनमें से किसी 'एक पद' के द्वारा भी हो सकता है, तब 'अन्य पद', व्यर्थ हो जायेंगे।

समा०—उक्त शंका ठीक नहीं है, क्योंकि 'पद' तो स्मारक हुआ करते हैं, किन्तु 'अनुभावक', 'वाक्य' ही होता है, तथा 'अन्य प्रयोजन' भी उसका है। अन्यथा 'ब्रह्म' की 'अद्वितीयता' सिद्ध नहीं हो सकेगी। इसी का 'वाक्य' की अखण्डार्थकता कहा गया है। अथवा—

'प्रतिपदिकार्थमात्रपरत्व' रहना ही 'अखण्डार्थत्व' है। अतः 'सत्य-ज्ञान-आनन्द'—यही 'ब्रह्म' का स्वरूपलक्षण है। इसी अभिप्राय को सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'—इस श्रुति ने बताया है।

यहाँ 'अन्त' का अर्थ—'परिच्छेद' है। वह 'परिच्छेद' जिसमें नहीं रहता, उसे 'अनन्त' कहते हैं। अर्थात् देशपरिच्छेद, कालपरिच्छेद, और वस्तुपरिच्छेद इन तीन परिच्छेदात्मक 'अन्त' से जो रहित हो, उसे 'अनन्त' कहते हैं। इस प्रकार की 'अनन्तता', 'ब्रह्म' में ही है। कहा भी है कि—

'ब्रह्म' समस्त देशों में व्यापक है, इस कारण उसका 'देश' से भी 'अन्त' नहीं है, और वह 'नित्य' है, उस कारण उसका 'काल' से भी 'अन्त' नहीं है, तथा वह 'ब्रह्म', सबका 'आत्मा' है, उस कारण उसका 'वस्तु' से भी 'अन्त' नहीं है। इस रीति से 'ब्रह्म' में तीनों प्रकार की 'अनन्तता' है ॥४॥

कहा भी है 'आनन्दादि गुण प्रधान ब्रह्म के हो हैं'। यों तत्पदार्थ बताया।

भगवान् बादरायण के सूत्र से भी 'ब्रह्म' की सत्य-ज्ञानादिरूपता सिद्ध हो रही है। अर्थात्—'आनन्द' आदि की 'ब्रह्मलक्षकता' में व्यास सूत्र का भी 'संवाद' उपलब्ध हो रहा है। यहाँ पर 'आदि' शब्द से 'विज्ञानमानन्दो ब्रह्म' इत्यादि का ग्रहण किया गया है। एवञ्च 'आनन्द, सत्य, ज्ञान' इत्यादिक गुण, 'ब्रह्म' के स्वरूप ही हैं। उस कारण 'निर्गुण ब्रह्म' का 'ध्यान' करने के लिए उन 'आनन्दादि गुणों' का वेद की समस्त शाखाओं से उपसंहार करना चाहिए। तृतीयाध्याय के 'गुणोपसंहार में स्थित 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'—को तैत्तिरीय उपनिषद् (ब्र० व० द्वितीय अनुवाक) में बताया गया है। अतः 'श्रुति और 'सूत्र से भी 'ब्रह्म की 'सत्यज्ञानादिरूपता सिद्ध हो रही है। तथा बृहदारण्यक (३।९।२४) में भी 'आत्मन

१. 'तत्पदार्थः' इति शब्दः सीरीजपुस्तके नास्ति।

ब्रह्मणो यावद्गुणजातं श्रुतं तावदेव ध्यातव्यम्; आहोस्वित् शाखान्तरस्थगुणोपसंहारेण समग्रं ब्रह्म ध्यातव्यमिति। तत्र यस्यां यावच्छ्रुतं तच्छाखिभिस्तावदेव ब्रह्म ध्यातव्यं न शाखान्तरीयगुणोपसंहारेण तावता निर्गुणब्रह्मसाक्षात्कारसम्भवादितरोपसंहारे प्रयोजनाभावादिति प्राप्ते, सिद्धान्तः—प्रधानस्य ब्रह्मणः आनन्दादयः सर्वे सर्वत्रोपसंहर्त्तव्याः लक्षकत्वेन। यद्यानन्दात्मादिभिर्ब्रह्म न लक्ष्येत तर्ह्यनात्मत्वानानन्दत्वादिव्यावृत्तिर्न सिध्येत्। ततश्चानन्दात्मकब्रह्मसाक्षात्कारो न भवेत्। अतस्तदर्थमानन्दादीनां ब्रह्मलक्षणतया सर्वोपसंहारेण ब्रह्मानुसन्धेयम् ॥

ननु तर्हि सत्यकामत्वादीनामप्युपसंहारः स्यादिति चेन्न। तेषां कारणलक्षणत्वेन निर्गुणब्रह्मालक्षकत्वेनानुसन्धानानुपयोगात्। तस्मान्निर्गुणप्रकरणपठितानामानन्दादीनां ब्रह्मलक्षकत्वेनोपसंहारेण ब्रह्मानुसन्धेयमिति ॥

●

पुरुष" इत्यादि बृहदारण्यके। "अस्नाविरं शुद्धमपापविद्धमि"ति ईशावास्ये। एवं तत्र तत्र श्रूयते। तत्र संशयः—यस्यां शाखायां आकाशः सम्भूतः और 'विज्ञानमानंदं ब्रह्म 'स वा एष महानज आत्मा असङ्गोह्ययं पुरुषः कहा गया है, एवं 'अस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्—यह ईशावास्य (८ म श्लोक) में भी कहा गया है। इसी प्रकार अन्यान्य श्रुतियों में भी यत्र-तत्र उपलब्ध होता है। अतः 'जिज्ञासु व्यक्ति को सन्देह उत्पन्न होता है कि जिस शाखा में 'ब्रह्म के जितने गुणों को बताया गया है, उतने ही गुणों का ध्यान करना चाहिये, अथवा अन्यान्य शाखाओं में 'उक्त गुणों का भी उपसंहार (संग्रह) करके 'समस्त ब्रह्म' का ध्यान करना चाहिए ? यह सन्देह होने पर पूर्वपक्षी कहता है कि जिस शाखा में जितना श्रुत (कहा गया) है, उन शाखा वालों को उतने ही गुणवाले 'ब्रह्म का ध्यान करना चाहिए। उन्हें 'शाखान्तरीय गुणों के उपसंहार की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उतने से ही 'निर्गुण ब्रह्म का साक्षात्कार का होना सम्भव है। अतः 'अन्य गुणों के उपसंहार का कोई प्रयोजन नहीं है।

इस प्रकार पूर्व पक्षी के कहने पर सिद्धान्ती इस विषय में सिद्धान्त प्रदर्शित कर रहा है—

प्रधान जो 'ब्रह्म' है, उसके 'आनन्द आदि जितने भी गुण हैं, उन सभी का सर्वत्र सभी को उपसंहार करना चाहिये, क्योंकि वे 'सभी गुण', 'ब्रह्म' के लक्षक हैं। यदि 'आनन्द, आत्मा' आदि पदों से 'ब्रह्म' संक्षित न होता तो 'अनात्मत्व', 'अनानन्दत्व' आदि की व्यावृत्ति न हुई होती। तब उनकी व्यावृत्ति न हो सकने पर 'आनन्द रूप ब्रह्म' का साक्षात्कार भी न हो पाता। अतः उस 'ब्रह्म साक्षात्कार' के लिये 'आनन्द' आदि गुणों में 'ब्रह्म लक्षणता' होने से 'सर्वोपसंहार' न्याय को मानकर 'ब्रह्म' का अनुन्धान करना चाहिये।

शंका—सर्वगुणोपसंहार का आश्रय करते हैं तो 'सत्यकामत्वादि' गुणों का भी उपसंहार करना होगा।

समा०—नहीं करना होगा, क्योंकि वे 'सत्यकामत्वादि' गुण, 'कारण लक्षण' हैं, वे 'निर्गुण ब्रह्म के लक्षक नहीं हैं, अतः ब्रह्मा नुसन्धान करने में उनका उपयोग नहीं है। इसलिये निर्गुण प्रकरण में पठित 'आनन्दादि गुणों का ही सर्वगुणोपसंहार न्याय से 'उपसंहार करके 'ब्रह्म का अनुसन्धान करना चाहिये, क्योंकि वे ही 'ब्रह्म के लक्षक हैं। एवं च 'सत्य ज्ञान आदि में ही ब्रह्म की स्वरूप लक्षणता सम्भव होती है।

शंका—ब्रह्म के 'स्वरूप लक्षण का संभव रहने पर भी पूर्वोक्त जो उसका 'तटस्थ लक्षण (जगदुत्पत्ति-स्थिति-लय-कारणत्व) बताया है, वह 'युक्तियुक्त न होने से उस 'तटस्थ-लक्षण का होना सम्भव नहीं है। क्योंकि सिद्धान्ती ने 'ब्रह्म को 'जगत् का 'उपादान कारण तथा 'निमित्त कारण भी माना है। किन्तु ब्रह्म में उपादान कारणता का होना संभव ही नहीं है। क्योंकि 'उपादान कारण के तीन प्रकार हैं—(१) आरम्भक, (२) परिणामी, और (३) विवर्ताधिष्ठान। इन 'तीन भेदों में से ब्रह्म को किस प्रकार का 'उपादान कारण माना जाय ? सिद्धान्ती तो ब्रह्म को एकमेव—अद्वितीय रूप मानता है। उस कारण वह 'ब्रह्म, जगत् का 'आरम्भक तो बन नहीं सकता। क्योंकि 'परस्पर संयुक्त अनेक द्रव्यों में ही 'आरम्भकता रहती है।

जैसे नैयायिकों के मत में संयुक्त हुए अनेक परमाणुओं में ही 'जगत् की 'आरम्भकता मानी जाती है। अतः ब्रह्म में 'आरम्भक उपादानता तो बन नहीं सकती।

उसी तरह दूसरी परिणामी उपादानता भी उसमें नहीं बन सककी, क्योंकि 'साक्षी चेताः केवलो निर्गुणश्च, 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं, 'अविकार्योऽय मुच्यते—इत्यादि श्रुति-स्मृतिवाक्यों ने 'ब्रह्म को 'निर्गुण, निष्क्रिय और निरवयव बताया है। इसलिये 'ब्रह्म में 'परिणामीउपादानता का भी होना संभव नहीं है। गुण और 'क्रिया विशिष्ट दुग्ध आदि पदार्थ ही 'दधि के रूप में परिणत हुआ करते हैं।

स च द्विविधः—वाच्यार्थो लक्ष्यार्थश्चेति। मायोपहितं चैतन्यं तत्पदस्य वाच्यार्थः[1]। मायाविनिर्मुक्तं चैतन्यं तत्पदस्य लक्ष्यार्थः[2] ॥६॥

●

ननु सृष्टिस्थितिलयकारणत्वं ब्रह्मणः तटस्थलक्षणमित्युक्तं, तदनुपपन्नमसम्भवात्। तथाहि—न तावदुपादानकारणत्वं ब्रह्मणः, विकल्पासहत्वात्। तथाहि—किमारम्भकत्वेनोपादानत्वं विवक्षितम्, उत परिणामित्वेन आहोस्विद्विवर्त्ताधिष्ठानत्वेन। नाद्यः, अद्वितीयत्वेन ब्रह्मणोऽनारम्भकत्वात्। न द्वितीयः, केवलो निर्गुणश्च, निष्कलं निष्क्रियं शान्तम् अविकार्य्योऽयमुच्यते इत्यादि श्रुतिस्मृतिभिर्गुणक्रियाशून्यत्वनिरवयवत्वप्रतिपादनेन ब्रह्मणः परिणामित्वायोगात्। न तृतीयः, घटस्सन् पटस्सन्निति सत्यत्वेनानुभूयमानस्य प्रपञ्चस्य ब्रह्मविवर्त्ततया मिथ्यात्वकल्पनायां मानाभवात्। तस्माद् ब्रह्मण उपादानकारणत्वं दुर्निरूप्यम् ॥

नापि जगत्कर्तृत्वेन कारणत्वं ब्रह्मणः। कर्तृत्वं नामोपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमत्त्वम्। तच्च ब्रह्मणो न सम्भवति, ज्ञानचिकीर्षाकृतीनां नित्यत्वे सर्वदा जगदुत्पत्तिप्रसङ्गात्। ततश्च प्रलयप्रतिपादकशास्त्रविरोधः। तेषामनित्यत्वे कार्य्यतया ब्रह्माश्रयत्वायोगाद् ब्रह्मणोऽपरिणामित्वस्योक्तत्वादनादिभावस्यानित्यत्वायोगात् ॥ अतएव नोभयात्मकं ब्रह्मणस्तटस्थ-लक्षणमित्यसङ्गतम् ॥५॥

कथं तर्हि जगदुत्पत्तिः? शृणु, सत्त्वरजस्तमोगुणात्मिकात्प्रधानान्महदादिक्रमेण जगदुत्पद्यते। तस्य परिणामित्वाज्ज-गज्जन्मादिकारणत्वं सम्भवति, पुरुषस्त्वसङ्गो निर्विकारी ॥

एवमाशङ्कमानः साङ्ख्यादीन्निराकर्त्तुं तत्पदार्थं विभजते स चेति। द्वैविध्यमाह—वाच्यर्थः इति। शक्त्या गम्यमानो

●

उसी तरह तीसरी 'विवर्ताधिष्ठानत्वरूप उपादानता भी 'ब्रह्म में संभव नहीं है। क्योंकि 'घटः सन्, 'घटःसन् इत्याकारण 'घट-घटादि प्रपञ्च का सत्यरूप ही लोगों के अनुभव में आता है। ऐसे 'सत्यप्रपञ्च—को 'ब्रह्म का विवर्त मानकर उसे मिथ्या मानने में कोई प्रमाण नहीं हैं, और 'प्रपञ्च को मिथ्या माने बिना 'ब्रह्म में विवर्ताधिष्ठानता का होना संभव नहीं है।

अतः तीनों प्रकार की उपादानता में से किसी भी प्रकार की उपादानता 'ब्रह्म में संभव नहीं हो रही है।

किञ्च—'ब्रह्म में सृष्टि (जगत्) की 'कर्तृता का होना भी संभव नहीं है। क्योंकि "कार्य की 'उत्पत्ति के अनुकूल 'ज्ञान, इच्छा, और प्रयत्न—ये तीनों जिसमें रहते हैं, वही 'कर्ता कहलाता है।

शका—ब्रह्म में 'ज्ञान-इच्छा और प्रयत्न—ये तीनों नित्य हैं, अथवा अनित्य है? यदि उन्हें 'नित्य कहो तो सर्वदा (सभी समय) सृष्टि (जगत्) की 'उत्पत्ति होनी चाहिये किसी भी समय (काल में) सृष्टि (जगत्) का प्रलय नहीं होना चाहिये। ऐसा होने पर 'प्रलय प्रतिपादक शास्त्रवचन' के साथ विरोध होगा। यदि उसके 'ज्ञानादिकों' को अनित्य कहो तो सृष्टि (जगत्) के समान उन 'ज्ञान-इच्छादिकों' को भी कार्य कहना होगा। तब वे 'ज्ञान आदि, 'ब्रह्म' के आश्रित नहीं हो सकेंगे। अतएव 'ब्रह्म' को अपरिणामी कहा गया है। इस प्रकार 'ब्रह्म' में उपदानता तथा 'कर्तृता' का होना संभव नहीं हो रहा है। इस उसमें अभिन्ननिमित्तोपादनकारणता का होना भी संभव नहीं हो रहा है। अतः जगदुत्पत्ति-स्थित-लयकारणत्व रूप तटस्थलक्षण भी संगत नहीं है ॥ ५ ॥

(सां०) पूर्व प०—कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं हुआ करती—ऐसा नियम होने से 'सृष्टि (जगत्) रूप कार्य' का भी कोई 'कारण तो अवश्य मानना ही होगा, जो 'ब्रह्म' से भिन्न हो। अतः ब्रह्म से भिन्न कारण तो (सत्त्व-रजस् और तमस्) त्रिगुणात्मक प्रधान (प्रकृति) ही हो सकता है। उस प्रधान (प्रकृति) से ही 'महत्तत्त्वा' दि के क्रम से यह सृष्टि (जगत्) उत्पन्न होती है। वह प्रधान (प्रकृति) परिणामी होने से 'सृष्टि' (जगत्) की उत्पत्ति आदि का कारण हो सकता है।

किञ्च—आत्मा (पुरुष) तो असंग है और निर्विकार है। उसकारण 'पुरुष' 'सृष्टि का कारण' मानना कथमपि संभव नहीं है।

---

१. तत्पदवाच्यार्थं इत्यपि पाठः।

२. तत्पदलक्ष्यार्थं इत्यपि पाठः।

वाच्यार्थः। लक्षणया गम्यमानो लक्ष्यार्थः। कौ तौ वाच्यलक्ष्यावित्याशङ्कायामाह—मायेत्यादि। एतदुक्तम्भवति—यद्यपि शुद्धस्यापरिणामित्वे नोपादानत्वं तथापि मायोपहितस्य तत्त्वम्भवत्येव। तदपि विवर्त्ताधिष्ठानत्वेन। अतत्त्वतोऽन्यथाभावो विवर्त्तस्तदधिष्ठानत्वं मायोपहितस्य न विरुध्यते। न च घटः सन्निति सत्यत्वानुभवेन प्रपञ्चस्य ब्रह्मविवर्त्ततया मिथ्यात्वानुपपत्तिरिति वाच्यम्, अनुभवस्याधिष्ठानसत्यत्वविषयतया मिथ्यात्वे बाधकाभावात्। नहि प्रपञ्चस्य स्वतः सत्तासम्बन्धः सम्भवति "नेह नानास्ति किञ्चने त्यादिशास्त्रेण तस्य प्रतिषेधात्। नापि मिथ्यात्वे प्रमाणाभावः; वाचारम्भणश्रुतेरेव प्रमाणत्वात्। मिथ्यात्व-निरुक्तिरग्रे वक्ष्यते॥

किञ्च जगदुपादानत्वं ब्रह्मणोऽवश्यमभ्युपगन्तव्यम् "यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति तस्मिंल्लयश्रवणात्। यस्य यत्र लयस्तत्तस्योपादानमिति व्याप्तेर्घटादेः कारणे मृदादौ दृष्टत्वात्। "बहुस्यां प्रजायेयेति ब्रह्मणो बहुभवनश्रवणाच्च। नह्यनुपादानस्य बहुभवनं सम्भवति।

अपि च प्रत्युत प्रधानस्यैव जगदुपादानत्वन्न भवति तस्याप्रमाणिकत्वात्। नहि क्वचिच्छ्रुतौ प्रधानस्य त्रिगुणात्मकस्योपादानत्वमगम्यते। सर्वत्र श्रुतिषु "आत्मन आकाशः सम्भूत इत्यादिषु चेतनस्य ब्रह्मण एवोपादानत्वावगमात्॥

•

समा०—उपर्युक्त आशङ्का 'सांख्यवादियों'—(प्रकृतिवादियों) की है।

उसके निराकरण करने के लिये पूर्वोक्त तत् पदार्थ के विभाग का निरूपण किया जा रहा है—

वह भी दो प्रकार का है—वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ। माया से उपहित चेतन तत्-शब्द का वाच्य अर्थ है। माया से छूटा हुआ (=असम्बद्ध) चेतन तत्-शब्द का लक्ष्य अर्थ है।

वह (तत् पद का अर्थ) दो प्रकार का होता है (१) वाच्य अर्थ और (२) लक्ष्य अर्थ। जो अर्थ जिस पद की शक्ति (वृत्ति से ज्ञात होता है, वह (अर्थ) उस पद का वाच्य अर्थ कहलाता है। उसी तरह जो अर्थ, जिस पद की लक्षणावृत्ति से ज्ञात होता है, उस अर्थ को लक्ष्य अर्थ कहते हैं। शक्ति और लक्षणा के स्वरूप को द्वितीय परिच्छेद में बताया जाएगा। माया से उपहित चैतन्य तो तत् पद का वाच्य अर्थ है, और माया से अनुपहित (रहित) शुद्ध चैतन्य को तत् पद का लक्ष्यार्थ कहते हैं।

समाधानपरक उपर्युक्त ग्रन्थ का अभिप्राय यह है कि यद्यपि माया से रहित (अनुपहित) निर्विकार शुद्ध ब्रह्म में सृष्टि की उपादानकारणता का होना संभव नहीं है, तथापि मायोपहित ब्रह्म में उपादानकारणता का होना संभव हो सकता है। वह उपादानकारणता, आरम्भकतारूप अथवा परिणामितारूप न होकर विवर्ताधिष्ठानत्वरूप है। अधिष्ठानवस्तु के अवास्तविक अन्यथाभाव को विवर्त कहते हैं। कहा भी है—अतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा विवर्त इत्युदीरितः। जैसे—रज्जु शुक्तिका आदि अधिष्ठान वस्तु का अवास्तविक, सर्प, रजतादि के रूप में अन्यथाभावा हुआ करता है, वैसे ब्रह्म का भी यह जगत् अवास्तविक अन्यथाभाव है। इस जगद्रूप विवर्तकी अधिष्ठानता, मायोपहित ब्रह्म में संभव होती है।।

किञ्च—पूर्वपक्षी ने जो यह कहा था कि घटः सन् पटः सन् इत्यादि अनुभव से सृष्टि (जगत्) की सत्यता ही सिद्ध होती है, उस कारण सृष्टि (जगत्) को ब्रह्म का विवर्त बताकर उसमें (सृष्टि में) मिथ्यात्व की संभावना नहीं की जा सकती।

किन्तु पूर्वपक्षी का उक्त कथन असंगत हे। क्योंकि उन 'घट-पट आदि पदार्थों का अधिष्ठान जो चैतन्य है, उसकी सत्यता को ही उक्त अनुभव बता रहा है। अर्थात् उक्त अनुभव, चैतन्य की सत्यता को ही अपना विषय बना रहा है, न कि घट-पटादिकों की सत्यता को। इसलिये उक्त अनुभव, इस प्रपञ्च के मिथ्यात्व में बाधक नहीं हो रहा है। तथा 'नेह नानास्ति किञ्चन' यह श्रुति, ब्रह्मातिरिक्त सम्पूर्ण प्रपञ्च का निषेध कर रही है, उस कारण प्रपञ्च की स्वतः सत्ता का होना कथमपि संथव नहीं है।

किञ्च—पूर्वपक्षी ने जो कहा था कि सृष्टि का मिथ्यात्व सिद्ध करने में कोई प्रमाण नहीं है। वह भी असंगत है, क्योंकि, वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्—यह श्रुति ही सृष्टि के मिथ्यात्व को बता रही है।

किञ्च—ब्रह्म में जगत् की उपादानकारणता का स्वीकार अवश्य करना चाहिये। क्योंकि यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति—यह श्रुति, ब्रह्म में ही सृष्टि के लय को बता रही है। जिस कार्य का किस कारण में लय होता है, वह (कारण), उस कार्य का उपादानकारण कहलाता है। जैसे—घटादिकार्य का मृत्तिकाकि कारण में ही लय होता है, उस कारण वे

न चोदाहृतश्रुतिष्वात्मन एवोपादानत्वमवगम्यते न ब्रह्मण इति वाच्यम्। "तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशदिति जीवभावेन ब्रह्मणः प्रवेशश्रवणात्। ब्रह्मण एवात्मतयोपादानत्वोपपत्तेः॥

किञ्च "तदैक्षत 'सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेयेति बहुभवनकर्त्तुः कारणस्य सर्वत्र कामयितृत्वेक्षितृत्वश्रवणाद् ब्रह्मण एवोपादानत्वं, न प्रधानस्येक्षितृत्वादेरसम्भवात् तस्य चेतनधर्म्मत्वात् मुख्ये सम्भवति गौणस्यान्याय्यत्वात्। तस्माद्-ब्रह्मणएवोपादानत्वं न प्रधानस्येति सिद्धम्॥

एवं मायोपहितस्य जगत्कर्त्तृत्वमपि सम्भवति। तच्च पूर्व्वोक्तमेव। ज्ञानेच्छाकृतयो मायोपहितस्येश्वरस्य जन्या अनित्याश्चअपरिणामित्वेन शुद्धस्य तदाश्रयत्वाभावेऽपि मायोपहितस्य तदाश्रयत्वं सम्भवत्येव। तस्य सर्वविवर्त्ताधिष्ठानत्वान्नोक्त-दोषः। तस्मादुभयात्मकं सृष्टिस्थितिलयकारणत्वं तटस्थलक्षणं सम्भवतीति सिद्धम्॥६॥

•

मृत्तिकादि कारण ही घटादि कार्यों के उपादानकारण कहे जाते हैं। उसी तरह जगत् के लय का आधार ब्रह्म है, अतः ब्रह्म को ही सृष्टि (जगत्) का उपादानकारण मानना चाहिये।

किञ्च—बहुस्यां प्रजायेय—इस श्रुति ने ब्रह्म का ही बहुत होना बताया है, लोक व्यवहार में भी मृत्ति का—सुवर्ण आदि उपादान कारणों का ही घट-शराव आदि तथा कटक-कुण्डलादि के रूप में बहुत होना दृष्टिगोचर होता है, उस कारण भी ब्रह्म में सृष्टि (जगत्) की उपादान कारणता सिद्ध हो रही है।

किञ्च—सांख्याचार्य प्रधान को सृष्टि का उपादान कारण मानते हैं, किन्तु वह सम्भव नहीं है, क्योंकि प्रधान में जगत् की उपादानता को बताने वाला कोई प्रमाण नहीं है। अर्थात् किसी श्रुति ने प्रधान को जगदुपादान के रूप में नहीं बताया है।

प्रत्युत आत्मन आकाशः संभूतः—इत्यादि श्रुति वचन, चेतन ब्रह्म को ही जगत् का उपादान कह रहे हैं।

शंका—उपर्युक्त श्रुति तो जीवात्मा में जगत् की उपादानता को बता रही है, ब्रह्म में नहीं। तब ब्रह्म को जगत् का उपादान कैसे माना जा सकता है?

समा०—तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् इत्यादि श्रुतियों ब्रह्म ही जीवात्मा बन कर सृष्टि (जगत्) में प्रविष्ट हुआ है—यह कहा है। इस से स्पष्ट हो रहा है कि यह जीवात्मा ब्रह्म से भिन्न नहीं है। अर्थात् वह ब्रह्म ही आत्मा (जीवात्मा) के रूप में विराजमान है। उस कारण इस ब्रह्म रूप आत्मा को आकाशादि जगत् का उत्पादक (उपादान कारण) कहा गया है। अतः ब्रह्म की जगदुपादनता स्पष्ट हो जाती है।

किञ्च—तदैक्षत सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेय—इस श्रुति ने बहुत रूप होनेवाले कारण निष्ठ ईक्षण की कर्तृता बताई है। इस कथन से भी ब्रह्म की ही उपादानता सिद्ध होती है, प्रधान की नहीं क्योंकि ईक्षण-कामना का कर्तृत्व (ईक्षण-कामना का करना), चेतन का ही धर्म है, अर्थात् चेतन ही ईक्षण-कामना आदि का कर्ता हो सकता है, कोई अन्य जड़ पदार्थ उनका कर्ता नहीं हो सकता। क्योंकि कर्तृत्व धर्म की स्थिति चेतन में ही हो सकती है, जड़ में नहीं।

सांख्य वादियों का प्रधान तो जड़ है। अतः उस में ईक्षण-कामना कर्तृत्व धर्म कैसे संभव हो सकेगा? इस लिये ब्रह्म में ही जगदुपादानता को स्वीकार करना चाहिये, प्रधान में नहीं।

किञ्च—मायोपहित ब्रह्म में उपादानता की तरह जगत्कर्तृत्व का भी संभव हो सकता है, उसे पहले बता चुके हैं। मायोपहित ईश्वर के ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न—ये तीनों जन्य और अनित्य होते हैं। जन्य और अनित्य रहने वाले ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न की आश्रयता, यद्यपि निर्विकार शुद्ध ब्रह्म में संभव नहीं हो सकती, तथापि मायोपहित ब्रह्म में उक्त तीनों की आश्रयता संभव हो सकती है। उस कारण मायोपहित ब्रह्म में ही सर्व विवर्त रूप जगत् की अधिष्ठानता मानी जाती है, इसलिये—पूर्वोक्त किसी दोष की संभावना नहीं की जा सकती। अतः ब्रह्म का तटस्थ लक्षण अभिन्न निमित्तोपादन कारणत्व, (उभयात्मक सृष्टि स्थिति लय कारणत्व) जो कहा गया है, वह उचित ही है॥६॥

अथ केयं माया ? शृणु । यथा शुक्त्यादौ रजतादि कल्पितम् तथा चेतनेऽचेतनं कल्पितम् ॥७॥

●

मायास्वरूपं पृच्छति—अथेति । किम् शब्दः प्रश्नार्थे । माया कीदृशीत्यर्थः । आक्षेपार्थे वा किंशब्दः—माया न सम्भवतीति, स्वरूपलक्षणप्रमाणानिरूपणात् । तथाहि किम्माया सत्या मिथ्या वा ? आद्ये ब्रह्माभिन्ना तदभिन्ना वा ?

नाद्यः अपसिद्धान्तप्रसङ्गात् । किञ्च ब्रह्मणोऽसङ्गत्वेन केनाप्यसम्बन्धात् मायोपहितत्वमनुपपन्नमेव । न तावद्ब्रह्मणो मायया संयोगः सम्भवति । संयोगस्याव्याप्यवृत्तित्वेन सावयवधर्म्मतया निरवयवत्वेन ब्रह्मणो मायया संयोगायोगात् । नापि समवायस्सम्भुवति अनङ्गीकारात् । नापि तयोस्तादात्म्यं भिन्नयोस्तादात्म्यायोगात् । नापि तयोर्भेदाभेदौ विरुद्धत्वात् । तस्माद्ब्रह्मणो मायोपहितत्वमनुपपन्नम् !! न द्वितीयः जडाजडयोरभेदायोगात् ।

नाद्यद्वितीयः ईश्वरस्य मिथ्यात्वप्रसङ्गात् । नच तदिष्टं मोक्षशास्त्राप्रामाण्मप्रसङ्गात् । नहि मिथ्यावस्तुज्ञानेन मोक्षः सम्भवति । एवं मायास्वरूपं दुर्निरूप्यम् । अत एव तल्लक्षणमपि दुर्निरूप्यम् । सति धर्म्मिणि धर्म्माश्चिन्त्यन्त इति न्यायात्

●

यह माया क्या है ? सुनो । जैसे सींप आदि में चाँदी आदि कल्पित होता है वैसे चेतन में अचेतन कल्पित है ।

शङ्का—मायोपहित ब्रह्म, यदि सृष्टि का कारण है, तो माया, के स्वरूप, लक्षण, तथा, प्रमाण तीनों को बताकर माया का अस्तित्व प्रथमतः सिद्ध करना होगा, किन्तु उसका अस्तित्व किसी तरह भी सिद्ध नहीं किया जा सकता ! अतः माया नाम की कोई वस्तु ही नहीं है । तो फिर आप 'माया किसे कहते हैं ?

तथाहि—माया के स्वरूप, लक्षण और प्रमाण के विचारार्थ 'माया सत्य है अथवा असत्य ?' यह विचारना होगा । उपर्युक्त प्रथम विकल्प में भी यह विचारना होगा कि वह ब्रह्म से भिन्न है या अभिन्न ?

यदि प्रथम (भिन्न) पक्ष का स्वीकार करते हैं तो 'एकमेवाऽद्वितीयं ब्रह्म'—इस श्रुति के साथ विरोध होगा, क्योंकि श्रुति, ब्रह्म को अद्वितीय बता रही है तब ब्रह्म की अद्वितीयरूपता, ब्रह्म के अतिरिक्त सत्य माया के विद्यमान रहने पर संभव नहीं होगी ।

किञ्च—'असङ्गो नहि सज्जते—यह श्रुति ब्रह्म को असंग बता रही है । तब असंग ब्रह्म का किसी के साथ सम्बन्ध होना संभव नहीं है, और सम्बन्ध हुए बिना वह माया से उपहित नहीं कहला सकेगा ।

किञ्च—माया का उसके साथ सम्बन्ध यदि मान भी लें तो वह कौन सा सम्बन्ध होगा ? क्या संयोग सम्बन्ध होगा ? या समवाय सम्बन्ध होगा ? या तादात्म्य सम्बन्ध होगा ? अथवा भेदाऽभेद सम्बन्ध होगा ?

उक्त विकल्पों में से प्रथम (संयोग) पक्ष तो संभव नहीं है, क्योंकि संयोग पदार्थ, अव्याप्यवृत्ति है, उस कारण वह (संयोग) सावयव द्रव्यों का ही धर्म माना जाता है ।

जेसे—पक्षी का वृक्ष के साथ जो संयोग है, वह सम्पूर्ण वृक्ष में व्याप्त नहीं रहता, किन्तु वृक्ष के किसी एक शाखा (भाग) के साथ ही रहता है । इसलिये उसे अव्याप्यवृत्ति कहा जाता है । इसलिये उसे (संयोग को), पक्षी तथा वृक्ष—इन दो सावयवद्रव्यों का ही धर्म माना जाता है ब्रह्म तो निरवयव द्रव्य है । इसलिये ब्रह्म का माया के साथ संयोग सम्बन्ध का होना संभव नहीं है ।

उसी तरह द्वितीय (समवाय) पक्ष भी संभव नहीं हो रहा है, क्योंकि वेदान्तियों (सिद्धान्तवादी) ने समवाय सम्बन्ध को स्वीकार नहीं किया है । अतः समवाय सम्बन्ध मानने पर सिद्धान्त भङ्ग होगा ।

किञ्च—गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान्, जाति-व्यक्ति, अवयव-अवयवी, विशेष-नित्यद्रव्य इनमें ही समवाय सम्बन्ध होता है । एवञ्च ब्रह्म और माया में गुण-गुणि भावादि है नहीं । उस कारण ब्रह्म का माया के साथ समवाय सम्बन्ध भी नहीं हो सकता ।

उसी तरह तृतीय (तादात्म्य) पक्ष भी संभव नहीं हो रहा है, क्योंकि भेद से रहित पदार्थों का ही तादात्म्य होता है । किन्तु ब्रह्म और माया दोनों का दोनों में परस्पर भेद है । अतः दोनों भेद सहित ही हैं, भेद रहित नहीं हैं । इसलिये दोनों का परस्पर तादात्म्य होना संभव नहीं है ।

"इदं सर्वं यदयमात्मा "आत्मैवेदं सर्वं "ब्रह्मवेदं सर्वं "पुरुष एवेदं विश्वं "सर्वं खल्विदं ब्रह्म "वासुदेवः सर्वमिति "नारायणः सर्वमिदं पुराण इत्यादिश्रुतिस्मृतिशतैः[1] अचेतनस्य चेतनव्यतिरेकेणाभावप्रतिपादनात्। चेतनाचेतनयोरभेदायोगाच्च ॥८॥

●

धर्म्मिणो दुर्निरूपत्वे तद्धर्म्मलक्षणस्यापि सुतरां दुर्निरूपत्वात्। अत एव तत्र प्रमाणमपि दुर्निरूपं निर्विषयप्रमाणप्रवृत्तेरयोगात् ॥ तस्मान्मायाया दुर्निरूपत्वात् उपहितस्य तत्पदवाच्यत्वमनुपपन्नमिति।

समाधत्ते शृण्विति। मायास्वरूपं निरूप्य[2] तदुपहितचैतन्यमीश्वरः स एव तत्पदवाच्यार्थः। तस्य जन्मादिकारणत्वं तटस्थलक्षणमिति वक्तुं तदुपोद्घातत्वेन परमात्मनि सदृष्टान्तमध्याससामान्यमाह—यथेति। प्रतिपाद्यमर्थं बुद्धौ संगृह्य प्रागेव तदर्थमर्थान्तरवर्णनमुपोद्घातः। अचेतनमज्ञानं तत्कार्य्यं कल्पितमध्यस्तमित्यर्थः ॥७॥

●

उसी तरह चतुर्थ (भेदाऽभेद) पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि भेद और अभेद—दोनों परस्पर विरुद्ध हैं, उस कारण वे एक अधिकरण में नहीं रहते। इस रीति से ब्रह्म का माया के साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं बन सकता, तब ब्रह्म को माया से उपहित कैसे कह सकते हैं?

अब यदि माया ब्रह्म से भिन्न नहीं सिद्ध होती तो उसे यदि ब्रह्म से अभिन्न स्वीकार करना चाहें, तो वह भी ठीक नहीं है। क्योंकि ब्रह्म तो चेतन है, और माया जड़ है। जड़ और चेतन का अभेद कैसे हो सकता है?

किञ्च—उपर्युक्त पक्ष का अंगीकार कर नहीं सकते, क्योंकि माया के मिथ्या (असत्य) रहने पर उस माया से विशिष्ट हुए ब्रह्म में भी मिथ्यात्व प्राप्त होगा। यदि ब्रह्म को भी मिथ्या मान लिया जाय तो ब्रह्म के ज्ञान से मोक्षप्राप्ति का प्रतिपादन करने वाला मोक्षशास्त्र अप्रमाण कहलायेगा। क्योंकि मिथ्या वस्तु के ज्ञान से मोक्षप्राप्ति का होना संभव नहीं है।

इस प्रकार से माया का स्वरूप दुर्निरूपणीय है। क्योंकि धर्मी के विद्यमान रहने पर ही उसके धर्म का विचार होता रहता है। जब कि धर्मी ही दुर्निरूपणीय है, तब उसके असाधारण धर्म रूप लक्षण का निरूपण करना कथमपि संभव नहीं है। एवं माया का निरूपण ही न हो पाने से उसका प्रमाण भी दुर्निरूपणीय है। क्योंकि प्रमेय के अस्तित्व के बिना किसी भी प्रमाण की प्रवृत्ति नहीं हुआ करती।

एवञ्च माया के अस्तित्व में स्वरूप, लक्षण और प्रमाण—इन तीनों के न रहने से मायोपहित चैतन्य को तत् पद का वाच्यार्थ बताना कैसे संभव हो सकता है?

समा०—शृण्विति। उपर्युक्त आशङ्का के उपस्थित होने पर स्वरूप, लक्षण और प्रमाण—इन तीनों के सहित माया का निरूपण करने के लिये प्रथमतः उपोद्घात के रूप में दृष्टान्त सहित ब्रह्म में अध्यास सामान्य का निरूपण कर रहे हैं। प्रतिपाद्य अर्थ को बुद्धिगत करके उसकी सिद्धि के लिये प्रथमतः जो अन्य अर्थ (अर्थान्तर) का कथन किया जाता है, उसे 'उपोद्घात' कहते हैं। जैसे—शुक्ति, रज्जु आदि विषयों पर रजत सर्प आदि की कल्पना की जाती है, उसी तरह चेतन ब्रह्म पर यह अचेतन (जड़) अज्ञान और उसका कार्य, जो सृष्टि, वह कल्पित (अध्यस्त) है।

स्वरूप, लक्षण और प्रमाण के द्वारा माया का अस्तित्व निश्चित है, और उससे उपहित चैतन्य जो ईश्वर (ब्रह्म) है, वह 'तत्' पद का वाच्यार्थ है। उसी का जन्मादिकारणत्व रूप तटस्थ लक्षण भी बताया गया है। उसी का प्रतिपादन करने के लिये उपोद्घात की रचना की गई है ॥ ७ ॥

जो यह सब है वह आत्मा है, यह सब आत्मा ही है, यह सब ब्रह्म ही हैं, यह विश्व पुरुष ही है, यह सब निश्चित रूप से ब्रह्म ही है, वासुदेव सब कुछ हैं, यह सब पूर्व में भी नवीन रहने वाला नारायण है, इत्यादि सैकड़ों श्रुति-स्मृति वाक्यों द्वारा यह प्रतिपादित है कि चेतन से अतिरिक्त जड़ का स्वतन्त्र भाव (सत्ता) नहीं है तथा चेतन व अचेतन का अभेद होना युक्ति संगत नहीं, इसलिये (निश्चित है कि चेतन में जड़ कल्पित ही है) ॥८॥

१. स्मृतिवाक्यशतैः इत्यपि पाठः।

२. द्वादशेऽनुच्छेदे।

चेतने ब्रह्मण्यचेतनस्य कल्पितत्वे श्रुतार्थापत्तिं प्रमाणमाह—इदं सर्वमित्यादिना। इदं सर्वमित्यनेन प्रमाणोपस्थितं आकाशादिजडजातं प्रतिपाद्यते। आत्मशब्देनाद्वितीयः सर्वसाक्षी प्रत्यग्भूतः परमात्मा प्रतिपाद्यते। जडचेतनयोरैक्यायोगात्। आत्मसर्वशब्दयोस्सामानाधिकरण्यं बाधायां योऽयं चोरः स स्थाणुरिति वत्। तथा च यथा दृष्टान्तवाक्ये स्थाणुव्यतिरेकेण चोराभावः चोरस्थाणुशब्दयोरवगम्यते तथा दार्ष्टान्तिकेऽपि श्रुतिवाक्ये आत्मव्यतिरेकेण कृत्स्नजडाभावः आत्मसर्वशब्दयोः सामानाधिकरण्यादवगम्यते। स चाभावः स्वप्रतियोगिनः प्रपञ्चस्य ब्रह्मणि कल्पितत्वमन्तरेणानुपपन्नः सन् तस्य कल्पितत्वं कल्पयति। इयं श्रुतार्थापत्तिः। अनयाऽचेतनस्य चेतने कल्पितत्वमवगम्यत इति भावः। एवमयमर्थो वाक्यान्तरेष्वपि समानः। पूर्णत्वात्पुरुषः परमात्मनैतेन।

किञ्च 'नासंवृत्तमिति, श्रुत्यन्तरात् सर्वेषु भूतेषु वसति सर्वभूतानि चास्मिन् वसन्तीति वासुदेवः सर्वान्तर्य्यामी परमात्मा। तथाचोक्तम्—

●

शङ्का—चेतन में अचेतन कल्पित है, यह किस प्रमाण से ज्ञात हो रहा हैं ?

समा०—श्रुतार्थापत्ति प्रमाण से चेतन में अचेतन का कल्पित होना ज्ञात होता है। श्रवण किये हुए वाक्य के अर्थ की अनुपपत्ति होने पर जो अर्थान्तर की कल्पना की जाती है, उसे 'श्रुतार्थापत्ति कहते हैं। श्रुतार्थापत्ति के द्वारा चेतन में अचेतन की कल्पना (अध्यास) कैसे किया जाता है, उसे बता रहे हैं—इदं सर्वं यदयमात्मा, आत्मैवेदं सर्वम्, ब्रह्मैवेदं सर्वम्, पुरुष एवेदं विश्वम्, सर्वं खल्विदं ब्रह्म, वासुदेवः सर्वम्, नारायणः सर्वमिदं पुराणः—इत्यादि अनेक श्रुतिस्मृतिवाक्यों में चेतन से भिन्न अचेतन का अभाव ही बताया गया है। तथा उक्त श्रुतिवाक्यों में प्रयुक्त हुए 'इदं सर्वं पदों से प्रत्यक्ष दृश्यमान इस आकाशादि जड़ जगत् को बताया है, और आत्मा ब्रह्म, पुरुष, वासुदेव, नारायण इन शब्दों से अद्वितीय, सर्वसाक्षी, प्रत्यक्रूप परमात्मा को बताया है।

किञ्च—उपर्युक्त श्रुतिवचनों में प्रपञ्च का वाचक इदं सर्वम् पद है, तथा परमात्मा का वाचक आत्मा शब्द है। इन दोनों शब्दों (पदों) का सामानाधिकरण्य प्रतीत हो रहा है। किन्तु जड जगत् और चेतन आत्मा, दोदों का ऐक्य होना कभी भी संभव नहीं है। उस कारण चेतन और अचेतन दोनों के अभेद प्रतिपादकत्व रूप मुख्य सामानाधिकरण्य का होना यहाँ संभव नहीं है। किन्तु योऽयं चोरः स स्थाणुः—इस वाक्य में चौर और स्थाणु—इन दोनों शब्दों का जैसे बोध—सामानाधिकरण्य है, उसी तरह आत्मैवेदं सर्वम् इन्यादि श्रुति वाक्यों में आत्मा और सर्व—दोनों पदों का भी बोध सामानाधिकरण्य है।

अभिप्राय यह है कि दृष्टान्त में चोर—और स्थाणु—इन दोपों पदों के सामानाधिकरण्य से स्थाणु से भिन्न चोर का अभाव अवगत होता है। उसी तरह दार्ष्टान्तिक श्रुतिवाक्य में भी आत्मा और सर्व—इन दोनों पदों का सामानाधिकरण्य रहने आत्मा से भिन्न सम्पूर्ण जड़ जगत् का अभाव ही प्रतीत होगा। अर्थात् 'प्रपञ्चाभाववान् आत्मा'—इत्याकारक बोध उक्त श्रुतिवाक्य से होगा। एवंच जड़ प्रपञ्च की कारणता ब्रह्म में तभी संभव हो सकेगी, जब जड़ प्रपञ्च को ब्रह्म में कल्पित मानेंगे। प्रपञ्च को कल्पित माने बिना उस प्रपञ्च के अभाव का संभव नहीं है। एवं च श्रुत्युक्त जड़प्रपञ्च का अभाव, अपने प्रतियोगी जड़ प्रपञ्च की कल्पना किये बिना अनुपपन्त है। परन्तु लयप्रतिपारक श्रुतिवाक्यों के द्वारा प्रपंच का अभाव स्पष्टतया अवगत होने के कारण वह जड़ प्रपञ्च के कल्पित होने की कल्पना कराता है। इस प्रकार की श्रुतार्थपत्ति से ही चेतन में अचेतन (जड़) के कल्पित होने की कल्पना की जाती है। इसी रीति से अन्यान्य श्रुति-स्मृति के वचनों को लगाना चाहिये। क्योंकि यह तथ्य अन्यवाक्यों में भी 'पूर्णत्वात्—पुरुषः परमात्मना'—आदि वाक्य से एक सा ही (तुल्य सा ही) प्रतीत होता है।

किञ्च—'नासंवृत्तम्',—इस अन्यश्रुति से स्पष्टतया प्रतीत हो रहा है कि सम्पूर्ण भूतों में 'वह' वास करता है, और सम्पूर्ण भूत मात्र भी उसी में निवास करते हैं, अतः 'वासुदेव' ही सर्वान्तर्यामी परमात्मा है।

कहा भी है यह सर्वत्र है और सब इसमें बसता है इसलिये विद्वान् इसे वासुदेव कहते हैं।

तथा—

'नर' से जो तत्त्व उत्पन्न हैं, उसे 'नार' कहते हैं, वे ही (नार ही) हैं 'अयन' (स्थान) जिसका उसे 'नारायण' कहा गया है।

"सर्वत्रासौ समस्तञ्च वसत्यत्रेति वै यतः। ततश्च वासुदेवाख्यो विद्वद्भिः परिपद्यते ॥

इति ॥ नराज्जातं नारं तच्चायनं यस्य स नारायणः सर्वान्तर्यामीत्यर्थः। तदुक्तं महाभारते—

"नराज्जातानि तत्त्वानि नाराणीति ततो विदुः। तानि तस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः ॥

इति। अस्यार्थः—प्रत्यगभिन्नात्परमात्मनो नरादुत्पन्नानि तत्त्वानि चतुर्विंशतिः। तानि भगवता दर्शितानि

"महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च। इन्द्रियाणि दशैकञ्च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥

अथवा नारमुदकमयनमस्येति वा विग्रहः। तथाच मनुनोक्तम्

'आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः। अयनं तस्य ताः पूर्वं तेन नारायणस्मृतः ॥ इति ॥

ननु सर्वात्मशब्दयोः सामानाधिकरण्यान्नीलोत्पलादिवत्तादात्म्यमेवास्तु। नच नीलोत्पलयोर्गुणगुणिभावात्तादात्म्येऽपि प्रकृते तदभावाज्जडाजडयोर्विरुद्धस्वभावत्वाद्भिन्नाभिन्नलक्षणं तादात्म्यं कथमिति वाच्यम्। तर्हि मृद्घटयोरिव कार्य्यकारणभावसम्भवेन तयोस्तत्सम्भवात्। अथवा शाखिशाखयोरिव जडाजडयोरभेदो वास्तु इत्याशङ्क्याह—अचेतनेति[1]।

अयम्भावः—चेतनाचेतनयोर्विरुद्धस्वभावत्वान्न तादात्म्यम्। नच मृद्घटयोरिव कार्य्यकारणभावेन तत्सम्भवति अपरिणामित्वेन कार्य्यकारणभावस्य निरस्तत्वात्। विवर्त्तत्वेन तदुपगमेऽचेतनस्य कल्पितत्वमागतमेव। वृक्षशाखयोरवयवावयविभावसम्भवेन भेदाभेदे सत्यपि चेतनस्य ब्रह्मणो निरवयवत्वेन विभुत्वेन च चेतनाचेतनयोरवयवावयविभावायोगाद् अभेदो[2] न भवति, "एकमेवाद्वितीय"मिति श्रुत्या ब्रह्मणोऽद्वितीयत्वावगमाद् अनयोः पारमार्थिकोऽभेदो न सम्भवति। तस्मा"दात्मैवेदं सर्व"मिति बाधायां सामानाधिकरण्येनात्मव्यतिरेकेण कृत्स्नजडप्रपञ्चाभावप्रतिपादनेनाचेतनं सर्वं चेतने कल्पितमिति ॥८॥

•

अथवा—नार का अर्थ है जल, वही है अयन स्थान जिसका, उसे नारायण कहते हैं। इसी तथ्य को मनु भी बताया है।

शंका—सर्व और आत्म शब्द दोनों का तादात्म्य नीलोत्पल को तरह ही मान लोजिये। नील और उत्पल में गुण-गुणिभाव के कारण तादात्म्य होने पर भी प्रकृत में वैसा न रहने से जड़ और अजड़ (चेतन) दोनों का विरुद्ध स्वभाव होने से उनका भिन्नाऽभिन्न लक्षण तादात्म्य (भेदाऽभेद रूप तादात्म्य) कैसे हो सकता है?

समा०—उपर्युक्त आशंका उचित प्रतीत नहीं हो रही है। क्योंकि मृत्तिका और घट में जैसे कार्य कारणभाव का संभव होता है, वैसे ही जड़ाऽजड़ में भी भेदाऽभेदरूप तादात्म्य का होना संभव है।

शंका—अथवा वृक्ष और शाखा की तरह जड और अजड का अभेद ही मान लीजिये।

समा०—ग्रंथकार स्वयं ही अचेतनस्य इत्यादि ग्रंथ से उक्त आशंका का समाधान कर रहे हैं।

चेतन और अचेतन परस्पर विरुद्ध स्वभाव के होने से उनका तादात्म्य कभी हो नहीं सकता। कार्य कारण भाव होने से मृद्-घट के समान तादात्म्य को यहां नहीं कह सकते, क्योंकि चेतन ब्रह्म अपरिणामी होने से चेतन-अचेतन दोनों में कार्य कारण भाव हो नहीं सकता। विवर्त के रूप में कार्य कारण भाव को मानने पर अचेतन का कल्पित रहना तो अर्थात् सिद्ध हो ही जाता है। वृक्ष और शाखा में अवयवावयविभाव संभव रहने से यद्यपि भेदाऽभेद का होना संभव है, तथापि चेतन ब्रह्म के निरवयव होने से तथा विभु होने से चेतन और अचेतन में अवयवावयविभाव हो नहीं सकता। अतः उनमें भेदाऽभेद का मानना भी संभव नहीं है।

दोनों में भेद भी नहीं कह सकते, क्योंकि 'एकमेवाऽद्वितीयम्'—इस श्रुति से ब्रह्म की अद्वितीयता अवगत हो रही है। इन दोनों में वास्तविक अभेद की भी संभावना नहीं कर सकते। अतः 'आत्मैवेदं सर्वम्'—से प्रतीयमान बाधा में सामानाधिकरण्य के द्वारा आत्म व्यतिरिक्त सम्पूर्ण जड प्रपञ्च के अभाव को बताया गया है। अतः सम्पूर्ण अचेतन (जड) 'चेतन' में कल्पित ही माना जाता है॥ ८॥

---

१. चेतनेति। पाण्डुलिपिपत्रे पाठः।
२. 'अभेद' इत्यत्र भेद इति पाठेन भाव्यम्।

चेतनं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यपरमानन्दानन्ताद्वयं[1] ब्रह्म अचेतनमज्ञानादिजडजातम् ॥८॥

●

किन्तच्चेतनं किन्तदचेतनमित्याकाङ्क्षायां चेतनाचेतनस्वरूपमाह—**चेतनमिति**। कार्य्यतादात्म्यं व्यावर्त्तयति—**नित्यमिति**। "आकाशवत्सर्वगतश्च नित्य" इत्यादि श्रुतेः परस्य नित्यत्वम्। अचेतनधर्म्मतादात्म्यं व्यावर्त्तयति—**शुद्धमिति**। "अस्नाविरं शुद्धमपापविद्ध"मित्यादि श्रुतेः परस्य शुद्धत्वं रागद्वेषादिराहित्यम्। कारणीभूताज्ञानतादात्म्यं वारयति—**बुद्धमिति**। ज्ञानैकरसं प्रज्ञानघनश्रुतेरित्यर्थः। अज्ञानकृतावरणादितादात्म्यं निरस्यति—**मुक्तमिति**। बन्धरहितम् "विमुक्तश्च विमुच्यत" इति श्रुतेरित्यर्थः। अनृतत्वं निराकरोति—**सत्यमिति**। कालत्रयाबाध्यं सत्यम् 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्ब्रह्म' 'सदेव सौम्येदमग्र आसीदि'ति श्रुतेः। तस्य पुरुषार्थत्वमाह—**आनन्देति**। "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म इति श्रुतेः। तस्याऽखण्डैकरसतामाह—**अद्वयमिति**। न विद्यते द्वयं यस्य तदद्वयं पञ्चविधभेदशून्यमिति यावत्, ते च—जीवानां परस्परभेदाः, जीवेश्वरयोर्घटादीनाञ्च भेदः, ईश्वरस्य च जीवस्य च जडानाञ्च, एवं प्रतियोगिभेदेन भेदाः पञ्चविधाः, तच्छून्यं, तेषां कल्पितत्वात्।

●

शंका—चेतन में अचेतन को कल्पित बताया गया है, किन्तु चेतन कौन वस्तु है? और अचेतन कौन वस्तु है? यह बताना होगा।

समा०—नित्य, शुद्ध, बुद्ध मुक्त, सत्य, परमानन्द अद्वय जो ब्रह्म है, उसी को 'चेतन' कहते हैं। और अज्ञान से लेकर जितना भी जडवर्ग है, उसे 'अचेतन' कहते हैं।

उस ब्रह्म के नित्य आदि जो सात विशेषण प्रदर्शित किये गये हैं, उनका प्रयोजन और उनके अस्तित्व में प्रमाण दे रहे हैं।

वस्तुतः ब्रह्म में किसी भी अनात्म वस्तु का तादात्म्य नहीं है। तथापि भ्रम के कारण ब्रह्म में अनात्म वस्तु का जो तादात्म्य प्रतीत होता है, उस भ्रम सिद्ध तादात्म्य के निवारणार्थ 'नित्य' आदि विशेषण दिये गए हैं। जैसे—कार्यप्रपञ्च के तादात्म्य की निवृत्ति के लिये 'नित्य' विशेषण दिया है। ब्रह्म की नित्यता भी 'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः' इस श्रुति प्रमाण से सिद्ध हो रही है। तथा कार्य प्रपञ्च के धर्मों के तादात्म्य की निवृत्ति के लिये 'शुद्ध' विशेषण दिया है। ब्रह्म की शुद्धता में 'अस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्' यह श्रुति प्रमाण है। उसमें राग-द्वेषादि विकारों की शून्यता का रहना ही 'शुद्धता' है। तथा कारणभूत अज्ञान के तादात्म्य की निवृत्ति के लिये 'बुद्ध' विशेषण दिया है उसमें सर्वदा एकरस ज्ञानरूपता का रहना ही 'बुद्धत्व' है। ब्रह्म के बुद्ध होने में 'प्रज्ञानघनः' श्रुति ही प्रमाण है। तथा अज्ञानकृत आवरण आदि के तादात्म्य की निवृत्ति के लिये 'मुक्त' विशेषण दिया है। 'बन्ध' से शून्य (रहित रहना हो 'मुक्तता' है। ब्रह्म को मुक्तता में विमुक्तश्च विमुच्यते' श्रुति ही प्रमाण है। ब्रह्म के मिथ्यात्व के निवृत्त्यर्थ 'सत्य' विशेषण दिया गया है तीनों कालों में जिसका बाध नहीं होता, उसे 'सत्य' कहते हैं। ब्रह्म की सत्यता 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्'—श्रुति प्रमाण से सिद्ध होती है। 'आनन्द' विशेषण से ब्रह्म की पुरुषार्थता का प्रतिपादन किया गया है। 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्, विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इस श्रुति प्रमाण से ब्रह्म की आनन्दरूपता बताई गई है। 'अद्वय' विशेषण से ब्रह्म की अखण्ड-एकरसता को बताया गया है। 'अन्य' जहाँ विद्यमान नहीं है, उसे 'अद्वय' कहते हैं। अर्थात् भेदवादियों द्वारा कल्पना किये गये पाँच भेदों से रहित रहना ही 'अद्वयत्व है। वे पञ्च भेद इस प्रकार हैं—

(१) जीवों का परस्पर भेद

(२) जीव और ईश्वर दोनों का परस्पर भेद

(३) घट आदि जड़ पदार्थों के परस्पर भेद

(४) ईश्वर तथा जड़ जगत् का परस्पर भेद

(५) जीव तथा जड़ जगत् का परस्पर भेद

---

१. 'अनन्त' शब्दः सीरीज पुस्तके नास्ति। टीकायामपि तथा।

अज्ञानं त्रिगुणात्मकं सदसद्भ्यामनिर्वचनीयं भावरूपं ज्ञाननिवर्त्यम् ॥१०॥

●

अथवा त्रिविधभेदशून्यमद्वयम्। विजातीयभेदः सजातीयभेदः स्वगतभेदश्चेति त्रिविधो भेदस्तद्रहितम्। "एकमेवाद्वितीयम्ब्रह्म इति श्रुतेः ॥९॥

ननु किमिदमज्ञानम्? न तावज्ज्ञानाभावः, प्रागभावस्य प्रतियोगिसमानकालत्वायोगात्। अज्ञानस्य प्रतियोगिसमानकालत्वेन न जानामीत्यनुभूयमानत्वात्। अतः प्रागभावो नाज्ञानम्। अत एव न ध्वंसः। नात्यन्ताभावोऽपि[1] प्रतियोगिव्यधिकरणत्वात् विशेषाभावस्य ज्ञानसामान्यविरोधित्वात्। अज्ञानन्तु[2] ज्ञानसामान्यविरोधि। अत एव[3] नान्योन्याभावोऽपि। तस्माज्ज्ञानसामान्यविरोधिभावरूपमज्ञानमवश्यमङ्गीकर्त्तव्यम्॥

ननु किं लक्षणमज्ञानम्? न तावज्ज्ञाननिवर्त्यत्वम्। तस्य घटादावतिव्याप्तेः। प्रतियोगिप्रत्यक्षस्य ध्वंसं प्रति कारणत्वात्। नापि अनिर्वचनीयत्वम्। तेनैव तस्य निर्वचनात्। तस्माल्लक्षणाभावाद्भावरूपाज्ञानमनुपपन्नम्।

नापि तत्र प्रमाणं पश्यामः। न तावत्प्रत्यक्षं प्रमाणम्। तस्योभयवादिसम्मतप्रागभावविषयत्वात्। नाप्यनुमानं लिङ्गाभावात्॥ नच सर्गाद्यकालीनं कार्य्यं जडोपादानङ्कार्य्यत्वात् घटवदित्यनुमानं प्रमाणमिति वाच्यम्। तस्यार्थान्तिरत्वात्।

●

इस रीति से जीव-ईश्वर आदि प्रतियोगियों के भेद से वे भेद पांच प्रकार के होते हैं। वे सब भेद कल्पित हैं। उन पाँचों भेदों का अभाव ब्रह्म में रहता है। अतः ब्रह्म अद्वय है।

अथवा (१) सजातीय भेद, (२) विजातीय भेद, और (३) स्वगत भेद—इन तीनों भेदों से जो रहित हो उसे 'अद्वय' कहते हैं। तथा ब्रह्म की अद्वयरूपता को 'एकमेवाऽद्वितीयम्' श्रुति ने भी बताया है॥९॥

तीन गुणों वाला. सत् और असद् रूप से निश्चित कर जिसे जान व कह नहीं सकते तथा जो ज्ञान से हटता है ऐसी भावरूप वस्तु अज्ञान है।

शंका—इसके पूर्व अज्ञानादिजड़वर्ग अचेतन है, ऐसे कहा था। किन्तु अज्ञान के स्वरूप, लक्षण तथा प्रमाण को नहीं बताया। अतः उसके स्वरूप, लक्षण और प्रमाण का निरूपण करना चाहिये, जिससे अज्ञान का स्वरूप क्या है? उसका लक्षण क्या है? तथा प्रमाण क्या है? यह शंका दूर हो सके।

समा०—अज्ञान त्रिगुणात्मक है अर्थात् सत्त्व, रजस् और तमस्—ये तीन गुण जिसके स्वरूप (आत्मा) हैं, ऐसा त्रिगुणात्मक 'अज्ञान' है। अज्ञान के कार्य (जगत्) में सुख-दुःख मोहात्मकता प्रत्यक्ष प्रतीत होती है। वे सुख आदि तीनों यथाक्रम सत्त्वादि तीन गुणों के ही परिणाम हैं। कारण के तुल्यस्वभाव वाला ही कार्य हुआ करता है इस नियम के अनुसार जगद्रूप कार्य में त्रिगुणात्मकता (त्रिगुणरूपता) को देखकर उसके कारणभूत अज्ञान में भी त्रिगुणात्मकता की कल्पना की जाती है। तथा 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्' यह श्रुति भी अज्ञान की त्रिगुणात्मकता को बता रही है। अतः इससे अज्ञान का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है।

शङ्का—'ज्ञानस्य अभावः अज्ञानम्—ज्ञान के अभाव को ही अज्ञान यदि कहें तो क्या हानि है?

समा०—अभाव शब्द से क्या प्रागभाव या ध्वंस या अत्यन्ताभाव या अन्योन्याभाव इनमें से किस का ग्रहण होगा? इनमें से कोई भी पक्ष इष्ट साधक नहीं होगा। जैसे—'ज्ञानस्य प्रागभावः अज्ञानम् यदि कहें, तो यह नियम है कि

---

१. विशेषसामान्याभ्यामत्यन्ताभावो द्विविधस्तत्राज्ञानस्य ज्ञानविशेषाभावत्वमाशंक्याह—प्रतियोगिति। अज्ञानन्तु प्रतियोगिसमानाधिकरणमिति न तद् विशेषाभावः। अस्तु तर्हि ज्ञानसामान्याभावोऽज्ञानम्? तत्राह—ज्ञानसामान्येति। तथात्वे ज्ञानमात्रविरोधि तद्भवेद्, न च तथास्ति, तस्यैवाऽसिद्धिप्रसंगात्।

२. ज्ञानसामान्याऽविरोधीति युक्तं पठितुम्। एवमुत्तरत्र।

३. प्रतियोगिवैयधिकरण्यादित्यर्थः। प्रतियोग्यनधिकरणे पटादावपि भूतलस्थघटादिभेदस्तिष्ठति तथा ज्ञानानधिकरणे घटादावपि स्यादज्ञानमित्यनिष्टापत्तिः। तदुक्तं न्यायचन्द्रिकायाम् (पृ० ४३६)—'न हि तावदितरेतराभावस्याज्ञानता, तस्य विषयेपि भावाद्, ज्ञानानिवर्त्यत्वाच्च; अज्ञानस्य चात्मैकाश्रयत्वाद, ज्ञाननिवर्त्यत्वाच्च' इति।

न "चाज्ञानेनावृतं ज्ञान"मित्याद्यागम एव तत्र प्रमाणमिति वाच्यम् । आगमनस्य भ्रान्तिज्ञानविषयत्वात् नाप्यर्थापत्तिस्तत्र प्रमाणम् । दृश्यमानकार्य्यस्यान्यथोपपत्तेः । तस्माल्लक्षणप्रमाणयोरभावाच्चेतनेऽज्ञानादि कल्पितमित्यनुपपन्नमिति ।

अत आह—**अज्ञानमिति** । त्रयो गुणास्सत्त्वरजस्तमांस्यात्मानो यस्य तत्तथा । एतेन मिथ्याज्ञानतत्संस्काररूपाविद्यैव जगद्धेतुरिति प्रत्युक्तम् । आगन्तुकत्वे तस्याः सोपादानत्वनियमेन ब्रह्मणोऽपरिणामित्वेन तत्त्वायोगात् । आगन्तुकत्वेऽपसिद्धान्तप्रसङ्गात् । तस्माद्यत्किञ्चिदेतत् ॥

अज्ञानलक्षणमाह—**सदसद्भ्यामिति** । भावप्रधानोऽयं निर्देशः । सत्त्वे बाधो न स्याद् असत्त्वे प्रत्यक्षविषयत्वं न स्यात्, प्रत्यक्षेण ब्रह्म न जानामीत्यनुभूयते । अतोऽसत्त्वेनानिर्वचनीयम् । ब्रह्मज्ञाने बाध्यमानत्वात्सत्त्वेनाप्यनिर्वचनीयम् ॥

एतदुक्तम्भवति—सदसद्विलक्षणमज्ञानमिति । असद्विलक्षणमित्युक्ते सत्यतिव्याप्तिः स्यात् । अत उक्तं—**सद्विलक्षणमिति** । तावत्युक्तेऽसत्यतिव्याप्तिरत उक्तमसद्विलक्षणमिति । अभ्युपेत्येदमुक्तम्, असतो निस्स्वरूपत्वेनातिव्याप्तिशङ्कानवकाशाद्—असन्नाम किञ्चिदस्ति चेदसत्त्वव्याघातः । नास्ति चेत् कुत्रातिव्याप्तिः ? कथन्तर्ह्याचार्य्योक्तिः 'सदसद्भ्यामनिर्वचनीयमि'ति ? शिष्यबुद्धिव्युत्पादनमात्रे तात्पर्य्यादाचार्य्याणाम् 'अहृदयवाचामहृदयमेवोत्तरमि'ति न्यायेन वादिनिराकरणमात्रतात्पर्य्याद्वा असद्विलक्षणोक्तिः । कालत्रयाबाध्यत्वं सत्त्वं तद्भिन्नत्वमसत्त्वमिति फलितार्थः ॥

●

प्रागभाव अपने प्रतियोगी के काल में नहीं रहा करता, अर्थात् प्रागभाव और उसका प्रतियोगी, दोनों एक ही काल (समानकाल) में नहीं रहा करते । अज्ञान की स्थिति अपने प्रतियोगी के समान काल में भी होने से 'न जानामि' इत्याकारक अनुभव सभी को होता रहता है । इस लिये 'प्रागभाव' को 'अज्ञान' शब्द से नहीं कहा जा सकता । इसी तरह 'ज्ञानस्य ध्वंसः अज्ञानम्' और 'ज्ञानस्य अत्यन्ताभावः अज्ञानम्' भी नहीं कह सकते, क्योंकि प्रतियोगी के अधिकरण में न रहने से विशेषाभाव, तो ज्ञानसामान्य का अविरोधी होता है । किन्तु अज्ञान तो ज्ञानसामान्य का विरोधी होता है । अतएव उसे अन्योऽन्याभाव रूप भी नहीं कह सकते । इसलिये उसे ज्ञानसामान्य विरोधी और भावरूप ही मानना होगा ।

शङ्का—'अज्ञान' का लक्षण क्या हो सकता है ? यदि उसे ज्ञान के द्वारा निवृत्त होने योग्य कहें अर्थात् 'ज्ञाननिवर्त्यत्वम् अज्ञानम्' कहें, तो भी ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञाननिवर्त्यता तो घट आदि पदार्थों में भी हो सकती है । क्योंकि ध्वंस के प्रति प्रतियोगी का प्रत्यक्ष कारण होता है । अतः उक्त लक्षण की घटादिकों में अतिव्याप्ति हो जायगी ।

यदि 'अनिर्वचनीयत्वम् अज्ञानत्वम्'—अनिर्वचनीय होना ही अज्ञान है—कहें तो भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'अनिर्वचनीयत्व' कहने से अज्ञान का निर्वचन हो जाता है । एवञ्च अज्ञान का किसी प्रकार से कोई लक्षण न बन पाने से उसे (अज्ञान को) भावरूप कहना उचित नहीं है । जिस प्रकार अज्ञान का कोई लक्षण नहीं बनाया जा सकता, उसीप्रकार उसके अस्तित्व में कोई प्रमाण भी नहीं है ।

अज्ञान के अस्तित्व में यदि प्रत्यक्षप्रमाण बतावें तो वह भी उचित प्रतीत नहीं हो रहा है, क्योंकि वह तो उभयवादिसम्मत प्रागभावविषयक होता है । तथा उसके अस्तित्व में अनुमान प्रमाण कहें, तो वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि बिना लिङ्ग (हेतु) के अनुमान नहीं किया जाता ।

यदि 'कार्यत्वात्' को हेतु बनाकर यह अनुमान प्रयोग करें कि 'सर्गाद्यकालीनं कार्यं, जडोपादानं, कार्यत्वात् घटादिवत्'—तो वह भी ठीक नहीं होगा, क्योंकि वह अर्थान्तर का साधक हो जाता है ।

यदि 'अज्ञान' के अस्तित्व में 'अज्ञानेनावृत्तं ज्ञानम्' इस आगम को ही प्रमाण के रूप में कहें तो वह भी ठीक नहीं होगा । क्योंकि यह आगम भ्रान्तिज्ञान विषयक है ।

अब अज्ञान का लक्षण कहते हैं—सत्य पदार्थ से तथा असत्य पदार्थ से जो विलक्षण हों, उसे अज्ञान कहते हैं अर्थात् सत् रूप से (सत्य के रूप से) तथा असत् रूप से (असत्य के रूप से) जिसका निरूपण नहीं किया जा सकता उसे अज्ञान कहते हैं । यदि अज्ञान को सत्य कहते हैं तो 'सत्य (सत्) ब्रह्म' के समान 'अज्ञान' का भी नाश नहीं होना चाहिये, किन्तु ब्रह्मज्ञान होने पर तो अज्ञान का नाश हो जाता है । अतः अज्ञान को सत्य (सत्) भी नहीं कह सकते ।

नन्विदं लक्षणं कार्य्ये प्रपञ्चेऽप्यस्तीत्यतिव्याप्तिः ? नैष दोषः, अनादित्वे सतीति विशेषणात्। नन्वेवमपीश्वरादावतिव्याप्तिः तस्यानादित्वेन कल्पितत्वेन चोक्तलक्षणसद्भावात्। तदुक्तं श्रुत्या 'जीवेशावाभासेन करोति माया चाविद्या च स्वयमेव भवती'ति।

"जीव ईशो विशुद्धाचिद्विभागस्तु[1] योर्द्वयोः। अविद्या तच्चि[2]तोर्योगः षडस्माकमनादयः" ॥ इति सांप्रदायिकवचनात्।

'मायाभासेन जीवेशो करोतीति श्रुतन्ततः। कल्पितावेव जीवेशौ ताभ्यां सर्वं प्रकल्पितम्' ॥

इति विद्यारण्योक्तेश्च। अतिव्याप्तिर्वज्रलेपायितेत्यत आह—ज्ञाननिवर्त्यमिति। "यतो ज्ञानमज्ञानस्यैव निवर्त्तकमिति" पञ्चपादिकाचार्य्यैरुक्तत्वादज्ञानमेव ज्ञाननिवर्त्यम्। तथाचायमर्थः सम्पद्यते—सद्विलक्षणमनादिज्ञाननिवर्त्यमज्ञानमिति। अथवा अनाद्युपादानं ज्ञाननिवर्त्यमज्ञानम्। प्रागभावेऽतिव्याप्तिपरिहारायोपादानमिति। घटादावतिव्याप्तिनिवारणायानादीति। ब्रह्मण्यतिव्याप्तिवारणाय



यदि अज्ञान को असत्य (असत्) कहते हैं तो असत् वन्ध्या पुत्र के समान उसका (अज्ञान का) प्रत्यक्ष नहीं होना चाहिये, किन्तु 'अहं ब्रह्म न जानामि'—मैं ब्रह्म को नहीं जानता—इत्याकारक अज्ञान प्रत्यक्ष अनुभव तो सभी को हुआ करता है। अतः उसे (अज्ञान को) असत्य भी नहीं कह सकते। इसलिये अज्ञान को अनिर्वचनीय ही कहा जाता है। अज्ञान का लक्षण यदि 'असद्विलक्षणम्' इतना ही करें तो वन्ध्यापुत्रादि जो असत् पदार्थ हैं, उनसे विलक्षण सत् ब्रह्म में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाएगी, उसके निवारणार्थ लक्षण में 'सद्विलक्षण' पद कहा गया है। तब ब्रह्म में 'सत्' से विलक्षता न रहने से उसमें लक्षण की अति व्याप्ति नहीं होगी। अब यदि 'सद्विलक्षणम्-अज्ञानम्'—इतना ही लक्षण करें तो सत् ब्रह्म से विलक्षण जो वन्ध्यापुत्रादि असत् पदार्थ है, उनमें उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। उसके निवारणार्थ लक्षण में 'असद् विलक्षण' कहा गया है। तब वन्ध्यापुत्रादि में असत् से विलक्षणता नहीं है। अतः उसमें अतिव्याप्ति नहीं हो सकेगी।

वस्तुतः 'सद्विलक्षणम् अज्ञानम्' इतना मात्र ही कहना उचित है। 'असत्' पद के निवेश की कोई आवश्यकता नहीं है। क्योंकि असत् पदार्थ के 'असत्त्व' की सत्ता कहाँ है ? जो 'असत् पदार्थ' वस्तुतः है ही नहीं, तो किसमें अतिव्याप्ति होगी ? अतः अज्ञान के लक्षण में 'असद्विलक्षण' पद का निवेश शिष्यबुद्धिवैशद्यार्थं ही समझना चाहिये।

शङ्का—जैसे अज्ञान सत् से विलक्षण है, वैसे यह कार्यप्रपञ्च भी सत् से विलक्षण है, अतः कार्यप्रपञ्च में अज्ञान लक्षण की अतिव्याप्ति हो रही है।

समा०—उस अतिव्याप्ति के वारणार्थ लक्षण में 'अनादि' पद का निवेश करना होगा। अर्थात् 'सद्विलक्षणमनादि अज्ञानम्' यह अज्ञान लक्षण करेंगे। तब कार्यप्रपञ्च में अनादिता के न रहने से उसमें लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी।

शङ्का—कार्यप्रपञ्च में अतिव्याप्ति के दूर करने पर भी 'जीव-ईश्वर' में लक्षण की अतिव्याप्ति हो रही है। क्योंकि जीव और ईश्वर कल्पित होने से सत् से विलक्षण भी हैं और अनादि भी हैं।

जीव एवं ईश्वर के कल्पित होने की बात भगवती श्रुति तथा विद्यारण्यस्वामी ने कही है।

इन दोनों से जीव एवं ईश्वर दोनों में कल्पितत्व ही सिद्ध हो रहा है। किञ्च—साम्प्रदायिक वचन से जीव एवं ईश्वर में अनादिता सिद्ध होती है। अतः जीव एवं ईश्वर में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति तो वज्रलेप के समान हो गई है।

समा०—उस अतिव्याप्ति के निवारणार्थ लक्षण में 'ज्ञाननिवर्त्य' पद का निवेश करेंगे। श्रीपञ्चपादिकाकार ने 'यतो ज्ञानमज्ञानस्यैव निवर्तकम्' कहकर केवल 'अज्ञान' की ही ज्ञान के द्वारा निवृत्ति कही है, उससे भिन्न किसी अन्य की निवृत्ति नहीं बताई है। जीव ईश्वरादिभाव को निवृत्ति भी उस अज्ञान की निवृत्ति से ही हो जाती है। अतः ज्ञान से जीव-ईश्वर की निवृत्ति न हो पाने से जीव ईश्वर में लक्षण की अतिव्यापि नहीं हो रही रही है। एवंच 'अज्ञान' का लक्षण 'सद्विलक्षणमनादि ज्ञाननिवर्त्यम्'—यह निष्पन्न हुआ।

अथवा अज्ञान का एक अन्य लक्षण—'अनाद्युपादानं ज्ञाननिवर्त्यम् अज्ञानम्' भी कर सकते हैं। इस लक्षण में 'उपादान' पद का निवेश अनादि प्रागभाव में अतिव्याप्ति के निवारणार्थ किया है। तथा 'अनादि' पद का निवेश घटादि कार्यों

१. 'विशुद्धाचित्तयाभेदः' इति पु० मु० पाठः।
२. तद्विदोयोगः इति पाठान्तरम्।

अहं ब्रह्म न जानामीत्यनुभावात् । (ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्)[1] "देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढा"मित्यादि श्रुतेः । 'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः । 'ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः' ॥ इति स्मृतेश्च ॥११॥

●

ज्ञाननिवर्त्यमित्युक्तम्भवति । ज्ञानाभावोऽज्ञानमित्याशङ्कानिरासार्थमाह—भावरूपमिति ॥१०॥

अज्ञानसद्भावे प्रत्यक्षादिप्रमाणान्युपन्यस्यति—अहमित्यादिना । देवश्चासावात्मा च देवात्मा तस्य शक्तिम् । स्वगुणैः सत्त्वादिभिर्निगूढाम् । ब्रह्मध्यानपरायणः ब्रह्मविदः अपश्यन्निति योजना । तेनावृतत्वेन मुह्यन्ति संसरन्ति । शास्त्राचार्य्यप्रसाद-जनितज्ञानेन येषामज्ञानं निवृत्तं तेषामहं ब्रह्मास्मीति ज्ञानम्परम् ब्रह्म प्रकाशयतीत्युत्तरेणान्वयः । ज्ञानाभावस्य ब्रह्मस्वरूपावर-कत्वायोगादनिच्छतापि तार्किकबलीवर्देनानया स्मृत्या भावरूपमज्ञानमेष्टव्यम् ॥

एतेन सत्त्वरजस्तमोगुणात्मकमचेतनं स्वतन्त्रम्पारमार्थिकपरिणामि नित्यम् प्रधानमिति साङ्ख्यमतं प्रत्युक्तम् । "ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः" । इति भगवद्वचनविरोधात् ॥

●

के उपादानकारणभूत मृत्तिकादिकों में अतिव्याप्ति के निवारणार्थ किया है उसी तरह 'ज्ञाननिवर्त्य' पद का निवेश, अनादि तथा विवर्तोपादानरूप ब्रह्म में अतिव्याप्ति के निवारणार्थ किया गया है। लक्षण निर्दिष्ट अज्ञान में परिणामोपादनता का ग्रहण करना चाहिये ।

कतिपय वादी 'ज्ञानाभावः अज्ञानम्' कहते हुए ज्ञान के अभाव को ही अज्ञान समझते हैं। उनके खण्डनार्थ सिद्धान्तियों ने उस 'अज्ञान' को 'भावरूप' माना है, 'अभावरूप' नहीं ॥१०॥

अब अज्ञान के अस्तित्व में प्रमाण उपस्थित कर रहे हैं—मैं ब्रह्म को नहीं जानता हूँ—इत्याकारक अज्ञानविषयक प्रत्यक्षानुभव सभी को हुआ करता है। उस कारण अज्ञान के अस्तित्व में एक प्रमाण तो 'प्रत्यक्ष' ही है और दूसरा प्रमाण, श्रुति-स्मृति के वचनों का है। श्रुति कह रही है—जगत् के कारण का। विचार करते हुए कुछ लोगों ने काल को, तो कुछ लोगों ने स्वभाव आदि को कारण बताया किन्तु काल-स्वभाव आदि कारणों में अनेक प्रकार के दोषों को देखकर जगत् के कारण का निश्चय करने के लिये ब्रह्मचिन्तन में निमग्न रहने वाले ब्रह्मवेत्ता पुरुषों ने देवात्मशक्ति को ही जगत्-कारण के रूप में निश्चित किया, जो अज्ञान रूप शक्ति, अपने सत्त्वादिक गुणों से निगूढ है। श्रीमद् भगवद् गीता रूप स्मृति भी कह रही है कि—जिन जीवों का ज्ञान अज्ञान से आवृत हुआ है, वे जीव उस अज्ञानकृत आवरण के कारण संसार को ही प्राप्त होते हैं, और जिन जीवों का अज्ञान गुरु अथवा शास्त्र के अनुग्रह से प्राप्त हुए ज्ञान से निवृत्त हुआ है, उन पुरुषों के हृदय में 'अहं ब्रह्मास्मि' यह ज्ञान (प्रत्यक्षात्मक अनुभव), अभिन्न ब्रह्म को प्रकाशित करता है। इस प्रकार से यह गीतास्मृति भी उस अज्ञान के अस्तित्व में प्रमाण है।

अथवा उपर्युक्त गीता स्मृति के वचन ने अज्ञान को 'ब्रह्म स्वरूप का आवरक कहा है। आवरकत्व तो भाव पदार्थ में ही हो सकता है, अर्थात् भाव पदार्थ ही किसी का आवरक हो सकता है, अभाव पदार्थ तो आवरक बन ही नहीं सकता। अतः अज्ञान को ज्ञाना भावरूप मानने वाले नैयायिकों को भी स्मृति विरोध को देखते हुए अज्ञान को भावरूप ही स्वीकार कर लेना चाहिये। एवञ्च गीता का वचन अज्ञान की भावरूपता में भी प्रमाण है। उक्त गीता वचन में ज्ञान से अज्ञान का नष्ट होना बताया गया है। एवञ्च सांख्यदार्शनिकों ने जो कहा है कि 'त्रिगुणात्मक, अचेतन, स्वतंत्र, पारमार्थिक परिणामी, नित्य प्रधान (प्रकृति) ही अज्ञान है', इस कथन का खण्डन हो जाता है।

किञ्च—लोग व्यवहार में देखा जाता है कि अचेतन (जड़) रथादिकों की प्रवृत्ति, चेतन के अधीन हुआ करती है, उसकी स्वतन्त्र प्रवृत्ति नहीं होती। इससे भी स्पष्ट होता है कि प्रधान को अचेतन मानकर पुनः उसे स्वतन्त्र भी कहना अत्यन्त विरुद्ध है। किञ्च—लोकव्यवहार में यह भी दिखाई देता है कि परिणामी क्षीर आदि सावयव रहने से अनित्य ही हुआ करते हैं। उस कारण प्रधान को परिणामी मानकर पुनः उसे नित्य भी कहना अन्यन्त विरुद्ध है। प्रधान के नित्यत्व की कल्पना करने में कोई प्रमाण नहीं है। क्योंकि अदृष्ट, कल्पना दृष्टपूर्वक ही हुआ करती है। अतः साख्यदार्शनिकों का प्रकृतिवाद का सिद्धान्त उचित प्रतीत नहीं हो रहा है।

१. सीरीज पुस्तके नास्ति ।

नच बुद्धिधर्म्माज्ञानविषयतया भगवद्वचनमन्यथासिद्धमिति वाच्यम्। बुद्धिधर्म्माज्ञानस्य मिथ्याज्ञानरूपत्वेन चैतन्या-वरकत्वायोगाद् "अज्ञानेनावृतं ज्ञान" मित्यावरकत्वस्मरणात्। अचेतनस्य रथादेश्चेतनाधिष्ठितस्यैव प्रवृत्तिदर्शनेन प्रधानस्य स्वातन्त्र्यायोगात्। परिणामिनः सावयवतया क्षीरादेरनित्यत्वदर्शनेन प्रधानस्य नित्यत्वकल्पनायां मानाभावाद्दृष्टपूर्वकत्वाद-दृष्टकल्पनायाः॥ एतेन मिथ्याज्ञानम्[1] एवाज्ञानमिति प्रत्युक्तम्। तस्मात्सर्वोपादानमनाद्यनिर्वचनीयं भावरूपमज्ञानमेष्टव्यम्॥

एवञ्च सत्यद्वैतश्रुतिर्न विरुध्यते। साङ्ख्यादिस्मृतेरेव श्रुतिविरुद्धत्वेनाप्रमाणत्वात्। चकारोऽनुक्तानुमानप्रमाण-समुच्चयार्थः। **तथाहि**—विवादगोचरापन्नं प्रमाणज्ञानं स्वसमानविषयस्वसमानाधिकरणानादिविरोधिनिवर्त्तकं प्रमाणज्ञानत्वात् शुक्तिज्ञानवत्। नच प्रागभावेनार्थान्तरत्वं, प्रागभावस्याप्रमाणिकत्वात् अस्तु वा प्रागभावस्तथापि तस्य समानाश्रयत्वेऽपि समानविषयत्वासम्भवेन तन्निवारणात्। अज्ञानस्यैव समानविषयत्वात्[2]। नचानुमित्यादेरज्ञाननिवर्त्तकत्वानङ्गीकारेणानुमानस्य तत्र व्यभिचार इति वाच्यम्। असत्त्वापादकमौढ्याज्ञाननिवृत्तेरेवानुमित्यादिनाभ्युपगमेन तदसम्भवात्। अथवा पक्षहेत्वोरपरोक्षत्वं विशेषणं देयम्। नचैवं दृष्टान्ते साध्यवैकल्यं, शुक्तिज्ञानेन तन्निवृत्तेरनुभवसिद्धत्वात्॥

●

अज्ञान, जो बुद्धि का धर्म है, उसका विषय होने से 'ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः' यह भगवद्वचन अन्यथासिद्ध है, अर्थात् अन्य प्रकार से भी इसकी संगति लगाई जा सकती है। बुद्धि का धर्मरूप अज्ञान तो मिथ्याज्ञानरूप होने से वह चैतन्य को आवृत्त नहीं कर सकता, क्योंकि अज्ञानेनाऽऽवृतं ज्ञानम् इस वचन से उसे ज्ञान का ही 'आवरक' बताया गया है, चैतन्य का नहीं। इस विवेचन से 'मिथ्याज्ञानमेव अज्ञानम्'—मिथ्याज्ञान को ही अज्ञान कहनेवालों के मत का खण्डन हो गया। अतः अज्ञान को सर्वोपादानभूत, अनादि, अनिर्वचनीय-भावरूप ही स्वीकार कर लेना चाहिये।

एवञ्च भावरूप अज्ञान के स्वीकार कर ले से अद्वैतप्रतिपादक श्रुति के साथ कोई विरोध भी नहीं होता है, प्रत्युत सांख्यस्मृति ही श्रुतिविरुद्ध हो जाने से अप्रमाण हो जाती है। 'इति स्मृतेश्च'—इस ग्रन्थ में उक्त 'च' कार से अनुक्त 'अनुमान प्रमाण' का भी समुच्चय कर लिया गया है।

अनुमान इस प्रकार है—जिसका विचार चल रहा है वह प्रमाणज्ञान जिसे विषय करता है वह जिस अधिकरण में रहता है, उसे ही विषय करने वाली और उसी अधिकरण में रहने वाली किसी अनादि तथा प्रमाणज्ञानविरोधी वस्तु को निवृत्त करता है, क्योंकि वह प्रमाणज्ञान है, जैसे सींप का ज्ञान। वह वस्तु प्रागभाव हो—एवं च भावरूप अज्ञान सिद्ध न हो यह भी नहीं कह सकते क्योंकि प्रागभाव नामक वस्तु होती है इसमें कोई प्रमाण नहीं। यदि होवे तो भी वह किसी को विषय करता नहीं अतः उक्त वस्तु नहीं हो सकता। अज्ञान ही प्रमाणविषयविषयक हो सकता है। यह नहीं कह सकते कि अनुमानादि प्रमाणज्ञान होने पर भी अज्ञाननिवर्तक नहीं अतः उक्त अनुमान में प्रयुक्त हेतु साध्य से निश्चित संबंध वाला नहीं; क्योंकि अनुमानादि को असत्वापादक—'नहीं है' इत्याकारक व्यवहार हेतु अज्ञान का निवर्तक माना ही जाता है। अथवा विचार्यमाण एवं हेतुभूत दोनों प्रमाणज्ञान अपरोक्षात्मक ही विवक्षित हैं, तब अनुमानादि का विचार ही करना व्यर्थ है। दृष्टान्त में भी सींप के अपरोक्ष ज्ञान से तद्विषक अज्ञाननिवृत्त होता है यह अनुभवसिद्ध है ही। अतः इस दृष्टांत से अनुमान स्पष्ट हो जाता है।

शङ्का—अज्ञान को यदि शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्य का आवश्यक कहते हैं, तो बताइये कि वह मूलाज्ञान है, अथवा है ? अर्थात् उस अज्ञान को मूलाज्ञान तो कह नहीं सकते, क्योंकि अभी ब्रह्मसाक्षात्कार तो हुआ नहीं है। उसके न रहने पर भी यदि अज्ञान की निवृत्ति को कहें तो उक्त दोष रहेगा ही।

यदि मूलाज्ञान से भिन्न कोई है—इस द्वितीय पक्ष को भी स्वीकार नहीं कर सकते, क्योंकि उसके स्वीकार करनेपर अनन्त अज्ञानों की कल्पहा करनी पड़ेगी जिससे गौरवदोष उपस्थित होगा।

समा०—शंका करनेवाले ने जो दोष बताये हैं, वे वस्तुतः नहीं हो पाते हैं। 'शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्य' का आवरक जो 'अज्ञान' है, वह 'मूलाज्ञान' ही है। अभी ब्रह्मसाक्षात्कार' के न हो पाने से उसकी (अज्ञान की) निवृत्ति यद्यपि नहीं होती

---

१. मिथ्या यज्ज्ञानमित्यर्थो, न तु मिथ्या यदज्ञानमिति।

२. ज्ञानस्यैव स्वविषयत्वात् इति पू० मु० पाठः।

तच्चाज्ञानं द्विविधं मायाविद्याभेदात्। शुद्धसत्त्वप्रधानं सन्मायेत्युच्यते। मलिनसत्त्वप्रधानं सदविद्येत्युच्यते। "जीवेशावाभासेन करोति माया चाविद्या च स्वयमेव भवती"ति श्रुतेः ॥१२॥

अथवाऽज्ञानस्य शक्तिर्द्विविधा—ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्तिश्चेति। रजस्तमोभ्यामनभिभूतं सत्त्वं ज्ञानशक्तिः। "सत्त्वात्संजायते ज्ञान"मिति स्मृतेः।

●

ननु शुक्त्यवच्छिन्नचैतन्यावरकमज्ञानं मूलाज्ञानं तदन्यद्वा ? नाद्यः, इदानीम्ब्रह्मसाक्षात्काराभावेन तन्निवृत्त्योक्तदोषः स्यादेव। न द्वितीयः, अनन्ताज्ञानकल्पनायाङ्गौरवप्रसङ्गः इति चेत्, न्नैष दोषः। शुक्त्यवच्छिन्नचैतन्यावरकाज्ञानं मूलाज्ञानमेव। इदानीं ब्रह्मसाक्षात्काराभावेन तन्निवृत्त्यभावेऽप्यज्ञानं नष्टमित्यनुभवानुरोधेन शुक्तिज्ञानेन तत्कृतावरणनिवृत्तेः सम्भवान्नोक्तदोषः।

अथवाऽज्ञानं द्विविधं—मूलाज्ञानं तूलाज्ञानञ्च। ब्रह्मावरकमज्ञानमाद्यम्। विषयचैतन्यावरकमज्ञानन्तूलाज्ञानम्। तच्च प्रतिविषयं नाना। शुक्त्यवच्छिन्नचैतन्यावरकमज्ञानं यावद्विषयभावि एकमेव। शुक्तिज्ञानेन तत्कृतमावरणमेव निवर्त्तते न तु तदज्ञानं, ज्ञानेनाज्ञानं निवृत्तमित्यावरणनिवृत्तिरेवानुभूयते इति केचित् ॥

वस्तुतस्त्वेकैकस्मिन्विषयेऽनन्ताज्ञानानि मूलाज्ञानपरतन्त्राणि तिष्ठन्ति। एकैकज्ञानेनैकैकन्निवर्त्तते ज्ञानेनाज्ञानन्निवृत्तमित्यनुभवस्य सर्वसंमतत्वेनावरणनिवृत्तिविषयतया सङ्कोचे मानाभावात्। नचाज्ञानानन्त्याभ्युपगमे कल्पनागौरवमिति वाच्यम्। प्रमाणवतो गौरवस्यादोषत्वात्। तस्माद्दृष्टान्ते साध्यसम्भवाद् अनवद्यम् ॥११॥

अज्ञानं विभजते—**तच्चेति**। द्वैविध्यमाह—**मायेति**। एकमेवाज्ञानं 'सत्त्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाविद्या चे'ति द्विधा जातमित्याह—**शुद्धेति**। रजस्तमोभ्यामतिरस्कृतं शुद्धम्। तद्विपरीतं मलिनम्। तत्र श्रुतिप्रमाणमाह—**माया चेति। स्वयमेव**

●

सी लग रही है, तथापि 'अज्ञानं नष्टम्'—अज्ञान नष्ट हुआ—यह अनुभव मात्र होता है। उसके अनुरोप से 'शुक्तिज्ञान' से अज्ञानकृत आवरण की निवृत्ति का संभव रहने से उक्त दोष नहीं हो रहा है।

एवं च उक्त विवेचन से अज्ञान का स्वरूप, लक्षण, और प्रमाण—तीनों उपलब्ध हो रहे हैं, जिससे अनादि, अनिर्वचनीय, भावरूप अज्ञान का अस्तित्व स्पष्ट हो जाता है।

अथवा मूलाज्ञान व तूलाज्ञान—इस प्रकार अज्ञान दो तरह का है। ब्रह्म को आवृत करने वाला मूलाज्ञान है तथा विषय से अवच्छिन्न ब्रह्म को आवृत करने वाला तूलाज्ञान है। हर विषय से उक्तविधया सम्बद्ध तूलाज्ञान अनेक होते हैं। अतः ब्रह्मसाक्षात्कार के बिना ही सीप की प्रमा से तद्विषयक तूलाज्ञान नष्ट हो जाता है। एवं च उक्तानुमान में दृष्टान्त सुप्रसिद्ध है। कुछ लोग तो मानते हैं कि जब तक विषय रहता है तब तक उससे अवच्छिन्न चेतन का आवरण करने वाला तूलाज्ञान एक ही बना रहता है तथा विषयप्रमा से तूलाज्ञान से होने वाला आवरण ही निवृत्त होता है न कि वह अज्ञान। इस मत में आवरण रूप वस्तु की निवृत्ति से दृष्टान्त की सिद्धि समझनी चाहिये।

वस्तुतः तो मूलाज्ञान के परतन्त्र अनन्त अज्ञान हर विषय से उक्तविधया सम्बद्ध हुए अवस्थित हैं जो हर एक प्रमा से निवृत्त हो जाते हैं अतः केवल आवरणनिवृत्ति मानने का औचित्य नहीं। अनन्त अज्ञान मानने का गौरव कोई दोष नहीं क्योंकि वह प्रामाणिक है। ज्ञान से अज्ञान निवृत्त होता है—यह अबाधित अनुभव ही अनेक तूलज्ञानों में प्रमाण है। अतः दृष्टान्त में साध्य व साधन दोनों के रहने से अनुमान निर्दोष है ॥ १२ ॥

वह अज्ञान दो प्रकार का है—(१) माया और (२) अविद्या। जो अज्ञान शुद्ध सत्त्वगुण प्रधान होता है, उसे माया कहते हैं, और जो अज्ञान मलिन सत्त्वगुण प्रधान होता है, उसे अविद्या कहते हैं।

रजोगुण और तमोगुण दोनों से जब सत्त्वगुण अभिभूत नहीं रहता है, तब उस सत्त्वगुण को शुद्ध कहते हैं, और जब रजोगुण, तथा तमोगुण से सत्त्वगुण अभिभूत हो जाता है, तब उस सत्त्वगुण को मलिन कहते हैं। एवञ्च एक ही अज्ञान सत्त्वगुण की शुद्धि के कारण मायारूप कहलाता है, और वही अज्ञान, सत्त्वगुण की अशुद्धि (मलिनता) के कारण अविद्या कहलाता है। भगवतीश्रुति ने भी इसी तथ्य को अभिव्यक्त किया है यह कहकर कि मूल प्रकृति (अज्ञान) स्वयं ही 'माया'

१. दृष्टान्ते विनाऽधिष्ठानप्रमामज्ञाननिवृत्तौ ज्ञाननिवर्त्यत्व च स्यादिति। 'तदनिवृत्त्या' इति पाठश्चेत्, स्पष्टोऽर्थः।

सत्त्वेनानभिभूते रजस्तमसी क्रियाशक्तिः। क्रियाशक्तिर्द्विविधा, आवरणशक्तिर्विक्षेपशक्तिश्चेति। रजस्सत्त्वाभ्यामनभिभूतं तम आवरणशक्तिः। तदुक्तम्, "कृष्णं तम आवरणात्मकत्वादिति"। सा च नास्ति न प्रकाशत इति व्यवहारहेतुः। तथाचोक्तम्, "न भाति नास्ति कूटस्थ इत्यापादानमावृति"रिति।

●

यथोक्तप्रकारेण मायाऽविद्या चेति द्विधा भवति। ताभ्यां मायाविद्याभ्यामेकमेव चैतन्यं जीवेश्वररूपेण द्विधा जातमित्याह—जीवेशाविति। आभासेन प्रतिबिम्बरूपेणेत्यर्थः। अयम्भावः—मायाप्रतिबिम्बितं चैतन्यमीश्वरः, अविद्याप्रतिबिम्बितश्चैतन्यञ्जीव इति ॥१२॥

प्रकारान्तरेण मायाविद्याभेदञ्च वक्तुमज्ञानस्य शक्तिं विभजते—अथवेत्यादिना। कार्य्यानुकूलकारणनिष्ठसामर्थ्यं शक्तिः। ज्ञानशक्तिं व्युत्पादयति—रज इति। अनभिभूतमतिरस्कृतम्। इदङ्कुतोऽवगम्यते? इत्यत आह—सत्त्वादिति। आवरणशक्तिमाह—रज इति। तत्र भाष्यकारसंमतिमाह—तदुक्तमिति। 'चमसवदविशेषादि'त्यत्र पूर्वपक्षे "अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णा" मित्यस्याजामन्त्रस्य व्याख्यानावसरे कृष्णशब्देन तमोगुणः प्रतिपाद्यते तमोगुणस्यावरणात्मकत्वादिति तस्यावरकत्वं प्रतिपादितं भाष्यकारेणातो यथोक्तलक्षणावरणशक्तिरित्यर्थः। तस्य लक्षणमाह—सा चेति। पूर्वं स्वरूपं व्युत्पादितम्, इह तु लक्षणं व्युत्पाद्यत इति विशेषः। अर्थान्नास्ति न प्रकाशत[1] इति व्यवहारकारणमज्ञानशक्तिरिति तल्लक्षणं ज्ञेयम्। तत्र संमतिमाह—तथा चोक्तमिति।

●

तथा 'अविद्या' के रूप में परिवर्तित हो जाती है। तब माया और अविद्या—इन दो उपाधियों (विशेषणों) के कारण वह एक ही चैतन्य, 'जीव' तथा 'ईश्वर' के नाम से कहलाता है अर्थात् माया में प्रतिबिम्बित हुए चैतन्य को 'ईश्वर' कहते हैं, और अविद्या में प्रतिबिम्बित हुए चैतन्य को 'जीव' कहते हैं।

इसी तथ्य को श्रुति भी बता रही है—'जीवेशावाभासेन करोति'—अर्थात् एक ही 'अज्ञान', स्वनिष्ठ आभास (प्रतिबिम्ब) के कारण ईश्वर और जीव—ये दो नाम, उस एक ही चैतन्य को प्रदान करा देता है ॥१२॥

कुछ विद्वान्, 'माया' और 'अविद्या' का भेद बताने के लिये 'अज्ञान' की शक्ति को एक दूसरे प्रकार से विभक्त करके बता रहे हैं—अथवे'ति। अज्ञान की दो प्रकार की शक्ति होती है—(१) ज्ञानशक्ति और (२) क्रियाशक्ति। कार्य के उत्पादक कारण में रहनेवाले सामर्थ्य को शक्ति कहते हैं। उसमें भी ज्ञान की उत्पादक शक्ति को ज्ञानशक्ति कहते हैं, और क्रिया की उत्पादक शक्ति को 'क्रियाशक्ति' कहते हैं।

उपर्युक्त ज्ञानशक्ति को ही ग्रन्थकार बता रहे है—'रज'इति। रजस् और तमस्—इन दोनों गुणों से अनभिभूत (अतिरस्कृत) होकर रहनेवाला जो सत्त्वगुण है, उसी को ज्ञानशक्ति कहते हैं। किन्तु यह तथ्य कैसे अवगत हुआ? ऐसा प्रश्न होने पर ग्रन्थकार कह रहे हैं—सत्त्वादि'ति। 'सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानम्'—इस भगवदुक्त गीता वचन के द्वारा अवगत हो रहा है कि सत्त्वगुण से ज्ञान की उत्पत्ति होती है। एवं च सत्त्वगुण, ज्ञानशक्तिरूप है—इस कथन में श्रीमद्भगवद्गीता का वचन ही प्रमाण माना जाता है।

तथा सत्त्वगुण से अनभिभूत रहनेवाले रजस् और तमस्—इन दो गुणों को क्रियाशक्ति कहते हैं। यह क्रियाशक्ति दो प्रकार की होती है—(१) आवरणशक्ति और (२) विक्षेपशक्ति। आवरण करनेवाली शक्ति को आवरणशक्ति और विक्षेप को पैदा को पैदा करनेवाली शक्ति को विक्षेपशक्ति कहते हैं। उनमें से सत्त्व और रजस्—इन दो गुणों से अनभिभूत रहनेवाल तमोगुण को आवरणशक्ति कहते हैं।

इस तथ्य को भगवान् भाष्यकार ने भी 'कृष्णं तमः आवरणात्मकत्वात्' कह कर व्यक्त किया है। 'अजामेकां लोहित-शुक्ल-कृष्णाम्'—इस मंत्र में प्रयुक्त 'कृष्ण' शब्द, 'तमोगुण' का ही वाचक है। क्योंकि 'तमोगुण', आवरणात्मक है। उक्त श्रुति की व्याख्या करते हुए भाष्यकार ने 'तमोगुण' की आवरकता का प्रति पादन किया है। अतः 'तमो गुण' को ही आवरण-शक्तिरूप समझना चाहिये। यही आवरण शक्ति का स्वरूप है।

अब 'आवरण शक्ति' का लक्षण बता रहे हैं—'सा चेति'। पहिले उसका 'स्वरूप', बताया था, अब उसका 'लक्षण' बताया जा रहा है।

---

१. ग, अर्थादस्ति प्रकाशत इति व्यवहारकारणं ज्ञानशक्तिरिति पाठः।

तमस्सत्त्वाभ्यामनभिभूतं रजो विक्षेपशक्तिः; "रजसो लोभ एव च"ति स्मृतेः ॥१३॥

लोभादीनां विक्षेपकत्वं प्रसिद्धमेव । सा चाकाशादिप्रपञ्चोत्पत्तिहेतुः । उक्तञ्च,—

"विक्षेपशक्तिर्लिङ्गादि ब्रह्माण्डान्तं जगत्सृजे"दिति । तथाच, पूर्वोक्ताज्ञानं आवरणशक्तिप्रधानं[1] सदविद्येत्युच्यते । ज्ञानशक्तिप्रधानं सन्मायेत्युच्यते ।

●

कूटवन्निर्विकारेण तिष्ठतीति कूटस्थः परमात्मा स नास्ति न प्रकाशत इत्यापादानम् । आपादानकारणमावृत्तिरावरणशक्तिरित्यर्थः । विक्षेपशक्तिमाह—तम इति ॥१३॥

ननु रजसो लोभहेतुत्वमुदाहृतस्मृतावगम्यते ननु विक्षेपहेतुत्वमित्याशङ्क्याह—लोभादीनामिति । आदिशब्देन मदमात्सर्यादयो ग्राह्याः । विक्षेपशक्तेः कृत्यमाह—साचेति । सजातीयविजातीयव्यावर्त्तकत्वादिदमेवास्या लक्षणम् । तत्र सम्मतिमाह—उक्तञ्चेति । समष्टिव्यष्टिसूक्ष्मशरीरं लिङ्गम् । आदिशब्देन पञ्चीकृतभूतानि गृह्यन्ते ॥

ननु भवत्वेवं, प्रकृते किमायातमित्यत आह—तथाचेति । नच वैपरीत्ये किं विनिगमकमिति वाच्यम् । स्वाश्रयाव्या-

●

'ब्रह्म', नहीं है तथा 'ब्रह्म' प्रकाशित (भासता) नहीं होता है—इस प्रकार के व्यवहार की कारणभूत 'अज्ञान शक्ति' को ही आवरणशक्ति' कहते हैं ।

इसी तरह 'ज्ञानशक्ति' का भी लक्षण—'अस्ति प्रकाशते'—इति व्यवहारकारणं ज्ञानशक्ति समझ लेना चाहिये ।

उक्त 'आवरणशक्ति' के लक्षण पर श्रीविद्यारण्यस्वामी की सम्मति बता रहे हैं—'तथाचोक्तमि'ति । 'कूट' के समान निर्विकार रूप से जो स्थित रहता है, उसे 'कूटस्थ' कहते हैं । इस प्रकार कूटस्थ परमात्मा रहने पर भी वह नहीं है, वह भासित नहीं होता है'-इस इत्याकारक व्यवहार में जो कारण है, उसी को आवरणशक्ति' कहा जाता है ।

अब 'विक्षेपशक्ति' को बताते हैं तम इति । तमोगुण और सत्त्वगुण—इन दोनों गुणों से अनभिभूत रहनेवाले रजोगुण को ही विक्षेपशक्ति कहते हैं । उक्त कथन में श्रीमद्भगवद्गीता का वचन—"रजसो लोभ एव च"—ही प्रमाण है । रजोगुण से लोभ आदि की उत्पत्ति होती है, और लोभ, मद, मत्सर इत्यादि में विक्षेप की कारणता प्रसिद्ध ही है । अतः अनभिभूत रजोगुण की—विक्षेप शक्तिरूपता, गीतास्मृति के वचन से स्पष्ट हो जाती है ॥१३॥

लोभ, मद, मत्सर इत्यादि, विक्षेप के कारण हुआ करते हैं, यह प्रसिद्ध ही है । इस विक्षेपशक्ति के अस्तित्व में गीता का वचन प्रमाण है ।

विक्षेपशक्ति का लक्षण बता रहे हैं—आकाशादि प्रपञ्च की उत्पत्ति का कारण जो शक्ति है, उसे विक्षेपशक्ति कहा जाता है । सजातीय-विजातीयव्यवर्तक होने से यही विक्षेपशक्ति का लक्षण निश्चित किया गया है । इसमें प्राचीन आचार्य का सम्मति भी है—क्योंकि कहा है कि समष्टि-व्यष्टिरूप लिङ्गशरीर (सूक्ष्म शरीर) से लेकर चतुर्दश भुवनात्मक ब्रह्माण्ड तक सम्पूर्ण जगत् को विक्षेपशक्ति ही उत्पन्न करती है । उपर्युक्त आदि शब्द से पञ्चीकृतभूतों का ग्रहण किया गया है ।

उपर्युक्त कथन से प्रकृत में क्या लाभ हुआ ? उसे बताने के लिये कह रहे हैं—तथाचेति । कहने का निष्कर्ष यह हुआ कि पूर्वोक्त अज्ञान ही आवरणशक्ति प्रधान रहने पर अविद्या शब्द से कहा जाता है, और वही, विक्षेपशक्ति प्रधान रहने पर माया शब्द से कहा जाता है ।

शङ्का—ऊपर अविद्या और माया की जो परिभाषा बताई गई है, उसे विपरीत ही क्यों न माना जाय ? अर्थात् आवरणशक्ति प्रधान वाले अज्ञान को माया, और विक्षेपशक्ति प्रधानवाले अज्ञान को अविद्या क्यों न कहा जाय ?

समा०—शास्त्रों में अविद्या और माया का लक्षण बताया गया है—'स्वाश्रयाऽव्यामोहकरी माया' अर्थात् अपने आश्रय में जो व्यामोह की प्राप्ति नहीं कराती उसे माया कहते हैं, और 'स्वाश्रयव्यामोहकरी अविद्या'—अर्थात् अपने आश्रय में जो व्यामोह की प्राप्ति कराती है, उसे अविद्या कहते हैं । आवरणशक्ति मोहकारिणी होती है, इसलिये आवरणशक्ति प्रधान

१. ग, ज्ञानविक्षेपशक्तिप्रधानम् पाठः ।

एतदभिप्राया स्मृतिरपि

"तरत्यविद्यां विततां हृदि यस्मिन्निवेशिते।
योगी मायाममेयाय तस्मै विद्यात्मने नमः" ॥

●

मोहकरी माया, स्वाश्रयमोहकरी अविद्येति मायाविद्यालक्षणप्रसिद्धेः आवरणशक्तेर्मोहकारित्वात् तत्प्रधानमज्ञानमविद्येत्युच्यते। विक्षेपादिशक्तेरन्यथात्वात्तत्प्रधानमज्ञानं मायेत्युच्यते। तथाच न वैपरीत्यमिति भावः॥

ननु 'तरत्यविद्यामि'ति श्लोके घटकलशादिवन्मायाविद्याशब्दयोः पर्य्यायत्वमवगम्यते, तत्कथं तयोर्भेदसिद्धिरित्यत आह—एतदभिप्राया स्मृतिरपीति। अत्राप्यावरणशक्तिं निमित्तीकृत्याविद्याशब्दः प्रकृतिं व्युत्पादयति। विक्षेपादिशक्तिं निमित्तीकृत्य मायाशब्दोऽपीति। एषोऽभिप्रायो यस्याः सा एतदभिप्राया सा तथोक्ता। योगो ब्रह्मसाक्षात्कारोऽस्यास्तीति योगी ब्रह्मनिष्ठ इति यावत्। यस्मिन् सर्वान्तर्य्यामिणि सर्वाधिष्ठाने वासुदेवे। हृदि अन्तःकरणे। निवेशितेऽहम्ब्रह्मास्मीति साक्षात्कृते सति। कार्य्याकारेणाविष्कृतामावरणशक्तिप्राधान्येनाविद्याशब्दवाच्यां, विक्षेपशक्तिप्राधान्येन मायापदवाच्यां, प्रकृतिं तरति नाशयति। तस्मै नमइति सम्बन्धः। कीदृशाय नमः? विद्या चैतन्यमात्मा यस्य स तथोक्तस्तस्मै। पुनः कस्मै? अमेयाय न मेयोऽमेयः अप्रमेयायेत्यर्थः॥

ननु पूर्वं साक्षात्कारविषयत्वं ब्रह्मणः प्रतिपादितमिदानीमप्रमेयत्वमुच्यते तथाच पूर्वोत्तरव्याघातः? उच्यते वृत्तिविषयत्वमुक्तं साक्षात्कृते सतीति। अप्रमेयायेति चैतन्याविषयत्वमुच्यते 'यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'

●

जो अज्ञान है, उसे अविद्या ही कहते हैं। उसे माया नहीं कहते। विक्षेप आदि शक्ति में मोहकारिता न होने से विक्षेप आदि शक्ति प्रधान अज्ञान को माया शब्द से ही कहा जाता है। उसे अविद्या नहीं कहते। विक्षेप आदि में आदि शब्द से ज्ञानशक्ति का भी ग्रहण करना चाहिये। माया और अविद्या के भेद का समर्थन स्मृति ने भी किया है। स्मृति कहती है—

कि हृदय में जिस परमात्मा का साक्षात्कार होने पर ब्रह्मज्ञानी योगी, उस आवरणशक्ति—प्रधान अज्ञानरूप अविद्या को तथा उस विक्षेप शक्तिप्रधान अज्ञानरूप माया को नष्ट कर देता है, उस ज्ञानस्वरूप अप्रमेय ब्रह्म को हमारा प्रणाम है।

शङ्का—'तरत्यविद्याम्' इस स्मृति वचन से तो 'घट-कलश' की तरह 'माया' और 'अविद्या' ये दोनों एक दूसरे के पर्याय होते हैं। अतः उनकी भिन्नता कैसे सिद्ध हो सकती है?

समा०—उक्त स्मृति वचन से उन दोनों की भिन्नता ही स्पष्ट की गई है। उक्त वचन में 'आवरण शक्ति' को निमित्त मानकर जो 'अविद्या' शब्द का प्रयोग किया गया है, वह 'प्रकृति' को बता रहा है। और 'विक्षेपादि शक्ति' को निमित्त मानकर 'माया' शब्द का जो प्रयोग किया है, वह भी 'प्रकृति' को ही बता रहा। इसी अभिप्राय से ग्रन्थकार ने स्मृति का उद्धरण दिया है। 'योग' अर्थात् ब्रह्मसाक्षात्कार—जिसे हुआ है, वह 'योगी' अर्थात् 'ब्रह्मनिष्ठ' कहलाता है। उसके हृदय (अन्तःकरण) में जिस सर्वान्तर्यामी सर्वाधिष्ठान वासुदेव भगवान् श्रीकृष्ण का 'निवेशिते' अर्थात् 'अहम्ब्रह्मास्मि' अर्थात् 'अहं वासुदेवः श्रीकृष्णोऽस्मि' यह साक्षात्कारात्मक अनुभव हुआ है, वही ब्रह्मनिष्ठ योगी, कार्य के आकार में आविष्कृत हुई, आवरणशक्ति की प्रधानता के कारण 'अविद्या' शब्द से वाच्य, और विक्षेप शक्ति की प्रधानता के कारण 'माया' शब्द से वाच्य जो 'प्रकृति' है, उसे नष्ट कर पाता है, उसे हमारा प्रणाम है। वह ब्रह्मनिष्ठ योगी कैसा है? इस प्रश्न के उत्तर में कहा 'विद्यात्मने'। अर्थात् वह ब्रह्मनिष्ठ योगी, चैतन्य स्वरूप मात्र है। दूसरा विशेषण दिया है—'अमेयाय'। अर्थात् अप्रमेय, जो किसी का विषय नहीं होता है।

शङ्का—पहिले तो यह बताया था कि 'ब्रह्म', साक्षात्कार का विषय होता है, और अब कह रहे हैं कि वह 'अप्रमेय' है- अर्थात् किसी का विषय नहीं है। कहना तो पूर्वोत्तरव्याघात रूप है। अर्थात् पहिले जो कहा उसी के विपरीत अब कह रहे हैं। यह ठीक नहीं है।

समा०—'साक्षात्कृते सति' कह कर उसमें वृत्तिविषयता' बताई थी किन्तु अब 'अप्रमेयाय' कहकर 'चैतन्याविषयत्व' को बताया गया है। इसी—अभिप्राय से परमात्मा को विषय और अविषय बताने वाले श्रुतिवचन भी लेने चाहिये। अतः पूर्वोत्तरव्याघात की गन्ध भी नहीं है।

इत्येवंरूपा द्रष्टव्या ।—एवं च मायोपहितं चैतन्यमीश्वरो जगत्कारणमन्तर्यामीत्युच्यते । स एव तत्पद-वाच्यार्थः ॥१४॥

अविद्योपहितं चैतन्यं जीवः प्राज्ञ इति चोच्यते । तदुक्तम्,—

"तमोरजस्सत्त्वगुणा प्रकृतिर्द्विविधा च सा । सत्त्वशुद्धयविशुद्धिभ्यां मायाविद्ये च ते मते" ॥

"मायाबिम्बो[1] वशीकृत्य तां स्यात् सर्वज्ञ ईश्वरः । अविद्यावशगस्त्वन्यस्तद्वैचित्र्यादनेकधा" ॥ इति ॥

●

'तन्त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामी'त्यादिश्रुतिभ्यः । अतो न व्याघात इत्यर्थः । मायाविद्याविभागनिरूपणफलमाह—**एवञ्चेति** । "एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्यामी एषो योनिः सर्वस्ये"त्यादिश्रुत्योच्यते इति शेषः ॥

ततः किम् ? तत्राह—**स एवेति** । स ईश्वरः "तत्त्वमसि" वाक्ये तत्पदस्य वाच्यार्थः ॥१४॥

नन्वविद्यायाः कुत्र तदुपयोग इत्याशङ्क्य 'सुषुप्तस्थाने एकीभूतः प्रज्ञानघन 'एषानन्दमयो ह्यानन्दभुगि'त्यादिश्रुत्या **अविद्योपहितं चैतन्यं जीवः प्राज्ञ इति चोच्यते** स एव त्वं पदस्य वाच्यार्थं इत्यभिप्रेत्य प्रसङ्गाज्जीवस्वरूपं व्युत्पादयति—**अविद्योपहितमिति** । उक्तश्रुत्येति शेषः । उक्तेऽर्थे वृद्धसंमतिमाह—**तदुक्तमिति** । सच्चिदानन्दब्रह्मप्रतिविम्बसमन्विता सत्त्वरजस्तमो-गुणात्मिका प्रकृतिरेकैव ।

"अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः । अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः" ॥

●

अब 'माया' और 'अविद्या' का जो विभाग बताया गया है, उसका 'फल' बता रहे हैं—**'चैतन्य' जब 'माया' से उपहित होता है, तब उस 'चैतन्य' को ईश्वर' कहते हैं, और उसे ही 'जगत्' का कारण कहते हैं, और उसे ही 'अन्तर्यामी' कहते हैं ।** 'एष सर्वेश्वरः'—यह श्रुति, मायोपहित चैतन्य को 'ईश्वर' कह रही है । तथा 'एषोऽन्तर्यामी'—यह श्रुति, उसे 'अन्तर्यामी' कह रही है । तथा 'एष योनिः सर्वस्य'—यह श्रुति, उसे सर्वकारण बता रही है । एवं च इन श्रुतिप्रमाणों से 'मायोपहित चैतन्य' में 'ईश्वरत्व', 'अन्तर्यामित्व', तथा 'जगत्कारणत्व' सिद्ध हो जाता है ।

उक्त विवेचन से जो निष्कर्ष निकला, उसे ग्रन्थकार 'स एव' कहकर बता रहे हैं—**मायोपहित चैतन्य जो 'ईश्वर' है वही, 'तत्त्वमसि' महावाक्य के 'तत्' पद का 'वाच्यार्थ' है ॥ १४ ॥**

शङ्का—मायारूप उपाधि से उपहित होने पर ही 'चैतन्य' को ईश्वर कहा गया है, तो 'अविद्या' का उपयोग कहाँ होगा ?

समा०—**सुषुप्तस्थान में एकीभूत होने वाला 'चैतन्य', जो 'अविद्या' से उपहित रहता है, उसे 'जीव' और प्राज्ञ' भी कहते हैं ।** श्रुति ने भी कहा है—'एष आनन्दमयह्यानन्दभुक् । वह 'जीव' ही 'त्वम्' पद का वाच्यार्थ है, इसी अभिप्राय को ध्यान में रखकर प्रसंगप्राप्त 'जीव' के स्वरूप का प्रतिपादन ग्रन्थकार कर रहे हैं, **अविद्योपहित' मिति** । यहाँ 'उपहित' शब्द से 'प्रतिबिम्ब' का ग्रहण करना चाहिये । अभिप्राय यह है कि 'माया' में प्रतिबिम्ब चैतन्य 'ईश्वर' है, और अविद्या में प्रतिबिम्बित चैतन्य 'जीव' है । इसी तथ्य को श्रीविद्यारण्यकृत पञ्चदशी में भी कहा गया है—

सच्चिदानन्दानन्द ब्रह्म के प्रतिबिम्ब से युक्त त्रिगुणात्मिका (सत्त्वरजस्तमोगुणात्मिका) जो प्रकृति है, वह, माया और अविद्या के भेद से दो प्रकार की होती है । शुद्धसत्त्वगुण की प्रधानता रहने पर उस प्रकृति माया शब्द से कहा जाता है । और मलिन सत्त्वगुण की प्रधानता रहने पर उसी प्रकृति को अविद्या शब्द से कहा जाता है । माया में प्रतिबिम्बित हुआ जो चैतन्य है, वह, उस माया को अपने वंशगत किये रहता है, अतएव उसे ईश्वर तथा सर्वज्ञ कहा गया है । तथा अविद्या में प्रतिबिम्बित हुआ जो चैतन्य है, उसे जीव कहा गया है । वह जीवसञ्ज्ञक चैतन्य, उस अविद्या के वश रहता हुआ, अविद्या की विचित्रता से स्वयं भी देव, मनुष्य, तिर्यक् आदि रूपों में से अनेक प्रकार के रूपों को धारण करता रहता है ।

अभिप्राय यह है—शुद्धसत्त्वगुण प्रधान माया, एक ही है, अतः उस माया में प्रतिबिम्बित ईश्वर चैतन्य भी एक ही है । और मलिन सत्त्वप्रधान अविद्या है, वह मलिनता की विचित्रता से अनेक प्रकार की है । उस कारण उस अविद्या में प्रतिबिम्बित हुआ जीवचैतन्य भी अनेक प्रकार का होता है । इस पक्ष में नानाजीव-वाद की सिद्धि हो जाती है । उक्त कथन

१. मायां बिम्बो इत्यपि पाठः ।

'अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः' ।
"मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम्" ॥

इत्येवमादयः श्रुतय उक्ताभिप्राया द्रष्टव्याः ॥१५॥

●

"न तं विदाथ य इमाः जजानान्यद् युष्माकमन्तरं बभूव । नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्तो" त्यादि श्रुतिभ्यः ॥

ननु 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' इत्यादिश्रुतौ मायाभिरिति बहुवचनसामर्थ्याल्लिङ्गादज्ञानस्य नानात्वावगमात्कथमेकत्वमवधार्य्यते । न चाजामन्त्रेण तदवगम्यते इति वाच्यम् । श्रुत्यन्तरविरोधे तदवधारणायोगात् । नच परस्परविरोधादुभयोरप्रामाण्यापत्तिरिति वाच्यम् । बहुवचनसामर्थ्यादज्ञाननानात्वे निश्चितेऽजामन्त्रस्याज्ञानसमष्टिपरत्वोपपत्तेः । तस्मात्प्रकृतिरेकैवेत्यवधारणमनुपपन्नमिति ?

मैवम्, श्रौतार्थस्य बलवत्त्वात्प्रकृतेरेकत्वावधारणोपपत्तेः । तथाहि—अजामन्त्रे एकामिति श्रुत्या एकवचनसामर्थ्येन च लिङ्गेन प्रकृतेरेकत्वं निश्चीयते । "इन्द्रो मायाभि"रित्यस्मिन्मन्त्रे बहुवचनसामर्थ्यादज्ञाननानात्वमवगम्यते । तत्र श्रुतिलिङ्गयोः श्रुतेर्बलीयस्त्वाच्छ्रौतार्थं प्रकृत्यैकत्वमभ्युपगन्तव्यम् । अन्यथा न्यायविरोधापत्तेः । किञ्च, "इन्द्रो मायाभि"रित्यत्र केवललिङ्गादज्ञाननानात्वमवगम्यते । अजामन्त्रे श्रुतिलिङ्गाभ्यामज्ञानैकत्वमिति तदेवावश्यमभ्युपगन्तव्यम् ॥

तर्हीन्द्रो मायाभिरिति मन्त्रस्याप्रामाण्यप्रसङ्ग इति चेन्न । अर्थान्तरत्वेन प्रामाण्योपपत्तेः । तथाहि—"इन्द्रो

●

में श्रुति का प्रमाण भी उपलब्ध होता है—श्रुति ने कहा है कि अकस्मात् वेदात् इस वेद वाक्य से मायी मायोपाधिक परमात्मा, एतत् इस श्रुत्यादि प्रमाण से अवगत होनेवाले विश्वम् आकाशादि ब्रह्माण्डान्तजगत् को सृजते उत्पादयति उत्पन्न करता है, तस्मिन् उसके सृष्ट होने पर अविद्योपाधिक अन्य जो जीव हैं, वह पूर्वोक्त मायया अर्थात् देहादिकों में अहम्, मम इस अभिमान से सन्निरुद्धः बद्ध होता है। प्रकृति ही जगत् का उपादान कारण है, वही माया शब्द से कही जाती है, और मायिनम् मायोपाधिक महेश्वर है, यह समझना चाहिये।

अभिप्राय यह है कि मायोपाधिक परमात्मा, अपनी उपाधिभूत माया की प्रधानता से जगत् का उपादानकारण है, और अपने स्वरूप की प्रधानता से वही, जगत् का निमित्तकारण भी है। इसी रहस्य को आगे बताएँगे। एवंच सच्चिदानन्द ब्रह्म प्रतिबिम्बित समन्विता सत्त्वरजस्तमोगुणात्मिका प्रकृति एक ही है। अनेक श्रुतियाँ भी उक्त तथ्य को बताती हैं—अजामेकाम् इत्यादि।

उक्त श्रुति का विशद अर्थ, हमारी सांख्य तत्त्व कौमुदी की 'तत्त्वप्रकाशिका' व्याख्या में जिज्ञासुओं को देख लेना चाहिये।

शङ्का—'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते'—इस श्रुति में मायाभिः—इस बहुवचन के सामर्थ्यरूप लिङ्ग से अज्ञान का नानात्व अवगत होता है, तब आप उसे एक कैसे कह सकते हैं? यदि आप यह कहें कि अजा मन्त्र से एकत्व की प्रतीति होती है, तो यह कहना ठीक नहीं है। अन्यथा श्रुत्यन्तर के साथ विरोध होगा, जिससे, उक्त एकत्व का अवधारण करना संभव नहीं है। यदि आप यह कहें कि श्रुतियों का परस्पर विरोध रहने पर दोनों को अप्रमाण कहने का प्रसंग प्राप्त होगा, तो यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि बहुवचन के सामर्थ्य से अज्ञान का नानात्व निश्चित रहने से उक्त अजामन्त्र को अज्ञान समष्टि परक लगाया जा सकेगा। तस्मात् प्रकृति को एक ही बताना उपपन्न नहीं हो रहा है, अर्थात् प्रकृति का एकत्वावधारण अनुपपन्न है।

समा०—श्रौतार्थ के प्रबल रहने से प्रकृति के एकत्वावधारण की उपपत्ति हो जाती है। तथाहि—अजामन्त्र में एकाम् इस श्रुति से और एकवचन के सामर्थ्य रूप लिङ्ग से प्रकृति का एकत्व निश्चित किया जाता है। इन्द्रो मायाभिः—इस मन्त्र में बहुवचन के सामर्थ्य से अज्ञान के नानात्व की प्रतीति होती है। इस परिस्थिति में श्रुति और लिङ्ग का विरोध उपस्थित होनेपर श्रुति की प्रबलता रहने से श्रौतार्थ जो प्रकृत्यैकत्व है, उसी का स्वीकार करना चाहिये। अन्यथा मीमांसा न्याय का विरोध प्राप्त होगा।

यद्वा, यथा एक एव देवदत्तः क्रियानिमित्तवशेन पाठकः पाचक[1] इति व्यपदिश्यते, तथा एकमेवाज्ञानं विक्षेपावरणशक्तिनिमित्तभेदेन मायाऽविद्येति च व्यपदिश्यते। तथाच—अविद्याप्रतिबिम्बितं चैतन्यं जीवः, अविद्योपहितं चैतन्य[2]मीश्वरः ॥१६॥

●

मायाभि''रित्यत्र मायाशब्देन प्रज्ञाविशेषो[3] मिथ्याभिमानो वा विधीयते। ततश्चेन्द्रः परमात्मा तैरन्यतरै[4]र्वा हिरण्यगर्भादिभिर्नानारूपः सन् चेष्टते—इत्यर्थान्तरत्वेन प्रामाण्यमुपपद्यते, नाज्ञाननानात्वप्रतिपादने तात्पर्यं मन्त्रस्य। अजामन्त्रस्य त्वज्ञानैकत्वप्रतिपादने तात्पर्यादर्थान्तरायोगाच्चाज्ञानमेकमेव। तस्मात्प्रकृतिरेकैवेत्यवधारणमुपपन्नम् ॥ सा **सत्त्वशुद्धयविशुद्धिभ्यां मायाविद्याभेदेन द्विविधा। तद्वैचित्र्याद्** मालिन्यवैचित्र्याद् **अनेकधा** अनेकप्रकारा, अविद्या इति शेषः। अयम्भावः—शुद्धसत्त्वप्रधाना माया एकैव तदुपहित ईश्वरः। मलिनसत्त्वप्रधाना अविद्या मालिन्यवैचित्र्यादनेकधा तदुपहितो जीवोऽपि तथैव। अस्मिन् पक्षे नाना जीवः। उक्तार्थे श्रुत्यन्तरसम्मतिमाह—**अस्मादिति। अस्माद्** वेदात्। **मायी** मायोपाधिकः परमात्मा। **एतद्** श्रुत्यादिप्रमाणेनावगम्यमानम्। **विश्वम्** आकाशादि ब्रह्माण्डान्तं जगत्। **सृजते** उत्पादयति। **तस्मिन्** सृष्टेऽन्योऽविद्योपाधिकः **मायया** पूर्वोक्तया देहादिष्वहं ममेत्यभिमानेन **सन्निरुद्धो** बद्धः। **प्रकृतिं** जगदुपादानकारणम्। **मायिनं** मायोपाधिकम्। **विद्यादित्युभयत्र** सम्बध्यते। अयम्भावः—मायोपाधिकः परमात्मा सोपाधिकमायाप्राधान्येन जगदुपादानकारणं स्वप्राधान्येन निमित्तमिति। इममेवार्थमग्रे व्युत्पादयिष्यति ॥१५॥

अज्ञानस्यैकत्वेऽपि मायाऽविद्याभेदं ततो जीवेश्वरभेदञ्चोक्त्वा इदानीमज्ञानमेकमेव, मायाऽविद्याभेदो नास्ति, बिम्बप्रतिबिम्बभावेन जीवेश्वरयोर्भेदः, जीवोऽप्येक एवेत्यभिप्रेत्य पक्षान्तरमाह—**यद्वेति। व्यपदिश्यते** इति। तथाच—

●

किञ्च—इन्द्रो मायाभिः में केवल लिङ्ग प्रमाण से अज्ञाननानात्व की प्रतीति होती है, किन्तु अजामन्त्र में श्रुति और लिङ्ग दोनों से अज्ञान के एकत्व की प्रतीति होती है, इसलिये इसे ही मानना उचित होगा।

शंका—तब तो इन्द्रो मायाभिः—इस मन्त्र को अप्रमाण मानने का प्रसंग आवेगा।

समा०—'इन्द्रो मायाभिः'—इस मन्त्र के प्रामाण्य की उपपत्ति उसका अर्थान्तर करने से हो सकती है। तथाहि—इन्द्रो मायाभिः इस मंत्र में माया शब्द से प्रज्ञाविशेष अथवा मिथ्याभिमान का प्रतिपादन किया जा रहा है। तब अर्थ यह होगा कि इन्द्र अर्थात् परमात्मा, हिरण्यगर्भादिकों के नाना रूपों को धारण करने से उसका प्रामाण्य उपपन्न हो जाता है। अतः ज्ञान के नानात्व का प्रतिपादन करने में मन्त्र का तात्पर्य नहीं है। अजामन्त्र का तात्पर्य तो अज्ञान के एकत्व का प्रतिपादन करने में ही है, और उस मन्त्र का अन्य अर्थ करना भी असंभव है, अतः अज्ञान एक ही है। एवंच **'प्रकृति एक ही है'** यह अवधारण जो किया गया है, वह उचित ही है।

निष्कर्ष यह है कि विशुद्धब्रह्म में तो जगत् की कारणता होती नहीं, जगत्कारणता तो मायोपाधिक परमात्मा में ही हुआ करती है, वह मायोपाधिक परमात्मा जगत् का उपादान कारण तथा निमित्तकारण दोनों ही है। उपाधिभूमि माया की प्रधानता से तो वह, जगत् का उपादान कारण है और अपने चैतन्यरूप की प्रधानता से वह परमात्मा, जगत् का निमित्तकारण होता है।

अज्ञान के एक होने पर भी माया और अविद्या के भेद से जीव और ईश्वर का भेद तथा जीवों का नानात्व बताया गया ॥१५॥

जो लोग 'अज्ञान' को 'एक' मानते हैं, तथा 'माया', अविद्या के भेद को न मानकर 'बिम्ब—प्रतिबिम्ब भाव' से 'जीव-ईश्वर' के भेद को मानते हैं, तथा 'जीव' को 'एक' ही मानते हैं, उनके मत को ग्रन्थकार अब बता रहे हैं। यद्वेति। **जैसे एक ही देवदत्त, पचन पठन क्रिया रूप निमित्त के भेद से पाचक, पाठक नाम से पुकारा जाता है, वैसे एक ही अज्ञान,**

१. वशेन पाचको याचक इत्यपि पाठः।
२. बिम्बचैतन्यमित्यपि पाठः।
३. मिथ्याभिनिवेशो वा इति अधिकः पाठः।
४. अन्यतमैरिति पाठः।

मायाविद्याशब्दौ पर्य्यायवन्तौ, न मायाविद्ययोर्भेद इत्यर्थः। कथं तर्हि जोवेश्वरयोर्भेदस्तत्राह—तथाचेति। अविद्यायां प्रतीयमानमविद्याप्रतिबिम्बितम्। परमात्मनो नीरूपत्वेन सूर्य्यादिवत्प्रतिबिम्बायोगात्। अविद्योपाधिकमविद्योपहितम्।

नच तत्र प्रमाणाभाव इत्याह—आभास एव चेत्यादिना। द्वितीये स्थितम् 'अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा' चापि [1]दासदाशकितवादित्वमधीयत एके।

तत्र पूर्वाधिकरणे जीवेश्वरयोरुपकार्य्योपकारकभाव उक्तः, स किं स्वामिभृत्ययोरिव आहोस्विदग्निविस्फुलिङ्गयोरिवेति संशयः। तत्रानियम इत्येकः पूर्वपक्षः।

द्वितीयस्तु भेदश्रुत्यनुरोधात् स्वामिभृत्यवदेव जीवपरयोरुपकार्य्योपकारकभावः इति प्राप्ते इदमाह—परस्यांश इवांश आभासरूपो जीवः। कुतः? नानाव्यपदेशात्। "य आत्मनि तिष्ठन्नि"त्यादिना। अन्यथा चापि—परमात्माभिन्नश्च जीवः 'ब्रह्मदाशा'[1]'ब्रह्मदासा'[2] ब्रह्मैवेमे कितवा[3] उत' "तत्त्वमसि'आदि" श्रुतिभिरभेदप्रतिपादनात्।

जीवेश्वरयोरत्यन्तैक्ये "अहरहः सन्ध्यामुपासीत', गृहस्थः सदृशीं भार्य्यामुपेयात्', 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः', 'मिश्रीभावः[4] गुर्वङ्गनां नोपगच्छेदि"त्यनुज्ञापरिहारयोरानर्थक्यप्रसङ्ग इति चेन्न। देहाभिमानादर्थवत्वोपपत्तेस्तयोः॥

नन्वेवमपि कर्म्मफलव्यतिकरः स्यादिति चेन्न। जोवस्य परिच्छिन्नत्वान्न कर्म्मफलव्यतिकरः। जोवस्य परमात्माभिन्नतया कथं परिच्छिन्नत्वमित्याशङ्क्याह सूत्रकार 'आभास एव चे'ति। जलादिप्रतिबिम्बित-सूर्य्यादिवदाभास एव प्रतिबिम्बरूप एव जीवः।

कस्तत्र प्रतिबिम्बोपाधिरिति चेत्?

अत्र केचित् अन्तःकरणविशिष्टे कर्तृत्वादिसंसारस्यानुभूयमानत्वात्, "कार्योपाधिरयं जीव" इति वचनाच्च अन्तःकरणं प्रतिबिम्बोपाधिरिति वदन्ति॥



विक्षेप और आवरण शक्तिरूप निमित्त के भेद से माया, अविद्या इन दो नामों से कहा जाता है। अभिप्राय यह है कि जैसे 'पाचक पाठक'—दोनों शब्द, 'एक ही देवदत्त' के वाचक हैं, उन वाचक शब्दों के भिन्न रहने पर भी 'देवदत्त' का भेद नहीं होता है। उसी तरह 'माया' और 'अविद्या' ये दोनों शब्द, उस एक ही 'अज्ञान' के वाचक हैं। उन वाचक शब्दों का भेद रहने पर भी, उस 'अज्ञान' का भेद नहीं हैं। अतः 'माया' और 'अविद्या' का भेद नहीं हैं।

इस प्रकार के एक अज्ञानरूप अविद्या में जो चैतन्य का 'प्रतिबिम्ब' है, उसे 'जीव' कहते हैं। और उसी—अविद्या से उपहित 'बिम्ब चैतन्य' को 'ईश्वर' कहते हैं। एवंच 'माया-अविद्या' के भेद का स्वीकार न करने पर भी बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव को मानकर 'जीव' और 'ईश्वर' का भेद उपपन्न हो जाता है। 'माया और अविद्या' ये दोनों शब्द, एक-दूसरे के पर्याय हैं। एवंच माया और अविद्या में कोई भेद (भिन्नता) नहीं है॥ १६॥

उपर्युक्त अभिप्राय को 'आभास एव च' इस व्याससूत्र द्वारा भी बताया गया है। जैसे जलादि उपाधियों में सूर्य-चंद्रादि का प्रतिबिम्ब पड़ता है वैसे यह जीव भी चैतन्य का प्रतिबिम्ब ही है।

शङ्का—जैसे सूर्य-नक्षत्रादि के प्रतिबिम्ब का 'जल' उपाधि है, वैसे इस जीव रूप प्रतिबिम्ब का तथा बिम्बभूत ईश्वर का उपाधि कौन है?

समा०—कुछ विद्वान् तो 'अन्तःकरण' को ही 'जीव' का 'उपाधि' मानते हैं, क्योंकि 'अन्तःकरण विशिष्ट चैतन्य' में ही 'अहं कर्ता, अहं भोक्ता' इस प्रकार से 'कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि संसार' का अनुभव हुआ करता है। और 'कार्योपाधिरयं जीवः'—यह श्रुति भी उस 'अन्तःकरण' रूप 'कार्य' को ही जीव' के उपाधि रूप में बता रही है। इसलिये वह 'अन्तःकरण' ही

१. प्रचलितसूत्रपाठे दासशब्दो नास्ति, पाठान्तरेऽपि नास्ति।

१. दाशाः कैवर्त्ताः।

२. दासा भृत्याः।

३. कितवा द्यूतकृतो भ्रष्टाः।

४. पाठान्तरे नास्तीदं पदम्।

अपरेतु—अन्तःकरणस्याज्ञानकार्य्यतया स्वातन्त्र्यायोगेन जीवपरमात्मभेदकत्वायोगाद् नान्तःकरणं जीवोपाधिः। किन्त्वज्ञानं, स्वातन्त्र्यात्। तदपि नाना। तत्प्रतिबिम्बो जीवः, सोऽपि नाना, तदुपाधेरज्ञानस्य नानात्वात्। तथाच; ब्रह्मण्यारोपितानामज्ञानानां परिच्छिन्नतया तत्प्रतिबिम्बितरूपाणां जीवानामपि परिच्छिन्नत्वादितरेतरव्यावृत्तत्वाच्च न कर्म्मफलव्यतिकर इति सूत्रार्थं इति नानाजीववादिनामभिप्रायमाहुः॥

अन्येतु—जीवेश्वरविभाजकोपाधिरज्ञानमेव, तस्य स्वातन्त्र्यात्। तदप्येकमेव, तत्प्रतिबिम्बो जीवः; उपाधेरेकत्वात् सोऽप्येक एव; अज्ञानैक्ये प्रमाणं दर्शितम्। 'आभास एव चे'त्येकवचनसामर्थ्याच्च।

ननु जीवैक्ये बन्धमोक्षव्यवस्था कथम्? इत्थम्—अन्तःकरणनानात्वे प्रमातॄणां नानात्वं तत्त्वज्ञानेनैकस्मिन् प्रमातरि मुच्यमाने तद्रहितः प्रमाता बद्ध इति बन्धमोक्षव्यवस्था सम्भवति।

●

'प्रतिबिम्ब रूप जीव' का उपाधि है। वह 'अन्तःकरण', एक नहीं है, अपितु 'नाना' है तथा परिच्छिन्न है। उस कारण उन अन्तःकरणों में प्रतिबिम्ब रूप जो जीव है, वह भी 'नाना' हैं और परिच्छिन्न हैं, यह एक पक्ष का कथन है।

कुछ विद्वानों का यह कहना है कि 'अन्तःकरण' तो 'अज्ञान' का कार्य है, उस कारण वह स्वतंत्र नहीं है, अपितु परतंत्र है। अतः उस अन्तःकरण में 'बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव' से जीव-परमात्मा के भेद का होना संभव नहीं है। इसलिये 'अन्तःकरण' को जीव का 'उपाधि' नहीं कह सकते। किन्तु 'अज्ञान', स्वतन्त्र होने के कारण उसी को (अज्ञान को) ही 'जीव' का उपाधि मानना चाहिये।

जीव का उपाधि रूप अज्ञान भी एक नहीं है, अपितु वह भी नाना है। उस अज्ञान रूप उपाधि के नाना होने से उस में (अज्ञान में) 'प्रतिबिम्ब रूप जीव' भी 'नाना' ही हैं, और 'ब्रह्म' में आरोपित रहने के कारण वे 'अज्ञान' भी परिच्छिन्न हैं। उन परिच्छिन्न अज्ञानों में प्रतिबिम्बरूप जो जीव हैं, वे भी परिच्छिन्न ही हैं। और वे परस्पर भिन्न हैं। अतः पुण्य-पाप कर्मों के सुख-दुःख-रूप फलों का व्यतिकर भी नहीं होता है। एक के सुखी अथवा दुःखी होने पर सभी को सुख या दुःख की प्राप्ति होने को 'कर्मफल-व्यतिकर' कहते हैं। अतः जैसे 'एक जीव-पक्ष' में 'कर्मफल व्यतिकर' प्राप्त होता है, वैसा इस 'नाना जीव पक्ष' में 'कर्मफल व्यतिकर' नहीं होता है। उस कारण वे 'नाना अज्ञान' ही 'बिम्बरूप ईश्वर' तथा 'प्रतिबिम्बरूप जीवों' को परस्पर भिन्न करने वाला 'उपाधि' है। इस रीति से उक्त व्यास सूत्र का अर्थ नाना जीववादियों के पक्ष में सिद्ध होता है।

कुछ व्याख्याकारों का यह कहना है कि 'जीव' और 'ईश्वर' को भिन्न करनेवाला 'उपाधि' स्वतंत्र होने से 'अज्ञान' ही है। और वह 'अज्ञान' 'नाना' नहीं है, अपितु 'एक ही' है। उस 'एक अज्ञान' में चैतन्य का प्रतिबिम्बरूप जो 'जीव' है, वह भी 'अज्ञानरूप उपाधि' के एक रहने से 'एक' ही है, और 'अपरिच्छिन्न' है। उस 'अज्ञान' के एक होने में 'अजामेकां लोहितशुक्ल-कृष्णाम्'—यह श्रुति ही प्रमाण है।

'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते'—इस श्रुति में 'माया' का जो 'बहुत्व' बताया गया है, वह, 'मायारूप अज्ञान' की शक्तियों के 'बहुत्व' को ध्यान में रखकर अथवा 'सत्त्वादि गुणों' के 'बहुत्व' को ध्यान में रखकर कहा—गया है। अतः श्रुति विरोध का प्रश्न ही नहीं उठता। और 'जीव' के एक होने में 'अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते'—यह श्रुति, प्रमाण है। तथा 'आभास एव च'—इस व्यास सूत्र में एक वचन का प्रयोगकर सूत्रकार ने भी 'जीव' का 'एक' होना ही बताया है। अतः 'जीव' का एक होना अर्थात् 'एक जीववाद' को ही स्वीकार करना उचित प्रतीत होता है।

शंका—'जीव' को एक मानने पर बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था कैसे हो पाएगी? अभिप्राय यह है कि 'तत्त्वज्ञान' के होने पर, वह तत्त्वज्ञानी जीव' मुक्त हो जाता है, और जिस जीव को 'तत्त्वज्ञान' नहीं होता वह जीव, बद्ध रहता है—इस प्रकार से बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था तो 'नाना जीव' के मानने पर उपपन्न हो जाती है। किन्तु 'एक जीव' वाद में वह बन्ध-मोक्ष व्यवस्था का बनना संभव नहीं है। अतः 'नाना जीव वाद' का मानना ही उचित प्रतीत हो रहा है।

समा०—यद्यपि 'अज्ञान' तथा 'जीव' एक होने पर भी उस एक अज्ञान के कार्यभूत जो अन्तःकरण हैं, वे नाना (अनेक) हैं, और 'अन्तःकरण विशिष्ट चैतन्य' को प्रमाता कहा जाता है, इसलिये उन अन्तःकरणों के अनेक (नाना) रहने से तदवच्छिन्न चैतन्यरूप 'प्रमाता' भी नाना (अनेक) हैं। अतः तत्त्वज्ञान होने पर 'एक प्रमाता' के मुक्त हो जाने पर भी,

स्यादेतत्—कोऽयं मोक्षो नाम? अविद्यानिवृत्तिरिति चेद्? न तावत्कार्य्याविद्या निवृत्तिर्मोक्षः सकलभ्रान्तिज्ञान-निवृत्तेरसम्भवात्। मूलाविद्यासत्त्वेन पुनर्भ्रान्तिज्ञानोदयसम्भवात्। यत्किञ्चिद्भ्रान्तिज्ञाननिवृत्तेरपुरुषार्थत्वात्। नन्वज्ञानगतावरण-शक्तिरविद्या, तन्नानात्वेन यस्य प्रमातुस्तत्त्वज्ञानमुत्पन्नं तस्य स्वसंसारहेतुभूताविद्यानिवृत्तिर्मोक्षः, यस्य तन्नोत्पन्नं तस्य बन्ध इति बन्धमोक्षव्यवस्थोपपद्यत इति चेन्न। नानाजीववादप्रसङ्गात्। तथाहि—अविद्याया नानात्वेन बन्धहेतुतया तदाश्रयजीव-भेदस्यावश्यकतया नानाजीववादप्रसङ्गः। अन्यथा बन्धमोक्षव्यवस्था न स्यात्, प्रतिज्ञाविरोधश्च। अस्तु तर्हि मूलाविद्यानिवृत्तिर्मोक्ष इति चेन्न। एकमुक्तौ सर्वमुक्तिप्रसङ्गात्। नच जीवैक्ये सर्वमुक्त्युपपादनमनुपपन्नमिति वाच्यम्: हिरण्यगर्भशुकवामदेवादीनां मुक्त्य-भ्युपगमेनास्मदादीनां संसारानुपलम्भप्रसङ्गात्। तदनभ्युपगमे तत्प्रतिपादकशास्त्रस्याप्रामाण्यप्रसङ्गात्। किञ्च 'यावदधिकारम-वस्थितिराधिकारिकाणामि'त्यत्रोपासनेनेन्द्रादिपदं प्राप्तानामधिकारिपुरुषाणां निमित्तवशेन जन्मान्तरसत्त्वेऽपि तत्त्वज्ञानप्रतिबन्धा-

•

'तत्त्वज्ञान' जिनको नहीं हुआ है, वे 'प्रमाता' बद्धावस्था में ही रहते हैं। इस रीति से 'प्रमाताओं' का भेद मानकर 'एकजीववाद' में भी बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था उपपन्न हो जाती है।

शङ्का—एकजीववादियों के मत में 'मोक्ष' का क्या स्वरूप है? यदि वह एकजीववादी 'अविद्यानिवृत्ति' को मोक्ष कहता है, तो उसे हम पूछना चाहते हैं कि क्या वह 'कार्यरूप अविद्या' को निवृत्ति को मोक्ष कहना चाहता है, अथवा मूलाविद्या की निवृत्ति को मोक्ष कहना चाहता है? उक्त दोनों पक्षों में से 'प्रथम पक्ष' तो संभव नहीं हो सकता, क्योंकि देह आदि में 'आत्मत्वबुद्धिरूप जो भ्रान्तिज्ञान' है, उसे ही 'कार्यरूप अविद्या' कहते हैं। उन समस्त भ्रान्तिज्ञानों की निवृत्ति होना कभी भी संभव नहीं है, क्योंकि 'मूलाविद्या' के विद्यमान रहते पुनः-पुनः उन भ्रान्तिज्ञानों की उत्पत्ति तो अवश्य होती ही रहेगी, और यत्किञ्चित् भ्रान्तिज्ञान की निवृत्ति को पुरुषार्थरूप नहीं कहा जा सकता। इसलिये उस 'कार्यरूप अविद्या को निवृत्ति' को मोक्ष नहीं कह सकते। यदि तुम 'अज्ञान' की आवरणशक्ति को अविद्या कहो, और उस आवरणशक्तिरूप अविद्या के नाना (अनेक) रहने से जिस प्रमाता को तत्त्वज्ञान होता है, उसी प्रमाता के लिये उसके संसार की हेतुभूत जो अविद्या है, उसकी निवृत्ति का होना ही 'मुक्ति' मोक्ष) है, और जिस प्रमाता को वह 'तत्त्वज्ञान' उत्पन्न नहीं हुआ, उस प्रमाता के लिये उक्त अविद्या के विद्यमान रहने से बन्ध की अवस्था बनी (कायम) रहती है। इस प्रकार से 'एकजीववाद' में भी 'बन्ध-मोक्ष' की व्यवस्था का होना संभव होता है। किन्तु तुम्हारा यह कथन उचित नहीं है, क्योंकि अविद्या को नाना मानकर उसे यदि बन्ध का हेतु मानोगे तो उसके (अविद्या के) आश्रयभूत जीवों को तुमने नाना (अनेक) मान ही लिया, तब तो तुमने भी 'नानाजीववाद' का स्वीकार कर लिया, यही कहना होगा, किन्तु तुम्हें अपने सिद्धान्तभङ्ग के भय से उसका स्वीकार करना अभीष्ट नहीं होगा।

यदि पुनः द्वितीय विकल्प का स्वीकार करके 'मूलाविद्या' की निवृत्ति को मोक्ष कहोगे, तो वह भी उचित नहीं होगा, क्योंकि 'तत्त्वज्ञान' से 'एक मूलाविद्या' की निवृत्ति होने पर सभी की मुक्ति हो जानी चाहिये, किन्तु होती नहीं है।

यदि यह कहो कि 'एक ही जीव' है,—इस पक्ष में 'सभी की मुक्ति हो जानी चाहिये'—यह कहना को उचित नहीं है।

किन्तु इस प्रकार अनौचित्यप्रदर्शन करना तुम्हें भी उचित न होगा, क्योंकि तुम्हारे 'एक जीववाद' के मत में शुक-वामदेव आदिकों की मुक्ति (मोक्ष) हुई है अथवा नहीं?

यदि उनकी मुक्ति हुई है, यह कहते हो तो उन शुक-वामदेवादिकों को प्राप्त हुए 'तत्त्वज्ञान' से 'एक मूलाविद्या' के निवृत्त हो जाने कारण हमको आपको अभी संसार की प्रतीति नहीं होनी चाहिये थी, परन्तु हो रही है।

यदि द्वितीय विकल्प—उनकी मुक्ति नहीं हुई—यह कहते हो तो उन शुक-वामदेव आदि की मुक्ति को बतानेवाला शास्त्र अप्रामाणिक कहलाएगा। और उन शुक-वामदेवादि जैसे महापुरुषों की भी यदि मुक्ति नहीं हुई तो हम जैसे प्राकृत-अतिप्राकृत साधारण लोगों को मुक्ति की आशा रखना ही व्यर्थ है।

किञ्च—'यावदधिकारमवस्थितिरधिकारिणाम्'—इस व्याससूत्र की व्याख्या करते हुए भगवत्पूज्यपाद भाष्यकार ने कहा है कि अपनी उपासना के बल पर इन्द्रादि पदों को प्राप्त हुए अधिकारी पुरुषों को किसी वरदान अथवा शाप आदि के कारण जन्मान्तर की प्राप्ति होने पर भी उन्हें तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होने में कोई किसी प्रकार की रुकावट (प्रतिबन्ध) नहीं

भावेनाधिकारावसाने मोक्षोऽभ्युपेयते। एकजीवपक्षे तत्सर्वं दत्तजलाञ्जलिः स्यात्। अपि च, साक्षात्कृततत्त्वो गुरुः शिष्याय तत्त्वमुपदिशतीत्यभ्युपगन्तव्यम्। 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियम् ब्रह्मनिष्ठम्" "उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः" इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यः। ततश्चैकजीवपक्षे उत्पन्नब्रह्मसाक्षात्कारस्य गुरोरभावेन गुरुशिष्यव्यवस्थाया असम्भवादनिर्मोक्षः प्रसज्येत। किञ्च। कर्म्मकाण्डज्ञानकाण्डयोरेकजीवपक्षेऽधिकारिभेदाभावेनाप्रामाण्यप्रसङ्गः। तस्मादज्ञानमेकं तदुपाधिको जीवोऽप्येक एव इत्यनुपपन्नमिति ॥

अत्र ब्रूमः—'अजामेकां' 'मायान्तु प्रकृतिं विद्यात्' 'नीहारेण प्रावृताः' 'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं' मम माया दुरत्यया' 'विभेदजनकेऽज्ञाने 'इत्यादिश्रुतिस्मृतीतिहासपुराणेषु लाघवानुगृहीतश्रुतिलिङ्गाभ्यामविद्यैक्ये निश्चिते तदुपाधिको जीवोऽप्येक एवेति निश्चीयते। नच बन्धमोक्षव्यवस्थानुपपत्तिरिति वाच्यम्। अज्ञस्य बन्धो ज्ञानिनो मोक्ष इति व्यवस्थासम्भवात्। हिरण्यगर्भादीनां मुक्तिप्रतिपादकशास्त्रस्य प्रवृत्तिकरत्वेन स्वार्थे तात्पर्य्याभावात्। नच महानुभावानां तेषां तत्त्वज्ञानाभावेऽप्यस्मदादीनां तत्त्वज्ञानोपपत्तौ का प्रत्याशेति वाच्यम्। सृष्ट्यादिविक्षिप्तचित्तत्वेन तेषां ज्ञानाभावेऽपि विवेकवैराग्यसम्पन्नानामस्मदादीनां तत्त्वज्ञानोत्पत्तौ बाधकाभावात्। "स्वर्गकामो यजेते"त्यादिवाक्यप्रामाण्यात् स्वर्गोद्देशेन यागादिप्रवृत्तिवद् 'द्रष्टव्यः श्रोतव्य' इत्यादिप्रामाण्यात्, ज्ञानोद्देशेन श्रवणादिषु प्रवृत्त्युपपत्तेः। नच क्रममुक्त्युपासनाशास्त्रविरोधः। व्यावहारिकप्रमातृभेदविषयतया स्वप्नवदविरोधोपपत्तेः॥ नन्वेवं सति पूर्वकल्पे दहराद्युपासनया ब्रह्मलोकं गतानां तत्त्वसाक्षात्कारेणाज्ञाननिवृत्तेर्मोक्षस्य सम्पन्नत्वेनास्मदादीनां संसारानुपलब्धिप्रसङ्ग इति चेन्मैवम्। स्वप्नवत्तदुपपत्तेः। न हि स्वप्नावस्थायां स्वभ्रान्तिकल्पितप्रमातुर्मुक्तिदर्शनेन बन्धदर्शनेन वा स्वस्य मुक्तिर्बन्धो वा भवति। नच शास्त्राप्रामाण्यम् ॥

एतेनाधिकारिभेदाभावात् कर्म्मज्ञानकाण्डाप्रामाण्यं[1] प्रत्युक्तम्। नच गुरुशिष्यव्यवस्थानुपपत्तिः। परोक्षज्ञानिनोऽपि तन्निष्ठस्योपदेष्टृत्वोपपत्तेः। अथवा परमेश्वरो वा गुरुशरीरमाविश्य साधकमनुगृह्णातीति व्यवस्था न विरुध्यते। तस्मादेक

•

रहती। उस कारण उन अधिकारी पुरुषों को उनके इन्द्रपद का अधिकार काल समाप्त होने पर मुक्ति (मोक्ष) प्राप्ति अवश्य होती है। कथन एक जीव वाद के पक्ष में मिथ्या हो जाएगा। और प्रत्यगभिन्न ब्रह्म का साक्षात्कार किया हुआ ब्रह्मवेत्ता पुरुष, अपने शिष्यों को ब्रह्म का उपदेश करता है, तथाहि—'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' 'उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः'—यह श्रुतिस्मृति आदि का कथन, एकजीववाद के पक्ष में असंगत ही हो जाएगा, क्योंकि एकजीववाद में साक्षात्कार करनेवाले गुरु का ही अभाव है, उस कारण गुरु-शिष्य भाव की व्यवस्था ही नहीं बनेगी। उस व्यवस्था के न बन पाने पर किसी की भी मुक्ति नहीं होगी।

किञ्च—एकजीववाद के पक्ष में कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड के भिन्न-भिन्न अधिकारियों का होना भी संभव नहीं होगा। तब अधिकारी के अभाव में कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड को भी अप्रमाण कहना होगा। इन सब विपत्तियों की उपस्थिति के कारण अज्ञान को एक कहना तथा अज्ञानोपहितजीव को भी एक समझना उचित नहीं है।

समा०—'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्' इत्यादि श्रुतियों में तथा 'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं' 'माया दुरत्यया' इत्यादि स्मृतियों में 'अज्ञान' का एकत्व ही बताया गया है, इसलिये 'अज्ञान' को एक ही मानना चाहिये। जब 'अज्ञान' ही 'एक' है, तब उस एक अज्ञान से उपहित 'जीव' भी 'एक' ही है, यह स्वीकार करना चाहिये।

'एक जीव वाद' के पक्ष में 'बन्ध-मोक्ष' आदि की सम्पूर्ण व्यवस्था उपपन्न हो जाती है। जैसे स्वप्नावस्था में स्वप्नद्रष्टा पुरुष, स्वयं की भ्रान्ति से ही अनेक प्रमाताओं की कल्पना कर लेता है, उनमें से किसी प्रमाता के तो बन्ध को देखता है और किसी प्रमाता की मुक्ति को देखता है। तथापि उस बन्ध-मोक्ष के दर्शन से उस स्वप्नद्रष्टा पुरुष को बन्ध या मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। उसी तरह जागरित अवस्था में भी उस 'एक जीव' के द्वारा अनेक प्रमाताओं की कल्पना की जाती है, उन कल्पित अनेक प्रमाताओं में से बद्ध रहता है और कोई मुक्त हो जाता है। उन कल्पित प्रमाताओं के बन्ध-मोक्ष को देखने से इस 'एक जीव' को बन्ध या मोक्ष की प्राप्ति नहीं हुआ करती। अतः 'एक जीववाद' के पक्ष में भी बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था उपपन्न हो जाती है। इसी प्रकार उक्त स्वप्नदृष्टान्त से गुरु-शिष्य आदि की व्यवस्था भी हो जाती है अतः 'एक जीववाद' के पक्ष में पूर्वोक्त दोष नहीं आ पाते। क्योंकि 'एक जीववाद' के पक्ष में अन्तःकरण विशिष्ट अनेक प्रमाताओं की कल्पना की जाती

१. एतेनेति विधेः प्रवृत्त्युपपत्तेः स्वप्नवच्चोपपत्तेरित्यर्थः।

'आभास एव च' 'अत एव चोपमा सूर्य्यादिवत्' ।

"यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वानपो भिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन् ।
उपाधिना क्रियते भेदरूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा" ॥

●

एव जीवः ॥ किञ्च "आभास एव च 'स एव तु कर्म्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः'[२] 'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति' 'प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तः' 'प्राज्ञेनात्मनान्वारूढः' इत्यादिष्वेकवचनसामर्थ्याज्जीवैक्यमभ्युपगन्तव्यम् ॥ ननु 'एवमेवेमाः सर्वाः प्रजाः सति सम्पद्य न विदुः', 'वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः', 'यावदधिकारमवस्थितिराधिकाकारिणा'मित्यादिषु बहुवचनसामर्थ्याज्जीव-बहुत्वं किन्न स्यादिति चेन्नैतदेवं, लाघवात्तदैक्योपपत्तेः । तस्मादेक एव जीव इति वदन्ति ॥१६॥

अतएवेति । तृतीये स्थितं 'न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि' । जीवः सुषुप्त्यादौ येन ब्रह्मणा सम्पन्नो भवति तत् किं निर्विशेषं सविशेषमुभयलिङ्गं वाऽन्यतरलिङ्गं वा । अन्यतरलिङ्गमित्यत्रापि सविशेषलिङ्गं वा निर्विशेषलिङ्गं वेति

●

है । उन प्रमाताओं में से कोई प्रमाता सुखी, और कोई प्रमाता दुःखी होता है—यह सुख-दुःख की व्यवस्था बन पाती है । इस 'एक जीववाद' के पक्ष में 'प्रतिबिम्बत्वधर्म' से विशिष्ट हुए 'चैतन्य' को 'जीव' कहा गया है, और 'बिम्बत्वधर्म' से विशिष्ट हुए 'चैतन्य' को 'ईश्वर' कहा गया है । इस पक्ष में 'अन्तःकरणादिरूप उपाधि' कृत दोष, उस प्रतिबिम्बरूप 'जीव' में ही रहते हैं । वे दोष, बिम्बभूत 'ईश्वर' में नहीं होते हैं । क्योंकि वह अन्तःकरणरूप 'उपाधि', प्रतिबिम्ब' का ही पक्षपाती होता है, वह 'बिम्ब' का पक्षपाती नहीं होता । अतएव 'जलादि उपाधि' के 'चलनादिक धर्मों' की प्रतीति 'प्रतिबिम्ब' में ही होती है, 'बिम्ब' में उनकी प्रतीति नहीं होती ॥१६॥

अत एव ब्रह्मसूत्र के तृतीयाध्याय, द्वितीयपाद के अठाहरवें सूत्र 'अत एव चोपमा सूर्यकादिवत्' में सूत्रकार भगवान् व्यास कहते हैं कि जिस कारण यह आत्मा चैतन्यैकरस, परप्रतिषेध से उपदेश्य है, उसीकारण 'यथाह्ययम्' इत्यादि शास्त्रों में उपाधिकृत सविशेषत्व को लेकर ही जलगत सूर्य-प्रतिबिम्ब के समान यह जीव है—यह उपमा दी गई है, वस्तुतः 'ब्रह्म', सविशेष नहीं है । यथा हीति । जैसे यह ज्योतिः स्वरूप सूर्य, स्वतः एक होने पर भी भिन्न-भिन्न जलों में भिन्न-भिन्न प्रतिबिम्ब पड़ने से अनेक प्रकार का प्रतीत होता है, वैसे ही यह जन्मरहित, स्वप्रकाश, उपाधि के कारण भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में अनुवृत्त होने से अनेक प्रकार का प्रतीत होता है । एक अन्य श्रुति वाक्य भी उपलब्ध होता है—एक एवेति । एक ही भूतात्मा, प्रत्येक भूत में विशेष रूप से अवस्थित है । जल में प्रतिबिम्बत चन्द्र के समान एकधा और बहुधा दीखता है । इस प्रकार से श्रुति और सूत्र में कहा गया है । निष्कर्ष यह है कि जैसे सूर्य-चन्द्र आदि के भेद और कम्पन आदि धर्म 'जल' आदि उपाधियों से कल्पित हैं, उसी प्रकार 'आत्मा' के भेद आदि धर्म, उपाधि से कल्पित है । इस दृष्टान्त श्रुति से ज्ञात होता है कि 'ब्रह्म', निर्विशेष तत्त्व है ।

ब्रह्म सूत्र के तृतीयाध्याय के द्वितीय पाद में ग्यारहवें सूत्र "न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि"—(ब्र० सू० ३।२।११) के द्वारा भगवान् व्यास कह रहे हैं कि 'परब्रह्म' में निर्विशेष और सविशेष रूप दो स्वभाव नहीं हो सकते, क्योंकि जो सत्य वस्तु है, उसमें दो विरुद्ध धर्म नहीं रह सकते । यदि कदाचित् उपाधि के कारण दो—स्वभाव कहो, तो उन्हें सत्य नहीं माना जा सकता । क्योंकि अग्नि के सम्बन्ध मात्र से उष्ण हुए जल में अग्नि का स्वभाव कहो, तो उन्हें सत्य नहीं

२. 'स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः' इत्येदनन्तरं—अस्यार्थः—तत्र यः सुप्तो जीवः स एव उत्तिष्ठति उतान्यो वेति संशये जलराशौ क्षिप्तबिन्दोरिवानियम इति प्राप्ते । सिद्धान्तः, यः सुप्तो जीव स एवोत्तिष्ठति, नान्यः । कुतः? कर्मानुस्मृति-शब्दविधिभ्यः । पञ्चभ्यो हेतुभ्यः । दिनद्वयकर्मणोऽर्धं कृत्वा सुप्तो भवति । पुनरुत्थायावशिष्टमर्धं कर्म करोति ।१। अनु शब्देन प्रत्यभिज्ञा 'योऽहं पूर्वदिने काशीनाथमद्राक्षं सोऽहमिदानीं मणिकर्णिकायां स्थितोऽस्मि' इत्याद्याकारा सूच्यते ।२। पञ्चाद्रामसेतुं गतस्येदृशः काशीनाथ इत्यादिस्मरणं स्मृतिशब्देनोच्यते ।३। "पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति बुद्धान्तायैवे"ति श्रुतिजातं शब्दः, अयनं गमनं, आयः प्रतिनियमगमनं प्रतिन्याया, स यथा भवति तथा योनिं शरीरं प्रतिसुप्तः पुनरागच्छेज्जागरायेत्यर्थः ।४। कर्मविद्याविषयो विधिशब्देनोच्यन्ते । यदि सुप्तस्य पुनर्नोत्थानं तदोक्तविषयो बाध्येरन् । तस्मात् सुप्त एवोत्तिष्ठतीति सिद्धम् ।५। इत्यधिकं पाण्डुलिपिपत्रे दृश्यते ।

"एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः। एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवद् ॥"

इत्यादि श्रुतिसूत्रयोः सत्त्वात् ॥

●

संशयः। तत्र "सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः 'अस्थूलमनण्वह्रस्वमि"त्याद्युभयविधश्रुतिसम्भवाद् उभयलिङ्गं ब्रह्मेति प्राप्तेऽभिधीयते—नोभयलिङ्गम्ब्रह्म। एकस्य वस्तुनो द्वैरूप्यायोगात्। न ह्येकमेव सविशेषं निर्विशेषञ्च भवतीति युक्त्या वक्तुं शक्यम् ॥

अस्तु तर्ह्युपाधितः सविशेषं स्वभावतो निर्विशेषञ्चेत्युभयलिङ्गं ब्रह्मेति चेन्नैतदेवम्। न ह्युपाधितोऽपि स्वभावतो निर्विशेषं सविशेषम्भवति विरोधात्सर्वत्र। किन्तु पारमार्थिकं निर्विशेषस्वरूपं, सविशेषस्वरूपं मायामयम्। तथाच श्रुतिस्मृता भवतः—

'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तं मृत्युमुखात् प्रमुच्यते'॥

'स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एव, 'एवं वाऽऽरेऽयमात्मानन्तरोबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव'॥
'अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते'।

●

माना जा सकता। क्योंकि अग्नि के सम्बन्ध मात्र से उष्ण हुए जल में अग्नि का स्वभाव नहीं माना जा सकता। इसलिये 'अशब्दम्' इत्यादि ब्रह्मपरक जो अनेक वेदान्त-वाक्य हैं, उनमें निर्विशेष एक रूप ही ब्रह्म उपदिष्ट है।

उक्त सूत्र का रहस्योद्‌घाटन करते हुए भाष्यकार आचार्य-चरण कहते हैं कि सुषुप्ति-मरण आदि में उपाधि का उपशम होने से 'जीव', जिस 'ब्रह्म' के साथ सम्पन्न होता है, उसके स्वरूप का श्रुति से निर्धारण किया जाता है। ब्रह्म विषयक श्रुतियाँ दो लिङ्गवाली (उभयलिङ्गवाली) हैं। 'सर्वकर्म्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः'—(छां० उप० ३।१४।२), अर्थात् सम्पूर्ण विश्व जिसका कर्म है, समस्त दोषों से रहित जिसका काम है, सर्वसुखकर जिसका गन्ध है, और सर्वसुखकर जिसका रस है—इत्यादि श्रुतियाँ 'सविशेष लिङ्गवाली' हैं, तथा 'अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घ'—(बृ० उप० ३।८।८) अर्थात् वह स्थूल नहीं है, अणु नहीं है, ह्रस्व नहीं है, और दीर्घ नहीं है—इत्यादि श्रुतियाँ निर्विशेष लिङ्गवाली हैं। तब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि उक्त श्रुतियों में 'दोनों लिङ्गवाला' (उभय लिङ्गवाला) 'ब्रह्म' समझना चाहिए अथवा दोनों श्रुतियों में 'एक लिङ्गवाला' समझना चाहिए।

यदि अन्यतरलिङ्गवाला समझा जाय, तो वह सविशेष है या निर्विशेष है ? इसका विचार करना चाहिए।

पू० पक्ष—उभयलिङ्गवाली (दोनों लिङ्गवाली) श्रुतियों के अनुग्रह से उभयलिङ्गवाला ही ब्रह्म समझना चाहिये।

सि० पक्ष—परब्रह्म के स्वतः (स्वभावतः) ही दो लिङ्ग उपपन्न नहीं हो सकते, क्योंकि एक ही वस्तु, स्वभावतः रूपादिविशेष से युक्त हो और रूपादिविशेष से रहित हो—इस प्रकार विरोध होने कारण अवधारण नहीं किया जा सकता।

यदि कहो कि स्थान से अर्थात् पृथिवी आदि उपाधि के सम्बन्ध से वैसा हो सकेगा, तो वह भी उपपन्न नहीं हो सकेगा, क्योंकि उपाधियोग से भी अन्य प्रकार की वस्तु का स्वभाव, दूसरे प्रकार का नहीं हो सकता। जैसे स्वभावतः स्वच्छ स्फटिक, अलक्तक (लाख) आदि उपाधि के योग से अस्वच्छ नहीं हो जाता। अस्वच्छता का अभिनिवेश, स्फटिक में भ्रममात्र है। उपाधियों का उपस्थापन, अविद्या से होता है। इसलिए अन्यतर लिंग का स्वीकार करें, तो भी समस्त विशेष से रहित निर्विकल्पक ही ब्रह्म समझना चाहिये। उससे विपरीत नहीं, क्योंकि ब्रह्मस्वरूप प्रतिपादक अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम् (कठ० १।३।१५, मुक्तिकोप० २।७२) इत्यादि श्रुतिवाक्यों में शब्दरहित, स्पर्शरहित, रूपरहित और अव्यय (नित्य) आदि समस्तविशेषशून्य ब्रह्म ही सर्वत्र उपदिष्ट है।

श्रुति कहती है—(बृह० उप० ४।५।१३) कि जैसे लवणपिण्ड अन्दर और बाहर अन्य रस से रहित है, समस्त लवण एक रस ही है, वैसे ही हे मैत्रेयि। यह आत्मा अन्दर और बाहर अन्य रूप से रहित है, वह सम्पूर्ण प्रज्ञानघन ही है।

इसी प्रकार स्मृतियों में भी (गी० १३०१२) अन्य के प्रतिषेध से ही उसका उपदेश किया गया है। उक्त श्रुति-स्मृतिवचनों के पर्यालोचन से स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्म निर्विशेष है। अतः 'सविशेषमेव ब्रह्म, न निर्विशेषं सत्यकाम-त्वादिश्रुतेः—कहनेवालों का खण्डन हो गया है।

इत्यादि। एतेन सविशेषमेव ब्रह्म न निर्विशेषं सत्यकामत्वादिश्रुतेरिति प्रत्युक्तम् ॥

ननु ब्रह्मणो निर्विशेषत्वे सगुणवाक्यानां सृष्ट्यादिवाक्यानां वा का गतिरिति चेन्न। तेषामन्यपरत्वेन तत्र तात्पर्य्याभावात्। तथाहि? "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ती" तिशास्त्रेण सर्ववेदप्रतिपाद्यत्वमवगम्यते। ततश्च कर्म्मवाक्यानि स्वप्रतिपाद्यवागाद्यनुष्ठानेन सत्त्वशुद्धिद्वारा ब्रह्मसाक्षात्कारोत्पादनेन तत्र पर्य्यवस्यन्ति। उपासनावाक्यानि तत्तद्गुणविशिष्टोपासनविधानेन चित्तैकाग्र्यद्वारा ब्रह्मणि पर्य्यवस्यन्ति। तत्त्वमस्यादिवाक्यानि साक्षाद्ब्रह्मणि पर्य्यवस्यन्ति। तदुक्तम्,

"शुद्धिद्वारा कर्म्मकाण्डस्यवाक्यम् चित्तैकाग्र्यद्वारतो ध्यानवाक्यम्।
साक्षादेतद् तत्त्वमस्यादिवाक्यम् सत्यानन्दे स्वप्रकाशे प्रयाति" ॥ इति।

सृष्टिप्रलयादिवाक्यानि तु अध्यारोपापवादन्यायेन सृष्ट्यादिदर्शनस्य ब्रह्मज्ञानोपायतया ब्रह्मणि पर्य्यवस्यन्ति। तदुक्तमाचार्य्यचरणैः—

"मृल्लोहविस्फुलिङ्गाद्यैः सृष्टिर्या चोदितान्यथा।
उपायः सोऽवताराय नास्ति भेदः कथञ्चन" ॥

●

शंका—'ब्रह्म की निर्विशेष यदि माना जाय तो सगुणवाक्यों की तथा सृष्ट्यादिवाक्यों की क्या गति होगी?

समा०—यह शंका करना ठीक नहीं है, क्योंकि उन वाक्यों का अभिप्राय, अन्य अर्थ में है, प्रस्तुत प्रसंग में उनका तात्पर्य नहीं है। तथाहि—सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति—इस वचन से सर्ववेदप्रतिपाद्यत्व जाना जाता है। अतः कर्म प्रतिपादक वाक्य, स्वप्रतिपाद्य याग आदि के अनुष्ठान से सत्त्व (अन्तःकरण) शुद्धि के द्वारा ब्रह्म साक्षात्कार का उत्पादन करते हुए उस ब्रह्म में ही पर्यवसित हो जाता है। उसी तरह उपासना प्रतिपादक वाक्य भी तत्तद्गुणविशिष्ट की उपासना का विधान करते हुए चित्त की एकाग्रता के द्वारा ब्रह्म में ही पर्यवसित होते हैं। और तत्त्वमसि आदि वाक्यों का पर्यवसान तो साक्षात् ही ब्रह्म में होता है।

सृष्टि-प्रलयादि वाक्यों का 'ब्रह्म' में पर्यवसान तो 'अध्यारोपापवाद' न्याय से सृष्ट्यादि का ज्ञान (अनुभव), ब्रह्मज्ञान का उपाय होने के कारण, माना जाता है। इस बात को पूज्यपाद आचार्य चरणों ने कहा है—

मृत्-लोह-विस्फुलिङ्गादि अनेकानेक दृष्टान्तों द्वारा श्रुति में तरह तरह से सृष्टि इसीलिये बताया है कि जीव व ईश्वर का अभेद समझा जा सके। अतः उत्पत्ति आदि का प्रतिपादन भेद प्रपंच को सिद्ध नहीं करता। एवञ्च सगुणोपासन और सृष्टि आदि के प्रतिपादक वाक्यों ब्रह्मज्ञान का उपाय प्रदर्शन करते हुए निर्विशेष ब्रह्म में ही पर्यवसित होते हैं। 'ब्रह्म' निर्विशेष है, उस कारण वह, अविद्या में प्रतिबिम्बित होकर 'जीव' कहलाता है, और वही, अविद्या से उपहित होकर 'ईश्वर' कहलाता है। इस प्रकार 'बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव' से 'जीवेश्वरभाव' की उपपत्ति लग जाती है।

शंका—यह जो कहा गया था कि 'अज्ञान आदि' में प्रतिबिम्बित 'चैतन्य' को जीव कहते हैं, वह ठीक नहीं है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि 'प्रतिबिम्ब', तो रूपवान् वस्तु का ही हुआ करता है। रूपरहित (नीरूप) वस्तु का 'प्रतिबिम्ब', नहीं होता है। जैसे—रूपवान् सूर्य-चन्द्र-नक्षत्र आदि का जल आदि में 'प्रतिबिम्ब' होता है, किन्तु 'ब्रह्म' तो नीरूप अर्थात् रूपादिगुणों से रहित है। अतः 'अज्ञान' में 'ब्रह्म' का प्रतिबिम्बित होना संभव नहीं है।

यदि यह कहो कि जैसे रूपरहित आकाश, 'जल' में प्रतिबिम्बित होता है वैसे ही रूपरहित ब्रह्म का भी अज्ञान में प्रतिबिम्बित होना भी संभव हो सकता है। किन्तु यह कहना उचित नहीं होगा, क्योंकि रूपरहित होने से अकाश का प्रतिबिम्ब 'जल' में पड़ना संभव नहीं है, किन्तु आकाश के आश्रित जो आकाशप्रभा, तारे (नक्षत्र) चन्द्र, सूर्य आदि रूपवान् पदार्थ हैं, उनका ही जल आदि प्रतिबिम्ब पड़ता है। जल आदि में 'आकाश' के प्रतिबिम्ब का अनुभव जो लोगों को होता है, वह तो केवल भ्रम है। अतः ब्रह्म और जीव का 'बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव' से जो विभाग कहते है, वह असंभव ही है।

समा०—'रूपवान् पदार्थ का ही प्रतिबिम्ब होता है'—इस नियम का होना सर्वत्र संभव नहीं है, क्योंकि कतिपय स्थनों में रूपरहित वस्तु (पदार्थ) का भी प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर होता है। जैसे—रूप आदि गुण, 'रूपरहित' होते हैं, फिर भी जपापुष्प आदि के लोहितरूप आदिका, 'स्फटिक' आदि में प्रतिबिम्ब, प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है।

यदि यह कहो कि रूपरहित द्रव्य का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ा करता—यह नियम है। अतः रूपादिक गुण, द्रव्यरूप न होने से उनका प्रतिबिम्ब पड़ने पर भी उक्त नियम का भंग नहीं हो रहा है।

इति। ततश्च सगुणोपासनसृष्ट्यादिप्रतिपादकवाक्यानां ब्रह्मज्ञानोपायतोपदर्शनमुखेन निर्विशेषे ब्रह्मणि पर्य्यवसानान् निर्विशेषम् ब्रह्म यतः, अतो ब्रह्माविद्याप्रतिबिम्बितं सञ्जीवोऽविद्योपहितं सदीश्वर इति बिम्बप्रतिबिम्बभावेन जीवेश्वरभाव इति अत्र वेदान्तेषु जलसूर्य्यादिदृष्टान्तोपादानमिति सूत्रकार आह 'अत एवे'ति। यतो ब्रह्म निर्विशेषं अत एवेति वेदान्तेषु जलसूर्य्याद्युपमोपादीयते। तानेव वेदान्तानुदाहरति—यथेत्यादिना।

ननु सूर्य्यादीनां रूपवत्त्वेन जलादौ प्रतिबिम्बसम्भवेऽपि ब्रह्मणो रूपादिरहितत्वेन कथमविद्यायां प्रतिबिम्बोदयः? न च जले आकाशादिप्रतिबिम्बवत् अविद्यायां ब्रह्मप्रतिबिम्बसम्भव इति वाच्यम्। आकाशस्यापि रूपादिशून्यतया जलादौ प्रतिबिम्बासम्भवात्। नच स्वल्पजलभाजने साभ्रनक्षत्राकाशानुभवविरोध इति वाच्यम्। तत्रापि रूपादिमन्नक्षत्रादिप्रतिबिम्ब एवानुभूयते। आकाशप्रबिम्बानुभवस्तु भ्रम एव। तस्माद्बिम्बप्रतिबिम्बभावेन ब्रह्मणो जीवेश्वरविभागोऽनुपपन्न इति चेद्।

न; रूपवत एव प्रतिबिम्ब इति नियमाभावात्। रूपादिरहितस्य लोहितरूपादेः स्फटिकादौ प्रतिबिम्बदर्शनात्।

•

किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि रूपरहित आकाशद्रव्य का भी जल आदि में प्रतिबिम्ब दीख पड़ता है। तब जैसे नीलरूपवाला आकाश अथवा विशालतावाला आकाश प्रतीत होता है, वैसे ही कूप-तटाक-सरोवर आदि के स्वल्प जल में भी वही नीलता-विशालतावाला आकाश प्रतीत होता है, वहाँ स्वल्प जल में वस्तुतः वह विशालतावाला आकाश है नहीं। उस कारण उस जल में भासमान उस आकाश को बाह्य आकाश का प्रतिबिम्ब रूप ही मानना होगा, और जलादिकों में यह आकाश का ही प्रतिबिम्ब है, यह अनुभव भी सब लोगों को होता है। उस अनुभव का कभी बाध भी नहीं होता है, इसलिये उस अनुभव को भ्रम कहना ठीक नहीं है। विरोधीज्ञानरूप बाधक के रहने पर ही अनुभव को भ्रम कहा जाता है। जैसे—नेदं रजतम् इस विरोधी ज्ञान रूप बाधक के रुप पर ही शुक्ति में इदं रजतम्—इस अनुभव को भ्रमरूप कहा जाता है। ऐसी स्थिति यहाँ पर नहीं है, क्योंकि 'अयमाकाशप्रतिबिम्बो नास्ति'—यह आकाश का प्रतिबिम्ब नहीं है—इत्याकारक विरोधज्ञान रूप बाधक यहाँ नहीं कह हैं। अतः उक्त अनुभव को भ्रमरूप नहीं कह सकते। एवंच रूपरहित (नीरूप) आकाश-द्रव्य का प्रतिबिम्ब जैसे सिद्ध होता है उसी प्रकार ब्रह्म के बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव के कारण जोव और ईश्वर का विभाग भी संभव हो सकता है।

यदि पूर्वपक्षी का दुराग्रह ही हो कि रूपरहितद्रव्य का प्रतिबिम्ब हो ही नहीं सकता, तो उसके सन्तोषार्थं हम सिद्धान्ती ब्रह्म को द्रव्यरूप नहीं मानते क्योंकि नैयायिकों ने गुणक्रियावत्त्वं समवायिकारणत्वं वा द्रव्यसामान्यलक्षणम् अर्थात् यत् समवायसम्बन्धेन गुणस्य कर्मणो वाऽऽश्रयः, यश्च कस्यापि समवायिकारणं भवेदेव, तदेव द्रव्यं नाम। अर्थात् नैयायिकों ने गुण के आश्रय को तथा समवायिकारण को ही द्रव्य माना है। और साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च (श्वे उ०) यह श्रुति ब्रह्म को निर्गुण कह रही है। उस कारण ब्रह्म को गुणों का आश्रय नहीं कह सकते, तथा समवाय को हमारे यहाँ स्वीकार नहीं किया है, उस कारण ब्रह्म में समवायिकारणता भी नहीं बन सकती। अतः रूपरहित (नीरूप) रूपादिगुणों के समान ही ब्रह्म का प्रतिबिम्ब मानने में भी कोई विरोध नहीं है।

अथवा 'अज्ञान' में 'ब्रह्म' का प्रतिबिम्ब न मानने पर भी जीव और ईश्वर का विभाग उपपन्न हो सकता है। तथाहि—अज्ञानात्मक अविद्या से विशिष्ट हुए 'चैतन्य' को जीव कहते हैं, और 'अविद्या' से उपहित जो 'चैतन्य' उसे 'ईश्वर' कहते हैं॥ १६॥

इसी अभिप्राय से ब्रह्म सूत्रकार भी कहते हैं—(ब्र० सू० ३।२।२०) कि जैसे जलान्तर्गत रवि बिम्ब जलगत वृद्धि और ह्रास का भागी वस्तुतः नहीं होता, वैसे ही निर्विशेष परमात्मा का देहादि उपाधि के अन्तर्भाव से देहादिगत वृद्धि और ह्रास का भाजन होना वास्तविक नहीं है। इसी अंश दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक का परस्पर सादृश्य ठीक है। अतः सूर्यादि को दृष्टान्त के रूप में रखा गया है। दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक का सर्वांश में सादृश्य तो ब्रह्म नहीं बता सकते। यदि सर्वांश में साम्य हो तो उसी का (दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिक-भाव का) ही उच्छेद हो जाएगा। मूल ग्रन्थोक्त 'आदि' शब्द से "अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः" इस श्रुति का भी ग्रहण कर लेना चाहिये॥ १७॥

सिद्धान्ती के द्वारा जो कहा गया था कि 'अज्ञान' एक ही है, और उस एक अज्ञान से उपहित हुआ 'जीव' भी एक ही है। उस पर पूर्वपक्षी ने कहा था कि यह 'एक जीव पक्ष' ठीक नहीं है।

अस्मिन् पक्षे जीवस्तु एक एव तस्मिन्नन्तःकरणविशिष्टाः प्रमातारः कल्पिताः ॥१७॥

केचित्तु नानाऽज्ञानं स्वीकृत्य वनवदज्ञानसमुदायः समष्टिः तदुपहितं चैतन्यमीश्वरः, वृक्षवत्प्रत्येकमज्ञानं व्यष्टिः तदुपहितं चैतन्यं प्राज्ञ इति वदन्ति ॥१८॥

●

न च रूपादिहीनस्य द्रव्यस्य प्रतिबिम्बासम्भव इति वाच्यम्। तादृशव्योमादेः प्रतिबिम्बदर्शनाद् आकाशनुभवस्य सर्वानुभवसिद्धत्वात्। न च तस्य भ्रमत्वम् बाधकाभावात्। तस्माद्ब्रह्मणो बिम्बप्रतिबिम्बभावेन जीवेश्वरविभागः[1] ॥

अथवा अविद्याविशिष्टं चैतन्यं जीवः, अविद्योपहितं चैतन्यमीश्वरः। यथाहुः—

"बिम्बत्वं प्रतिबिम्बत्वं तथा पूषणि कल्पितम्। जीवत्वमीश्वरत्वञ्च तथा ब्रह्मणि कल्पितम्" ॥

इति। एतदभिप्रेत्य सूत्रकारोऽप्याह—

"वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवमि"ति।

"अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः" इत्यादि श्रुतिरादिशब्देन गृह्यते ॥

अज्ञानमेकं तद्विशिष्टचैतन्यं जीव इत्यत्र फलितमाह—**अस्मिन्निति**।

ननु जीवैक्ये सुखदुःखवैचित्र्यानुपपत्तिरित्याशङ्क्य प्रमातृभेदेन तद्वैचित्र्यमुपपद्यत इत्याह—**तस्मिन्निति**। अविद्याप्रतिबिम्बिते जीव इत्यर्थः। **प्रमातार इति** प्रमाश्रया इत्यर्थः ॥१७॥

पक्षान्तरमाह—**केचित्त्विति**। अयमाशयः शास्त्रेषु शुकादीनां मोक्षप्रतिपादनादस्मदादीनां संसारोपलम्भाच्च प्रतिपुरुषं न जानामीत्यनुभूयमानानि भिन्नान्यज्ञानानि स्वीकर्त्तव्यानि। अन्यथा बन्धमोक्षव्यवस्था न स्यात्। "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" इत्यादि श्रुतौ मायाभिरिति बहुवचनसामर्थ्याच्च। "अजामेका"मिति श्रुतेः समष्ट्यज्ञानविषयतयान्यथोपपत्तेः। अन्यथा मायाभिरिति बहुवचनस्यानर्थक्यप्रसङ्गात्। अर्थान्तरकल्पनायां प्रकृतहानाप्रकृतप्रक्रियाप्रसङ्गात्। 'आनर्थक्यप्रतिहतानां

●

समा०—सिद्धान्ती कहता है कि 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्'—इत्यादि श्रुति से तथा 'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं, 'मम मायादुरत्यया'—इत्यादि स्मृतिवचन से 'अज्ञान' का एक होना ही सिद्ध होता है। अतः 'अज्ञान' को एक ही मानना चाहिये, नाना (अनेक) नहीं। 'अज्ञान' का एकत्व सिद्ध होने पर उस अज्ञान से उपहित 'जीव' भी एक ही है, यह भी स्वीकार करना चाहिये। इस एकजीववाद को मानने से लाभ यह होता है 'अस्मिन्' इति। इस 'एकजीव' पक्ष में 'जीव' तो एक ही है, किन्तु उसमें अन्तः करणविशिष्ट अनेक प्रमाताओं की कल्पना की जाती हैं। उन प्रमाताओं में कोई प्रमाता सुखी और कोई प्रमाता दुःखी होता है। इस रीति से सुख-दुःख की व्यवस्था भी बन जाती है। अर्थात् प्रमातृभेद से सुख-दुखादिवैचित्र्य की उपपत्ति हो जाति है। प्रतिबिम्बत्व धर्मविशिष्ट चैतन्य का नाम 'जीव' है, और बिम्बत्वधर्म विशिष्ट चैतन्य का नाम 'ईश्वर' है। इस पक्ष में अन्तःकरणादिरूप उपाधिकृत दोष, उस प्रतिबिम्बरूप 'जीव' में ही हो हैं, बिम्बभूत 'ईश्वर' में नहीं। क्योंकि 'उपाधि', अपने में सङ्क्रान्त हुए प्रतिबिम्ब का ही पक्षपाती होता है, 'बिम्ब' का पक्षपाती नहीं। 'प्रमाता का अर्थ है—'प्रमाश्रय' ॥ १७ ॥

कुछ ग्रन्थकार अनेक अज्ञानों को मानकर जीव और ईश्वर का भेद इस प्रकार बताते हैं। जैसे अने अनेक वृक्षों के समूह को वन कहा जाता है, अर्थात् वृक्षों की समष्टि (समूह) को वन कहा करते हैं। एवं च वन समष्टि है और प्रत्येक वृक्ष व्यष्टि है। उसी प्रकार अज्ञानों का समूह समष्टि कहा जाता है और प्रत्यक्ष अज्ञान को व्यष्टि कहा जाता है। तब समष्टि अज्ञान से उपहित चैतन्य को तो ईश्वर कहा करते हैं, और व्यष्टि अज्ञान से उपहित चैतन्य को जीव कहा करते हैं। वे अज्ञान नाना हैं, उस कारण जीव भी नाना हैं। अभिप्राय यह है—शास्त्रों में शुक-वामदेव आदि के मोक्ष का प्रतिपादन किया गया है, और हम जैसे जीवों को आज भी संसार की प्रतीति हो रही है, और प्रत्येक पुरुष को 'अहम् अज्ञ' न जानामि—इस प्रकार का अज्ञान विषयक भिन्न-भिन्न अनुभव भी होता है, तथा 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते'—इस श्रुति से भी मायारूप अज्ञान का नानात्व ही बताया जा रहा है। क्योंकि मायाभिः—यह बहुवचन का प्रयोग किया गया है। अन्यथा बहुवचन के प्रयोग

---

१. वस्तुतस्तु विनैव भेदं भेदधीहेतुरुपाधिरित्यत्र दृष्टान्ततया दर्पणं वा घटो वादीयते, न हि प्रतिबिम्बे वाऽवच्छिन्ने वाऽऽत्मनि तात्पर्यं किन्तु ब्रह्मैव सज्जीवो भातीत्यत्रेति दृष्टान्तमात्रावष्टम्भेन वादभेदकल्पना व्यामोह एव केषांचिद् ॥

विपरीतं बलाबलमि'ति न्यायाद्, वाक्यशेषानुरोधाच्च एकामि'ति श्रुतेरज्ञानसमष्ट्येकविषयत्वमभ्युपगन्तव्यम्। ततश्चाज्ञान-नानात्वे निश्चिते तदुपाधिका जीवाश्च नाना भवन्ति। एवञ्च शुकादीनां मोक्षेऽप्यस्मदादीनां संसारोपलम्भो न विरुध्यते ॥

ननु—अज्ञानभेदेन जीवभेदाभ्युपगमे प्रतिजीवं प्रपञ्चभेद ईश्वरभेदश्च स्यात्। नचेष्टापत्तिः। योऽयं घटस्त्वयानुभूतः स एव मयापीति प्रत्यभिज्ञाविरोधप्रसङ्गात्। अन्याज्ञानकल्पितप्रपञ्चस्यान्यप्रत्यक्षाविषयत्वात्। नच भ्रान्तित्वम्। बाधकाभावात्। एकः परमेश्वरः सकलजगत्सृष्टिस्थितिलयकारणमिति सर्वतन्त्रसिद्धान्तविरोधप्रसङ्गाच्च। अथैतद्दोषपरिजिहीर्षया समष्ट्यज्ञानोपहितचैतन्यमीश्वरः। तत्सृष्टः प्रपञ्चः सर्वसाधारण इत्यभ्युपगम्येत। तर्ह्यनिर्मोक्षः प्रसज्येत। तथाहि—निर्गुणब्रह्मभावापत्तिर्मोक्षः। एकस्य तत्त्वज्ञानेन सर्वाज्ञानानामनिवृत्तेरीश्वरजगतोरबाधेन निर्गुणब्रह्मप्राप्तेरसम्भवान्मोक्षो न स्यात्। किञ्च अद्वितीयब्रह्मज्ञानान्मोक्षोऽभ्युपगन्तव्यः। तच्चाद्वितीयब्रह्मज्ञानं नानाजीवपक्षे न सम्भवति। स्वव्यतिरिक्तजीवेश्वरजगतां विद्यमानत्वात्। ततश्चानिर्मोक्षः प्रसज्येत्। किञ्च शास्त्रप्रामाण्यात् कथञ्चिज्ज्ञानान्मोक्षोपपादनेऽपि सगुणब्रह्मप्राप्तिर्मोक्षः स्यान्न निर्गुणब्रह्मप्राप्तिः,

●

को व्यर्थ कहना होगा। अजामेकाम् इस श्रुति से समष्टिअज्ञानविषयतया भी उपपत्ति हो जाती। यदि माया पद के मुख्य अर्थ का परित्याग करके अर्थान्तर की अर्थात् माया की शक्तियों में अथवा सत्त्वादि गुणों में माया पद की लक्षणा करने में कोई प्रमाण नहीं है। इसलिये अज्ञान को नाना मानना ही उचित है। किञ्च अर्थान्तर की कल्पना करने में प्रकृतहान और अप्रकृत-प्रक्रिया' का प्रसंग प्राप्त होता। अतः 'आनर्थक्यप्रतिहतानां विपरीतं बलाबलम्'—इस न्याय से और वाक्यशेष के अनुरोध से भी एकाम्—इस पद से अज्ञान समष्टि को एक विषयत्व ही समझना चाहिये। अर्थात् एकाम् पद से अज्ञान का जो एकत्व बताया गया है, वह अज्ञान समूह के एकत्व को मानकर कहा गया है। एवंच अज्ञान का नानात्व (अनेकत्व) सिद्ध हो जाने पर अज्ञानोपाधिक जीवों का भी नानात्व सिद्ध हो जाता है। अतः शुक-वामदेवादिकों का मोक्ष होनेपर भी हम जैसों की संसारोपलब्धि के होने में कोई विरोध नहीं होता है। जिस जीव को ब्रह्मसाक्षात्कार होता है, उसी जीव को अपने अज्ञान की निवृत्तिरूप मोक्ष का लाभ होता है, और उस ब्रह्मसाक्षात्कार से रहित जीवों को अपने-अपने अज्ञान के कारण संसाररूप बन्ध ही रहता है। इसरीति से बन्धमोक्ष की व्यवस्था भी नानाजीववाद में अच्छी तरह उपपन्न हो जाती है। किन्तु एक अज्ञान, एक जीव के पक्ष में वह बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था नहीं बन पाती है।

शंका—यदि अज्ञान को अनेक मानकर जीवों को भी अनेक (नाना) मानोगे तो प्रत्येक जीव के प्रति पपञ्च का भी भेद कहना होगा। तब जिस घट का तुमने अनुभव किया, उसी घट का मैंने भी अनुभव किया—इस प्रकार घटादिप्रपञ्च की एकता को विषय करनेवाली प्रत्यभिज्ञा का विरोध होगा। क्योंकि अन्य के अज्ञान से कल्पित प्रपञ्च का प्रत्यक्ष, अन्य को होना संभव नहीं है। और किसी बाधकज्ञान के न होने से उक्त प्रत्यभिज्ञा को भ्रमरूप (भ्रमात्मक) भी नहीं कह सकते। तथा 'एक ही परमेश्वर सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय का कारण है'—इस सर्वतन्त्रसिद्धान्त का भी विरोध होगा।

उक्त दोष के परिहारार्थ यदि यह कहो कि अज्ञान-समाष्टि से उपहित चैतन्यरूप ईश्वर के द्वारा रचा हुआ यह प्रपञ्च, सम्पूर्ण जीवों के प्रति साधारण है, तो अनिर्मोक्ष अर्थात् किसी भी जीव का मोक्ष नहीं होगा। तथाहि—निर्गुण ब्रह्मभाव की प्राप्ति को यदि 'मोक्ष' कहते हो, तो 'नाना अज्ञान' के पक्ष में 'एक जीव' के तत्त्वज्ञान से 'एक अज्ञान' की ही निवृत्ति हो समस्त अज्ञानों की निवृत्ति तो होगी नहीं, उन अज्ञानों के विद्यमान रहने पर ईश्वर तथा जगत् का भी बाध नहीं होगा, उस स्थिति में 'निर्गुण ब्रह्म प्राप्ति' का संभव न रहने से अनिर्मोक्ष का प्रसंग प्राप्त होगा। अभिप्राय यह है कि अज्ञान, ईश्वर और जगत् के विद्यमान रहने पर 'ब्रह्म' में निर्गुणता का होना संभव ही नहीं है, उस कारण निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति रूप मोक्ष किसी भी जीव को नहीं होगा।

किञ्च—सिद्धान्ती के मत में अद्वितीय ब्रह्म के ज्ञान से ही मोक्ष की प्राप्ति मानी जाती है। किन्तु अद्वितीय ब्रह्म का ज्ञान, 'नाना जीव' के पक्ष में होना संभव ही नहीं है, क्योंकि उस अद्वितीय ब्रह्म के ज्ञान काल में भी उस मुक्त हुए पुरुष के अतिरिक्त अन्य जीव, तथा ईश्वर, तथा अज्ञान, तथा जगत् सभी कुछ विद्यमान है, उनके विद्यमान रहने से 'ब्रह्म'—अद्वितीय न होकर सद्वितीय ही कहलाएगा। तब किसी जीव का मोक्ष नहीं हो सकेगा।

किञ्च—मोक्ष प्रतिपादक श्रुति-स्मृति रूप शास्त्र का प्रामाण्य रहने से यदि जिस किसी प्रकार के ज्ञान से मोक्षप्राप्ति का उपपादान करोगे तो 'सगुण ब्रह्म' की प्राप्ति ही 'मोक्षरूप' सिद्ध होगी। 'निर्गुण-ब्रह्म की प्राप्ति' को मोक्ष नहीं कहा जा

तच्चानिष्टम्, "अनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव' 'यत्र त्वस्य सर्वात्मैवाभूत्तत्केन कम्पश्येदि"त्यादिशास्त्रविरोधात्। तस्मान्नानाज्ञानं स्वीकृत्य नानाजीववादोऽनुपपन्न—इति ॥

अत्रोच्यते—अज्ञानभेदेन जीवभेदोऽवश्यमभ्युपगन्तव्यः सर्वशास्त्रप्रामाण्यात्। नच जीवभेदेऽनेकप्रपञ्चेश्वरकल्पनापत्तिरिति वाच्यम्। इष्टापत्तेः। नच प्रत्यभिज्ञाविरोधस्तस्या भ्रमरूपत्वात्। तथाहि—एकस्मिन् शुक्तिकाशकले, दशानां पुरुषाणां रजतभ्रमे सति स्वस्वाज्ञानकल्पितस्य रजतस्यान्योन्यभेदेऽपि अन्याज्ञानकल्पितस्य रजतस्यान्यप्रत्यभिज्ञाऽविषयत्वेऽपि त्वया यद्रजतमनुभूतं तदेव मयापीति यथा प्रत्यभिज्ञा भ्रमरूपा जायते, एवं प्रकृतेऽपि स्वस्वाज्ञानकल्पितप्रपञ्चस्य स्वस्वाज्ञानोपहितचैतन्यमीश्वर एक एवेति नानेकेश्वरकल्पनापत्तिः सर्वतन्त्रविरोधो वा। अथवा, व्यष्ट्यज्ञानोपहितं चैतन्यं जीवः, समष्ट्यज्ञानोपहितचैतन्यमीश्वरः। तत्सृष्टः प्रपञ्चः सर्वसाधारणः। एवञ्च न प्रत्यभिज्ञाविरोधो न वा शास्त्रविरोधः। नापि कल्पनागौरवम्। नचानिर्मोक्षप्रसङ्गः स्वस्वश्रुत्याचार्य्यप्रसादेन ब्रह्मसाक्षात्कारेण स्वाज्ञाननिवृत्त्या तत्कार्य्यलिङ्गशरीरादिनिवृत्तेः सम्भवात्। निर्गुणब्रह्मभावापत्तेरविरोधात्।

•

सकेगा। किन्तु ऐसा होना तुम्हें कभी अभीष्ट प्रतीत नहीं होगा, क्योंकि श्रुतियों में 'निर्गुण-ब्रह्म' को ही मोक्षरूप बताया गया है। उन सब श्रुतियों का विरोध होगा। इसलिये नाना अज्ञानों का स्वीकार करके नाना जीवों का मानना अनुचित है।

समा०—समस्त शास्त्रों का प्रामाण्य सिद्ध रहने से 'अज्ञान' को नाना मानकर 'जीवों' को नाना मानना आवश्यक है। अन्यथा बन्ध-मोक्ष शास्त्र को अप्रमाण कहना पड़ेगा। इस 'नानाजीव' पक्ष में प्रत्येक जीव के प्रति जो प्रपञ्चभेद, तुम बता रहे हो, वह तो हमें अभीष्ट ही है। अर्थात् जीव-जीव के प्रति, वह प्रपञ्च भिन्न-भिन्न हो है। और प्रपञ्च को भिन्न-भिन्न मानने पर 'प्रत्यभिज्ञा' का विरोध जो तुमने कहा था, वह संभव नहीं है। क्योंकि वह प्रत्यभिज्ञा तो भ्रमरूप ही है। तथाहि—जहाँ पर एक ही 'शुक्ति' में दस पुरुषों को 'रजत' का भ्रम हो जाय, वहाँ पर एक-एक पुरुष के अज्ञान से कल्पित वह रजत, भिन्न-भिन्न ही रहता है, एक नहीं होता।

यदि दसों पुरुषों के भ्रम का विषय 'एक ही रजत' हो तो किसी एक पुरुष को 'शुक्तिरूप अधिष्ठान' का ज्ञान हो जाने पर उसका 'रजत भ्रम' निवृत्त हो जाता है, उसी से 'उस अधिष्ठान' का ज्ञान जिनको नहीं हो पाया उन पुरुषों का भी वह रजतभ्रम, निवृत्त हो जाना चाहिये था, किन्तु नहीं होता है। अधिष्ठान ज्ञानरहित उन पुरुषों को शुक्ति में रजत प्रतीति बराबर होती रहती है। इससे स्पष्ट होता है कि वह 'रजत' एक नहीं है। अपितु उन दस पुरुषों के प्रत्येक अज्ञान से कल्पित 'दस रजत' वहाँ उत्पन्न होते हैं। क्योंकि किसी एक पुरुष के अज्ञान से कल्पित रजत का अन्य पुरुष को प्रत्यक्ष नहीं होता है, तथापि वे दसों पुरुष, कभी अवसर प्राप्त होने पर परस्पर कहते रहते हैं कि जो रजत तुमने अनुभव किया था, उसी रजत का हमने भी अनुभव किया था—इस प्रकार की भ्रमात्मक प्रत्यभिज्ञा, जैसे उत्पन्न होती है, वैसे ही प्रत्येक जीव के अज्ञान से कल्पित प्रपञ्च का भेद रहने पर भी तथा अन्य के अज्ञान कल्पित प्रपञ्च का प्रपञ्च का अन्य को प्रत्यक्ष न हो पाने पर भी कदाचित् क्वचित परस्पर मिलने पर लोग कहा करते हैं कि—जिस घर का तुमने अनुभव किया है, उसी घर का हमने भी अनुभव किया है—इस प्रकार की भ्रमात्मक प्रत्यभिज्ञा हुआ करती है। उस कारण प्रत्येक जीव के प्रति भिन्न-भिन्न प्रपंच मानने में प्रत्यभिज्ञा के साथ कोई विरोध नहीं हैं। अथवा—जीवों के नानात्व पक्ष में भी समष्टि अज्ञान से उपहित चैतन्यरूप ईश्वर द्वारा रचित यह प्रपञ्च, उन समस्त जीवों के प्रति एक ही साधारण है। यह मानने से न 'प्रत्यभिज्ञा विरोध' होता है, तथा एक ही परमेश्वर, समस्त जगत् की उत्पत्ति-स्थिति-लय का कारण है—इस शास्त्र सिद्धान्त से भी कोई विरोध नहीं होता है अर्थात् स्व-स्वाज्ञान कल्पित प्रपञ्च का स्व-स्वाऽज्ञानोपहित चैतन्यात्मक ईश्वर 'एक' ही रहने से अनेक ईश्वरों की कल्पना भी नहीं करनी पड़ती। एवंच सर्वतन्त्राविरोध भी नहीं हो रहा है। तथा प्रत्येक जीव का प्रपञ्च भिन्न-भिन्न मानने में जो 'कल्पना गौरव' का दोष होता था, वह भी अब नहीं हो रहा।

किञ्च—भगवती श्रुति और आचार्यगुरु के उपदेश से उत्पन्न हुआ 'अहं ब्रह्माऽस्मि' इत्याकारक जो अनुभवात्मक ब्रह्मज्ञान है, उससे यथोक्त अधिकारी पुरुष का 'अज्ञान' निवृत्त हो जाता है, तब उस अज्ञान का कार्यभूत जो लिङ्गशरीर (सूक्ष्मशरीर) है, उसकी भी निवृत्ति हो जाती है, उसकी निवृत्ति हो जाने से 'निर्गुण ब्रह्मभाव' की प्राप्तिरूप मोक्ष का होना भी संभव हो जाता है।

ननु स्वव्यतिरिक्तानां जीवेश्वरजातानां[1] विद्यमानत्वेनाहं मुक्तोऽन्यो बद्धोऽन्यः प्रपञ्चोऽन्य ईश्वर इति भेददृष्टेरनिवारणादद्वितीयब्रह्मसाक्षात्काराभावेन कथं निर्गुणब्रह्मभावापत्तिर्मोक्ष इति चेत्। नैवम्, 'इदं सर्वं यदयमात्मा' 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयमि'त्यादिशास्त्रैरज्ञानादिसमस्तजडजातस्य ब्रह्मण्यध्यस्तत्वावधारणेन मिथ्यात्वनिश्चयादद्वितीयब्रह्मसाक्षात्कारसम्भवेन ब्रह्मभावापत्तिर्मोक्ष उपपद्यते।

नच ज्ञानेन स्वाज्ञाननिवृत्तावप्यन्याऽज्ञानाऽनिवृत्त्या ब्रह्मणा ईश्वरत्वानपायात् ज्ञानेन सगुणब्रह्मभावापत्तिरेव स्यादिति। अन्यज्ञानादन्यप्राप्तेरयोगात्। नहि शुक्तिज्ञानाद्रजतप्राप्तिः सम्भवति। किन्तु शुक्तिरेव प्राप्यते। एवं निर्गुणब्रह्मज्ञानान्निर्गुणं ब्रह्मैव प्राप्यते न तु सगुणं, तस्य मायामयत्वात्। तथा शुक्तावन्यस्य रजतभ्रान्तिदशायां अन्यो विशेषदर्शी शुक्तिज्ञानाच्छुक्तिमेव प्राप्नोति न रजतं परमार्थतस्तत्राभावात्। अन्याज्ञानकल्पितस्य रजतस्यान्यप्रत्यक्षविषयत्वाभावाच्च। तथा

●

एवञ्च—नानाजीव पक्ष में न प्रत्यभिज्ञाविरोध है, न शास्त्र विरोध है, न अनेक ईश्वर की कल्पनापत्ति है, अर्थात् कल्पना गौरव भी नहीं, और न ही अनिर्मोक्ष प्रसंग ही है, प्रत्युत निर्गुणब्रह्मभावापत्तिरूप मोक्ष की प्राप्ति सुलभतया हो जाती है।

शंका—'नानाजीव' पक्ष में मुक्त पुरुष के अतिरिक्त अन्य जीव तथा ईश्वर, जगत् आदि सब विद्यमान ही रहते हैं, उस कारण 'मैं मुक्त हूँ', 'ये अन्य जीव बद्ध है', तथा 'यह अन्य प्रपञ्च' है, 'यह अन्य ईश्वर है'—इत्याकारक भेद दृष्टि तो उस पुरुष की अवश्य ही रहेगी। तब उस भेद दृष्टि तो उस मुक्त पुरुष की अवश्य ही रहेगी। तब उस भेद दृष्टि के विद्यमान रहते 'अद्वितीय ब्रह्म' का साक्षात्कार हो ही नहीं सकेगा, उस साक्षात्कार के अभाव में 'निर्गुण ब्रह्मभाव की प्राप्तिरूप मोक्ष' का होना कैसे संभव होगा?

समा०—श्रुतियों के अनुरोध से उस अधिकारी पुरुष ने अज्ञानादि सम्पूर्ण जड प्रपञ्च, 'ब्रह्म' में कल्पित है—यह निश्चय कर लिया है, उस कारण उसे जड प्रपञ्च के मिथ्यात्व का निश्चय हो गया है। मिथ्यात्व का निश्चय हो जाने से उस मिथ्यावस्तु से 'द्वैतभाव' नहीं हो पाता। द्वैतभाव के न रह पाने से उस अधिकारी पुरुष को 'ब्रह्म' का साक्षात्कार हो जाता है। इसप्रकार ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाने से उस अधिकारी विद्वान् पुरुष को ब्रह्मभाव की प्राप्तिरूप मोक्ष का होना संभव हो जाता है।

शंका—'नानाजीव' के पक्ष में आत्मज्ञान के द्वारा अपने अज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर भी अन्य जीवों के अज्ञान की विद्यमानता रहने से 'ब्रह्म' में ईश्वरत्व की बुद्धि निवृत्त नहीं पाएगी। अतः उसे ज्ञान होने पर भी सगुण ब्रह्मभाव की ही प्राप्ति होगी। अर्थात् निर्गुण ब्रह्मभाव की प्राप्ति कैसे हो पाएगी?

समा०—लोक व्यवहार में भी अन्य वस्तु के ज्ञान से अन्य वस्तु की प्राप्ति नहीं हुआ करती। जैसे 'शुक्ति' का ज्ञान होने 'रजत' की प्राप्ति नहीं होती, अपितु उस 'शुक्ति' की प्राप्ति होती है, वैसे ही गुरु और शास्त्र के उपदेश से उस अधिकारी पुरुष को 'निर्गुण ब्रह्म' का ही ज्ञान हुआ है, 'सगुण ब्रह्म' का ज्ञान नहीं हुआ है। उस कारण उस 'निर्गुण ब्रह्म' के ज्ञान से उस तत्त्वज्ञानी पुरुष को उस 'निर्गुण ब्रह्म' की ही प्राप्ति होती है, 'मायामय सगुण ब्रह्म' की प्राप्ति नहीं होती। जैसे 'शुक्ति' में अन्य पुरुष को 'रजत' की भ्रान्ति के काल में भी दूसरे विशेषदर्शी पुरुष को उस 'शुक्ति' का ज्ञान हो जाने के कारण वह विशेषदर्शी पुरुष, 'शुक्ति' को ही प्राप्त करता है, 'रजत' को नहीं। क्योंकि उस शुक्ति में 'रजत' वस्तुतः नहीं है। अन्य पुरुष के अज्ञान से कल्पित जो 'रजत' है, वह अन्य पुरुष के प्रत्यक्षज्ञान का विषय नहीं होता है। उसी प्रकार अन्य अज्ञानी पुरुष को अपने-अपने अज्ञान के कारण 'ब्रह्म' में जीव, ईश्वर, जगत् की भ्रान्ति जब रहती है, उस समय भी विशेषदर्शी पुरुष को श्रुति तथा आचार्य गुरु के द्वारा किये गये कृपा पूर्ण उपदेश से 'अहं ब्रह्मास्मि'—मैं ब्रह्म हूँ—इत्याकारक अद्वितीय ब्रह्म का साक्षात्कार होता रहता है। अतः वह आनन्द-एकरस-अद्वितीय निर्विशेष ब्रह्म को ही प्राप्त होता है, वह सगुण-ईश्वर भाव को प्राप्त नहीं होता। वह सगुण ईश्वर, 'मायामय' होने से उस 'निर्गुण ब्रह्म' से भिन्न नहीं है, क्योंकि भ्रान्ति से दिखाई देनेवाला पदार्थ, वास्तविक नहीं रहता है। जैसे भ्रान्तिवश देखा गया 'शुक्तिगत रजत' उस शुक्ति में वस्तुतः नहीं है, वैसे ही उस अद्वितीय निर्गुण ब्रह्म में भ्रमवशात् कल्पित जीव, ईश्वर, जगत् भाव का वस्तुतः 'ब्रह्म' में है नहीं। अतः इस 'नाना जीव' के पक्ष में भी सम्पूर्ण

१. जगताम् इति पाठान्तरम्।

अन्ये तु—कारणीभूताज्ञानोपहितं चैतन्यमीश्वरः, अन्तःकरणोपहितं चैतन्यं जीवः; 'कार्य्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः' इति वचनादित्याहुः। सर्वथापि मायोपहितं चैतन्यमीश्वरः।

●

ब्रह्मण्यज्ञानादीश्वरजगद्भ्रान्तिदशायां श्रुत्याचार्य्यप्रसादादन्यो विशेषदर्श्यहं ब्रह्मास्मीति अद्वितीयब्रह्मसाक्षात्कारानन्दैकरसनिर्विशेषमद्वितीयं ब्रह्मैव प्राप्नोति न सगुणमीश्वरं तस्य मायामयत्वेन परमार्थतस्तद्व्यतिरेकेणाभावात्। नहि भ्रान्त्या ज्ञातं पारमार्थिकं वस्तु भवति। तस्मात्साधारणासाधारणप्रपञ्चाभ्युपगमेऽपि निर्गुणब्रह्मभावापत्तिरूपो मोक्ष उपपद्यते। तस्मा "दिन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयत" इत्यादिश्रुतिवशात् सर्वेषामहं ब्रह्म न जानामीति स्वस्वाज्ञानानुभववशादनेकान्यज्ञानानि ब्रह्मण्यारोपितानि तदुपाधिकाजीवाश्चेतरेतरविलक्षणाः। एवञ्च सति "रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव"त्यादि श्रुतिः 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासे'ति शास्त्रञ्चेत्येतत्सर्वं सामञ्जस्येनोपपद्यते। तस्मान्नानाजीववाद इति॥ अत्र समष्टिव्यष्ट्योस्तादात्म्याभ्युपगमात्तदुपहितयोरीश्वरप्राज्ञयोरपि तादात्म्यं द्रष्टव्यम् ॥१८॥

मतान्तरमाह—अन्ये त्विति।

विक्षेपादिशक्तिप्राधान्येनाज्ञानस्य मायाशब्दवाच्यत्वाद्यथोक्तेषु पञ्चस्वपि पक्षेषु मायोपहितं चैतन्यं जगत्कारणमीश्वर इत्यर्थः सर्वसम्मत इत्युपसंहरति—सर्वथापीति। अज्ञानैकत्वनानात्वाभ्यां प्रकारान्तरेण वा जीवैकत्वनानात्वयोर्विवादेऽपि मायोपहितं चैतन्यमीश्वर इत्यविवादमिति सूचयति—अपीति।

नन्वीश्वरे विवादाभावेऽपि जीवैकत्वनानात्वयोर्विवादसम्भवात् किमुपादेयं किं हेयमिति ? श्रृणु—सर्वमुपादेयं सर्वं हेयं, मायामयत्वात् व्यवहारस्य। तर्हि सर्वस्य हेयत्वमेव न तूपायदेयत्वमिति चेन्न। अध्यारोपापवादन्यायेन ब्रह्मणो ज्ञातव्यतया

●

जीवों के प्रति साधारण अथवा असाधारण प्रपञ्च का स्वीकार करने पर भी निर्गुण ब्रह्मभाव की प्राप्ति रूप मोक्ष की उपपत्ति बन जाती है।

कुछ ग्रन्थकारों ने जीव और ईश्वर का विभाग एक अन्य प्रकार से बताया है—सम्पूर्ण जगत् का कारणभूत जो अज्ञान है, उस अज्ञान से उपहित जो चैतन्य अर्थात् अज्ञान में प्रतिबिम्बित जो चैतन्य, उसे ईश्वर कहा जाता है और उस अज्ञान के कार्यभूत जो अन्तःकरण है, उससे उपहित चैतन्य को जीव कहते हैं। भगवती श्रुति कह रही है—'कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः'—अर्थात् अन्तःकरणरूप कार्योपाधिवाले चैतन्य को जीव कहा गया है, और अज्ञानरूप कारणोपाधिवाले चैतन्य को ईश्वर कहा गया है। हर हालत में, माया से उपहित चैतन्य ईश्वर है यह बात निर्विवाद है।

अथवा 'स्वमपीतो भवति'—इस श्रुतिवचन के द्वारा सुषुप्ति अवस्था में जीव का ब्रह्म में औपाधिकलय बताया गया है। एवंच अन्तःकरण को यदि जीव का उपाधि मानते हैं तो उस अन्तःकरणरूप उपाधि के लय से उस जीव का औपाधिक लय होगा। और अविद्या को यदि जीव का उपाधि मानते हैं तो अविद्या का सुषुप्ति में लय नहीं होता है, तब सुषुप्ति में जीव के औपाधिकलय को बतानेवाला श्रुतिवचन असंगत हो जाएगा। अतः श्रुतिवचन से भी जीव का उपाधि 'अन्तःकरण ही सिद्ध होता है। इस पक्ष में भी अन्तःकरणरूप उपाधियों के अनेक होने से तथा 'परिच्छिन्न' होने से उन जीवों को भी अनेक (नाना) तथा परिच्छिन्न मानना उचित है ॥१८॥

जीव और ईश्वर के स्वरूप निर्णयार्थं अभीतक पांच पक्ष बता चुके हैं। उनमें से मायोपहित चैतन्य जो ईश्वर कहलाता है, वही जगत् का कारण है, यह पक्ष ही सर्वसम्मत है। अन्य पक्षों विद्वानों का ऐकमत्य नहीं है।

शंका—ईश्वर के विषय में विवाद न रहने पर भी जीव के एकत्व या नानात्व के विषय में विद्वानों के मत, विवादग्रस्त हैं। ऐसी स्थिति में किसके पक्ष को ग्राह्य अथवा त्याज्य समझा जाय ?

समा०—सभी व्यवहार मायामय रहने से सभी पक्ष ग्राह्य हैं और सभी त्याज्य हैं।

शंका—जबकि सभी पक्ष परित्याग के योग्य हैं, तो उन सबका त्याग करना ही उचित प्रतीत होता है, अर्थात् कोई भी पक्ष ग्रहण करने योग्य नहीं है।

स च ज्ञानशक्त्युपहितस्वरूपेण जगत्कर्त्ता, विक्षेपादिशक्तिमदज्ञानोपहितस्वरूपेण जगदुपादानमूर्णनाभिवत् । "यथोर्णनाभिः सृजते गृह्यते[1] चे"त्यादि श्रुतेः "यः सर्वज्ञः स विश्वकृत्[2] स हि सर्वस्य कर्त्ते"त्यादि श्रुतिभ्यश्च ॥१९॥

●

व्यवहारेण विना ब्रह्मज्ञानासम्भवात् तदुपादेयतया सर्वमुपादेयम्भवत्येव । अयं विशेषः । जीवैकत्वे जीवनानात्वे वा यथा यस्य मनो रोचते स तथा तं पक्षं स्वीकृत्य प्रत्यगात्मानं विविच्य तस्य ब्रह्मत्वं साक्षात् कुर्य्यात्, न तु तत्र विवदितव्यम् । दूषणभूषणयोः सर्वत्र तुल्यत्वात् । प्रत्यगात्मप्रधानता येन प्रकारेण भवति तथा सम्पादनीयं स एव शास्त्रार्थः । तदुक्तम् वार्त्तिककाराचार्य्यैः—

"यया यया भवेत् पुंसां व्युत्पत्तिः प्रत्यगात्मनि । सा सैव प्रक्रियेह स्यात् साध्वी सा च व्यवस्थितिः[3]" ॥

इति; व्युत्पत्तिर्ज्ञानम् ।

तत्पदवाच्यार्थस्य मायोपहितस्येश्वरस्य जगदजन्मादिकारणत्वमुक्तं, तदुपादानत्वेन कर्त्तृत्वेन च द्वेधा भवति । तत्र केन रूपेणोपादानत्वं केन रूपेण कर्त्तृत्वञ्चेत्याकाङ्क्षायां तदुभयं क्रमेण दर्शयति—स चेत्यादिना । ज्ञानेति ज्ञानशक्तिमदज्ञानोपहितस्वरूपेणेत्यर्थः । अन्यथा शुद्धस्यासङ्गत्वेन कर्त्तृत्वायोगात् । कर्त्तृत्वन्नाम उपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमत्त्वं तच्च शुद्धे ब्रह्मणि न सम्भवति । "असङ्गो ह्ययं पुरुष" इत्यादिश्रुत्या ब्रह्मणोऽसङ्गत्वावगमेन ज्ञानेच्छाकृतीनां तस्मिन्नसम्भवात् । यथोक्तेश्वरस्यैव तदिति भावः ॥

एकस्यैव ब्रह्मण उपादानत्वे कर्त्तृत्वे च दृष्टान्तमाह—ऊर्णनाभीति । ब्रह्मणोऽभिन्ननिमित्तोपादानत्वे प्रमाणमाह—

●

समा०—अद्वितीय ब्रह्म का ज्ञान, अध्यारोप और अपवाद के बिना, ब्रह्म का ज्ञान नहीं हो पाता। वस्तुतः द्वैतप्रपञ्च से रहित ब्रह्म में द्वैत प्रपञ्च का जो आरोप किया जाता है, उसे अध्यारोप कहते हैं, और उस आरोपित द्वैत प्रपञ्च का 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि श्रुति से जो निषेध किया जाता है, उसे अपवाद कहते हैं। उन अध्यारोप-अपवाद के सिध्यर्थ सभी पक्षों का ग्रहण करना उचित ही प्रतीत होता है। तत्रापि एक बात ध्यान में रखना आवश्यक है कि जीव का एकत्व पक्ष हो चाहे नानात्वपक्ष भी मुमुक्षु को अच्छा लगता हो, उसी पक्षो को स्वीकार करके प्रत्यगात्मा का विवेचन करे, अर्थात् अन्नमयादि पाँच कोशों से आत्मा को पृथक् करके उस प्रत्यगात्मा की ब्रह्मरूपता का साक्षात्कार करे। अर्थात् 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारक साक्षात्कार का सम्पादन करे। ब्रह्म साक्षात्कार का सम्पादन न करके जीव के एकत्व-नानात्व के केवल विवाद में पड़ना उचित नहीं है। क्योंकि सभी पक्षों में दूषण-भूषण समान ही है। अभिप्राय यह है कि प्रत्यगात्मा का ज्ञान जिस प्रकार से हो सके उसी प्रकार को अपनाना उचित है। यही शास्त्र का तत्त्व है। वार्तिककार ने भी यही कहा है—कि जिस प्रक्रिया से प्रत्यगात्मा का साक्षात्कार अधिकारी पुरुष हो सके उसी प्रक्रिया को वेदान्तशास्त्र की दृष्टि से उचित तथा व्यवस्थित समझना चाहिये।

शंका—मायोपाधिक तत्पदार्थ ईश्वर को जगत् का उपादानकारण तथा निमित्तकारण कहा जाता है। अर्थात् ईश्वर में जगत्सृष्टि की कारणता दोनों प्रकार है। वह उभय विधकारणता उसमें कैसे होती है?

समा०—अज्ञानोपहित स्वरूप के द्वारा वह (ईश्वर) सृष्टि का कर्ता होता है। अर्थात् ज्ञानशक्ति वाले अज्ञानरूप उपाधि के विना असंग शुद्ध ब्रह्म में सृष्टिकर्तृत्व का होना कभी संभव नहीं हो सकता। क्योंकि कार्य के उपादानकारण का 'ज्ञान' (उपादानकारणविषयकज्ञान), तथा 'इच्छा' (विकीर्णं) और 'प्रयत्न' (कृति)—ये तीनों (ज्ञान-इच्छा-कृति) जिसमें हों उसे 'कर्ता' कहते हैं। इस प्रकार का 'कर्तृत्व' 'शुद्ध ब्रह्म' में तो हो नहीं सकता, क्योंकि 'असंगोह्ययं पुरुषः' कहकर भगवती श्रुति ने उसे (विशुद्ध ब्रह्म को) 'असंग' बताया है। अतः 'असंग शुद्ध ब्रह्म' में 'ज्ञान-इच्छा-कृति' का होना संभव नहीं हो सकता। किन्तु 'अज्ञानोपहित ईश्वर' में 'ज्ञान-इच्छा-कृति' का होना संभव हो सकता है। अतः 'ईश्वर' में ही सृष्टि कर्तृत्व सिद्ध होता है। वही 'ईश्वर', विक्षेपादि शक्ति वाले अज्ञान से उपहित हुआ सृष्टि का उपादान कारण होता है। अज्ञान में ज्ञानशक्ति, विक्षेपशक्ति, और आवरणशक्ति—ये तीन शक्तियाँ होती हैं। इस रीति से 'एक ही ब्रह्म में 'सृष्टि' का उपादानकारणत्व तथा निमित्तकारणत्व

१. गृह्णीते इत्यपि पाठः ।
२. सर्ववित् इत्यपि पाठः ।
३. अनवस्थितिरिति क्वचित् पाठः ।

यथेति। आदिशब्देन 'यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति। यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाक्षरात्सम्भवतीह विश्व', 'यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेत्', 'यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः', 'यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गा' इत्यादिवाक्यानि गृह्यन्ते ॥

यथोक्तेश्वरस्यासर्वज्ञत्वे जगत्कर्तृत्वन्न सम्भवतीति ततः सर्वज्ञत्वं वक्तव्यं, तत्र प्रमाणमाह—यः सर्वज्ञ इति। 'यः सर्वज्ञः स सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः तस्मादेतद्ब्रह्म नामरूपमन्नञ्च जायते', "एष सर्वज्ञ एष सर्वेश्वरः एषोऽन्तर्य्यामी एष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्", अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते' इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यश्च यथोक्त ईश्वरः सर्वज्ञः सर्वशक्तिः यथोक्तप्रकारेण जगत्कर्त्ता जगदुपादानञ्चेति योजना।

अयमेव मायोपहितः परमेश्वरो ब्रह्मविष्णुमहेशरूपताम्भजते। तथाहि—

मायानिष्ठं निरतिशयसत्त्वं त्रिमूर्त्याकारेण परिणमते परमेश्वरेच्छया लोकानुग्रहाय। तत्र दण्डकमण्डुमन्मूर्त्युपहितः सन् परमेश्वरो जगत्स्रष्टा ब्रह्मा भवति। शङ्खचक्रगदाम्बुजपाणिमूर्त्युपहितः सन् परमेश्वरो जगद्गोप्ता विष्णुर्भवति। त्रिनेत्रशूलपाणिमूर्त्युपहितः सन् परमेश्वरो जगत्संहर्त्ता महेश्वरो भवति। "स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराड् स एव विष्णुरि"त्यादि श्रुतेः।

•

(कर्तृत्व) दोनों का होना संभव होता है। जैसे—ऊर्णनाभि (मकडी) तन्तु को उत्पन्न करता है। उस तन्तु रूप कार्य के प्रति वह ऊर्णनाभि (मकडी) अपने शरीर की उपेक्षा करके तो 'उपादानकारण' होता है, और अपने चेतन्य को अपेक्षा करके 'कर्ता' (निमित्तकारण) होता है। वैसे 'एक ही ब्रह्म' सृष्टि (जगत्) का उपादानकारण और कर्ता रूप निमित्तकारण भी होता है। उसकी उभयविषकारणता में भगवती श्रुति कहती है कि जैसे ऊर्णनाभि (मकडी) अपने शरीर से तन्तुओं को उत्पन्न करता है तथा अपने ही उन तन्तुओं को लीन कर लेता है, वैसे वह ब्रह्म भी अपने से ही जगत् को उत्पन्न करता है तथा अपने में ही उसका लय भी कर लेता है। और जैसे पृथिवी से नाना प्रकार को औषधियाँ उत्पन्न होती हैं, और जैसे पुरुष से केश-लोम उत्पन्न होते हैं, वैसे ही 'अक्षर ब्रह्म' से यह विश्व उत्पन्न होता है, और जैसे प्रज्वलित अग्नि से क्षुद्र विस्फुलिङ्ग उत्पन्न होते हैं, वैसे ही आत्मा से समस्त प्राण उत्पन्न हैं, और जो ईश्वर सर्वज्ञ है, वही विश्व का कर्ता है, और वही सब का कर्ता है। इत्यादि अनेक श्रुति वचनों ने उस 'ब्रह्म' (ईश्वर) को सृष्टि का 'अभिन्ननिमित्तोपादानकारण' कहा है।

किंच—ईश्वर को यदि सर्वज्ञ नहीं मानेंगे तो उसमें सृष्टिकर्तृत्व भी नहीं बन पायगा। किन्तु श्रुतियों ने तो उसे सृष्टिकर्ता कहा है। अतः उसे सर्वज्ञ मानना ही चाहिये। ईश्वर की सर्वज्ञता को श्रुति बता रही है जो ईश्वर सर्वज्ञ है (सामान्यरूप से सम्पूर्णजगत् को जानता है) तथा ईश्वर सर्ववित् है (विशेषरूप से सम्पूर्ण जगत् को जानता है) और जिस ईश्वर का ज्ञानमय (सम्पूर्णजगद्विषयक ज्ञान) ही तप है। ऐसे सर्वज्ञ ईश्वर में ही सम्पूर्ण जगत् की कर्तृता संभव हो सकती है।

शंका—पुराणों में तो सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय करने का कर्तृत्व, ब्रह्मा, विष्णु और महेश इन तीन देवताओं में ही बताया गया है। किन्तु यहाँ पर माया से उपहित ईश्वर में ही जगत् को उत्पत्ति, स्थिति और लय का कर्तृत्व बताया जा रहा रहा है। अतः पुराणवाक्यों से विरुद्ध कैसे बताया जा रहा है?

समा०—कोई विरोध नहीं है। माया से उपहित ईश्वर ही ब्रह्मा, विष्णु और महेश—इन तीन स्वरूपों को प्राप्त करता है। तथाहि—पूर्वोक्त माया में रहनेवाला जो निरतिशय सत्त्वगुण है, वही ईश्वर की इच्छा से लयों पर अनुग्रह करने के लिये ब्रह्मा-विष्णु और महेश, इन तीन मूर्तियों के आकार में परिणत हो जाता है। उनमें से दण्ड-कमण्डलु लिया हुआ चतुर्मुखाकार उपाधि से उपहित हुआ ईश्वर सत्त्वगुण ही जगत् का स्रष्टा ब्रह्मा के नाम से कहा जाता है, और शंख-चक्र-गदा-पद्म इन चारों को धारण किया हुआ चतुर्भुज के आकार (मूर्ति) से उपहित हुआ वही ईश्वर जगत् के पालनार्थ विष्णु के नाम से कहा जाता है, तथा तीन नेत्रों वाला, त्रिशूल हाथ में लिया हुआ आकार धारण करके (उक्त आकार की मूर्ति से उपहित हुआ) वही ईश्वर, जगत् का संहार करने के लिये महेश के नाम से कहा जाता है। एवंच नहीं (एक ही) ईश्वर ब्रह्मा विष्णु और महेश्वर के रूप में हो जाता है श्रुति कह रही है कि माया से उपहित हुआ ईश्वर ही ब्रह्म रूप है, शिवरूप है, विष्णु रूप है। इसी तथ्य को पूर्ववर्ती विद्वानों ने भी कहा है कि एक ही ईश्वरमूर्ति, ब्रह्मा, विष्णु, महेश इन तीन प्रकार के भेदों को प्राप्त होती है। तीनों की पूर्ववर्तिता तथा पश्चात्वर्तिता भी समान ही होती है, अर्थात् किसी समय महेश पहिले (आदि) होते हैं

'एकैव मूर्त्तिर्बिभिदे त्रिधासो सामान्यमेषां प्रथमावरत्वं। हरेर्हरस्तस्य हरिः कदाचिद्धाता तयोस्तावपि धातुराद्यौ' ॥
इत्यभियुक्तोक्तेश्च। अत्र स्वस्वभक्त्यनुसारेणोपास्याः सर्वं इति।

अपरे तु स्रष्टा हिरण्यगर्भो जीवः परमेश्वराविष्टः समष्टिलिङ्गशरीराभिमानी सत्यलोकवासी, शिवविष्णु-मूर्त्ती तु शुद्धसत्त्वपरिणामरूपे।

'रुद्रो नारायणश्चैवेत्येकं सत्त्वं द्विधा कृतम्। लोके चरति कौन्तेय ? व्यक्तिस्थं सर्वकर्म्मसु' ॥
इति महाभारतवचनात् ॥ तत्रापि विष्णुभक्तिर्मोक्षं प्रत्यन्तरङ्गसाधनं शिवादिभक्तिरीषद्व्यवधानेन, विष्णोः सत्त्वप्रवर्त्तकत्वात्।

'आरोग्यं भास्करादिच्छेच्छ्रियमिच्छेद्धुताशनात्। ज्ञानं महेश्वरादिच्छेन्मोक्षमिच्छेज्जनार्दनाद्' ॥
इति पुराणवचनाच्च।

'माञ्च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते। स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते' ॥
इति भगवद्वचनाच्चेति वदन्ति।

शैवास्तु मायोपहितः पर एव चन्द्रकलावतंस-नीलकण्ठत्रिनयनोमासमेतनिरतिशय-सत्त्व-मूर्त्युपहितः सन् परमशिवो भवति। स एव मुमुक्षुभिरुपास्यः।

'उमासहायं परमेश्वरं प्रभुं त्रिलोचनं नीलकण्ठं प्रशान्तम्। ध्यात्वा मुनिर्गच्छति भूतयोनिं समस्तसाक्षिं तमसः परस्ताद्' ॥
इति श्रुतेः। तस्यैव ब्रह्मविष्णुमहेश्वरा विभूतयः। 'स ब्रह्मा स शिव' इत्यादि श्रुतेः।

'यस्याज्ञया जगत्स्रष्टा विरिञ्चिः पालको हरिः। संहर्त्ता कालरुद्राख्यो नमस्तस्मै पिनाकिने' ॥
इति वचनाच्चेति वर्णयन्ति ॥

●

और विष्णुपश्चात् होते हैं, और किसी समय विष्णु, ही महेश के पहिले होते हैं, और महेश पश्चात् होते हैं, और किसी समय विष्णु और महेश दोनों के पहिले ब्रह्मा होते हैं। और कभी दोनों के पहिले ब्रह्मा भी होते हैं और कभी वे दोनों ही ब्रह्मा के भी पहिले हो जाते हैं। इसलिये 'ब्रह्मा-विष्णु-शिव'—ये तीनों देव, अधिकारी भक्तों की अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार उपास्य हैं।

जगत् का स्रष्टा हिरण्यगर्भ रूप ब्रह्मा—ईश्वर नहीं है, किन्तु वह जीवविशेष है, और वह अन्तर्यामी परमेश्वर से आविष्ट रहता है। तथा 'समष्टि लिङ्गशरीर' का अभिमानी रहता है और वह सत्यलोक में निवास करता है। उस हिरण्य गर्भ की जीवरूपता 'स वै शरीरी प्रथमः'—इस श्रुति वचन से सिद्ध होती है। और शिव-विष्णु ये दो मूर्तियाँ माया के शुद्ध-सत्त्वगुण का परिणाम हैं, इसलिये ये दोनों ईश्वर स्वरूप हैं, इस तथ्य को महाभारत में कहा गया है कि 'हे कौन्तेय ! परमेश्वर ने अपनी माया का एक ही शुद्ध सत्त्वगुण को रुद्र-नारायण के रूप से दो प्रकार का किया है। इन दोनों में से विष्णु की भक्ति तो मोक्ष के प्रति अन्तरङ्गसाधन है, और रुद्र (शिव) की भक्ति, किञ्चित् व्यवधान से मोक्ष का साधन है। क्योंकि सत्त्वगुण की प्रवर्तकता विष्णु में ही है। इस तथ्य को पुराणों में कहा गया है।

शैवमतवालों का कहना है कि 'चद्रमा है शिरोभूषण जिसका वह त्रिनेत्रधारी नीलकण्ठ, उमासहित शिव ही शुद्धसत्त्व की मूर्ति है, उससे उपहित हुआ वह मायोपहित परमेश्वर ही परमशिव है, वही, मुमुक्षु भक्तों का उपास्यदेवत है।

अपने पक्ष में वे वेदमंत्र भी बताते हैं—जो परमशिव, उमा के सहित है, तथा परम ईश्वर है और सर्वसमर्थ है, और जो त्रिलोचन है, तथा नीलकण्ठ है और शान्त स्वभाव है, उस परम शिव का ध्यान करके मुमुक्षु भक्तगण परब्रह्म को प्राप्त करते हैं। जो परब्रह्म माया के सम्पर्क से समस्तभूतों का कारण है तथा सबका साक्षी है और वस्तुतः उस अज्ञानरूप तम से परे है। उस परम शिव की ही ये ब्रह्मा-विष्णु शिव तीनों विभूतियाँ हैं। इस तथ्य को भी श्रुति ने बताया है—जिस परमशिव को आज्ञा से ब्रह्मा जगत् को उत्पन्न करता है और विष्णु उसका पालन करता है, और कालरुद्र संहार करता है, उस परमशिव को हमारा प्रणाम है।

एवम्पूर्वोक्तादीश्वरादाकाश उत्पद्यते, आकाशाद्वायुर्वायोरग्निः अग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी च 'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः' इत्यादिश्रुतेः। मायायाः सत्त्वरजस्तमोगुणात्मकत्वात्, तत्कार्य्याण्याकाशादीन्यपि सत्त्व-रजस्तमोगुणात्मकानि अपञ्चीकृतानि सूक्ष्मभूतानीति च वर्णयन्ति ॥२०॥

●

वैष्णवास्तु मायोपाधिकः परमात्मा शङ्खचक्रगदाम्बुजपाणिलक्ष्मीसमेत-निरतिशयसत्त्वमूर्त्त्युपहितः सन् परमवासुदेवो भवति, स एव मुमुक्षिभिरुपास्यस्तस्य त्रिमूर्त्तयो विभूतयः।

'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्। तमेव विद्वानमृत इह भवति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'॥

"स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराडि"त्यादित्यादिश्रुतेः। "मोक्षमिच्छेज्जनार्दना"दिति वचनाच्चेति मन्यन्ते॥

हैरण्यगर्भास्तु, श्रुतिस्मृतिवादानां बहूनां सत्त्वाद्धिरण्यगर्भं मुमुक्षुभिरुपास्यं प्राहुः। शैवादिपक्षे मूर्त्तित्रयातिरिक्त मूर्त्तिकल्पनायां प्रमाणञ्चिन्त्यम्। उदाहृतश्रुतीनामर्थान्तरत्वोपपत्तेः॥१९॥

ब्रह्मणो मायोपहितस्य सृष्टिस्थितिलयकारणत्वं तटस्थलक्षणमुक्तं, तदेव प्रपञ्चयिष्यन् वियत्प्राणपादोक्तन्यायेन सृष्टिक्रममाह—एवमिति। पूर्वोक्तादिति विक्षेपादिशक्तिप्रधानमायोपहितादीश्वरादित्यर्थः।

अत्रायङ्क्रमः, संसृज्यमानप्राणिकर्म्मसहकृतःपरमेश्वरः इदमिदानीं स्रष्टव्यमितीक्षते। तत ईक्षितुः परमेश्वरादाकाश उत्पद्यते, आकाशाद्वायुस्ततोऽग्निस्तत आपः, ततः पृथिवीचेति।

नचाचेतनस्य कल्पितस्याकाशादेर्वाय्वाद्युपादानत्वं कथमिति वाच्यम्। तत्तदुपहितचैतन्यस्यैवोपादानत्वेन विवक्षितत्वात्। अन्यथा चेतनकारणतावादिश्रुतिविरोधप्रसङ्गात्॥

●

वैष्णव भक्तों का कहना है कि शंख-चक्र-गदा-पद्मधारी तथा लक्ष्मी के सहित विराजमान जो निरतिशय सत्त्व की मूर्ति है, उससे उपहित हुआ अर्थात् मायोपहित परमात्मा ही परम वासुदेव है, वही मुमुक्षु भक्तों के लिये उपास्य है, और ब्रह्म-विष्णु-शिव—ये तीनों ही उस परम वासुदेव की ही विभूतियाँ हैं। उक्त कथन का समर्थन श्रुति व पुराणों से भी करते हैं।

हिरण्यगर्भ की उपासना करने वाले हिरण्यगर्भ भक्तों का कहना है कि 'हिरण्यगर्भ ही मायोपहित परमेश्वर है, इस तथ्य को बताने वाले श्रुति-स्मृतियों के अनेक वचन भी हैं। अतः यह हिरण्यगर्भ ही मुमुक्षु भक्तों के लिये उपास्य हैं।

शैवों ने तथा वैष्णवों ने ब्रह्मा, विष्णु, महेश—इन तीनों मूर्तियों से भिन्न एक 'परम शिव' तथा 'परम वासुदेव' की कल्पना की हैं, किन्तु उस कल्पना में कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। और उक्त कल्पना में जो प्रमाण 'स ब्रह्मा, स शिवः सेन्द्रः' दिया है, वह तो 'मायोपहित परमेश्वर' को ही बताता है। अतः तीनों से भिन्न परम शिव या परम वासुदेव की कल्पना करने में उसे प्रमाण नहीं कहा जा सकता। एवं च मायोपहित परमेश्वर ही 'ब्रह्मा विष्णु महेश्वर' इन तीन रूपों को प्राप्त होता है। अतः तीनों रूप समान हैं। इस लिये यही सिद्धान्तमत मानने योग्य है॥ १९॥

इसके पूर्व मायोपहित 'तत् पदार्थ' रूप 'ब्रह्म' के 'जगदुत्पत्ति स्थितिलयकारणत्व' रूप 'तटस्थ लक्षण' को बताया गया था। अब उसी लक्षण को स्पष्ट करने के लिये मायोपहित परमेश्वर से आकाशादि जगत् की उपत्ति के क्रम को बताया जा रहा है।

उत्पन्न होने योग्य प्राणियों के जो पुण्य-पाप कर्म हैं, उनसे सहकृत पूर्वोक्त विक्षेपादि शक्ति प्रधान माया से उपहित ईश्वर है, उसी ने प्रथमतः 'यह जगत् उत्पन्न करने योग्य है'—यह संकल्प किया। इस प्रकार संकल्प करनेवाले ईश्वर ने प्रथमतः 'आकाश' को उत्पन्न किया, उस आकाश से 'वायु' उत्पन्न हुआ, उस वायु से 'अग्नि' उत्पन्न हुआ, उस अग्नि से 'जल' उत्पन्न हुआ, उस जल से 'पृथिवी' उत्पन्न हुई। इस तथ्य को श्रुति यह कहकर बता रही है कि मायोपहित ब्रह्म से आकाश उत्पन्न हुआ, उससे वायु, उससे अग्नि, उससे जल, उससे पृथिवी उत्पन्न हुई।

शंका—अचेतन (जड) तथा कल्पित जो आकाशादि भूत हैं, वे 'वायु' आदि भूतों के उपादान कारण कैसे हो सकेंगे?

समा०—यहाँ पर आकाशादि भूतों में वायु आदि भूतों की उपादान कारणता विवक्षित नहीं है, अपितु आकाशादि भूतों से उपहित चैतन्य में ही वायु आदि भूतों की उपादान कारणता विवक्षित है। अर्थात् आकाशोपहित चैतन्य से 'वायु'

अत्र वैशेषिका मन्यन्ते। द्रव्यगुणकर्म्मसामान्यविशेषसमवायाः षट् पदार्थाः। गुणादयो द्रव्यपरतन्त्राः। भावकार्य्यं सर्वं समवायिकारणमसमवायिकारणं निमित्तकारणञ्चेति कारणत्रयजन्यम्। तत्र द्रव्यं समवायिकारणं तानि च द्रव्याणि नवैव। पृथिव्यादयश्चत्वारः परमाणव आकाशादीनि चेत्येतानि नित्यद्रव्याणि। द्व्यणुकं परमाणुभ्यामुत्पद्यते, द्व्यणुकेभ्यस्त्र्यणुकम्, ततश्चतुरणुकमेवं क्रमेण महापृथिवी महत्य आपो महत्तेजो महान् वायुरुत्पद्यते। आद्व्यणुकादाब्रह्माण्डान्तं सर्वं कार्य्यद्रव्यमनित्यमवयवसमवेतञ्च। अपकृष्टमहत्परिमाणतारतम्यस्य गगनादिपरिमाणे विश्रान्तत्ववदणुपरिमाणतारतम्यस्य यत्र विश्रान्तिः स एव परमाणुः।

न चाणुपरिमाणतारतम्यस्य त्रसरेणौ विश्रान्तिरस्त्विति वाच्यम्, तस्य चाक्षुषद्रव्यत्वेन सावयवानुमानेन तदवयवद्व्यणुकसिद्धौ तस्य महदवयवत्वेन, सावयवानुमानेन, तदवयवपरमाणुसिद्धेस्तस्यापि सावयवत्वे अनवस्थाप्रसङ्गः। न च तदिष्टम्, अनन्तावयवारब्धत्वाविशेषेण मेरुसर्षपयोस्तुल्यपरिमाणप्रसङ्गोऽतो निरवयवः परमाणुः। ततश्च तदुत्पत्तौ समवायिकारणासमवायिकारणानिरूपणादनादिः परमाणुः, विनाशकारणाभावान्नित्यः।

एवमाकाशादीनामपि सर्वत्र कार्य्योपलब्ध्या विभुत्वेन निरवयद्रव्यतयोत्पत्तिविनाशकारणाभावात्तच्छून्यतयाऽनादित्वं नित्यत्वञ्च।

●

उत्पन्न होता है, तथा वायुउपहित चैतन्य से 'अग्नि' उत्पन्न होता है, तथा अग्नि से उपहित हुए चैतन्य से 'जल' उत्पन्न होता है, तथा जलोपहित चैतन्य से 'पृथिवी' उत्पन्न होती है। अभिप्राय यह है कि तत्तदुपाधिविशिष्ट चैतन्य में ही सर्वत्र कारणता है।

यदि कदाचित् कल्पित अचेतन (जड) को सर्वत्र 'कारण' कहें तो 'चेतन ब्रह्म' को जगत् का कारण कहनेवाली श्रुति से विरोध उपस्थित होगा।

अभिप्राय यह है कि 'माया' जो है, वह 'कारण ब्रह्म' की उपाधि है। उस कारण आकाशादि प्रपञ्च की कारणता उसमें (माया में) कही जाती है। उसी तरह आकाशादि भी 'कारण ब्रह्म' की उपाधि है, उस कारण 'वायु' आदि का उसे कारण कहा गया है, आकादिकों में स्वतन्त्र रूप से कारणता नहीं है।

वैशेषिक मत—वैशेषिक शास्त्र के विद्वानों का कहना है कि (१) द्रव्य, (२) गुण, (३) कर्म, (४) सामान्य, (५) विशेष, (६) समवाय और (७) अभाव—ये सात पदार्थ ही विश्व में हैं। इनमें 'गुण' आदि पदार्थ, 'द्रव्य' के ही परतन्त्र होते हैं। और सम्पूर्ण भाव कार्य; अपने 'समवायिकारण', 'असमवायिकारण' और 'निमित्तकारण'—इन तीन कारणों से उत्पन्न हुआ करते हैं। 'जन्यद्रव्य, जन्यगुण, जन्यकर्म'—ये तीनों 'भावकार्य' शब्द से कहे जाते हैं। 'समवायिकारणता' तो एकमात्र 'द्रव्य' पदार्थ में ही रहती है। 'गुण-कर्मादिकों' में समवायिकारणता कभी नहीं हुआ करती। उसी प्रकार 'असमवायिकारणता'—'गुण, कर्म' इन दो पदार्थों में ही रहती है, अन्य पदार्थों में नहीं। और 'निमित्तकारणता' 'द्रव्यादि' सभी पदार्थों में रहती है।

(१) पृथिवी, (२) जल, (३) तेज, (४) वायु, (५) आकाश, (६) काल, (७) दिक्, (८) आत्मा, और (९) मन—ये नो, 'द्रव्य' शब्द से कहे जाते हैं। इनने से 'पृथिवी' आदि चार द्रव्यों के परमाणु तथा 'आकाशादि' पाँच द्रव्य इनको 'नित्य द्रव्य' कहते हैं, और ये 'निरवयव' होते हैं।

उन परमाणुओं से उत्पन्न होनेवाले 'द्व्यणुक' से लेकर 'ब्रह्माण्ड' तक सभी 'कार्य द्रव्य' अर्थात् 'अनित्य द्रव्य' कहे जाते हैं, तथा ये सब सावयव अर्थात् 'अवयवी' होते हैं।

'सृष्टि' के आदिकाल में 'परमेश्वर' की इच्छा से उन परमाणुओं में 'क्रिया' उत्पन्न होती हैं। तदनन्तर 'दो-दो परमाणुओं' का 'संयोग' होता है। उन संयुक्त हुए 'परमाणुओं' से प्रथमतः 'द्व्यणुक' रूप का कार्य उत्पन्न होता है।

उस 'द्व्यणुक रूप कार्य' के वे 'दो परमाणु' तो 'समवायिकारण' कहलाते हैं, और उन 'दो परमाणुओं' का 'संयोग', 'असमवायिकारण' कहलाता है। तथा 'ईश्वरेच्छा' आदि, 'निमित्तकारण' कहलाते हैं।

इसी प्रकार 'द्व्यणुक रूप कार्य' की उत्पत्ति के अन्तर ईश्वरेच्छा से पुनः उनमें क्रिया उत्पन्न होकर संयुक्त हुए 'तीन द्व्यणुकों' से 'त्र्यणुक रूप कार्य' उत्पन्न होता है। तदनन्तर पुनः उनमें क्रिया उत्पन्न होकर संयुक्त हुए 'चार त्र्यणुकों' से 'चतुरणुक रूप कार्य' उत्पन्न होता है। इसी क्रम से यह महान् पृथिवी, महान् जल, महान् तेज, महान् वायु उत्पन्न होता है। अभिप्राय यह है कि 'परमाणु' ही समस्त जगत् के 'उपादानकारण' हैं। अर्थात् वेदान्तियों का अभिमत 'मायोपहित ब्रह्म', 'जगत्' का उपादानकारण नहीं है—यह वैशेषिकों का कहना है।

नचोत्पत्तिश्रुतेराकाशस्यानादित्वं कथमिति वाच्यम्, प्रमाणान्तरविरोधे तस्य गौणात्वोपपत्तेः। तथाच पारमार्षं सूत्रं 'गौण्यसम्भवादि'ति। एवं मनसोऽपीति।

अत्रेदञ्चिन्त्यम्—शक्तिसादृश्यादीनां बहूनां पदार्थानां विद्यमानत्वेन षट्पदर्था न सम्भवन्ति। न च शक्तिसादृश्यसद्भावे मानाभाव इति वाच्यम्, करतलानलसंयोगे सति मण्यादिसमवधाने दाहानुत्पत्त्या तदपनये दाहोत्पत्त्या वन्हौ दाहानुकूलशक्तिविनाशोत्पत्त्योरावश्यकत्वेन शक्तिसिद्धेः।

न च प्रतिबन्धकाभावेन दाहोत्पत्त्युपपत्तौ कथं शक्तिसिद्धिरिति वाच्यम्, प्रतिबन्धकाभावस्य दाहकारणत्वे मानाभावात्, तदन्वयव्यतिरेकयोः कार्य्यानुत्पादस्याग्रिमसमयसम्बन्धसम्पादकत्वेनान्यथासिद्धत्वाच्च। "कतमसतः सज्जायेते"ति श्रुत्या "नासतोऽदृष्टत्वादि"ति न्यायेन चाभावकारणत्वस्य निराकृतत्वाच्च। तस्मात्कारणे कार्यानुकूलशक्तिरभ्युपगन्तव्या। एवं चन्द्रन्मुखमित्याद्यनुभवात् सादृश्यसिद्धिः. तस्मात्पदार्थानामानन्त्यात् द्रव्यादयः षट्पदार्था इत्यसङ्गतम्।

किञ्च, द्रव्याणि नवैवेत्यसङ्गतम्, अन्धकारस्य दशमद्रव्यस्य सत्त्वात्। नचान्धकारस्याऽऽलोकाभावतया कथं द्रव्यत्वमिति वाच्यम्। प्रतियोगिनिरपेक्ष्यतया प्रतीयमानस्याभावत्वकल्पनायां मानाभावात्। नीलन्तमश्चलतीत्यादिप्रत्यक्षप्रतीत्या

●

वैशेषिक मतनिरास—किन्तु उक्त वैशेषिक सिद्धान्त उचित प्रतीत नहीं रहा है। क्योंकि शक्ति, सादृश्य आदि अनेक पदार्थों के विद्यमान रहते 'सात ही पदार्थ' हैं—यह वैशेषिकों की प्रतिज्ञा, कैसे संगत हो सकती है? तथाहि—'मणि-मन्त्रादिकों' के समीप रहने पर वह्नि से दाह रूप कार्य नहीं होता, और उन मणि-मन्त्रादिकों को दूर करने पर वह्नि से दाह रूप कार्य होने लगता है। इससे स्पष्ट होता है कि वह्नि में दाह के अनुकूल (दाहजनक) शक्ति का विनाश और उत्पत्ति अवश्य माननी चाहिये। अर्थात् मणि-मन्त्रादिकों के विद्यमान रहने पर वह्नि की दाहानुकूल शक्ति नष्ट हो जाती हैं, और मणि मन्त्रादिकों को दूर करने पर वह्नि में दाहानुकूल शक्ति, पुनः उत्पन्न हो जाती है। अतः वह्नि में उस दाहानुकूलशक्ति को अवश्य ही मानना होगा। इसी प्रकार मृत्तकादि सभी कारणों में अपने-अपने घटादि कार्य के अनुकूल शक्ति रहा करती है। वह शक्ति, वैशेषिकाभिमत सप्त पदार्थों से भिन्न (अतिरिक्त) ही पदार्थ है।

वैशेषिकविद्वान्, उक्त स्थल में मणिमन्त्रादि जो दाह के प्रतिबन्धक हैं, उनके अभाव को ही अर्थात् प्रतिबन्धकाभाव को ही दाह का कारण मानते हैं।

किन्तु उनका उक्त कथन, श्रुति-सूत्र के विरुद्ध रहने से अत्यन्त असंगत है। श्रुति कहती है कि यह अभावरूप असत्, सत्कार्य की उत्पत्ति का कभी भी कारण नहीं बन सकता। अर्थात् असत् से सत् कार्य की उत्पत्ति कभी नहीं हो सकती।

सूत्रकार व्यास महर्षि भी कहते हैं कि अभावरूप असत् से सत्कार्य की उत्पत्ति को बताना युक्त संगत नहीं है। क्योंकि संसार में 'असत् नरशृंग' आदि से किसी भी सत्कार्य की उत्पत्ति का होना दृष्टिगोचर नहीं हैं। अपितु 'सत् मृत्तिका' आदि से ही 'सत् घटादि कार्यों' की उत्पत्ति का होना देखा जाता है। अतः प्रतिबन्धकाभाव को किसी कार्य का कारण बताना श्रुति-सूत्र के विरुद्ध होने से असंगत है।

इसी प्रकार 'चन्द्रवन्मुखम्'—इत्यादि अनुभव से मुख आदि में चन्द्र आदि का सादृश्य सिद्ध होता है। अतः सादृश्य भी शक्ति के समान ही द्रव्यादि सात पदार्थों से भिन्न ही पदार्थ हैं। एवञ्च शक्ति, सादृश्य आदि अधिक पदार्थों के विद्यमान रहते 'सात ही पदार्थों' के होने की प्रतिज्ञा करना उचित नहीं है।

किञ्च—'अन्धकार' रूप दशम द्रव्य के विद्यमान रहते 'नौ ही द्रव्य हैं'—यह कहना भी उचित नहीं है। क्योंकि 'नीलं तमश्चलति'—इस प्रत्यक्ष प्रतीति से उस अन्धकाररूप 'तम' में 'नीलरूप' तथा 'चलन-क्रिया' भी सिद्ध होती है। और गुण तथा क्रिया का आश्रय द्रव्य ही होता है। उस कारण अन्धकार रूप तम में द्रव्यरूपता की प्रतीति होती है। किन्तु वैशेषिकशास्त्र के विद्वान् तम को आलोकाभाव रूप मानते हैं।

परन्तु वैशेषिकों का उक्त कथन उचित नहीं हैं। क्योंकि कोई भी अभाव सर्वदा अपने 'प्रतियोगिसापेक्षप्रतीति' का विषय होता है। कोई भी अभाव, कभी भी 'प्रतियोनिरपेक्षप्रतीति' का विषय नहीं हुआ करता।

जैसे—'घटाऽभाव', 'पटाभाव'—इत्यादि अभाव, 'घट-पटादिरूप प्रतियोगिसापेक्ष प्रतिति' के ही विषय होते हैं। इस अव्यभिचरित नियम के अनुसार 'अन्धकाररूप तम' तो 'आलोकरूप प्रतियोगिसापेक्ष प्रतीति' का विषय नहीं होता है।

रूपादिमत्त्वेन तस्य द्रव्यत्वोपपत्तेश्च। तस्मात् द्रव्याणि नवैवेत्यनुपपन्नम्।

किञ्च, आत्मनः श्रुतिस्मृतिविद्वदनुभवैर्निर्गुणत्वसच्चिदानन्दस्वरूपत्वावगमेन, गुणाश्रयत्वेन समवायिकारणत्वेन वा द्रव्यत्वकल्पनायां मानाभावात्।

नचात्मनोऽद्रव्यत्वे गुणादिवत्परतन्त्रत्वापत्तिरिति वाच्यम्। तस्य सर्वकल्पनाधिष्ठानतया सर्वप्रेरकत्वेन च स्वातन्त्र्योपपत्तेः। कुतः पारतन्त्र्यम्। अतोऽपि द्रव्याणि नवैवेत्यनुपपन्नम्।

'अतोऽन्यदार्त्तमि'त्यादिश्रुत्या ब्रह्माभिन्नस्य सर्वस्यानित्यत्वात् कथमाकाशादीनां नित्यत्वम्। नच तस्या उपचरितार्थत्वं प्रमाणान्तराविरोधात्। तथाहि—न तावदाकाशादीनामार्त्तत्वे प्रत्यक्षविरोधस्तेषामतीन्द्रियत्वात्। नाप्याकाशं नित्यं निरवयवद्रव्यत्वाद् आत्मवदित्यनुमानविरोध इति वाच्यम्। असिद्धत्वात्। नच विभुत्वेन निरवयवत्वसिद्धिरिति वाच्यम्। तस्यानिर्वचनात्। न तावत्सकलमूर्त्तद्रव्यसंयोगित्वं विभुत्वं, संयोगस्याव्याप्यवृत्तितया सावयवनिरवयवयोस्तदसम्भवात्। नापि परममहत्परिमाणवत्त्वं विभुत्वं, परममहत्परिमाणस्यानिरूपणात्। नचेयत्ताऽनवच्छिन्नपरिमाणत्वम्परममहत्त्वम्, तथात्वे मानाभावात्। नच सर्वत्र कार्योपलब्धिरेव मानमिति वाच्यम्। तर्हि यत्र कदापि कार्यं नोपलभ्येत्, तत्र तदसिद्धया विभुत्वासिद्धेः। नाप्युपमानविरोधः, नित्यत्वाभावेऽपि तत्सम्भवात्। नाप्यागमविरोधः, वादिवाक्यस्याप्रमाणत्वात्, श्रुतिस्त्वनित्यत्वमेव बोधयति।

नच विनाशकारणानिरूपणात्कथं तदुपपद्यत इति वाच्यम्। उपादानकारणनाशादेव तन्नाशोपपत्तेः॥

किं तदुपादानमिति चेत्? परिणाम्युपादानमज्ञानम्, विवर्त्तोपादानम् ब्रह्म। तत्र ब्रह्मणो नित्यत्वेऽपि ज्ञानेनाज्ञाननिवृत्या तन्निवृत्तिरुपपद्यत इत्यार्त्तश्रुतेर्मानान्तराविरोधादुपचरितार्थत्वाभावेनाकाशादीनामनित्यत्वम्।

एतेनाकाशादीनां समवायिकारणासमवायिकारणानिरूपणादनादित्वमित्यपास्तम्। समवायासिद्धया समवायिकारणासमवायिकारणपरिभाषाया अप्रामाणिकत्वात्। कुतस्तर्हि कार्योत्पत्तिरिति चेद्? उपादानकारणनिमित्तकारणाभ्याम्। ते च निरूपयिष्येते। समवायासम्भवो वक्ष्यते।

●

अतः अन्धकार को आलोकाभावरूप मानना प्रमाणशून्य है। उपर्युक्त युक्ति के अनुसार अन्धकार को दशम द्रव्य ही मानना उचित होगा।

किञ्च—वैशेषिक विद्वानों ने आत्मा को भी ज्ञानादिगुणों का आश्रय कहकर तथा उसे समवायिकारण मानकर उसकी द्रव्य में गणना की है।

किन्तु इस प्रकार आत्मा को द्रव्य कहना भी उचित नहीं है। क्योंकि 'श्रुति, स्मृति और विद्वानों का अनुभव'—इन तीनों के द्वारा 'आत्मा' की 'निर्गुणता' और 'सच्चिदानन्दरूपता' का ही निश्चय किया गया है। तथाहि—'साक्षीचेता केवलो निर्गुणश्च'—यह श्रुति आत्मा को निर्गुण बता रही है। और 'सत्यं ज्ञानमानन्तं ब्रह्म', आनन्दो ब्रह्म—यह श्रुति आत्मा को सत्-चित्-आनन्दरूप बताती है। इससे स्पष्ट है कि आत्मा द्रव्यरूप नहीं है। और वैशेषिकों का जो यह कहना है कि आत्मा को अद्रव्य मानने पर गुणादिकों के समान उसे परतन्त्र मानना होगा—तो यह कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि श्रुति-स्मृतियों तो आत्मा को ही समस्त कल्पनाओं का अधिष्ठान तथा सबका प्रेरक कहा है। अतः उस आत्मा की अद्रव्यरूपता रहने से उसे परतन्त्र कहना श्रुति-स्मृति के विरुद्ध है। एवंच अद्रव्यरूप होता हुआ भी वह आत्मा सर्वाधिष्ठान होने से तथा सबका प्रेरक रहने से उसे स्वतन्त्र ही समझना चाहिये। अतः 'नवैव द्रव्याणि'—नौ ही द्रव्य हैं—यह प्रतिज्ञा करना संगत नहीं है।

किञ्च—वैशेषिक विद्वानों ने 'आकाशादिक' अनेक 'नित्य पदार्थ' माने हैं। किन्तु यह कहना भी श्रुति-स्मृति के विरुद्ध रहने से असंगत ही है। क्योंकि श्रुति कहती है कि 'ब्रह्म' के अतिरिक्त 'सम्पूर्ण जगत्' ही अनित्य है। तथाहि—'अतोऽन्यदार्तम्। मायामात्रमिदं द्वैतम्, अद्वैतम्परमार्थतः'—अर्थात् इस ब्रह्म से भिन्न सम्पूर्ण जगत् आर्त (मिथ्या) है, यह सम्पूर्ण द्वैत प्रपञ्च, 'माया मात्र' है, अर्थात् 'मिथ्या' है, 'अद्वैत ब्रह्म' ही परमार्थ (सत्य) है।

किञ्च—'आत्मन आकाशः सम्भूतः', 'तन्मनोऽकुरुत—इस श्रुति में 'आकाश' की तथा 'मन' की 'ब्रह्म' से उत्पत्ति बताई गई है, और 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः' इस वचन से भगवान् अपने मुखारविन्द से 'उत्पत्तिमात् पदार्थ का नियमतः विनाश होना बता रहे हैं। अतः उत्पत्ति—विनाशवाले होने से इन आकाशादिकों को 'अनित्य' ही कहना होगा।

एतेन परमाणूनामप्युत्पत्तिविनाशकारणानिरूपणादनादित्वमित्यापास्तम्, सूक्ष्मभूतातिरिक्तपरमाणुसम्भावे मानाभावात्। नचानुमानात्तत्सिद्धिरिति वाच्यम्, तर्हि तत एव परमाणूनां सावयवत्वप्रसङ्गात्। नचानवस्थाभिया तदसिद्धिरिति वाच्यम्। परमकारणे विश्रान्तिसम्भवेनानवस्थापरिहारात्। नच मेरुसर्षपयोस्तुल्यपरिमाणत्वप्रसङ्गोऽनन्तावयवारब्धत्वाविशेषादिति वाच्यम्, अप्रयोजकत्वात्। किञ्च, रूपादिमत्त्वात् परिच्छिन्नत्वाच्च परमाणूनां सावयवत्वमनित्यत्वमभ्युपगन्तव्यं घटादीनां रूपादिमतां तथा दर्शनात्। किञ्च, संयुक्ताभ्यां परमाणुभ्यां द्वयणुकोत्पत्तिर्वाच्या। सानुपपन्ना तत्संयोगाऽयोगात् परमाणूनां निरवयवत्वाभ्युपगमात्संयोगो न भवति, तस्याव्याप्यवृत्तित्वात्। नहि निष्प्रदेशे संयोगतदभावौ सम्भवतः। असम्बद्धानान्दिशामनवच्छेदकत्वात्तत्सम्बन्धानिरूपणाच्च। तस्मात्परमाणुभ्यां द्वयणुकमुत्पद्यत इत्यसङ्गतम्।

अपिच 'येनाश्रुतं श्रुतम्भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमि'त्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञातम्। तच्च ब्रह्मभिन्नस्यानादित्वे नित्यत्वे बाधितं स्यात्। नच तदिष्टं, मृदादिदृष्टान्तेन कार्य्यस्य कारणादव्यतिरेकेण तदुपपादनमनर्थकं स्यात्। तस्मात् ब्रह्मभिन्नं सर्वमुत्पद्यते विलीयते चेति श्लिष्टतरम्।

अस्तु तर्हि प्रधानान्महदादिक्रमेण प्रपञ्चोत्पत्तिरिति चेन्न, प्रधानस्याप्रामाणिकत्वेन जगदुपादानत्वायोगात्।

●

किञ्च— वैशेषिक विद्वानों ने 'परमाणुओं' को जो 'नित्य' और 'निरवयव' माना है, वह भी उचित नहीं है। क्योंकि संसार में जो-जो पदार्थ रूपवान् तथा परिच्छिन्न होता है, वह पदार्थ, 'सावयव' तथा 'अनित्य' होता है। जैसे 'घट-पट' आदि 'पदार्थ' है, वैसे ही 'परमाणु' भी वैशेषिकों के मत में 'रूपवान्' अर्थात् रूपादिगुण वाले हैं तथा 'परिच्छिन्न' हैं। उस कारण 'परमाणुओं' को भी घट-पटादि पदार्थों के समान ही 'सावयव' तथा अनित्य कहना होगा।

किञ्च—परमाणुओं को सावयव कहने पर वैशेषिकों ने जो अनवस्थादोष का उद्‌भावन किया है, वह भी उचित नहीं है। क्योंकि ईश्वररूप 'परमकारण' में ही उस 'अवयवधारा' की विश्रान्ति का होना संभव है।

किञ्च—सूक्ष्मभूतों से भिन्न 'परमाणुओं' के सद्भाव में कोई भी प्रमाण नहीं है, अपितु 'सूक्ष्मभूतों' की अपर (अन्य) नाम 'परमाणु' है। उन सूक्ष्मभूतों की उत्पत्ति, पूर्वोक्तरीति से 'ईश्वर' के द्वारा ही की जाती है। इसलिये भी वे 'परमाणु', सावयव तथा अनित्य ही सिद्ध होते हैं।

किञ्च—वैशेषिकों ने जो यह कहा है कि 'संयुक्त हुए दो परमाणुओं से 'द्वयणुक' की उत्पत्ति होती है'—वह भी असंगत ही है। क्योंकि वैशेषिकों ने तो 'परमाणुओं' को 'निरवयव' माना है, और 'संयोग' को 'अव्याप्यवृत्ति' बताया है। अर्थात् जिस द्रव्य में संयोग रहता है, उसी द्रव्य में उस संयोग का 'अभाव' भी रहता है। जैसे—एक ही वृक्ष पर अग्रावच्छेदेन 'कपिसंयोग' रहता है, और उसी वृक्ष पर उसके मूलावच्छेदेन उसी संयोग का अभाव भी रहता है, इसी को संयोग में रहने वाली 'अव्याप्यवृत्तिता' कहते हैं। और यह जो 'संयोग' है वह 'सावयव द्रव्यों' का ही हुआ करता है। 'निरवयव द्रव्यों' का संयोग होना तो कभी संभव ही नहीं है। किन्तु वैशेषिकों ने तो 'परमाणुओं' को 'निरवयव' ही माना है। उस कारण 'परमाणुओं' में संयोग का होना कभी संभव ही नहीं हो सकता। एवञ्च परमाणुओं का संयोग, असंभव रहने से अर्थात् उन असंयुक्त परमाणुओं से द्वयणुक की उत्पत्ति बताना एक प्रकार से वदतोव्याघात ही है, अर्थात् स्वयं ने ही स्वयं के सिद्धान्त को भग्न कर दिया है।

किञ्च—'येनाऽश्रुतं श्रुतं भवति' इत्यादि श्रुति ने कहा है कि 'एक के जानने से अर्थात् 'सर्वकारणभूत ब्रह्म' का एक मात्र ज्ञान प्राप्त कर लेने से सम्पूर्ण का ज्ञान प्राप्त हो जाता है'—यह श्रुति की प्रतिज्ञा है। ब्रह्म से भिन्न 'परमाणु' आदिकों को अनादि तथा नित्य मानने पर श्रुतिकृत प्रतिज्ञा के साथ विरोध उपस्थित होता है। श्रुति विरोध के कारण पूर्वोक्त प्रतिज्ञा बाधित है, और मृदादि का दृष्टान्त देकर कार्यका, 'कारण' से अव्यतिरेक बताते हुए प्रतिज्ञात अर्थ का जो उपपादन किया है, वह भी व्यर्थ है। उस कारण यही कहना होगा कि 'यह सम्पूर्ण जगत् 'ब्रह्म' से पृथक् (भिन्न) है, 'ब्रह्म' से ही वह उत्पन्न होता है, और 'ब्रह्म' में ही उसका (जगत् का) लय होता है।

शंका—पूर्वपक्षी पुनः अन्य प्रकार से अपने पक्ष को उपस्थित कर रहा है। वह कहता है—सांख्यदर्शन के सिद्धान्तानुसार त्रिगुणात्मक प्रधान (प्रकृति) से महत्तत्वादि प्रपञ्च (जगत्) की क्रमशः उत्पत्ति हुआ करती है। अतः इस सम्पूर्ण जगत् का कारण 'प्रधान' को मान लेना ही उचित प्रतीत हो रहा है।

एतेभ्यः सूक्ष्मभूतेभ्यः स्थूलभूतानि सूक्ष्मशरीराणि च सप्तदशलिङ्गात्मकानि जायन्ते। सप्तदशलिङ्गानि तु ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्च, कर्म्मेन्द्रियाणि पञ्च, मनो बुद्धिः पञ्च प्राणाश्चेति ॥ २१ ॥

●

ननु स्मृतिसिद्धत्वात् कथमप्रामाणिकत्वमिति चेन्न, श्रुतिविरोधे स्मृतेरप्रामाणिकत्वात्। तस्मान्मायोपहिताद् ब्रह्मण आकाशादिक्रमेण प्रपञ्चोत्पत्तिरिति सर्वैरभ्युपगन्तव्यम्। अन्यथा श्रुतेरप्रामाण्यप्रसङ्गात्। नच तदिष्टम्, अध्ययनविधिपरिगृहीतस्याक्षरमात्रस्यानर्थक्यायोगात्। तस्माद् ब्रह्मण एवाकाशादिक्रमेण जगदुत्पद्यते इत्यनवद्यम्।

आकाशादिभ्यः सूक्ष्मशरीरोत्पत्तिं वक्तुं "कारणगुणा हि कार्य्यगुणानारभन्त" इति न्यायेन भूतकारणस्याज्ञानस्य सत्त्वरजस्तमोगुणात्मकत्वेन तत्कार्य्याणामाकाशादीनामपि सत्त्वरजस्तमोगुणात्मकत्वं, व्यवहारायोग्यत्वात् सूक्ष्मभूतत्वं, पञ्चीकरणाभावादपञ्चीकृतत्वञ्चेत्याह—**मायाया इति**। **वर्णयन्ति** वेदान्तविद इति शेषः ॥२०॥

एतेभ्यः सूक्ष्मभूतेभ्यः सूक्ष्मशरीराणां स्थूलभूतानाञ्चोत्पत्तिमाह—**एतेभ्य इति**। लिङ्गानि गणयति—**सप्तदशेति**। श्रोत्रत्वक्चक्षूरसनघ्राणाख्यानि ज्ञानेन्द्रियाणि। वाक्पाणिपादपायूपस्थाख्यानि कर्म्मेन्द्रियाणि। तत्र शब्दोपलब्धिसाधनमिन्द्रियं श्रोत्रम्। स्पर्शोपलब्धिसाधनमिन्द्रियं त्वक्। रूपोपलब्धिसाधनमिन्द्रियं चक्षुः। रसस्वादोपलब्धिसाधनमिन्द्रियं रसनम्। गन्धो-

●

समा०—उक्त सांख्यसिद्धान्त को भी उचित नहीं कह सकते, क्योंकि सांख्यदर्शन ने 'प्रधान' को 'जड, नित्य और स्वतन्त्र'—माना है। उस 'प्रधान' को जगत् का कारण कहने में कोई भी 'प्रमाण', उपलब्ध नहीं हो सका है।

किञ्च—'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्', 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः' इत्यादि श्रुतियाँ, वेदान्तसिद्धान्तसम्मत 'माया' को ही 'जगत्' का कारण कहती हैं, सांख्यसम्मत 'प्रधान' को नहीं कहती।

शंका—सांख्यसम्मत 'प्रधान' के मानने में 'कपिल' स्मृति को प्रमाण कह सकते हैं। अतः उसे अप्रामाणिक कहना उचित नहीं है।

समा०—श्रुतिविरोध के उपस्थित होने पर 'कपिलस्मृति' को प्रमाण नहीं माना जा सकता। कोई भी 'स्मृति' तभी 'प्रमाण' कही जाती है, जब वह, श्रुतिमूलक हो। अतः 'श्रुतिविरुद्ध स्मृति' को प्रमाण नहीं माना जाता। एवञ्च 'मायोपहित ब्रह्म' से ही 'आकाशादि प्रपञ्च' की उत्पत्ति होती है—यही सिद्धान्त समुचित है। अन्यथा श्रुति को अप्रमाण कहने का प्रसंग प्राप्त होगा। किन्तु श्रुति का अप्रामाण्य मानना कभी भी इष्ट नहीं है, क्योंकि 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'—इस अध्ययनविधि से परिगृहीत होने के कारण श्रुति (वेद) का प्रत्येक अक्षर-अक्षर, प्रमाण माना जाता है, यहाँ तक कि वेदाक्षर की कोई मात्रा तक अनर्थक नहीं मानी जाती। अतः 'ब्रह्म' से ही आकाशादिक्रम से जगत् की उत्पत्ति होती है, यही निर्दुष्ट (दोषरहित) सिद्धान्त है।

पूर्वोक्त 'आकाशादि' पाँच भूतों से 'सूक्ष्मशरीरों' की तथा 'स्थूलभूतों' की उत्पत्ति बताने के लिए 'कारणगुणा हि कार्यगुणान् आरभन्ते'—इस नियम (न्याय) के अनुसार 'कारण' के गुण ही 'कार्य' के गुणों के आरम्भक होते हैं।

'ईश्वर' की उपाधिरूप जो 'माया' है, वह 'सत्त्व, रज और तम' के कारण त्रिगुणात्मक कही जाती है। उस त्रिगुणात्मिका माया (अज्ञान) से पञ्च भूतों की उत्पत्ति होती है। उस कारण ये आकाशादि पञ्चभूत, 'माया' (अज्ञान) के 'कार्य' हैं, और 'माया', उन भूतों की 'कारण' है। अतः आकाशादि पञ्चभूत भी 'सत्त्वरजस्तमोगुणात्मक' हैं, अर्थात् 'सत्त्व, रज, तम—इन तीन गुणों वाले हैं। एवंच ये त्रिगुणात्मक आकाशादिपञ्चभूत' प्रत्यक्ष व्यवहार के योग्य न हो पाने से 'सूक्ष्म' कहे जाते हैं, और उनका 'पञ्चीकरण' न होने से उन्हें 'अपञ्चीकृत' कहा जाता है। एवंच अज्ञानरूपिणी 'माया' से उत्पन्न आकाशादि पञ्चभूतों को अपञ्चीकृत और सूक्ष्मभूत शब्दों से वेदान्तियों के द्वारा कहा गया है ॥२०॥

उन अपञ्चीकृत सूक्ष्मभूतों से स्थूलभूत, और सप्तदश लिङ्गरूप सूक्ष्म शरीर उत्पन्न होते हैं। वे सप्तदश लिङ्ग ये हैं—'पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय, पञ्च प्राण, मन और बुद्धि। (१) श्रोत्र, (२) त्वक्, (३) चक्षु, (४) रसना और (५) घ्राण—ये पाँच इन्द्रिय, 'ज्ञान' के साधन होने से उन्हें 'ज्ञानेन्द्रिय' कहा जाता है। तथा (१) वाक्, (२) पाणि, (३) पाद, (४) वायु, (५) उपस्थ—ये पाँच इन्द्रिय, 'क्रिया' के साधन होने से उन्हें कर्मेन्द्रिय कहा जाता है। उनमें 'शब्दज्ञान' के साधन भूत इन्द्रिय को 'श्रोत्र' कहते हैं, और स्पर्शज्ञान' के साधनभूत इन्द्रिय 'त्वक्' कहते हैं, और 'रूपज्ञान' के साधनभूत इन्द्रिय को 'चक्षु' कहते हैं, और 'रसज्ञान' के साधनभूत इन्द्रिय को 'रसन' कहते हैं, और 'गन्धज्ञान' के साधनभूत इन्द्रिय को 'घ्राण' कहते हैं।

पलब्धिसाधनमिन्द्रियं घ्राणम्। वचनक्रियासाधनमिन्द्रियं वाक् आदानक्रियासाधनमिन्द्रियं पाणी। गमनक्रियासाधनमिन्द्रियं पादौ। विसर्गक्रियासाधनमिन्द्रियं पायुः। सुखक्रियासाधनमिन्द्रियमुपस्थः। सुखदुःखानुकूलसाक्षात्कारप्रमिति-क्रियान्यतरकरण-मतीन्द्रियमिन्द्रियम्। आलोकादावतिव्याप्तिवारणायातीन्द्रियमित्युक्तम्। अतीन्द्रियत्वं नाम संयोगादिप्रत्यासत्तिजन्यसाक्षात्कारा-विषयत्वम्।

नच वस्तुमात्रस्यालौकिकसाक्षात्कार विषयत्वादसम्भव इति वाच्यम्, अलौकिकसाक्षात्कारस्यानङ्गीकारात्। सामान्यज्ञानयोगजधर्म्माणां प्रत्यासत्तित्वे मानाभावेनातिप्रसङ्गेन च तज्जन्यसाक्षात्कारविषयस्यासम्भवात्।

नच तर्हि साक्षात्काराविषयत्वमतीन्द्रियत्वमस्तु किं जन्यान्तेनेति वाच्यम्। सर्वस्य वस्तुनो ज्ञाततयाऽज्ञाततया वा साक्षिभास्यत्वेन साक्षिणो नित्यापरोक्षत्वेनासम्भववारणार्थत्वात्। धर्म्मादावतिव्याप्तिवारणायाद्यविशेषणम्। अनुमित्यादि-करणेऽतिव्याप्तिवारणाय साक्षादित्युक्तम्। स्वाकारवृत्त्युपहिताबाधितयोग्यवर्त्तमानविषयचैतन्याभिन्नत्वं प्रमितेः साक्षात्त्वम्। एतच्चाग्रे व्युत्पादयिष्यते। मनसि चित्तस्य बुद्धावहङ्कारस्यान्तर्भावं मत्वा बुद्धिमनसोर्ग्रहणम्। प्राणापानव्यानोदानसमानाः पञ्च प्राणास्तेषां लक्षणमनुपदमेव वक्ष्यति॥ २१॥

•

उसी तरह 'वचनक्रिया' के साधनभूत इन्द्रिय को 'वाक्' कहते हैं, और 'ग्रहणक्रिया' के साधनभूत इन्द्रिय को 'पाणि' कहते हैं, और 'गमनक्रिया' के साधनभूत इन्द्रिय को 'पाद' कहते हैं, और 'विसर्गक्रिया' के साधनभूत इन्द्रिय को 'वायु' कहते हैं, और 'सुखक्रिया' के साधनभूत इन्द्रिय को 'उपस्थ' कहते हैं, वह 'सुख' देता है, अतः उसे 'सुखद' भी कहते हैं।

'इन्द्रिय' उसे कहते हैं, जो अपने (स्व) अनुकूल 'साक्षात्कारप्रमिति' (ज्ञान) और 'क्रिया'—इन दोनों में से किसी एक का करण (साधन) हो, तथा स्वयं अतीन्द्रिय हो, अर्थात्—स्वानुकूलसाक्षात्कारप्रमिति क्रियान्यतरकरणमतीन्द्रियमिन्द्रिमम्'—यह इन्द्रिय का लक्षण है। उक्त लक्षण में यदि 'अतीन्द्रिय' पद का निवेश न करें तो 'आलोक' आदि में अतिव्याप्ति होगी। उसके निवारणार्थ लक्षण में—'अतीन्द्रिय' पद का निवेश, अवश्य करना चाहिए।

प्रश्न—अतीन्द्रिय का अर्थ क्या है?

उत्तर—संयोगादिप्रत्यासत्ति से उत्पन्न (जन्य) साक्षात्कार का विषय न होना।

शंका—वस्तुमात्र अर्थात् सभी वस्तुएँ, अलौकिक-साक्षात्कार की विषय हो सकती हैं, उस कारण उक्त 'संयोगादि-प्रत्यासत्ति' लक्षण का कोई लक्ष्य ही उपलब्ध नहीं होगा, अर्थात् लक्ष्य की उपलब्धि होना असंभव ही है।

समा०—असंभव कहना उचित नहीं है, क्योंकि हमलोग 'अलौकिक साक्षात्कार' को नहीं मानते। सामान्य-ज्ञान-योगज धर्मों को 'प्रत्यासत्ति' रूप मानने में कोई प्रमाण नहीं है, और अति प्रसंग भी होगा। अतः अलौकिक साक्षात्कार का विषय कोई वस्तु नहीं होती। किसी वस्तु का अलौकिक साक्षात्कार होना नितरां असंभव है।

प्रश्न—यदि अलौकि साक्षात्कार का होना संभव ही नहीं है, तो 'साक्षात्काराऽविषयत्वम्-अतीन्द्रियत्वम्'—इतना ही लक्षण, 'अतीन्द्रियत्व' का किया जाय। 'संयोगादिप्रत्यासत्तिजन्य' कहने की क्या आवश्यकता है?

उत्तर—इस प्रकार प्रश्न करना उचित प्रतीत नहीं हो रहा है, क्योंकि सभी वस्तुएँ (पदार्थ), ज्ञात अथवा अज्ञातरूप से 'साक्षिभास्य' हुआ करती है, और 'साक्षी' नित्य अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) रहता है, उस कारण 'असंभव' का तो निवारण हो जाता है। तथा 'धर्माऽधर्म' आदि में अतिव्याप्ति के निवारणार्थ 'संयोगादि-जन्यान्त' विशेषण का निवेश करना आवश्यक है। तथा 'अनुमिति' आदि करण (साधन) में अतिव्याप्ति के निवारणार्थ, 'संयोगादिप्रत्यासत्तिजन्य' इस लक्षण में 'साक्षात्' पद का निवेश किया गया है। स्वाकारवृत्ति से उपहित जो अबाधितयोग्यवर्तमानविषयचैतन्य, उससे अभिन्न हो जाना यानी एक हो जाना ही 'साक्षात्त्व' पदार्थ है।

शंका०—'अन्तःकरणचतुष्टय'—यह व्यवहार लोग किया करते हैं। (१) मन, (२) बुद्धि, (३) चित्त, और (४) अहङ्कार—ये चार अन्तःकरण (आभ्यन्तर करण) हैं। तब आपने 'बुद्धि' और 'मन' इन दो का ही उल्लेख क्यों किया?

समा०—'मन' में 'चित्त' का और 'बुद्धि' में 'अहंकार' का अन्तर्भाव कर लेने से केवल दोनों (बुद्धि और मन) का ही उल्लेख किया है॥ २१॥

तथाच आकाशादिसात्त्विकांशेभ्यो व्यस्तेभ्यो ज्ञानेन्द्रियाणि उत्पद्यन्ते। आकाशसात्त्विकांशात् श्रोत्रमुत्पद्यते, वायोः सात्त्विकांशात् त्वगिन्द्रियम्, तेजसः सात्त्विकांशाच्चक्षुः, अपां सात्त्विकांशाद्रसनम्, पृथिवीसात्त्विकांशात् घ्राणम्। "श्रोत्रमाकाश" इत्यादि श्रुतेः।

आकाशादीनां सात्त्विकांशेभ्यो मिलितेभ्योऽन्तःकरणमुत्पद्यते ॥२२॥

•

सप्तदशलिङ्गानामुत्पत्तिक्रममाह—**तथाचेति**। **व्यस्तेभ्यः** प्रातिस्विकेभ्यो ज्ञानकरणानीन्द्रियाणि, ज्ञानस्य सत्त्वपरिणामत्वात्तत्करणानामिन्द्रियाणां सात्त्विकांशकार्य्यत्वमुपपद्यते। तत्र कस्मात्किमुत्पन्नमित्याकाङ्क्षायामाह—**आकाशेति**। श्रोत्रस्य शब्दग्राहकत्वेन शब्दगुणकत्वादाकाशसात्त्विकांशादुत्पत्तिः। यदिन्द्रियं रूपादिषु पञ्चसु मध्ये यं गुणङ्गृह्णाति तदिन्द्रियं तद्गुणकमिति व्याप्तेः। अन्यथा शब्दग्राहकत्वमेव न स्यात्। एवं त्वगादीनामपि वाय्वादिसात्त्विकांशकार्य्यत्वं द्रष्टव्यम्। तत्र श्रुतिं प्रमाणयति—**श्रोत्रमिति**। आदिशब्देन "वायौ त्वक् अग्नौ चक्षुरप्सु जिह्वा पृथिव्यां घ्राणमि"ति गृह्यते। अस्यार्थः अकाशे यः सात्त्विकांशस्तस्माच्छ्रोत्रमुत्पद्यत इति पर्य्यायान्तरेष्वपि योजनीयम्। अन्तःकरणस्य श्रोत्रादिद्वारा शब्दादिसर्वविषयग्राहकत्वात्सर्वात्मकत्वं वक्तव्यमित्याकाङ्क्षायामाकाशादिसात्त्विकांशसमुदायादुत्पत्तिमाह—**आकाशादीनामिति**।

अत्र साङ्ख्या मन्यते—त्रिविधमन्तःकरणं बुद्धिरहङ्कारो मनश्चेति। तत्र प्रकृतेः बुद्धिरुत्पद्यते महत्तत्त्वापरपर्य्याया।

•

आकाशादि पञ्चभूतों से 'सप्तदश लिङ्गों' की उत्पत्ति का क्रम बताते हैं। 'सत्त्वात् संजायते ज्ञानम्' इस गीतावाक्य में 'सत्त्वगुण' से 'ज्ञान' की उत्पत्ति बताई गई है। तथा श्रोत्रादि पञ्च ज्ञानेन्द्रियों' में 'ज्ञान' की साधनता हुआ करती है। **आकाशादि पञ्चभूतों के 'अमिलित सात्त्विक अंश' से श्रोत्रादि पंच ज्ञानेन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं।** 'ज्ञान' तो 'सत्त्व' का परिणामरूप है, अतः उस ज्ञान के कारण (साधन) रूप इन्द्रियों में सात्त्विकांशकार्यता का होना उचित ही है। एवंचं 'आकाश' के सात्त्विक अंश से 'श्रोत्रेन्द्रिय' उत्पन्न होता है, 'तेज' के सात्त्विक अंश से 'चक्षुरिन्द्रिय' उत्पन्न होता है, 'जल' के सात्त्विक अंश से 'रसनेन्द्रिय' उत्पन्न होता है, और 'पृथ्वी' के सात्त्विक अंश से 'घ्राणेन्द्रिय' उत्पन्न होता है।

शंका—श्रोत्रादि पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ उक्त क्रम से आकाशादि पञ्चभूतों से उत्पन्न होती हैं—यह कैसे समझाजाय?

समा०—उसे इसतरह समझना चाहिये—'शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—इन पाँच गुणों में से जिस गुण को जो इन्द्रिय ग्रहण करता है, वह इन्द्रिय, उस गुणवाला ही कहलाता है, अर्थात् वही उस इन्द्रिय का धर्म कहा जाता है। जैसे, 'श्रोत्रेन्द्रिय'—'शब्दगुण' को ग्रहण करता है, उसकारण 'श्रोत्रेन्द्रिय' को शब्दगुणवाला कहाजाता है। उसीतरह त्वगिन्द्रिय भी 'स्पर्शगुण' को ग्रहण करता है, उसकारण 'त्वगिन्द्रिय' को स्पर्शगुणवाला कहा जाता है। इसी प्रकार अन्यों को भी जानना चाहिये। शब्दगुणवाला द्रव्य, 'आकाश' ही है। इस प्रदर्शित युक्ति के बल पर श्रोत्रादि इन्द्रियों में यथाक्रम आकाशादि पञ्चभूतों की 'कार्यता' स्पष्ट होती है।

यदि कदाचित् श्रोत्रादि पञ्चेन्द्रियों को आकाशादि पञ्चभूतों का कार्य न कहें तो श्रोत्रादि इन्द्रियों में शब्दादि गुणों की ग्राहकता नहीं बन पाएगी। इस प्रदर्शित युक्ति का समर्थन, भगवती श्रुति ने भी किया है। श्रुति ने आकाशादिभूतों के सात्त्विक अंश से यथाक्रम श्रोत्रादि पञ्चज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति बताई गई है। अतः आकाशादिभूतों के सात्त्विक अंश से श्रोत्रादि-पञ्चज्ञानेन्द्रियों को उत्पत्ति मानना, श्रुति और युक्ति से भी समर्थित है।

शंका—तब 'अन्तःकरण' तो श्रोत्रादि इन्द्रियों के द्वार शब्दादि सम्पूर्ण विषयों का ग्राहक हो जाने से उसे 'सर्वात्मक' ही कहना होगा।

समा०—**अन्तःकरण' की उत्पत्ति, 'आकाशादि' भूतों के 'सात्त्विक अंशसमुदाय' (मिलितसात्त्विक अंशों) से** होती है। उस कारण वह (अन्यःकरण) उन श्रोत्रादि पाँच इन्द्रियों द्वारा उन शब्दादि पाँचों गुणों को ग्रहण करता है। इसलिये 'अन्तःकरण' को आकाशादि पञ्चभूतों के मिलित सात्त्विक अंशों का 'कार्य' कहना चाहिये।

इस विषय में सांख्यदार्शनिकों का कथन इस प्रकार है—बुद्धि, अहङ्कार और मन के भेद से 'अन्तःकरण' तीन प्रकार का होता है। 'मूलप्रकृति' से 'बुद्धि' उत्पन्न होती है, उस 'बुद्धि' को 'महत्' या 'महत्तत्त्व' भी कहते हैं, उस महत्तत्त्व (बुद्धि) से 'अहङ्कार' उत्पन्न होता है। वह 'अहङ्कार',—'सत्त्व, रज और तम' इन तीन गुणों के भेद से सात्त्विक, राजस

ततोऽहङ्कारः। स च त्रिविधः सत्त्वरजस्तमोगुणभेदात्। तत्र सात्त्विकाहंकारादेकादशेन्द्रियाण्युत्पद्यन्ते, तामसाहङ्कारात्पञ्चतन्मात्राणि रजसाहङ्कारोऽनयोः प्रवर्त्तकत्वेन सहकारी, पञ्चतन्मात्रेभ्यः पञ्चमहाभूतानि। तदुक्तम्—

"मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त। षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुष" इति।

अस्यार्थः—सत्त्वरजस्तमोगुणानां साम्यावस्था प्रकृतिः, सा जगतो मूलकारणं न कस्यापि विकृतिर्भवति। महदहङ्कारपञ्चतन्मात्राणि सप्तप्रकृतयश्च भवन्ति। मूलप्रकृत्यपेक्षया महत्तत्त्वं विकृतिः कार्य्यमिति यावत्। अहङ्कारापेक्षया प्रकृतिरुपादानकारणमिति यावत्। एवमहङ्कारोऽपि महत्तत्त्वापेक्षया विकृतिः, इन्द्रियपञ्चतन्मात्रापेक्षया प्रकृतिः। एवं पञ्चतन्मात्राण्यहङ्कारापेक्षया विकृतयः। स्थूलभूतापेक्षया प्रकृतयश्च भवन्ति। एकादशेन्द्रियाणि पञ्चमहाभूतानि षोडशविकारा एव। असङ्गत्वात्पुरुषो नोभयमिति।

तच्चिन्त्यम्। सूत्रकृता "ईक्षतेर्नाशब्द" मित्यादिनाऽशब्दतयाऽप्रमाणिकत्वेन प्रधानवादस्य दूषितत्वात्। "अन्नमयं हि सोम्य मनः आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति" श्रुत्यान्तःकरणप्राणेन्द्रियाणां भौतिकत्वावगमाच्च।

●

और तामस नाम से तीन प्रकार का होता है। उनमें से जो 'सात्त्विक अहङ्कार' है, उससे 'श्रोत्रादिपञ्चज्ञानेन्द्रिय' तथा 'वागादि पञ्च कर्मेन्द्रिय' और एक 'मन'—ये एकादश इन्द्रीय, उत्पन्न होते हैं। तथा 'तामस अहङ्कार' से शब्द, स्पर्श, रूप, रस, और गन्ध—ये पाँच तन्मात्राएँ उत्पन्न होती हैं। और 'राजस अहङ्कार', उक्त दोनों अहङ्काकरों का प्रवर्तक रहने से केवल सहकारी मात्र होता है। उक्त पञ्चतन्मात्राओं से यथाक्रम (१) आकाश, (२) वायु, (३) अग्नि, (४) जल और (५) पृथिवी—ये पञ्चमहाभूत उत्पन्न होते हैं। इसी बात को सांख्यतत्त्वकौमुदी में श्रीवाचस्पति मिश्र ने कहा है। कि

सम्पूर्ण विश्व की कारणात्मिका 'प्रकृति', अविकृतिः किसी का कार्य नहीं है, अर्थात् वह किसी से पैदा नहीं हुई है। इसी तथ्य को बताने के लिए कौमुदीकार ने 'मूलश्चासो प्रकृतिश्चेति मूलप्रकृतिः'—यह कर्मधारय समास किया है। यहाँ पर 'मूलस्य प्रकृतिः' अर्थात् मूल की प्रकृति, ऐसा षष्ठीतत्पुरुष समास नहीं करना चाहिये। 'प्रकृति' का तटस्थ लक्षण इस प्रकार देवी भागवत में किया गया है—

"प्रकृष्टवाचकः प्रश्च कृतिश्च सृष्टिवाचकः।
सृष्टौ प्रकृष्टा या देवी प्रकृतिः सा प्रकीर्तिता॥"

और 'महत्तत्त्व, अहंकार, पञ्च तन्मात्राएँ'—ये सात तत्त्व, 'प्रकृति' और 'विकृति' और 'विकृति' दोनों रूप के होते हैं, अर्थात् ये सातों तत्त्व, किसी अन्य तत्त्व के कारण भी होते हैं और किसी अन्य तत्त्व के कार्य भी कहलाते हैं। और ग्यारह इन्द्रिय व पञ्च महाभूत—ये सोलह तत्त्व केवल 'कार्य' रूप ही होते हैं, अर्थात् इनसे अन्य कोई तत्त्व पैदा नहीं होता। और 'पुरुष' (आत्मा) तत्त्व, न किसी की 'प्रकृति' है, और न किसी की 'विकृति' ही है, अर्थात् वह न किसी को पैदा करता है और न किसी से स्वयं पैदा होता है। इस कारिका का विशेष विवरण, तथा सांख्यदर्शन के सम्प्रदाय शुद्ध ज्ञान प्राप्ति की यदि इच्छा हो तो सांख्य तत्त्व कौमुदी पर भगवत्प्रेरणा से श्री मुसलगाँवकर शास्त्री की लिखी हुई 'तत्त्व प्रकाशिका' नाम की हिन्दी व्याख्या को देखना अत्यन्त लाभप्रद होगा। सर्वत्र 'प्रकृति' शब्द से 'परिणामी उपादानकारण' को और 'प्रकृति' शब्द से 'कार्य' को समझना चाहिये।

किन्तु सांख्यदार्शनिकों का यह मत भी श्रुति और सूत्र के विरुद्ध रहने से ग्राह्य नहीं है। क्योंकि ब्रह्म सूत्रकार श्री व्यास भगवान् ने 'ईक्षतेर्नाऽशब्दम्'—सूत्र के द्वारा 'प्रधानकारणवाद' का खण्डन किया है। उक्त सूत्र का अर्थ यह है कि 'वैदिक शब्द' से प्रतिपादित न होने के कारण 'प्रधानकारणवाद' अप्रामाणिक है। क्योंकि 'तदैक्षतबहुस्याम्'—इति श्रुति ने जगत् के कारण का 'ज्ञानरूप ईक्षण' बताया है। अतः वह 'ईक्षण' चेतन में ही संभव हो सकता है। 'प्रधान' तो जड है, अतः उसमें 'ईक्षण-कर्तृत्व' का होना संभव नहीं है। इस लिये 'प्रधानकारणवाद' वेदान्तियों को सम्मत नहीं है।

किञ्च—श्रुति ने 'अन्तःकरण, प्राण, और इन्द्रिय'—इन तीनों को 'भौतिक' अर्थात् भूतों के कार्य के रूप में बताया है। किन्तु सांख्यदर्शन ने उन्हें 'भौतिक' अर्थात् भूतों का कार्य नहीं माना है। इसलिये भी सांख्यवादियों का मत, श्रुति प्रमाण के विरुद्ध है।

ननु ब्रह्मणोऽसङ्गत्वेन श्रुत्या वा तस्य जगदुपादानत्वं कथं प्रतिपाद्यते विरोधादिति चेत्सत्यम्। शुद्धस्यासम्भवेऽपि मायोपहितस्य तत्सम्भवाद्। एतच्च प्रागेव प्रतिपादितम्।

एतेन "निरवयवमणु नित्यं मन" इति नैयायिकमतं प्रत्युक्तम्। अद्वैतश्रुतिविरोधापत्तेः। "एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च" ति श्रुतौ मनस उत्पत्तिश्रवणाद्भावकार्यस्यानित्यत्वाच्च। किञ्च। यन्मूर्त्तं तत्परिच्छिन्नं यत्परिच्छिन्नं तत्सावयवं यत्सावयवं तदनित्यमिति नियमेन मनसो मूर्त्तत्वाभ्युपगमेन सावयवत्वमनित्यत्वञ्च स्यादेव। अपिच मनसोऽणुत्वे तत्संयोगजन्यसुखस्य तावन्मात्रप्रसङ्गेन सर्वाङ्गव्यापि सुखं न स्यात् तथाच 'पादे मे वेदना शिरसि मे सुखमि'ति युगपत्

●

शङ्का—वेदान्तियों के मत के अनुसार भी 'ब्रह्म' असंग है, उस 'असंग ब्रह्म' ईक्षणपूर्वक जगत् की उपादान कारणता कहना क्या श्रुतिविरुद्ध नहीं है? उस विरुद्ध अर्थ अर्थ को श्रुति भी कैसे बताएगी?

समा०—'शुद्ध ब्रह्म' असंग होने से यद्यपि वह जगत् का उपादानकारण नहीं हो सकता, तथापि माया से उपहित होने पर वह (ब्रह्म), उपादानकारण हो सकता है। श्रुति ने 'मायोपहित ब्रह्म' को ही जगत् का उपादान कारण कहा है।

किञ्च—नैयायिकों ने 'मन' को निरवयव माना है, तथा उसे 'अणु', और 'नित्य' माना है।

किन्तु उनका यह कहना भी श्रुति के विरुद्ध होने से असंगत है, अतः ग्राह्य नहीं है। क्योंकि 'मन' को 'नित्य' कहने पर 'एकमेवाऽद्वितीयं ब्रह्म'—इस श्रुति से विरोध होता है। और श्रुतियों ने 'मन' की उत्पत्ति बताई है इससे भी न्यायमत श्रुतिबाह्य है।

किञ्च जो-जो भावकार्य होता है, वह 'अनित्य' ही होता है। जैसे—'घट-पट' आदि भावकार्य होने से अनित्य होते हैं, वैसे ही 'मन' भावकार्य होने से अनित्य ही होगा।

किञ्च—नैयायिकों ने 'मन' को मूर्तद्रव्य' माना है।

किन्तु जो-जो मूर्तद्रव्य होता है, वह परिच्छिन्न ही होता है, और जो-जो परिच्छिन्न द्रव्य होता है, वह सावयव ही हुआ करता है, और जो-जो सावयव होता है, वह अनित्य ही हुआ करता है। यह नियम घटा-पटादि मूर्तद्रव्यों में दिखाई देता है। उस कारण 'मन' भी मूर्तद्रव्य होने से उसे भी 'सावयव' तथा 'अनित्य' ही समझना चाहिये।

किञ्च—नैयायिकों ने 'मन' को 'अणु' माना है, तथा उस मन के संयोग से आत्मा में सुख-दुःख आदि की उत्पत्ति का होना बताया है।

किन्तु उनका उक्त कथन असंगत है, क्योंकि 'अणु-मन' के संयोग से उत्पन्न होने वाले सुख-दुःखादि भी किसी अणु प्रदेश में ही होगा, सर्वांगव्यापी नहीं हो सकेगा। किन्तु शीतल गंगाजल में निमग्न हुए सन्तप्त पुरुष को सर्वांगव्यापी सुख का अनुभव हुआ करता है। अतः 'मन' को 'अणु' बताना उचित नहीं है।

किञ्च—मेरे पेर में पीड़ा (दर्द) हो रही है और शिर में सुख हो रहा है, इस तरह एक ही काल में (युगपत्) जो जो सुख-दुःख का अनुभव होता है, वह नैयायिकों के मतानुसार नहीं होना चाहिये था, क्योंकि उनके मतानुसार 'अणु मन' का एक ही काल में (युगपत्) पेर और शिर दोनों के साथ संयोग का होना संभव नहीं है। नैयायिकों के मत के विरुद्ध युगपत्—सुख-दुःखानुभव होता दिखाई देता है। अतः सर्वानुभवविरुद्ध होने से नैयायिक सम्मत 'मन' का 'अणुपरिमाणवाद' भी असंगत ही है।

मीमांसक विद्वान् 'मन' को विभु बताते हैं। मन के विभु होने का अनुमान वे इस प्रकार करते हैं—'मनः विभु स्पर्शरहितद्रव्यत्वात् आकाशादिवत्'—अर्थात् 'मन' विभु है, क्योंकि वह 'स्पर्शगुण' से रहित 'द्रव्य' है। जो-जो स्पर्शगुण से रहित द्रव्य होता है, वह 'विभु' ही होता है। जेसे आकाश, काल, दिक् और आत्मा—ये चारों द्रव्य स्पर्शगुण से रहित द्रव्य हैं, अतः उन्हें 'विभु' कहा जाता है। उसी प्रकार 'मन' भी स्पर्शगुणरहित द्रव्य है। इसीलिये वह भी 'विभु' है।

किन्तु मीमांसकों का यह 'मनोविभुत्ववाद' भी असंगत ही है, क्योंकि 'विभु मन का', 'विभु आत्मा' के साथ संयोग हो सकना कभी संभव नहीं है। अतः नैयायिकों का खण्डन न हो जाने से मीमांसकों के मनोविभुत्वाद का भी खण्डन हो जाता है।

तत् सङ्कल्पविकल्पनिश्चयाभिमानानुसन्धानरूपवृत्तिभेदाच्चतुर्विधम् ॥

"मनो बुद्धिरहङ्कारश्चित्तञ्चेति चतुर्विधम्। सङ्कल्पाख्यं मनोरूपं बुद्धिर्निश्चयरूपिणी ॥
अभिमानात्मकस्तद्वदहङ्कारः प्रकीर्तितः। अनुसन्धानरूपञ्च चित्तमित्यभिधीयते" ॥

इति वार्तिकवचनात्। पूर्वोक्ताकाशादिराजसांशेभ्यो व्यस्तेभ्यः कर्म्मेन्द्रियाण्युत्पद्यन्ते। आकाशराजसांशाद्वागिन्द्रियमुत्पद्यते, वायो राजसांशाद्धस्तौ, तेजसो राजसांशात्पादौ, अपां राजसांशात्पायुः, पृथिवीराजसांशादुपस्थः।

आकाशादिराजसांशेभ्यो मिलितेभ्यः प्राण उत्पद्यते, सोऽपि वृत्तिभेदात्पञ्चविधः।

●

सुखदुःखानुभवो न स्याद् मनसोऽणुत्वेनोभयत्र संयोगाऽभवात्। एतेन मनसो विभुत्वं प्रत्युक्तम् ॥२२॥

तस्मात्सावयवमन्तःकरणमुत्पद्यते इति सिद्धं तद्विभजते—तदिति। तत्र पञ्चीकरणवार्तिकमुदाहरति—मन इति। कर्म्मेन्द्रियाणामुत्पत्तिमाह—पूर्वोक्तेति वचनादिक्रिया कर्म तत्करणानीन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि अपामिति। केचित्तु अपां राजसांशादुपस्थमुत्पद्यते, पृथिवी राजसांशात् पायुः "कस्मिन्नापः प्रतिष्ठिता इति रेतसी"ति श्रुतेरिति वदन्ति ॥

प्राणोत्पत्तिं वृत्तिभेदात्तद्भेदं तल्लक्षणञ्चाह—आकाशेति। तत्र प्रमाणमाह—वाक् पाणीति। आदिशब्देन

●

एवञ्च आकाशादि पञ्चभूतों के मिलित सात्त्विक अंशों से 'अन्तःकरण' की उत्पत्ति होती है, और वह 'सावयव' है, निरवयव नहीं है—यह सिद्ध हो रहा है ॥१२२॥

वह 'अन्तःकरण', (१) सङ्कल्प, (२) निश्चय, (३) अभिमान, (४) स्मरण—इन चार वृत्तियों के कारण (१) मन, (२) बुद्धि, (३) अहंकार (४) चित्त के नाम से चार प्रकार का है। उनमें से संकल्पवृत्तिवाले अन्तःकरण को 'मन' कहते हैं, और निश्चयवृत्तिवाले अन्तःकरण को 'बुद्धि' कहते हैं, और अभिमानवृत्तिवाले अन्तःकरण को 'अहंकार' कहते हैं, और स्मरणवृत्तिवाले अन्तःकरण को 'चित्त' कहते हैं। यह वार्तिक के वचन से निश्चित होता है।

अब 'कर्मेन्द्रियों' की उत्पत्ति बता रहे हैं—'पूर्वोक्तेति'। पूर्वोक्त आकाशादि पञ्चसूक्ष्म भूतों के परस्पर अमिलित (व्यस्त) राजस अंशों से 'कर्मेन्द्रियों' की उत्पत्ति होती है। उनमें से 'आकाश नामक सूक्ष्मभूत' के 'राजस अंश' से 'वाक्-इन्द्रिय' की उत्पत्ति होती है, और 'वायु नामक सूक्ष्मभूत' के राजस अंश से 'हस्तेन्द्रिय' (पाणीन्द्रिय) उत्पन्न होते हैं, तथा 'तेजस्नामक सूक्ष्मभूत' के राजस अंश से 'पाद' इन्द्रिय (पैर इन्द्रिय) उत्पन्न होते हैं, और 'जल नामक सूक्ष्मभूत' के राजस अंश से 'पायु इन्द्रिय' (गुदेन्द्रिय) उत्पन्न होता है, तथा 'पृथिवी' नामक सूक्ष्मभूत के राजस अंश से 'उपस्थ इन्द्रिय' (मूत्रेन्द्रिय) उत्पन्न होता है।

कतिपय ग्रन्थकारों ने 'जल' के राजस अंश से उपस्थेन्द्रिय की उत्पत्ति और 'पृथिवी' के राजस अंश से 'पाय्विन्द्रिय' की उत्पत्ति बतलाई है। श्रुति में 'जल' की 'रेतस्' में स्थिति का होना बताया है अतः 'जल' से 'उपस्थेन्द्रिय' की उत्पत्ति का होना उचित प्रतीत होता है।

अब 'प्राणों' की उत्पत्ति का निरूपण करते हैं—आकाशादीति। पूर्वोक्त आकाशादि 'पाँच सूक्ष्मभूतों' के मिलित राजस अंश से 'प्राण' उत्पन्न होता है। वह (प्राण) भी 'क्रिया' अथवा 'स्थान' के भेद से (१) प्राण, (२) अपान, (३) व्यान, (४) उदान और (५) समान के भेद से पाँच प्रकार का है।

उनमें से सर्वदा ऊर्ध्व गति वाले 'वायु' को 'प्राण' कहते हैं। यद्यपि 'उदान वायु' भी ऊर्ध्व गति वाला होता है, तथापि वह मृत्यु के समय ही ऊर्ध्व गतिवाला होता है, उसकी सर्वदा ऊर्ध्वगति नहीं होती, किन्तु 'प्राण वायु' की गति 'सर्वदा' ऊर्ध्व रहती है, अतः प्राण वायु के लक्षण की 'उदान वायु' में अतिव्याप्ति नहीं है। वह 'प्राण वायु' 'नासिका' से लेकर 'नाभि' तक के स्थान में रहता है। "वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्" इस ऐतरेय श्रुति ने नासिकादि स्थान में 'प्राण' की स्थिति बताई है।

अधोगमन करनेवाले वायु को 'अपान वायु' कहते हैं। वह (अपान वायु) 'नाभि' से लेकर 'पायु' (गुदा) तक के

परागगमनवान्नासाग्रवर्त्ती प्राणः, अर्वाग्गमनवान् पाय्वादिस्थानवर्त्त्यपानः, विष्वग्गमनवान् सर्वशरीरवर्त्ती व्यानः, ऊर्द्ध्वगमनवान् कण्ठवर्त्त्युदानः, अशितपीतारूपानादिसमीकरणकरोऽखिलशरीरवर्त्ती समानः; "वाक् पाणिपादपायूपस्थाख्यानि कर्मेन्द्रियाणि तेषां क्रमेणे"त्यादि श्रुतेः ॥२३॥

●

"तस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च"त्यादि वाक्यं गृह्यते। तथा पद्मपुराणे शिवगीतायामपि सूक्ष्मभूतेभ्यः सप्तदशलिङ्गानामुत्पत्तिक्रमो दर्शितः।

व्योमादिसात्त्विकांशेभ्यो जायन्ते धीन्द्रियाणि तु। व्योम्नः श्रोत्रं भुवो घ्राणं जलाज्जिह्वाय तेजसः॥
चक्षुर्वायोस्त्वगुत्पन्ना तेषां भौतिकता ततः। व्योमादीनां समस्तानां सात्त्विकांशेभ्य एव च॥
जायेते बुद्धिमनसी बुद्धिः स्यान्निश्चयात्मिका। वाक्पाणिपादपायूपस्थाश्च कर्मेन्द्रियाणि तु॥
व्योमादीनां रजोंऽशेभ्यो जायन्ते तान्यनुक्रमात्। समस्तेभ्यो रजोंऽशेभ्यः पञ्चप्राणास्ततः परम्॥
जायन्ते सप्तदशकमेवं लिङ्गशरीरकम् ॥इति॥

●

स्थान में रहता है। 'मृत्युरपानो भूत्वा नाभिम्प्राविवत्'—इस श्रुति ने 'अपान वायु' को स्थिति 'नाभि आदि' स्थानों में बताई है।

सब ओर से गमन करनेवाले 'वायु' को 'व्यान' वायु कहते हैं। वह व्यान वायु, 'सम्पूर्ण शरीर' में रहता है।

मृत्यु के समय ऊर्ध्व गमन करनेवाले 'वायु' को 'उदान वायु' कहते हैं। 'कण्ठस्थान' में रहता है।

'अशित-पीत' अर्थात् 'भोजन' किये हुए अन्न तथा 'पान' किये हुए 'जल' के 'स्थूल', 'मध्यम', 'सूक्ष्म' इन तीन भागों को तत्-तत् स्थानों में पहुंचानेवाले 'वायु' को 'समान वायु' कहते हैं। 'विष्ठा', 'मूत्र' का हेतुभूत जो 'अन्न' और 'जल' का 'स्थूल भाग' है, उसे शरीर के बाहर निकालने के लिये वह 'समान वायु', 'अपान वायु' को प्राप्त करता है, और 'मांस', 'रुधिर' का हेतुभूत जो अन्न और जल का 'मध्यम भाग' है, उसे 'शरीर की नाडियों द्वारा सम्पूर्ण अंगों में प्राप्त कराता है, और 'मन', तथा 'प्राण' दोनों का उपकारक जो 'अन्न' और 'जल' का 'सूक्ष्म भाग' है, उसे 'मन' और 'प्राण' में प्राप्त कराता है। अतएव भगवती श्रुति ने 'मन' को 'अन्नमय' कहा है और 'प्राण' को 'जलमय' कहा है। यह 'समान वायु', सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होकर रहता है। कतिपय ग्रन्थकारों ने 'समान वायु' का स्थान 'नाभि' कहा है। उनका उक्त कथन उसकी मुख्यता की दृष्टि से है, अर्थात् उस समान वायु का 'नाभि' मुख्य स्थान है। इस प्रकार प्राण की उत्पत्ति, वृत्तिभेद से उसके भेदों को और उनके लक्षणों को 'आकाशराजसांशात्' आदि ग्रन्थ से बताया गया है। तथा 'पद्मपुराण' और 'शिव गीता' में भी 'सूक्ष्मभूतों' से 'सप्तदशलिङ्गों' की उत्पत्ति का क्रम दिखाया गया है।

कुछ शास्त्रकार (१) नाग, (२) कूर्म, (३) कृकल, (४) देवदत्त, (५) धनञ्जय—इन अन्य पांच वायुओं को मिलाकर 'प्राणवायु' को दस प्रकार का बताते हैं उद्गार करनेवाले वायु को 'नाग' कहते हैं। नेत्रोन्मीलन करनेवाले वायु को 'कूर्म' कहते हैं। छिक्का (छींक) करनेवाले बायु को 'कृकल' कहते हैं। जृम्भण (जँभाई) करनेवाले वायु को 'देवदत्त' कहते हैं। शरीर के पोषण करनेवाले वायु को 'धनञ्जय' कहते हैं।

वेदान्तियों का कहना है कि इन नागादि पांच वायुओं को पूर्वोक्त प्राणादि पांच वायुओं से पृथक् मानने में 'गौरव-दोष' होता है, और इन इन नागादि वायुओं, के सम्बन्ध में श्रुतिप्रमाण भी उपलब्ध नहीं है। अतः इन पांचों का 'प्राणादि पांच वायुओं' में ही अन्तर्भाव मानकर 'प्राणपञ्चक' का ही स्वीकार करना उचित है।

पूर्ववर्णित इन्द्रियों के तथा अन्तःकरण के देवताओं को भी जानना आवश्यक है। (१) श्रोत्र, (२) त्वक्, (३) चक्षु, (४) रसन, (५) घ्राण—इन पांच ज्ञानेन्द्रियों के यथाक्रम (१) दिक्, (२) वायु, (३) आदित्य, (४) वरुण, (५) अश्विनीकुमार, ये पांच देवता हैं। किसी ने 'घ्राणेन्द्रिय' की देवता 'पृथिवी' कही है।

तथा (१) वाक्, (२) पाणि, (३) पाद, (४) पायु, (५) उपस्थ—इन पांच कर्मेन्द्रियों के यथाक्रम (१) वह्नि, (२) इन्द्र, (३) उपेन्द्र, (४) मृत्यु, (५) प्रजापति, ये पांच देवता हैं।

अन्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमयकोशाः पञ्चात्रैवान्तर्भवन्ति । वक्ष्यमाणं स्थूलशरीरमन्नमयः कोशः ।

●

नागकूर्मकृकलदेवदत्तधनञ्जयाख्याः पञ्च अन्ये वायवः सन्ति । नाग उद्गीर्णकरः, कूर्म्म उन्मिलनकरः, कृकलः क्षुत्करः, देवदत्तो जृम्भणकरः, धनञ्जयः पोषणकर इति वदन्ति । वेदान्तिनस्तु तेषां पृथक्कल्पनागौरवाच्छ्रुत्यादिप्रमाणाभावाच्च प्राणादिष्वन्तर्भावं वदन्ति ॥२३॥

तैत्तरीयश्रुत्युक्तानाङ्कार्य्यकारणरूपाणां पञ्चकोशानां स्थूलसूक्ष्मकारणोपाधिष्वन्तर्भावमाह—अन्नमयेति । अन्नमयं कोशं व्युत्पादयति—वक्ष्यमाणेति । अस्मदादिस्थूलशरीरं कार्यान्नमयकोशः, विराट्स्थूलशरीरं कारणान्नमयकोशः, उभयमेकी-

●

तथा (१) मन, (२) बुद्धि, (३) अहङ्कार, (४) चित्त—इन चार अन्तःकरणों (अन्तःकरण चतुष्टय) के यथाक्रम (१) चन्द्र, (२) चतुर्मुख, (३) शङ्कर, (४) अच्युत, ये चार देवता हैं ।

इसी प्रकार विशिष्ट, विश्वसृष्ट, विश्वयोनि, अज और जय नामक देवताओं से क्रमशः प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान अधिष्ठित हैं ।

प्रश्न—श्रोत्रादि इन्द्रियों के 'दिगादिदेवताओं' के होने में क्या कोई प्रमाण है ?

उत्तर—सुबालोपनिषद् में कहा गया है—

"श्रोत्रमध्यात्मं श्रोतव्यमधिभूतं दिशस्तत्राधिदैवतम्" इत्यादि वचनों से ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों के और अन्तःकरण के पूर्वोक्त सम्पूर्ण देवताओं को बताया गया है । अतः इन्द्रिय तथा अन्तःकरण की अधिष्ठात्री देवताओं के होने में श्रुतिप्रमाण है । तथा उनकी देवताओं के होने में 'अनुमान प्रमाण' भी है—'अचेतनं कारणं चेतनाश्रितत्वात् मृदादिवत्'—जो अचेतन (जड) वस्तु, किसी कार्य की कारण (कार्यजनक) होती है, तो वह 'चेतन' के आश्रित होकर ही होती है । जैसे 'अचेतन (जड) मृत्तिका (मिट्टी), घटादिकार्य की जनक (कारण) जब होती है, तब वह 'कुलाल' के आश्रित होकर ही होती है, अन्यथा नहीं । उसी प्रकार अचेतन इन्द्रिय भी, स्व-स्वकार्य का कारण तभी हो सकेगा, जब वह चेतन देवता के आश्रित होगा । चेतनदेवता के आश्रित हुए बिना कोई भी जड इन्द्रिय, अपना कार्य नहीं कर सकता ।

शङ्का—इन्द्रियों में स्व-स्वकार्यकरणसामर्थ्य की सिद्धि के लिए 'जीवचेतन' को ही उनकी देवता के रूप में मान लिया जाय, उसके अतिरिक्त अन्यान्य देवताओं को स्वीकार करना व्यर्थ है ।

समा०—शंकाकर्त्ता के अनुसार 'जीवचेतन' को ही यदि इन्द्रियों की प्रेरक देवता स्वीकार करने पर वह 'जीव-चेतन' अपने अनुकूल अर्थ में हो उन इन्द्रियों को प्रेरित करेगा, 'प्रतिकूल अर्थ' में वह उन्हें प्रेरित (प्रवृत्त) नहीं करेगा ।

किन्तु ऐसा होता नहीं है । स्व (जीवचेतन) के प्रतिकूल शत्रुदर्शन, दुर्गन्ध का ज्ञान, अशुभवार्ताश्रवण आदि को भी चक्षुरादि इन्द्रियाँ कराती हैं । अतः कहना होगा कि यह 'जीवचेतन', जड इन्द्रियों की प्रेरकदेवता नहीं है, अपितु पूर्ववर्णित देवता ही उनकी प्रेरक हैं । वे देवता ही प्रत्येक जीव के पुण्य-पाप कर्म के कारण प्रतिकूल-अनुकूल अर्थ में भी उन इन्द्रियों को प्रेरित करते हैं । इस रीति से सप्तदशलिङ्गरूप सूक्ष्मशरीर का वर्णन किया गया है ॥२३॥

अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय—ये पाँच कोश स्थूल सूक्ष्म व कारण उपाधियों के अन्तर्गत हो आ जाते हैं ।

तत्तिरीय उपनिषद् में कहा गया है कि कार्य-कारणरूप अन्नमयादि पञ्चकोशों का 'स्थूल', 'सूक्ष्म' और 'कारण'—इन तीन शरीरों में अन्तर्भाव होता है । (१) अन्नमय, (२) प्राणमय, (३) मनोमय, (४) विज्ञानमय, (५) आनन्दमय—ये पाँचों, 'आत्मा' के आच्छादक होने से उन्हें 'कोश' शब्द से कहाजाता है ।

इन में से जो 'स्थूलशरीर' है, उसे अन्नमयकोश कहते हैं । वह 'अन्नमयकोश' भी 'कार्य-कारण' के भेद से दो प्रकार का है । 'हमजीवों' का 'व्यष्टिस्थूलशरीर' तो 'कार्यरूप अन्नमयकोश है, और 'विराट्' का 'समष्टि स्थूलशरीर'—'कारणरूप अन्नमयकोश' है । इसी प्रकार 'प्राणमयादिकोशों' का 'कार्य-कारणभाव' भी 'व्यष्टि'—और 'समष्टि' के रूप से समझलेना चाहिये ।

उक्तम् सूक्ष्मशरीरं कोशत्रयात्मकं—कर्मेन्द्रियैः सहितः प्राणः प्राणमयकोशः, कर्म्मेन्द्रियै सहितं मनो मनोमयकोशः, ज्ञानेन्द्रियैः सहिता बुद्धिर्विज्ञानमयकोशः। अयमेव कर्त्तृत्वोपाधिः "विज्ञानं यज्ञं तनुते" इत्यादिश्रुतेः।

अन्तःकरणस्य सत्त्ववृत्तिर्द्विविधा—निश्चयवृत्तिः, सुखाकारः वृत्तिश्चेति। निश्चयवृत्तिमदन्तःकरणम्बुद्धिरित्युच्यते। सुखाकारवृत्तिमदन्तःकरणम्भोक्तृत्वोपाधिः। "तस्य प्रियमेव शिरो, मोदो दक्षिणः पक्षः, प्रमोद उत्तरः पक्ष, आनन्द आत्मा, ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा" ॥ इत्यादि श्रुतेः अयमेव कारणपर्य्यन्त आनन्दमयकोशः। केचित्त्वज्ञानमान्दमयकोशं वदन्ति[1] ॥२४॥

इदं सूक्ष्मशरीरं सप्तदशलिङ्गं द्विविधं समष्टिव्यष्टिभेदात्। अपञ्चीकृतपञ्चमहाभूतानि तत्कार्य्यंसप्तदशलिङ्गं

●

कृत्य निर्दिशति—स्थूलशरीरमिति। प्राणमयकोशं व्युत्पादयितुमुक्तसूक्ष्मशरीरेकोशत्रयमन्तर्भूतमित्याह—उक्तमिति। समष्टिव्यष्टिकोशानेकीकृत्य तानेव कोशाननुक्रामति—कर्मेति। अयं विज्ञानमयः कोशः। तस्य कर्त्तृत्वोपाधित्वे प्रमाणमाह—विज्ञानमिति।

आनन्दमयकोशं व्युत्पादयितुं सत्त्ववृत्तिं विभजते—अन्तःकरणस्येति। ततः किमित्यत आह—निश्चयवृत्तिमदिति। तस्या विज्ञानमयकोशत्वात्। तदुपाधिको जीवः कर्त्ता ज्ञाता प्रमातेति चोच्यते इत्यर्थः। सुखाकारवृत्तिमदन्तःकरणस्य भोक्तृत्वोपाधित्वे प्रमाणमाह—तस्येति। अयं भोक्तृत्वोपाधिः कारणपर्यन्तः अज्ञानपर्यन्तः, आनन्दमयकोशोपाधिकश्चिदात्मा भोक्तेत्युच्यते इति भावः। पक्षान्तरमाह—केचित्त्विति। अयं पक्षश्चिन्तनीयः ॥२४॥

पञ्चकोशान् व्युत्पाद्य सूक्ष्मशरीरं विभजते—इदमिति। समष्टिं व्युत्पादयति—अपञ्चीकृतेति। समष्टिसूक्ष्मशरीरा-

●

पूर्वोक्त जो 'सप्तदश लिंगरूप सूक्ष्म शरीर' है, वह 'प्राणमय', 'मनोमय' और 'विज्ञानमय' कोशरूप है। उनमें से पूर्वोक्त कर्मेन्द्रियों के सहित जो 'प्राणवायु पञ्चक' है, उसे 'प्राणमयकोश' कहते हैं। तथा 'कर्मेन्द्रियों' के सहित जो 'मन' है, उसे 'मनोमयकोश' कहते हैं। और पूर्वोक्त श्रोत्रादि पञ्चज्ञानेन्द्रियों के सहित जो 'बुद्धि' है, उसे 'विज्ञानमयकोश' कहते हैं। यही 'आत्मा' की कर्तृत्वरूप उपाधि' है, अर्थात् वस्तुतः 'अकर्ता' होता हुआ भी 'आत्मा', इस विज्ञानमयकोश' विशिष्ट (युक्त) होनेपर उसे 'कर्ता' कहा जाता है। इसी बात को श्रुति ने भी यों कहा है—इस विज्ञानमयकोश रूप उपाधि से उपहित हुआ 'जीवात्मा' ही यज्ञादि सब कर्मों को किया करता है।

अब प्रपञ्च (पांचवें) आनन्दमयकोश के निरुपणार्थं प्रथमतः 'अन्तःकरण' की 'सात्त्विकवृत्ति' के विभाग का निरूपण करते हैं। 'अन्तःकरण' की 'सात्त्विकवृत्ति' दो प्रकार की होती है—(१) निश्चयवृत्ति' और (२) 'सुखाकारवृत्ति'। उनमें से 'निश्चयवृत्ति वाले अन्तःकरण' को 'बुद्धि' कहते हैं। वह (बुद्धि) 'विज्ञानकोशमय' होने के कारण उस (बुद्धि) से उपहित हुए 'जीवात्मा' को कर्ता, ज्ञाता, प्रमाता कहा जाता है। और दूसरी ओर 'सुखाकारवृत्ति' है, वह 'जीवात्मा के भोक्तृत्व' होने की उपाधि है। प्रिय ही सिर है, मोद दायाँ व प्रमोद बायाँ पक्ष है, आनन्द धड़ तथा ब्रह्मचरण है—इत्यादि तैत्तिरीय श्रुति से इस भोक्तृत्वोपाधि को आनन्दमय कोश जानना चाहिए। अर्थात् वस्तुतः अभोक्ता होता हुआ भी जीवात्मा, उस सुखाकारवृत्तिवाले अन्तःकरण से विशिष्ट होनेपर 'भोक्ता' कहा जाता है। उन 'सुखकार वृत्तियों' को तैत्तिरीय उपनिषद् में 'प्रिय, मोद, प्रमोद' नाम से कहा गया है। 'इष्ट वस्तु' के दर्शन से होनेवाले 'सुख' को 'प्रिय' कहते हैं, और इष्ट वस्तु की प्राप्ति से होनेवाले 'सुख' को 'मोद' कहते हैं, और इष्टवस्तु के उपभोग से होनेवाले 'सुख' को 'प्रमोद' कहते हैं। एवंच 'भोक्तृत्व' का उपाधिरूप अन्तःकरण, 'अज्ञान' तक विस्तृत है, उसे ही 'आनन्दमयकोश' कहते हैं। उस आनन्दमयकोश रूप उपाधि से उपहित 'चेतन आत्मा' को 'भोक्ता' कहा जाता है।

कतिपय ग्रन्थकार केवल 'अज्ञान' को ही 'आनन्दमयकोश' कहते हैं किन्तु यह पक्ष चिन्तनीय है। 'आनन्दमयकोश' का अन्तर्भाव 'कारण शरीर' में किया जाता है ॥२४॥

यह सप्तदश लिङ्गरूप 'सूक्ष्मशरीर' समष्टि और व्यष्टि के भेद से दो प्रकार का बताया गया है। अपञ्चीकृत आकाशादि पञ्चभूत, और उन पञ्चभूतों के कार्यरूप जो इन्द्रिय, अन्तःकरण प्राणरूप सप्तदश लिंग हैं, वे सब 'समष्टि सूक्ष्म

१. 'चैतन्याभाससखचितं शरीरद्वयकारणम्। आत्माऽज्ञानं तदव्यक्त-मव्याकृतमितीर्य्यते' इति पञ्चीकरणवार्तिके। तट्टीकायां चिन्तनीय इति विचारयोग्य आदरणीय इत्यर्थः।

समष्टिरित्युच्यते। एतदुपहितं चैतन्यं हिरण्यगर्भ इत्युच्यते प्राणः सूत्रात्मेति च ज्ञानक्रियाशक्तिमदुपहितत्वात्, व्याप्तित्वाच्च। अथवा पूर्वोक्तापञ्चीकृतभूतेभ्यः सर्वव्यापकं लिङ्गशरीर पृथगेवोत्पन्नं तदेवसमष्टिरित्युच्यते। समष्टित्वन्नाम गोत्वादिवत्सर्वत्र व्यष्टिष्वनुस्यूतत्वम्। तदुक्तम्, "तेभ्यः समभवत्सूत्रं लिङ्गं सर्वात्मकं महदि"ति।

केचितु[1] वनवत् लिङ्गशरीरसमुदायः समष्टिरिति वदन्ति। प्रत्येकं लिङ्गशरीरं व्यष्टिरित्युच्यते। व्यष्टित्वन्नाम व्यक्तिवत् व्यावृतत्वम्। एतदुपहितश्चैतन्यं तैजस इत्युच्यते। तेजोमयान्तःकरणोपाधित्वात् ॥२५॥

•

पाधिकश्चिदात्मा सूत्रादिसञ्ज्ञो भवतीत्याह—एतदिति। हिरण्यगर्भप्राणसूत्रशब्दानां तद्वाचकत्वे क्रमेण प्रवृत्तिनिमित्तमाह—ज्ञानेति। ज्ञानञ्च क्रिया च ज्ञानक्रिये तयोः शक्तिर्ज्ञानक्रियाशक्तिः, द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणः शक्तिशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते, तथाच ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्तिश्चेत्येते यस्य तत् ज्ञानक्रियाशक्तिमत् सूक्ष्मशरीरं तदुपाधिकत्वादित्यर्थः। पक्षान्तरमाह—अथवेति। किं तत् समष्टित्वम्? तत्राह—समष्टित्वन्नामेति। उक्तार्थे सम्मतिमाह—तदुक्तमिति। तेभ्योऽपञ्चीकृतपञ्चभूतेभ्यः सर्वात्मकं सर्वव्यापकं परमात्मनो गमकत्वाल्लिङ्गम्। इदमेव साङ्ख्यैर्महत्तत्वमित्युच्यते इत्यभिप्रेत्याह—महदिति।

पक्षान्तरमाह—केचित्त्विति। अयमपि चिन्त्यः। व्यष्टिस्वरूपं व्युत्पादयति—प्रत्येकमिति। व्यष्टित्वं निर्वक्ति—व्यष्टित्वं नामेति। अस्तु ततः किम्? तत्राह—एतदुपहितमिति। तत्र प्रवृत्तिनिमित्तमाह—तेजोमयेति। तेजोमयं तेजोविकारोयदन्तःकरणं तदेवोपाधिर्यस्य स तथोक्तः तस्य भावस्तत्त्वं तस्मादित्यर्थः ॥२५॥

•

शरीर' शब्द से कहे जाते हैं। उस समष्टि सूक्ष्मशरीर रूप उपाधि से उपहित हुए 'चैतन्य' को 'हिरण्यगर्भ', 'प्राण', 'सूत्रात्मा' कहते हैं। वह समष्टि सूक्ष्मशरीर, 'ज्ञान शक्ति' से सम्पन्न है, क्योंकि ज्ञानशक्ति वाला अन्तःकरण, 'ज्ञानेन्द्रियों' से घटित है। उस कारण तादृश समष्टि शरीर से उपहित चैतन्य को हिरण्यगर्भ' कहा गया है। और वह समष्टि सूक्ष्मशरीर, क्रियाशक्ति से सम्पन्न रहता है, क्योंकि क्रियाशक्ति वाले 'प्राण', कर्मेन्द्रियों से घटित हैं। उस कारण तादृशशरीर से उपहित चैतन्य को 'प्राण' कहा गया है। और समष्टि सूक्ष्मशरीर 'पट' में सूत्र के समान, सम्पूर्ण ब्रह्माणु में व्याप्त है। उस कारण तादृश शरीर से उपहित चैतन्य को 'सूत्रात्मा' कहा गया है।

अथवा पूर्वोक्त अपञ्चीकृत भूतों से एक पृथक् ही सर्वत्र व्यापक ऐसा 'लिङ्ग शरीर' उत्पन्न होता है वह लिंगशरीर ही 'समष्टि' शब्द से कहा जाता है। उस समष्टि लिंगशरीर से उपहित 'चैतन्य' को 'हिरन्यगर्भ' के नाम से कहा गया है।

अब 'समष्टि' और 'व्यष्टि' का लक्षण बता रहे हैं—जैसे नैयायिकों के मत में 'गोत्वजाति', समस्त 'गो-व्यक्तियों' में अनुस्यूत रहती है, वैसे ही सम्पूर्ण व्यक्तियों में जो अनुस्यूत रहती है, उसे 'समष्टि' शब्द से कहा जाता है। कहा भी गया है कि अर्थात् उन अपंचीकृत भूतों से एक, सर्वत्र व्यापक, सूत्र नाम का 'समष्टि सूक्ष्मशरीर' उत्पन्न हुआ। वह 'समष्टि सूक्ष्मशरीर', परमात्मा' का बोधक होने से उसे 'लिङ्ग' कहते हैं। इसी 'समष्टि सूक्ष्मशरीर' को सांख्यशास्त्र में 'महत्तत्त्व' के नाम से कहा गया है।

किन्तु कुछ ग्रन्थकारों ने 'समाष्टि' और 'व्यष्टि' का निरूपण इस प्रकार से किया है। जैसे—अनेक वृक्षों के समुदाय (समूह) को 'वन' से कहा जाता है, वैसे ही सस्त (सम्पूर्ण) व्यष्टि लिंग शरीरों का जो समुदाय है, उसे 'समष्टि शब्द से कहा जाता है। और एक-एक वृक्ष के समान प्रत्येक 'लिंग शरीर' को 'व्यष्टि' कहा जाता है। जैसे एक 'गो व्यक्ति', दूसरी 'गोव्यक्तियों में अनुस्यूत नहीं रहती, अपितु उनसे 'व्यावृत्त' रहती है, वैसे ही 'एक लिङ्ग शरीर', 'दूसरे लिङ्ग शरीरों में अनुस्यूत नहीं रहता, अपितु उनसे 'व्यावृत्त' रहता है। यह व्यावृत्तता (व्यावृत्त होकर रहना) ही उस लिङ्ग शरीर को 'व्यष्टिता' है। ऐसे व्यष्टि लिंग शरीर से उपहित चैतन्य को 'तैजस' कहते है। 'तेज' का विकारस्वरूप जो अन्तःकरण है, उससे उपहित होने के कारण 'चैतन्य' नो 'तैजस' कहा जाता है।

---

१. 'अखिलसूक्ष्मशरीरमेकबुद्धिविषयतया वनवज्जलाशयवद्वा समष्टिः; अनेकबुद्धिविषयतया वृक्षवज्जलवद्वा व्यष्टिरपि भवति' इति वेदान्तसारः।

सामान्यविशेषयोरिव जातिव्यक्त्योरिव च समष्टिव्यष्ट्योस्तादात्म्याभ्युपगमात्तदुपहितयोस्तैजससूत्रात्मनोरपि तादात्म्यम् ।

●

समष्ट्युपाधिकहिरण्यगर्भज्ञानं व्यष्ट्युपाधिकतैजसज्ञानञ्च निष्प्रयोजनं सुखप्राप्तिदुःखनिवृत्त्योरसम्भवादित्याशङ्क्य सूत्रतैजसात्मनोरभेदोपासनया हिरण्यगर्भप्राप्तिफलसम्भवात्तज्ज्ञानस्य न निष्प्रयोजनत्वमित्यभिप्रेत्य तदनुसन्धानोपयोगित्वेन सदृष्टान्तं समष्टिव्यष्ट्योस्तादात्म्यप्रतिपादनेन तदुपहितयोरपि तादात्म्यं प्रतिपादयति—सामान्यविशेषयोरिवेति । द्रव्यत्वादि-सामान्यं, पृथिवीजलादिर्विशेषः; सत्ता सामान्यं, द्रव्यं गुणादिर्वा विशेषः; घटत्वादिर्जातिः, पृथुबुध्नोदराकारघटादिर्व्यक्तिः । ततश्च यथा सामान्यविशेषयोस्तादात्म्यं सर्वैरभ्युपेयते, जातिव्यक्त्योर्वा तथा समष्टिव्यष्टिसूक्ष्मशरीरयोस्तादात्म्यमभ्युपेयतेऽस्माभिः ॥

ननु जातिव्यक्त्योर्वैशेषिकादिभिः समवायाभ्युपगमात्कथं तद्दृष्टान्तेन समष्टिव्यष्ट्योस्तादात्म्याभ्युपगम इति चेन्न । समवायासिद्धेः । तथाहि—लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिरिति न्यायविदां समयः । तदभावात्तदसिद्धिः ।

ननु नित्यसम्बन्धत्वं समवायलक्षणं, प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानीति चेत्यभ्युपगमात्कथं तदसिद्धिरिति चेन्न । अद्वैतश्रुति-विरोधेन तदनिरूपणात् । तथाहि—श्रुतिस्तावत् "सदेव सौम्येदमग्र असीदेकमेवाद्वितीयं" "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेति", ब्रह्मणोऽनन्तत्वमद्वितीयत्वञ्च प्रतिज्ञाय तत्सिद्धये "तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति" "तत्तेजोऽसृजत" "यतो वा इमानि भूतानि

●

शंका—समष्ट्युपाधिक हिरण्यगर्भ' का ज्ञान, तथा व्युष्ट्युपाधिक 'तैजस' का ज्ञान, प्राप्त करना निष्प्रोजन है, क्योंकि उससे 'सुख' की प्राप्ति और 'दुःख की निवृत्ति का होना संभव नहीं है ।

समा०—'सूत्रात्मा' और 'तैजसात्मा' दोनों की अभेदोपासना से 'हिरण्यगर्भ' की प्राप्ति होना, यह फल (प्रयोजन) सम्भव है, अतः हिरण्यगर्भ की ज्ञान प्राप्ति को निष्प्रयोजन कहना उचित नहीं है, इस अभिप्राय को ध्यान में रखकर उसके अनुसन्धानोपयोगी समष्टि-व्यष्टि के तादतात्म्य का प्रतिपादन करते हुए उनसे उपहित हुए चैतन्यों के तादात्म्य को भी दृष्टान्त देकर बता रहे हैं जैसे—'द्रव्यत्वादि'-सामान्य है और पृथिवी-जल आदि-विशेष है, तथा 'सत्ता'-सामान्य है और द्रव्य, गुण आदि-विशेष हैं, तथा 'घटत्व' आदि 'जाति' हैं, और 'पृथुबुध्नोदराकार घटादि'-व्यक्ति है अर्थात् जैसे 'घटत्व' आदि-जाति (सामान्य) का तथा 'घट' आदि व्यक्ति (विशेष का 'तादात्म्य' रहता है, एवंच सामान्य और विशेष दोनों के तादात्म्य को सभी लोगों ने माना है । वैसे ही 'समष्टि लिङ्गशरीर' का 'व्यष्टि लिङ्गशरीर' से 'तादात्म्य' ही रहता है । 'तादात्म्य' को प्राप्त हुए समष्टि-व्यष्टिलिङ्गशरीररूप दोनों उपाधियों से उपहित 'सूत्रात्मा' और 'तैजस'-दोनों का भी तादात्म्य हो जाता है । 'भिन्नत्वे सति अभिन्नसत्ताकत्वं तादात्म्यम्' अर्थात् जो पदार्थ, व्यवहार की दृष्टि से परस्पर भिन्न रहते हुए भी, वस्तुतः एक सत्तावाले हो जाते हैं उन दो पदार्थों का 'तादात्म्यसम्बन्ध' हुआ करता है । जैसे तन्तु और पट का तथा गुण और गुणी का तथा जाति और व्यक्ति का तथा क्रिया और क्रियावान् का तादात्म्यसम्बन्ध हुआ करता है । एवंच हिरण्यगर्भ की अभेदोपासना से उपासक को हिरण्यगर्भभाव की प्राप्ति होना ही फल है । अतः प्रकृत में समष्टि और व्यष्टि वाले सूक्ष्मशरीररूप उपाधियों का तादात्म्य-बताते हुए उन हिरण्यगर्भ और तैजस दोनों का तादात्म्य बताया गया है । उसे निष्फल नहीं समझना चाहिये ।

शङ्का—नैयायिकों ने जाति और व्यक्ति इन दो पदार्थों का तादात्म्यसम्बन्ध नहीं माना है, अपितु समवाय-सम्बन्ध माना है । उसकारण जाति-व्यक्ति के तादात्म्य का दृष्टान्त देकर समष्टि-व्यष्टि का तादात्म्य बताना उचित नहीं है ।

समा०—किसी भी वस्तु (पदार्थ) की सिद्धि, लक्षण तथा प्रमाण दोनों से ही हुआ करती है यह शास्त्रीय नियम है । 'समवाय' का न कोई लक्षण है और न प्रमाण ही है । अतः समवाय पदार्थ का स्वीकार नहीं किया जा सकता ।

शंका०—नित्य सम्बन्ध को समवाय कहते हैं—यह समवाय का लक्षण है, तथा समवाय का प्रत्यक्ष होने से 'प्रत्यक्ष प्रमाण' भी है । अतः समवाय का लक्षण नहीं है और प्रमाण भी नहीं है—यह कहना उचित नहीं है ।

समा०—'एक मेवाऽद्वितीयं ब्रह्म' श्रुतियाँ तो एकमात्र ब्रह्म को ही अनन्त-अद्वितीय बताती हैं उस कारण 'समवाय' को नित्य कहना संभव नहीं है ।

एतदेव सूक्ष्मशरीरम् अविद्याकामकर्म्मसहितं पुर्य्यष्टकमित्युच्यते। ज्ञानेन्द्रियपञ्चकं कर्म्मेन्द्रियपञ्चकम्, अन्तःकरणचतुष्टयं प्राणादिपञ्चकं भूतसूक्ष्मपञ्चकम्, अविद्या कामः कर्म्मचैतान्यष्टौ ॥२६॥

●

जायन्ते" "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजनाद् आनन्दादेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते"—इत्यादिना ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य जगज्जातस्य तस्मादुत्पत्तिं तस्मिंल्लयम्प्रतिपाद्य "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि" "स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः" इत्यादिना ब्रह्मणोऽद्वितीयत्वम्प्रतिपादयति। सा समवायस्य नित्यत्वे विरुध्येत। अतो नित्यसम्बन्धत्वं लक्षणमित्यसङ्गतमेतत् ॥

ननु अज्ञानतत्सम्बन्धादीनामनादित्वादनादिभावस्य नित्यत्वनियमात्कथं ब्रह्मणोऽद्वितीयत्वमिति चेद्‌गाढम्। अज्ञानादीनामध्यस्तत्वेन तेषामधिष्ठानमात्रतया ब्रह्मणोऽद्वितीयत्वोपपत्तेः। न चानादिभावस्य नित्यत्वनियमः, तस्यारोपितत्वेन ज्ञाननिवर्त्यत्वात्, अनारोपितस्यानादिभावस्य तथात्वस्येष्टत्वात्।

न च तर्ह्यनन्ताद्वितीयसिद्धये प्रपञ्चस्य ब्रह्मकार्य्यत्वप्रतिपादनमसङ्गतमिति वाच्यम्। न हि वयम् प्रागसतः सत्तायोग्यत्वमाद्यक्षणसम्बन्धित्वं वा कार्य्यत्वं ब्रूमस्तयोरसङ्गतत्वात्। नापि परिणामित्वमसम्भवात्। किं तर्हि ? विवर्त्तत्वापरनामाध्यस्तत्वम्, ब्रह्मकार्य्यत्वञ्चेति ब्रूमः। एवञ्च सति "ऐतादात्म्यमिदं सर्वं" "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं" "तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्य" इत्यादिश्रुतिसूत्राणि सामञ्जस्येनोपपद्यन्ते, अन्यथाऽसङ्गतानि स्युः। तस्माद् ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य सर्वस्य तत्त्वज्ञाननिवर्त्यतयाऽनित्यत्वावगमान्नित्यसम्बन्धत्वं समवायलक्षणमित्यसङ्गतम्।

●

शंका०—तुम वेदान्तियों के मत में भी 'अज्ञान' को तथा चेतन के साथ उसके सम्बन्ध को तथा अन्य पदार्थों को भी अनादि भावरूप माना गया है।

तथाहि—'जीव इशो विशुद्धा चित् तथा जीवेशयोर्भिदा।
अविद्यातच्चितोर्योगः षडस्माकमनादयः ॥'

अतः जो जो पदार्थ, अनादि और भावरूप होते हैं, वे पदार्थ 'नित्य' हुआ करते हैं। ऐसी स्थिति में उन अज्ञानादि नित्य पदार्थों के विद्यमान रहते 'ब्रह्म' को अद्वियता कैसे संगत हो सकती है ?

समा०—हम वेदान्तियों के सिद्धान्त में वे अज्ञानादि पदार्थ, 'ब्रह्म' में अध्यस्त माने गए हैं। उस कारण उन अध्यस्त अज्ञानादि पदार्थों की सत्ता, अपने—अधिष्ठान 'ब्रह्म' से भिन्न नहीं हैं। उस कारण अज्ञानादि पदार्थों के विद्यमान रहने पर भी 'ब्रह्म' की अद्वितीयता में कोई बाधा नहीं होती है। यद्यपि वे अज्ञानादि पदार्थ, अनादि और भावरूप हैं, तथापि वे सब 'ब्रह्म' में आरोपित (अध्यस्त) हैं। अतएव 'ब्रह्मज्ञान' से उन अज्ञानादि पदार्थों की निवृत्ति हो जाती है।

किञ्च यह भी ध्यान में रखना है कि 'अनारोपित अनादि भावपदार्थ' ही नित्य हुआ करते हैं। वह 'अनारोपित अनादिभावरूपता' एकमात्र 'अधिष्ठान ब्रह्म' में ही है, उन अज्ञानादि पदार्थों में नहीं है। अतः तुम्हारा 'समवाय' जैसे अनित्य है, वैसे ही वे अज्ञानादिपदार्थ भी अनित्य ही हैं। उस कारण 'समवाय' का लक्षण 'नित्यसम्बन्धः समवायः' जो तुमने किया है, वह उचित नहीं है।

किञ्च—युक्ति से भी 'समवाय' का खण्डन किया जा सकता है। नैयायिकों ने कहा है कि 'गुण-गुणी', 'क्रिया-क्रियावान्', 'अवयव-अवयवी', 'जाति-व्यक्ति', और 'विशेष-नित्यद्रव्य' का समवायसम्बन्ध रहता है।

नैयायिकों के इस मन्तव्य पर हमारा उनसे यह प्रश्न है कि वह 'समवाय', अपने सम्बन्धी जो 'गुण-गुणी' आदि हैं, उनसे भिन्न है या अभिन्न है ?

नैयायिक यदि उस 'समवाय' को अपने सम्बन्धियों (गुण-गुणी आदि पदार्थों) से भिन्न बताता है, तो उनसे हमारा दुसरा प्रश्न होगा कि वह 'समवाय', अपने 'सम्बन्धी पदार्थों' में किस सम्बन्ध से रहता है ? क्या वह 'संयोग' सम्बन्ध से रहता है ? या 'समवायसम्बन्ध' से रहता है ? या इन दोनों से भिन्न किसी अन्य सम्बन्ध से रहता है ?

नैयायिक कभी यह नहीं कह सकेगा कि 'समवाय', अपने सम्बन्धी 'गुण-गुणी' आदि में 'संयोग' सम्बन्ध से रहता है। क्योंकि दो-द्रव्यपदार्थों का ही 'संयोगसम्बन्ध' हुआ करता है—'द्रव्य-द्रव्ययोरेवसंयोगः', यह नियम है। 'समवाय' तो

किञ्च, समवायः समवायिभ्यां भिन्नोऽभिन्नो वा ? आद्येपि समवायः समवायिनि केन सम्बन्धेन वर्त्तते संयोगेन समवायेनान्येन वा। नाद्यः, द्रव्यधर्मत्वात् संयोगस्य। न द्वितीयः, अनवस्थाप्रसङ्गात्। न तृतीयः, सम्बन्धान्तरानिरूपणात्, स्वरूपसम्बन्धस्याप्रामाणिकत्वाद् अन्यथा समवायासिद्धिप्रसङ्गात्। नाद्य[1]दितीयः, अपसिद्धान्तापत्तेः। तस्मात्तत्स्वरूपस्य दुर्निरूपत्वात्तदसिद्धिः।

●

द्रव्यपदार्थ नहीं है तथा 'गुणकर्मा'दि भी द्रव्यपदार्थ नहीं है। इसलिए अपने सम्बन्धी 'गुण-कर्मादि' में 'समवाय' का 'संयोग सम्बन्ध' से रहना कदापि सम्भव नहीं है।

इस पर नैयायिक यदि यह कहे कि—'समवाय', अपने सम्बन्धियों (गुण-कर्मादि) में 'समवाय' सम्बन्ध से रहता है, तो यह कहना भी ठीक नहीं होगा। क्योंकि अपने सम्बन्धी पदार्थों में 'समवाय' को 'समवाय' सम्बन्ध से रखने पर चार दोष उपस्थित होंगे—(१) आत्माश्रय, (२) अन्योन्याश्रय, (३) चक्रिका, (४) अनवस्था। तथाहि—जिस 'समवायसम्बन्ध' से 'समवाय' अपने सम्बन्धीपदार्थों में रहता है, वह सम्बन्धरूप 'समवाय', क्या सम्बन्धीपदार्थों में रहनेवाले 'समवाय' से अभिन्न है या भिन्न है ?

यदि उसे अभिन्न कहते हैं तो 'आत्माश्रयदोष' होगा। क्योंकि 'समवाय' को अपनी स्थिति में अपनी ही अपेक्षा करनी पड़ रही है; यही 'आत्माश्रयदोष' है।

यदि सम्बन्धरूप 'समवाय' को प्रथम समवाय से भिन्न कहोगे तो द्वितीय 'समवाय' भी प्रथम समवाय के समान अपने सम्बन्धियों में किसी अन्य 'समवाय' से ही रहेगा।

यदि द्वितीय समवाय को प्रथम समवाय से अभिन्न कहोगे तो पुनः 'आत्माश्रयदोष' होगा यदि द्वितीय समवाय की स्थिति, प्रथम समवाय के बल पर रहेगी, कहोगे तो 'अन्योन्याश्रयदोष' होगा। क्योंकि प्रथम समवाय तो द्वितीय समवाय से रहा, और द्वितीय समवाय, पुनः प्रथम समवाय से रहा यही अन्योन्याश्रयदोष है।

उसके निवारणार्थ यदि यह कहोगे कि द्वितीय समवाय, किसी अन्य तृतीय समवाय के बल पर रहता है, किन्तु उसे भी द्वितीय समवाय से अभिन्न मानने पर पुनः आत्माश्रयदोष होगा, और यदि तृतीय समवाय को द्वितीय समवाय से भिन्न मानोगे अर्थात् द्वितीय समवाय की स्थिति, तृतीय समवाय के बल पर और तृतीय समवाय की स्थिति, द्वितीय समवाय के बल पर कहोगे तो अन्योन्याश्रयदोष होगा और तृतीय समवाय की स्थिति, प्रथम समवाय के बल पर कहोगे तो 'चक्रिका' दोष होगा। क्योंकि प्रथम समवाय को अवनी स्थिति के लिये, द्वितीय समवाय की अपेक्षा, तथा द्वितीय समवाय को अपनी स्थिति के लिये, तृतीय समवाय की अपेक्षा, और तृतीय समवाय को अपनी स्थिति के लिये पुनः उसी प्रथम समवाय की अपेक्षा करनी पड़ती है—यही 'चक्रिका दोष' है।

इस चक्रिका दोष के निवारणार्थ यदि 'तृतीय समवाय' की स्थिति के लिये किसी चतुर्थ समवाय की अपेक्षा करें और चतुर्थ समवाय की स्थिति के लिये किसी 'पंचम समवाय' की अपेक्षा, इस तरह विश्रान्तिरहित समवाय धारा यदि मानते चलोगे तो—'अनवस्थादोष' होगा। उस कारण यह कहना ठीक नहीं है कि 'समवाय', अपने सम्बन्धी पदार्थों में 'समवाय सम्बन्ध' से रहता है। अतः यह द्वितीय पक्ष (समवाय का समवाय सम्बन्ध से रहना) भी संभव नहीं हो रहा है।

अब 'समवाय' का अन्य किसी संबंध से रहना—यह जो तृतीय पक्ष है, वह भी ठीक नहीं है। क्योंकि 'संयोग' और 'समवाय' इन दो सम्बन्धों के अतिरिक्त अन्य 'तृतीय सम्बन्ध' को तुम बता नहीं सकोगे।

यदि यह कहोगे कि 'समवाय' की स्थिति 'स्वरूप सम्बन्ध' से होती है, अर्थात् समवाय, 'स्वरूप सम्बन्ध' से रहता है किन्तु यह कहना भी उचित नहीं होगा, क्योंकि 'स्वरूपसम्बन्ध' के होने में कोई प्रमाण नहीं है।

उस पर तुमने उसके होने में अपनी स्वीकृति दे दी है, और उसे मान लिया है तो जिन 'गुण-गुणी' आदि में तुमने 'समवाय' सम्बन्ध माना है, उनका भी 'स्वरूप संबन्ध' माना जा सकेगा। तब 'समवाय' की आवश्यकता ही क्या है ? इस प्रकार से समवाय का सर्वथा खण्डन हो जाता है।

---

१. नापीति पाठः स्यात्।

एवम्प्रमाणाभावादपि समवायासिद्धिः। तथाहि—न तावत्प्रत्यक्षं प्रमाणमतीन्द्रियत्वात् समवायस्य। घटे रूपं समवेतमित्यादिप्रतीतेर्त्वा दकल्पितया सर्वसम्मतत्वाभावेनाप्रमाणत्वात्। नापि तत्रानुमानं प्रमाणं लिङ्गाभावात्।

नच विशिष्टबुद्धिर्विशेषणविशेष्यसम्बन्धविषया विशिष्टबुद्धित्वा[1]दित्यनुमानेन तत्सिद्धिरिति वाच्यम्। [2]अनुमानस्यार्थान्तरत्वात्। तस्माल्लक्षणप्रमाणयोरनिरूपणात् समवायासिद्धेर्जातिव्यक्त्योः सामान्यविशेषयोर्वा सर्वत्र तादात्म्यमेव सम्बन्ध इति सिद्धम्। अतस्तद्दृष्टान्तेन समष्टिव्यष्टिसूक्ष्मशरीरयोस्तादात्म्यप्रतिपादनं युक्तमेव।

नच व्यष्टिसूक्ष्मशरीरस्य भौतिकतया समष्टिसूक्ष्मशरीरोपादानत्वाभावात्कथं तयोस्तादात्म्यमिति वाच्यम्; अपञ्चीकृत-

●

'समवाय'-अपने सम्बन्धियों से अभिन्न रहता है—इस द्वितीयपक्ष की संभावना इसकारण नहीं हो पाती कि तुमने (नैयायिकों ने) 'समवाय' को 'गुण-गुणी' आदि सम्बन्धी-पदार्थों से भिन्न ही माना है, 'अभिन्न नहीं'। इसे 'अभिन्न' कहने पर तुम्हारे सिद्धान्त का भंग हो जायगा। एवंच किसी भी प्रकार से समवाय के स्वरूप की सिद्धि नहीं हो पा रही है।

तथा 'प्रमाण' के न रहने से भी समवाय की सिद्धि नहीं हो रही है। 'समवाय' के होने में 'प्रत्यक्ष' प्रमाण को भी नहीं कह सकते, क्योंकि नैयायिकों ने 'समवाय' को अतीन्द्रिय कहा है। अतीन्द्रिय पदार्थ में प्रत्यक्ष प्रमाण (इन्द्रिय) की प्रवृत्ति नहीं हुआ करती। 'घटे रूपं समवेतम्' इत्याकारक जो तुम्हें समवाय विषयक प्रतीति होती है, वह तुम्हारी कोरी कल्पनामात्र है। उक्त प्रतीति अन्य शास्त्रों को मान्य नहीं है। अतः इस प्रतीति को प्रामाणिक नहीं कह सकते। एवंच 'समवाय' के अस्तित्व में 'प्रत्यक्षप्रमाण' का रहना संभव नहीं है।

उसी तरह हेतु (लिङ्ग) के न रहने से—(हेतु के अभाव में) 'समवाय' का अस्तित्व अनुमान प्रमाण से भी नहीं हो पा रहा है।

शंका—'रूपी घट (रूपवान् घट) हैं'—इत्याकारक-विशिष्ट बुद्धि, 'रूप' इस विशेषण के तथा 'घट'-इस विशेष्य के सम्बन्ध को विषय करती है, अर्थात् उस विशिष्ट बुद्धि का विषय, उक्त विशेष्य-विशेषण सम्बन्ध है। विशिष्ट बुद्धि होने से, लोकव्यवहार में हम देखते हैं कि जो-जो विशिष्ट बुद्धि होती है, वह 'विशेषण-विशेष्य'-दोनोंके संबन्ध को अवश्य अपना विषय बना लेती है। जैसे—'दण्डी पुरुषः'-यह विशिष्ट बुद्धि, 'दण्ड'-इस विशेषण के तथा 'पुरुष'-इस विशेष्य के अर्थात् दोनों के 'संयोगसम्बन्ध' को अपना विषय बना लेती है। उसी तरह 'रुपी घटः' (रुपवान् घटः)—यह विशिष्टबुद्धि भी, 'रुप'-इस-विशेषण के तथा 'घट'-इस विशेष्य के-('रुप'-यह गुण है और 'घट'-यह द्रव्य अर्थात् गुणी है, तब गुण-गुणी का समवाय सम्बन्ध हुआ करता है)-'समवाय' सम्बन्ध को ही अपना विषय बना लेती है। एवंच इस अनुमान प्रमाण के रहते हुए यह कह देना कि 'समवाय' के अस्तित्व में 'अनुमान' प्रमाण भी नहीं है—यह ठीक नहीं है।

समा०—आपके कथनानुसार अर्थात् उपर्युक्त अनुमान प्रमाण से 'समवाय' पदार्थ का स्वरूप सिद्ध नहीं हो रहा है। उक्त अनुमान से तो 'रूप' और 'घट' के 'तादात्म्य' संबन्ध की ही सिद्धि हो रही है। समवाय संबन्ध की सिद्धि नहीं। एवंच लक्षण और प्रमाण के अभाव में 'समवाय' का अस्तित्व कैसे सिद्ध किया जा सकेगा? इस प्रकार—'समवाय' का अस्तित्व सिद्ध न हो सकने पर 'जाति-व्यक्ति' का 'तादात्म्य' सम्बन्ध ही सिद्ध होता है। उसकारण 'जाति-व्यक्ति' के तादात्म्य का दृष्टान्त ध्यान में रखकर 'समष्टि—व्यष्टि जो सूक्ष्मशरीर हैं, उनका भी तादात्म्य हो सकता है।

कतिपय नैयायिक समवाय को अतीन्द्रिय मानते हैं। और कुछ नैयायिक समवाय को प्रत्यक्ष कहते हैं। तथा कुछ नैयायिक समवाय को एक मानते हैं। और कुछ नैयायिक समवाय को अनेक (नाना) मानते हैं।

शंका—समष्टि सूक्ष्म शरीर का तथा व्यष्टि सूक्ष्म शरीर का तादात्म्य आपने बताया था, किन्तु वह संभव नहीं है। क्योंकि कार्य का अपने उपादान कारण के साथ तादात्म्य हुआ करता है। जैसे—पटरूप कार्य का अपने तन्तुरूप उपादान कारण के साथ तादात्म्य रहता है। व्यष्टि सूक्ष्म शरीर का वह समष्टि सूक्ष्म शरीर उपादान कारण नहीं है, किन्तु आकाशादि पञ्च सूक्ष्मभूत ही व्यष्ठि सूक्ष्म शरीर के उपादान कारण हैं। अतः समष्टि-व्यष्टि सूक्ष्म शरीरों का तादात्म्य बताना अनुचित है।

१. दण्डिपुरुषबुद्धिवत्।
२. तादात्म्यसम्बन्धमादायेति शेषः।

तत्र कार्याविद्या द्रष्टव्या। सा च चतुर्विधा अनित्ये नित्यत्वबुद्धिः, अशुचौ शुचित्वबुद्धिः, असुखे सुखबुद्धिः, अनात्मन्यात्मबुद्धिश्चेति।

तदुक्तम्—"अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्येति ॥"

अस्यार्थोऽनित्ये ब्रह्मलोकादिसंसारफले नित्यत्वबुद्धिरेकाऽविद्या द्रष्टव्या।

●

भूतानां हिरण्यगर्भोपाधिभूतसमष्टिसूक्ष्मशरीरान्तर्भावेन व्यष्टिसूक्ष्मशरीरस्य तदुपादानतया तयोस्तादात्म्योपपत्तेः।

अथवा समष्टिकरणानामेवाध्यात्मिकाऽसङ्गपरिच्छेदाभिमानेन व्यष्टित्वमस्तु "स वै वाचमेव प्रथमामत्यवहत् सा यदा मृत्युमत्यमुच्यत सोऽग्निरभवदि"त्यादि श्रुतेः। तथाच समष्टिव्यष्टिलिङ्गशरीरयोस्तादात्म्यमुपपद्यते।

एवञ्चानयोस्तादात्म्यादेतदुपहिततैजससूत्रात्मनोरपि तादात्म्यम्भवति। भिन्नत्वे सति अभिन्नसत्ताकत्वं तादात्म्यम्। ततश्च हिरण्यगर्भाहंग्रहोऽपास्त्या तत्प्राप्त्या सर्वोत्कृष्टानन्दावाप्तिः प्रयोजनं सम्भवतीति तज्ज्ञानमर्थवदिति भावः।

"पुर्य्यष्टकेन लिङ्गेन प्राणाद्येन स युज्यते"।

इति श्लोकोक्तपुर्य्यष्टकशब्दार्थं प्रक्रियान्तरमाह—एतदेवेति ॥२६॥

ननु केयमविद्येत्यत आह—तत्रेति। कार्याविद्यां विभजते—स चेति। चातुर्विध्यमेवाह—अनित्य इति। असुखे सुखभिन्ने दुःखे तत्साधने सुखबुद्धिरिति तत्साधनबुद्धेरप्युपलक्षणम्। तत्र योगशास्त्रसम्मतिमाह—तदुक्तमिति। सूत्रं व्याचष्टे—अस्यार्थं इति।

ननु—"अशोकमहिमं तस्मिन् वसति शाश्वतीः समा" इत्यादिश्रुत्या ब्रह्मलोकस्य नित्यत्वावगमात्कथमनित्यत्वम्? न च तस्य कर्म्मसाध्यत्वेन लौकिककृष्यादिफलवद् "अन्तवत्तु फलन्तेषामि"त्यादिस्मृत्या "तद्यथेह कर्म्मचित्तो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते" इत्यादि श्रुत्या चाऽनित्यत्वमवगम्यत इति वाच्यम्। उपासनाविधेरप्रामाण्यप्रसङ्गात्। यथा स्वर्गादावनित्यत्वदोषदर्शनेन स्वर्गतत्साधनेच्छानिवृत्तिनिरोधेन प्रवृत्तिनिरोधेन नित्यफलोद्देशेन तत्साधनेऽप्रवृत्तिः, एवम् ब्रह्मलोकादावनित्यत्वदोषदर्शनेन तदुद्देशेन तत्साधनानुष्ठाने प्रवृत्तिनिरोधात्सर्वेषामन्यत्र प्रवृत्तिप्रसक्त्योपासनाविधायिशास्त्राप्रामाण्यम् प्रसज्येत। न च तदिष्टम्, ब्रह्मलोकातिरिक्तनित्यफले मानाभावात्। अन्यत्रापि दोषदर्शनेन प्रवृत्तिनिरोधात् सन्दिहानः सर्वोऽपि लोकोऽनर्थं प्राप्नुयात्, मोक्षशास्त्रं सर्वमनर्थकं प्रसज्जेतेत्यतः केवलकर्म्मसाध्यस्यानित्यत्वेऽपि यथोक्तशास्त्रप्रामाण्यात् ज्ञानकर्मसमुच्चयसाध्यस्य ब्रह्मलोकस्य नित्यत्वमभ्युपगन्तव्यम्। एवं च सति श्रुतिस्मृती श्रुत्यन्तराविरोधादितरविषये व्याख्येये। तस्मात् ब्रह्मलोकस्यानित्यत्वकथनमसङ्गतमेव—इति।

●

समा०—जो अपञ्चीकृत सूक्ष्मभूत, उस व्यष्टि-सूक्ष्म शरीर के उपादान कारण हैं, वे ही सूक्ष्म-पञ्चभूत, उस समष्टि सूक्ष्म शरीर के अन्तर्गत हैं। उस कारण वह समष्टि सूक्ष्म शरीर, उस व्यष्टि सूक्ष्म शरीर का उपादान कारण हो सकता है। अतः 'उपादान-उपादेयभाव' के होने से उन दोनों का तादात्म्य भी हो सकता है।

उक्त 'सूक्ष्म शरीर' को 'पुर्यष्टक' भी कहा जाता है। पूर्वोक्त सूक्ष्म शरीर ही (१) अविद्या, (२) काम, (३) कर्म, इन तीनों से युक्त होकर—'पुर्यष्टक' नाम से कहा जाता है। अष्टपुरियाँ ये हैं—(१) पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, (२) पञ्च कर्मेन्द्रिय, (३) अन्तःकरण चतुष्टय, (४) पञ्च प्राण, (५) पञ्च सूक्ष्मभूत, (६) अविद्या, (७) काम, (८) कर्म। इनमें से 'इन्द्रिय', 'अन्तःकरण' 'प्राण', और 'पञ्चभूत'—इनका निरूपण, पूर्व किया जा चुका है। अतः अब 'अविद्या', 'काम', 'कर्म'—इन तीनों का निरूपण किया जायगा ॥२६॥

'अविद्या' शब्द से 'कार्य अविद्या' को समझना चाहिये। 'अन्य में बुद्धि होना'—यही 'कार्यभूत अविद्या है।

कार्यरूप अविद्या का विभाग बता रहे हैं—वह कार्यरूप अविद्या चार प्रकार की है। (१) अनित्य पदार्थ को नित्य समझना। (२) अशुचि (अपवित्र) को शुचि (पवित्र) समझना। (३) जो सुख नहीं है, उसे सुख समझना। (४) जो आत्मा नहीं है, उसे आत्मा समझना। स्वर्गलोक, ब्रह्मलोक आदि जो हैं, वे सब कर्मरूप उपासना के ही फल हैं। वे सब अनित्य हैं, क्योंकि उपासनारूप कर्म ही जब अनित्य हैं, तो उनके फल, नित्य कैसे हो सकते हैं? उन अनित्य फलों को नित्य समझना—यही प्रथम अविद्या है मल-मूत्रादिकों से परिपूर्ण होने से यह शरीर अपवित्र (अशुचि) है, उसी तरह स्त्री-पुत्रादिकों

अत्र ब्रूमः—नित्यत्वप्रतिपादकश्रुतेरर्थवादत्वाद् ब्रह्मलोकोऽनित्य एव। तथाहि, "पूर्णाहूत्या सर्वान् कामान् वाप्नोती"ति वचनस्य[1]विध्यपेक्षिततया इतरकर्म्मविध्यानर्थक्यप्रसङ्गेन च यथाऽर्थवादत्वं, तथाऽस्यापि तथात्वमेव। न चोपासनाविधिस्तन्नित्यत्वमपेक्षते। किं तर्हि? फलमात्रम्। अन्यथा स्वर्गादिसाधनविधेरपि तथात्वेन कर्म्मफलानां तारतम्याभावप्रसङ्गेनाग्निहोत्रानुष्ठातुरुत्तरकालकर्म्मानुष्ठाने उपासनायाञ्च प्रवृत्तिर्न स्याद्। अतो विधिः फलमेवापेक्षते, न तन्नित्यत्वमपि।

नच ब्रह्मलोकस्यानित्यत्वदोषदर्शनेन तत्साधनोपासनायामवृत्त्या तद्विधायकशास्त्रस्याप्रामाण्यमानर्थक्यञ्च प्रसज्येतेति वाच्यम्। तर्हि कर्म्मविधायकशास्त्रस्यापि तथात्वप्रसङ्गात्।

तच्च कर्मफलानित्यत्वज्ञानेऽपि रागवशात्प्रवृत्तिसम्भवेन कर्म्मशास्त्रस्य नाप्रामाण्यमानर्थक्यञ्चेति वाच्यम्। तर्हि प्रकृतेऽपि तुल्यत्वात्। किञ्च "तद्यथेह कर्म्मचितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते" इत्यादि श्रुतेः श्रवणविध्यपेक्षिततया भूतार्थवादत्वेन स्वर्गार्थवादवत् स्वार्थे प्रामाण्यसम्भवेन पुण्यकार्य्यस्य ब्रह्मलोकान्तस्यानित्यत्वमेव।

नच ब्रह्मलोकस्य विद्यासाध्यत्वेन कर्मफलवैलक्षण्येन नित्यत्वमिति वाच्यम्। तत्त्वविद्याया ब्रह्मभिन्नसर्वनिवर्त्तकत्वेन तत्साधनत्वाभावादुपासनायास्तु मानसक्रियारूपत्वेन पुण्यान्तर्भूततया तत्साध्यब्रह्मलोकस्यानित्यत्वं स्यादेव।

किञ्च, "तद्यथा पेशस्कारी पेशसोमात्रामपादायान्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं तनुत एवमेवायमात्मेदं शरीरं निहत्य अविद्याङ्गमयित्वान्यन्नवतरं रूपं कल्याणतरं रूपं कुरुते पित्र्यं वा गान्धर्वं वा दैवं वा प्राजापत्यं वा ब्राह्मं वे"त्यादिना ब्रह्मलोकान्तस्य सर्वस्य कर्मफलत्वेन संसारगोचरत्वमुक्त्वा "अथाकामयमान" इत्यारभ्य "ब्रह्माप्येती"त्यन्तेन संसारासंस्पृष्टमविद्याकामकर्म्मातीतं ब्रह्मभावं मोक्षं नित्यफलं ब्रह्मलोकातिरिक्तं दर्शयति श्रुतिः। अतस्तदतिरिक्तनित्यफले मानाभाव इत्युन्मत्तप्रलापः। किञ्च,

"यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्" "अतोऽन्यदार्त्तम्"

"अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततं। विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्त्तुमर्हति॥
अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः। मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्॥
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमाङ्गताः। आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्त्तिनोर्जुन"॥

इत्यादिश्रुतिस्मृतिभिरखण्डैकरसब्रह्मभावव्यतिरिक्तस्यानित्यत्वदुःखहेतुत्वावगमात् ब्रह्मलोकस्यानित्यत्वमेव।

अपि च "यत्कार्य्यं तदनित्यमि"ति व्याप्त्या भावकार्य्यस्य सर्वस्यानित्यत्वावगमाद् ब्रह्मलोकस्यापि कर्म्मसाध्यत्वेन

का भी शरीर अपवित्र है, उन शरीरों को पवित्र समझना—यह दूसरी अविद्या है। तथा पीड़ारूप जो दुःख है, उसको सुख समझना, और दुःख के साधन ब्रह्म हत्या आदि तथा मद्य (सुरा) पान आदि को सुख साधन समझना—यह तीसरी अविद्या है। तथा अनात्म (जड़) रूप देह (शरीर), इन्द्रिय आदि को ही 'अहम्' (मैं) के रूप में समझना अर्थात् 'आत्मा' समझना—यह चौथी अविद्या है। इस कथन में योगशास्त्र की भी सम्मति हैं।

किञ्च—"तद्यथा पेशस्करी" इत्यादि श्रुति वाक्यों में ब्रह्म लोकान्त जितने भी लोक हैं, सभी कर्मफल स्वरूप होने से पुनः संसार में ही आना पड़ता है—यह बताकर "अथाकामयमानः" से आरम्भ कर "ब्रह्माप्येति" तक के वाक्यों से संसार से असंस्पृष्ट, अविद्या-काम, कर्म से परे ब्रह्मभाव अर्थात् मोक्ष, जिसे नित्य फल बताया जाता है, उसे ब्रह्मलोकादि-लोकों से भिन्न (अतिरिक्त) श्रुति ने बताया है। अतः तत्तत् लोकों के अतिरिक्त किसी नित्य फल के होने में कोई प्रमाण नहीं है—कहना केवल उन्मत्त प्रलाप ही है यह समझना चाहिये।

श्रुति-स्मृति के नाना वाक्यों के द्वारा अखण्डैकरसब्रह्मभाव के व्यतिरिक्त जो कुछ भी शेष है, वह सभी अनित्य है, और दुःखदायक (दुःख का कारण) ही है। अतः ब्रह्मलोकादि लोक भी अनित्य ही हैं।

अपि च—'जो कार्य होता वह अनित्य होता है'—इस व्याप्ति (नियम) के अनुसार सम्पूर्ण भावकार्य अनित्य ही है, यह समझ में आता है। ब्रह्मलोक भी कर्म से ही साध्य होने से भाव कार्यरूप ही है, अतः वह भी अनित्य ही है। इसलिये

१. विध्यनपेक्षिततयेति पाठभेदः।

१. क, ग, अनात्मतु देहेन्द्रियादिष्वहमित्यात्मबुद्धिः पाठः।

अशुचिषु स्वशरीरपुत्रभार्य्यादिशरीरेषु शुचित्वबुद्धिरपरा, दुःखेषु दुःखसाधनेषु च सुखतत्साधनबुद्धिरन्या, अनात्मनि देहादिष्वहमित्यात्मबुद्धिरितरा चेति अविद्या चतुर्विधेति ॥२७॥ कामो रागः।

●

भावकार्य्यत्वेनानित्यत्वं स्यादेव। तस्मा"दशोकमहिममि"त्यादिवाक्यानां न्यायशून्यतया विध्यनपेक्षिततया च गुणार्थवादत्वाद्-ब्रह्मलोकस्य श्रुतिस्मृतिन्यायैरनित्यत्वावगमाच्च तस्मिन्नित्यत्वबुद्धिरविद्येति निरवद्यम्।

मलमूत्रपूर्णत्वाच्छरीरस्याशुचित्वम्। तदुक्तम्,

"बीजात्स्थानादुपष्टम्भान्निस्यन्दान्निधनादपि। कायमाधेयशौचत्वात्पण्डिता ह्यशुचिं विदुः" इति॥

अन्यत्रापि,

अमेध्यपूर्णं कृमिजालसङ्कुलं स्वभावदुर्गन्धमशौचमध्रुवम्। कलेवरं मूत्रपुरीषभाजनं रमन्ति मूढा न रमन्ति पण्डिता" इति। अतोऽशुचौ शुचित्वबुद्धिरविद्येत्याह—अशुचिष्विति। शुचित्वं निर्मलत्वम्। प्रतिकूलवेदनीयं पीडात्मकं दुःखं तत्साधनं ब्रह्महननापेयपानादि। अनुकूलवेदनीयं प्रीत्यात्मकं सत्त्ववृत्तिरूपं सुखं तत्साधनं ब्रह्मपूजनं गङ्गाजलपानादि। दुःखतत्साधनेषु सुखतत्साधनभ्रमं मुचुकुन्द आह

"विमोहितोऽयं जन ईश मायया त्वदीयया त्वां न भजत्यनर्थदृक्।
सुखाय दुःखप्रभवेषु सज्जते गृहेषु योषित्पुरुषश्च[1] वञ्चित" इति।

इयमस्माकं सर्वेषां प्रत्यक्षसिद्धा चेत्यतो दुःखादिषु सुखादिबुद्धिरविद्येति सूक्तमित्याह—दुःखेष्विति। शेषं स्पष्टार्थम्।

अविवेकेनाहङ्कारचिदात्मनोस्तादात्म्याध्यासपूर्वकमिदं मे भूयादितिजायमानान्तःकरणवृत्तिविशेषो रागः।

●

'अशोकमहिमम्' इत्यादि वाक्य, न्यायशून्य रहने से और उन्हें विधि-वाक्य की अपक्षा रहने के कारण वे गुणार्थवाद हैं। उस कारण ब्रह्मलोकादि जैसे श्लोकों की अनित्यता ही श्रुति-स्मृति तथा न्याय से अवगत होती है। उन अनित्य लोकों को नित्य समझना—यह अविद्या ही है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। मल-मूत्रादि से पूर्ण रहने से यह शरीर भी अपवित्र है।

अतः अशुचि में शुचित्व बुद्धि रखना 'अविद्या' है इसी को बता रहे हैं—अपने पुत्र के तथा पत्नी आदि के अशुद्ध शरीरों को शुद्ध समझना दूसरी अविद्या है। दुःख और उसके उपाय को सुख व उसका उपाय समझना भी एक अविद्या है। आत्मभिन्न देहादि को 'मैं' समझना यह भी अविद्या ही है। इस प्रकार अविद्या चार प्रकार की है। 'शुचित्व' का अर्थ है निर्मलत्व। पीडात्मक दुःख तथा उसके साधनभूत ब्रह्महत्या, अपेयमान, आदि प्रतिकूल वेदनीय कहलाते हैं अर्थात् इनका आचरण करने के लिये आत्मा (मन) तैयार नहीं रहता। प्रीत्यात्मक सत्त्ववृत्तिरूप सुख तथा उसके साधनभूत ब्राह्मणपूजन, गंगाजलपान, आदि अनुकूल वेदनीय कहलाते हैं, अर्थात् उनका आचरण करने के लिए मन प्रसन्नता से तैयार रहता है। बुरे संस्कार के कारण वैसा आचरण कदाचित् न कर पाये, यह अलग बात है।

मुचुकुन्द कहते हैं—हे परमेश्वर! आपकी माया से यह जीव वंचना को प्राप्त होता है। अनर्थ का उपाय ही इसे सूझता है अतः यह आपका भजन करता नहीं जबकि दुःख के उत्पादक गृह स्त्री आदि में ही सुख की आशा से आसक्ति किये रहता है। इस स्थिति का सभी को प्रत्यक्ष अनुभव है। अत दुःख आदि को सुख समझना अर्थात् दुःखादि में सुख बुद्धि करना 'अविद्या' ही है। इसी रहस्य को बताने के लिये कहते हैं—'दुःखेष्विति'। इस रीति से अविद्या चार प्रकार की होती है, यह बता चुके हैं॥२७॥

अविवेक (विचारशून्यता) के कारण अहंकार और चिदात्मा का तादात्म्याध्यास (एकरूपता-यानी अभिन्नता) होता है, जिससे 'यह वस्तु, हमें प्राप्त हो'—इस प्रकार की जो अन्तःकरणवृत्ति बनती है, उसे 'राग' कहते हैं। उस राग का ही दूसरा नाम 'काम' है।

अब कर्म का विभाग करते हैं—कर्मेति। उसके त्रैविध्य को बताते हैं—'सञ्चितमिति'। अर्थात् (१) संचित,

---

१. ग, योषित् पुरुषैश्चेति पाठः।

कर्म्मं त्रिविधं—सञ्चितमागामि प्रारब्धञ्चेति। स्वकृतं फलमदत्त्वा अदृष्टरूपेण विद्यमानं सञ्चितं कर्म्मं, यथा सन्ध्यावन्दनाग्निहोत्रादि। आगामि—अस्मिँश्छरीरे क्रियमाणं कर्म्मं। वर्त्तमानशरीरारम्भकं प्रारब्धङ्कर्म्मं।

सञ्चितागामिकर्म्मणोः फलभोगेन विरोधिकर्म्मान्तरेण व ब्रह्मज्ञानेन बा विनाशः। प्रारब्धस्य तु भोगेनैव विनाशः ॥२८॥

●

कर्म्मं विभजते—कर्म्मेति। त्रैविध्यमेवाह—सञ्चितमिति। सञ्चितं निरूपयति—स्वेति। तदुदाहरति—यथेति। तत्त्वज्ञानादूर्ध्वं क्रियमाणं कर्म्मागामीत्यभिप्रेत्याह—आगामीति। प्रारब्धङ्कर्म्मं लक्षयति— वर्त्तमानेति।

"अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म्मं शुभाशुभम्। नाभुक्तं क्षीयते कर्म्मं कल्पकोटिशतैरपि ॥
प्रायश्चित्तैरपैत्येनो यदज्ञानकृतम्भवेत्। कामतो व्यवहार्य्यस्तु वचनादिह जायते" ॥

"क्षीयन्ते चास्य कर्म्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे"।
"तरति शोकं तरति पाप्मानं" "सर्वपाप्मानं तरति"।
"ज्ञानाग्निः सर्वकर्म्माणि भस्मसात्कुरुते तथा"।

सर्वपापप्रसक्तोऽपि ध्यायन्निमिषमच्युतम्। भूयस्तपस्वी भवति पङ्क्तिपावनपावनः ॥
परोक्षं ब्रह्मविज्ञानं शाब्दं देशिकपूर्वकम्। बुद्धिपूर्वंकृतं पापं कृत्स्नं दहति वह्निवत् ॥
प्रारब्धं भोगतो नश्येच्छेषं ज्ञानेन दह्यते। इतरद्वितयं कर्म्मं तद्वेषिप्रियवादिनोः ॥

"तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशाद्; इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु, भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा सम्पद्यते" इत्यादिश्रुतिस्मृतीतिहासपुराणन्यायैः सञ्चितागामिनोः फलभोगविरोधिकर्म्मब्रह्मज्ञाननाश्यत्वम्। प्रारब्धस्य भोगैकनाश्यत्वमित्याह— सञ्चितेति।

●

(२) आगामी, (३) प्रारब्ध के भेद से 'कर्म' तीन प्रकार का है। वह त्रिविध कर्म, (१) विहित, और (२) निषिद्ध के भेद
से दो प्रकार का होता है। उनमें से जिसका आचरण करना श्रुति-स्मृति के द्वारा बताया हो, उस कर्म को 'विदित' कहते हैं।
जैसे—सन्ध्यावदन, अग्निहोत्रादि यज्ञ, दान, तप, जप आदि। तथा जिन कर्मों का आचरण न करना श्रुति-स्मृति के द्वारा
कहा गया हो, उसे निषिद्ध कर्म कहते हैं। जैसे ब्रह्म हत्या, सुरा (मदिरा) पान करना आदि निषिद्ध कर्म हैं। विहित कर्म का
आचरण करने से मनुष्य को पुण्य (धर्म) की प्राप्ति होती है। तथा निषिद्धकर्म के आचरण से मनुष्य को पाप (अधर्म) की
प्राप्ति होती है। इस धर्म और अधर्म को ही 'अदृष्ट', 'अपूर्व' शब्द से भी कहा जाता है। धर्मरूप, अदृष्ट से मनुष्य को 'सुख'
मिलता है, और अधर्मरूप अदृष्ट से मनुष्य को 'दुःख' मिलता है। अब कर्म का विभाग बताते हैं—कर्मेति। वह कर्म सञ्चित-
आगामि-प्रारब्ध के भेद से तीन प्रकार का होता है। पूर्वजन्म में अथवा इस जन्म में किया हुआ कर्म, जब अपना फल न देकर
केवल अदृष्ट के रूप रहता है, तब उस कर्म को 'संचित' कहा जाता है, और तत्वज्ञान के पश्चात् किये जाने वाले कर्म को
'अगामि कर्म' कहते हैं, और सञ्चित से निकलकर जो कर्म, 'वर्तमानशरीर' का आरंभक होता है, उसे 'प्रारब्धकर्म' कहते है।
प्रसंगतः उन कर्मों के नाश की प्रक्रिया को भी जानना उचित है। संचित-आगामि दोनों कर्मों का नाश, फलभोग से या
विरोधी कर्म से, अथवा ब्रह्मज्ञान से होता है। यद्यपि क्रियारूप कर्म का नाश, फलभोग के बिना ही हो जाता है, तथापि
यहाँ पर 'कर्म' शब्द से कर्मजन्य धर्म-अधर्म (अदृष्ट) समझने चाहिये। उन अदृष्टों का नाश तो फलभोग करने से ही होता है।
उसी तरह प्रारब्ध कर्म का नाश फलभोग से हो होता है। उसका विनाश, तत्वज्ञान से अथवा विरोधी कर्मों से नहीं हो पाता।
क्योंकि—(आवश्यमिति) मनुष्य के द्वारा किये गये शुभ अथवा अशुभ कर्मों का फल उसे भोगने ही पड़ते हैं। सैकड़ों-करोड़ों
कल्प भी बीत जाएँ तो भी उनका नाश नहीं हो पाता। इन वचनों से उनका नाश नहीं हो पाता यही स्पष्ट हो रहा है।
(प्रायश्चित्तैरिति) अज्ञान से किया हुआ पाप, प्रायश्चित्त करने से नष्ट हो जाता है। इत्यादि वचनों से प्रायश्चित्तरूप विरोधी
कर्म के करने से उन पाप कर्मों का नाश बता रहे हैं। उनमें भी पाप कर्मों का तो प्रायश्चित्तरूप विरोधी कर्म के करने से नाश
होता है, किन्तु पुण्य कर्मों का नाश 'कर्मनाशा नदो' के जल स्पर्शरूप विरोधी कर्म से नाश होता है। और (क्षीयन्तइति) 'अहं
ब्रह्माऽस्मि'—इत्याकारक ब्रह्मसाक्षात्कार होने पर प्रारब्धकर्मों के अतिरिक्त (भिन्न) समस्त कर्मों का नाश हो जाता है।

किं बहुना ! प्रारब्धव्यतिरिक्तानामविद्यादीनां पञ्चक्लेशानां तत्त्वज्ञानान्नाशः। तथाहि—"अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः"। कार्य्यकारणरूपा द्विविधाऽविद्या निरूपिता। अहङ्कारस्य सूक्ष्मावस्थाऽस्मिता, इदमेव महत्तत्त्वं

●

न च सञ्चितस्य कर्म्मणः प्रायश्चित्तज्ञानाभ्यां नाशोऽस्तु आगामिकर्म्मणः कथं नाशः स्यात्तस्य तदानीमनुत्पन्नत्वादिति वाच्यम्। तस्याप्यश्लेषसम्भवेन फलाजनकतया नष्टप्रायत्वादिति तात्पर्य्यम् ॥२८॥

न केवलं ब्रह्मसाक्षात्कारेण कर्म्मनाशः[१] किन्त्वविद्यादिसर्वबन्धनिवृत्तिर्भवतीत्याह—किमिति। के ते पञ्चक्लेशा इत्याकाङ्क्षायां तान्निरूपयितुमाह—तथाहीति। पतञ्जलिसूत्रं पठति—अविद्येति। तत्राविद्या पूर्वमेव निरूपितेत्याह—कार्य्येति।

●

(ज्ञानाग्निरिति) क्योंकि ज्ञानरूप अग्नि, सब कर्मों को भस्म कर देता है। उसीतरह अन्यान्य वचन भी इसी तथ्य को बता रहे हैं। जैसे—प्रारब्धकर्म, केवल भोग से ही निवृत्त होता है। ज्ञानी मनुष्य, फलभोग के द्वारा प्रारब्ध कर्म का नाश होने पर शरीर पात के पश्चात् निर्विशेष ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि प्रारब्ध कर्म का नाश, फलभोग करने से ही होता है।

शंका—संचित कर्मों का नाश, प्रायश्चित्त करने से अथवा तत्त्वज्ञान से होता है। किन्तु तत्त्वज्ञान के पश्चात् किये जाने वाले जो आगामी कर्म हैं, उनका नाश, तत्त्वज्ञान से कैसे संभव हो सकेगा ?

समा०—ब्रह्मसाक्षात्कार (ब्रह्मज्ञान=तत्त्वज्ञान) के प्रभाव से उस ज्ञानी पुरुष को उन आगामी कर्मों का लेप नहीं हो पाता। उस कारण वे आगामी कर्म उसके लिये, फलजनक (फलोत्पादक) नहीं बन पाते। उन आगामी कर्मों का फलजनक न हो पाना ही उनका नाश है। इसी तथ्य को ब्रह्मसूत्रकार व्यास भगवान् ने अपने ब्रह्मसूत्र के द्वारा बताया है—कि ब्रह्मसाक्षात्कार किये हुए ज्ञानी पुरुष के पूर्व संचित कर्मों का नाश हो जाता है, और ज्ञानोत्तर किये हुए आगामी कर्मों का लेप उसे नहीं हो पाता। इत्यादि श्रुति-स्मृति-इतिहास-पुराण-न्यायादि के द्वारा सञ्चित और आगामी कर्मों का फलभोग विरोधी कर्म से अथवा ब्रह्मज्ञान से नाश होना बताया गया है। किन्तु प्रारब्धकर्म का नाश तो केवल भोग भुगतने से ही हो पाता है।

शंका—संचित कर्मों का नाश, प्रायश्चित्त अथवा ज्ञान से भले ही हो जाय, किन्तु आगामी कर्म का नाश कैसे हो सकेगा ? क्योंकि वे आगामी कर्म तो उस समय उत्पन्न ही नहीं हुए हैं।

समा०—उन आगामी कर्मों का अश्लेष (लेपाभाव) संभव रहने से वे फल के अजनक अर्थात् फल के उत्पादक नहीं बन पाते। उनकी फलोत्पादकता का न होना ही उनका नाश है।

ज्ञानी पुरुष के सञ्चित कर्मों का नाश, ज्ञान से और ज्ञानोत्तर कर्मों का लेप उसे न होने की बात श्रुति ने भी बताई है—जैसे मूंजकी (ईषिकाकी) तूल (पुंज=समूह) अग्नि में डलते ही शीघ्र दग्ध हो जाता है, उसी तरह ज्ञानी पुरुष के संचित कर्म, ब्रह्मज्ञानरूप अग्नि से शीघ्र ही दग्ध हो जाते हैं—इस श्रुति ने तत्त्वज्ञानी पुरुष के पहले संचित कर्मों का नाश बताया है। और ज्ञानोत्तर कर्मों से लिप्त न हो पाने की बात को यह अन्य श्रुति बता रही है कि जैसे जल में रहने वाले कमलपत्र को जल का लेप नहीं हो पाता अर्थात् वह जल से गीला नहीं होता, उसी तरह ज्ञानी पुरुष को ज्ञानोत्तर कर्मों का लेप नहीं होता—इस श्रुति ने ज्ञानी मनुष्य की आगामी कर्मों से अलिप्तता बताई है।

उक्त सूत्र में तथा श्रुति में प्रयुक्त जो 'पाप' शब्द है, वह 'पुण्य' का भी उपलक्षण है। अर्थात् 'पाप' शब्द से पाप और पुण्य दोनों को समझना चाहिये। अतएव 'सुहृदः साधुकृत्यं द्विषन्तः पापकृत्यम्'—इस श्रुति में ज्ञानी पुरुष की सेवा करने वाले भक्तों को उसके (ज्ञानी पुरुष के) आगामी पुण्यकर्मों की प्राप्ति बताई गयी है, और उससे द्वेष करनेवाले निन्दकों को उसके पाप कर्मों की प्राप्ति बताई गयी है। अतः 'पाप' शब्द से 'पुण्य-पाप' दोनों का ग्रहण करना उचित है ॥२८॥

किञ्च—'ब्रह्मसाक्षात्कार' से ज्ञानी पुरुष के केवल कर्मों का ही नाश नहीं होता, अपितु अविद्यादि पंचक्लेशों का भी नाश हो जाता है। वे पञ्चक्लेश कौन से हैं ? यह जिज्ञासा होने पर उनका निरूपण करते हैं—तथाहीति। योगशास्त्रकार महर्षि—पतञ्जलि ने उन पंचक्लेशों को नामतः एक सूत्र में बताया है कि "(१) अविद्या, (२) अस्मिता, (३) राग, (४) द्वेष,

१. अभ्युपेत्यवादोऽयम्। साक्षात्कारेणाविद्यानिवृत्तौ कर्मसद्भावासम्भवात् कर्माभासस्य च फलजनकतायां मानाभावादिति।

सामान्याहङ्कार इति चोच्यते। राग उक्तः। द्वेषः क्रोधः। स्वीकृतस्य पुनस्त्यागाऽसहिष्णुत्वमभिनिवेशः। एतेषां पञ्चानाम्ब्रह्म-साक्षात्कारान्निवृत्तिः। "ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशै"रित्यादिश्रुतेः। पाशैः पञ्चक्लेशैरित्यर्थः॥ २९॥

●

अस्मितां निरूपयति—अहङ्कारस्येति। सूक्ष्मावस्था कारणावस्थेत्यर्थः। कपिलपतञ्जलिभ्याम् इदमेव महत्तत्त्वमित्युच्यते। वेदान्तिभिः सामान्याहङ्कार इत्युच्यते। ताभ्यां प्रकृतेर्महान्महतोऽहङ्कार इति सृष्टिक्रमाभ्युपगमाद्, अस्माभिर्व्यष्ट्यहङ्कारस्य सामान्याहङ्कारापरपर्यायभूतसूक्ष्माकाशादिसात्विकांशसमुदायादुत्पत्तिस्वीकारात् व्यष्ट्यहङ्कारसूक्ष्मावस्था सामान्याहङ्कारो वक्तुं शक्यते।

न च प्रमाणाभावः, पूर्वमेवोक्तत्वादिति भावः। तत्र प्रमाणमाह—ज्ञात्वेति। आदिशब्देन "एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सौम्य गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति"। "यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिता अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥"

इत्यादिश्रुतयो गृह्यन्ते। स्मृतिरपि, "ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मन" इत्यादि।

"ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिरिति" वाक्यशेषानुरोदेनोदाहृतश्रुतिं व्याचष्टे—पाशैरिति। अस्यार्थः—देवं स्वप्रकाशमहम्ब्रह्मास्मीति साक्षात्कृत्वाऽविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशैः पञ्चभिः क्लेशापरपर्य्यायपाशशब्दाभिधेयै-र्मुच्यते इत्यर्थः। एतत्सर्वमभिप्रेत्य भगवता वार्तिकाचार्य्येणाप्युक्तम्

"यः पश्येत्सर्वगं शान्तमानन्दात्मानमद्वयम्। न तेन किञ्चिदाप्तव्यं ज्ञातव्यं वावशिष्यते"॥
कृतकृत्यो भवेद्विद्वान् जीवन्मुक्तो भवेत्सदा इति॥ २९॥

●

और (५) अभिनिवेश—ये पञ्च (पांच) क्लेश हैं। उनमें से अविद्या'—'कार्य अविद्या' और 'कारण अविद्या' के भेद से दो प्रकार की होती है। दोनों प्रकार की अविद्या को पहले बता दिया गया है।

अस्मिता का निरूपण करते हैं—अहङ्कारस्येति। अहंकार की कारणरूप जो सूक्ष्मावस्था, उसे 'अस्मिता' कहते हैं। अर्थात् अहंकार की सूक्ष्मावस्था (कारणावस्था) को ही अस्मिता कहते हैं। इसी अस्मिता को सांख्यशास्त्र के प्रवर्तक कपिल महामुनि और योगशास्त्र के प्रवर्तक महर्षि पतञ्जलि 'महत्तत्त्व' के नाम से सम्बोधित करते हैं। और वेदान्ती विद्वान् उसी अस्मिता को 'सामान्य अहङ्कार' के नाम से कहते हैं। कपिल और पतञ्जलि (सांख्य और योग) ने प्रकृति से महत्तत्त्व और महत्तत्व से अहङ्कार—यह सृष्टिक्रम बताया है। किन्तु हम वेदान्ती लोग सामान्याऽहंकार का पर्यायभूत सूक्ष्म आकाशादि के सात्त्विक-अंश समूह से 'व्यष्टि अहंकार' की उत्पत्ति मानते हैं। अतः व्यष्टि अहंकार की सूक्ष्म अवस्था को 'सामान्याहङ्कार' के नाम से कहा जा सकता है।

राग—'यह वस्तु मुझे प्राप्त हो'—इत्याकारक जो अन्तःकरणवृत्तिविशेष है, उसे 'राग' कहते हैं।

द्वेष—क्रोध को ही 'द्वेष' कहते हैं।

अभिनिवेश—'अहम्', 'मम' अर्थात् मैं और मेरा कहकर जो देहादि पदार्थ अपनाये जाते हैं, उनका त्याग न कर पाना ही 'अभिनिवेश' है। अर्थात् त्याज्य (हेय) का त्याग न कर सकना ही अभिनिवेश है। इन पंचक्लेशों को आत्मपुराण के अष्टम अध्याय में विस्तार से बताया गया है। इन पंचक्लेशों की भी ब्रह्मज्ञान (ब्रह्मसाक्षात्कार) से ही निवृत्ति हो जाती है। उक्त कथन में प्रमाण उपस्थित करते हैं—ज्ञात्वेति। (ज्ञात्वेति) अर्थात् यह अधिकारी पुरुष 'स्वयंप्रकाश परब्रह्म' का 'अहं ब्रह्माऽस्मि' इत्याकारक अनुभव करता हुआ अविद्यादि पञ्चक्लेशरूप पाशों से मुक्त हो जाता है। इत्यादि श्रुति वचन, पंचक्लेशरूप पापों से मुक्त होना बता रहे हैं। 'इत्यादि श्रुतिः'—यहां के 'आदि' शब्द से अन्यान्य श्रुतियाँ भी उक्त तथ्य की समर्थक बताई जा सकती हैं।

भगवान् वार्तिकाचार्य ने भी कहा है—सर्वव्यापक, शान्त, आनन्द, अद्वितीय आत्मा का जो साक्षात्कार कर लेता लेता है उसके लिये पाने या जानने योग्य कुछ बचता नहीं। वह विद्वान् कृत कृत्य हो जीवन्मुक हो जाता है॥ २९॥

तिष्ठतु तावत्प्रासङ्गिकम्। एवं सूक्ष्मशरीरोत्पत्तिनिरूपिता।

पञ्चीकृतभूतानि स्थूलभूतानि। पञ्चीकरणं तु पूर्वोक्तानामाकाशादीनां तामसांशान् एकैकं द्विधा[1] समं विभज्य तत्रैकं चतुर्धा विभज्य स्वांशं परित्यज्य इतरांशेषु योजनं पञ्चीकरणम्[2] "तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकं करवाणीति" त्रिवृत्करणश्रुतेः पञ्चीकरणस्याप्युपलक्षणत्वात् पञ्चीकरणं प्रामाणिकमेव ॥ ३० ॥

●

प्रासङ्गिकं परिसमाप्य प्रकृतमनुसरति—तिष्ठत्विति। प्रसङ्गादागतं प्रासङ्गिकमुपसंहरति-एवमिति। एवमुक्तरीत्या यथोक्तक्रमेणेति यावत्। एवं वार्तिककृदपि सृष्टिक्रममाह स्म

"आसीदेकं परब्रह्म नित्यमुक्तमविक्रियम्। तत्स्वमायासमावेशाद्बीजमव्याकृतात्मकम् ॥
तस्मादाकाशमुत्पन्नं शब्दतन्मात्ररूपकम्। स्पर्शात्मकस्ततो वायुस्तेजोरूपात्मकं ततः ॥
आपोरसात्मकास्तस्मात्ताभ्यो गन्धात्मिका मही। शब्दैकगुणमाकाशं शब्दस्पर्शगुणो मरुत् ॥
शब्दस्पर्शरूपगुणैस्त्रिगुणं तेज उच्यते। शब्दस्पर्शरूपरसगुणैरापश्चतुर्गुणाः ॥
शब्दस्पर्शरूपरसगन्धैः पञ्चगुणा मही। तेभ्यः समभवत्सूत्रं लिङ्गं सर्वात्मकं महत्" इति ॥

तेभ्योऽपञ्चीकृतभूतसात्त्विकांशराजसांशेभ्यः समष्टिव्यष्ट्यात्मकं लिङ्गशरीरमुत्पन्नमित्यर्थः।

एवं सूक्ष्मशरीरोत्पत्तिं सप्रपञ्चां निरूप्य स्थूलभूतोत्पत्तिं वक्तुं तानि लक्षयति—पञ्चीकृतेति। तान्यपञ्चीकृतभूतानां तामसांशेभ्यो जायन्त इति शेषः। पञ्चीकरणप्रक्रियामनुभाषते—पञ्चीकरणन्त्विति।

●

अभी तक प्रासंगिक कथा चल रही थी, उसे समाप्त कर अब पुनः प्रकृत का अनुसरण कर रहे हैं—तिष्ठत्विति। प्रसंगवशात् सूक्ष्म शरीरोत्पत्ति का निरुपण अभी तक यथोक्त क्रम से किया गया। इसीप्रकार वार्तिककार ने भी सृष्टिक्रम को बताया है।

उन अपञ्चीकृत भूतों के सात्त्विक अंशों से समष्टि-लिङ्ग शरीर और उन्हीं भूतों के राजस अंशों से व्यष्टिलिङ्ग शरीर उत्पन्न हुए। इस रीति से सूक्ष्म शरीरोत्पत्ति का सप्रपञ्च (सविस्तर) निरूपण किया गया। अब स्थूल भूतों की उत्पत्ति बताने के लिये उन्हें लक्षित कर रहे हैं—पञ्चीकृतेति। अपञ्चीकृतभूतों (सूक्ष्मभूतों) के तामस अंशों से ये स्थूलभूत पेदा होते हैं। पञ्चीकरण की प्रक्रिया को प्रदर्शित करने के लिये कह रहे हैं—पञ्चीकरणं त्विति। पञ्चीकरणभाव को प्राप्त हुए जो पंचभूत हैं उन्हीं को 'स्थूलभूत' कहते हैं। पञ्चभूतों का पंचीकरण करने का प्रकार यह है—तमोंशप्रधान पूर्वोक्त जो आकाश आदि पाँच सूक्ष्मभूत हैं, उन भूतों में से एक-एक भूत के प्रथमतः समान रूप से भाग करने चाहिये। उन दोनों में से एक-एक भाग को पृथक्-पृथक् रखे दूसरे भाग के पुनः चार-चार भाग करे। उन चारों भागों को यथाक्रम दूसरे चार भूतों के आधे भाग में मिला देना चाहिये—इसी को पञ्चीकरण कहते हैं। 'उनमें से प्रत्येक को त्रिवृत करूं'—यह 'त्रिवृत्करण बोधक श्रुति उपलक्षणा से पंचीकरण को भी बताती है अतः पंचीकरण प्रमाणसिद्ध ही है। जैसे—एक आकाश के समान दो भाग किये। उन दो भागों में से एक भाग को तो पृथक् रख दिया। और दूसर भाग के पुनः चार भाग किये। उन चार भागों में से एक भाग तो 'वायु' में मिलाया, और दूसरा भाग 'तेज' में मिलाया, और तीसरा भाग 'जल' में मिलाया और चौथा भाग 'पृथिवी' में मिला दिया।

इसी प्रकार 'वायु' के भी दो समान भाग किये। एक भाग को पृथक् रख दिया। दूसरे भाग के पुनः चार भाग किये। उनमें से एक भाग 'आकाश' में मिलाया, दूसरा भाग 'तेज' में मिलाया। तीसरा भाग 'जल' में मिलाया। चौथा भाग 'पृथिवी' में यिलाया। यही रीति 'तेज' आदि तीनों भूतों के विभाग में भी समझनी चाहिये। इस प्रकार से आकाशादि पंचभूतों का आधा-आधा भाग तो अपना सिद्ध है, और आधा-आधा भाग वायु आदि चार भूतों में सिद्ध रहता है।

१. क, ग, द्विधा विभज्येति पाठः। सीरीज पुस्तके।
२. योजनमित्यतः परं त्रिवृतमित्यतश्च पूर्वं तेषां पृथ्वी मलमांसमनः, जलं मूत्रलोहितप्राणाः, तेजोऽस्थिमज्जात्वक् इति पाठः सीरीजपुस्तके अधिकः, पंजीकरणं, तासामिति च पदे तत्र न स्तः।

ननु छान्दोग्ये तेजोऽबन्नानां सृष्टिमुक्त्वा त्रिवृत्करणप्रतिपादनात् पञ्चीकरणप्रक्रियाव्युत्पादनमसङ्गतम्, तत्र प्रमाणाभावात्। न च सृष्टिपरिपूर्त्त्यै भूतत्रयसर्गश्रुतेर्वियदधिकरणन्यायेन तैत्तरीयकश्रुत्यनुसारेण च "आकाशं वायुं च सृष्ट्वा तेजोऽसृजतेति" व्याख्यातत्वेन पञ्चीकरणस्याप्युचितत्वादिति वाच्यम्, त्रिवृत्करणेनापि सर्वव्यवहारोपपत्तेरित्याशङ्कयाह—तासामिति। तासां पृथिव्यप्तेजोरूपाणां मध्ये एकैकां देवतां त्रिवृतं यथा भवति तथा करवाणि। एषा च प्रक्रिया—पृथिव्यप्तेजसां त्रयाणां भूतानां मध्ये एकैकं भूतं द्विधा विभज्य तत्राप्येकं भागं द्विधा विभज्य स्वांशं परित्यज्येतरयोर्योजनीयं त्रिवृत्करणम्। एतदभिप्रायेण सूत्रकारोऽप्याह "सञ्ज्ञामूर्त्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशादि"ति।

श्रुतिसूत्रप्रसिद्धत्वेन भूतानां त्रिवृत्करणमेव, न पञ्चीकरणमिति वाचस्पतिमिश्राः।

आचार्यास्तु छान्दोग्यश्रुतौ पञ्चभूतसर्गविवक्षायां त्रिवृत्करणमेव न पञ्चीकरणमिति प्रतिपादने प्रकरणविरोधप्रसङ्गाद् आकाशवाय्वोः शब्दस्पर्शानुपलब्धिप्रसङ्गाच्चानिच्छतापि पञ्चीकरणमेवाभ्युपगन्तव्यम्। यदि पञ्चीकरणाभावेऽपि आकाशवाय्वोः शब्दस्पर्शोपलब्धिः स्यात्तर्हि तद्वदेव त्रिवृत्करणाभावेऽपि तेजोऽबन्नेषु रूपाद्युपलब्धिप्रसक्त्या व्यवहारोपपत्तौ त्रिवृत्करणमपि न

●

कुछ ग्रन्थकारों का कहना है कि—एक-एक भूत के दो विषम भाग करने चाहिये। अर्थात् एक भाग तो 'चार अंश रूप' और दूसरा भाग, 'एक अंश रूप' उस एक अंश रूप अल्प भाग के पुनः पाँच करके यथाक्रम उन पाँच भूतों में एक-एक भाग को मिला देना ही पंचीकरण है। पञ्चीकरण का यह भी एक प्रकार है। यह प्रकार आत्मपुराण के ग्यारहवें अध्याय में बताया है।

शंका०—छान्दोग्य उपनिषद् में तेज, जल और अन्न (पृथिवी) इन तीन भूतों की उत्पत्ति (सृष्टि) बताकर 'तासां त्रिवृतमेकैकं करवाणि'—इन श्रुति के द्वारा उन तेज आदि तीन भूतों का त्रिवृत्करण' बताया गया है। अतः पञ्चीकरण प्रक्रिया का प्रतिपादन करना असंगत है। क्योंकि पञ्चीकरण करने में कोई प्रमाण नहीं है। तेज आदि तीन भूतों का त्रिवृत्करण करने की प्रक्रिया यह है—एक 'तेज' के दो भाग, समान रूप से किये। उन दो भागों में से एक भाग को पृथक् रख दे। दूसरे भाग के पुनः दो भाग करे। उन दो भागों में से एक भाग 'जल' में मिला देना चाहिये। दूसरा भाग, 'पृथिवी' में मिला देना चाहिये। यही रीति 'जल' तथा 'पृथिवी' में भी समझनी चाहिये—यही त्रिवृत्करण है। इस त्रिवृत्करण में उक्त श्रुति तथा भगवान् व्यास का सूत्र प्रमाण है। किन्तु उपर्युक्त पञ्चीकरण में कोई श्रुति या सूत्र प्रमाण नहीं है। इस लिये पञ्चीकरण का निरुपण करना संगत नहीं है।

यदि यह कहें कि तीन भूतों की सृष्टि का प्रतिपादन करने वाली श्रुति की, वियदधिकरण न्याय से और तैत्तिरीयक श्रुति के अनुसार 'आकाशं वायुं च सृष्ट्वा तेजोऽसृजत"—यह व्याख्या की गई है। अतः पञ्चीकरण-प्रतिपादन को भी उचित कहा जा सकता है।

किन्तु यह कहना उचित नहीं है, क्योंकि त्रिवृत्करण से ही सम्पूर्ण व्यवहार उपपन्न हो जाता है।

उक्त आशंका को ही अभिव्यक्त करते हैं—तासामिति। अर्थात् तासां अर्थात् पृथिवी, अप्, तेजोरूप देवताओं में से एक-एक देवता का त्रिवृत्करण जैसे हो सके उस तरह से करना चाहिये। यही प्रक्रिया 'पृथिवी, अप्, तेज'—इन तीन भूतों में से एक-एक भूत के दो विभाग करके, उनमें भी एक भाग को द्विधा विभक्त करे और अपने अंश को छोड़कर अन्य दो अंशों में उसे मिला देने को त्रिवृत्करण कहते हैं। इसी अभिप्राय से सूत्रकार भी 'त्रिवृत्कुर्वतः' कहा है। एवं च त्रिवृत्करण के निरूपण में श्रुति-सूत्र आदि प्रमाणों के उपलब्ध रहने से 'त्रिवृत्करण' की ही सर्वत्र प्रसिद्धि है। अतः "भूतानां त्रिवृत्करणमेव न पञ्चीकरणम्" इति।

समा०—आचार्य तो यह बताते हैं कि तैत्तिरीयश्रुति ने आकाशादि पंचभूतों की उत्पत्ति का निरूपण किया है। उस श्रुति के विरोध से बचने के लिये छान्दोग्य श्रुति में आकाश, वायु की उत्पत्ति के पश्चात् ही तेज आदि तीन भूतों की उत्पत्ति बताई गई है। छान्दोग्यश्रुति तथा व्याससूत्र में जो त्रिवृत्करण बताया है, उसे पञ्चीकरण का भी उपलक्षण समझना चाहिये। 'त्रिवृत्करणमेव न पञ्चीकरणम्' यह कहने पर प्रकरणविरोध उपस्थित होगा।

यदि कदाचित् पञ्चीकरण का स्वीकार नहीं करेंगे तो आकाश और वायु के शब्द, स्पर्श गुणों की पृथिवी आदि में प्रतीति नहीं होनी चाहिये, किन्तु पृथिवी आदि में शब्दस्पर्श गुणों की प्रतीति तो होती है। अतः पंचीकरण को अप्रामाणिक न

"वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वाद" इति यायेन स्वांशभूयस्त्वाद्विशेषव्यपदेशोऽपि सम्भवति। एवं च सति आकाशे शब्दोऽभिव्यज्यते, वायौ शब्दस्पर्शौ, तेजसि शब्दस्पर्शं रूपाणि, जले शब्दस्पर्शरूपरसाः, पृथिव्यां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः। तथाच

●

सिद्ध्येत्। ततश्च श्रुतेरप्रामाण्यं प्रसज्येत ततश्च श्रुतेरप्रामाण्यपरिहाराय सर्वत्र व्यवहारोपपत्तेश्च श्रुतिसूत्रयोः पञ्चीकरणं विवक्षितमेवेति त्रिवृत्करणश्रुतिसूत्रयोः पञ्चीकरणस्याप्युपलक्षणत्वात्पञ्चीकरणं प्रामाणिकमित्याहुः[1] ॥ ३० ॥

ननु यदि पञ्चीकरणेन सर्वेषां भूतानामेकीभावस्तर्हीयं पृथिवीदं जलमित्यादिविशेषव्यपदेशः कथं स्यादित्याशङ्का सूत्रेण परिहारमाह—वैशेष्यादिति। विशेषस्य भावो वैशेष्यं स्वांशभूयस्त्वम् तस्मात् तत्तद्वादः इयं पृथिवीदं जलमित्यादि विशेष-व्यपदेश इति सूत्रार्थः। उक्तमेवार्थमनुसन्दधाति—स्वांशेति। पञ्चीकरणस्य प्रयोजनमाह—एवञ्चेति। पञ्चीकरणे कृते सतीत्यर्थः। आकाशे पञ्चीकृताकाशे; एवं सर्वत्र द्रष्टव्यम्।

●

समझकर उसे प्रामाणिक समझना चाहिये और न चाहते हुए भी उसका स्वीकार करना चाहिये।

यदि पञ्चीकरण के अभाव में भी आकाश-वायु के शब्द-स्पर्श गुणों की उपलब्धि की संभावना करोगे तो उसीतरह त्रिवृत्करण के अभाव में भी 'तेज, अप्, अन्न' में रूप आदि गुणों की उपलब्धि का प्रसंग प्राप्त होने से व्यवहार की उपपत्ति हो ही जायगी तब त्रिवृत्करण भी सिद्ध नहीं हो सकेगा। तब श्रुति का अप्रामाण्य प्रसक्त होगा। अतः श्रुति के अप्रामाण्य का परिहार करने के लिये और सर्वत्र व्यवहारोपपत्त्यर्थं श्रुति और सूत्र में 'पञ्चीकरण' को नियतरूप से विवक्षित किया गया है। एवंच त्रिवृत्करण को श्रुति और सूत्र के अनुरोध से पञ्चीकरण का भी उपलक्षण समझकर पञ्चीकरण को प्रामाणिक ही समझना चाहिये ॥३०॥

शंका—पञ्चीकरण के द्वारा समस्त भूतों का एकीभाव यदि माना जाय तो 'यह पृथिवी है', 'यह जल है'—यह विशेष व्यवहार नहीं हो सकेगा, किन्तु होता तो है, तो वह क्यों कर होता है?

समा०—ब्रह्मसूत्र के आधार पर उक्त शंका का समाधान किया जाता है। पंचीकरण करने पर भी उन पृथिवी आदि भूतों में अपना-अपना अंश, अधिक रहता है, और अन्य भूतों का अंश अल्प होता है। अतः उस अधिक अंश को लेकर ही 'यह पृथिवी', 'यह जल'—इत्याकारक विशेष व्यवहार हुआ करता है। एवंच पंचीकरण के होने पर भी विशेष व्यवहार की उपपत्ति में कोई रुकावट नहीं है। ब्रह्मसूत्रकार व्यास ने अपने सूत्र 'वैशेष्यात्तु' के द्वारा उक्त व्यवस्था का प्रतिपादन किया है।

शंका—अधिक अंश के अनुरोध से जब विशेष व्यवहार हो ही जाता है, तब पंचीकरण करने की आवश्यकता क्यों हुई?

समा०—आकाशादि पंचभूतों का पंचीकरण होने से ही पंचीकृत आकाश में 'एक शब्दगुण' ही अभिव्यक्त हो पाता है। तथा पंचीकृत वायु में 'शब्द और स्पर्श' ये दो गुण अभिव्यक्त हो पाते हैं। तथा पंचीकृत तेज में 'शब्द, स्पर्श, रूप' ये तीन गुण अभिव्यक्त हो पाते हैं। तथा पञ्चीकृत जल में 'शब्द, स्पर्श, रूप, रस'—ये चार गुण अभिव्यक्त हो पाते हैं। तथा पञ्चीकृत पृथिवी में 'शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध'—ये पाँच गुण अभिव्यक्त हो पाते हैं।

यद्यपि वे शब्दादिक पाँचों गुण, यथाक्रम अपंचीकृत आकाशादि पंचभूतों में भी विद्यमान थे, तथापि उन अपंचीकृत (सूक्ष्म) भूतों में रहनेवाले वे शब्दादि गुण प्रत्यक्ष के योग्य नहीं थे। किन्तु पञ्चीकरण करने के अनन्तर उन पञ्चीकृत भूतों में वे शब्दादि गुण, प्रत्यक्ष के योग्य बन पाये। प्रत्यक्ष के योग्य हो पाना ही उन गुणों का अभिव्यक्त होना है। उन पाँच गुणों में भी एक-एक भूत का एक-एक गुण ही 'असाधारण' रहता है. और शेष अन्य गुण, अपने-अपने कारण से उसमें, आते हैं। जैसे—'पृथिवी' में उसका अपना असाधारण गुण, एकमात्र 'गन्ध' है। और अन्य शब्दादि चार गुण, आकाशादि कारणों से उसमें आकर प्राप्त हुए हैं। इसी प्रकार जल आदि में भी समझना चाहिए।

---

१. वस्तुतस्तु 'वायुश्च वायुमात्रा चाकाशश्चाकाशमात्रा चे' ति प्रश्नश्रुतेः श्रौतमेव पञ्चीकरणमिति साम्प्रदायिकाः। अतः 'श्रुतियुक्तिसम्प्रदायैः पञ्चीकरणसाधने। सत्यकस्मात्कुतोऽद्राक्षीद् वाचस्पतिमतं शुभम् ॥' इति।

पञ्चीकृतपृथिव्याः ब्रह्माण्डमुत्पन्नं, तदन्तर्वर्त्तिलोकाः चतुर्दश ब्रह्माण्डान्मनुशतरूपे जाते, ब्रह्माण्डान्तर्वर्त्तिपृथिव्या ओषधय उत्पन्नाः, ओषधिभ्योऽन्नम्, पितृभ्यां भुक्तान्नपरिणामरेतःशोणितद्वारा स्थूलशरीरमुत्पन्नम्। तच्चतुर्विधम्—जरायुजमण्डजं स्वेदजमुद्भिज्जञ्चेति। मनुष्यादिशरीरं[1] जरायुजम्, पक्षिपन्नगादिशरीरमण्डजम्, यूकामशकादिशरीरं स्वेदजम्, तृणगुल्मादिशरीरमुद्भिज्जम् ॥३१॥

उक्तं स्थूलशरीरं पुनः प्रकारान्तरेण द्विविधं समष्टिव्यष्टिभेदात्। पञ्चीकृतपञ्चमहाभूततत्कार्य्यब्रह्माण्डान्तं

●

"आपो वार्कस्तद्यदपांशर आसीत्तत्समहन्यत सा पृथिव्यभवत्तस्यामश्राम्यत्तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य तेजो रसो निवर्त्ततारिन"रिति श्रुतिमाश्रित्य पञ्चीकृतपृथिव्याः ब्रह्माण्डोत्पत्तिमाह—तथेति। "स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत् स हैतावानास यथा स्त्रीपुमांसौ सम्परिष्वक्तौ स इममेवात्मानं द्वेधापातयत्ततः पतिश्च पत्नी चाभवतामि"ति श्रुतिमाश्रित्य ब्रह्माण्डात्मनो विराट्पुरुषात् मनुशतरूपयोरुत्पत्तिमाह—ब्रह्माण्डादिति।

"पृथिव्या ओषधयः ओषधीभ्योऽन्नमन्नात्पुरुष" इति श्रुत्युक्तक्रममाश्रित्य पृथिव्याः सकाशादोषध्याद्युत्पत्तिक्रमेण स्थूलशरीरोत्पत्तिमाह—ब्रह्माण्डान्तर्वर्त्तीति। स्थूलशरीरं विभजते—तदिति। जरायुजादीनि दर्शयति—मनुष्यपश्वादीति[2] ॥३१॥

प्रकारान्तरेण स्थूलशरीरं विभजते—उक्तमिति। समष्टिस्थूलशरीरं व्युत्पादयति—पञ्चीकृतेति। पक्षान्तरमाह—

●

पञ्चीकृत पृथिवी से ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति बता रहे हैं—तथाचेति। पञ्चीकृत पृथिवी आदि भूतों से ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति हुई। उस ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत, ऊपर के सात लोक और नीचे के सात लोक अर्थात्, चतुर्दश (चौदह) लोक उत्पन्न किये गये।

इस श्रुति के अनुसार ब्रह्माण्डरूप विराट् पुरुष से 'मनु' और 'शतरूपा' की उत्पत्ति हुई। मनु और शतरूपा से मनुष्यादि की सृष्टि हुई इत्यादि प्रसंग, आत्मपुराण के चतुर्थाध्याय में बताया गया है।

ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत जो पञ्चीकृत पृथिवी है, उससे औषधियाँ अन्न आदि उत्पन्न हुए। उस अन्न का भोजन स्त्री-पुरुषों ने किया। पुरुष के शरीर में जो अन्न पहुँचा वह अन्न तो 'शुक्र' (रेत) के रूप में परिणत हुआ, और स्त्री के शरीर में जो अन्न पहुँचा, वह 'शोणित' (रज) के रूप में परिणत हुआ। पुरुष के वीर्य को 'शुक्र' कहते हैं, और स्त्री के वीर्य को 'शोणित' कहते हैं। पिता-माता के शुक्र-शोणित से मनुष्यादि के 'स्थूल शरीर' उत्पन्न हुए। वह स्थूल शरीर भी (१) जरायुज, (२) अण्डज, (३) स्वेदज और (४) उद्भिज्ज के भेद से चार प्रकार का होता है। माता के उदर में गर्भ का आच्छादक जो चर्मविशेष है, उसे 'जरायु' कहते हैं। मनुष्य, गो, अश्वादिपशुओं के शरीर 'जरायुज' कहे जाते हैं। अण्डे से उत्पन्न होनेवाले शरीरों को 'अण्डज' कहते हैं। जैसे—पक्षी, सर्प, छिपकली आदि के शरीरों को अण्डज कहा जाता है।

स्वेद (पसीने) से उत्पन्न होनेवाले शरीरों को स्वेदज कहते हैं। जैसे—यूका, मशक, मत्कुण, कृमि आदि के शरीर, स्वेदज होते हैं। भूमि को फोड़कर बीज से जो शरीर उत्पन्न होते हैं, उनको 'उद्भिज्ज' कहते हैं। जैसे—वृक्ष, लता, तृण आदि के शरीर उद्भिज्ज हैं। मनुष्यादि के शरीर के समान ही वृक्ष, लता आदि के शरीर में भी प्राण रहते हैं, वे भी जीवात्मा के शरीर हैं, अतः वे भी जीवधारी (सजीव) हैं, यह सभी के प्रत्यक्ष है, अनादिकाल से उनकी सजीवता का ज्ञान भारतीयों को है। किन्तु अंगरेजी शिक्षा के फलस्वरूप आज के अंगरेजी सभ्यता के उच्छिष्ट भोजी बड़े-बड़े शिक्षाविद् भी वृक्ष को न्यूटरजण्डर ही कहते फिरते हैं, और न्यूटर की परिभाषा 'निर्जीव' पढ़ते-पढ़ाते भी हैं। आज के स्वतन्त्र भारत में भी नई शिक्षा नीति का ढिंढोरा पीटनेवाले उच्छिष्ट भोजी शिक्षाशास्त्र के वैदुष्य का अभिमान रखनेवाले महान् शिक्षाशास्त्री इस भूल को नहीं समझ पाये। यह है देश का दुर्भाग्य। न समझ पाने का एकमात्र कारण भारतीय शिक्षा का न होना ही है ॥३१॥

प्राकारान्तर से स्थूलशरीर का विभाग बताते हैं—उक्तमिति। 'समष्टि' और 'व्यष्टि' के भेद से वही पूर्वोक्त 'स्थूलशरीर' पुनः दो प्रकार का है। पूर्वोक्त पञ्चीकृत पञ्च महाभूत तथा उन भूतों का कार्यरूप ब्रह्माण्ड के अन्तर्वर्ती कार्य-

१. मनुष्यपश्वादिशरीरमिति टीकानुसारी पाठः।
२. क्वचित् कोशे मनुष्यादीतीत्येव पाठः।

तदन्तर्वर्तिकार्यं सर्वं समष्टिरित्युच्यते। अथवा व्यक्तिषु गोत्वादिवत् सर्वव्यष्टिष्वनुस्यूतं पञ्चीकृतभूतकार्यं ब्रह्माण्डात्मकं व्यापकं समष्टिः। वनवत्सकलस्थूलशरीरसमुदायो वा समष्टिरित्युच्यते। एतदुपहितं चैतन्यं विराट् वैश्वानर इति चोच्यते। विविधं राजमानत्वात्, सर्वनराभिमानित्वाच्च। प्रत्येकं स्थूलशरीरं गवादिव्यक्तिवद्व्यावृत्तं व्यष्टिरित्युच्यते। एतदुपहितं चैतन्यं विश्व इत्युच्यते सूक्ष्मशरीरमपरित्यज्य स्थूलशरीरे प्रविष्टत्वात् ॥३२॥

अनयोः समष्टिव्यष्टयोः सामान्यविशेषयोरिव तादात्म्याभ्युपगमादेतदुपहितविश्ववैश्वानरयोरपि तादात्म्यम् ॥३३॥

●

अथवेति। तत्रैव मतान्तरमाह—वनवदिति। ततः किम्? तत्राह—एतदिति। समष्टिस्थूलशरीरोपहितचैतन्ये विराड्वैश्वानरशब्दयोः प्रवृत्तिनिमित्तमाह—विविधेति। व्यष्टिस्वरूपं व्युत्पादयति—प्रत्येकमिति। व्यष्टिस्थूलशरीरोपहितचैतन्यस्य विश्वसंज्ञामाह—एतदिति। तत्र युक्तिमाह—सूक्ष्मेति ॥३२॥

ननु समष्टिस्थूलशरीरोपाधिकवैश्वानरज्ञानं व्यष्टिस्थूलशरीरोपाधिकविश्वज्ञानञ्च निष्प्रयोजनं सुखदुःखप्राप्तिपरिहारयोरसम्भवादित्याशङ्का विश्ववैश्वानरयोरभेदोपासनया वैश्वानरप्राप्त्या तदानन्दावाप्तिप्रयोजसम्भवादित्यभिप्रेत्य[1] तदुपासनोपयोगित्वेन समष्टिव्यष्टिस्थूलशरीरयोस्तादात्म्यप्रतिपादनेन तदुपहितयोरपि तादात्म्यं प्रतिपादयति—अनयोरिति। यथा सत्ता

●

ये सब मिलकर 'समष्टि स्थूलशरीर' कहे जाते हैं। अथवा जैसे अनेक गोव्यक्तियों में 'गोत्वजाति' अनुस्यूत रहती है, वैसे ही जो शरीर, 'समस्त व्यष्टि स्थूल व्यक्तियों' में अनुस्यूत रहता है, तथा 'पञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों' का कार्य होता है, और सम्पूर्ण ब्रह्माण्डरूप रहता है तथा व्यापक रहता है, उस शरीर को 'समष्टि स्थूल शरीर' कहाजाता है।

जैसे अनेक वृक्षों के समूह को 'वन' कहते हैं, वैसे ही समस्त 'व्यष्टि स्थूलशरीरों के समूह' को 'समष्टिस्थूलशरीर' कहते हैं। इस 'समष्टि स्थूलशरीर' से उपहित चैतन्य को 'विराट्' और 'वैश्वनर'—इन दो नातों से कहाजा है। समष्टि स्थूल शरीरोपहित चैतन्य में विराट्-वैश्वानर शब्दों की प्रवृत्ति में निमित्त (प्रवृत्तिनिमित्त) बतारहे हैं—विविधेति। विविध प्रकार से प्रकाशमान् होने के कारण उस चैतन्य को 'विराट्' कहागया है, और समस्त नरों का अभिमानी होने से उसी चैतन्य को 'वैश्वानर' भी कहागया है। 'व्यष्टि' के स्वरूप को बताते हैं—प्रत्येकमिति। जैसे एक गोव्यक्ति से दूसरी गोव्यक्ति व्यावृत्त (पृथक्) रहती है, वैसे ही परस्पर व्यावृत्त रहनेवाले जो प्रत्येक स्थूलशरीर हैं, उन्हें व्यष्टि स्थूलशरीर कहाजाता है। व्यष्टिस्थूशरीरोपहित चैतन्य की संज्ञा बतारहे हैं—एतदिति। व्यष्टिस्थूलशरीरोपहित चैतन्य को 'विश्व' नाम से कहाजाता है। उस चैतन्य को 'विश्व' के नाम से कहने में युक्ति बतारहे हैं—सूक्ष्मेति। क्योंकि यह चैतन्य, सक्ष्मशरीर का परित्याग बिना किये ही स्थूल शरीर में प्रवेश करता है, इसलिये इस चैतन्य को 'विश्व' नाम दिया गया है ॥३२॥

शंका—समष्टिस्लथूशरोपाधिक चैतन्य को 'वैश्वनर' समझना और व्यष्टिस्थूलशरीरोपाधिक चैतन्य को 'विश्व' समझना निष्प्रयोजन है, क्योंकि सुख-दुःख की प्राप्ति या परिहार का कोई संभव नहीं है

समा०—विश्व और वैश्वानर की अभेदोपासना करने से 'वैश्वानर' संज्ञक चैतन्य की प्राप्ति (साक्षात्कार) होती है, और उससे आनन्दावाप्ति का अनुभव होना ही प्रयोजन है,—इसी अभिप्राय से उसकी उपासना में उनके तादात्म्य का उपयोग रहने से समष्टि-व्यष्टि स्थूलशरीरों का तादात्म्य बताकर उनसे उपहित चेतन्यों का भी तादात्म्य बताया जारहा है—अनयोरिति। जैसे 'घट' आदि व्यक्ति का और 'घटत्व' आदि जाति का परस्पर तादात्म्य रहता है, वैसे ही इस समष्टिस्थूलशरीर का औ व्यष्टिस्थूलशरीर का भी परस्पर तादात्म्य समझना चाहिये। इन दोनों उपाधियों का तादात्म्य होनेपर 'वैश्वानर' और 'विश्व'—इन दोनों उपहित चैतन्यों का भी तादात्म्य होजाता है। जैसे सत्तासामान्य और द्रव्यादिविशेष का तादात्म्य सर्वानुभव सिद्ध है, 'समवाय' का निरसन तो पहले ही कर दिया गया है। अतः 'समवाय' का तो प्रश्न ही नहीं उठता। एवं च जाति-व्यक्ति का तादात्म्य ही रहता है। उसी तरह यह व्यष्टिस्थूलशरीर भी समष्टिस्थूलशरीरान्तर्गत पञ्चीकृत भूतों का कार्यरूप है' अतः दोनों में 'उपादानोपेयभाव' है, उसकारण दोनों शरीरों का तादात्म्य ही समझना चाहिये। अर्थात् 'उपादानकारण' और 'उपादेय कार्य' का परस्पर तादात्म्य लोकप्रसिद्ध है। अतः दोनों स्थूलशरीरों का तादात्म्य रहता है।

१. क, पुस्तके अभ्युपगमादिति न दृश्यते।

सामान्यद्रव्यादिविशेषयोस्तादात्म्यं, समवायस्य पूर्वमेव निराकृतत्वात्, तथा व्यष्टिस्थूलशरीरस्य समष्टिस्थूलशरीरान्तर्गतपञ्चीकृतभूतकार्य्यत्वेनोपादानोपादेयभावसम्भवात्तयोस्तादात्म्यात्तदुपहितयोरपि विश्ववैश्वानरयोस्तादात्म्यम्, एवमनयोर्भेदाभेदासम्भवादभेदांशमादाय अहमेव वैश्वानरोऽस्मीति अभेदोपासनया तत्साक्षात्कारेण तदानन्दावाप्तेः सम्भवात् । तज्ज्ञानं सप्रयोजनमिति भावः ।

अथवा श्रुत्युक्तप्रकारेण विश्ववैश्वानरतैजससूत्रात्मप्राज्ञेश्वराद् ज्ञात्वा प्रथमं विश्वं वैश्वानरात्मत्वेनाहमेव वैश्वानरोऽस्मीति विभाव्य, ततस्तैजसं सूत्रात्मत्वेनाहमेव सूत्रात्मास्मीति विभाव्य, अनन्तरं प्राज्ञमीश्वरात्मत्वेनाहमेवेश्वरोऽस्मीति विभाव्य, अनन्तरं समष्टि व्यष्टिथूलसूक्ष्मकारणोपाधिकमोंकारवाच्यं परम्ब्रह्माहमस्मीति सर्वात्मत्वेन विभाव्य, पश्चान्मनसैकाग्रतामापन्ने सति सर्वं जगत्स्थूलसूक्ष्मादिक्रमेण निर्विशेषचिन्मात्रेणऽखण्डैकरसानन्दे परब्रह्मणि विलाप्य, तदनन्तरमेकाग्रेण मनसा स्वस्याखण्डैकरसब्रह्मानन्दात्मतां साक्षात्कुर्य्यादित्यभिप्रायेण समष्टिव्यष्ट्योस्तादात्म्यनिरूपणेन तदुपहितयोस्तादात्म्यनिरूपणं कृतम् । तदुक्तम्—

"समाधिकालात्प्रागेवं विचिन्त्यातिप्रयत्नतः । स्थूलसूक्ष्मक्रमात्सर्वं चिदात्मनि विलापयेदिति ॥"

कल्पतर्वाचार्य्यैरप्युक्तम्,

"निर्विशेषं परम्ब्रह्म साक्षात्कर्त्तुमनीश्वराः । ये मन्दास्तेऽनुकम्प्यन्ते सविशेषनिरूपणैः ॥
वशीकृते मनस्येषां सगुणब्रह्मशीलनात् । तदेवाविर्भवेत् साक्षादपेतोपाधिकल्पनम्" ॥इति ।

•

इस प्रकार उपाधियों का तादात्म्य रहने से उन उपाधियों से उपहित 'विश्व-वैश्वानर' संज्ञक चैतन्यों का भी तादात्म्य मानने में कोई आपत्ति नहीं है। अर्थात् दोनों (विश्व-वैश्वानर) चैतन्यों का भी तादात्म्य ही है। इसरीति से इन दोनों चैतन्यों की भिन्नता न रहने से (अभेद रहने से) उनके अभेदांश की दृष्टि से 'अहमेव वैश्वानरोऽस्मि'—इत्याकारक अभेदोपासना से उसका साक्षात्कार होता है और उससे आनन्द का अनुभव होता है। अभिप्राय यह है कि यह 'विश्व' नाम का 'जीव' जब 'मैं वैश्वानर हूँ'—इस प्रकार की अभेदोपासन करता है, तब उसे 'वैश्वानर' का साक्षात्कार होता है, उस कारण इस विश्वनामक-जीव को वैश्वानर के आनन्द की प्राप्ति होती है। अतः विश्व-वैश्वानर के तादात्म्य का निरूपण निष्प्रयोजन नहीं है। किन्तु फलप्राप्ति का हेतु होने से सप्रयोजन ही है। एवंच विश्व-वैश्वानर का ज्ञान प्राप्त करना सप्रयोजन ही है।

अथवा—श्रुति में प्रतिपादित पद्धति के अनुसार अधिकारी पुरुष, प्रथमतः 'विश्व,-वैश्वानर-तैजस-सूत्रात्मा-प्राज्ञ और ईश्वर-इन सबका स्वरूप ज्ञान प्राप्त करे। तदनन्तर प्रथमतः वह अपने को (विश्व को) वैश्वानर के रूप में अर्थात् 'अहमेव वैश्वानरोऽस्मि'—'मै ही वैश्वानर हूँ'—इस प्रकार समझकर चिन्तन करे। तदनन्तर अपने को (तैजस को) सूत्रात्मा के रूप में अर्थात् 'अह मेव सूत्रात्माऽस्मि'—मैं ही सूत्रात्मा हूँ—इस प्रकार से 'तैजस' का 'सूत्रात्मा' के रूप में चिन्तन करे। तदनन्तर अपने को (प्राज्ञ को) 'ईश्वर' के रूप में अर्थात् 'अहमेव ईश्वरोऽस्मि'—मैं ही ईश्वर हूँ—इस प्रकार 'प्राज्ञ' का 'ईश्वर' के रूप में चिन्तन करे। तदनन्तर समष्टि—व्यष्टिरूप स्थूल—सूक्ष्मकारणोपाधिक (उपाधिवाला) ओंकार (प्रणव) का वाच्यरूप जो 'परब्रह्म' है, वह मैं ही हूँ अर्थात् 'परम्ब्रह्माऽहमस्मि' ऐसा समझकर 'आत्मा' का 'सर्वात्म' के रूप में चिन्तन करे। तब मन की एकाग्रता सम्पन्न होने पर वह अधिकारी पुरुष, 'समस्त जगत्' का स्थूल-सूक्ष्म के क्रम से अखण्ड,-एकरस, आनन्दस्वरूप निर्विशेष चिन्मात्र (परब्रह्म) में जय कर दे। अर्थात् स्थूल का सूक्ष्म में लय करे, और सूक्ष्म का उसके कारण में लय करे, और उस कारण का परब्रह्म में लय करे। तदनन्तर एकाग्र मन से 'मैं अखण्ड एकरस ब्रह्मानन्दरूप' हूँ—इस प्रकार से अपने आत्मा का साक्षात्कार करे। इसी अभिप्राय से समष्टि-व्यष्टि-(उपाधियों) का तादात्म्य-वर्णन पहले किया गया है, तथा तदुपहित चैतन्यों का भी तादात्म्य बताया गया है। अतः तादात्म्यवर्णन को निष्फल नहीं समझना चाहिये। किन्तु पूर्वोक्त पद्धति से वह, 'आत्मसाक्षात्कार' (फल) का हेतु रहने से सफल है। कहा भी है कि यह अधिकारी पुरुष, समाधि से पूर्व, शास्त्रोक्तरीति से 'विश्व-वैश्वानर आदिकों का अभेद चिन्तन करके प्रयत्न पूर्वक जगत् का स्थूल-सूक्ष्मादि कम से चेतन-आत्मा में लय करे। कल्पतरुकार आचार्य ने भी कहा है कि जो मन्द धी पुरुष, निर्विशेष ब्रह्म को साक्षात्कार कर पाने में असमर्थ हैं, उन मन्दधी पुरुषों को,—सद्गुरु, सविशेष ब्रह्म का निरूपण करके ही अनुग्रहीत करते हैं। उस सगुणब्रह्म की उपासना से ही एकाग्र मन हुए उन पुरुषों के मन में, समस्त उपाधियों से रहित (निरुपाधिक) निर्विशेष ब्रह्म, स्वयं ही आविर्भूत (प्रकट) हो जाता है। अर्थात् सगुण ब्रह्म के उपासकों को निर्गुण ब्रम का साक्षात्कार अपने आप हो जाता है। इसी अभिप्राय का निरूपण श्रुति ने भी किया है कहकर कि यह आत्मा, प्राणिमात्र में स्थित है, तथापि अज्ञान से आवृत होने के

एक एव जीवो जाग्रदवस्थायां स्थूलसूक्ष्मकारणाविद्याभिमानी सन् विश्व इत्युच्यते। स एव स्वप्नावस्थायां सूक्ष्मशरीरकारणाविद्याभिमानी सन् तैजस इत्युच्यते। स एव सुषुप्तौ कारणाविद्याभिमानी सन् प्राज्ञ इत्युच्यते। स एव शरीरत्रयाभिमानरहितः सन् शुद्धपरमात्मा भवति ॥

●

एतदभिप्रायाश्रुतिरपि,

"एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते। दृश्यते त्वग्रया बुद्धा सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिरि"ति ॥

तस्माद्वैश्वानरादिज्ञानमर्थवदित्यर्थः ॥३३॥

ननु व्यष्टिस्थूलसूक्ष्मकारणाभिमानिनो विश्वतैजसप्राज्ञाः संसारिणः प्राङ्निरूपितास्ते किं स्वतन्त्रा जीवाः आहो स्विदेकस्यैवावस्थाविशेषाः। नाद्यः, सर्वेषां स्वतन्त्रतया परस्परभेदाभ्युपगमे सुषुप्तिस्वप्नयोरनुभूतस्य पदार्थस्य जाग्रदवस्थायां विश्वस्य स्मरणाभावप्रसङ्गाद् अन्यःनुभूतपदार्थस्मरणायोगादन्यस्, अन्यथातिप्रसङ्गात्। तस्माद्द्वितीयः परिशिष्यत इत्याह—एक एवेति। अयम्भावः—असङ्गोदासीनः प्रत्यगात्माऽविद्यामात्मत्वेनोपगतः प्राज्ञ इति उच्यते। स एव सूक्ष्मशरीरमात्मत्वेनोपगत-

●

कारण (गूढ होने क कारण) किसी को भी वह प्रकट नहीं होता है अर्थात् किसी को उसका ज्ञान नहीं होता। किन्तु विवेक से अत्यन्त सूक्ष्म हुई बुद्धि के द्वारा ही सूक्ष्मदर्शी मनुष्य उसका साक्षात्कार कर पाता है। अतः वैश्वानरादियों का ज्ञान प्राप्त करना सार्थक ही है, निरर्थक नहीं है ॥३३॥

शंका—पहिले 'स्थूल-सूक्ष्म और कारण'—इन तीन व्यष्टि शरीरों के यथाक्रम से अभिमानी तीन जीव 'विश्व, तैजस, प्राज्ञ'—आपने बताये थे। अतः जिज्ञासा होती है कि वे तीनों जीव, क्या स्वतंत्र हैं ? या वे तीनों, एकही चैतन्य की विशेष-विशेष अवस्थाएँ हैं ?

उक्त दो विकल्पों में से प्रथम विकल्प का स्वीकार करना संभव नहीं है, क्योंकि यदि ये तीनों जीव स्वतन्त्र होंगे, ती तीनों का परस्पर भेद भी अवश्य रहेगा, उस कारण सुषुप्ति अवस्था में स्थित 'प्राण' संज्ञक जीव के द्वारा अनुभूत सुखादि पदार्थ, तथा स्वप्नावस्था में स्थित 'तैजस' संज्ञक-जीव के द्वारा अनुभूत गज-रथादि पदार्थ है, उनका जाग्रत् अवस्था में स्थित 'विश्व' संज्ञक जीव को स्मरण नहीं होना चाहिये, क्योंकि अन्य पुरुष के द्वारा अनुभूत पदार्थों का स्मरण, किसी अन्य-पुरुण (व्यक्ति) को नहीं हुआ करता। यदि यह कहें कि अन्यानुभूत पदार्थ का स्मरण, किसी अन्य व्यक्ति को भी हो सकता है, तो चैत्रव्यक्ति के द्वारा अनुभूत किये गये पदार्थ का स्मरण, उससे भिन्न 'मैल' संज्ञक व्यक्ति को भी होना चाहिये। किन्तु वैसा होता नहीं है। अतः प्रथम विकल्प का स्वीकार करना असंभव है।

समा०—अतएव द्वितीय विकल्प ही स्वीकार के योग्य है—एक एवेति

एक ही जीव जागने की स्थिति में स्थूल-सूक्ष्म-कारण-शरीरों में अभिमान वाला हुआ विश्व कहा जाता है। वही सपने की स्थिति में सूक्ष्म-कारण-शरीरों में अभिमान वाला हुआ तैजस कहा जाता है। वही गहरी नींद की स्थिति में कारणीभूत अविद्या में अभिमान वाला हुआ प्राज्ञ कहा जाता है। तीनों शरीरों में अभिमान न करता हुआ वही शुद्ध परमात्मा है।

विश्व, तैजस, 'प्राज्ञ'—ये तीनों जीव स्वतंत्र नहीं है। किन्तु एक ही 'प्रत्यक् जीवात्मा' की जाग्रदादि तीनों, विशेष अवस्थाएँ हैं। अभिप्राय यह है कि यह 'प्रत्यगात्माजीव' तो असंग तथा उदासीन है, किन्तु वह जब अविद्या को ही 'आत्मा' के रूप में (अपने रूप में) यानी 'आत्मा' समझने लगता है, तब उसे 'प्राज्ञ' कहा जाता है। वही जब सूक्ष्मशरीर को आत्मा के रूप में (आत्मा) समझने लगता है, तब उसे तैजस कहा जाता है, और वही जब स्थूलशरीर को आत्मा के रूप में (आत्मा) समझने लगता है, तब उसे विश्व कहाजाता है। अभिप्राय यह है—विश्वादिक तीनों, एक ही जीवात्मा के अवस्थाविशेष हैं। तथाही एक ही जीवात्मा, 'जाग्रत' आवस्था में व्यष्टिस्थूलशरीर, व्यष्टिसूक्ष्मशरीर, और व्यष्टि कारण अविद्या—इन तीनों का अभिमानी होकर 'विश्व' के नाम से कहा जाता है। और वही जीवात्मा, स्वप्नावस्थ में सूक्ष्मशरीर कारण अविद्या इन तीनों का अभिमानि बनकर तैजस के नाम से कहा जाता है। और वही जीवात्मा, सुषुप्ति अवस्था में एक कारणभूत

स्तैजसः। स एव स्थूलशरीरमात्मत्वेनोपगतो विश्वः। एवं विश्वतैजसप्राज्ञाः प्रत्यगात्मन एकस्यैवावस्थाविशेषा इतीममेवार्थं स्पष्टयति—**जाग्रदवस्थायामिति।**

अर्थादनेन त्वं पदार्थशोधनोपायावन्वयव्यतिरेकौ दर्शितौ। तथाहि—जाग्रदवस्थायां शरीरत्रयसाक्षित्वेन, स्वप्ने शरीरद्वयसाक्षित्वेन, सुषुप्तौ कारणशरीरसाक्षित्वेन, समाधौ शुद्धस्वप्रकाशचिद्रूपेण भानमन्वयः। स्वप्ने स्थूलशरीराभानं सुषुप्तौ सूक्ष्मशरीराभानं समाधौ कारणशरीराभानञ्च शरीरत्रयव्यतिरेकः। चित्तस्य वृत्तिशून्यतयात्मैकाकारावस्था समाधिस्तदानीं देहादिषु सर्वत्राभिमानस्य निवृत्तत्वात् समाध्यवस्थायां शरीराणां व्यतिरेको भवत्येव। तस्यामवस्थायामात्मा वस्तुतः शुद्धः परमात्मा भवति सर्वाभिमानशून्यत्वाद्। इदमेवान्वयव्यतिरेकाभ्यां त्वं पदार्थशोधनं यद्व्यावृत्तं तत्सर्वमनात्मेति निश्चित्य यदन्वितं स आत्मेति निश्चयः। तदुपायावन्वयव्यतिरेकाविति। **शुद्धेति**। **समाध्यवस्थायामिति** शेषः॥

जाग्रदाद्यवस्था निरूपयितुमाह—**तस्येति**। ता एवोद्दिशति—**जाग्रदिति**। जाग्रदवस्थां लक्षयति—**दिगिति** आदिशब्देन—

●

अविद्या का अभिमानी होता हुआ 'प्राज्ञ' के नाम से कहा जाता है। और वही जीवात्मा समाधि अवस्था में स्थूल-सूक्ष्म-कारण, तीनों शरीरों के अभिमान से रहित होकर शुद्ध परमात्मा के नाम से कहा जाता है।

इस प्रकार से एक ही प्रत्यगात्मा की 'विश्व, तैजस, प्राज्ञ'—ये तीन अवस्था विशेष हैं, इसी तथ्य को स्पष्ट किया गया है—**जाग्रदवस्थायामिति**। उक्त कथन से 'त्वम्' पदार्थ का जो शोधनोपाय है, उसके अन्वय और व्यतिरेक अर्थात् ही निर्दिष्ट हो जाते हैं। तथाहि—यद्यपि यह जीवात्मा, एक स्थूल शरीरमात्र के अभिमान से ही 'विश्व' संज्ञा को प्राप्त हो जाता है। उसी तरह एक सूक्ष्म शरीरमात्र के अभिमान से ही उसे 'तैजस' संज्ञा प्राप्त हो जाती है। तथापि 'स्थूल, सूक्ष्म और कारण'—इन तीन शरीरों के अभिमान से जीवात्मा को जो 'विश्व' की संज्ञा दी गयी है, तथा 'सूक्ष्म' और 'कारण'—इन दो शरीरों के अभिमान से जो उसे 'तैजस' संज्ञा दी गयी है वह 'त्वम्' पदार्थ के शोधन में उपयोगी जो अन्वय और व्यतिरेक हैं, उनकी सूचना के लिए ही दी गयी है।

वे अन्वय-व्यतिरेक इस प्रकार बताये जाते हैं—जाग्रत् अवस्था में स्थूल-सूक्ष्म-कारण—इन तीनों शरीरों के साक्षी के रूप में आत्मा की प्रतीति होती है। तथा स्वप्नावस्था में सूक्ष्म-कारण—इन दोनों शरीरों के साक्षी के रूप में आत्मा का भान होता है। तथा सुषुप्ति अवस्था में एक अविद्यारूप कारण शरीर के साक्षी के रूप में आत्मा का भान होता है। तथा समाधि अवस्था में शुद्ध स्वप्रकाश चैतन्य के रूप में आत्मा का भान होता है—चारों अवस्थाओं (जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और समाधि) में 'आत्मा' का यही अन्वय है। और स्वप्नावस्था में जाग्रत् के स्थूल शरीर का भान नहीं होता, तथा सुषुप्ति अवस्था में स्वप्न के सूक्ष्मशरीर का भी भान नहीं होता। तथा समाधि अवस्था में सुषुप्ति के 'कारणशरीर' का भी भान नहीं होता। 'स्थूल, सूक्ष्म और कारण'—इन तीन शरीरों का यही 'व्यतिरेक' है। समस्त अनात्माकार (जड़) वृत्तियों से रहित होकर चित्त की जो केवल आत्मैकाकार अवस्था है, उसी को 'समाधि' कहते हैं। उस समाधि अवस्था में देहादि समस्त पदार्थों से मनुष्य का अभिमान निवृत्त हो जाता है। उस कारण उस समाधि अवस्था में उन स्थूलादि तीनों शरीरों का व्यतिरेक (अभाव) ही रहता है। तब समाधि अवस्था में यह जीव समस्त अभिमान से रहित हो जाता है, उस कारण वह जीव, शुद्ध परमात्मारूप ही हो जाता है। अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा किया जानेवाला यही 'त्वम्' से व्यावृत्त होता है, वह सब 'आनात्मा' ही है, और जो सर्वत्र अन्वित होता है, वही 'आत्मा' है। इसी निश्चय को 'त्वम्' पदार्थ का शोधन कहते हैं। यह 'त्वम्' पदार्थ का शोधन उक्त अन्वय-व्यतिरेक से ही सिद्ध होता है।

अब जीव की जाग्रद् आदि अवस्थाओं का निरूपण करते हैं—

उसी देहाभिमानी जीव की पंच अवस्थायें होती हैं—(१) जाग्रत्, (२) स्वप्न, (३) सुषुप्ति, (४) मूर्च्छा और (५) मरण। इन्द्रियों पर शासन करने वाले दिग् आदि देवताओं की कृपा प्राप्त करने वाली इन्द्रियों से शब्द आदि विषयों का अनुभव जिस स्थिति में होता है वह जाग्रद् अवस्था है। जाग्रद् में सुखःदुःख-रूप भोग देने वाले पुण्य-पाप कर्म एवं श्रोत्रादि इन्द्रियों के उपरत होने पर जाग्रत् के अनुभव से जन्य संस्कारों से शब्द आदि विषय और उनका ज्ञान जिस अवस्था में होता है वह स्वप्न अवस्था है। जाग्रत् व स्वप्न दोनों अवस्थाओं में भोग देने वाले कर्म उपरत होने से स्थूल व सूक्ष्म शरीरों में अभिमान हटने के द्वारा समस्त विशेष अनुभवों की अपरम रूप जो स्थिति है, जिसमें बुद्धि अपने कारणीभूत अज्ञान रूप से

तस्यैवाभिमानिनो जीवस्यावस्थाः पञ्च जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिमूर्च्छामरणभेदात्। दिगाद्यधिष्ठातृदेवतानुगृहीतैरिन्द्रियैः शब्दादिविषयानुभवावस्था जाग्रदवस्था। जाग्रद्भोगप्रदकर्म्मोपरमे सति इन्द्रियोपरमे जाग्रदनुभवजन्यसंस्कारोद्भूतविषयतज्ज्ञानावस्था स्वप्नावस्था। जाग्रत्स्वप्नोभयभोगप्रदकर्म्मोपरमेण स्थूलसूक्ष्मशरीराभिमाननिवृत्तिद्वारा विशेषविज्ञानोपरमात्मिका, बुद्धेः कारणात्मनावस्थितिः सुषुप्तिः ॥३४॥

●

दिग्वाताऽर्कप्रचेतोऽश्विवह्नीन्द्रोपेन्द्रमृत्युकाः।
तथा—चन्द्रश्चतुर्वक्त्रो रुद्रः क्षेत्रज्ञ ईश्वर'' ॥

इति श्लोकोक्तदेवता वातादिदेवता गृह्यन्ते। ताभिर्देवताभिरनुगृहीतानि अधिष्ठितानीन्द्रियाणि यानि श्रोत्रादीनि तैरिति यावत्। शब्दादिविषयानुभवावस्था जाग्रदवस्थेत्युक्ते स्वप्नेऽतिव्याप्तिस्तत्रापि वासनामयविषयानुभवस्य सत्वात्तद्व्यावृत्यर्थं दिगादीत्युक्तम्; स्वप्नावस्थायामिन्द्रियाणामुपरतत्वात्तज्जन्यविषयाननुभवान्नातिव्याप्तिः। विषयानुभवावस्था जाग्रदवस्थेत्युक्ते सुषुप्तावतिव्याप्तिस्तत्राप्यज्ञानविषयकसाक्ष्यनुभवस्य सत्वात्। अत उक्तं—शब्दादीति। सुषुप्तौ शब्दादीविषयाणामन्तःकरणवृत्तेस्तदाश्रयप्रमातृत्वोपाध्यन्तःकरणादीनाञ्च लीनत्वान्नातिव्याप्तिः। शब्दादिविषयाकारान्तःकरणवृत्तिप्रतिबिम्बितं चैतन्यं शदादिविषयानुभवः। अन्तःकरणवृत्तिरग्रे निरूपयिष्यते।

स्वप्नावस्थां लक्षयति—जाग्रदिति। विषयतज्ज्ञानावस्था स्वप्नावस्थेत्युक्ते सुषुप्तावतिव्याप्तिस्तद्वारणाय जाग्रदित्यादिविशेषणम्। सुषुप्तावज्ञानतत्साक्षिणोरनादिसिद्धत्वेन संस्कारोद्भूतत्वाभावान्नातिव्याप्तिः। तावत्युक्ते जाग्रदवस्थायामतिव्याप्तिः, रजतानुभवजन्यसंस्कारोद्भूतानिर्वचनीयविषयतज्ज्ञानस्य तादृशस्मृतेर्वा सत्त्वात्तद्वारणायेन्द्रियोपरम इति। उपरमे निमित्तमाह—जाग्रदिति।

सुषुप्तिलक्षणमाह—जाग्रदिति। विशेषविज्ञानोपरमात्मिका सुषुप्तिरित्युक्ते जाग्रदवस्थायामतिव्याप्तिः; समाधौस्तदा विशेषविज्ञनोपरमसत्त्वात्। अत उक्तं—बुद्धेः कारणात्मनावस्थानमिति। समाधावन्तःकरणस्य स्वरूपेण सत्त्वान्नातिव्याप्तिरित्यर्थः। विशेषविज्ञानोपरमे निमित्तमाह—स्थूलेति। तत्रापि निमित्तमाह—जाग्रादिति ॥ ३४ ॥

●

ही स्थित रहती है, वह सुषुप्ति अवस्था है। मुद्गरप्रहार आदि निमित्त से जन्य दुःख से जिस स्थिति में विशेष अनुभव नहीं रह जाते उसे मूर्छा अवस्था कहते हैं। बादरायण महर्षि द्वारा यों बतायी गयी है। मूर्छा में कुछ सुषुप्ति के व कुछ अवस्थान्तर के लक्षण हैं अतः वह तीन से अतिरिक्त से अवस्था है। वर्तमान स्थूल देह में भोगार्थ सामग्री प्राप्त कराने वाले कर्म समाप्त होने के कारण शरीर में दोनों प्रकार के अभिमानों की निवृत्ति से करण-समूह जब इस शरीर को छोड़कर भावि शरीर की प्राप्ति तक इकट्ठा हुआ रहता है तब जीव की महावस्था कही जाती है। कुछ विचारक मरण का मूर्छा में अन्तर्भाव बताते हैं। इन अवस्थाओं के विषय में वेद, स्मृति, पुराण तथा प्रत्यक्षादि प्रमाण प्रसिद्ध ही है।

यहाँ यदि जाग्रत् का इतना ही लक्षण करें—शब्द आदि विषयों के अनुभव की अवस्था; तो स्वप्न में अति व्याप्ति होगी क्योंकि वहाँ भी वासनामय विषयों का अनुभव होता ही है। अतः इन्द्रियों से यह कहा। स्वप्न में इन्द्रियाँ उपरत होने से उनसे अनुभव नहीं होता। यदि विषयानुभव की अवस्था—इतना ही लक्षण कहें तो सुषुप्ति में भी साक्षी को अज्ञान विषयक अनुभव होने से अतिव्याप्ति होगी। अतः शब्दादि कहा। शब्दादि विषयों के आकार वाले अन्तःकरणवृत्ति में चैतन्य का प्रतिबिम्बित होना शब्दादि विषयानुभव है व सुषुप्ति में ऐसा हो नहीं सकता कारण कि अन्तःकरण लीन रहता है। वस्तु-तस्तु इन्द्रियों से—यह कह देने पर यह मूर्छा अवस्था, जाग्रदादि अवस्थाओं में भिन्न ही अवस्था है। इसे महर्षि व्यास ने 'मुग्धेऽर्द्धसम्पत्तिः परिशेषात्' सूत्र में कहा है। सूत्र का अर्थ यह है—मुद्गर प्रहार आदि निमित्त से इस जीव (पुरुष) को जो मूर्छा आती है, वह (मूर्छा), जाग्रदादि चार अवस्थाओं में से ही किसी अवस्था के अन्तर्गत है, या उन चार अवस्थाओं से भिन्न कोई अवस्था है ? यह सन्देह होनेपर, पूर्वपक्षी ने पूर्वपक्ष उपस्थित किया है कि श्रुति-स्मृति के वचनों ने तो इस जीवात्मा की जाग्रत् आदि अवस्थाओं का ही निरूपण किया है; उनसे भिन्न मूर्छा अवस्था को तो बताया नहीं है। अतः इस मूर्छा अवस्था को जाग्रत् आदि अवस्थाओं में से ही किसी के अन्तर्गत समझना ही उचित होगा। एवं च विशेषज्ञानों की उपरान्तता रूप सुषुप्ति में और मूर्छा में समानता प्रतीत होती है। उस कारण मूर्छा का सुषुप्ति में ही अन्तर्भाव करना उचित प्रतीत होता है। अतः यह मूर्छावस्था, 'सुषुप्ति' से भिन्न नहीं है।

मुद्‌गरप्रहारदिजनितविषादेन विशेषविज्ञानोपरमावस्था मूर्च्छावस्था। तदुक्तम्, "मुग्धेऽर्द्धसम्पत्तिः परिशेषादि"ति। एतच्छरीरभोगप्रापककर्म्मोपरमेण द्विविधदेहाभिमाननिवृत्त्या संपिण्डितकरणग्रामावस्था भाविशरीरप्राप्तिपर्य्यन्तं मरणावस्था।

केचित्त्वस्या उक्तावस्थास्वन्तर्भावं वदन्ति। अत्र श्रुतिस्मृतिपुराणप्रमाणानि प्रसिद्धानि ॥३५॥

●

मूर्च्छावस्थां लक्षयति—मुद्‌गरेति। विशेषविज्ञानोपरमावस्था मूर्च्छेत्युक्ते सुषुप्तावतिव्याप्तिरतउक्तं-मुद्‌गरेति। मुद्‌गरप्रहारजनितविषादावस्था मूर्च्छा इत्युक्ते जाग्रदवस्थायामतिव्याप्तिरत उक्तं—विशेषेति। मूर्च्छाया अवस्थान्तरत्वे व्याससूत्रं संवादयति—तदुक्तमिति। तृतीये स्थितं, मुद्‌गरादिप्रहारादिनिमित्ते सति पुंसां यां मूर्च्छामाचक्षते लोकाः सा मूर्च्छा जाग्रदन्तर्भूता आहोस्विदवस्थान्तरमिति संशयः। तत्र श्रुत्यादिष्ववस्थान्तरत्वेनाप्रसिद्धत्वाज्जाग्रदादिष्वन्तर्भूता तत्रापि विशेषविज्ञानोपरमसाम्यात् मूर्च्छा सुषुप्तावेवान्तर्भूता नावस्थान्तरमिति प्राप्ते, अभिधीयते-मूर्च्छाजाग्रदादिभ्योऽवस्थान्तरं, परिशेषात्। सा तावन्न जाग्रत्स्वप्नयोरन्तर्भवति, विज्ञानाभावात्। नापि मरणे, पुनरुत्थानदर्शनात्। नापि सुषुप्तौ, लक्षणवैलक्षण्यात्। तथाहि—सुषुप्तस्य प्रसन्नवदनत्वनिष्कम्पत्वादिकं लक्षणं, मुग्धस्य तु विकरालवदनत्वसकम्पत्वादिकमतो लक्षणवैलक्षण्यान्न सुषुप्तावन्तर्भवति मूर्च्छा, किन्तु परिशेषादवस्थान्तरमेवेति। सकम्पत्वादीनां सुषुप्तिवैलक्षण्येऽपि विशेषविज्ञानोपरमेण सुषुप्तिसाम्यादर्द्धसम्पत्तिमूर्च्छेति निर्णयः।

मरणावस्थां लक्षयति—एतदिति। देहाभिमानो द्विविधः—सामान्याभिमानो विशेषाभिमानश्चेति। सुषुप्तौ सामान्याभिमानः पुनरुत्थानदर्शनात्। जीवस्य निरभिमानस्योत्थानायोगात्। सुषुप्तौ जीवस्य देहे सामान्याभिमानस्तिष्ठत्येव, जाग्रत्स्वप्नयोर्विशेषाभिमानः—मनुष्योऽहम्ब्राह्मणोऽहमिति। मरणे भोगेन प्रारब्धक्षये द्विविधस्य सामान्यविशेषरूपस्याभिमानस्य निवृत्त्या भाविदेवादिशरीरप्राप्तिपर्य्यन्तं संपिण्डितकरणग्रामावस्था एकीकृतचतुर्दशकरणग्रामावस्था मरणावस्थेत्यर्थः।

●

यह पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर महर्षिव्यास ने सूत्र के द्वारा यह सिद्धान्त किया कि यह मूर्छा अवस्था पूर्वोक्त जाग्रदादि अवस्थाओं से भिन्न अवस्था है। तथाहि—जाग्रत, स्वप्न अवस्था में 'विशेषज्ञानों का अभाव नहीं हुआ करता। किन्तु मूर्छावस्था में तो समस्त विशेषज्ञानों का अभाव रहता है उसकारण जाग्रत् और स्वप्न अवस्था में 'मूर्छावस्था' का अन्तर्भाव नहीं हो सकता।

मरणावस्था के अनन्तर मनुष्य का उत्थान (उठाना) संभव नहीं रहता, किन्तु मूर्छावस्था के अनन्तर तो मनुष्य का पुनः उत्थान होता है। उसकारण मरणावस्था में भी मूर्छावस्था का अन्तर्भाव नहीं किया ज सकता सुषुप्ति अवस्था में मनुष्य का मुखमण्डल प्रसन्न रहता है, तथा शरीर, निष्कम्प रहता है, किन्तु मूर्छित मनुष्य का मख, विकराल रहता है, तथा शरीर भी कम्पित होता रहता है। उसकारण सुषुप्ति अवस्था में भी मूर्छावस्था का अन्तर्भाव नहीं किया जासकता। किन्तु परिशेषात् उक्तचारों अवस्थाओं से (जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और मरण से) भिन्न ही यह मूर्छा अवस्था है, यह निश्चय किया गया है।

शंका—सुषुप्ति और मूर्छा की परस्पर विलक्षणता रहने पर भी दोनों अवस्थाओं में, 'विशेषज्ञानों का अभाव' तो समान (तुल्य) ही है। इसलिये 'मूर्छा' को अर्धसुषुप्ति' (अर्धसम्पत्ति) कहना ही ठीक है—यही निर्णय किया गया।

शरीर के भोगदायक कर्मों की निवृत्ति से सामान्य प्रकार का और विशेष प्रकार का देहाभिमान निवृत्त होता है। अर्थात् भोगप्राप्ति से प्रारब्धकर्म का क्षय होने पर सामान्य और विशेष उभयविध अभिमान की निवृत्ति हो जाती है तदनन्तर भावी देवादिक शरीर की प्राप्ति होने तक जो सप्तदश तत्वों की पिण्डिभाव अवस्था है, उसे 'मरणावस्था' कहते हैं। अर्थात् सपिण्डितकरणग्रामावस्था (एकीकृत चतुर्दशकरणग्रामावस्था) ही मरणावस्था है।

अभिप्रय यह है कि देहाभिमान, 'सामान्य' और 'विशेष' के भेद से दो प्रकार का होता है। सुषुप्तिअवस्था में 'विशेष-देहाभिमान' की निवृत्ति होने पर भी मनुष्य को 'सामान्य देहाभिमान' तो रहता ही है। उस सामान्य देहाभिमान के कारण ही वह, सुषुप्ति से उठ पाता है यदि कदाचित् मनुष्य को सुषुप्ति में 'सामान्य देहाभिमान' भी न होता तो वह सुषुप्ति से उठ ही नहीं पाता। जैसे, मरण अवस्थावाले मनुष्य का पुनः उत्थान नहीं होता। अतः 'उत्थान' रूप हेतु के बल पर सुषुप्ति में मनुष्य के 'सामान्य देहाभिमान' का अर्थात् 'सुषुप्तौ सामान्याभिमानः पुनरुत्थानदर्शनात्' इत्याकारक अनुमान किया जाता

एवमेक एव परमात्मा समष्टिस्थूलसूक्ष्मशरीरतत्कारणमायोपहितः सन् वैश्वानर इत्युच्यते। "अहमेव वैश्वानरोऽस्मी"त्येतदुपासनया तत्प्राप्तिः फलम्भवति। वैश्वानराधिकरणे सूत्रकारभाष्यकाराभ्यां एवमेव श्रुत्यर्थस्य प्रतिपादनात्।

स एव परमात्मा समष्टिसूक्ष्मशरीरतत्कारणमायोपहितः सन् हिरण्य गर्भइत्युच्यते। एतदुपासनया तत्प्राप्तिः फलम्भवति ॥३६॥

•

सूत्रकृता मरणावस्थाया जाग्रदादिवहिर्भावेनानुक्तत्वाद् यथोक्तजाग्रदादिष्वन्तर्भाव इति मतान्तरमाह—केचित्त्विति। तत्रापि मरणावस्थाया न जाग्रत्स्वप्नयोरन्तर्भावः देहाभिमानाभावान्नापि सुषुप्तौ पुनरुत्थानाभावात्। अतः परिशेषान्मूर्च्छायामन्तर्भावः। तत्र कर्म्मशेषे सति पुनरुत्थानं, भोगप्रदकर्म्मशेषाभावे मरणमिति भावः ॥३५॥

ननु सन्तु विश्वतैजसप्राज्ञा एकस्यैवावस्थाविशेषाः, वैश्वानरसूत्रात्मेश्वरेषु को निर्णय इति? तत्राह—एवमिति। यथा विश्वतैजसप्राज्ञा एकस्यैवावस्थाविशेषाः एवं वैश्वानरसूत्रेश्वरा इत्यर्थः।

ननु भयाऽऽरत्यादिश्रवणात् कथं वैश्वानरसूत्रात्मनोरीश्वरत्वं तस्य जीवलिङ्गत्वादीश्वरस्य तद्रहितत्वात्, तथाच श्रुतिः "योऽशनाया पिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येती"त्याद्या अशनायाद्यतीतत्वमीश्वरस्य दर्शयति, तस्मादेकस्य परमेश्वरस्या-

•

है, और जाग्रत् अवस्था में तथा स्वप्न अवस्था में मनुष्य को 'मैं मनुष्य हूँ', 'मैं ब्राह्मण हूँ'—इत्याकारक विशेष अभिमान रहता है। और मरणावस्था में मनुष्य का उभयविध (दोनों प्रकार का) देहाभिमान निवृत्त हुआ रहता है।

कुछ लोग 'मरणावस्था' को 'मूर्छावस्था' से भिन्न नहीं मानते। उस 'मरणावस्था' का उस मूर्छावस्था में ही अन्तर्भाव मानते हैं। अर्थात् मरणावस्था का 'जाग्रत्' या 'स्वप्न' में अन्तर्भाव नहीं मानते, क्योंकि देहाभिमान का अभाव रहता है। 'सुषुप्ति' में भी उसका अन्तर्भाव नहीं मानते, क्योंकि पुनरुत्थान नहीं होता है। अतः परिशेषात् 'मूर्छा' में ही उसका (मरणावस्था का) अन्तर्भाव बताते हैं। मूर्छित मनुष्य के भोगप्रद कर्म यदि शेष हों तो मूर्छा से उसका पुनरुत्थान होता है, और यदि भोगप्रद कर्म, शेष न हों तो उसका मरण हो ही जाता है। अतः मरणावस्था को मूर्छावस्था के अन्तर्भूत (अन्तर्गत) मानना ही उचित है ॥३५॥

विश्व, तैजस, प्राज्ञ—ये तीनों अवस्थाएँ भले ही एक जीवात्मा को रहे, किन्तु वैश्वानर, सूत्रात्मा, ईश्वर के विषय में क्या निर्णय है? यह जिज्ञासा शान्त करने के लिये ग्रन्थकार 'एवमिति' से बता रहे हैं। जैसे विश्व, तैजस, प्राज्ञ—ये तीनों एक ही जीवात्मा की अवस्था विशेष हैं, वैसे वैश्वानर, हिरण्य गर्भ, ईश्वर—ये तीनों भी एक ही परमात्मा की अवस्था विशेष हैं अर्थात् एक ही परत्मा, जब 'समष्टि स्थूल शरीर तथा समष्टि सूक्ष्म शरीर' इन दोनों की कारण भूत 'माया' में उपहित रहता है, तब उसे 'वैश्वानर' कहते हैं। और वही परमात्मा, जब सूक्ष्म शरीर और उसकी कारण भूत 'माया' से अर्थात् दोनों से उपहित रहता है, तब उसे 'हिरण्यगर्भ कहते हैं और वही परमात्मा, जब केवल एक माया से ही उपहित रहता है, तब उसे 'ईश्वर' कहते हैं।

शंका—वैश्वानर, हिरण्यगर्भ, ईश्वर—इन तीनों की उपासना का फल क्या है?

समा०—जब 'जीवात्मा मैं ही वैश्वानर हूँ'—इस प्रकार से उस वैश्वानर की अभेदोपासना करता है, तभी इस जीव को वैश्वानर भाव की प्राप्ति हो जाती है—यही फल है। और यह जीव, जब मैं ही 'हिरण्यगर्भ हूँ—इस प्रकार से उस हिरण्यगर्भ की अभेदोपासना करता है, तभी इस जीव को 'हिरण्यगर्भ भाव' की प्राप्ति हो जाती है—यही फल है। और जब यह जीव, मैं ही ईश्वर हूँ—इस प्रकार से उस ईश्वर की अभेदोपासना करता है, तभी इस जीव को 'ईश्वरभाव' की प्राप्ति हो जाती है—यही फल है। इस अभेदोपासना को ही 'अहं ग्रहोपासना' कहते हैं।

शंका—वैश्वानर, हिरण्यगर्भ, ईश्वर—ये तीनों अवस्थाएँ एक ही परमात्मा की अवस्था विशेष हैं, इस कथन से तीनों में ईश्वरत्व ही सिद्ध होता है, परन्तु यह कैसे संभव हो सकता है? क्योंकि श्रुति ने अशना, पिपासा, शोक, मोह, जरा, मरण इत्यादि समस्त धर्मों से रहित जो होता है, उसे ईश्वर कहा है, किन्तु वैश्वानर हिरण्यगर्भ—दोनों में तो श्रुति ने क्षुधा, भय, जन्म, मरण, बन्ध, मोक्ष—इत्यादि धर्म बताये हैं, जो जीव के ही प्रसिद्ध हैं। हिरण्यगर्भ ने 'विराट् पुत्र को' उत्पन्न किया,

वस्थाविशेषा इत्यसङ्गतमिति चेन्नैवम्। सूत्रकृता बादरायणेन वैश्वानरसूत्रात्मनोः "सुखविशिष्टाभिधानादेव च" "वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषादि"त्यत्रेश्वरस्योक्तत्वात्। कथं तर्हि "हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वम्" "तमेतावतः कालस्य पुरस्तादसृजत "तं जातमभिव्याददात् स भाणकरोत्" "सो बिभेत्" "स वै नैव रेमे" "कार्य्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात्"

"ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसञ्चरे। परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परम्पदम्" ॥

इत्यादिश्रुतिस्मृतिसूत्रैस्तयोर्जन्ममरणबन्धमोक्षभयाऽरत्यादिप्रतिपादनम्? शृणु। वैराग्यार्थं तत्प्रतिपादनम्। तथाहि—श्रुत्यादिभिस्तयोर्जन्मादिषु प्रतिपादितेषु तत्रापि दोषदर्शनेन वैराग्यमुत्पद्यत इति तत्प्रतिपादनम्।

न च तावता तयोर्जीवत्वम्, तथात्वे ईश्वरस्यापि तथात्वप्रसङ्गात्। तस्यापि कामनादिश्रवणात्। कामनादेर्जीवलिङ्गत्वात्। तस्माद्

"यः सर्वज्ञः स सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः" "तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्" "आप्तकाममात्मकाम"मित्यादिश्रुत्या निरतिशयज्ञानैश्वर्य्यादिशक्तिमत्वावगमाद्यथाकामनादिश्रवणेऽपि न जीवत्वं तथा

"ज्ञानमप्रतिघं यस्य वैराग्यञ्च जगत्पते। ऐश्वर्यञ्चैव धर्म्मश्च सहसिद्धं चतुष्टयम्" ॥

इति स्मृत्या सूत्रात्मवैश्वानरयोरप्रतिहतस्वतःसिद्धनिरतिशयज्ञानैश्वर्य्यादिशक्त्यवगमाद्[1] जन्मादिप्रतिपादनस्य वैराग्यार्थत्वाच्च न जीवत्वमत ईश्वरत्वमेव। युक्तं चैतत्।

यथा जीवस्य "नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्य" इति न्यायेन जन्माद्यभावे निश्चितेऽपि "चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात्तद्व्यपदेशो भाक्तस्तद्भावभावित्वादि"ति न्यायेनौपाधिकमुत्पत्तिविनाशवत्त्वं, तथा "असम्भवस्तु सतोऽनुपपत्ते"रिति न्यायेन

●

तब वह (हिरण्यगर्भ) बुभुक्षा से आतुर (पीड़ित) हुआ। तब वह (हिरण्यगर्भ), अपने विराट् पुत्र को ही खाने के लिये प्रवृत्त हुआ, उसे देखकर भयभीत हुए उस विराट् ने 'भाण' शब्द किया। ये क्षुधा, भय आदि धर्म तो 'जीव' के धर्म हैं। उस कारण 'वैश्वानर' और हिरण्यगर्भ में 'ईश्वरत्व' की सम्भावना नहीं की जा सकती, किन्तु 'जीवत्व' की ही सम्भावना की जा सकती है। अतः एक (अद्वितीय) परमेश्वर की ये अवस्था विशेष हैं—यह कहना असंगत है।

समा०—इसी प्रकार अनेक श्रुति, स्मृतियों ने ब्रह्मसूत्र ने (१-२-२४) वैश्वानर और हिरण्यगर्भ में ईश्वरत्व का प्रतिपादन किया है।

शंका—तब श्रुतियों व स्मृतियों ने वैश्वानर और हिरण्यगर्भ के जन्म, मरण, बन्ध, मोक्ष, क्षय, अरति आदि धर्मों का प्रतिपादन कैसे किया है?

समा०—जन्मादि धर्मों के प्रतिपादन का तात्पर्य, वैश्वानर और हिरण्यगर्भ का जीवत्व बताने में नहीं है। अपितु उनके भी जन्म आदि अनित्य दोषों को ध्यान में रखकर उस हिरण्यगर्भादि के स्थान (पद) से अधिकारी पुरुष को विरक्त कराने में उनका तात्पर्य है। अर्थात् हिरण्यगर्भादि पद के प्रति अधिकारी पुरुष के मन में वैराग्य प्राप्त कराने के लिए वे वाक्य हैं। एवंच वैश्वानर और हिरण्यगर्भ का जीवत्व बताने में उन वचनों का तात्पर्य नहीं है।

यदि श्रुति प्रतिपादित क्षुधा, भय आदि जीव धर्मों के सम्बन्ध से उन वैश्वानर, हिरण्यगर्भ को जीवरूप माना जाय तो जीव में प्रसिद्ध जो इच्छादिक धर्म हैं, उनका ईश्वर में प्रतिपादन करनेवाली 'सोऽकामयत तदेक्षत तन्मनोऽकुरुत' इत्यादि जो श्रुति दृष्टिगोचर होती है, उसके बलपर ईश्वर में भी जीवरूपता कहनी होगी, क्योंकि 'कामना' आदि तो 'जीव' के लिङ्ग (चिह्न) होते हैं। किन्तु ईश्वर को जीवरूप तो कोई नहीं कहता है।

श्रुतियां उसके निरतिशय ज्ञान, ऐश्वर्यादि शक्तिमत्व का बोधन कराती हैं।

जैसे कामना आदि का श्रवण रहने पर भी उसमें जीवत्व की संभावना नहीं की जाती, वैसे ही—स्मृति वचन से सूत्रात्मा और वैश्वानर की भी अप्रतिहत स्वतः सिद्ध निरतिशय ज्ञान ऐश्वर्यादि शक्ति का बोध हो रहा है, उस कारण यह स्पष्ट होता है कि उसके जन्म आनि का प्रतिपादन वैराग्योत्पत्ति के लिये ही है। अतः उस में जीवत्व की कल्पना न करके 'ईश्वरत्व' का निश्चय करना ही उचित है।

---

१. ख, ग, पुस्तके प्रतिहतस्वतः पाठः।

"न जायते म्रियते वा विपश्चिद्" "आकाशवत्सर्वगतश्च नित्य" इत्यादिश्रुत्या जन्माद्यभावे निश्चितेऽपि समष्टिस्थूलसूक्ष्मोपाधि-प्रयुक्तमुत्पत्त्यादीश्वरस्याप्यस्तु हिरण्यगर्भादिरूपेण । नच तावता जीवत्वम् अनावृतस्वरूपत्वेन परिच्छेदाभिमानाभावात् । आवृत-स्वरूपेण परिच्छेदाभिमानस्यैव जीवत्वप्रयोजकत्वादन्यथोपाधिसम्बन्धमात्रेण जीवत्वे निरुपाधिकस्य ब्रह्मणो जीवत्वेश्वरत्वयोर-नभ्युपगमेन सोपाधिकस्य तदभ्युपगमेन तस्य जीवत्वं प्रसज्येत । तस्मात् सूत्रात्मवैश्वानरयोः सूत्रकारेण ईश्वरत्वप्रतिपादनात्तत्-प्रतिपादकश्रुतिस्मृतिसम्भवाच्च औपाधिकजन्मादिप्रतिपादनस्य वैराग्यार्थत्वाच्च निरतिशयज्ञानैश्वर्य्यादियोगाच्चानावृतस्वरूपत्वेन परिच्छेदाभिमानाभावाच्च तयोरीश्वरत्वम् ।

एवञ्च तदुपासकानां तत्प्रसादेन क्रममुक्तिरुत्पद्यते । तस्मादेकस्यैव परमात्मनो वैश्वानरसूत्रेश्वरा अवस्थाविशेषा इत्यभिप्रेत्येममर्थं स्पष्टयति—एक एवेति । "तस्य हवा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजा" इत्यादिश्रुत्युक्तसकलगुणविशिष्ट-वैश्वानरोऽहमस्मीत्यर्थः । एतदिति वैश्वानरोपासनयेत्यर्थः । यथोक्तप्रकारेण वैश्वानरं परमात्मानं ज्ञात्वा तदुपासनेन साधकस्तद्भावं प्राप्नोतीत्यत्र सम्मतिमाह—वैश्वानरेति ।

शारीरके समन्वयलक्षणे स्थितं "वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात् ।" को न आत्मा किम्ब्रह्मेत्यात्मानमेवेमं वैश्वानरं सम्प्रत्यध्येषि तमेव नो ब्रूहीत्युपक्रम्य सुतेजस्त्वादिगुणयोगं द्युसूर्य्यप्रभृतीनामेकैकोपासननिन्दया मूर्धादिभावमुपदिश्याम्नायते "यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा सन्देहो बहुलो बस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादावुर एव वेदिर्लोमानि बर्हिर्हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्य्यपचन आस्यमाहवनीय" इत्यादि ।

●

किञ्च—जैसे जीव की उत्पत्ति आदि औपाधिक ही निश्चित की गयी है वैसे श्रुति से यद्यपि जन्म आदि का न होना निश्चित है, तथापि समष्टि स्थूल और समष्टि सूक्ष्म रूप उपाधि से होने वाली (उपाधि प्रयुक्त) जो उत्पत्ति आदि धर्म, हिरण्यगर्भ आदि के रूप में ईश्वर के भी हो सकते हैं, किन्तु उतने मात्र से उसका (ईश्वर का) जीवत्व सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि अनावृत स्वरूप रहने के कारण परिच्छेदाभिमान नहीं रहता । आवृतस्वरूप होने से ही परिच्छेदाभिमान रहता है, और वही 'जीवत्व' का प्रयोजक होता है । अन्यथा उपाधिके सम्बन्ध मात्र से ही यदि 'जीवत्व' का होना माना जाय तो, निरुपाधिक (उपाधिशून्य) 'ब्रह्म' में जीवत्व और ईश्वरत्व का स्वीकार किसी ने भी नहीं किया है, सोपाधिक में ही जीवत्व—ईश्वरत्व का स्वीकार सभी ने किया है, उस कारण उसमें भी 'जीवत्व' की प्रसक्ति होने लगेगी । अतएव सूत्रकार ने सूत्रात्मा और वैश्वानर में ईश्वरत्व का प्रतिपादन किया है, क्योंकि श्रुति-स्मृतियां उपलब्ध होती है । औपाधिक जन्मादि का प्रतिपादन तो वैराग्य के लिये किया गया है । निरतिशयज्ञान-ऐश्वर्य आदि का सम्बन्ध रहने से तथा अनावृत स्वरूप रहने से परिच्छेदा-भिमान भी न रहने से उन दोनों में (सूत्रात्मा और वैश्वानर में) ईश्वरत्व ही रहता है । एवञ्च उनकी अभेदोपासना करने वालों को उनके अनुग्रह से क्रम मुक्ति का लाभ होता है । अतः एक (अद्वितीय) परमात्मा की ही वैश्वानर-सूत्रेश्वर—ये अवस्था विशेष हैं । इसी अभिप्राय से इस तथ्य का स्पष्टीकरण किया गया है—एक एवेति । श्रुत्युक्त 'सकलगुण विशिष्ट वैश्वानरोऽहमस्मि'—इस प्रकार की उपासना करने से वैसी फल प्राप्ति का होना संभव है । 'एतदुपासनया' अर्थात् वैश्वानरोपासना से वैश्वानर संज्ञक परमात्मा को जानकर उसकी उपासना करने के कारण साधक उसके भाव को प्राप्त हो जाता है । उक्त कथन में सम्मति बता रहे हैं—वैश्वानरेति । शारीरक के समन्वय लक्षण में (१.२.२४) छान्दोग्योपनिषत् के (५.११.१,६) वाक्य के विषय में विचार किया है । वहां आत्मा-शब्द से प्रारम्भ कर समापन में वैश्वानर शब्द का प्रयोग है तथा उसका द्युमूर्धत्व आदि प्रकार से वर्णन है । यहां संशय इस प्रकार प्रदर्शित किया गया है—क्या यहां पर वैश्वानर और आत्म शब्द से जठराग्नि समझना हैं, भूताग्नि, अथवा देवता अथवा शरीर अथवा परमेश्वर समझना है ? वैश्वार शब्द के आधार पर जाठर अग्नि, भौतिक अग्नि, या देवता ही समझे जायें यह पूर्वपक्ष है । या शारीर ही वैश्वानर है, क्योंकि आत्म शब्द का प्रयोग किया गया है । उसी में आत्म शब्द की मुख्यता है । वैश्वानर शब्द की भी प्रवृत्ति, उसमें लक्षणा के सहारे हो सकती है । अतः सहारे हो सकती है । अतः यह 'वैश्वानर'—शरीर ही है, 'परमेश्वर' नहीं है—यह पूर्वपक्ष उपस्थित है ।

समाधान यह दिया हैं कि यह वैश्वानर 'परमेश्वर' ही हो सकता है, क्योंकि साधारण तथा शब्द विशेष का प्रयोग किया गया है । 'वैश्वानर' शब्द, तीनों के लिये साधारण है, और 'आत्मशब्द', दो के लिये साधारण है, तथापि 'विशेष' दिखाई दे रहा है—"मूर्धैव सुतेजा" के कहने से ।

तत्र संशयः—किमिह वैश्वानरो जठराग्निरुत भूताग्निराहोस्विद्देवतात्माथवा शारीरः किं वा परमेश्वर इति वैश्वानरात्मशब्दाभ्यां संशयः। तत्र जाठराग्निर्वा भूताग्निर्वा देवतात्मा वा वैश्वानरः स्यात्। श्रुतिषु सर्वत्र वैश्वानरशब्दप्रयोगात्। अथवा शारीरो वा स्याद्वैश्वानरः, आत्मशब्दादात्मशब्दस्य तत्रैव मुख्यत्वाद्वैश्वानरशब्दस्यापि लक्षणया तत्र प्रवृत्तिसम्भवात्। तस्माच्छारीरो वैश्वानरो न परमेश्वरः।

इत्येवं प्राप्तेऽभिधीयते—वैश्वानरः परमेश्वरो भवितुमर्हति। कस्मात्? साधारणशब्दविशेषात्। वैश्वानरशब्दस्त्रयस्य साधारण आत्मशब्दो द्वयस्य साधारणस्तथापि विशेषो दृश्यते। "मूर्धैव सुतेजा" इत्यादिना। नचायं जठरादीनां सम्भवत्यतः परमेश्वरो वैश्वानरस्तस्य सर्वकारणत्वात् सर्वात्मत्वोपपत्तेः। तस्मिन् यथोक्तविशेषसम्भवात्।

किञ्च, "स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ती"ति वैश्वानरस्य परमेश्वरत्वे तदुपासकस्य तद्भावप्राप्त्या सर्वलोकाश्रयान्नत्तृत्वं सम्भवति। अन्यथा तन्न स्यात्। अपि च "तद्यथेषीका तूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते" इति वैश्वानरस्य परमेश्वरत्वे तदुपासकस्य तद्भावमापन्नस्य सर्वपाप्मदाह उपपद्यते। इतरथा तदयोगात्।

एवञ्च सति वैश्वानरादिशब्दा भाष्यकारोक्तप्रकारेण परमेश्वरे यथासम्भवं योजनीयाः। तस्माद्वैश्वानरः परमेश्वर इति सूत्रकारभाष्यकाराभ्यां श्रुत्यर्थः प्रतिपादितस्तस्माद्वैश्वानरस्येश्वरत्वं तदुपासकस्य तत्प्राप्तिः फलम्भवतीति भावः।

हिरण्यगर्भस्वरूपमाह—स एवेति। श्रुत्युक्तगुणोपेतः सूत्रात्मा हिरण्यगर्भोऽहमस्मीत्युपासकस्य तद्भावापत्तिफलमाह—एतदिति। हिरण्यगर्भोपासनयेत्यर्थः ॥३६॥

•

'वैश्वानर' शब्द का प्रयोग, यहाँ पर जठर आदि के लिते संभव नहीं हो सकता। अतः 'वैश्वानर' शब्द 'परमेश्वर' के लिये ही किया गया है, क्योंकि वही सर्वकारण है तभी उसमें सर्वात्मत्व की उपपत्ति हो पाती है। उसी में यथोक्त विशेषों संभावना हो सकती है।

किञ्च—श्रुति से प्रतिपादित सर्वलोकाश्रय अन्नातृत्व तभी संभव हो सकता है, जब वैश्वानर को परमेश्वर रूप माना जाय, उसकी उपासना करने से उपासक हो तद्भाव को प्राप्ति होती हो। अन्यथा सर्वलोकाश्रय-अन्नातृत्व का होना संभव ही नहीं हो सकेगा। अपि च श्रुति ने वैश्वानर भाव को प्राप्त हुए उसके उपासक के सर्वविध पापो का दग्ध होना बताया है, यह तभी उपपन्न हो सकता है, जब वैश्वानर को परमेश्वर रूप माना जाय। अन्यथा पापों का दग्ध होना संभव ही नहीं होगा।

भाष्यकार की प्रदर्शित रीति के अनुसार वैश्वानरादि शब्दों को परमेश्वर के अर्थ में ही यथा संभव योजना कर लेनी चाहिये। अतः 'वैश्वानर' परमेश्वररूप ही है—यह श्रुत्यर्थ, सूत्रकार तथा भाष्यकार दोनों ने ही बताया है। अतः वैश्वानर में ईश्वरत्व होने से उसके उपासक को उसकी प्राप्तिरूप फल का होना संभव हो पाता है। हिरण्यगर्भ के स्वरूप को बताते हैं—स एवेति। श्रुत्युक्त गुणों से युक्त हुआ सूत्रात्मा 'हिरन्यगर्भोऽहमस्मि'—इस अहंग्रहोपासना से उपासक को तद्भावापत्तिरूप फल की प्राप्ति को बताया है—एतदिति।

अतः वैश्वानर और हिरण्यगर्भ, 'ईश्वर' रूप ही हैं, 'जीव' रूप नहीं हैं—यह स्पष्ट हो रहा है। एवंच जो अधिकारी पुरुष, उस ईश्वर की अभेदोपासना करता है वह पुरुष, ईश्वरभाव को ही प्राप्त होता है। अभेदोपासना के उक्त फल का प्रतिपादन श्रुति-स्मृतियों ने भी किया है। श्रुति कहती कि यह अधिकारी पुरुष, उस परमात्मा को वैश्वानर हिरण्यगर्भादि जिन-नि रूपों से उपासना करता है, उसी-उसी रूप से विशिष्ट हुए परमात्मभाव (परमेश्वरभाव) को वह प्राप्त होता। अभेदोपासना के इसी फल को भगवान् शिव ने भगवान् राघवेन्द्र रामचन्द्र से कहा है—"येनाकारेण ये मर्त्या मामेवैक मुपासते। तेनाकारेण तेभ्योऽहं प्रसन्नो वाञ्छितं ददे।

अर्थात् यह जीव, मुझ एक ही (अद्वितीय) परमेश्वर जिस-जिस आकार में उपासना करता है, उसी-उसी आकार को मैं धारण कर उस पर प्रसन्न होता हूँ और उसके अभीष्ट फल को उसे देता हूँ। इसी तथ्य को भगवान् श्रीकृष्ण ने भी गीता में कहा है—

"यं यं वाऽपि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः" ॥३६॥

"अन्तर उपपत्ते"रित्यस्मिन्नधिकरणे सूत्रकारभाष्यकाराभ्यामुपकोशलविद्यायां तथैव प्रतिपादनात्। स एव केवलमायोपाधिकः सन् ईश्वर इत्युच्यते। तदुपासनया तत्प्राप्तिः फलम्भवति ॥३७॥

●

हिरण्यगर्भस्येश्वरत्वे तदुपासकस्य तत्प्राप्तौ च सम्मतिमाह—अन्तर उपपत्तेरिति। समन्वयलक्षणे स्थितम् "अन्तर उपपत्तेः" इति। "य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाच एतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति, तद्यद्यप्यस्मिन्सर्पिर्वोदकं वा सिञ्चन्ति वर्त्मनी एव गच्छती"ति श्रूयते। तत्र संशयः किमत्राक्ष्यधिकरणे उपास्यत्वेनोपदिश्यते छायात्मा उत देवतात्मा आहोस्विच्छारीरः किं वा परमेश्वर इति। तत्र दृश्यते इति निर्देशाच्छायात्मोपास्यत्वेनोपदिश्यते इति प्राप्नं तस्यैव चक्षुःसन्निधानात्। अथ वा देवतात्मा स्यादिन्द्रियानुग्राहकत्वेन सन्निहितत्वात्। यद्वा, शारीरः स्यात्तस्यापि करणस्वामित्वेन जाग्रदवस्थायां चक्षुर्विशेषतः सन्निहितत्वात्। तत्रैवात्मशब्दस्यापि मुख्यत्वादेवं निश्चिते सत्यमृतत्वादिकं शारीरे यथाकथञ्चिद्योजनीयम्। तस्माच्छारीर उपास्यो न तु परमेश्वर इति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः अक्षिस्थाने परमेश्वर एवोपास्यत्वेन निर्दिश्यते न च्छायादिः। कस्माद्वाक्यशेषगतसंयद्वामत्ववामनीत्व-भामनीत्वामृतत्वादिगुणजातस्य परमेश्वर एवोपपत्तेः, इतरत्रासम्भवात्। किञ्च वाक्योपक्रमे "प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्मे"ति सुखविशिष्टब्रह्माभिधानात् "य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत" इत्यत्रापि य एष सर्वनाम्नोः प्रकृतपरामर्शित्वेन तस्यैव प्रत्यभिज्ञानात्। "आचार्य्यस्तु ते गतिं वक्ते"त्यग्नीनां वचनाच्च वाक्योपक्रमे निर्दिष्टं सुखविशिष्टं ब्रह्म इहाक्षिस्थाने ध्येयत्वेनोपदिश्यत इति गम्यते। अन्यथा प्रकृतहानाप्रकृतप्रक्रिया प्रसङ्गात्। परमेश्वरस्यापि उपासनार्थमक्षिस्थानत्वमुपपद्यते। तस्मात्परमेश्वर एवोपास्यः।

उपकोशलेनाधीता विद्योपकोशलविद्या तस्याम् इयमाख्यायिका—"उपकोशलो ह वै कामलायनः सत्यकामे जावाले ब्रह्मचर्य्यमुवासे"ति श्रुतौवियमाम्नाता। उपकोशलो नाम कश्चिद्ब्रह्मचारी सत्यकामस्य गुरोर्निकटे ब्रह्मचर्य्यं कृतवान्। तमुपकोशलं

●

'हिरण्यगर्भ' को ईश्वर मानने में और उसके उपासक को उसकी प्राप्ति होने में सम्मति बता रहे हैं—अन्तर उपपत्तेरिति। समन्वय लक्षण में 'अन्तर उपपत्तेः' यह सूत्र है। वहाँ के अधिकरण में 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत' इत्यादि वाक्य सुना जाता है। तब संशय होता है कि इस अक्ष्यधिकरण में उपास्य के रूप में जिसका उपदेश किया जा रहा है, वह क्या छायात्मा है, या देवतात्मा है, अथवा शरीर है कि वा परमेश्वर है ?

उक्त वाक्य में 'दृश्यते' ऐसा निर्देश रहने से यह प्रतीत होता है कि उपास्य के रूप में 'छायात्मा' ही बताया जा रहा है, यही उचित है क्योंकि नहीं चक्षु के सन्निहित है।

अथवा—उपास्य के रूप में 'देवतात्मा' भी हो सकता है, क्योंकि इन्द्रियों का अनुग्राहक होने से वही सन्निहित है।

अथवा—उपास्य के रूप में वह वैश्वानर, 'शरीर' भी हो सकता है, क्योंकि वह, करणों का स्वामी है। जाग्रद-वस्था में चक्षुरिन्द्रिय विशेषतः सन्निहित रहता है। उसी में आत्म शब्द की मुख्यता रहती है। ऐसा निश्चय होने पर शरीर में अमृतत्व आदि की यथंकथंचित् योजना कर लेनी चाहिये। अतः शरीर की ही उपासना करनी चाहिये, 'परमेश्वर' की नहीं।

इसप्रकार पूर्वपक्ष के उपस्थित होनेपर, सिद्धान्त किया गया है कि—'अक्षि' स्थान में परमेश्वर का ही उपास्य के रूप में निर्देश किया गया है, छाया आदि का नहीं। क्योंकि वाक्यशेष के द्वारा निर्दिष्ट सम्पद्धामत्व, वामनत्व, भामनत्व (प्रकाशकत्व), अमृतत्व आदि गुणसमूह की उपलब्धी परमेश्वर में ही उपपन्न हो सकती है, इतरत्र उसकी उपलब्धि होना संभव नहीं है।

किञ्च—वाक्योपक्रम करते समय सुखविशिष्ट ब्रह्म का अभिधान किया है, तथा "य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत" इस में भी 'यः', 'एष'—इन दो सर्वनामों की प्रकृतपरामर्शिता रहने से उक्त सुखविशिष्ट ब्रह्म की ही प्रत्यभिज्ञा होती है। तथा 'आचार्यास्तु ते गतिं वक्ता'—इसप्रकार अग्नि का वचन भी है। इन सब का विचार करने से यही प्रतीति होती है कि वाक्योप-निर्दिष्ट सुखविशिष्ट ब्रह्म ही यहाँपर अक्षिस्थान में ध्येय के रूप में (उपास्य के रूप में) बताया गया है अन्यथा प्रकृतहान और अप्रकृत प्रक्रिया का प्रसंग प्राप्त होगा। और उपासना के लिये परमेश्वर में अक्षिस्थानत्व उपपन्न भी होता है। अतः परमेश्वर ही उपास्य है।—यह तथ्य "अन्तर उपपत्तेः" इस अधिकरण में सूत्रकार और भाष्यकार दोनों ने अभिव्यक्त किया है, तथा उपकोशल विद्या में भी उसी प्रकार बताया गया है।

"सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशादि"ति शाण्डिल्यविद्यायां, "दहर उत्तरेभ्य" इति दहरविद्यायाञ्च सूत्रकारभाष्यकाराभ्यां यथोक्तेश्वरोपासनया तत्प्राप्तिप्रतिपादनात् "तं यथा यथोपासते तत्तथैव[1] भवती"ति श्रुतेश्च ॥३८॥

●

शिष्यमग्निपरिचर्य्यानिमित्तं गृहे स्थापयित्वा गुरुः सत्यकामो द्रव्यार्जनार्थं देशान्तरं जगाम। तदोपकोशलस्य परिचर्य्यया सन्तुष्टास्त्रेताग्नयो ब्रह्मविद्यामुपदिदिशुः "प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्मे"ति, अनन्तरं स्वस्वविद्याञ्च। पश्चाद्गतिप्रश्ने कृते "आचर्य्यस्तु ते गतिं वक्ते"त्यग्नय ऊचुः। अनन्तरमागतेनाचार्य्येण प्रणतं शिष्यं प्रति 'ब्रह्मविन्मुखमिव त्वन्मुखं प्रतिभाति केनोपदिष्टा ब्रह्मविद्ये'ति पृष्टे, अग्निरुपदेष्टा आचार्य्यो गतिं वक्ष्यतीत्युक्तमित्युक्त्वोपकोशल आचार्य्यं शरणं प्रतिपेदे। शरणागतं शिष्यं सत्यकामो गुरुरुपदिदेश। "य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते" इत्यादिना। अत इयं विद्योपकोशलेनाधीतत्वादुपकोशलविद्येत्युच्यते। तस्मिन्नुपकोशलविद्यावाक्यविचारे सूत्रकारभाष्यकाराभ्यां समष्टिप्राणोपाधिकसुखविशिष्टपरमात्मोपास्त्या तत्प्राप्तिः प्रतिपादितेति भावः।

इदानीमपीश्वरस्वरूपमाह—स एवेति। मायास्वरूपं प्राङ्निरूपितम्। समष्टिस्थूलसूक्ष्मशरीरराहित्यं कैवल्यम्। "य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः" "स क्रतुं कुर्वीत मनोमयः प्राणशरीरो भारूप" इत्यादि श्रुत्युक्तगुणकः परमात्माहमस्मीत्युपासनया तत्प्राप्तिफलम्भवतीत्याह—तदिति। ईश्वरभावापत्तिः फलम्भवतीत्यर्थः ॥३७॥

तत्र सम्मतिमाह—सर्वत्रेति। समन्वयलक्षणे स्थितं "सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्"। "सर्वं खल्विदम्ब्रह्म तज्जलानिति शान्त

●

उपकोशल के द्वारा अध्ययन की हुइ विद्या को 'उपकोशल विद्या कहा गया है। उसमें यह आख्यायिका कही गई है—उपकोशल नामका कोई ब्रह्मचारी, सत्यकास संज्ञक गुरू के निकट जाकर ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करते हुए रहने लगा। उस उपकोशल नामक शिष्य को अग्निपरिचर्या के निमित्त घर में रखकर गुरु सत्यकाम द्रव्यार्जनार्थ देशान्तर गए। तब उपकोशल के द्वारा की जाने वाली परिचर्या (सेवा) से त्रेताग्नियां उसपर सन्तुष्ट हुई। सन्तुष्ट होकर उन्होंने उपकोशल को ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया और ब्रह्मविद्या का उपदेश करने के साथ ही स्व-स्व विद्याओं को भी बताया। तदनन्तर उपकोशल ने 'गति विषयक प्रश्न', उनसे किया। तब त्रेताग्नियों ने उससे कहा—हे उपकोशल! गति के विषय में तुम्हारे आचार्य बतावेंगे। उसके पश्चात् आये हुए आचार्य ने प्रणाम करने वाले शिष्य को देखा, तो शिष्य का मुख, ब्रह्मज्ञानी के मुख की तरह दिखाई दिया। तब आचार्य ने कहा कि हे उपकोशल! आज तुम्हारा मुख, ब्रह्मज्ञानी के मुखमण्डल की तरह दिखाई दे रहा है। अरे उपकोशल! तुम्हें ब्रह्मविद्या का उपदेश किसने किया? यह पूछने पर शिष्य ने बताया कि अग्नि ने ब्रह्मविद्या का उपदेश मुझे किया और गति के विषय में तुम्हारे आचार्य, तुम्हें बतावेंगे—यह कहकर उस उपकोशल ने आचार्य के चरणों की शरण ली। शरण आये हुए शिष्य को गुरु सत्यकाम ने "य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते"—कहकर उपदेश दिया। अतः इस विद्या को उपकोशल विद्या कहा गया है, क्योंकि इस विद्या का उपकोशल ने गुरु से अध्ययन किया था। उस उपकोशल विद्या के वाक्य का विचार करते समय सूत्रकार और भाष्यकार दोनों ने समष्टि प्राणोपाधिक सुखविशिष्ट परमात्मा की उपासना करने से उसकी प्राप्ति का प्रतिपादन किया है।

केवल मायोपाधिक होने पर वही 'ईश्वर' कहलाता है। 'माया' का स्वरूप पहले बता चुके हैं। समष्टिस्थूल और समष्टिसूक्ष्म शरीर का अभाव हो जाना ही 'कैवल्य' है। श्रुत्युक्तगुणक परमात्मा 'मैं हूँ'—इसप्रकार अभेदोपासना करने से उस परमेश्वर-भाव की प्राप्ति होना ही फल कहा गया है—तदिति। अर्थात् ईश्वर-भावापत्ति फल की प्राप्ति होती है ॥ ३७ ॥

शाण्डिल्यविद्या तथा दहरविद्या का विचार करते हुए ब्रह्मसूत्रकार एवं भाष्यकार ने प्रतिपादित किया है कि शास्त्र-बोधित प्रकार से ईश्वर की उपासना करने से ईश्वर की प्राप्ति हो जाती है। वेद में भी कहा है कि जिस प्रकार से उसकी उपासना की जाती है वैसा ही फल होता है। अतः पूर्वोक्त सिद्धांत स्थिर है।

पूर्वोक्त निर्णय में सम्मति प्रदर्शित करते हैं—सर्वत्रेति। समन्वयाध्याय (प्रथमाध्याय) में 'सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्'—यह सूत्र है। इस अधिकरण में 'यह सब ब्रह्म ही है; यह निश्चय किया है, अर्थात् इसमें सन्देह नहीं है। क्योंकि उसी से (ब्रह्म से)

१. तत्तदेव इत्यपि पाठः।

उपासीत अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथा क्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत। मनोमयः प्राणशरीरो भारूप" इत्यादि श्रूयते। तत्र संशयः—किमत्र मनोमयत्वादिगुणकः शरीर[1] उपास्यत्वेनोपदिश्यते, आहोस्वित्परम्ब्रह्मेति। तत्र शारीर एवोपास्यत्वेनोपदिश्यते। मनोमयत्वादिगुणजातस्य तस्यैव मुख्यत्वेनोपपत्तेः। न परम्ब्रह्म "अप्राणोह्यमनाः शुभ्र" इत्यादि श्रुत्या प्राणादिसम्बन्धप्रतिषेधेन तस्मिन्मनोमयत्वादिगुणानुपपत्तेः। यद्यपि जीवोऽप्रकृतो, वाक्योपक्रमगतं ब्रह्म प्रकृतम्, तथापि शमगुणविध्यर्थवादगतत्वेन ब्रह्मणोऽप्यप्रकृतत्वादिलिङ्गाच्छारीर[2] एवोपास्यः। एवं निश्चिते वाक्यशेषगतगुणजातं शारीरे योजयितव्यम्। तस्माच्छारीर एवोपास्यो न ब्रह्म।

इति प्राप्तेऽभिधीयते—परमेव ब्रह्म मनोमयत्वादिगुणकमुपास्यतया प्रतिपत्तव्यम्। कस्मात्? सर्वेषु वेदान्तेषु तस्यैवोपास्यत्वेन प्रसिद्धतयोपदेशात्।

अत्रापि प्राणः शरीरमस्येति समासान्तर्गतसर्वनामश्रुत्या सन्निहितस्य ब्रह्मणः परामर्शात्। तद्धितार्थस्य सामान्यरूपतया विशेषापेक्षाया[3] निवर्त्तकत्वाभावाच्च। वाक्यशेषगतानां सत्यकामत्वादिगुणानां ब्रह्मण्येवोपपत्तेश्च शारीरेऽनुपपत्तेः

●

यह जगत् उत्पन्न हुआ है, उसी में लीन होता है, और उसी में चेष्टा करता है, इस कारण शान्त होकर उस ब्रह्म की उपासना करनी चाहिये।

यह 'जीव' संकल्पमय है, यह पुरुष इस लोक में जैसे संकल्प करता है, इस लोक से मरकर वैसा ही होता है। अतः वह उपासना करे—इस प्रकार से उपासना के विधान पर विचार किया गया है। उपनिषत् में मनोमय प्राण शरीर तथा भारूप—कह कर उपासना का विषय बताया गया है—पुरुष को मनोमय, प्राण शरीर, और चैतन्यस्वरूप का ध्यान करना चाहिये। इस प्रसंग में संदेह उत्पन्न होता है कि क्या यहाँ मनोमयत्वादिधर्मों से शारीर आत्मा का उपास्य रूप से उपदेश किया गया है अथवा परब्रह्म का? यह सन्देह होने पर पूर्वपक्षी का कहना है कि शारीर आत्मा को ही उपास्य के रूप में कहा गया है, क्योंकि शरीर और इन्द्रियों के अधिपति शारीर आत्मा का 'मन' आदि के साथ सम्बन्ध प्रसिद्ध है। परब्रह्म का मन आदि से सम्बन्ध प्रसिद्ध नहीं है। क्योंकि 'प्राण से रहित, मन से रहित, और शुभ्र'—इत्यादि श्रुतियों से उसका (परब्रह्म का) मन आदि के साथ सम्बन्ध न रहना बताया गया है। एवञ्च उसमें (परब्रह्म में) मनोमयत्वादि धर्मों (गुणों) की उपपत्ति नहीं होती, अपितु उन धर्मों की उपपत्ति तो इस शारीर आत्मा (जीवात्मा) में ही मुख्यतया होती है। अतः वही (शारीर आत्मा ही) उपास्य है, यह समझना चाहिये।

यद्यपि 'जीव' अप्रकृत है, और वाक्य के उपक्रम में प्रयुक्त ब्रह्म ही प्रकृत है, तथापि शमगुण विधि के अर्थवाद में आने से 'ब्रह्म' भी अप्रकृत है—यह कह सकते हैं। एवञ्च अप्रकृतत्व आदि लिङ्गों (चिह्नों) को देखते हुए शारीर जीव (जीवात्मा) ही उपास्य के रूप में प्रतीत हो रहा है। यह निश्चित होनेपर वाक्यशेष में कहे हुए जितने भी धर्म (गुण) हैं, उनकी योजना शारीर आत्मा (जीवात्मा) में ही करनी चाहिये। अतः 'शारीर ही उपास्य है, ब्रह्म नहीं'—यह पूर्वपक्ष, पूर्वपक्षी के द्वारा उपस्थित किये जाने पर—

सिद्धान्ती कहता है कि मनोमयत्वादि धर्मक (गुणक) परब्रह्म को ही उपास्य के रूप में जानना चाहिये। क्योंकि सम्पूर्ण वेदान्त में उसी की उपास्य के रूप में प्रसिद्धि बताई गई है।

यहाँ पर भी 'प्राणः शरीरमस्य' इसप्रकार समासान्तर्गत सर्वनाम का श्रवण हो रहा है, उस कारण सन्निहित ब्रह्म का ही उससे परामर्श किया जाता है। यहाँ तद्धितार्थ सामान्यरूप होने से अपेक्षा का निवर्तक नहीं हो रहा है। और वाक्यशेष में कहे गये सत्यकामत्वादि गुणों की उपपत्ति ब्रह्म में ही हो सकती है। तथा शमविधिपरक वाक्य से भी उपास्य के रूप में 'ब्रह्म' को ही समझना चाहिये। यह निश्चित होने पर शारीर और परात्मा में अभेद रहने से मनोमयत्वादिकधर्मों की संभवना ब्रह्म में भी की जा सकती है।

---

१. शारीर इति स्यात्। एवमग्रेपि।

२. अप्रकृतत्वाद् लिंगाच्छारीर इति पाठः स्यात्। लिंगं मनोमयत्वाद्युक्तम्।

३. सर्वनाम मनोमयमेव परामृशत्वित्यत आह—तद्धितेति। यदुक्तं भामत्यां 'समासः सर्वनामार्थः संनिकृष्टमपेक्षते। तद्धितार्थोऽपि सामान्यं नापेक्षाया निवर्तकः'॥ इति।

शमविधिपरादपि वाक्याद्ब्रह्मैवोपास्यत्वेन ग्राह्यम् एवं निश्चिते शारीरपरात्मनोरभेदात् मनोमयत्वादिकम्ब्रह्मण्यपि सम्भवति। यद्यपि वैपरीत्यं तथापि

"समारोप्यस्य रूपेण विषयो रूपवान् भवेत्। विषयस्य तु रूपेण समारोप्यं न रूपवत्" ॥

इत्याचार्य्यवाचस्पतिमिश्रैरुक्तत्वान्न वैपरीत्यम्।

किञ्च, "एतमितः प्रेत्याभिसम्भावितास्मि"
"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत"।

इति श्रुतिस्मृतिभ्यामुपास्योपासकयोः शारीरपरब्रह्मणोर्गन्तृगन्तव्यभावेन भेदव्यपदेशात्। अनन्तकल्याणगुणकं सर्वज्ञं सर्वशक्तिनित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यपरमानन्दाद्वयं परब्रह्मोपास्यम्। यद्यपि "नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा" "क्षेत्रज्ञञ्चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत" इति श्रुतिस्मृतिभ्यां परमात्मनोऽन्य शारीरो नास्ति तथाप्यविद्याकल्पितभेदमादाय तद्व्यपदेशः।

एवञ्च यथोक्तपरमेश्वरोपासकस्य तत्प्राप्तिः फलम्भवति। "यथा क्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति" "मद्भक्ता यान्ति मामपि" "मत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यति शाश्वतमि"त्यादि श्रुतिस्मृतिभ्यः। तस्माद्ब्रह्मैवोपास्यमिति शाण्डिल्यविद्यावाक्ये निश्चितं सूत्रकारभाष्यकाराभ्याम्। एवमन्यत्रापि।

●

शंका—शारीर और परात्मा के अभेद की दृष्टि से विपरीत संभावना भी की जा सकती है।

समा०—'आरोप्य के रूप से विषय रूपवान् हो सकता है, किन्तु विषय के रूप से समारोप्य पदार्थ रूपवान् नहीं हो सकता'—ऐसा श्रीमद्वाचस्पतिमिश्र ने कहा है, अतः वैपरीत्य की संभावना नहीं की जा सकती।

किञ्च—'इस शरीर से छुटकारा पाकर उस आत्मा को प्राप्त करूँगा' (छा० ३।१४।४)—इस श्रुति ने कर्म और कर्ता के रूप से दो पदार्थों का उपदेश किया है। अतः स्पष्टतया प्रतीत होता है कि 'जीवात्मा', मनोमयत्वादि धर्मों (गुणों) से युक्त नहीं हैं। हे अर्जुन! शरीरधारी जीवों को 'माया' के द्वारा घुमाने वाला ईश्वर समस्त भूतों के हृदय में रहता है—यह स्मृति भी शारीर और परमात्मा में भेद बता रही है।

अन्यान्य श्रुति-स्मृतियों के वचनों से 'उपास्य और उपासक' के रूप में तथा 'गन्तृ और गन्तव्य' के रूप में 'शारीर और परब्रह्म' का भेद बताया गया है। एवञ्च—अनन्तकल्याण गुणवाला सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-सत्य-परमानन्द-अद्वय परब्रह्म ही 'उपास्य' है।

यद्यपि इससे अन्य द्रष्टा नहीं तथा—हे अर्जुन! सब शरीरों में क्षेत्रज्ञ भी मुझे ही समझो—इत्यादि श्रुति-स्मृति के वचनों से प्रतीत हो रहा है कि परमात्मा से अन्य (भिन्न) शारीर नहीं है, तथापि 'भेद' को अविद्याकल्पित मानकर दोनों में अभेद समझा जाता है।

एवंच यथोक्त परमेश्वर की उपासना करने से शारीर आत्मा (उपासक) को उसकी प्राप्ति (फल) हो जाती है। पुरुष, इस लोक में जैसे संकल्प (ध्यान) करता है, इस लोक से मरकर वैसा ही होता है—इस श्रुति व एतदर्थक स्मृतियों से भी पूर्वोक्त तथ्य की पुष्टि हो रही है। अतएव सूत्रकार तथा भाष्यकार दोनों ने शाण्डिल्यविद्या के वाक्य में 'ब्रह्म' के ही उपास्य होने का निर्णय किया है। इसी तरह अन्यत्र भी समझना चाहिये।

"दहर उत्तरेभ्यः" (ब्र० सू० १।३।१४ अधि० ५)—इस सूत्र के अधिकरण में विचार करने के लिये यह विषय वाक्य उपस्थित किया गया है—अथेत्यादि। (छा० उ० ८।१।१)—इस शरीर (ब्रह्मपुर) में जो अल्प हृदय-कमलरूप घर है, उसमें अल्प अन्तराकाश है, उस आकाश में जो है, उसका अन्वेषण करना चाहिये, उसका ही विशेष ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। इस श्रुतिवाक्य में जो 'अल्प (दहर) आकाश' कहा गया है, उस 'आकाश' शब्द से क्या 'भूताकाश' समझना चाहिये या 'विज्ञानात्मा' (जीवात्मा=शारीर) समझना चाहिये, अथवा 'परमेश्वर' (परमात्मा) समझना चाहिये? यह संशय (संदेह) हो रहा है।

संशय उत्पन्न होने का कारण यह है कि श्रुतिवाक्य में 'आकाश' और 'ब्रह्मपुर' शब्द कहे गये हैं। 'आकाश' शब्द का 'भूताकाश' और 'परब्रह्म' में प्रयोग होता देखा जाता है। इससे संदेह हुआ कि दहर 'भूताकाश' है, या 'परब्रह्म'? तथा

"दहर उत्तरेभ्यः" । "अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन्यदन्तस्त-दन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमि"त्याम्नायते. अत्राकाशशब्देन भूताकाशः प्रतिपाद्यते शारीरः परमेश्वरो वेति संशयः। आकाशशब्दस्य भूतविशेषे रूढत्वात्तदेवेह प्रतिपाद्यत इति प्राप्तम्। अथवा शारीरो वा प्रतिपाद्यते। दहराकाशशब्देन तस्मिन्नात्म-शब्दस्य मुख्यत्वात् । तस्माच्छारीर एव दहरो न परमेश्वर इति प्राप्ते—

ब्रूमः दहराकाशः परमेश्वरो भवितुमर्हति। कस्माद्उत्तरेभ्यो हेतुभ्यः। तथाहि—उत्तरत्र"यावान् वा अयमाका-शस्तावानेषोऽन्तर्हृदयाकाश" इति बाह्याकाशेन दहराकाशस्योपमानोपमेयभावः प्रतिपाद्यते। स च भूताकाशपरिग्रहे नोपपद्यते, तेन तस्योपमेयत्वायोगात् । तथा जीवपरिग्रहेपि तस्योपाधिपरिच्छिन्नस्य तेन तदयोगात् ।

•

'ब्रह्मपुर' में 'ब्रह्म' शब्द, 'जीव' का वाचक है, क्योंकि उसका 'पुर' होने से यह शरीर 'ब्रह्मपुर' कहलाता है, या 'परब्रह्म' का पुर होने से यह 'ब्रह्मपुर' कहलाता है ? यह संशय होता है। इस संशय के बाद यह संशय होता है कि 'जीव' और 'परब्रह्म' से कौन 'दहराकाश' है ?

'आत्मा' शब्द का प्रयोग 'शरीर जीवात्मा' में ही मुख्यतया किया जाता है। अतः 'दहराकाश' शब्द से 'शारीर जीवात्मा' को ही समझना उचित होगा। 'परमेश्वर' को 'दहराकाश' शब्द से समझना उचित नहीं है—यह पूर्वपक्षी ने कहा। उक्त पूर्वपक्ष का अभिप्राय यह है कि 'आकाश' शब्द 'भूताकाश' में रूढ है। अतः 'दहर' शब्द, 'भूताकाश' का ही वाचक है। उसका स्थान 'अल्प' होने से उसे 'दहर' कहते हैं। कहा भी है कि जितना 'भूताकाश' है, उतना ही हृदय के भीतर यह 'दहराकाश' है—इस प्रकार बाह्य और आभ्यन्तर भेद की कल्पना से भेद मानकर 'उपमानोपमेयभाव' है. और 'आकाश' तथा 'पृथिवी' आदि उसमें अवस्थित हैं, क्योंकि अवकाशस्वरूप होने से 'आकाश' एक है।

अथवा 'दहर' शब्द से 'जीवात्मा' को भी समझा जा सकता है। क्योंकि 'ब्रह्मपुर' शब्द सुनाई पड़ रहा है। 'जीवात्मा' का 'शरीर' होने से इस शरीर को 'ब्रह्मपुर' भी कहते हैं। क्योंकि 'जीवात्मा', उसे अपने कर्मों से प्राप्त करता है, और गौणीवृत्ति से 'जीव' को भी 'ब्रह्म' शब्द से कहा जा सकता है। 'परब्रह्म' का शरीर के साथ 'स्व-स्वामिभाव' सम्बन्ध भी नहीं है। जैसे नगर का स्वामी, नगर के एक भाग में रहता है, अथवा जैसे राजा, राजधानी के एक भाग में (राजभवन में) रहता हे। उसी तरह 'मन', तो 'जीव' की उपाधि है। वह मन, प्रायः हृदय में रहता है। अतः जीव की ही हृदय में स्थिति हो सकती है, और 'दहरत्व' भी उसी में घटित हो पाता है। एवंच वही (जीवत्मा ही) उपास्य है।

इस पूर्वपक्ष पर सिद्धान्ती उत्तर देता है—'दहराकाश' शब्द से 'परमेश्वर' को ही समझना चाहिये। क्योंकि यह समझने का औचित्य, अनेक कारणों से है। तथाहि—

सिद्धान्ती का कहना है कि यहाँ पर 'परमेश्वर' ही दहराकाश है। 'भूताकाश' या 'जीव'—दहराकाश नहीं है, क्योंकि 'वाक्यशेष' में कहे गये हेतुओं से यही समझमें आता है। 'तं चेद् ब्रूयुः'—आचार्य से शिष्य, यदि कहे—यह उपक्रम करके यहाँ, वह क्या है ? जो अन्वेषण करने योग्य है. और विशेषरूप से जिज्ञासा करने योग्य है'—इसप्रकार आक्षेपपूर्वक समाधान करते हैं—(छां० उ० ८।१।३) वह कहे कि जितना बड़ा यह बाह्य आकाश है, उतना ही हृदय में यह आभ्यन्तर आकाश है, स्वर्ग और पृथिवी दोनों उसके भीतर स्थित हैं। इस वाक्य से प्रतीत होता है कि कमल के अल्पत्व से जिसको अल्पत्व प्राप्त हुआ है, उस आकाश की, प्रसिद्ध आकाश के साथ उपमा देकर उसके अल्पत्व की निवृत्ति करते हुए आचार्य दहराकाश में भूताकाशत्व की भी निवृत्ति करते हैं। यद्यपि 'आकाश' शब्द 'भूताकाश' में रूढ है, तथापि उसीके साथ उसकी उपमा नहीं बन सकती। अतः 'दहर' शब्द से भूताकाश की प्रतीति की आशंका निवृत्त हो जाती है। जब एक ही आकाश के बाह्य और आभ्यन्तर भेद की कल्पना से भेद मान लेते हैं, तब उपमानोपमेयभाव बन जाता है—यह जो पूर्वपक्षी ने कहा था, वह संभव नहीं है, क्योंकि काल्पनिक भेद, उपायान्तर के अभाव में ही माना जाता है।

किञ्च—भेद की कल्पना करके उपमानोपमेय भाव का वर्णन करने वाले के मत में आभ्यन्तर आकाश, परिच्छिन्न होने से बाह्य आकाश के बराबर नहीं हो सकेगा।

परन्तु 'ज्यायानाकाशात्'—(श० ब्रा० १०।६।३।२) आकाश से बड़ा—इत्यादि अन्य श्रुति से परमेश्वर का भी परिमाण आकाश के परिमाण के बराबर नहीं हो सकता।

किञ्च, 'य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्प' इति वाक्यशेषगतानां गुणानां शारीरभूताकाशयोरनुपपत्तेः। दहराकाशः परमेश्वर एव। अपि च, "यद्ये[1] इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति" "य एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" इति दहराकाशोपासकस्य तद्भावापत्तिफलं दर्शयति तच्च शारीरभूताकाशपरिग्रहे नोपपद्यते। तस्माद्दहराकाशः परमेश्वर एवेति दहरविद्यावाक्ये सूत्रकारभाष्यकाराभ्यामीश्वरोपासनया तद्भावापत्तिः प्रतिपादिता। तस्मात्तदुपासनया तत्प्राप्तिः फलम्भवतीति निरवद्यम्।

ईश्वरोपासनया तत्प्राप्तिः फलम्भवतीत्यत्र श्रुत्यन्तरं संवादयति—तं तथेति। तं परमात्मानं यथा येन प्रकारेण यादृशगुणविशिष्टत्वेनोपासते अहमेवेश्वरोऽस्मीति ध्यायति तथैव तादृशमेव फलम्भवति। तदुक्तम् सदाशिवेन रघुनाथं प्रति—

"येनाकारेण ये मर्त्या मामेवैकमुपासते। तेनाकारेण तेभ्योऽहं प्रसन्नो वाञ्छितं ददे" ॥ इति।

चकारेण स्मृतिं समुच्चिनोति।

"यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्। तं तमेवैति कौन्तेय ! सदा तद्भावभावितः" ॥ इति स्मृतेश्चेत्यर्थः ॥३८॥

●

यह दोष नहीं हैं। क्योंकि वह वाक्य पुण्डरीक के वेष्टन से प्राप्त हुए अल्पत्व को केवल निवृत्ति ही करता है, भूताकाश के तुल्य परिमाण को नहीं बताता। दोनों को यदि बतावेगा तो 'वाक्यभेद' होगा। और काल्पनिक भेदवाले पुण्डरीक से वेष्टित हुए आकाश के एकदेश में स्वर्ग, पृथिवी आदि का रहना भी संभव नहीं है।

यह 'आत्मा' पाप से विमुक्त, जरा, मरण और शोक से रहित, भूख और प्यास से मुक्त, सत्यकाम और सत्यसङ्कल्प है—इस वाक्यशेष के द्वारा बताये गये गुणों का शरीर आत्मा तथा भूताकाश दोनों में भी रहना संभव नहीं है। अतः 'दहराकाश' शब्द वाच्य, परमेश्वर को ही समझना चाहिये।

अपिच—जो यहाँ आत्मा का और इन सत्य कामों का आचार्य के उपदेशानुसार ध्यान से अनुभव कर परलोक में जाते हैं, उनका सभी लोकों में स्वेच्छा विहार होता है—इस वाक्य से प्रकृत दहराकाश के विज्ञान का फल, अनन्त बताकर 'दहर' परमात्मा ही है, यह तथ्य, श्रुति ने सूचित किया है।

यदि 'वाक्यशेष' के बल पर यह स्वीकार करते हैं कि 'दहर' शब्द से परमेश्वर का ग्रहण करना ही उचित है तो जो यह जीव इस शरीर से उठकर परं ज्योति को प्राप्त करके अपने स्वरूप से अभिव्यक्त होता है, वह 'आत्मा' है, ऐसा प्रजापति ने कहा है (छां० उ० ८।३।४) इस वाक्य में दूसरे का (जीवका) भी परामर्श होता है। 'जीव' का प्रतिपादक वाक्यशेष "अथ य एष' इत्यादि है। 'दहर' को बताने के बाद, मुक्तों द्वारा गम्य, 'शुद्ध ब्रह्म' बताया गया है। जो यह सम्प्रसाद (जीव) है, वह इस देहेन्द्रियों के समूह से समुत्थान करके (उनसे आत्मा का विवेक करके विविक्त आत्मा का स्वरूप से अर्थात् ब्रह्मरूप से साक्षात्कार करके) उसी प्रत्यक् 'पर ज्योति' को प्राप्त करता है। ऐसी व्याख्या करना ही उचित है, जैसे—'मुखं व्यादाय स्वपिति'—इस वाक्य का अर्थ—सोकर मुख खोलता है'—किया जाता है, वैसे ही 'परं ज्योतिरुपसम्पद्य' का अर्थ, अपने स्वरूप का साक्षात्कार करके 'परज्योति को प्राप्त करता है'—यह करना उचित है। इस प्रकार जीव का परामर्श करने से 'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः—वाक्य में 'जीव' ही कहा गया है।

उक्त कथन, 'जीव' में उपपन्न न हो सकने से ठीक नहीं है। क्योंकि बुद्धि आदि उपाधियों के अभिमानी जीव को 'आकाश' की उपमा नहीं दी जा सकती। और उपाधिगत धर्मों के अभिमानी में 'पापराहित्यादिधर्म' का रहना संभव नहीं है। अतः 'दहराकाश' शब्द से 'ब्रह्म' को ही समझना चाहिये, 'जीव' को नहीं। उक्त वाक्यशेष से दहराकाशोपासक को तद्भावापत्तिरूप फल बताया गया है। उसकी उपपत्ति, 'शारीर' या भूताकाश' का ग्रहण करने पर नहीं हो सकेगी। अतः 'दहराका' परमेश्वर ही है। इसप्रकार दहरविद्यावाक्य में सूत्रकार भाष्यकार दोनों ने ईश्वरोपासना से ईश्वरभावापत्तिरूप फल बताया है। एवञ्च उसको उपासना से उसकी प्राप्तिरूप फल मिलता है। यह बताया गया है जो सर्वथैव उचित है। ईश्वरोपासना फल की प्राप्ति के होने में अन्यश्रुति भी उपस्थित की है—'तं यथेति। उस परमात्मा को जिस प्रकार से अर्थात् यादृशगुणविशिष्ट के रूप में उपासना करते हैं, यानी 'अहमेव ईश्वरोस्मि' इस प्रकार से ध्यान करता है, उसे उसीप्रकार का फल मिलता है।

इसी बात को भगवान् सदाशिव ने राघवेन्द्र रामचन्द्र से, तथा अर्जुन को श्रीकृष्ण ने कहा है।

---

१. अथ ये—इत्युपनिषदि।

भावनामान्द्ये तु तत्तारतम्येन सार्ष्टिसारूप्यसामीप्यसालोक्यफलानि भवन्ति। "साम्नः सायुज्यं सलोकतां जयती"-त्यादि श्रुतेः।

●

ननु भावनोत्कर्षेण तत्साक्षात्कारवतस्तत्फलम्भवतु भावनामान्द्ये किं स्यादिति? तत्राह—भावनेति। मनुष्यत्व-विस्मृतिपूर्वकं तद्भावापत्तिर्भावनोत्कर्षः। देहे मनुष्योऽहमिति यथा, तद्वत् ईषन्मनुष्यत्वस्मरणपूर्वकं तद्भावापत्तिर्भावनामान्द्यम्। तत्तारतम्येन परमेश्वरेण समानैश्वर्य्यभोगवत्त्वं सार्ष्टिः जगद्व्यापारवर्जम्[1]। तदुक्तम्, "जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वा-च्चेति"। समानरूपत्वं सारूप्यम्। समीपवर्त्तित्वं सामीप्यम्। समानलोकत्वं सालोक्यम्। एवं भावनातारतम्येन फलतारतम्ये श्रुतिं प्रमाणयति—साम्न इति। साम्नः प्राणस्य सायुज्यं तादात्म्यं तद्भावापत्तिमित्यर्थः। न चान्यस्यान्यभावापत्तिः कथं विरोधादिति वाच्यम्; समष्टि(क)कारणानामेव परिच्छेदाभिमानेन व्यष्टित्वप्राप्तिरिति अपरिच्छिन्नोपासनया परिच्छेदाभिमाननिवृत्त्या व्यष्टित्वनिवृत्तिसम्भवेन तद्भावापत्तेरविरोधादुपाकरय। इममेवार्थं श्रुतिराह—"देवो भूत्वा देवानप्येति"। एतादृशं फलम्भाव-नोत्कर्षेण भवति तन्मान्द्ये पूर्वोक्तमेव भवतीति दर्शयति—स लोकतामिति[1]। आदिशब्देन "एतासां देवतानां सायुज्यं सार्ष्टितां समानलोकतां यान्तीति" इत्यादिश्रुतयो गृह्यन्ते। सालोक्यादिफलभेदः पुराणेषु स्फुटः।

एवं सगुणोपासकानां तत्पदवाच्यार्थनिरूपणप्रसङ्गेन तत्तदुपासनया तत्तत्प्राप्तिफलमुक्त्वोपासनाप्रसङ्गेन सर्वतो विरक्तानां मन्दप्रज्ञानां विचाराक्षमाणां[2] ब्रह्मजिज्ञासूनां निर्गुणब्रह्मोपासनया तत्साक्षात्कारद्वारा "ईक्षतिकर्म्मव्यपदेशात्स" इति न्यायेन

●

शंका—पूर्व कथनानुसार भावना के उत्कर्ष से ईश्वर का साक्षात्कार कर लेनेवाले पुरुष को ईश्वरभाव की प्राप्ति भले ही हो, किन्तु मन्दभावनावाले साधक पुरुष को किस फल की प्राप्ति होगी?

समा०—भावनेति। मन्दभावनावाले साधक को पूर्वोक्त फल तो प्राप्त नहीं होता, तथापि मन्दभावना के तारतम्य के अनुरूप उस साधक को (१) सार्ष्टि, (२) सारूप्य, (३) सामीप्य, (४) सालोक्य—चार प्रकार का फल प्राप्त होता है।

अपने मनुष्यभाव (मनुष्यत्व) की विस्मृति पूर्वक उपास्य देवभाव की प्राप्ति का होना ही भावना का उत्कर्ष है। और अपने मनुष्यभाव के किञ्चित् स्मरण पूर्वक—उपास्य देवभाव की प्राप्ति का होना ही भावना की मन्दता है। जगत् की उत्पत्ति आदि व्यापार को छोड़कर उपासक पुरुष को परमेश्वर के समान ऐश्वर्य तथा भोगों की प्राप्ति होने को 'सार्ष्टि' कहते हैं। तथा उस मन्दभावनावाले उपासक को ईश्वर के समानरूप की प्राप्ति होने को 'सारूप्य' कहते हैं। तथा ईश्वर की समीपवर्तिता की प्राप्ति होने को 'सामीप्य' कहते हैं, और ईश्वर के लोक में निवास प्राप्त होने को 'सालोक्य' कहते हैं। इस रीति से वह उपासक अपनी मन्दभावना की तरतमता के कारण चार फलों को प्राप्त करता है। इसी बात को श्रुति कह रही है—"साम्नः" इत्यादि।

यह उपासक पुरुष अपनी भावना की तरतमता से हिरण्यगर्भ (प्राण) के सायुज्य (तादात्म्य), सालोक्यादि फलों को प्राप्त करता है। अर्थात् उसे तद्भावापत्ति प्राप्त होती है।

शंका—सभी कोई अपने ही स्वरूप में रहा करते हैं। कोई भी किसी दूसरे के रूप को ग्रहण नहीं किया करता, यह सभी को प्रत्यक्ष है, तब अन्य को अन्यभाव की प्राप्ति कैसे हो सकती है? क्योंकि दोनों रूप एक-दूसरे से भिन्न (विरुद्ध) हैं।

समा०—समष्टि कारणों को ही 'परिच्छेद' के अभिमान से व्यष्टित्व की प्राप्ति हुआ करती है। अतः अपरिच्छिन्नो-पासना से परिच्छेदाभिमान की निवृत्ति हो जाने से व्यष्टित्व का निवृत्त होना सम्भव है। उस कारण तद्भावापत्ति के होने में कोई विरोध नहीं है। एवञ्च उपासक को तद्भावापत्तिरूप फल प्राप्त होता है। इसी तथ्य को श्रुति ने भी बताया है—"देवो भूत्वा देवानप्येति"। अतः देवभाव (ईश्वरभाव) रूप फल की प्राप्ति, भावना के उत्कर्ष से ही होती है। और भावना के मन्द रहने पर उपर्युक्त चार प्रकार के फल प्राप्त होते हैं। 'इत्यादिश्रुतेः'—यहाँ के 'आदि' शब्द से अन्य श्रुतिवाक्यों का भी ग्रहण किया गया है। पुराणों में सालोक्यादि भिन्न-भिन्न फलों की प्राप्ति का होना स्पष्टतया बताया गया है।

'तत्' पदार्थ के वाच्यार्थ का निरूपण करते समय सगुण-ब्रह्म के उपासक पुरुषों को अपनी-अपनी उपासना के अनुरूप तत्तत् सगुणब्रह्म की प्राप्तिरूप फल बता चुके हैं।

१. सालोक्यानि इत्यपि पाठः।
२. विचाराक्षमाणामिति स्यात्।

ये पुनः साधनचतुष्टयसम्पन्ना विचारासमर्थाः मन्दप्रज्ञाः तेषां गुरुमुखाद् ब्रह्म निश्चित्य सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं सच्चिदानन्दलक्षणं ब्रह्माऽहमस्मीति निर्गुणब्रह्मोपासनया अस्मिन्नेव शरीरे जीवदवस्थायां मरणावस्थायां वा ब्रह्मलोके वा उत्पन्नब्रह्मसाक्षात्कारेण तत्प्राप्तिफलम्भवति श्रुतिन्यायसामर्थ्यात्। "ॐ मित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत"……

●

मणिप्रभायां मणिबुद्ध्या प्रवृत्तस्य मणिप्राप्तिवन्निर्गुणब्रह्मप्राप्तिं दर्शयति—ये पुनरिति। नित्यानित्यवस्तुविवेकादिसाधनचतुष्टयम्। एतच्च अग्रे निरूपयिष्यति। ब्रह्मविचारासमर्था इत्यर्थः। तत्र हेतुमाह—मन्देति। नच मन्दप्रज्ञानां ब्रह्मज्ञाने कथं प्रवृत्तिः स्यादिति वाच्यम्, मुमुक्षावशात्। तथा श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणेषु मन्दप्रज्ञानां मैत्रेयीप्रभृतीनां मुमुक्षूणां मोक्षसाधने ज्ञानादौ प्रवृत्तिदर्शनात्, प्रायः स्त्रीणां मन्दप्रज्ञत्वाच्च। एवं पुरुषाणामपि तत्सम्भवात् न काप्यनुपपत्तिरितिभावः।

अत्रैषाक्षरयोजना ये मन्दप्रज्ञा गुरुमुखाद्ब्रह्म निश्चित्य निरुपाधिकं ब्रह्माहमस्मीत्युपासते तेषां निर्गुणब्रह्मोपासनयोत्पन्नब्रह्मसाक्षात्कारेण तत्प्राप्तिः-फलम्भवतीति। कदा भवतीत्याकाङ्क्षायामाह—अस्मिन्नेवेति। निर्गुणब्रह्मोपास्तेर्निदिध्यासने

●

अब निर्गुणब्रह्म के उपासक पुरुषों को उस निर्गुणब्रह्म की प्राप्तिरूप फल 'ईक्षतिकर्मव्यपदेशात् सः'—इस न्याय से बता रहे हैं—ये पुनरिति।

जो पुरुष विवेक आदि चारों साधनों (साधन चतुष्टय) से सम्पन्न हैं, किन्तु बुद्धि की मन्दता के कारण वेदान्तशास्त्र का विचार करने में समर्थ नहीं हैं, तथापि निर्गुण ब्रह्म के साक्षात्कार की उत्कट इच्छा है, उन पुरुषों को चाहिये कि वे, श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के मुख से निर्गुण ब्रह्म का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके सम्पूर्ण स्थूल-सूक्ष्म-कारण उपाधियों से रहित (शून्य), तथा सत्-चित्-आनन्दस्वरूप जो ब्रह्म है, वह 'मैं ही हूँ'—इस प्रकार से उपासना करें। उस निर्गुण ब्रह्म की उपासना से उसको या तो इसी शरीर में अर्थात् जीवित अवस्था में या मरणावस्था में या ब्रह्मलोक में निर्गुण-ब्रह्म का साक्षात्कार होकर निर्गुण ब्रह्मभाव की प्राप्तिरूप फल प्राप्त होता है। जैसे मणि की प्रभा में मणि बुद्धि कर के प्रवृत्त होनेवाले पुरुष को अन्ततः मणि की प्राप्ति हो जाती है, उसी प्रकार निदिध्यासनरूप निर्गुण उपासना से उसको निर्गुण ब्रह्म को प्राप्तिरूप फल प्राप्त होता है। अर्थात्—निर्गुण ब्रह्म की उपासना से यानी 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारक निदिध्यासन करते रहने से ब्रह्मसाक्षात्कार होने लगता है, इस प्रकार का ब्रह्मसाक्षात्कार का होना ही निर्गुणोपासना का फल है।

यह फल कब मिलता है? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं—अस्मिन्नेवेति। निर्गुणब्रह्म की उपासना का पर्यवसान निदिध्यासन में होने से और निदिध्यासन, ब्रह्मसाक्षात्कार के प्रति अन्तरंग साधन होने से अनात्मा में आत्मबुद्धि निवृत्त हो जाती है। जिससे संस्कृत हुए अन्तःकरण वाले पुरुष की भावनापरिपाक की तरतमता के अनुसार इसीशरीर में (जीवित अवस्था में) अथवा मृत्यु के समय अथवा ब्रह्मलोक में साक्षात्कार रूप फल की प्राप्ति होती है। श्रुति ने भी यही कहा है कि निर्गुण ब्रह्म की 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारक निदिध्यासनरूप उपासना करते रहने से उसका हृदय अत्यन्त पवित्र (निर्मल) हो जाता है। तब उसे निर्गुण ब्रह्मसाक्षात्कार होता रहता है।

हम पहले बता चुके हैं कि वेदान्त वाक्यों के विचार करने में असमर्थ पुरुष, श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के मुख से निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप का परोक्ष निश्चय करके 'अहं ब्रह्मास्मि'—मैं ही निर्गुण ब्रह्म हूँ—इसप्रकार से निर्गुण ब्रह्म की उपासना करे। उस उपासना से उसको निर्गुण ब्रह्म का साक्षात्कार होता है "ॐ"—इस प्रणवाक्षर के द्वारा ही पर-पुरुष का ध्यान करे। इस प्रकार से ध्यान करनेवाला, इस जीवघन से परात्पर पुरिशय पुरुष को देखता है—इत्यादि प्रतिपादन श्रुतियों ने किया है। गीता में भी प्रणवोपासना से परम गति बतायी है।

गीता में (३-२५) कहा गया है कि जो पुरुष, मन्दमति हैं, वेदान्तवाक्यों का तात्पर्य नहीं समझ पाते हैं, वे पुरुष, ब्रह्मवेत्ता गुरु के मुख से निर्गुण ब्रह्म का श्रवणकर, जब भी 'अहं ब्रह्मास्मि'—इसप्रकार से ध्यान करता है, उसी समय वह उपासक भी निर्गुणब्रह्म के साक्षात्कार करने के कारण अज्ञानरूप मृत्यु को अवश्य ही तर लेते हैं अर्थात् अवश्य ही उसका अतिक्रमण (उल्लंघन) कर जाते हैं। 'तेऽपि चातितरन्त्येव' यह कहकर 'अपि' शब्द के प्रयोग से भगवान् ने 'कैमुतिकन्याय' को सूचित किया है। अर्थात् वेदान्त विचार न कर सकने वाले मन्दमति लोग भी उस निर्गुण ब्रह्म की उपासना से अज्ञानरूपी मृत्यु का विनाश करने में समर्थ हो जाते हैं, तो विचार कर सकने वाले बुद्धिमान् पुरुष, अज्ञानरूप मृत्यु का विनाशकर सकते हैं—इसमें संदेह ही कैसे किया जा सकता है? अर्थात् इसे अलग से कहने की आवश्यकता नहीं है।

स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते"। "ॐ मित्यात्मानं युञ्जीत"। "ॐ मित्येवं ध्यायथ आत्मान"मित्यादि श्रुतिभ्यः। भगवताप्युक्तम्, "ॐ मित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्। यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमाङ्गतिम्" इति ॥३९॥

•

पर्य्यवसानान्निदिध्यासनस्य ब्रह्मसाक्षात्कारं प्रत्यतरङ्गसाधनत्वावगमात्तेनानात्मन्यात्मबुद्धिनिवृत्तौ तत्संस्कृतान्तःकरणस्य भावनापरिपाकतारतम्येनास्मिन्नेवशरीरे जीवदवस्थायां मरणावस्थायां ब्रह्मलोके वा ब्रह्मसाक्षात्कारो भवति। "ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः" "ध्यानयोगेन सम्पश्यन्नात्मन्यात्मानमात्मना ध्यानेनात्मानं पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मने"ति[1] श्रुतिभ्यः। ततः प्रारब्धे क्षीणे स्वस्वरूपेण ब्रह्म प्राप्नोतीत्यर्थः।

ननु मन्दप्रज्ञानां ब्रह्मस्वरूपस्याज्ञातत्वेन निर्गुणब्रह्मोपास्तिः कथं स्यात्, नह्यज्ञाततत्त्वं केनचिदुपासितुं शक्यत इत्यत आह—गुरुमुखादिति। "तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियम्ब्रह्मनिष्ठम्" "शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः श्रद्धान्वितो[2] भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्येत्।" "आचार्य्यवान् पुरुषो वेद" "यस्य देवे पराभक्तिः"।

"तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया। उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः" ॥
"श्रद्धवाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः" ॥

इत्यादि श्रुतिस्मृत्युक्तप्रकारेण गुरुमुपसृत्य तत्प्रसादात्तदुपदेशेन ब्रह्म तत्पदार्थं त्वं पदार्थञ्च विवेकेन देहेन्द्रियमनोबुद्ध्यहङ्काराज्ञान-विलक्षणत्वेन मायाविलक्षणत्वेन स्थूलसूक्ष्मकारणशरीराधिष्ठानभूतं प्रत्यगात्मानं मायाधिष्ठानं सच्चिदानन्दलक्षणमद्वितीयं परमात्मानञ्च निश्चित्य निश्चयेन ज्ञात्वा "यत्तदद्रेश्यमग्राह्यम्" "अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्" "अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्" "अप्राणो ह्यमनाश्शुभ्रः" "असङ्गोह्ययं पुरुषः"। "निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्।"

"अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च। नित्यः सर्वगतःस्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥"
"अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्य्योऽयमुच्यते"।

"तदव्यक्तमाह" "अक्षरधियान्त्ववरोधः सामान्यतद्भावाभ्यामौपसदवत्तदुक्तमि"त्यादिश्रुतिस्मृतिन्यायैर्ब्रह्मणो निरुपाधिकत्वावगमान्निर्गुणब्रह्मोपासनं सम्भवत्येव स्वस्य विचारासमर्थत्वेऽपि गुरूपदेशेन तज्ज्ञानस्य परोक्षस्य सम्भवादित्यर्थः।

•

शंका—मन्दमतियों की ब्रह्मज्ञान में प्रवृत्ति होना कैसे सम्भव है ?

समा०—मन्दमतियों को भी मुमुक्षा (मुक्ति की इच्छा) तो होती है। मैत्रेयीप्रभृति मन्दमति स्त्रियाँ भी मुमुक्षु थीं। अतएव मोक्ष प्राप्ति के उपायभूत ज्ञान के अर्जनार्थं उनकी प्रवृत्ति हुई है—यह सब, श्रुति-स्मृति-पुराण-इतिहास के देखने से अवगत होता है। स्त्रियों की तरह पुरुष भी मन्दमति हुआ करते हैं। मुमुक्षावशात् उनकी भी प्रवृत्ति होना असम्भव नहीं है। तब अर्जितज्ञान के प्रसाद से निर्मल अन्तःकरण हो जाने से अपने में ही अपने स्वरूप को ध्यान के द्वारा देखते हैं। तदनन्तर प्रारब्ध कर्म के क्षीण हो जाने पर स्व-स्वरूप से ही वह स्थिर हो जाता है अर्थात् वह ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।

शंका—जो मन्दप्रज्ञ पुरुष हैं, उन्हें ब्रह्म स्वरूप अवगत (ज्ञात) न रहने के कारण वे निर्गुणब्रह्म की उपासना कैसे कर सकेंगे ? क्योंकि जो ज्ञात नहीं है, उसकी उपासना करना कभी सम्भव नहीं है।

समा०—अज्ञात पदार्थ को जानने के लिए श्रुति-स्मृतियों के कथनानुसार गुरु के पास जाकर उन्हें प्रणाम कर आर्तभाव से उनकी प्रार्थना करे, तब कृपापूर्वक उनके प्रसाद से उपदेश प्राप्त होगा। उससे 'तत्त्वमसि'—महावाक्य के 'तत्' पदार्थ, और 'त्वम्' पदार्थ का विवेक हो पायेगा। तब समझ में आवेगा कि देह-इन्द्रिय-मन-बुद्धि-अहङ्कार-अज्ञान इन सबसे बिलक्षण तथा माया से भी भिन्न (विलक्षण) होने के कारण स्थूल-सूक्ष्म-कारण शरीरों का अधिष्ठानभूत सत्-चित्-आनन्दलक्षण अद्वितीय परमात्मा है।

आगे विलापन का प्रकार बताया जायेगा। उस प्रकार विलापन करने से 'ब्रह्म' से उपाधिका विनिर्मोक समझ लेना चाहिये। यथोक्त उपासना करने से यथोक्त फल होता है—यह श्रुति व ब्रह्मसूत्रादि न्याय से भी समर्थित है।

१. ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मनेति गीतासु (१३.२) दृश्यते, उभयात्र आत्मनमित्यत्र आत्मनमित्येव पठितव्यम् ॥
२. श्रद्धावित्त इत्युपनिषदि।

"अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते। तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥"

इति च। एवं तत्पदार्थस्य मायोपहितस्य ब्रह्मणस्तटस्थलक्षणं जगज्जन्मादिकारणत्वं निरूपितम्। अयमेवाध्यारोप इत्युच्यते। अस्यापवादश्चेदानीमुच्यते।

●

निर्गुणोपासनमभिनीय दर्शयति—सर्वेति। उक्तलक्षणं 'ब्रह्मैवाहमस्मि अहम्ब्रह्मास्मी'ति व्यतिहारेणोपासनं कर्त्तव्यं, "त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते अहं वै त्वमसि भगवो देवते" "तद्योऽहं सोऽसै योऽसौ सोऽहं" "व्यतिहारो विशिषन्ति हीतरवदि"त्यादि श्रुतिसूत्रेभ्यः। तथा चोक्तम्,

"चिदात्माहं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसदद्वयः। परमानन्दसन्दोहो वासुदेवोऽहमोमि"ति॥

वक्ष्यमाणविलापनेन ब्रह्मण उपाधिविनिर्मोको द्रष्टव्यः। एवं यथोक्तोपासनेन यथोक्तं फलम्भवतीति कुतो ज्ञायते? इत्याकाङ्क्षायामाह—श्रुतीति। "तं यथा यथोपासते तत्तथैव भवती"त्युदाहृतश्रुतेः। तन्मूलस्य "अप्रतीकालम्बनान्नयतीति बादरायणः उभयथाऽदोषात्तत्[1] क्रतुश्चे"ति न्यायस्य प्रकृतेऽपि तुल्यत्वादेवं ज्ञायत इत्यर्थः। यथोक्तब्रह्मोपासनेन तत्प्राप्तौ प्रमाणत्वेन श्रुत्यन्तराण्युपन्यस्यति—ॐइत्येतेनेति। अत्र तृतीया द्वितीयार्थे द्रष्टव्या, ॐकारवाच्यः परमात्माहमस्मीति यः परं पुरुषं परमात्मानमभिध्यायीत उपासीत स उपासकःपुरुषमीक्षत इति श्रुतौ योजना। अयमेवार्थः श्रुत्यन्तराणामपि। आदिशब्देन "ॐ कम्ब्रह्म खम्ब्रह्म" "खम्ब्रह्म खं पुराण"मित्यादि श्रुतिर्गृह्यते। तत्र स्मृतिमप्याह—भगवतेति। प्रणवजपङ्कुर्वन् मां तत्पदलक्ष्यं परमात्मानं वासुदेवमहम्ब्रह्मास्मीति अनुस्मरन्ननुसन्धानं कुर्वन् देहन्त्यजन् यः पूर्वोक्तयोगधारणवान्मरणं प्राप्नोति स परमाङ्गतिं ब्रह्मभावलक्षणां मुक्तिं याति प्राप्नोतीत्यर्थः॥३९॥

त्रयोदशाध्यायश्लोकमप्यत्रैवोदाहरति—अन्येत्विति। अन्ये साधनचतुष्टयसम्पन्ना मन्दप्रज्ञा एवमजानन्तो विचारं कर्त्तुमशक्ताः अन्येभ्य आचार्येभ्यो ब्रह्मस्वरूपं श्रुत्वा तत्त्वं पदार्थौ विवेकेन परिशोध्य श्रुतिपरायणाः सन्तोऽहम् ब्रह्मास्मीति उपासते ध्यानङ्कुर्वन्ति तेऽपि सर्वानर्थहेतुं मृत्युमज्ञानम् अतितरन्त्येव अतितरान्नाशयन्त्येव नास्त्यत्र सन्देहः।

"तेषां नित्याभियुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्। ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

●

प्रमाण के रूप में जो भगवदुक्ति मूल में दी है (ॐ इत्येकाक्षर आदि) उसका यह अर्थ है कि प्रणव का जप करते हुए जो पुरुष, देह त्याग करता है, वह मुझे अर्थात् 'तत्' पद के लक्ष्यभूत परमात्मा मुझ वासुदेव को प्राप्त होता है। अभिप्राय यह है कि 'अहम्ब्रह्मास्मि'—यह अनुसन्धान (भावना-स्मरण) करता हुआ जो देह त्याग करता है (मृत्यु को-प्राणों को त्यागता है) वह परमगति अर्थात् ब्रह्मभावलक्षणामुक्ति को प्राप्त करता है॥३९॥

पूर्वोक्त कथन का निष्कर्ष यही है कि ज्ञानकाण्ड में जो सगुणोपासना तथा निर्गुणोपासना बताई गयी है, उन समस्त उपासनाओं का अनुष्ठान एकाग्रचित्त के द्वारा करने पर ब्रह्मसाक्षात्कारात्मक मुख्य फल की प्राप्ति होती है, और ब्रह्मलोकादिलोकप्राप्ति उन उपासनाओं का अवान्तर फल है। इसलिए ब्रह्मसूत्र के रचयिता भगवान् व्यास ने ज्ञानकाण्ड में ही उन उपासनाओं का विचार किया है।

अब ग्रन्थकार गीता के त्रयोदशाध्याय के श्लोक को यहाँ पर उद्धृत कर रहे हैं—अन्येत्विति। अन्य लोग अर्थात् साधनचतुष्टयसम्पन्न मन्दप्रज्ञ लोग उक्त सरणि को न जानने के कारण विचार करने में असमर्थ रहते हैं, तो उनका कर्तव्य है कि वे किसी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु से ब्रह्मस्वरूप का श्रवण करके 'तत्' और 'त्वम्' पदार्थ का विवेकपूर्वक परिशोधन करके श्रुतिपरायण होते हुए 'अहम्ब्रह्मास्मि' ऐसी उपासना (ध्यान) करें तो वे भी सर्वानर्थकारणीभूत मृत्यु (अज्ञान) के पार हो जाते हैं, अर्थात् उनके अज्ञान का 'समूल' नाश हो जाता है, इसमें किञ्चिन्मात्र भी सन्देह नहीं है।

वे भी तरजाते हैं—यह कहने से स्पष्ट होता है कि जो विचार कुशल हैं, वे मृत्य को पार कर जाते हैं, यह कहना ही क्या है, यह तो कैमुतिकन्याय से सिद्ध ही है, यह 'अपि' शब्द के प्रयोग से सूचित किया गया है। इस प्रकार—सृष्टि आदि के निरूपण प्रसंग से प्राप्त उपासना के विचार को समाप्त करके मुख्य विषय (परमप्रकृत विषय) का उपसंहार कर रहे हैं—एवमिति।

---

१. ख, उभयथाप्यदोषादिति पाठः।

अपवादो नाम अधिष्ठाने भ्रान्त्या प्रतीतस्य तद्व्यतिरेकेणाभावनिश्चयः। यथा शुक्त्यादौ भ्रान्त्या प्रतीतस्य रजतादेः शुक्तिव्यतिरेकेण नेदं रजतं किन्तु शुक्तिरित्यभावनिश्चयः। अयमेव बाधो विलापनमिति चोच्यते। स च बाधस्त्रिविधः॥ शास्त्रियो यौक्तिकः प्रत्यक्षश्चेति ॥४०॥

●

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः। नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥"

इति भगवतोक्तत्वात्। 'तेऽपि चातितरन्ती'त्यनेन विचारकुशलानां मृत्युतरणं कैमुतिकन्यायप्रसिद्धमिति सूचयति अपिकारणेति श्लोकतात्पर्य्यार्थः, किम्बहुना! सर्वासां सगुणनिर्गुणोपासनानां चित्तैकाग्र्यद्वारा ब्रह्मसाक्षात्कार एव मुख्यफलं, ज्ञानप्रकरणे पठितत्वात्। एतदभिप्रायेणैव सूत्रकृता बादरायणेनोपासनाविचारो ज्ञानकाण्डे कृतः। ब्रह्मलोकादिफलन्तु नान्तरीयकमिति भावः।

एवं सृष्ट्यादिनिरूपणप्रसङ्गागतमुपासनाविचारं परिसमाप्य परमप्रकृतमुपसंहरति—एवमिति। एवमुक्तरीत्या। नन्वध्यारोपापवादयोर्ब्रह्मप्रतिपत्तिहेतुत्वात्तावपि निरूपणीयावित्याशङ्क्य ब्रह्मणो मायाद्वारा सूक्ष्मस्थूलप्रपञ्चसृष्टिनिरूपणमुखेन जगज्जन्मादिकारणत्वनिरूपणमेवाध्यारोपनिरूपणमित्याह—अयमेवेति। अतस्मिँस्तद्बुद्धिरध्यारोपः। अपवादनिरूपणं प्रतिजानीते—अस्येति। इदानीमध्यारोपनिरूपणानन्तरं, प्रसक्तस्य प्रतिषेधसम्भवादिति भावः।

कोऽयमपवादः? इत्याकाङ्क्षायां तत्स्वरूपमाह—अपवादो नामेति। तद्व्यतिरेकेण तद्भिन्नत्वेन, इत्थंभावे तृतीया। उक्तमेवार्थमुदाहरति—यथेति। ननु तत्त्वमस्यादिवाक्यार्थज्ञानादज्ञानतत्कार्य्यं बाध्यते।

"तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थसम्यग्धीजन्ममात्रतः। अविद्यासहकार्य्येण नासीदस्ति भविष्यती"ति ॥

वार्त्तिकवचनात्। अस्मदादीनां घटज्ञानेन घटाज्ञाननिवृत्तिवदहम् ब्रह्मास्मीति ब्रह्मसाक्षात्कारेण तदज्ञाननिवृत्तेः विद्वदनुभवसिद्धत्वाच्चेति वदन्ति। तत्र कोऽयम्बाधः? इत्याकाङ्क्षायामयमपवादः स एव बाध इत्युच्यते इत्याह—अयमेवेति। यत्र यत्प्रतीयते तत्र तस्य त्रिषु कालेऽष्वत्यन्ताभावनिश्चयो बाधः! तं विभजते—स चेति। त्रैविध्यमेवाह—शास्त्रीयेति ॥४०॥

●

शंका—ब्रह्मप्रतिपत्ति (ब्रह्मज्ञान) में कारण तो 'अध्यारोप' और 'अपवाद' हैं। अतः उनका भी निरूपण करना चाहिये।

पहिले बता चुके हैं कि 'जगत्' के जन्मादिकों का कारण मायोपहित तत् पदार्थ 'ब्रह्म' है। अर्थात् माया के द्वारा सूक्ष्म-स्थूल प्रपञ्च (सृष्टि) का निरूपण करते हुए 'जगज्जन्मादिकारणत्व' रूप तटस्थलक्षण 'ब्रह्म' का किया गया है, यही 'अध्यारोप' का निरूपण है, अतद् में तद्बुद्धि करना ही अध्यारोप है। जैसे—वस्तुतः जगद्भाव से रहित 'ब्रह्म' में 'जगद्' बुद्धि होना, यही 'अध्यारोप' है। अध्यारोप और अपवाद दोनों के द्वारा ही गुरु अथवा शास्त्र, अधिकारी पुरुष को 'निर्गुण ब्रह्म' का उपदेश करते हैं।

अब अध्यारोप के निरूपण के पश्चात् अपवाद का निरूपण करते हैं, क्योंकि प्रसक्त का प्रतिषेध किया जाता है।

जिस अधिष्ठान (आश्रय) में जिस पदार्थ का किसी भी काल में (तीनों कालों में) अस्तित्व नहीं रहता, तथापि भ्रान्ति से उस पदार्थ की वहाँ प्रतीति होकर, उसी अधिष्ठान में भ्रम से प्रतीयमान पदार्थ के अभाव का निश्चय हो जाना ही 'अपवाद' है। जैसे 'शुक्ति' में भ्रमवशात् 'रजत' की प्रतीति होती है, किन्तु पश्चात् यह रजत नहीं है, अपितु 'शुक्ति' है, इसप्रकार का जो रजत के अभाव का निश्चय होता है, उसी को अपवाद कहा जाता है। प्रकृत प्रसंग में भी 'अधिष्ठानात्मकब्रह्म' में भ्रमवशात् प्रतीयमान जो प्रपञ्च है, उसके अभाव का निश्चय, उसी अधिष्ठान में हो जाता है, क्योंकि ब्रह्मरूप अधिष्ठान में किसी भी काल में प्रपञ्च (सृष्टि) नहीं रहता। इस प्रकार से प्रपञ्चाभाव का जो निश्चय है, वही उस प्रपञ्च का अपवाद है। इस अपवाद को शास्त्रीय शब्द में 'बाध' कहते हैं, अथवा 'विलापन' कहते हैं।

शंका—'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य के अर्थज्ञान से अज्ञान और उसके कार्य का बाध हो जाता है। वार्तिककार कहते हैं—कि 'घट' के ज्ञान से जैसे घट के अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है, उसीतरह 'अहम्ब्रह्मास्मि'—इस ब्रह्मसाक्षात्कार से उसके अज्ञान की निवृत्ति होती है। और यह भी कहा है—कि उक्त तथ्य का अनुभव भी विद्वानों (ज्ञानियों) को हुआ है। प्रश्न—यह 'बाध' पदार्थ क्या है?

उत्तर—पूर्वोक्त 'अपवाद' को ही 'बाध' कहते हैं। जिस अधिष्ठान में जो वस्तु प्रतीत होती है, उसी अधिष्ठान में उस प्रतीयमान वस्तु के त्रैकालिक अत्यन्ताभाव के निश्चय को 'बाध' कहते हैं। वह बाध तीन प्रकार से होता है—(१) शास्त्रीय, (२) यौक्तिक और (३) प्रत्यक्ष—इन तीन प्रकारों से बाध होता दिखाई देता है ॥ ४० ॥

"अथात आदेशो नेति नेति" "नेह नानास्ति किञ्चने"त्यादि शास्त्राद्ब्रह्मव्यतिरेकेण प्रपञ्चाभावनिश्चयः शास्त्रीयो बाधः। मृद्व्यतिरेकेण घटाभावनिश्चयवत् निखिलकारणीभूतब्रह्मव्यतिरेकेण निखिलप्रपञ्चाभावं निश्चित्य दृश्यमानस्य मिथ्यात्वनिश्चयेन ब्रह्मात्ममात्रत्वनिश्चयो यौक्तिकबाधः। अहम्ब्रह्मास्मीति तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्यसाक्षात्कारेणाज्ञानतत्कार्य्यनिवृत्तिः प्रत्यक्षबाधः।

यौक्तिकबाधस्यायंक्रमः—स्थूलप्रपञ्चं सर्वमपि स्थूलभूतेषु विलाप्य, तद्व्यतिरेकेण तन्नास्तीति निश्चित्य, स्थूलभूतानि समष्टिव्यष्टिसूक्ष्मशरीरञ्च सूक्ष्मभूतेषु विलाप्य, तत्रापि पृथिवीमप्सु विलाप्य, अपस्तेजसि, तेजोवायौ, वायुमाकाशे, आकाशमज्ञाने अज्ञानं चिन्मात्रे विलापयेत्।

●

आद्यं व्युत्पादयति—अथात इत्यादिना। द्वितीयं व्युत्पादयति—मृद्व्यतिरेकेणेति। तृतीयं व्युत्पादयति—अहम्ब्रह्मास्मीत्यादिना।

"विपर्य्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते चे"ति न्यायमनुसरंस्तत्र यौक्तिकबाधस्य क्रमन्निरूपयति—यौक्तिकबाधस्येति। अयं वक्ष्यमाणः। इदं शब्दार्थमाह—स्थूलप्रपञ्चमिति। सर्वं स्थूलशरीरमारभ्य ब्रह्माण्डपर्य्यन्तं स्थूलभूतेषु पञ्चीकृतभूतेषु तेषां तत्कारणत्वात्तेषु तद्विलापनमुचितमिति भावः। किं तद्विलापनमित्याकाङ्क्षायामाह—तदिति। कारणीभूतपञ्चीकृतभूतव्यतिरेकेण ब्रह्माण्डतदन्तर्गतकार्य्यजातन्नास्तीति निश्चित्येत्यर्थः। एतदुक्तम्भवति—दृश्यमानस्य कार्य्यजातस्य कारणसत्तातिरिक्तसत्तानङ्गीकारात् कारणव्यतिरेकेण कार्य्यन्नास्तीति निश्चित्य तद्विस्मृत्य कारणैकगोचरं स्मरणं विलापनमिति। स्थूलभूतानि स्वस्वकारणीभूततामसांशेष्वन्तःकरणं ज्ञानेन्द्रियाणि स्वस्वकारणीभूतसात्त्विकांशेषु प्राणकर्म्मेन्द्रियाणि स्वस्वकारणीभूतराजसांशेषु विलाप्येत्यर्थः।

●

ग्रन्थकार आद्यबाध अर्थात् शास्त्रीय बाध को बता रहे हैं—अथात इति। शास्त्रवचन से अधिष्ठानरूप 'ब्रह्म' में सम्पूर्ण प्रपञ्च के अभाव का जो निश्चय होता है, उसे शास्त्रीय बाध कहते हैं।

द्वितीय यौक्तिक बाध को बताते हैं—मृद्व्यतिरेकेणेति। मृत्तिकारूप उपादानकारण से भिन्न (पृथक्) रूप में प्रतीयमान जो 'घट' रूप कार्य के अभाव का जैसे—निश्चय किया जाता है, उसी तरह सम्पूर्ण प्रपञ्च का अभिन्न निमित्तोपादानकारण जो 'ब्रह्म' है, उससे भिन्न (पृथक्) सम्पूर्ण प्रपञ्च के अभाव का निश्चय करके तथा उस प्रपञ्च के मिथ्यात्व का निश्चय करके जो एकमात्र 'ब्रह्म' का निश्चय हो पाता है, वह यौक्तिकबाध से होता है। अर्थात् ब्रह्मरूप जो निमित्तोपादानकारण है, उससे भिन्न (पृथक्) प्रपञ्च नाम की कोई वस्तु नहीं है, उसकी जो प्रतीति हो रही है, वह मिथ्या है। इसी को यौक्तिकबाध कहते हैं।

अब तृतीय प्रत्यक्षबाध को बताते हैं—अहम्ब्रह्मास्मीति। 'तत्त्वमसि'-इत्यादि वाक्यों से होनेवाले साक्षात्कार का अनुभव करके कार्यरूप प्रपञ्च के सहित अज्ञान की जो निवृत्ति होती है, उसे प्रात्यक्षिकबाध कहते हैं।

विपर्ययाधिकरण के (२।३।१४) न्याय का अनुसरण करते हुए यौक्तिकबाध के क्रम का निरूपण कर रहे हैं—यौक्तिकबाधस्येति। यौक्तिकबाध का क्रम इस प्रकार है—स्थूलशरीर से लेकर ब्रह्माण्ड तक जितना भी स्थूल-प्रपञ्च है, वह 'पञ्चीकृत स्थूलभूतों का 'कार्य' है। इसलिए उस स्थूलप्रपञ्च का उन स्थूलभूतों में 'लय' करना चाहिए, अर्थात् 'स्थूलभूतों' से 'स्थूलप्रपञ्च' भिन्न नहीं है—यह भावना निश्चितरूप से करनी चाहिए। तदनन्तर उन स्थूलभूतों का तथा समष्टि और व्यष्टिरूप समस्त सूक्ष्मशरीरों का उनके अपने कारणभूत अपञ्चीकृत पञ्चसूक्ष्मभूतों में लय करे। अर्थात् वे स्थूलभूत तथा समष्टि-व्यष्टि सूक्ष्मशरीर, उन सूक्ष्मभूतों के कार्य होने से उनसे भिन्न (पृथक्) नहीं हैं, यह निश्चयात्मक भावना करनी चाहिए। तथा जिस-जिस सूक्ष्मभूत के जिस-जिस सात्त्विकादि अंश से जो-जो इन्द्रियादिकार्य उत्पन्न हुए हैं, उस-उस कार्य का उस-उस सूक्ष्मभूत के सात्त्विकादि अंश में ही लय करना चाहिये। अर्थात् 'स्थूलभूतों' का 'सूक्ष्मभूतों' के 'तामस अंश' में लय करना चाहिये, और 'ज्ञानेन्द्रियों' का तथा 'अन्तःकरण' का सूक्ष्मभूतों के 'सात्त्विकअंश' में लय करना चाहिये, और 'कर्मेन्द्रियों' का तथा 'प्राणों' का सूक्ष्मभूतों के 'राजसअंश' में लय करना चाहिये। तदनन्तर उन सूक्ष्मभूतों का भी अपने-अपने कारणों में लय करना चाहिये। अर्थात् 'पृथिवी' का तो 'जल' में लय करे, 'जल' का 'तेज' में लय करे, 'तेज' का 'वायु' में लय करें, 'वायु' का 'आकाश' में लय करें, 'आकाश' का 'अज्ञान' में लय करे और 'अज्ञान' का 'चैतन्य' में लय करे। तात्पर्य यह है

तथाच स्मृतिः—

"जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे! पृथिव्यप्सु प्रलीयते। ज्योतिष्यापः प्रलीयन्ते ज्योतिर्वायौ प्रलीयते॥
वायुश्च लीयते व्योम्नि तच्चाव्यक्ते प्रलीयते। अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन्निष्कले सम्प्रलीयते॥" इति।

उक्तञ्च।

"अकारं पुरुषं विश्वमुकारे प्रविलापयेत्।
उकारं तैजसं सूक्ष्मं मकारे प्रविलापयेत्॥
मकारं कारणं प्राज्ञं चिदात्मनि विलापयेदि"ति॥

आभ्यामध्यारोपापवादाभ्यां तत्त्वंपदार्थशोधनमपि सिद्धम्भवति ॥४१॥

तथाहि, मायादिसमष्टिस्तदुपहितञ्चैतन्यमेतदाधारानुपहितमखण्डचैतन्यञ्च तप्तायः—पिण्डवत्एतत्त्रयमविविक्तमेकत्वेनावभासमानं तत्पदवाच्यार्थो भवति। विविक्तमखण्डचैतन्यं तत्पदलक्ष्यार्थो भवति ॥४२॥

●

इदानीं सूक्ष्मभूतानामुत्तरोत्तरविलापनमाह—तत्रापीति। इदानीं परमकारणस्य मूलाज्ञानस्य चिन्मात्रे विलापनमाह—अज्ञानमिति। उक्तक्रमे प्रमाणत्वेन विष्णुपुराणवचनमुदाहरति—तथा चेति। तत्र वार्तिकसम्मतिमाह—उक्तञ्चेति। अध्यारोपापवादनिरूपणेन फलितमर्थं दर्शयति—आभ्यामिति ॥४१॥

तदेवोपपादयति—तथाहीति। तत्पदार्थं शोधयति—मायेति। माया आदिर्यस्याः स्थूलसूक्ष्मभूतायाः समष्टेः सा तथोक्ता मायादिश्चासौ समष्टिश्चेत्यनन्तरं कर्म्मधारयः। अयम्भावः—समष्टिस्थूलसूक्ष्मशरीरमायातदुपहितवैश्वानरसूत्रात्मेश्वरचैतन्यमेतदाधारानुपहिताखण्डचैतन्यमेतत्त्रयं तप्तायःपिण्डवदविविक्तमेकत्वेनावभासमानं तत्पदस्य वाच्यार्थ इति। तत्पदलक्ष्यार्थमाह—विविक्तमिति। समष्टिस्थूलसूक्ष्मशरीरमायाभ्यो विविक्तं विवेकेनान्वयव्यतिरेकाभ्यां पृथक्कृत्य निश्चितम् अखण्डचैतन्यं तत्त्वमसिवाक्ये तत्पदलक्ष्यार्थ इत्यर्थः।

एतावन्वयव्यतिरेकौ तत्पदार्थशोधनोपायौ। तथाहि—स्थूलप्रपञ्चस्थित्यवस्थायां तत्साक्षित्वेन पञ्चीकरणात्पूर्वं सूक्ष्मभूततत्कार्य्यसाक्षित्वेनाकाशादिसृष्टेः पूर्वं प्रलयावस्थायां मायासाक्षित्वेन तत्त्वज्ञानेनाज्ञाननिवृत्तौ भोगेन प्रारब्धे च क्षीणे जीवस्य वर्त्तमानदेहपातोत्तरं विदेहमुक्तावस्थायामखण्डस्वप्रकाशचिद्रूपेण भानं तत्पदार्थस्य परमात्मनोऽन्वयः। समष्टिस्थूलशरीरस्य पञ्ची-

●

कि किसी भी कार्य की सत्ता, उसके अपने उपादान कारण की सत्ता से भिन्न नहीं हुआ करती। अतः कोई भी कार्य, अपने उपादानकारण से भिन्न नहीं है। यह निश्चय करके 'कार्य' को विस्मृत कर दे, तब केवल 'कारण' का ही स्मरण रह जायेगा। इसी को 'कारण' में 'कार्य' का विलापन कहते हैं। सम्पूर्ण प्रपञ्च का परमकारण एकमात्र 'ब्रह्म' है। इसलिये सम्पूर्ण प्रपञ्च को भूलाकर (विस्मृत करके) शेष में जो ब्रह्मविषयक स्मरण है, वही ब्रह्म में सम्पूर्ण प्रपञ्च का विलापन कहलाता है। इसी को वेदान्त में यौक्तिकबाध कहते हैं।

इसी यौक्तिक बाध को विष्णु पुराण में भी कहा गया है—हे नारद! जगत् के आधारभूत पृथिवी का जल में लय होता है और जल का तेज में लय होता है, और तेज का वायु में लय होता है, और वायु का आकाश में लय होता है और आकाश का अव्यक्त में लय होता है और मायारूपी अव्यक्त का परमात्मा में लय होता है।

इस यौक्तिक बाध को वार्तिककार ने भी बताया है। अध्यारोप और अपवाद निरूपण के द्वारा प्रतिफलित अर्थ को बता रहे हैं—इसप्रकार अध्यारोप और अपवाद दोनों के द्वारा 'तत्' और 'त्वम्' पदार्थ का शोधन भी सिद्ध होता है ॥४१॥

शोधन की प्रक्रिया इस प्रकार है—समष्टि स्थूलशरीर, समष्टि सूक्ष्मशरीर, और माया इन तीनों से यथाक्रम उपहित वैश्वानर, सूत्रात्मा, और ईश्वर चैतन्य—इन सबका अधिष्ठानरूप (आधारभूत) निरुपाधिक अखण्ड चैतन्य (माया, ईश्वर और चैतन्य) इन तीनों का प्रतप्तलोह पिण्ड के समान एक रूपाकार प्रतीत होना 'तत्' पद का 'वाच्यार्थ' है। और समष्टि स्थूल शरीर, तथा समष्टि सूक्ष्मशरीर और माया इन सबका अन्वय—व्यतिरेक के द्वारा पृथक्तया 'तत्वमसि' वाक्य से निश्चित हुआ जो अखण्ड चैतन्य है, वही (अखण्ड चैतन्य) 'तत्' पद का लक्ष्यार्थ (लक्ष्य अर्थ) है।

'तत्' पदार्थ के शोधन का उपाय (साधन) जो 'अन्वय-व्यतिरेक' है, उसका प्रकार यह है—पञ्चीकृत स्थूल प्रपञ्च (स्थूल भूत) की स्थिति की अवस्था में उसके (स्थूल प्रपञ्च के) साक्षी के रूप में परमात्मा विद्यमान है, उसी तरह

अविद्यादिव्यष्टिरेतदुपहितचैतन्यमेतदाधारानुपहितं प्रत्यक्चैतन्यम्, एतत्त्रयं तप्तायःपिण्डवदविविक्तमेकत्वेनावभासमानं त्वं-पदवाच्यार्थो भवति। विविक्तं प्रत्यक्चैतन्यं त्वं-पदलक्ष्यार्थो भवति। एतौ लक्ष्यार्थावुपादाय सम्बन्धत्रयेण सहितं तत्त्वमस्यादिवाक्यं लक्षणया अखण्डार्थबोधकम्भवति ॥४३॥

●

करणात्पूर्वमभानं समष्टिसूक्ष्मशरीरस्याकाशाद्युत्पत्तेः पूर्वं मायायामुक्तावस्थायां व्यतिरेकः, जीववत्परमात्मनोजाग्रदादिसम्बन्धाभावात्। कार्य्यस्य कारणात्मनारम्भणाधिकरणन्यायेनारोपितस्य चाधिष्ठानात्मना सत्त्वाङ्गीकारादसदुत्पत्तिवादनिराकरणाच्च। यथोक्तप्रकारेण समष्टिस्थूलसूक्ष्मशरीरतत्कारणमायानां यथोक्तावस्थास्वभानं व्यतिरेकः। तत्पदार्थस्य परमात्मनो भानमन्वय इत्येवमन्वयव्यतिरेकावभ्युपगन्तव्यौ नत्वन्यादृशौ। तयोरत्रासम्भवात्। "अन्यत्र धर्मा" दित्यादिश्रुत्या परमात्मनः पुण्यापुण्यसम्बन्धानवगमाच्च। तस्मादाभ्यामन्वयव्यतिरेकाभ्यां शोधिततत्पदार्थो मायातत्कार्याभ्यामपरामृष्टाखण्डसच्चिदानन्दस्वरूपः परमात्मा तत्पदस्य लक्ष्यार्थ इति भावः ॥४२॥

त्वं पदार्थं शोधयति—अविद्यादीति। अविद्या आदिर्यस्याः सा तथा सा चासौ व्यष्टिश्चेत्यविद्यादिव्यष्टिः। अयमभिप्रायः व्यष्टिस्थूलसूक्ष्मशरीरतत्कारणाविद्या एतदुपहितविश्वतैजसप्राज्ञाश्च एतदाधारानुपहितप्रत्यक्चैतन्यं तप्तायःपिण्डवदेकत्वेनावभासमानं त्वंपदवाच्यार्थं इति। त्वं पदस्य लक्ष्यार्थमाह—विविक्तमिति। अन्वयव्यतिरेकाभ्यां स्थूलसूक्ष्मकारणशरीरेभ्यो विविक्तं पृथक्कृत्य। निश्चितं प्रतीयम्[1] प्रतीपं जडानृतदुःखात्मकाहङ्कारादिभ्यः प्रातिलोम्येन सच्चिदानन्दलक्षणतयाञ्चति प्रकाशत इति प्रत्यक्, प्रत्यक् च तच्चैतन्यं प्रत्यक्चैतन्यं चेतनस्य भावश्चैतन्यं ज्ञप्तिस्वरूपमिति यावत्। तत्त्वं पदार्थौ शोधनोपायौ अन्वयव्यतिरेकौ दर्शितौ—अभाने स्थूलदेहस्य स्वप्ने यद्भानमात्मनः। सोऽन्वय व्यतिरेकस्तद्भानेऽन्यानवभासम् ॥

●

पञ्चीकरण के पूर्व (अपञ्चीकृत अवस्था में) भी उन सूक्ष्म भूतों के तथा उनके 'कार्य' के साक्षी के रूप में वही परमात्मा विद्यमान है, तथा उन आकाशादि सूक्ष्मभूतों की उत्पत्ति से पूर्व (प्रलयावस्था में) भी 'माया' के साक्षी के रूप में वही परमात्मा विद्यमान हैं। और 'तत्त्वज्ञान' से मायारूपी अज्ञान के निवृत्त होने पर भी तथा जीव की विदेह मुक्ति की अवस्था में (भोग के द्वारा प्रारब्ध कर्म के नष्ट होने पर जीव के वर्तमान शरीर के पात के अनन्तर) भी वही परमात्मा अखण्ड-स्वप्रकाश चैतन्य के रूप से विद्यमान रहता ही है। यही 'तत्' पदार्थरूप परमात्मा का 'अन्वय' है। और पञ्चीकरण के पूर्व, समष्टि स्थूल शरीर का भान नहीं होता, और आकाशादिक भूतों की उत्पत्ति के पूर्व, 'समष्टि सूक्ष्मशरीर' का भान नहीं होता, तथा 'माया' का 'मुक्ति' की अवस्था में भान नहीं होता। यही 'समष्टि स्थूल शरीर का तथा समष्टि सूक्ष्मशरीर का तथा 'माया' का 'व्यतिरेक' है। इसरीति से अन्वय व्यतिरेक के द्वारा परिशोधित जो 'तत्' पदार्थ है, वह, कार्यसहित माया के सम्बन्ध से रहित हुआ, अखण्ड, सत्, चित्, आनन्दस्वरूप परमात्मा, 'तत्' पद का लक्ष्यार्थ हो जाता है ॥ ४२ ॥

अब 'त्वम्' पदार्थ का शोधन करते हैं—अविद्यादीति। (१) व्यष्टि स्थूलशरीर, (२) व्यष्टि सूक्ष्मशरीर, और (३) दोनों की कारणरूप अविद्या, तथा क्रमशः इन तीनों शरीरों से उपहित (१) विश्व, तैजस, और (३) प्राज्ञ, इन तीनों का आधारभूत अनुपहित प्रत्यक् चैतन्य—अर्थात् (१) अविद्या आदि (२) उपहित हुए वैश्व-तैजस-प्राज्ञ, (३) आधारभूत अनुपहित प्रत्यक्-चैतन्य, ये तीनों प्रतप्त लोहपिण्ड के समान एकत्वेन भासमान अर्थात् एकाकार (एकरूप से) जब प्रतीत होते हैं उस प्रतीति को 'त्वम्' पद का वाच्यार्थ कहते हैं।

अब 'त्वम्' पद के लक्ष्यार्थ को बताते हैं—अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा स्थूल-सूक्ष्मकारण, इन तीनों शरीरों से पृथक् प्रतीत होनेवाला जो सत्-चित्-आनन्दस्वरूप प्रत्यक् चैतन्य है, वही 'त्वम्' पद का लक्ष्यार्थ है।

निष्कर्ष यह है कि उपहित और अनुपहित चैतन्य, और अविद्यादि जड़ पदार्थ की एकाकार प्रतीति जिसमें होती है, वह तो त्वम् पद का 'वाच्यार्थ' है, और उपहित तथा अनुपहित चैतन्य और अविद्यादि जड़ पदार्थ को जिसमें भिन्न-भिन्न रूप से प्रतीति होती है, वह 'त्वम्' पद का 'लक्ष्यार्थ' कहलाता है।

'तत्-त्वम्' पदार्थ के शोधनोपयोगी अन्वयव्यतिरेक को पहिले बता चुके हैं।

---

१. यं प्रति प्रकाशते स आत्मा प्रत्यक्पदार्थः। 'प्रतियम्' इति न चेत् स्यात् सुष्ठु।

सम्बन्धत्रयं तु—पदयोः समानाधिकरण्यम्। समानाधिकरण्यं नाम—भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानां शब्दानामेकस्मिन्नर्थे वृत्तिः। यथा "सोऽयं देवदत्त" इत्यत्र तत्कालविशिष्टदेवदत्तवाचकसशब्दस्य एतत्कालविशिष्टदेवदत्तवाचकायशब्दस्य च एकस्मिन्देवदत्तपिण्डे वृत्तिः सामानाधिकरण्यम्।

पदार्थयोर्विशेषणविशेष्यभावः। यथा तत्रैव स—शब्दार्थतत्कालविशिष्टायं-शब्दार्थैतत्कालविशिष्टयोरन्योऽन्य-भेदव्यावर्त्तकतया विशेषणविशेष्यभावः।

●

लिङ्गाभाने सुषुप्तौ स्यादात्मनो भानमन्वयः। व्यतिरेकस्त्वात्मभाने लिङ्गस्याभानमुच्यते ॥
सुषुप्त्यभाने भानन्तु समाधावात्मनोऽन्वयः। व्यतिरेकस्त्वात्मभाने सुषुप्त्यनवभासनम्' ॥इति॥

एवं तत्त्वंपदार्थौ शोधयित्वा वाक्यार्थं विचारयितुं प्रतिजानिते—एताविति। पदार्थज्ञानस्य वाक्यार्थज्ञानकारणत्वात् तत्त्वं पदार्थशोधनोपायान्वयव्यतिरेकाभ्यां "सत्यं ज्ञानमनन्तंब्रह्म" "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" "योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्त-र्ज्योतिः पुरुष" इत्याद्यवान्तरवाक्यैश्च[१] शोधितौ तत्त्वं पदार्थौ लक्ष्यौ गृहीत्वेत्यर्थः ॥४३॥

सम्बन्धेति। सामानाधिकरण्यं विशेषणविशेष्यभावो लक्ष्यलक्षणभावाश्चेति त्रयः सम्बन्धाः। पदयोः सामानाधि-करण्यं पदार्थयोर्विशेषणविशेष्यभावश्च पदयोर्वा पदार्थयोर्वाऽखण्डचैतन्येन सह लक्ष्यलक्षणभावः। एतैः सहितं महावाक्यमखण्डार्थ-बोधकमित्यर्थः। लक्षणामग्रे निरुपयिष्यति।

ननु समानेनाधिकरणेन सम्बन्धः सामानाधिकरण्ये तत्कथं वाक्यार्थज्ञानोत्पत्तौ हेतुः स्यादित्याशङ्क्याह—सामाना-धिकरण्यमिति। शब्दानामेकस्मिन्नर्थे वृत्तिः सामानाधिकरण्यमित्युक्ते घटकलशयोरपि सामानाधिकरण्यं स्यात्ततश्च ताभ्यामपि वाक्यार्थबोधः स्यात्। नच तदस्ति तयोः पर्यायत्वात्। अतस्तद्वारणायोक्तं भिन्नेति। तत्रोदाहरणमाह—यथेति। विशेषण-

●

इस प्रकार 'तत्' और 'त्वम्' पदार्थ का शोधन करके अब वाक्यार्थ विचार की प्रतिज्ञा कर रहे हैं—एताविति। वाक्यार्थज्ञान के होने में पदार्थज्ञान कारण (हेतु) हुआ करता है। अतः शोधित तत्-त्वम् पदार्थों का अभेदरूप महावाक्यार्थ होता है। अर्थात् 'तत्' पद का लक्ष्यार्थ जो शुद्ध चैतन्य और 'त्वम्' पद का लक्ष्यार्थ भी शुद्ध चैतन्य है, उन दोनों लक्ष्यार्थों को ग्रहण करके वक्ष्यमाण तीन सम्बन्धों के द्वारा 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य, लक्षणाव्यापार (लक्षणावृत्ति) से अखण्डार्थ का बोध करा देता है। तत्-त्वम् पदार्थों का शोधन श्रुतिवाक्यों से तथा विवेक से किया जाता है ॥४३॥

(१) सामानाधिकरण्य, (२) विशेषण-विशेष्यभाव, (३) लक्ष्य-लक्षणभाव—ये तीन सम्बन्ध, महावाक्य के सहायक होते हैं। 'तत्त्वमसि'—इस वाक्य में जो 'तत्' और 'त्वम्' ये दो पद हैं, उनका तो परस्पर 'सामाधिकरण्यसम्बन्ध' है, और उन दोनों पदों के अर्थों का परस्पर 'विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्ध' है, और उन दोनों पदों का अथवा उन दोनों अर्थों का 'अखण्डचैतन्य' के साथ 'लक्ष्य-लक्षणभावसम्बन्ध' है। इन तीन सम्बन्धों की सहायता से उक्त महावाक्य, 'अखण्डार्थ' का बोधक होता है।

जिन शब्दों की प्रवृत्ति का निमित्त, भिन्न-भिन्न है, उन शब्दों की एक अर्थ में वृत्ति (रहना) ही उन पदों का परस्पर 'सामानाधिकरण्यसम्बन्ध' है।

उक्त लक्षण में 'भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानाम्'—यह अंश न कहें, तो शेष बचे अंश के अनुसार 'घट-कलश' का भी सामानाधिकरण्य होने लगेगा, तब उनसे भी वाक्यार्थबोध हो सकेगा। किन्तु उनसे वाक्यार्थबोध नहीं होता है, क्योंकि वे दोनों परस्पर एक-दूसरे के पर्याय हैं, इसलिये उनका सामानाधिकरण्य नहीं माना जाता। यही बताने के लिए कहा है—भिन्नेति।

इसी को उदाहरण के द्वारा स्पष्ट कर रहे है—यथेति। जैसे—'सोऽयं देवदत्तः' अर्थात् पहिले जिस देवदत्त नाम के पुरुष को तुमने वहाँ देखा था, वही यह देवदत्त है। इस प्रत्यभिज्ञावाक्य में 'सः' शब्द तो तद्देश और तत्काल से विशिष्ट 'देवदत्त' का वाचक है, और 'अयम्' शब्द, एतद्देश, और एतत्काल से विशिष्ट 'देवदत्त' का वाचक है। 'देवदत्त' नामक व्यक्ति एक हो है। उस एक ही व्यक्ति में 'सः' शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त 'तद्देश-कालविशिष्टत्व' है, और 'अयम्' शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त 'एतद्देशकालविशिष्टत्व' है। और सोऽयम् ये दोनों शब्द भागत्यागलक्षणा (जहदजहल्लक्षणा) से 'तद्देश-कालविशिष्टत्व' तथा 'एतद्देश-कालविशिष्टत्व' इन दो परस्पर

१. महावाक्यघटकपदार्थबोधि वाक्यमवान्तरम्। जीवब्रह्माभेदबोधि महावाक्यमिति भेदः।

"सोऽयमयं स" इति पदयोरर्थयोर्वा अविरुद्धवाक्यार्थेन सह लक्ष्यलक्षणभावः। यथा तत्रैव "सोऽयमि"त्यादि वाक्ये सशब्दायंशब्दयोस्तदर्थयोर्वाऽविरुद्धदेवदत्तपिण्डेन वाक्यार्थेन सह लक्ष्यलक्षणभावः। तथा तत्त्वमस्या"दिवाक्ये तत्त्वं-पदयोः परोक्षत्वापरोक्षत्वविशिष्टेश्वरजीववाचकयोरखण्डचैतन्ये तात्पर्येण वृत्तिः सामानाधिकरण्यम्। तथा तत्त्वंपदार्थयोरीश्वर जीवयोरन्योन्यभेदव्यावर्त्तकतया तत्त्वमसि त्वं तदसि इति विशेषणविशेष्यभावः। तथा तत्त्वंपदयोस्तदर्थयोर्वा वाक्यार्थे-नाविरुद्धखण्डचैतन्येन सह विरुद्धांशपरित्यागेन लक्ष्यलक्षणभावः। तदुक्तम्,

'सामानाधिकरण्यञ्च विशेषणविशेष्यता। लक्ष्यलक्षणभावश्च पदार्थप्रत्यगात्मनाम्" इति।

अस्यार्थस्तु उक्त एव। एतदभिप्रायेण वाक्यवृत्तावपि उक्तम् "तत्त्वमस्यादिवाक्यञ्च तादात्म्यप्रतिपादने। लक्ष्यौ तत्त्वंपदार्थौ द्वावुपादाय प्रवर्त्तते" ॥इति॥

तादात्म्यप्रतिपादने—अखण्डस्वरूपप्रतिपादन इत्यर्थः ॥४४॥

●

विशेष्यभावसम्बन्धमाह—पदार्थयोरिति। पदजन्यज्ञानविषयत्वं पदार्थत्वम्। व्यावर्त्तकं विशेषणं व्यावर्त्यं विशेष्यम्, तमुदाहरति—यथेति। तत्रैव सोऽयं देवदत्त इति वाक्ये। लक्ष्यलक्षणभावसम्बन्धमाह—पदयोरिति। लक्ष्यतेऽर्थोऽनेनेति व्युत्पत्त्या पदम्पदार्थो वा लक्षणम्, अविरुद्धोऽखण्डार्थो लक्ष्यः, वाक्यजन्यज्ञानविषयो वाक्यार्थस्तेनेति यावत्। उदाहरति—यथेति। प्रत्यभिज्ञावाक्यं

●

विरुद्ध अंशों का परित्याग करके (अतीत और वर्तमान दोनों विरुद्ध अंशों का त्याग करके) दोनों कालों में स्थित रहनेवाले एकही देवदत्त नामक व्यक्ति का बोधन कर रहे हैं। 'सोऽयम्'—इन दोनों शब्दों का यही परस्पर सामानाधिकरण्य सम्बन्ध है।

पदार्थों का आपसी सम्बन्ध है विशेष्य विशेषणभाव जैसे, 'सोऽयं देवदत्तः' इस वाक्य में ही 'स' शब्द का अर्थ जो 'तद्देश-काल विशिष्टत्व' है, और 'अयं' शब्द का अर्थ जो 'एतद्देशकालविशिष्टत्व' है—इन दोनों अर्थों के परस्पर भेद की निवृत्ति करनेवाला 'विशेषण-विशेष्यभाव' सम्बन्ध है। यहाँ 'सोऽयम्'—इस वाक्य प्रयोग में 'स' शब्द का अर्थ—'विशेष्य' है, और 'अयम्' शब्द का अर्थ—'विशेषण' है और 'अयं सः'—इस प्रकार के वाक्य में 'अयम्' शब्द का अर्थ—'विशेष्य' है; और 'स' शब्द का अर्थ—'विशेषण' है। और 'सोऽयं देवदत्तः'—इस वाक्य में स्थित 'सः अयम्' इन दोनों शब्दों की 'भागत्याग' लक्षणा करके अर्थात् 'तद्देशकालविशिष्टत्व' और 'एतद्देशकालविशिष्टत्व'—इन दोनों विरोधी अंशों का परित्याग करके अविरुद्ध 'देवदत्त' व्यक्तिमात्र का उस वाक्य से बोध होता है। अतः वह 'देवदत्त' व्यक्तिमात्र ही 'सोऽयम्' इस वाक्य का 'लक्ष्यार्थ' है।

वाक्यार्थरूप लक्ष्य 'देवदत्त' के साथ 'सोऽयम्' इन दोनों पदों का तथा इन दोनों पदों के उक्त अर्थ का लक्ष्य-लक्षणभाव सम्बन्ध है। इनमें बोधन करनेवाले बोधक का नाम 'लक्षण' है और बोध्य अर्थात् जानने के योग्य पदार्थ का नाम 'लक्ष्य' है। यहाँपर 'सोऽयम्'—इन दोनों पदों से अथवा इन दोनों पदों के 'अर्थ' से वही 'देवदत्त व्यक्ति' जाना जाता है। अतः वे 'पद' तथा 'अर्थ' तो 'लक्षण' हैं, और देवदत्तव्यक्ति' 'लक्ष्य' है।

इस प्रकार लौकिक प्रत्यभिज्ञावाक्य 'सोऽयं देवदत्तः' में सम्बन्धत्रय को बताकर अब वैदिक 'तत्त्वमसि' वाक्य में सम्बन्धत्रय को बताते हैं—तथेति।

'तत्त्वमसि'—इस महावाक्य में स्थित 'तत्' पद तो 'परोक्षत्व-सर्वज्ञत्व आदि धर्मों से विशिष्ट 'ईश्वरचैतन्य' का 'वाचक' है, और 'त्वम्'—पद—'अपरोक्षत्व—अल्पज्ञत्व आदि धर्मों से विशिष्ट 'जीवचैतन्य' का 'वाचक' है। 'तत्' पद की प्रवृत्ति का निमित्त तो 'परोक्षत्वादिधर्मविशिष्टत्व' है। और 'त्वम्' पद की प्रवृत्ति का निमित्त—'अपरोक्षत्वादिधर्म-विशिष्टत्व' है। एवंच 'तत्' और 'त्वम्'—दोनों पदों की प्रवृत्ति का निमित्त भिन्न-भिन्न है, और 'तत् और त्वम्'—ये दोनों पद, भागत्यागलक्षणा के द्वारा एक अखण्डचैतन्य के बोधक होते हैं। यही उन 'तत् और त्वम्' पदों का परस्पर सामानाधि-करण्य सम्बन्ध है।

तथा 'तत्—पदार्थरूप ईश्वर चैतन्य' का और 'त्वम्—पदार्थरूप जीवचैतन्य' का परस्पर भेदभ्रम जिनको होता है, उनके भ्रम को नष्ट करनेवाला 'विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध' है। 'तत्त्वमसि'—इस वाक्य प्रयोग में 'तत्'—पदार्थ विशेष्य है, और 'त्वम्'—पदार्थ 'विशेषण' है, और 'त्वं तत् असि' में अर्थात् इस प्रकार के वाक्य प्रयोग में 'त्वम्' पदार्थ, विशेष्य है,

संसर्गस्य वा विशिष्टस्य वा विशिष्टैक्यस्य वा प्रत्यक्षादिविरुद्धत्वेन "तत्त्वमस्या"दिवाक्यप्रतिपाद्यत्वायोगात् ।

●

सरम्यर्थः। लौकिके सोऽयमित्यादिवाक्ये सम्बन्धत्रयं व्युत्पाद्य वैदिके "तत्त्वमस्या"दिवाक्ये तद्दर्शयति—तथेति। तत्र सम्मति-माह—तदुक्तमिति। लक्षणया तत्त्वमस्यादिवाक्यमखण्डार्थबोधकमित्यत्राचार्य्यसम्मतिमाह—एतदिति।

ननु किमिदं तादात्म्यं; तन्निष्ठासाधारणधर्म्मो, भेदसहिष्णुरभेदो वा ? नोभयथापि सम्भवति। अद्वैतासिद्धयाऽप-सिद्धान्तप्रसङ्गादित्यत आह—तादात्म्येति। स चासावात्मा च तदात्मा तदात्मनो भावस्तादात्म्यमिति व्युत्पत्त्या तादात्म्य-शब्दस्याखण्डार्थस्वरूपमर्थं इति तात्पर्य्यार्थः ॥४४॥

ननु घटमानयेत्यादौ संसर्गो वा विशिष्टो वा वाक्यार्थः सर्वसम्मतः, न त्वखण्डवाक्यार्थः कैश्चिदभ्युपगम्यत इत्या-शङ्कयाह—संसर्गस्येति। सत्यमेवं तथापि संसर्गत्वं वा विशिष्टत्वं वा न वाक्यप्रतिपाद्यत्वे तन्त्रमनभिमतसंसर्गादेरपि वाक्यार्थ-त्वापत्तेः। किं तर्हि ? तात्पर्य्यविषयत्वम्। तात्पर्य्यञ्चाखण्डे ब्रह्मण्युपक्रमादिभिर्लिङ्गैर्वेदान्तानामवधृतमित्यखण्डं ब्रह्म वाक्यार्थः। अनभ्युपगमस्य पुरुषदोषत्वात्।

●

और 'तत्'—पदार्थ, 'विशेषण' होता है। इस प्रकार 'तत्' और 'त्वम्' पदार्थ, दोनों का परस्पर अभेदरूप से 'विशेषण-विशेष्यभाव' करने से दोनों के होने वाले भेदभ्रम की निवृत्ति हो जाती है।

तथा 'तत्' और 'त्वम्'—दोनों पदों का एवं उन पदों के अर्थरूप 'ईश्वर' और 'जीव' का वाक्यार्थरूप 'अखण्ड-चैतन्य' के साथ लक्ष्य-लक्षणभाव सम्बन्ध है। अर्थात् 'तत्' और 'त्वम्' पद तथा उन दोनों पदों के अर्थ, उन परोक्षत्व एवं अपरोक्षत्व आदि विरुद्ध अर्थों का परित्याग करके अविरुद्ध अखण्ड चैतन्यमात्र को ही प्रदर्शित करते हैं। इस कारण उन पदों में तथा उनके अर्थों में तो 'लक्षणरूपता' है, और उस 'अखण्डचैतन्य' में 'लक्ष्यरूपता' है। अन्य ग्रन्थकारों ने भी उक्त तीन सम्बन्धों को बताया है।

शंका—वेदान्त के अन्य ग्रन्थों में यह कहा गया है कि 'तत्त्वमसि'—इत्यादि वाक्य, 'भागत्याग लक्षणा' के द्वारा 'अखण्डचैतन्य' का बोध कराते हैं। और आपने तो 'लक्ष्य-लक्षणभावसम्बन्ध' के द्वारा 'तत्त्वमसि'—इत्यादि वाक्यों को 'अखण्ड चैतन्य' का बोधक होना बताया है। अतः उन वेदान्तग्रन्थों के साथ इस ग्रन्थ का विरोध हो रहा है। अतः आपके कथन को प्रामाणिक कैसे कहा जायगा ?

समा०—'लक्ष्य-लक्षणभाव' और 'भागत्यागलक्षणा'—दोनों के नाम ही केवल भिन्न हैं, 'अर्थ' में कोई भेद नहीं है। अतः कोई विरोध नहीं है।

इसी अभिप्राय को ध्यान में रखकर 'वाक्यवृत्ति' ग्रन्थ में 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों को 'भाग-त्यागलक्षणा' के द्वारा 'अखण्डार्थ' का बोधक होना बताया गया है। इसी बात को पद्य के द्वारा बताया गया है, जिसका यह अर्थ है—'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य 'तत्-त्वम्' पदों के 'लक्ष्यार्थ' को लेकर ही 'अखण्डस्वरूप' के प्रतिपादन में प्रवृत्त होते हैं।

शंका—जैसे-लोकव्यवहार में 'घटमानय', 'नीलोत्पलम्'—इत्यादि वाक्य, 'पदार्थों के संसर्ग' का अथवा विशिष्ट अर्थ का ही बोधक होता है, अखण्डार्थ का बोधक नहीं होता, तब 'तत्त्वमसि' वाक्य, अखण्डार्थ का बोधक कैसे होगा ?

समाधान—'तत्त्वमसि' आदि वाक्य 'सम्बन्धरूप संसर्ग' के अथवा 'विशिष्ट अर्थ' के बोधक नहीं हुआ करते। वे तो 'एक अखण्ड ब्रह्मस्वरूप' के ही बोधक हुआ करते हैं।

इस बात को 'वाक्यवृत्ति' ग्रन्थ में कहा गया है।

समा०—(क) उक्त शंका का समाधान करते हैं—संसर्गस्येति।

वेदान्तशास्त्र में 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों का 'संसर्गात्मक वाक्यार्थ' अथवा 'विशिष्ट-वाक्यार्थ', सम्भव नहीं है। किन्तु 'अखण्ड-एकरस-ब्रह्म' ही वाक्यार्थ के रूप में विद्वानों को सम्मत है।

शंका करनेवाले ने जो शंका की है, वह व्यावहारिक दृष्टि से ठीक है, तथापि वाक्य के प्रतिपाद्य विषय के निर्धारण में 'संसर्गत्व' या 'विशिष्टत्व' को कारण नहीं कह सकते। क्योंकि प्रतिपाद्यविषय का निर्धारण करना उनके अधीन, नहीं है। अन्यथा अनभिमत संसर्ग आदि को भी वाक्यार्थ को रूप में समझना पड़ेगा। अतः 'तत्त्वमसि'—इस महावाक्य का

अखण्डत्वं नाम विजातीयसजातीयस्वगतभेदशून्यत्वम्। सर्वस्य प्रपञ्चस्य ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य कल्पितत्वेन मिथ्यात्वाद्विजातीयभेदशून्यता, जीवपरमात्मनोरत्यन्तैक्यात्, सजातीयभेदशून्यता, एकरसत्वात् स्वगतभेदशून्यता।

●

किञ्च तत्त्वमस्यादिवाक्यप्रतिपाद्यत्वे संसर्गादेः प्रत्यक्षविरोधपरिहारासम्भवेन तस्य तदयोगात्। नच नाहमीश्वर इति प्रत्यक्षादिविरोधात्कथमखण्डवस्तुनो महावाक्यप्रतिपाद्यत्वमिति वाच्यम्, श्रुतिविरोधे प्रत्यक्षादीनामाभासत्वात्। योग्यानुपलब्धेरसम्भवेन जीवनिष्ठेश्वरभेदस्य प्रत्यक्षायोग्यत्वात्, मनसोऽनिन्द्रियत्वेन तथात्वाच्च। जीवाधिकरणेश्वरभेदस्य साक्षिभास्यतया प्रातीतिकत्वेन तद्विषयप्रत्यक्षस्य श्रुत्या बाधसम्भवाच्चन्द्रगतप्रादेशकत्वप्रत्यक्षवत्तद्गतद्वित्वादिप्रत्यक्षवच्च। भेदप्रत्यक्षस्याज्ञानोपाधितन्त्रत्वेन स्वाभाविकाखण्डार्थस्य महावाक्यस्य तेन समं विरुद्धत्वेन तन्निवर्त्तकतया भेदप्रत्यक्षस्य भ्रान्तित्वाच्च।

नन्वेवं "द्वासुपर्णे"त्यादि श्रुत्या जीवपरयोर्भेदप्रतिपादनात् कथं महावाक्यस्या खण्डार्थत्वमिति चेन्न, भेदस्य मानान्तरसिद्धत्वेन श्रुतिप्रतिपाद्यत्वायोगात्, फलवत्यज्ञातेऽर्थे श्रुतेस्तात्पर्य्यात्। तस्मात्तदनुवादेनोदाहृतश्रुतेरखण्डे ब्रह्मण्येव तात्पर्य्यात्।

●

तात्पर्य, किसमें है? अर्थात् उसके तात्पर्य का विषय क्या है? यह जिज्ञासा होने पर समझ में आता है कि उपक्रमोपसंहारादि-षड्विध लिङ्गों की सहायता से उन वाक्यों का तात्पर्य, 'अखण्डब्रह्म' में ही है। इसलिये वेदान्तशास्त्र का यही निर्णय है कि 'अखण्डब्रह्म' ही उक्त महावाक्य का अर्थ है। इस निर्णय को यदि कोई व्यक्ति स्वीकार नहीं करता है, तो उस व्यक्ति के भ्रम-प्रमादादि दोष ही उसके स्वीकार न करने में कारण हैं, यह समझना—चाहिये।

किञ्च—'संसर्ग' आदि को ही 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य का 'प्रतिपाद्य अर्थ' कहें तो प्रत्यक्षविरोध उपस्थित होगा, जिसे दूर करना असम्भव है। इस कारण 'संसर्ग आदि', को 'महावाक्य' का 'अर्थ' नहीं कह सकते। एवंच वेदान्तशास्त्र में महावाक्यों का 'संसर्गात्मक वाक्यार्थ', अथवा 'विशिष्टवाक्यार्थ' मान्य नहीं है। किन्तु 'अखण्ड एकरस ब्रह्म' ही उन महावाक्यों का अर्थ है।

शंका—'नाऽहम् ईश्वरः'—मैं ईश्वर नहीं हूँ—इस कथन से जीव और ईश्वर के भेद का प्रत्यक्ष तो सभी को होता है। तब श्रुत्युक्त 'महावाक्य', सर्वानुभवसिद्ध प्रत्यक्ष के विरुद्ध, 'अखण्डार्थ' का प्रतिपादन कैसे कर पायेंगे?

समा०—श्रुति के साथ किसी प्रमाण का विरोध रहने पर उसे 'प्रमाण' न कहकर 'प्रमाणाभास' कहा जाता है। उस कारण यहाँ भी श्रुति के साथ प्रत्यक्ष का विरोध उपस्थित होने से उसे 'प्रत्यक्ष' न कहकर 'प्रत्यक्षाभास' ही समझना चाहिये। क्योंकि उपलब्धि के योग्य होने पर उसकी उपलब्धि अवश्य हुआ करती है, उसकी अनुपलब्धि का सम्भव नहीं रहता। ऐसी स्थिति में 'जीव' निष्ठ जो 'ईश्वर' का भेद है, उसका प्रत्यक्ष न हो पाने से उसे प्रत्यक्ष के योग्य नहीं कहा जा सकता। जैसे 'धर्म-अधर्म' पदार्थ, प्रत्यक्ष के योग्य नहीं हैं, वैसे ही उक्त 'भेद' भी प्रत्यक्ष के योग्य नहीं हैं। क्योंकि चक्षुरादि बाह्य इन्द्रियों से बाह्य रूपादि पदार्थों का प्रत्यक्ष हुआ करता है। 'आत्मा' का अथवा 'आत्मवृत्तिधर्म' का उन चक्षुरादि इन्द्रियों से तो प्रत्यक्ष नहीं होता, उस कारण उस 'भेद' का चक्षुरादि इन्द्रियों से 'प्रत्यक्ष' होना सम्भव नहीं है, और अन्तःकरणरूप 'मन' में 'इन्द्रियत्व' का सम्भव न रहने से 'मन' के द्वारा भी उक्त 'भेद' का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। उस भेद को यदि 'साक्षिभास्य' मान लें, तो स्वप्नपदार्थों के समान उस भेद को 'प्रातीतिक' ही कहना होगा। उस 'प्रातीतिक भेदविषयक प्रत्यक्ष' से 'अभेदबोधकश्रुति' का बाध होना संभव नहीं है, प्रत्युत श्रुति से ही 'प्रत्यक्ष' का बाध होना संभव होगा। एवञ्च प्रत्यक्ष-प्रमाण से जीव और ईश्वर के भेद की सिद्धि नहीं हो पा रही है। श्रुतिविरुद्ध 'प्रत्यक्ष' को भ्रम ही कहना चाहिये। जैसे—'चन्द्र' के स्वल्प परिमाण (प्रादेशिक परिमाण) का तथा 'चन्द्रगत द्वित्व' का बोध कराने वाला 'लोकप्रत्यक्ष', चन्द्रमा के महत् परिमाण को तथा एकत्व को बताने वाले ज्योतिषशास्त्र के विरुद्ध होने से 'भ्रम' कहलाता है, वैसे ही भेदविषयक 'प्रत्यक्ष' भी 'अभेद-बोधक श्रुति' के विरुद्ध होने से भ्रमरूप ही है।

किञ्च—संसाररूपी वृक्ष पर मित्रभूत दो पक्षी बैठे हैं—जीव तथा ईश्वर। एक सांसारिक पदार्थों का उपभोग करता है, और दूसरा विषयों का उपभोग न करता हुआ केवल संसार का नियन्त्रण (शासन) करता है—भेदवादी उक्त श्रुति-वचन को अपने भेदसिद्धान्त के समर्थन में उपस्थित किया करते हैं, किन्तु उक्त वचन का तात्पर्य, 'जीव और ईश्वर के भेद-प्रतिपादन' में नहीं है। इस वचन के द्वारा भगवती श्रुतिमाता ने लोकव्यवहार में प्रसिद्ध जो 'भेद' है, उसी का अनुवादमात्र

पैङ्गिरहस्यब्राह्मणेन श्रुत्यैव तथा व्याख्यातत्वाच्च अखण्डब्रह्मैव तत्त्वमस्यादिवाक्यप्रतिपाद्यम्। तस्मात्संसर्गस्य विशिष्टस्य वा महावाक्यप्रतिपाद्यत्वायोगात्तादात्म्यप्रतिपादनइत्यस्याखण्डस्वरूपप्रतिपादन इति व्याख्यानमुचितमेव। तदुक्तम्,

"संसर्गो वा विशिष्टो वा वाक्यार्थो नात्र सम्मतः।
अखण्डैकरसत्वेन वाक्यार्थो विदुषां मतः" ॥इति॥

ननु किमिदमखण्डत्वं; जातिरुपाधिर्वा? नाद्यः। अविद्यातिरिक्तजडजातेरनङ्गीकारात्। ननु घटोऽयं घटोऽयमित्यनुगताकारप्रतीत्या जातिसिद्धेः कथमनङ्गीकार इति चेन्न, अनुगताकारप्रतीत्या घटत्वादिसिद्धावपि तस्य जातित्वे मानाभावात्। नच घटत्वादिकं जातिर्द्रव्यगुणकर्म्मविशेषभिन्नत्वे सति समवेतत्वात् व्यतिरेकेणाभाववदित्यनुमानेन तस्य जातित्वसिद्धिरिति वाच्यम्, समवायस्य निरस्तत्वेन हेत्वसिद्धेः। साध्यप्रसिद्धेरनुमानाङ्गत्वेन जातित्वस्य मानान्तरासिद्धत्वेन व्याप्तिग्रहाभावेन तदनुमानायोगाच्च। अन्यथातिप्रसङ्गात्। तस्मादखण्डत्वं न जातिः। न चाविद्यातिरिक्तजडजात्यनङ्गीकारेऽपि साऽविद्यैवास्तामिति वाच्यम्, तथात्वे तस्य श्रुतिवेद्यत्वाभावप्रसङ्गात्।

न द्वितीयः। तस्यानिर्वचनत्वात्। तथाहि, न तावद्भेदशून्यत्वमखण्डत्वं, भेदस्य प्रसिद्धत्वेन तच्छून्यत्वस्यासम्भवात्। अप्रसिद्धत्वेऽप्रसक्तप्रतिषेधासम्भवेन तच्छून्यत्वस्य ग्रहीतुमशक्यत्वात्। नापि परिच्छेदशून्यत्वम् तत्परिच्छेदो नामावयवो वस्त्वन्तरं वाऽभावो वा। नाद्यः, ब्रह्मणो निरवयवत्वेन अवयवाऽप्रसक्तो तन्निषेधायोगेन तच्छून्यत्वस्य ग्रहणायोगात्। न द्वितीयः, भवन्मते ब्रह्मव्यतिरिक्तवस्त्वन्तरस्य मानान्तरासिद्धतया तन्निषेधायोगेन तदनुपपत्तेः। न तृतीयः, "अनाद्यनन्तम्" "अजोनित्य" इत्यादि श्रुत्या ब्रह्मणोऽनादिनित्यतया ध्वंसप्रागभावयोरसम्भवात्। अद्वितीयश्रुत्या ब्रह्मणस्त्रैकालिकानादिनित्यात्यन्ताभावस्यासम्भवात्। अतएव तदन्योऽन्याभावस्यासम्भवात्। तस्मादप्रसक्तप्रतिषेधायोगेनाभावः परिच्छेदस्तच्छून्यत्वमखण्डत्वमित्यसङ्गतमेतत्। एतेनानेकपर्य्यायशब्दप्रकाश्यत्वे सत्यविशिष्टत्वं तदिति निरस्तम्, पूर्वोक्तदोषस्यात्रापि तुल्यत्वात्। तस्मादखण्डं ब्रह्मवाक्यार्थ इत्यसङ्गतमित्याशङ्क्याह—अखण्डत्वं नामेति।

●

करके अपना तात्पर्य 'अखण्डब्रह्म' में ही बताया है। क्योंकि जिस अर्थ का ज्ञान, अभीष्ट फल की प्राप्ति कराता है, तथा जो 'अर्थ', प्रत्यक्षादि-प्रमाणों से अज्ञात (अनवगत) रहता है, उसी अर्थ को बताने में भगवती श्रुति का तात्पर्य रहता है।

जीव और ईश्वर का भेद 'अज्ञात' नहीं है, क्योंकि शास्त्र-संस्कार-रहित मनुष्य को भी अपने ईश्वर न होने का ज्ञान अर्थात् 'मैं ईश्वर नहीं हूँ'—इत्याकारक ज्ञान रहता ही है। इस भेदज्ञान से उसे किसी इष्टफल की प्राप्ति भी नहीं होती है। श्रुति तो भेददर्शी पुरुष को पुनः पुनः जन्म-मरण की प्राप्ति का होना बता रही है, तथा उसे (भेददर्शी-पुरुष को) पशु के तुल्य उसने बताया है। इससे स्पष्ट होता है कि 'जीव-ब्रह्म' के भेद में उक्त श्रुति का तात्पर्य नहीं है। उसका तात्पर्य तो 'अखण्ड ब्रह्म' में ही है, और 'अखण्ड ब्रह्म', प्रत्यक्षादि प्रमाणों का विषय न रहने से 'अज्ञात' भी है। श्रुतियों ने तो उस अखण्ड ब्रह्म के अज्ञान रूप अनर्थ की निवृत्ति, और परमानन्द की प्राप्तिरूप फल का प्रतिपादन किया है। उस कारण 'अखण्ड ब्रह्म' में ही उस श्रुति का तात्पर्य सिद्ध हो रहा है। एवं च 'तत्त्वमसि' आदि श्रुतिवाक्य का प्रतिपाद्य 'अखण्ड ब्रह्म' ही है।

शंका—'अखण्ड ब्रह्म' ही महावाक्यों का प्रतिपाद्य अर्थ है, यह अद्वैतवादियों का कथन है। किन्तु ब्रह्म में वह 'अखण्डता' क्या है?

समा०—अखण्डता का निर्वचन अनेक विद्वानों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से किया है। कुछ लोगों का कहना है कि (१) विजातीयभेद (२) सजातीयभेद (३) स्वगतभेद—इन तीनों भेदों से रहित रहना ही 'ब्रह्म' की अखण्डता है।

'ब्रह्म' में उक्त तीन भेदों के अभाव-बोधनार्थ, प्रथमतः अनात्म पदार्थों में उक्त तीनों भेदों को समझना होगा।

(१) विजातीय भेद—भिन्न-भिन्न जाति वाले पदार्थों का जो परस्पर भेद है, उस भेद को 'विजातीय भेद' कहते हैं। जैसे—'वृक्षों' में 'घट-पटादि' पदार्थों का जो भेद है, तथा उन 'घट-पटादि पदार्थों में उन वृक्षों का जो भेद है, उसे—'विजातीयभेद' कहा जाता है।

(२) सजातीय भेद—समान जातिवाले पदार्थों का जो परस्पर भेद है, उसे 'सजातीय भेद' कहते हैं। जैसे—'आम' के वृक्ष का 'जामुन' के वृक्ष में जो भेद है, तथा जामुन के वृक्ष का उस आम के वृक्ष में जो भेद है, उसे 'सजातीय भेद' कहते हैं।

(३) स्वगत भेद—वृक्ष में स्थित जो पत्र, पुष्प, शाखा-आदि हैं, उनका उस वृक्ष में जो भेद है, उसे 'स्वगत भेद' कहते हैं। इस प्रकार सभी अनात्म पदार्थों में ये तीन भेद रहते हैं।

अखण्डत्वमुपाधिरेव। नच तन्निर्वचनासम्भव इत्याह—विजातीयेति। नच विजातीयादिभेदस्याप्रसिद्धतयाऽप्रसक्तप्रतिषेधानुपपत्त्या तच्छून्यत्वं दुर्ग्रहमिति वाच्यम्, भ्रान्त्या प्रसिद्धसम्भवेन तच्छून्यत्वग्रहसम्भवात्। वृक्षादीनां विजातीयो घटादिस्तद्भेदो वृक्षेषु प्रसिद्धो लोकानामेकस्य वृक्षस्य वृक्षान्तरं सजातीयं तत्रान्योन्यभेदोऽन्योन्यस्मिन्प्रसिद्धः। स्वगतं शाखापत्रादितद्भेदो वृक्षे प्रसिद्धः प्रत्यक्षादिना। नैवम्ब्रह्मणि सम्भवतीत्याह—सर्वस्येति। "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यं" "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं" "तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः" इत्यादि श्रुतिसूत्राभ्यां कार्य्यस्य कारणादव्यतिरेकात्सर्वस्य कल्पितत्वम्। नचाज्ञानस्याकार्य्यतया ब्रह्माव्यतिरेकादकल्पितत्वप्रसङ्ग इति वाच्यम्, "एकमेवाद्वितीयम्" "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं" मिति श्रुत्या साऽज्ञानस्य कार्य्याकार्य्यसर्वप्रपञ्चस्य ब्रह्माव्यतिरेकावगमेनाज्ञानस्यापि कल्पितत्वसम्भवात्। कल्पितस्य सर्वस्य प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वेन परमार्थतोऽधिष्ठानेऽसत्त्वेन विजातीयभेदशून्यत्वम्ब्रह्मण उपपद्यते। एवं "तत्त्वमसि" "अहम्ब्रह्मास्मि" 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धी"त्यादि श्रुतिस्मृतिभिर्जीवपरमात्मनोरत्यन्तैक्यप्रतिपादनेन चेतनान्तरस्यासम्भवाज्जीवभावस्य मिथ्यात्वेनाऽज्ञानकल्पितत्वाद्ब्रह्मणः सजातीयभेदशून्यत्वम्। तथा

"निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्। "केवलोनिर्गुणश्च" "असङ्गोह्ययं पुरुषः" "नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः" इति श्रुतिस्मृतिभिरवयवगुणक्रियाजातिसम्बन्धप्रतिषेधेन सृष्ट्यादिवाक्यैर्ज्ञायमानावयवगुणादीनां श्रुतिप्रतिपाद्यत्वाभावेन मायाकल्पितत्वेन च मिथ्यात्वाद्ब्रह्मणः स्वगतभेदशून्यत्वमिति भावः। "स्वगतभेदशून्यत्वमखण्डत्व"-मित्युक्ते, साङ्ख्यात्मन्यतिव्याप्तिः, सांख्यैरप्यात्मनोऽवयवगुणक्रियाजातिशून्यत्वाभ्युपगमेन स्वगतभेदशून्यत्वसम्भवात्, तद्वारणाय सजातीयेत्युक्तम्। तैर्जीवानां परस्परभेदाभ्युपगमेन सजातीयभेदशून्यत्वाभावान्नातिव्याप्तिः। सजातीयस्वगतभेदशून्यत्वमखण्डत्व-मित्युक्ते आकाशेऽतिव्याप्तिस्तद्वारणाय विजातीयेति। विजातीयभेदशून्यत्वं तदित्युक्ते सजातीयस्वगतभेदयोरभ्युपगमः स्यादतश्चाद्वितीयश्रुतिविरोधापत्तिः। तद्वारणाय सजातीयेत्यादि। एकरसत्वसिद्धये स्वगतेति। एवं पदप्रयोजनं द्रष्टव्यम्। प्रकारान्तरेणा-

●

'ब्रह्म' में उक्त तीन भेदों में से कोई—किसी प्रकार का भी भेद नहीं रहता। क्योंकि 'ब्रह्म' में विजातीय भेद तभी रह सकेगा कि जब ब्रह्म से भिन्न कोई वस्तु 'सत्य' हो, किन्तु ब्रह्म से भिन्न कोई 'वस्तु', सत्य नहीं है। अविद्या सहित सम्पूर्ण कार्यप्रपञ्च, उस 'अधिष्ठान रूप ब्रह्म' में कल्पित रहने से मिथ्या ही है। उस कारण 'ब्रह्म' में विजातीय भेद की संभावना भी नहीं की जा सकती। दूसरा है—'सजातीय भेद'। उसकी संभावना ब्रह्म में तभी की जा सकेगी, जब ब्रह्म के सजातीय कोई दूसरा पदार्थ हो, किन्तु उसका सजातीय कोई दूसरा पदार्थ है ही नहीं।

यदि 'जीव' को 'ब्रह्म' का सजातीय पदार्थ कहें तो वह ठीक न होगा, क्योंकि 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि' 'अयमात्मा ब्रह्म', 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि'—इत्यादि श्रुति एवं स्मृतियों ने जीव और ब्रह्म दोनों की अत्यन्त एकता का प्रतिपादन किया है। परन्तु सजातीयता तो भिन्न वस्तुओं में हुआ करती है। अभिन्न वस्तु में सजातीयता नहीं हुआ करती। उस कारण 'ब्रह्म' में सजातीय भेद के होने की संभावना नहीं की जा सकती।

तीसरा है—'स्वगतभेद'। उसकी भी ब्रह्म में संभावना तभी हो सकेगी जब 'ब्रह्म' में 'अवयव, गुण, क्रिया, जाति, सम्बन्ध—इन पाँचों में से कोई भी विद्यमान हो, किन्तु उक्त पाँचों में से कोई भी धर्म, 'ब्रह्म' में नहीं है, क्योंकि "श्रुति-स्मृतियों के वचनों ने 'ब्रह्म' में अवयवादि पाँचों का निषेध बताया है। उस कारण 'ब्रह्म' में स्वगत भेद की भी संभावना नहीं है। एवं च उक्त भेदत्रय-राहित्य (शून्यत्व) का होना ही ब्रह्म में 'अखण्डता' है।

शंका०—'विजातीय-सजातीय-स्वगतभेदशून्यत्वम्'-अखण्डत्वम्—इतना दीर्घलक्षण करने की अपेक्षा यदि 'स्वगतभेदशून्यत्वमखण्डत्वम्'—इतना ही लक्षण 'अखण्डत्व' का करें तो क्या हानि है?

समा०—'स्वगतभेदशून्यत्व' मात्र लक्षण करने पर, सांख्यवादियों के द्वारा अभ्युपगत 'आत्मा' में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। सांख्यवादियों ने भी अपने अभ्युपगत 'आत्मा' में अवयव, गुण, क्रिया, जाति, सम्बन्ध-शून्यत्व का होना बताया है। तब 'स्वगतभेदशून्यत्व' उसमें भी संभव होगा, उसके निवारणार्थ उक्त लक्षण में 'सजातीयभेदशून्यत्व' अवश्य कहना चाहिये। तब उनके 'आत्मा' में अतिव्याप्ति नहीं होगी। क्योंकि सांख्यवादियों ने 'आत्मा' अनेक (नाना) माने हैं। अतः उनके मत में वह 'आत्मा', 'सजातीय भेद' से रहित (शून्य) नहीं है, अपितु 'सजातीयभेदसहित' ही है। उस कारण उनके अभ्युपगत आत्मा में अब अतिव्याप्ति नहीं हो पाएगी।

शंका०—अब यदि 'सजातीय-स्वगतभेदशून्यत्वमखण्डत्वम्' इतना ही लक्षण 'अखण्डत्व' का करें तो क्या हानि है?

अथवा त्रिविधपरिच्छेदशून्यत्वम् अखण्डत्वं। विभुत्वात् देशपरिच्छेदशून्यत्वं। नित्यत्वात् कालपरिच्छेदशून्यत्वं। सर्वात्मकत्वात् वस्तुपरिच्छेदशून्यत्वम् "वेदाहमेतमजरं पुराणं सर्वात्मकं¹ सर्वगतं विभुत्वा"दित्यादिश्रुतेः।

यद्वा अपर्य्यायानेकशब्दप्रकाश्यत्वे सति अविशिष्टत्वमखण्डत्वम्। तदुक्तम्

"अविशिष्टमपर्य्यायाऽनेकशब्दप्रकाशितम्।
एकं वेदान्तनिष्णाता अखण्डं प्रतिपेदिरे" ॥ इति ॥४५॥

●

भण्डत्वं निर्वक्ति-अथवेति। ब्रह्मणि लक्षणमुपपादयति-विभुत्वेति। परिच्छेदोऽभावो घटत्वादीनां देशपरिच्छेदः पटादिषु तदात्यन्ताभावः स च ब्रह्मणो विभुत्वान्नास्त्येव। अन्यथा विभुत्वमेव न स्यात्, घटादिव्यक्तीनां कालपरिच्छेदः स्वोपादाने ध्वंसः स च ब्रह्मणो नित्यत्वात् नास्त्येव। नित्यत्वञ्च ब्रह्मणः श्रुतिप्रसिद्धम्। घटादीनां वस्तुपरिच्छेदः पटादिषु घटादिप्रतियोगिकभेदो वा घटादिषु पटादिप्रतियोगिकभेदो वा, द्विविधभेदोऽपि ब्रह्मणः सर्वात्मत्वान्नास्त्येव सर्वस्य स्वप्नकल्पितगजादिवत् ब्रह्मण्या-

●

समा०—उक्त लक्षण की 'आकाश' में अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि 'आकाश'—एक ही है, नाना (अनेक) नहीं है। आकाश के एक रहने से वह 'सजातीय भेद' से भी रहित है, और निरवयव, निष्क्रिय भी है, उस कारण वह 'स्वगत भेद' से भी रहित है। अतः उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति हो रही है। उसके निवारणार्थं लक्षण में—'विजातीयभेदशून्यत्वम्' भी अवश्य कहना चाहिये। तब 'आकाश' में विजातीयभेदशून्यता के न रहने से अतिव्याप्ति नहीं हो पाती। क्योंकि वह 'पृथिवी-जल' आदि विजातीय द्रव्यपदार्थों के सहित ही है, उनसे रहित नहीं है। अब यदि 'विजातीयभेदशून्यत्वम्' मात्र कहें तो सजातीय-स्वगत भेदों का स्वीकार किया माना जाएगा, तब 'ब्रह्म' में 'सजातीय-स्वगत' इन दो भेदों की प्राप्ति कहनी होगी। वैसा कहने पर 'एकमेवाऽद्वितीयं ब्रह्म', इस अद्वैत श्रुति के साथ विरोध होगा। उस श्रुतिविरोध के निवारणार्थं लक्षण में 'सजातीयभेदशून्यत्व' कहा गया है, और 'ब्रह्म' में 'एकरसत्व' की सिद्धि के लिये 'स्वगतभेदशून्यत्व' कहा है। इस तरह 'विजातीय-सजातीय-स्वगतभेद-शून्यत्वमखण्डत्वम्'—यही सम्पूर्ण लक्षण है, इस में कोई दोष नहीं है, अतः यह निर्दुष्ट लक्षण है।

अब ब्रह्म की अखण्डता का निर्वचन दूसरे प्रकार से भी कर सकते हैं—(१) देशपरिच्छेद, (२) कालपरिच्छेद, (३) वस्तुपरिच्छेद—इन तीन परिच्छेदों से शून्य (रहित) रहना ही उसकी (ब्रह्म की) अखण्डता है। 'ब्रह्म'—तीनों परिच्छेदों से रहित (शून्य) है, यह समझने के लिये अनात्म वस्तुओं में तीनों परिच्छेदों का रहना प्रथमतः समझना होगा। अत्यन्ताभाव के प्रतियोगी में रहनेवाली जो 'प्रतियोगिता' है, उसे 'देशपरिच्छेद' कहते हैं। जैसे—घटात्वादि धर्मों का 'पट' आदि पदार्थों में 'अत्यन्ताभाव' रहता है। उस अत्यन्ताभाव की 'प्रतियोगिता' 'घटत्वादि' धर्मों में रहती है। उन घटत्वादि धर्मों में रहनेवाले को ही 'देशपरिच्छेद' कहते हैं।

तथा 'प्रागभाव' एवं 'ध्वंसाभाव' की जो प्रतियोगिता है, उसी को 'कालपरिच्छेद' कहते हैं। जैसे 'घट' का अपनी उत्पत्ति के पूर्व अपने उपादानकारणस्वरूप 'कपालों' में 'प्रागभाव' रहता है, तथा अपने नाश (ध्वंस) के पश्चात् उन 'कपालों' में उसका 'प्रध्वंसाभाव' रहता है। उन प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव की 'प्रतियोगिता' उस 'घट' में रहती है। घट में रहनेवाली उसी प्रतियोगिता को 'कालपरिच्छेद' कहते हैं।

तथा 'अन्योऽन्याभाव' की प्रतियोगिता को 'वस्तुपरिच्छेद' कहते हैं। जैसे 'घट' का 'पट' में 'भेद' और 'पट' का उस 'घट' में 'भेद' रहता है। उस भेदस्वरूप अन्योऽन्याभाव की प्रतियोगिता उस 'घट' और 'पट' में रहती है। यही उन घट-पट आदि में रहनेवाली प्रतियोगिता 'वस्तु परिच्छेद' शब्द से कही जाती है। इस रीति से समस्त अनात्म पदार्थ, उक्त तीन परिच्छेदों से युक्त रहते हैं। किन्तु 'ब्रह्म' में उक्त तीन परिच्छेदों में से किसी प्रकार का भी परिच्छेद नहीं रहता है। क्योंकि श्रुतिवचनों ने 'ब्रह्म' को 'विभु' बताया है। विभु द्रव्य का किसी भी स्थान में अत्यन्ताभाव नहीं हुआ करता। उस कारण 'ब्रह्म' में 'देश-परिच्छेद' का होना संभव ही नहीं है।

उसी तरह "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म", "न जायते म्रियते वा कदाचित्"—इत्यादि श्रुति-स्मृतियों के वचनों ने 'ब्रह्म' को 'उत्पत्ति-विनाश' से रहित (शून्य) बताया है। 'नित्य वस्तु' का 'प्रागभाव' तथा 'प्रध्वंसाभाव' कभी नहीं होता। नित्य

१. सर्वात्मानमिति क्वचित्पाठः।

एवं तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्याखण्डापरोक्षज्ञानादज्ञाननिवृत्तिरानन्दावाप्तिश्च । तदुक्तम्

"प्रत्यक् बोधो य आभाति सोऽद्वयानन्दलक्षणः ।
अद्वयानन्दरूपश्च प्रत्यग्बोधैकलक्षणः ॥

•

रोपितत्वादारोपितस्याधिष्ठानव्यतिरेकेणाभावाद्ब्रह्मणः सर्वात्मत्वमत एवैकरसत्वं सर्वात्मकत्वं ब्रह्मणः श्रुतियुक्त्यनुभवसिद्धमतो नोक्तविकल्पावकाशः उक्तार्थे श्रुतिमुदाहरति-वेदेति।

कल्पतर्वाचार्य्यनिर्वचनमाह-यद्वेति । तत्रैव तेषां सम्मतिमाह-तदुक्तमिति । घटादौ नीलोत्पलादौ चातिव्याप्तिवारणाय विशेषणद्वयम् । यद्यपि "यतो वाचोनिवर्त्तन्ते" इत्यादिश्रुत्या ब्रह्मणोवाङ्मनसाऽतीतत्वप्रतिपादनात् साक्षाच्छब्दप्रकाश्यत्वमनुपपन्नम्, तथापि वाच्यार्थमादायान्तःकरणद्वारा लक्षणया शब्दप्रकाशितत्वं सम्भवत्येव । अन्यथा "तन्त्वौपनिषद"मित्यादिश्रुतिविरोधापत्तेः । तस्मात्तत्वमस्यादिवाक्यं लक्ष्यार्थावुपादायाखण्डस्वरूपप्रतिपादने प्रवर्त्तते इति निरवद्यम् ॥४५॥ अस्तु तत्त्वमस्यादि-

•

होने से 'ब्रह्म' में 'कालपरिच्छेद' का होना भी संभव नहीं है। तथा स्वाप्न पदार्थों के समान सम्पूर्ण जगत् 'ब्रह्म' में आरोपित होने से 'मिथ्या' है। आरोपित मिथ्या वस्तु की सत्ता, 'अधिष्ठान' की सत्ता से भिन्न नहीं मानी जाती। उस कारण 'अधिष्ठान-रूप 'ब्रह्म' ही सम्पूर्ण जगत् का आत्मस्वरूप है। इसलिये 'ब्रह्म' में 'वस्तु परिच्छेद' का होना भी संभव नहीं है।

भगवती श्रुति भी उक्त तथ्य को बता रही है वेदेति। "वेदाहमेतमजरं पुराणं सर्वात्मकं सर्वगतं विभुत्वात्" अर्थात् जो 'ब्रह्म' अजर है, पुराण है, सबका आत्मस्वरुप है, तथा विभु है और सर्वगत है, उस ब्रह्म को मैं अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) जानता हूँ।

अथवा 'अखण्डता' का लक्षण इस प्रकार भी किया जा सकता है—अपर्याय अनेक शब्दों से जो वस्तु, प्रकाशित तथा विशिष्ट भाव से रहित होती है उस वस्तु को 'अखण्ड कहते हैं। 'तत्त्वमसि', 'अहम् ब्रह्माऽस्मि'—इत्यादि महावाक्यों में स्थित जो 'तत्, त्वम्' आदि शब्द हैं, वे शब्द, 'वाच्य अर्थ' के भेद से 'अपर्याय' भी हैं तथा 'अनेक' भी हैं। उन शब्दों से वह 'ब्रह्म' प्रकाशित है तथा विशिष्ट भाव से रहित भी है, यही उस 'ब्रह्म' की अखण्डता है। यद्यपि 'घटः', 'कलशः' इन अनेक शब्दों से 'घट' वस्तु प्रकाशित हो रही है, तथापि वे शब्द 'अपर्याय' नहीं हैं, अपितु 'पर्याय' ही हैं। और 'नीलम् उत्पलम्'—इन अपर्याय (पर्यायरहित) अनेक शब्दों से यद्यपि 'उत्पल' प्रकाशित है, तथापि वह (उत्पल) 'विशिष्ट भाव' से रहित नहीं है, अपितु 'नीलगुणविशिष्ट' होकर ही प्रकाशित हो रहा है। उस कारण उक्त 'घट', 'नील उत्पल' आदि द्रव्यों में 'अखण्डता' के लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो पाती। उक्त लक्षण के सम्बन्ध में कल्पतरुकार की सम्मति है।

यद्यपि श्रुतियों ने 'ब्रह्म' को, 'मन' तथा 'वाणी' का अविषय कहा है। उस कारण 'ब्रह्म' में 'साक्षात् शब्द-प्रकाश्यत्व, संभव नहीं है, तथापि वाच्यार्थ का ग्रहण करके 'अन्तःकरण' के द्वारा लक्षणा से उसमें (ब्रह्म में) शब्दप्रकाश्यत्व संभव हो ही जाता है।

यदि कदाचित् लक्षणावृत्ति से 'ब्रह्म' में शब्द-प्रकाश्यत्व न स्वीकार करें तो उपनिषद्‌रूप 'शब्द प्रमाण' से जानने-योग्य उस परमात्मा के स्वरूप को मैं तुमसे पूछता हूँ—इस श्रुति के साथ विरोध प्राप्त होगा। अतः 'तत्त्वमसि'—इत्यादि महावाक्य 'तत्-त्वम्' पदों के लक्ष्य अर्थ को ग्रहण करके उस अखण्ड-स्वरूप के प्रतिपादनार्थ प्रवृत्त होते हैं—यह अर्थ करना ही दोषरहित प्रतीत हो रहा है।

शंका— उक्त रीति से 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य उस अखण्ड अर्थ के भले ही बोधक हो जांय, किन्तु उस अखण्ड अर्थ के बोध से इस अधिकारी पुरुष को कौन-सा लाभ होगा ?

समा०—अज्ञान की निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति होगी।

श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु जब इस अधिकारी शिष्य को 'तत् त्वम् असि'—आदि महावाक्य का उपदेश करता है, तब उस अधिकारी शिष्य को भागत्यागलक्षणा की सहायता से 'माया', (अन्तः करण आदि) जो वाच्य भाग है, उसके परित्याग-पूर्वक-अखण्ड ब्रह्म का ज्ञान होता है, अर्थात् 'अहं ब्रह्मास्मि' 'ब्रह्मैवाहमस्मि'—इन महावाक्यों से उत्पन्न अखण्डाकाराकार वृत्ति से अज्ञान निवृत्त होने पर अव्यापकता, परोक्षता आदि निवृत्त हो जाने से 'प्रत्यगात्मा' अखण्ड आनन्द स्वरुप से अवस्थित होता है—यही उदाहृत श्लोकों का तात्पर्य है। 'अहं ब्रह्मास्मि', 'ब्रह्मैवाहमस्मि—इन महावाक्यों से उत्पन्न परस्पर अभेदविषयक

इत्थमन्योऽन्यतादात्म्यप्रतिपत्तिर्यदा भवेत्।
अब्रह्मत्वं त्वमर्थस्य व्यावर्त्येत तदैव हि॥
तदर्थस्य च पारोक्ष्यं यद्येवं किं ततः शृणु।
पूर्णानन्दैकरूपेण प्रत्यग्बोधोऽवतिष्ठते"॥ इति॥

अन्योऽन्यतादात्म्यप्रतिपत्तिः अहम्ब्रह्मास्मीति ब्रह्मैवाहमस्मीत्यखण्डाकारवृत्तिः। तया वृत्त्याऽज्ञाने निवृत्ते अब्रह्मत्वपरोक्षत्वादीनां निवृत्तत्वात्। प्रत्यगात्मनः अखण्डानन्दस्वरूपावाप्तिर्भवतीति श्लोकतात्पर्य्यार्थः।

इति प्रथमपरिच्छेदः समाप्तः॥

●

वाक्यमखण्डार्थबोधकम्,। ततः किं स्यादित्यत आह—एवमिति। एवमुक्तप्रकारेणाहमेव ब्रह्म ब्रह्मैवाहमस्मीति महावाक्यजन्याखण्डापरोक्षज्ञानं[1] ततोऽनर्थनिवृत्तिरानन्दावाप्तिश्च भवतीति शेषः। तत्राचार्य्यसम्मतिमाह—तदुक्तमिति। आचार्यश्लोकं व्याचष्टे—अन्योन्येति। अहम्ब्रह्मास्मीतिज्ञानेन ब्रह्मणः परोक्षत्वानात्मत्वनिवृत्तिः। "ब्रह्मैवाहमस्मी"तिज्ञानेन जीवस्य परिच्छिन्नत्वाब्रह्मत्वनिवृत्तिः। किम्बहुना! ज्ञानेन सर्वसंसारनिवृत्तिः। ततश्च प्रत्यगात्माऽखण्डैकरसब्रह्मानन्दात्मनावतिष्ठते "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा। भूतप्रकृतिमोक्षञ्च ये विदुर्यान्ति ते परम्"॥
इत्यादि श्रुतिस्मृतिशतेभ्यः॥४६॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य्यश्रीमत्स्वयंप्रकाशानन्दसरस्वतीपूज्यपादशिष्यभगवन्महादेवानन्दसरस्वतीमुनिवरविरचिते तत्त्वानुसन्धानव्याख्यानेऽद्वैतचिन्ताकौस्तुभे प्रथमपरिच्छेदः॥१॥

●

अखण्ड अपरोक्ष ज्ञान' होता है, जो 'अज्ञान' हटाकर आनन्द देता है—इस अपरोक्ष ज्ञान में 'अहं ब्रह्मास्मि'—इत्याकारक वृत्ति तो, 'अहम्' पद का अर्थ जो 'प्रत्यक् आत्मा' है, उसके साथ 'ब्रह्म' के अभेद को अपना विषय वनाती है, अर्थात् यह वृत्ति, 'प्रत्यक् आत्मा' को 'ब्रह्म' से अभिन्न बताती है। एवं च 'अहं ब्रह्मास्मि'—इस ज्ञान से 'ब्रह्म' का परोक्षत्व और अनात्म निवृत्ति होती है, और 'ब्रह्मैवाहमस्मि'—यह वृत्ति, 'ब्रह्म' में 'प्रत्यक् आत्मा' के अभेद को अपना विषय वनाती है, अर्थात् ब्रह्म के साथ प्रत्यक् आत्मा के अभेद का बोध कराती है, यानी 'ब्रह्म', प्रत्यक् आत्मा से अभिन्न है, भिन्न नहीं है—यह बताती है। तात्पर्य यह है कि 'ब्रह्मैवाहमस्मि'—इस ज्ञान से 'जीव' का परिच्छिन्नत्व और 'अब्रह्मत्व' निवृत्त होता है। 'अहम्' पदार्थ जो प्रत्यक् चेतन है, उसकी 'अपरोक्षता' तथा 'आत्मता' तो सभी को अनुभवसिद्ध है, उसी तरह 'ब्रह्म' की परोक्षता तथा अनात्मता (आत्मभिन्नता) को भी सभी लोग समझते हैं। ऐसी स्थिति में जब भी प्रत्यक् आत्मा, में 'ब्रह्म' के अभेद को विषय करनेवाला 'अहं ब्रह्मास्मि'—इस प्रकार का 'अपरोक्ष ज्ञान' होता है, तभी उस ज्ञान से ब्रह्म की परोक्षता तथा अनात्मता (आत्मभिन्नता) की निवृत्ति हो जाती है।

तथा इस प्रत्यक् आत्मा (जीवात्मा) को लोग परिच्छिन्न मानते हैं और अब्रह्मरूप मानते हैं। किन्तु जब उस ब्रह्म में इस जीवात्मा के अभेद को विषय करने वाला 'ब्रह्मैवाहमस्मि'—इस प्रकार का अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है, तब उस ज्ञान से इस जीवात्मा (प्रत्यगात्मा) को परिच्छिन्नता, तथा अब्रह्मता (ब्रह्मभिन्नता) की निवृत्ति हो जाती है।

निष्कर्ष यह है कि अधिकारी शिष्य को चाहिये कि वह 'ब्रह्म' में परोक्षत्व तथा अनात्मत्व (आत्मभिन्नत्व) की शंका का अपनोदन करने के लिए तथा 'जीवात्मा की परिच्छिन्नता और अब्रह्मत्व (ब्रह्मभिन्नत्व) की आशंका के निवृत्त्यर्थं 'अहं ब्रह्माऽस्मि', 'ब्रह्मैवाहमस्मि'—इस प्रकार 'आत्मा' और 'ब्रह्म' का परस्पर अभेदनिश्चय सर्वदा किया करे। इस प्रकार 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों से उत्पन्न—होने वाली जो अखण्ड ब्रह्माकार अपरोक्षवृत्ति है, उस अपरोक्ष वृत्ति रूप ज्ञान से कार्य (प्रपंच सहित अज्ञान) की निवृत्ति होती है। उस स्थिति में यह प्रत्यक् आत्मा, अखण्ड एकरस ब्रह्मानन्दरूप से स्थित है, यह प्रतीति होने लगती है। भगवती श्रुति, उक्त तथ्य को बताती है—आत्मसाक्षात्कार करनेवाला पुरुष, सम्पूर्ण अनर्थरूप शोक को पार कर जाता है, तथा 'अहं ब्रह्मास्मि'—इस प्रकार अनुभव करने वाला पुरुष, अपनी आत्मा को ब्रह्मरूप जानकर वह स्वयं ब्रह्मरूप ही हो जाता है। अनेक श्रुतियों ने बताया है कि ब्रह्मसाक्षात्कार करने वाले पुरुष के अज्ञान की निवृत्ति तथा ब्रह्मानन्द की प्राप्ति उसे होती है॥४६॥

॥ इति 'साक्षात्कार'—नामसंज्ञक हिंदी व्याख्या में प्रथम परिच्छेद समाप्त॥

---

१. श्लोकार्थः इत्यपि पाठः।

अथ द्वितीयपरिच्छेदः ।

वृत्तिर्नाम विषयचैतन्याभिव्यञ्जकोऽन्तःकरणाज्ञानयोः परिणामविशेषः। अभिव्यञ्जकत्वं नामापरोक्षव्यवहार-जनकत्वमावरणनिवर्त्तकत्वं वा। परिणामोनाम उपादानसमसत्ताकोऽन्यथाभावः। उपादानविषमसत्ताकोऽन्यथाभावो विवर्त्त—इति भेदादनयोः परिणामविवर्त्तयोर्वृत्तिः उपादानान्तःकरणाज्ञानापेक्षया परिणामः, चैतन्यापेक्षया विवर्तं इति न सिद्धान्तविरोधः ॥१॥

●

प्रमातारं मानं फलमपि च मेयं त्रिजगताम्
नियन्तारं जीवं विगलितभिदं शुद्धममलम् ।
यमाहुर्योगीन्द्रा जडतनुसमासङ्गवशतो
नमामस्तं कृष्णं व्रजयुवतिचित्तालिकमलम् ॥

तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्याखण्डापरोक्षवृत्त्याऽज्ञाननिवृत्तिरानन्दावाप्तिश्च भवतीत्युक्तम्। तत्र केयं वृत्तिः ? किं वा तत्र प्रमाणं कथं वा तदुत्पत्तिः ? वृत्त्या वा किम्प्रयोजनम् ? इत्याकाङ्क्षायां प्रमाऽप्रमाभेदेन द्विविधां वृत्तिं निरूपयितुं प्रथमं वृत्तिं लक्षयति—वृत्तिर्नामेति। यद्यपि प्रमेयसिद्धिः प्रमाणादिति प्रथमं प्रमाणनिरूपणमुचितम्, तथापि तन्त्रान्तरे प्रमेयस्य जडतया प्रमाणाधीना सिद्धिर्भवतीति तन्निरूपणमुचितम्। इह स्वद्वितीयात्मसाक्षिचैतन्यस्य सर्वप्रमाणादिव्यवहारसाधकस्य वेदान्तप्रमेयतया तन्निरूपणं कृतमनन्तरं प्रमाणादिनिरूपणमुचितमेवेत्यतो न काप्यनुपपत्तिः। यथाहुः—

●

'तत्त्वमसि'—इत्यादि श्रुतिवाक्यों से उत्पन्न जो अखण्डब्रह्मविषयक 'अपरोक्षवृत्ति' है, उससे कथित अधिकारी पुरुष के 'अज्ञान' की निवृत्ति तथा 'परमानन्द' की प्राप्ति होती है—यह प्रथमपरिच्छेद के अन्त में कह चुके हैं।

अब जिज्ञासा होती है कि उक्त 'वृत्ति' का 'स्वरूप' क्या है ? और उसके विषय में 'प्रमाण' क्या है ? तथा वह वृत्ति, कैसे उत्पन्न होती है ? और उससे कौन-सा फल (प्रयोजन) उपलब्ध होता है ?

इस जिज्ञासा के उत्पन्न होनेपर 'प्रमा' और 'अप्रमा' के भेद से द्विविध वृत्ति के निरूपणार्थ प्रथमतः 'वृत्ति' का सामान्य लक्षण बता रहे हैं—

अन्तःकरण या अज्ञान के वे विशेष परिणाम, 'वृत्ति' कहे जाते हैं जो विषयचैतन्य के अभिव्यंजक हों। अभिव्यंजकता कहते हैं—अपरोक्ष-व्यवहार की उत्पादकता को या आवरण हटाने को। उपादानकारण की जो सत्ता; उसी सत्ता में अन्य प्रकार का हो जाना 'परिणाम' है। उपादानकारण की सत्ता से भिन्न सत्ता में अन्य प्रकार का हो जाना 'विवर्त' है। विवर्त व परिणाम का यह अन्तर होने से उपादानभूत अन्तःकरण या अज्ञान की अपेक्षा से वृत्ति 'परिणाम' है; जब कि चेतन की अपेक्षा से 'विवर्त' है। इस प्रकार सिद्धान्त से कोई विरोध नहीं है।

शंका—'प्रमाण' के द्वारा ही 'प्रमेय' की सिद्धि (अस्तित्व) हुआ करती है। अतः ग्रन्थकार को प्रथमतः 'प्रमाण' का ही निरूपण करना चाहिये था। अतएव न्यायशास्त्र में प्रथमतः 'प्रमाण' का निरूपण करके ही पश्चात् 'प्रमेय' का निरूपण किया गया है। किन्तु प्रस्तुत ग्रन्थकार ने प्रथमपरिच्छेद में 'ब्रह्मात्म' रूप प्रमेय का निरूपण किया और उसके पश्चात् अब इस द्वितीयपरिच्छेद में 'प्रमाण' का निरूपण कर रहे हैं। अतः ग्रन्थकार के द्वारा इस प्रकार किया गया निरूपण शास्त्रपरम्परा के विरुद्ध है।

समा०—न्याय आदि अन्यान्य शास्त्रों के 'प्रमेय' जड़ (अचेतन) हैं, उसकारण 'मानाधीना मेयसिद्धिः' अथवा 'प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि'—अर्थात् 'प्रमाण' के अधीन ही 'प्रमेय' की सिद्धि का होना बताया गया है। इसलिये न्यायादि अन्यशास्त्रों में तो 'प्रमाण' का प्रथमतः निरूपण करके ही पश्चात् 'प्रमेय' का निरूपण करना उचित ही है, किन्तु वेदान्तशास्त्र में तो समस्त प्रमाणादि व्यवहार का साधक, अद्वितीय आत्मरूप साक्षिचैतन्यात्मक 'प्रमेय' ही है। उसकारण वेदान्तशास्त्र में प्रथमतः चैतन्यात्मक 'प्रमेय' का निरूपण करके ही पश्चात् प्रमाणादिकों का निरूपण करना उचित है।

'मानेन मेयाधिगतिस्तु युक्ता (प्रमेय) धर्मस्य जाड्याद्विधिनिष्ठकाण्डे।
मेयेन मानाधिगतिस्तु युक्ता वेदान्तवाक्यादजडं हि मेयम्'' ॥ इति ॥

वृत्तिर्वृत्तिज्ञानं; घटाद्यवच्छिन्नचैतन्यं विषयचैतन्यम्; क्रोधादिष्वतिव्याप्तिवारणाय पूर्वदलम्; चक्षुरादावतिव्याप्तिवारणायोत्तरदलम्, तेषामपि स्वजन्यवृत्तिद्वारा विषयचैतन्याभिव्यञ्जकत्वात्तद्व्यावृत्त्यर्थमपेक्षितम्।

ननु किमिदमभिव्यञ्जकत्वमित्याशंक्याह—अभिव्यञ्जकत्वं नामेति। नन्वनुमित्यादिवृत्तीनां प्रत्यक्षव्यवहारजनकत्वाभावादव्याप्तिरित्यरुचेराह—आवरणनिवर्त्तकत्वं वेति। यद्यपि प्रत्यक्षवृत्तेरेवावरणनिवर्त्तकत्वमित्यव्याप्तिस्तदवस्था तथाप्यनुमित्यादेरसत्त्वापादकमौढ्याज्ञानावरणनिवर्त्तकत्वान्नाव्याप्तिरिति ध्येयम्।

●

उक्त तथ्य का उल्लेख संक्षेपशारीरक में सर्वज्ञ महामुनि ने भी यह कहकर किया है—पूर्वमीमांसा में 'धर्मादिरूप प्रमेय' जड़ (अचेतन) है, उसकारण उस (प्रमेय) की सिद्धि 'प्रमाण' के द्वारा करना उचित है, और वेदान्तशास्त्र में 'ब्रह्मात्मरूप प्रमेय' चेतन है, उसकारण उस प्रमेय की सिद्धि 'प्रमाण' से करना उचित नहीं है। अपितु 'इस चेतन प्रमेय' के द्वारा ही उस 'जड प्रमाण' की सिद्धि करना उचित है।

ग्रन्थकारने 'वृत्ति' का सामान्य लक्षण बताया है—'घट-पटादि'—विषय से अवच्छिन्न जो 'चैतन्य' है, उसे विषय चैतन्य कहते हैं। उस विषय—चैतन्य का अभिव्यञ्जक जो अन्तःकरण का अथवा अज्ञान का परिमाणविशेष है, उसे वृत्ति (ज्ञान) कहते हैं। यद्यपि क्रोध, इच्छा, सुख, दुःख आदि भी अन्तःकरण के ही परिणाम हैं, तथा 'आकाश' आदिक 'अज्ञान' के परिणाम हैं, तथापि वे क्रोधादिक, उस 'विषयचैतन्य' के अभिव्यञ्जक नहीं हैं। उसकारण 'विषयचैतन्याभिव्यञ्जकः'—इस पद के निवेश से उन क्रोध आदिकों में 'वृत्ति' के सामान्यलक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो पाई।

तथा चक्षुरादि इन्द्रिय भी 'स्व-जन्यवृत्ति' द्वारा उस 'विषयचैतन्य' के यद्यपि अभिव्यञ्जक हैं, तथापि वे चक्षुरादिक इन्द्रिय, 'अन्तःकरण' के अथवा—'अज्ञान' के परिणाम नहीं हैं, अपितु 'तेज' आदि भूतों के ही वे परिणाम हैं। लक्षण में अन्तःकरण या अज्ञान के विशेष परिणाम'—कहने से चक्षुरादि इन्द्रियों में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो सकी। कोई भी लक्षण तभी निर्दुष्ट कहलाता है जब वह अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असंभव—इन तीनों दोषों से रहित रहता है। एवंच वृत्ति का सामान्य लक्षण, त्रिविध दोषों से रहित रहने से निर्दुष्ट लक्षण है।

शंका—अभी-अभी यह कहा गया है कि 'वृत्ति' में 'विषयचैतन्य' की 'अभिव्यञ्जकता' अपेक्षित रहती है। वह 'अभिव्यञ्जकता' पदार्थ क्या है?

समा०—ग्रन्थकार ने 'अभिव्यञ्जकत्व' का लक्षण दो प्रकार से किया है—उक्त लक्षणों में से प्रथम लक्षण का अर्थ यह है—'अयं घटः, अयं पटः' यह जो अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) व्यवहार है, इस (अपरोक्षव्यवहार) की वृत्तिनिष्ठ-जनकता को ही वृत्तियों में विषयचैतन्य की अभिव्यंजकता कहते हैं।

शंका—चक्षुरादि इन्द्रियों से जन्य जो अपरोक्ष वृत्तियां हैं, उनमें तो अपरोक्ष-व्यवहारजनकता का होना संभव है, किन्तु अनुमानादिप्रमाणजन्य 'अनुमिति' आदि परोक्षवृत्तियों में तो 'अपरोक्षव्यवहारजनकता' का होना कदापि संभव नहीं है। अतएव 'पर्वतो वह्निमान्'—इत्याकारक अनुमिति के अनन्तर 'अयं वह्निः' इस प्रकार का 'अपरोक्ष व्यवहार' नहीं किया जाता। उस कारण अनुमिति आदिक परोक्षवृत्तियों में उस अभिव्यंजकता के न रहने से उक्त वृत्तिलक्षण की अव्याप्ति हो रही है। अतः उक्त लक्षण को अभी निर्दुष्ट नहीं कह सकते।

समा०—निर्दुष्ट न हो सकने के कारण ही तो प्रथम लक्षण में अरुचि हुई है। अतएव 'अभिव्यंजकता' का अन्य लक्षण किया गया है—वृत्तिनिष्ठ जो आवरणनिवर्तकत्व है, उसी को विषयचैतन्य की अभिव्यञ्जकता कहते हैं; अर्थात् वृत्तियों में जो आवरणनिर्तकत्व है, वही विषयचैतन्याभिव्यञ्जकत्व है। आवरणनिवर्तन और अभिव्यञ्जन पृथक्-पृथक् नहीं हैं। इस प्रकार की अभिव्यञ्जकता अपरोक्षवृत्ति की तरह 'अनुमिति आदि परोक्षवृत्तियों में भी है, उस कारण 'परोक्षवृत्तियों में उक्त लक्षण की अव्याप्ति नहीं हो पाती।

यह 'अज्ञानकृत आवरण' दो प्रकार का होता है। एक तो 'असत्त्वापादक' आवरण होता है, और दूसरा 'अभानापादक आवरण' होता है। उनमें से 'घट-पटादि' विषयों के 'नहीं है'—इत्याकारक व्यवहार करने में हेतुभूत आवरण को तो 'असत्त्वापादक आवरण' कहते हैं, और 'भासता नहीं'—इत्याकारक व्यवहार करने में हेतुभूत आवरण को

ननु पूर्वरूपपरित्यागेन रूपान्तरापत्तिः परिणामः। स चानुपपन्नः पूर्वरूपे स्थिते नष्टे वा रूपान्तरापत्तेरदर्शनात्। किञ्च "वेदान्तवादस्तु विवर्त्तवाद" इत्यभ्युपगमाद् परिणामवादाश्रयणे सिद्धान्तविरोधापत्तिश्चेत्यत आह—परिणामो नामेति।

•

'अभानापादक आवरण' कहते हैं। इन द्विविध आवरणों में से 'अभानापादक आवरण' की तो 'अपरोक्षज्ञान' से ही निवृत्ति होती है, 'परोक्षज्ञान' से नहीं। किन्तु 'असत्त्वापादक आवरण' को 'अनुमिति आदि परोक्षज्ञान' से भी निवृत्ति होती है। क्योंकि 'धूमरूप हेतु' के ज्ञान से 'पर्वतो वह्निमान्'—इत्याकारक अनुमितिरूप 'परोक्षज्ञान' जब होता है तब 'पर्वत वह्निमान् नहीं है—इस प्रकार का 'नहीं है, यह व्यवहार नहीं होता, अपितु पर्वत 'वह्निमान्' है—इस प्रकार का व्यवहार ही होता है।

तथा शास्त्रप्रमाण के द्वारा 'स्वर्ग' आदि का परोक्षज्ञान होने पर 'स्वर्ग' आदि नहीं है, इस प्रकार का, 'नहीं'—व्यवहार नहीं किया जाता, अपितु 'स्वर्ग है। इस प्रकार का 'है'—व्यवहार ही होता है। एवंच अनुमिति आदि परोक्षवृत्तियों, में भी वह 'असत्त्वापादक आवरणनिवर्तकत्व' विद्यमान है ही। अतः उक्त लक्षण की 'परोक्षवृत्ति' में अव्याप्ति नहीं है।

अथवा अज्ञानकृत आवरण के द्विविध प्रकार इस तरह से भी हो सकते हैं। उनमें से एक तो 'विषयचैतन्यनिष्ठ आवरण', और दूसरा 'प्रमातृचैतन्यनिष्ठ आवरण' कहलाता है। उनमें से 'विषयचैतन्यनिष्ठ आवरण' की तो 'अपरोक्षज्ञान' से ही निवृत्ति होती है, और 'प्रमातृचैतन्यनिष्ठ आवरण' की 'परोक्षज्ञान' से भी निवृत्ति होती है। एवञ्च 'अनुमिति आदि परोक्ष वृत्तियों' में यह 'आवरणनिवर्तकत्वरूप अभिव्यंजकता' सिद्ध होने से उक्त वृत्ति-लक्षण की अव्याप्ति नहीं है।

शंका०—सुख-दुःखादि को विषय करने वाले 'वृत्ति-ज्ञान' में, तथा ईश्वर के 'मायावृत्तिरूप ज्ञान' में तथा अविद्या की वृत्ति (भ्रमज्ञान) में 'आवरण निवर्तकता के न रहने से इन वृत्तियों में उक्त वृत्तिलक्षण की अव्याप्ति हो रही है। उक्त वृत्ति-लक्षण में अरुचि हो रही है।

उस अरुचि को हटाने के लिये 'अभिव्यंजकता' का विवेचन, अन्य प्रकार से कर रहे हैं। 'अस्तिव्यवहारजनकत्वम् अभिव्यञ्जकत्वम्'—अर्थात् 'घटोऽस्ति, पटोऽस्ति'—इत्याकारक जो 'अस्ति' व्यवहार है, उस (अस्ति-व्यवहार) की वृत्तिनिष्ठ जनकता ही उन वृत्तियों में रहनेवाली 'विषयचैतन्याभिव्यञ्जकता' है। यह अभिव्यंजकता, उन परोक्ष-अपरोक्षवृत्तियों में तथा सुख-दुःखादिविषयकवृत्तियों में और मायावृत्ति तथा भ्रमवृत्ति आदि समस्त वृत्तियों में विद्यमान है। उस कारण उक्त वृत्तिलक्षण की किसी भी वृत्ति में अव्याप्ति नहीं हो रही है।

शंका—'वृत्ति' का लक्षण करते समय 'अन्तःकरण' के अथवा 'अज्ञान' के परिणाम को 'वृत्ति' कहा गया है, किन्तु यह संभव नहीं है, क्योंकि वस्तु में अपने (स्वकीय) पूर्वरूप का परित्याग करके जो अन्य रूप (रूपान्तर) की प्राप्ति होती है, उसी को 'परिणाम' कहते हैं। किन्तु 'परिणाम' का इस प्रकार से लक्षण करना संभव नहीं हो रहा है, क्योंकि लोकव्यवहार में सभी लोगों को अवगत है कि किसी भी वस्तु का 'पूर्वरूप' विद्यमान रहते अथवा उसके (पूर्वरूप के) नष्ट होनेपर भी उस वस्तु में अन्यरूप (रूपान्तर) की प्राप्ति नहीं हुआ करती।

किञ्च—वेदान्तशास्त्र का वाद (सिद्धान्त) तो 'विवर्तवाद' है। उसे (वेदान्त को) 'परिणामवाद' मान्य नहीं है। अन्यथा स्व-सिद्धान्त के साथ विरोध होगा।

समा०—ग्रन्थकार 'परिणाम' तथा 'विवर्त' का लक्षण बता रहे हैं—उपादान कारण के समान, सत्तावाला जो उपादान का अन्यथा भाव है, उसे 'परिणाम' कहते हैं। जैसे—दूध का परिणाम 'दधि' है। जैसे 'दूध' की व्यावहारिक सत्ता है, उसी तरह 'दधि' की भी व्यावहारिक सत्ता है। उस कारण वह दधि, उस दूधरूप उपादानकारण के समान सत्तावाला है। अतएव 'दधि' में 'दूध' शब्द का व्यवहार नहीं किया जाता, अर्थात् दधि को दूध नहीं कहा जाता है। वह दधि, 'दूध' का अन्यथाभावरूप है। अतः 'दधि' को 'दूध' का परिणाम कहते हैं।

अब विवर्त को बतलाते हैं—उपादान कारण के विषमसत्ता वाले उपादान का जो अन्यथाभाव है, उसे 'विवर्त' कहते हैं। जैसे 'रज्जु' में प्रतीयमान जो 'सर्प' है, वह (सर्प), रज्जु से अवच्छिन्न 'चैतन्य' का 'विवर्त' है। यहाँ पर 'चैतन्य' की तो 'पारमार्थिक सत्ता' है, किन्तु कल्पित (आरोपित) सर्प की 'प्रातिभासिक सत्ता' है। उस कारण वह सर्प, उस चैतन्यरूप उपादानकारण की सत्ता से 'विषमसत्ता' वाला है। और 'अयं सर्पः'—इस प्रकार के व्यवहार का विषय होने से वह 'सर्प', उस

"तन्मनोऽकुरुते"त्यादिश्रुत्यान्तःकरणस्य कार्य्यद्रव्यत्वेन सावयवतया परिणामित्वोपपत्तिः। सा च वृत्ति-

●

अन्यथाभावः परिणाम इत्युक्ते विवर्त्तेऽतिव्याप्तिः स्यादत उक्तमुपादानसमसत्ताक इति। अन्यथाभावो विवर्त्त इत्युक्ते परिणामेऽति-व्याप्तिवारणायोपादानविषमसत्ताक इत्युक्तम् ॥१॥

नन्वन्तःकरणस्य निरवयवत्वात्कथं परिणामः, सावयवस्य क्षीरादेः परिणामदर्शनात्, नहि निरवयवं परिणममानं दृष्टं लोके, अन्यथा स्वरूपनाशप्रसङ्गात्? इत्याशंक्याह—तदिति। वृत्तिज्ञानस्यान्तःकरणधर्म्मत्वे "कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धाधृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एवे"ति श्रुतिरेव तत्र प्रमाणं द्रष्टव्यम्।

ननु—जानामीच्छामीत्यात्मधर्म्मत्वेनानुभूयमानानां ज्ञानेच्छादीनां कथमन्तःकरणधर्म्मत्वमनुभवविरोधात्। न चानुभवो भ्रमो बाधकाभाराद्—इति चेत्? न; तप्तायःपिण्डवदन्योऽन्यतादात्म्याध्यासेनान्तःकरणात्मनोरयोदहतीतिवज्जा-

●

चैतन्यरूप उपादानकारण का अन्यथाभावरूप है। उस कारण उस कल्पित सर्प में उस चैतन्य की विवर्तरूपता कही जाती है। अतएव 'सर्प' को 'रज्जु' का विवर्त कहते हैं।

अब उक्त लक्षणगत पदों का प्रयोजन बताते हैं—'अन्यथाभाव' (अन्य प्रकार का हो जाना) परिणाम है, इतना ही यदि लक्षण रखें तो अन्यथाभावरूप विवर्त में परिणाम के लक्षण की अतिव्याप्ति होने लगेगी। उसके निवारणार्थ उक्त लक्षण (परिणाम के लक्षण) में 'उपादान-समसत्ताक' पद का सन्निवेश किया गया है। तब वह 'विवर्त' के समसत्तावाला न रहने से 'विवर्त' में परिणामलक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो सकेगी।

इसीप्रकार विवर्त के लक्षण में भी 'उपादान-विषमसत्ताक' पद न रखें तो अन्यथाभावरूप परिणाम में अतिव्याप्ति होगी। उसके निवारणार्थ 'उपादानविषमसत्ताक' पद का सन्निवेश करना आवश्यक है। तब विषमसत्ताक न रहने से 'परिणाम' में अतिव्याप्ति नहीं हो सकेगी। इस रीति से 'परिणाम' और 'विवर्त' दोनों परस्पर एक दूसरे से भिन्न हैं।

इस सन्दर्भ में यह भी ध्यान रखना होगा कि 'वृत्ति' भी अन्तःकरण-अज्ञानरूप उपादानकारण की अपेक्षा से 'परिणाम' है, और अधिष्ठानरूप चैतन्य की अपेक्षा से 'विवर्त' है। उस कारण 'परिणाम' की अप्रसिद्धि तथा सिद्धान्त से विरोध होने की कोई संभावना ही नहीं है॥ १॥

शंका०—'अन्तःकरण' तो निरवयव द्रव्य है। उस कारण उसका (अन्तःकरण का) वृत्तिरूप परिणाम होना संभव नहीं है। लोकव्यवहार में सावयव दुग्धादिकों का ही 'दधि' आदि परिणाम दृष्टिगोचर होता है। निरवयव द्रव्य का परिणाम तो कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं है। यदि कदाचित् निरवयव द्रव्य का भी परिणाम माना जाय तो निरवयव द्रव्य के स्वरूप का ही नाश हो जाएगा।

समा०—'परमात्मा ने मन को उत्पन्न किया'—इत्यादि श्रुतियों में 'मन' रूप अन्तःकरण की उत्पत्ति बताई गई है। जो भी द्रव्य, उत्पन्न होता है, वह 'दुग्ध' आदि द्रव्यों के समान 'सावयव' ही होता है। उस कारण अतःकरण भी सावयव रहने से उसकी परिणामिता का संभव हो सकता है। जैसे अन्तःकरण की सावयवता श्रुतिप्रमाण से सिद्ध है, वैसे ही वृत्तिज्ञान में भी अन्तःकरण की धर्मता श्रुतिप्रमाण से ही सिद्ध है। श्रुति कहती है कि इच्छा, संकल्प, संशय, श्रद्धा, अश्रद्धा, धैर्य, अधैर्य, लज्जा, वृत्तिज्ञान, भय—ये सब 'मन' के ही धर्म हैं। यह श्रुति; इच्छादिकों को अन्तःकरण का ही धर्म होना बता रही है।

शंका—'अहं जानामि', 'अहम् इच्छामि'—इत्याकारक अनुभव, सभी लोगों को हुआ करता है। इस अनुभव के बल पर 'ज्ञान, इच्छा' आदि 'आत्मा' के ही धर्म हैं, यह सिद्ध होता है। उस कारण 'ज्ञान, इच्छा' आदि पदार्थों में अन्तःकरण की धर्मता का होना संभव नहीं है। यदि कदाचित् उन ज्ञान, इच्छादिकों को अन्तःकरण का धर्म मानेंगे तो उक्त अनुभव से विरोध होगा। वह अनुभव तो अबाध्य है। उस कारण अनुभव को 'भ्रम' भी नहीं कह सकते। वे ज्ञान, इच्छा आदि 'मन' रूप निमित्त कारण से उत्पन्न होते हैं। इस लिये 'एतत्सर्वं मन एव'—इस श्रुति का अर्थ इस प्रकार भी किया जा सकता है कि वे इच्छा आदि सब, 'मन' से ही जन्य हैं। अतः उक्त श्रुति से भी उन इच्छा आदि पदार्थों में अन्तःकरण की धर्मरूपता सिद्ध नहीं हो रही है।

नामीत्याद्यनुभवोपपत्तेः। नचाध्यासे मानाभावः; स्वानुभवस्यैव प्रमाणत्वात्। तथाहि—जानामीति ज्ञातृत्वमनुभूयते; तच्चान्तःकरणस्य केवलस्य न सम्भवति जडत्वात्। नापि तदात्मनस्सम्भवति "असङ्गोह्ययं पुरुषः केवलो निर्गुणश्च" अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्य्योऽयमुच्यते" इत्यादि श्रुतिस्मृतिभिरसङ्गत्वावगमात्। ततश्चाहमित्यात्मन्यन्तःकरणमध्यस्यान्तःकरणेऽहञ्चेतन इत्यात्मतादात्म्यमध्यस्यान्योऽन्यधर्म्मांश्चान्योऽन्यस्मिन्नध्यस्याहं जानामीति ज्ञातृत्वमनुभवति जीवः। अतः स्वानुभव एवाध्यासे प्रमाणम्। तदाह भगवान्भाष्यकारः "अहमिदं ममेदमिति नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहार" इति।

यच्च जन्यज्ञानेच्छादीनामात्ममनःसंयोगादुत्पत्तिरिति न्यायमतं, तन्नोपपद्यते। आत्ममनसोर्निरवयवतया संयोगासम्भवात्। तथाहि—अव्याप्यवृत्तिर्हि संयोगः। अव्याप्यवृत्तित्वं नाम स्वाधिकरणनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं, ततश्च विरुद्धयोः प्रतियोगितदभावयोरवच्छेदकभेदमन्तरेणात्मनि निःप्रदेशेऽसम्भवेनात्मनि ज्ञानादयो जायन्त इत्यनुपपन्नम्। अपि च ज्ञानस्यात्म-

•

समा०—जैसे वस्तुतः दाहकता से रहित लोहे के गोले में अग्नि के तादात्म्य सम्बन्ध से 'यह लोहे का गोला, जला रहा है'—इस प्रकार का दाहकर्तृत्व का व्यवहार किया जाता है, वैसे ही 'अन्तःकरण' और 'आत्मा' दोनों के तादात्म्याध्यास से ही 'अहं जानामि' (मैं जानता हूँ) 'अहम् इच्छामि' (मैं चाहता हूँ) इत्यादि अनुभव हुआ करता है।

'अध्यास' के होने में कोई प्रमाण नहीं है, यह यदि कहा जाय तो वह उचित नहीं है। क्योंकि 'अध्यास' के होने में प्रत्येक पुरुष का अपना 'अनुभव' ही प्रमाण है। क्योंकि 'अहं जानामि'—इत्याकारक अनुभव तो सभी लोगों को हुआ करता है। इस अनुभव से उस ज्ञाता पुरुष में 'ज्ञातृत्व' प्रतीत होता है। वह 'ज्ञातृत्व' केवल 'अन्तःकरण' में होना संभव नहीं है, क्योंकि वह अन्तःकरण तो 'भूतों' का कार्य होने से 'जड़' है। यदि जड़ पदार्थ में भी 'ज्ञातृत्व' होता हो तो 'घट-पट' आदि पदार्थों में भी 'ज्ञातृत्व' होना चाहिये। उसी प्रकार वह 'ज्ञातृत्व', केवल 'आत्मा' में भी संभव नहीं है। क्योंकि श्रुति-स्मृतियाँ उस 'आत्मा' को 'असंग' बता रही हैं। उस असंग 'आत्मा' में 'ज्ञातृत्व' की संभावना कैसे हो सकेगी? उस कारण 'अहम्'—इस प्रतीति से 'आत्मा' में 'अन्तःकरण' का आध्यारोप करके तथा 'अहं चेतनः'—इस प्रतीति से उस 'अन्तःकरण' पर 'आत्मा' के तादात्म्य का अध्यारोप करके तथा 'आत्मा' में 'अन्तःकरण' के 'इच्छादि' धर्मों का और अन्तःकरण' में 'आत्मा' के 'सत्यत्वादि' धर्मों का अध्यारोप करके यह जीव 'अहं जानामि'—इस प्रकार से अपने में 'ज्ञातृत्व' का अनुभव करता है। उस कारण अध्यास के होने में 'जीव' का अनुभव ही प्रमाण है। इस रीति से अनुभवसिद्ध अध्यास के कारण ही अन्तःकरण के 'ज्ञान, इच्छादि' धर्मों की प्रतीति, 'आत्मा' में हुआ करती है। वस्तुतः वे 'आत्मा' के धर्म नहीं हैं।

नैयायिकों का जो यह कहना है कि 'आत्मा' के साथ 'मन' का संयोग होता है; संयोग होने से जन्य (१) ज्ञान, (२) इच्छा, (३) प्रयत्न, (४) सुख, (५) दुःख, (६) द्वेष, (७) धर्म, (८) अधर्म, (९) संस्कार—ये नौ गुण 'आत्मा' में उत्पन्न होते हैं। अतः 'ज्ञान, इच्छा' आदि धर्म, 'आत्मा' के ही हैं।

किन्तु नैयायिकों का यह कथन उचित नहीं है। क्योंकि नैयायिकों ने 'आत्मा' के समान 'मन' को भी निरवयव द्रव्य माना है। तब उस 'नरवयव मन' का 'निरवयव आत्मा' के साथ संयोग का होना ही असंभव है। क्योंकि नैयायिकों ने 'संयोग' को 'अव्याप्यवृत्ति' माना है। जिन दो द्रव्यों का संयोग होता है, उन दो द्रव्यों के किञ्चित् देश में तो 'संयोग' रहता है, और किञ्चित् देश में उस संयोग का 'अभाव' भी रहता है। यही उस संयोग की 'अव्याप्यवृत्तिता' है।

जैसे—वृक्ष की 'शाखा पर' तो कपि (बन्दर) का संयोग है, और उसी वृक्ष के 'मूल देश' में उस कपिसंयोग का अभाव भी है। इसीप्रकार समस्त 'संयोग' अव्याप्यवृत्ति हुआ करते हैं। यह अव्याप्यवृत्ति संयोग 'वृक्ष-वानर' आदि सावयव द्रव्यों का ही संभव रहता है। 'आत्मा-मन' आदि निरवयव द्रव्यों का संयोग होना कदापि संभव नहीं है। अतः 'आत्मा' और 'मन' के संयोग से 'आत्मा' में 'ज्ञान' आदि गुण, उत्पन्न होते हैं—यह कथन मिथ्या है।

किञ्च—'ज्ञान-इच्छा' आदि धर्म (कार्य) 'आत्मा' के यदि हैं तो ज्ञानादि धर्मों का उपादानकारण 'आत्मा' को ही कहना होगा। तब नैयायिक बतावें कि ज्ञानादिकों के प्रति आत्मा में जो उपादानकारणता होगी, वह 'आरम्भकत्वेनरूपेण' होगी, या परिणामित्वेनरूपेण' होगी?

यदि नैयायिक प्रथम पक्ष का स्वीकार करने का विचार कर रहा हो, तो वह उसके लिये संभव नहीं है, क्योंकि 'आरम्भकता' सर्वदा 'अनेक द्रव्यों में ही हुआ करती है। जैसे अनेक परमाणु ही जगत् के आरम्भक हुआ करते हैं, और 'आत्मा' तो 'एक' ही है, अनेक नहीं है। उस कारण 'एक आत्मा' में ज्ञानादि कार्यों (धर्मों) के प्रति 'अरम्भकता' मानना असम्भव है।

द्विविधा प्रमाऽप्रमाभेदात् । (अत्र) तत्र बोधेद्धावृत्तिर्वृत्तीद्धबोधो वा प्रमा । सा च द्विविधा ईश्वराश्रया जीवाश्रया चेति ॥२॥

तत्रेक्षणापरपर्य्यायस्रष्टव्यविषयाकारमायावृत्तिप्रतिबिम्बितचिदीश्वराश्रया । "तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेये"त्यादि-श्रुतेः । अनधिगताबाधितार्थविषयाकारान्तःकरणवृत्तिप्रतिबिम्बितचिज्जीवाश्रया तु द्वितीया । ब्रह्मात्मैक्यप्रमायास्तथात्वात्प्रा-

●

कार्य्यत्वे उपादानमात्मा वक्तव्यस्तस्योपादानत्वमारम्भकत्वेन वा स्यात्, परिणामित्वेन वा । नाद्यः, एकस्यानारम्भकत्वात् । न द्वितीयः निरवयवस्य परिणामायोगात्सावयवत्वेऽनित्यत्वप्रसङ्गात् । तस्मादसंगतत्वात्; न्यायमतस्य वृत्तिज्ञानमन्तःकरणधर्म्मं एवेति ।

वृत्तिं विभजते—सा चेति । प्रमां निरूपयति—बोधेति । बोधेनेद्धा ज्वलिता प्रकाशिता सा चासौ वृत्तिश्चेति । तथा वृत्ताविद्धः प्रतिबिम्बितो वृत्तीद्धः स चासौ बोधश्च स तथा वृत्त्यभिव्यक्तचैतन्यमिति यावत् । प्रमां विभजते—सा चेति ॥२॥

प्रथमां निरूपयति—तत्रेति । तयोर्मध्य इति सप्तम्यर्थः । तत्र प्रमाणमाह—तदिति । तत्प्रकृतं सच्छब्दवाच्यमैक्षत ईक्षणं कृतवत् ईक्षणमभिनयति—बह्विति । बहु स्यां बहु भवेयं प्रजायेय उत्पद्येय । जीवाश्रयां प्रमां निरूपयति—अनधिगतेति । अनधिगतोऽज्ञातः बोधेनाविषयीकृतो योऽर्थो विषयस्तदाकारा या अन्तःकरणवृत्तिः तत्प्रतिबिम्बिता चित् द्वितीया जीवाश्रया । विषयाकारान्तःकरणवृत्तिप्रतिबिम्बिता चिज्जीवाश्रयप्रमेत्युक्ते भ्रान्तिज्ञानेऽतिव्याप्तिस्तद्वारणायाबाधितेति । भ्रमविषयीभूतस्य

●

उसी तरह द्वितीय पक्ष का स्वीकार करना भी उनके लिये संभव नहीं है । क्योंकि सावयव दुग्धादि पदार्थ ही 'दधि' आदि पदार्थों के आकार में परिणाम को प्राप्त होते हैं । 'निरवयव द्रव्य' का परिणत होना (परिणाम को प्राप्त होना) कहीं भी किसी के दृष्टिगोचर नहीं हुआ है । 'आत्मा' तो एक, और निरवयव द्रव्य है । उस कारण 'ज्ञानादि' कार्यों (धर्मों) के प्रति 'आत्मा' को न 'उपादानकारण' मान सकते हैं, और न ही उसे 'परिणामी' कह सकते हैं ।

'आत्मा' को यदि सावयव द्रव्य कहते हैं तो 'घट-पट' आदि अनित्य पदार्थों के तुल्य 'आत्मा' को भी 'अनित्य' कहना पड़ेगा । अतः ज्ञान-इच्छा आदि 'आत्मा' के धर्म हैं—यह नैयायिकों का कथन नितान्त असंगत है ।

किञ्च—श्रुति 'आत्मा' को गुणरहित (निर्गुण) बता रही है । इस श्रुति के विरुद्ध होने से भी नैयायिकों का उपर्युक्त मत असंगत है, अतएव स्वीकारार्ह नहीं है । एवंच 'ज्ञान-इच्छा' आदि कार्य (धर्म) 'अन्तःकरण' के ही हैं ।

यहांतक 'वृत्ति' के स्वरूप का निरूपण किया गया है । अब उसके (वृत्ति के) विभाग का निरूपण कर रहे हैं—वह 'वृत्ति', (१) 'प्रमा' और (२) 'अप्रमा' के भेद से दो प्रकार की है । उन दो में से प्रथमतः 'प्रमावृत्ति' का निरूपण करते हैं—'चैतन्य' का नाम 'बोध' है । उस चैतन्यरूप 'बोध' से इद्ध अर्थात् प्रकाशित जो 'वृत्ति' है, उसी को 'प्रमा' कहते हैं । अथवा उस 'वृत्ति' में इद्ध अर्थात् 'प्रतिबिम्बित' जो 'चैतन्यरूप बोध' है, उसे 'प्रमा' कहते हैं । निष्कर्ष यह है कि 'वृत्त्यभिव्यक्त-चैतन्य' ही प्रमा है । उसका विभाग कर रहे हैं—वह 'प्रमा' भी (१) ईश्वराश्रया (२) जीवाश्रया के भेद से दो प्रकार की होती है ॥२॥

सृष्टि के आदिकाल में उत्पद्यमान जगत् को विषय करनेवाली मायाकी वृत्ति को ही भगवती श्रुति ने 'ईक्षण' शब्द से कहा है । उस मायावृत्ति में प्रतिबिम्बित चैतन्य को 'ईश्वराश्रया प्रमा' कहते हैं । श्रुति कह रही है—उस मायोपहित परमेश्वर ने, सृष्टि के आरम्भ में; 'मैं अनेक रूप होकर उत्पन्न होऊँ'—इस प्रकार का ईक्षण, किया ।

अब जीवाश्रया प्रमा का निरूपण करते हैं—अनधिगत (अज्ञात) तथा अबाधित विषयाऽऽकारान्तःकरणवृत्ति में प्रतिबिम्बित हुए चैतन्य को जीवाश्रया प्रमा कहते हैं ।

उक्त लक्षण में 'अनधिगत' तथा 'अबाधित' पदों की आवश्यकता को बताते हैं । अर्थात् 'विषयाकारान्तःकरण-वृत्ति में प्रतिबिम्बित हुई चित्, 'जीवाश्रय प्रमा' है'—इतना ही लक्षण करें तो 'भ्रान्तिज्ञान' में लक्षण की अतिव्याप्ति होने लगेगी । उस अतिव्याप्ति के निराकरणार्थ लक्षण में 'अबाधित'—इस विषयविशेषणपद का निवेश किया गया है । तब भ्रमज्ञान का विषय 'अबाधित' न रहने से, प्रमा के लक्षण की भ्रमज्ञान में अतिव्याप्ति नहीं हो पाती । क्योंकि 'शुक्ति', 'रज्जु' आदि अधिष्ठान के ज्ञान से भ्रम के विषयभूत 'रजत', सर्प' आदि का 'नेदं रजतम्', 'नायं सर्पः'—इत्याकारक बाध हो जाता है ।

सम्भवः। प्रपञ्चस्य संसारदशायामबाधितत्वात् तत्प्रमायान्नाव्याप्तिः, शुक्तिरजतादेर्ज्ञातसत्ताकत्वेनाज्ञातसत्ताकत्वाभावात् नातिव्याप्तिः। तत्करणं प्रमाणम्।

●

रजतस्य बाधितत्वान्नातिव्याप्तिः। तावत्युक्ते स्मृतावतिव्याप्तिरत उक्तमनधिगतेति। स्मृतेरनुभूतविषयत्वान्नातिव्याप्तिः। सम्पूर्णासम्भवमाशंक्याह—ब्रह्मेति। तथात्वादनधिगताबाधितार्थविषयाकारान्तःकरणवृत्तिप्रतिबिम्बितचित्त्वात्।

ननु प्रपञ्चस्य ब्रह्मज्ञानबाध्यत्वेन तत्प्रमायामव्याप्तिरित्याशंक्याह—प्रपञ्चस्येति। ननु भ्रान्तिज्ञाने यथोक्तलक्षण-सद्भावादतिव्याप्तिरित्याशंक्याह—शुक्तीति। एवं प्रमालक्षणे निर्दिष्टे फलितमाह—तदिति। तस्याः प्रमायाः करणं प्रमाणम्।

●

शंका—विवरणकार आदि के मत में 'भ्रमज्ञान', 'अविद्यावृत्ति' रूप माना जाता है, उसकारण 'अन्तःकरणवृत्ति' पद के कहनेमात्र से ही 'भ्रमज्ञान' में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो सकेगी, तब 'अबाधित' पद का निवेश करना व्यर्थ ही है।

समा०—उक्त कथन उचित है, तथापि जिनके मत में 'भ्रमज्ञान' को 'अन्तःकरणवृत्ति' रूप माना जाता है, उनके मत से तो अतिव्याप्ति अवश्य होगी। उसके निराकरणार्थ लक्षण में 'अबाधित' पद का निवेश आवश्यक है। अतः 'अबाधित' पद का निवेशकरना सार्थक है, व्यर्थ नहीं है।

उक्त लक्षण में 'अनधिगत' पद का यदि निवेश न करें तो 'स्मृतिज्ञान' में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि 'यथार्थस्मृति का विषय', अबाधित ही रहता है। अतः उस अतिव्याप्ति के निवारणार्थ लक्षण में 'अनधिगत' पद का निवेश करना आवश्यक है। 'स्मृति' तो सर्वदा पूर्वानुभूत पदार्थ की ही हुआ करती है। उसकारण स्मृति का 'विषय,' पूर्व से अज्ञात नहीं है, अपितु 'ज्ञात' ही है। इसलिए 'अनधिगत' पद के निवेश करने से 'स्मृतिज्ञान' में जीवाश्रितप्रमा के लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती है।

शंका—उक्त जीवाश्रित प्रमा का लक्षण, किसी भी 'प्रमा' में घटित न हो पाने से असंभवदोष से ग्रस्त है। जैसे 'गोरेकशफवत्त्वम्' लक्षण, असंभवदोष से ग्रस्त है।

समा०—'अहं ब्रह्मास्मि'—इत्यादि महावाक्य से उत्पद्यमान 'ब्रह्मात्मैक्य' को विषय करने वाली अन्तःकरणवृत्ति में प्रतिबिम्बित चैतन्यरूप प्रमा में तो उक्त लक्षण घटित हो रहा है। क्योंकि 'ब्रह्मात्मैक्य' अनधिगत भी है, तथा अबाधित भी है। अतः उक्तलक्षण, 'असंभवदोष' से ग्रस्त नहीं है।

शंका—उक्त लक्षण की 'अयं घटः, अयं पटः' इत्यादि प्रमा में अव्याप्ति होगी, क्योंकि घट-पटादि सम्पूर्णप्रपंचका 'ब्रह्मज्ञान' होने पर बाध हो जाता है। अतः वे घट-पटादि 'अबाधित' नहीं हैं।

समा०—यद्यपि प्रपञ्च का 'ब्रह्मज्ञान' से बाध हो जाता है, 'ब्रह्मज्ञान' होने के पूर्व संसारदशा में उस 'प्रपञ्च' का बाध नहीं होता। अतः वह प्रपञ्च भी संसारदशा में अबाधित ही है। इसलिये घट-पटादि प्रपञ्चविषयक प्रमा में उक्त लक्षण की अव्याप्ति नहीं हो पाती।

शंका—इस प्रकार का यदि 'अबाधित' पद का अर्थ कहेंगे तो 'भ्रान्तिज्ञान' में भी उक्त प्रमालक्षण की अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि भ्रान्तिज्ञान के विषयभूत 'शुक्ति-रजतादि' भी भ्रान्तिकाल में अबाधित ही रहते हैं।

समा०—वे शुक्ति-रजतादि पदार्थ, भ्रान्तिकाल में अबाधित रहने पर भी 'अनधिगत' नहीं हैं। अर्थात् वे पदार्थ, 'अज्ञात सत्तावाले नहीं हैं, किन्तु वे 'ज्ञात सत्तावाले ही हैं। उसकारण भ्रान्तिज्ञान में उक्त 'प्रमाणलक्षण' की अतिव्याप्ति नहीं हो पाती। ज्ञान के पूर्व जो विषय की सत्ता, उसे 'अज्ञातसत्ता' कहते हैं, और ज्ञान के समकाल में जो विषय की सत्ता, उसे 'ज्ञातसत्ता' कहते हैं।

अब अवसरप्राप्त प्रमाण का लक्षण बता रहे हैं—पूर्वोक्त जो जीवाश्रित प्रमा है, उस प्रमा का जो 'करण' हो उसे 'प्रमाण' कहते हैं।

---

१. सर्वस्य साक्षिणाधिगतत्वाद्ब्रह्मज्ञानेन च बाधितत्वात्।

सा जीवाश्रया प्रमा द्विविधा, पारमार्थिकी व्यावहारिकी चेति। तत्र "तत्त्वमस्या"दिवाक्यजन्या प्रमा पारमार्थिकी। सा च निरूपिता अग्रेऽपि निरूपयिष्यते। प्रपञ्चप्रमा व्यावहारिकी। सा च षड्विधा प्रत्यक्षानुमित्युपमिति-शब्दार्थापत्त्यभावप्रमाभेदात्। तत्र विषयचैतन्याभिन्नप्रमाणचैतन्यं प्रत्यक्षप्रमा। तथाहि, एकमेव चैतन्यमुपाधिभेदाच्चतुर्विधं प्रमातृचैतन्यं प्रमाणचैतन्यं विषयचैतन्यं फलचैतन्यं चेति ॥३॥

●

अत्र प्रमाणं लक्ष्यं प्रमाकरणं लक्षणम्। करणं प्रमाणमित्युक्ते कुठारेऽतिव्याप्तिः स्यात्तस्यापि छिदिक्रियां प्रति करणत्वात् तद्व्यावृत्यर्थं प्रमेति। प्रमा प्रमाणमित्युक्ते चक्षुरादावव्याप्तिःस्यात्तस्य द्रव्यत्वेन प्रमात्वाभावात्तत्परिहाराय करणमित्युक्तम्। करण-स्वरूपमग्रे व्युत्पादयिष्यति। जीवाश्रयां प्रमां विभजते—सेति। पारमार्थिकीं व्युत्पादयति—तत्रेति। तर्हि पारमार्थिकी प्रमा निरूपणीयेत्याकाङ्क्षायामाह—साचेति। अग्रे शाब्दीप्रमानिरूपणावसरे। व्यावहारिकीं प्रमां निरूपयति—प्रपञ्चेति। तां विभजते—सा चेति। प्रत्यक्षप्रमां लक्षयति— तत्रेति। तासु मध्य इत्यर्थः।

●

जैसे—'अयं घटः' इस प्रत्यक्ष प्रमा में 'चक्षुरिन्द्रिय' करण है, उस कारण उसे 'प्रमाण' कहा जाता है। इसी प्रकार अनुमानादि प्रमाणों में भी समझना चाहिये। उक्त लक्षण में लक्ष्य अंश 'प्रमाण' है, और लक्षण अंश 'प्रमाकरण' है।

यदि हम 'करणं प्रमाणम्' इतना ही प्रमाणलक्षण करें तो 'छेदनक्रिया' में करणरूप जो कुठार है, उसमें प्रमाणलक्षण की अतिव्याप्ति होने लगेगी। अतः उसके निवारणार्थ लक्षण में 'प्रमा' पद का निवेश करना आवश्यक है। तब 'कुठार' में 'प्रमाज्ञान' की 'करणता' न होने से कुठार में प्रमाणलक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो सकती।

यदि हम 'प्रमा प्रमाणम्' इतना ही प्रमाणलक्षण करें तो अर्थात् प्रमाणलक्षण में 'करण' पद का निवेश न करें तो 'चक्षुरादि' इन्द्रियों में प्रमाणलक्षण की अव्याप्ति होने लगेगी। क्योंकि उन चक्षुरादि इन्द्रयों में 'द्रव्यरूपता' रहने से 'प्रमाज्ञानरूपता' नहीं है। अतः इस अव्याप्तिदोष के निरसनार्थ उक्त प्रमाणलक्षण में 'करण' पद का निवेश करना आवश्यक है। जिस कारण के प्रवृत्त होनेपर कार्य की उत्पत्ति अविलम्ब होती है अर्थात् कार्य के उत्पन्न होने में विलम्ब नहीं लगता, उस 'कारण' को 'करण' कहाजाता है।

अब जीवाश्रित प्रमा का विभाग बताते हैं—वह जीवाश्रित प्रमा (१) पारमार्थिकी और (२) व्यावहारिकी भेद से दो प्रकार की होती है।

पारमार्थिकी जीवाश्रित प्रमा को बताते हैं—'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य से जन्य जो 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारक प्रमा; जो अधिकारी पुरुष को होती है, उसे 'पारमार्थिकी' कहते हैं। तब तो पारमार्थिकी प्रमा का निरूपण करना चाहिये, यह आकांक्षा होने पर कहते हैं—उस पारमार्थिकी प्रमा का निरूपण, पहले किया जा चुका है, तथा आगेचलकर शाब्दीप्रमा का निरूपण करते समय भी उसे पुनः बतावेंगे।

अब व्यावहारिकी प्रमा को बता रहे हैं—प्रपञ्च प्रमा (ज्ञान) को अर्थात् घट-घटादिरूप प्रपंच को विषय करने-वाली जो 'अयं घटः', 'अयं पटः' प्रमा होती है, उसे व्यावहारिकी प्रमा कहते हैं। वह व्यावहारिकी प्रमा भी (१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमिति, (३) उपमिति, (४) शाब्दी, (५) अर्थापत्ति, (६) अनुपलब्धि के भेद से छह प्रकार की होती है।

अब उक्त छह प्रमाओं में से प्रथमतः 'प्रत्यक्ष प्रमा' का निरुपण करते हैं—उन छह प्रमाओं में से विषय-चैतन्य से अभिन्न जो 'प्रमाण चैतन्य' है; उसे 'प्रत्यक्ष-प्रमा' कहते हैं। इसी अर्थ को स्पष्ट करने के लिये प्रथम उस चैतन्य का उपाधिकृत भेद बता रहे हैं—वह 'चैतन्य' वस्तुतः 'एक, अद्वितीय' रहने पर भी 'उपाधि' के भेद से (१) 'प्रमातृ चैतन्य', (२) 'प्रमाण चैतन्य' और (३) 'विषय चैतन्य' तथा 'फल चैतन्य' के नाम से चार प्रकार का कहा जाता है।

नैयायिक विद्वान् 'प्रमाण', और 'प्रमा' को इस प्रकार बताते हैं—'प्रमाकरणं प्रमाणम्', और 'यथार्थानुभवः प्रमा'। यथार्थ में यथार्थता (याथार्थ्य) का स्वरूप क्या है? यह प्रश्न करने पर कहते हैं, 'तद्वति तत्प्रकारकत्वं याथार्थ्यम्'। और 'अनुभव' का स्वरूप क्या है? यह पूछने पर कहते हैं—'स्मृतिभिन्नज्ञानमनुभवः'। वह यथार्थानुभवरूप 'प्रमा', चार प्रकार की होती है—(१) प्रत्यक्षप्रमा, (२) अनुमितिप्रमा, (३) उपमितिप्रमा, (४) शाब्दप्रमा। इन चतुर्विध प्रमाओं में से 'प्रत्यक्षप्रमा'

अत्र नैयायिकाः—प्रमाकरणं प्रमाणं, यथार्थानुभवः प्रमा, तद्वति तत्प्रकारकत्वं याथार्थ्यं, स्मृतिभिन्नं ज्ञानमनुभवः। सा चतुर्विधा प्रत्यक्षानुमित्युपमितिशब्दप्रमाभेदात्। तत्रेन्द्रियत्वेनेन्द्रियजन्यं ज्ञानं ज्ञानाकरणकं ज्ञानं वा प्रत्यक्षमिति वदन्ति। तच्चिन्त्यम्; भ्रमज्ञानेऽतिव्याप्तेः। नच तद्वति तत्प्रकारकानुभवस्य प्रमात्वेन भ्रमस्यातथात्वान्नातिव्याप्तिरिति वाच्यम्, भ्रमविषय-रजतस्य शुक्तावभ्युपेयत्वेन भ्रमस्यापि तद्वति तत्प्रकारकत्वात्। अन्यथाख्यातेर्निरसिष्यमाणत्वात्। किञ्च घटे रूपमिति प्रमाया-मव्याप्तिः स्यात् तद्वति तत्प्रकारकत्वाभावात्। स्वरूपसम्बन्धेन तथात्वे भ्रमेऽतिव्याप्त्यापत्तेश्च। तस्माद्यथोक्तमेव साधु।

ननु भवन्मते धारावाहिकज्ञानेऽव्याप्तिस्यात्तस्याधिगतविषयत्वादिति चेन्न। तत्रापि तत्तत्क्षणविशिष्टघटस्यानधि-गतत्वेन धारावाहिकज्ञानस्यापि तथात्वात्।

ननु क्षणस्यातीन्द्रियत्वेन तस्य तद्विशिष्टविषयत्वमनुपपन्नमिति चेन्न, धारावाहिकस्थले विरोधिवृत्त्युत्पत्तिपर्य्यन्तं यावद्घटस्फुरणं तावद्वृत्तेरेकत्वेन ज्ञानभेदाभावेनाव्याप्तिशङ्कानवतारात्, वृत्तिभेदे मानाभावाच्च। किञ्च, प्रमाचातुर्विध्यमप्य-

●

का लक्षण वे बताते हैं कि इन्द्रियसंसर्ग से उत्पन्न होनेवाले ज्ञान को 'प्रत्यक्ष प्रमा' कहते हैं। उक्त लक्षण में यदि 'ज्ञान' पद का निवेश नहीं करेंगे तो चक्षुरादि-इन्द्रियगत-रूप में भी चक्षुरादि-इन्द्रिय-जन्यता रहती है, तब 'इन्द्रियरूप' में लक्षण को अतिव्याप्ति हो जाएगी। उसके निवारणार्थ लक्षण में 'ज्ञान' पद का निवेश किया गया है। यदि 'ज्ञानम्प्रत्यक्षम्' इतना ही लक्षण करें तो 'अनुमिति' आदि प्रमाओं में अतिव्याप्ति होगी। उसके निवारणार्थ 'इन्द्रियजन्यम्' पद का निवेश किया गया है। 'इन्द्रिजन्यं ज्ञानम्प्रत्यक्षम्'—इतना लक्षण करने पर भी 'अनुमिति' आदि प्रमाओं में अतिव्याप्ति होती है, क्योंकि अनुमिति आदि सभी जन्य-ज्ञान, 'मनस्' इन्द्रिय से ही जन्य रहते हैं। अतः अनुमिति आदि प्रमाओं में अतिव्याप्ति पूर्ववत् हो स्थित है। इस पर नैयायिक कहते हैं कि जिस ज्ञान में इन्द्रियों को 'इन्द्रियत्वेन' रूपेण करणता रहती है, वही ज्ञान; हमें 'प्रत्यक्ष' शब्द से अभिप्रेत है। 'मन' तो 'मनस्त्वेन' रूपेण 'ज्ञानमात्र' के प्रति 'करण' रहता है, 'इन्द्रियत्वेनरूपेण' वह 'करण' नहीं होता है। केवल सुखादिशाक्षात्कार के प्रति ही 'मन' को 'इन्द्रियत्वेन' रूपेण कारण कहा जाता है, अन्यत्र नहीं।

अथवा यदि जीव और ईश्वर दोनों के 'प्रत्यक्षज्ञान' को 'लक्ष्य' करके लक्षण बनाना हो तो 'ज्ञानाकरणकं ज्ञानम्प्रत्यक्षम्'—यह लक्षण करना चाहिये। अर्थात् जिस 'ज्ञान' (व्याप्तिज्ञान आदि) में 'ज्ञान' करण न हो उस 'ज्ञान' को प्रत्यक्षप्रमा कहते हैं। तथाच 'अनुमितिज्ञान' के प्रति 'व्याप्तिज्ञान', 'उपमितिज्ञान' के प्रति 'सादृश्यज्ञान', 'शाब्दज्ञान (बोध) के प्रति 'पदज्ञान' करण हुआ करता है। किन्तु 'प्रत्यक्ष' ज्ञान के प्रति कोई 'ज्ञान', 'करण' नहीं होता है। एवं च 'ज्ञानाकरणकं ज्ञानम्प्रत्यक्षम्'—यह लक्षण जीवेश्वरसाधारणप्रत्यक्षपरक है। इस लक्षण को अनुमिति आदिज्ञानों में अतिव्याप्ति नहीं होती। अतः यह 'प्रत्यक्षप्रमा' का निर्दुष्ट लक्षण, नैयायिकों के मत में हैं।

किन्तु यह नैयायिकोक्त प्रत्यक्षप्रमालक्षण, चिन्त्य है। क्योंकि नैयायिकोक्तलक्षण को 'भ्रमज्ञान' में अतिव्याप्ति होती है।

यदि यह कहो कि 'तद्वति तत्प्रकारकानुभव' को प्रमा कहने से 'भ्रम' में अतिव्याप्ति नहीं होगी, क्योंकि भ्रम में 'तद्वति तत्प्रकारकानुभवत्व' नहीं है।

किन्तु नैयायिकों का यह समाधान उचित नहीं होगा। क्योंकि 'शुक्ति' में 'भ्रमविषयक रजत' को प्रतीति को आपने माना है। अतः 'भ्रम' में भी 'तद्वतितत्प्रकारकत्व' है ही। अन्यथाख्यातिवाद का तो आत्यन्तिक निरास हो हो जाएगा।

किञ्च 'घटे रूपम्'—इस प्रमाज्ञान में अव्याप्ति होगी, क्योंकि 'तद्वति तत्प्रकारकत्व' नहीं है।

यदि 'स्वरूपसम्बन्ध' से 'तद्वतितत्प्रकारकत्व' कहोगे तो 'भ्रम' में अतिव्याप्ति होगी। अतः हम वेदान्तियों का जो 'प्रत्यक्षप्रमालक्षण' है, वही उचित है, वही स्वीकार करने योग्य है।

शंका—नैयायिक, वेदान्ती से कहता है कि आपके मत में 'धारावाहिकज्ञान' में अव्याप्ति होगी, क्योंकि उसका विषय 'अधिगत' रहता है, अनधिगत नहीं।

समा०—धारावाहिकज्ञान में भी 'तत्तत्क्षण—विशिष्ट घट' के अनधिगत रहने से धारावाहिक ज्ञान में भी 'अनधिगतविषयता' रहती है। उसमें अव्याप्ति नहीं होगी।

सङ्गतम्, पीनत्वदर्शनाद्रात्रिभोजनप्रमाऽभावप्रसङ्गात्। नच व्यतिरेक्यनुमानात् सा भविष्यतीति वाच्यम्। तस्याग्रे दूषयिष्यमाणत्वात्। तथानुपलब्ध्याभावप्रमादर्शनात् प्रमितेश्चातुर्विध्यमसङ्गतम्, इन्द्रियान्वयव्यतिरेकयोरधिकरणज्ञानोपक्षीणत्वेनेन्द्रियस्य सम्बद्धार्थप्रकाशकत्वेन[1] चाभावेनेन्द्रियस्य सम्बन्धाभावेन[2] च तेन तद्ग्रहणायोगात्। तस्मादनिच्छताप्यच्छमतिनाऽर्थापत्त्यनुपलब्ध्योः पृथक् प्रामाण्यमभ्युपगन्तव्यम्। ततः षड्विधैव प्रमा।

किञ्च इन्द्रियत्वेनेन्द्रियजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षमित्यसङ्गतम्, इन्द्रियस्यातीन्द्रियतया तद्घटितप्रत्यक्षत्वविशिष्टज्ञानस्याप्यतीन्द्रियत्वप्रसङ्गात्। न चेष्टापत्तिः, साक्षात्करोमीत्यनुभवविरोधप्रसङ्गात्; जन्यतावच्छेदकग्रहमन्तरेण जन्यत्वस्य दुर्ग्रहत्वाच्च। नच साक्षात्त्वजातिरेव जन्यतावच्छेदिकाऽस्त्विति वाच्यम्, जातेर्निरस्तत्वात्। अपिच, द्वितीयमप्यसङ्गतमेव, तत्त्वसाक्षात्कारस्य श्रवणमननाकरणतया (जन्यतया) तत्राव्याप्तिप्रसङ्गात्। तस्मादसङ्गतमेतत्।

प्रमाणचैतन्यं प्रत्यक्षप्रमेत्युक्तेऽनुमित्यादावतिव्याप्तिः स्यात् तद्वारणाय विषयेति। विषयचैतन्याभिन्नं वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यं प्रत्यक्षप्रमेत्युक्ते भ्रमप्रत्यक्षेऽतिव्याप्तिस्स्यात्तद्व्यावृत्त्यर्थं प्रमाणेति। न चैवमपि विषयचैतन्याभिन्नप्रमाणचैतन्यमिदमाकारवृत्त्यवच्छिन्नभ्रमविषयरजतभासकसाक्षिचैतन्यमिति पुनरतिव्याप्तिरिति वाच्यम्। अबाधितत्वस्यापि विषयविशेषणत्वात्। न चैवं घटादेर्ब्रह्मज्ञानबाध्यतयाऽव्याप्तिरिति वाच्यम्। संसारदशायामबाधितत्वस्य विवक्षितत्वात्। न चैवमपि धर्माधर्मानुमित्यादावतिव्याप्तिरिति वाच्यम्। योग्यत्वस्यापि विषयविशेषणत्वात्। एवं स्मृतावतिव्याप्तिपरिहाराय वर्त्तमानेति विशेषणं देयम्। तथा

•

शंका—'क्षण' के अतीन्द्रिय होने से 'घट' में 'तत्क्षणविशिष्टविषयता' कहना संभव नहीं है।

समा०—यह आशंका उचित नहीं है। क्योंकि धारावाहिकस्थल में किसी अन्य विरोधी वृत्ति के उत्पत्तितक जो 'घटस्फुरण' होता रहता है, तबतक उस स्फुरणात्मक वृत्ति को 'एक' ही कहाजाता है। उसकारण 'ज्ञान' की भिन्नता न होने से अव्याप्ति की आशंका नहीं की जासकती। क्योंकि 'ज्ञान' (वृत्ति) के भिन्न होने में कोई प्रमाण नहीं है।

किञ्च—'प्रमा' को चतुर्विध मानना भी असंगत ही है। क्योंकि 'पीनत्व' को देखकर 'रात्रिभोजन' की प्रमा (ज्ञान) का अभाव मानना होगा।

यदि यह कहो कि 'व्यतिरेकी अनुमान' के द्वारा रात्रिभोजन की प्रमा हो सकेगी, तो वह भी उचित नहीं है। उसका आगे चलकर परिहार बतावेंगे। उसी तरह 'अनुपलब्धि' के अभाव की प्रमा का भी प्रसंग आवेगा। अतः प्रमिति (प्रमा) को चतुर्विध कहना असंगत ही है। इन्द्रिय के अन्वय-व्यतिरेक की क्षीणता, 'अधिकरण ज्ञान' से हो जाती है। इन्द्रिय तो सम्बन्धरूप अर्थ का प्रकाशक होने से और अभाव के साथ इन्द्रि का सम्बन्ध न होने से इन्द्रिय के द्वारा 'अभाव' का ग्रहण नहीं हो सकता। इस कारण न चाहने पर भी निर्मल बुद्धि का आश्रय करके आपको 'अर्थापत्ति' और 'अनुपलब्धि' का प्रामाण्य पृथक्-पृथक् मानना ही होगा। अतः 'प्रमा' षड्विध ही है, चतुर्विध नहीं है।

किञ्च—इन्द्रियत्वेन इन्द्रियजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्'—यह कथन भी असंगत ही है। क्यों कि 'इन्द्रिय' तो स्वयं अतीन्द्रिय है, उस कारण 'तद्घटित प्रत्यक्ष विशिष्ट ज्ञान' को भी अतीन्द्रिय ही मानना होगा। उस विशिष्ट ज्ञान को अतीन्द्रिय मानना भी आपको इष्ट नहीं होगा। क्योंकि 'साक्षात्करोमि'—इस अनुभव के विरोध करने का प्रसंग प्राप्त होगा। क्योंकि 'जन्यतावच्छेक' का ज्ञान हुए बिना 'जन्यत्व' का ज्ञान होना कठिन है। यदि आप 'साक्षात्त्व' जाति को ही जन्यतावच्छेदिका कहें तो वह भी उचित नहीं होगा, क्योंकि 'जाति' का तो निरसन हो चुका है।

अपिच 'ज्ञानाकरणकं ज्ञानम्प्रत्यक्षम्'—यह द्वितीय लक्षण भी असंगत है। क्योंकि 'तत्त्वसाक्षात्कार' में श्रवणमननादिजन्यता रहने से उसमें उक्त लक्षण की अव्याप्ति होगी। इसलिये आपका यह द्वितीय लक्षण भी असंगत ही है।

'विषयत्व' का अर्थ है—'ज्ञान में स्वाकारसमर्पकत्व'। 'विषयित्व' का अर्थ है—तदवभासकत्व।

शंका—वृत्ति से प्रदीप्त हुआ जो 'बोध' है, वह 'प्रमा' रूप है, और 'अखण्ड चैतन्य' जो है, वह 'स्व-प्रकाश' है। क्योंकि वह किसी के द्वारा 'भास्य' (प्रकाश्य) नहीं है। तब 'ज्ञान' और 'ज्ञेय' का 'विषय—विषयिभाव' कैसे संभव हो सकता है?

---

१. 'सम्बद्धं वर्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिने'ति वृद्धाः।

२. भावाभावयोः सम्बन्धायोगात्।

तत्रान्तःकरणविशिष्टचैतन्यं प्रमातृचैतन्यम्। अन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यम् प्रमाणचैतन्यम्। घटाद्यवच्छिन्न-चैतन्यम् विषयचैतन्यम्। अन्तःकरणवृत्त्यभिव्यक्तचैतन्यम् फलचैतन्यम्। तत्र वृत्तिविषययोर्युगपदेकदेशावस्थाने तदुपहित-

●

तथा चायमर्थः सम्पन्नः—संसारदशायामबाधितवर्त्तमानयोग्यविषयचैतन्याभिन्नं प्रमाणचैतन्यं प्रत्यक्षप्रमेति। अथवाऽबाधिता-परोक्षार्थविषयज्ञानं प्रत्यक्षप्रमा। भ्रमविषयस्य बाधितत्वान्नातिव्याप्तिः, घटादीनां संसारदशायामबाधितत्वान्नाव्याप्तिः। विषयस्यापरोक्षत्वं नाम साक्षितादात्म्यम्। तथा नान्योऽन्याश्रयः। विषयत्वं नाम ज्ञाने स्वाकारसमर्पकत्वम्। विषयित्वं नाम तदवभासकत्वम्। ननु वृत्तीद्धबोधस्य प्रमात्वेनाखण्डचैतन्यस्य स्वप्रकाशत्वेन तद्भास्यत्वाभावात् ज्ञानज्ञेययोः कथं विषयविषयिभाव-इति चेन्न। बोधेद्धवृत्तेरेव प्रमात्वाभ्युपगमेनाखण्डचैतन्यस्य तद्विषयतया विषयविषयिभावोपपत्तेः।

अथवा विषयत्वं नाम व्यंग्यत्वम्। विषयित्वं नाम व्यञ्जकत्वम्, विषयनिष्ठावरणनिवर्त्तकत्वमिति यावत्। ततश्च ब्रह्मैक्यप्रमाया अखण्डचैतन्यनिष्ठावरणनिवर्त्तकत्वाद्विषय-विषयिभाव उपपद्यते।

यद्वा, अध्यस्तत्वं विषयत्वं चित्त्वं विषयित्वं, ततश्चाज्ञानादिसमस्तं जगद्विषयः, चिदात्मा वृत्त्यारूढो विषयीति।

चैतन्यभेदे ज्ञाते विषयचैतन्याभिन्नप्रमाणचैतन्यं प्रत्यक्षप्रमेति ज्ञातुं शक्यमिति। उपाधिभेदात्तद्भेदं व्युत्पादयति—एकमिति। अथवा चैतन्यस्याद्वितीयत्वेन विषयचैतन्याभिन्नं प्रमाणचैतन्यमित्यनुपपन्नमित्याशङ्क्योपाधिभेदात्तद्भेदं व्युत्पादयति—एकमिति ॥३॥

एवं चैतन्यभेदं व्युत्पाद्य प्रमाणचैतन्यस्य विषयचैतन्याभेदं व्युत्पादयति—तत्रेति। तेषु मध्येऽन्तःकरणपरिणामो

●

समा०—बोध से इद्ध (प्रदीप्त) हुई 'वृत्ति' को ही 'प्रमा' मानने से और 'अखण्डचैतन्य' में उसकी 'विषयता' रहने से दोनों का 'विषय-विषयिभाव' संभव हो सकता है।

अथवा—'विषयत्व' का अर्थ है—'व्यङ्ग्यत्व' और 'विषयित्व' का अर्थ है—'व्यञ्जकत्व,' अर्थात् 'विषयनिष्ठ आवरणनिवर्तकत्व'। इस प्रकार अर्थ करने से 'ब्रह्मैक्य'रूप 'प्रमा', 'अखण्डचैतन्यनिष्ठ आवरण' की निवर्तक रहने से दोनों का 'विषय-विषयिभाव' उपपन्न हो जाता है।

अथवा—'विषयत्व' का अर्थ है—'अध्यस्तत्व', और 'विषयित्व' का अर्थ है—'चित्ता' (चित्त्व)। तब 'अज्ञानादि सम्पूर्णजगत्' विषय हुआ, और 'वृत्ति में आरूढ हुआ 'चिदात्मा' विषयी हुआ। इस प्रकार चैतन्य का भेद ज्ञात होने पर 'विषय-चैतन्य से अभिन्न प्रमाणचैतन्य 'प्रत्यक्षप्रमा' है—यह जाना जा सकता है। एवंच भिन्न-भिन्न उपाधियों के कारण चैतन्य भी भिन्न-भिन्न होता है।

अथवा—'चैतन्य' तो अद्वितीय है, तब 'विषयचैतन्याऽभिन्न प्रमाणचैतन्य' कहना अनुपपन्न होगा यह शंका यदि हो तो 'उपाधिभेद' से उसका भेद बताया गया है—यह समझना चाहिये ॥३॥

इसप्रकार चैतन्यभेद को बताकर 'प्रमाणचैतन्य' का 'विषयचैतन्य' से अभेद बता रहे हैं—चतुर्विध चैतन्यों में से 'अन्तःकरणविशिष्ट चैतन्य' को 'प्रमातृचैतन्य' कहते हैं, और 'अन्तःकरण' की वृत्ति से अवच्छिन्न (विशिष्ट=युक्त=सहित) चैतन्य' को 'प्रमाणचैतन्य' कहते हैं। और 'घटादि विषयों से अवच्छिन्न चैतन्य' को 'विषय चैतन्य' अन्तः करणादि कहते हैं, और 'घटादि विषयों के आकारवाली वृत्ति से अभिव्यक्त होनेवाले चैतन्य' को 'फलचैतन्य' कहते हैं, उपाधि के भेद से उस एक ही चैतन्य के चार प्रकार हो जाते हैं। उपाधियों का यह स्वभाव है कि जब वे उपाधियां भिन्न-भिन्न देशों में स्थित रहती हैं, तब तक वे उपाधियां अपनेद्वारा उपहित हुई वस्तुओं का भेद करती है, और जब वे उपाधियां एकदेश में स्थित रहती हैं, तब वे स्वोपहित वस्तुओं का भेद नहीं करतीं। अपितु उस समय उन उपहित वस्तुओं का अभेद ही बोधन करती हैं। अर्थात् वृत्ति और विषय दोनों एक साथ एक देश में ही जब स्थित रहते हैं तब उनसे उपहित चैतन्यों का अभेद ही रहता है। जैसे 'मठ' (गृह) के बाहर घट के विद्यमान रहने पर उस मठ से उपहित आकाश का तथा घट से उपहित आकाश का भेद ही रहता है, किन्तु मठ के भीतर घट के विद्यमान रहने पर मठाकाश और घटाकाश का अभेद ही रहता है, उसीप्रकार 'अन्तःकरण,' 'वृत्ति', और 'घटादिविषय'—ये तीनों उपाधियां जब तक भिन्न-भिन्न देश में रहती हैं तबतक हो 'प्रमातृचैतन्य', प्रमाणचैतन्य' और 'विषय-चैतन्य'—इन तीनों चैतन्यों का भेद रहता है, जब नेत्रादि इन्द्रियों द्वारा वह 'अन्तःकरण', 'वृत्ति' के रूप में बाहर निकल कर

चैतन्ययोरप्यभेदो भवति। तथाहि—तडागोदकं छिद्रान्निर्गत्य कुल्याद्वारा केदारं प्रविश्य चतुष्कोणाद्याकारेण यथा परिणमते तथेन्द्रियार्थसन्निकर्षानन्तरमन्तःकरणं चक्षुरादिद्वारा विषयदेशं गत्वा तेन संयुज्यते, पश्चात्तदाकारेण परिणमते। सोऽयं परिणामो वृत्तिः। तस्यां वृत्तौ विषयचैतन्यं प्रतिफलति। तदा वृत्तिविषययोर्युगपदेकदेशस्थत्वेन तदुपहितचैतन्यभेदाप्रयोजकत्वात्

•

वृत्तिरित्युक्तम्। तत्रापरोक्षवृत्तेरुत्पत्तिप्रकारं सदृष्टान्तं व्युत्पादयति—तथाहीत्यादिना। वृत्तिरिति उच्यत इति शेषः। अनुमित्यादिस्थले विषयेन्द्रियसन्निकर्षाभावादन्तःकरणस्य बहिर्निर्गमनान्नास्ति तत्र वह्न्याद्याकारवृत्तिरन्तरेव जायते। अत एव तस्याः परोक्षत्वं, विषयेण सम्बन्धाभावादिति भावः। अस्तु, ततः किम्? तत्राह—तस्यामिति। इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यवृत्तावित्यर्थः। विषयचैतन्यं घटाद्यवच्छिन्नचैतन्यम्। ततोऽपि किम्? तत्राह—तदेति। यदेन्द्रियार्थसन्निकर्षानन्तरं घटाद्याकारबहिर्निर्गतान्तःकरणवृत्तौ विषयचैतन्यं प्रतिफलति तदेति योजना। घटाकारवृत्तिघटयोः युगपदेकदा एकदेशस्थत्वेन एकस्मिन्देशे विद्यमानत्वेन वृत्तिघटोपाधिकयोश्चैतन्ययोर्भेदाप्रयोजकत्वाद्भेदापादकत्वाभावात्। यथा सुखावच्छिन्नचैतन्यं तदाकारवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यं चोभयमभिन्नम्भवति सुखतदाकारवृत्त्योरेकस्मिन् साक्षिण्यध्यस्तत्वादेवं घटतदाकारवृत्त्योरेकस्मिम्साक्षिण्यध्यस्तत्वाद् वृत्त्यवच्छिन्न-

•

'घटादिविषय' के देश में जाता है, तब उन अन्तःकरणादि तीनों उपाधियों की 'एकदेश' में स्थिति रहने से उन 'प्रमाता' आदि तीनों चेतन्यों का 'अभेद' ही रहता है। इस प्रकार 'विषयावच्छिन्नचैतन्य से 'प्रमाणचैतन्य' का जो अभेद है, उसी का नाम 'प्रत्यक्षप्रमा' है।

पहिले बताचुके हैं कि 'अन्तः करण के परिणाम' को 'वृत्ति' कहते हैं। अब अपरोक्षवृत्ति की उत्पत्ति के प्रकार को दृष्टान्त के द्वारा बता रहे हैं—जैसे तडाग (तालाव) का जल किसी छिद्र से बाहर निकलकर कुल्या के द्वारा केदारों में जाता है, और केदारों का आकार जैसा भी त्रिकोण अथवा चतुष्कोण हो, उसी आकार में वह जल परिणत हो जाता है। अतः कुल्या के द्वारा तडाग के जल का तथा केदार के जल का 'अभेद' ही है। उसी प्रकार घटादिपदार्थों के साथ चक्षुरादि इन्द्रियों का संवन्ध होने पर अन्तःकरण भी चक्षुरादि इन्द्रियों के मार्ग से बाह्यविषय के देश में जाकर उनघटादिविषयों के समानाकार परिणत हो जाता है। विषयाकार अन्तकरण के इसी परिणाम को 'वृत्ति' कहते हैं। इस घटाकार वृत्ति में विषयावच्छिन्नचैतन्य प्रतिफलित होता है अर्थात् प्रतिबिम्बित होता है, और जिसकाल में उस घटाकार वृत्ति में वह घटावच्छिन्न चैतन्य प्रतिफलित होता है, उसी काल में उन 'वृत्ति' और 'विषय' रूप दोनों उपाधियों की एक देश में स्थिति होने से 'प्रमाणचैतन्य' का 'विषयचैतन्य' से अभेद रहता है। एवंच 'विषयचैतन्य' से अभिन्न जो 'प्रमाणचैतन्य' है, उसी को 'प्रत्यक्षप्रमा' कहते हैं।

समा०—'अबाधित' कहने से हमारा तात्पर्य 'संसार दशा में अबाधित रहना है। 'घट-पटादि प्रपञ्च', ब्रह्मज्ञान होने के पूर्व संसार दशा में अबाधित है ही। अतः घटादि प्रपञ्चविषयक प्रत्यक्षप्रमा में उक्त लक्षण की अव्याप्ति नहीं हो रही है।

शंका—जब किसी पुरुष को 'सुख-दुःख' रूप हेतु के ज्ञान से अपने 'धर्माऽधर्म' का अनुमितिज्ञान होता है, अथवा तू धार्मिक (धर्मवान्) है, तू अधार्मिक (अधर्मवान्) है, यह वाक्य किसी के मुख से सुनकर अपने धर्माधर्म का शाब्दज्ञान (शाब्दबोध) होता है। ऐसे स्थलों में उस 'धर्माधर्म विषय' की तथा उस 'अनुमितिरूप शब्दात्मक वृत्ति' की 'अन्तःकरणरूप एक देश' में स्थिति रहने से उन 'विषय' और 'वृत्ति' रूप दो उपाधियों से 'उपहित चेतन्यों' का भी 'अभेद' ही होता है, और वह धर्माऽधर्म', 'संसारदशा' में अबाधित भी है। उस कारण 'प्रत्यक्ष प्रमा' के लक्षण की 'धर्माऽधर्मविषयक अनुमिति' रूप शाब्दात्मक परोक्षज्ञान में अतिव्याप्ति होगी।

समा०—उक्त लक्षण में 'विषय' का विशेषण 'योग्य' भी हमें विवक्षित है। तब 'धर्माधर्म', किसी के भी 'प्रत्यक्षयोग्य' नहीं हैं, अपितु 'अयोग्य' ही है। उस कारण धर्माधर्मविषयक अनुमितिरूप शाब्दज्ञान में 'प्रत्यक्षप्रमा लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो पाती।

उसीप्रकार अपने 'सुख-दुःखादि' के यथार्थ स्मृतिज्ञान में 'प्रत्यक्षप्रमालक्षण' की अतिव्याप्ति के निराकरणार्थ उक्त लक्षण में 'विषय' का विशेषण 'वर्तमान' को भी कहना चाहिये। तब 'स्मृतिज्ञान' का 'विषय', कभी भी वर्तमान नहीं हुआ करता। उस कारण 'स्मृति' में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो सकती। इस रीति से अब 'प्रत्यक्षप्रमा' का लक्षण इस प्रकार हुआ—

प्रमाणचैतन्यं विषयचैतन्याभिन्नं भवति। सेयं प्रत्यक्षप्रमा। तत्र वृत्त्यावरणं निवर्त्तते। चैतन्येनाज्ञानं निवर्त्तते, प्रमया वा सावरणाज्ञानं निवर्त्तते ततो विषयः स्फुरति साक्षिणा। अन्तःकरणोपहितचैतन्यं साक्षी ॥४॥

●

प्रमाणचैतन्यं घटाद्यवच्छिन्नविषयचैतन्याभिन्नम्भवतीत्यर्थः। अस्तु, प्रकृते किमायातम्? तत्राह—सेयमिति। अनुमित्यादिस्थले विषयतदाकारवृत्त्योरेकस्मिन्नध्यस्तत्वाभावेन प्रमाणचैतन्यस्य विषयचैतन्याद्भिन्नतया परोक्षत्वमिह तु तद्वैपरीत्यात्प्रत्यक्षत्वमिति भावः। प्रमायाः फलमाह—तत्रेति। प्रमा सप्तम्यर्थः। "प्रमायां यो वृत्त्यंशस्तेनावरणं निवर्त्तते। चैतन्यांशेनाज्ञानं निवर्त्तते" इति नृसिंहाश्रममतमुक्त्वेदानीं प्रमया सशक्तिकमज्ञानं निवर्त्तत इत्याचार्य्यमतमाह—प्रमया वेति।

●

'अबाधितवर्तमानयोग्य-विषयचैतन्याभिन्नं प्रमाणचैतन्यं प्रत्यक्षप्रमा'—अर्थात् संसारदशा में अबाधित तथा वर्तमान और प्रत्यक्ष-योग्य जो विषय, उससे अवच्छिन्न जो चैतन्य, उससे अभिन्न जो प्रमाणचैतन्य है, उसी को 'प्रत्यक्षप्रमा' कहते हैं।

अथवा 'प्रत्यक्षप्रमा' का एक अन्य लक्षण भी किया जा सकता है—'अबाधिताऽपरोक्षार्थविषयज्ञानं प्रत्यक्षप्रमा' अर्थात् अबाधित तथा अपरोक्ष अर्थ को विषय करनेवाले ज्ञान को 'प्रत्यक्षप्रमा' कहते हैं। इस लक्षण में भी 'भ्रमज्ञान' में अतिव्याप्ति के निरासार्थ 'अर्थ' पद में 'अबाधित' विशेषण दिया गया है, और 'अनुमिति' आदि 'परोक्षज्ञानों' में अतिव्याप्ति के निरासार्थ 'अर्थ' पद में 'अपरोक्ष' विशेषण भी दिया गया है। 'साक्षि-चैतन्य' के साथ 'घटादि अर्थ' का जो 'तादात्म्य' है, वही 'घटादि अर्थों' का 'अपरोक्षत्व' है।

शंका०—'घटादि' पदार्थों का तो 'स्वावच्छिन्न ब्रह्मचैतन्य' के साथ ही तादात्म्य माना जाता है, अन्तःकरणोपहित साक्षि-चैतन्य के साथ नहीं।

समा०—तथापि पूर्वोक्तरीति से अन्तःकरण की वृत्ति, जब बाहर निकलती है, उस समय 'घटावच्छिन्न चैतन्य' का 'साक्षि-चैतन्य' के साथ अभेद ही रहता है। उस कारण उन घटादि पदार्थों का उस 'साक्षि-चैतन्य' के साथ तादात्म्य कहा जाता है।

अब 'प्रत्यक्षप्रमा' के लक्षण का पदकृत्य इस प्रकार होगा। 'प्रमाणचैतन्यं प्रत्यक्षप्रमा'—इतना ही लक्षण यदि करें तो अनुमिति आदि 'परोक्षप्रमा' में लक्षण की अतिव्याप्ति होगी, उस अतिव्याप्ति के निराकरणार्थ लक्षण में 'विषयचैतन्याऽभिन्न' यह विशेषण, 'प्रमाणचैतन्य' में देना आवश्यक है। अनुमिति आदि परोक्षवृत्तियाँ, बाह्यविषयों के देश में जाती नहीं है, किन्तु शरीर के भीतर हृदय देश में ही उत्पन्न होती हैं। उस कारण परोक्षस्थल में उस विषयचैतन्य से उस प्रमाणचैतन्य का अभेद नहीं हो पाता। इसलिये अनुमिति आदि परोक्षज्ञानों (परोक्ष प्रमाओं) में 'प्रत्यक्ष प्रमा के लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं है।

तथा 'विषयचैतन्याऽभिन्नं वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यं प्रत्यक्षप्रमा'—इतना ही लक्षण यदि 'प्रत्यक्षप्रमा' का करें तो 'भ्रम-ज्ञान' में लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि भ्रमस्थल में भी 'विषयावच्छिन्नचैतन्य' से 'वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्य' का अभेद ही रहता है। अतः इस अतिव्याप्ति के निवारणार्थ लक्षण में 'प्रमाणचैतन्य' कहना आवश्यक है। तब 'भ्रमवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्य' में 'प्रमाण-चैतन्यरूपता' के न रहने से 'भ्रमप्रत्यक्ष' में प्रत्यक्षप्रमा के लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो पाती।

शंका०—भ्रमज्ञान के विषयभूत 'रजत' आदि का प्रकाश, जो इदमाकार अन्तःकरण की वृत्ति से अवच्छिन्न साक्षि-चैतन्य है, वह साक्षि-चेतन्य ही उस विषय-चैतन्य से अभिन्न 'प्रमाण-चैतन्य' रूप है। उस कारण उक्त लक्षण की भी 'भ्रमप्रत्यक्ष' में अतिव्याप्ति हो रही है।

समा०—उस अतिव्याप्ति दोष के निवारणार्थ उक्त लक्षण में 'विषय' का विशेषण 'अबाधित' को रखना आवश्यक है। क्योंकि भ्रमप्रत्यक्ष में जो 'रजतादि' विषय हैं, वे 'अबाधित नहीं है, अपितु 'शुक्ति' आदि अधिष्ठान के ज्ञात होने पर उन रजतादिकों का बाध हो जाता है। उस कारण भ्रमप्रत्यक्ष में 'प्रत्यक्षप्रमा' के लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो रही है।

शंका—'घटादिप्रपञ्च' का 'ब्रह्मज्ञान से बाध हो जाने के कारण उसे (घटादिप्रपञ्च को) अबाधित नहीं कह सकते। उस कारण 'अयं घटः, अयं पटः'—इत्यादि 'प्रत्यक्षप्रमा' में उक्त लक्षण की अव्याप्ति होगी।

अब 'प्रत्यक्ष प्रमा' का प्रयोजन बताते हैं—'प्रमा' में जो वृत्त्यंश है, उससे 'आवरण' की निवृत्ति होती है, और जो 'चैतन्य' अंश है, उससे 'अज्ञान' की निवृत्ति होती है—यह मत श्री नृसिंहाश्रम स्वामी का है। अब आचार्य का मत बताते

ततः किंमत आह—तत इति। यतः सावरणमज्ञानं प्रमया निवृत्तं ततः साक्षिणा घटः स्फुरतीत्यर्थः।

ननु कोऽयं साक्षीत्याशङ्क्याह—अन्तःकरणेति। ननु साक्षित्वं नाम उदासीनत्वे सति बोद्धृत्वं तच्चात्मन एव। ततश्च बोद्धृत्वं नाम बोधाश्रयत्वमिति कथं साक्षिणा विषयस्फुरणं स्यादतोऽयं घट इति व्यवसायज्ञानानन्तरं घटमहं जानामीत्यनुव्यवसायेन घटः स्फुरतीति वक्तव्यं, न साक्षिणा तस्य बोधाश्रयत्वेन तत्स्फोरकत्वायोगात्। न चात्मनश्चिद्रूपतया घटादिस्फोरकत्वमिति वाच्यम्। तर्हि सर्वदा सर्वस्फुरणप्रसङ्गात्। किञ्च, ज्ञानवानहमिति ज्ञानाश्रयत्वेनानुभूयमानस्य चिद्रूपत्वे मानाभावात्। नच श्रुत्या तथात्वमिति वाच्यम्। प्रत्यक्षविरोधे श्रुतेरन्यपरत्वात्। तस्मात्साक्षिणा घटः स्फुरतीत्यसङ्गतमिति चेत्?

मैवम्। "योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुष" इत्यादि श्रुतेरर्थान्तरत्वासम्भवेनात्मनश्चिद्रूपतावगमात्। नच प्रत्यक्षविरोधः, प्रत्यक्षेणाहङ्कारस्यैव ज्ञानाश्रयत्वेनानुभूयमानत्वात्। नच स एवात्मेति वाच्यम्। तस्याध्यस्तत्वेनानात्मत्वेन, अनात्मत्वस्य वक्ष्यमाणत्वात्, प्रमातृप्रमेयाद्यवभासकस्य श्रुत्यादिसिद्धस्यापलापायोगात्।

नन्वात्मनश्चिद्रूपत्वेऽपि कथं प्रमात्राद्यवभासकत्वमिति चेन्न, स्वप्रकाशतया तदुपपत्तेः। नच स्वप्रकाशत्वे मानाभाव-

●

हैं—उक्त प्रत्यक्षप्रमा से ही 'आवरणशक्ति सहित अज्ञान' को निवृत्ति हो जाती है।

तदनन्तर 'अन्तःकरणोपहित चैतन्यरूप साक्षी' से 'घटादि विषयों' का स्फुरण होता है।

जो चेतन्य, निर्विकार भाव के कारण उदासीन होकर 'बुद्धि' आदि को प्रकाशित करता है, अर्थात् 'प्रमाता-प्रमाण-प्रमेय' आदि सबको प्रकाशित करता है, उस अन्तःकरणोपाधि से उपहित 'चैतन्य' को 'साक्षी' कहते हैं। लोकव्यवहार में भी जो व्यक्ति, विवाद करनेवाले दो मनुष्यों से भिन्न रहता है, तथा उन दोनों के विवाद को अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) रूप से जानता है, किन्तु उदासीन अर्थात् पक्षपातरहित (निष्पक्ष) रहता है, उस व्यक्ति को साक्षी कहा करते हैं। उसीप्रकार जो 'चैतन्य' उदासीन रहकर 'बुद्धि' आदि सबको प्रकाश में लाता है, उसी चेतन्य को 'साक्षि-चैतन्य' कहा जाता है।

यदि 'साक्षी' के लक्षण में 'उदासीनत्वे सति' न कहें तो 'बोद्धा साक्षी'—इतना ही लक्षण शेष रहेगा। तब 'परस्पर विवाद करनेवाले पुरुष' भी साक्षी कहलाने लगेंगे, क्योंकि स्व-पर व्यवहार का बोद्धृत्व उनमें भी है, किन्तु उन्हें कोई 'साक्षी' नहीं कहता। उस कारण 'साक्षी' को 'उदासीन' विशेषण से विशेषित किया गया है। तब उन विवादकर्ता पुरुषों में 'उदासीनता' न रहने से उनमें 'साक्षी' के लक्षण की अतिव्यव्याप्ति नहीं है।

यदि 'उदासीनः साक्षी'—इतना ही साक्षी का लक्षण करें अर्थात् लक्षण में 'बोद्धा' पद न रखें तो विवादस्थल में लगे हुए 'स्तंभ' आदि में 'उदासीनता' रहती है, उस कारण उन स्तंभादिकों को भी 'साक्षी' कहने का प्रसंग प्राप्त होगा। किन्तु स्तंभादिकों को कोई 'साक्षी' नहीं कहता। अतः लक्षण में 'बोद्धा' पद का निवेश किया गया है। उस कारण स्तंभादिकों में बोद्धृत्व न रहने से उनमें साक्षी के लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो पाती।

प्रस्तुत प्रसंग में केवल 'बोद्धृत्व' तो 'भोक्ता जीव' में भी है, किन्तु उस जीव में 'उदासीनता' नहीं है। तथा 'देह-इन्द्रिय' आदि जड़ पदार्थों में 'उदासीनता' तो है, किन्तु उनमें 'बोद्धृत्व' नहीं है। उस कारण 'भोक्ता जीव' में तथा 'देहेन्द्रियादिकों' में 'साक्षी' के लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो पाती।

इसी साक्षी के लक्षण को 'साक्षी चेताः केवलो निर्गुणश्च'—इस श्रुति वाक्य ने भी बताया है। इस श्रुति वाक्य में 'चेताः' पद से 'बोद्धा' कहा गया है, और 'केवल' पद से 'उदासीन' कहा गया है। एवंच 'चेताः केवलः साक्षी'—यह साक्षी का लक्षण श्रुति से सिद्ध है।

नैयायिकों ने 'ज्ञानाधिकरणमात्मा' कहकर 'आत्मा' को 'ज्ञानादिगुणोंवाला' बताया है। उनके खण्डनार्थ श्रुति ने 'आत्मा' को 'निर्गुण' बताया है, श्रुतिवाक्य में निविष्ट 'चकार' से 'आत्मा' को 'निष्क्रिय' कहा है। उक्त लक्षण से ही, 'आत्मा' को 'मध्यमपरिमाण' समझने वाले तथा उसे 'सक्रिय' कहने वाले दिगम्बर जैनों के मत का भी खण्डन कर दिया गया है।

इसप्रकार से उक्त साक्षी के स्वरूप को ही 'पञ्चदशी के नाटकदीप' में श्रीविद्यारण्यस्वामी ने नृत्यशाला में स्थित दीपक का दृष्टान्त देकर बताया है। उसकारण साक्षी के द्वारा 'घटादिविषयों' का स्फुरण होना संभव है। उदासीनत्वे सति 'बोद्धृत्वं'—यह लक्षण—'आत्मा' में ही संगत होता है।

इति वाच्यम्। "अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवती"त्यादि श्रुतेरेव प्रमाणत्वात्, तस्या अर्थान्तरत्वकल्पनायां श्रुतहान्यश्रुतकल्पनाप्रसङ्गात्। लाघवादेकेन स्वप्रकाशसाक्षिणा सर्वव्यवहारोपपत्तावनन्तज्ञानकल्पनायां गौरवप्रसङ्गात्।

किञ्चानुव्यवसायेन घटः स्फुरतीत्यसङ्गतं, साक्ष्यतिरिक्तानुव्यवसायकल्पनायां मानाभावात्। नच प्रत्यक्षमेव तत्र प्रमाणमिति वाच्यम्। अनवस्थाप्रसङ्गात्।

किञ्चानुव्यवसायस्य मानसत्वेन तेन घटादिस्फुरणं कथं स्यान्मनसो बहिरस्वातन्त्र्यात्, अन्यथातिप्रसङ्गात्। नच व्यवसायज्ञानद्वारा तद्भविष्यतीति वाच्यम्। व्यवसायस्य मानसप्रत्यक्षत्वेऽपि बाह्यस्य घटादेस्तदयोगात्। नच ज्ञानप्रत्यासत्त्या तद्भविष्यतीति वाच्यम्। ज्ञानस्य प्रत्यासत्तित्वेऽतीन्द्रियमात्रोच्छेदापत्तेः। तस्मात्स्वप्रकाशसाक्षिणा घटः स्फुरतीति निरवद्यम् ॥४॥

•

शंका—जो बोध (ज्ञान) का आश्रय होता है, उसे ही बोद्धा कहते हैं। तब 'साक्षी' के द्वारा विषयस्फुरण कैसे हो सकेगा? अर्थात् नहीं हो सकेगा। इसलिये 'अयं घटः' इस व्यवसायज्ञान के पश्चात् 'घटमहंजानामि'—इस अनुव्यवसायज्ञान से 'घट' का स्फुरण होता है—यह कहना चाहिये। 'साक्षी' से घट का स्फुरण कहना उचित नहीं है, क्योंकि वह तो 'बोधाश्रय' है. उसकारण 'घटस्फोरकत्व' उसमें संगत नहीं है।

यदि कहो कि 'आत्मा' चिद्रूप होने से 'घटादि' पदार्थों का स्फोरक हो सकेगा।

किन्तु यह कहना उचित न होगा। अन्यथा सर्वदा सर्वस्फुरण होने का प्रसंग प्राप्त होगा।

किञ्च—'ज्ञानवान् अहम्' अर्थात् ज्ञानाश्रयत्वेन रूपेण अनुभूयमान आत्मा को 'चिद्रूप' मानने में भी कोई प्रमाण नहीं है।

यदि कहो कि श्रुति ने उसे 'चिद्रूप' बताया है। किन्तु यह कहना उचित नहीं है। क्योंकि प्रत्यक्ष के साथ विरोध प्राप्त होने पर श्रुति वचन को अन्यपरक लगाया जाता है। अतः 'साक्षी के द्वारा 'घट' का स्फुरण होता है—यह कहना असंगत ही है।

समा०—आत्मबोधक श्रुतिवाक्य का अन्य अर्थ करना संभव न होने से—'आत्मा' को चिद्रूपता का ही बोध होता है। और उसकी—चिद्रूपता के बोध होने में किसी प्रकार से 'प्रत्यक्षविरोध' भी नहीं हो रहा है, क्योंकि अहंकार को ज्ञानाश्रयता का प्रत्यक्ष अनुभव होता है।

शंका—ज्ञान के आश्रयस्वरूप अहंकार को ही 'आत्मा' क्यों नहीं कहते?

समा०—ज्ञानाश्रयत्वेन अनुभूयमान अहंकार को 'आत्मा' नहीं कह सकते, क्योंकि वह (अहंकार) अध्यस्त है, और अनात्मा (जड) है, उसका अनात्मत्व, आगे बताया जाएगा। अतः प्रमातृ-प्रमेय आदि का अवभासक और श्रुति-स्मृति आदि के वचनों में प्रसिद्ध आत्मा का अपलाप नहीं किया जा सकता।

शंका—'आत्मा' के चिन्मय रहने पर भी वह प्रमाता आदि का अवभासक कैसे होपाता है?

समा०—'आत्मा'—स्वप्रकाश है, उसकारण वह अवभासक होता है।

शंका—उसके (आत्मा के) स्वप्रकाश होने में क्या प्रमाण है?

समा०—श्रुति ही उसकी स्वप्रकाशता में प्रमाण है। उस श्रुति का अर्थान्तर करनेपर 'श्रुतहानि' और अश्रुत-कल्पाना का प्रसंग प्राप्त होगा। अतः लाघवात् एक ही स्वप्रकाश साक्षी आत्मा के द्वारा समस्त व्यवहार की उपपत्ति का संभव हो रहा है, तो अनन्त ज्ञानों की कल्पना करने में गौरव का ही अनुभव करने का प्रसंग आवेगा।

'किञ्च—'अनुव्यवसायज्ञान' से 'घट' का स्फुरण होता है—यह कहना भी संगत नहीं है। क्योंकि साक्षी के अतिरिक्त अनुव्यवसायज्ञान की कल्पना करने में कोई प्रमाण नहीं है। अनुव्यवसाय की कल्पना करने में 'प्रत्यक्ष' को ही प्रमाण कहें, तो वह भी उचित न होगा, क्योंकि प्रत्यक्षप्रमाण के बल पर अनुव्यवसाय की कल्पना करेंगे तो अनवस्था प्रसंग प्राप्त होगा।

'किञ्च—'अनुव्यवसाय' तो मानस होता है, उससे 'घट' आदि पदार्थ का स्फुरण कैसे होगा, क्योंकि बाहर 'मन' की स्वतन्त्रता नहीं है। यदि बाहर भी 'मन' को स्वतन्त्रता को माना जाय तो 'अति प्रसंग' होगा। यदि यह कहें कि 'व्यवसाय-ज्ञान' के द्वारा वह स्फुरण होगा, तो वह भी उचित न होगा, क्योंकि 'व्यवसाय' की मानस प्रत्यक्षता रहने पर भी 'बाह्य घट' आदि पदार्थ का उसके साथ सम्बन्ध नहीं हो पाता। यदि यह कहें कि 'ज्ञानप्रत्यासत्ति' से वह हो जाएगा। तो वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'ज्ञान' की प्रत्यासत्ति मानने पर 'अतीन्द्रियमात्र' का उच्छेद होने का प्रसंग प्राप्त होगा। इसलिये 'स्वप्रकाश साक्षी' से ही 'घट' का स्फुरण होता है—यही कथन सर्वथा दोष रहित है ॥४॥

सेयं प्रत्यक्षप्रमा द्विविधा—बाह्यप्रमा आन्तरप्रमा चेति। तत्र बाह्यप्रमा शब्दस्पर्शरूपरसगन्धविषयभेदात्पञ्चविधा। तत्करणानि श्रोत्रादीनि ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्च। आन्तरप्रमा द्विविधा—आत्मगोचरा सुखादिगोचरा चेति। आत्मगोचरा द्विविधा—विशिष्टात्मविषया शुद्धात्मविषया चेति। 'अहञ्जीव' इत्यादिविशिष्टात्मविषया, 'अहं ब्रह्मास्मी'ति शुद्धात्मविषया-चेति। अहं सुखी'त्यादिसुखादिविषया ॥५॥

अन्तरिन्द्रियं मन आन्तरप्रमाकरणमिति वाचस्पतिमिश्राः।

●

प्रत्यक्षप्रमां विभजते—सेयमिति। प्रथमां विभजते—तत्रेति। शब्दप्रमा स्पर्शप्रमा रूपप्रमा रसप्रमा गन्धप्रमेति पञ्चविधेत्यर्थः। तत्करणभेदमाह—तदिति। द्वितीयां विभजते—आन्तरेति। आत्मप्रमां विभजते—आत्मेति ॥५॥

आन्तरप्रमायां करणमाह—अन्तरिन्द्रियमिति। इन्द्रियलक्षणलक्षितत्वान्मन इन्द्रियमान्तरप्रमाकरणं सुखादिप्रमाकरणम्। यथा रूपादिसाक्षात्प्रमितिकरणत्वेन चक्षुरादीन्द्रियं सिध्यति, एवं सुखादिसाक्षात्प्रमितिकरणत्वेन मनोऽन्तरिन्द्रियं सिध्यति। सुखादीनां व्यावहारिकत्वेन तद्गोचरज्ञानस्यापि व्यावहारिकप्रमात्वात्। नच मनसस्तत्करणत्वेऽपि शुद्धात्मप्रमाकरणत्वमनुपपन्नं श्रुतिविरोधादिति वाच्यम्। "मनसैवानुद्रष्टव्यमि"त्यादिश्रुत्या मनसः शुद्धात्मप्रमाकरणत्वे निश्चिते श्रुत्यन्तरस्यार्थान्तर-

●

अब उस 'प्रत्यक्षप्रमा' का विभाग प्रदर्शित करते हैं—वह 'प्रत्यक्षप्रमा' दो प्रकार की होती है—(१) बाह्य प्रत्यक्षप्रमा और (२) आन्तर प्रत्यक्षप्रमा। बाह्य पदार्थ को विषय करनेवाली प्रत्यक्षप्रमा को 'बाह्य प्रत्यक्षप्रमा' कहते हैं। और आन्तर (आभ्यन्तर) पदार्थ को विषय करनेवाली प्रत्यक्षप्रमा को 'आन्तर प्रत्यक्षप्रमा' कहते हैं।

बाह्य प्रत्यक्षप्रमा—(१) शब्द, (२) स्पर्श, (३) रूप, (४) रस, (५) गन्ध—इन पाँच विषयों के भेद से पाँच प्रकार की होती है। अर्थात् (१) शब्दप्रमा, (२) स्पर्शप्रमा, (३) रुपप्रमा, (४) रसप्रमा, गन्धप्रमा—यह पाँच प्रकार की बाह्य प्रत्यक्षप्रमा हुआ करती है।

पाँच प्रकार की बाह्य प्रत्यक्षप्रमा के यथाक्रम करण—(१) श्रोत्र, (२) त्वक्, (३) चक्षु, (४) रसन, (५) घ्राण—ये पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ हैं।

आन्तर प्रत्यक्षप्रमा भी दो प्रकार की होती है—(१) आत्मगोचरा, और (२) सुखादिगोचरा। 'आत्मा' को विषय करनेवाली जो प्रमा, उसे 'आत्मगोचरा प्रमा' कहते हैं। और 'सुख-दुःखादिकों' को विषय करनेवाली जो प्रमा, उसे 'सुखादि गोचरा प्रमा कहते हैं।

आत्मगोचर-प्रमा भी (१) विशिष्टात्मविषया, और (२) शुद्धात्मविषया—इन दो भेदों से दो प्रकार की होती हैं। इन दोनों में से 'अहं जीवः'—यह प्रमा तो 'विशिष्ट आत्मविषयक होता है, और 'अहं ब्रह्मास्मि'—यह प्रमा, 'शुद्ध आत्मविषयक होती है।

'अहं सुखी, अहं दुःखी—इत्यादि प्रमा, सुख-दुःखादि-विषयक होती है ॥५॥

श्री वाचस्पति मिश्र का कहना है कि 'मन' अन्तरिन्द्रिय है, वही आभ्यन्तर प्रत्यक्ष प्रमा का कारण है, क्योंकि जैसे बाह्यरूप आदि के साक्षात्कार (प्रत्यक्ष) के कारण 'चक्षु' आदि इन्द्रिय हैं, वैसे ही आभ्यन्तर सुख-दुःखादि को साक्षात्कार करने में आभ्यन्तर इन्द्रिय 'मन' करण है।

शंका—आन्तरिन्द्रिय 'मन' को शुद्ध आत्मा के साक्षात्कार का करण नहीं कह सकते। अन्यथा श्रुति से विरोध होगा। क्योंकि श्रुति ने आत्मसाक्षात्कार में 'मन' की करणता का निषेध किया है।

समा०—'दृश्यते त्वग्रया बुद्धया' इत्यादि श्रुति ने 'मन' को ही शुद्ध आत्मा के साक्षात्कार में 'करण' कहा है। उस कारण आत्मसाक्षात्कार में 'मन' की करणता का निषेध करनेवाली उक्त श्रुति 'अशुद्ध मनोविषयक है, अर्थात् अशुद्ध मन से आत्मा का साक्षात्कार नहीं होता। उस कारण 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' इस श्रुति से 'शुद्ध मन' ही आत्म साक्षात्कार में करण होता है, यह सिद्ध हुआ।

१. अयि सुखमित्यादि इति पाठः।

आचार्य्यास्त्वेव वर्णयन्ति—"इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः" "इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मन" इति श्रुतिस्मृतिभ्यां मनस इन्द्रियेभ्यः पृथक्त्वकरणात् मनो नेन्द्रियम्। वृत्ति प्रत्युपादानत्वान्न करणं मनः। सुखादि-साक्षात्कारस्य प्रमाणाजन्यत्वेनाप्रमात्वमिष्टमेव।

●

त्वोपपत्तेः। नचात्मनो मानसत्वे औपनिषदत्वश्रुतिविरोध इति वाच्यम्। शास्त्राचार्य्यसंस्कृतस्य मनस एव ब्रह्मसाक्षात्कार-करणत्वेनाविरोधादौपनिषदत्वश्रुतेः।

किञ्च, विशिष्टात्मसाक्षात्कारे मनसः करणत्वेन क्लृप्तत्वाच्छुद्धात्मसाक्षात्कारेऽपि तदेव करणं वाच्यम्। विजातीय-करणान्तरकल्पनेऽतिप्रसङ्गात्, मानाभावाच्च। तस्मादान्तरप्रमायां मन एव करणमिति वाचस्पतिमिश्रमतानुसारिणामाशयः।

आचार्य्यमतमाह—आचार्य्यास्त्विति। एवं वक्ष्यमाणप्रकारेण। मनस आन्तरप्रमाकरणत्वमनुपपन्नमिति वक्तु-मिन्द्रियत्वं दूषयति—इन्द्रियेभ्य इति। नच श्रुतिस्मृतिभ्यां बाह्येन्द्रियेभ्यः पृथक्त्वं प्रतिपाद्यते न स्विन्द्रियेभ्य इति वाच्यम्। संकोचे मानाभावात्। न च "त इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठादि"त्यस्मिन्नधिकरणे एकादशानामयमुख्यप्राणानामिन्द्रियत्व-निर्णयात् मनसोऽनिन्द्रियत्वे तद्विरोधापत्त्या संकोचो युक्त इति वाच्यम्। "यजमानपञ्चमा इडां भक्षयन्ती"त्यादौ ऋत्विग्भिन्नेन यजमानेन तद्गतपञ्चत्वसंख्यापूरणादनिन्द्रियेणापि मनसा इन्द्रियगतसंख्यापूरणसम्भवेन तदधिकरणाविरोधात्।

किञ्च, मनसः करणत्वे सिद्धे इन्द्रियत्वं स्यात्। नच तस्य करणत्वं सम्भवति निखिलवृत्त्युपादानत्वेन तस्य तदयोगात् इत्याह—वृत्ति प्रतीति।

ननु सुखाद्युपलब्धिः करणसाध्या साक्षात्प्रमितित्वाद्रूपाद्युपलब्धिवदित्यनुमानेन मनसः करणत्वसिद्ध्येन्द्रियत्व-

●

शंका—"तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि"—इस श्रुति ने 'औपनिषद' शब्द के उल्लेख से 'आत्मा' को उपनिषद् रूप शब्दप्रमाणजन्य ज्ञान का विषय बताया है। यदि आत्मा को मानसप्रत्यक्ष का विषय मानोगे तो उक्त श्रुति के साथ विरोध होगा।

समा०—शास्त्र और आचार्य दोनों के द्वारा सुसंस्कृत हुए शुद्ध 'मन' को ही ब्रह्म साक्षात्कार में 'करण' माना है। उस कारण उस 'मन' को उपनिषद् रूप शास्त्र की अपेक्षा रहने से औपनिषद् श्रुति के साथ कोई विरोध नहीं है। किन्तु वह उपनिषद् रूप शब्द, 'आत्मसाक्षात्कार' में करण नहीं है। अपितु शुद्ध संस्कृत 'मन' ही करण है।

किञ्च—'विशिष्ट आत्मा' के साक्षात्कार में शुद्ध मन की करणता सिद्ध रहने से 'शुद्ध आत्मा' के साक्षात्कार में भी उस मन को ही करण मानना अनुचित नहीं है।

'मन' के अतिरिक्त अन्य किसी को करण मानने में कल्पना गौरव प्राप्त होगा, तथा कोई प्रमाण भी नहीं है। अतः आन्तर प्रत्यक्षप्रमा का करण 'मन' ही है, यह आशय, वाचस्पति मिश्र के मतानुयायियों का बताया गया है।

वाचस्पति मिश्र के मत का खण्डन करते हुए आचार्य का मत बताते हैं कि यदि 'मन' को प्रथमतः इन्द्रिय सिद्ध करें तब उसे 'प्रत्यक्षप्रमा' के प्रति 'करण' कहा जा सकता है। किन्तु 'मन' को इन्द्रिय कहना असंभव है, क्योंकि श्रुति-स्मृतियों ने 'मन' को पृथक् करके बताया है। यदि 'मन' इन्द्रिय होता तो श्रुति-स्मृति के वचन उसे (मन को) इन्द्रियों से पृथक् न कहते। अतः 'मन' को इन्द्रिय नहीं मान सकते। किञ्च—सुख-दुःखादि के साक्षात्कार (प्रत्यक्ष) में 'मन' को करणता यदि सिद्ध होजाय तो 'मन' को इन्द्रिय कहना संभव हो सकेगा, किन्तु 'मन' में करणत्व का होना कभी संभव ही नहीं है। क्योंकि समस्त वृत्तियों के प्रति 'मन' ही उपादानकारण हुआ करता है। जो पदार्थ, जिस कार्य का उपादान कारण होता है, वह पदार्थ, उस कार्य का 'करण' नहीं कहाजाता। जैसे 'घट' रूप कार्य के उपादानकारणरूप 'मृत्तिका' को उस 'घट' के प्रति 'करण' नहीं कहाजाता है। किन्तु 'दण्ड' आदि को ही 'करण' कहाजाता। उसीतरह समस्त वृत्तियों के उपादानकारण स्वरूप 'मन' को भी उन वृत्तियों के प्रति 'करण' नहीं कह सकते। 'मन' में करणत्व का संभव न होने से उसे 'इन्द्रिय' कहना उचित नहीं है।

शंका—अनुमान प्रमाण—'सुखादि उपलब्धि, करण से साध्य है, साक्षात्प्रमिति रूप होने से, रूपादि उपलब्धि की तरह—से 'मन' की करणत्वसिद्धि करना संभव है, उसकारण उसका (मनका) इन्द्रियत्व भी सिद्ध है। अन्यथा अर्थात् 'मन' को यदि इन्द्रिय नहीं मानेंगे तो आन्तर सुख-दुःखादिकों के साक्षात्कार में 'अप्रमात्व' की प्राप्ति होगी।

सिद्धिरन्यथा सुखादिसाक्षात्कारस्याप्रमात्वप्रसङ्ग इति चेद् ? ओम इत्याह—सुखेति। ईश्वरस्य देहेन्द्रियादिशून्यत्वेन तदीय-सुखादिप्रमायां व्यभिचारादनुमानस्य मनसः करणत्वासिद्धाविन्द्रियत्वं दूरनिरस्तम्। एवञ्च सुखादिसाक्षात्कारस्य प्रमाणजन्यत्वाभावेनाप्रमात्वाङ्गीकरणमुचितमिति भावः।

ननु सुखादीनां साक्षात्कारस्य प्रातीतिकत्वे सुखादीनां व्यावहारिकत्वं न स्यादित्याशङ्क्याह—अत एवेति। सुखादिसाक्षात्कारस्याप्रमात्वादेवेत्यर्थः। नच सुखादीनां प्रातीतिकत्वे हर्षाद्यर्थक्रियाकारित्वं न स्यादिति वाच्यम्। प्रातीतिकस्यापि शुक्तिरजतादेस्तद्दर्शनात्। अतोऽन्तःकरणतद्धर्म्माणां प्रातीतिकत्वमुपपन्नमिति भावः।

नन्वेवमात्मसाक्षात्कारस्यापि प्रमाणाजन्यतयाऽप्रमात्वापत्तिः, न चेष्टापत्तिरिति वाच्यम्। तर्ह्यन्तःकरणादिवदात्मनोऽपि प्रातीतिकत्वापत्तिरतस्तद्व्यावृत्त्यर्थमात्मसाक्षात्कारं प्रति मनसः करणत्वमेवेष्टव्यमित्याशङ्क्य किं विशिष्टात्मसाक्षात्कारस्याप्रमात्वमापद्यते आहोस्विच्छुद्धात्मसाक्षात्कारस्य ? नाद्यः, (विशिष्टात्मविषयकज्ञानस्याप्रामाण्यम्[1]) इष्टापत्तेः। न द्वितीय[2] (इत्याह)—शुद्धेति।

ननु वाक्यस्य परोक्षज्ञानजनकत्वनियमात्कथं वेदान्तवाक्यादात्मसाक्षात्कारः ? इत्याशङ्क्याह—वाक्यस्येति। वक्ष्यत इति शाब्दप्रमानिरूपणवेलायामिति शेषः।

●

समा०—देह-इन्द्रियादिकों से रहित रहनेवाले ईश्वर की सुखादिप्रमा में 'अनुमान' का व्यभिचार दृष्टिगोचर होने से 'मन' का करणत्व ही सिद्ध नहीं होपारहा है, तब उसमें इन्द्रियत्व का सिद्ध होना तो कोसों दूर है। एवञ्च सुखादि साक्षात्कार, किसी प्रमाण से जन्य (उत्पन्न) न रहने से सुखादिसाक्षात्कार का अप्रमात्व हमे इष्ट ही है।

शंका—सुखादिकों के साक्षात्कार को यदि 'अप्रमारूप' मानोगे तो अप्रमाज्ञान के विषय होनेवाले वे सुख-दुःखादिक पदार्थ, 'शुक्ति-रजतादि' के समान 'प्रातीतिक कहलाएँगे, अर्थात् वे स्वविषयक प्रतीति के समकालवृत्ति ही होंगे, तब उन सुख-दुःखादिकों में व्यावहारिकता नहीं होपाएगी।

समा०—उसकारण 'अन्तःकरण तथा उसके धर्म जो सुख-दुःखादिक, 'शुक्ति रजत' के समान प्रातीतिक ही होते हैं, 'व्यावहारिक' नहीं।

शंका—सुख-दुःखादिकों को यदि प्रातीतिक मानोगे तो उनमें हर्ष-शोकादिरूप अर्थक्रिया की जनकता नहीं हो सकेगी, अर्थात् उनसे हर्ष-शोकादि नहीं हो सकेंगे। क्योंकि व्यावहारिक पदार्थ ही अर्थक्रिया का जनक हुआ करता है।

समा०—प्रातीतिक पदार्थ भी व्यावहारिक पदार्थ के समान अर्थक्रिया का जनक होता है। जैसे प्रातीतिक 'शुक्ति-रजत', पुरुष की प्रवृत्तिरूप अर्थक्रिया का जनक होता है, जैसे प्रातीतिक 'रज्जु-सर्प', पुरुष के भय, पलायनादिरूप अर्थक्रिया का जनक होता है, वैसे ही प्रातीतिक सुख-दुःखादि भी, हर्ष शोकादिरूप अर्थक्रिया के जनक होते हैं। अतः अन्तःकरण और उसके धर्मों को प्रातीतिक ही समझना चाहिये।

शंका—जैसे आन्तर सुख-दुःखादिकों का साक्षात्कार, किसी प्रमाण से जन्य न होने के कारण 'अप्रमारूप' है वैसे ही आन्तर आत्मा (अन्तरात्मा) का साक्षात्कार भी किसी प्रमाण से जन्य न होने के कारण 'अप्रमारूप' ही होगा। यदि कदाचित् आत्मसाक्षात्कार को भी तुम 'अप्रमारूप' स्वीकार करोगे तो 'आत्मा' भी उस अप्रमाज्ञान का विषय होने से सुख-दुःखादिकों के समान 'प्रातीतिक' कहलाएगा। किन्तु 'आत्मा' को प्रातीतिक कहना किसी भी आस्तिकवादी को अभीष्ट नहीं है। अतः आत्मसाक्षात्कार में 'मन' को अवश्य ही 'करण' मानना चाहिये।

समा०—सुख-दुःखादि के साक्षात्कार के समान ही यदि 'आत्मसाक्षात्कार' को भी 'अप्रमारूप' कह रहे हो तो हमारा उस विषय में आप से यह प्रश्न है कि आप 'विशिष्ट आत्मा' के साक्षात्कार को 'अप्रमारूप' कहरहे हो, अथवा 'शुद्ध आत्मा, के साक्षात्कार को 'अप्रमारूप' कह रहे हो ?

---

१. कुण्डलितोभागो पाठान्तरे नास्ति, नापि तस्यावश्यकता यथाश्रुते, इष्टापत्तेरित्यतः पूर्वमितिशब्दोऽध्याहार्यः।

२. पाठान्तरे—शुद्धात्मसाक्षात्कारस्य वेदान्तलक्षणप्रमाण-जन्यत्वेन प्रमात्वमेवेत्याह।

अत एवान्तःकरणतद्धर्म्माणां च शुक्तिरजतादिवत् प्रातीतिकत्वम् शुद्धात्मसाक्षात्कारस्य वेदान्तवाक्यजन्यत्वात्प्रमात्वम्। वाक्यस्यापरोक्षज्ञानजनकत्वं वक्ष्यत इति प्रत्यक्षप्रमाणम् ॥६॥

●

अत्र वैशेषिकाः—साक्षात्कारिप्रमा द्विविधा सविकल्पकनिर्विकल्पकभेदात्। निष्प्रकारकं वैशिष्ट्यानवगाहि वा ज्ञानं निर्विकल्पकं, सप्रकारकं वैशिष्ट्यावगाहि वा ज्ञानं सविकल्पकं; तत्कारणमिन्द्रियं प्रत्यक्षमिति वदन्ति। तदसङ्गतम्। अशाब्दनिर्विकल्पकज्ञाने मानाभावात्। नच विशिष्टज्ञानस्य विशेषणज्ञानजन्यत्वनियमेन तत्सिद्धिरिति वाच्यम्। विशेषणसन्निकर्षाद्विशिष्टज्ञानोपपत्तेः।

निर्विकल्पकज्ञानवत्सविकल्पकज्ञानं न प्रत्यक्षमिति बाह्याः। तदसत्। निर्विकल्पकज्ञानवत् सविकल्पकस्यापि प्रमात्वे बाधकाभावात्। न चालीकसामान्यविषयतया तस्याप्रमात्वमिति वाच्यम्। सामान्यस्यालीकत्वासिद्धेः। प्रत्युत निर्विकल्पकज्ञानस्यैवाप्रमाणिकत्वात्। तस्माद्यत्किञ्चिदेतत्। तदेवं प्रत्यक्षप्रमानिरूपिता ॥६॥

प्रत्यक्षोपजीव्यत्वात् प्रत्यक्षनिरूपणानन्तरमनुमितिं लक्षयति—लिङ्गेति। पर्वतोऽयं वह्निमान् धूमवत्त्वात्। यो

●

यदि आप प्रथम पक्ष का स्वीकार करते हों, तो वह हमें भी इष्ट है। अर्थात् 'विशिष्ट आत्मा' के साक्षात्कार को हम भी 'अप्रमारूप' ही मानते हैं।

यदि द्वितीय पक्ष का स्वीकार करते हों तो वह संभव नहीं है—क्योंकि 'अहं ब्रह्मास्मि'—इस प्रकार का (इत्याकारक) 'शुद्ध आत्मा' का साक्षात्कार' 'तत्त्वमसि' आदि वेदान्त वाक्य से जन्य होने के कारण 'प्रत्यक्षप्रमारूप' ही है। अतः 'शुद्ध आत्मा' के साक्षात्कार में 'अप्रमात्व' का संभव नहीं है।

शंका—वाक्य तो नियमेन 'परोक्षज्ञान' का ही जनक हुआ करता है, 'अपरोक्षज्ञान' का नहीं। उस कारण उक्त वेदान्त वाक्य से आत्मा के अपरोक्षज्ञान का होना कथमपि संभव नहीं है।

समा०—क्वचित् 'शब्द (वाक्य) से भी अपरोक्षज्ञान होता है। इसे शाब्दप्रमा का निरूपण करते समय बतावेंगे। जैसे—'दशमस्त्वमसि'—इस वाक्य से दशम पुरुष को अपना अपरोक्षज्ञान (प्रत्यक्षज्ञान) होता ही है, उसी तरह 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य से भी अधिकारी पुरुष को 'आत्मा' का अपरोक्षज्ञान होता है।

इस प्रसंग में वैशेषिकों का कहना है कि 'साक्षात्कारिप्रमा' 'सविकल्पक' और 'निर्विकल्पक भेद से दो प्रकार की होती है। 'निष्प्रकारकं वैशिष्ट्यानवगाहि वा ज्ञानं निर्विकल्पकं' अर्थात् विशेष-विशेष्यभाव से रहित ज्ञान को निर्विकल्पक कहते हैं। और विशेषण-विशेष्यभाव वाले ज्ञान को सविकल्पक कहते हैं। और उसके कारणभूत इन्द्रिय को प्रत्यक्ष कहते हैं।

किन्तु वैशेषिकों का उक्त कथन असंगत है। क्योंकि अशाब्द निर्विकल्प ज्ञान के होने में कोई प्रमाण नहीं है।

शंका—कोई भी 'विशिष्टज्ञान' विशेषणज्ञान से ही जन्य हुआ करता है—इस नियम से उसकी सिद्धि हो सकती है।

समा०—उक्त शंका ठीक नहीं है। विशेषण के सम्बन्ध से ही विशिष्टज्ञान की उपपत्ति हो जाती है।

बाह्य विद्वानों का कहना है कि निर्विकल्पक ज्ञान के समान 'सविकल्पक' ज्ञान, प्रत्यक्ष नहीं है।

किन्तु उनका भी उक्त कथन असंगत ही है। क्योंकि निर्विकल्पक ज्ञान के समान सविकल्पक को भी 'प्रमा' कहने में कोई बाधक नहीं है।

शंका—सविकल्पक ज्ञान, अलीक सामान्य का विषय होने से उसमें अप्रमात्व है।

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि सामान्य में अलीकत्व सिद्ध नहीं है। प्रत्युत निर्विक ज्ञान ही अप्रामाणिक है। अतः इन लोगों का उक्त कथन तुच्छ ही है। इस प्रकार 'प्रत्यक्ष प्रमा' का निरुपण यहाँ समाप्त कर रहे हैं ॥६॥

अब प्रत्यक्ष प्रमा के निरुपणानन्तर प्रत्यक्ष के कार्यभूत 'अनुमिति' प्रमा को बता रहे हैं—लिङ्ग (हेतु) के ज्ञान से जन्य जो ज्ञान, उसे 'अनुमितिप्रमा' कहते हैं। जैसे—यह पर्वत वह्निमान् (वह्निवाला) है, क्योंकि वह धूमवान् (धूमवाला) है। जो-जो धूमवान् होता है, वह-वह वह्निमान् ही होता है। जैसे—महानस (रसोई घर-पाकशाला) है।

लिङ्गज्ञानजन्यं ज्ञानमनुमितिः। व्याप्त्याश्रयो लिङ्गम्। साधनसाध्ययोर्नियतसामानाधिकरण्यं व्याप्तिः। प्रतिबन्धकाभावे सति सहचारदर्शनेन सा व्याप्तिर्गृह्यते। तस्यां गृहीतायां लिङ्गज्ञानेन व्याप्त्यनुभवजन्यसंस्कारोद्बोधे सति अनुमितिर्जायते। सा द्विधा—स्वार्था परार्था चेति। इयं स्वार्थानुमितिस्तूक्ता। परार्थानुमितिस्तु न्यायसाध्या। न्यायोऽवयवसमुदायः। अवयवास्त्रयः ॥७॥

●

यो धूमवान् स सोऽग्निमान् यथा महानसः—इत्यत्र पर्वतः पक्षः, वह्निः साध्यं, धूमो लिङ्गं, ततश्च स एव पक्षधर्म्मः। तथा चायं धूमवानिति व्याप्यतावच्छेदकप्रकारकपक्षधर्म्मताज्ञानं लिङ्गज्ञानं; तेन जन्यम्—अयं पर्वतो वह्निमानिति ज्ञानमनुमितिः। यद्वा जीवो ब्रह्माभिन्नः सच्चिदानन्दलक्षणत्वात् ब्रह्मवदित्यत्र जीवः पक्षो, ब्रह्माभेदः साध्यम्, सच्चिदानन्दलक्षणत्वं लिङ्गमयमेव पक्षधर्म्मः। एवञ्च व्याप्यतावच्छेदकप्रकारकपक्षधर्म्मताज्ञानं; तेन जन्यं-जीवो ब्रह्माभिन्न इति ज्ञानमनुमितिः। पक्षताश्रयः-पक्षः; सिषाधयिषाविरहसहकृतसिद्ध्यभावः पक्षता। एवं च व्याप्यतावच्छेदकप्रकारकपक्षधर्म्मताज्ञानत्वेन लिङ्गज्ञानजन्यत्वमनुमितेर्विवक्षितमतो न स्मृत्यादावतिव्याप्तिः। तृतीयलिङ्गपरामर्शत्वेन तज्जन्यत्वमनुमितेः। तृतीयलिङ्गपरामर्शस्याप्रामाणिकत्वेन तज्जन्यत्वस्य दूरनिरस्तत्वात्। किं तल्लिङ्गमित्याकाङ्क्षायामाह—व्याप्तीति।

केयं व्याप्तिरित्यत आह—साधनेति। व्याप्त्याधारत्वं साधनत्वं, व्याप्तिनिरूपकत्वं साध्यत्वम्, अव्यभिचरितत्वं नियतत्वम्। अव्यभिचरितत्वं नाम साधनसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वम्, साध्यवदन्यावृत्तित्वं वा[1]। तथाचायं निष्कर्षः—साधनसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्यसामानाधिकरण्यं व्याप्तिरिति। द्वितीयपक्षे[2] तु साधनवन्निष्ठान्यो-

●

इस प्रसिद्ध अनुमान में 'पर्वत' तो—पक्ष है, और 'वह्नि'—साध्य है, और 'धूम'—लिङ्ग (हेतु) है। और 'महानस'—दृष्टान्त है। 'अयं पर्वतो धूमवान्'—इत्याकारक लिङ्ग ज्ञान से 'अयं पर्वतो वह्निमान्'—इत्याकारक अनुमिति प्रमा का ज्ञान, पुरुष को होता है। उस कारण उक्त अनुमिति प्रमा के लक्षण का समन्वय बताया जा सकता है।

उसीप्रकार सिद्धान्त में भी अनुमिति प्रमा के लक्षण का समन्वय करके बताते हैं—यह जीवात्मा, ब्रह्म से अभिन्न है, सत् चित् आनन्दरूप होने से। जो-जो सच्चिदानन्दरूप होता है, वह ब्रह्म से अभिन्न ही होता है। जैसे—'ब्रह्म' सच्चिदानन्दरूप होने से 'ब्रह्म' से अभिन्न ही है, उसीप्रकार यह 'जीव' भी सच्चिदानन्दरूप होने से 'ब्रह्म' से अभिन्न ही है।

इस अनुमान में भी 'जीव' तो—पक्ष है, और 'ब्रह्म' का अभेद—साध्य है, और सच्चिदानन्दरूपत्व लिङ्ग है, और 'ब्रह्म'—दृष्टान्त है।

'लिङ्ग' ही पक्षधर्म कहलाता है। तथा च 'अयं धूमवान्' इत्याकारक जो ज्ञान है, वह 'व्याप्यतावच्छेदकप्रकारकपक्षधर्मता' ज्ञान है, और वही लिङ्गज्ञान है। उस लिङ्गज्ञान से जन्य 'अयं पर्वतो वह्निमान्'—इत्याकारक जो ज्ञान होता है, वही अनुमिति है। उसीप्रकार दूसरे अनुमान में 'सच्चिदानन्दलणत्व'—लिङ्ग ही पक्षधर्म है।

पक्षता के आश्रय को 'पक्ष' कहते हैं। और सिद्ध करने की इच्छा न रहते सिद्धि न होना—पक्षता है। एवं च उक्त इच्छा हो तो सिद्धि के रहते भी पक्षता संभव है। एवं च 'व्याप्यतावच्छेदकप्रकारकज्ञान'—इतना ही कहने पर स्मृति आदि में जो अतिव्याप्ति संभव होती वह, पक्षधर्मता को जोड़ देने पर नहीं होगी।

तृतीयलिङ्गपरामर्श के रुप में जो लिङ्गज्ञान है, उससे जन्य ज्ञान को अनुमिति कहना उचित नहीं है। क्योंकि तृतीयलिंगपरामर्श मानने में कोई प्रमाण नहीं है। अतः वह अप्रामाणिक ही है, तब अनुमिति को उससे जन्य बताना तो बहुत दूर है।

लिङ्ग (हेतु) पदार्थ के स्वरूप को बताते हैं—व्याप्ति का जो आश्रय होता है, उसे 'लिङ्ग' कहते हैं। साधन और साध्य के नियतसामानाधिकरण्य को व्याप्ति कहते हैं। व्याप्ति के आधार को साधन कहते हैं। और व्याप्ति के

१. वेत्यर्थविर्शोस्यते।

२. अव्यभिचरितत्वस्य साधनसमानाधिकरणेत्यादिलक्षणस्यैव व्याख्यानान्तर इत्यर्थः। न तु साध्यवदन्येत्यादिपक्ष इति प्रमितव्यम्।

ऽन्याभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वं व्याप्तिः। अस्ति चेयं धूमे—साधनेन धूमादिना समानाधिकरणो योऽत्यन्ताभावो घटादिप्रतियोगिकस्तदप्रतियोगि यत् साध्यं तेन सामानाधिकरण्यं धूमादेर्व्याप्तिः। अत्र यद्यपि हेतुसमानाधिकरणात्यन्ताभावाः, तत्तद्वह्न्यत्यन्ताभावास्तत्प्रतियोगिनस्तत्तद्वह्नयः, पर्वतीयधूमसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वान्महानसीयवह्नेर्महानसीयधूमसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वात् पर्वतीयवह्नेः; तथाच लक्षणमव्याप्तम्, अप्रतियोगिसाध्यसामानाधिकरण्याभावात्। नच समानाधिकरणयोरेव व्याप्तिर्विवक्षितेति वाच्यम्। तर्हि गुणवान् द्रव्यत्वादित्यत्राव्याप्तिर्वज्रलेपायिता। तथापि हेतुतावच्छेदकावच्छिन्नहेतुसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगिताऽनवच्छेदकं यत्साध्यतावच्छेदकं तदवच्छिन्नसाध्यसामानाधिकरण्यं हेतोर्व्याप्तिर्विवक्षिता, तथाच नाव्याप्तिः। न चैवमपि संयोगि द्रव्यत्वादित्यत्राव्याप्तिरिति वाच्यम्। अत्यन्ताभावस्य प्रतियोगिव्यधिकरणत्वस्य विवक्षितत्वात्। अस्मन्मते संयोगस्य व्याप्यवृत्तित्वाद्वा न दोषः[1] अवच्छेदकत्वमनतिरिक्तदेशवृत्तित्वम्, तथाच नात्माश्रयदोषोऽपि। अत्र विस्तरस्तु न्यायचिन्तामणितद्व्याख्यासु द्रष्टव्यः। अस्माभिरत्र दिङ्मात्रं प्रदर्शितम्, पारमार्थिकतत्त्वनिरूपणे प्रवृत्तत्वादिति। एवमन्योऽन्याभावघटितव्याप्तिलक्षणेऽपि द्रष्टव्यम्।



निरूपक को साध्य कहते हैं। अव्यभिचरित का अर्थ है—'नियत'। हेतु के अधिकरण में अत्यन्ताभाव का अप्रतियोगी होना, अथवा साध्य के अधिकरण से भिन्न अधिकरण में न रहना ही अव्यभिचरितत्व है।

साधनभूत धूमादिकों के अधिकरण में रहनेवाला (समानाधिकरण), जो घटादिप्रतियोगिक अत्यन्ताभाव (घट का अत्यन्ताभाव), उस अत्यन्ताभाव का अप्रतियोगी जो साध्य, उस साध्य के साथ धूम आदि हेतु का सामानाधिकरण्य रहना अर्थात् अप्रतियोगी साध्य का और हेतु का एक अधिकरण में रहना ही 'व्याप्ति' है।

शंका—साधनवन्निष्ठात्यन्ताभाव, अर्थात् हेतुसमानाधिकरणात्यन्ताभाव के रूप में तत्तद् वह्नि का अत्यन्ताभाव ग्रहण करेंगे, तब उन अत्यन्ताभावों के प्रतियोगी 'तत्तद्वह्नि' ही हो जाएँगे। जैसे—पर्वतीय धूम के अधिकरण में 'महानसीयवह्नि' का अत्यन्ताभाव रह सकता है, उसी तरह महानसीय धूम के अधिकरण में पर्वतीय वह्नि का भी अत्यन्ताभाव रह सकता है, इसी को चालनीयन्याय कहते हैं। एवंच पर्वतीय धूम के अधिकरण में रहनेवाले महानसीय वह्नि के अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी 'महानसीय वह्नि' होगा, उसीतरह महानसीय धूम के अधिकरण में रहनेवाले पर्वतीय वह्नि के अभाव का प्रतियोगी 'पर्वतीय वह्नि' होगा, तथाच उक्त अव्यभिचरितत्वरूप व्याप्ति के लक्षण में अव्याप्ति दोष होता है। क्योंकि धूमादि हेतु को अप्रतियोगि साध्यसामानाधिकरण्य का लाभ नहीं हो रहा हैं, अपितु प्रतियोगीसाध्यका सामानाधिकरण्य ही उसे मिल रहा है। अतः उक्त लक्षण अव्याप्ति दोष से दूषित हो रहा है।

यदि लक्षण करनेवाला यह कहे कि एकाधिकरणवृत्ति (समानाधिकरण) वाले हेतु-साध्य की हो व्याप्ति हमें यहाँ विवक्षित है।

यदि ऐसा विवक्षित है तो 'गुणवान् द्रव्यत्वात्' में लक्षण की अव्याप्ति वज्रलेप के समान दुर्वार होगी।

समाधान—उस पर लक्षण बनानेवाला कहता है कि आपका कहना यद्यपि आपाततः संगत प्रतीत हो रहा है, तथापि हमारे विवक्षित अभिप्राय की ओर ध्यान देने पर उक्त दोष का देना संगत नहीं हो सकेगा। हमारा अभिप्राय यह है—हेतुता के अवच्छेदक से (धूमत्व से) अवच्छिन्न हेतु के समानाधिकरण अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता का अनवच्छेदक जो साध्यता का अवच्छेदक उससे अवच्छिन्न हुए साध्य से हेतु की समानाधिकरणता व्याप्ति है।

पू० प०—इतना परिष्कृत लक्षण करने पर भी 'संयोगी द्रव्यत्वात्' में लक्षण की अव्याप्ति होगी।

उ० प०—लक्षण में अपेक्षित जो 'अत्यन्ताभाव' है उसमें हम 'प्रतियोगिव्यधिकरणत्व' विशेषण जोड़ देंगे, अर्थात् हमें प्रतियोगिव्यधिकरण जो अत्यन्ताभाव हो, उसे ही ग्रहण करना अभिप्रेत है। तब अव्याप्ति नहीं हो पाएगी।

अथवा संयोग को 'व्याप्यवृत्ति' माननेवालों की दृष्टि से दोष नहीं हो सकेगा—यह भी कह सकते हैं। 'अवच्छेदकत्व अर्थात् अतिरिक्त स्थल पर न रहना—यह कहने से आत्माश्रयदोष भी नहीं होगा, यह दिङ्मात्र निर्देश किया है। न्यायरसिक जिज्ञासुओं को न्यायचिन्तामणि और उसकी व्याख्याओं को पढ़कर अपनी जिज्ञासा को शान्त कर लेना चाहिये।

१. यत्साध्यतावच्येदकमित्यत्रावच्छेदकत्वं समव्याप्तत्वमिति वक्तव्यं तथा च व्याप्तियरितव्याप्तिलक्षण करणेनात्माश्रयः स्यादित्याशङ्कयाह—अवच्छेदकत्वमिति।

नन्वियं व्याप्तिः केन (प्रकारेण)[1] गृह्यत इत्यत आह—प्रतिबन्धकेति। प्रतिबन्धकत्वं नाम कार्य्यानुकूलकिञ्चिद्धर्म्मविघटकत्वम्, कार्य्यानुत्पादप्रयोजकत्वं वा। तत्र व्यभिचारज्ञानं साक्षाद्व्याप्तिग्रहणप्रतिबन्धकमुपाधिज्ञानं परम्परया साध्यवदन्यवृत्तित्वं व्यभिचारः। साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकउपाधिः। तथाहि—क्रत्वन्तर्वर्त्तिनी हिंसाऽधर्म्मसाधनं हिंसात्वाद्बाह्यहिंसावदित्यत्र निषिद्धत्वमुपाधिः। तत्रास्तीदं लक्षण साध्यस्याधर्म्मसाधनत्वस्य व्यापकं निषिद्धत्वम्। व्यापकत्वं नाम तद्वन्निष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वं, निषिद्धत्वं च तथा। एवं साधनस्य हिंसात्वस्य निषिद्धत्वमव्यापकम्। अव्यापकत्वं नाम तद्वन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं, निषिद्धत्वञ्च तथा। अग्नीषोमीयहिंसायां तदभावात्। एवं धूमवान् वह्नेरित्यत्रार्द्रेन्धनसंयोग उपाधिः। अत्राप्युक्तप्रकारेण लक्षणं योजनीयम्। एवं यथोक्तप्रतिबन्धकाभावे सति सहचारदर्शनेन व्याप्तिर्गृह्यते।

ननु यथोक्तप्रतिबन्धकाभावः कस्मान्निश्चीयत इति चेत्? अनुकूलतर्कादिना स निश्चीयत इति गृहाण। एवमनुकूलतर्कादिना प्रतिबन्धकाभावे निश्चिते तत्सहकृतसहचारदर्शनेन व्याप्तिनिर्णयानन्तरं लिङ्गज्ञानेन संस्कारोद्बोधे सत्येवानुमिति-

●

प्रस्तुत ग्रन्थ तो पारमार्थिक तत्त्व के निरुपणार्थं प्रवृत्त हुआ है। अतः व्याप्तिपदार्थं के अधिक निरूपण की आवश्यकता यहाँ नहीं है। इसी प्रकार अन्योन्याभावघटितव्याप्तिलक्षण में भी समझना चाहिये।

प्रश्न—'व्याप्ति' का ग्रहण (ज्ञान) किस प्रकार किया जाता है?

उत्तर—प्रतिबन्धक के न रहते सह-अस्तित्व देखने से व्याप्ति गृहीत होती है।

कार्यानुकूल किञ्चिद्धर्म के विघटक को प्रतिबन्धक कहते हैं। अथवा कार्य की अनुत्पत्ति के प्रयोजक को प्रतिबन्धक कहते हैं। 'व्यभिचारज्ञान' तो 'व्याप्ति' ज्ञान होने में साक्षात् प्रतिबन्धक होता है। और 'उपाधिज्ञान' परम्परया उसमें प्रतिबन्धक होता है। 'साध्यवदन्यवृत्तित्व'—को 'व्यभिचार' कहते हैं, और 'साध्य' का व्यापक होता हुआ 'साधन' का जो अव्यापक रहता है, उसे 'उपाधि' कहते हैं। तथाहि—'यज्ञांग हिंसा अधर्म का साधन है, हिंसा होने से, यज्ञ की अंग न होनेवाली हिंसा—की तरह (अर्थात् बाह्य हिंसा) इस अनुमान में 'निषिद्धत्व' उपाधि है। इस 'निषिद्धत्व' में उपाधि का लक्षण घटित हो रहा है। क्योंकि अधर्मसाधनत्व रूप 'साध्य' का 'व्यापक', निषिद्धत्व है। क्योंकि 'तद्वन्निष्ठात्यन्ताभावाऽप्रतियोगित्व' को 'व्यापक' कहते हैं। यह व्यापकता 'निषिद्धत्व' में पाई जाती है, उसीप्रकार 'हिंसात्व रूप साधन का अव्यापक 'निषिद्धत्व' है, इसलिये 'निषिद्धत्व' में साधन (हेतु) की अव्यापकता भी पाई जा रही है। 'अव्यापकत्व' का अर्थ है—'तद्वन्निष्ठात्यन्ताभाव-प्रतियोगित्वम्'। एवंच साध्य की व्यापकता और साधन की अव्यापकता, ये दोनों धर्म 'निषिद्धत्व' में रहने से 'निषिद्धत्व' को यहाँ पर उपाधि कहा गया है। किन्तु 'अग्नीषोमीय हिंसा' में यह स्थिति नहीं है। इस यज्ञीय हिंसा में 'निषिद्धत्व' रूप उपाधि के न होने से 'यज्ञीय हिंसा' को अधर्मजनक नहीं कहा जाता। अर्थात् यज्ञीय पश्वालंभन को 'हिंसा' नहीं कहा जाता। अतएव स्मृतिकारों ने 'यज्ञवधोऽवधः' कहा है। इसी प्रकार 'धूमवान् वह्नेः' में 'आर्द्रेन्धनसंयोग' को उपाधि कहा गया है। यहाँ भी उक्तरीति से लक्षण को घटा लेना चाहिये।

एवं च यथोक्त प्रतिबन्धक का अभाव रहने पर सहचार-दर्शन के द्वारा व्याप्ति का ग्रहण हो जाता है।

प्रश्न—उपर्युक्त प्रतिबन्धकाऽभाव का निश्चय कैसे हो पाता है?

उ०—'अनुकूलतर्क' आदि से उसका निश्चय किया जाता है। इस प्रकार अनुकूलतर्क आदि के द्वारा 'प्रतिबन्धकाऽभाव' का निश्चय हो जाने पर तत्सहकृत सहचार दर्शन से व्याप्ति का निर्णय हो जाता, है। तदनन्तर लिङ्गज्ञान से संस्कारोद्बोध के होते ही 'अनुमिति' उत्पन्न होती है। एवं च 'व्याप्तिज्ञान'—'करण' है और उसका 'संस्कार'—अवान्तर व्यापार है। और 'अनुमिति'—फल है।

शंका—'अनुमिति' को संस्कारजन्य कहने पर उसमें 'स्मृतित्व' की आपत्ति होगी।

समा०—उक्त शंका उचित नहीं है, क्योंकि 'स्मृतित्व' में प्रयोजक 'तत्प्रागभावजन्यत्व' अथवा 'संस्कारमात्रजन्यत्व' हुआ करता है। अन्यथा 'प्रत्यभिज्ञा' में भी 'स्मृतित्व' की आपत्ति होने लगेगी। इसी अभिप्राय से फलित बताया गया है—व्याप्तिग्रहण हो चुकने पर लिंग के ज्ञान के द्वारा व्याप्ति के अनुभव से उत्पादित संस्कार का उद्बोधन होने पर अनुमिति हो

१. प्रमाणेनेति पाठः क्वचित्।

रुत्पद्यते। तत्र व्याप्तिज्ञानं करणं तत्संस्कारोऽवान्तरव्यापारः, अनुमितिः फलम्। नच संस्कारजन्यत्वे स्मृतित्वापत्तिरिति वाच्यम्, तत्प्रागभावजन्यत्वस्य वा संस्कारमात्रजन्यत्वस्य वा स्मृतित्वप्रयोजकत्वात्। अन्यथा प्रत्यभिज्ञायामपि स्मृतित्वापत्तेरित्यभिप्रेत्य फलितमाह—**तस्यामिति**। उद्बोधः सहकारिलाभः सहकारिणः सदृशदर्शनादयः। स्वस्य व्याप्तिनिश्चयानन्तरं परोपदेशमन्तरेण

•

जाती है। वह दो प्रकार की होती है—(१) स्वार्थ और (२) परार्थ। 'उद्बोध' का अर्थ है—सहकारी का लाभ होना। सदृशदर्शनादि 'सहकारी' है। स्वयं को व्याप्तिनिश्चय होने के बाद परोपदेश के बिना ही 'व्याप्यतावच्छेदकप्रकारकपक्षधर्मता' के ज्ञान से जो 'अनुमिति' होती है, उसे 'स्वार्थानुमिति कहते हैं।

उपर्युक्त विवेचन शास्त्रीय संस्कार से संस्कृत हुई बुद्धि के लोगों को तो सहजगम्य है, किन्तु सर्व साधारण लोगों को उसका बुद्धिगम्य होना कठिन है। यह सोचकर उसी को पुनः साधारण लोकव्यावहारिक भाषा में बताया जा रहा है।

हम पहले बता चुके हैं कि 'यह जीव सच्चिदानन्दरूप है'—इस 'लिंगज्ञान' के बाद अधिकारी पुरुष को—'यह जीव, ब्रह्म से अभिन्न है'—यह अनुमितिज्ञान होता है। अतः अनुमिति का उक्त लक्षण यहाँ भी घटित हो गया। अनुमान-प्रयोग करते समय नैयायिक विद्वान् अपने कतिपय पारिभाषिक शब्दों (पक्ष, साध्य, हेतु (लिंग), दृष्टान्त, अनुमिति, व्याप्ति) का प्रयोग किया करते हैं। उन शब्दों का अर्थ—जानना आवश्यक है, अतः उनके स्वरूप को बताते हैं—'अनुमितिज्ञान' होने के पूर्व जिस पदार्थ में 'साध्य' का सन्देह होता है, उस पदार्थ को 'पक्ष' कहते हैं। जैसे—प्रसिद्ध अनुमान में 'पर्वतो वह्निमान्'—इत्याकारक अनुमिति, होने के पूर्व—'पर्वतरूप पदार्थ' में 'वह्नि' का संशय (सन्देह) रहता है। उस कारण उक्त अनुमान में 'पर्वत'—को 'पक्ष' कहा जाता है।

उस 'पक्ष' में 'लिङ्ग' (हेतु) का ज्ञान होने से 'जिस पदार्थ' का ज्ञान होता है, उस वह्निरूप पदार्थ' को 'साध्य' कहा जाता है। जैसे—'पर्वतो वह्निमान् धूमात्'—इस प्रसिद्ध अनुमान में 'पर्वतरूप पक्ष' में 'धूमरूप' लिङ्ग के ज्ञान से 'वह्निरूप-साध्य' का ज्ञान होता है। अतः इस अनुमान में 'वह्नि' को 'साध्य' कहा जाता है।

'साध्य' और 'लिङ्ग' (हेतु), दोनों का जिस पदार्थ में निश्चय रहता है, उस पदार्थ को 'दृष्टान्त' कहते हैं। जैसे—उक्त प्रसिद्ध अनुमान के 'महानस' रूप पदार्थ में 'वह्नि' रूप 'साध्य' का 'धूम' रूप लिङ्ग का निश्चय रहता है, उस कारण उक्त अनुमान में 'महानस' को दृष्टान्त कहा जाता है।

प्रश्न—जिस 'लिङ्ग' के ज्ञान से 'अनुमिति' ज्ञान होता है, उस लिङ्ग का स्वरूप क्या है?

उत्तर—अप्रत्यक्ष साध्य की व्याप्ति का जो 'आश्रय' रहता है, उसे 'लिङ्ग' कहते हैं। जैसे प्रसिद्ध अनुमान में 'वह्नि' रूप साध्य की व्याप्ति का आश्रय 'धूम' है, उस कारण उस 'धूम' को 'लिङ्ग' कहा जाता है।

प्रश्न—जिस व्याप्ति का आश्रय बने हुए 'धूम' आदि को 'लिङ्ग' कहा जाता है, उस 'व्याप्ति' का स्वरूप क्या है?

उत्तर—साधन (हेतु) और साध्य दोनों का जो अव्यभिचरित (नियत) सामानाधिकरण्य (एकाधिकरणवृत्तित्व), है, उसे 'व्याप्ति' कहते हैं। जैसे प्रसिद्ध अनुमान में 'धूम' रूप साधन का और 'वह्नि' रूप साध्य का अव्यभिचरित (नियत) सामानाधिकरण्य है। अर्थात् वह्निरूप साध्य को छोड़कर 'धूम' रूप साधन कभी भी स्वतंत्ररूप से नहीं रहता—इसी को 'धूम' में 'वह्नि' की 'व्याप्ति' कहते हैं। किन्तु 'वह्नि', अपने साधनरूप 'धूम' को छोड़कर 'प्रतप्त अयःपिण्ड' में रहता है। उसकारण 'वह्नि' में 'धूम' की 'व्याप्ति' नहीं है। अतः उक्त व्याप्ति का आश्रय 'धूम' रूप साधन रहने से 'धूम' को 'व्याप्य' कहा जाता है। और 'वह्नि' उक्त व्याप्ति का निरूपक होने से (वह्नि) उसे (साध्य को) 'व्यापक' कहा जाता है।

'लिङ्ग'—'साधन'—'हेतु'—ये तीनों शब्द एक ही अर्थ के वाचक हैं।

प्रश्न—उक्त व्याप्ति का ज्ञान, किस उपाय से होता है?

उत्तर—जहाँ-जहाँ धूम रहता है, वहाँ-वहाँ वह्नि अवश्य रहता है—इस प्रकार से महानसादि स्थलों में पुनः पुनः 'धूम' और 'वह्नि' के सहचार का दर्शन करने से ही 'धूम', वह्नि का व्याप्य है, अर्थात् 'धूमो वह्निना व्याप्यः' इत्याकारक व्याप्तिज्ञान होता है।

प्रतिज्ञाहेतूदाहरणरूपाः, उदाहरणोपनयनिगमनरूपा वा। तथाहि—जीवः परस्मान्न भिद्यते सच्चिदानन्द-

●

व्याप्यतावच्छेदकप्रकारकपक्षधर्म्मताज्ञानाद् याऽनुमितिर्जायते सा स्वार्थानुमितिरित्यर्थः। परार्थानुमितिं व्युत्पादयति—**परार्थेति**। कोऽसौ न्याय इत्यपेक्षायामाह—**न्याय इति**। कियन्तोऽवयवा इत्यत आह—**अवयवा इति** ॥७॥

के ते त्रय इत्याकाङ्क्षायामाह—**प्रतिज्ञेति**। त्रीणि उदाहरणान्तानि यद्वा उदाहरणादिका इत्यभियुक्तोक्त्या प्रतिज्ञाद्यास्त्रयोऽवयवा उदाहरणाद्यास्त्रयोवा। अनुमानवाक्यैकदेशत्वं प्रतिज्ञाद्यन्यतमत्वं वाऽवयवत्वम्। साध्यविशिष्टधर्म्मिप्रति-

●

किन्तु जिस अनुमानप्रयोग में प्रयुक्त 'हेतु' व्यभिचरित रहता है अर्थात् 'साध्य' के अभाववाले अधिकरण में रहता है (वृत्ति है)—यह ज्ञात हो जाता है, उस 'हेतु' में सहचार का दर्शन होनेपर भी वहाँ के साध्य की व्याप्ति का ज्ञान, उस 'हेतु' में नहीं हो पाता। जैसे—जहाँ जहाँ पार्थिवत्व होता है, वहाँ वहाँ लोहलेख्यत्व होता है—इत्याकारक सहचार दर्शन होनेपर भी 'हीरक' आदि में 'लोहलेख्यत्व' का अभाव रहनेपर भी वहाँ 'पार्थिवत्व' दृष्टिगोचर होता ही है। अतः 'सहचार दर्शन' के होनेपर भी 'पार्थिवत्व' में 'लोहलेख्यत्व' की व्याप्ति का ज्ञान नहीं होता है। उस कारण 'व्यभिचारज्ञान' को 'व्याप्तिज्ञान' का प्रतिबन्धक कहते हैं। एवं च प्रतिबन्धकाभावसहित जो 'सहचारज्ञान', वही, 'व्याप्ति' का ज्ञान कराने में कारण होता है। काष्ठादि पार्थिव पदार्थों में लोह के शस्त्र से अक्षरादिकों के लेखन को 'लोहलेख्यत्व' कहते हैं। इस प्रकार से अनुमान करने की पद्धति यह है कि महानसादि स्थानों में 'धूम-वह्नि' के सहचार दर्शन के कारण 'धूम, वह्नि की व्याप्ति से युक्त है' अर्थात् 'धूमो वह्निना व्याप्यः'—इत्याकारक व्याप्तिज्ञान होता है। तदनन्तर किसी समय पर्वत के समीप गए हुए मनुष्य को उस पर्वत पर 'यह पर्वत धूमवाला' अर्थात् 'धूमवानयं पर्वतः'—इत्याकारक 'धूमरूप लिङ्ग' का ज्ञान होता है। तदनन्तर पूर्वानुभूत व्याप्ति के संस्कार उद्बुद्ध होते हैं। तदनन्तर उस मनुष्य को यह पर्वत वह्नि से युक्त है अर्थात् 'वह्निमान् अयं पर्वतः'—इत्याकारक 'अनुमितिज्ञान' होता है। इस प्रकार से 'अनुमिति प्रमा' (ज्ञान) का, 'व्याप्तिज्ञान' करण होने से 'व्याप्तिज्ञान' को ही 'अनुमान प्रमाण' कहते हैं, और व्याप्ति के उद्बुद्ध हुए जो 'संस्कार' हैं, वे उस 'करण' के 'अवान्तर व्यापार हैं, और 'अनुमितिप्रमा' उसका फल है, तथा 'लिङ्गज्ञान' (हेतुज्ञान), व्याप्ति के संस्कारों का उद्बोधक होने से 'सहकारी कारण' है।

यह 'अनुमितिप्रमा'—(१) स्वार्थानुमिति और (२) परार्थानुमिति के भेद से दो प्रकार की होती है। जिस मनुष्य को दूसरे के द्वारा बिना कहे हीं 'व्याप्ति', 'लिङ्गज्ञान' आदि से स्वयं ही जो 'अनुमिति' होती है, उसे 'स्वार्थानुमिति' कहते हैं।

दूसरी परार्थानुमिति है। किसी दूसरे आदमी को परोक्ष वह्नि का बोध कराने वाली प्रक्रिया को परार्थानुमिति कहते हैं। वह परार्थानुमिति 'न्याय' के द्वारा करायी जाती है। अवयवों के समुदाय को 'न्याय' कहते हैं। ऐसे न्याय में तीन ही अवयव पर्याप्त हैं यह सिद्धान्त है।

दूसरे आदमी को परोक्ष वह्नि का बोध (निश्चय) कराने के लिये प्रयुक्त किये जानेवाले अनुमान वाक्य में स्थित जो 'प्रतिज्ञादिक' वाक्य होते हैं, उनको 'अवयव' कहते हैं।

नैयायिक तो (१) प्रतिज्ञा, (२) हेतु, (३) उदाहरण, (४) उपनय, (५) निगमन—इन पांच अवयवों के समुदाय को 'न्याय' शब्द से कहते हैं जैसे—प्रसिद्ध अनुमान वाक्य में 'पर्वतो वह्निमान्'—यह (१) 'प्रतिज्ञा' है। 'धूमात् (धूमवत्वात्) यह (२) 'हेतु' (लिङ्ग-साधन) है। 'यो-यो धूमवान् स स वह्निमान् यथा महानसम्'—यह (३) उदाहरण है। 'तथा चायम्'—यह 'पर्वत', उस 'महानस' के ही समान है, यह (४) 'उपनय' है। 'तस्मात् तथा' अर्थात् यह पर्वत भी धूम से युक्त होने के कारण महानस के समान ही निश्चितरूप से वह्निमान् (वह्नि से युक्त) है—यह (५) 'निगमन' है। इन प्रतिज्ञादि पाँच अवयवों के समुदायरूप 'न्याय' से दूसरे मनुष्य को भी 'व्याप्ति, लिङ्ग' आदि पदार्थों का ज्ञान होकर पर्वत में वह्नि की अनुमिति हो जाती है। इसी को 'परार्थानुमिति' कहते हैं।

किन्तु वेदान्त के सिद्धान्तानुसार तीन अवयवों के समुदाय को ही 'न्याय' शब्द से कहा गया है ॥७॥

वे तीन अवयव कौन से हैं? वेदान्तसिद्धान्त के अनुसार—(१) प्रतिज्ञा, (२) हेतु, (३) उदाहरण—ये तीन अवयव हैं, अथवा (१) उदाहरण, (२) उपनय, (३) निगमन—ये तीन अवयव हैं। इन तीन अवयवों के समुदाय को ही वेदान्तियों ने 'न्याय' शब्द से कहा है। इन तीन अवयवों के समुदाय से ही अनुमितिज्ञानोपयोगी व्याप्ति आदि पदार्थों

लक्षणत्वात् परमात्मवदित्यत्र जीवः परस्मान्न भिद्यत इति प्रतिज्ञा। सच्चिदानन्दलक्षणत्वं हेतुः। इदमेव लिङ्गमित्युच्यते। यः सच्चिदानन्दलक्षणः स परस्मान्न भिद्यते यथा परमात्मेत्युदाहरणम्। अहमस्मीति भामीति कदाप्यप्रियो न भवामीत्यनुभवाज्जीवस्य सच्चिदानन्दलक्षणत्वमतो न हेत्वसिद्धिः ॥८॥

•

पादकं वाक्यं प्रतिज्ञा। पक्षधर्मतावाचकपञ्चम्यन्तश्शब्दो हेतुः। सव्याप्तिकदृष्टान्तप्रतिपादकवाक्यमुदाहरणम्। पक्षे हेतूपसंहार उपनयः। पक्षे साध्योपसंहारो निगमनम्। तद्यथा 'पर्वतोऽयं वह्निमानि'ति प्रतिज्ञा। धूमवत्त्वादिति हेतुः। 'यो यो धूमवान् स सोऽग्निमान् यथा महानस' इत्युदाहरणम्। तथा चायमित्युपनयः। तस्मात्तथेति निगमनम्। एवं लौकिकोदाहरणे प्रतिज्ञादिविभागमभिप्रेत्य जीवस्य वैदिकब्रह्मात्मैक्यसाधकानुमानवाक्ये प्रतिज्ञादिभेदं व्युत्पादयन्ननुमानप्रयोगमाह—तथाहीति। अनुमानवाक्यं सप्तम्यर्थः। प्रतिज्ञादिविभागं दर्शयति—जीव इत्यादिना। लीनमर्थं गमयतीति व्युत्पत्त्या साध्यसाधको हेतुर्लिङ्गशब्दवाच्य इत्याह—इदमिति।

ननु जीवः परस्मान्नभिद्यत इत्यत्र किमन्तःकरणविशिष्टो जीवः पक्ष उत तत्साक्षी आहोस्विन्निरुपाधिकः प्रत्यगात्मा वा? नाद्यः, विशिष्टस्य कर्तृत्वादिधर्मिणस्तद्विपरीतब्रह्मैक्यायोगात्। नहि श्रुतिरपि बाधितमर्थम्बोधयति। न द्वितीयः, साक्षिणः सोपाधिकतया तद्विपरीतब्रह्मैक्यायोगात्। न तृतीयः, शुद्धस्य जीवशब्दवाच्यत्वायोगात्। लक्ष्यस्याद्वितीयतया तत्साधने

•

का ज्ञान, दूसरे आदमी को कराया जा सकता है। अतः पाँच अवयवों का स्वीकार करना व्यर्थ (निष्फल) है। 'पर्वतो वह्निमान्' इस लौकिक अनुमान में प्रतिज्ञादि अवयवों को पहले बता चुके हैं।

इस प्रकार पांचों अवयवों का स्वरूप अवगत कराकर 'जीव-ब्रह्म' के अभेदसाधक वैदिक अनुमानवाक्य में भी प्रतिज्ञादि अवयवों को बताने के लिये अनुमान प्रयोग बता रहे हैं—

प्रतिज्ञा—जीव, परमात्मा से भिन्न नहीं है।

हेतु—सत् चित् आनन्द रूप होने से। इसी को 'लिङ्ग' शब्द से भी कहते हैं।

उदाहरण—जो सच्चिदानन्दरूप रहता है व परमात्मा से भिन्न नहीं होता है, जैसे परमात्मा।

उपनय—जीव, परमात्मा के समान सच्चिदानन्दरूप है।

निगमन—सच्चिदानन्दरूप होने से यह जीव, उस परमात्मा से अभिन्न ही है।

मैं हूँ, भासता हूँ, कभी भी अप्रिय नहीं होता—इस अनुभव से जीव में सत्-चिद्-आनन्दरूपता निश्चित होने से यह नहीं कह सकते कि पक्ष में 'हेतु' विद्यमान नहीं है।

इस प्रकार के प्रतिज्ञादि तीन अवयवों के अथवा उदाहरणादि तीन अवयवों के समुदाय (न्याय) से दूसरे व्यक्ति को व्याप्ति, लिङ्ग आदि पदार्थों का ज्ञान होकर जीव-ब्रह्म के अभेद की अनुमिति हो जाती है।

शंका—'जीव', 'परब्रह्म' से भिन्न नहीं है—यह किस जीव के लिये कहा जा रहा है? क्या 'अन्तःकरणविशिष्ट-जीव' के लिये कह रहे हैं? या 'उसके साक्षी' के लिये कह रहे हैं? या 'निरुपाधिक प्रत्यगात्मा' के लिये कह रहे हैं? इनमें से किसको 'पक्ष' कोटि में आपने रखा है?

प्रथम पक्ष (कल्प) को तो ले नहीं सकते, क्योंकि कर्तृत्वादिधर्म से विशिष्ट धर्मी का उससे विपरीत ब्रह्म के साथ 'ऐक्य' होना कभी संभव नहीं है। क्योंकि बाधित अर्थ को श्रुति नहीं बताती है।

द्वितीय पक्ष को भी नहीं ले सकते, क्योंकि साक्षी के सोपाधिक रहने से उसके विपरीत 'ब्रह्म' के साथ कभी भी उसकी 'एकता' हो नहीं सकती।

तृतीय पक्ष को भी नहीं ले सकते, क्योंकि 'शुद्ध' को कभी भी 'जीव' शब्द से नहीं कहा जाता।

'लक्ष्य' की अद्वितीयता सिद्ध रहने से उसका पुनः साधन करने पर 'सिद्धसाधन' दोष होगा।

सिद्धसाधनापत्तेः। तथा जीवस्य परस्माद्भेदः प्रसिद्धो न वा ? नाद्यस्तदैक्यसाधने बाधापत्तेः। न द्वितीयः, अप्रसिद्धस्य शशश्रृङ्गस्येव निषेधायोगात्। तथा जीवस्य ज्ञानाश्रयत्वेन सच्चिदानन्दलक्षणहेत्वसिद्धिः, तत्स्वरूपत्वे मानाभावात्। तदाश्रयत्वस्य जानामीत्यनुभव-सिद्धत्वादेवम्ब्रह्मणोऽपि द्रष्टव्यम्। तस्मादेवमनुमानमसङ्गतमिति।

अत्र ब्रूमो—जीवशब्दवाच्यस्य ब्रह्मैक्यबाधेऽपि तल्लक्ष्यस्य तदैक्यसाधनेन स एव पक्षः। नच सिद्धसाधनता, वाच्ययोर्भेददर्शनेन लक्ष्ययोरपि तद्भ्रान्तिसम्भवेन श्रुत्यनुगृहीतानुमानेन तद्वारणात्।

किञ्च, परमते जीवपरयोर्भेदाभ्युपगमेन श्रुत्यनुगृहीतानुमानेन जीवपरयोरैक्यसाधनेन भेदस्य मिथ्यात्वोपपत्तेः; न सिद्धसाधनताबाधोवेत्यभिप्रेत्य श्रुतिस्मृतियुक्तिविद्वदनुभवैर्जीवस्य सच्चिदानन्दत्वावगमान्नासिद्धो हेतुरित्याह—अहमिति। "अत्रायम्पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवतीति" "आत्मैवास्य ज्योतिर्भवति" "योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः"।

"त्रिषु धामसु यद्भोग्यं भोक्ता भोगश्च यद्भवेत्। तेभ्यो विलक्षणः साक्षी चिन्मात्रोऽहं सदा शिवः"॥

इत्यादिश्रुतयः॥

"यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः। क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत"॥

इत्यादिस्मृतयः॥



तथा एक दूसरा प्रश्न और भी उपस्थित होता है कि 'जीव' का 'परब्रह्म' से 'अभेद'—जो आप सिद्ध करने जा रहे हैं तो उसके पूर्व आप यह बताइये कि क्या 'दोनों' का 'भेद' प्रसिद्ध है ? या अप्रसिद्ध है ?

प्रथम विकल्प तो ठीक नहीं रहेगा, क्योंकि दोनों का 'भेद' प्रसिद्ध रहने पर भी उनकी 'एकता' का साधन करना बाधित हो जाएगा।

दूसरा विकल्प भी ठीक नहीं होगा, क्योंकि शशशृंग के समान 'अप्रसिद्ध' का कभी निषेध नहीं किया जाता।

किञ्च—'जीव' तो 'ज्ञान' का आश्रय है, उस कारण 'सच्चिदानन्द' रूप 'हेतु' ही असिद्ध है, अर्थात् उसका स्वरूप ही किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं हैं। जीव की ज्ञानाश्रयता में 'जानामि'—यह अनुभव ही प्रमाण है। अर्थात् उसकी ज्ञानाश्रयता तो अनुभवसिद्ध है। इसीप्रकार 'ब्रह्म' के विषय में भी जानना चाहिये। अतः उक्त अभेदानुमान करना संगत नहीं है।

इस पर हमार उत्तर यह है कि 'जीव' शब्द से वाच्य अर्थ के साथ 'ब्रह्म' की एकता (तादात्म्य) मानने में 'बाध' प्रतीति के रहने पर भी 'जीव' शब्द के 'लक्ष्यार्थ' के साथ 'ब्रह्म' की एकता (तादात्म्य) सिद्ध करने से उसी को (जीव को) ही 'पक्ष' कोटि में रखा गया है। सिद्धसाधनता वीर वाच्यार्थ दोनों में भेद प्रतीति होने से उनके लक्ष्यार्थों में भी भेद प्रतीति की भ्रान्ति का संभव नहीं कह सकते, क्योंकि श्रुत्यनुगृहीत अनुमान से उसका वारण हो जाता है।

किञ्च—पूर्व पक्षी के मतानुसार जीव और ब्रह्म का भेद रहने से श्रुत्यनुगृहीत अनुमान से 'जीव' और 'ब्रह्म' का ऐक्य सिद्ध हो जाने के कारण 'भेद' प्रतीति का मिथ्यात्व उपपन्न हो जाता है। उसमें 'सिद्धसाधनता' अथवा 'बाध' नहीं है। इसी अभिप्राय से श्रुति-स्मृति-युक्ति और विद्वदनुभव के द्वारा 'जीवात्मा' की 'सच्चिदानन्दता' का ज्ञान हो जाने से 'हेतु' असिद्ध नहीं है—इसी को बता रहे हैं।

प्रश्न—जीव से ब्रह्म का अभेद तब सिद्ध हो सकेगा, जब जीव में सच्चिदानन्दरूपता को किसी प्रमाण से सिद्ध किया जाय। विना प्रमाण के जीव में सच्चिदानन्दरूपता को कैसे माना जाय ? अतः 'सच्चिदानन्दरूपता' को हेतु बनाकर उससे जीव में ब्रह्म का अभेद सिद्ध नहीं हो रहा है। एवंच—'सच्चिदानन्दरूपत्व' हेतु, उस जीवरूप 'पक्ष' में अवृत्ति होने से 'स्वरूपासिद्ध' नाम का हेत्वाभास दृष्टिगोचर हो रहा है। 'पक्षे हेतोरवृत्तित्वम्'—यही स्वरूपासिद्धि दोष का स्वरूप है।

समा०—यह शंका उचित नहीं है, क्योंकि 'जीवात्मा' में सत्, चित्, आनन्दरूपता को श्रुति, स्मृति, युक्ति और अनुभव इन चारों प्रमाणों से सिद्ध कर सकते हैं। अतः 'जीव' में सच्चिदानन्दरूपता प्रामाणिक है, अप्रामाणिक नहीं। तथाहि—अर्थात् हे मैत्रेयि ! यह 'आत्मा' अविनाशी (विनाशरहित) है, और यह 'जीवात्मा'—सत्तामात्र है, तथा 'नित्य' है, और 'शुद्ध' है, और ज्ञानस्वरूप (बुद्ध) है—इत्यादि श्रुतिवचनों से 'जीवात्मा' की सत्य (सत्) रूपता सिद्ध हो रही है।

यद्यात्मा चिद्रूपो न स्यात्तर्हि जगदान्ध्यप्रसङ्ग इति (तार्किका) तर्कात्मिका युक्तयः। विद्वदनुभवः इत्येतैरात्मनः सच्चिदानन्दरूपत्वमङ्गीकर्त्तव्यमित्यस्मिन्नर्थे स्वानुभवमभिनीय दर्शयति—अहमिति। अस्मीत्यात्मनः सत्यत्वानुभवः; भामीति चिद्रूपत्वानुभवः, अप्रियो न भवामीत्यप्रियत्वनिषेधानुभवेनात्मन आनन्दत्वं सिद्धम् ॥

नन्वस्त्वात्मनः सच्चिदानन्दलक्षणत्वम्, ततः किमित्यत आह—अत इति। अतः कारणादात्मनः सच्चिदानन्दलक्षणत्वं स्वानुभवसिद्धमतः कारणादित्यर्थः। हेत्विति। हेतोस्त्रिविधा असिद्धयो न भवन्तीत्यर्थः। तथाहि—हेत्वाभासाः पञ्च—

●

उसी तरह अर्थात् यह 'जीवात्मा'—नित्य है, सर्वत्र व्यापक (सर्वगत) है, तथा कूटस्थ (स्थाणु) है और अचल है, तथा सनातन है—इत्यादि गीतास्मृति के वचनों से भी 'जीवात्मा' की 'सत्यरूपता' सिद्ध हो रही है।

यदि जीवात्मा को 'सत्य' नहीं मानेंगे तो 'कृतनाश' और 'अकृताभ्यागम'—इन दोषों को स्वीकार करना पड़ेगा। पुण्य-पाप कर्मों का फलभोग के बिना ही विनाश मानना होगा, इसी को 'कृतनाश' शब्द से कहा जाता है। उसीतरह पूर्व न किये हुए कर्मों का फलभोग मानना होगा—इसी को 'अकृताभ्यागम' शब्द से कहा जाता है—इत्यादि युक्तियों से भी 'जीवात्मा' की 'सत्यरूपता' ही सिद्ध हो रही है।

तथा हमेशा मैं हूँ—इत्याकारक 'अनुभव' सभी को हुआ करता है। अतः इस अनुभव से भी 'जीवात्मा' को सत्यरूपता ही सिद्ध हो रही है। एवंच उक्त चारों प्रमाणों से 'जीवात्मा'—सत्यरूप ही है, यह निश्चय कियाजारहा है।

इसीप्रकार 'जीवात्मा' की चैतन्यरूपता को भी बताया जासकता है—वेद ने बताया है कि इस स्वप्नावस्था में यह 'जीवात्मा' ही 'स्वयंज्योति है। अभिप्राय यह है कि स्वप्नावस्था में 'सूर्य-चन्द्र' आदि बाह्यज्योतियों का अभाव रहने पर भी इस आत्मरूप ज्योति से ही समस्त व्यवहार होते रहते हैं। इस संघात का 'आत्मा' ही ज्योति है। और यह जीवात्मा 'विज्ञानरूप' है। जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति'—इन तीन अवस्थाओं में यथाक्रम जो 'विश्व', 'तैजस', 'प्राज्ञ'—ये तीन भोक्ता हैं, तथा उनके जो स्थूल-सूक्ष्मादि भोग्य पदार्थ हैं, तथा 'अन्तःकरण' की अथवा 'अज्ञान' की जो 'वृत्ति है, वही 'भोग' है। इन सभी से विलक्षण जो चैतन्यमात्र 'साक्षी' है, वह 'मैं' हूँ--इत्यादि श्रुतिवचनों से 'जीवात्मा' की चैतन्यरूपता सिद्ध होती है।

उसीतरह 'हे अर्जुन !' जैसे एक ही सूर्य भगवान् सम्पूर्ण लोकों को प्रकाशित करता है, वैसे ही यह आत्मा, सम्पूर्ण संघात को प्रकाशित करता है—इत्यादिक स्मृतिवचनों से भी 'जीवात्मा' को चैतन्यरूपता सिद्ध होती है।

यदि कदाचित् यह जीवात्मा 'चैतन्यरूप' न हो तो प्रकाशक के न रहने (अभाव) से इस जगत् में 'अन्धत्व' (जगदान्ध्य) ही प्राप्त होगा—इत्यादि युक्तियों से भी जीवात्मा की चैतन्यरूपता सिद्ध होती है।

तथा 'अहम् अनुभवामि'—इत्याकारक अनुभव से भी 'जीवात्मा' की चैतन्यरूपता सिद्ध होती है। एवं च श्रुति-स्मृति-युक्ति और अनुभव—इन चारों प्रमाणों से 'जीवात्मा'—चैतन्यरूप है, यह निर्विवाद स्वीकार करना ही होगा।

इसीप्रकार जीवात्मा की 'आनन्दरूपता' भी प्रमाणों के द्वारा स्पष्ट होती है—क्योंकि श्रुति ने कहा है—देशपरिच्छेद, कालपरिच्छेद, वस्तुपरिच्छेद—इन तीनों से रहित जो जीवात्मा है, वह 'सुखरूप' है। तथा यदि जीवात्मा को 'आनन्दरूप' (सुखरूप) न माना जाय तो 'अपान' के व्यापार तथा 'प्राण' के व्यापार, और देह-इन्द्रियों के व्यापार को कौन करेगा ? अर्थात् कोई भी नहीं करेगा। उस व्यापार के बिना लोगों का जीवन आनन्दपूर्वक नहीं हो पाएगा। उस व्यापार के होते रहने से ही लोगों का जीवन, आनन्दपूर्वक चलता रहता है। अत्यधिक दुःख के प्राप्त होनेपर 'प्राणों' का वियोग ही प्राप्त होता है—इत्यादि श्रुति वचनों से 'जीवात्मा' की आनन्दरूपता सिद्ध होती है। 'अन्तःसुख' (५।२४) कहकर गीता भी यही सिद्ध करती है।

यदि कदाचित् 'आत्मा' को आनन्दरूप न माना जाय तो किसी को भी अपने 'आत्मा' पर महान् प्रेम नहीं हो पाएगा। किन्तु अपने-अपने आत्मा पर सभी को अत्यधिक प्रेम हुआ करता है।

तथा सुषुप्ति से (सोकर) उठा हुआ आदमी 'मैं सुख से सोया'—इत्याकारक याद (स्मरण) करता है। किन्तु बिना अनुभव किये उक्त प्रकार का स्मरण हो पाना कभी संभव नहीं है। यह स्मरण ही सुषुप्ति में 'अनुभव' की कल्पना कराता है। सुषुप्ति में कोई विषयजन्य आनन्द तो है नहीं, अपितु अपने स्वरूप का ही उस समय आनन्द रहता है—इत्यादि युक्तियों से भी जीवात्मा की 'आनन्दरूपता' सिद्ध होती है।

अनैकान्तिक-विरुद्धासिद्धप्रकरणसमकालात्ययापदिष्टभेदात् । सव्यभिचारोऽनैकान्तिकः । स च द्विविधः—साधारणोऽसाधारणश्चेति । साध्यवदन्यवृत्तिः साधारणः । सपक्षावृत्तिरसाधारणः । साध्यव्यापकीभूताभावप्रतियोगी विरुद्धः । अनिश्चितपक्षवृत्तिरसिद्धः । स च त्रिविधः—आश्रयासिद्धः, स्वरूपासिद्धः, व्याप्यत्वासिद्धश्चेति । पक्षतावच्छेदकाभाव आश्रयासिद्धः । पक्षे हेतुस्वरूपाभावः स्वरूपासिद्धः । साध्याप्रसिद्धिः, हेत्वसिद्धिर्वा व्याप्यत्वासिद्धः । साध्यविपरीतसाधकं हेत्वन्तरं प्रकरणसमः, अयमेव सत्प्रतिपक्ष इत्युच्यते । पक्षे साध्यशून्यत्वं बाधः, अयमेव कालात्ययापदिष्ट इति चोच्यते । ततश्चात्मनः सच्चिदानन्दलक्षणत्वस्य श्रुत्यादिभिर्निश्चितत्वादसिद्ध्यादिदोषाणामसम्भवात्तेन ब्रह्मैक्यसाधनं युक्तमिति भावः ।

ननु "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते", "ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके", "गुहां प्रविष्टौ परमे परार्द्धे", "द्वाविमौ पुरुषौ लोकेक्षरश्चाक्षर एव च", जीवपरमात्मानौ भिन्नौ विरुद्धधर्म्माक्रान्तत्वाद्दहनतुहिनवत्, नाहमीश्वर इत्यादि श्रुतिस्मृत्यनुमानप्रत्यक्षैर्जीवब्रह्मैक्यस्य बाधितत्वात् कथं सच्चिदानन्दलक्षणत्वेन ब्रह्मैक्यसिद्धिः ? न चाद्वितीयश्रुति-

•

तथा 'मैं कभी भी अप्रिय न हो पाऊँ'—यह अनुभव सभी को हुआ करता है, इस से भी 'जीवात्मा' की आनन्दरूपता सिद्ध होती है। अतः यह 'जीवात्मा' आनन्दरूप ही है। एवंच श्रुति-स्मृति-युक्ति और अनुभव—इन चारों प्रमाणों से 'जीवात्मा' की सच्चिदानन्दरूपता ही सिद्ध होती है। उस कारण 'सच्चिदानन्दरूपत्व' जो 'हेतु' है, वह 'जीवात्मारूप पक्ष' में विद्यमान (वृत्ति) रहने से 'स्वरूपासिद्ध' नामक हेत्वाभास उक्त अनुमान में नहीं है।

एवं च 'अस्मि' से 'आत्मा' के 'सत्यत्व' का अनुभव होता है। 'भामि' से 'चिद्रूपत्व' का अनुभव, 'अप्रियो न भवामि' से 'अप्रियत्व' के निषेध का अनुभव होने से 'आत्मा' का आनन्दत्व सिद्ध होता है।

'आत्मा' की सच्चिदानन्दलक्षणता सिद्ध करने से 'प्रयोजन' कौन सा उपलब्ध हो रहा है ? इस प्रश्न का उत्तर दे रहे हैं—अत इति। जिन कारणों से 'आत्मा' का 'सच्चिदानन्दलक्षणत्व' स्वानुभव से सिद्ध हो रहा है, उस कारण 'हेतु' में तीनों प्रकार की 'असिद्धियाँ' भी नहीं हैं। तथाहि—'हेत्वाभास'—पाँच प्रकार के होते हैं—(१) अनैकान्तिक, (२) विरुद्ध, (३) असिद्ध, (४) प्रकरणसम, (५) कालात्ययापदिष्ट (बाधित)।

सव्यभिचार को ही 'अनैकान्तिक' कहते हैं। वह 'साधारण' और 'असाधरण' के भेद से दो प्रकार का होता है। 'साध्यवदन्यवृत्ति' वाले को 'साधारण' कहते हैं। 'सपक्षावृत्ति' वाले को 'असाधारण' कहते हैं।

दूसरा हेत्वाभास 'विरुद्ध' नाम से कहा जाता है। 'साध्य' के व्यापक (अर्थात् साध्य रहने पर अवश्य रहने वाले) अभाव के प्रतियोगी को 'विरुद्ध' कहते हैं।

तीसरा हेत्वाभास 'असिद्ध' नाम से कहा जाता है। 'अनिश्चित पक्षवृत्ति' वाले को 'असिद्ध' कहते हैं। यह (१) 'आश्रयासिद्ध, (२) स्वरूपासिद्ध और (३) व्याप्यत्वासिद्ध के भेद से तीन प्रकार का है। 'पक्षतावच्छेदकाभाव' वाले को 'आश्रयासिद्ध' कहते हैं। 'पक्षे हेतुस्वरूपाभाव' वाले को 'स्वरूपासिद्ध' कहते हैं। 'साध्याप्रसिद्धि' को 'हेत्वसिद्धि' अथवा 'व्याप्यत्वासिद्धि' दोष कहते हैं। उस दोष से युक्त हेतु को 'व्याप्यत्वासिद्ध' कहते हैं। 'साध्यविपरीतसाधकहेत्वन्तर' को 'प्रकरणसम' कहते हैं, इसी को 'सत्प्रतिपक्ष' शब्द से भी कहा जाता है। पक्ष में साध्य के अभाव को 'बाध' कहते हैं, इसी को 'कालात्ययापदिष्ट' शब्द से भी कहते हैं। एवंच 'आत्मा' की 'सच्चिदानन्दलक्षणता' श्रुत्यादि प्रमाणों से निश्चित हो जाने से 'असिद्धि' आदि दोषों को संभावना न रहने के कारण 'ब्रह्मात्मैक्य' का साधन करना उचित ही है।

प्रश्न—श्रुति, स्मृति, अनुमान और प्रत्यक्ष से 'जीव-ब्रह्मैक्य' बाधित रहने से 'सच्चिदानन्दलक्षत्व' के आधार पर 'ब्रह्मात्मैक्य' की सिद्धि कैसे हो सकती है ?

यदि ब्रह्मात्मैक्यवादी यह कहे कि अद्वितीयत्व प्रतिपादक श्रुति, स्मृति और अनुमान का विरोध रहने से भेद-प्रतिपादक वचनों का अप्रामाण्य ही क्यों न मान लिया जाय ?

किन्तु यह कहना उचित नहीं होगा, क्योंकि सर्वतंत्रों (समस्त शास्त्रों) का ही विरोध करने का प्रसंग प्राप्त होगा, उस कारण भेदप्रतिपादक वचनों को अप्रमाण नहीं कह सकते। अतः अद्वैतप्रतिपादक श्रुत्यादि वचनों को 'उपासनापरक' लगाना ही उचित होगा। तब अनुमान के द्वारा निर्दिष्ट ब्रह्मात्मैक्य का साधन बाधित है, यह समझना चाहिये।

स्मृत्यनुमानविरोधादन्येषामप्रामाण्यं किं न स्यादिति वाच्यम्। सर्वतन्त्रविरोधापत्त्या तदयोगाद्द्वैतश्रुत्यादीनामुपासनपरत्वोपपत्तेः। तस्मादनुमानेन ब्रह्मैक्यसाधनं बाधितमिति चेत्।

नैवं, द्वैतश्रुतिस्मृत्योरतत्परत्वात्। तथाहि—फलवत्यज्ञातेऽर्थे श्रुतेस्तात्पर्य्यं वक्तव्यम्। जीवपरभेदस्य मानान्तर-सिद्धत्वेन तज्ज्ञानस्यापुरुषार्थत्वेन च श्रुतेस्तत्रतात्पर्य्यायोगात्॥ किञ्च, "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यती"ति भेददर्शिनोऽनर्थश्रवणाच्च श्रुतेस्तत्र तात्पर्य्यन्नसम्भवति। अपिच "अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुः एवं स देवानामि"ति भेददर्शिनोऽनर्थश्रवणान्न तत्र श्रुतितात्पर्य्यम्।

किञ्च, उपक्रमादिषड्विधलिङ्गैरद्वितीये ब्रह्मणि तात्पर्य्यस्य निश्चितत्वात्तद्विरोधान्न भेदश्रुतेः स्वार्थे तात्पर्य्यम्। किञ्चास्मिन्नपि प्रकरणे "कस्मिन् (न्नु) भगवतो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतो"त्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानोपक्रमेणाद्वितीयम्ब्रह्म प्रतिज्ञाय "परेऽव्यये सर्वं एकी भवन्ति" "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवती"त्यद्वितीयब्रह्मण एवोपसंहारात्तन्मध्यपातिद्वासुपर्णादिवाक्यमपि प्रत्यक्षसिद्धभेदानुवादेनानन्दैकरसमद्वितीयं ब्रह्म तात्पर्य्येण प्रतिपादयतीति श्लिष्टतरमन्यथोपक्रमादिबाधप्रसङ्गः।

एवं स्मृतेरपिद्रष्टव्यम्। अनुमानस्य विम्बप्रतिविम्बयोर्व्यभिचारात्[1]। प्रत्यक्षस्य "नेह नानास्ति किञ्चन" इत्यादि-शास्त्रबाधितत्वेन[2] भ्रमत्वान्न ब्रह्मैक्यबाधकत्वम्। तस्माद्बाधकाभावादनुमानेन ब्रह्मैक्यसाधनमुपपन्नम्। एतेन सर्वतन्त्र-विरोधोऽपि निरस्तः॥८॥

●

उत्तर—किन्तु यह समझना उचित न होगा, क्योंकि द्वैतप्रतिपादक श्रुति-स्मृति वचनों का तात्पर्य ब्रह्मात्मैक्य का बाध करने में नहीं है।

तथाहि—श्रुति का तात्पर्य, 'प्रयोजनविशिष्ट अज्ञात अर्थ' में ही कहना चाहिये। तब जीव-ब्रह्म का भेद तो मानान्तर (प्रमाणान्तर) सिद्ध रहने से और 'भेदप्रतीति' पुरुषार्थरूप न होने से श्रुतिवचनों का तात्पर्य 'भेद' में नहीं है।

किञ्च—श्रुति में भेददर्शी के लिए अनर्थ प्राप्ति का होना श्रुत हो रहा है। अनर्थप्राप्ति में श्रुति का तात्पर्य हो—यह तो संभव नहीं है।

अपिच—श्रुतिवचनों से भेददर्शी के विषय में अनर्थश्रवण होने के कारण उसमें श्रुति का तात्पर्य कदापि नहीं है।

किञ्च—'उपक्रमादि' षड्विधलिङ्गों से 'अद्वितीय ब्रह्म' में तात्पर्य का निश्चय होजाने से उसके विरुद्ध अर्थ में अर्थात् स्वार्थ में भेदश्रुति का तात्पर्य नहीं है।

किञ्च—भेदसाधक माने जाने वाले 'द्वा सुपर्णा' आदि मन्त्र के प्रकरण में भी समस्त विज्ञानों के उपक्रमस्वरूप एक विज्ञान से 'अद्वितीय ब्रह्म' की प्रतिज्ञा करके 'अद्वितीय ब्रह्म' को बताते हुए उपसंहार कियागया है। अतः तन्मध्यपाति "द्वासुपर्णा"आदि वाक्य भी प्रत्यक्षसिद्धभेद का अनुवाद करके "आनन्दैकरस अद्वितीय ब्रह्म' का ही प्रतिपादन तात्पर्य से कर रहा है। अन्यथा उपक्रमआदि का बाध होने लगेगा।

इसीप्रकार स्मृतिवचनों के विषय में भी समझलेना चाहिये। अनुमान का बिम्ब-प्रतिबिम्ब में व्यभिचार रहने से तथा 'प्रत्यक्ष' का शास्त्रवचन से बाध होजाने से 'भेद प्रत्यक्ष' की प्रतीति, 'भ्रम' रूप ही है। अतः वह (भेदप्रतीतिरूपभ्रम) 'ब्रह्मैक्य' का बाध नहीं करसकता। एवंच किसी प्रकार का कोई बाधक न होने से अनुमान के द्वारा 'ब्रह्मैक्य' का साधन करना संभव है। इस कथन से सर्वतंत्र विरोध का भी निरसन होजाता है।

---

१. किं च भिन्नाविति साध्यस्यैव तावदसिद्धिः। एब हेतुरसिद्धः। शास्त्रसिद्धस्य परमात्मनः सच्चिदानन्दत्वस्य ततोऽवगमाज्जीवस्य च तल्लक्षणवत्वस्यानुभवात्। न च परस्य लक्षणान्तरमपीति वाच्यम्, विशिष्टस्य तथात्वेन सिद्धसाधनच्छुद्धस्य लक्षणान्तराऽभावादिति दिक्।

२. शास्त्रेति विचारोपलक्षणम्। मूढप्रत्यक्षस्य त्वदुक्तानुकूल्येऽपि विवेकिप्रत्यक्षस्यातथात्वात्।

"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्" इत्यादिश्रुत्या ब्रह्मणः सच्चिदानन्दलक्षणत्वम् अतो न दृष्टान्तासिद्धिः।

एवं गुरु-मुखाच्छ्रुतवेदान्तस्य शोधित-त्वंपदार्थस्य स्वस्मिन् सच्चिदानन्दलक्षणत्वदर्शनाद् 'अहं ब्रह्मे'ति ब्रह्माऽ-

●

नन्वेवमपि दृष्टान्ताभावादिदमनुमानं नावतरति, जीवातिरिक्तब्रह्मसद्भावे मानाभावात्, भावे वा तस्य ज्ञानाश्रयत्वेन सच्चिदानन्दलक्षणत्वे मानाभावात्। नच श्रुत्या तत्सिद्धिरिति वाच्यम्। तस्यार्थान्तरत्वोपपत्तेरित्याशङ्क्याह— सत्यमिति। अयम्भावः—पारमार्थिकभेदाभावेऽपि जीवपरयोरौपाधिकभेदस्य व्यावहारिकस्याभ्युपगमेन दृष्टान्तसम्भवादनुमानमवतरत्येव। नच परस्य ज्ञानाश्रयत्वं, श्रुत्या तदात्मकत्वावगमात्। नच श्रुतेरर्थान्तरत्वं वक्तुं शक्यं, गौरवात्। श्रुत्यन्तरविरोधप्रसङ्गात्। आनन्त्यानुपपत्तेश्चेति भावः। ब्रह्मणः सच्चिदानन्दलक्षणत्वे फलितमाह—अत इति।

ननु व्याप्यतावच्छेदकप्रकारकपक्षधर्म्मताज्ञानेन व्याप्त्यनुभवसंस्कारोद्बोधे सति स्वार्थानुमितिरुत्पद्यते इत्युक्तम्। सा किं सर्वेषामुत्पद्यते आहोस्वित्केषांचित् ? नाद्यः, अदर्शनात्। न द्वितीयः तदुपायाभावादित्याशंक्य, विवेकेन तदुपायलिङ्गज्ञानसम्भवान्नैवमित्याह—एवमिति। उक्तप्रकारेणान्वयव्यतिरेकाभ्यां शोधितस्त्वंपदार्थो येन स तथोक्तः तस्य स्वस्मिन् सच्चिदानन्दलक्षणत्वलिङ्गज्ञानादहम्ब्रह्मास्मीति ब्रह्माभिन्नाऽनुमितिः स्वार्थं उत्पद्यते।

●

शंका—आपका कथन यद्यपि ठीक लगरहा है, तथापि अन्य कोई दृष्टान्त न मिलपाने से अनुमानप्रयोग ही नहीं कियाजासकता, क्योंकि 'जीवात्मा' के अतिरिक्त 'ब्रह्म' के सद्भाव में कोई प्रमाण नहीं है। यदि प्रमाण हो भी तो वह 'ज्ञानाश्रय' रहने से उसके 'सच्चिदानन्द' स्वरूप होने में कोई प्रमाण नहीं है।

समाधान—उक्त अनुमान में पक्षरूप जीवात्मा की सच्चिदानन्दरूपता जैसे श्रुति आदि प्रमाणों से सिद्ध है वैसे ही दृष्टान्तरूप 'परमात्मा' की सच्चिदानन्दरूपता भी श्रुत्यादि प्रमाणों से ही सिद्ध है। भगवती श्रुति कहरही है—'ब्रह्म', सत्य ज्ञान व अनन्त है, यह 'आनन्द ब्रह्म है जाना। उसकारण 'सच्चिदानन्दरूपत्व' जो 'हेतु' है, वह 'परमात्मारूप दृष्टान्त' में भी विद्यमान है।

शंका—उक्त अनुमान में 'जीवात्मा' से अभिन्न 'ब्रह्म' का दृष्टान्त दियाजाना संभव नहीं है, क्योंकि सर्वत्र 'पक्ष' से भिन्न ही 'दृष्टान्त' हुआ करता है।

समा०—'जीव-ब्रह्म' का कल्पित भेद मानकर 'ब्रह्म' को दृष्टान्त की कोटि में रखा जासकता है। वस्तुतः 'जीव-ब्रह्म' का अभेद ही है, दोनों में भेद नहीं है। अर्थात् 'जीव-ब्रह्म' का व्यावहारिक औपाधिक भेद मानकर दृष्टान्तकोटि में उसे रखना संभव हो सकता है, अतः अनुमान भी कर सकते हैं। 'ब्रह्म' में जो 'ज्ञानाश्रयता' बताई गई है, वह भी अनुचित है, क्योंकि श्रुति, उसमें 'ज्ञानस्वरूपता' कहती है। उस श्रुति का अन्य अर्थ करना भी शक्य नहीं है, क्योंकि 'गौरव' होगा और अन्यश्रुति के साथ विरोध भी होगा। तथा उसके 'आनन्त्य' की अनुपपत्ति भी होगी। 'ब्रह्म' में सच्चिदानन्दलक्षणता को मानने पर होनेवाले फल को बताते हैं—अत इति। अतः दृष्टान्त की असिद्धि नहीं कही जा सकती।

शंका—व्याप्यतावच्छेदकप्रकारकपक्षधर्मता के ज्ञान से अर्थात् 'वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतः'—इत्याकारक ज्ञान होने पर व्याप्ति के अनुभव से जनित संस्कार (व्याप्ति के संस्कार) का उद्बोध होता है, तब 'स्वार्थानुमिति' उत्पन्न होती है—यह पहले बताचुके हैं। परन्तु जिज्ञासा यह है कि वह स्वार्थानुमिति 'सभी' को होती है अथवा कुछ ही लोगों को होती है ? उक्त दो विकल्पों में से प्रथम विकल्प का स्वीकार नहीं कर सकते। क्योंकि सभी ने देखा नहीं है। उसी तरह द्वितीय विकल्प को भी स्वीकार नहीं कर सकते, क्योंकि अनुमिति होने का कोई उपाय नहीं है।

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि विवेक से उसके उपायभूत लिङ्गज्ञान का होना संभव है—इसी को बता रहे हैं। उक्त प्रकार से जिससे गुरुमुख से वेदान्त सुन लिया है तथा 'अन्वय-व्यतिरेक' के द्वारा 'त्वम्' पदार्थ का शोधन किया है, उसी व्यक्ति को स्वयं में 'सच्चिदानन्दलक्षणत्व'—लिङ्ग (हेतु) के ज्ञान होने पर 'मैं ब्रह्म हूँ', इत्याकारक 'ब्रह्माऽभिन्न' की स्वार्थानुमिति उत्पन्न होती है।

भिन्नानुमितिरुत्पद्यते न चौपनिषदस्य ब्रह्मात्मैक्यस्यानुमानगम्यत्वानुपपत्तिः। "मन्तव्य" इति श्रुत्या मननविधानात्। वेदान्त-सहकारित्वेनानुमानप्रामाण्यस्वीकारात्।

परार्थानुमितिस्तु न्यायोपदेशेनोत्पद्यते। न्यायोदर्शितः ॥९॥

●

ननु "तत्त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामी"त्यादिश्रुत्या धर्म्मवद्ब्रह्मणो वेदैकगम्यत्वात्कथमनुमानगम्यत्वमित्याशंक्य निराकरोति—नचेति। किम्ब्रह्मण्यनुमानस्य स्वतन्त्रप्रामाण्यं निराक्रियते, आहोऽस्विद्वेदान्तसहकारित्वमिति ? नाद्यः, इष्टापत्तेः। न द्वितीय इत्याह—मन्तव्य इति। अन्यथा मननविधानवैयर्थ्यं स्यादितिभावः।

कथं परार्थानुमितिरुत्पद्यते ? इत्याशङ्क्याह—परार्थानुमितिस्त्विति। अवयवसमुदायात्मकानुमानवाक्यप्रयोगेणेत्यर्थः ॥९॥

●

शंका करनेवाले का अभिप्राय यह था कि 'मैं ब्रह्मरूप हूँ'—इत्याकारक अनुमिति, सभी पुरुषों को होती है, या कुछ ही पुरुषों को होती है ?

इसपर समाधान करनेवाले का अभिप्राय यह था कि जिस पुरुष ने ब्रह्मज्ञानी गुरु के मुख से श्रद्धा-भक्ति पूर्वक वेदान्तशास्त्र का श्रवण किया हो, तथा 'तत्-त्वम्' पदार्थ का शोधन किया हो उसी पुरुष को 'सच्चिदानन्दरूपत्व' (सच्चिदानन्द-लक्षणत्व) हेतु (लिंग) का ज्ञान हो जानेपर 'अहं ब्रह्मास्मि'—इत्याकारक 'जीव-ब्रह्म' के अभेद की अनुमिति उत्पन्न होती है। वेदान्त का 'श्रवण-मननादि जिसने नहीं किया है, उस पुरुष को 'अभेदानुमिति' नहीं होती है।

शंका—'धर्म' के समान 'ब्रह्म' में भी वेदैकगम्यता होने से अनुमान प्रमाण की विषयता कैसे मानोगे ?

समा०—उपनिषत् से ही समधिगम्य जीव-ब्रह्म-ऐक्य अनुमान से भी समझा जाए, इसमें कोई असंगति नहीं है क्योंकि मनन करना चाहिये—इस श्रुति के द्वारा ही अभिन्न आत्मा के विषय में युक्ति पूर्ण चिन्तन को कर्तव्य बताया गया है। उपनिषत् के सहायक रूप में अनुमान की प्रामाणिकता स्वीकारी जाती है। अतः अनुमान करना अनुचित नहीं है, अर्थात् उचित है।

सिद्धान्ती पूछ रहा है कि 'ब्रह्म' में अनुमान के स्वतन्त्र प्रामाण्य का निराकरण कर रहे हो ? या वेदान्त के सहकारित्व का निराकरण कर रहे हो ?

प्रथम विकल्प तो हमें इष्ट ही है। द्वितीय विकल्प को यदि कहो तो, वह ठीक नहीं होगा, क्योंकि तब 'मनन' का विधान ही व्यर्थ हो जायगा। "तं त्वौपनिषदं"—इस श्रुति ने तो 'ब्रह्म' को केवल उपनिषद्रूप शब्दप्रमाण का विषय बताया है।

यदि प्रथम पक्ष का स्वीकार करोगे तो वह हमें भी अभीष्ट है। मनुष्य को कल्पनारूप अनुमानप्रमाण का 'अतीन्द्रिय ब्रह्म' में स्वतः प्रामाण्य हमें भी स्वीकार नहीं है। अनुमानादिरूप युक्तियों से 'आत्मा' का जो विचार किया जाता है, उसी को 'मनन' कहते हैं। इस प्रकार 'मनन' में उपयुज्यमान अनुमान का प्रामाण्य, वेदान्तशास्त्र की सहकारिता के रूप में हमें अभीष्ट ही है।

यदि कदाचित् अनुमान को सर्वथैव अप्रमाण कहोगे तो श्रुति-स्मृति के द्वारा जो 'मनन' का विधान किया गया है, वह व्यर्थ ही हो जायगा। अतः वेदान्त के सहायक के रूप में अनुमान का प्रामाण्य अवश्य स्वीकार करना ही होगा। यही कारण है कि 'अहं ब्रह्मास्मि', 'अयमात्मा ब्रह्म'—इत्यादि श्रुति वचनों से सिद्ध 'जीव-ब्रह्म के अभेद' को उक्त 'अनुमानप्रमाण' से सिद्ध किया गया है। जिस अर्थ को वेदान्तशास्त्र ने बताया है, उसी अर्थ को यदि अनुमान सिद्ध करता है, तो उस अनुमान को वेदान्तशास्त्र का सहकारी कहा जाता है।

प्रश्न—परार्थानुमिति कैसे उत्पन्न होती है ?

उत्तर—परार्थानुमिति न्यायोपदेश से उत्पन्न होती है। अर्थात् अवयवसमुदायात्मक अनुमानवाक्य के प्रयोग से परार्थानुमिति होती है। (१) प्रतिज्ञा, (२) हेतु, (३) उदाहरण, (४) उपनय (५) निगमन—इन पंचावयवों से युक्त वाक्यप्रयोग को ही 'न्याय' शब्द से कहाजाता है। प्रतिज्ञा आदि पाँच अवयवों के सहित अनुमानवाक्य के द्वारा प्रतिपादित—(१) पक्षसत्त्व, (२) सपक्षसत्त्व, (३) विपक्षव्यावृत्तत्व, (४) अबाधितविषयत्व, (५) असत्प्रतिपक्षत्व—इन पाँच रूपों से युक्त हुए 'हेतु' से अन्य व्यक्ति भी 'अग्नि' को जान जाता है। इसलिये इसे 'परार्थानुमान' (दूसरे को बोध कराने वाला अनुमान) कहते हैं ॥९॥

एवं ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वसाध्यानुमितिर्दृश्यत्वादिहेतुभिरुत्पद्यते। मिथ्यात्वन्नामानिर्वचनीयत्वम्। दृश्यत्वन्नाम चैतन्यविषयत्वम्। अतो ब्रह्मणि न व्यभिचारः ॥१०॥

●

उक्तन्यायमन्यत्राप्यतिदिशति—**एवमिति**। व्यावहारिकः प्रपञ्चो मिथ्या दृश्यत्वात् शुक्तिरूप्यवदित्यनुमानप्रयोगो द्रष्टव्यः। आदिशब्देन ब्रह्मव्यतिरिक्तत्वबाध्यत्वादयो गृह्यन्ते।

ननु किमिदं मिथ्यात्वम्? न तावदत्यन्ताभावप्रतियोगित्वं सिद्धसाधनत्वप्रसङ्गात्। नापि स्वाधिकरणनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं तदिति वाच्यम्। संयोगादिकमादायार्थान्तरत्वोपपत्तेः। नापि संसृज्यमानाधिकरणनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं तदिति वाच्यम्। परैरपि घटवति भूतले सम्बन्धान्तरेण तदत्यन्ताभावाभ्युपगमेन सत्यत्वविरोधिमिथ्यात्वासिद्धेः। नाप्येकावच्छेदेन येन सम्बन्धेन प्रतियोगिसत्त्वं तेनैव सम्बन्धेन तत्त्वं विवक्षितमिति वाच्यम्। तादृशस्य लोकेऽप्रसिद्धत्वात्। नापि ज्ञाननिवर्त्त्यत्वं तदिति वाच्यम्। यतो ज्ञानमज्ञानस्यैव निवर्त्तकमिति नियमेन प्रपञ्चस्य तदभावेन मिथ्यात्वाभावप्रसङ्गात्। तस्मान्मिथ्यात्वस्यानिरूपणात् न तत्साधकमनुमानमित्याशंक्याह—**मिथ्यात्वं नामेति**। न च प्रपञ्चस्यानिर्वचनीयशब्देन निरुच्यमानत्वात्कथमनिर्वचनीयत्वमिति वाच्यम्। सत्त्वासत्त्वाभ्यामन्यत्वस्यैव तत्त्वात्। नच विरोधादुभयान्यत्वमनुपपन्नमिति वाच्यम्। घटात्यन्ताभावस्य स्वाभावप्रतियोग्यनधिकरणत्वस्य दृष्टत्वेन प्रकृतेऽप्युपपत्तेः। नचैवं क्लिष्टकल्पनायां किम्प्रयोजनमिति वाच्यम्।

●

उक्त न्याय का अन्यत्र भी अतिदेश करते हैं—**श्रुतिवचनों से जैसे 'प्रपञ्च' का मिथ्यात्व बताया गया है, वैसे ही दृश्यत्व आदि हेतुओं से भी उसका (प्रपञ्च का) मिथ्यात्व अनुमित किया जाता है।** तथाहि—अर्थात् यह आकाशादि व्यावहारिक प्रपंच मिथ्या है, 'दृश्य' रूप होने से, जो (जो) पदर्थ दृश्य होता है, वह (वह) पदार्थ 'मिथ्या' ही होता है। जैसे—'रजत', दृश्य (रूप) होने से मिथ्या ही है। इस अनुमान के द्वारा अधिकारी मनुष्य को ब्रह्म से भिन्न सम्पूर्ण प्रपञ्च में 'मिथ्यात्व' की अनुमिति उत्पन्न होती है। 'दृश्यत्वादि हेतुओं से यहाँ पर प्रयुक्त 'आदि' शब्द से 'ब्रह्म-व्यतिरिक्तत्व, बाध्यत्व' आदि को भी समझलेना चाहिये।

शंका—यह मिथ्यात्व क्या है? 'अत्यन्ताभावप्रतियोगित्व' को मिथ्यात्व नहीं कह सकते, क्योंकि 'सिद्धसाधनत्व' का प्रसंग प्राप्त होगा। उसीतरह 'स्वाधिकरणनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्व' को भी 'मिथ्यात्व' नहीं कह सकते, क्योंकि 'संयोगादिकों को लेकर अर्थान्तरत्व को उपपत्ति हो जाती है। उसीतरह 'संसृज्यमानाधिकरणनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्व' को भी 'मिथ्यात्व' शब्द से नहीं कह सकते, क्योंकि घटसंयुक्त भूतलपर किसी अन्य सम्बन्ध से उसके (घट के) अत्यन्ताभाव को भी कोई अन्य व्यक्ति कह सकता है। तब 'सत्यत्व' के विरोधी 'मिथ्यात्व' की सिद्धि कैसे हो पाएगी? यदि यह कहो कि जिस एकावच्छेद सम्बन्ध से 'प्रतियोगी' का अस्तित्व है, उसी सम्बन्ध से उसके 'अभाव' की हम विवक्षा कर रहे हैं। किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि वैसी विवक्षा लोकव्यवहार में कहीं होती नहीं है। यदि ज्ञान से जिसकी निवृत्ति होती हो, उसे 'मिथ्या' शब्द से कहेंगे। तो वह भी ठीक नहीं होगा, क्योंकि 'ज्ञान' से तो 'अज्ञान' की ही निवृत्ति हुआ करती है—यह नियम है। तब 'प्रपञ्च' की 'ज्ञान' से निवृत्ति न हो सकने से 'प्रपञ्च' में 'मिथ्यात्व' का अभाव हो माना जायगा। अर्थात् प्रपञ्च को 'मिथ्या' नहीं कह पायेंगे। अतः 'मिथ्यात्व' का निरुपण किसी प्रकार से भी न हो सकने के कारण 'मिथ्यात्व' की सिद्धि 'अनुमान' से नहीं की जा सकती।

समा०—इसपर समाधान दे रहे हैं—**मिथ्यात्व कहते हैं अनिर्वचनीयत्व को। दृश्यत्व का अर्थ है चेतन के द्वारा विषय किया जाना। इसलिये ब्रह्म में दृश्यत्व-हेतु का व्यभिचार नहीं है।**

प्रश्न—'प्रपञ्च' को 'अनिर्वचनीय शब्द से कहा जाता है, न कि 'मिथ्यात्व' को। तब ग्रन्थकार 'मिथ्यात्वं नाम अनिर्वचयीयत्वम्'—कैसे बता रहे हैं?

उत्तर—जिसको 'सत्' शब्द से अथवा 'असत्' शब्द से भी नहीं कह सकते उसे 'अनिर्वचनीय' समझना चाहिये। अर्थात् 'सत्-असत्' दोनों से विलक्षण ही प्रतीत होनेवाला 'अनिर्वचनीय' पदार्थ है। यदि यह कहो कि विरोध के कारण दोनों से विलक्षण किसी अन्य का होना ही संभव नहीं है। किन्तु यह कहना उचित नहीं है, क्योंकि 'घटात्यन्ताभाव, अपने प्रतियोगी के अधिकरण में दृष्ट होने से प्रकृत में भी वैसा हो सकता है।

प्रकारान्तरस्यासम्भवात्। तथाहि—सत्त्वे बाधायोगादसत्त्वे प्रपञ्चस्यापरोक्षत्वायोगात्, सदसदात्मकत्वस्य विरोधेनासम्भवात्। तस्मादुभयविलक्षणत्वमभ्युपगन्तव्यम्।

न चासतोऽप्रसिद्धत्वेन तद्वैलक्षण्यस्याप्यप्रसिद्धत्वादसङ्गतमिति वाच्यम्। तर्हि सदन्यत्वमेवानिर्वचनीयत्वमस्तु। न चासत्यतिव्याप्तिः; असन्नामकिञ्चिदस्ति चेदसत्त्वव्याघातः। नास्ति चेत्, कुत्रातिव्याप्तिः। तस्मात्सदन्यत्वमेवानिर्वचनीयत्वम्। बाधायोग्यं सत् तदन्यत्वं बाधयोग्यत्वम्।

अथवैकावच्छेदेन स्वसंसृज्यमानाधिकरणनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं मिथ्यात्वम्। समानसत्ताकयोः प्रतियोगितदभावयोरेकत्र विरोधेऽपि भिन्नसत्ताकयोरविरोधान्नासम्भवः। प्रतियोगिमति सम्बन्धान्तरेण तदभावस्य प्रतियोगिसत्त्वस्याभावविरोधित्वेनासम्भवात्प्रतीतेरन्यथाप्युपपत्तेर्नोक्तदोषः।

यद्यभावस्य प्रतियोगिसत्ताधीनसत्ताकत्वेन प्रपञ्चाभावस्यापि तत्समानसत्ताकतया तत्सामानाधिकरण्यमनुपपन्नमिति मन्यसे, तर्हि सत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिकत्वात्यन्ताभावसमानाधिकरणत्वं मिथ्यात्वमस्तु। प्रतियोगिवत्प्रतियोगितावच्छेदकस्यापि

●

प्रश्न—ऐसी क्लिष्ट कल्पना करने से कौन सा प्रयोजन सिद्ध होगा ?

उत्तर—अन्य कोई प्रकारान्तर संभव नहीं है, अतः ऐसी कल्पना करना आवश्यक हो गया है। तथाहि—'सत्' कहने पर उसका बाध होना संभव नहीं है, और 'असत्' कहने पर 'प्रपञ्च' का प्रत्यक्ष (अपरोक्षत्व) होना असंभव है। क्योंकि 'सत्' और 'असत्' दोनों परस्पर विरोधी हैं, अतः एकत्र दोनों का रहना असंभव है। इसलिये 'उभयविलक्षण' कहना ही होगा।

प्रश्न—'असत् पदार्थ' की प्रसिद्धि न रहने से उससे विलक्षण पदार्थ भी अप्रसिद्ध ही होगा। अतः 'उभयविलक्षण' कहना असंगत ही होगा।

उत्तर—यदि ऐसा है तो 'सत्' से जो अन्य हो उसे ही 'अनिर्वचनीय' शब्द से कहा जाय।

प्रश्न—तब तो 'असत्' में अतिव्याप्ति हो जायगी।

उत्तर—अतिव्याप्ति कैसे होगी ? यदि 'असत्' नाम की कोई वस्तु हो तो अतिव्याप्ति कहना उचित हो सकेगा। तब तो 'असत्त्व' कहना ही व्याहत होगा। यदि यह कहो कि 'असत्' नाम की कोई वस्तु है ही नहीं तो अतिव्याप्ति कहाँ हो पायेगी ? अतः 'सदन्यत्वमेव अनिर्वचनीयत्वम्' यही मानना चाहिये। 'सत्' वही होता है जिसका कभी 'बाध' नहीं होता। अर्थात् 'बाधायोग्यं सत्', और 'तदन्यत्वं बाधयोग्यत्वम्'—अर्थात् जिसका 'बाध' होता है वह 'असत्' शब्द से कहा जाता है। 'सत्' से जो अन्य (भिन्न) हो, उसे 'असत्' कहते हैं।

अथवा—'एकावच्छेदसे' अपने से सम्बद्ध अधिकरण में होने वाले अत्यन्ताभाव का प्रतियोगित्व मिथ्यात्व है—समान सत्तावाले प्रतियोगी और उसके अभाव का एकत्र विरोध होनेपर भी भिन्न सत्तावालों का विरोध न होने के कारण असंभव नहीं है। प्रतियोगी जिस अधिकरण में रहता है, उसी में किसी अन्य संबंध से उस प्रतियोगी के अभाव की प्रतीति की उपपत्ति अन्य प्रकार से भी लगायी जा सकती है, क्योंकि प्रतियोगी का 'सत्त्व', अपने अभाव का विरोधी होता है। अतः दोनों का एक अधिकरण में रहना संभव नहीं है। इस लिये उक्त दोष नहीं है।

यदि 'अभाव' में प्रतियोगिसत्ताधीनसत्ताकत्व रहने से 'प्रपञ्चाभाव' में भी 'प्रतियोगिसमानसत्ताकत्व' रहने से उसके, स्वप्रतियोगी के साथ सामानाधिकरण्य की अनुपपत्ति कहते हो तो 'सत्यत्वावच्छिन्न प्रतियोगिकत्वात्यन्ताभावसामानाधिकरण्यं मिथ्यात्वम्'—इस मिथ्यात्व को मान लो। तब तत्प्रतियोगी की तरह प्रतियोगितावच्छेदक भी तन्निरूपक होने से सत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिकत्वात्यन्ताभाव, 'पारमार्थिक' होने से उसके साथ 'प्रपञ्च' का सामानाधिकरण्य उपपन्न हो सकता है, क्योंकि 'अभाव', भिन्नसत्ताक है।

यदि यहाँपर भी विरहैकस्वभावाभावको 'प्रतियोगिसत्ताक' रहने से भिन्नसत्ताकत्व नहीं मानते हो, तो कल्पित वस्तु का अभाव, जो अधिष्ठान में प्रतीयमान हो रहा है तदात्मक ही जहाँ 'अधिकरणसत्तापेक्षया अभिन्नसत्ताक प्रतियोगी होता है,

तन्निरूपकत्वात् सत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिकत्वात्यन्ताभावस्य पारमार्थिकत्वेन तत्सामानाधिकरण्यं प्रपञ्चस्योपपद्यते, अभावस्य भिन्नसत्ताकत्वात्।

यद्यत्रापि विरहैकस्वभावाभावस्य प्रतियोगिसत्ताकतया[1] भिन्नसत्ताकत्वन्नाभ्युपगम्यते, तर्हि कल्पितस्याभावोऽधिष्ठाने प्रतीयमानस्तदात्मक एव। यत्राधिकरणसत्तापेक्षयाऽभिन्नसत्ताकः प्रतियोगी तत्रैवाधिकरणादभावोभिद्यते; स एवानुपलब्ध्या गृह्यते, नेतरत्र। तथाच स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं[2] मिथ्यात्वमेतदेवानिर्वचनीयत्वम्।

ननु दृश्यत्वं नाम दर्शनविषयत्वम्। दर्शनं नाम वृत्तिज्ञानं तद्विषयत्वं ब्रह्मणि वर्त्तते, उक्तसाध्यं नास्ति, ब्रह्मणः पारमार्थिकत्वादतो व्यभिचार इत्याशंक्याह—दृश्यत्वं नामेति। ब्रह्मणः स्वप्रकाशत्वेन स्वपरविषयत्वाभावान्नोक्तदोष इत्यर्थः। शुक्तिरूप्यमग्रे निरुपयिष्यते। अतो न दृष्टान्तासिद्धिरिति द्रष्टव्यम्॥१०॥

●

वहीं पर 'अभाव' का भेद हुआ करता है। और उसी अभाव का 'अनुपलब्धि' से ग्रहण होता है, अन्यत्र नहीं। तथाच स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं मिथ्यात्वं यही 'मिथ्यात्व' का निष्कृष्ट स्वरूप है, और यही 'अनिर्वचनीयत्व' है।

न्यायशास्त्र के अनभ्यासी तथापि वेदान्त के जिज्ञासु रसिकजन इस सन्दर्भ में इतना ही ध्यान में रखें कि—

"नेह नानास्ति किंचन। वाचारंभणं विकारो नामधेयम्। मायामात्रमिदं द्वैतम्"।

शंका—प्रपञ्च में 'मिथ्यात्व' क्या है?

समा०—'सत्' और 'असत्' से जो विलक्षणत्व है, वही मिथ्यात्व है, और वही अनिर्वचनीयत्व है। यही प्रपञ्च में मिथ्यात्व है। तथाहि—प्रपञ्च को यदि 'सत्य' कहते हैं तो 'ब्रह्म' के समान 'प्रपञ्च' का बाध नहीं होना चाहिये, किन्तु ब्रह्मसाक्षात्कार होते ही 'प्रपञ्च' का 'बाध' हो जाता है। उस कारण 'प्रपञ्च' को 'सत्' से विलक्षण कहना पड़ता है। यदि 'प्रपञ्च' को 'असत्' कहते हैं, तो 'नरशृंग', या 'वन्ध्यापुत्र' के समान 'प्रपञ्च' का प्रत्यक्ष नहीं होना चाहिये, किन्तु 'प्रपञ्च' का प्रत्यक्ष तो सभी को होता है। उस कारण 'प्रपञ्च', को 'असत्' से भी विलक्षण कहना पड़ता है। तथा 'सत्' और 'असत्'—दोनों का परस्पर विरोध होने से 'सत्-असत्'—इत्याकारक 'उभयरूपता' का होना भी 'प्रपञ्च' में संभव नहीं है। इस प्रकार की अनिर्वचनीयता का होना ही 'प्रपञ्च' में तथा 'शुक्ति-रजत' में मिथ्यात्व है।

शंका—जिस 'दृश्यत्व' हेतु से 'प्रपञ्च' में 'मिथ्यात्व' सिद्ध करते हो, वह 'दृश्यत्व' हेतु, 'व्यभिचारी' होने से 'असत्' हेतु (हेत्वाभास) ही है। क्योंकि दर्शन का जो विषय होता है, उसे 'दृश्य' कहते हैं, और वृत्तिज्ञान को 'दर्शन' कहते हैं। उस 'वृत्तिज्ञान' का 'विषयत्वरूप दृश्यत्व', 'ब्रह्म' में भी रहता है। किन्तु 'ब्रह्म' में उक्त 'मिथ्यात्वरूप' 'साध्य' नहीं है। क्योंकि 'ब्रह्म' तो परमार्थिक है। उस कारण 'मिथ्यात्वरूप' साध्य के अभाववाले (साध्याभावाधिकरण) 'ब्रह्म' में 'दृश्यत्वरूप हेतु' की वृत्तिता है, अर्थात् 'दृश्यत्वरूप हेतु', 'ब्रह्म' में रहता है। उस कारण 'दृश्यत्व' हेतु 'व्यभिचारी' हो गया है। अतः व्यभिचारी हेतु से साध्य 'मिथ्यात्व' की सिद्धि कैसे हो सकेगी?

समा०—उक्त अनुमान में 'दृश्यत्व' शब्द से 'वृत्तिज्ञान का विषयत्वरूप दृश्यत्व', विवक्षित नहीं है। अपितु 'वृत्ति में आरूढ जो 'फलचैतन्य' है, 'उसका विषयत्वरूप दृश्यत्व' ही विवक्षित है। 'ब्रह्म में आवरण की निवृत्ति के लिये 'वृत्ति' की विषयता रहने पर भी 'ब्रह्म' तो स्वप्रकाश' है। उसकारण उसमें 'फलचैतन्य' की विषयता नहीं है। अतः 'ब्रह्म' में दृश्यत्वहेतु अवृत्ति होने से (न रहने से) 'दृश्यत्व' हेतु को व्यभिचारी नहीं कह सकते। अतः 'दृश्यत्व' हेतु 'सद्धेतु' है, 'असद्धेतु' नहीं है।

'हेतु' दो प्रकार के होते हैं—(१) सद्धेतु और (२) असद्धेतु। उनमें 'सद्धेतु' के बल पर 'साध्य' की सिद्धि होती है और 'असद्धेतु' से 'साध्य' की सिद्धि नहीं होती। असद्धेतु को 'दुष्टहेतु' कहते हैं। यह 'दुष्टहेतु'—केवल 'हेतु' की तरह प्रतीत होता है, अतः उसे हेत्वाभास कहते हैं, अर्थात् उसे देखकर 'हेतु' का आभासमात्र होता है, वस्तुतः वह 'हेतु' नहीं होता है। हेत्वाभास पांच प्रकार के होते हैं—यह बताया जा चुका है॥१०॥

१. स्वसत्ताकतयेति पाठान्तरम्।

२. हस्तलेखेतु—स्वाधिकरणानधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वमिति पठ्यते। व्याख्यात च तत्रैव टिप्पणे तथया।

तच्चानुमानमन्वयिरूपमेकमेव। नतु केवलान्वयि। अस्मन्मते ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य सर्वस्यात्यन्ताभावप्रतियोगित्वेन[1] तदप्रतियोगित्वरूपकेवलान्वयित्वस्याप्रसिद्धेः। नापि व्यतिरेकि, साधनेन साध्यानुमितौ साध्याभावे साधनाभावनिरूपितव्याप्तिज्ञानस्यानुपयोगात्। अन्वयव्याप्तिमविदुषः साध्यप्रमार्थापत्तिप्रमाणादिति वक्ष्यत इत्यनुमानम् ॥११॥

●

नैयायिकादयस्त्वनुमानं त्रिविधं—केवलान्वयि केवलव्यतिरेक्यन्वव्यतिरेकी चेति वर्णयन्ति। स्वमतमुपपादयंस्तान्निराकरोति—तच्चेति। एवकारव्यवच्छेद्यमाह—नत्विति। वृत्तिमदत्यन्ताभावाप्रतियोगित्वं केवलान्वयित्वं तच्चास्मन्मते न भवतीत्याह—अस्मन्मत इति। ब्रह्मभिन्नस्य सर्वस्य कल्पितत्वेन मिथ्यात्वान्मिथ्यावस्तुनोऽधिष्ठाननिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वेन

●

और वह अनुमान एकमात्र अन्वयिरूप ही होता है, न कि केवलान्वयि; क्योंकि हमारे सिद्धान्त में अत्यन्ताभाव के परमात्मा से भिन्न सभी प्रतियोगी होते हैं। फलतः अत्यन्ताभाव की अप्रतियोगिता रूप केवलान्वयिता अनुपलभ्य है। व्यतिरेकी भी नहीं होता, क्योंकि लिंग से साध्य का अनुमान करने में साध्याभाव में साधनाभाव से निरूपित व्याप्ति का ज्ञान; किसी उपयोग का नहीं। अन्वयव्याप्ति से अनभिज्ञ को साध्य की प्रमा, अर्थापत्ति से होती है, उसे बताएँगे। इस प्रकार अनुमान का विचार हुआ।

नैयायिक विद्वान् 'अनुमान' को (१) केवलान्वयी, (२) केवलव्यतिरेकी, (३) अन्वयव्यतिरेकी के भेद से तीन प्रकार का बताते हैं। जिस अनुमान के 'साध्य' का कहीं भी 'अत्यन्ताभाव' नहीं रहता है, उस अनुमान को 'केवलान्वयी' कहते हैं। क्योंकि 'वृत्तिमदत्यन्ताभावाप्रतियोगित्वं केवलान्वयित्वम्'। जैसे—'घटोभिधेयः प्रमेयत्वात्'—इत्यादि अनुमान केवलान्वयी है। इस अनुमान में 'अभिधेयत्वरूपसाध्य' का कहीं भी अत्यन्ताभाव नहीं है, किन्तु 'पद' (शब्द) का 'वाच्यत्वरूप अभिधेयत्व', सभी पदार्थों में रहा करता है। उसीतरह 'प्रमाज्ञान' का विषयत्वरूप 'प्रमेयत्व' भी सभी पदार्थों में रहता है। उस कारण उक्त अनुमान, 'केवलान्वयी' कहलाता है।

जिस अनुमान के 'साध्य' का तथा 'हेतु' का कहीं भी 'सहचारदर्शन' नहीं होता, अपितु 'साध्य' और 'हेतु' के अभावों का ही 'सहचारदर्शन' होता रहता है, उस अनुमान को 'केवलव्यतिरेकी' कहा जाता है। जैसे—'पृथिवी इतरेभ्यो भिद्यते गन्धवत्वात्, यन्नैवं तन्नैवम्, यथा जलादिः'—इत्यादि अनुमान, 'केवलव्यतिरेकी' है। उक्त अनुमान में 'पृथिवी' से इतर 'जलादिक' पदार्थों के 'भेदरूपसाध्य' का और 'गन्धरूपहेतु' का 'सहचार', 'पृथिवीरूपपक्ष' को छोड़कर अन्यत्र कहीं भी नहीं है। किन्तु 'साध्य' और 'हेतु' के अभावों का ही 'जल' आदि में सहचार रहता है। उसकारण उक्त अनुमान 'केवलव्यतिरेकी' है।

जिस अनुमान के 'साध्य' और 'हेतु' दोनों का तथा उन दोनों के 'अभावों' का अन्यत्र सहचार दिखाई दे, उस अनुमान को 'अन्वयव्यतिरेकी' कहते हैं। जैसे—'पर्वतो वह्निमान् धूमवत्वात्'—इस प्रसिद्ध अनुमान में 'वह्निरूपसाध्य' का तथा 'धूमरूपहेतु' का 'महानस' में सहचार दिखाई देता है, और दोनों के अभावों का 'जलहृद' में सहचार दिखाई देता है। उस कारण उक्त अनुमान को 'अन्वयव्यतिरेकी' कहा जाता है।

किन्तु नैयायिकों का यह कथन संगत नहीं है। क्योंकि 'नेह नानास्ति किञ्चन'—इत्यादि श्रुतियाँ 'ब्रह्म' में सम्पूर्ण प्रपञ्च का 'अत्यन्ताभाव' बता रही हैं। उस कारण 'ब्रह्म' से भिन्न (इतर) किसी भी पदार्थ में 'अत्यन्ताभाव' को अप्रतियोगिता नहीं है, अपितु 'सभी अनात्मपदार्थ' उस 'प्रपञ्चात्यन्ताभाव' के प्रतियोगी ही हैं। उस कारण उक्त अनुमान में 'केवलान्वयिरूपता' का होना संभव नहीं है। निष्कर्ष यह है कि पूर्वोक्त व्यभिचारदोष इसलिये नहीं है कि 'ब्रह्म' स्व-प्रकाश है, उस कारण उसमें 'स्व-परविषयत्वाभाव' है (स्व-परविषयता नहीं रहती)। शुक्तिरूप्य का मिथ्यात्व प्रसिद्ध रहने से 'दृष्टान्तासिद्धि' भी नहीं है।

किञ्च—ब्रह्मभिन्न यच्चयावत् सभी कुछ कल्पित रहने से मिथ्या है। मिथ्यावस्तु, अपने अधिष्ठाननिष्ठ (अधिष्ठान में रहनेवाले) अत्यन्ताभाव की प्रतियोगी हुआ करती है, अप्रतियोगी नही। इसलिये उक्त केवलान्वयित्व, सिद्ध नहीं हो पा रहा है।

यदि यह कहें कि 'प्रमेयत्व' आदि तो केवलान्वयी ही हैं, तब केवलान्वयित्व की सिद्धि क्यों नहीं होगी ?

इसपर वेदान्ती का कहना है कि—प्रमा के विषय को 'प्रमेय' कहा करते हैं। और प्रमा से भिन्न तथा अभिन्न

---

१. सर्वस्य प्रपञ्चस्य ब्रह्मनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वेन इत्यपि पाठः।

निरुक्तं केवलान्वयित्वमसिद्धमेव । नच प्रमेयत्वादीनां तथात्वात् कथमसिद्धिरिति वाच्यम् । प्रमाविषयत्वं प्रमेयत्वं, प्रमाया भिन्नाऽभिन्नत्वेन[1] तन्निरूपितविषयत्वस्यापि तथात्वेन केवलान्वयित्वासिद्धेः । न चेश्वरप्रमाविषयत्वं केवलान्वयित्व[2]मिति वाच्यम् । ईश्वरप्रमायाः स्वविषयत्वेऽपसिद्धान्तापत्तेस्तदभावे कुतः केवलान्वयित्वम् । न चाकाशात्यन्ताभावः केवलान्वयीति वाच्यम् । तस्य स्वप्रतियोगिन्याकाशेऽसत्त्वेन तत्त्वायोगात् । प्रतियोगितदभावयोः सामानाधिकरण्यवदाधाराधेयभावस्यापि विरुद्धतयाऽसम्भवाद-

●

रहने से उसके द्वारा निरूपित विषय भी वैसा ही अर्थात् भिन्न-अभिन्न ही होगा, उस कारण केवलान्वयित्व की असिद्धि कही गई है। यदि यह कहें कि प्रमा का विषय 'केवलान्वयी' है। किन्तु वह भी संगत नहीं होगा, क्योंकि ईश्वरप्रमा में स्वविषयत्व माननेपर अपसिद्धान्त होगा। तब स्वविषयता न माननेपर 'केवलान्वयित्व' कैसे कहा जायगा? यदि 'आकाशात्यन्ताभाव' को केवलान्वयी कहें तो वह भी संगत नहीं होगा, क्योंकि वह 'आकाशात्यन्ताभाव', अपने प्रतियोगी आकाश में अवृत्ति रहने से उसको केवलान्वयी कैसे कहा जायगा? प्रतियोगी और उसके अभाव के सामानाधिकरण्य के समान आधाराधेयभाव का सामानाधिकरण्य भी विरुद्ध होने से असंभव है। अन्यथा आकाश के असत्व का प्रसंग प्राप्त होने लगेगा।

किञ्च—आकाश के समान आकाशात्यन्ताभाव भी 'ब्रह्म' में कल्पित रहने से तन्निष्ठ अत्यन्ताभावप्रतियोगिता के कारण केवलान्वयित्व तो दूरनिरस्त ही हो गया।

उसी प्रकार इसे 'केवलव्यतिरेकी अनुमान' भी नहीं कह सकते। क्योंकि जिन पदार्थों का परस्पर 'व्याप्य-व्यापकभाव' होता है, उन्हीं पदार्थों का परस्पर 'साधन-साध्यभाव' होता है—यह नियम है। इस नियम का उस 'केवलव्यतिरेकी अनुमान' में भंग हो रहा है। क्योंकि उक्त 'केवलव्यतिरेकी अनुमान' में 'गंध' और 'इतरभेद'—इन दोनों का तो 'साधन-साध्यभाव' माना है और 'इतरभेदाभाव' तथा 'गन्धाभाव' इन दोनों का 'व्याप्य-व्यापकभाव' माना है।

यदि कदाचित् 'अन्य पदार्थों' के 'व्याप्तिज्ञान' से अन्य पदार्थ की अनुमिति होती हो तो 'पर्वत' में 'वह्निव्याप्यधूम' के ज्ञान से 'जल' की भी अनुमिति होनी चाहिये, किन्तु होती नहीं है। उस कारण उक्त अनुमान में 'केवलव्यतिरेकिता' का होना भी संभव नहीं है। तथा 'केवल अन्वयी' के तथा 'केवलव्यतिरेकी' के असंभव होने से उक्त अनुमान में 'अन्वयव्यतिरेकिता' का भी संभव नहीं है। उस कारण वेदान्तसिद्धान्त में 'उक्त अनुमान' को एकमात्र 'अन्वयी' रूप ही कहा जा सकता है। एवंच पूर्वोक्त अनुमान, 'अन्वय-व्याप्ति' से युक्त होने के कारण वह 'अन्वयी अनुमान' ही है।

शंका—जिस व्यक्ति को पूर्वोक्त 'साधन' और 'साध्य' दोनों की 'सामानाधिकरण्यरूप अन्वयव्याप्ति' का ज्ञान नहीं हुआ है, केवल 'साध्याभाव' और 'साधनाभाव'—इन दोनों की 'सामानाधिकरण्यरूप व्यतिरेकव्याप्ति' का ही ज्ञान हुआ है, उस व्यक्ति को भी उस 'व्यतिरेकव्याप्ति' के ज्ञान से 'साध्य' की जो अनुमिति हुआ करती है, वह नहीं होनी चाहिये, किन्तु होती तो है। वह क्यों होती है?

समा०—'अन्वयव्याप्ति' के ज्ञान से रहित व्यक्ति को 'व्यतिरेकव्याप्ति' के ज्ञान से 'साध्य' की अनुमिति नहीं हुआ करती। किन्तु उसे 'अर्थापत्तिप्रमाण' से ही 'साध्य' की प्रमा (ज्ञान) होती है। जैसे—पृथिवी मात्र में स्थित जो 'गन्धगुण' हैं, वह 'पृथिवी' में रहनेवाले 'जलादि इतर पदार्थों के भेद' के विना अनुपपन्न है। अतः वह (गन्धगुण) पृथिवी में 'इतरभेद' की कल्पना करा देता है, इसे आगे बताया जायगा।

निष्कर्ष यह है कि 'साध्य' की अनुमिति 'साधन-साध्य' के व्याप्तिज्ञान से हुआ करती है। साध्याभाव-साधनाभाव के व्याप्तिज्ञान से नहीं। एक को व्याप्तिज्ञान होने से दूसरे को अनुमिति नहीं हुआ करती, अन्यथा अतिप्रसंग होगा। प्रतियोगी-अनुयोगी पदार्थों का निरुपण अभी तक न होने से प्रतियोग्यनुयोगिभाव को भी इस प्रसंग में नियामक नहीं कह सकते।

किञ्च—नैयायिक के कथनानुसार तो व्याप्तिप्रकारकपक्षधर्मता का ज्ञान होनेपर अनुमिति होती है। तब साध्याभाव में साधनाभाव की स्थिति रहने से (साधनाभाव की व्याप्ति साध्याभावनिष्ठ होने से) तत्प्रकारक पक्षधर्मता का ज्ञान होना संभव नहीं है। अतः व्यतिरेकलिङ्गज्ञान से साध्य की अनुमिति कैसे हो सकेगी?

---

१. शुद्धं ब्रह्म न वृत्तिविषय इति मतेन परिहारः। फलव्याप्यत्वस्य दृश्यत्वे शुद्धे वृत्तिविषयत्वेऽप्यदोष इति द्रष्टव्यम्।
२. भिन्नाभिन्नत्वेनेति पाठः स्यात्।

सादृश्यप्रमितिरुपमितिः ॥१२॥

न्यथाकाशस्यासत्त्वप्रसङ्गात्। किञ्चाकाशवदाकाशात्यन्ताभावस्यापि ब्रह्मणि कल्पितत्वेन तन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगितया केवलान्वयित्वं दूरनिरस्तम्। एवमन्यदपि निरूपणीयम्।

एवं केवलव्यतिरेक्यनुमानमपि न सम्भवतीत्याह—**नायीति**। साधनसाध्ययोर्व्याप्तिज्ञानात्साध्यानुमितिर्भवति नतु साध्याभावसाधनाभावव्याप्तिज्ञानात्। नह्यन्यव्याप्तिज्ञानादन्यानुमितिर्भवत्यतिप्रसङ्गात्। नच प्रतियोग्यनुयोगिभावमात्रं नियामकमिति वाच्यम्। प्रतियोगित्वादेरनिरूपणात्।

किञ्च व्याप्तिप्रकारकपक्षधर्म्मताज्ञानादनुमितिरिति ते मतम्। ततश्च साधनाभावव्याप्तेः साध्याभावनिष्ठत्वेन तत्प्रकारकपक्षधर्म्मताज्ञानासम्भवात् कथं व्यतिरेकलिङ्गज्ञानेन साध्यानुमितिः स्यात्।

किञ्च साध्यप्रसिद्धेरनुमानाङ्गत्वेन पृथिवीतरभेदस्य कुत्राप्यप्रसिद्धत्वेन तदनुमितिर्नसंभवत्येव। अन्यथाऽप्रसिद्धसाध्यानुमितावप्रसिद्धशशशृङ्गाद्यनुमितिः कुतो न स्यात्? नच घटादावितरभेदः प्रत्यक्ष इति वाच्यम्। तर्हि तदनुमानं न स्यात्। निश्चितेऽर्थे तदयोगात्। तस्माद्व्यतिरेक्यनुमानमनुपपन्नम्।

नन्वेवं सत्यन्वयव्याप्तिमविदुषो व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानाद्वह्न्यनुमितिः कथं स्यादिति तत्राह—**अन्वयेति**। तस्मादन्वयिरूपमनुमानमेकमेवेति भावः ॥११॥

एवमनुमितिप्रमां निरूप्य क्रमप्राप्तामुपमितिं निरूपयति—**सादृश्येति**। अयम्भावः—नगरदृष्टगोपिण्डो गवयार्थी पुरुषो वनमुद्दिश्य प्रस्थित आरण्यकपुरुषाद् गोसदृशो गवय इति श्रुत्वा वनं गतो गोसादृश्यविशिष्टपिण्डमनुभवति गोसदृशो

किञ्च—साध्यप्रसिद्धि तो अनुमान को अंग हुआ करती है, उस कारण 'पृथिवीतरभेद' की कहीं भी प्रसिद्धि न होने से उसकी अनुमिति का होना संभव ही नहीं है। अन्यथा अप्रसिद्ध साध्य की भी यदि अनुमिति होने लगे तो अप्रसिद्ध शशशृंग आदि की अनुमिति क्यों नहीं हो सकेगी?

शंका—घटादि पदार्थ में 'इतरभेद' तो प्रत्यक्ष होता ही है। तब उसे अप्रसिद्ध कैसे कहा जायगा?

समा०—उक्त शंका ठीक नहीं है, क्योंकि यदि उसे प्रत्यक्ष कहें तो उसका अनुमान ही नहीं हो पाएगा। क्योंकि अनुमान तो 'पदार्थ' का निश्चय करने के लिये किया जाता है। यदि पहिले से ही उसका निश्चय हो तो अनुमान किस लिये किया जायगा? अतः व्यतिरेकी अनुमान, अनुपपन्न ही है।

शंका—अन्वयव्याप्ति न जाननेवाले किसी व्यक्ति को व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानमात्र से 'वह्नि' की अनुमिति कैसे हो पाएगी?

समा०—उस व्यक्ति को अर्थापत्ति प्रमाण से 'साध्य' का ज्ञान (प्रमा) होता है। अतः 'अन्वयी' रूप एक ही अनुमान है। तीन प्रकार के अनुमान नहीं हैं ॥११॥

इस प्रकार 'अनुमिति प्रमा' का निरूपण करने के पश्चात् क्रमप्राप्त उपमिति प्रमा का निरूपण करते हैं—सादृश्य को विषय करनेवाली 'प्रमा' को 'उपमिति प्रमा कहते हैं। जैसे—किसी व्यक्ति ने 'गाय' और 'गवय' दो शब्दों को सुना है। उनमें से 'गाय' को तो वह, शहर में तथा अपने घर में भी सर्वदा देखता रहता है, उस कारण वह 'गाय' को तो अच्छी तरह से जानता है। किन्तु 'गवय' को उसने केवल सुना है, उसे कभी देखा नहीं है। एक बार किसी समय वह व्यक्ति, देहात (ग्राम) में गया, तब उसने वहाँ के ही किसी ग्रामीण (देहाती) आदमी से पूछा कि 'गवय' प्राणी कैसे होता है? तब उस देहाती आदमी ने बताया कि 'गाय' जैसा ही 'गवय' होता है। तदनन्तर देहात (ग्राम) में घूमते हुए उसने कदाचित् क्वचित् उसी आकार के एक प्राणी को देखा, अर्थात् 'गोसादृश्यविशिष्टपिण्ड' का प्रत्यक्ष अनुभव किया और समझा कि 'गोसदृशोगवयः'। तदनन्तर इसके समान ही मेरी गाय है, इसप्रकार अपने घर की गाय में उस 'गवय' के 'सादृश्य' को मन ही मन में सोचने लगा। एवंच 'गवयनिष्ठ गोसादृश्यज्ञान' तो करण (साधन) है, अर्थात् यही 'उपमानप्रमाण' है। और 'गोनिष्ठ गवयसादृश्यज्ञान' यह उपमानप्रमाण का फल है, इसी को 'उपमिति प्रमा' कहते हैं। उपमान प्रमाण का यह लौकिक उदाहरण है।

सादृश्यप्रमितिरुपमिति वाक्यकरणिका प्रमा शाब्दी। आकांक्षायोग्यतासन्निधिमत्पदसमुदायो वाक्यम्।

●

गवय इति, पश्चादेतत्सदृशी मदीया गौरिति स्वगेहस्थां गामुपमिनोति। तत्र गवयनिष्ठगोसादृश्यज्ञानकरणं गोनिष्ठगवयसादृश्यज्ञानं फलं सेयमुपमितिरिति।

भक्ताभीष्टदसन्तानं गोपीजनमनोहरम्। सत्यभामायुतं कृष्णं वन्दे सच्चित्सुखात्मकम् ॥१२॥

क्रमप्राप्तां शाब्दप्रमां लक्षयति—वाक्येति। किं तद्वाक्यमित्याकाङ्क्षायां वाक्यस्य लक्षणमाह—आकाङ्क्षेति। वर्णसमूहः पदम्। नच वर्णानां क्षणिकानां क्रमेणोत्पद्यमानानां कथं समूहः स्यादिति वाच्यम्। एकज्ञानविषयस्यैव तत्त्वात्। न

●

उपमान प्रमाण का 'वैदिक उदाहरण'—यह होगा कि जिस व्यक्ति को 'आकाश' की 'असंगता' तथा 'व्यापकता' का निश्चय हो चुका है, किन्तु उसे अभी तक 'ब्रह्म' की 'असंगता' तथा 'व्यापकता' का ज्ञान नहीं है, वह कभी अपने ब्रह्मनिष्ठ गुरु से पूछने लगा कि हे भगवन्! 'ब्रह्म' का क्या स्वरूप है? तब गुरु ने कहा कि 'ब्रह्म' असंग है, तथा व्यापक है। तदनन्तर वह शिष्य, एकान्तस्थान में मनन-निदिध्यासन करते हुए अपने ब्रह्मरूप आत्मा में 'आकाश' के समान (सदृश) 'असंगत्व तथा व्यापकत्व' का अनुभव करने लगा, अर्थात् आकाश के समान असंग तथा व्यापक ब्रह्म—'मैं' हूँ—इत्याकारक अनुभव, उसे होता है।

प्रश्न—'आत्मा' में आकाश का असंगत्वरूप सादृश्य है, इस कथन में 'प्रमाण' क्या है?

उत्तर—श्रुति-स्मृति के वचन तथा आचार्यवचन आत्मा की असंगता और व्यापकता में प्रमाण है। 'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः'—आकाश के समान 'आत्मा' सर्वत्र व्यापक और नित्य है—इस श्रुति ने आत्मा को आकाश के समान व्यापक बताया है, तथा 'आकाश' सर्वत्र स्थित रहने पर भी अपने असंग स्वभाव के कारण किसी भी पदार्थ से लिप्त नहीं होता, वैसे ही समस्त शरीरों में 'आत्मा' के स्थित रहने पर भी वह अपने असंग स्वभाव के कारण किसी से भी लिप्त नहीं होता है—इस गीतास्मृति के वचन से 'आत्मा' को 'आकाश' के समान 'असंग' बताया गया है। तथा 'दृशिस्वरूपं गगनोपमं परम्'—यह आचार्यवचन भी 'आत्मा' को आकाश के समान ही व्यापक बता रहा है। उस कारण आकाश की समानता की दृष्टि से उपमिति का यह वैदिक उदाहरण है।

अथवा शुक्तिरजत तथा स्वप्न के पदार्थों में मिथ्यात्व का निश्चय करके 'आकाशादि' प्रपञ्च के स्वरूप को जानने की इच्छा करने वाला व्यक्ति, 'शुक्ति-रजत' आदि के समान ही 'प्रपञ्च' भी मिथ्या है—इस प्रकार के गुरुवचन को सुनकर एकान्त में उस गुरुवचन का विचार करके दृश्यमान प्रपञ्च में भी शुक्ति-रजतादि के मिथ्यात्वरूप सादृश्य का अनुभव करता है। अर्थात् यह 'आकाशादि प्रपञ्च', 'शुक्ति-रजत' के समान ही मिथ्या है, यह अनुभव उस अधिकारी व्यक्ति को होने लगता है। यह उपमिति का उदाहरण भी वेदान्तसिद्धान्त के अनुकूल ही है।

उपमान-उपमिति के सन्दर्भ में नैयायिकों का सिद्धान्त, वेदान्तसिद्धान्त के अनुकूल नहीं है। नैयायिक विद्वान् तो 'गवयनिष्ठ गोसादृश्यज्ञान' के अनन्तर यह प्राणी, 'गवयपद' का 'वाच्य' है—इस ज्ञान को ही 'उपमितिप्रमा (ज्ञान) कहते हैं। तथा (१) सादृश्यविशिष्ट पिण्डज्ञान, (२) वैधर्म्यविशिष्ट पिण्डज्ञान, (३) असाधारणधर्मविशिष्ट पिण्डज्ञान—के भेद से 'उपमान' को तीन प्रकार का मानते हैं। इसप्रकार से 'उपमिति प्रमा' का निरूपण ग्रन्थकार ने किया है ॥१२॥

अब चौथी 'शाब्दी प्रमा' है, उसका निरूपण करते हैं—'वाक्यकरणिका प्रमा शाब्दीप्रमा' अर्थात् 'वाक्य' रूप करण (साधन) से जन्य जो प्रमा, उसे 'शाब्दीप्रमा' कहते हैं। वाक्यश्रवण से होने वाले ज्ञान को 'शाब्दीप्रमा' कहते हैं। जैसे—'तत्त्वमसि' इस वैदिक वाक्य को सुनकर अधिकारी व्यक्ति को 'अहं ब्रह्मास्मि'—इत्याकारक 'प्रमा' होती है। उसी प्रकार 'घटमानय', 'गामानय' आदि लौकिक वाक्यों को सुनकर उसे 'घट', 'गौ' आदि के 'आनयन' की जो 'प्रमा' होती है, उस 'प्रमा' को शाब्दी प्रमा कहते हैं। जिस वाक्य से यह 'शाब्दी प्रमा' उत्पन्न होती है, उस 'वाक्य' का लक्षण बताते हैं—आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि—इन तीनों से युक्त जो पद है, उनके समुदाय (समूह) को 'वाक्य' कहते हैं। जैसे 'तत्त्वमसि' आदि वैदिकवाक्य 'तत्, त्वम्' आदि पदों का समुदाय (समूह) रूप है। तथा 'घटम् आनय', 'गाम् नय' आदि लौकिकवाक्य भी 'घटम्, आनय', 'गाम्, आनय' आदि पदों का समुदायरूप ही है।

चैकज्ञानविषयत्वं वा कथं क्षणिकानामिति वाच्यम्। वर्णानां क्षणिकत्वे मानाभावात्। नचोत्पन्नो गकारो; नष्टो गकार इत्यनुभवः प्रमाणमिति वाच्यम्। तस्योच्चारणोत्पत्त्यादिविषयत्वेन तत्राप्रमाणत्वात्। नच प्रत्युच्चारणे गकारादिव्यक्त्युत्पत्तिः कुतो न भवतीति वाच्यम्। सोऽयंगकार इति प्रत्यभिज्ञाविरोधात्। नच प्रत्यभिज्ञानस्य सादृश्यविषयतया जातिविषयतया वाऽन्यथा-सिद्धत्वेनाविरोध इति वाच्यम्। मुख्यत्वे बाधकाभावादुत्पत्तिविनाशप्रत्ययस्यान्यथासिद्धत्वस्योक्तत्वात्।

ननु तर्हि वर्णानां नित्यत्वेऽद्वैतश्रुतिविरोधस्स्यादिति चेन्न, प्रत्यभिज्ञाविरोधेन तेषां क्षणिकत्वमात्रनिराकरणात्। आकाशादिवत् सर्गाद्यकाल उत्पत्तेः, प्रलयकाले विनाशस्य चोपपत्तेर्नाद्वैतश्रुतिविरोधः। अत एव तत्समुदायात्मकं पदं न क्षणिकम्। अत एव पदसमुदायात्मकं वाक्यं न क्षणिकम्। अत एव वाक्यसमुदायात्मको वेदोऽपि न क्षणिकः। अतएवोक्तं भगवता सूत्रकारेण "अतएव च नित्यत्व"मिति; नित्यत्वं प्रलयपर्य्यन्तावस्थायित्वं विवक्षितं, प्राकृतप्रलये सकलकार्य्यविनाशस्य प्रतिपादनात्; न तु ध्वंसाप्रतियोगित्वं तदिति विवक्षितम् अद्वैतश्रुतिविरोधापत्तेः। "छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत" "अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेवैतद्यदृग्वेदो यजुर्वेद" इत्यादि श्रुत्या वेदस्य कार्य्यत्वावगमात्, तस्य चानित्यत्वावश्यंभावाच्च। "वाचा विरूप-नित्यये"ति श्रुतेरप्ययमेवार्थः। अन्यथा "एकमेवाद्वितीयमि"ति श्रुतिविरोधापत्तेः।

●

जिन पदों के समुदाय को 'वाक्य' कहा गया है, उन 'पदों' का लक्षण कर रहे हैं—**वर्णसमूह**। 'ककारादि' वर्णों का जो समूह है, उसे 'पद' कहते हैं। जैसे—'कलश' इत्यादि 'पद', 'ककारादिवर्णों' के समुदाय (समूह) रूप हैं। क्योंकि 'कलश' पद के घटक 'ककारादिवर्णों' में जो 'एकज्ञान' की विषयता है, उसी को 'समूह' कहते हैं।

शंका—नैयायिकों के सिद्धान्तानुसार 'ककारादिवर्ण' शब्दरूप होने से वे 'क्षणिक' हैं। अर्थात् तृतीयक्षण में नाशवान् हैं, तथा उन वर्णों का समुदायरूप 'पद' भी 'क्षणिक' है, तथा उन पदों का समुदायरूप 'वाक्य' भी 'क्षणिक' है, तथा उन वाक्यों का समुदायरूप 'वेद' भी 'क्षणिक' है। अतः क्रम से उत्पद्यमान क्षणिक वर्णों का समूह (समुदाय) कैसे बन सकता है?

समा०—यह एक पद है इत्याकारक एकज्ञान की विषयता वर्णों में रहना ही 'वर्णों' का समूह कहलाता है।

प्रश्न—क्षणिक वर्णों में 'एकज्ञान की विषयता' कैसे हो सकेगी?

उत्तर—'वर्णों' के क्षणिक होने में कोई प्रमाण नहीं है। अतएव वेदान्तसिद्धान्त में 'वर्णों' को क्षणिक नहीं माना जाता।

शंका—उत्पन्नो 'गकारः', नष्टो 'गकारः'—यह अनुभव ही उसके क्षणिक होने में प्रमाण है।

समा०—उत्पत्ति और विनाश तो 'वर्ण' का न होकर उसके 'उच्चारण' का होता है। उस कारण 'उच्चारण' क्षणिक है, न कि वर्ण। अतः वर्ण की क्षणिकता में अनुभव को प्रमाण नहीं कह सकते।

प्रश्न—प्रत्येक उच्चारण में 'गकारादि व्यक्ति' की उत्पत्ति क्यों नहीं होती?

उत्तर—यह वही गकार है—इस प्रत्यभिज्ञा का विरोध होगा, उस कारण 'गकारादिव्यक्ति' की उत्पत्ति को नहीं माना जाता।

प्रश्न—'सादृश्य' के कारण अथवा 'जाति' के कारण प्रत्यभिज्ञा के होने से उसको अन्यथासिद्ध मान सकते हैं। अतः प्रत्यभिज्ञा के साथ कोई विरोध नहीं है।

उत्तर—'मुख्यत्व' में बाधक न रहने से 'उत्पत्ति-विनाश' के ज्ञान को अन्यथासिद्ध कहा गया हैं।

शंका—'वर्णों' को नित्य माननेपर 'अद्वैतश्रुति' के साथ विरोध होगा।

समा०—प्रत्यभिज्ञा-विरोध को प्रदर्शित कर उनके 'क्षणिकत्व' का केवल निराकरण किया गया है। वेदान्ती विद्वान् 'वर्ण', को क्षणिक नहीं मानते। वे तो 'आकाशादिकों' के समान सृष्टि के आदिकाल में 'मायोपहित ईश्वर' से 'वर्णों' की उत्पत्ति होती है, और प्रलयकाल में उन वर्णों का विनाश होता है। 'मध्यकाल' में उन वर्णों की उत्पत्ति तथा विनाश नहीं होता। अतः अद्वैत श्रुति के साथ कोई विरोध नहीं है। यही कारण है कि 'सोऽयं गकारः'—इत्यादि प्रत्यभिज्ञा भी 'प्रमारूप' कही जाती है 'उत्पन्नो गकारः, विनष्टो गकारः'—'यह प्रतीति' तो गकारादि वर्णों के उच्चारण की 'उत्पत्ति-विनाश' को ही विषय करती है। 'गकारादि वर्णों' की उत्पत्ति-विनाश को विषय नहीं करती।

नन्वेवं वेदस्योत्पत्तिविनाशाभ्युपगमे पौरुषेयतया स्वतः प्रामाण्यं व्याहन्येतेति चेत्? नहि पुरुषाधीनोत्पत्तिकत्वं पौरुषेयत्वमप्रयोजकत्वात्। किन्तु सजातीयोच्चारणमनपेक्ष्योच्चार्य्यमाणत्वं पौरुषेयत्वम्। ईश्वरस्तु पूर्वंपूर्वानुपूर्वीमपेक्ष्य सर्गादौ वेदं विरचितवान् इति वेदस्यापौरुषेयत्वेन न स्वतः प्रामाण्यव्याहतिरित्यलमतिविस्तरेण।

पदसमुदायो वाक्यमित्युक्ते विलम्वोच्चारितपदसमुदायेतिव्याप्तिरतस्तद्व्यावृत्त्यर्थमुक्तं—सन्निधीति। तावत्युक्तेऽग्निना सिञ्चेदिति वाक्येऽतिव्याप्तिःस्यात्तद्वारणाय—योग्यतेति। तथापि गौरश्वः पुरुषो हस्तीत्यत्रातिव्याप्तिस्स्यात्तन्निवृत्तये—आकांक्षेति। अत्रापि पदसमुदायत्वमेकज्ञानविषयत्वं विवक्षितमतो नासम्भवः।

●

उस कारण नैयायिकों ने जो कहा है कि 'वर्ण-पद-वाक्य'—ये सभी शब्दरूप होने से 'क्षणिक' हैं—वह उचित नहीं है। एवञ्च न 'वर्ण' क्षणिक हैं, और न 'वर्णसमुदायात्मक पद' क्षणिक है, और न 'पदसमुदायात्मक वाक्य' क्षणिक है। उसकारण वाक्यसमुदायात्मक 'वेद' भी क्षणिक नहीं है। अतएव भगवान् सूत्रकार ने "अत एव च नित्यत्वम्" कहकर 'नित्यत्व' का तात्पर्य 'प्रलयपर्यंन्तावस्थायित्व' बताया है। अर्थात् प्रलयपर्यन्त स्थायित्वरूप नित्यता 'वेदों' की बताई है। पूर्वमीमांसकाभिमत 'उत्पत्ति-विनाशराहित्यरूप नित्यत्व' वेदान्तियों को मान्य नहीं है। क्योंकि श्रुति ने सृष्टि के आदिकाल में 'मायोपहित ईश्वर' से 'वेदों' की उत्पत्ति बताई है। प्रलयकाल में समस्त कार्य का विनाश भी बताया है। वेदों का 'नित्यत्व'—'ध्वंसाऽप्रतियोगित्वरूप' विवक्षित नहीं है, अन्यथा 'अद्वैतश्रुति' के साथ विरोध होगा। पूर्वोक्त 'छन्दांसि जज्ञिरे' इत्यादि श्रुति ने 'वेदों का कार्यत्व बोधन किया है। अतः वेदों का अनित्यत्व तो अवश्य ही मान्य करना होगा। 'वाचा विरूपनित्यया'—इस श्रुति का भी यही अभिप्राय है। अन्यथा "एकमेवाऽद्वितीयम्"—इस श्रुति के साथ विरोध होगा।

शंका—वेदों की उत्पत्ति और विनाश का स्वीकार करनेपर उनकी पौरुषेयता माननी होगी, तब उनका 'स्वतः प्रामाण्य' बाधित हो जायगा।

समा०—'पुरुष के द्वारा उत्पन्न होना'—इस प्रकार का पौरुषेयत्व विवक्षित नहीं है, क्योंकि वह अप्रयोजक है। किन्तु सजातीय वर्णों के उच्चारण की अपेक्षा किये बिना—उच्चारण किये जाने को 'पौरुषेय' कहते हैं। किन्तु ईश्वर ने तो पूर्व-पूर्वकल्पीय वर्णानुर्वीय उच्चारण की अपेक्षा (स्मरण) करके ही सृष्टि के आरंभ में 'वेदों' की रचना की थी, उस कारण 'वेदों' की 'अपौरुषेयता' निर्बाध रहने से उसके 'स्वतः प्रामाण्य' में किञ्चिन्मात्र भी क्षति पहुँचने की संभावना तक नहीं कर सकते।

आकांक्षा-योग्यता-सन्निधि—इन तीनों से युक्त हुए 'पदों' के समुदाय को 'वाक्य' कहते हैं—यह पहले बता चुके हैं। इस उक्त 'वाक्य लक्षण' में से यदि पूर्व अंश को हटा दें, और केवल 'पदसमुदायः वाक्यम्' इतना ही 'वाक्य लक्षण' रखें तो 'प्रहरादि काल' तक विलम्ब करके उच्चारण किये जानेवाले 'घटादि' पदों के समुदाय में वाक्य लक्षण की 'अतिव्याप्ति' होने लगेगी। उसके निवारणार्थ लक्षणगत पूर्व अंश को रखना अर्थात् 'सन्निधिमत्' अंश को 'पद' का विशेषण बनाना अत्यावश्यक है। तब प्रहर-प्रहर के पश्चात् उच्चारण किये जानेवाले 'पदों' में, उस अविलम्बोच्चारणरूप सन्निधि के न रहने से 'केवल पद समुदाय' में वाक्यलक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो पाती।

यदि हम 'सन्निधिमत्पदसमुदायः वाक्यम्'—इतना ही 'वाक्यलक्षण' करें, तो अग्नि से वृक्षों का सिञ्चन करे—इस कथन में भी वाक्यलक्षण की अतिव्याप्ति होने लगेगी, क्योंकि उक्त कथन में 'सन्निधिमत्पदसमुदाय' तो है ही। इस अतिव्याप्ति को हटाने के लिये वाक्यलक्षण में 'योग्यता' को भी विशेषण के रूप में जोड़ना आवश्यक है। तब 'योग्यता-सन्निधिमत्पदसमुदायः वाक्यम्' इतना लक्षण होगा। इतना लक्षण बन जाने से 'अग्निना सिञ्चेत्' में अतिव्याप्ति नहीं हो पाएगी, क्योंकि 'अग्नि से सिञ्चन करना'—प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित है। उसकारण अग्नि में सिञ्चन करने की योग्यता न रहने से उक्त 'अग्निना सिञ्चेत्' में सन्निधिमत्पदसमुदाय के रहने पर भी 'वाक्य लक्षण' की अतिव्याप्ति नहीं हो पाएगी। फिर भी यदि हम 'योग्यतासन्निधिमत्पदसमुदायः वाक्यम्'—इतना ही वाक्यलक्षण करें तो 'गौरश्वः पुरुषो हस्ती'—इस 'योग्यता-सन्निधिमत्पदसमुदाय' में वाक्यलक्षण की अतिव्याप्ति होगी। उसे दूर करने के लिये 'आकांक्षा' पद को भी विशेषण के रूप में रखना आवश्यक है। उसको निविष्ट करने पर 'गौः अश्वः पुरुषः हस्ती' इन पदों में परस्पर आकांक्षा के न रहने से 'गौरश्वः' आदि पदसमुदाय में अतिव्याप्ति नहीं हो पाती। तब निर्दुष्ट लक्षण का आकार यह हुआ—'आकांक्षा-योग्यता-सन्निधिमत् पदसमुदायः वाक्यम्'। इस निर्दुष्ट लक्षण की कहीं पर भी अतिव्याप्ति नहीं हो पाती। यहां पर भी 'पदसमुदायत्वं एकज्ञानविषयत्वम्'—एकज्ञानविषयत्वरूप समुदाय की ही विवक्षा रहने से 'असंभव' भी नहीं है।

अन्वयानुपपत्तिराकांक्षा। वाक्यार्थाबाधो योग्यता। अविलम्बेनोच्चारणं सन्निधिः। अव्युत्पन्नस्य संगतिग्रहाभावान्नवाक्यार्थप्रमा।

●

नन्वकाङ्क्षादिमत्पदसमुदायो वाक्यमित्युक्तम्, अथाकाङ्क्षाया इच्छात्मकत्वेन चेतनधर्म्मत्वात्कथं पदानां साक्षात्त्वमित्याशंक्याकाङ्क्षाजनकत्वेन पदानां साकाङ्क्षत्वमित्यभिप्रेत्याकाङ्क्षालक्षणमाह—**अन्वयेति**। यस्य पदस्य येन पदेन विनाऽन्वयानुपपत्तिस्तस्य पदस्य तेन पदेन समभिव्याहार आकाङ्क्षा। योग्यतालक्षणमाह—**वाक्येति**। सन्निधिस्वरूमाह—**अविलम्बेनेति**। पदानामविलम्वोच्चारणं सन्निधिरित्यर्थः।

●

अन्वय की अनुपपत्ति आकांक्षा है। वाक्यार्थ का अबाध योग्यता है। अविलम्ब उच्चारण सन्निधि है।

शंका—'आकांक्षादिमत्पदसमुदायो वाक्यम्'—यह 'वाक्य' का लक्षण किया गया है। 'आकांक्षा' तो 'इच्छा' रूप होती है, और 'इच्छा', 'चेतन' की धर्मरूप होती है, तब 'पदों' को साकांक्ष कैसे कहा जा रहा है?

समा०—'पदों' में 'आकांक्षा' की जनकता रहने से उन्हें 'साकांक्ष' कहा जाता है। इसी अभिप्राय से 'आकांक्षा' का लक्षण बता रहे हैं।

'आकांक्षा' का स्वरूप बताने के लिये 'अन्वयानुपपत्तिः आकांक्षा' कहा गया है। अर्थात् जिस पद के बिना 'अन्वय' असंभव रहता है, उस पद का जिस पद के साथ 'समभिव्याहार' रहता है, उसे 'आकांक्षा' कहते हैं। जैसे—'घटमानय' इस वाक्य को सुनकर श्रोता को 'घट' ले आने का ज्ञान होता है। वह 'ज्ञान', केवल 'घटम्'—इस कारक पद से नहीं हो पाता, और न केवल 'आनय'—इस क्रियापद से ही होता है। किन्तु उन दोनों पदों के विद्यमान रहने पर ही हो पाता है। उस कारण 'घट'—इस कारक पद का 'आनय'—इस क्रियापद के साथ जो समभिव्याहार (समीपोच्चारण) है तथा 'आनय' पद का 'घटम्' पद के साथ जो समभिव्याहार है—उसी को 'दोनों पदों की परस्पर 'आकांक्षा' कहा गया है।

यद्यपि 'इच्छा' का नाम 'आकांक्षा' है और वह 'इच्छा' 'चेतन' का ही धर्म है, 'जड़ पदों' का वह धर्म नहीं है। तथापि वे 'पद', श्रोता की 'स्वविषयक आकांक्षा' के जनक रहते हैं। उस कारण उन पदों को भी 'साकांक्ष' कहा गया है। अतः 'यस्य पदस्य येन पदेन विना अन्वयानुपपत्तिः तस्य पदस्य तेन पदेन समभिव्याहारः आकांक्षा'—यही आकांक्षा का स्वरूप समझना उचित है।

योग्यता का लक्षण बताया—'वाक्यार्थका अबाध। यह योग्यता का स्वरूप बताया गया है। अर्थात् 'वाक्य' के अर्थ का किसी अन्य प्रमाण से बाध न होना ही 'योग्यता' है। जैसे—'घटमानय'—इस वाक्य का अर्थ, 'घट का आनयन' है। उस अर्थ का प्रत्यक्षादि किसी प्रमाण से बाध नहीं हो रहा है। यह बाध, न होना ही घटादि पदों की योग्यता है।

सन्निधि को बताया कि पदों का उच्चारण, विलम्ब न करते हुए करना ही 'सन्निधि' कहा जाता है। जैसे 'घटमानय'—इस वाक्य में 'घटम्' के बाद विलम्ब न करते हुए 'आनय' पद का उच्चारण करना ही—'सन्निधि' शब्द से कहा जाता है। एवं च 'आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि'—इन तीनों से युक्त जो पद हों, उन्हीं पदों के समुदाय को 'वाक्य' कहते हैं। अतः 'आकांक्षा-योग्यता-सन्निधिमतां-पदानां समुदायः (समूहः) वाक्यम्'—यही लक्षण, 'वाक्य' का किया जाता है।

शंका—'आकांक्षादिमत्पदसमुदायो वाक्यम्' इस लक्षण से लक्षित वाक्य को यदि 'शाब्दप्रमा' का 'करण' कहा जायगा तो 'अव्युत्पन्न पुरुष' को भी उस वाक्य से 'शाब्दी प्रमा' होनी चाहिये, किन्तु होती नहीं। अतः वाक्य को शाब्दी प्रमा के प्रति करण कैसे कह रहे हैं।

समा०—अव्युत्पन्न पुरुष को इसलिये शाब्दबोध (शाब्दी प्रमा=वाक्यार्थप्रमा) नहीं होता क्योंकि उसने पदों का पदार्थों से सम्बन्ध नही समझा है। 'पद-पदार्थ' के ज्ञान से रहित पुरुष को 'अव्युत्पन्न' कहते हैं। जैसे 'वाक्य', उस 'शाब्दी प्रमा' का 'कारण' होता है, वैसे ही 'वाक्यगत पदों' की संगति का ज्ञान भी उस शाब्दी प्रमा के प्रति कारण हुआ करता है। एवं च अव्युत्पन्न पुरुष को 'पद-पदार्थ-संगति' का ज्ञान न रहने से वाक्यश्रवण होते हुए भी 'शाब्दी प्रमा' नहीं हो पाती।

प्रश्न—यह 'संगति' पदार्थ क्या है?

पदपदार्थयोः स्मार्यस्मारकभावः संगतिः। सा च द्विविधा—शक्तिर्लक्षणाचेति। शक्तिर्नाम मुख्या वृत्तिः, पदपदार्थयोर्वाच्यवाचकभावः सम्बन्ध इति यावत्। सा च द्विविधा—योगो रूढिश्चेति। अवयवशक्तिर्योगः। यथा पाचकादिपदानाम्। रुढिः समुदायशक्तिः। यथा घटादि(पदा)शब्दानाम्। सा च व्यवहारादिना गृह्यते।

तथाहि—उत्तमवृद्धस्य घटमानयेति वाक्यश्रवणानन्तरं मध्यमवृद्धः प्रवर्त्तते। ततो बालस्तत्प्रवृत्तिं दृष्ट्वा ज्ञानमनुमिनोति। तथाहि—इयं प्रवृत्तिर्ज्ञानसाध्या प्रवृत्तित्वात् मदीयप्रवृत्तिवद् इति। ज्ञानमनुमाय तस्य वाक्यजन्यत्वमनुमिनोति—इदं ज्ञानमेतद्वाक्यजन्यमेतद्वाक्यान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात् दण्डजन्यघटादिवत्। इत्यनन्तरमावापोद्वापाभ्यां घटपदस्य घटव्यक्तौ शक्तिमवधारयति ॥१३॥

•

ननूक्तलक्षणं वाक्यं शाब्दप्रमाकरणं चेदव्युत्पन्नस्यापिश्रुतवाक्याद्वाक्यार्थप्रमाप्रसङ्ग इत्याशंक्याह—अव्युत्पन्नस्येति। सङ्गतिग्रहस्यापि वाक्यार्थप्रमोत्पत्तौ कारणत्वादव्युत्पन्नस्य तदभावान्न वाक्यार्थप्रमेत्यर्थः।

ननु केयं सङ्गतिरित्यतआह—पदेति। सङ्गतिस्सम्बन्ध इत्यर्थः। सङ्गतिं विभजते—साच द्विविधेति। द्वैविध्यमेवाह—शक्तिरिति। यद्यपि शक्तिर्गौणी लक्षणाचेति। वृत्तिस्त्रिविधा, तथापि वक्ष्यमाणविधया गौणीं लक्षणायामन्तर्भाव्य द्वैविध्यकथनमिति ध्येयम् प्रथमोद्दिष्टां शक्तिं निरूपयति—शक्ति र्नामेति। कासौ मुख्यावृत्तिरित्याशंक्याह—पदेति। पदजन्यज्ञानविषयत्वं वाच्यत्वं, पदार्थस्मृतिजनकत्वं वाचकत्वम्। तदुक्तम्, "पदमप्यधिकाभावात्स्मारकान्न विशिष्यते" इति। शक्तिंविभजते—साचेति। यथोद्देशं योगं लक्षयति—अवयवेति। केषां पदानां योग इत्याशंक्योदाहरणमाविष्करोति—यथेति। पाचकादिपदानां योग इत्यनुषज्यते। रूढिं लक्षयति—रूढिरिति। उदाहरति—यथेति। शक्तिग्रहप्रकारमाह—साचेति।

व्यवहारेण शक्तिग्रहप्रकारमुपपादयति—तथाहीत्यादिना। उत्तमवृद्धस्य प्रयोजकवृद्धस्य, मध्यमवृद्धः प्रयोज्यवृद्धः शिष्यपुत्रादिरिति यावत्। ननु मध्यमवृद्धस्य प्रवृत्त्या किमायातमित्यत आह—बाल इति। प्रवृत्तिं गमनागमनादिव्यवहारम्।

•

उत्तर—'संगति' पद का अर्थ है—'संबन्ध'। संगति का स्वरूप इस प्रकार है—'पद-पदार्थ' दोनों का जो 'स्मार्य-स्मारकभाव' सम्बन्ध है, उसी को 'संगति' कहते हैं। जैसे—'घट' पद के सुनने पर श्रोता को 'घट' रूप 'अर्थ' की स्मृति होती है। अतः 'घट' पद तो 'स्मृति' का उत्पादक होने से उसे 'स्मारक' कहा जाता है, और 'घट' रूप अर्थ, उस स्मृति का विषय होने से उसे 'स्मार्य' कहा जाता है—इस प्रकार के 'स्मार्य-स्मारकभाव संबन्ध' को 'संगति'—कहते हैं। अन्य शास्त्रों में इस 'संगति' को ही वृत्ति' शब्द से भी कहा गया है।

अब संगति का विभाग बताते हैं—वह 'वृत्ति' रूप 'संगति' (१) 'शक्ति' और (२) 'लक्षण' के भेद से दो प्रकार की है। यद्यपि अन्य शास्त्रकारों ने (१) शक्ति, (२) गौणी और (३) लक्षण के भेद से 'वृत्ति' के तीन प्रकार बताये हैं, तथापि इस शास्त्र में 'गौणी' वृत्ति का 'लक्षणा' में ही अन्तर्भाव करके 'वृत्ति' के दो ही प्रकार बताये हैं। अब प्रथमोद्दिष्ट 'शक्ति' को बता रहे हैं—पद और पदार्थ—दोनों का जो 'वाच्य-वाचकभाव सम्बन्ध' है, उसी को 'शक्ति' शब्द से कहा जाता है। जैसे 'घट' पद तथा 'घट' रूप अर्थ—दोनों का 'वाच्यवाचकभाव' सम्बन्ध है। इसमें 'घट पद' तो वाचक है और 'घटरूप-अर्थ' वाच्य है। क्योंकि पदजन्यज्ञान का जो 'विषय' होता है, उसे 'वाच्य' कहते हैं तथा 'पदार्थ की स्मृति' का जो 'जनक' होता है, उसे 'वाचक' कहते हैं। इसी 'शक्ति' को शास्त्रकार 'मुख्यावृत्ति' के नाम से भी कहते हैं।

अब शक्ति का भेद बताते हैं—मुख्यावृत्तिरूप शक्ति भी (१) योग, (२) रूढि, के भेद से दो प्रकार की होती है। 'पद' के 'प्रकृति-प्रत्यय' रूप अवयवों में जो अर्थबोधक शक्ति होती है, उसे 'योगशक्ति' के नाम से कहा जाता है। जैसे 'पाचक' आदि पदों की 'पाककर्ता' आदि अर्थ में 'योगशक्ति' रहती है। 'पाचक' पद में 'पच्' धातु के अनन्तर 'अक' प्रत्यय के जोड़ देने पर 'पाचक' शब्द, निष्पन्न होता है। तब 'पच्' धातु की तो 'पाक' में शक्ति है और 'अक' प्रत्यय की 'कर्ता' में शक्ति है। इन दोनों अवयों की शक्ति से 'पापकर्ता' पुरुष का बोध होता है। इन्हीं योगशक्ति वाले 'पाचक' आदि पदों को शास्त्रकारों ने 'यौगिकपद' कहा है।

अब 'रूढि' को बता रहे हैं—'पद' के प्रकृति-प्रत्ययरूप अवयवसमुदाय में जो 'अर्थबोधकशक्ति' होती है, उसी को 'रूढिशक्ति' कहते हैं। जैसे—'घट' आदि पदों की 'घट आदि अर्थ' में 'रूढिशक्ति' है। इन्हीं रूढिशक्तिवाले पदों को शास्त्रकारों ने 'रूढपद' कहा है।

तत्रानुमानं प्रयुज्य दर्शयति—तथाहीत्यादिना। ननु ज्ञानस्य कथं वाक्यजन्यत्वमनुमिनोतीत्याशंक्यानुमानप्रकारमाह—इदमिति-प्रवृत्त्यानुमितं ज्ञानम्। यो यदन्वयव्यतिरेकानुविधायी स तज्जन्यः, यथा दण्डान्वयव्यतिरेकानुविधायी घटो दण्डजन्य इति सामान्यव्याप्तिमभिप्रेत्य दृष्टान्तमाचष्टे—दण्डेति।

ननु ज्ञानस्य वाक्यजन्यत्वमस्तु प्रकृते किमायातमित्याशंक्याह—इत्यनन्तरमिति ॥१३॥

पदानां पदार्थे शक्तिः पदात्पदार्थस्मरणस्यैव जायमानत्वात् समभिव्याहाराद्वाक्यार्थलाभः। अन्यथा लक्षणामात्रोच्छेद-प्रसङ्गादनन्यलभ्यस्यैव शब्दार्थत्वादिति पूर्वपक्षत्वेन नैयायिकमतमाह—सा चेति। ननु कार्य्यान्विते शक्तिः, गौरवात्। नच

●

किन्तु नैयायिक विद्वान् उक्त 'शक्ति' को (१) 'योग, (२) रूढि, (३) योगरूढि और यौगिकरूढि' के भेद से चार प्रकार की बताते हैं। 'शक्ति' के चार प्रकार रहने से 'पद' को भी (१) यौगिक, (२) रूढ, (३) योगरूढ, (४) यौगिकरूढ के भेद से चार प्रकार का कहते हैं। 'पङ्कज' आदि पदों को वे 'योगरूढ' मानते हैं, और उद्भिद्' आदि पदों को 'यौगिकरूढ' मानते हैं।

उस 'शक्ति' का ज्ञान, 'व्यवहार' आदि उपायों से होता है।

जैसे गुरु, पिता आदि 'उत्तम वृद्ध' के द्वारा कहे गये 'घटमानय' वाक्य को सुनकर शिष्य, पुत्र आदि 'मध्यमवृद्ध' पुरुष, 'घट' को लाने के लिये 'प्रवृत्त' होता है। अभिप्राय यह है कि 'घट' रुप कार्य, अपने कारणीभूत दण्ड के 'अन्वय-व्यतिरेक' का सर्वदा अनुसरण करता है। एवञ्च सभी कार्य अपने कारण के अन्वय-व्यतिरेक का अनुसरण करके ही उत्पन्न हुआ करते हैं। यही कारण है कि 'घट' रुप कार्य में उसके कारणीभूत दण्ड की जन्यता मानी जाती है। उसी प्रकार उत्तमवृद्ध पुरुष के 'घटमानय' वाक्य के अन्वय-व्यतिरेक का अनुसरण करने से 'मध्यम पुरुष का ज्ञान', उस वाक्य से ही जन्य है।

इस प्रकार से वह बालक, उस मध्यम पुरुष के ज्ञान में 'घटमानय'—इस वाक्यजन्यता का अनुमान कर लेता है, तदनन्तर मध्मम पुरुष के द्वारा किये गये 'घटानयन' को देखकर 'घट' पद की 'घट' व्यक्ति रूप अर्थ में 'शक्ति' होने का निश्चय करता है। अर्थात् 'घटमानय'—इस वाक्य में स्थित 'घट' पद की 'घटव्यक्ति' में शक्ति है। इसी रीति से उस बालक को शक्तिज्ञान होता है। एवञ्च बालक को प्रथमतः वृद्धव्यवहार से ही 'घटादि' पदों को शक्ति का ज्ञान होता है। उसके पश्चात् (१) व्याकरण, (२) उपमान, (३) कोश, (४) आप्तवाक्य, (५) वाक्यशेष, (६) विवरण, और (७) सिद्ध (प्रसिद्ध) पद की समीपता—इनसे भी पदों की शक्ति का ज्ञान होता है ॥१३॥

पद की शक्ति पदार्थ में होती है, अर्थात् पद पदार्थमात्र का वाचक होता है ऐसा नैयायिक मानते हैं। शक्ति के विषय में नैयायिकों का कहना है कि श्रोता पुरुष को इस शब्द से अमुक अर्थ का बोध हो—'अस्माच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्यः'—इस प्रकार की जो ईश्वरेच्छा, उसी को 'शक्ति' शब्द से कहाजाता है। नव्य नैयायिक तो 'जीव' की उक्त इच्छा को भी 'शक्ति' कहते हैं। 'घट' आदि पदों की शक्ति, 'घट' आदि अर्थ में ही होती है। अर्थात् 'पदों' की शक्ति 'पदार्थ' में ही रहती है, क्योंकि 'पद' से 'पदार्थ' स्मरण ही हुआ करता है।

प्राभाकर मीमांसकों का कहना है कि 'घटादि' पदों की केवल 'घटादिरूप अर्थ' में ही 'शक्ति' नहीं होती, अपितु 'कार्यान्वित घटादिकों' में ही 'घटादि' पदों को शक्ति हुआकरती है। पुरुष की प्रयत्नरूप जो कृति, उससे साध्य जो 'क्रिया', उसे 'कार्य' के नाम से कहागया है। उस 'कार्य' से सम्बन्ध रखनेवाले को 'कार्यान्वित' कहते हैं। जैसे 'घटमानय' इस वाक्य में 'घट' की जो 'आनयन' क्रिया है, वह पुरुष के 'प्रयत्न' (कृति) से साध्य होने के कारण 'क्रिया' है। उस 'आनयन' कार्य से सम्बन्ध रखनेवाला 'घट'है। उस कारण उस 'घट' को 'कार्यान्वित' कहा जाता है। उस 'कार्यान्वित घट' में ही 'घट' पद की शक्ति है। इसी प्रकार 'पट' आदि पदों की भी उन 'कार्यान्वित पट' आदिकों में ही 'शक्ति' समझनी चाहिये।

उस समय उत्तमवृद्ध (प्रयोजकवृद्ध) पुरुष के समीप बैठा हुआ 'बालक', उस 'मध्यमवृद्ध पुरुष' के 'गमन-आगमनरूप-प्रवृत्ति' को देखकर उस मध्यमवृद्ध (प्रयोज्यवृद्ध) पुरुष के 'ज्ञान' का अनुमान[1] करता है। अनुमान इस प्रकार करता है—इस मध्यमवृद्ध (प्रयोज्यवृद्ध) पुरुष की जो यह 'प्रवृत्ति' है, वह, उत्तमवृद्ध के द्वारा कहे गये वाक्य के अर्थ को जानकर ही

१. इयं प्रवृत्तिः ज्ञानसाध्या प्रवृत्तित्वात् मदीयप्रवृत्तिवत्।

सा च शक्तिः पदार्थे इति नैयायिकाः। कार्य्यान्विते इति मीमांसकाः। अन्विते इति वेदान्तिनः। एवं व्याकरणादिना शक्तिर्गृह्यते। उक्तञ्च।

●

कार्य्यान्विते पदार्थे शक्त्यनङ्गीकारे कार्य्यताज्ञानस्याभावात् कथं शक्तिग्रह इति वाच्यम्। कार्य्यपरवाक्यश्रवणानन्तरं कार्य्यताज्ञानात्प्रवृत्त्या ज्ञानानुमानवत्सिद्धार्थवाक्यश्रवणानन्तरं मुखविकासादिना हर्षादिना ज्ञानानुमानसम्भवात्। किञ्च प्रथमव्युत्पत्तौ तदपेक्षायामपि लाघवेनानन्तरं तदुपेक्ष्य पदार्थमात्रे शक्तिग्रहसम्भवात्। अन्यथा कथं कविकाव्यादिरचना स्यात्। तस्मात्पदानां पदार्थ एव शक्तिरिति नैयायिकानामाशयः।

मतान्तरमाह—कार्य्यान्वित इति। तेषामयमाशयः—पदानां कार्य्यान्विते पदार्थे शक्तिर्न केवलपदार्थे; वाक्याद्वाक्यार्थप्रमानुत्पत्तिप्रसङ्गात्। तथाहि—पदार्थमात्रे शक्तानि पदानि कथं वाक्यार्थं बोधयेयुः। तेषां तत्राशक्तत्वात्। न च समभिव्याहारात्तद्बोध इति वाच्यम्। पदानां तत्र सामर्थ्याभावेन समभिव्याहारेणापि तद्बोधासम्भवात्।

●

हुई है, प्रवृत्तिरूप होने से। क्योंकि यह नियम है कि जो-जो 'प्रवृत्ति' होती है, वह 'वाक्यार्थज्ञान' होने पर ही हुआ करती है। जैसे—हमारी प्रवृत्ति, इष्टसाधनता का ज्ञान होने पर ही होती है।

इस प्रकार वह बालक उस मध्यमवृद्ध पुरुष की प्रवृत्ति के हेतुभूत 'ज्ञान' का अनुमान लगाता है। तदनन्तर मध्यमवृद्ध को हुआ 'ज्ञान', उत्तमवृद्ध पुरुष के द्वारा कहेगये वाक्य से हुआ है, अर्थात् वह ज्ञान; उत्तमवृद्धोच्चारितवाक्यजन्य ही है—यह अनुमान[1] करता है। इस अनुमान का आकार यह है—इस मध्यमवृद्धपुरुष की प्रवृत्ति का हेतुभूत जो ज्ञान है, वह उत्तमवृद्धपुरुष के द्वारा उच्चरित 'घटमानय'—वाक्य से जन्य है, क्योंकि वह ज्ञान, इस वाक्य के अन्वय-व्यतिरेक का अनुसरण करता है। जो-जो पदार्थ, जिस पदार्थ के अन्वय-व्यतिरेक का अनुसरण करता है, वह-वह पदार्थ, उस पदार्थ से 'जन्य' ही रहता है। जैसे—'दण्ड' के विद्यमान रहने पर 'घट' रूप कार्य की उत्पति होती है, और उस दण्ड के न रहने पर (दण्ड के अभाव में) 'घट' रूप कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। अभिप्राय यह है कि 'घट' रूप कार्य, अपने कारणीभूत दण्ड के 'अन्वय-व्यतिरेक' का सर्वदा अनुसरण करता है। एवंच सभी कार्य, अपने कारण के अन्वय-व्यतिरेक का अनुसरण करके ही उत्पन्न हुआ करते हैं। यही कारण है कि 'घट' रूप कार्य में उसके कारणीभूत दण्ड की जन्यता मानी जाती है। उसी प्रकार उत्तमवृद्धपुरुष के 'घटमानय' वाक्य के अन्वय-व्यतिरेक का अनुसरण करने से 'मध्यमपुरुष का ज्ञान', उस वाक्य से ही जन्य है।

नैयायिकों का कहना है कि शब्द की 'शक्ति', कार्यान्वित में नहीं है। कार्यान्वित में शक्ति मानने पर गौरव होगा। यदि कोई कहे कि कार्यान्वित में शक्ति न मानने पर कार्यताज्ञान के न हो पाने से शक्तिग्रह कैसे हो सकेगा? किन्तु यह आशंका करना ठीक नहीं है। क्योंकि कार्यपरकवाक्य सुननेपर कार्यता का ज्ञान हो जाने से प्रवृत्ति होगी, उसी से ज्ञान के अनुमान के समान सिद्धार्थवाक्य को सुनने के बाद मुखविकास, हर्ष आदि से ज्ञान का अनुमान होना संभव है। किञ्च—प्रथम व्युत्पत्ति के समय उसकी अपेक्षा रहने पर भी लाघवात् बाद में उसकी उपेक्षा होजाती है और केवल पदार्थ में शक्तिग्रह संभव हो जाता है। अतः पदों की पदार्थ में ही शक्ति रहती है। अन्यथा कवि के द्वारा काव्य आदि की रचना कैसे हो सकेगी? घटादिपदार्थों के सम्बन्ध (संसर्ग) में पदों की शक्ति नहीं रहती। क्योंकि 'घट' पद के श्रवण से श्रोता को 'घट' रूप अर्थ का ही स्मरण होता है। 'संसर्ग' का स्मरण नहीं होता।

प्रश्न—संसर्ग का यदि स्मरण नहीं होता है, तो वाक्यार्थ का ज्ञान कैसे होता है?

उत्तर—'घटमानय'—इत्यादि वाक्य में प्रयुक्त 'घट' आदि 'पदों' के 'अर्थों' का परस्पर संसर्गरूप जो 'वाक्यार्थ' है, उसका ज्ञान (बोध) तो उन घट आदि पदों के 'समभिव्याहार' (समीपोच्चारण) से ही हो जाता है। उसकारण 'संसर्ग' में 'घटादि' पदों की शक्ति मानना व्यर्थ है। अन्यथा लक्षणा करना कहीं भी संभव न होगा।

कार्यान्वित में शक्ति माननेवाले प्राभाकर मीमांसक का अभिप्राय यह है कि 'कार्यान्वित पदार्थ' में शक्ति न मानकर केवल 'पदार्थ' में ही शक्ति मानी जाय तो 'वाक्य' से वाक्यार्थ का ज्ञान (वाक्यार्थ प्रमा) नहीं हो सकेगा। क्योंकि पदार्थमात्र में शक्त रहनेवाले पद, 'वाक्यार्थ' का बोधन कैसे कर सकेंगे? क्योंकि उन पदों की 'वाक्यार्थ' में शक्ति ही नहीं है। अतः वे 'वाक्यार्थ' का बोधन करने में अशक्त हैं।

---

१. इदं ज्ञानं एतद्वाक्यजन्यम् एतद्वाक्यान्वय-व्यतिरेकाऽनुविधायित्वात् दण्डजन्यघटादिवत्।

किञ्च, समभिव्याहारेणापि भवन्नपि धव-खदिरपलाशा इति वाक्यादिवत् पदार्थानां समूहालम्बनबोध एव स्यात्। नच संसर्गरूपवाक्यार्थबोधः, पदानां तत्र सामर्थ्याभावात्।

किञ्च पदानां पदार्थमात्रे शक्त्यभ्युपगमे सङ्गतिग्रहो न स्यात्। तथाहि—प्रवृत्त्या ज्ञानाद्यनुमानद्वारा पदानां पदार्थे शक्तिनिश्चयः प्रथमं बालस्य वाच्यः। कार्य्यताज्ञानं प्रवृत्तौ हेतुः। कार्य्यत्वं नाम कृतिसाध्यत्वम्। एवञ्च वाक्यश्रवणानन्तरं कार्य्यताज्ञानाभावे प्रवृत्त्यभावेन ज्ञानाद्यनुमानासम्भवेन कथं शक्तिनिश्चयः स्यात्। नच हर्षादिना ज्ञानानुमानेन तन्निश्चय इति वाच्यम्। व्युत्पन्नस्य तद्भावेऽप्यतिबालस्य प्रथमव्युत्पत्तौ तदयोगात्। किञ्च हर्षादीनामन्यतोऽपि सम्भवेन ततस्तदनुमानायोगात्। तस्मात् पदानां कार्य्यान्विते पदार्थे शक्तिरभ्युपगन्तव्या।

एवञ्च वाक्यश्रवणानन्तरं कार्य्यताज्ञानात्प्रवृत्त्या ज्ञानाद्यनुमानेन शक्तिनिश्चय उपपद्यते। न चेष्टसाधनताज्ञानात्प्रवृत्ति-सम्भवेन कार्य्यताज्ञानमकिञ्चित्करमिति वाच्यम्। सुधामरीचिमण्डले तत्सत्त्वेपि प्रवृत्तेरदर्शनात्। नच कार्य्यताज्ञानस्य प्रवर्त्तकत्वे कूपपतनादावपि प्रवृत्तिप्रसङ्ग इति वाच्यम्। इष्टसाधनताज्ञानसमानकालस्य तस्य प्रवर्त्तकत्वस्वीकारात्। तस्मात्कार्य्यताज्ञानमेव प्रवर्त्तकम्। अत एव कार्य्यपराणां लिङ्लोट्तव्यप्रत्ययघटितानां वाक्यानामेव प्रामाण्यं, नेतरेषाम्। कथं तर्हि वाक्यार्थबोधः? असंसर्गाऽग्रहादिति वदामः। तस्मात्पदानां कार्य्यान्विते पदार्थे शक्तिरिति।

●

'पदों के समभिव्याहार से वाक्यार्थ बोध हो सकेगा'—यह भी नहीं कह सकते। क्योंकि उसमें पदों का सामर्थ्य न होने से समभिव्याहार के द्वारा भी वाक्यार्थ का बोध होना संभव नहीं है।

किञ्च—यथाकथञ्चित् समभिव्याहार से वाक्यार्थबोध का होना मान भी लिया जाय तो 'धव-खदिर-पलाश'—इस वाक्य के समान पदार्थों के समूहालम्बन का ही बोध हो सकेगा। 'संसर्गात्मक वाक्यार्थ का बोध' नहीं हो पाएगा, क्योंकि संसर्गरूपवाक्यार्थ में पदों का सामर्थ्य (शक्ति) ही नहीं है।

किञ्च—केवल पदार्थों में पदों की शक्ति माननेपर 'संगतिग्रह' नहीं हो पाएगा। तथाहि—'प्रवृत्ति' से 'ज्ञान' का अनुमान करते हुए 'पदों' का शक्ति-निश्चय 'पदार्थों' में किया जाता है। प्रथमतः बालक को यह बताना पड़ता है कि 'प्रवृत्ति' में 'कार्यता (कृतिसाध्यत्व) ज्ञान', हेतु (कारण) हुआ करता है। कार्यत्व का अर्थ होता है—'कृतिसाध्यत्व'।

एवञ्च वाक्यश्रवण के अनन्तर कार्यताज्ञान के अभाव में प्रवृत्ति के न होने से 'ज्ञान' आदि का अनुमान होना संभव नहीं है, तब 'शक्ति' का निश्चय कैसे हो सकेगा? यह भी नहीं कह सकते कि 'हर्ष' आदि से 'ज्ञान' का अनुमान हो जाएगा, और उससे 'शक्ति' का 'निश्चय' हो जाएगा। व्युत्पन्न पुरुष की 'शक्ति' का निश्चय रहनेपर भी बहुत छोटे बालक को प्रथमव्युत्पत्ति के समय शक्ति का निश्चय नहीं होता है।

किञ्च—अन्य कारणों से भी हर्ष आदि के होने का संभव रहने से यह नहीं कहा जा सकता कि हर्ष से पुत्रजन्म के ज्ञान का अनुमान हो रहा है। अतः पदों की शक्ति, 'कार्यान्वित पदार्थ' में ही हुआ करती है। एवञ्च वाक्यश्रवण होने के पश्चात् 'कार्यताज्ञान' होता है और उससे 'प्रवृत्ति' होती है, और उससे 'ज्ञान' का अनुमान होता है, और उससे 'शक्ति' का निश्चय हो जाता है। यह भी नहीं कह सकते कि 'इष्टसाधनताज्ञान' से 'प्रवृत्ति' का संभव होने से 'कार्यताज्ञान' को निरर्थक माना जाय, क्योंकि चन्द्रमण्डल में इष्टसाधनताज्ञान रहनेपर भी उसके आहरणार्थ प्रवृत्ति नहीं हुआ करती। कार्यताज्ञान को प्रवर्तक माननेपर 'कूप-पतन' आदि में भी प्रवृत्ति होनी चाहिये—यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि 'कार्यताज्ञान' तभी प्रवर्तक होता है, जब वह इष्टसाधनताज्ञान के समकाल में होता है, अन्यथा नहीं। अतः 'कार्यताज्ञान' को ही प्रवर्तक कहना चाहिये। अतएव कार्यपरक लिङ्-लोट्-तव्य आदि प्रत्ययों से घटित वाक्यों को ही प्रमाण कहा जाता है। अन्य वाक्यों को नहीं। तब वाक्यार्थबोध कैसे होगा? यह जिज्ञासा होनेपर उत्तर यह होगा कि—'असंसर्गाऽग्रहात्'—अर्थात् 'संसर्गग्रह' (संसर्गज्ञान) से वाक्यार्थबोध हो सकता है। इसलिये पदों की कार्यान्वित पदार्थ में ही 'शक्ति' होती है।

किन्तु वेदान्ती लोग लाघव की दृष्टि से 'पदों की शक्ति' 'इतरान्वित पदार्थ' में मानते हैं। 'कार्यान्वित पदार्थ' में नहीं। क्योंकि कार्यान्वित पदार्थ में शक्ति मानने के लिये कोई प्रमाण नहीं है तथा गौरवदोष भी उपस्थित होता है।

यद्यपि प्रथमव्युत्पत्ति के समय कार्यान्वित में ही पदों की शक्ति का ग्रहण हुआ करता है, तथापि दूसरे पर्याय में

"शक्तिग्रहं व्याकरणोपमान-कोशाप्तवाक्याद्व्यवहारतश्च ।
वाक्यस्य शेषाद्विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः॥" इति ॥१४॥

●

इदानीं स्वसिद्धान्तमतमाह—अन्वित इति । पदानां लाघवादितरान्विते पदार्थे शक्तिः, न कार्य्यान्विते गौरवान्माना-भावाच्च । यद्यपि प्रथमव्युत्पत्तौ कार्य्यान्विते; पदानां शक्तिर्गृह्यते । तथापि पर्य्यायान्तरे कार्य्यांशं गौरवबलेनोपेक्ष्येतरान्विते पदार्थे पदानां सामर्थ्यमवधार्य्यते तावता व्यवहारोपपत्तेः । न चैवं कार्य्यताज्ञानाभावे प्रवृत्त्यभावात् कथं शक्तिग्रह इति वाच्यम् । पुत्रस्तेजात इति वाक्यश्रवणानन्तरं सिद्धार्थज्ञानादपि मुखविकासनेन हर्षमनुमाय तदस्तस्य ज्ञानजन्यत्वमनुमायानन्तरन्तस्य वाक्य-जन्यत्वमन्वयव्यतिरेकाभ्यां निश्चित्यावापोद्वापाभ्यां जनिमत्पिण्डे पुत्रपदस्य शक्तेरवधारणेन कार्य्यताज्ञानस्य सर्व्वत्रातन्त्रत्वात् । तदुक्तं वाचस्पतिमिश्रैः ।

"कार्य्यबोधे यथा चेष्टा लिङ्गं हर्षादयस्तथा । सिद्धबोधेऽर्थवत्ता च शास्त्रत्वं हितशासनात्" इति ॥

एतेन कार्य्यपराणामेव वाक्यानां प्रामाण्यं न सिद्धवस्तुपराणां वाक्यानामिति प्रत्युक्तम्, उक्तरीत्या सङ्गतिग्रहसम्भवात् । प्रयोजनवत्त्वाच्च, अनधिगतार्थबोधकतया प्रामाण्योपपत्तेः ॥

नन्वेवं सति ततो लाघवात्पदानां पदार्थ एव शक्तिरस्तु नत्वन्वयांशे, गौरवात् । न चैवं पदानामन्वयांशे शक्त्यभावे ततो वाक्यार्थबोधः कथमिति वाच्यम् । समभिव्याहारादेव तदुपपत्तेरिति चेन्नातिप्रसङ्गात् । तथाहि—पदानां यत्र सामर्थ्यम-वधारितं तद्बोधकत्वमेवाश्यमभ्युपगन्तव्यम् । अन्यथा घटपदात् पटबोधोऽपि स्यात् । ततश्चाशक्तपदसमभिव्याहारात्कथं वाक्यार्थ-बोधः स्यात् । नच क्रियापदसमभिव्याहृतेनाकांक्षादिमत्पदवृन्देन स्वस्वार्थे गृहीतसंगतिकेन बाधकाभावाच्छाब्दबोधोऽस्त्विति वाच्यम् । तत्तत्पदश्रवणेन तत्तत्पदार्थोपस्थितावप्यन्वयांशे शक्त्यभावेन पदानां समभिव्याहारात्कथं तद्बोधः स्यात् । तस्मात् समभिव्याहाराद्वाक्यार्थबोधस्यासम्भवात्पदानामितरान्विते पदार्थे शक्तिरवधार्य्यते इति सर्वैरवश्यमभ्युपगन्तव्यम् । सा च शक्तिर्जातावेव न व्यक्तौ व्यक्तीनामानन्त्यात् । कथं तर्हि पदश्रवणानन्तरं व्यक्तिबोधः । तस्य तत्राशक्तत्वादिति चेदाक्षेपाल्लक्षणया

●

गौरव के बल पर 'कार्यांश' की उपेक्षा कर दी जाती है, और 'इतरान्वित पदार्थ' में पदों की शक्ति (सामर्थ्य) का अवधारण किया जाता है, उसी से व्यवहार की उपपत्ति हो जाती है ।

किन्तु प्रश्न यह उपस्थित होता है कि 'कार्यताज्ञान' के अभाव में 'प्रवृत्ति' का अभाव रहने से 'शक्तिग्रह' कैसे हो सकेगा ।

यह प्रश्न उचित नहीं है । क्योंकि 'पुत्रस्ते जातः' इस वाक्य के सुनने के बाद 'सिद्धार्थ' का ज्ञान होनेपर भी सुननेवाले के मुख का जो विकास दृष्टिगत होता है, उसी से हर्ष का अनुमान हो जाता है, और उससे उसके ज्ञान-जन्यत्व होने का अनुमान लगा लिया जाता है, तदनन्तर उस वाक्यार्थ में वाक्य-जन्यत्व का अन्वय-व्यतिरेक से निश्चय किया जाता है और वाक्य-गत पदों के आवापोद्वाप के द्वारा 'उत्पद्यमान शरीर' में 'पुत्र' पद की शक्ति का अवधारण होता है । अतः 'कार्यताज्ञान' सर्वत्र अविवक्षित ही समझना चाहिये ।

अतः कार्यपरक वाक्यों का ही प्रामाण्य होता है, सिद्धपरक वाक्यों का नहीं—यह प्राभाकर का मत खण्डित हो जाता है । एवंच उक्त रीति से संगतिग्रह हो जाता है, और सप्रयोजनत्व भी सिद्ध होता है, तथा अनधिगत अर्थ का बोधक होने से प्रामाण्य की भी उपपत्ति लग जाती है ।

शंका—अन्वित में शक्ति मानने की अपेक्षा लाघवात् 'पदार्थ' में ही 'पदों की शक्ति को स्वीकार कर लिया जाय, 'अन्वयांश' में नहीं, क्योंकि गौरव होता है । यदि कोई यह कहे कि 'अन्वयांश' में पदों की शक्ति न रहने से उससे 'वाक्यार्थबोध' कैसे हो सकेगा ? इस शंका के समाधानार्थ यदि कोई कहे कि 'समभिव्याहार' से ही 'वाक्यार्थबोध' हो जायगा—तो यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि अति प्रसंग होने लगेगा । एवञ्च पदों का सामर्थ्य जहाँ अवधारित हो तद्बोधकत्व को ही अवश्य मानना चाहिये । अन्यथा 'घट' पद से 'पट' का भी बोध होने लगेगा । तो अशक्त पदसमभिव्याहार से वाक्यार्थ बोध कैसे होगा ? यदि यह कहें कि क्रियापदसमभिव्याहृत तथा आकांक्षादिमत् और अपने-अपने अर्थ में गृहीतसंगतिक पदसमूह से बाधक न

वा व्यक्तिबोधः। अथवा जातिविशिष्टव्यक्तौ शक्तिरस्तु तथापि जातौ ज्ञातोपयुज्यते। व्यक्तौ स्वरूपसती, तज्ज्ञानं विना व्यक्तिधीविलम्बाभावादित्यलमतिविस्तरेण।

एवं व्यवहाराच्छक्तिग्रहमुक्त्वान्यतोऽपि शक्तिग्रहमाह—एवमिति। तत्र सम्मतिमाह—उक्तञ्चेति ॥१४॥

●

होने के कारण शाब्दबोध हो सकेगा। किन्तु यह भी ठीक न होगा. क्योंकि तत्तत्पद के श्रवण से तत्तत्पदार्थ की उपस्थिति होनेपर भी 'अन्वयांश' में शक्ति न होने के कारण पदों के समभिव्याहार से वाक्यार्थबोध कैसे हो सकेगा? इसलिये समभिव्याहार से वाक्यार्थबोध का होना संभव न रहने से पदों की शक्ति का निश्चय इतरान्वित पदार्थ में किया जाता है। यह सभी को अवश्य मान लेना ही चाहिये ॥१४॥

घट आदि पदों की शक्ति घटत्व आदि जाति में ही है, घट आदि व्यक्ति में नहीं।

यदि 'घटादि व्यक्ति' में 'घटपद' को शक्ति को माना जाय तो 'घटादि व्यक्तियाँ' तो अनन्त हैं, उस कारण 'शक्तियों' को भी अनन्त मानना पड़ेगा। दूसरी बात यह भी है कि किसी एक घटव्यक्ति में 'घट' पद की शक्ति का ज्ञान हुआ, तो उसी घटव्यक्ति का बोध होना तो ठीक ही है, किन्तु उससे भिन्न अन्य घटव्यक्ति का ज्ञान नहीं होना चाहिये, क्योंकि उस अन्य घटव्यक्ति में 'घट' पद का शक्तिग्रह नहीं हुआ है। और बिना शक्तिग्रह के पदार्थज्ञान का होना कभी संभव नहीं है। किन्तु अन्य घटव्यक्ति का ज्ञान, होता तो है। उसका कारण यही है कि 'घटत्व' जाति, 'सम्पूर्णघटव्यक्तियों में 'एक' है। अतः व्यभिचारदोष नहीं हो पाता। एवंच 'जाति' में शक्ति के मानने से अनन्त शक्तियों की कल्पना नहीं करनी पड़ती तथा व्यभिचार दोष भी नहीं होता है। इसलिये 'घटादि' पदों की 'घटत्वादि जाति' में ही शक्ति मानना उचित है।

शंका—यदि 'घटादि पदों' की घटत्वादि जाति में ही शक्ति मानेंगे तो 'घटमानय' वाक्य को सुनकर 'घट' पद से 'घटत्वजाति' का ही बोध होगा, 'घटव्यक्ति' का तो बोध होगा नहीं। तब 'घटव्यक्ति' का 'आनयन' कैसे होगा?

समा०—यद्यपि 'घटपद' से 'घटत्वजाति' का ही बोध होता है, तथापि 'घटव्यक्ति' के बिना उस 'घटत्व' जाति का स्वतन्त्ररूप से 'आनयन' संभव नहीं है। अतः श्रोता को 'आक्षेप' से उस 'घटव्यक्ति' का बोध हो जाता है।

कुछ ग्रन्थकार 'समानवित्तिवेद्यत्व' को ही 'आक्षेप' कहते हैं। कुछ लोग 'अनुमान को 'आक्षेप' कहते हैं। कुछ लोग 'अर्थापत्ति' को 'आक्षेप' कहते हैं।

कुछ लोगों का कहना है कि 'घटत्वादिजातिविशिष्टघट आदि व्यक्ति' में ही 'घटादिपदों' को शक्ति होती है, केवल 'जाति में अथवा केवल 'व्यक्ति' में नहीं। 'जाति' में रहनेवाली 'शक्ति' तो 'ज्ञात' होने पर ही (ज्ञायमान होने पर ही) 'शाब्दबोध' के उपयुक्त होपाती है, और 'व्यक्ति' में रहनेवाली 'शक्ति' अपने 'स्वरूप से' ही शाब्दबोध के उपयुक्त होती है, उसके 'ज्ञात' होने की आवश्यकता नहीं है। इसी शक्ति को 'कुब्जा शक्ति' कहा गया है।

शंका—पहिले तो आपने 'घटादिपदों' की 'इतरान्वितघटादिकों' में 'शक्ति' का होना बताया था, और अब 'घट' आदि पदों की 'घटत्वजाति' में अथवा 'घटत्वजातिविशिष्ट घटव्यक्ति' में 'शक्ति' का होना बतारहे हैं—अतः यह तो विरोध होरहा है।

समा०—शंका करनेवाले को यह ध्यान में रखना चाहिये कि—(१) 'अनुभाविका' और (२) स्मारिका के भेद से 'शक्ति' दो प्रकार की होती है। पहिले हमने 'इतरान्वित घट' आदिकों में 'घट' आदि पदों की 'अनुभाविका शक्ति' को बताया था, और अब 'घटत्वादिजाति' में अथवा 'घटत्वादिजातिविशिष्ट घट आदि व्यक्ति' में 'घट आदि पदों' की 'स्मारिका शक्ति' को बता रहे हैं। अतः पूर्वोत्तर कथन में कोई विरोध नहीं है।

इसीप्रकार मीमांसक के मत में भी 'कार्यान्वितघट आदि' में 'घट आदि पदों' की 'अनुभाविकाशक्ति' है, और 'घटत्वादिजाति' में स्मारिकाशक्ति' है।

व्यवहार की तरह व्याकरण आदि से भी शक्ति का ग्रहण किया जाता है। कहा भी है—व्याकरण, उपमान, कोश, आप्त पुरुष का कथन, व्यवहार, वाक्यशेष, व्याख्या तथा ज्ञातपद की संनिधि से शक्तिग्रह होता है—ऐसा शिष्टों ने बताया है ॥१४॥

लक्षणा शक्यसम्बन्धः, सा च द्विधा—केवललक्षणा, लक्षितलक्षणा चेति। केवला त्रिविधा—जहल्लक्षणाऽजहल्लक्षणा जहदजहल्लक्षणा चेति। शक्यार्थपरित्यागेन तत्संबन्ध्यर्थान्तरे वृत्तिर्जहल्लक्षणा, यथा गङ्गायां घोष इत्यत्र गङ्गापदस्य तीरे लक्षणा। शक्यार्थाऽपरित्यागेन तत्संबन्ध्यर्थान्तरे प्रवृत्तिरजहल्लक्षा। यथा शोणोधावतीत्यत्र शोणपदस्य शोणगुणविशिष्टाश्वादि-

•

इदानीं लक्षणां निरुपयति—लक्षणेति। शक्तिविषयः शक्यस्तेन सम्बन्धो लक्ष्यमाणपदार्थस्य लक्षणा। यथा मण्डपं भोजयेत्यत्र मण्डपपदस्य तन्निष्ठपुरुषे शक्यसम्बन्धो लक्षणा। तां विभजते—सा चेति। शक्यसाक्षात्सम्बन्धः केवललक्षणेति केवललक्षणाया लक्षणमभिप्रेत्य केवलां विभजते—केवलेति। त्रैविध्यमेवाह—जहल्लक्षणेति। जहल्लक्षणां लक्षयति—शक्येति। अजहल्लक्षणायामतिव्याप्तिवारणाय शक्यार्थपरित्यागेनेत्युक्तम्। तत्रोदाहरणमाह—यथेति। अजहल्लक्षणां लक्षयति—शक्यार्था-

•

अब लक्षणा का निरूपण करते हैं—शक्य-सम्बन्ध लक्षणा है। शक्ति का विषय शक्य कहा जाता है। उस शक्य से लक्ष्यमाण पदार्थ के सम्बन्ध का होना ही लक्षणा है।

प्रश्न—शक्य से लक्ष्यमाण पदार्थ के सम्बन्ध को लक्षणा कहते हैं—इस कथन का अभिप्राय क्या है?

उत्तर—शब्द के तात्पर्य के अनुसार जो अर्थ उस शब्द से समझना आवश्यक हो उस वस्तु से जो शक्य का सम्बन्ध है वही लक्षणा है। भाव इतना ही है कि शक्य से सर्वथा असम्बद्ध वस्तु को कोई शब्द लक्षणावृत्ति से नहीं बता सकता।

लक्षणा के लिये यह उदाहरण है—किसी समझदार जिम्मेदार व्यक्ति ने कहा—मण्डप को भोजन कराओ। सुनने वाला जानता है कि मण्डप तो जड वस्तु है, भोजन करेगी नहीं। कहने वाला अनर्गल भी बोलता नहीं। अतः मण्डप शब्द के शक्य अर्थरूप मण्डप-पदार्थ से सम्बन्ध वाले मनुष्य को भोजन कराना है यही—वक्ता का अभिप्राय है।

यहाँ 'मण्डप' शब्द की वहाँ 'स्थित मनुष्य' में लक्षणा है। मण्डप शब्द के शक्य से मनुष्य का जो (संयोगादि) सम्बन्ध है वही लक्षणा है तथा उसी के सहारे मण्डप शब्द ने उस मनुष्य का बोध कराया है। अब लक्षणावृत्ति के विभाग को बताते हैं—वह लक्षणावृत्ति—(१) केवललक्षणा, (२) लक्षितलक्षणा, के भेद से दो प्रकार की है। इनमें से प्रथम का स्वरूप है—पद के शक्यार्थ का लक्ष्यमाण अर्थ के साथ जो साक्षात् सम्बन्ध है, उसी का नाम 'केवललक्षणा' है।

इस प्रकार केवललक्षणा का स्वरूपलक्षण बताकर अब उसका विभाग बताते हैं—केवल लक्षणा के पुनः तीन भेद होते हैं—(१) जहल्लक्षणा, (२) अजहल्लक्षणा, और (३) जहदजहल्लक्षणा। पद के शक्यार्थ का त्याग करके उस शक्यार्थ से सम्बन्धित अन्य पदार्थ में, 'पद' की जो लक्षणावृत्ति है—उसी का नाम जहल्लक्षणा है। जैसे—'गंगा पर घोष (घर) है'—इस स्थल पर गंगा शब्द की तीर (किनारा) अर्थ में लक्षणा है।

अजहल्लक्षणा में अतिव्याप्ति के निवारणार्थ, लक्षण में 'शक्यार्थपरित्यागेन' पद का निवेश अवश्य ही करना चाहिये। इसी जहल्लक्षणा का उदाहरण बताते हैं—जैसे किसी आदमी ने अपने मित्र से अपने घर का पता बताया—'गंगायां घोषः' (गंगा पर घर है)। उस वाक्य को सुनकर वह विचार करने लगा कि 'गंगा' पद का शक्यार्थ (वाच्यार्थ) तो 'भगीरथ-रथखातावच्छिन्न जलप्रवाह' है। उस जलप्रवाह में 'घोष' की अधिकरणता (आधारता) का होना कभी भी संभव नहीं हो सकता। यह विचार कर उसने 'गंगा' पद की 'तीर' (तट) के अर्थ में लक्षणा कर ली। लक्षणा करते समय उसे प्रक्रिया यह करनी पड़ी कि 'गंगा' पद का 'जलप्रवाह' रूप जो 'शक्यार्थ' है, उसका 'परित्याग' करके, 'सामीप्य' संबंध से उस शक्यार्थ के समीप रहनेवाला 'तीर' (तट) रूप जो अर्थान्तिर है, उसमें 'गंगा' पद की लक्षणा करनी पड़ी। इस लक्षणावृत्ति को 'जहल्लक्षणा' कहा गया है।

उसी तरह अजहल्लक्षणा को बतारहे हैं—अजहल्लक्षणा का स्वरूप यह है—'पद' के शक्यार्थ का परित्याग न करके उस शक्यार्थ से सम्बन्ध रखनेवाले अन्य पदार्थ में उस पद की जो लक्षणावृत्ति. उसी को 'अजहल्लक्षणा' के नाम से कहा जाता है। जैसे लाल दौड़ रहा है—इस वाक्य में लालशब्द की लाल गुण वाले घोड़े आदि द्रव्य में लक्षणा है।

जहल्लक्षणा में अतिव्याप्ति के निवारणार्थ 'शक्यार्थाऽपरित्यागेन'—यह विशेषण देना आवश्यक है। इसलक्षणा का उदाहरण बतारहे हैं—जैसे—मञ्चस्थित बालक का बोध कराने के लिये किसी ने कहा कि मञ्च आक्रोश (शब्द) कर रहे

द्रव्येषु[1]। शक्यैकदेशपरित्यागेनैकदेशवृत्तिर्जहदजहल्लक्षणा। इयमेव भागलक्षणेत्युच्यते। यथा सोऽयं देवदत्त इत्यत्र सोऽयमिति पदयोः केवलदेवदत्तपिण्डे। यथा वा तत्त्वमसीत्यत्र तत्त्वं पदयोरखण्डचैतन्ये लक्षणा। शक्यपरम्परासम्बन्धो लक्षितलक्षणा। यथा द्विरेफपदस्य मधुकरे। गौण्यपि लक्षितलक्षणैव ॥१५॥

●

परित्यागेनेति। जहल्लक्षणायामतिव्याप्तिवारणाय शक्यार्थापरित्यागेनेति विशेषणम्। तत्रोदाहरणमाह—यथेति। जहदजहल्लक्षणां निरुपयति—शक्यैकदेशेति। तत्र लौकिकोदाहरणमाह—यथेति। वैदिकमपि तदाह—यथावेति। मायोपहितं चैतन्यं तत्पदस्य वाच्यार्थः। स्थूलसूक्ष्मादिशरीरोपहितचैतन्यं त्वंपदस्य वाच्यार्थः। ततश्च तत्पदवाच्यैकदेशो माया, तत्परित्यागेनैकदेशे चैतन्ये वृत्तिस्तत्पदस्य। एवं त्वंपदस्य वाच्यार्थेऽपि स्थूलसूक्ष्मादिशरीरमेकदेशस्तत्परित्यागेनैकदेशे चैतन्ये वृत्तिस्त्वंपदस्य जहदजहल्लक्षणेत्यर्थः।

ननु तत्त्वं पदयोरखण्डचैतन्ये लक्षणास्वीकारे एकेनैव पदेन ब्रह्मसाक्षात्कारसम्भवात् पदान्तरवैयर्थ्यमिति चेन्नैष दोषः। पदस्य स्मारकत्वेन पदान्तरं विना साक्षात्काराजनकत्वात्। ततश्च प्रथमं प्रत्येकं तत्त्वंपदाभ्यां निर्विकल्पाखण्ड-

●

हैं। तब उक्त वाक्य को सुननेवाला पुरुष, जडमञ्चों में आक्रोशकर्तृत्व की अनुपपत्ति को सोचकर 'मञ्च' पद की 'मञ्चस्थ बालक' रूप अर्थान्तर में लक्षणा करलेता है। यहांपर 'मञ्च' पद के शक्यार्थरूप 'मञ्च' का परित्याग न करके 'मञ्च' पद की 'मञ्चस्थबालक' रूप अर्थान्तर में जो लक्षणावृत्ति है, उसी को 'अजहल्लक्षणा' के नाम से कहाजाता है। इसी अजहल्लक्षणावृत्ति का एक अन्य उदाहरण 'शोणोधावति' भी दिया जा सकता है। यहां पर 'शोण' पद का शक्यार्थ 'लालरंग' है, वह जड होने से उसमें 'धावन-क्रियाकर्तृत्व' का होना संभव नहीं है। अतः उस शक्यार्थ का त्याग करके 'शोण' पद की 'शोणगुणविशिष्ट अश्वादि द्रव्य' में लक्षणा की जाती है।

अब 'जहदजहल्लक्षणा' को बताते हैं—पद के शक्यार्थ के एक देश का परित्याग करके एक देश में पद की जो लक्षणावृत्ति है, उसी का नाम जहदजहल्लक्षणा है। इसी लक्षणा को 'भागत्यागलक्षणा' के नाम से भी कहते हैं। जैसे 'वही यह देवदत्त है'—इस वाक्य में 'वह' और 'यह' शब्दों की केवल 'देवदत्तशरीर' में लक्षणा है। अथवा जैसे 'तत्त्वमसि' वही तू है—इस वाक्य में 'वह' और 'तू' शब्दों की 'अखण्ड चेतन' में लक्षणा है। 'सोऽयं देवदत्तः'—वही यह देवदत्त है—यह वाक्य 'देवदत्त' नामक व्यक्ति का अभेदबोधन कराराहा है। सुनने वाला व्यक्ति उक्त वाक्य को सुनते ही 'सः (वह)—अयम् (यह)'—इन दोनों पदों की केवल 'देवदत्तरूप व्यक्ति'मात्र में लक्षणा करलेता है। क्योंकि 'सः' पद का शक्यार्थ—'तद्देशकालविशिष्टदेवदत्तव्यक्ति' है, और 'अयम्' पदका शक्यार्थ—'एतद्देशकालविशिष्ट देवदत्तव्यक्ति' है। ये 'दोनों शक्यार्थ' परस्पर विरुद्ध हैं। अतः 'दोनों शक्यार्थों' का अभेद होना संभव नहीं है। इसलिये 'सः' पद के 'शक्यार्थ' में जो 'तद्देशकालविशिष्टत्वरूप एकदेश' है, उसका परित्याग करके 'देवदत्तव्यक्तिरूप जो एकदेश' है, उसमें 'सः' पद की लक्षणावृत्ति (व्यापार) है, वैसे ही 'अयम्' पद के 'शक्यार्थ' में जो 'एतद्देशकालविशिष्टत्व' रूप एकदेश है, उसका परित्याग करके 'देवदत्तनामकव्यक्तिरूप जो एकदेश' है, उसमें 'अयम्' पदकी लक्षणावृत्ति है। इसी को जहदजहल्लक्षणा कहाजाता है।

इसी लक्षणा का एक वैदिक उदाहरण भी दे रहे हैं। जैसे—किसी गुरुने 'जीव-ब्रह्म' का अभेदबोधन कराने की इच्छा से शिष्य को 'तत्त्वमसि' इस महाक्य का उपदेश किया। उसे सुनकर अधिकारी शिष्य 'तत्' और 'त्वम्' इन दोनों पदों की 'अखण्डचैतन्य में लक्षणा करता है। 'तत् त्वम् असि'—में 'मायोपहित चैतन्य'—'तत्' पद का शक्यार्थ है, और 'स्थूल-सूक्ष्मादिशरीरोपहितचैतन्य'—'त्वम्' पद का शक्यार्थ है। इन दोनों शक्यार्थों का अभेद होना संभव नहीं है, क्योंकि दोनों शक्यार्थ, परस्पर विरुद्ध हैं। किन्तु उक्त वाक्य में 'तत्' और 'त्वम्' दोनों पदों का सामानाधिकरण्य उपलब्ध हो रहा है। उसकारण 'तत्' और 'त्वम्'—दोनों पदार्थों का 'अभेद' ही प्रतीत होता है। इसलिये 'तत्' पद के शक्यार्थ में उस 'मायारूप' एकदेश का परित्याग कर के उस 'चैतन्य' रूप एकदेश में 'तत्' पद की लक्षणा करते हैं। उसीतरह 'त्वम्' पद के शक्यार्थ में 'स्थूलसूक्ष्मादिशरीर' रूप एकदेश का परित्याग करके उस 'चैतन्य' रुप एकदेश में 'त्वम्' पद की लक्षणा करते हैं, इसीको जहदजहल्लक्षणा या भागत्यागलक्षणा कहते हैं। अतः लक्ष्यार्थरूप अखण्डचैतन्यों का अभेद रहना असंभव नहीं है।

---

१. यथा मञ्चाः क्रोशन्तीत्यत्र मञ्चपदस्य मञ्चस्थेषु पुरुषेषु। इति सीरीजपुस्तकपाठः।

चैतन्यस्मरणमुत्पद्यते। ततः पदसमुदायात्मकवाक्याद्ब्रह्मात्मैक्यापरोक्षानुभव उत्पद्यते "अहम्ब्रह्मास्मी" ति। अतो न पदान्तरवैयर्थ्यम्।

स्यादेतत्—"तत्त्वमस्या" दिवाक्ये लक्षणाङ्गीकरो निरर्थकः। वाच्ययोरेवैक्यबोधसम्भवात्। नच विरुद्धधर्माक्रान्तयोस्तयोः कथमैक्यबोध इति वाच्यम्। विशेषणांशयोर्विरुद्धत्वेनैक्यबोधासंभवेऽपि योग्यतया शक्त्युपस्थितयोर्विशेष्ययोरैक्यबोधसम्भवात्। तथाहि— यथा अनित्यो घट इत्यत्र विशेषणांशस्य घटत्वस्य नित्यत्वान्वयासम्भवेऽपि योग्यतया विशेष्यांशव्यक्तेस्तदन्वयः। तथा प्रकृतेऽप्युपपद्यते। यत्रोपसर्जनत्वेनोपस्थितस्य वाक्यार्थान्वयः स्याद् विशेष्यस्य वाक्यार्थान्वययोग्यता नास्ति, तत्रैव स्वतन्त्रोपस्थित्यर्थं पदार्थैकदेशपरित्यागेनैकदेशे लक्षणा; पदस्य विशिष्टवाचकस्य, यथा घटो नित्य इत्यत्र विशेष्यांशव्यक्तेर्नित्यत्वान्वयायोग्यतया घटत्वस्य स्वतन्त्रोपस्थित्यर्थम्, तस्मिन्विशिष्टवाचकघटपदस्य लक्षणा। ततश्च प्रकृते शक्त्युपस्थितयोर्विशेष्ययोर्योग्यतयैक्यबोधसम्भवान्नलक्षणा। अन्यथा गेहे घटो, घटमानय इत्यादावपि लक्षणाप्रसङ्ग इति।

•

शंका—'तत्' और 'त्वम्'—इन दोनों पदों की यदि 'एक अखण्डचैतन्य' में ही लक्षणा की जाती है, तब तो 'एक ही पद' से 'अखण्ड चैतन्यरूप ब्रह्म' का साक्षात्कार संभव हो सकता है, तब 'दूसरा पद'—व्यर्थ होगा। और एकार्थबोधक दो पदों के कथन से 'पुनरुक्ति' दोष भी प्राप्त होगा।

समा०—'पद' तो अपने अर्थ का केवल स्मरणमात्र कराते हैं, दूसरे पद के बिना केवल अकेला एक पद 'शाब्दबोध' नहीं करापाता। उसकारण प्रथम तो 'तत्' और 'त्वम्—इन दोनों पदों से 'भागत्यागलक्षणा' करके उस 'निर्विकल्प अखण्ड चैतन्य' का 'स्मरण' मात्र होता है। तदनन्तर उस पदसमुदायरूप 'तत्त्वमसि'—वाक्य से 'ब्रह्मात्मैक्यविषयक अहं ब्रह्मास्मि'—इत्याकारक शाब्द अपरोक्ष अनुभव होता है। यह अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) अनुभव, 'एक पद' से होना कभी संभव नहीं है। अतः दूसरा पद व्यर्थ नहीं है। अपितु दोनों पद सार्थक हैं। तथा पूर्वोक्त प्रकार से 'तत्' और 'त्वम्'—इन दोनों पदों के 'वाच्यार्थ' (शक्यार्थ) का भेद भी है, उसकारण 'पुनरुक्ति' दोष भी नहीं है।

प्रश्न—'तत्त्वमसि' में 'जहल्लक्षणा' क्यों नहीं की जाती ?

उत्तर—'जहल्लक्षणा' में सम्पूर्ण वाच्यार्थ का त्याग किया जाता है। किन्तु 'तत्त्वमसि' में 'तत्' और 'त्वम्' पद के वाच्यार्थ का सम्पूर्णतया त्याग नहीं किया जाता। किन्तु 'एकदेश' का त्याग किया जाता है। उसकारण 'तत्-त्वम्' पद में 'जहल्लक्षणा' करना संभव नहीं है। उसीतरह 'तत्-त्वम्' पद में 'अजहल्लक्षणा' भी नहीं की जाती। क्योंकि अजहल्लक्षणा' में 'वाच्यार्थ' से 'अधिक अर्थ' का भी ग्रहण किया जाता है। किन्तु 'तत्त्वमसि' में 'तत्' और 'त्वम्' पदों के 'वाच्यार्थ' से अधिक 'किसी अर्थ' का ग्रहण नहीं किया जाता। उसकारण 'तत्-त्वम्' पदों में 'अजहल्लक्षणा' का भी संभव नहीं है। किन्तु पूर्वोक्त रीति से अर्थात् केवल विरुद्ध अंशमात्र का परित्याग किया जाता है। अतः उसमें 'जहदजहल्लक्षणा' का ही संभव है। अतएव 'तत्त्वमस्यादिवाक्येषु लक्षणा भागलक्षणा'—कहकर आचार्यों ने 'तत्त्वमसि' वाक्य में 'भागत्यागलक्षणा' बताई है।

वेदान्तपरिभाषाकार धर्मराजाध्वरीन्द्र आदि कुछ ग्रन्थकारों ने 'तत्त्वमसि' वाक्य में 'भागत्यागलक्षणा' के विना ही 'अखण्ड चैतन्य' का बोधहोना बताया है। उनका कहना है कि जैसे—'अनित्योघटः'—इस वाक्य में 'घट' पद का 'घटत्व-विशिष्ट घटव्यक्ति'—'वाच्यार्थ' होता है। उस 'वाच्यार्थ' की 'एकदेशरूप जो घटत्वजाति' है, उस 'घटत्वजाति' का 'अनित्यत्व' के साथ अन्वय करना संभव नहीं है। किन्तु 'घटव्यक्ति' का ही उस 'अनित्यत्व' के साथ अन्वय करना संभव होता है। क्योंकि 'घट' पद की 'घटव्यक्ति' में अभिधाशक्ति है। अतः 'भागत्यागलक्षणा' के विना ही 'योग्यता' के बलपर 'घट' पद की 'अभिधाशक्ति' से उपस्थित 'घटव्यक्ति' का ही 'अनित्यत्व' के साथ अन्वय होता है।

उसीतरह 'तत्' और 'त्वम्' पदों के वाच्यार्थ का एकदेश जो 'परोक्षत्व-अपरोक्षत्व, सर्वज्ञत्व-अल्पज्ञत्व, असंसारित्व, संसारित्व' इत्यादि 'धर्म' हैं, उनका परस्पर 'अभेद' होना संभव नहीं है। किन्तु 'चैतन्यरूप विशेष्य अंश' का ही 'अभेद' रहना संभव हो सकता है। उसकारण 'तत्त्वमसि' वाक्य के 'तत्-त्वम्' पदों में 'भागत्यागलक्षणा के विना ही योग्यता' के बल पर 'तत्-त्वम्' पदों की 'अभिधाशक्ति' से उपस्थित 'अखण्डचैतन्य' का ही 'अभेदान्वय' बोध होता है। अतः 'तत्त्वमसि' वाक्य में 'भागत्यागलक्षणा' मानना व्यर्थ है। अन्यथा 'गेहे घटः, घटमानय'—में भी लक्षणा करनी होगी।

अत्रोच्यते—येन रूपेण पदार्थोपस्थितिस्तेन रूपेण पदार्थानां वाक्यार्थान्वयो वाच्यः, अन्यथातिप्रसङ्गात्। एवं विशिष्टरूपेणोपस्थितयोस्तत्त्वं-पदार्थयोरत्यन्तविरुद्धत्वेन कथमभेदवाक्यार्थान्वयः स्यात्, ततो निर्विकल्पकचिद्रूपेणोपस्थित्यर्थं तत्त्वं-पदार्थयोस्तत्त्वमस्यादि वाक्येषु लक्षणाङ्गीकारः। न चानित्यो घट इत्यत्रापि लक्षणा स्यादिति वाच्यम्। तत्र विशिष्टव्यक्तेर-नित्यत्वान्वये बाधकाभावादत्र विशिष्टैक्यस्य प्रत्यक्षादिप्रमाणविरुद्धत्वाच्च। गेहे घट इत्यादावपि घटादेर्विशिष्टवृत्तित्वे बाधकाभावान्न लक्षणा। तस्मान्निर्विकल्पकचिद्रूपेण तत्त्वं-पदार्थयोरुपस्थित्यर्थं तत्त्वमस्यादिवाक्येषु लक्षणाङ्गीकरणमितिदिक्।

लक्षितलक्षणां निरुपयति—शक्येति। तत्रोदाहरणमाह—यथेति। द्विरेफपदस्य शक्यं रेफद्वयं तस्य भ्रमरपदेन सम्बन्धः। भ्रमरपदस्य मधुकरेण सम्बन्धः। तथाच द्विरेफपदस्य मधुकरेण परम्परासम्बन्धो लक्षितलक्षणेत्यर्थः। सिंहो देवदत्त इत्यत्र सिंहपदस्य देवदत्ते गौणीवृत्तिः, सा लक्षितलक्षणायामन्तर्भूता। तथाहि सिंहपदस्य सिंहमृगः शक्यस्तस्य क्रौर्येण सम्बन्धः, क्रौर्य्यस्य देवदत्तेन सम्बन्धः। ततश्च सिंहपदस्य लक्ष्येण देवदत्तेन शक्यपरंपरासम्बन्धो वर्त्तत इति। गौण्यपि लक्षितलक्षणैवेत्याह—गौण्यपीति ॥१५॥

•

किन्तु अधिक आचार्य उक्त मत के समर्थक नहीं हैं। अधिकतर आचार्यों का कहना है कि 'येन रुपेण पदार्थोपस्थितिः तेन रूपेण पदार्थानां वाक्यार्थान्वयो वाच्यः'—अर्थात् जिस रूप से पदार्थोपस्थिति हुई है, उसी रूप से पदार्थों का वाक्यार्थ के साथ अन्वय कहना चाहिये, अन्यथा अतिप्रसंग होगा। इसप्रकार के विशिष्टरूप से उपस्थित होनेवाले 'तत्-त्वम्' इन दो पदार्थों का रूप परस्पर अत्यन्त विरुद्ध होने के कारण 'अभेदवाक्यार्थ' कैसे होसकता है? उसकारण निर्विकल्पक चिद्रूप से उपस्थित होने के लिये 'तत्त्वमसि' वाक्य के 'तत्' और 'त्वम्' पद की लक्षणा करनी ही होगी।

प्रश्न—तब 'अनित्योघटः' में लक्षणा करनी होगी।

उत्तर—वहाँ लक्षणा का प्रसंग ही नहीं आता, क्योंकि विशिष्टव्यक्ति का 'अनित्यत्व' के साथ अन्वय होने में कोई बाधक नहीं है। किन्तु 'तत्त्वमसि' में 'विशिष्ट ऐक्य' के होने में 'प्रत्यक्षप्रमाण' बाधक है। 'गेहे घटः' में भी 'घट' के विशिष्टवृत्तित्व में बाधक के न रहने से लक्षणा का प्रसंग नहीं है। अतः निर्विकल्पक चिद्रूप से 'तत्-त्वम्' पदार्थों की उपस्थिति के लिये 'तत्त्वमसि' वाक्य में 'लक्षणा' करनी ही होगी।

अभीतक 'केवल लक्षणा' का निरूपण किया गया। अब 'लक्षित-लक्षणा' का निरूपण किया जारहा है—पद के 'शक्यार्थ का' 'लक्ष्यमाण अर्थ' के साथ जो 'परम्परासम्बन्ध', उसे लक्षितलक्षणा कहते हैं। जैसे द्विरेफ-शब्द की भँवर (मधुमक्खी) में लक्षणा है। गौणीवृत्ति भी लक्षितलक्षणा ही है। 'द्विरेफो रौति'-अर्थात् 'मधुकर'; शब्द (गुंजार) कर रहा है—इस वाक्य को सुनकर सुननेवाला व्यक्ति यह समझरहा है कि 'द्विरेफ' पद के 'शक्यार्थरूप जो रेफद्वय (दो रकार), उनमें 'शब्दकर्तृत्व' की उपपत्ति नहीं हो सकती। तब वह श्रोता पुरुष 'द्विरेफ' पद का 'भ्रमर' पद के साथ सम्बन्ध, तदनन्तर 'भ्रमर' पदका 'मधुकर' के साथ सम्बन्ध करता है। तथाच 'द्विरेफ' पद का 'मधुकर' के साथ 'परम्परासम्बन्ध' होता है। इस परम्परासम्बन्ध को ही 'लक्षितलक्षणा' कहते हैं। अभिप्राय यह है कि 'द्विरेफ' पद का शक्यार्थ (वाच्यार्थ) है—'दो रकार'। उन 'दो रकारों' का 'मधुकर' के साथ 'साक्षात् सम्बन्ध' तो है नहीं। उनका साक्षात् सम्बन्ध तो 'भ्रमर' पद के साथ है। और उस 'भ्रमर' पद का उस 'मधुकर' के साथ सम्बन्ध है। इस रीति से 'दो रकारों' का 'स्व-घटितपदवाच्यत्व' रूप परम्परासम्बन्ध, उस 'मधुकर' के साथ है। इस परम्परासम्बन्ध के 'स्व' शब्द से द्विरेफपद के शक्यार्थरूप 'दो रकारों' का ग्रहण करना है। उन 'दो रकारों' से घटित है 'भ्रमर' पद। उस भ्रमरपद का वाच्यत्व, 'मधुकर' में है—इसी शक्यार्थपरम्परासम्बन्ध को 'लक्षित-लक्षणा' शब्द से कहा करते हैं।

कुछ शास्त्रकारों ने 'शक्ति' और 'लक्षणा' से भिन्न तीसरी 'गौणी' वृत्ति भी मानी है। जैसे—'सिंहो देवदत्तः'—यह देवदत्त नामका व्यक्ति 'सिंह' है—इस वाक्य में 'सिंह' पद की 'देवदत्त' नामक व्यक्ति में 'गौणीवृति' है। परन्तु यह 'गौणीवृत्ति', पूर्वोक्त 'लक्षणावृत्ति' से भिन्न नहीं है, अपितु उक्त 'लक्षितलक्षणा' के ही अन्तर्गत है। क्योंकि 'सिंह' पद का शक्यार्थ है—'सिंहपशु'। इस शक्यार्थ का 'शूरता-क्रूरता' के साथ सम्बन्ध है, और उस 'शूरता-क्रूरता' का सम्बन्ध 'देवदत्त' नामक व्यक्ति के साथ है। इस रीति से 'सिंह' पद के शक्यार्थ का 'देवदत्त' व्यक्ति के साथ 'स्व-वृत्तिक्रूरतादिमत्त्व' रूप 'परम्परासम्बन्ध' है। इसलिये इस 'गौणीवृत्ति' को 'लक्षितलक्षणा' के ही अन्तर्गत मानना उचित है ॥१५॥

२३

एवं व्युत्पन्नस्य गृहीतसंगतिकवाक्याद्वाक्यार्थप्रमोत्पत्तौ आकांक्षायोग्यता आसत्तिस्तात्पर्यज्ञानञ्चेति चत्वारि कारणानि । आकांक्षायोग्यते निरूपिते । शक्तिलक्षणान्यतरसम्बन्धेनाव्यवधानेन पदजन्यपदार्थोपस्थितिरासत्तिरिति ॥१६॥

●

एवं सङ्गतिग्रहस्यान्वयव्यतिरेकाभ्यां वाक्यार्थप्रमोत्पत्तौ कारणत्वमभिप्रेत्य शक्तिलक्षणाभेदेन सङ्गतिं व्युत्पाद्य वाक्यार्थप्रमोत्पत्तौ कारणान्तराण्यपि दर्शयति—एवमिति । यथा वाक्यार्थप्रमोत्पत्तौ सङ्गतिग्रहः कारणम् एवं व्युत्पन्नस्य गृहीतसङ्गतिकस्य गृहीतसङ्गतिकाद्वाक्यात्तदर्थप्रमोत्पत्तावाकांक्षादीन्यपि कारणानीति योजना । नच वाक्यस्याशक्तत्वाद्गृहीतसङ्गतिकवाक्यादित्यसङ्गतमिति वाच्यम्, वाक्यस्याशक्तत्वेऽपि तस्य पदसमुदायात्मकतया पदानां शक्तत्वाद्गृहीतसङ्गतिकवाक्यादिति वक्तुं युक्तमितिभावः । तर्हि तानि चत्वार्याकांक्षादीनि निरूपणीयानीत्याकांक्षायां द्वयं निरूपितमवशिष्टं द्वयं निरूप्यत इत्यभिप्रेत्याह—आकांक्षेति । वाक्यलक्षणनिरूपणप्रस्तावे अन्वयानुपपत्तिराकांक्षावाक्यार्थावाधोयोग्यतेति निरूपिते इत्यर्थः । आसत्तिं लक्षयति—शक्तीति । शक्तिलक्षणान्यतरत्वं नाम तदन्यान्यत्वम् । पदार्थोपस्थितिरासत्तिरित्युक्ते प्रमाणान्तरजन्यायाः पदार्थोपस्थितेरप्यासत्तित्वप्रसङ्गस्तद्वारणाय पदजन्येति । लिङ्गविधया पदजन्यपदार्थोपस्थितेरासत्तित्ववारणाय शक्तीत्यादि । शक्तिलक्षणे निरूपिते । व्यवहितपदजन्यपदार्थोपस्थितेरासत्तित्ववारणाय अव्यवधानेनेति ॥१६॥

●

एवंच 'अन्वय-व्यतिरेक' के 'संगतिग्रह' के द्वारा 'वाक्यार्थ प्रमा' उत्पन्न होती है, उसकारण वाक्यार्थप्रमा की उत्पत्ति में 'संगतिग्रह' कारण होता है ।

इसप्रकार जिस व्यक्ति को पदों की 'शक्तिवृत्ति' का तथा 'लक्षणावृत्ति' का ज्ञान रहता है उसी व्यक्ति को उक्त वाक्य से 'शाब्दी प्रमा' हो पाती है । वृत्तिज्ञान से रहित व्यक्ति को उक्त वाक्य से शाब्दीप्रमा नहीं होपाती ।

किञ्च—जैसे 'शक्ति', 'लक्षणा' रूप वृत्तियों का ज्ञान शाब्दीप्रमा (वाक्यार्थप्रमा) की उत्पत्ति में कारण होता है, उसीप्रकार अन्यान्य कारण भी शाब्दीप्रमा की उत्पत्ति में हुआ करते हैं। उन्हीं को बताते हैं—वृत्तिज्ञान के अतिरिक्त—(१) आकांक्षा, (२) योग्यता, (३) आसत्ति, (४) तात्पर्य—इन चारों का ज्ञान भी 'शाब्दीप्रमा' की उत्पत्ति में कारण होता है ।

एवं च गृहीत-संगतिक व्युत्पन्न पुरुष को गृहीत-संगतिक वाक्य से वाक्यार्थ प्रमा की उत्पत्ति में आकांक्षा आदि भी कारण हुआ करते हैं ।

प्रश्न—वाक्य तो अशक्त रहता है, उसमें कोई शक्ति नहीं होती, तब 'गृहीतसंगतिकवाक्य' से—यह कहना असंगत है ।

उत्तर—वाक्य के अशक्त रहनेपर भी उसको पदसमुदायात्मकता के कारण पदों के शक्त रहने से 'गृहीतसंगतिक वाक्य' से—यह कहना असंगत नहीं है । उक्त चार कारणों में से 'आकांक्षा' और 'योग्यता'—इन दोनों के स्वरूप को पूर्व बता चुके हैं । अब 'आसत्ति' के स्वरूप को बताते हैं—पद का अपने अर्थ में 'शक्ति' रूप सम्बन्ध, या 'लक्षणा' रूप संबंध से और अनपेक्षित व्यवधान से रहित पदजन्य पदार्थ की जो स्मृति, उसे 'आसत्ति' कहते हैं ।

जैसे 'घटमानय'—इस वाक्य को सुनकर, सुननेवाले को 'घट' पद की शक्ति से (शक्तिरूप सम्बन्ध से) 'घट' रूप अर्थ की स्मृति होती है, और 'आनय' पद के 'शक्ति' रूप सम्बन्ध से 'आनयन'-रूप क्रिया की स्मृति होती है, तथा 'गंगायां घोषः'—इस वाक्य को श्रवणकर श्रोता को 'गंगा' पद के 'लक्षणा' रूप सम्बन्ध से 'तट' रूप अर्थ की स्मृति होती है, और 'घोष' पद के 'शक्ति' रूप सम्बन्ध से 'घोष' रूप अर्थ की स्मृति होती है—इसी को 'आसत्ति' कहते हैं ।

यदि 'पदार्थोपस्थिति' को ही 'आसत्ति' कहें तो 'प्रमाणान्तरजन्य' पदार्थोपस्थिति को भी 'आसत्ति' कहना होगा । इस अतिप्रसंग के निवारणार्थ 'पदजन्य' भी कहना चाहिये । लिङ्गविधया पदजन्यपदार्थोपस्थिति में आसत्तिलक्षण की अतिप्रसक्ति के वारणार्थ शक्तीत्यादि का भी निवेश किया है, अर्थात् शक्ति और लक्षणा को भी कहागया है । व्यवहित पदजन्य पदार्थोपस्थिति में आसत्ति के लक्षण को अतिप्रसक्ति के वारणार्थ 'अव्यवधानेन' कहागया है ॥१६॥

तात्पर्य्यम् द्विविधं, वक्तृतात्पर्य्यं शब्दतात्पर्य्यञ्चेति। पुरुषाभिप्रायो वक्तृतात्पर्य्यं; तज्ज्ञानं वाक्यार्थज्ञाने; न कारणं, तदभावेऽपि अव्युत्पन्नस्य वाक्याद्वाक्यार्थज्ञानदर्शनात्।

तदितरप्रतीतिमात्रेच्छयानुच्चरितत्वे सति तदर्थप्रतीतिजननयोग्यत्वं शब्दतात्पर्य्यम्। तच्च षड्विधैर्लिङ्गैर्निश्चीयते वेदे। लिङ्गानि तु दर्शितानि[1]—

●

तात्पर्य्यज्ञानस्य वाक्यार्थप्रमां प्रति कारणत्वमुपपादयितुं तात्पर्य्यं विभजते—**तात्पर्य्यमिति**। तदर्थप्रतीतीच्छयोच्चरितत्वं वक्तृतात्पर्य्यमिति केचिदाहुः। तन्न, मौनिश्लोकादौ तदभावादित्यभिप्रेत्य वक्तृतात्पर्य्यं व्युत्पादयति—**पुरुषेति**। तज्ज्ञानस्य वाक्यार्थप्रमां प्रति कारणत्वं न सम्भवति व्यभिचारादित्यभिप्रेत्याह—**तदिति**। तज्ज्ञानं वाक्यार्थप्रमां प्रति कुतो न कारणमित्याशंक्याह—**तदभावेऽपीति**। अव्युत्पन्नस्य वाक्यार्थज्ञानाभावेन तदिच्छायाः सुतरामसम्भवात्। तस्य तज्ज्ञानाभावेऽपि तद्वाक्याद्वाक्यार्थप्रमादर्शनान्न तत्कारणमित्यर्थः।

शब्दतात्पर्य्यं निरूपयति—**तदिति**। तस्मात्प्रकृतवाक्यार्थादितरोवाक्यार्थस्तत्प्रतीतिमात्रेच्छया अनुच्चरितत्वे सति तदर्थप्रतीतिजननयोग्यत्वं शब्दतात्पर्य्यमित्यर्थः। भोजनप्रकरणे सैन्धवमानयेत्युक्ते लवणानयनप्रतीतिवदश्वानयनप्रतीतिरपि स्यात्, तद्योग्यत्वस्य विद्यमानत्वात्तद्वारणाय पूर्व्वदलम्, तथाप्युभयेच्छया सैन्धवमानयेत्युक्ते वाक्येऽव्याप्तिः स्यादत उक्तं **मात्रेति**।

●

इसके अनन्तर 'वाक्यार्थप्रमा' में 'तात्पर्यज्ञान' कारण होता है—इसे बताने के लिये तात्पर्य का विभाग करते हैं। **'तात्पर्य' के दो प्रकार हैं—(१) वक्तृतात्पर्य और (२) शब्दतात्पर्य। इन में से 'श्रोता को मेरे कथन से अमुक अर्थ का ज्ञान हो'—इत्याकारक जो वक्ता की इच्छा, उसे 'वक्तृ-तात्पर्य' कहते हैं। वक्तृतात्पर्य का ज्ञान वाक्यार्थ के ज्ञान के लिये आवश्यक (जरूरी) नहीं है, क्योंकि स्वयं वाक्यार्थ न जानने वाले व्यक्ति द्वारा बोलेगये वाक्य का भी अर्थ समझ लिया जाता है।**

कुछ लोगों का कहना है कि उस अर्थ के प्रत्यायन की इच्छा से कथन करना ही वक्ता का तात्पर्य होता है। किन्तु यह तात्पर्यलक्षण उचित नहीं है। क्योंकि मौनिश्लोकआदि में यह लक्षण अन्वित नहीं होपाता है।

पूर्वोक्त प्रथमलक्षण—'वक्ता की इच्छा को 'वक्तृतात्पर्य' कहते हैं—ऐसा कहने पर भी उस वक्तृतात्पर्य का ज्ञान, 'शाब्दबोध' के होने में कारण नहीं होता है,। क्योंकि जिस पदार्थ के विद्यमान रहने पर जो 'कार्य' उत्पन्न होता है, और जिस पदार्थ के विद्यमान न रहने पर भी जो कार्योत्पत्ति में हेतु रहता है, उसी पदार्थ को उस कार्य का 'कारण' कहते हैं। जैसे कुलाल, दण्ड, चक्र, चीवर आदि 'घट' की उत्पत्ति में कारण बनते हैं। और जिस पदार्थ के विद्यमान न रहने पर भी जो 'कार्य' उत्पन्न होता है, उसकार्य के प्रति अविद्यमान रहनेवाले उस पदार्थ को 'कारण' नहीं मानाजाता। किन्तु उस पदार्थ को उस कार्य के प्रति 'अन्यथासिद्ध' कहते हैं। जैसे रासभादिकों को उस घट के प्रति 'पंचमअन्यथासिद्ध' ही कहा करते हैं।

उसीप्रकार 'वक्तृतात्पर्यज्ञान' के अभाव में भी दूसरे को 'शाब्दबोध' होता दिखाई देता है। जैसे शुक-सारिका आदि अव्युत्पन्नों का यह अभिप्राय नहीं रहता कि 'हमारे वाक्य से श्रोता को अमुक अर्थ का ज्ञान हो'—अर्थात् इस प्रकार का 'इच्छा' रूप तात्पर्य उनका नहीं रहता है, तथापि व्युत्पन्न श्रोताओं को शुक-सारिका आदि अव्युत्पन्नों के उच्चरित वाक्य से 'शाब्दबोध' होजाता है—यह सर्वानुभव सिद्ध है। अतः 'वक्तृतात्पर्यज्ञान' को 'शाब्दबोध' के प्रति कारण नहीं कह सकते।

प्रकृतवाक्यार्थ से भिन्न किसी अर्थ को बताने की किसी इच्छा से न कहा गया होते हुए प्रकृत वाक्यार्थ के ज्ञान को उत्पन्न करने में समर्थ होना शब्दतात्पर्य है। वेद में वह तात्पर्य छह प्रकार के चिह्नों से निश्चित किया जाता है।

तत्तत् शब्द में तत्तद्वाक्यार्थबोध को उत्पन्न करने को जो योग्यता रहती है, उसी को 'शब्दतात्पर्य' कहते हैं। इस शब्दतात्पर्य का ज्ञान, 'शाब्दबोध' के प्रति नियतरूप से कारण होता है। लौकिक शब्दों के तात्पर्य का निश्चय 'प्रकरण' आदि से होता है। जैसे—'सैन्धवमानय' इस वाक्य में स्थित जो 'सैन्धव' शब्द है, उसके वाच्यार्थ (वाक्यार्थ) 'लवण' और 'अश्व' दोनों हैं। अर्थात् 'लवण और अश्व'—दोनों अर्थों का 'वाचक' यह 'सैन्धव' शब्द है। अतः भोजन के समय 'सैन्धवमानय' वाक्य को सुनने पर सुननेवाले व्यक्ति को 'भोजनप्रकरण' के कारण सैन्धव' शब्द का लवण के अर्थ में तात्पर्यनिश्चय होता है।

---

१. समन्वयसूत्रभाष्यव्याख्याने ब्रह्मविद्याभरणकृद्भिरुपक्रमादीनि सूत्रसिद्धानीति प्रदर्शितम्। व्यस्ततयैषामुपयोगो भाष्यादावप्युलभ्यते। क्रमेण तु विवरण एव प्रथममिमानि प्रालेखिषत। श्लोकश्च तत्त्वदीपने वर्तते।

"उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्व्वता फलम् । अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्य्यनिर्णये" ॥ इति ।

अस्यार्थः—प्रकरणप्रतिपाद्यस्याद्वितीयवस्तुनः आद्यन्तयोः प्रतिपादनमुपक्रमोपसंहारौ । यथा छान्दोग्यस्य षष्ठे "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं" ब्रह्म[२] "ऐतदात्म्यमिदं सर्व्वमि"त्युपक्रमोपसंहारौ आद्यन्तयोः । प्रकरणप्रतिपाद्यस्य पुनः पुनः प्रतिपादनमभ्यासः । यथा तत्रैव "तत्त्वमसी"ति नवकृत्वोऽभ्यासः । प्रकरणप्रतिपाद्यस्य मानान्तराविषयताऽपूर्व्वता । यथा तत्रैवाऽद्वितीयवस्तुनो मानान्तराविषयता । "अत्र वावखिल सत्सौम्य न निभालयसे अत्रैव खिलेत्यादि" । प्रकरण-प्रतिपाद्यस्य श्रूयमाणं तज्ज्ञानात्तत्प्राप्तिः प्रयोजनं फलम् । यथा तत्रैव "आचार्य्यवान् पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न

●

उभयेच्छया प्रयुक्तत्वेऽपि तदितरप्रतीतिमात्रेच्छयानुच्चरितत्वस्य सत्त्वान्नाव्याप्तिः । र्वाह तत्तात्पर्य्यं केन प्रमाणेन निश्चीयत इत्याकांक्षायामाह—तच्चेति । शब्दतात्पर्य्यमित्यर्थः ।

कानि तात्पर्य्यलिङ्गानीत्याकांक्षायां—लिङ्गानित्विति । सङ्ग्रहश्लोकं पठति—उपक्रमेति । श्लोकं व्याचष्टे—अस्यार्थः । को तावुपक्रमोपसंहारावित्याकांक्षायामाह—प्रकरणेति । उभयाकांक्षा प्रकरणम् । तत्प्रतिपाद्यस्य वस्तुन आदौ प्रतिपादनमुपक्रमः । अन्ते प्रतिपादनमुपसंहारः । एतद्वयं तात्पर्य्यनिर्णायकमेकं लिङ्गमित्यर्थः । तदुभयमुदाहरति—यथेति । हे सोम्य ! सोमवत्प्रियदर्शन ! इदं दृश्यमानं सर्व्वम् अग्रे सृष्टेः पूर्व्वं सदेवासीद् एकमेवाद्वितीयं, तद्भिन्नं विजातीयं सजातीयं वा किमपि नास्तीत्यर्थः । एवं छान्दोग्ये षष्ठे आदावद्वितीयवस्तुप्रतिपादनमुपक्रमः । तथैतदद्वितीयवस्तु आत्मा यस्य तदेतदात्मा एतदात्मनो भाव ऐतदात्म्यं इदं सर्व्वं दृश्यमानम् अद्वितीयवस्तुव्यतिरेकेण नास्तीत्यर्थः । एवमन्तेऽद्वितीयवस्तुप्रतिपादनमुपसंहार इत्यर्थः । अभ्यासं निरूपयति—प्रकरणेति । अभ्यासमुदाहरति—यथेति । तत्रैव छान्दोग्ये षष्ठे एव नवकृत्वो नववारम् । अपूर्व्वतां

●

तथा कहीं बाहरजाने के समय उसी 'सैन्धवमानय' वाक्य को सुनकर सुननेवाले व्यक्ति को बाहरजाने के (गमन के) प्रकरण के कारण उस 'सैन्धव' शब्द का 'अश्व' के अर्थ में तात्पर्यनिश्चय होता है।

यदि कदाचित् 'शब्दतात्पर्यज्ञान' को शाब्दबोध के प्रति कारण न मानें तो एकही 'सैन्धव' शब्द से कभी 'लवण' का बोध और कभी 'अश्व' का बोध नहीं हो सकेगा। इसलिये उस शब्दतात्पर्यज्ञान को शाब्दबोधके प्रति कारण अवश्य मानना ही चाहिये।

वैदिक शब्दों के तात्पर्य का निश्चय षड्विधलिंग के द्वारा किया जाता है। उन षड्विधलिंगों को शास्त्रकारों ने इसप्रकार बताया है—(१) उपक्रम, उपसंहार, (२) अभ्यास, (३) अपूर्वता, (४) फल, (५) अर्थवाद और (६) उपपत्ति इन छह लिंगों के द्वारा वैदिक शब्दों के तात्पर्य का निर्णय किया जाता है।

(उपक्रमोपसंहार)

अब क्रमशः उक्त षड्लिंगों के लक्षण और उनके उदाहरणों को बतारहे हैं। उनमें से 'उपक्रमोपसंहार' को बताते हैं—

प्रकरण के द्वारा ही प्रतिपादित 'ब्रह्म' रूप अद्वितीय वस्तु है, उस अद्वितीय वस्तु का उस प्रकरण के 'आदि' में तथा 'अन्त' में जो प्रतिपादन किया जाता है, उसी को 'उपक्रमोपसंहार' कहते हैं। 'आदि' में कियेगये 'प्रतिपादन' को 'उपक्रम' और 'अन्त' में कियेगये प्रतिपादन को 'उपसंहार' कहते हैं। जैसे—सामवेद की छान्दोग्य उपनिषद् के षष्ठाध्याय के आदि में उद्दालक-मुनिने अपने पुत्र श्वेतकेतु के प्रति यह वचन कहा—हे प्रियदर्शन श्वेतकेतो ! यह दृश्यमान सम्पूर्ण जगत्, अपनी उत्पत्ति के पूर्व 'सत् ब्रह्म' रूप ही था। वह 'सत्' वस्तु, 'एक-अद्वितीय' रूप ही है। अर्थात् 'सजातीय, विजातीय, स्वगतभेद' से रहित है। इस प्रकार से षष्ठाध्याय के 'आदि' में 'अद्वितीय वस्तु' का जो प्रतिपादन है, उसी का नाम—'उपक्रम' है। तथा उसी षष्ठाध्याय के 'अन्त' में यह वचन कहा गया है—यह दृश्यमान 'समस्त जगत्', 'अद्वितीय ब्रह्म' रूप ही है, उस 'अद्वितीय ब्रह्म' से भिन्न नहीं है। इस प्रकार से उस षष्ठाध्याय के अन्त में उस 'अद्वितीय सत् ब्रह्म' का जो प्रतिपादन कियागया है, उसीका नाम—'उपसंहार' है।

यह 'उपक्रम' और 'उपसंहार'—दोनों मिलकर एक 'लिङ्ग' कहाजाता है।

---

२. अद्वितीयमित्यस्य व्याख्या ब्रह्मेति, न तु श्रुतिपदम् । क्वचित् कोशे ब्रह्मपदं नास्त्येव ।

विमोक्ष्येऽथ संपत्स्य" इति अद्वितीयवस्तुज्ञानात्तत्प्राप्तिः फलम् । प्रकरणप्रतिपाद्यस्य प्रशंसनमर्थवादः । यथा तत्रैव "येनाऽश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञात-" मित्यद्वितीयवस्तुप्रशंसनम् ।

प्रकरणप्रतिपाद्यस्य दृष्टान्तैः प्रतिपादनमुपपत्तिः । यथा तत्रैव "यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद् वाचारम्भणं विकारो नामधेयम् मृत्तिकेत्येव सत्यमि" त्यादि वाक्यप्रतिपादितमृदादिदृष्टान्तैरद्वितीयवस्तुप्रतिपादनम् ॥१७॥

•

निरूपयति—प्रकरणप्रतिपाद्येति । उदाहरति—यथेति । श्रुत्यतिरिक्तं मानं मानान्तरं तदगोचरत्वमपूर्वत्वमित्यर्थः । फलं निरूपयति—प्रकरणेति । तत्राप्युदाहरणमाह—यथेति । आचार्य्यवान् गुरुमुखाच्छ्रुतवेदार्थः । वेद ब्रह्मास्मीति साक्षात्करोति, तत्त्वमस्यादिवाक्यैरिति शेषः । तस्य ब्रह्मसाक्षात्कारवतो यावन्न विमोक्ष्ये प्रारब्धफलभोगेन बन्धान्न मुच्यते तावदेव चिरं तावत्कालमवस्थानम् । अथ भोगेन प्रारब्धे क्षीणे सम्पत्स्य ब्रह्म सम्पद्यते परमात्मा भवतीत्यर्थः ।

अर्थवादं निरूपयति—प्रकरणेति । उदाहरणं दर्शयति—यथेति । येन श्रुतेन ब्रह्मणाऽश्रुतं श्रुतं भवति तमादेशमप्राक्षः पृष्टवानसीति पूर्वेण सम्बन्धः । एवं सर्वत्र द्रष्टव्यम् । उपपत्तिमाह—प्रकरणेति । "लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः ।" तैर्दृष्टान्तैः प्रकरणप्रतिपाद्यप्रतिपादनमुपपत्तिरिति योजना । उदाहरति—यथेति । यथैकेन मृत्पिण्डेन विज्ञातेन सर्वं मृण्मयं घटशरावादिकं विज्ञातं स्यात् मृदात्मना, नामधेयं विकारश्चेति द्वयं वाचारम्भणमनृतं मृत्तिकेत्येव सत्यम् । अतो

•

(अभ्यास)

प्रकरण के आदि में तथा अन्त में प्रतिपादित वस्तुका उसी प्रकरण के मध्य में पुनः पुनः कियाजानेवाला जो प्रतिपादन है, उसी को 'अभ्यास' कहते हैं । जैसे छान्दोग्य में ही 'तत्त्वमसि' का नौ बार प्रतिपादन किया गया है ।

(अपूर्वता)

प्रकरण के द्वारा प्रतिपादित 'वस्तु' में केवल 'श्रुतिप्रमाण' की ही विषयता रहना, अर्थात् श्रुतिप्रमाण के अतिरिक्त प्रत्यक्षादि प्रमाणों की विषयता, उसमें न रहना—इसी को 'अपूर्वता' कहते हैं । जैसे—छान्दोग्य के षष्ठाध्याय में "यं वै सोम्यैतमणिमानं न निभालयसे"—इत्यादिवचनों से बताई गई है ।

(फल)

प्रकरण के द्वारा प्रतिपादित वस्तु के ज्ञान से श्रुतिप्रतिपादित वस्तु की प्राप्ति होना ही 'प्रयोजन' कहलाता है, उस प्रयोजन को ही 'फल' कहते हैं । जैसे, षष्ठाध्याय में कहा है—जिस अधिकारी शिष्य ने ब्रह्मनिष्ठ गुरु के मुखारविन्द से श्रवण किया हो, उसी अधिकारी शिष्य को 'तत्त्वमसि' आदिवाक्यों से 'प्रत्यक् अभिन्न ब्रह्म' का 'अहं ब्रह्मास्मि'—इस प्रकार से साक्षात्कार होता है । उस ब्रह्मवेत्ता पुरुष का शरीर, तभी तक स्थित रहता है, जबतक प्रारब्धकर्म के फलभोगों को भोगकर देहादिबन्धनों से वह मुक्त नहीं होता है । 'भोग से प्रारब्धकर्म के निवृत्त होनेपर वह ब्रह्मवेत्ता पुरुष ब्रह्मरूप ही होजाता है'—इस श्रुतिवचन के द्वारा 'अद्वितीय ब्रह्म' के ज्ञान से अद्वितीय ब्रह्म की प्राप्तिरूप प्रयोजन बताया गया है ।

(अर्थवाद)

प्रकरण के द्वारा प्रतिपादित 'वस्तु' का जो स्तुतिरूप प्रशंसन, उसी को 'अर्थवाद' कहते हैं । जैसे—षष्ठाध्याय में कहा है—हे श्वेतकेतो ! जिस एक वस्तु के श्रवण से 'अश्रुत वस्तु' भी श्रुत हो जाती है, तथा जिस वस्तु का मनन करने से 'अमत वस्तु' भी मनन का विषय बन जाती है । तथा जिस वस्तु का ज्ञान होने पर 'अविज्ञात वस्तु' भी विज्ञात होजाती है । उस एक वस्तु के विषय में तुमने अपने गुरु से पूछा, या नहीं ?—इस प्रश्नवचन से उस 'अद्वितीय ब्रह्म' वस्तु की स्तुतिरूप प्रशंसा की गई है । इसी का नाम—'अर्थवाद' है ।

(उपपत्ति)

प्रकरण में 'प्रतिपादित वस्तु' को अनेक दृष्टान्तों के द्वारा बताना ही 'उपपत्ति' है । जैसे—षष्ठाध्याय में मृत्तिका,—सुवर्ण आदि के दृष्टान्त को प्रदर्शितकर कारण से भिन्न कार्य की सत्ता का निषेध करके अद्वितीय ब्रह्मवस्तु का प्रतिपादन किया गया है—यही 'उपपत्ति' है ॥१७॥

एवं षड्विधतात्पर्य्यलिङ्गैर्वेदान्तानामद्वितीये ब्रह्मणि तात्पर्य्यनिश्चयः। इदमेव श्रवणमित्युच्यते। श्रुतस्यार्थस्योपपत्तिभिश्चिन्तनं मननम्। विजातीयप्रत्ययतिरस्कारेण सजातीयप्रत्ययप्रवाहीकरणं निदिध्यासनम्। तदुक्तम्—

"शब्दशक्तिविषयं निरूपणं युक्तितः श्रवणमुच्यते बुधैः।
वस्तुतत्त्वविषयं निरूपणं युक्तितो मननमित्युदीर्य्यते॥
चेतसस्तु चितिमात्रशेषता ध्यानमित्यभिवदन्ति वैदिकाः।
अन्तरङ्गमिदमित्थमीरितं तत्कुरुष्व परमात्मबुद्धये" इति।

इदं श्रवणादित्रयं साधनसम्पन्नस्य संन्यासिनो ज्ञानं प्रत्यन्तरङ्गसाधनम्, "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य" इत्यादिश्रुतेः॥१८॥

●

मृद्ज्ञानेन घटादिज्ञानं युक्तमित्यर्थः॥१७॥ एवं लिङ्गानि निरूप्य तैर्वेदान्तानाम्ब्रह्मणि तात्पर्य्यनिश्चयो भवतीत्युपसंहरति—एवमिति। ततः किमित्यत आह—इदमेवेति। उपक्रमादिषड्विधलिङ्गैरद्वितीये ब्रह्मणि वेदान्तानां तात्पर्य्यनिश्चयानुकूलव्यापाररूपं श्रवणमित्यर्थः। प्रसङ्गान्मननं निरूपयति—श्रुतस्येति। निदिध्यासनं निरूपयति—विजातीयेति। अनात्मन्यात्मबुद्धिर्द्वैतदर्शनञ्च विजातीयप्रत्ययः। अहम्ब्रह्मास्मीति प्रत्ययास्ततिरस्कारेणेत्यर्थः। अत्र श्रवणेन मानगताऽसम्भावना निवर्त्तते। मननेन मेयगताऽसम्भावना, निदिध्यासनेन विपरीतभावना। अनन्तरं तत्त्वमस्यादिवाक्याद्ब्रह्मापरोक्षज्ञानं शोधिततत्त्वंपदार्थस्य, ततोऽज्ञाननिवृत्तिः। एवं श्रवणादीनां ब्रह्मसाक्षात्कारद्वारा मोक्षे विनियोगः। एतच्चाग्रे व्युत्पादयिष्यति। तत्र सम्मतिमाह—तदुक्तमिति। शब्दानां वेदान्तानां शक्तिविषयं निरूपणं शक्तितात्पर्य्यावधारणानुकूलव्यापार इत्यर्थः। युक्तितो न्यायतो बुधैर्वेदान्तशास्त्रार्थरहस्यविद्भिः वस्तुतत्त्वविषयं निरूपणमद्वितीयब्रह्मतत्त्वनिर्णयानुकूलव्यापार इत्यर्थः, युक्तित उपपत्तितः, सा व्याख्याता। चेतसः अन्तःकरणस्य चितिमात्रशेषता विजातीयप्रत्ययतिस्कारेण सजातीयप्रत्ययप्रवाहिता; वैदिकाः वेदान्तार्थ-

●

जैसे छान्दोग्य के षष्ठाध्याय में उक्त षड्विध लिंगों से अद्वितीय ब्रह्म में तात्पर्यका निश्चय किया जाता है, वैसे ही उपनिषदों का अद्वितीय ब्रह्म में ही तात्पर्य है—यह निश्चय करना 'श्रवण' कहा जाता है।

'मनन' तथा 'निदिध्यासन' का स्वरूप यह है—श्रवण किये हुए अद्वितीय ब्रह्मरूप वस्तु का श्रुत्यनुकूल अनुमानादिरूप युक्तियों की सहायता से चिन्तन करना ही 'मनन' है। विजातीय वृत्तियों का तिरस्कार करके सजातीय वृत्तियों का प्रवाहित होते रहना ही 'निदिध्यासन' है।

'देहादि' अनात्मपदार्थों में जो 'आत्मबुद्धि' है, तथा 'द्वैतप्रपञ्च' का जो दर्शन है, उसे 'विजातीय वृत्ति' कहते हैं, और 'अहं ब्रह्मास्मि इत्याकारक वृत्ति को 'सजातीय वृत्ति' कहते हैं। श्रवण करने से प्रमाणगत असंभावना की निवृत्ति होती है। तथा 'मनन' करने से प्रमेयगत-असंभावना की निवृत्ति होती है। एवं 'निदिध्यासन' करने से विपरीत भावना की निवृत्ति होती है।

'देहादिकों' में जो आत्मबुद्धि होती है, उसी को 'विपरीत भावना' कहते हैं। प्रमाणगत असंभावना और प्रमेयगत-असंभावना दोनों को तृतीय परिच्छेद में बतावेंगे। इसप्रकार श्रवण-मनन-निदिध्यासन के द्वारा असंभावना, विपरीतभावना की निवृत्ति होने के पश्चात् 'तत्-त्वम्' पदार्थ का शोधन जिसने किया हो उस अधिकारी पुरुष को अज्ञान निवृत्तिपूर्वक परमानन्द-प्राप्तिरूपमोक्ष की प्राप्ति होती है। इसप्रकार से 'श्रवणादिकों' का ब्रह्मसाक्षात्कार द्वारा 'मोक्ष' में उपयोग होता है।

उक्त कथन में सर्वज्ञमुनिकी सम्मति बताते हैं—युक्तियों से 'ब्रह्म' में श्रुतियों के तात्पर्यनिश्चय को वेदान्तवेत्ताओं के द्वारा श्रवण कहा जाता है। लक्ष्यभूत अभिन्न वस्तु का युक्तियों से 'स्थिरीकरण मनन' कहलाता है। चित्त की चैतन्य-एकरसता के रूप में स्थिति को श्रौतविचारक 'ध्यान' कहते हैं; इस प्रकार ये अन्तरंग साधन बताये गये हैं। हे शिष्य! परमात्मानुभव के लिये इनका अनुष्ठान करो—यह संक्षेपशारीरक में कहा गया है।

इस प्रकार से यह श्रवणादि त्रय (तीन) साधनचतुष्टयसम्पन्न संन्यासी के ज्ञान के प्रति, अर्थात् ब्रह्मसाक्षात्कार के प्रति अन्तरंग साधन हुआ करते हैं। उक्त कथन में प्रमाण 'श्रुति' है।

साधनानि नित्यानित्यवस्तुविवेकः, इहामुत्रार्थफलभोगविरागः, शमादिषट्कसम्पत्तिर्मुमुक्षुत्वञ्चेत्येवं रूपाणि

●

चिन्तका:। द्वितीयश्लोकस्योत्तरार्द्धं व्याचष्टे—इदमिति। ज्ञानं प्रति ब्रह्मसाक्षात्कारं प्रति। तत्र प्रमाणमाह—आत्मेति। आदिशब्देन "तस्माद्ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठास्येत्पाण्डित्यञ्च बाल्यञ्च निर्विद्याथ मुनिः" "तद्विजिज्ञासस्व" इत्यादिश्रुतयो गृह्यन्ते ॥१८॥

ननु साधनसम्पन्नस्य संन्यासिनः श्रवणादित्रयं ज्ञानं प्रत्यन्तरङ्गसाधनमित्युक्तम्। तत्र कानि साधनानि यैः सम्पन्नः श्रवणाद्यधिकारी स्यात्तत्राह—साधनानीति। "अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः", "आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः", "तद्यथेह कर्म्मचितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते"।

"अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्। विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित् कर्तुमर्हति" ॥

"अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः"।

यत्कृतकं तदनित्यं यथा घट इत्यादि श्रुतिस्मृतिन्यायैरात्मा नित्यः। आत्मनोऽन्यदखिलं ब्रह्मलोकान्तमनित्यं पुण्यकार्य्यत्वात्। नच "कर्म्मणा पितृलोको विद्यया देवलोक" इत्यादिश्रुत्या ब्रह्मलोकस्य विद्यासाध्यत्वावगमात्पुण्यकार्य्यत्वानुपपत्तेः

●

उक्त श्रवणादिसाधनों का अधिकारी वही होसकता है, जिसने विवेकादिसाधनचतुष्टय को सम्पन्न करलिया हो, उसी संन्यासी के श्रवणादि तीनों, 'ब्रह्मसाक्षात्कार' के प्रति अन्तरंग साधन हुआ करते हैं। इसे श्रुति में इस प्रकार बताया है—हे मैत्रेयी! यह आत्मसाक्षात्कार, मुमुक्षुजनों के करने योग्य है। अर्थात् अभीष्ट मोक्षप्राप्ति का साधन, 'आत्मसाक्षात्कार' ही है। अतः आत्मसाक्षात्कार के लिये अधिकारी पुरुष का कर्तव्य है कि वह श्रवण-मनन-निदिध्यासन अवश्य करता रहे। उक्तश्रुति ने आत्मसाक्षात्कार की प्राप्ति के लिये श्रवण-मनन-निदिध्यासन-इन तीन साधनों को बताया है। किन्तु लौकिक-वैदिक कर्मों के अनुष्ठान से विक्षिप्त चित्तवाले मनुष्यों को ये श्रवणादिक साधन रुचिकर नहीं लगते। अतएव 'संन्यस्य श्रवणं कुर्यात्'—इत्यादि वचन भी संन्यासपूर्वक ही श्रवणादि करना बताते हैं। एवंच विवेकादिसाधनचतुष्टयसम्पन्न संन्यासी को ही आत्मसाक्षात्कार के प्राप्त्यर्थ 'श्रवणादि साधन' अपनाने चाहिये ॥१८॥

विवेकादि साधनचतुष्टय (चार साधन) ये हैं—(१) नित्याऽनित्यवस्तुविवेक, (२) इहामुत्रार्थफलभोगविराग, (३) शमादिषट्कसम्पत्ति (४) मुमुक्षुत्व (मुमुक्षुता)।

आत्मा तो नित्य है और आत्मा के अतिरिक्त ब्रह्मलोक पर्यन्त समस्त अनात्म वस्तु अनित्य है—इस प्रकार के विचारों को, जो श्रुति-स्मृति-युक्तियों की सहायता से उत्पन्न हुए हैं, उन्हें विवेक कहते हैं।

श्रुति-स्मृतियों से 'आत्मा' की 'नित्यता' बताई गई है। तथा श्रुति-स्मृतियों के वचनों से यह स्पष्ट हो रहा है कि 'जो कार्य होता है वह अनित्य ही होता है'। जैसे—'घट-पट' आदि कार्य हैं, अतएव वे अनित्य हैं, इत्यादि अनुमानरूप प्रमाण, तथा युक्तियों से 'अनात्मवस्तुओं' का अनित्यत्व निश्चितरूप से अवगत हो जाता है। विवेक करने की इस पद्धति से अधिकारी पुरुष को 'अनात्मवस्तु' के प्रति वैराग्य हो जाता है। इस संसार में जितने पदार्थ, 'सुख' के साधन हैं, जैसे—पुष्पमाला चन्दन, वनिता, उत्तमोत्तम वस्त्र, आभूषण-तेल-फुलेल आदि पदार्थ, 'सुख' के साधन माने जाते हैं, उसीतरह स्वर्गादिपरलोक के पदार्थ भी सुख के साधन हुआ करते हैं। जैसे अमृतपान, अप्सराएँ, दिव्य ऐश्वर्य-वैभव के विलास आदि पदार्थों में भी अनित्यता का निश्चय करके 'कुक्कुरवांतपायस' की तरह उनका भी त्याग करना ही वैराग्य है।

शंका०—"कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोकः"—इस श्रुतिवचन से प्रतीत हो रहा है कि 'ब्रह्मलोक' तो विद्या (ज्ञान) से प्राप्त होता है। अतः उसे 'पुण्यकर्म' का कार्य कहना उचित नहीं है। तब उसे अनित्य कैसे बताया जा रहा है?

समा०—'विद्यया देवलोकः'—यहाँ 'विद्या' शब्द से 'उपासना' विवक्षित है। वह 'उपासना' मानसक्रियारूप है, क्योंकि उसे किया जासकता है, नहीं भी किया जासकता है, उसे अन्यथा भी कर सकते हैं। 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं' सभी कुछ उसमें संभव हो सकता है। अतः उपासना के मानस-क्रियारूप होने से 'ब्रह्मलोक' भी पुण्य कर्म का ही कार्य है। इसलिये उसको अनित्यता; जो बताई गई है, वह अनुपपन्न नहीं है। अतः आत्मा के अतिरिक्त 'सम्पूर्ण विश्व' अनित्य है, एक मात्र 'आत्मा' ही नित्य है—इस प्रकार के विवेचन को ही 'नित्याऽनित्य वस्तु विवेक' कहते हैं।

"परीक्ष्यलोकान्कर्म्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्" "कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्" "शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुस्समाहितो भूत्वा आत्मन्येवात्मानं पश्येदि"त्यादिश्रुतिभ्यः ॥१९॥

●

कथमनित्यत्वमिति वाच्यम्। "विद्यया देवलोक" इत्यत्र विद्याशव्देनोपासनाया विवक्षितत्वात्, तस्याः कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथा कर्त्तुं शक्यत्वेन मानसक्रियारूपत्वाद् ब्रह्मलोकस्यापि पुण्यकार्य्यत्वेनानित्यत्वोपपत्तेः। एतच्चास्माभिः प्रागेव विस्तरेण प्रतिपादितम्। ततश्च आत्मनोऽन्यदखिलमनित्यम्, आत्मा नित्य इति विवेचनं नित्यानित्यवस्तुविवेकः॥

ननु कश्चित् स्वयमेव श्रुतिस्मृत्यर्थं न्यायञ्च कथमनुसन्धत्ते? मास्त्विति चेत्? तर्हि नित्यानित्यवस्तुविवेकः कथं स्यात्? किञ्च, "अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतम्भवती" तिश्रुत्या कर्म्मफलस्याक्षय्यत्वावगमात् कथमात्मभिन्नस्यानित्यत्वनिश्चय इति?

नायं दोषः, मलिनचित्तस्य तदसम्भवेऽपि निष्कामतयाऽनुष्ठितनित्यनैमित्तिकप्रायश्चित्तोपासनैराराधिताराध्यपादश्रीकृष्णभगवदनुगृहीतस्यात्यन्तनिर्मलत्वान्तस्य श्रुत्याद्यनुसन्धानेन नित्यानित्यवस्तुविवेकोपपत्तेः। कर्म्मफलाक्षय्यत्ववचनस्य विध्यनपेक्षिततया गुणार्थवादत्वाद्। "तद्यथेह कर्म्मचितो लोकः क्षीयत" इत्यादिवचनस्य श्रवणविध्यपेक्षितत्वेन न्यायोपोद्बलितत्वेन च भूतार्थवादतया ततो बलवत्त्वाच्च। तत आत्मभिन्नस्यानित्यनिश्चयो भवत्येव। अर्थवादस्त्रिविधः गुणवादोऽनुवादो भूतार्थवादश्चेति। तदुक्तम्—

"विरोधे गुणवादः स्यादनुवादोऽवधारिते। भूतार्थवादस्तद्धानादर्थवादस्त्रिधा मतः" ॥ इति।

●

शंका—कोई व्यक्ति स्वयं ही श्रुति-स्मृति के अर्थ का तथा न्याय का अनुसंधान कैसे कर सकेगा? यदि कहें कि नहीं कर सकता है, तो न करे। तब 'नित्यानित्यवस्तुविवेक, कैसे हो पाएगा?

किञ्च—"श्रुति से तो ,कर्मफल' की अक्षय्यता (नित्यता) प्रतीत होती है, तव आत्म भिन्न पदार्थों में अनित्यता का निश्चय कैसे किया जाय?

समा०—मलिन हृदय (मन=चित्त) वाले व्यक्ति के लिये 'नित्याऽनित्यवस्तुविवेक' का होना संभव न रहने पर भी जिस व्यक्ति ने निष्काम कर्म का अनुष्ठान किया है, तथा नित्य; नैमित्तिक, प्रायश्चित, उपासना आदि कर्म के अनुष्ठान से अपने हृदय (मन=चित्त) को कल्मषरहित बना लिया है, निष्काम कर्म के द्वारा तथा नित्यादि कर्मों के द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण के आराधनीय पादारविन्द की आराधना करके अनुग्रहपात्र होकर भगवान् श्रीकृष्ण का अनुग्रह प्राप्त किया है, उस निर्मलअन्तः करणवाले व्यक्ति को श्रुत्यादिवचनों के अनुसन्धान से 'नित्याऽनित्यवस्तुविवेक' का होना असंभव नहीं है, अपितु निश्चिरुप से संभव है।

कर्मफल की अक्षय्यता (नित्यता) बतानेवाला वचन तो 'गुणार्थवाद' है, क्योंकि 'विधिवाक्य' को उसकी अपेक्षा है। तथा "तद्यथेह कर्मचितोलोकः क्षीयते"—इत्यादि वाक्य, 'श्रवणविधि' के द्वारा अपेक्षित रहने से और न्याय से उपोद्बलित रहने से 'भूतार्थवाद' रूप है। अतः यह 'गुणार्थवाद' से प्रबल है। उसकारण आत्मभिन्न पदार्थों में अनित्यता का निश्चय होही जाता है।

अर्थवाद तीन प्रकार का होता है—(१) गुणवाद, (२) अनुवाद, (३) भूतार्थवाद। गुणवाद का उदाहरण—'आदित्यो यूपः'। अनुवाद का उदाहरण—'अग्निर्हिमस्य भेषजम्। भूतार्थवाद का उदाहरण—'यन्न दुःखेन सम्भिन्नम्', इत्यादि वाक्य जैसे कितने ही उदाहरण प्रस्तुत किये जासकते हैं।

तथाच विधि को तो फल की ही अपेक्षा रहती है, वह 'नित्य-अनित्य' के प्रतिपादन में उदासीन रहता है। अतः चातुर्मास्य के फल को यदि 'नित्य' मानते हैं; तो ज्योतिष्टोम, अश्वमेधादि की विधियों को अनर्थक ही कहना होगा। अतः चातुर्मास्य के 'अक्षय्यत्व' रुप फल के प्रतिपादक वाक्य को 'गुणार्थवाद' ही कहना चाहिये। जैसे 'पूर्णाहुत्या सर्वकामावाप्ति' के वचन को गुणार्थवाद माना जाता है, उसी तरह प्रस्तुत प्रसंग में भी समझना चाहिये।

अत्र "आदित्यो यूपो भवति" "अग्निर्हिमस्य भेषजम्" "यन्न दुःखेन सम्भिन्नमि"त्यादिवाक्यानि यथाक्रममुदाहरणीयानि ।

तथाच विधेः फलापेक्षायामपि नित्यत्वानित्यत्वयोरौदासीन्याच्चातुर्मास्यफलनित्यत्वे ज्योतिष्टोमाश्वमेधादिविधीनामानर्थक्यप्रसङ्गात्तदक्षय्यत्ववचनं गुणार्थवाद एव, पूर्णाहुत्या सर्वकामावाप्तिवचनवत् । "तद्यथेह कर्म्मचितोलोकः क्षीयत" इत्यादि वाक्यं तु श्रवणविध्यपेक्षितत्वान्मानान्तराविरुद्धत्वात् 'यत्कृतकं तदनित्य'मिति न्यायोपोद्बलितत्वादज्ञातार्थबोधकतया भूतार्थवादत्वात् स्वार्थे मानमेव ।

तदनेन न्यायेन नित्यानित्यवस्तुविवेके सम्यक् सम्पन्ने कर्म्मफलेष्वनित्यत्वदोषदर्शनेनेहामुत्रार्थफलभोगविरागो भवति । इववान्तपायसादाविवैहिकभोगसाधनस्रक्चन्दनवनितादिविषयेष्वमुत्रानृतादिविषयेषु चानित्यत्वदोषदर्शनेनात्यन्तजिहासा सम्पद्यते, अयमेवेहामुत्रार्थफलभोगविरागः । नच प्रथममेतादृशवैराग्यसिद्धौ किं रंहतिपादारम्भेण वैराग्यफलकेनेति[1] वाच्यम् । एतद्दार्ढ्याय तदारम्भोपपत्तेः । ततः शमदमोपरतितितिक्षाश्रद्धासमाधानानि भवन्ति । तान्यग्रे व्युत्पादयिष्यति । ततो मुमुक्षा एवं साधनानि भवन्तीत्यर्थः ॥

अत्र विवेकादिसाधनचतुष्टयं समुचितमधिकारिविशेषणमित्याचार्य्याः । अन्ये तु मुमुक्षैवाधिकारिविशेषणं विवेकादिकं तु तत्साधनत्वेन प्रणाड्या[2] । अन्यथा प्रसज्यप्रतिषेधादिति वदन्ति ।

विवेकादीनामधिकारिविशेषणत्वे प्रमाणमाह—**परीक्ष्येति । कर्म्मचितान्** कर्म्मसम्पादितान् **लोकान्** ब्रह्मलोकादीन् **परीक्ष्या**नित्यत्वेन निश्चित्य **ब्राह्मणो** ब्रह्मजिज्ञासुर्**निर्वेदं** वैराग्य**मायात्** प्राप्नुयात् । किमिति ? यतः, **अकृतो** मोक्षः **कृतेन** कर्म्मणा **नास्ति** न सम्भवति । ततः किं कुर्य्यादित्यत आह—**तदिति** । विरक्तः सर्वकर्म्माणि नित्यादीनि संन्यस्य **तद्विज्ञानार्थं** मोक्षसाधनीभूतब्रह्मविज्ञानार्थं **गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः**रुपहारपाणिः **श्रोत्रियं** शास्त्रज्ञानवन्तं **ब्रह्मनिष्ठं** करतलामलकवदखण्डैकरसा-

●

"कर्मचितोलोकः क्षीयते"—इत्यादिवाक्य 'श्रवणविधि' से अपेक्षित होने के कारण और प्रमाणान्तर के विरुद्ध अर्थका प्रतिपादन न होने से भी ; तथा 'यत् कृतकं तद् अनित्यम्'—इस न्याय से उपोद्बलित रहने से भी ; एवं अज्ञात अर्थका बोधक होने से यह वाक्य, 'भूतार्थवाद' है और वह स्वार्थ में प्रमाण भी है ।

इसी न्याय से 'नित्याऽनित्यवस्तुविवेक' अच्छीतरह सम्पन्न होनेपर ही कर्मजनित फल में अनित्यत्वदोष का ज्ञान हो पाता है, तब 'इहाऽमुत्रार्थफलभोगविराग' होपाता है । इस विराग के होनेपर ऐहिक भोगसाधन स्रक्-चंदन वनितादि-विषयों में तथा पारलौकिक अमृत आदि विषयों में भी अनित्यत्वदोष का ज्ञान होने से अत्यन्त जिहासा (त्यागने की इच्छा) होती है । इसी को 'इहाऽमुत्रार्थफलभोगविराग' कहते हैं ।

शङ्का—इसप्रकार की वैराग्यसिद्धि जब पहिले ही हो जाती है, तब वैराग्यफल के प्रतिपादक पाद का आरंभ करने की त्वरा क्यों की गई है ?

समा०—वैराग्य को दृढता का सम्पादन करने के लिये पाद का आरंभ किया गया है । उससे शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, और समाधान की निष्पत्ति होती है । तदनन्तर 'मुमुक्षा' जागती है । एवंच विवेकादिसाधनचतुष्टय, समुचित-अधिकारी ब्रह्मजिज्ञासु के विशेषण हुआ करते हैं—ऐसा आचार्य का मत है । किन्तु कुछ लोग केवल मुमुक्षा को ही अधिकारी का विशेषण मानते हैं । और विवेकादिकों को परम्परया उसके साधन के रूप में बताते हैं । अन्यथा प्रसज्यप्रतिषेध प्राप्त होगा ।

विवेकादिसाधनों को अधिकारी का विशेषण कहने में प्रमाण उपस्थित करते हैं—कर्म से प्राप्त होने वाले ब्रह्मलोकादि लोक भी अनित्य हैं—यह निश्चय कर ब्रह्म-जिज्ञासु को चाहिये कि वह पूर्णतया विरक्त हो जाय। क्योंकि मोक्ष, (अकृत), कर्म (कृत) से प्राप्त होना संभव नहीं है । इस परिस्थिति में ब्रह्मजिज्ञासु को क्या करना चाहिये ? उसे बताते हैं—वह विरक्त हुआ ब्रह्म-जिज्ञासु नित्यादि समस्त कर्मों का विधिवत् परित्याग कर (संन्यास ग्रहण कर)

१. प्रथममिति—अथशब्दार्थतयेत्यर्थः । रंहतिपादस्तृतीयस्याद्यः । 'तत्र प्रथमे तावत्पादे पंचाग्निविद्यामाश्रित्य संसारगतिप्रभेदः प्रदर्श्यते वैराग्यहेतोः' इति सूत्रभाष्यम् ।

२. णल बन्धन इति भौवादिकाद् घञि सिद्धेः प्रणाल्येति भवेत् । परम्परयेत्यर्थः । मुमुक्षाप्राधान्यं तस्य सर्वत्रापि प्रकरणेषु फलवाक्यैरधिकारिविशेषणत्वात् । विवेकादीनामेकैकस्मिन् प्रकरणे समाम्नानाद् गौणतेति भावः ।

२४

यथोक्तसाधनसम्पन्नस्य संन्यासाधिकारः। विहितानां कर्म्मणां विधिना परित्यागः संन्यासः। स च वैराग्य-हेतुकः।

"यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेदि"त्यादि श्रुतेः। "वैराग्यं परमेतस्य मोक्षस्य परमोऽवधिरि"ति स्मृतेश्च। स च वैराग्यस्य तारतम्येन चतुर्विधः—कुटीचकबहूदकहंसपरमहंसभेदात् ॥२०॥

●

नन्दब्रह्मसाक्षात्कारवन्तमिति मुण्डकश्रुतेरक्षरार्थः। कठवल्लीवाक्यमप्युदाहरति—कश्चिदिति। धीरो विवेकी जडानृतदुःखाहङ्कारेभ्यः प्रातिलोम्येन सच्चिदानन्दतया अञ्चति प्रकाशत इति प्रत्यङ् स चासावात्मा च प्रत्यगात्मा तं आवृत्तं विषयेभ्यो व्यावृत्तं चक्षुर्यस्य स तथोक्तः। चक्षुरिति सर्वेन्द्रियाणामुपलक्षणम्, जितेन्द्रिय इत्यर्थः। वृहदारण्यकवाक्यमुदाहरति—शान्त इति। आत्मनि मनसि आत्मानम् अद्वयात्मानं पश्यत्यहम्ब्रह्मास्मीति साक्षात्करोति। आदिशब्देन "आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियम्भवति"।

"असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः। तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥"

"उदरमन्तरं कुरुतेऽथ तस्य भयम्भवति तत्त्वेव भयं विदुषोऽमन्वानस्य" तस्य त्रय आवसथा स्त्रयः स्वप्ना" इत्यादि-वाक्यानि गृह्यन्ते ॥१९॥

ततः किमित्यत आह—यथोक्तेति। यथोक्तसाधनसम्पन्नस्य विवेकादिसाधनसम्पन्नस्य जिज्ञासोरिति शेषः। "एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ती"त्यादि श्रुतेः।

●

ब्रह्म-ज्ञान के प्राप्त्यर्थं अर्थात् मोक्षसाधनीभूत ब्रह्म-विज्ञानार्थं श्री सद्गुरु के ही शरण में जाय। श्री सद्गुरु के पास रिक्तपाणि (खाली हाथ) कदापि न जाय। किन्तु 'समित्पाणिः' हाथ में समिदादि उपहार लेकर जाय। 'गुरु' भी कैसा होना चाहिये? श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ गुरु होना चाहिये। गुरु को वेद-शास्त्र का यथार्थज्ञान होना चाहिये, एवं उसे ब्रह्मनिष्ठ होना चाहिये, और करतल पर रखे हुए आँवले के साक्षात्कार के समान अखंडैकरस, आनन्द ब्रह्म का साक्षात्कार जिसने किया हो, वही गुरु होने योग्य रहता है।

उक्त तथ्य का समर्थन कठवल्ली का वाक्य भी कर रहा है—अमृतत्व (मोक्ष) की इच्छा रखने वाले जितेन्द्रिय विवेकी पुरुष ने सच्चिदानन्दरूप से प्रकाशित रहने वाले आत्मा का साक्षात्कार किया। इसी के समर्थन में वृहदारण्यक वाक्य भी है—जितेन्द्रिय ब्रह्मजिज्ञासु पुरुष अपने मन में ही 'अद्वय आत्मा' को देखता है। अभिप्राय यह है कि 'अहं ब्रह्मास्मि' यह अनुभव करते हुए उसका साक्षात्कार करता है—इत्यादि अनेक श्रुतियाँ उक्त तथ्य में प्रमाण हैं ॥१९॥

क्योंकि सद्गुरु अपने उपदेश के प्रभाव से प्रतिबन्धक की निवृत्ति कर देते हैं, इसलिये साधनसम्पन्न अधिकारी उनकी शरण में जाये—यह अनिवार्य है। वेद-वेदार्थ के ज्ञाता जिस गुरु ने अखण्ड-एक रस परमानन्द का साक्षात्कार कर लिया है, वही साधक द्वारा आश्रयणीय है। को साधन जुटा चुकने पर मुमुक्षु क्या करना चाहिये?

विवेकादि साधन जिसमें भरपूर हैं ऐसे जिज्ञासु (मुमुक्षु) को संन्यास-ग्रहण करने का अधिकार है, उसका ही संन्यास सफल होता है। विधि से गृहीत कर्मों को विधान के अनुसार ही पूरी तरह अर्थात् साधन-सहित छोड़ना 'संन्यास' कहा जाता है। उसमें कारण वैराग्य ही है।

संन्यास श्रुतिप्रोक्त है। आत्मलोक का इच्छुक संन्यास ग्रहण करे—यह वेद की आज्ञा है।

शंका—साधनयुक्त मुमुक्षु को जिज्ञासा होना संगत नहीं, क्योंकि जिस ब्रह्म की जिज्ञासा होनी है; वह ब्रह्म अज्ञात है या ज्ञात? यदि प्रथम विकल्प स्वीकार्य हो अर्थात् वह अज्ञात हो तो जिज्ञासा संभव नहीं। क्योंकि धर्मी 'ज्ञात' रहने पर ही उसके विषय में जिज्ञासा की जाती है। यदि द्वितीय विकल्प का स्वीकार करते हैं, अर्थात् 'ब्रह्म ज्ञात' है, तब तो उसके विषय में 'जिज्ञासा' होनी ही नहीं चाहिये। इस पर सिद्धान्ती यदि कहे कि 'ब्रह्म ज्ञात है'—यह कहने का तात्पर्य है कि 'ब्रह्म' का ज्ञान आपाततः ही अभी तक हो पाया है। अतः उसके सम्यक् ज्ञान के लिये जिज्ञासा की जा सकती है।

ननु साधनसम्पन्नस्य जिज्ञासा नोपपद्यते। कुत इति चेत्? ब्रह्माज्ञातं ज्ञातं वा? नाद्यः, अज्ञाते जिज्ञासाऽयोगात्। तस्या धर्मिज्ञानसाध्यत्वात्। न द्वितीयो, ज्ञाने सुतरां तदयोगात्। नच तज्ज्ञानमापातस्वरूपमेवेति वाच्यम्। किमिदमापातत्वं—सामान्यरूपत्वं वा संशयरूपत्वं वा परोक्षरूपत्वं वा? नाद्यः, निःसामान्यविशेषे ब्रह्मणि सामान्यलक्षणापाततताया असम्भवात्। न द्वितीयः, ब्रह्मणो मानान्तरागम्यत्वेन वेदान्तगम्यत्वेन तज्ज्ञानस्य संशयत्वायोगात्। न तृतीयः नित्याऽपरोक्षे ब्रह्मणि परोक्षज्ञानायोगात्। "यत् साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्मे"ति श्रुत्या ब्रह्मणो नित्याऽपरोक्षत्वावगमात्। तस्मात्साधनसम्पन्नस्य जिज्ञासाऽनुपपन्नेति।

उच्यते—यद्यपि ब्रह्मणो मानान्तरागोचरत्वात् स्वप्रकाशसाक्ष्यभिन्नतया नित्याऽपरोक्षत्वाच्च तस्मिन्वेदान्तवाक्यादपरोक्षमेव ज्ञानं जायते, तथापि तज्ज्ञानमापातरूपमेव। अग्रे संशयादिदर्शनात्। तस्यापातत्वं नाम—अविचारितवाक्यजन्यत्वं, संशयादिग्रस्तत्वं वा। ननु संशयत्वं भासमानविरुद्धनानाकोटिजन्यज्ञानस्यैव संशयत्वात्, वाक्यजन्यज्ञानस्यैकोटिकत्वात्। निर्दोषवेदान्तवाक्यजन्यज्ञानस्य संशयत्वायोगाच्च।

अन्ये तु—क्वचिदेककोटिकज्ञानमप्यनवधारणात्मकम्, अन्यथाऽनभ्यासदशायां जलज्ञानानन्तरं प्रामाण्यसंशयाहितसंशयो न स्यात्। जलज्ञानस्य तत्सत्तानिश्चयरूपत्वात्। न चैककोटिकज्ञानस्य संशयत्वं निश्चयतो निश्चयसंशययोः को भेद इति

•

इस पर पूर्वपक्षी कहता है कि सिद्धान्ती का उक्त कथन उचित नहीं है। सिद्धान्ती प्रथमतः यह स्पष्ट करे कि उसके द्वारा कहा गया 'आपातत्व' कौन वस्तु है? क्या वह 'सामान्यरूप' है? या 'संशयरूप' है? अथवा 'परोक्षरूप' है?

पूर्वपक्षी के द्वारा उपस्थित किये गये तीन विकल्पों में से किसी भी विकल्प को सिद्धान्ती, स्वीकार नहीं कर सकता।

प्रथम विकल्प इसलिये स्वीकार नहीं कर पाएगा कि 'ब्रह्म' तो 'सामान्य-विशेषरहित' है, अर्थात् निःसामान्यविशेषरूप ब्रह्म है। अतः उसमें 'सामान्यलक्षण आपातता' कैसे संभव हो सकेगी?

तथा द्वितीय विकल्प संशयरूप को भी इसलिये स्वीकार नहीं कर पाएगा कि 'ब्रह्म' तो प्रत्यक्षादि किसी प्रमाण से गम्य (बोध्य) नहीं हैं, वह तो एक मात्र 'वेदान्तवाक्य प्रमाण' से ही गम्य है। अतः उसका ज्ञान 'संशयरूप' हो नहीं सकता।

इसी तरह तृतीय विकल्प 'परोक्षरूप' का भी स्वीकार वह नहीं कर सकता, क्योंकि 'ब्रह्म' तो नित्य अपरोक्ष है, उसका 'परोक्षज्ञान' नहीं हुआ करता। क्योंकि श्रुति कह रही है—ब्रह्म का नित्य अपरोक्षज्ञान हुआ करता है। अतः विवेकादिसाधन-सम्पन्न व्यक्ति के मन में 'जिज्ञासा' का होना कदापि संभव नहीं है।

समा०—यद्यपि 'ब्रह्म', स्व-प्रकाश साक्षी से अभिन्न होने के कारण किसी अन्य प्रमाण का विषय नहीं है और नित्य अपरोक्ष है, क्योंकि वेदान्त वाक्य से उसका अपरोक्षज्ञान ही होता है।

तथापि तद्विषयक वह प्रत्यक्षज्ञान 'आपातरूप' ही है। क्योंकि आपाततः ज्ञान होने के बाद 'संशय आदि' होते दिखाई देते हैं। अतः वह ज्ञान आपाततः (स्थूल रूप से) हो पाया है। उस ज्ञान में 'आपातत्व' (आपातता) यही है कि वह 'ज्ञान' अविचारित वाक्यजन्य है, अथवा आगे चलकर संशयादि दोषों से ग्रस्त होने वाला वह ज्ञान है। तथापि उस ज्ञान को 'संशयरूप' नहीं कह सकते; क्योंकि जो 'ज्ञान',—भासमान विरुद्ध नानाकोटिजन्य होता है, उसी को संशयज्ञान कहा जाता है। किन्तु यह 'ब्रह्मज्ञान' तो वेदान्तवाक्यजन्य ज्ञान है, अतः 'एक-कोटिक' ही है, नानाकोटिक नहीं है। उसके संशयरूप न होने में एक कारण और भी है कि वह ज्ञान, निर्दुष्ट (दोष-शून्य) वेदान्तवाक्य से जन्य है। अतः उसका संशयरूप होना संभव ही नहीं है।

कुछ अन्य विद्वानों का कहना है कि—'कहीं-कहीं (किसी स्थल विशेष में) 'एक-कोटिकज्ञान भी अनवधारणात्मक (अनिश्चयरूप) होता है। अन्यथा अनभ्यासदशा में 'जलज्ञान' होने पर भी 'प्रामाण्यसंशयाहित संशय' नहीं हो सकेगा। क्योंकि जल बताने वाले का ज्ञान (जल ज्ञान), निश्चय रूप (निश्चयात्मक) है।

शंका—यदि 'एक-कोटिकज्ञान' को भी 'संशय' रूप कहेंगे, तो 'निश्चय' और 'संशय' में भेद ही नहीं रहेगा।

समा०—एक-कोटिकज्ञान को संशयात्मक माननेपर भी संशय और निश्चय में भिन्नता (भेद) रहती है। क्योंकि 'संशयविरोधी ज्ञान' को ही निश्चय कहते हैं। उक्त कथन में 'अन्योन्याश्रय' की आशंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि एक धर्मी में, स्वाकारविरुद्धद्वयवैशिष्ट्यावगाहिज्ञानविरोधिज्ञान को ही 'संशय' कहते हैं।

वैराग्यं द्विविधम् । अपरम्परञ्चेति । तत्रापरं चतुर्विधम्—यतमानव्यतिरेकैकेन्द्रियत्ववशीकारभेदात् । अस्मिन् संसारे इदं सारमिदमसारमिति सारासारविवेको यतमानवैराग्यम् । चित्तगतदोषाणां मध्ये एतावन्तः पक्वा एतावन्तोऽपक्वा इति विविच्यापक्वदोषनिरोधे यत्नोव्यतिरेकवैराग्यम् । विषयेच्छासत्त्वेऽपि मनसीन्द्रियनिरोधावस्थानमेकेन्द्रियत्ववैराग्यम् । वशीकारवैराग्यमैहिकामुष्मिकविषयजिहासा । तदुक्तम्, "दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञावैराग्यमिति" । तत्त्रिविधम्—मन्दं तीव्रं तीव्रतरञ्चेति । पुत्रदारादिविषयवियोगे धिक् संसारमिति बुद्धया विषयजिहासा मन्दवैराग्यम् । अस्मिन् जन्मनि पुत्रदारादि मास्त्विति स्थिरबुद्धया विषयजिहासा तीव्रम् । पुनरावृत्तिसहितब्रह्मलोकादिपर्य्यन्तं मास्त्विति स्थिरबुद्धया विषयजिहासा तीव्रतरम् ॥२१॥

●

वाच्यम् । संशयविरोधिज्ञानस्यैव निश्चयत्वात् । न चान्योऽन्याश्रयः । एकस्मिन् धर्म्मिणि स्वाकारविरुद्धद्वय-वैशिष्ट्यावगाहिज्ञाना-विरोधि ज्ञानत्वस्यैव संशयत्वात् ।[1] एवञ्च वाक्यजन्यमपि ज्ञानमेककोटिकमपि अग्रे संशयादिदर्शनादनवधारणात्मकमेवेति वदन्ति । तथाच साधनसम्पन्नस्य जिज्ञासोः संन्यासाधिकार इति निरवद्यम् ।

ननु यथोक्तसाधनसम्पन्नस्य संन्यासाधिकार इत्युक्तम् । तत्र कोऽसौ संन्यास इत्याकाङ्क्षायां तं व्युत्पादयति—विहितानामिति । अविहित-निषिद्धत्यागिनां संन्यासित्वाभावाद्—विहितानामित्युक्तम् । आलस्यादिना विहितत्यागिनां भ्रष्टानां संन्यासित्ववारणाय विधिनेत्युक्तम् ।

संन्यासस्य वैराग्यहेतुकत्वे प्रमाणमाह—यदहरेवेति । यस्मिन्दिने वैराग्यं प्राप्नुयात् तवहस्तस्मिन्नेव दिने प्रव्रजेत् सर्वकर्म्मसंन्यासं कुर्य्यात् इति श्रुतेरक्षरार्थः । मोक्षस्य संन्यासस्य । संन्यासं विभजते—स चेति ॥२०॥

वैराग्यतारतम्यमुपपादयितुं वैराग्यं विभजते—वैराग्यमिति । अपरवैराग्यं विभजते—तत्रेति । तयोर्मध्य' इत्यर्थः । यतमानवैराग्यं निरूपयति—अस्मिन्निति । व्यतिरेकवैराग्यं निरूपयति—चित्तेति । एकेन्द्रियत्ववैराग्यमाह—विषयेति । चतुर्थमाह—वशीकारेति । तत्र पतञ्जलिसूत्रं संवादयति—तदुक्तमिति । ऐहिकाः स्रक्चन्दनवनितादयो दृष्टविषया आमुष्मिकाः

●

एवंच वाक्यजन्य ज्ञान भी यद्यपि एककोटिक है तथापि आगे चलकर (बाद में) संशयादि के होने से वह अनवधारणात्मक ही है ।

तथाच विवेकादिसाधनसम्पन्न जिज्ञासु को ही संन्यास का अधिकार है ।

संन्यास के लक्षण में यदि 'विधि से गृहीत'—इतना न कहें तो निषिद्धादि के त्यागी में अतिव्याप्ति होगी, तथा—'विधान के अनुसार'—यह न कहें तो आलस्य से 'वेध कर्म' छोड़ने वाले भ्रष्ट लोगों में अतिव्याप्ति होगी । अतः यथोक्त ही पूर्ण लक्षण है ।

संन्यास में श्रुति प्रमाण है । श्रुति में कहा है कि—जिस दिन वैराग्य होजाय; उसीदिन 'संन्यास ग्रहण' करे । स्मृति में भी बताया है—परम वैराग्य ही मोक्ष की अर्थात् संन्यास की चरम सीमा है । वह वैराग्य—कुटीचक, बहूदक, हंस व परमहंस भेद से चार प्रकार का होता है ॥२०॥

वैराग्य की कमी व अधिकता की युक्तता समझाने केलिये वैराग्य के भेद बताते हैं—

वैराग्य दो तरह का होता है—अपर वैराग्य और पर वैराग्य । पर वैराग्य तो 'सर्वथा निस्त्रैगुण्य की दृढ इच्छा' है । अपर वैराग्य चार प्रकार का है—(१) यतमान (२) व्यतिरेक (३) एकेन्द्रिय (४) वशीकार ।

(१) इस संसार में यह सार (ग्राह्य) है और यह निःसार है—इस प्रकार सारवान् और निःसारवान् को पृथक्-पृथक् पहचानना 'यतमान वैराग्य' कहा जाता है ।

(२) चित्त में स्थित दोषों में से इतने तो निवृत्त हो गये, इतने अभी निवृत्त नहीं हुए—इस तरह दोषों को अलग-अलग करते हुए जो रागादि दोष निवृत्त नहीं हुए हैं; उन्हें हटाने का प्रयत्न करना 'व्यतिरेक वैराग्य' है ।

(३) मन में विषय की इच्छा रहने पर भी इन्द्रियों को नियन्त्रण में रख लेना 'एकेन्द्रिय वैराग्य' है ।

---

१. तृतीयपरिच्छेदे (अनु० ५) वक्ष्यतीदम् ।

तत्र मन्दवैराग्ये संन्यासाधिकार एव नास्ति।

"यदा मनसि वैराग्यं जायते सर्ववस्तुषु। तदैव संन्यसेद्विद्वानन्यथा पतितो भवेदि"ति स्मरणात्।

तीव्रवैराग्ये सति यात्राद्यशक्तौ कुटीचकाधिकारः। तच्छक्तौ बहूदकसंन्याधिकारः। तीव्रतरवैराग्ये सति हंससंन्यासाधिकारः। एते त्रयः संन्यासाः। एतेषामाचाराश्च स्मृतौ प्रसिद्धाः।

●

आनुश्रविकास्तेषु विगता तृष्णा यस्य स तथा तस्यैहिकामुष्मिकविषये जिहासायुक्तस्येत्यर्थः। तादृशस्य वशीकारनामकं वैराग्यम्भवतीति शेषः। अर्थाद्यतमानादित्रयं सूचितं द्रष्टव्यम्। तदपि विभजते—तदिति। मन्दवैराग्यस्वरूपं दर्शयति—पुत्रेति। तीव्रवैराग्यं निरूपयति—अस्मिन्निति। तीव्रतरं निरूपयति—पुनरावृत्तीति। न चेदं वैराग्यतारतम्यं कुतोऽवगम्यते इति वाच्यम्। परवैराग्ये मृदुमध्यतीव्रभेदेन तारतम्यावगमात्। अपरे स्वानुभवानुरोधेन तदुपपादितमिति भावः॥२१॥

कस्मिन्वैराग्ये सति को वा संन्यासः कर्त्तव्य इत्याकाङ्क्षायां तद्वक्तुं मन्दवैराग्ये सति संन्यासानधिकारमाह—तत्र मन्देति।तत्र गमकमाह—यदेति। यात्राद्यशक्तिशक्तिभ्यां तीव्रविरक्तस्य संन्यासद्वयमाह—तीव्रेति। तीव्रतरविरक्तस्य हंससंन्यासाधिकारमाह—तीव्रतरेति। तर्हि ते संन्यासा निरूपणीयास्तेषामाचाराश्च वक्तव्या इति? तत्राह—एत इति। मुमुक्षोः परमहंससंन्यासाधिकारमाह—तीव्रतरेति। परमहंससंन्यासं विभजते—स चेति। विविदिषा-संन्यासस्य लक्षणमाह—साधनेति। तत्र

●

(४) ऐहलौकिक तथा पारलौकिक विषयों को नाशवान् (अनित्य) जानकर उनको त्यागने की इच्छा करना ही 'वशीकार' नाम का वैराग्य है। इसी वशीकारसंज्ञक वैराग्य के स्वरूप को भगवान् पतञ्जलि ने अपने योगसूत्र में बताया है।

इस वशीकारवैराग्य के भी (१) मन्द, (२) तीव्र, (३) तीव्रतर भेद से तीन प्रकार होते हैं। इनमें से 'मन्दवैराग्य' तब होता है, जब स्त्री, पुत्र, धन आदि प्रिय वस्तुओं से वियुक्त करने वाले इस संसार को मनुष्य धिक्कारने लगता है और सांसारिक सभी विषयों को त्यागने की इच्छा करने लगता है, तब उसे 'मन्दवैराग्य' (श्मशानवैराग्य) हुआ है समझना चाहिये।

तथा जन्म पाकर भी मनुष्य का स्त्री, पुत्र धन, प्रतिष्ठा आदि प्राप्त न करने का जब दृढ निश्चय रहता है, और उसी कारण उन्हें सर्वदा एवं सर्वथा त्यागने की इच्छा रखता है, तब उसे 'तीव्र वैराग्य हुआ' है, समझना चाहिये।

उसीतरह मनुष्य, ब्रह्मलोक तक के उत्तमोत्तम लोकों को भी विनाशी (अनित्य) समझकर उन्हें पाने की इच्छा नहीं रखता, अर्थात् ऐहलौकिक तथा पारलौकिक किसी भी विषय के मोह में न फँसकर उनके प्राप्त न करने में दृढ़ संकल्प रहता है, तब उसे 'तीव्रतर वैराग्य' हुआ है; समझना चाहिये ॥२१॥

मनुष्य के मन में जब समस्त वस्तुमात्र के प्रति वैराग्य उत्पन्न हो जाय, उसी समय वह विवेकी मनुष्य समस्त कर्मों से संन्यास ले ले। तथाकथित वैराग्य के बिना यदि सन्यासग्रहण करता है, तो वह मनुष्य 'पतित' हो जाता है।—इस स्मृतिवचन से सिद्ध है कि 'मंद वैराग्य' होने पर संन्यास में अधिकार नहीं है।

'तीव्र वैराग्य' के होनेपर पुरुष को (१) कुटीचक और (२) बहूदक—इन दो संन्यासों में अधिकार होता है। जो तीव्र वैराग्यवान् पुरुष, 'तीर्थयात्रा' करने में समर्थ न हो, उसे 'कुटीचक संन्यास' का अधिकार होता है, और जिसका शरीर 'तीर्थयात्रा' करने में सशक्त (समर्थ) हो, उसे 'बहूदक संन्यास' का अधिकार होता है।

तीव्रतर वैराग्य के प्राप्त होने पर पुरुष को 'हंस-संन्यास' का अधिकार होता है। 'कुटीचक', 'बहूदक', 'हंस'—इन तीन सन्यासों का स्वरुप और उनके आचारों को मनु-पराशर स्मृति में बताया गया है। तथा आत्मपुराण में भी उन्हें कहा गया है।

पूर्वोक्त सबप्रकार के वैराग्यों में उत्कृष्ट जो वैराग्य है, वह 'परवैराग्य' है। इसके स्वरूप को आगे बताया जायगा। इस परवैराग्य को प्राप्त किये हुए पुरुष को 'परमहंससंन्यास' का अधिकार होता है। अर्थात् तीव्रतर वैराग्य से सम्पन्न मुमुक्षु को ही 'परमहंससंन्यास' का अधिकार होता है। यह परमहंस संन्यास भी (१) विविदिषा और (२ विद्वत्संन्यास के भेद से दो

तीव्रतरवैराग्ये मुमुक्षोः परमहंससंन्यासाधिकारः। स च परमहंसो द्विविधः—विविदिषासंन्यासो विद्वत्संन्यासश्चेति। साधनसम्पन्नेन तत्त्वज्ञानमुद्दिश्य क्रियमाणः संन्यासो विविदिषासंन्यासः। "एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ती"त्यादि श्रुतिस्तत्र मानम्। स च द्विविधः जन्मापादककर्म्मत्यागात्मकः, प्रैषोच्चारणपूर्वकं दण्डधारणाद्याश्रमरूपश्चेति। "न कर्म्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशु"रित्यादि श्रुतिराद्ये मानम्। विरक्तस्य गृहस्थादेः प्रबलनिमित्तवशेन संन्यासप्रतिबन्धे आद्ये संन्यासेऽधिकारः। अत्र स्त्रीणामप्यधिकारः। जनकादीनां मैत्रेयीप्रभृतीनां तत्त्वविदां श्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासेषूपलम्भात् ॥२२॥

●

प्रमाणमाह—एतमेवेति। लोको द्विविधः। आत्मलोकोऽनात्मलोकश्चेति। तत्रानात्मलोकः श्रुत्या त्रिविधः प्रतिपादितः। "अथ त्रयो वाव लोका मनुष्यलोक" इति श्रुतिः। आत्मलोकोऽपि श्रुत्या प्रतिपादितः—"अथ यो ह वा अस्माल्लोकात्स्वं लोकमदृष्ट्वा प्रैति स एतमविदितो न भुनक्ति यथा ह वेदो वाननक्तोऽन्यद्वा कर्म्माकृतं यदि ह वा अप्यनवं विन्महत् पुण्यं कर्म्म करोति तद्धास्यान्ततः क्षीयत एवात्मानमेव लोकमुपासीत स य आत्मानमेव लोकमुपास्ते:"। "किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयंलोक" इत्याद्याःश्रुतयः। ततश्च एतमिति सर्वनाम्नः प्रकृतपरामर्शित्वात् "स वा एष महानज आत्मा" इत्यात्मनः प्रकृतत्वादिहापि लोकमिति लोकशब्देनात्मलोको विवक्षित इति गम्यते। एवञ्च लोक्यतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या लोकमात्मानुभवमिच्छन्तः प्रव्राजिनो विरक्ताः प्रव्रजन्ति संन्यासं कुर्वन्तीत्यर्थः। अत्रापूर्वत्वात्संन्यासं कुर्य्युरिति विधिर्द्रष्टव्यः। "उपांशुयाजमन्तरा यजतो"त्यत्र यथा तद्वत्। तदुक्तम्, "विधिर्वा धारणवदि"ति।

विविदिषा संन्यासं विभजते—स चेति। जन्मापादकं कर्म्म काम्यं, फलाभिसन्धिकृतं नित्यादि कर्म्म तस्य त्यागः। काम्यकर्मणां स्वरूपेण त्यागो विवक्षितः। नित्यादीनां फलाभिसन्धित्यागमात्रं विवक्षितं न स्वरूपेणान्यथावान्तरभेदो[1] न स्यादिति भावः। तत्र प्रथमे विविदिषासंन्यासे प्रमाणमाह—नेति। कर्म्मणा काम्येन फलाभिसन्धिकृते[2] नित्यादिना वा कर्म्मणाऽमृतत्वं नाप्नुयुरेवं सर्वत्र योजनीयम्। प्रजया पुत्रेण धनेन हिरण्यादिना, एके विरक्ताः त्यागेन यथोक्त-जन्मापादक-कर्म्मत्यागात्मकसंन्यासेन अमृतत्वं मोक्षसाधनं ब्रह्मसाक्षात्कारमानशुः प्राप्नुयुरित्यक्षरार्थः।

●

प्रकार का होता है। विवेकादिसाधनचतुष्टयसम्पन्न पुरुष, जब तत्त्वज्ञान के प्राप्त्यर्थ संन्यासग्रहण करता है, तब उसे 'विविदिषा संन्यास' कहते हैं। भगवती श्रुति कह रही है कि वैराग्यसम्पन्न पुरुष के पाने योग्य जो यह आत्मलोक है, उसे प्राप्त करने की इच्छा से वह (अधिकारी मुमुक्षु पुरुष) संन्यासग्रहण करे।

अभिप्राय यह है कि (१) आत्मलोक (२) अनात्मलोक के भेद से 'लोक' दो प्रकार का है। श्रुति ने (१) मनुष्य लोक, (२) पितृलोक, (३) देवलोक के भेद से अनात्मलोक को तीन प्रकार का बताया है। तथा आत्मलोक को भी 'अथ यो ह वा' इत्यादि श्रुति ने बताया है—यहाँ पर 'एतम्' सर्वनाम पद, प्रकृत परामर्शी है। और "स वा एष महानज आत्मा"—इस श्रुति से 'आत्मा' ही प्रकृत है। अतः यहाँ पर भी 'लोकम्' कहने से अर्थात् 'लोक' शब्द से आत्मलोक' की ही विवक्षा की गई है। आत्मसाक्षात्कार की इच्छा से संन्यास ग्रहण करते हैं—यहाँ पर अपूर्वार्थ का प्रतिपादन रहने से 'संन्यासं कुर्युः'—ऐसा 'विधि' जानना चाहिये। जैसे—'उपांशुयाजमन्तरा यजति'—यहाँ पर 'उपांशुयाग' का विधि समझा जाता है। यही बात 'विधिर्वा-धारणवत्' से भी कही गई है।

अब विविदिषा संन्यास का भेद बताते हैं—विविदिषा संन्यास भी दो प्रकार का होता है—(१) जन्मा—पादक कर्म का त्यागरूप। अर्थात् एक तो जन्म की प्राप्ति कराने वाले कर्मों का त्याग रूप होता है (२) और दूसरा प्रैष-मन्त्र के उच्चारण पूर्वक दण्ड धारणादि आश्रमरूप होता है।

फल-प्राप्ति के उद्देश्य से किये जाने वाले काम्यकर्म तथा नित्यकर्म के अनुष्ठान से जन्म की प्राप्ति होती है। जिसमें उक्त कर्मों का त्याग किया जाता है, उसे 'विविदिषा संन्यास' कहते हैं। इसमें 'काम्यकर्म' का तो स्वरूपेण ही (स्वरूप से ही) परित्याग विवक्षित है, किन्तु 'नित्य कर्मों' का स्वरूपेण परित्याग विवक्षित नहीं है, अन्यथा अवान्तर भेद नहीं होगा। अपितु उनके फल की केवल इच्छा मात्र का परित्याग विवक्षित है। 'विविदिषासंन्यास' में प्रमाणभूत श्रुति को बताते हैं—

१. विविदिषासंन्यासद्वैविध्यमित्यर्थः नित्यादिकुर्वंस्तु संन्यासपदं गीतोक्तरीत्या गौणं ज्ञेयम्।
२. कृतेनेति तृतीयान्तः स्यात्।

द्वितीये तु "दण्डमाच्छादनं कौपीनं परिगृहेच्छेषं विसृजेदि"ति।

"संसारमेव निःसारं दृष्ट्वा सारदिदृक्षया। प्रव्रजन्त्यकृतोद्वाहाः परं वैराग्यमाश्रिताः" ॥

इत्यादि वचनानि प्रमाणानि।

गृहस्थाश्रमादौ कृतश्रवणादिभिरुत्पन्नसाक्षात्कारेण गृहस्थादिना (विक्षिप्तचित्तस्य) चित्तविश्रान्तिलक्षणां जीवन्मुक्तिमुद्दिश्य क्रियमाणः संन्यासो विद्वत्संन्यासः। तत्र "एतमेव विदित्वामुनिर्भवति"; "अथ योगिनां परमहंसानामि"त्यादिपरमहंसोपनिषत्;

"यदा तु विदितं तत्त्वं परं ब्रह्म सनातनम्। तदैव दण्डं संगृह्य सोपवीतां शिखां त्यजेद् ॥" इत्यादिश्रुतिस्मृतिवचनानि प्रमाणानीति ॥२३॥

●

कस्य तत्राधिकार इत्याकाङ्क्षायामाह—विरक्तस्येति। संन्यासप्रतिबन्धे दण्डधारणाद्याश्रमरूपसंन्यासप्रतिबन्धे। जन्मापादककर्म्मत्यागात्मकसंन्यासे स्त्रियोऽप्यधिक्रियन्त इत्याह—अत्रेति। तत्र गमकमाह—जनकादीनामिति। आदिशब्देनाजातशत्रु-याज्ञवल्क्यकहोलप्रभृतयो गृह्यन्ते। मैत्रेयीप्रभृतीनामिति। नच स्त्रीणामुपनयनाभावात् वेदाध्ययनानर्हतया कथम्ब्रह्मज्ञानाधिकारस्तस्य महावाक्यजन्यत्वादिति वाच्यम्। अतीतानेकजन्मसुकृतपरीपाकवशेन नितान्तनिर्मलस्वान्तानां मनुष्याणां पुराणश्रवणादिना तत्त्वज्ञानोत्पत्तौ बाधकाभावात्। त्रैवर्णिकानामेव वेदान्तश्रवणादिना ज्ञानोत्पत्तिः। एतदभिप्राया श्रुतिरपि "यद्ब्रह्मविद्यया सर्वं भविष्यन्तो मनुष्या मन्यन्त" इति। अत एवेतिहासपुराणेषु विदुरादीनां तत्त्वज्ञानं श्रूयते। किमु वक्तव्यं ब्राह्मणीनां मैत्रेय्यादीनां तत्त्वज्ञानाधिकारे त्रैवर्णिकस्त्रीणां ज्ञानमात्रोपयोगिश्रुत्यभ्यासे न विरोध इति केचि[1]त्तदाह—श्रुतिस्मृतीति ॥२२॥

द्वितीयविविदिषा संन्यासे प्रमाणमाह—द्वितीय इति। "यदि वेतरथा ब्रह्मचर्य्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद्वनाद्वा यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्"।

"प्रवृत्तिलक्षणोयोगोज्ञानं संन्यासलक्षणम्। तस्माज्ज्ञानं पुरस्कृत्य संन्यसेदिह बुद्धिमान्।"

"त्यज धर्म्ममधर्म्मञ्च उभे सत्यानृते त्यज। उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तं त्यज ॥"

"कर्म्मणा बध्यते, जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते। तस्मात्कर्म्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः ॥"

इत्यादि-वचनान्यादिशब्देन गृह्यन्ते।

●

पूर्ववर्ती अधिकारी पुरुषों ने फलाभिसन्धिकृत अथवा नित्य कर्मों के द्वारा मोक्षसाधनीभूत ब्रह्मसाक्षात्कार नहीं किया, उसी तरह पुत्र-पौत्रादि प्रजा के द्वारा तथा गौ, सुवर्णादि धन के द्वारा उस ब्रह्मसाक्षात्कार को नहीं प्राप्त किया, किन्तु उन पूर्ववर्ती विरक्त पुरुषों ने 'जन्मापादक कर्मों के त्यागरूप संन्यास' के द्वारा ही मोक्षसाधनीभूत ब्रह्मसाक्षात्कार को प्राप्त किया था। अतः वर्तमान काल के विरक्त अधिकारी पुरुष भी काम्य तथा नित्यकर्म के त्यागरूप संन्यास के द्वारा ही ब्रह्मसाक्षात्कार का सम्पादन करें—इस श्रुति ने विविदिषा संन्यास को ही बताया है ॥२२॥

इस विविदिषा संन्यास के ग्रहण करने का अधिकार किसे है? यह जिज्ञासा होने पर कहते हैं—जिन विरक्त गृहस्थादिकों को किसी प्रबल निमित्त के कारण दण्डधारण रूप आश्रम (संन्यास) ग्रहण करने में बाधा (प्रतिबन्ध) उपस्थित हो, तो वे गृहस्थ पुरुष, इस विविदिषा संन्यास के ही अधिकारी हैं।

तथा जन्मापादक कर्मत्यागात्मक विविदिषा संन्यास में जनकादिकों की तरह स्त्रियों को भी अधिकार है। क्योंकि श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराणों ने जनक, याज्ञवल्क्य, अजातशत्रु, कहोल, मैत्रेयी, गार्गी आदि को ब्रह्मसाक्षात्कार की प्राप्ति का वर्णन किया है। इन सब को 'विविदिषा संन्यास' से ही ब्रह्मसाक्षात्कार हुआ है।

शंका—उपनयन संस्कार के द्वारा ही यज्ञोपवीतधारण तथा वेदाध्ययन करने का अधिकार प्राप्त होता है। स्त्रियों का तो उपनयन संस्कार नहीं होता है, उसी कारण उन्हें वेदाध्ययन का भी अधिकार नहीं है। क्योंकि "स्त्री-शूद्रौ नाधीयाताम्"—इस श्रुति ने स्त्री और शूद्र को वेदाध्ययन का निषेध किया है, और 'तत्त्वमसि' आदि वैदिक महावाक्यों से ही

१. 'द्विजस्त्रीणामपि श्रौतज्ञानाभ्यासेऽधिकारिते' ति स्कान्दसंहितावचनादिति बोध्यम्।

विद्वत्संन्यासमुपपादयति—गृहस्थाश्रमादाविति। उत्पन्नो ब्रह्मसाक्षात्कारो यस्य स तथा तेनेति यावत्। आदि शब्देन ब्रह्मचारिवानप्रस्थौ गृह्येते। चित्तविश्रान्तिर्नाम विक्षेपोपशमः। विद्वत्संन्यासे प्रमाणमाह—तत्रेति। एतं परमात्मानं विदित्वा ब्रह्मास्मीति साक्षात्कृत्य मुनिर्मननशीलो भवतीत्यर्थः। तच्च मननशीलत्वमसति कर्त्तव्यान्तरे सम्भवतीति संन्यासो विधीयते। तस्य जीवन्मुक्तिरेव फलं तत्त्वज्ञानस्य सम्पन्नत्वादितिभावः। आदिशब्देन "एतं वैवमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्य्यं चरन्ति", "न दण्डं न शिखां न यज्ञोपवीतं नाच्छादनं चरति परमहंसः"।

"कंथा-कौपीनवासास्तु दण्डधृग् ध्यानतत्परः। एकाकी रमते नित्यं तं देवा ब्राह्मणं विदुः॥"

•

ब्रह्मसाक्षात्कार की प्राप्ति होती है। एवंच स्त्रियों और शूद्रों को महावाक्य के श्रवण का अधिकार न होने से उन्हें तो ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने का अधिकार ही नहीं है।

समा०—स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्—यह कहकर स्वयं भगवान् ने ही स्त्री-शूद्रों को भी मोक्ष की प्राप्ति का होना बताया है। किञ्च—श्रुति[1] ने तो मनुष्य मात्र के लिये ब्रह्म-विद्या के द्वारा सर्वात्मभाव की प्राप्ति का होना बताया है। और 'ब्रह्मज्ञान' तो वेदान्तशास्त्र के श्रवण के विना संभव नहीं है। अतः व्यवस्था इस प्रकार सिद्ध होती है—वेदाध्ययन के अधिकारी जो-ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—त्रैवर्णिक हैं, उन्हें तो उपनिषद्रूप वेदान्तशास्त्र के श्रवण से ही 'ब्रह्मज्ञान' होता है। और अनेकानेक पूर्वजन्मों में अर्जित पुण्यपुञ्ज से परिपूतनिष्कल्मष अन्तःकरण वाले, वेदाध्ययन के अनधिकारी जो स्त्री, शूद्र आदि हैं, उनको वेदान्त में बताए गये अर्थ के प्रतिपादक पुराणादि के श्रवण से ही ब्रह्मज्ञान हो जाता है। अतएव इतिहास-पुराणों में विदुरादि शूद्रों को ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति का वर्णन किया गया है। इसी रीति से मैत्रेयी, गार्गी आदि स्त्रियों को भी ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति में अधिकार है।

वृहदारण्यक उपनिषद् में योगोश्वर याज्ञवल्क्य ने अपनी पत्नी मैत्रेयी को निषादस्थ पतिन्याय से श्रुतिवचनों के द्वारा ही ब्रह्मविद्या का उपदेश किया है। तथा उसी उपनिषद् में गार्गी और योगोश्वर याज्ञवल्क्य दोनों का संवाद प्रसिद्ध ही है। अतः आत्मज्ञान के उपयोगी तावदुक्त तात्कालिक वेदान्त श्रुतियों के श्रवण में त्रैवर्णिक-स्त्रियों का अधिकार है। यह तो अकाट्य सत्य है कि उपनयन-संस्कार से रहित होने के कारण स्त्रियों को वेदाध्ययन का अधिकार नहीं है। 'गुरु मुखोच्चारणानूच्चारणमध्ययनम्'—अर्थात् गुरुमुख से उच्चरित वेद वाक्यों का. पश्चात् शिष्य के द्वारा उच्चारण किया जाना ही 'अध्ययन' पदार्थ है। स्त्रियों को वेदान्त वाक्यों के श्रवण का अधिकार निषादस्थपतिन्याय से तात्कालिक हैं। याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी के संवाद का निरूपण आत्मपुराण के सप्तमाध्याय में भी किया गया है॥२३॥

अब दूसरे प्रकार के आश्रमरूप विविदिषा संन्यास में प्रमाण बताते हैं—भगवती श्रुति कहरही है कि दण्ड को तथा शीतनिवारणार्थं कन्था को तथा कौपीन एवं कमण्डलु को संन्यासी ग्रहण करे। इनके अतिरिक्त समस्त वस्तुओं का परित्याग करे।

इसीप्रकार स्मृति भी कह रही है—कि ब्रह्मलोकपर्यन्त सम्पूर्ण संसार को निःसार देखकर 'परमात्मरूप सार' को देखने की इच्छा से 'पर वैराग्य' को प्राप्तहुआ विरक्त अधिकारी पुरुष, गृहस्थाश्रम के पूर्व ही आश्रमरूप विविदिषा संन्यास को ग्रहण करे—इत्यादि श्रुति तथा स्मृति के वचनों ने आश्रमरूप विविदिषा संन्यास को बताया है। यहांतक द्विविध विविदिषा-सन्यास का निरूपण किया गया।

अब विद्वत्संन्यास का उपपादन करते हैं—

ब्रह्मचर्य, गृहस्थ अथवा वानप्रस्थाश्रम में वेदान्तश्रवण करके जिस अधिकारी पुरुष को ब्रह्मसाक्षात्कार हुआ हो, वह तत्त्ववेत्ता पुरुष, अपने चित्तविक्षेपनिवृत्तिरुप जीवन्मुक्ति के उद्देश्य से जिस संन्यास का ग्रहण करता है, उसी को 'विद्वत्संन्यास' कहते हैं। इस विद्वत्संन्यास को भी श्रुति-स्मृति के प्रमाणभूत वचनों ने बताया है।

श्रुतिस्मृतियों का यह अभिप्राय है—'अहं ब्रह्मास्मि'—इस प्रकार से 'परमात्मा' का साक्षात्कार करके विद्वान् पुरुष, मननशील (मुनि) होजाता है। अर्थात् परमहंस संन्यासी हो जाता है। यह मननशीलता तभी हो पाती है, जब कोई दूसरा कर्तव्य नहीं रहता। पूर्व ही तत्त्वज्ञान के सम्पन्न होजाने के कारण 'मनन' का फल 'मुक्ति' ही है। आत्मसाक्षात्कार

१. यद् ब्रह्मविद्यया सर्वं भविष्यन्तो मनुष्या मन्यन्ते इति श्रुतिः।

तत्राद्यसंन्यासो जन्मान्तरीयेऽपि[1] ज्ञाने उपकरोति जनकादीनां तत्त्वज्ञानोपलम्भाच्छ्रुत्यादिषु। "यद्यातुरःस्यान्मनसा वाचा वा संन्यसेदि"त्यातुरसंन्यासविधानाच्च। आतुरेऽपि विरक्तस्यैवाधिकारात् न संन्यासान्तरम्। अन्यथा प्रकरणविरोधप्रसङ्गात्। तदुक्तम्—

"जन्मान्तरेषु यदि साधनजातमासीत्संन्यासपूर्वकमिदं श्रवणादिकञ्च।
विद्यामवाप्स्यति जनः सकलोऽपि यत्र तत्राश्रमादिषु वसन्न निवारयामः" इति ॥२४॥

●

"कपालं वृक्षमूलानि कुचैलमसहायता। समता चैव सर्वस्मिन्नेतन्मुक्तस्य लक्षणम्" ॥
इत्यादि-वचनानि गृह्यन्ते ॥२३॥

ननु विविदिषा संन्यासस्तत्त्वज्ञानहेतुरित्युक्तं तदयुक्तम्। याज्ञवल्क्यजनकप्रभृतीनां तत्त्वज्ञानोपलम्भादित्याशंक्याह—तत्रेति। तयोर्मध्य इत्यर्थः। जन्मान्तरीयसंन्यासस्य ज्ञानोपकारित्वे गमकमाह—जनकादीनामिति। बृहदारण्यकश्रुत्यादिष्वित्यर्थः। गमकान्तरमाह—यद्येति। "यदहरेव विजेत्तदहरेव प्रव्रजेदिति" वैराग्यहेतुकं संन्यासं साङ्गं कर्त्तव्यत्वेन विधाय दशाविशेषे "यद्यातुरः स्यान्मनसा वाचा वा संन्यसेदि"ति पूर्वविहितं वैराग्यहेतुकं संन्यासमनूद्येतराङ्गव्यावृत्तये विकल्पेन वाङ्मनसरूपसाधनद्वयं विधीयते "मनसा वाचा वा संन्यसेदि"ति। तदानीं मुमूर्षोः श्रवणाद्यसम्भवेन तत्त्वज्ञानासम्भवात्, स च संन्यासो जन्मान्तरे ज्ञाने उपकरोतीत्यङ्गीकर्त्तव्यमन्यथा संन्यासस्य वैयर्थ्यं स्यादिति भावः।

●

करके तत्त्वज्ञानी पुरुष, 'पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा—इन तीनों एषणाओं का परित्याग करके भिक्षावृत्ति करता है, अर्थात् विद्वत्संन्यास का आचरण करता है। वह तत्त्वज्ञानी परमहंस संन्यासी दण्ड, शिखा, यज्ञोपवीत, आच्छादन में से किसी को भी धारण नहीं करता।

स्मृति कहतीहै—वैराग्यशील अधिकारी पुरुष को जिस क्षण में परब्रह्म सनातन तत्त्व का साक्षात्कार होजाय, उसीक्षण वह एकदण्ड का ग्रहण करके यज्ञोपवीत सहित शिखा का परित्याग करे। जो विद्वान् पुरुष, शीत के निवारणार्थं केवल कथा, कौपीन वस्त्र को धारण करके सर्वदा प्रत्यगात्मा के ध्यान में तत्पर रहता है, तथा एकाकी विचरण करता है, उस विद्वान् पुरुष को देवतागण, 'ब्रह्मवेत्ता परमहंस संन्यासी कहते हैं। इस प्रकार के परमहंस का लक्षण यह रहता है कि वह भिक्षा के निमित्त मृण्मय कपाल को अपने पास रखता है, और वृक्ष के नीचे निवास करता है, तथा कुत्सित वस्त्र को धारण करता है, और जिसको किसी की सहायता नहीं है, तथा सम्पूर्ण प्राणिमात्र में जिसकी बुद्धि समान रहती है,—इन्हीं लक्षणों से उस मुक्त परमहंस को पहिचाना जाता है,—इत्यादि श्रुतिस्मृति के वचनों से विद्वत्संन्यास को बताया गया है। इस विद्वत्संन्यास का फल, 'जीवन्मुक्ति' ही है। इन विद्वत्परमहंस संन्यासियों का चिन्ह तथा आचार अव्यक्त होता है। क्योंकि कहीं पर तो श्रुति-स्मृतियों ने उनके लिये दण्ड, वस्त्रादि का अभाव बताया है, और कहीं पर दण्ड, वस्त्रादिकों का धारण करना बताया है। इस अव्यक्त चिह्न एवं अव्यक्त आचार का निरूपण, आत्मपुराण के ग्यारहवें—अध्याय के आरम्भ में किया गया है ॥२३॥

शंका—पूर्वोक्त विविदिषा संन्यास को तत्त्वज्ञान (ब्रह्मज्ञान) का हेतु (कारण) बताया गया था, किन्तु वह कैसे संभव हो सकता है? क्योंकि जनक, अजातशत्रु, याज्ञवल्क्य आदि को विविदिषा संन्यास के अभाव में भी तत्त्वज्ञान (ब्रह्मज्ञान) हुआ है, यह श्रुति-स्मृतियों के वचनों से अवगत हो रहा है।

समा०—केवल वर्तमान जन्म (इसी जन्म) का ही विविदिषा संन्यास, उस तत्त्वज्ञान (ब्रह्मज्ञान) का कारण होता है, यह नहीं समझना चाहिये। किन्तु जन्मान्तरीय (पूर्वजन्म का) गृहीत विविदिषा संन्यास भी तत्त्वज्ञान (ब्रह्मज्ञान) का हेतु (कारण) होता है। अतएव जनक, याज्ञवल्क्य प्रभृतियों को वर्तमान जन्म में विविदिषा संन्यास के अभाव में भी जन्मान्तरीय विविदिषा संन्यास से ही ब्रह्मज्ञान (तत्त्वज्ञान) की प्राप्ति हो गई थी। इस प्रकार ब्रह्मज्ञान रूप कार्य से जन्मान्तरीय विविदिषा संन्यासरूप कारण का अनुमान किया जा सकता है। जन्मान्तरीय संन्यास भी तत्त्वज्ञान के होने में उपकारक हुआ करता है, इस रहस्य को बृहदारण्यकश्रुति ने भी जनकादिकों के उदाहरणों को देकर बताया है।

---

१. जन्मान्तरीयोऽपीति पाठान्तरम्। ज्ञान इति तन्निमित्तमित्यर्थः।

तदेवं पूर्वोक्ताधिकारिणः श्रवणादीनां तत्त्वज्ञानकारणत्वमन्वयव्यतिरेकाभ्यां निश्चीयते, अर्हार्थे श्रोतव्य इत्यादि-तव्यप्रत्यय इति वाचस्पतिमिश्राः। आचार्यास्त्वेवं वर्णयन्ति—यथोक्ताधिकारिणो "द्रष्टव्यः श्रोतव्य" इत्यादि वाक्यैर्दर्शनमुद्दिश्य मनननिदिध्यासनाभ्यां फलोपकार्य्यङ्गाभ्यां सह श्रवणं नामाङ्गि विधीयते।

●

नन्विदं ब्रह्मलोकसाधनं संन्यासान्तरमस्तु? नच तत्र प्रमाणाभावः "संन्यासाद्ब्रह्मणः स्थानमि"ति स्मृतेः सत्त्वात्; तथाच न वैयर्थ्यमित्याशंक्याह—आतुरेऽपीति। तथाच "संन्यासाद्ब्रह्मणः स्थानमि"ति स्मृतिः, तस्यैव नान्तरीयकफलं प्रतिपादयति। अथवा स्मार्तसंन्यासस्य तत्फलमस्तु, प्रकृतस्य वैराग्यहेतुकस्य संन्यासस्य ज्ञानैकफलत्वादिति भावः। विपक्षे दण्डमाह—अन्यथेति। तत्र सम्मतिमाह—तदुक्तमिति ॥२४॥

एवं संन्यासं सप्रपञ्चं निरूप्य साधनसम्पन्नस्य संन्यासिनः श्रवणादिकं तत्त्वज्ञानहेतुः तथैवान्वयव्यतिरेकानुविधानादित्युपसंहरति—तदेवमिति। यस्मात्कारणात्साधनचतुष्टयसंपन्नस्य जिज्ञासोः श्रवणादिकं तत्त्वज्ञानं प्रत्यन्तरङ्गसाधनं

●

इसी रहस्य को अन्य युक्ति (गमकान्तर) से बतारहे हैं—'यदहरेव' श्रुति, वैराग्यवान् (विरक्त) पुरुष के लिये सम्पूर्ण अंगोंसहित विविदिषा संन्यास का विधान कर रही है। तदनन्तर पुनः उसी प्रकरण में व्याधि (रोग) से आतुर-होने पर उसी क्षण अन्यान्य अंगों के बिना ही केवल मन, अथवा वाणी से 'संन्यास' का ग्रहण करे—इस आतुर संन्यास का विधान कर रही है। मृत्यु के समीप प्राप्त हुए उस आतुर संन्यासी को उस समय आत्मज्ञान की प्राप्ति श्रवणादिकों से होना संभव नहीं है। उस कारण यह स्वीकार करना ही होगा कि वह उस समय का आतुर संन्यास, उस मरणासन्न पुरुष को उसके जन्मान्तरीय (अन्य पूर्व जन्म की) आत्मज्ञान की प्राप्ति करा देता है। अन्यथा वह आतुर संन्यास ही व्यर्थ हो जायेगा। इस युक्ति से (गमक से) भी स्पष्ट होता है कि जन्मान्तरीय विविदिषा संन्यास में 'आत्मज्ञान' की कारणता (हेतुता) है।

शंका—ब्रह्मलोकप्राप्ति का हेतुभूत यह आतुर संन्यास, पूर्वोक्त विविदिषा संन्यास से भिन्न ही (पृथक् ही) संन्यास है। क्योंकि 'संन्यासाद्ब्रह्मणः स्थानम्'—इस स्मृति ने 'आतुर संन्यास' का फल-'ब्रह्मलोक प्राप्ति' बताया है। अतः आतुर संन्यास प्रमाण रहित न होने से व्यर्थ भी नहीं है।

समा०—इस आतुर संन्यास में भी 'विरक्त पुरुष' का ही अधिकार होता है। और 'विविदिषा संन्यास' के प्रकरण में ही इस आतुरसंन्यास का विधान किया गया है। अतः यह आतुरसंन्यास, पूर्वोक्त 'विविदिषा संन्यास' से 'भिन्न संन्यास' नहीं है। अपितु उस विविदिषा संन्यास के अन्तर्गत ही है। और 'संन्यासाद्ब्रह्मणः स्थानम्'—इस स्मृति ने तो आतुरसंन्यास के ब्रह्मलोकप्राप्तिरूप अवान्तर फल को बताया है। उस कारण 'आत्मज्ञानरूप मुख्य फल' का निषेध नहीं किया गया है।

अथवा उस स्मृति ने 'कुटीचकादिरूप स्मार्तसंन्यास' के ब्रह्मलोकप्राप्ति रूप फल को बताया है। उस कारण वैराग्यहेतुक 'आतुर संन्यास' का 'आत्मज्ञान प्राप्ति' ही मुख्य फल है। अन्यथा प्रकरण विरोध होगा।

अपने कथन में सम्मति बताते हैं—जन्मान्तरीय संन्यास से भी आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है, इस तथ्य को श्रीसर्वज्ञ महामुनि ने संक्षेप शारीरक में भी बताया है। सांक्षेप शारीरक में सर्वज्ञ महामुनि कहते हैं—

यदि कदाचित् अधिकारी पुरुष को अपने जन्मान्तरीय किये हुए संन्यास पूर्वक श्रवणादि साधन सिद्ध हुए हों (परिपक्व हुए हों) तो अन्य जन्म में गृहस्थादि किसी भी आश्रम में रहते हुए भी पूर्वकृत उन साधनों के प्रभाव से उस अवस्था में भी उसे वे ब्रह्मविद्याप्राप्ति रूप फल की प्राप्ति करा देते हैं—इस तथ्य का निषेध हम नहीं कर सकते। इससे यह सिद्ध हुआ कि जनक, याज्ञवल्क्यादिकों को जन्मान्तरीय विविदिषा संन्यास से आत्मज्ञान की प्राप्ति होना असंभव नहीं है, अर्थात् संभव है। यहाँ तक संन्यास का सप्रपञ्च निरूपण किया गया है ॥२४॥

इस प्रकार पूर्वोक्त साधनयुक्त अधिकारी को तत्त्वसाक्षात्कार उत्पन्न तो श्रवणादि के कारण ही है। क्योंकि श्रवणादि के होने पर ज्ञानोत्पत्ति तथा उनके बिना ज्ञान की अनुत्पत्ति—इस अन्वय-व्यतिरेक से निश्चित होता है।

श्रोतव्यः—श्रवण करना चाहिये—इत्यादि तव्यप्रत्यय (चाहिये शब्द) योग्यता बताता है, अर्थात् श्रवण के योग्य है, (उचित है) इतना ही बताता है, विधान नहीं करता ऐसा वाचस्पति मिश्र का मन्तव्य है।

तस्मात्कारणादित्यर्थः। नच तत्त्वज्ञानोद्देशेन "श्रोतव्य" इत्यादिना श्रवणादिविधिः किं न स्यादिति वाच्यम्, विधेरप्राप्तविषयत्वात्। यद्यपि ब्रह्मसाक्षात्कारं प्रति श्रवणादीनां कारणत्वं मानान्तरेणाप्राप्तं तथापि षड्जादिस्वरसाक्षात्कारं प्रति गान्धर्वशास्त्राभ्यासस्य कारणताग्रहकाले श्रवणत्वेन दुर्ज्ञेयवस्तुसाक्षात्कारत्वेनान्वयव्यतिरेकाभ्यां सामान्याकारेण कार्य्यकारणभावस्य निश्चितत्वात्। ब्रह्मणोऽप्यतिसूक्ष्मतया दुर्ज्ञेयत्वात् तत्साक्षात्कारं प्रत्यपि श्रवणादीनामन्वयव्यतिरेकाभ्यां कारणत्वं प्राप्तमेवेति न तत्र विधिरिति भावः। ननु "श्रोतव्य" इत्यादितव्यप्रत्ययानां का गतिरित्याशंक्याह—अर्हार्थं इति। नियमादृष्टसाध्यस्य परमापूर्वस्यासम्भवेन नियमविध्यसम्भवादर्हार्थे श्रोतव्य इत्यादितव्यप्रत्ययो युक्त इति वाचस्पतिमिश्राणामाशयः।

मतान्तरमाह—आचार्य्यास्त्विति। "आचिनोति हि शास्त्रार्थमाचारे स्थापयत्यपि। स्वयमाचरते यस्मादाचार्य्यस्तेन चोच्यते"॥

●

आचार्य तो यह वर्णन करते हैं—दर्शन के योग्य आत्मा के विषय में श्रवण करे—इत्यादि वाक्यों द्वारा अधिकारी के लिये आत्मदर्शन के उद्देश्य से फलोत्पत्ति में सहायक मनन-निदिध्यासन रूप अंगों सहित अंगी (श्रवण) का विधान किया जा रहा है।

साधनसम्पन्न संन्यासी को 'तत्त्वज्ञान' की प्राप्ति में अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा 'श्रवणादिक' हेतु होते हैं। 'आत्मा वा अरे'—श्रुति के द्वारा अधिकारी पुरुष को, आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिये श्रवणादिकों का करना कहा गया है। इस सन्दर्भ में श्रीवाचस्पतिमिश्र आदि कुछ ग्रन्थकार तो 'श्रवण' की विधि नहीं मानते, और विवरणाचार्य आदि कुछ विद्वान् 'श्रवण' का विधान (विधि) मानते हैं।

श्रीवाचस्पतिमिश्र का यह अभिप्राय है—विवेकादि साधन-चतुष्टयसम्पन्न जिज्ञासु के द्वारा किये गये 'श्रवणादिकों' में 'आत्मज्ञान प्राप्ति' की हेतुता (कारणता) का निश्चय अन्वय-व्यतिरेक से हो रहा है। उस कारण 'श्रवणा' दिकों का विधान करना संभव नहीं है। क्योंकि अप्राप्त अर्थ का ही विधान हुआ करता है। जैसे—'यजेत स्वर्गकामः'—यहां पर 'याग' में 'स्वर्गसाधनता', 'प्रत्यक्षादि' प्रमाणों से सर्वथा अप्राप्त है। उस कारण 'स्वर्गनिरूपित साधनता' का बोधक 'यजेत स्वर्गकामः'—यह वाक्य विधिरूप है।

यद्यपि श्रवणादिकों में ब्रह्मसाक्षात्कार की कारणता (हेतुता), उक्त श्रुत प्रमाण से भिन्न अन्य किसी प्रमाण से प्राप्त नहीं है, तथापि अतिसूक्ष्म होने से दुर्विज्ञेय जो षड्जादिक स्वर हैं, उन स्वरों के साक्षात्कार के प्रति गान्धर्वशास्त्राभ्यास को 'अन्वय-व्यतिरेक' के बल पर 'कारण' माना जाता है। तथैव उन स्वरों के समान ही 'ब्रह्म' भी अति सूक्ष्म होने से दुर्विज्ञेय है। अतः ब्रह्मसाक्षात्कार के प्रति भी वेदान्तशास्त्र के श्रवण में 'कारणता', अन्वय-व्यतिरेक से प्राप्त ही है। प्राप्त होने के कारण ही 'श्रवण' का विधान करना संभव नहीं है।

शंका—'श्रोतव्यः' में जो 'तव्य' प्रत्य है, उसकी गति कैसे लगाई जायेगी?

समा०—'तव्य' प्रत्यय का अर्थ यहां पर 'विधि'—नहीं है, किन्तु 'योग्यता' (अर्हार्थक) अर्थ है। अर्थात् 'आत्मा', श्रवण करने योग्य है। इसी प्रकार 'मन्तव्यः, निदिध्यासितव्यः'—इन दोनों में भी 'विधि' नहीं है—यह समझना चाहिये। क्योंकि नियमादृष्ट से साध्य होने वाले परमापूर्व का संभव न रहने से नियम विधि का यहां संभव नहीं है। इसलिये अर्हार्थ में ही श्रोतव्यः इत्यादि तव्यप्रत्यय को करना उचित होगा। किन्तु आचार्यों का सिद्धान्त पृथक् है।

प्रश्न—आचार्य किसे कहते हैं?

उत्तर—शास्त्रतात्पर्य का पूर्ण पर्यालोचनपूर्वक निर्णय कर स्वयं उसे आचरण में जो उतारे तथा अन्यों द्वारा भी उसका आचरण करावे, वही आचार्य-शब्द का वाच्य, शास्त्रों में बताया है। केवल बहुश्रुत या सूक्ष्मचिन्तन में कुशल को आचार्य नहीं माना जाता। यह लक्षण पंचपादिकाकार भगवान् पद्मपाद के सिद्धान्त का अनुसरण करने वाले विवरणकार प्रकाशानन्द-श्रीचरण आदि में समुपलब्ध होता है, अतः उन्हें ही आचार्य कहा जाता है।

प्रश्न—श्रवण विहित है या नहीं? इस पर आचार्यों का मत क्या है?

उत्तर—श्रुति में विवेकादि साधनचतुष्टयसम्पन्न संन्यासी के प्रति 'आत्मसाक्षात्कार' की प्राप्ति कराने के लिये मनन-निदिध्यासनरूप फलोपकारी अंगों सहित 'श्रवण' रूप अंगी का विधान किया जा रहा है। साक्षात् फलसाधन के रूप में जिस

इति श्लोकोक्तलक्षणाः पद्मपादिकाचार्य्यमतानुसारिणो विवरणाचार्य्यप्रभृतय आचार्य्या इत्युच्यन्ते। एवं वक्ष्यमाण-रीत्या। एवं शब्दार्थमाह—यथेति। साधनचतुष्टयसम्पन्नस्य जिज्ञासोः कृतसंन्यासस्येत्यर्थः।

यथा तुषनिवृत्तिमुद्दिश्य "व्रीहीनवहन्ती"त्यवघातो विधीयते एवं "द्रष्टव्य" इति ब्रह्मसाक्षात्कारमुद्दिश्य "श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" "तस्माद्ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्पाण्डित्यं बाल्यञ्च निर्विद्याथ मुनिः" "तद्विजिज्ञासस्वे"त्यादि वाक्यैः साङ्गं श्रवणं नामाङ्गी विधीयते। यत्साक्षात् फलसाधनत्वेन श्रुतं तदङ्गी, शेषी, प्रधानमिति चोच्यते। तत्सन्निधौ फलं विना यत्कर्त्तव्यत्वेन श्रुतं तदङ्गं, शेषः, सहकारीत्यभिधीयते। "यथा दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेते"ति विधिना दर्शपूर्णमासाग्नेयादयः षट् यागाः साक्षात्फलसाधनत्वेन विहितास्त एवाङ्गिनः। तत्प्रकरणे "व्रीहीन्प्रोक्षति" "समिधो यजती"त्यादिना प्रोक्षणादयः समिदादयश्च साक्षात्स्वर्गफलमन्तरेण कर्त्तव्यत्वेन विहितास्तान्यङ्गानि "फलवत्सन्निधावफलं तदङ्गमिति" न्यायात्।

तानि चाङ्गानि द्विविधानि—स्वरूपोपकारीणि, फलोपकारीणि चेति। तत्र प्रोक्षणादयः स्वरूपोपकारिणस्त एव सन्निपत्योपकारिण इत्युच्यन्ते। प्रयाजादयस्तु फलोपकारिण आरादुपकारिण इति भाष्यन्ते। एवं प्रकृतेऽपि वेदान्तश्रवणं प्रमाण-विचारात्मकतया साक्षाद्ब्रह्मसाक्षात्कारफलसाधनत्वेन विहितत्वादङ्गी; विवेकादिगुरूपसदनान्तानि तत्सन्निधौ विहितानि स्वरूपोपकार्य्यङ्गानि ज्ञानातिरिक्त-फलाश्रवणात्; मननादि फलोपकार्य्यङ्गं, फलं विना तत्सन्निधौ विहितत्वात्। तथा च मनन-निदिध्यासनाभ्यां फलोपकार्य्यङ्गाभ्यां श्रवणं नामाङ्गी विधीयते "श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य" इति। नच तद्विषये

●

पदार्थ का श्रवण किया जाता है, उस पदार्थ को 'अंगी, शेषी या प्रधान' शब्द से कहा जाता है, और उस अंगी के समीप ही फल रहीत जिस पदार्थ का 'कर्तव्य' के रूप में श्रवण किया जाता है, उसे 'अंग', शेष, अप्रधान' सहकारी शब्द से कहा जाता है।

वे 'अंग' भी (१) 'स्वरुपोपकारी' और (२) फलोपकारी' के भेद से दो प्रकार के होते हैं। जो अंग, 'अंगी' के स्वरूप की उत्पत्ति में उपकारक होते हैं, उन 'अंगों' को स्वरूपोपकारी कहते हैं। इन स्वरूपोपकारी अंगों को ही मीमांसक विद्वान् 'सन्निपत्योपकारक' अंग कहते हैं।

और जो 'अंग', 'अङ्गोसेजन्य फल' की उत्पत्ति में उपकारक होते हैं, उन अङ्गों को 'फलोपकारी' अंग कहते हैं। इन फलोपकारी अंगों को ही मीमांसकविद्वान् 'आरादुपकारक' अंग कहते हैं। वेदान्तशास्त्र का जो 'श्रवण' है, वह 'प्रमाणविचार-रूप है, और उसका साक्षात् फल—'ब्रह्मज्ञान' है। अतः फलसाधन के रूप में उपर्युक्त वाक्य ने 'दर्शन' के उद्देश्य से मनन, निदिध्यासनरूप फलोपकारी दो अंगों के सहित 'श्रवण' का विधान किया है। उसकारण 'श्रवण' तो 'अंगी' है।

उस 'श्रवणरूपअंगी' के समीप विधानकिये हुए 'विवेकादि' गुरूपसदनान्त जो चार साधन हैं, उनका ज्ञानातिरिक्त कोई अन्य फल, नहीं बताया गया है। उसकारण वे 'विवेकादि चार साधन', उस 'श्रवणरूप अंगी' के स्वरूप की उत्पत्ति में उपकारक होते हैं, इसलिये उन विवेकादि चार साधनों को 'स्वरुपोपकारी अंग' (सन्निपत्योपकारक अंग) कहाजाता है।

उस 'श्रवण' रूप अंगी के समीप ही फलरहित 'मनन, निदिध्यासन' का विधान किया गया है। उसकारण वे 'मनन, निदिध्यासन'—दोनों, 'श्रवण' रूप अंगी के 'ब्रह्मसाक्षात्कार' रूप फल को उत्पत्ति में उपकारक होजाते हैं। अतः मनन, निदिध्यासन-दोनों को फलोपकारी अंग' (आरादुपकारकअंग) कहागया है।

एवंच 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः'—इस वचन से 'मनन, निदिध्यासन' रूप फलोपकारी अंगोंसहित 'श्रवण' रूप अंगी का विधान किया गया है। अर्थात् ब्रह्मसाक्षात्कार प्राप्त करने के लिये साधनचतुष्टयसम्पन्न संन्यासी, 'मनन, निदिध्यासनरूप अंगों' के सहित 'श्रवण' रूप अंगी का सम्पादन अवश्य करे।

शंका—भाष्यकार ने कहा है कि आत्मज्ञान के विषय में श्रुति द्वारा प्रयुक्त भी विधि कुण्ठित हो जाती है क्योंकि वह ऐसा विषय नहीं है कि, उसमें किसी को विधि से प्रेरित किया जाये। अर्थात् 'श्रोतव्यः मन्तव्यः' वाक्य में किसी नियोज्य (अधिकारी पुरुष) का निर्देश न रहने से लिङादि, तव्यत् आदि को विधायक शक्ति कुण्ठित हो गई है। तब आत्मश्रवण की विधि, आचार्य कैसे मानते हैं ?

श्रूयमाणा[1] लिङादयोऽनियोज्यविषयत्वात्कुण्ठीभवन्तीत्यादिना भाष्यकृता निराकृतत्वात्कथं श्रवणविधिरिति वाच्यम्, ज्ञानविधिरेव तत्र निराकृतः नतु श्रवणादिविधिस्तत्र प्रवृत्त्यभावप्रसङ्गात्।

नच फलेच्छया तत्र प्रवृत्तिरिति वाच्यम्। द्वैतात्मविचारे पुराणादिविचारे च प्रवृत्तिप्रसङ्गेनाद्वैतविचारे वेदान्तविचारे च नियमेन मुमुक्षोः प्रवृत्त्यभावप्रसङ्गात्। तस्माच्छ्रवणादिविधिरपेक्षितः। तदुक्तम् भगवता सूत्रकारेण "सहकार्य्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतोविध्यादिवदि"ति। नच सहकारिध्यानविधिरेव तत्र स्त्रोक्तः न श्रवणादिविधिरिति वाच्यम्। प्रधानविध्यभावे सहकारिविध्ययोगात्। तस्माच्छ्रवणं विधेयमेव।

पुरुषप्रवर्त्तको विधिः। स च द्विविधः—अभिधानविधिरभिधेयविधिश्चेति। लिङादिघटितं[3] वाक्यमभिधानविधिः। स चतुर्विधः—उत्पत्तिविधिर्विनियोगविधिरधिकारविधिः प्रयोगविधिश्चेति। तत्र कर्म्मस्वरूपबोधको विधिरुत्पत्तिविधिः। स यथा "अग्निहोत्रं जुहोति" "सोमेन यजेते"त्यादिः। श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थान-समाख्यानामन्यतमसहायेनाङ्गताबोधको विधिविनियोगविधिः। स यथा "दध्ना जुहोति" "पशुना यजेते"त्यादिः। उत्पन्नस्य कर्मणः फलसम्बन्धबोधको विधिरधिकारविधिः। स यथा "अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः" "ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेते"त्यादिः। साङ्गे कर्मणि अनुष्ठापको विधिः प्रयोगविधिः। स यथा "पौर्णमास्यां पौर्णमास्या यजेत" "अमावस्यायाम् अमावास्यया यजेते"त्यादिः। एवं प्रकृतेऽपि "तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं

●

समा०—भाष्यकार ने वहाँपर ज्ञानविधि का ही निराकरण किया है। श्रवणादि विधि का नहीं। अन्यथा श्रवण में किसी की प्रवृत्ति ही नहीं होगी।

शंका—फल के प्रति अनुराग रहने से (फल की इच्छा से) श्रवणादिकों में प्रवृत्ति होजायेगी।

समा०—द्वैतविचार में और पुराणादि के विचार में प्रवृत्ति का प्रसंग रहने से अद्वैतविचार में और वेदान्तविचार में मुमुक्षु की प्रवृत्ति नियमतः (निश्चितरूप से) होना कठिन है। इसलिये 'श्रवण' का विधान अपेक्षित है। भगवान् सूत्रकार ने इसी तथ्य का निर्देश "सहकार्यन्तरविधिः" सूत्र से किया है।

शंका—'आत्मावाऽरे०' इस वाक्य में ध्यानादि सहकारियों का विधान किया गया है, 'श्रवणादिकों का नहीं, ऐसा क्यों न कहें ?

समा०—प्रधान का विधान न रहनेपर 'सहकारी' का विधान कैसे होगा ? अतः 'श्रवण' को ही विधेय कहना चाहिये।

'पुरुषप्रवर्तको विधिः'—पुरुष को प्रेरित करनेवाला (प्रवर्तक), 'विधि' ही होता है। वह दो प्रकार का होता है—(१) अभिधानविधि, (२) अभिधेयविधि। लिङादिघटित वाक्य को 'अभिधानविधि' कहते हैं। वह चारप्रकार का होता है—(१) उत्पत्तिविधि, (२) विनियोगविधि, (३) अधिकारविधि, (४) प्रयोगविधि। उनमें से (१) कर्मस्वरूप का बोधन करनेवाले विधि को 'उत्पत्तिविधि' कहते हैं। जैसे—'अग्निहोत्रं जुहोति', 'सोमेनयजेत' इत्यादि। (२) अङ्गत्वबोधक श्रुति, लिङ्गादिकों में से किसी एक प्रमाण (अन्यतम प्रमाण) की सहायता से अङ्गता के बोधक विधि को 'विनियोगविधि' कहते हैं। जैसे—'दध्नाजुहोति', 'पशुना यजेत' इत्यादि। (३) विहित कर्म के साथ फलसम्बन्ध बताने वाले विधि को 'अधिकारविधि' कहते हैं। जैसे—'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः', 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत'—इत्यादि। (४) सांग कर्म के अनुष्ठान का बोध कराने वाला विधि, 'प्रयोगविधि' कहलाता है। जैसे—'पौर्णमास्यां यजेत', 'अमावास्यायां यजेत' इत्यादि।

इसी प्रकार प्रकृत में भी 'तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य' इत्यादि वाक्य को 'उत्पत्तिविधि' जानना चाहिये, और 'मन्तव्य' इत्यादि को 'विनियोगविधि और 'तद्विजिज्ञासस्व' को 'अधिकारविधि' समझना चाहिये। तथाहि—'सन्' प्रत्ययवाच्य 'इच्छा' का प्रकृत्यर्थं जो 'ज्ञान' है, उसको करना शक्य न होने से 'सन्' प्रत्यय के अन्तर्निहित जो 'विचार' है, उसे लक्षित करके और 'प्रकृति' के फलीभूत 'ज्ञान' को लक्षित करके 'अद्वितीय ब्रह्मज्ञान' के लिये उसकी 'कर्तव्यता' का विधान किया जा रहा है। अर्थात् 'ब्रह्मसाक्षात्कारकामो वेदान्तश्रवणं कुर्यात्'। इस प्रकार से 'श्रवण' का विधान किया गया है।

---

१. लिङादय इति।

२. श्रवणं विधेयमेवेति पठनीयम्।

३. लिङादिघटितमिति स्यात्।

तस्य च दृष्टफलत्वान्नापूर्वविधिः, अप्राप्तार्थविधायको ह्यपूर्वविधिः। किन्तु नियमविधि र्वा परिसंख्याविधि र्वा। पक्षप्राप्तस्याप्राप्तांशपूरको विधिर्नियमविधिः। "यथा—व्रीहीनवहन्यादि"त्यवघातविधिः। उभयप्राप्तावितरव्यावृत्तिबोधको विधिः परिसङ्ख्याविधिः। यथा "इमामगृभ्णन्रशनामृतस्येत्यश्वाभिधानीमादत्ते" इति गर्दभरशनाग्रहणव्यावृत्तिविधिः। एवं प्रकृतेऽपि जिज्ञासुर्वेदान्तश्रवणमेव कुर्य्यादिति नियमविधिः। वेदान्तश्रवणव्यतिरिक्तं न कुर्य्यादिति परिसंख्याविधिर्वा।

●

निर्विद्ये"त्यादिरुत्पत्तिविधिः, "मन्तव्य" इत्यादिर्विनियोगविधिः, "तद्विजिज्ञासस्वे"त्यधिकारविधिः। तथाहि—सन्प्रत्ययवाच्याया इच्छायाः प्रकृत्यर्थज्ञानस्य च कर्त्तुमशक्यतया सन्प्रत्ययेनान्तर्णीतं विचारं लक्षयित्वा प्रकृत्या फलीभूतं ज्ञानं च लक्षयित्वाऽद्वितीय-ब्रह्मज्ञानाय तत्कर्त्तव्यता विधीयते—ब्रह्मसाक्षात्कारकामो वेदान्तश्रवणं कुर्य्यादिति। अतोऽयमधिकारविधिः। साधनचतुष्टय-सम्पन्नोऽधिकारी जिज्ञासुस्संन्यासी साङ्गवेदान्तश्रवणं कुर्य्यादिति प्रयोगविधिः कल्प्यः। कृतिसाध्यत्वे सतीष्टसाधनत्वमभिधेय-विधिरयमेव लिङाद्यर्थः[1], नतु भावना विनियोगो वा प्रमाणाभावादिति भावः।

ननु श्रोतव्य इत्यादि वाक्ये श्रवणं विधीयत इत्युक्तम्, किमयं व्रीहीन्प्रोक्षतीति प्रोक्षणविधिवत् श्रवणविधिरपूर्व-विधिराहोस्विद्व्रीहीनवहन्तीत्यवघातविधिवन्नियमविधिरथवा "इमामगृभ्णन्रशनामृतस्येत्यश्वाभिधानीमादत्ते" इति गर्दभरशना-ग्रहण-व्यावृत्तिविधिवत्परिसंख्याविधिर्वा? नाद्यः। श्रवणस्य दृष्टफलकत्वेन तदयोगात्। अन्वयव्यतिरेकाभ्यां श्रवणस्य तत्त्वज्ञान-साधनत्वावगमेन दृष्टफलत्वम्। अप्राप्तार्थबोधकस्यैवापूर्वविधित्वेन श्रवणादेस्तथात्वाभावात्। न द्वितीयः। अवघातनियमादृष्ट-

●

अतः यह 'अधिकारविधि' है। और 'साधनचतुष्टयसम्पन्न अधिकारी जिज्ञासु संन्यासी साङ्ग (मनन, निदिध्यासनरुप अंगों सहित) वेदान्तश्रवण करे—यह प्रयोगविधि है। एवंच 'कृतिसाध्यत्वे सति इष्टसाधनत्वमभिधेयविधिः' यही लिङर्थ है। 'भावना अथवा विनियोग' को लिङर्थ मानने में कोई प्रमाण नहीं है।

शंका—'श्रोतव्यः' इत्यादि वाक्य में जो 'श्रवण' का विधि, कहा गया है, क्या वह (श्रवणविधि) 'व्रीहीन् प्रोक्षति' वाक्य से बताये गये 'प्रोक्षणविधि' के समान 'अपूर्वविधि' है? अथवा 'व्रीहीन् अवहन्ति' वाक्य से बताये गये 'अवघातविधि' के समान 'नियमविधि' है? अथवा 'इमामगृभ्णन् रशनामृतस्य इति अश्वाभिधानीम् आधत्ते'—इस वाक्य से बताये गये 'गर्दभरशनाग्रहणव्यावृत्तिविधि' के समान 'परिसंख्याविधि' है?

समा०—उक्त 'श्रवण विधि' को 'अपूर्व विधि' तो कह नहीं सकते, क्योंकि वह (श्रवण) दृष्टफलक है। अर्थात् 'श्रवण' में 'अन्वय-व्यतिरेक' के द्वारा 'तत्त्वज्ञानसाधनता' का बोध हो रहा है, अतः श्रवण में दृष्टफलकता स्पष्ट हो रही है। 'अपूर्व विधि' तो अप्राप्तार्थबोधक ही होता है। 'श्रवण' में वैसी अप्राप्तार्थबोधकता न होने से उसे 'अपूर्वविधि' नहीं कह सकते। एवं च 'श्रवण' में 'ब्रह्मसाक्षात्कार' की कारणता पूर्वोक्त अन्वय-व्यतिरेक से ही सिद्ध है, उस कारण 'श्रवण' का विधान करनेवाला 'श्रोतव्यः'—यह विधि 'अपूर्वविधिरुप' नहीं है।

'श्रोतव्यः' को नियमविधि भी नहीं कह सकते। क्योंकि 'अवघातनियमादृष्टसाध्यपरमापूर्व' की तरह श्रवणनियमादृष्टः से होनेवाला कोई साध्य नहीं है।

शंका—'ज्ञान' को ही श्रवणनियमादृष्ट का साध्य मान लिया जाय।

समा०—अन्यत्र वैसा कहीं दिखाई नहीं देता।

शंका—तो तृतीय अर्थात् परिसंख्या विधि मान लेवें।

समा०—वह भी नहीं मान सकते क्योंकि ब्रह्म केवल उपनिषत् से समधिगम्य होने के कारण कोई अन्य साधन प्राप्त ही नहीं है जिसकी निवृत्ति इस विधि से की जाये। कथंचित् प्राप्त हो जाये और परिसंख्या मानें तो वेदान्त श्रवण का परित्याग दोषावह नहीं रह पायेगा, जैसे पंचनख खाना छोड़ना दोषावह नहीं है, जबकि वेदान्त विचार से रहित संन्यासियों को मारकर जंगली कुत्तों को खिला दिया—इत्यादि वेदवाक्य श्रवणपरित्याग को दोषकारी बताते हैं।

शंका०—यदि श्रवणादि में कोई विधि न दी हो?

---

१. स श्रवणं विधीयत इति पाठः।

साध्यपरमापूर्वंवच्छ्रवणनियमादृष्टसाध्यस्याभावात्। न च ज्ञानमेव तत्साध्यमस्त्विति वाच्यम्। अन्यत्र तथाऽदृष्टत्वात्। न तृतीयः। उपनिषदेकगम्यतया ब्रह्मणस्तत्त्वज्ञानं प्रत्युभयप्राप्त्यभावात्। भावे वा प्रत्यवायाभावप्रसङ्गात्। नहि पञ्चनखभक्षणाभावे प्रत्यवायो हि श्रूयते; श्रूयते च प्रकृते प्रत्यवायः—"अरुन्मुखान् यतीन् शालावृकेभ्यः प्रायच्छमि"ति। मास्तु श्रवणादौ विधिरिति चेत्तर्हि तत्र प्रवृत्त्यभावप्रसङ्गात्। तस्मात् कोऽयमत्रविधिर्विवक्षितः? इत्याशङ्क्य प्राप्तत्वेनापूर्वविध्यसम्भवं वदन्नियमादिकमाह—तस्येति। श्रवणादेरित्यर्थः। दृष्टेति। अन्वयव्यतिरेकसिद्धफलत्वादित्यर्थः। तथाप्यपूर्वविधिः कुतो न सम्भवतीत्याशङ्क्य तल्लक्षणलक्षितत्वाभावादिति तदसम्भवं वक्तुमपूर्वविधेर्लक्षणमाह—अप्राप्तेति। मानान्तरेणाप्राप्तस्यार्थस्य विधायकः कर्त्तव्यत्वेन बोधकोऽपूर्वविधिः। कर्त्तव्यत्वेन बोधको विधिरपूर्वविधिरित्युक्ते नियमादिविधावतिव्याप्तिरत उक्तं मानान्तराप्राप्तेति। तर्हि कोऽसौ विधिर्विवक्षित इति पृच्छति—किन्त्विति। उत्तरमाह—नियमेति। नियमविधेर्लक्षणमाह—पक्षेति। तुषनिवृत्तिं प्रति एकस्मिन् पक्षेऽवघातः प्राप्त एकस्मिन् पक्षे नखविदलनादिः। यदा नखविदलनादिः प्राप्तस्तदाऽवघातो न प्राप्तस्ततश्च तुषनिवृत्तिं प्रति पक्षप्राप्तस्यावघातादेरप्राप्तांशं पूरयति "व्रीहीनवहन्ती"ति वाक्यम् अवघातेनैव तुषनिवृत्तिः सम्पादनीयेति। तत्रार्थान्नखविदलनादिव्यावृत्तिः। अप्राप्तांशपूरकोविधिर्नियमविधिरित्युक्ते अपूर्वविधावतिव्याप्तिस्तद्वारणायोक्तं पक्षप्राप्तेति। तत्रोदाहरणमाह—यथेति। परिसङ्ख्याविधेर्लक्षणमाह—उभयेति। यथा "पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या" इत्यत्र रागतः पञ्चनखाऽपञ्चनखभक्षणयोरुभयोः प्राप्तौ

•

समा०—तब श्रवणादि में प्रवृत्ति नहीं हो पायेगी। शास्त्रीय व्यक्ति मोक्ष का शास्त्रीय उपाय ही ढूंढता है, विषय सौन्दर्य से ही मुग्ध होकर उस ओर चल नहीं पड़ता।

प्रश्न—तब इस संदर्भ में कौन विधि है?

उत्तर—क्योंकि श्रवण का तत्त्वज्ञानरूप फल दृष्ट है, अन्वय-व्यतिरेक से विधि के बिना भी समझ में आ जाता है। इसलिये श्रवणविधि अपूर्वविधि नहीं है। अपूर्व उसी विधि को कहते हैं जो प्रमाणान्तर से अप्राप्त (अज्ञात) कार्य को करना बतावे।

प्रश्न—अपूर्व नहीं तो कौन विधि है?

उत्तर—श्रवण के विषय में नियम अथवा परिसंख्या विधि है। विधि के बिना भी जो करना प्राप्त हो सके, उसे न करके व्यक्ति द्वारा उस कार्य को कराने के लिये जो विधि होती है वह नियम है। जैसे धान कूटो—इत्यादि में कूटने की विधि।

दो कार्य प्राप्त होने पर उनमें से अमुक न करो—इतना ही बताने वाली विधि परिसंख्या विधि है। जैसे गदर्भ व अश्व दोनों की रास मन्त्रविशेष पूर्वक पकड़ना प्राप्त होने पर गधे की रास मत पकड़ो इस तात्पर्य वाली घोड़े की रास पकड़ो—यह विधि है।

इस प्रकार प्रकृत में भी वेदान्तश्रवण ही करना चाहिये यह नियम विधि है। वेदान्तश्रवण से अतिरिक्त कुछ न करे—यह परिसंख्या विधि है।

नियम विधि का स्वरूप यह है—व्रीहीनवहन्यात्,—धान कूटो—यह विधि है। यज्ञ में उपयोगी जो व्रीहि हैं, उनके तुषों की निवृत्ति दो उपायों से होती है (१) अवघातरूप उपाय है और (२) नखविदलनरूप उपाय है। उनमें मूसल से व्रीहियों के कूटने का नाम 'अवघात' है, और नखों से तुषों की निवृत्ति करने का नाम 'नखविदलन' है। जिस पक्ष में 'नखविदलन' की प्राप्ति होती है, उस समय में 'अवघात' की प्राप्ति नहीं होती। अतः पक्ष में प्राप्त अवघात के 'अप्राप्त अंश' का 'व्रीहीन् अवहन्यात्' यह वाक्य 'पूरण' करता है। अर्थात् 'अवघात' करके ही व्रीहियों के तुषों की निवृत्ति करनी चाहिये। यह कहने से 'निखविदलनरूप उपाय' की 'निवृत्ति' अर्थात् (अपने आप=स्वतः एव) सिद्ध हो जाती है। अतः 'श्रोतव्यः' को नियमविधि भी नहीं कह सकते।

एक ही समय में दो पदार्थों के प्राप्त होने पर एक पदार्थ की व्यावृत्ति का बोधक जो विधि है, उसे 'परिसंख्याविधि' कहते हैं। जैसे—'इमामगृभ्णन् रशनामृतस्य'—इस मंत्र से यज्ञ में अश्व और गर्दभ दोनों के रशनाग्रहण की प्राप्ति होनेपर 'अश्वाभिधानीमादत्ते'—इस वचन से 'गर्दभरशनाग्रहण' की व्यावृत्ति का विधान किया जाता है। उक्त वाक्य 'अश्वरनाग्रहण' का विधान नहीं कर रहा है। क्योंकि 'अश्वरशनाग्रहण' तो 'इमामगृभ्णन्'—इस मंत्र से ही प्राप्त है। उस कारण 'अश्वाभिधानीमादत्ते'—यह वचन, 'परिसंख्या' का विधान कर रहा है।

अपञ्चनखभक्षणव्यावृत्तिं बोधयति "पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या" इति वाक्यं, ननु पञ्चनखभक्षणं कर्त्तव्यत्वेन बोधयति, तस्य रागतः प्राप्तत्वाद्। इतरव्यावृत्तिबोधको विधिः परिसङ्ख्याविधिरित्युक्ते "न कलञ्जं भक्षयेदि"त्यादिनिषेधवाक्येऽतिव्याप्तिरतस्तद्वारणायोक्तमुभयप्राप्ताविति। वैदिकोदाहरणमाह—यथेति। अत्र मन्त्रलिङ्गेन गर्दभरशनाऽश्वरशनयोरुभयोर्ग्रहणप्राप्तौ "अश्वाभिधानीमादत्त" इति गर्दभरशनाग्रहणव्यावृत्तिर्विधीयते, न त्वश्वरशनाग्रहणं विधीयते, तस्य मन्त्रलिङ्गप्राप्तत्वादतः परिसङ्ख्याविधिः। एतत्सर्वमभिप्रेत्योक्तं भट्टपादैः—

"विधिरत्यन्तमप्राप्ते नियमः पाक्षिके सति। तत्र चान्यत्र च प्राप्तौ परिसङ्ख्येति गीयते" ॥ इति।

नन्वस्त्वेवमन्यत्र, प्रकृते किमायातमित्याशंक्याह—एवमिति। एवमुक्तरीत्या प्रकृते व्यवहारभूमौ। ननु पक्षे साधनद्वयप्राप्तौ पक्षप्राप्तस्याप्राप्तांशपूरको विधिर्नियमविधिरित्युक्तत्वाद्ब्रह्मणो मानान्तरागोचरत्वेन शास्त्रैकगम्यतया तज्ज्ञानं प्रति वेदान्तव्यतिरिक्तसाधनान्तराप्राप्तेः कथं नियमविधिः श्रवणादौ? नच ब्रह्मज्ञानं प्रति पक्षे पुराणादिश्रवणस्य साधनतया प्राप्तौ नियमो युक्त इति वाच्यम्। अध्यात्मपुराणस्य वेदान्तमूलतया तच्छ्रवणस्य साधनान्तरत्वाभावात्। नच पक्षे रागिगीतादिश्रवणस्य साधनत्वप्राप्तौ नियमो युक्त इति वाच्यम्। तस्य वचनान्तरेण वारितत्वात्। नच द्वैतशास्त्रश्रवणस्य पक्षे साधनत्वप्राप्तौ स युक्त

●

शंका—नियमविधि और परिसंख्याविधि दोनों में 'इतरनिवृत्ति' तो समान ही है, तब दोनों में अन्तर (भेद) क्या है?

समा०—यद्यपि नियमविधि और परिसंख्याविधि दोनों में 'इतरनिवृत्ति' का होना समान है, तथापि नियमविधि में 'इतर की निवृत्ति', आर्थिकी है, और परिसंख्याविधि में 'इतर की निवृत्ति', विधेय हुआ करती है। यही दोनों में अन्तर (भेद) है।

उक्त परिसंख्याविधि दो प्रकार से होता है—(१) अंगिपरिसंख्या और (२) अंगपरिसंख्या। उपर्युक्त 'रशनाग्रहण' का उदाहरण 'अंगिपरिसंख्या का दिया है, क्योंकि रशनारूप दो अंगियों में 'मन्त्ररूप एक अंग' की प्राप्ति होनेपर दो रशनारूप अंगियों में से 'एक रशनारूप अंगी' की निवृत्ति बताई गई है।

अंगपरिसंख्या का उदाहरण 'पञ्च-पञ्चनखा भक्ष्याः' है। यहाँपर पञ्चनख और अपञ्चनख दोनों प्रकार के प्राणियों का भक्षण, रागतः ही मांसभक्षी को प्राप्त है। इस स्थिति में 'अपञ्चनख' प्राणियों के भक्षण की निवृत्ति का 'विधान' परिसंख्याविधि से किया जाता है। पञ्चनख प्राणियों के भक्षण का विधान नहीं किया गया है। क्योंकि वह रागतः एव प्राप्त है। प्राप्त का विधान, नहीं हुआ करता है। अतएव 'उभयप्राप्तौ इतरव्यावृत्तिबोधको विधिः परिसंख्याविधिः'—यह लक्षण 'परिसंख्याविधि का किया गया है। यदि हम इतना बड़ा लक्षण न बनाकर केवल—'इतरव्यावृत्तिबोधकोविधिः—परिसंख्याविधिः', इतना ही लक्षण रखें तो 'न कलञ्जं भक्षयेत्'—इस निषेधक वाक्य में उक्त लक्षण की 'अतिव्याप्ति' होने लगेगी। उस अतिव्याप्ति के निवारणार्थं 'उभयप्राप्तौ कहना आवश्यक है।

शंका—इस सम्पूर्ण चर्चा से क्या लाभ हुआ? क्या प्रस्तुत प्रसंग में भी 'श्रोतव्यः' को नियम विधि' मानना चाहिये? अर्थात् साधनचतुष्टयसम्पन्न जिज्ञासु संन्यासी वेदान्तशास्त्र का ही श्रवण करे। अथवा वह जिज्ञासु संन्यासी, वेदान्तशास्त्र के अतिरिक्त अन्य शास्त्र का श्रवण न करे—इस प्रकार परिसंख्याविधि मानना चाहिये? जिस स्थल में दो पाक्षिक साधन प्राप्त रहते हैं, वहीं पर किसी एक पक्ष में अप्राप्त अंश को पूरण करनेवाला नियमविधि स्वीकार किया जाता है, यह पहिले बता चुके हैं। किन्तु उक्त नियमविधि का लक्षण, इस 'श्रवण विधि' में उपपन्न नहीं हो रहा है। क्योंकि वह 'ब्रह्म', वेदान्तशास्त्र के अतिरिक्त किसी अन्य प्रमाण का विषय नहीं है। वह तो केवल एकमात्र वेदान्तशास्त्र का ही विषय है।

यदि कदाचित् 'ब्रह्मसाक्षात्कार' में वेदान्त श्रवण के अतिरिक्त और भी कोई अन्य साधन होता तो 'श्रवण' में नियमविधि की संभावना की जा सकती थी। किन्तु वेदान्तश्रवण के अतिरिक्त, अन्य कोई साधन, 'ब्रह्मसाक्षात्कार' के प्रति नहीं है, ऐसी स्थिति में 'श्रवण' को नियमविधि का विषय कैसे कह सकते हैं?

यदि यह कहें कि ब्रह्मसाक्षात्कार के प्रति जैसे—'श्रुति' को साधन माना जाता है, वैसे ही 'ब्रह्मसाक्षात्कार' के प्रति 'पुराण श्रवण' को भी साधन के रूप में कहा जाता है। अतः उस पुराण श्रवणरूप साधन की निवृत्ति करने के लिये 'वेदान्त-श्रवण' में 'नियमविधि' की संभावना की जा सकती है।

तदुक्तम्

"नियमः परिसङ्ख्या वा विध्यर्थो हि भवेद्यतः।
अनात्मादर्शनेनैव परात्मानमुपास्महे" ॥ इति ॥२५॥

●

इति वाच्यम्। तस्य विरुद्धत्वेनाद्वितीयब्रह्मज्ञानं प्रति साधनत्वायोगात्। "यतो वाचो निवर्त्तन्ते" "यन्मनसा न मनुते" इत्यादि श्रुत्या ब्रह्मणो वेदान्तव्यतिरिक्तवाङ्मनसयोरविषयत्वेन तज्ज्ञानं प्रति प्रत्यक्षादीनां साधनत्वाप्राप्तेश्च। अतएव न परिसङ्ख्या-विधिः। तस्मान्नियमः परिसङ्ख्यावेति विकल्पाश्रयणमनुपपन्नमिति।

मैवम्। वेदान्तश्रवणवद्भ्रान्त्या पुराणादिश्रवणस्यापि ब्रह्मज्ञानं प्रति स्वातन्त्र्येण साधनत्वप्राप्तौ श्रवणादौ नियम-विधिरभ्युपगम्यते। नचापूर्वविधिरेवास्तु किमनेन क्लेशेनेति वाच्यम्। श्रवणादेर्दृष्टफलत्वेन तदसम्भवस्योक्तत्वात्। नन्वन्यत्र-नियमादृष्टस्य परमापूर्वोपयोगदर्शनात् प्रकृते तदभावात् तस्य कुत्रोपयोग इति? शृणु, तत्त्वज्ञाने तस्योपयोगः। नच प्रमाण-परतन्त्रस्य कथमदृष्टसाध्यत्वमिति वाच्यम्। साक्षात् तदभावेऽपि प्रतिबन्धकनिवृत्तिद्वारा तदुपपत्तेः। किञ्चात्यल्पमिदमुच्यते, सर्वादृष्टसाध्यत्वाद्ब्रह्मसाक्षात्कारस्य। नच तत्र प्रमाणाभावः "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा-

●

किन्तु उक्त कथन उचित नहीं है। क्योंकि 'आत्मपुराण' में वेदान्तमूलकता रहने से वह 'पुराण श्रवण' भी 'वेदान्त-श्रवण' से भिन्न नहीं है। अध्यात्मपुराण का श्रवण भी 'वेदान्त' का ही श्रवण है। वेदान्त श्रवण से भिन्न 'अध्यात्मपुराणश्रवण' नहीं है। अपितु दोनों एक ही हैं।

यदि यह कहें कि ब्रह्मसाक्षात्कार के प्रति 'गीतश्रवण' को भी साधन कहा जाता है, जो वेदान्त श्रवण से भिन्न साधन है। उसके निवृत्त्यर्थ वेदान्त श्रवण को नियमविधि का विषय मान सकते हैं।

किन्तु यह कहना भी उचित नहीं है। क्योंकि मुमुक्षुजनों के लिये गीतश्रवण का निषेध, अन्यान्य वचनों के द्वारा किया गया है।

यदि कहें कि ब्रह्मसाक्षात्कार के प्रति अद्वैत वेदान्त श्रवण के समान ही 'द्वैतशास्त्र' के श्रवण को भी साधनरूप में कुछ लोग मानते हैं।

अतः द्वैतशास्त्र श्रवण के निरासार्थ 'वेदान्तशास्त्र श्रवण' में नियमविधि की संभावना की जा सकती है।

किन्तु यह कहना भी उचित नहीं है। क्योंकि 'द्वैतशास्त्र' तो 'अद्वैतशास्त्र' का विरोधी है। अद्वैतशास्त्र का विरोधी होने से, वह 'अद्वैत ब्रह्मसाक्षात्कार' का साधन कैसे हो सकेगा?

किञ्च—'श्रुतियों ने स्पष्ट कह दिया है कि वेदान्त शास्त्र से भिन्न जो चक्षु, वाक् और मन हैं, उनका भी विषय, 'ब्रह्म' कभी नहीं होता है। उसकारण प्रत्यक्षादिक भी ब्रह्मसाक्षात्कार के साधन नहीं हुआ करते। एवंच ब्रह्मसाक्षात्कार में सभी साधनों का अभाव रहने से किस साधन की निवृत्ति करने के लिये 'परिसंख्याविधि मानी जायगी? अतः 'श्रवण' में नियम, परिसंख्या वा यह विकल्प करना अनुपपन्न है।

समा०—यद्यपि वेदान्त के अतिरिक्त जो पुराण आदि हैं, वे ब्रह्मसाक्षात्कार के साधन नहीं है, तथापि वेदान्तशास्त्र के श्रवण के समान पुराणादि ग्रन्थों का श्रवण भी स्वतन्त्ररूप से ब्रह्मसाक्षात्कार का साधन हो सकता है—इस प्रकार की भ्रान्ति से पुराणश्रवण में भी ब्रह्मसाक्षात्कार के प्रति स्वतन्त्र साधनता प्राप्त हो सकती है, उसके निवारणार्थ 'श्रवण' में नियमविधि का स्वीकार तथा परिसंख्याविधि का अंगीकार किया जा सकता है।

शंका—'श्रवण' में अपूर्वविधि को ही क्यों नहीं मान लेते, नियमविधि मानने का क्लेश क्यों कर रहे हैं?

समा०—'श्रवण'—दृष्टफलक होने से 'अपूर्वविधि' का यहाँ मानना संभव नहीं हो सकता।

शंका—जहाँ-जहाँ नियमादृष्ट माना जाता है, वहाँ-वहाँ उसका 'परमापूर्व' में उपयोग दिखाई देता है, किन्तु प्रकृत में नियमादृष्ट का उपयोग कहाँ होगा?

समा०—'तत्त्वज्ञान' में उस नियमादृष्ट का उपयोग होता है।

ऽनाशकेन" "कषाये कर्मभिः पक्वे ततो ज्ञानं प्रवर्त्तते" इत्यादि श्रुतिस्मृत्योः सत्त्वात्। तस्माज्जिज्ञासुर्वेदान्तश्रवणमेव कुर्य्यादिति नियमविधिरिति निरवद्यम्। अत एव जिज्ञासु-र्वेदान्तश्रवणव्यतिरिक्तं न कुर्य्यादिति परिसङ्ख्याविधिरपि सम्भवति। नच नियमपरिसङ्ख्याविध्योः को विशेष उभयत्रेतरव्यावृत्तेरविशेषादिति वाच्यम्। नियमविधावितरव्यावृत्तिरार्थिकी, परिसङ्ख्याविधौ विधेयेति विशेषः।

उक्तार्थे सम्मतिमाह—तदुक्तमिति। अनात्मादर्शनेनानात्मदर्शनंव्यावृत्त्याहंब्रह्मास्मीति परमात्मानमुपास्महे ध्यायाम इत्यर्थः। वस्तुतस्तु श्रवणादौ नियमविधिरेव[1], परिसङ्ख्याविधिर्वेत्यभ्युपगमवाद इतरथाऽकरणे प्रत्यवायश्रवणविरोध-प्रसङ्गादिति द्रष्टव्यम् ॥२५॥

ननु श्रवणं विधीयत इत्युक्तं, तत्किं काम्यमुत नित्यम् आहो नैमित्तिकं प्रायश्चित्तं वा? नाद्यः "स्वर्गकामो यजेते"ति वद्विध्युद्देशे फलाश्रवणात्। नच रात्रिसत्रन्यायेन तत्कल्प्यमिति वाच्यम्। गृहस्थादीनां ब्रह्मज्ञानकामनाया असम्भवात्, प्रत्युत ब्रह्मज्ञानादुद्वेगदर्शनात्। अतएव रागिगीतमपि श्लोकमुदाहरन्ति।

"अपि वृन्दावने शून्ये शृगालत्वं स इच्छति। नतु निर्विषयं मोक्षं कदाचिदपि गौतम" ॥इति॥

किञ्च, "वेदानिमं लोकममुञ्च परित्यज्यात्मानमन्विच्छेदि"त्यादिश्रुत्या साधनचतुष्टयसम्पन्नस्य जिज्ञासोः संन्यासिनः श्रवणादिकर्त्तव्यतावगमेन गृहस्थादीनां तत्रानधिकारात्। अस्तु तर्हि संन्यासिनामेतत्काम्यमिति चेन्न। श्रवणादि-

●

शंका—'तत्त्वज्ञान' तो 'प्रमाणपरतन्त्र' है, उसे 'अदृष्टसाध्य' कैसे कह रहे हैं ?

समा॰—साक्षात् 'अदृष्टसाध्य' न रहने पर भी 'प्रतिबन्धकनिवृत्ति' द्वारा उसका 'तत्त्वज्ञान' में उपयोग होता है।

किञ्च—उपर्युक्त कथन तो हमने बहुत स्वल्प में कहा है। 'ब्रह्मसाक्षात्कार' तो 'सर्वादृष्टसाध्य' है।

शंका—उसे सर्वादृष्टसाध्य कहने में प्रमाण क्या है ?

समा॰—श्रुति-स्मृति के अनेक वचनों को प्रमाणरूप में दिया जा सकता है। इसलिये जिज्ञासु संन्यासी 'वेदान्त-शास्त्र का ही श्रवण किया करे'—यह नियम विधि तथा 'उसके व्यतिरिक्त अन्य कुछ भी श्रवण न करे'—इस प्रकार परिसंख्या-विधि भी हो सकता है। अभिप्राय यह है कि जिज्ञासु अधिकारी पुरुष, 'श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ' गुरु के मुख से ही वेदान्तशास्त्र का श्रवण करे। गुरु के विना स्वतंत्र केवल अपनी बुद्धि से वेदान्त शास्त्र का 'विचारात्मक श्रवण' नहीं करना चाहिये। इसी तथ्य को पूर्ववर्ती वृद्ध पुरुषों ने कहा है—'श्रोतव्यः' इस विधि वाक्य का 'नियम' अथवा 'परिसंख्या' ही अर्थ है, अन्यथा प्रत्यवाय-श्रवण के विरोध-का प्रसंग प्राप्त होगा। उस कारण हम लोग अनात्मवस्तुओं के चिन्तन का परित्याग करके केवल परमात्मा का ही चिन्तन कर रहे हैं ॥२५॥

शंका—यह बताया जा रहा है कि 'श्रोतव्यः' इस विधि वाक्य में 'श्रवण' का विधान किया गया है, तब श्रुति एवं स्मृति में प्रतिपादित—(१) काम्य, (२) नित्य, (३) नैमित्तिक, (४) प्रायश्चित्त—इन चतुर्विध कर्मों में से पूर्वोक्त विहित 'श्रवण' कर्म, किस प्रकार का कर्म है ? प्रथम 'काम्यपक्ष' का स्वीकार यहां कर नहीं सकते। क्योंकि 'स्वर्गकामो यजेत' इस वचन में जैसे स्वर्गरूप फल को उद्देश्य कर 'याग' का विधान किया गया है, वैसे यहां पर किसी 'फल' को उद्देश्य कर 'श्रवण' का विधान नहीं किया जा रहा है। यदि यह कहें कि जैसे 'रात्रिसत्र' संज्ञक याग के विधायक वाक्य में 'फल श्रवण' न रहनेपर भी उस रात्रिसत्रयाग में पुरुष की प्रवृत्ति कराने के लिये उक्त याग के आर्थवादिक 'फल' की कल्पना की जाती है, वैसे ही यहां पर भी विहित श्रवण के 'ब्रह्मज्ञान' रूप फल की कल्पना कर सकते हैं। किन्तु यह संभव नहीं है, क्योंकि 'गृहस्थियों' को ब्रह्मज्ञान की कामना होना असंभव है, प्रत्युत (उलटे) गृहस्थियों को ब्रह्मज्ञान से उद्वेग का होना ही दिखाई देता है। अतएव रागी विलासी लोगों के अभिप्राय का बोधक एक पद्य भी लोग कहा करते हैं, जिसका अर्थ है—हे गौतम ! रागी-विलासी लोग उस शून्य वृन्दावन में शृंगाल बनने की तो इच्छा करते हैं, किन्तु निर्विषय मोक्ष प्राप्ति की इच्छा वे कदाचिदपि नहीं करते।

1. प्रकटार्थकृतोऽपूर्वमाचार्या नियमं विधिम्। परिसंख्यां सुरेशाद्या आहुर्मिश्रा विधिं न हि॥ तस्मादेवकारः स्वरुचिद्योतकः सिद्धान्ते सर्वपक्षाङ्गीकारादितिज्ञेयम्।

तच्च श्रवणं संन्यासिनां नित्यम्।

"नित्यं कर्म्म परित्यज्य वेदान्तश्रवणं विना। वर्तमानस्तु संन्यासी पतत्येव न संशयः" ॥

इत्यकरणे प्रत्यवायश्रवणात्, "आसुप्तेरामृतेः कालं नयेद्वेदान्तचिन्तये"ति स्मृत्या "यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयादि"त्यादि श्रुत्या जीवनं निमित्तीकृत्याग्निहोत्रादिविधानवद् जीवनं निमित्तीकृत्य श्रवणादिविधानात्।

●

रहितस्य संन्यासिनः प्रत्यवायाभावप्रसङ्गात्। नचेष्टापत्तिः "अरुन्मुखान् यतीन् शालावृकेभ्यः प्रायच्छं", "नित्यं कर्म्म परित्यज्ये"-त्यादि श्रुतिस्मृतिविरोधप्रसङ्गात्। तस्मान्नश्रवणादि काम्यम्।

न द्वितीयः, अग्निहोत्रादिवच्छ्रुत्या जीवनं निमित्तीकृत्याविधानात्। न तृतीयः गृहदाहादिवन्निमित्ताऽश्रवणात्। न चरमः, पापनिवृत्तिमुद्दिश्याविधानात्। "तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते यउचैनमेवं वेदे"त्यादिवत् तस्याश्रवणात्। तस्माच्छ्रवणादिविधानमनुपपन्नमित्याशङ्क्य तस्य नित्यत्वकाम्यत्वयोः सम्भवाद्विधिरुपपद्यते इत्यभिप्रेत्याह—तच्चेति। यथा चतुर्णामाश्रमाणामुपकुर्वाणस्य ब्रह्मचारिणः काम्यत्वेऽपि गृहस्थाश्रमं प्राप्तस्याकरणे प्रत्यवायश्रवणात् जीवनं निमित्तीकृत्य विधानाच्च अग्निहोत्रसोमयागसन्ध्यावन्दनादि नित्यं, एवं स्वीकृतसंन्यासाश्रमस्य परमहंसस्य विविदिषोरपि (श्रवणादिनित्यं) "अरुन्मुखान्

●

किञ्च—श्रुति से साधनचतुष्टयसम्पन्न जिज्ञासु संन्यासी के लिये ही 'श्रवण आदि' की कर्तव्यता (अनुष्ठेयता) का बोध हो रहा है, अतः उन श्रवणादिकों में तो गृहस्थियों का अधिकार ही नहीं है।

शंका—यदि यह कहें कि संन्यासियों के लिये ही उक्त 'श्रवण' को 'काम्यकर्म' मान लिया जाय। किन्तु वह भी संभव नहीं है। क्योंकि संन्यासी के प्रति 'श्रवण' के न करने पर भी संन्यासी को 'प्रत्यवाय' की प्राप्ति नहीं होगी। सभी लोग अच्छी तरह से जानते हैं कि काम्यकर्म के न करने पर 'प्रत्यवाय' नहीं लगा करता।

संन्यासी के लिये प्रत्यवायाभाव के प्रसंग को 'इष्टापत्ति' भी नहीं कह सकते, क्योंकि श्रुति-स्मृति के साथ विरोध प्राप्ति का प्रसंग आवेगा। अतः 'श्रवण' को काम्यकर्म नहीं मान सकते।

अब 'श्रवण' को 'नित्यकर्म' (द्वितीय पक्ष) भी नहीं कह सकते। क्योंकि जिस प्रकार गृहस्थ के लिये यावज्जीव अर्थात् जीवनकाल पर्यन्त 'अग्निहोत्र रूप नित्यकर्म' का विधान किया है, उस प्रकार से मुमुक्षु के लिये जीवन काल पर्यन्त अर्थात् जीवन को निमित्त करके 'श्रवण' का विधान किसी वचन ने किया नहीं है। अतः 'श्रवण' को 'नित्यकर्म' भी नहीं मान सकते।

अब 'श्रवण' को नैमित्तिक कर्म' (तृतीय पक्ष) भी नहीं कह सकते। क्योंकि जैसे आहिताग्नि पुरुष के गृह का दाह होने पर अर्थात् 'गृहदाह' को निमित्त मानकर श्रुति ने 'क्षामवती इष्टि' का विधान किया है। वैसा यहाँ पर किसी निमित्त को बताकर 'श्रवण' का विधान नहीं किया है, जिस कारण 'श्रवण' को नैमित्तिक कह सकें।

अब 'श्रवण' को 'प्रायश्चित्त कर्म' (चतुर्थ पक्ष) भी नहीं कह सकते। क्योंकि 'तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते'— इस वचन से 'ब्रह्महत्या रूप पाप की निवृत्ति के लिये 'अश्वमेध यज्ञ' रूप प्रायश्चित्त कर्म का विधान किया है। वैसा किसी श्रुतिवचन के द्वारा किसी पाप की निवृत्ति के लिये 'श्रवण' का विधान यहाँ पर नहीं किया गया है। उसकारण 'श्रवण' को प्रायश्चित्त कर्म भी नहीं कह सकते। एवंच 'वेदान्तश्रवण में किसी प्रकार का कोई विधि, नहीं बन पारहा है, यह पूर्वपक्षी का कहना है।

समा०—'विविदिषा संन्यास' के प्रति 'श्रवण', नित्यकर्मरूप है, और 'गृहस्थियों' के प्रति 'श्रवण', काम्यकर्मरूप है। जैसे गृहस्थपुरुष के लिये 'अग्निहोत्र' 'सन्ध्योपासन' आदि 'नित्यकर्मों' के न करनेपर श्रुति-स्मृति के वचनों ने प्रत्यवाय की प्राप्ति बताई है। 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात्'—इस वचन ने जीवत्कालपर्यन्त 'अग्निहोत्र' का नित्यकर्म के रूप में विधान किया है। उसीप्रकार विविदिषासंन्यासी केलिये भी 'वेदान्तश्रवण' न करने पर 'प्रत्यवाय' की प्राप्ति, तथा जीवत्कालपर्यन्त वेदान्तश्रवण करते रहना श्रुति-स्मृत्ति ने बताया है। उसकारण जैसे गृहस्थ के लिये अग्निहोत्र सन्ध्योपासन आदि 'नित्यकर्मरूप' है, वैसे ही विविदिषा संन्यासी के प्रति भी 'वेदान्तश्रवण' आदि नित्यकर्मरूप है। इस सन्दर्भ में श्रुतिवचन उपलब्ध होता है— वेदान्तविचार (श्रवण) न करनेवाले संन्यासियों को मारकर मैंने (इन्द्र ने) उन्हें, श्वानों (कुत्तों) के लिये डाल दिया। यह

"त्वं पदार्थविवेकाय संन्यासः सर्वकर्म्मणाम् । श्रुत्याभिधीयते यस्मात्तत्त्यागी पतितो भवेत्" ॥

"कारकस्य करणेन तत्क्षणाद् भिक्षुरेव पतितो यथा भवेत् ।
व्यञ्जकस्य परिवर्जनादसौ सद्य एव पतितो न संशयः" ॥

इति वार्त्तिकाचार्य्यसंक्षेपशारीरकाचार्य्याभ्यां श्रवणादिरहितस्य संन्यासिनः पातित्याभिधानाच्च । गृहस्थादीनां श्रवणादि काम्यम् ॥

●

यतीन् शालावृकेभ्यः प्रायच्छम्" "श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः" "नित्यं कर्म्म परित्यज्य वेदान्तश्रवणं विने"त्यादि श्रुतिस्मृतिषु संन्यासिनां श्रवणाद्यकरणे प्रत्यवायश्रवणात्, "आसुप्ते"रित्यादिस्मृतिषु जीवनं निमित्तीकृत्य श्रवणादिविधानाच्च श्रवणादि नित्यम् । न"चासुप्तेरामृतेः कालं नयेद्वेदान्तचिन्तये"त्यादिस्मृतावेव जीवनं निमित्तीकृत्य श्रवणं विधीयते न श्रुताविति वाच्यम् । तद्बलेन तत्रापि तत्कल्पनासम्भवात् । न केवलं प्रत्यवायश्रवणजीवननिमित्तविधिबलाभ्यामस्माभिरेव श्रवणनित्यत्वमभ्युपगम्यते, किन्त्वाचार्य्यैरङ्गीकृतं श्रवणादिरहितस्य पातित्याभिधानादित्याह—त्वंपदार्थेति । "तत्त्वमसी"त्यत्र त्वंपदस्य योऽयं वाच्यार्थः अन्तःकरणविशिष्टचैतन्यं तद्विवेकायान्तःकरणपरित्यागेन तदेकदेशलक्ष्यार्थप्रत्यक्चैतन्यज्ञानायेत्यर्थः । सर्वकर्मणां नित्यादीनां विहिताना"मेतमेवे"त्यादिश्रुत्या । तत्त्यागी श्रवणादित्यागी । व्यञ्जकस्येति श्रवणादेरित्यर्थः । असौ संन्यासी । ननु विवरणाचार्य्यतत्त्वदीपनाचार्य्याभ्यां श्रवणविधेः काम्यत्वमुक्तम् "कः पुनरस्य प्रसङ्ग" इत्याक्षिप्य समाधानावसरे, तत्कथमुपपद्यत इत्याशङ्क्य; तस्य गृहस्थादिविषयत्वान्नकाप्यनुपपत्तिरित्याह—गृहस्थादीनामिति ।

●

सन्दर्भ, 'आत्मपुराण' के द्वितीय अध्याय में 'इन्द्र-प्रतर्दन संवाद' के प्रसंग में उपलब्ध होता है । स्मृति भी कहती है कि अग्निहोत्र, सन्ध्योपासनादि नित्यकर्मों का परित्याग करके जो विविदिषा संन्यासी, वेदान्तश्रवण' विना किये ही जीवित रहता है, वह संन्यासी 'पतित' ही समझाजाता है । इस प्रकार से श्रुति-स्मृतियों ने वेदान्तश्रवणरहित उस विविदिषा संन्यासी के लिये 'प्रत्यवाय' बताया है । और भी—यह विविदिषा संन्यासी प्रातः जगने से लेकर रात्रि में सोने तक और ब्रह्मनिष्ठ गुरु के समीप पहुँचने से लेकर मृत्युतक के समय को ब्रह्मचिन्तन में ही व्यतीत करे । अपने मन में काम-क्रोधादिकविकारों को आनेका किञ्चिन्मात्र भी अवसर न दे—इस स्मृति ने तथा इसकी मूलभूत श्रुति ने विविदिषा संन्यासी के लिये आजीवन वेदान्तश्रवण करते रहने की आज्ञा दी है । एवंच विविदिषा संन्यासी के लिये 'वेदान्तश्रवण' करना उसका नित्यकर्म ही सिद्ध होता है ।

श्रुति-स्मृतियों के बलपर संन्यासी के लिये वेदान्तश्रवण की नित्यकर्मता केवल हम ही नहीं बतारहे हैं, अपितु पूर्ववर्ती आचार्यों ने भी बताई है—

'तत्त्वमसि'—इस महावाक्य में स्थित जो 'त्वम्' पद है, उसका 'वाच्य अर्थ'—जो 'अन्तःकरणविशिष्ट चैतन्य' है, उसके 'अन्तःकरण' रूप उपाधि का परित्याग करके 'लक्ष्य अर्थ'—जो 'प्रत्यक्-चैतन्य' है, उस 'प्रत्यक् चैतन्य' को 'ब्रह्म' के—रूप में जानना—यही 'त्वम्' पदार्थविवेक है । उस 'त्वम्' पदार्थ का विवेक प्राप्त करने के लिये ही भगवती श्रुति ने 'अग्निहोत्र—सन्ध्योपासनादि' सम्पूर्ण कर्मों के संन्यास का विधान किया है । अतः जो मुमुक्षुपुरुष, संन्यासग्रहण करके 'त्वम्' पदार्थ के विवेक को नहीं करता, वह 'संन्यासी'—पतित होजाता है—इसप्रकार से वार्तिककार श्रीसुरेश्वराचार्य ने वेदान्तश्रवण से रहित रहनेवाले संन्यासी को 'पतित—बताया है ।

तथा संक्षेपशारीरककार सर्वज्ञमहामुनिने भी कहा है—

यज्ञादिकर्मों के करने से जैसे यह सन्यासी तत्काल शीघ्रही पतित होजाता है, वैसे ही वेदान्त श्रवण के न करने से भी वह शीघ्र ही पतित होता है ॥

इससे निष्कर्ष यह निकला कि विविदिषा संन्यासी के लिये 'वेदान्तश्रवण'—उसका अपना नित्यकर्म है । अतः 'श्रोतव्यः'—यह 'नित्यकर्म है और गृहस्थ के लिये वह 'वेदान्तश्रवण'—काम्यकर्म है ।

जिस कर्म के करने से 'फल' की प्राप्ति होती है, और उसके न करने से 'प्रत्यवाय' की प्राप्ति नहीं होती, उस कर्म को 'काम्यकर्म कहते हैं । जैसे—जिस व्यक्ति को स्वर्ग प्राप्ति की इच्छा हो, वह व्यक्ति 'ज्योतिष्टोमयाग करे'—

"दिने दिने तु वेदान्त-श्रवणाद्भक्तिसंयुतात् । गुरुशुश्रूषया लब्धात् कृच्छ्राशीति फलं लभेत्" ॥
इति फलश्रवणात् ।

●

ननु गृहस्थादीनां साधनचतुष्टयसम्पत्त्यभावाद्ब्रह्मजिज्ञासा न सम्भवतीत्युक्तम् ? सत्यमुक्तम्, अत्यन्तबहिर्मुखानामसम्भवेऽपि केषाञ्चित् परमेश्वरानुगृहीतानां फलासक्तिरहितकर्म्मानुष्ठायिनां साधनसम्पत्त्या ब्रह्मजिज्ञासा सम्भवत्येव। निमित्तान्तर-प्रतिबन्धेन संन्यासाश्रमस्वीकाराभावेऽपि श्रवणादौ प्रवृत्तिरुपपद्यते। तेषां श्रवणविधिः काम्योऽन्यथागृहस्थाश्रमादावुत्पन्नब्रह्मसाक्षात्काराणां जीवन्मुक्तिमुद्दिश्य विद्वत्संन्यासविधानं कथं स्यात्। नच विद्वत्संन्यास एव नास्तीति वक्तुं शक्यं; प्रमाणबलेन विविदिषा-विद्वत्संन्यासयोर्निरूपितत्वात्। किञ्च विविदिषासंन्यासे जिज्ञासुरधिकारी उत्पन्नसाक्षात्कारोविद्वत्संन्यासे। यथा विविदिषा-संन्यासस्य तत्त्वज्ञानं फलं तथा विद्वत्संन्यासस्य जीवन्मुक्तिः। यथा तत्त्वज्ञानसाधनं श्रवणादिर्विविदिषासंन्यासिनानुष्ठेयः तथा

●

"ज्योतिष्टोमेन—स्वर्गकामो यजेत" इति। उक्त याग करने से स्वर्ग की प्राप्ति हो जाती है। किन्तु जिस व्यक्ति को स्वर्ग-प्राप्ति की इच्छा न हो, वह व्यक्ति, ज्योतिष्टोम याग को नहीं करता। उसके न करने से उसको प्रत्यवाय की प्राप्ति भी नहीं होती। अतः 'ज्योतिष्टोम याग' को 'काम्य कर्म कहाजाता है।

उसी प्रकार जिस गृहस्थ पुरुष को 'ब्रह्मज्ञान' की इच्छा हो, वह गृहस्थ तो 'वेदान्तशास्त्र का श्रवण' करे। उसके श्रवण करने से उस गृहस्थ पुरुष को 'ब्रह्मज्ञान' की प्राप्ति हो जाती है; किन्तु जिस गृहस्थ, को ब्रह्मज्ञान की इच्छा नहीं होती, वह गृहस्थ 'वेदान्त श्रवण' नहीं करता। किन्तु 'श्रवण' न करने से उस गृहस्थ को किसी प्रत्यवाय की प्राप्ति नहीं होती। उस कारण गृहस्थों के लिये 'वेदान्तश्रवण'—काम्य-कर्मरूप है।

शंका—विवेकादिसाधनचतुष्टयसम्पन्न पुरुष को ही 'ब्रह्मजिज्ञासा हुआ करती है। 'ब्रह्म' के जानने की इच्छा को 'ब्रह्मजिज्ञासा' कहते हैं, और गृहस्थों का साधनचतुष्टयसम्पन्न होना संभव नहीं है। उस कारण ब्रह्मजिज्ञासा के न होने से गृहस्थों के लिये 'वेदान्तश्रवण' को काम्यकर्म कहना भी संभव नहीं है।

समा०—नितान्त बहिर्मुख गृहस्थों में विवेकादिसाधनसम्पत्ति का संभव न होने से 'ब्रह्मजिज्ञासा' का न हो-पाना स्वाभाविक है। तथापि जो भाग्यशाली गृहस्थ, परमेश्वर के अनुग्रहपात्र हैं तथा फलेच्छा का परित्याग कर कृष्णार्पण-बुद्धि से निष्कामकर्म एवं नित्य—नैमित्तिक कर्म करते रहते हैं, उस कारण जिनके हृदय कल्मषरहित निर्मल हो गये हैं, एवं गुरुचरणारविन्दों में तथा भगवत्पादारविन्द में जो पूर्णश्रद्धा रखते हैं, उन भाग्यशाली गृहस्थों के पवित्र मन में विवेकादिसाधन-सम्पत्ति के कारण 'ब्रह्मजिज्ञासा' का होना निश्चित रूप से संभव है। वे गृहस्थ यदि किसी प्रतिबन्धक के कारण संन्यासाश्रम का ग्रहण न भी कर पाये हों तो भी वेदान्तश्रवण में उनकी प्रवृत्ति का होना नितान्त संभव है। उन साधन सम्पन्न गृहस्थों के लिये ही 'वेदान्तश्रवणविधि' काम्य बताया गया है। उन गृहस्थों की भी यदि ब्रह्मजिज्ञासापूर्वक 'श्रवण' में प्रवृत्ति न स्वीकार की जाय तो गृहस्थाश्रम में रहते हुए ही जिनको तत्त्वसाक्षात्कार हो गया है, उन तत्त्ववेत्ता पुरुषों की जीवन्मुक्ति के लिये श्रुति-स्मृति ने जो 'विद्वत्संन्यास' का विधान किया है वह व्यर्थ होजाएगा।

शंका—विविदिषा' संन्यास जो पूर्व बताचुके हैं, उससे भिन्न कोई संन्यास नहीं है, जिसे 'विद्वत्संन्यास' कहा जाय।

समा०—'विद्वत्संन्यास' को श्रुति-स्मृति ने ही 'विविदिषासंन्यास' से भिन्न बतादिया है, तो उसे एक ही कैसे समझाजाय।

किञ्च—अधिकारी, फल, साधन—इन तीनों के भेद से भी 'विद्वत्संन्यास' की 'विविदिषासंन्यास' से भिन्नता सिद्ध होरही है।

'विविदिषासंन्यास' में अधिकारी—'जिज्ञासु' होता है। और 'विद्वत्संन्यास' में अधिकारी—'तत्त्ववेत्ता' होता है। तथा विविदिषा संन्यास का फल—'तत्त्वज्ञान' होता है, और 'विद्वत्संन्यास' का फल—'जीवन्मुक्ति' होती है। तथा 'विविदिषा-संन्यासी', तो 'तत्त्वज्ञान' रूप फलप्राप्ति के लिये 'वेदान्तश्रवण' आदि साधनों का अनुष्ठान करता है, और विद्वत्संन्यासी,

जीवन्मुक्तिसाधनं वासनाक्षयाद्यभ्यासः विद्वत्संन्यासिनेत्यधिकारिफलानुष्ठेयानां भेदात् विविदिषाविद्वत्संन्यासयोर्महान् भेदोऽस्त्येव। नच जीवन्मुक्तिरेव नास्ति प्रमाणाभावादिति वाच्यम्। स्वानुभवश्रुतिस्मृतीतिहासपुराणानां सत्त्वात् पुनश्चोत्तरत्र व्युत्पादयिष्यति। उक्तञ्च—

"जीवन्मुक्तिस्तावदस्ति प्रतीतेर्द्वैतच्छाया तत्र चास्ति प्रतीतेः।
द्वैतच्छायारक्षणायास्तिलेशोऽस्मिन्नर्थे[1] स्वानुभूतिः प्रमाणमिति" ॥

तस्माद्गृहाश्रमादावुत्पन्नतत्त्वसाक्षात्कारिणां विद्वत्संन्यासविधानानुरोधेन गृहस्थादीनामेव श्रवणविधिः काम्य इति विवरणाचार्य्यतत्त्वदीपनाचार्य्ययोस्तात्पर्य्यं द्रष्टव्यम्।

गृहस्थादीनां श्रवणविधेः काम्यत्वे गमकमाह—दिने दिने इति। ननु विवरणाचार्य्यैस्तृतीयवर्णके संन्यासस्य श्रवणाङ्गत्वमभिधीयते, तथाच वार्त्तिकाचार्य्यैरपि।

●

जीवन्मुक्तिरूपफल की प्राप्ति के लिये 'मनोनाश, वासनाक्षय'—आदि साधनों का अनुष्ठान करता है। एवंच अधिकारी, फल, और साधन के भेद से इस 'विद्वत्संन्यास', को 'विविदिषासंन्यास से भिन्न ही मानना चाहिये।

शंका—'जीवन्मुक्ति' नाम की कोई मुक्ति ही नहीं है, क्योंकि उसके मानने में कोई प्रमाण नहीं है।

समा०—'जीवन्मुक्ति' के होने में 'स्वानुभव', श्रुति, स्मृति, इतिहास और पुराण—ये सभी प्रमाण हैं। इतने प्रमाणों के रहते जीवन्मुक्ति को कैसे न मानाजाय ? इसके विषय में आगे पुनः बताएँगे।

एवं च गृहस्थाश्रम में रहते हुए ही जिनको तत्त्वसाक्षात्कार हो गया है, उनके लिए विद्वत्संन्यास का विधान किया गया है, उसी के अनुरोध से 'श्रवणविधि' को काम्य कहा गया है—यह विवरणाचार्य और तत्त्वदीपनाचार्य दोनों का मत है। क्योंकि 'विद्वत्संन्यास' की सार्थकता तभी होगी, जब गृहस्थों को वेदान्तश्रवण में अधिकार, तथा श्रवण से ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति मानी जाय। इस विवेचन से स्पष्ट है कि गृहस्थों के लिये 'वेदान्तश्रवण', काम्यकर्म रूप है।

गृहस्थों के लिये यह श्रवण विधि काम्य है, इस तथ्य का पोषक गमक बताते हैं—गृहस्थों को वेदान्तश्रवण से महान् पुण्यप्राप्ति का होना भी शास्त्र बता रहा है—

ब्रह्मनिष्ठ गुरुपादारविन्दसेवन से प्राप्त होने वाला, और गुरु तथा ईश्वर भक्ति से ओत-प्रोत भरा हुआ जो वेदान्त श्रवण है, उसका श्रवण प्रतिदिन करने से अधिकारी गृहस्थ पुरुष को अस्सी कृच्छ्र का फल प्राप्त होता है।

यद्यपि वेदान्तश्रवण न करने वाले गृहस्थ को प्रत्यवाय की प्राप्ति नहीं होती, तथापि श्रवण न करने से वह आत्मज्ञान से शून्य रहता है, अर्थात् आत्मज्ञान न हो पाना—यही उसकी महान् हानि है। अतः गृहस्थों को भी वेदान्तश्रवण करके आत्मज्ञान का सम्पादन अवश्य करना चाहिये। श्रुति कह रही है—नचेदिहावेदिर्महती विनष्टिः—मानवशरीर को पाकर भी यदि मनुष्य 'आत्मा' को न जान पाया तो उसकी महान् हानि होती है। एक अन्य श्रुति भी है—कि हे गार्गि ! जो मनुष्य इस अक्षर परमात्मा को न जानकर इस लोक से परलोक को जाता है वह अज्ञानी पुरुष सचमुच कृपण है। जैसे संसार में प्राप्त हुए धन का उपभोग न लेनेवाले को मनुष्य को कृपण कहा जाता है, उसी प्रकार नित्य प्राप्त 'आत्मरूप धन' के साक्षात्कार रूप उपभोग न करने वाले अज्ञानी मनुष्य को भी कृपण ही समझना चाहिये। हे गार्गि ! जो इस अक्षर परमात्मा का साक्षात्कार करके इस शरीर को त्यागता है उस तत्त्ववेत्ता पुरुष को ब्राह्मण जानना चाहिये एक अन्य श्रुति भी है—जो पुरुष, आत्मरूप लोक को 'अहं ब्रह्मास्मि'—इस प्रकार से न जानकर इस स्थूलशरीररूप लोक से मृत्यु को प्राप्त होता है, तब वह अज्ञात-आत्मलोक, शोक-मोहादि दोषों की निवृत्ति न करते हुए उस अज्ञानी पुरुष का पालन नहीं करता।

स्मृति भी बताती है—'अन्यथा सन्तमात्मानं योऽन्यथा प्रतिपद्यते।
किं तेन न कृतं पापं चोरेणात्मापहारिणा' ॥

जो पुरुष, अकर्ता, अभोक्ता 'आत्मा' को कर्ता, भोक्ता समझता है, उस आत्मापहारी चोर पुरुष ने कौन सा पापकर्म नहीं किया। अर्थात् उसने सभी पापकर्म किये। इत्यादि अनेक श्रुति-स्मृतियों ने आत्मज्ञान से रहित पुरुषों की निन्दा की है। अतः गृहस्थों को भी चाहिये कि वे वेदान्तश्रवण करके आत्मज्ञान का सम्पादन अवश्य करें।

---

१. तस्मिन्निति संक्षेपशारीरकपाठः।

अन्ये तु वेदान्तश्रवणे साधनचतुष्टयसम्पन्नस्यैवाधिकारात् गृहस्थादेः श्रवणाधिकार एव नास्ति; श्रुतिषु याज्ञवल्क्यजनकप्रभृतीनां तत्त्वज्ञानप्रतिपादकोपाख्यानस्य ब्रह्मात्मनि तात्पर्य्यात्स्वार्थे तात्पर्य्यमेवनास्तीत्याहुः।

तदसत् याज्ञवल्क्यप्रभृतीनां गृहस्थस्य तुलाधारस्य च ज्ञानित्वस्मरणात् ॥२६॥

●

'त्यक्ताशेषक्रियस्यैव संसारं प्रजिहासतः। जिज्ञासोरेव चैकात्म्यं त्र्यन्तेष्वधिकारिता ॥

सर्वकर्मपरित्यागात् सन्त्यक्ताशेषसाधनात्। श्रुत्युक्तोऽत्रपरिव्राट् स्यादैकात्म्यज्ञानजन्मनः" ॥

इत्यादिभिः। तच्च भाष्यकारैरपि "ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेती"त्यत्र "संन्यासिनामेव ब्रह्मनिष्ठायामधिकार" इति श्रुत्यापि—

'अतः सन्न्यस्य कर्म्माणि सर्वाण्यात्मावबोधतः। हित्वाऽविद्यां धियैवेयात् तद्विष्णोः परमं पदम्" ॥

"वेदानिमं लोकममुञ्च परित्यज्यात्मानमन्विच्छे"दित्याद्यया। ततश्च गृहस्थादीनां श्रवणाधिकार एव नास्ति। तस्माद् गृहस्थादीनां श्रवणादि काम्यं, संन्यासिनां नित्यमित्यसङ्गतमिति चेत्तर्हि संन्यासिनामेव श्रवणादि नित्यं काम्यञ्च भवतु। यथा गृहस्थस्याग्निहोत्रादि नित्यं; काम्यञ्च भवति। तद्वत्पूर्वोक्तयुक्त्यैव श्रवणादीनां नित्यत्वं काम्यत्वञ्च, तथाच न विवरणविरोधः। नापि वार्त्तिकाचार्य्यादिवचनविरोध इत्यभिप्रेत्य मतान्तरमाह—अन्येत्विति ॥२६॥

●

शंका—विवरणाचार्य ने तृतीयवर्णक में 'संन्यास' को श्रवण का 'अंग' बताया है। उसी तरह वार्तिकाचार्य ने भी—बताया है कि विवेकादिसाधनचतुष्टयसम्पन्न संन्यासियों को ही वेदान्तश्रवण में अधिकार है। गृहस्थों को वेदान्तश्रवण में अधिकार ही नहीं है, और श्रुतियों में याज्ञवल्क्य-जनक आदि के जो तत्त्वज्ञानप्रतिपादक उपाख्यान हैं, उनका तात्पर्य ब्रह्मात्मबोधन में ही है। अपने स्वार्थ में तात्पर्य नहीं है। कहने का अभिप्राय यह है कि श्रुति तथा आचार्यों ने 'संन्यासाश्रम' को ही 'वेदान्तश्रवण' का अंग माना है, और 'अंग' के विना 'अंगी' की सिद्धि होनी नहीं। उस कारण साधन-सम्पन्न संन्यासियों को ही 'श्रवण' में अधिकार है, 'गृहस्थों' को नहीं। 'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति'—लौकिक-वैदिक समस्त व्यापारों से रहित होकर केवल ब्रह्मचिन्तन में निमग्न रहनेवाले पुरुष को 'ब्रह्मसंस्थ' कहा करते हैं। ऐसा ब्रह्मसंस्थ संन्यासी ही मोक्ष को प्राप्त होता है—इस श्रुति के व्याख्यान में भाष्यकारों ने संन्यासियों का ही 'ब्रह्मनिष्ठा' में अधिकार बताया है और वार्तिककार सुरेश्वराचार्य ने भी—"त्यक्ताशेषक्रियस्यैव" कहकर लौकिक-वैदिक समस्त कर्मों का त्याग करनेवाले और संसार को दुःखरुप जानकर उसे भी त्यागने की इच्छा रखने वाले जिज्ञासु मुमुक्षु को ही 'वेदान्तश्रवण' का अधिकार है, और उसी को 'श्रवण' से आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है—इन वचनों से 'श्रवण' में संन्यासियों का ही अधिकार सिद्ध किया है।

तथा—समस्त कर्मों का परित्याग करके और 'आत्म-ज्ञान' से 'अविद्या' का परित्याग करके यह अधिकारी मुमुक्षु, उस आत्मज्ञान के द्वारा ही विष्णु के परमपदरूप मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। तथा वेदप्रतिपादित अग्निहोत्रादि कर्मों को और इहलोक तथा परलोक को परित्याग करके तू, आत्मा की प्राप्ति की इच्छा कर, अर्थात् आत्मसाक्षात्कार के लिये 'श्रवण' कर। इत्यादि श्रुतिवचनों ने भी 'संन्यासियों' को ही 'श्रवण' का अधिकार दिया है।

उसकारण 'संन्यासियों' के लिये 'वेदान्तश्रवण' नित्यकर्मरुप है, और 'गृहस्थों' के लिये 'वेदान्तश्रवण' काम्यकर्मरुप है—यह पूर्वोक्त व्यवस्था उचित प्रतीत नहीं हो रही है।

समा०—जैसे गृहस्थ के लिये 'अग्निहोत्रादि' को 'नित्य और काम्य' दोनों माना जाता है, वैसे ही 'संन्यासियों' के लिये भी वे 'श्रवण' आदि, 'नित्य तथा काम्य' दोनों माने जा सकते हैं। इस प्रकार मानने में आचार्यों के कथन से तथा श्रुतिवचन से किसी प्रकार का विरोध नहीं होता है।

अन्य विचारक तो ऐसा बताते हैं—क्योंकि विवेकादि चारों साधनों से पूरी तरह युक्त अधिकारी को ही श्रवण में अधिकार है (उसे ही श्रवण से फल मिल सकता है)। इसलिये गृहस्थ आदि को श्रवण में अधिकार ही नहीं (उन्हें श्रवण से तत्त्वनिष्ठा मिल ही नहीं सकती)। श्रुतियों में जो याज्ञवल्क्य, जनक आदि के तत्त्वज्ञान को कथायें हैं उनका तो जीव-ब्रह्म की एकता में तात्पर्य है। अपना जो अक्षरार्थ है कि याज्ञवल्क्य आदि तत्त्वज्ञानी थे, उसमें उनका तात्पर्य ही नहीं है। अतः वे श्रुतियाँ इस विषय में प्रमाण ही नहीं है।

किन्तु अन्य विचारकों का कथन अनुचित है क्योंकि याज्ञवल्क्यादि का एवं तुलाधार गृहस्थ का ज्ञानी होना शास्त्रों में बताया गया है ॥२६॥

परं वैराग्यं गुणवैतृष्ण्यम् गुणेषु जिहासेति यावत्। तदुक्तम्—"तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यमि"ति। तच्चाऽसम्प्रज्ञात समाधेरन्तरङ्गसाधनम्। उक्तञ्च "तीव्रसंवेगानामासन्नः समाधिलाभ" इति। अलमतिप्रसङ्गेन ॥२७॥

एवं कर्म्मवाक्यानामप्युपक्रमादिभिस्तात्पर्यनिर्णयः। प्रकरणादिना लौकिकवाक्यानां तात्पर्य्यनिर्णयः। एतादृशतात्पर्य्यानुपपत्तिः पूर्वोक्तलक्षणाबीजं नत्वन्वयानुपपत्तिः। तस्या "यष्टीः प्रवेशये"त्यादावसम्भवात्। "गङ्गायां घोष" इत्यादौ तात्पर्य्यानुपपत्तेः सम्भवात्।

●

वैराग्यतारतम्येन संन्यासभेदनिरुपणप्रसङ्गात् श्रवणादिविधिं सप्रपञ्चं निरूप्य क्रमप्राप्तं परं वैराग्यं निरूपयति—परवैराग्यमिति। उक्तार्थे पतञ्जलिसूत्रं संवादयति—तदुक्तमिति। प्रासङ्गिकं परिसमापयति—अलमिति ॥२७॥

उक्तन्यायमन्यत्राप्यतिदिशति—एवमिति। ननूपक्रमादिभिर्वेदवाक्यानां तात्पर्य्यनिर्णयेऽपि लौकिकवाक्यानां कुतः तात्पर्य्यनिर्णय इत्यत्राह—प्रकरणादिनेति। लिङ्गादिकमादिशब्दार्थः। एवं तात्पर्य्यं सप्रपञ्चं निरूप्य प्रसङ्गात् पूर्वोक्तलक्षणाया बीजं दर्शयति—एतादृशेति।

नन्वन्वयानुपपत्तिरेव लक्षणाबीजमस्तु "गङ्गायां घोष" इत्यत्र तस्यास्तथात्वेन दृष्टत्वादित्याशङ्क्याह—नत्विति। प्रतिज्ञातेऽर्थे हेतुमाह—तस्या इति। यद्यन्वयानुपपत्तिर्लक्षणाबीजं; तर्हि "यष्टीः प्रवेशये"त्यत्र यष्टीनां प्रवेशान्वययोग्यतया तदनु-

●

'अपर' और 'पर' के भेद से दो प्रकार के वैराग्य को पूर्व बता चुके हैं। अतः वैराग्य के तारतम्य से संन्यास के भेद का निरुपण करते समय, 'श्रवण' विधि का सविस्तर निरुपण अभी तक कर चुके।

अब क्रमप्राप्त 'पर-वैराग्य' का निरुपण करते हैं। 'सत्त्व, रजस् और तमस् (सत्त्व, रज और तम) इन तीनों गुणों के परिणामरूप, इस लोक तथा परलोक के जो विषय हैं, उन समस्त विषयों की तृष्णा से रहित रहने को 'पर-वैराग्य' कहते हैं। इस 'पर-वैराग्य' के स्वरुप को भगवान् पतञ्जलि ने योगशास्त्र में बताया है—प्रत्यगात्मा के ज्ञान से इस पुरुष को गुणों के परिणामस्वरूप सभी विषयों के प्रति जो तृष्णाराहित्य हो जाता है, उसी को 'पर-वैराग्य' कहते हैं। यही 'पर-वैराग्य', निर्विकल्पनामक 'असम्प्रज्ञात' समाधि का 'अन्तरङ्ग' साधन है। इसी तथ्य को भगवान् पतञ्जलि ने भी कहा है—परवैराग्य सम्पन्न पुरुषों को 'असम्प्रज्ञात समाधि' की प्राप्ति, शीघ्र ही होती है। यहाँ तक पूर्व तात्पर्य के निरूपण-प्रसंग से 'श्रवण' आदि का निरूपण किया गया। अब अधिक निरूपण करने की आवश्यकता नहीं है ॥२७॥

जैसे परमात्मवाक्यों का तात्पर्य-निर्णय होता है वैसे कर्म-वाक्यों का भी उपक्रम आदि से ही निर्णय होता है।

अभिप्राय यह है कि ब्रह्मप्रसंग में विहित कर्मों का परमात्मप्राप्ति में उपयोग मानना उचित है, क्योंकि तभी प्रकरणतात्पर्य स्वरस बना रहता है। किं च 'तमेतम्' इत्यादि श्रुति से सामान्यतः सभी कर्मों का विनियोग विविदिषाप्राप्ति में सिद्ध हो जाता है। कर्मप्रसंग में विहित कर्म भी संयोगपृथक्त्वन्याय से उस प्रसंग की पर्यालोचना से उसी प्रधान कर्म से सम्बद्ध होने पर भी उक्त सामान्य विनियोग से अध्यात्म में उपयोगी होवें यही कर्मवाक्यों के तात्पर्य का सही निर्णय है।

प्रश्न—वेदवाक्यों के तात्पर्य का निर्णय उक्त प्रकार से भले ही हो, लौकिक वाक्यों के तात्पर्य का निर्णय कैसे होगा ?

उत्तर—लौकिक वाक्यों का तात्पर्यनिर्णय प्रकरण आदि से होता है।

यहाँ 'आदि' शब्द से अन्य भी चिह्न समझ लेने चाहिये। शब्द प्रयोग का प्रयोजन, प्रसंग, वाक्यविन्यास, उचितता (संभावना), देश-कालादि परिस्थिति, बोलनेवाले का स्वर तथा अन्य हाव-भाव इत्यादि से लौकिक शब्दों का तात्पर्य ज्ञात होता है। उपस्थित वक्ता तो स्वयं भी अपने वचन का तात्पर्य स्पष्ट कर सकता है।

प्रसंग तो शब्द-प्रमाण का चल रहा था। तात्पर्य का वर्णन करने में काफी विस्तार हो गया।

प्रश्न—पूर्व में (अनु० १५) बताया था कि शब्द कदाचित् अपने 'शक्य' का ही बोध न कराकर उससे सम्बद्ध किसी अन्य अर्थ का भी बोध करा देता है। इसे ही लक्षणा बताया था। किन्तु ऐसा क्यों होता है, लक्षणा में कारण क्या बनता है ?

न केवलं लक्षणा पदमात्रवृत्तिः किन्तु वाक्यवृत्तिरपि "गम्भीरायां नद्यां घोष" इत्यादौ पदसमुदायात्मकवाक्यस्य तीरे लक्षणास्वीकारात्। अत एवार्थवादवाक्यानां प्राशस्त्ये लक्षणा। अन्यथा पदान्तरवैयर्थ्यं स्यात्। अत एव प्राशस्त्यपदार्थ-

●

पपत्तेरभावेन लक्षणा न स्यादतो न सा लक्षणाबीजमिति भावः। नन्वत्र तात्पर्य्यानुपपत्तिर्लक्षणाबीजमस्तु, अन्यत्रान्वयानुपपत्तिः। न चाननुगमः, अनुगतालाभे तस्याप्याश्रयणीयत्वादित्याशङ्क्या तात्पर्य्यानुपपत्तेः सर्वत्रानुगतत्वेन लक्षणाबीजत्वमङ्गीकर्त्तव्य-मित्याह—गङ्गायामिति। आदिशब्देन 'शोणोधावती'त्यादि गृह्यते।

एवं लक्षणाबीजं निरूप्य लक्षणा पदमात्रवृत्तिस्तस्य शक्तत्वादिति नैयायिकास्तान्निराकर्त्तुमाह—न केवलमिति। ननु वाक्यस्याशक्तत्वात्कथं वाक्यवृत्तिर्लक्षणा स्याच्छक्यसम्बन्धस्यैव लक्षणात्वात्? उच्यते—यथाशक्तिज्ञाप्यः पदार्थस्तथा वाक्यार्थोऽपीति लक्षणा वाक्यवृत्तिरपि भवत्येव। पदानामितरान्विते पदार्थे सामर्थ्यावधारणादन्वयांशे समुदायशक्त्यभावेऽपि प्राति-स्विकशक्तेः सत्त्वाद्वाक्यस्यापि शक्यसम्बन्धसम्भवाल्लक्षणोपपद्यते। क्व तर्हि वाक्ये लक्षणास्वीकार इत्यत आह—गम्भीराया-मिति। नच नदीपदमेव लक्षकङ्गम्भीरपदं तात्पर्य्यग्राहकमित्युपपत्तेः वाक्ये लक्षणाङ्गीकरणं मुधेति वाच्यम्। प्रकरणादिना

●

उत्तर—विस्तार से समझाये गये तात्पर्य की संगति न बैठना पूर्वोक्त लक्षणा में कारण होता है, 'अन्वयानुपपत्ति' कारण नहीं होती, क्योंकि डण्डे लाओ—इत्यादि स्थल में वह संभव नहीं। जबकि गंगापर घर है—यहाँ भी तात्पर्य की अनुपपत्ति से लक्षणा समझना संभव है।

शंका—एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ के साथ जो सम्बन्धरूप अन्वय है, उसकी अनुपपत्ति ही, 'लक्षणा' के होने में बीज (कारण) है। जैसे—'गंगायां घोषः'—इस उदाहरण में 'गंगा' पद के शक्य (मुख्य) अर्थरूप 'भगीरथ-रथखाता-वच्छिन्नजलप्रवाह' पर (में) 'घोष' का आधाराधेयभावसम्बन्धरूप अन्वय'—संभव नहीं हो रहा है। उस कारण अर्थात् अन्वयानुपपत्ति के कारण ही 'गंगा' पद की 'तीर' में लक्षणा की जाती है। वैसे ही सर्वत्र 'अन्वयानुपपत्ति' के कारण ही लक्षणा का होना संभव है। अतः 'अन्वयानुपपत्ति' को ही 'लक्षणा' करने में बीज कहना चाहिये।

समा०—यदि सर्वत्र 'अन्वयानुपपत्ति' को ही लक्षणा का बीज मानेंगे तो यष्टिधारी पुरुषों को भोजन कराने के लिये किसी आप्तपुरुष ने कहा कि—'यष्टीः प्रवेशय (डण्डे लाओ)—इस वाक्य को सुनकर वह श्रोता (सुननेवाला पुरुष) उस 'यष्टि' शब्द—(पद) की 'यष्टिधर पुरुषों' में 'लक्षणा' करता है, किन्तु 'अन्वयानुपपत्ति' वादी के अनुसार वह (लक्षणा) नहीं करती होगी। क्योंकि जैसे 'पुरुषों' का 'प्रवेश' रूप क्रिया के साथ 'अन्वय' (सम्बंध) का होना संभव है, वैसे ही यष्टियों (काष्ठ-विशेष) का भी उस 'प्रवेश' क्रिया के साथ अन्वय का होना संभव है। अतः इस उदाहरण—में 'अन्वयानुप-पत्ति' रूप लक्षणाबीज, उपपन्न नहीं हो रहा है, अपितु 'तात्पर्यानुपपत्ति' रूप लक्षणाबीज का संभव पूर्णतया हो रहा है। इस उदाहरण में अन्वयानुपपत्तिरूपलक्षणाबीज का व्यभिचार उपलब्ध होने से उसे लक्षणा का बीज मानना उचित नहीं है।

नैयायिक विद्वान् 'शक्तिवृत्ति' के समान 'लक्षणावृत्ति' को भी केवल 'पद' में ही मानते हैं। वे उसे (लक्षणावृत्ति को) वाक्य में नहीं मानते।

उनके मत के खण्डनार्थं वाक्य में भी लक्षणा का होना सिद्ध कर रहे हैं—**केवल 'पद' में ही लक्षणा नहीं होती है, अपितु 'वाक्य' में भी लक्षणा होती है।**

शंका—'वाक्य' अशक्त रहने से उसमें (वाक्य में)—'लक्षणा' कैसे होगी? क्योंकि—शक्यार्थ (शक्ति से गम्यमान अर्थ) के साथ रहनेवाले सम्बन्ध को ही 'लक्षणा' कहते हैं।

समा०—जैसे 'शक्ति' से 'पदार्थ', ज्ञाप्य होता है, वैसे ही 'वाक्यार्थ' भी ज्ञाप्य होता है। अतः वाक्य में भी—'लक्षणा' अवश्य होती है। क्योंकि 'पदों' का 'इतरान्वित पदार्थ' में 'सामर्थ्य' (शक्ति) का अवधारण (निश्चय) रहता है। अतः 'अन्वयांश' में 'समुदाय' शक्ति के न रहने पर भी 'प्रातिस्विक' (निजी-व्यक्तिगत) शक्ति के रहने से 'वाक्य' का भी शक्य-सम्बन्ध रहना सम्भव है, अतः वाक्य में 'लक्षणा' का होना सर्वथा संभव है।

१. उपकार्यपदं सीरीजपुस्तके नास्ति।

प्रत्यायकत्वेनार्थवादवाक्यानां पदस्थानीयतया पदैकवाक्यत्वम् । स्वार्थे तात्पर्य्यवतां "समिधो यजति" "दर्शपौर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेते"त्यादिवाक्यानामुपकार्य्योपकारककाकांक्षायामेकवाक्यत्वं वाक्यैकवाक्यत्वम् ॥२८॥

●

तात्पर्य्यग्रहसम्भवेन पदान्तरवैयर्थ्याद्वाक्ये लक्षणाङ्गीकरणमर्थवदिति भावः। तत्रोपोद्बलकमाह—अत एवेति। यतो वाक्ये लक्षणा स्वीकृता। अत एव अर्थस्तावकवाक्यं अर्थवादः; स्तवः स्तुतिः, सा च गुणिनि गुणसंकीर्त्तनम्। प्राशस्त्यमिति स्तुतावित्यर्थः। विपक्षे दण्डमाह—अन्यथेति। एवञ्चार्थवादवाक्यानां प्राशस्त्ये लक्षणास्वीकारे पदैकवाक्यत्वं सिद्धमित्याह—अत एवेति। केषां तर्हि वाक्यैकवाक्यता इत्याकाङ्क्षायामाह—स्वार्थेति। उपकार्य्योऽङ्गी उपकारकमङ्गम्। तदुक्तम्—

"स्वार्थबोधे समाप्तानामङ्गाङ्गित्वाद्यपेक्षया। वाक्यानामेकवाक्यत्वं मिथः संहत्य जायत" इति ॥२८॥

●

शंका—वाक्य में लक्षणा का स्वीकार कहाँ किया गया है ?

समा०—इस पर कहते हैं—गहरी नदी पर मकान है—यहाँ पर पदसमुदायरूप वाक्य की 'तीर' में लक्षणा की जाती है।

शंका—यहाँ पर केवल 'नदी' पद को ही 'लक्षक' मान कर 'गम्भीर' पद को 'तात्पर्यग्राहक' मानने से भी काम चल सकता है। तब 'वाक्य' में लक्षणा करना व्यर्थ ही है।

समा०—जब कि 'प्रकरण' आदि से भी 'तात्पर्यग्रह' करपाना संभव है, तब पदान्तर (गंभीरपद) को तात्पर्यग्राहक मानने की कौनसी आवश्यकता है ? उसका होना व्यर्थ ही हो जायगा। अतः 'वाक्य' में लक्षणा का स्वीकार करना सप्रयोजन है। इसी के समर्थननार्थ एक उपोद्बलक बता रहे हैं—**वाक्य में लक्षणा को स्वीकार किये जाने से ही वेद में अर्थवादवाक्यों की 'स्तुति' (प्राशस्त्य) में लक्षणा की जाती है।** 'विधिवाक्य' से विहित अर्थ की स्तुति का बोधक जो वाक्य रहता है, उसे 'अर्थवाद' कहते हैं, और 'गुणिनिष्ठगुणाभिधानं स्तुतिः'—गुणी में रहनेवाले गुणों के कथन को 'स्तुति कहते हैं।

यदि कदाचित् 'वाक्य' में लक्षणा न मानकर केवल 'पद' में ही लक्षणा मानेंगे तो 'अर्थवाद' वाक्य में स्थित 'एक पद' की लक्षणा करके ही 'स्तुतिरूप अर्थ' का बोध होना संभव है, तब दूसरे पद (पदान्तर) व्यर्थ होंगे। इसकारण 'पदसमूहरुपवाक्य' की ही 'स्तुति' में लक्षणा' स्वीकार करनी चाहिए। यही कारण है कि शास्त्रकारों ने 'अर्थवादवाक्यों' को 'विधिवाक्य' के साथ 'पदैकवाक्यता' का होना माना है। 'आकांक्षा' के कारण 'पदों' का 'विधिवाक्य' के साथ जो अन्वय होता है—उसे पदैकवाक्यता कहते हैं। यद्यपि वे अर्थवादवाक्य 'पदरुप' नहीं हैं, अपितु पदसमूहरुप होने से 'वाक्यरुप' ही हैं, तथापि वे 'अर्थवादवाक्य', 'लक्षणावृत्ति' से 'स्तुतिरुप एक पदार्थ' के बोधक होने से 'पदस्थानीय' कहे जाते हैं। ऐसे पदरुप अर्थवादवाक्यों की 'विधिवाक्य' के साथ जो 'एकवाक्यता' है, उसे 'पदैकवाक्यता' कहते हैं।

जैसे—'वायव्यं श्वेतमालभेत'—वायुदेवताक, श्वेतपशुद्रव्यक वायव्ययाग करे—इस विधिवाक्य ने वायुदेवतासंबंधी याग का विधान किया है। और उसी प्रकरण में 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता'—यह वायुदेवता शीघ्रगामी है—इस अर्थवाद वाक्य ने उस वायुदेवता की स्तुति (प्रशंसा) की है। उस कारण शीघ्रफल देनेवाले वायुदेवता सम्बन्धी वायव्ययाग को करना चाहिये। इस प्रकार से पदरूप अर्थवाद वाक्य की उक्तविधिवाक्य के साथ जो एकवाक्यता की गई है उसी एकवाक्यता को 'पदैकवाक्यता' कहते हैं। एवञ्च अर्थवादवाक्यों की 'प्राशस्त्य' में लक्षणा स्वीकार करने से 'पदैकवाक्यत्व' की सिद्धि हो जाती है।

प्रश्न—'वाक्यैकवाक्यता'—किन की होती है ?

उत्तर—अपने-अपने अर्थ में तात्पर्यरखनेवाले वाक्यों की परस्पर अंगांगिभावाकांक्षा के कारण जो एकवाक्यता की जाती है, उसे 'वाक्यैकवाक्यता'—कहते हैं। जैसे—स्वर्गप्राप्ति की इच्छा रखनेवाला पुरुष, दर्श-पूर्णमास-संज्ञक याग करे। इस—विधिवाक्य ने 'दर्शपूर्णमास' नामक अंगी—(प्रधान) याग का विधान किया है। और उसी प्रकरण में—'समिधोयजति', 'तनूनपातं यजति', 'इडो यजति', 'बर्हिर्यजति', 'स्वाहाकारं यजति',—इन पाँच वाक्यों ने समिदादिसंज्ञक अंगयागों का (पाँच प्रयाज-नामक यागों का) विधान किया है। उसकारण स्वर्गप्राप्ति की इच्छा रखने वाला पुरुष, अंगयागों (समिदादिसंज्ञक प्रयाजयागों) से विशिष्ट हुए 'दर्श-पूर्णमास' संज्ञक अंगी-याग (प्रधानयाग) को करे। इस प्रकार अंगबोधक वाक्य की अंगीबोधक वाक्य के साथ जो एक वाक्यता होती है, उसी को 'वाक्यैकवाक्यता' कहते हैं। मूलग्रन्थगत 'उपकार्य' शब्द का अर्थ—अंगी, और 'उपकारक' शब्द का अर्थ—'अंग' समझना चाहिये ॥२८॥

एवं चावान्तरवाक्यार्थज्ञानमपि महावाक्यार्थज्ञाने कारणम्। तथान्वयव्यतिरेकानुविधानात्। एवं यथोक्तसहकारिसम्पन्नं वाक्यं परोक्षापरोक्षभेदेन द्विविधां प्रमामुत्पादयति। तत्र परोक्षार्थप्रतिपादकवाक्यं परोक्षप्रमोत्पादकम्। यथा "स्वर्गकामो यजेत" सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" "दशमोऽस्ती"त्यादिवाक्यम्। परोक्षत्वन्नाम अनावृतसंवित्तादात्म्याभावो

●

नन्वस्तु वाक्यैकवाक्यत्वं ततः किमित्यत आह—एवञ्चेति। नच तत्र प्रमाणाभाव इत्याह—तथेति। परमप्रकृतमुपसंहरति—एवमिति। शक्तिग्रह आकाङ्क्षाज्ञानं योग्यताज्ञानं आसत्तिस्तात्पर्य्यज्ञानमवान्तरवाक्यार्थज्ञानञ्चेत्येते यथोक्तसहकारिणस्तैः सम्पन्नमित्यर्थः। वाक्यं परोक्षापरोक्षभेदेन द्विविधां प्रमामुत्पादयति इत्युक्तम्। तदसङ्गतमदर्शनादित्याशङ्क्य तदुपपादयति—तत्रेति। परोक्षार्थस्य धर्म्माधर्म्मादेः प्रतिपादकम्।

किमिदं परोक्षत्वमर्थस्येत्याशङ्क्याह—परोक्षत्वं नामेति। विषयस्यानावृतसंवित्तादात्म्याभावः परोक्षत्वमित्युक्ते धर्माधर्म्मयोः परोक्षत्वं न स्यादत उक्तं योग्यस्येति। धर्म्माधर्म्मयोः संवित्तादात्म्यसत्त्वेऽप्ययोग्यत्वात् परोक्षत्वमित्यर्थः। योग्येति

●

शंका—उक्त वाक्यैकवाक्यता से क्या लाभ हुआ ?

समा०—उक्त आशंका का समाधान कर रहे हैं—एवञ्च जैसे पूर्वोक्त 'तात्पर्यज्ञान', 'वाक्यार्थज्ञान के प्रति 'कारण' होता है, वैसे ही 'अवान्तरवाक्यों' का 'अर्थज्ञान' भी 'महावाक्य' के अर्थज्ञान में कारण होता है। 'अवान्तरवाक्यार्थज्ञान' के बिना 'महावाक्यार्थज्ञान' नहीं होता। 'महावाक्य' के अर्थ को बताने वाले 'वाक्य' होते हैं, उन्हें 'अवान्तर वाक्य' कहते हैं। 'अन्वय-व्यतिरेक' का अनुसरण करने के कारण ही 'अवान्तरवाक्यार्थज्ञान' को 'महावाक्यार्थज्ञान' के प्रति कारण कहा गया है।

इस विवेचन से यह सिद्ध हुआ कि 'शक्ति-लक्षणारूप वृत्ति का ज्ञान' तथा 'आकांक्षा' का ज्ञान, तथा 'योग्यता' का ज्ञान, तथा 'आसत्ति' का और 'तात्पर्य' का ज्ञान, एवं 'अवान्तरवाक्यार्थ' का ज्ञान—ये सभी उस महावाक्य के सहकारी हुआ करते हैं। इन सभी सहिकारियों से सम्पन्न हुआ वह महावाक्य, 'परोक्षप्रमा' तथा 'अपरोक्षप्रमा' का जनक (उत्पादक) होता है। जो वाक्य, 'परोक्ष अर्थ' का प्रतिपादक होता है, उस वाक्य को 'परोक्षप्रमा' का जनक कहते हैं। जैसे—स्वर्ग के लिये याग करो; पहले केवल परमात्मा था; दसवाँ उपस्थित है—आदि वैदिक तथा लौकिक वाक्य, परोक्ष स्वर्गादिकों के प्रतिपादक होने से 'परोक्षप्रमा' के जनक हैं।

शंका—परोक्ष अर्थ के प्रतिपादक वाक्य को 'परोक्षप्रमा' का जनक कहागया है, किन्तु 'अर्थ' में 'परोक्षता' कैसे हो सकती है ?

समा०—उक्त आशंका के समाधानार्थ 'अर्थनिष्ठ परोक्षता' का लक्षण बता रहे हैं—अज्ञानकृत आवरण से रहित जो 'साक्षीचैतन्य' है, उसे 'अनावृत संवित्' कहते हैं। उस 'अनावृत संवित्' के साथ 'प्रत्यक्षयोग्य विषय' के 'तादात्म्य' का जो 'अभाव' है, उस अभाव का होना ही 'विषय' की 'परोक्षता' है।

जैसे—'स्वर्गादि' योग्यविषयों का 'अनावृतसाक्षी चैतन्य' के साथ 'तादात्म्य' नहीं है। उसकारण 'स्वर्गादिकों' को 'परोक्ष' कहा जाता है। तथा जिस काल में 'घट-पटादिविषयाकार अन्तःकरणवृत्ति' उत्पन्न नहीं हुई है, उस काल में उन 'घट-पटादि योग्यविषयों' का उस 'अनावृत साक्षीचैतन्य' के साथ 'तादात्म्य' नहीं है। उसकारण उस काल में उन 'घट-पटादिकों' को भी 'परोक्ष' कहा जाता है।

उक्त लक्षण में 'विषय' के साथ 'योग्य'—इस विशेषण को यदि नहीं रखते, तो 'धर्माधर्म' में उक्त लक्षण की 'अव्याप्ति' होगी। क्योंकि उन 'धर्माधर्म' का 'अनावृतसाक्षीचैतन्य' के साथ 'तादात्म्य' ही है। किन्तु 'धर्माधर्म' तो प्रत्यक्ष के योग्य नहीं हैं, अपितु अयोग्य हैं। उसकारण 'योग्य'—इस विशेषण के रखने से 'धर्माधर्म' में भी 'परोक्षता' उपपन्न हो जाती है। ऐसे 'परोक्षअर्थ' को विषय करनेवाला जो 'प्रमा ज्ञान' है, उसे भी 'परोक्ष' कहा जाता है। अर्थात् ऐसे 'परोक्ष अर्थ' को विषय कर लेना ही उस 'प्रमाज्ञान' की 'परोक्षता' है। जैसे—'स्वर्गोऽस्ति', 'अयं धर्माधर्मवान्', 'दशमोऽस्ति'—इत्यादि वाक्यों से होनेवाली प्रमा के जो 'स्वर्ग', 'धर्माधर्म', और 'दशम' इत्यादि 'परोक्ष अर्थ', विषय बन जाते हैं, अर्थात् वह प्रमा (ज्ञान), उक्त परोक्ष अर्थों को अपना विषय बना लेती है, उसे विषय बना लेना ही उसकी (प्रमाज्ञान की) परोक्षता है।

योग्यस्य विषयस्य। धर्म्माधर्म्मयोरयोग्यत्वान्न प्रत्यक्षत्वम्। अपरोक्षार्थप्रतिपादकं वाक्यम् अपरोक्षप्रमोत्पादकम्। यथा "दशमस्त्वमसीति "तत्त्वमसी"त्यादिवाक्यम्। अपरोक्षत्वं नाम—अनावृतसंवित्तादात्म्यम्॥ २९॥

●

विशेषणव्यावर्त्यमाह—धर्म्मेति। परोक्षार्थविषयत्वं प्रमायाः परोक्षत्वं, विषयचैतन्यभिन्नत्वं[1] वा द्रष्टव्यम्। किं तर्ह्यपरोक्षप्रमोत्पादकमित्याशङ्‌क्याह—अपरोक्षेति। अपरोक्षत्वमर्थस्य निर्वक्ति—अपरोक्षत्वं नामेति। नच धर्म्माधर्म्मयोरनावृतसंवित्तादात्म्यादपरोक्षत्वापत्तिरिति वाच्यम्। तयोरयोग्यत्वादत एवात्रापि योग्यस्य विषयस्यानावृतसंवित्तादात्म्यमिति विशेषणीयम्।

ननु शब्दादीनां घटादीनां च जडत्वात्कथमनावृतसंवित्तादात्म्यञ्चेतनाचेतनयोस्तादात्म्यायोग्यत्वात्। किञ्च भवतां

●

अथवा 'प्रमाणचैतन्य' से 'विषयचैतन्य' की जो भिन्नता है, वही 'प्रमाज्ञान' की परोक्षता है। जैसे—'स्वर्गोऽस्ति' इत्यादिवाक्यजन्यवृत्त्यवच्छिन्न 'प्रमाणचैतन्य' से 'स्वर्गादिविषयावच्छिन्न चैतन्य' की जो भिन्नता है, वही 'स्वर्गादिविषयकज्ञान' की 'परोक्षता' है। इसी प्रकार 'अनुमिति' आदि ज्ञानों की 'परोक्षता' को भी जानना चाहिये।

परोक्षस्थल में 'अन्तःकरण की वृत्ति', 'विषयदेश' में नहीं जाती, अपितु शरीर के भीतर ही वह (वृत्ति) रहती है, उसकारण उन 'विषयवृत्तिरूप उपाधियों' की स्थिति, भिन्न-भिन्न देश में रहने से 'तद्‌वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य' के साथ उस 'विषयावच्छिन्नतचैन्य' की 'एकता' (तादात्म्य) नहीं हो पाती। उसकारण 'वृत्त्यवच्छिन्न प्रमाणचैतन्य' में 'विषयावच्छिन्नचेतन्य' से भिन्नता अर्थात् 'ज्ञाननिष्ठ परोक्षता' की उपपत्ति हो जाती है।

जो वाक्य, अपरोक्ष अर्थ का प्रतिपादन करते हैं उन वाक्यों को 'अपरोक्षप्रमा के जनक' कहते हैं। जैसे—'तत्त्वमसि'—यह वैदिक वाक्य 'ब्रह्मात्मरूप अपरोक्ष अर्थ का प्रतिपादक होने से 'अहं ब्रह्माऽस्मि'—इत्याकारक 'अपरोक्षप्रमा' का जनक होता है, तथा 'दशमस्त्वमसि'—यह लौकिक वाक्य 'दशमपुरुषरूप अपरोक्षअर्थ का प्रतिपादक होने से 'अहं दशमः' इस 'अपरोक्षप्रमा' का जनक होता है।

शंका—जिस अपरोक्ष अर्थ का प्रतिपादक वाक्य, 'अपरोक्षप्रमा' का जनक कहलाता है, उस 'अर्थ' की 'अपरोक्षता का स्वरूप क्या है?

समा०—'योग्य विषय' का 'अनावृत साक्षी चैतन्य' के साथ जो तादात्म्य है, वही उस विषय (अर्थ) की अपरोक्षता है। जैसे—घटाकारवृत्ति के समय उन 'घटादि विषयों' का 'अनावृतसाक्षिचैतन्य' के साथ तादात्म्य हो जाना ही उन 'घट-पटादिविषयों' की अपरोक्षता है। और धर्माधर्म का यद्यपि उस अनावृत साक्षि-चैतन्य के साथ तादात्म्य है, तथापि वे 'धर्माधर्म', 'प्रत्यक्ष' के योग्य न रहने से उनमें (धर्माधर्म में) अपरोक्षता के लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती, क्योंकि अपरोक्षता के लक्षण में 'योग्य' यह विशेषण, 'विषय' के साथ जोड़ दिया गया है।

शंका—सिद्धान्त की दृष्टि से 'नित्य, अपरोक्षरूप एक ही चैतन्य है। उस एक चैतन्य में 'साक्षि चैतन्य' तो 'अनावृत' है, और 'विषय चैतन्य' आवृत है—यह भेद कहना संभव नहीं है।

समा०—तथापि अन्तःकरणादि विषयरूप 'उपाधियों' के भेद से उस एक चैतन्य का ही 'भेद' हो जाता है, और 'घटादि' पदार्थों में लोगों को 'संशय', 'अनवभास', 'विपर्यय' आदि होते दिखाई देते हैं। किन्तु 'अन्तःकरणोपहित साक्षी चैतन्य' में किसी को भी 'संशयादिक' नहीं हुआ करते। उस कारण केवल कार्य से वह 'घटादिविषयावच्छिन्न चैतन्य' आवृत कहा जाता है, और 'साक्षी चैतन्य' अनावृत कहा जाता है।

शंका—'शब्द' और 'घट-पटादि' तो 'जड' पदार्थ हैं, तब उनका 'अनावृत संवित्' के साथ 'तादात्म्य' होना कैसे संभव हो सकता है? क्योंकि 'चेतन' और 'अचेतन' (जड) का तादात्म्य होना कभी संभव नहीं है। किञ्च—सिद्धान्ती के मतानुसार 'संवित्' के 'अद्वितीय' रहने से वह 'अनावृत' रहती है, और 'सम्पूर्ण प्रपञ्च' उसी का 'कार्य' है। उसके साथ उसका यदि तादात्म्य कहा जाय तो 'सर्वदा ही प्रत्यक्षत्वापत्ति' होगी। अपिच 'संवित्तादात्म्यं प्रत्यक्षत्वम्'—इतना ही प्रत्यक्ष का लक्षण किया जाय। वह 'संवित्' स्वतः नित्य अपरोक्ष रहने से 'विषय' का अवभास होना संभव हो सकता है। अतः 'अनावृत' यह विशेषण लगाना व्यर्थ है। क्योंकि कोई अन्य (दूसरी) आवृत संवित् प्रसिद्ध नहीं है।

१. प्रमाणचैतन्यस्येत्यध्याहार्यम्। प्रमाणविषयचैतन्ययोर्भेदे प्रमायाः परोक्षत्वात्।

मते संविदोऽद्वितीयत्वेनानावृतत्वे कृत्स्नस्य प्रपञ्चस्य तत्कार्य्यत्वेन तादात्म्यसम्भवेन सर्वदा प्रत्यक्षत्वापत्तिः। अपि च संवित्तादात्म्यं प्रत्यक्षत्वमित्येवास्तु, तस्याः स्वतो नित्यापरोक्षत्वेन विषयभानसम्भवादनावृतेति विशेषणं व्यर्थम् आवृतस्य संविदन्तरस्याप्रसिद्धत्वात्। संविदावृतत्वाभ्युपगमे जगदान्ध्यप्रसङ्गात्। तर्ह्येतावदेवास्त्विति[1] चेन्न। उक्तदोषानपायात्[2]। तस्मादिन्द्रियजन्यज्ञानविषयत्वं विषयस्यापरोक्षत्वं तद्भिन्नत्वं परोक्षत्वमिति।

अत्र ब्रूमः, अनावृतसंवित्तादात्म्यमेव विषयस्यापरोक्षत्वमभ्युपगन्तव्यम्, न त्विन्द्रियजन्यज्ञानविषयत्वम्, इन्द्रियजन्यत्वस्य ज्ञाने जन्यतावच्छेदकग्रहमन्तरेण तद्दुर्ग्रहत्वात्। नच साक्षात्त्वमेव तदवच्छेदकमिति वाच्यम्। तस्यानिर्वचनात्। न इन्द्रियत्वेन चेन्द्रियजन्यज्ञानत्वं तदिति वाच्यम्। आत्माश्रयापत्तेः। इन्द्रियस्यातीन्द्रियत्वेन तद्घटितसाक्षात्त्वस्यापि तथात्वेन साक्षात्करोमीत्यनुभवाविषयत्वप्रसङ्गाच्च। नच ज्ञानाकरणकज्ञानत्वं तदिति वाच्यम्। मनःकरणकानुमितिपक्षे तत्रातिव्याप्तेः। नच तस्य निराकरणत्वान्नोक्तदोष इति वाच्यम्। परामर्शस्य व्यापाराभावेनानुमितिकरणत्वायोगात्। द्वितीयज्ञानस्य नष्टत्वेन

●

समा०—यदि 'संवित्' को 'आवृत' मानेंगे अर्थात् उस 'साक्षी चैतन्य' को भी 'आवृत' मानेंगे तो 'प्रकाशक' के अभाव में 'जगत्' में 'अंधता' प्राप्त होगी। अर्थात् किसी वस्तु (विषय) का अवभास (भान) नहीं होगा। इसलिये 'साक्षी' को सर्वदा 'अनावृत' ही मानना चाहिये। और 'घटादिविषयावच्छिन्न चैतन्य' तो, 'घट-पटाकारवृत्ति' की उत्पत्ति के पूर्व 'आवृत' रहता है, और उस 'वृत्तिकाल' में वह, 'अनावृत साक्षी चैतन्य' से अभिन्न हो जाता है। अतः उस काल में उन 'घट-पटादि-विषयों का 'आनावृत साक्षी चैतन्य' के साथ जो तादात्म्य है, वही, उन 'घट-पटादि विषयों' की 'अपरोक्षता' है।

शंका—साक्षी चैतन्य को आवृत मानने पर यदि जगदान्ध्य प्रसंग प्राप्त होता है तो 'अनावृतमेव प्रत्यक्षत्वम्' यही 'प्रत्यक्षलक्षण' क्यों न किया जाय ?

समा०—यह प्रत्यक्ष लक्षण करने पर 'सर्वदा प्रत्यक्षत्वापत्ति' आदि दोषों को हटाया नहीं जा सकेगा।

शंका—अतः 'इन्द्रियजन्यज्ञानविषयत्वं विषयस्य अपरोक्षत्वम्'—और 'तद्भिन्नत्वं परोक्षत्वम्'—यह लक्षण 'अपरोक्षत्व और परोक्षत्व' का किया जाय।

समा०—'अनावृततादात्म्यम्'—यही लक्षण, 'विषय के अपरोक्षत्व' का स्वीकार करना उचित होगा। 'इन्द्रिय जन्यज्ञानविषयत्वम्'—यह लक्षण करना उचित नहीं होगा। क्योंकि 'जन्यतावच्छेदक' का ज्ञान हुए बिना 'ज्ञान' में 'इन्द्रिय-जन्यत्व' का ज्ञान होना कठिन है।

शंका—'साक्षात्त्व' को ही 'जन्यतावच्छेदक' मान लेंगे।

समा०—'साक्षात्त्व' को 'जन्यतावच्छेदक नहीं मान सकते, क्योंकि उसका 'निर्वचन' नहीं हो पाया है।

शंका—उसका निर्वचन हम 'इन्द्रियजन्यज्ञानत्वम् करेंगे।

समा०—उक्त निर्वचन ठीक नहीं है, क्योंकि 'आत्माश्रय' दोष होगा। और 'इन्द्रिय' के 'अतीन्द्रिय' होने से तद्घटित 'साक्षात्त्व' भी 'अतीन्द्रिय' होगा तब 'साक्षात् करोमि' इत्याकारक अनुभव का वह विषय नहीं बन पायेगा।

शंका—'ज्ञानाकरणकज्ञानत्वमपरोक्षत्वम्—यह अपरोक्षत्व' (प्रत्यक्ष) का लक्षण करेंगे।

समा०—यह लक्षण भी उचित नहीं होगा। क्योंकि 'मनःकरणक अनुमिति' के पक्ष में अतिव्याप्ति होगी।

शंका—उसका निराकरण कर देने पर अतिव्याप्ति दोष नहीं हो सकेगा।

समा०—व्यापार के न रहने से 'परामर्श' में अनुमितिकरणत्व ही नहीं बनेगा। और 'द्वितीयज्ञान' के नष्ट हो जाने से भी 'अनुमितिकरणत्व' नहीं बनेगा और विशकलित स्थल में 'व्याप्तिज्ञान' का व्यभिचार होने से भी अनुमितिकरणत्व नहीं बन पायेगा। अतः परिशेषात् 'अनुमिति' में 'मनःकरणकत्व' के आवश्यक रहने से वहाँ 'अतिव्याप्ति' को तो वज्रलेप के समान ही स्थिति रहेगी।

१. अनावृतपदं मास्त्वित्यर्थः।
२. उक्तो दोषः चेतनाचेतनयोस्तादात्म्यायोगः सर्वदा प्रत्यक्षत्वापत्तिश्च।

तदयोगात्। व्याप्तिज्ञानस्य विशकलितस्थले व्यभिचारेण तदयोगाच्च। अतः परिशेषादनुमितेः मनःकरणत्वस्यावश्यकत्वात्तत्राति-व्याप्तिर्वज्रलेपायिता। कथं तर्हि—सिद्धान्ते व्याप्तिज्ञानस्यानुमितिकरणत्वं, विशकलितस्थले व्यभिचारात्, तस्माद्विशकलितस्थले पक्षवृत्तिहेतौ तदुभयवैशिष्ट्यभानादनुमितिर्भवतीत्यत्र मानाभावात् सर्वत्रव्याप्तिज्ञानमेवानुमितिकरणमन्यथासिद्धान्तविरोधप्रसङ्गात्। ततश्च कुत्रातिव्याप्तिरिति चेत्? सत्यं; तत्त्वसाक्षात्कारेच श्रवणादीनां व्यापारवत्त्वेन करणतयाऽव्याप्तेर्दुष्परिहरत्वाद् अतो न ज्ञानाकरणकज्ञानत्वं साक्षात्त्वम्। नापि साक्षात्त्वं जातिः। अविद्यातिरिक्तजडजातेर्निरस्तत्वात्। किञ्चेश्वरज्ञानस्य भवन्मतेऽ-प्रत्यक्षत्वापत्तेश्च। तस्येन्द्रियजन्यज्ञानाभावाद्[1] ईश्वरस्य शरीरेन्द्रियादेरनङ्गीकारादन्यथा "न तस्य कार्यं करणञ्च विद्यते" श्रुतिविरोधप्रसङ्गादस्मदादीन्द्रियस्य तत्रासामर्थ्यात्तस्मादिन्द्रियजन्यज्ञानविषयत्वमरोक्षत्वं तद्भिन्नत्वं परोक्षत्वमिति यदुक्तं तन्मनोरथमात्रम्।

किं तर्ह्यपरोक्षत्वं विषयस्येति चेदुक्तमेव गृहाण, स्वरूपेण संविदैक्यात्। तस्या नित्यापरोक्षत्वेऽप्यौपाधिकभेदाभ्युपगमेन कार्य्यबलादन्तःकरणोपहित-चैतन्यमनावृतं घटाद्यधिष्ठानचैतन्यमावृतमिति गम्यते। घटादिष्वनवभाससंशयविपर्य्यासदर्शनादन्तः-करणोपहिते तदभावात्। एवञ्च सर्वदा न सर्वप्रत्यक्षतापत्तिः। तत्तदाकारवृत्तिदशायां तु विषयावरणनिवृत्तिसम्भवाद्विषयचैतन्य-प्रमातृसाक्षिणामेकोपाध्यवच्छेदेनैक्यादन्तःकरणादिवद्घटादिकमपि साक्षिण्यध्यस्तमेवेति; घटादेरनावृतसंवित्तादात्म्यात्प्रत्यक्षत्वं; तत्तदाकारवृत्तिविरहदशायां तु तदभावान्न प्रत्यक्षत्वम्।

●

शंका—विशकलित स्थल में व्यभिचार होने से सिद्धान्त में 'व्याप्तिज्ञान' की अनुमितिकरणता' कैसे हो पाएगी? क्योंकि सिद्धान्ती 'व्याप्तिज्ञान' को अनुमिति के प्रति 'करण' मानता है। विशकलित स्थल में 'पक्षनिष्ठ हेतु' में उभयवैशिष्ट्य की प्रतीति होने से 'अनुमिति' हो जायेगी। किन्तु यह कहने में कोई प्रमाण नहीं है, अतः यह कहना होगा कि सर्वत्र 'व्याप्तिज्ञान' ही 'अनुमिति' के प्रति 'करण' होता है। अन्यथा—अभिमत सिद्धान्त का विरोध होगा। तब कहाँपर 'अतिव्याप्ति' हो रही है? यह पूछते हो तो सुनो।

समा०—'तत्त्वसाक्षात्कार' कराने के कारण 'श्रवणादिकों' को व्यापारवान् मानना ही होगा, इसलिये उनमें 'करणता' अवश्य ही रहेगी। अतः अव्याप्ति का परिहार करना कठिन होगा। इसलिये 'ज्ञानाकरणकज्ञानत्वं साक्षात्त्वम्'—यह कहना ठीक नहीं है। तथा 'साक्षात्त्व' को 'जाति' मानना भी उचित नहीं है। क्योंकि 'अविद्या' के अतिरिक्त जडजाति का निरास कर दिया गया है।

किञ्च—पूर्वपक्षी के मत के अनुसार 'ईश्वर ज्ञान' का 'अप्रत्यक्ष' होने लगेगा। क्योंकि ईश्वर का ज्ञान, इन्द्रियजन्य-ज्ञान का विषय नहीं है, और ईश्वर के 'शरीर-इन्द्रिय' आदि भी नहीं माने जाते। अन्यथा "न तस्य कार्यं-कारणञ्च विद्यते"—इस श्रुति के साथ विरोध होगा। और हमारे शरीर तथा इन्द्रियों का वहाँ सामर्थ्य नहीं है। अतः 'इन्द्रियजन्यज्ञानविषयत्वमपरोक्षत्वं, तद्भिन्नत्वं परोक्षत्वम्'—यह कहना मनोरथनात्र है।

तब विषय की अपरोक्षता क्या है? तो सुनो—जो हमने अपरोक्षत्व का स्वरुप बताया है, उसे ही स्वीकार करो। अर्थात् स्वरुप सती जो संविद् है, उसके साथ तादात्म्य (अनावृत संवित् के साथ तादात्म्य) ही अपरोक्षत्व है। वह 'संवित्' नित्य, अपरोक्ष रहने पर भी औपाधिक भेद का स्वीकार करने से उसके कार्य के बल पर यह निश्चितरूप से समझ में आता है कि 'अन्तःकरणोपहितचैतन्य' तो 'अनावृत' है, और 'घटाद्यधिष्ठानचैतन्य' आवृत है। क्योंकि 'घट-पटादिकों' में 'अनवभास, संशय, विपर्यास' आदि दिखाई पड़ते हैं, किन्तु अन्तःकरणोपहित चैतन्य में वे नहीं दिखाई देते। एवञ्च सर्वदा प्रत्यक्ष होने का प्रसंग नहीं हो सकता। किन्तु तत्तदाकारवृत्ति के होनेपर 'विषयावरण' की निवृत्ति का संभव रहने से 'विषय चैतन्य' और 'प्रमाता' और 'साक्षी' इनका 'एकोपाधि' के अवच्छेद से 'ऐक्य' होने के कारण 'अन्तःकरण' आदि की तरह 'घट-पटादि' को भी 'साक्षी' में 'अध्यस्त' ही समझना चाहिये। 'घट-पटादिकों' का 'आनावृतसंवित्' के साथ 'तादात्म्य' हो जाने से 'प्रत्यक्ष' होता है, किन्तु 'तत्तदाकारवृत्ति' के न होने की स्थिति में तो 'तादात्म्य' न हो पाने के कारण उनका 'प्रत्यक्ष' नहीं होता।

शंका—यदि यह स्थिति है तो 'परोक्षस्थल' में भी तत्तदाकारवृत्ति होनेपर 'वह्नि' का भी प्रत्यक्ष होने का प्रसंग प्राप्त होगा।

---

१. इन्द्रियजन्यज्ञानाविषयत्वादिति मुद्रितः पाठो विषयापरोक्ष्यपरो बोध्यः। अयन्तु तत्र शोधितः पाठः पूर्वाप्येत्राऽङ्कितः।

अनावृतसंवित्साक्षिचैतन्यम्। अन्तःकरणोपहितचेतन्यं साक्षी। तस्यावृतत्वे सति जगदान्ध्यप्रसङ्गः। तत्तादात्म्यं नाम तद्भिन्नत्वे सति तदभिन्नसत्ताकत्वम्। तथा च "दशमस्त्वमसी"त्यत्र दशमस्य त्वंपदार्थाभिन्नतयाऽपरोक्षत्वेन वाक्याद्-

●

नन्वेवं सति परोक्षस्थलेऽपि तत्तदाकारवृत्तिदशायां तु वह्न्यादेरपि प्रत्यक्षत्वापत्तिः ? न, तत्रेन्द्रियसन्निकर्षाभावादिन्द्रियद्वारा बहिर्निर्गतान्तःकरणस्य विषयसम्बन्धेन तदाकारवृत्त्या तन्निष्ठावरणनिवृत्त्या विषयप्रत्यक्षत्वाभ्युपगमेन परोक्षस्थले सन्निकर्षाभावेन मनसो बहिरस्वतन्त्रतया बहिर्गमनाभावेन विषयासम्बन्धात् तत्तदाकारवृत्तिदशायां न वह्न्यादेः प्रत्यक्षत्वापत्तिः। कथं पुनर्वह्न्यादेर्भानमिति ? शृणु; अन्तःकरणोपहितचेतन्यस्य वह्न्याद्यधिष्ठानचैतन्यस्य च वास्तवैक्याल्लिङ्गज्ञानादिना तत्तदाकारवृत्त्याऽसत्त्वापादकमौढ्याज्ञाननिवृत्त्या वह्निरस्तीति परोक्षतया[1] वह्न्यादेर्भानं, नापरोक्षतया। अत एव वह्निरस्तीत्यनुभवो, न त्वयमिति। एतेन संविदःस्वभावैक्यादपरोक्षत्वेन तत्तादात्म्यमेव तत्प्रयोजकमस्तु अनावृतेति विशेषणं व्यर्थमिति। प्रत्युक्तम्। औपाधिकभेदप्रतिपादनेन तदर्थवत्त्वस्योक्तत्वाज्जडाजडयोर्वास्तवावास्तवयोर्वास्तवतादात्म्यासम्भवेऽप्यवास्तवस्य वास्तवेन तादृशतादात्म्ये बाधकाभावात्तस्माद्योग्यस्य विषयस्यानावृतसंवित्तादात्म्यमपरोक्षत्वमिति निरवद्यम् ॥२९॥

केयमनावृतसंविदित्याकाङ्क्षायामाह—अनावृतेति। कोऽयं साक्षीत्याकाङ्क्षायामाह—अन्तःकरणेति। स च नित्यो "न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते अविनाशित्वादि"ति श्रुतेः। प्रातरारभ्य प्रहरमिदमद्राक्षमिति परामर्शात्साक्षिसिद्धिरिति भावः। ननु साक्षिचैतन्यमप्यावृतमस्तु को दोषः ? इत्याशङ्क्याह—तस्येति।

●

समा०—उक्त आशंका ठीक नहीं है, क्योंकि वहाँ इन्द्रिय-सन्निकर्ष नहीं है। पूर्वपक्षी के मतानुसार इन्द्रियों के माध्यम से बहिर्निर्गत 'अन्तःकरण' का 'विषय' के साथ सम्बन्ध होने से 'तदाकारवृत्ति' हो जाती है। उसके होने से विषयनिष्ठ 'आवरण' दूर हो जाता है। उस कारण 'विषय' का प्रत्यक्ष हुआ करता है।

किन्तु परोक्षस्थल में इन्द्रियसन्निकर्ष के न हो पाने से और बहिर्देश में 'मन' की स्वतन्त्रता न रहने से उसका बहिर्गमन नहीं हो पाता, उस कारण 'विषय' के साथ सम्बन्ध भी नहीं हो पाता। अतः 'तत्तदाकारवृत्ति' के होनेपर भी 'वह्नि' की 'प्रत्यक्षत्वापत्ति' का प्रसंग नहीं होगा।

शंका—तब 'वह्नि' को प्रतीति (भान) कैसे होगी ?

समा०—उक्त आशंका का समाधान यह है कि 'अन्तःकरणोपहितचैतन्य' का और 'वह्न्याद्यधिष्ठानचैतन्य' का वास्तविक ऐक्य होने से 'लिङ्गज्ञान' आदि के द्वारा 'तत्तदाकारवृत्ति' हो जाती है, उसके होने से 'असत्त्वापादक अज्ञान (मूढता) की निवृत्ति हो जाती है। तब 'वह्निः अस्ति' इत्याकारक परोक्षरूप से 'वह्नि' की प्रतीति (भान) हुआ करती है। अपरोक्षरूप से उसकी प्रतीति नहीं होती। अतएव 'वह्निः अस्ति' यह अनुभव होता है, 'यह वह्नि' (अयं वह्निः) ऐसी प्रतीति नहीं होती।

इस विवेचन से यह स्पष्ट हुआ कि 'संवित्' का एकसा स्वभाव (स्वरूप) होने से वह सर्वदा 'अपरोक्ष' ही रहती है। अतः उसके साथ जो तादात्म्य है, उसी को 'अपरोक्षता' के होने में प्रयोजक मानना उचित है। उस कारण 'अनावृत' इस 'विशेषण' को व्यर्थ कहने का खण्डन हो जाता है। 'औपाधिक भेद' का प्रतिपादन करने से 'अनावृत' कहने की 'सप्रयोजनता' स्पष्ट हो जाती है। अतः 'जड़ और चेतन' तथा 'वास्तव और अवास्तव' का तादात्म्य असंभव रहने पर भी 'अवास्तव' का 'वास्तव' के साथ तादृशतादात्म्य होने में कोई बाधक नहीं है। इसलिये 'योग्यस्य-विषयस्य अनावृतसंवित्तादात्म्यमपरोक्षत्वम्' यह जो कहा गया है, वह सर्वथा उचित ही है ॥२९॥

यह 'अनावृत संवित्' क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में बता रहे हैं—अज्ञानकृत आवरण से रहित जो 'साक्षीचैतन्य' है, उसे 'अनावृतसंवित्' कहते हैं। और यह 'साक्षी' कौन है ? इस प्रश्न के उत्तर में कह रहे हैं—अन्तःकरणरूप उपाधि से उपहित जो 'चैतन्य' है उसे 'साक्षी' कहते हैं। यदि वह आवृत हो तो संसार में कोई ज्ञान ही न रहेगा। श्रुति से तथा प्रातःकाल से लेकर एक प्रहर तक मैंने यह देखा—इस परामर्श से 'साक्षी की सिद्धि हो जाती है।

शंका—विषयप्रत्यक्ष के लक्षण में 'घट-पटादिविषयों का साक्षी चैतन्य के साथ 'तादात्म्य' बताया था। अतः जिज्ञासा होती है कि 'तादात्म्य' क्या है—(१) क्या 'एकता' को तादात्म्य कहते हैं ? अथवा (२) 'भेदसहित अभेद' को तादात्म्य

१. परोक्षस्थले ज्ञानज्ञेययोर्भेदश्चैव सम्बन्धोऽन्यस्यानिरूपणादित्याश्रमस्वामिनः।

शमापरोक्षप्रमैव जायते, दशमोऽस्मीति, न तु वाक्यात्परोक्षज्ञानं मनसा तत्साक्षात्कारो; मनसोऽनिन्द्रियत्वस्योक्तत्वात्, वृत्तिं प्रत्युपादानत्वेन करणत्वायोगाच्च, प्रमाणजन्याऽपरोक्षज्ञानस्यैव भ्रमनिवर्तकत्वाञ्च ॥३०॥

●

ननु घटादीनां किमिदं संवित्तादात्म्यम्—तन्निष्ठासाधारणधर्मो वा, स चासावात्मा तदात्मा तदात्मनो भावस्तादात्म्यमैक्यमित्यर्थो वा, भेदसहिष्णुरभेदस्तादात्म्यमित्यर्थो वा? नाद्यः जडस्य तदयोगात्। न द्वितीयः जडाजडयोस्तमःप्रकाशवद्विरुद्धत्वेनैक्यस्य दूरनिरस्तत्वात्। न तृतीयः समानसत्ताकयोर्भेदाभेदयोर्विरुद्धत्वेन तदयोगादित्याशङ्क्य घटादेः कल्पितत्वेन साक्षिसत्तातिरिक्तसत्ताशून्यत्वमेव तत् तादात्म्यं विविक्षितमित्यभिप्रेत्याह—तदिति। नन्वेवमर्थस्यानावृतसंवित्तादात्म्यमपरोक्षत्वं भवतु, तथापि तत्प्रतिपादकवाक्यस्य कथमपरोक्षप्रमोत्पादकत्वं "गामानये" त्यादिवाक्यानां परोक्षप्रमाजनकत्वस्यैव दृष्टत्वादित्या शङ्क्याह—तथाचेति। गोकर्म्मकानयनसंसर्गस्यानावृतसंवित्तादात्म्याभावेन परोक्षत्वाद्वाक्यस्य परोक्षप्रमाजनकत्वेऽपि दशमस्त्वमसीत्यत्र दशमस्य त्वम्पदार्थाभिन्नतया तद्वैपरीत्याद्वाक्यस्यापरोक्षप्रमाजनकत्वमुपपद्यत इतरथा अपरोक्षे वस्तुनि परोक्षप्रमाजनकं वाक्यमप्रमाणं स्यादित्यर्थः।

●

कहते हैं? (३) पटादि जड पदार्थों का संवित् के साथ तादात्म्य क्या संविन्निष्ठ असाधारण धर्म रूप है? इन तीन विकल्पों में से प्रथम विकल्प तो संभवनीय नहीं हो सकता, क्योंकि 'तम' (अन्धकार) और 'प्रकाश' की तरह 'जड' और 'चैतन्य' का भी परस्पर विरोध रहता है। अतः दोनों की 'एकता' होना कभी संभवनीय नहीं है।

तथा द्वितीय विकल्प की भी संभावना नहीं की जा सकती है। क्योंकि समानसत्तावाले भेद और अभेद का परस्पर विरोध रहने से 'एक अधिकरण' में उनकी स्थिति नहीं हो सकती। उसीतरह तृतीय विकल्प भी नहीं हो सकता, क्योंकि जड पदार्थ 'संवित्' का असाधारणधर्म कदापि नहीं हो सकता। अतः 'तादात्म्य' का स्वरूप स्पष्ट होना चाहिये।

समा०—तादात्म्य का स्वरूप यह है—जिस पदार्थ से जो वस्तु भिन्न प्रतीत होती है तथा जिस पदार्थ की सत्ता से जिस वस्तु की सत्ता भिन्न नहीं रहती, उस पदार्थ में उस वस्तु का जो सम्बन्ध है, उसी को 'तादात्म्य' कहते हैं।

जैसे—'घट-पटादि' कार्यों का 'मृत्तिका, तन्तु आदि' उपादानकारण में 'तादात्म्य' है। क्योंकि 'अयं घटः, अयं पटः' इत्याकारक प्रतीति से वे 'घट-पट' आदि, अपने 'मृत्तिका, तन्तु' आदि उपादानकारण से भिन्नतया प्रतीत होते हैं, तथापि अपने उपादानकारण की 'सत्ता' से उन 'घट-पटादि' कार्यों की 'सत्ता' भिन्न नहीं है। उस कारण 'घट-पटादि' कार्यों का अपने 'मृत्तिका, तन्तु' आदि उपादानकारण में 'तादात्म्य' माना जाता है। इसीप्रकार कल्पित 'रजत-सर्पादिकों' का भी अपने अधिष्ठान में 'तादात्म्य' ही रहता है।

वैसे ही जिस काल में 'अन्तः करणवृत्ति' 'चक्षुरादि इन्द्रियों' के माध्यम से बाहर निकलकर 'घटाकार' नहीं हुई थी, उस काल में वे 'घट-पटादि' विषय 'स्वावच्छिन्न चैतन्य' में अध्यस्त थे; किन्तु जब वह 'अन्तःकरणवृत्ति' इन्द्रियों के माध्यम से बाहर निकलकर 'घट-पटाकार' होती है, तब वह वृत्ति, 'विषय रूप उपाधियों' के एक देश में स्थित होती है और तदुपहित चैतन्यों की भी 'एकता' हो जाती है। अर्थात् 'घट-पटादि से अवच्छिन्नचैतन्य (विषयावच्छिन्नचैतन्य), और 'वृत्त्यवच्छिन्न-चैतन्य', और 'अन्तःकरणावच्छिन्न प्रमातृचैतन्य', और 'अन्तःकरणोपहित साक्षाचैतन्य'—इन सभी की उस काल में (उस समय) एकता हो जाती है। उस काल में (उस समय) वे 'घट-पटादिक', 'साक्षिचैतन्य' में अध्यस्त रहते हैं, और 'अध्यस्त वस्तु' की सत्ता, 'अधिष्ठानभूत शुक्ति-रजत' की सत्ता से भिन्न नहीं हुआ करती।

इसीप्रकार उन घटादिपदार्थों की, 'साक्षिचैतन्य की सत्ता' से अन्य कोई 'भिन्न सत्ता' नहीं है। इस प्रकार विषय की सत्ता का भिन्न न रहना ही उनका 'साक्षिचैतन्य' के साथ तादात्म्य है। और 'साक्षी' के साथ यह 'तादात्म्य' ही, उन घटादि-विषयों का अपरोक्षत्व (प्रत्यक्षत्व) है। इस प्रकार के अपरोक्ष अर्थ का प्रतिपादक वाक्य, 'अपरोक्ष प्रमा' का ही उत्पादक (जनक) कहलाता है।

शंका—विषय (अर्थ) का 'अनावृत संवित्' के साथ तादात्म्यरूप अपरोक्षत्व भले ही रहे, तथापि तत्प्रतिपादक वाक्य में अपरोक्ष प्रमोत्पादकता कैसे होगी?

नन्वेवमपि वाक्यस्य परोक्षप्रमाजनकत्वस्वाभाव्याद्दशमस्त्वमसीति वाक्यात्प्रथमं परोक्षमेव ज्ञानं जायतेऽनन्तरं मनसा दशमत्वसाक्षात्कारः। आत्मतद्धर्म्मसाक्षात्कारस्य करणजन्यत्वस्यावश्यकत्वेन चक्षुरादीनां तत्रासामर्थ्यात्परिशेषादन्वय-व्यतिरेकाभ्यां मन एव तत्र करणम्, अन्यथा सुखादिसाक्षात्कारस्याप्रमात्वापत्तेः। किञ्च परोक्षप्रमाजनकस्वभावस्य यद्यपरोक्ष-प्रमाजनकत्वं कल्प्यते तर्हि कुटजबीजाद्वटाङ्कुरोत्पत्तिरपि कल्प्यते। तस्मान्मनसैव दशमत्वसाक्षात्कारो, न वाक्यादित्याशङ्क्य निराकरोति—नन्विति। सुखादिसाक्षात्कारकरणत्वेन मनस इन्द्रियत्वे सिद्धे वाक्यात्परोक्षज्ञानं मनसा साक्षात्कार इति वक्तुं शक्येत, तत्पूर्वमेव निरस्तमित्याह—मनस इति। "इन्द्रियेभ्यः परं मन" इति पृथक्करणान्मनो नेन्द्रियमित्युक्तं प्रत्यक्षनिरूपणावसरे इति भावः। ननु सुखाद्युपलब्धिरिन्द्रियकरणिका जीवाश्रयापरोक्षप्रमात्वात् रूपोपलब्धिवदित्यनुमानेन "इन्द्रियाणि दशैकञ्चे" त्यादिस्मृत्या च मनस इन्द्रियत्वसिद्धेः कथमनिन्द्रियत्वोक्तिः, पृथक्करणस्यान्यथाप्युपपत्तेरिति ? नैतत्; सुखाद्युपलब्धेर्नित्यसाक्षिस्व-रूपतया सकरणकत्वासिद्धेः। नच सुखादिसाक्षात्कारस्य नित्यसाक्षिस्वरूपतया[1] दुःखज्ञानं नष्टं सुखज्ञानमुत्पन्नमित्यनुभवस्य विरोधः स्यादिति वाच्यम्। साक्षिणो नाशाभावेऽपि सुखादिविषयनाशात्तदुपपत्तेः। नहि सुखादिविषये सति तज्ज्ञानोत्पत्तिविनाशौ कश्चिदनुभवति, स्मृतिस्त्वन्यथापि भविश्यति।

•

समा०—जैसे 'दशमस्त्वमसि' वाक्य में 'दशम पुरुष', 'त्वम्' पदार्थ से अभिन्न होने के कारण 'अपरोक्ष' ही कहा जाता है। उसकारण अपरोक्ष अर्थ के प्रतिपादक वाक्य से 'श्रोता' को 'अहं दशमः'—इत्याकारक 'अपरोक्ष प्रमा' ही उत्पन्न होती है। ऐसा नहीं कि वाक्य से परोक्षज्ञान हो और मन से वस्तु का साक्षात्कार (अपरोक्षज्ञान हो), क्योंकि (i) 'मन' इन्द्रिय नहीं है, यह बता चुके हैं; (ii) वृत्ति के लिये मन उपादान कारण होने से अपरोक्षात्मक वृत्ति के लिये वही कारण बने यह संगत नहीं, तथा (iii) प्रमाण से उत्पन्न अपरोक्ष ज्ञान ही अपरोक्ष भ्रम का समापक हुआ करता है।

शंका—'गामानय'-'स्वर्गोऽस्ति'—इत्यादि वाक्यों का 'परोक्ष प्रमा' उत्पन्न करने का स्वभाव दृष्टिगोचर होता है। वस्तु के स्वभाव में कभी अन्यथात्व नहीं हुआ करता। उसकारण 'दशमस्त्वमसि'—इस वाक्य से भी उस 'दशमपुरुष' को प्रथमतः अपना 'परोक्षज्ञान' ही होता है। तदनन्तर 'मनोरूप इन्द्रिय से अपने 'दशम' होने का 'साक्षात्कार' होता है। क्योंकि जो भी प्रत्यक्षज्ञान होता है, वह 'इन्द्रिय' से ही जन्य हुआ करता है। उसकारण 'आत्मा' के प्रत्यक्ष में तथा 'आत्मवृत्ति सुख-दुःखादि' के प्रत्यक्ष में भी इन्द्रियरूपकरण से जन्यता अवश्य ही माननी होगी। बाह्यचक्षुरादि इन्द्रियों में 'आन्तर प्रत्यक्ष' उत्पन्न करने का सामर्थ्य है नहीं। अतः पारिशेष्यात् 'मन' को ही 'अन्वय-व्यतिरेक' के बल पर 'प्रत्यक्षज्ञान' का 'करण' मानना होगा।

यदि कदाचित् 'आन्तरप्रत्यक्ष' के प्रति 'मन' को 'करण' नहीं मानेंगे तो 'अहं सुखी, अहं दुःखी' इत्याकारक 'सुख-दुःखसाक्षात्कार' के ज्ञान में 'अप्रमात्व' ही प्राप्त होगा। उसकारण 'मन' के द्वारा ही उस 'दशमपुरुष' को अपने 'दशम' होने का (दशमत्व का) साक्षात्कार होता है। 'दशमस्त्वमसि'—इस वाक्य से उक्त साक्षात्कार नहीं होता, अपितु 'परोक्षज्ञान' ही होता है।

समा०—सुख-दुःख साक्षात्कार में करणीभूत 'मन' में यदि 'इन्द्रियत्व' सिद्ध हो तो, 'दशमपुरुष' के साक्षात्कार में 'मन' को 'करण' कहना संभव हो सकता है, किन्तु 'मन' का 'इन्द्रियत्व' ही संभव नहीं है।

किञ्च—'सुख-दुःखादिकों का ज्ञान' तो 'नित्य साक्षीरूप' है, वह किसी 'करण' से जन्य नहीं है। उसकारण सुख-दुःखादिज्ञान का 'करण' कहकर उसे (मन को) 'इन्द्रिय' मानना कदापि संभव नहीं है।

शंका—'सुख-दुःखादि के ज्ञान' को यदि 'नित्यसाक्षीरूप' मानेंगे तो 'नित्यसाक्षीरूपज्ञान' की 'उत्पत्ति-विनाश' का होना कभी संभव नहीं है। तब 'मुझे अभी सुखज्ञान उत्पन्न हुआ है और दुःखज्ञान नष्ट हुआ है इस लोकानुभव से विरोध होगा।

१. स्वरूपत्वेन नित्यतयेति पाठान्तरम्।

न चैवमप्यात्मसाक्षात्कारकरणत्वेनेन्द्रियत्वं मनस इति वाच्यम्। निरूपाधिकात्मनो वाङ्मनसयोरविषयतया साक्षात्कारत्वस्य तत्करणत्वायोगात्। अस्तु तर्हि सोपाधिकात्मसाक्षात्कारे तत्करणमित्याशङ्क्याह—वृत्तिमिति। निमित्तकारणस्य कुठारादेः करणत्वदर्शनादुपादानस्य मृदादेस्तददर्शनात् वृत्त्युपादानस्य मनसः करणत्वमयुक्तम्। "कामः सङ्कल्पो विचिकित्से" त्यादिश्रुत्या वृत्त्युपादानत्वं मनसोऽवगम्यत इति। किञ्चालोकादिवत्प्रमाणसहकारित्वेन मनसः पृथक्प्रमाणत्वमनुपपन्नमेवेति। अपि च पृथक्विषयाभावादपि न तत्सम्भवति। न हि चक्षुरादेरिव मनसः पृथक् विषयोऽस्त्यन्तःकरणतद्धर्म्माणां साक्षिभास्यत्वात्।

"प्रमाणसहकारित्वाद्विषयस्याप्यभावतः।
न प्रमाणं मनोऽस्माकं प्रमादेराश्रयत्वतः" ॥ इति ॥

किञ्चात्ममनसोः सन्निकर्षानिरूपणान्न तत्साक्षात्कारकरणत्वं मनस इति भावः॥ ननु माभून्मनसः प्रमाणत्वं तेन ब्रह्मसाक्षात्कारो भवतु को दोषः? इत्याशङ्क्याह—प्रमाणेति। अपरोक्षभ्रमनिवर्त्तकत्वादित्यर्थः॥३०॥

●

किञ्च—कालान्तर में उन सुख-दुःखों की स्मृति भी नहीं हो सकेगी। क्योंकि 'अनुभव' के 'ध्वंसजन्य संस्कारों' से ही 'स्मृति' हुआ करती है। अतः 'सुखादिज्ञान' को 'नित्य साक्षीरूप' कहना उचित नहीं है।

समा०—'साक्षीचैतन्य' की 'उत्पत्ति' और 'विनाश' के न होनेपर भी उसके (साक्षीचैतन्य के) 'सुख-दुःखादिविषयों की 'उत्पत्ति' और 'विनाश' हुआ करते हैं। उसकारण उस 'साक्षिरूपचेतन्य' (साक्षीरूप अनुभव) में भी 'उत्पत्ति-विनाश' का व्यवहार किया जाता है।

उसीतरह 'संस्कारों' के उत्पन्न होने से कालान्तर में उन 'सुख-दुःखादिकों' की 'स्मृति' भी हो सकती है। इसलिये 'सुख-दुःखादि' के 'ज्ञान' होने में 'मन' को 'करण' कहना उचित नहीं है।

उसीप्रकार 'आत्मप्रत्यक्ष' में भी 'मन' को 'करण' कहना ठीक नहीं है। क्योंकि 'शुद्ध (निरुपाधिक) आत्मा', 'मन तथा वाणी' का विषय नहीं हुआ करता। क्योंकि भगवती श्रुति ने 'शुद्ध-आत्मा' को 'मन' और 'वाणी' का अविषय बताया है। अतः 'शुद्धआत्मा' के साक्षात्कार (प्रत्यक्ष) में 'मन' को 'करण' कहना उचित नहीं है।

उसीतरह 'सोपाधिक आत्मा' के साक्षात्कार (प्रत्यक्ष) में भी 'मन' करण नहीं है। क्योंकि 'कामः संकल्पो विचिकित्सा'—इस श्रुति ने 'मन' को 'वृत्तिज्ञान' का 'उपादानकारण' कहा है। कोई भी 'उपादानकारण' अपने 'कार्य' के प्रति 'करण' नहीं हुआ करता। अपितु 'निमित्तकारण' ही 'करण' कहलाता है।

जेसे—'घट' के प्रति उपादानकारणस्वरूप 'मृत्तिका' को उसका 'करण' नहीं कहा जाता; अपितु निमित्तकारणरूप 'दण्ड' आदि को ही 'करण' कहा करते हैं।

वैसे ही 'वृत्तिज्ञान' के प्रति उपादानकारणरूप 'मन' को 'करण' नहीं कह सकते। किन्तु जेसे 'चाक्षुषज्ञान' की उत्पत्ति में 'सूर्य' का प्रकाश (आलोक), 'चक्षुरिन्द्रिय' का 'सहकारी' हुआ करता है, वैसे ही 'मन' भी 'शब्दादिप्रमाणों का सहकारी रहता है। उसकारण जेसे—प्रकाश (आलोक) को 'पृथक् प्रमाण' नहीं माना जाता, वैसे ही 'मन' को भी 'पृथक् प्रमाण' नहीं मान सकते।

किञ्च—जेसे 'चक्षुरादि इन्द्रियों के असाधारण विषय 'रूप' आदि होते हैं, वैसे 'मन' का कोई 'असाधारण विषय' नहीं है, और 'अन्तःकरण' के 'सुख-दुःखादि धर्म' तो केवल 'साक्षिभास्य' ही हुआ करते हैं। एवं च 'असाधारणविषय' के न रहने के कारण भी 'मन' में 'साक्षात्कार' की 'करणता' का होना कदापि संभव नहीं है। पूर्ववर्ती आचार्यों ने कहा भी है—

'प्रमाण' का सहकारी होने से, तथा 'असाधारणविषय के न होने से, तथा 'प्रमाज्ञान' आदिका आश्रय होने से 'मन' को 'प्रमाणरूप' नहीं मानागया है यह सिद्धान्त है। अतः 'प्रमाणजन्य अपरोक्षज्ञान' ही 'अपरोक्षभ्रम' का निवर्तक होता है। उसकारण 'अहं दशमः' इस साक्षात्कार में 'मन' को 'करण' कहना उचित नहीं है। किन्तु 'दशमस्त्वमसि'—यह 'वाक्य' ही उस साक्षात्कार में 'करण' है॥३०॥

एवं "तत्त्वमसी"त्यत्रापि तत्पदलक्ष्यस्य ब्रह्मणस्त्वंपदलक्ष्यसाक्ष्यभिन्नतयाऽनावृतसंवित्तादात्म्यात् नित्यापरोक्षत्वेन शोधितत्वंपदार्थस्याधिकारिणो मननिदिध्यासनसंस्कृतान्तःकरणसहकृतविचारिततत्त्वमस्यादिवाक्याद् अहं ब्रह्मास्मीत्यपरोक्षप्रमा जायते। एवं च सति "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति" "तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामी"ति "नावेदविन्मनुते तं बृहन्तमि"

•

एवं दृष्टान्ते वाक्यस्यापरोक्षप्रमाजनकत्वमुपपाद्य दार्ष्टान्तिके च तस्य तदुपपादयति—एवमिति। तत्त्वमस्यादिवाक्याद-परोक्षप्रमा जायते इति सम्बन्धः। ननु श्रवणरहितस्यासम्भावनादिग्रस्तत्वात् कथं वाक्यादपरोक्षप्रमेत्याशङ्क्याह—विचारितेति।[1] तथापि कथं विषयप्रवणचित्तस्य चित्तैकाग्र्यशून्यस्य वाक्यात्सेत्यत आह—मनन इति। श्रवणेन मानगतासम्भावनायां मननेन मेयगतासम्भावनायां निदिध्यासनेन विपरीतभावनायां निवृत्तायां निर्मलचित्तदर्पणसहकृतवाक्यात्सा जायत इत्यर्थः।

नन्वेवमपि साधनचतुष्टयसम्पत्तिशून्यस्याविवेकिनो यथोक्तवाक्यात्कथं सा स्यादित्यत आह—शोधितत्वंपदार्थस्येति।[2] अधिकारिणः साधनचतुष्टयसम्पन्नस्येत्यर्थः। ननु ब्रह्मणोऽतीन्द्रियतया धर्म्मादिवत्परोक्षत्वेन कथं वाक्यादपरोक्षप्रमा स्यात्तत्राह—नित्यापरोक्षत्वेनेति। "यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्मे"ति[3] श्रुत्या ब्रह्मणो नित्यापरोक्षतया वाक्यात्तदपरोक्षप्रमा भवत्येवेत्यर्थः।

•

इस प्रकार दृष्टान्त में 'वाक्य' की अपरोक्ष प्रमाजनकता का उपपादन करके अब 'दार्ष्टान्तिक' में भी उसका उपपादन कर रहें हैं—

इसी तरह तत्त्वमसि इस वाक्य के संदर्भ में भी समझना चाहिये—जिसने तत् तथा त्वम् पदार्थों का शोधन कर लिया है वह अधिकारी जब मनन-निदिध्यासनयुक्त अन्तःकरण से तत्त्वमसि आदि महावाक्य का विचार करता है तब तत्पद का लक्ष्य ब्रह्म, त्वम्पद के लक्ष्य साक्षी से अभिन्न है। इसलिये उसे अनावृत संवित् (आत्मा) के तादात्म्यके कारण नित्य ही अपरोक्ष होने से 'मैं ब्रह्म' हूँ—ऐसी अपरोक्ष प्रमा उत्पन्न होती है।

अर्थात् 'तत्त्वमसि' वाक्य में भी 'तत्' पद का 'लक्ष्यार्थ' जो 'ब्रह्म' है, उसका 'त्वम्' पद के लक्ष्यार्थ 'साक्षी' के साथ सर्वथा 'अभेद' है। उस कारण 'अनावृतसाक्षी' के साथ तादात्म्य-विशिष्ट होने से वह 'ब्रह्म' नित्य 'अपरोक्ष' है।

शङ्का—'ब्रह्म' तो अतीन्द्रिय है अतः वह धर्माधर्म की तरह परोक्ष है, तब 'वाक्य' से उसकी अपरोक्ष प्रमा कैसे हो सकती है ?

समा०—वह नित्य अपरोक्ष है, अतः हो सकती है।

श्रुति भी कह रही है कि 'ब्रह्म', सब का आत्मरूप होने से साक्षात् अपरोक्ष रूप है। ऐसे 'अपरोक्ष ब्रह्म' का प्रतिपादक जो 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्य हैं, उससे इस अधिकारी मुमुक्षु पुरुष को 'अहं ब्रह्मास्मि'—इत्याकारक 'अपरोक्षप्रमा' ही उत्पन्न होती है। 'अपरोक्ष', 'प्रत्यक्ष', 'साक्षात्कार'—ये तीनों पर्याय शब्द हैं, अर्थात् एक ही अर्थ के वाचक हैं।

शङ्का—'तत्त्वमसि'—वाक्य से 'अहम्ब्रह्मास्मि'—इत्याकारक 'अपरोक्षप्रमा' यदि उत्पन्न होती है, तो श्रवण-मननादि से रहित असंभावनादि से ग्रस्त सभी लोगों को उक्त महावाक्य के श्रवण से 'अपरोक्षप्रमा' होनी चाहिये।

समा०—महावाक्य के श्रवण से 'अपरोक्षप्रमा', अधिकारी मुमुक्षु पुरुष को ही हुआ करती है। विषयप्रवणचित्त और चित्तैकाग्र्यशून्य पुरुष को अपरोक्षप्रमा नहीं होती।

शङ्का—अधिकारी पुरुष, कौन होता है ?

समा०—जो पुरुष, 'विवेकादिसाधन-चतुष्टय से सम्पन्न होता है और 'तत्'—'त्वम्' पदार्थ का जिसने 'शोधन' किया है, तथा 'श्रवण, मनन, निदिध्यासन' के प्रभाव से असंभावना, विपरीतभावना और सन्दिग्धभावना जिसकी नष्ट हो चुकी है,

---

१. केचित्त्वविचारितादपि शब्दमाहात्म्यादपरोक्षैव जायते प्रतिबद्धा परं तिष्ठतीति मन्वते। तत्र 'मणिमन्त्रयोरपगमे तु यथा सति पावकाद् भवति धूमलते' त्याद्यभियुक्तोक्ति (सं. शा. १.१५) मानीकुर्वत इति ज्ञेयम्।

२. त्वमिति तत्पदार्थस्योपलक्षणम्।

३. अपरोक्षादिति श्रुतेरर्थमवोचदपरोक्षमिति।

स्यादिश्रुतयः सामञ्जस्येनोपपद्यन्ते। "मनसैवानुद्रष्टव्यमि" त्यादिश्रुतिस्तु मनसो वाक्यसहकारित्वप्रतिपादनपरा। अन्यथा "यन्मनसा न मनुते" इत्यादिश्रुतिविरोधप्रसङ्गात्, एवं शाब्दीप्रमा निरूपिता ॥ ३१ ॥

●

ननु ब्रह्मणो जगत्कर्तृत्वेन तटस्थतया श्रुत्यापि कथं तदपरोक्षत्वमवगन्तुं शक्यमित्याशङ्क्य वाच्यार्थस्याऽतथात्वेऽपि लक्ष्याखण्डचैतन्यस्य प्रत्यग्रूपतया ताटस्थ्याभावेन[1] श्रुत्या तदपरोक्षत्वं प्रतिपादयितुं शक्यत एवेत्यभिप्रेत्याह—तदिति। अनावृत-संवित्स्वरूपत्वादेवेत्यर्थः। एवं तत्त्वमस्यादिवाक्याद्ब्रह्मापरोक्षप्रमोत्पत्त्यभ्युपगमे "शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशोवामदेववदि"ति सूत्रं "तन्त्वौपनिषद" मित्यादिश्रुतिवाक्यञ्च नाननुकूलम्भवतीत्याह—**एवञ्च सतीति**।

ननु वाक्यादपरोक्षप्रमोत्पत्त्यभ्युपगमे "मनसैवानुद्रष्टव्य" मित्यादिश्रुतिविरोधः स्यात्तत्र तृतीयाविभक्त्या मनसः करणत्वा-वगमात्। न च सा सहकारित्वप्रतिपादनपरेति वाच्यम्। तर्हि "तन्त्वौपनिषद" मित्यादिश्रुतिरपि वाक्यस्य मनःसहकारित्वप्रति-पादनपरा किं न स्यात्, न्यायस्य तुल्यत्वात्। न च "यन्मनसा न मनुत" इत्यादिश्रुत्या मनसः करणत्वप्रतिषेधाद्वाक्यसहकारित्वं मतमिति वाच्यम्। तर्हि "यद्वाचानभ्युदितमि"त्यादिश्रुत्या वाक्यस्यापि तत्प्रतिषेधात्। न च मुख्यया वृत्त्या तत्प्रतिषेधेऽपि वाक्यस्य

●

उसे 'अधिकारी पुरुष' समझना चाहिए। 'श्रवण' से 'प्रमाण'गत असंभावना, 'मनन' से प्रमेय(मेय)गत असंभावना (संदिग्ध भावना), 'निदिध्यासन' से विपरीतभावना निवृत्त होती है। तब निर्मल-चित्त-दर्पणसहकृत वाक्य से वह होती है। साधन-रहित पुरुष को वह 'अपरोक्षप्रमा' उत्पन्न नहीं होती। उस 'अपरोक्षप्रमा' की उत्पत्ति में 'तत्त्वमसि' वाक्य ही 'करण' होता है, 'मन' नहीं। तथापि वह, श्रवणादि से सुसंस्कृत हुआ 'शुद्ध मन', सहकारी कारण होता है।

'ब्रह्मात्मसाक्षात्कार' के प्रति उस 'तत्त्वमसि' वाक्य की 'करणता', केवल युक्तियों से ही सिद्ध नहीं है, अपितु 'श्रुति-प्रमाण' से भी सिद्ध है।

भगवती श्रुति कहती है—सम्पूर्ण वेद, जिस परमात्मपद को साक्षात् अथवा परम्परया बताते हैं, अर्थात् परमात्म-विषयक साक्षात्कार को उत्पन्न करते हैं। केवल 'उपनिषद्' रूप शब्द प्रमाण से जानने योग्य उस परमात्मपुरुष के स्वरूप को मैं तुमसे पूछता हूँ। वेदान्त वाक्यों के ज्ञान से रहित पुरुष, उस 'ब्रह्म' को नहीं जान सकता—इत्यादि श्रुतियाँ उस ब्रह्म-साक्षात्कार के प्रति 'वेदान्तवाक्य' को ही 'प्रमाण' कहते हैं, और 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्', 'दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या'—इत्यादि श्रुतियाँ तो उस 'ब्रह्मसाक्षात्कार के प्रति' 'शुद्धमन' को 'सहकारी कारण' के रूप में बताती हैं। उस कारण उन श्रुतियों से भी कोई विरोध नहीं है।

यदि उक्त श्रुति को आपाततः देखकर 'आत्मसाक्षात्कार' के प्रति 'मन' को ही 'करण' माना जाय तो 'आत्म-साक्षात्कार' में 'मन' की 'करणता' का निषेध करने वाली 'यन्मनसा न मनुते' 'अप्राप्य मनसा सह'—इन श्रुतियों के साथ विरोध होने लगेगा।

उस विरोध के निवारणार्थ 'मन' को सहकारी कारण मानना ही उचित है।

यद्यपि श्रुतियों ने 'आत्मसाक्षात्कार' के प्रति 'वाक्य प्रमाण' का भी निषेध किया है, तथापि उन श्रुतियों ने उस शब्द की 'शक्तिवृत्ति' का निषेध किया है, अर्थात् वह शब्द 'अपनी शक्तिवृत्ति (अभिधा) से उस 'ब्रह्म' का बोध नहीं कराता है, अपितु 'भागत्यागलक्षण' से ही बोध कराता है। अर्थात् 'तत्त्वमसि आदि वाक्य, 'भागत्यागलक्षणा' के सहारे 'ब्रह्म' का बोध कराते हैं। उस कारण 'ब्रह्मसाक्षात्कार' के प्रति 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों में ही 'करणता' ज्ञात होती है।

शङ्का—'जन्माद्यस्य यतः'—लक्षण से 'ब्रह्म' की जगत्कर्तृता प्रतीत होती है, उस कारण उसकी 'तटस्थता' भी प्रतीत होती है, तब श्रुति से उसकी अपरोक्षता का ज्ञान कैसे कराया जा सकता है?

समा०—'वाच्यार्थ' वैसा न रहने पर भी 'लक्ष्य अखण्ड चैतन्य की 'प्रत्यग्रूपता' (अनावृत संवित्स्वरूपता) रहने से 'ताटस्थ्य' नहीं है। अतः—उसके 'अपरोक्षत्व' का प्रतिपादन, श्रुति के द्वारा किया जा सकता है।

---

१. ताटस्थ्याभावेनेति स्यात्।

अनुपपद्यमानार्थदर्शनात् तदुपपादकभूतार्थान्तरकल्पनमर्थापत्तिप्रमा। यथा दिवाऽभुञ्जानस्य देवदत्तस्य रात्रिभोजनं विना अनुपपद्यमानपीनत्वज्ञानात्तदुपपादकरात्रिभोजनकल्पनम्। तत्राऽनुपपद्यमानपीनत्वज्ञानं करणं, रात्रिभोजनकल्पनं फलम्।

•

लक्षणया तदपरोक्षप्रमाकरणत्वमिति वाच्यम्। तद्ध्यंसंस्कृतस्य मनसः करणत्वप्रतिषेधेऽपि शास्त्राचार्यसंस्कृतस्य तस्य तत्सम्भवात्। अन्यथा श्रुतिविरोधापत्तेरित्याशङ्क्याह—मनसैवेति। अयम्भावः—सत्यमेतत्; यदि मनसः करणत्वं सम्भवेत्तत्प्रागेव निरस्तम्। वाक्यस्य प्रमाकरणत्वम् उभयवादिसिद्धं श्रुतिस्मृतितन्त्रान्तरसिद्धञ्च। इयांस्तु विशेषः; त्वया वाक्यस्य परोक्षप्रमाकरणत्वमभ्युपगम्यतेऽस्माभिः श्रुतिस्मृतिन्यायविद्वदनुभवबलात्परोक्षापरोक्षभेदेन द्विविधप्रमाकरणत्वं वाक्यस्य प्रतिपाद्यते। तत्र प्रमाणकुशलैः प्रतीतिशरणैर्यदुचितं तदभ्युपगन्तव्यम्। प्रकृतमुपसंहरति—एवमिति ॥ ३१ ॥

क्रमप्राप्तामर्थापत्तिप्रमां लक्षयति—अनुपपद्यमानेति। तत्रोदाहरणमाह—यथेति। अत्र नैयायिकादयः—रात्रिभोजनं व्यतिरेक्यनुमानेनैव। तथाहि—अयं देवदत्तो रात्रौ भुङ्क्ते दिवाऽभुञ्जानत्वे सति पीनत्वात्, यस्तु रात्रौ न भुङ्क्ते नासौ दिवाऽभुञ्जानत्वे सति पीनः, यथा दिवारात्रावभुञ्जानोऽपीन इत्येवं व्यतिरेक्यनुमानेनैव रात्रिभोजनस्य प्रतीयमानत्वात् कथमर्थापत्तेः पृथक् प्रमाणत्वं कल्पनीयं, गौरवादिति—वदन्ति।

•

किञ्च 'तत्त्वमस्यादि' महावाक्यों से 'ब्रह्म' की अपरोक्षप्रमोत्पत्ति' मानने से 'शास्त्रदृष्ट्यातूपदेशो' आदि सूत्र, तथा 'तन्त्वौपनिषदं'—इत्यादि श्रुति-वाक्यों की अनुकूलता भी सम्पन्न हो जाती है। एवं च 'वाक्य' को 'प्रमाकरणता' तो उभयवादि-सम्मत श्रुति-स्मृति-अन्यान्य शास्त्र (तन्त्र) के द्वारा भी सिद्ध है। अन्तर इतना ही है कि पूर्वपक्षी, 'वाक्य' की 'परोक्षप्रमा' का 'करण' मानता है, और सिद्धान्ती 'श्रुति-स्मृति-न्याय-विद्वदनुभव' के बलपर 'परोक्ष-अपरोक्ष द्विविध प्रमा' को करणता 'वाक्य' में मानता है। अतः प्रतीतिशरण, प्रमाण कुशल विद्वान् औचित्य का निर्णय स्वयं ही कर लें।

इस विवेचन के द्वारा 'शाब्दी प्रमा' का निरूपण किया है ॥३१॥

॥ इति शाब्दीप्रमा समाप्ता ॥

शाब्दीप्रमा का निरूपण करने के पश्चात् क्रम—प्राप्त 'अर्थापत्तिप्रमा' को बता रहे हैं—अनुपपद्यमान अर्थ के ज्ञान से, उसके उपपादकरूप 'अर्थान्तर' की कल्पना को 'अर्थापत्तिप्रमा' कहते हैं।

जैसे—दिन में भोजन न करनेवाले 'देवदत्त' के शरीर का पीनत्व (स्थूलता, पुष्टता) 'रात्रि भोजन के बिना' संभव नहीं है। उस कारण उसके 'पीनत्व' के ज्ञान से देवदत्त के 'रात्रिभोजन' की कल्पना की जाती है। उस कल्पना को ही 'अर्थापत्तिप्रमा' कहते हैं। अर्थापत्ति'—यह एक ही शब्द, 'प्रमाण' और 'प्रमा' दोनों का बोध करा देता है। जब दिन में न खानेवाले देवदत्त का 'पीनत्व', 'रात्रि भोजन' के बिना कभी संभव नहीं है—इस प्रकार का ज्ञान, तो 'अर्थापत्तिप्रमा' का 'करण' होने से उसे 'अर्थापत्तिप्रमाण' समझा जाता है, और 'यह देवदत्त रात में भोजन करता है (रात्रौ भुङ्क्ते)'—'इस प्रकार का ज्ञान', 'अर्थापत्तिप्रमा' कहलाता है।

नैयायिक विद्वान् 'अर्थापत्ति' प्रमाण को नहीं मानते, अपितु 'व्यतिरेकी अनुमान' में ही उसका अन्तर्भाव कर लेते हैं। उनका कहना है कि उसके 'रात्रिभोजन का ज्ञान' तो 'व्यतिरेकी अनुमान' से ही हो जाता है। अतः 'अर्थापत्ति' को एक स्वतन्त्र प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं है।

उनके व्यतिरेकी अनुमान का आकार[1] इस प्रकार है—यह देवदत्त, रात में भोजन करता है, क्योंकि दिन में भोजन न करता हुआ भी हृष्ट-पुष्ट (पीन) है, जो व्यक्ति, रात में तथा दिन में भी भोजन नहीं करता, वह व्यक्ति, हृष्ट-पुष्ट भी नहीं रहता। जैसे—दिन तथा रात्रि में भी भोजन न करनेवाला व्यक्ति 'पीन' (पुष्ट) नहीं रहता है—इस व्यतिरेकी अनुमान से 'रात्रिभोजन' की प्रतीति जब हो ही जाती है, तब 'अर्थापत्ति' प्रमाण की पृथक् कल्पना करने में 'गौरव' ही होगा। अतः उसे पृथक् प्रमाण मानना उचित नहीं है।

---

१. 'अयं देवदत्तः रात्रौ भुङ्क्ते, दिवा अभुञ्जानत्वे सति पीनत्वात्। यस्तु रात्रौ न भुङ्क्ते नाऽसौ दिवा अभुञ्जानत्वे सति पीनः, यथा दिवा रात्रौ अभुञ्जानः अपीनः'।

तान्निराकरोति—तत्रेति। अयमाशयः—व्यतिरेक्यनुमानस्य प्रागेव निरस्तत्वात् कथं तेन रात्रिभोजनानुमितिर्भवेत्? कथं तर्हि अन्वयव्याप्तिमजानानस्य व्यतिरेकिव्याप्तिज्ञानात् रात्रिभोजनप्रतीतिरिति? उच्यते, रात्रिभोजनेन विना पीनत्वानुपपत्त्या तत्प्रतीतिः। अन्यथाऽन्यव्याप्तिज्ञानादन्यानुमितावतिप्रसङ्गात्। न च प्रतियोग्यनुयोगिभावस्य नियामकस्य सत्त्वान्नातिप्रसङ्ग इति वाच्यम्। तस्य सर्वत्र सुलभत्वेन सर्वत्र सर्वानुमित्यापत्तेः। तथाहि केवलप्रतियोग्यनुयोगिभावस्याप्रयोजकत्वेन साध्याभावव्यापकीभूताभावप्रतियोगित्वं नियामकं वाच्यम्। तच्च घटत्वादीनां सम्भवतीति तेनाप्यनुमितिः स्यात्। न चेष्टापत्तिरिति वाच्यम्। तर्हि भवन्मते सुवर्णघटस्यापि पृथिवीत्वापत्तेः। नच तदिष्टम्, अपसिद्धान्तापत्तेः। न च सुवर्णघटे घटत्वमेव नास्तीति वाच्यम्। तत्र घटोऽयमित्यनुभवस्य सार्वजनीनत्वात्। मृद्घटे घटोऽयमित्यनुभवो घटत्वगोचरो नान्यत्रेति नियन्तुमशक्यत्वात्। कथं तर्हि व्याप्यजात्यनुमानमिति, कात्र कथं वा[1]? पृथिवीत्वादिना वा द्रव्यत्वादिना वा तदनुमाने बाधकाभावादत एव न घटत्वादिकं जातिरिति वदन्ति, साङ्कर्य्यात्। तस्माद्व्यतिरेक्यनुमानेन रात्रिभोजनप्रतीतिरिति शिष्यबन्धनमात्रम्।

तर्हि सिद्धान्ते वा कथमन्यानुपपत्त्याऽन्यकल्पनमतिप्रसङ्गस्य तुल्यत्वादिति चेन्नैवम्। रात्रिभोजनपीनत्वयोः कार्य्यकारणत्वसम्भवेन कार्यं; कारणं विनाऽनुपपन्नं सत्तत्कल्पयति। किमिदं तेन विना तस्यानुपपन्नत्वमिति? तदभावव्यापकीभूताभावप्रति-

●

नैयायिकों का खण्डन करते हैं—नैयायिकों ने जो कहा कि 'व्यतिरेकी अनुमान' में ही 'अर्थापत्ति' का अन्तर्भाव हो जायगा। किन्तु उनका यह कहना नितान्त असंगत है। क्योंकि अनुमिति प्रमा का निरूपण करते समय उनके 'व्यतिरेकी अनुमान' का खण्डन हम कर चुके हैं। उस कारण उनके 'व्यतिरेकी अनुमान' से 'रात्रिभोजन का ज्ञान' होना कदापि संभव नहीं है। प्रत्युत 'अर्थापत्तिप्रमाण' से ही 'रात्रिभोजन' का ज्ञान होना संभव है, व्यतिरेकी अनुमान से नहीं। क्योंकि हम वेदान्तियों ने पहिले ही उन नैयायिकों के 'व्यतिरेकी अनुमान' का निराकरण कर दिया है। उस निरस्त हो चुके व्यतिरेकी अनुमान से 'रात्रिभोजन' की अनुमिति' कैसे हो सकेगी?

इस पर नैयायिक यदि यह कहे कि 'अन्वयव्याप्ति' को न जाननेवाला व्यक्ति, 'व्यतिरेकव्याप्ति' के ज्ञान से 'रात्रिभोजन' की प्रतीति कैसे कर पायगा? उसपर हमारा कहना यह है कि 'रात्रिभोजन' के विना 'पीनत्व' की अनुपपत्ति होने से उसकी प्रतीति उसे हो जायगी। अन्यथा अन्य की व्याप्ति के ज्ञान से अन्य की अनुमिति होने का प्रसंग उपस्थित होगा।

इसपर यदि यह कहो कि 'प्रतियोग्यनुयोगिभाव' के नियामक रहने से उपर्युक्त अतिप्रसंग नहीं हो सकेगा।

किन्तु उक्त कथन ठीक नहीं है। क्योंकि प्रतियोग्यनुयोगिभाव' तो सर्वत्र सुलभ रहने से सर्वत्र ही सबकी 'अनुमिति' होने लगेगी। तथाहि—'केवल प्रतियोग्यनुयोगिभाव' अप्रयोजक रहने से 'साध्याभावव्यापकीभूताभावप्रतियोगी' को 'नियामक' स्वीकार कर लीजिये। वह 'घटत्वादिकों' में संभव हो सकता है। उससे भी 'अनुमिति' हो जायगी।

उसे 'इष्टापत्ति' कहोगे तो ठीक नहीं है। क्योंकि आपके मतानुसार 'सुवर्णघट' में भी 'पृथिवीत्व' मानने का प्रसंग आवेगा। उसे आप 'अभीष्ट' नहीं कह सकेंगे। क्योंकि 'अपसिद्धान्त' होगा। 'सुवर्णघट' में 'घटत्व' नहीं है—यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि 'घटोऽयम्' यह अनुभव सभी को होता है। केवल 'मृद्घट' में ही 'घटोऽयम्'—यह अनुभव 'घटत्व' विषयक है, अन्यत्र नहीं है—यह नियन्त्रण करना भी शक्य नहीं है। तब 'व्याप्यजाति' का अनुमान कैसे होगा? तब कौन व्याप्यजाति है, किसप्रकार से है? यह कैसे जाना जायगा? 'पृथ्वीत्व' से अथवा 'द्रव्यत्व' से उसका अनुमान करने में कोई बाधक नहीं है। अतएव सांकर्य होने के कारण 'घटत्वदि' को 'जाति' नहीं कहते। अतः 'व्यतिरेकी अनुमान' से 'रात्रिभोजन' की प्रतीति' को बताना शिष्यों को भुलावा देना मात्र है। तब सिद्धान्ती भी 'अन्य की अनुपपत्ति' से 'अन्य की कल्पना' करता है, तो वैसा करने में भी अतिप्रसंग होगा। जो हम-आप दोनों के लिये समान ही है।

किन्तु पूर्वपक्षी का यह कथन उचित नहीं है। क्योंकि 'रात्रिभोजन' और 'पीनत्व' दोनों में 'कार्यकारणभाव' का संभव रहने से 'कोई भी कार्य', अपने 'कारण' के बिना अनुपपन्न होकर उसकी कल्पना करा देता है। 'कारण' के बिना 'कार्य' की अनुपपन्नता कैसे होगी? यह कहोगे तो यह ध्यान में रखिये कि 'तदभावव्यापकीभूताभावप्रतियोगित्व'—यह नियम है। 'घटत्वादिकों' में वैसी स्थिति न होने से उनमें 'कार्यत्व' नहीं है। अतएव 'धूम-वह्नि' की 'अन्वयव्याप्ति' न जाननेवाले को 'व्यतिरेकव्याप्ति' ज्ञान की दशा में दृश्यमान धूम की अनुपपत्ति से वह्नि की प्रतीति हो जाती है। अतः व्यतिरेकी अनुमान से 'रात्रिभोजन' का ज्ञान होना संभव नहीं है। किन्तु 'अर्थापत्तिप्रमाण' से ही 'रात्रिभोजन' का ज्ञान होना संभव है।

---

1. प्रश्नमेव स्पष्टीचकार-अत्र का व्याप्यजातिः, कथं वा व्याप्येति कथं वा व्याप्येति प्रश्नाशय इत्यर्थः।

योगित्वमिति निश्चितम्। न च घटत्वादीनां तत्संभवति, तेषां कार्यत्वाद्यसिद्धेः। अत एवान्वयव्याप्ति धूमवह्न्योरज्ञानानस्य व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानदशायां दृश्यमानधूमानुपपत्त्या वह्निप्रतीतिरिति न व्यतिरेक्यनुमानावकाशः। तस्मादर्थापत्तिः प्रमाणान्तरमेवेति। शिष्यबुद्धिसौकार्य्याय करणफले व्युत्पादयति—अनुपपद्यमानेति। अर्थापत्तिं विभजते—सा चेति। दृष्टार्थापत्तिमुदाहरति—दृष्टेति। सा यथा स्पष्टं तथोच्यत इत्यर्थः। ननु भ्रमस्थले इदं रजतमिति विशिष्टज्ञानमेव नास्ति, प्रमाणाभावात्। तथा हि—सर्वधियां यथार्थत्वेन भ्रान्तिज्ञानस्यैवासिद्धेः। न च पुरोवर्त्तिनि प्रवृत्त्यनुपपत्त्या रजतत्वविशिष्टभ्रमानुभवसिद्धिरिति वाच्यम्, प्रवृत्तेरन्यथाप्युपपत्तेः।

तथाहि—इदमिति ग्रहणात्मकं ज्ञानं, रजतमिति स्मरणात्मकं प्रमुष्टतत्ताकमनयोर्ग्रहण-स्मरणयोरसंसर्गाग्रहणेन पुरोवर्त्तिरजतयोरसंसर्गाग्रहात् दोषदुष्टकरणस्य रजतार्थिनः पुरोवर्त्तिनि प्रवृत्तिरुपपद्यते। अन्यथा ज्ञानस्यायथार्थत्वेनाविश्वास-

•

नैयायिक जिस पदार्थ का 'व्यतिरेकी अनुमान' से ज्ञान मानते हैं, उस पदार्थ का ज्ञान, अर्थापत्तिप्रमाण से ही होना संभव है। इसलिये 'व्यतिरेकी अनुमान' का अवसर ही नहीं है, अर्थात् वह व्यर्थ है। अतः 'अर्थापत्ति' को पृथक् प्रमाण के रूप में—शिष्यबुद्धि के सौकर्य को देखते हुए अवश्य स्वीकार करना ही चाहिये।

करण और फल को बताते हैं—'अनुपपद्यमान पीनत्व का ज्ञान' तो 'करण' है, और 'रात्रिभोजन की कल्पना'—उस करण का फल है।

'अर्थापत्ति प्रमाण' का विभाग बताते हैं—वह अर्थापत्तिप्रमाण (१) दृष्टार्थापत्ति और (२) श्रुतार्थापत्ति के भेद से दो प्रकार का होता है। उनमें से देखे गए अर्थ को 'दृष्ट अर्थ' कहते हैं। उस दृष्ट अर्थ को अनुपपन्नता के कारण 'उपपादकरूप अर्थान्तर' की कल्पना को 'दृष्टार्थापत्ति' कहते हैं। तथा श्रवण किये हुए अर्थ को 'श्रुतार्थ' कहते हैं। उस श्रुतार्थ को अनुपपन्नता के कारण उपपादकरूप अर्थान्तर की कल्पना को 'श्रुतार्थापत्ति' कहते हैं।

दृष्टार्थापत्ति इस प्रकार होती है—सीप में यह चाँदी है—इस प्रकार अनुभव की जाती चाँदी को 'यह चाँदी नहीं है'—इस प्रकार समझी हुई बाध्यता, चाँदी के मिथ्या हुए बिना अर्थात् उसके सत्य होने पर संगत न होती हुई, 'चाँदी' के मिथ्यात्व की प्रमिति उत्पन्न करती है।

'यह' और 'चाँदी' दो पृथक् ज्ञान हों, यह भी संभव नहीं, क्योंकि वैसा हो तो सामने पड़ी वस्तु को उठाने की प्रवृत्ति नहीं होती। चाँदी 'असत्' भी नहीं हो सकती, क्योंकि वैसा हो तो उसका ज्ञान प्रत्यक्ष न होता। साथ ही वह 'सत्' भी नहीं हो सकती, अन्यथा उसका बाध न होता। वह अन्य स्थल में हो तो चाँदी से 'इन्द्रियसम्पर्क' न होने से उसका (भ्रमकाल में) प्रत्यक्ष न होता। और यह तो सभी को अनुभव से सिद्ध है कि—मैं चाँदी का साक्षाद् दर्शन कर रहा हूँ। इसलिये यही स्वीकारना होगा कि 'भ्रम के समय सीप के टुकड़े में चाँदी उत्पन्न होती है'।

भ्रम स्थल में सिद्धान्तसम्मत 'अनिर्वचनीयख्याति' की सिद्धि करने के लिये अन्यान्यशास्त्रोक्त 'ख्यातियों' का निरूपण करके उनका खण्डन बतावेंगे। (१) प्राभाकर मीमांसक 'भ्रमस्थल' में 'अख्याति' को मानते हैं।

प्राभाकर मीमांसकों का कहना है कि 'सभी ज्ञान' सर्वदा 'यथार्थ' ही हुआ करते हैं। कोई भी 'ज्ञान', अयथार्थ नहीं होता है। उस कारण 'भ्रमस्थल' में 'इदं रजतम्' यह 'विशिष्ट भ्रम ज्ञान' नहीं मानना चाहिये, क्योंकि उसके मानने में कोई प्रमाण नहीं है।

शंका—यदि 'इदम् रजतम्'—इस ज्ञानको 'विशिष्टभ्रमज्ञान' नहीं मानेंगे तो उस ज्ञान के होने पर रजतार्थी पुरुष को उस दृश्यमान पुरोवर्ती 'शुक्ति' की ओर 'प्रवृत्ति' नहीं होनी चाहिये। किन्तु रजतार्थी पुरुष को उस 'शुक्ति' की ओर 'प्रवृत्ति' होती दिखाई देती है। अतः उस 'प्रवृत्ति' की अनुपपत्ति से 'इदम् रजतम्'—इस ज्ञान को 'विशिष्ट भ्रमज्ञान' ही कहना होगा।

समा०—'इदं रजतम्'—इस ज्ञान को 'विशिष्टभ्रमज्ञान' रूप न मानने पर भी रजतार्थी पुरुष की प्रवृत्ति, उस शुक्ति की ओर हो सकती है। क्योंकि 'इदं रजतम्'—यह 'एक विशिष्ट भ्रमज्ञान' नहीं है, किन्तु यहाँ पर 'दो ज्ञान'—हो रहे हैं। तथाहि—'इदम्'—यह तो 'पुरोवर्तिविषयक प्रत्यक्षज्ञान'—हो रहा है, और 'रजतम्'—यह 'रजतविषयक स्मृतिज्ञान' भी हो रहा है। ये 'दोनों (प्रत्यक्ष और स्मरणात्मक) ज्ञान यथार्थ ही हैं। इन दोनों ज्ञानों का 'परस्पर भेद' है। तथा इन दोनों ज्ञानों के विषयभूत 'पुरोवर्ती शुक्ति' और 'रजत'—इन दोनों का भी परस्पर भेद है। परन्तु 'चाकचिक्यादि' दोष के कारण उसे 'उन दोनों ज्ञानों' का

प्रसङ्गात् । यथाहुः—"ज्ञानस्य व्यभिचारित्वे विश्वासः किं निबन्धन" इति । तस्माद्रजतत्वविशिष्टभ्रमानुभवाभावादनुभूयमान-रजतस्य दृष्टं बाध्यत्वं मिथ्यात्वं कल्पयतीत्यनुपपन्नमित्याशङ्क्य निराकरोति—न चेति । इदमत्राकूतं—पुरोवर्त्तिनि रजतार्थि-प्रवृत्तिर्विशिष्टानुभवसाध्या, प्रवृत्तित्वात् संवादिप्रवृत्तिवदित्यनुमानमेव विशिष्टज्ञाने प्रमाणम् । न च सर्वधियां यथार्थत्वाद्विशिष्ट-भ्रान्त्यसम्भवेन बाध इति वाच्यम् । ज्ञानमात्रस्य स्वरूपेण यथार्थत्वेऽपि विषयबाधाबाधाभ्यां यथार्थत्वायथार्थत्वे बाधकाभावाद्; अन्यथा नेदं रजतमिति बाधः कथं स्याद्, अप्रसक्तप्रतिषेधायोगात् । न च व्यवहार एव बाध्यते, न ज्ञानं विषयो वेति वाच्यम् । विषयनिषेधस्यानुभवसिद्धत्वात् । अन्यथा नेदं रजतव्यवहार इत्येवोल्लेखः स्यात् । न चाऽप्रयोजकत्वं, भेदाग्रहात् प्रवृत्तेरुपपत्तेरिति वाच्यम् । तर्हि सर्वदा प्रवृत्तिप्रसङ्गात् । न चोपस्थिते इष्टभेदाग्रहात्सेति वाच्यम् । तद्धर्मभावप्रतियोगीदं रजतमिति ज्ञानानन्तरमपि प्रवृत्तिप्रसङ्गात् । नच स्वतन्त्रोपस्थिते इष्टभेदाग्रहात्प्रवृत्तिरिति वाच्यम् । तर्हि लाघवादिष्टोपस्थितेरेव प्रवर्त्तकत्वोपपत्तेः । न च

●

तथा 'उन दोनों विषयों का 'भेदग्रहण' (विवेकग्रह) नहीं हो रहा है । उस 'भेदाग्रह' के कारण ही 'रजतार्थी पुरुष' की 'उस पुरोवर्ती शुक्ति' की ओर 'प्रवृत्ति' होती है । अतः 'प्रवृत्ति' का होना अनुपपन्न नहीं है । इसलिये उस पुरुष के प्रवृत्त्यर्थ, 'विशिष्ट-भ्रमज्ञान' की कल्पना करना व्यर्थ है ।

अथवा यदि किसी ज्ञान को 'अयथार्थ' मानेंगे तो किसी भी ज्ञान में 'यथार्थता' का निश्चय ही नहीं हो सकेगा, अपितु सभी ज्ञानों में 'यथार्थता' का संशय ही रहेगा । तब यथार्थज्ञान से होनेवाली प्रवृत्ति-निवृत्ति के व्यवहार का लोप ही हो जाएगा । अतएव 'ज्ञानस्य व्यभिचारित्वे विश्वासः किंनिबन्धनः' कहा गया है ।

एवं च 'रजतत्वविशिष्ट भ्रम' का अनुभव न होने से अनुभूयमान रजत का जो दृष्टबाध्यत्व है, वह रजत के मिथ्यात्व की कल्पना कराता है—यह जो वेदान्तियों ने कहा है, वह असंगत है । यह अख्यातिवादी मीमांसक (प्रभाकर) ने कहा है ।

किन्तु यह कथन उचित प्रतीत नहीं हो रहा है । क्योंकि अख्यातिवादी ने 'विशिष्ट भ्रमज्ञान' के होने में कोई प्रमाण नहीं है—यह जो कहा था, वह असंगत है । उस 'विशिष्ट भ्रमज्ञान' के होने में तो 'अनुमानप्रमाण'[1] ही प्रसिद्ध है । अनुमान इस प्रकार होगा—पुरोवर्ती शुक्ति में रजतार्थी पुरुष की जो प्रवृत्ति होती है, वह प्रवृत्ति, 'इदं रजतम्'—इस विशिष्ट ज्ञान से होती है (विशिष्ट ज्ञान से साध्य है), प्रवृत्तिरूप होने से । लोकव्यवहार में जो प्रवृत्ति होती है, वह 'विशिष्ट ज्ञान' से ही हुआ करती है । जैसे 'सत्यरजतविषयक प्रवृत्ति'—'इदं रजतम्'—इस पुरोवर्ती रजतविशेष्यक—रजतत्वप्रकारक विशिष्ट ज्ञान से ही होती है । यह अनुमान ही उस विशिष्ट भ्रमज्ञान के होने में प्रमाण है ।

किञ्च—अख्यातिवादी ने 'ज्ञानमात्र' को जो—'यथार्थ' कहा था, वह भी असंगत है । यद्यपि 'ज्ञानमात्र' स्व-स्वरूपेण (स्वरूप से) यथार्थ ही हैं, तथापि विषय के बाधित अथवा अबाधित होने से 'ज्ञान' में अयथार्थता और यथार्थता दोनों का होना संभव है । अर्थात् जिस ज्ञान का विषय 'अबाधित' रहता है, वह ज्ञान तो यथार्थ कहलाता है । जैसे—'अयं घटः, अयं पटः' इत्यादि ज्ञान है । तथा जिस ज्ञान का विषय बाधित रहता है, वह ज्ञान अयथार्थ कहलाता है । जैसे—शुक्ति में 'इदं रजतम्' तथा 'रज्जु' में 'अयं सर्पः'—यह 'ज्ञान', कभी-कभी हुआ करता है । यदि 'इदं रजतम्' अथवा 'अयं सर्पः' में 'रजत' का अथवा 'सर्प' का बाध होने पर भी उसे 'भ्रम' नहीं मानेंगे तो 'नेदं रजतम्' तथा 'नायं सर्पः'—इस उत्तरकालिक पुरोवर्ती शुक्ति में तथा पुरोवर्ती रज्जु में रजत का तथा सर्प का जो बाध प्रतीत होता है, वह नहीं होना चाहिये । क्योंकि 'प्राप्त अर्थ' का ही 'प्रतिषेध' हुआ करता है । अप्राप्त अर्थ का प्रतिषेध नहीं होता ।

शंका—'नेदं रजतम्' या 'नायं सर्पः'—इस ज्ञान से 'इदं रजतम्' अथवा 'अयं सर्पः'—इस ज्ञान का अथवा इस ज्ञान के विषय का (रजत या सर्प का) बाध नहीं होता, अपितु 'रजतविषयक प्रवृत्ति' का अथवा सर्पविषयक निवृत्ति आदि व्यवहार का ही बाध होता है ।

समा०—'नेदं रजतम्'—इस ज्ञान में पुरोवर्ती रजत के निषेध का ही अनुभव होता है । व्यवहार के निषेध का अनुभव नहीं होता । यदि 'नेदं रजतम्'—इस ज्ञान से 'रजत' के व्यवहार का निषेध होता तो 'नेदं रजतम्'—यह व्यवहार ही उस ज्ञान का आकार होना चाहिये था । किन्तु 'ज्ञान' का आकार तो ऐसा नहीं है । अतः 'नेदं रजतम्'—इस निषेध के आधार पर

---

१. 'पुरोवर्तिनि रजतार्थिप्रवृत्तिः विशिष्टज्ञानसाध्यप्रवृत्तित्वात् संवादिप्रवृत्तिवत्' ।

सा चार्थापत्तिर्द्विविधा दृष्टार्थापत्तिः श्रुतार्थापत्तिश्चेति। दृष्टार्थापत्तिर्यथा शुक्ताविदं रजतमित्यनुभूयमानस्य रजतस्य नेदं रजतमिति बाध्यत्वं दृष्टं तस्य मिथ्यात्वमन्तरेण सत्यत्वेऽनुपपन्नम् सन्मिथ्यात्वं कल्पयति। न चेदं रजतमिति ज्ञानद्वयम्, पुरोवर्त्तिनि प्रवृत्त्यभावप्रसङ्गात्, रजतस्यासत्त्वे तज्ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वाभावप्रसङ्गात्।

•

तर्हि रजतस्मरणमेव तदस्तीति वाच्यम्, स्मर्य्यमाणस्य देशान्तरस्थत्वेन पुरोवर्त्तिनि प्रवृत्तिनिवृत्त्यभावप्रसङ्गात्[1]। इदमिति ज्ञानस्य प्रवर्त्तकत्वेऽतिप्रसङ्गात्। तस्माद्दोषवशेन स्मर्य्यमाणं रजतं पुरोवर्त्तिनि शुक्त्यादावारोप्य तत्प्रकारकपुरोवर्त्तिविशेषकज्ञानं प्रवर्त्तकमभ्युपगन्तव्यम्। अन्यथा सत्यरजतस्थलेऽप्यसंसर्गाग्रहात्प्रवृत्त्युपपत्तौ विशिष्टज्ञानं प्रवर्त्तकं न सिध्येत्। तस्मादकामेनापि रजतत्वविशिष्टभ्रमानुभवोऽवश्यमभ्युपगन्तव्यः। स च निर्विषयो न सम्भवतीति सविषयो वाच्यः। एवञ्च तस्य बाध्यत्वानुपपत्त्या मिथ्यात्वमिति।

ननु भ्रमविषयरजतमसदेवास्तु। न च तत्र प्रमाणाभावः। असदेव रजतभ्रमादित्यनुभवस्य सत्त्वादित्याशङ्क्याह— **रजतस्येति।** न हि शशशृङ्गं साक्षात्करोमीति कश्चिदनुभवति। अतो रजतस्यासत्त्वे तज्ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वमनुपपन्नमेव। किञ्च-असन्नाम किञ्चिदस्ति न वा? नाद्यः, व्याघातात्। न द्वितीयः, कुतस्तज्ज्ञानम्? तस्माद्रजतस्यासत्त्वमनुपपन्नमिति भावः।

•

'इदं रजतम्'—यह 'विशिष्ट भ्रमज्ञान' ही सिद्ध होता है। यह विशिष्ट भ्रमज्ञान ही 'पुरोवर्ती शुक्ति' में रजतार्थी पुरुष की प्रवृत्ति का कारण है। अख्यातिवादी के द्वारा उक्त जो भेदाग्रह है, वह 'प्रवृत्ति' का कारण नहीं है।

भेदज्ञान के अभावरूप 'भेदाग्रह' को ही यदि 'प्रवृत्ति' के प्रति 'कारण' कहें, तो 'भेदाग्रह' के सर्वदाही विद्यमान रहने से पुरुष की 'प्रवृत्ति' सर्वदा होनी चाहिये।

यदि 'अख्यातिवादी' रजत के 'स्मरणात्मकज्ञान' से 'प्रवृत्ति' का होना कहें तो वह संभव नहीं है। क्योंकि 'स्मृतिज्ञान' का विषयभूत 'रजत', देशान्तर में ही विद्यमान है। वह पुरोवर्ती 'शुक्ति' में विद्यमान नहीं है। उस कारण उस 'स्मृतिज्ञान' से रजतार्थी पुरुष की 'प्रवृत्ति', देशान्तर में ही होगी। अर्थात् पुरोवर्ती 'शुक्ति' में 'प्रवृत्ति' नहीं होगी। किन्तु रजतार्थी की प्रवृत्ति तो पुरोवर्ती 'शुक्ति' में ही हुआ करती है। अतः अख्यातिवादी को भी 'स्मर्यमाण रजत' का पुरोवर्ती 'शुक्ति' में आरोप करके 'रजतप्रकारकं पुरोवर्ति शुक्तिविशेष्यकमिदं रजतम्' इस 'विशिष्टज्ञान' को ही 'प्रवृत्ति' के प्रति 'कारण' मान लेना चाहिये। जिससे 'विशिष्ट भ्रमज्ञान' को निर्विषय होने का प्रसंग नहीं आवेगा, अपितु वह 'सविषय' ही रहेगा। तब 'नेदं रजतम्'—इस ज्ञान से 'रजतरूप विषय' का 'पुरोवर्ती शुक्ति' में ही जो 'बाध' प्रतीत होता है, उस कारण 'रजत' के बाध्यत्व की अनुपपत्ति से 'रजत' में मिथ्यात्व की उपपत्ति हो जाती है।

शून्यवादी माध्यमिक बौद्ध 'भ्रमस्थल' में 'असत्-ख्याति' मानते हैं। शून्यवादी के मत में 'ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय' इत्यादि समस्त पदार्थ, 'असत्' ही हैं। उस कारण 'असत् शुक्ति' में 'असत् रजत' ही, 'इदं रजतम्' इस ज्ञान का 'विषय' होता है।

उसी तरह तान्त्रिक भी 'असत् ख्यातिवादी' हैं। उनका कहना है कि 'शुक्ति' आदि व्यावहारिक पदार्थ, 'असत्' नहीं हैं, किन्तु 'शुक्ति' में जो 'रजत' प्रतीत हो रहा है, वही मात्र 'असत्' है। अतः 'इदं रजतम्'—यह ज्ञान, 'असत् रजत' को ही 'विषय' करता है। शुक्तिज्ञान के पश्चात् उसमें असत् रजत की प्रतीति का अनुभव होने से 'रजत' का 'असत्त्व' ही सिद्ध होता है। उस कारण भ्रमज्ञान के विषयभूत रजतादिकों को असत् ही मानना चाहिये।

किन्तु असत् ख्यातिवादियों का मत भी उचित प्रतीत नहीं हो रहा है। क्योंकि उस रजत को यदि 'असत्' मानते हैं तो 'असत् वस्तु' का कभी भी 'प्रत्यक्ष' नहीं हुआ करता। उस कारण 'असत् रजत' को विषय करनेवाले 'इदं रजतम्'—इस ज्ञान को प्रत्यक्ष' नहीं कह सकेंगे।

यदि यह कहें कि 'असत् वस्तु' का भी 'प्रत्यक्ष' होता है, तो 'शशशृंग, वन्ध्यापुत्र'—इन असत् पदार्थों का भी लोगों को प्रत्यक्ष होना चाहिये। अतः 'रजत' को 'असत्' कहना असंगत है।

किञ्च—'असत्' नाम की कोई वस्तु है या नहीं? यदि 'असत्' कोई 'वस्तु' है, तो उसे 'असत्' कैसे कहा जायगा? और 'असत्' कोई 'वस्तु' नहीं है, तो उसका 'ज्ञान' ही कैसे संभव हो सकता है, क्योंकि ज्ञान तो किसी विषयभूत 'वस्तु' (पदार्थ)

१. प्रवृत्तिरिति समस्तमेव स्यात्।

भवतु तर्हि भ्रमविषयस्य रजतस्याधिष्ठाने सत्त्वं, सदिदं रजतमिति प्रत्यक्षसत्त्वादित्याशङ्क्याह—सत्त्व इति। अयमभिसन्धिः—यद्यधिष्ठाने रजतं सत्स्यान्नेदं रजतमिति बाधो न स्यात्। नहि सतो बाधोऽस्ति; तस्य बाधायोग्यत्वादतो न सद्रजतम्। न च सदिदं रजतमिति प्रत्यक्षं कथमिति वाच्यम्। आरोपितस्य स्वतः सत्ताभावेन प्रत्यक्षस्याधिष्ठानसत्ताविषयत्वादिति।

अस्तु तर्हि भ्रमविषयस्य देशान्तरसत्त्वं; पुरोवर्त्तीन्द्रियसन्निकर्षानन्तरं दोषवशेन देशान्तरीयरजतात्मना पुरोवर्त्ति शुक्त्यादि गृह्यते—इदं रजतमिति इयमेवान्यथा ख्यातिरिति वदन्ति। ततश्च भ्रान्त्या प्रसक्तस्य बाधोऽप्युपपद्यते। नच रजतेन्द्रियसन्निकर्षाभावेन रजतज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वं[1] न स्याद्, विशिष्टप्रत्यक्षे विशेषणसन्निकर्षस्य कारणत्वात्, नच—तत्र ज्ञानमेव सन्निकर्षोऽतिप्रसङ्गादिति—वाच्यम्। विशेषणज्ञानविशेष्येन्द्रियसन्निकर्षविशेषणविशेष्ययोरसंसर्गाग्रहादीनां विशिष्टप्रत्यक्षसामग्रीत्वेन तत्सत्त्वेन

•

का ही हुआ करता है। पदार्थ के ही न रहने पर उसका ज्ञान नहीं होता। अतः भ्रमज्ञान के विषयभूत 'रजत' आदि का 'असत्त्व' कहना असंगत है।

कुछ लोग भ्रमस्थल में 'सत्ख्याति' मानते हैं, उस कारण उन्हें 'सत्ख्यातिवादी' कहते हैं। इनका कहना है कि 'शुक्ति' के आरंभक अवयवों के साथ 'रजत' के आरंभक अवयव, सर्वदा मिले हुए हैं। अतः जैसे शुक्ति के अवयव 'सत्य' हैं, वैसे ही 'रजत' के अवयव भी 'सत्य' ही हैं।

जब कभी दूषित चक्षुरिन्द्रिय का उन अवयवों के साथ संयोग होता है, तभी वे अवयव 'सत्य रजत' की उत्पत्ति करते हैं। अत एव उस रजत की सत्यरूपता को विषय करने वाले 'सत्' का 'इदं रजतम्' इत्याकारक प्रत्यक्ष, लोगों को होता है, और 'शुक्ति' के ज्ञान से उस सत्यरजत का अपने अवयवों में ध्वंस होता है।

किन्तु 'सत्ख्यातिवादियों' का उक्त मत भी उचित प्रतीत नहीं हो रहा है। क्योंकि 'शुक्ति' में यदि 'सत्य रजत' उत्पन्न हुआ होता तो 'नेदं रजतम्'—इस अनुभव से 'शुक्ति' में 'रजत' का बाध, न हुआ होता। क्योंकि 'सत्य वस्तु' का कभी भी 'बाध' नहीं होता। यदि सत्य वस्तु का भी 'बाध' होता हो, तो 'सत्यशुक्ति' का भी 'बाध होना चाहिये। किन्तु 'रजत' का 'बाध' तो सभी को प्रत्यक्ष है। अतः उस 'रजत' में सत्यरूपता का होना संभव नहीं है।

किञ्च—'इदं रजतम्'—यह प्रत्यक्षज्ञान, 'सत् रजत' को 'सत्ता' को विषय नहीं करता, किन्तु उस रजत के 'अधिष्ठान' की 'सत्ता' को ही विषय करता है। अतः 'इदं रजतम्'—इस प्रत्यक्षज्ञान के आधार पर भी उस रजत की सत्यरूपता सिद्ध नहीं होती।

किञ्च—'शुक्ति' के अवयवों के साथ 'रजत' के अवयव सर्वदा मिले रहते हैं—यह कहना भी असंगत है। क्योंकि उस रजत की उत्पत्ति होने से पूर्व, जैसे उस 'शुक्ति' के अवयवों का प्रत्यक्ष होता है, वैसे ही उस 'रजत' के अवयवों का भी प्रत्यक्ष होना चाहिये था, किन्तु होता नहीं है।

किञ्च—'रजत'—तैजस द्रव्य है। उस तैजस द्रव्य का अग्नि के संयोग से 'नाश' नहीं होता। अन्यथा—अग्नि के अत्यधिक संयोग से शुक्ति के भस्म होने पर उसमें रजत के 'अवयव' मिलने चाहिए, किन्तु मिलते नहीं हैं। जहाँ गुंजापुञ्ज में 'अग्नि' का भ्रम होता है, वहाँ अग्नि से उस गुंजापुंज का नाश होना चाहिये। ऐसे अनेक दूषण 'सत्ख्यातिवाद' में प्राप्त होते हैं। इसलिये 'सत्ख्यातिवाद' भी अत्यन्त असंगत है।

क्षणिक विज्ञानवादी योगाचार बौद्ध, भ्रमस्थल में 'आत्मख्याति' मानते हैं। उनका कहना है कि शरीर के भीतर जो 'क्षणिक विज्ञान' नाम का ज्ञान है, वही 'आत्मा' है। उस 'विज्ञानरूप आत्मा' से भिन्न अन्य कोई भी 'आन्तर' या 'बाह्य'-पदार्थ नहीं है। अपितु सभी पदार्थ उस 'विज्ञान' के ही आकार हैं। उस कारण 'शुक्ति' में जो 'रजत' की प्रतीति होती है, वह 'रजत' भी, उस आन्तर विज्ञान का ही धर्म है। वह 'आन्तर रजत' ही 'दोष' के प्रभाव से बाह्य की तरह प्रतीत होता है। और 'नेदं रजतम्'—इस ज्ञान से उस 'रजत' का स्वरूपतः बाध नहीं होता, किन्तु 'आन्तर रजत' में 'इदन्तारूप' बाह्यता का ही बाध होता है।

किन्तु यह 'आत्मख्यातिवादी' का मत भी उचित-प्रतीत नहीं हो रहा है। क्योंकि उन 'रजतादिपदार्थों' को आन्तर कहने में कोई प्रमाण तथा युक्ति नहीं है। सभी लोग अपनी आँखों से उन 'रजतादिपदार्थों' को बाह्य देश में ही देखते हैं। केवल

१. प्रत्यक्षाभाव इति इत्यपि पाठः।

रजतप्रत्यक्षसम्भवाद्रजतेन्द्रियसन्निकर्षस्याप्रयोजकत्वादन्यथा सोऽयं देवदत्त इति प्रत्यभिज्ञानं प्रत्यक्षं न स्यात् तत्ताया अतीतत्वेन विशेषणसन्निकर्षाभावात्। न चेष्टापत्तिः, अनुभवविरोधात्। अत एव ज्ञानस्य सन्निकर्षत्वमभ्युपगन्तव्यम्। नच तत्तांशे प्रत्यभिज्ञानस्य स्मृतित्वान्न सन्निकर्षापेक्षेति वाच्यम् जातिसाङ्कर्य्यप्रसङ्गात्। तस्माद्विशेषणज्ञानादिविशिष्टप्रत्यक्षसामग्र्या रजतविशिष्टप्रत्यक्षसम्भवेन देशान्तरीयरजतत्वप्रकारकपुरोवर्त्तिविशेष्यकमिदं रजतमिति ज्ञानमन्यथाख्यातिरेव। अतो न भ्रमविषयस्य मिथ्यात्वमित्याशङ्कयाह—देशान्तरेति। भ्रमविषयरजतस्य देशान्तरसत्त्वे तत्सन्निकर्षाभावेन तज्ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वं न स्यादित्यक्षरार्थः। न च विशेषणज्ञानविशेष्येन्द्रियसन्निकर्षादिविशिष्टप्रत्यक्षसामग्र्या तत्प्रत्यक्षत्वं[1] स्यात्; तस्याः प्रत्यक्षमात्रे कारणत्वानवधारणात्। न च सोऽयं देवदत्त इति (प्रत्यभिज्ञानं) प्रत्यक्षं न स्याद्विशेषणसन्निकर्षाभावादिति वाच्यम्, तत्तांशेऽप्रत्यक्षत्वस्येष्टत्वात्तत्तांशे ज्ञानस्य स्मृतित्वात्। न च जातिमाङ्कर्य्यप्रसङ्ग इति वाच्यम् तस्यादोषत्वात्, अविद्यातिरिक्तजड़जातेर्निरस्तत्वाच्च।

एवं तर्हि ज्ञानमेव तत्सन्निकर्षोऽस्त्विति चेन्न अतिप्रसङ्गात्। तथाहि—अनुमानादिस्थलेऽपि विशेष्येन्द्रियसन्निकर्ष-विशेषणज्ञानादिविशिष्टप्रत्यक्षसामग्रीसत्त्वेन पर्वते वह्निप्रत्यक्षमेव स्यात्। किञ्च यदवच्छेदेन[2] यदनुभूतं तदवच्छेदेन तज्ज्ञानं

•

'सुख-दुःखादि' पदार्थों की ही 'आन्तरप्रतीति होती है। यदि सुख-दुःखादिकों के समान वे 'रजतादि' पदार्थ भी 'आन्तर' होते तो 'चक्षुरादि इन्द्रियों' के विना भी उनका प्रत्यक्ष होना चाहिये था, किन्तु होता नहीं। अतः 'रजतादि' पदार्थों को 'बाह्य' ही मानना चाहिये।

किञ्च—'इदमस्तु सन्निकृष्टे'—उक्ति के अनुरोध से सन्निहित वस्तु के लिये 'इदम् 'का प्रयोग किया जाता है। यदि—'नेदं रजतम्' से 'इदन्ता' का निषेध माना जाय तो 'रजत' में दूरता (असन्निकृष्टता) ही प्राप्त होगी। क्योंकि उसमें 'सन्निहित विज्ञानरूपता' प्राप्त नहीं है। उस कारण 'नेदं रजतम्'—यह ज्ञान, उस 'रजत' की 'इदन्तामात्र' का निषेध करता है—यह कथन मिथ्या है।

नैयायिक लोग 'भ्रमस्थल' में 'अन्यथाख्याति' मानते हैं। उनका कहना है कि 'इदं रजतम्'—इस भ्रमज्ञान का विषय जो रजत है, वह रजत, उस पुरोवर्ती शुक्ति में नहीं है, किन्तु वह 'रजत' तो बाजार (हट्ट) आदि देशान्तर में ही स्थित है। उस वास्तविक (सत्य) रजत के अनुभवजन्य संस्कारवाले पुरुष के दोषयुक्त चक्षुरिन्द्रिय का जब रजत के सदृश पुरोवर्ती शुक्ति के साथ 'संयोगसम्बन्ध' होता है, तभी उस 'सादृश्यदर्शन' के कारण उद्‌बुद्ध हुए (प्रबुद्ध = उभर आये) संस्कारों से उस पुरुष को देशान्तरवर्ती 'रजत' की 'स्मृति' हो आती है, तदनन्तर दोषवश, उसे 'पुरोवर्ती शुक्ति' ही उस 'देशान्तरीय रजत' के रूप में दिखाई देने लगती है। अर्थात् उस स्मृति ज्ञान के विषयभूत 'रजत' का 'रजतत्वधर्म' उस 'पुरोवर्ती शुक्ति' में 'इदं रजतम्'—इस प्रकार से प्रत्यक्ष प्रतीत होने लगता है। इसी को 'अन्यथाख्याति' कहते हैं। 'अन्य वस्तु' की 'अन्यरूप' से प्रतीति होने का नाम ही 'अन्यथाख्याति' है। जैसे 'पुरोवर्ती शुक्ति' की प्रतीति 'रजतत्व' रूप से होती है, 'शुक्तित्व' रूप से नहीं। तथा 'पुरोवर्ती रज्जु' की 'सर्पत्व' रूप से प्रतीति होती है, 'रज्जुत्व' रूप से नहीं। इस प्रकार के 'भ्रान्तिज्ञान' से पुरोवर्ती 'शुक्ति' आदि में प्रतीयमान जो रजतादिक हैं, उनका 'नेदं रजतम्' इस ज्ञान से निषेध होता है।

शङ्का—देशान्तरवर्ती 'रजत' का यदि पुरोवर्ती 'शुक्ति' में भान (प्रतीति) मानेंगे तो 'इदं रजतम्'—इस भ्रमज्ञान के 'रजत अंश' का 'प्रत्यक्ष' नहीं हो पायगा। क्योंकि 'विशिष्ट प्रत्यक्ष' में 'विशेषण-विशेष्य' दोनों के साथ 'इन्द्रिय' का सन्निकर्ष होना ही कारण हुआ करता है। जैसे—'दण्डीपुरुष' इस 'विशिष्ट प्रत्यक्ष' में 'दण्ड' रूप विशेषण के साथ, तथा 'पुरुष' रूप विशेष्य के साथ 'चक्षुरिन्द्रिय' का 'संयोग—सन्निकर्ष (सम्बन्ध) ही कारण होता है। उसी प्रकार पुरोवर्ती 'शुक्ति' रूप विशेष्य के साथ तो 'चक्षुरिन्द्रिय' का संयोग सम्बन्ध है, किन्तु देशान्तरवर्ती 'रजत' रूप विशेषण के साथ, 'चक्षुरिन्द्रिय' का कोई भी सम्बन्ध नहीं है। उस कारण 'रजत' अंश में 'इदं रजतम्' इस भ्रमज्ञान को 'प्रत्यक्ष' नहीं कह सकेंगे। परन्तु नैयायिक विद्वान् तो 'इदं रजतम्'—इस भ्रमज्ञान को 'रजत अंश' में प्रत्यक्ष मानते हैं।

समा०—नैयायिक विद्वान् उक्त शंका का समाधान यह देते हैं कि 'विशिष्ट प्रत्यक्ष' के प्रति हमलोग, 'विशेषण' और 'इन्द्रिय' के सन्निकर्ष (सम्बन्ध) को 'कारण' नहीं मानते। अपितु 'विशेष्य' के साथ 'इन्द्रिय' के सम्बन्ध को तथा 'विशेषण ज्ञान'

---

१. प्रत्यक्षं सम्भवति विशिष्टप्रत्यक्षमात्रे विशेषणसन्निकर्षस्य कारणत्वावधारणादिति पाठान्तरम्।

२. ग, यदवच्छेदेन यदनुभूतं तदवच्छेदेन तद्ज्ञानमिति पाठः।

प्रत्यासत्तिरिति वाच्यम्। शुक्तित्वावच्छेदेन रजतस्य पूर्वमननुभूतत्वेन कथं तज्ज्ञानं प्रत्यासत्तिः। न च दोष एव प्रत्यासत्तिरस्त्विति वाच्यम्। स्वतन्त्रान्वयव्यतिरेकाभ्यां भ्रमकारणत्वेन क्लृप्तस्य तत्त्वे मानाभावात्। किञ्च विशेष्येन्द्रियसन्निकर्षत्वेन कारणत्वे गौरवाद्-विषयेन्द्रियसन्निकर्षत्वेन तद्वाच्यम्। तत्रापि यत्किञ्चिद्विषयेन्द्रियसन्निकर्षत्वेन कारणत्वेऽतिप्रसङ्गात्, यावद्विषयेन्द्रियसन्निकर्षत्वेन प्रत्यक्षकारणत्वमवश्यं वक्तव्यम्। तथा च विशेषणसन्निकर्षोऽपि कारणं भवत्येव। अन्यथोष्णीषाच्छादिते कुण्डलिनि कुण्डलविशिष्ट-प्रत्यक्षत्वप्रसङ्गः। न चेष्टापत्तिः अननुभवात्। ततश्च भ्रमविषयस्य देशान्तरसत्त्वे तदिन्द्रियसन्निकर्षाभावेन तज्ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वं न सम्भवत्येव। न चेष्टापत्तिरित्याह—**रजतमिति**।

ननु एवं सति पुरोवर्त्तिनीदं रजतमिति विशिष्टप्रत्यक्षस्य का गतिस्तत्र विषयाभावादित्याशङ्क्याह—**तस्मादिति**। यस्मा-त्कारणाद्रजतस्यासत्त्वं, भ्रमाधिष्ठाने सत्त्वं, देशान्तरसत्त्वञ्च नोपपद्यते उक्तदोषवशात् तस्मादित्यर्थः। किञ्च भ्रमविषयस्य देशान्तर-सत्त्वे रजतार्थिनस्तत्रैव प्रवृत्तिः स्यात्, ज्ञानस्य स्वविषये प्रवर्त्तकत्वनियमात्। न च रजतज्ञानं शुक्तिमपि विषयीकरोतीति, पुरो-वर्त्तिनि रजतार्थी प्रवृत्तिरुपपद्यत इति वाच्यम्; अन्याकारज्ञानस्यान्यविषयत्वे संविद्विरोधात्।

●

को और विशेषण-विशेष्य' दोनों के 'असम्बन्ध' के 'अग्रहण' आदि सामग्री को ही कारण मानते हैं। यह सम्पूर्ण कारण-सामग्री 'भ्रमस्थल' में विद्यमान है ही। पुरोवर्ती 'शुक्ति' रूप विशेष्य के साथ 'चक्षुरिन्द्रिय' का संयोग सम्बन्ध भी है। तथा 'रजत' रूप विशेषण का 'स्मृतिरूप ज्ञान' भी है। तथा दोषवश उन 'विशेषण-विशेष्य' दोनों के 'असन्बन्ध' का 'अग्रहण' भी है। उस कारण सम्पूर्ण सामग्री के विद्यमान रहने से 'इदं रजतम्'—इस 'रजत' विषयक भ्रमज्ञान को 'प्रत्यक्ष' कहने में कोई अनुप-पत्ति नहीं है।

किञ्च—'रजत' रूप विशेषण के साथ 'चक्षुरिन्द्रिय का सन्निकर्ष' स्वीकार करना व्यर्थ भी है, कोई प्रयोजन नहीं है। यदि 'विशेषण' और 'इन्द्रिय के सन्निकर्ष को 'विशिष्ट प्रत्यक्ष' के प्रति नियमतः कारण मानेंगे तो 'सोऽयं देवदत्तः'—इस 'प्रत्यभिज्ञा' को 'प्रत्यक्ष' नहीं कह सकेंगे। क्योंकि 'तत्देश-कालविशिष्टत्व' रूप 'तत्ता' विशेषण तो 'अतीत' है, उसकारण 'विशेषण' के साथ 'चक्षुरिन्द्रिय' का सन्निकर्ष होना संभव नहीं है।

किञ्च—'विशेषणज्ञान' को 'विशिष्ट प्रत्यक्ष' के प्रति यदि कारण कहें तो उस 'तत्ता' रूप विशेषण का स्मृतिज्ञान (स्मरण) वहाँ विद्यमान ही है। तथा उस 'देवदत्त' रूप विशेष्य के साथ 'चक्षुरिन्द्रिय' का 'संयोग सम्बन्ध' भी विद्यमान है। अतः 'प्रत्यभिज्ञा' को 'प्रत्यक्ष' कहने में कोई अनुपपत्ति नहीं है।

शङ्का—'सोऽयं देवदत्तः'—इस प्रत्यभिज्ञा-ज्ञान का 'देवदत्त' नामक 'पुरुष' अंश ही 'प्रत्यक्ष' है। उसका जो विशेषण रूप 'तत्ता' अंश है। वह तो प्रत्यक्ष नहीं है, अपितु वह 'स्मृति' रूप है। और 'स्मृतिज्ञान' को 'इन्द्रियार्थसन्निकर्ष' की अपेक्षा भी नहीं हुआ करती।

समा०—'सोऽयं देवदत्तः'—इस ज्ञान के 'तत्ता' अंश को यदि 'स्मृति' रूप मानेंगे, तो 'प्रत्यभिज्ञा' रूप 'एक ही ज्ञान' में 'प्रत्यक्षत्व' और 'स्मृतित्व'—इन दोनों धर्मों का 'सांकर्य' होगा। और 'सांकर्यदोष', 'जातिबाधक' होने से 'प्रत्यक्षत्व' और 'स्मृतित्व'—इन दोनों धर्मों को 'जाति' रूप नहीं कह सकेंगे। तब 'सोऽयं देवदत्तः'—इस ज्ञान के 'तत्ता' अंश को भी 'प्रत्यक्ष' नहीं कह पायेंगे।

एवं च 'इन्द्रियसन्निकर्ष' के विना ही जैसे 'तत्ता' अंश का प्रत्यक्ष होता है, वैसे ही 'इन्द्रियसन्निकर्ष' के विना ही देशान्तरवर्ती 'रजत' का, 'पुरोवर्ती शुक्ति' में 'इदं रजतम्'—इस 'विशिष्टभ्रम' का प्रत्यक्ष हो सकता है।

अथवा—देशान्तरवर्ती 'रजत' के साथ 'चक्षुरिन्द्रिय' का 'रजतविषयक स्मृतिज्ञान' रूप 'अलौकिक सम्बन्ध' है, और 'पुरोवर्ती शुक्ति' के साथ 'चक्षुरिन्द्रिय' का संयोगरूप 'लौकिक सम्बन्ध' है, उस कारण 'इदं रजतम्'—इस भ्रमज्ञान को 'रजत-अंश' में 'प्रत्यक्ष' कह सकते हैं।

नैयायिकों ने (१) संयोग, (२) संयुक्त-समवाय, (३) संयुक्तसमवेत-समवाय, (४) समवाय, (५) समवेत-समवाय और (६) विशेषणता इन छह (षट्) सन्निकर्षों को 'लौकिक सन्निकर्ष' कहा है। और (१) सामान्य-लक्षण, (२) ज्ञान-लक्षण, और (३) योगजधर्मलक्षण—इन तीन सन्निकर्षों को 'अलौकिक सन्निकर्ष कहा है।

एवं च 'इदं रजतम्'—यह भ्रमज्ञान 'अन्यथाख्याति' रूप ही है। उस कारण भ्रमज्ञान के विषयभूत 'रजत' को 'मिथ्या' नहीं कह सकते।

ननु ज्ञानं यत्रेष्टतावच्छेदकवैशिष्ट्यं विषयीकरोति तत्रैव पुरुषं प्रवर्त्तयतीति नियमाद्भ्रान्तिज्ञानमपि शुक्तौ रजतत्ववैशिष्ट्यं विषयीकुर्वत् रजतार्थिनं तत्र प्रवर्त्तयतीत्यदोष इति चेन्न, रजतत्वस्य स्वतन्त्रोपस्थित्यभावेन शुक्तौ तदारोपानुपपत्तेः। नहि पूर्वं रजतत्वं विशेष्यत्वेनानुभूतं, येन तस्य स्वतन्त्रोपस्थितिः स्यात्, किन्तु रजतविशेषणत्वेन। तथाच तस्य स्वातन्त्र्येणानुपस्थितत्तया तत्संसर्गारोपोऽनुपपन्न एव। न च रजतोपस्थितिसामग्र्यां सत्यां रजतत्वस्य स्वातन्त्र्येणोपस्थितिरुपपद्यते, रजतत्वस्य जातित्वेन तत्परतन्त्रत्वात्। अन्यथा संसर्गाभावधीसमये प्रतियोग्यारोपवत् प्रतियोगितावच्छेदकस्याप्यारोपसम्भवेनान्योन्याभावधीरेव स्यान्न संसर्गाभावधीः। तस्माच्छुक्तौ रजतत्वसंसर्गारोपो न सम्भवत्येव। रजततादात्म्यारोपे तु आरोप्यस्य देशान्तरे सत्त्वेन तत्रैव प्रवृत्तिः स्यात्। तस्मादपि भ्रान्तिकाले रजतं शुक्तावुत्पद्यत एवेत्यभ्युपगन्तव्यम्। किञ्चैवमन्यथाख्यातिपक्षे त्वारोप्यस्य

*

किन्तु नैयायिकों का उपर्युक्त कथन भी उचित प्रतीत नहीं हो रहा है। क्योंकि 'इदं रजतम्'—इस भ्रमज्ञान के विषयभूत रजत की यदि देशान्तर में स्थिति मानते हैं, तो उस 'रजत' के साथ 'चक्षुरिन्द्रिय का 'संयोगसन्निकर्ष' होना संभव नहीं है। और इन्द्रिय से 'असम्बद्धवस्तु' का 'प्रत्यक्ष' होता नहीं है। उस कारण भ्रमज्ञान के समय रजत की प्रतीति को 'प्रत्यक्ष' नहीं कह सकेंगे।

किन्तु—'इदं रजतम्'—यह भ्रमज्ञान होने के पश्चात् 'रजतं साक्षात्करोमि'—यह अनुभव, लोगों को होता है। इस अनुभव के आधार पर 'रजतज्ञान' की प्रत्यक्षरूपता ही सिद्ध होती है।

किञ्च—नैयायिकों ने विशिष्ट प्रत्यक्ष के प्रति 'विशेषणज्ञान', तथा 'विशेष्य इन्द्रियसन्निकर्ष' आदि सामग्री को कारण बताया था, किन्तु वह भी संभव नहीं है। क्योंकि 'दण्डी पुरुषः' इत्यादि विशिष्ट प्रत्यक्षों में नैयायिकोक्त 'सामग्री' का कारण होना, दृष्टिगोचर नहीं है। किन्तु 'विशेषण' और 'विशेष्य'—दोनों के साथ 'इन्द्रिय सन्निकर्ष' का होना ही 'विशिष्ट प्रत्यक्ष' में कारण होता देखा गया है।

'सोऽयं देवदत्तः'—यह 'प्रत्यभिज्ञा-ज्ञान' भी, केवल 'देवदत्त' अंश में ही 'प्रत्यक्ष' रूप है। 'तत्ता'—इस 'विशेषण अंश' में 'प्रत्यक्षरूप' नहीं है, किन्तु 'तत्ता'—इस 'विशेषण अंश' में वह 'स्मृतिरूप' ही है।

'सोऽयं देवदत्तः'—इस प्रत्यभिज्ञा-ज्ञान के 'तत्ता' अंश की स्मृतिरूपता मानने में नैयायिकों ने जो 'प्रत्यक्षत्व' और 'स्मृतित्व'—इन दो धर्मों का जातिबाधक सांकर्य दोष कहा था, वह भी असंगत है। क्योंकि वेदान्तसिद्धान्त में 'अविद्या' के अतिरिक्त किसी 'जडजाति' को नहीं माना जाता। वह 'अविद्या' ही जिस-जिस कार्य में अनुगत होकर तत्तत् जाति के रूप में प्रतीत हुआ करती है। उस कारण वेदान्तसिद्धान्त में 'जातिसांकर्य' के दोष की भी संभावना नहीं है।

नैयायिकों ने 'देशान्तरवर्ती रजत' के साथ 'चक्षुरिन्द्रिय' का जो 'ज्ञानरूप सन्निकर्ष' माना है, वह भी असंगत है। क्योंकि 'ज्ञान' को ही यदि 'चक्षुःसन्निकर्ष' मान लें, तो जहाँ पर्वत में 'वह्नि' का 'अनुमितिज्ञान' होता है, वहाँ भी 'वह्नि' का 'प्रत्यक्षज्ञान' ही कहना होगा। 'पर्वतो वह्निमान्'—इस ज्ञान में 'पर्वत' के साथ 'चक्षुरिन्द्रिय' का 'संयोग सम्बन्ध' है, और 'वह्नि' के साथ उस 'वह्नि' का 'स्मृतिज्ञान' रूप सम्बन्ध है। वह 'स्मृतिज्ञानरूप सम्बन्ध', 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य' होने से 'उस वह्निज्ञान' को 'प्रत्यक्षरूप' ही कहना होगा। तब तो 'अनुमान प्रमाण' का ही लोप हो जायगा। अतः 'ज्ञान' को 'इन्द्रियसन्निकर्षरूप' कहना असंगत है।

एक और भी बात है—जिस अवच्छेद से जिसका अनुभव हुआ है उसी अवच्छेद से उसका ज्ञान प्रत्यासत्ति कहा जा सकता है। शुक्तित्व के अवच्छेद से रजत का पूर्व में अनुभव हुआ नहीं तो उसका ज्ञान प्रत्यासत्ति होगा कैसे? 'दोष' ही प्रत्यासत्ति है—यह भी कह नहीं सकते, क्योंकि स्वतन्त्र अन्वय-व्यतिरेक से ही भ्रम की कारणरूप वस्तु को दोष मानने में कोई प्रमाण नहीं है।

किं च वादी ने विशिष्टप्रत्यक्ष की सामग्री में 'विशेष्य' से इन्द्रियसम्बन्ध को गिना था, वह भी गौरवग्रस्त है। अतः 'विषय' से इन्द्रियसम्बन्ध, को ही सामग्री में गिनना चाहिये। उसमें भी यत्किंचिद् विषय से सम्बन्ध को कारण मानने पर अतिप्रसंग होगा (अस्वीकार्य परिस्थिति मान लेनी पड़ेगी)। अतः यावद्-विषय से इन्द्रियसम्बन्ध को ही प्रत्यक्ष के प्रति कारण अवश्य स्वीकारना होगा। तब तो 'विशेषण' से सम्बन्ध भी प्रत्यक्ष में कारण होगा ही। अन्यथा पगड़ी से जिसके कुण्डल ढके हुए हैं उस व्यक्ति का भी यह कुण्डल पहने हुए है—ऐसा प्रत्यक्ष होने लगेगा, जो मान नहीं सकते, क्योंकि ऐसा किसी को अनुभव नहीं होता है।

सत्त्वे बाधाभावप्रसङ्गात्; देशान्तरसत्त्वे रजतेन्द्रियसन्निकर्षाभावेन प्रत्यक्षत्वाभावप्रसङ्गात्, रजतं साक्षात्करोमीत्यनुभवस्य सर्वानुभवसिद्धत्वात् । तस्माद्भ्रमकाले शुक्तिकाशकले रजतमुत्पद्यत इत्यङ्गीकर्त्तव्यम् ॥ ३२ ॥'

रजतोत्पादकलौकिकसामग्र्यभावेऽपि पुरोवर्त्तीन्द्रियसन्निकर्षानन्तरमिदमाद्याकारवृत्तौ सत्यामिदमवच्छिन्नचैतन्यनिष्ठा

•

देशान्तरसत्त्वेन बाधोऽपि न स्यात् । ज्ञानस्य स्वरूपेण बाधायोगेन विषयबाधात्तस्य वक्तव्यतया विषयस्यान्यत्र विद्यमानत्वेन तद्बाधानुपपत्तेः । न च तद्वैशिष्ट्यमेव बाध्यत इति वाच्यम् । तस्यासद्रूपतया ख्यातिबाधयोरसम्भवात् । तस्मादपि भ्रमविषयं[1] रजतं तत्काले जायते तत्रैवेति स्वीकर्त्तव्यम् ॥ ३२ ॥

नन्वेवं रजतोत्पादकसामग्र्या रजतावयवादेरसम्भवात् कथं भ्रमकाले शुक्त्यादौ रजताद्युत्पत्तिः ? न चादृष्टमेव तदुत्पादकमिति वाच्यम्; दृष्टसामग्रीमन्तरेण तस्य तदयोगाद् अन्यथातिप्रसङ्गात्, इत्यत आह—रजतोत्पादकेति । अयम्भावः—नहि

•

किञ्च—'इदं रजतम्'—इस भ्रमज्ञान के 'विषयभूत रजत' की यदि 'देशान्तर' में स्थिति कहें तो 'रजतार्थी पुरुष' की 'देशान्तर' में ही 'प्रवृत्ति' होनी चाहिये, 'पुरोवर्ती विषय' में प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये । क्योंकि 'ज्ञान' का यह नियम है कि जहाँ भी उसका अपना 'विषय' होता है, वहीं पर वह, नियमतः पुरुष को 'प्रवृत्त' करता है । अतः 'देशान्तर में स्थित रजत', 'पुरोवर्ती शुक्ति' में प्रतीत होता है—यह अन्यथावादियों का कथन नितान्त असंगत है ।

इस प्रकार भ्रमस्थल में (१) अख्याति, (२) असत्ख्याति, (३) सत्ख्याति, (४) आत्मख्याति, (५) अन्यथाख्याति—इन पाँच ख्यातियों का होना सम्भव न रहने से 'षष्ठी अनिर्वचनीय ख्याति' को ही स्वीकार करना चाहिये । अर्थात् भ्रमकाल में 'पुरोवर्ती शुक्ति' में 'अनिर्वचनीय रजत' उत्पन्न होता है यह कथन ही उचित होगा ।

भ्रम का विषय जहाँ दीख रहा है वहाँ उसे न मानकर अन्य स्थान पर उसे मानना ठीक नहीं क्योंकि तब उसे उठाने के लिये जाने वाला व्यक्ति उस अन्य स्थान की ओर ही जाता, न कि पुरोवर्ती विषय की ओर—यह कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि भ्रमभूत रजतज्ञान, सींप को भी विषय कर रहा है। इसलिए पुरोवर्ती-विषयक प्रवृत्ति हुई, क्योंकि अन्य आकार का ज्ञान अन्य को विषय कर ही नहीं सकता अन्यथा 'ज्ञान-ज्ञेय-व्यवस्था ही चौपट हो जायेगी ।

यदि कहें कि ज्ञान, इष्टतावच्छेदकवैशिष्ट्य को जहाँ विषय करता है उसी ओर पुरुष को प्रवृत्त कराता है—यह नियम है, तथा भ्रान्तिज्ञान सींप में रजत्ववैशिष्ट्य को विषय करता ही है, अतः रजत चाहने वाले को उधर प्रवृत्त करा देगा—तो वह भी अनुचित होगा। जिसका वैशिष्ट्य, भ्रम से सींप में भासता है, यह मानकर उक्त उपपत्ति दी है। किंतु वास्तविकता यह है कि रजतत्व को (रजत के बिना) स्वतंत्र उपस्थिति ही नहीं होती कि सींप पर उसका आरोप हो ! रजतत्व विशेष्य रूप से पहले अनुभव में आया ही नहीं है, जिससे वह स्वतंत्र रूप से उपस्थित हो सके। वह तो रजत के विशेषण रूप से ही ज्ञात है। अतः उसके संबन्ध का आरोप ही असंगत है। रजत की उपस्थिति होने के लिये पर्याप्त कारणों के रहते रजतपरतन्त्र रजतत्व की स्वतंत्र उपस्थिति क्योंकर होगी ? अन्यथा संसर्गाभाव के ज्ञान के समय प्रतियोगी के आरोप (प्रसंजन) की तरह प्रतियोगितावच्छेदक का भी आरोप संभव होने से अन्योन्याभाव का ही ज्ञान होगा न कि संसर्गाभाव का ! इसलिये सींप में रजतत्व के सम्बन्ध का आरोप नहीं हो सकता। पारिशेष्यात् रजत का ही तादात्म्य समारोप होगा और तब आरोप्य रजत स्थानान्तर में होने से उधर ही प्रवृत्ति होने लगेगी, न कि पुरोवर्ती की ओर। इस कारण भी भ्रमकाल में सींप में चाँदी उत्पन्न होती है यह मानना ही पड़ेगा।

अन्यथा ख्याति में एक और भी आपत्ति है—यदि 'आरोप्य' स्थानान्तर में सत् है तो उसका बाध कैसे होगा ? ज्ञान का स्वरूप से तो बाध होता नहीं। विषयबाध ही ज्ञान का बाध कहलाता है। विषय जब सत् ही है तो उसका बाध नहीं होगा। यदि कहो कि आरोप्य के वैशिष्ट्य का ही बाध होता है, तब भी तुम्हारे मत में अनुपपत्ति बनी रहेगी। क्योंकि वह वैशिष्ट्य असत् होने से न तो उसका भ्रमकाल में भी ज्ञान हो सकता है, अत एव उसका बाध नहीं हो सकता। इसलिये भी भ्रम का विषय रजत, भ्रमकाल में वहीं उत्पन्न होता है यह स्वीकारना आवश्यक है ॥ ३२ ॥

शङ्का—लोक प्रसिद्ध 'रजत' की उत्पत्ति 'अवयवादि' सामग्री से होती है, वह 'अवयवादि सामग्री उस 'शुक्तिदेश' में नहीं है। अतः उस 'शुक्ति' में 'रजत' की उत्पत्ति का होना संभव नहीं है।

यदि यह कहें कि 'पुण्य-पाप' रूप 'अदृष्ट' ही उस 'रजत' की उत्पादक सामग्री है, तो वह भी संभव नहीं है। क्योंकि-

---

१. विषयोऽस्यास्तीत्यपि विषयो विषयीत्यर्थः । तस्माद् भ्रमो विषयो यस्य तद्रजतं भ्रमविषयमिति ज्ञेयम् ।

शुक्तित्वप्रकारिकाऽविद्या; सादृश्यदर्शनसमुद्बुद्धसंस्कारसहकृता, रजताकारेण तज्ज्ञानाकारेण च परिणमते। तस्य च मायाकार्यत्वान्मिथ्यात्वम्। एवं दृष्टार्थापत्तिर्निरूपिता।

●

रजतोत्पादकलौकिकसामग्री भ्रमविषयरजतोत्पादिका; किन्तु तद्विलक्षणैव। तथाहि अधिष्ठानेनेन्द्रियसन्निकर्षानन्तरमिदमाकारवृत्तौ चाकचिक्याकारवृत्तौ च सत्यामन्तःकरणस्य बहिर्निर्गतस्य सादृश्यसन्दर्शनसमुद्बुद्धसंस्कारदोषसहकारिसम्पन्नमिदमवच्छिन्नचैतन्यनिष्ठं शुक्तित्वप्रकारकमज्ञानं रजताकारेण तज्ज्ञानाकारेण च परिणमते।

नन्वज्ञानं रजताकारेण परिणमते इत्यस्तु, तज्ज्ञानाकारेण परिणमते इत्यनुपपन्नं, प्रयोजनाभावात्। न च तस्य तद्व्यवहार एव प्रयोजनमिति वाच्यम्। तस्य साक्षिण्यध्यस्तत्वेन सुखादिवत्तेनैव रजतव्यवहारोपपत्तेः। न च रजतस्यापरोक्षत्वसिध्यर्थमविद्यावृत्त्यभ्युपगम्यत इति वाच्यम्। अनावृतसंवित्तादात्म्यात्सुखादिवदविद्यावृत्तिं विनापि तदुपपत्तेः। न चानिर्वचनीयरजतानुभवस्य साक्षिणो नित्यतया संस्कारजनकत्वासम्भवेन रजताकाराऽविद्यावृत्त्यभ्युपगमे तदुपहितत्वेन रूपेण साक्षिणो नाशसम्भवेन संस्कारोत्पत्त्या रजतस्मृतिर्भवतीति वृत्त्यभ्युपगम इसि वाच्यम्। इदमाकारवृत्त्युपहितत्वेन रूपेण साक्षिणो नाशसम्भवेन संस्कारोत्पत्त्या स्मृत्युपपत्तेः। अथवा रजतनाशाद्वा तदुपहितनाशसम्भवेन सुखादिनाशात्तदुपहितनाशवत्संस्कारोऽस्तु। तस्माद्रजताकाराऽविद्यावृत्त्यभ्युपगमो निष्प्रयोजन इति।

●

'अवयवादि' दृष्ट सामग्री के बिना 'केवल अदृष्ट', किसी कार्य को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं है। यदि 'दृष्ट सामग्री' के बिना ही 'केवल अदृष्ट' किसी कार्य को उत्पन्न करता हो, तो 'मृत्तिका, कुलाल आदि' दृष्ट सामग्री के बिना ही 'केवल अदृष्ट' से 'घटादि' कार्यों की उत्पत्ति होनी चाहिये।

रजत को उत्पन्न करने वाली लौकिक सामग्री न होने पर भी पुरोवर्ती वस्तु से इन्द्रिय सम्बन्ध होने के बाद 'यह'—इत्यादि आकार की वृत्ति बनने पर 'यह' से अवच्छिन्न चेतन में स्थित जो शुक्तित्वप्रकार वाली अविद्या है वह सदृशता दीखने से उद्बोधित रजत संस्कारों की सहायता पाती है और रजत के तथा उसके ज्ञान के आकार में परिणत हो जाती है। क्योंकि वह रजत (उक्त प्रकार से अविद्या शब्दित) माया का कार्य है इसलिये वह मिथ्या होता है।

समा०—'लोकप्रसिद्ध रजत' की उत्पादक जो 'अवयवादिरूप लौकिक सामग्री है, वह उस 'भ्रम के विषयभूत रजत' की उत्पादक नहीं होती, किन्तु उस लौकिक सामग्री से 'विलक्षण सामग्री' ही उस 'रजत' की उत्पादक होती है। तथाहि—'सत्य रजत' के अनुभवजन्य संस्कारवाले पुरुष के 'चक्षुरिन्द्रिय' का जब 'पुरोवर्ती शुक्ति' के साथ 'संयोग सम्बन्ध' होता है, तभी उस 'चक्षुरिन्द्रिय' के द्वारा बाहर निकले हुए 'अन्तःकरण' को उस 'शुक्ति' की 'इदमाकार' तथा 'चाकचिक्याकार वृत्ति' उत्पन्न होती है। उस 'चाकचिक्यारूप सादृश्य' के दर्शन से उस पूर्वदृष्ट 'रजत' के 'संस्कार' उद्बुद्ध होते हैं। वह 'उद्बुद्धसंस्काररूप दोष' है सहकारी जिसका, ऐसी, 'इदमंशावच्छिन्न चैतन्य' में रहनेवाली, तथा उस 'शुक्ति' के 'शुक्तित्व, नोलपृष्ठ, त्रिकोणादिक विशेष अंश' को आच्छादित करनेवाली जो 'अविद्या' है, वह 'अविद्या' क्षोभ को प्राप्त होकर (क्षुब्ध होकर) 'रजताकार परिणाम' को प्राप्त होती है, अर्थात् वह अविद्या ही रजत के आकार में परिणत हो जाती है। इसी को 'अनिर्वचनीय ख्याति' कहते हैं। इसी रीति से 'रज्जुसर्पादि' भ्रमस्थलों में भी समझना चाहिये।

शङ्का—भ्रमस्थलों में वह 'अविद्या', उक्त रीति से 'रजतादिरूप अर्थाकार में भले ही परिणत हो, किन्तु उस अविद्या का 'ज्ञानकार' परिणाम मानना असंगत है। क्योंकि 'अविद्या' का 'ज्ञानकार परिणाम' मानना निष्प्रयोजन है, और 'प्रयोजन' के बिना किसी अर्थ का स्वीकार कर लेना व्यर्थ है।

यदि यह कहें कि 'इदं रजतम्'—इस व्यवहार के लिये 'अविद्या' की 'रजताकार वृत्ति' अवश्य माननी चाहिये, किन्तु वह संभव नहीं है। क्योंकि 'सुख-दुःखादिकों' के समान वह 'प्रातिभासिक रजत' तो 'साक्षी चैतन्य' में ही 'अध्यस्त' रहता है। उस कारण 'रजताकार वृत्ति' के बिना ही उस 'साक्षी चैतन्य' से ही वह 'रजतविषयक व्यवहार' सिद्ध हो सकता है। उस व्यवहार के लिये ' अविद्या' की 'रजताकार वृत्ति' मानना निष्फल है।

यदि यह कहें कि 'रजत' की 'अपरोक्षता' सिद्धि के लिये ही 'अविद्या' की 'रजताकार वृत्ति' का स्वीकार किया गया है—तो यह कहना भी संभव नहीं है। क्योंकि 'अविद्या' की 'रजताकारवृत्ति' के बिना भी 'अनावृत साक्षी चैतन्य' के साथ 'तादात्म्य' होने से 'सुख-दुःखादिकों' के समान 'रजत' की अपरोक्षता का होना संभव हो सकता है। अतः 'रजत' की अपरोक्षता के लिये भी अविद्या को रजताकारवृत्ति को मानना व्यर्थ है।

अत्रोच्यते। संस्कारार्थमेवाविद्यावृत्तिरभ्युपगम्यते। न चेदमाकारवृत्त्युपहितसाक्षिनाशेन रजतस्मृतिजनकसंस्कारोऽस्तु इति वाच्यम्। अन्यानुभवसंस्कारेणान्यस्मरणायोगात्, तथात्वेऽतिप्रसङ्गात्। न च विषयनाशात्तदुपहितनाशेन रजतस्मृतिजनक-संस्कारोऽस्त्विति वाच्यम् लोके तथाऽदृष्टत्वात्। न च सुखादौ दृष्टमिति वाच्यम्, तत्रापि तदाकारवृत्तेरभ्युपगमात्। अस्तु वान्तः-करणतद्धर्म्माणां वृत्तिं विना साक्षिभास्यत्वं तदुपहितनाशात् तत्स्मृतिजनकसंस्कारोऽपि, अविद्याकार्य्याणां घटादीनां तदाकार-वृत्तिनाशेन तत्संस्कारोत्पत्तेर्दृष्टत्वात् प्रातिभासिकरजतादीनामप्यविद्याकार्य्यतया तदाकारवृत्तिनाशात्तत्संस्कारो वाच्यः। न हि क्वचिदगत्या विषयनाशात्तदुपहितनाशेन तत्संस्कारो दृष्ट इति सर्वत्र तथैव भवितव्यमिति नियमोऽस्ति। अन्यथा स्वप्नपदार्थाकार-वृत्त्यभ्युपगमोऽपि न स्यात्, तत्रापि साक्षिणा भानसम्भवात्। जाग्रत्स्वप्नयोरहमाकारान्तःकरणवृत्त्यभ्युपगमोऽपि न स्यात्। न चेष्टापत्तिः श्रुतिविरोध आचार्य्यग्रन्थविरोधश्च प्रसज्येत। तस्मात् संस्कारार्थं प्रातिभासिकरजताकाराऽविद्यावृत्त्यभ्युपगम इति

*

यदि यह कहें कि 'अविद्या' की 'रजताकारवृत्ति' न मानने पर 'रजत' का कालान्तर में 'स्मरण' नहीं होगा। क्योंकि 'अनुभव' के नाशजन्य संस्कारों से ही 'स्मरण ज्ञान' हुआ करता है, किन्तु नित्य होने से 'साक्षी चैतन्यरूप अनुभव' का नाश होना कभी संभव नहीं है। इसलिये अविद्या की रजताकार वृत्ति का स्वीकार किया गया है। तब उस वृत्ति के नाश से उस वृत्ति से उपहित हुए साक्षी का भी नाश होगा। उस कारण रजतविषयक संस्कार की उत्पत्ति, तथा उस संस्कार से 'स्मृतिज्ञान' की उत्पत्ति का होना संभव हो सकता है।

एवं च 'रजतस्मृति' के जनक 'संस्कार' की उत्पत्ति के लिये 'अविद्या' की 'रजताकारवृत्ति' को अवश्य मानना चाहिये।

किन्तु यह कथन भी असंगत है। क्योंकि 'रजतभ्रम' के पूर्व उत्पन्न हुई जो 'इदमाकार वृत्ति' है, उस 'इदमाकारवृत्ति' के नाश से ही उस वृत्ति से उपहित (वृत्त्युपहित) हुए 'साक्षी' का नाश होने से 'रजतविषयक संस्कार' की उत्पत्ति, तथा उस संस्कार से 'स्मृति' की उत्पत्ति का होना संभव हो सकता है।

अथवा—जैसे सुख-दुःखादि विषय के नाश से उन सुख-दुःखादिकों से उपहित साक्षी के उपहितत्वरूप का भी नाश होने से उन सुख-दुःखादि विषयक संस्कारों की उत्पत्ति तथा स्मृतिज्ञान की उत्पत्ति होती है, वैसे ही 'रजतरूप विषय' के नाश से ही उस रजत से उपहित साक्षी के उपहितत्वरूप का भी नाश हो जायगा। उस कारण रजतविषयक संस्कार की उत्पत्ति, तथा 'स्मृतिज्ञान' की उत्पत्ति, का होना भी संभव हो सकता है। अतः उस रजतविषयक स्मृति के जनक संस्कार की उत्पत्ति के लिये भी अविद्या की रजताकार वृत्ति को मानना व्यर्थ है।

समा०—रजतस्मृति का जनक जो संस्कार है, उसकी उत्पत्ति के लिये ही रजताकार अविद्यावृत्ति को माना गया है। क्योंकि रजत का अनुभवरूप जो साक्षी चैतन्य है, वह तो उत्पत्ति-विनाश रहित है, नित्य है। उस कारण साक्षी चैतन्य तो उत्पत्ति-विनाशरहित है, नित्य है। अतः साक्षी चैतन्य का स्वरूपतः तो नाश होना संभव नहीं है। किन्तु रजता-कार अविद्यावृत्ति को मानने पर उस वृत्ति के नाश से उस वृत्ति से उपहित साक्षी के उपहितत्वरूप का नाश होना संभव है। अर्थात् उपहित साक्षी का भी नाश होना संभव है। तब रजतविषयकसंस्कार की उत्पत्ति तथा उस संस्कार से स्मृतिज्ञान की उत्पत्ति का होना उपपन्न हो जाता है। अतः रजतस्मृति के जनक-संस्कार की उत्पत्ति के लिये रजताकार अविद्यावृत्ति को मानना आवश्यक है।

वादी ने जो यह कहा था कि—'इदमाकारवृत्ति' के नाश से 'रजतस्मृति' के जनक संस्कार की उत्पत्ति होती है, किन्तु यह उसका कहना भी असंगत है। क्योंकि 'अनुभव, संस्कार और स्मृति'—इन तीनों का समानवस्तुविषयकत्वरूप से ही 'परस्पर कार्य-कारणभाव' हुआ करता है। अन्य वस्तुविषयक अनुभव से अन्य वस्तु-विषयक संस्कार या स्मृति नहीं हुआ करती। अन्यथा 'घटविषयक अनुभव से पटविषयक संस्कार, तथा स्मृति भी होनी चाहिये, किन्तु होती नहीं। अतः 'इदमाकार-वृत्ति' से 'रजतविषयक संस्कार की उत्पत्ति तथा स्मृति का होना कथमपि संभव नहीं है।

वादी ने जो यह कहा था कि—'रजत (विषय) के नाश से रजत के संस्कार की उत्पत्ति होती है—वह भी असंगत है। क्योंकि लोक व्यवहार में हम देखते हैं कि घटादि विषयों के नाश से उन घटादिकों के संस्कार उत्पन्न नहीं होते हैं, अपितु उन घटादि विषयों के विद्यमान रहने पर ही उन 'घटादिकों के ज्ञान' के नाश से संस्कारों की उत्पत्ति हुआ करती है। अतः सर्वत्र उस ज्ञान के नाश से ही संस्कारों की उत्पत्ति माननी चाहिये।

श्रुतार्थापत्तिर्यथा "तरति शोकमात्मविद्" तिशोकोपलक्षितप्रमातृत्वादिबन्धस्य ज्ञाननिवर्त्यत्वं श्रुतम्। तस्य मिथ्यात्वमन्तरेण सत्यत्वेऽनुपपन्नं सन्मिथ्यात्वं कल्पयति। सेयं श्रुतार्थापत्तिः ॥ ३३ ॥

•

वदन्ति[1]। अन्ये तु कादाचित्कव्यवहारस्य कादाचित्कस्वगोचरज्ञानसाध्यत्वात् प्रातिभासिकरजतव्यवहारस्य कादाचित्कत्वात् तदाकाराऽविद्यावृत्त्यभ्युपेयते। अन्यथा घटादिष्वपि तदाकारान्तःकरणवृत्तिरपि न सिध्येत्। तद्व्यवहारस्य साक्षिणैव सिद्धेरित्याहुः। नन्वेवं सति नृसिंहाश्रमैरविद्यावृत्तिः किमर्थं खण्डितेति चेत्? प्रौढवादेनेति[2] द्रष्टव्यम्।

ननु भ्रमकाले शुक्तौ रजतोत्पत्तिरस्तु, तथापि तस्य कथं मिथ्यात्वमित्याशङ्क्याह—तस्य चेति। शुक्तिरजतादेर्मिथ्यात्वे यथोक्तार्थापत्तिरेव प्रमाणमित्यभिप्रेत्य दृष्टार्थापत्तिनिरूपणमुपसंहरति—एवमिति।

•

यदि यह कहो कि सुख-दुःखादि विषय के नाश से ही उनके संस्कारों की उत्पत्ति का होना दिखाई देता है, किन्तु यह कहना भी असंगत है।

क्योंकि यहाँ भी संस्कारों की उत्पत्ति के लिये 'सुख-दुःखाकारवृत्ति' का ही स्वीकार किया जाता है।

अथवा अन्तःकरण में तथा उसके सुख-दुःखादि धर्मों में विना वृत्ति के ही साक्षिभास्यता भले ही रहे, तथा उन सुख-दुःखादिकों के नाश से और तदुपहित साक्षी के नाश से संस्कारों की उत्पत्ति भी क्यों न हो, तथापि अविद्या के कार्य जो बाह्य घट-पटादि पदार्थ हैं, उनके संस्कारों की उत्पत्ति तो उन घटाद्याकार वृत्ति के नाश से ही होते दिखाई देती है। उसी प्रकार 'प्रातिभासिक रजत' भी 'अविद्या' का कार्य ही है। उस कारण उस रजताकार वृत्ति के नाश से ही उस रजत के संस्कार की उत्पत्ति माननी चाहिये। अन्यथा आचार्यों ने जो स्वप्नपदार्थाकारवृत्ति को माना है तथा जाग्रत् और स्वप्न में जो 'अहमाकार वृत्ति' को माना है, वह सब असंगत हो जायगा। क्योंकि वृत्ति के बिना भी केवल साक्षी से ही उन पदार्थों का प्रकाश हो सकता है।

अतः रजत की स्मृति में कारणीभूत संस्कार की उत्पत्ति के लिये अनिर्वचनीय रजताकार अविद्यावृत्ति को मानना आवश्यक है।

इस सन्दर्भ में कुछ ग्रन्थकारों का कहना यह भी है कि जैसे घटाकारवृत्ति से उपहित हुए साक्षी चैतन्य में जो 'घट' का 'तादात्म्य' है, उसी को 'घटनिष्ठ अपरोक्षता' कहते हैं। उसी प्रकार प्रतिभासिक रजतनिष्ठ अपरोक्षता की सिद्धि करने के लिये रजताकार अविद्या वृत्ति को मानना होगा। रजताकार अविद्यावृत्ति का स्वीकार किये बिना उस रजत में अपरोक्षता का होना संभव ही नहीं है।

कुछ ग्रन्थकार यह भी कहते हैं कि जो-जो व्यवहार कादाचित्क होता है, वह-वह व्यवहार, 'कादाचित्कज्ञान' से ही साध्य होता है। जैसे—'अयं घटः' यह कादाचित्क व्यवहार, 'कादाचित्क घटज्ञान' से होता है। वैसे ही 'इदं रजतम्' यह व्यवहार भी 'कादाचित्क' है। उस कारण वह भी 'रजतविषयक कदाचित्कज्ञान' से ही होगा। 'साक्षीरूप ज्ञान' में तो कादाचित्कता का होना संभव नहीं है, किन्तु अविद्यावृत्तिरूप ज्ञान में ही उस कादाचित्कता का होना संभव है। उस कारण उस रजतव्यवहार की 'कादाचित्कता' की सिद्धि के लिये रजतविषयक अविद्या की वृत्ति अवश्य माननी चाहिये।

यदि साक्षीरूप नित्यज्ञान से भी वह कादाचित्क व्यवहार होता हो तो 'घटादि पदार्थों' का वह 'कादाचित्क-व्यवहार' भी उस साक्षी चैतन्य से ही सिद्ध हो जाएगा। तब घटाद्याकार वाली अन्तःकरण वृत्ति को सिद्ध करने की भी आवश्यकता नहीं होगी।

कुछ ग्रन्थकारों ने जो प्रातिभासिक 'रजताद्याकार अविद्यावृत्ति' का खण्डन किया है, उसे उन्होंने प्रौढ़िवाद से किया है। अपनी बुद्धि की उत्कृष्टता ज्ञापन को 'प्रौढ़िवाद' कहते हैं।

एवं च भ्रमस्थल में 'अविद्या', 'विषयाकार' (रजताकार) तथा उसके 'ज्ञानाकार' परिणाम को प्राप्त होती है।

शङ्का—भ्रान्तिस्थलीय 'शुक्ति' में भले ही 'अविद्या' के कारण 'रजत' की उत्पत्ति हो, तथापि उस रजत में 'मिथ्यात्व' कैसे होगा?

---

१. अत्र 'केचित्तु प्रातिभासिकरजतस्यापरोक्षतायै तदाकाराविद्यावृत्त्यभ्युपगम इति वदन्ति' इति पाठोऽधिकोपि दृश्यते।

२. प्रौढिवादेनेति स्यात्।

द्वितीयामर्थापत्तिमुपपादयति—श्रुतेति। ननु "तरति शोकमात्मविद्"-इत्यत्र शोकस्यैव ज्ञाननिवर्त्यत्वश्रवणात् कथमन्यथानुपपत्त्या बन्धस्य मिथ्यात्वसिद्धिरित्याशङ्क्य "छत्रिणो गच्छन्ती"त्यत्र छत्रिपदेन लक्षणया यथा छत्र्यछत्रिसमुदाय उपलक्ष्यते तथा शोकपदेन बन्ध उपलक्ष्यत इत्याह—शोकोपलक्षितेति। तस्येति बन्धस्येत्यर्थः। न च सत्यस्य दुरितविषादेः सेतुदर्शनताक्ष्यंध्यानादिना निवृत्तिदर्शनाद्बन्धस्य सत्त्वे ज्ञाननिवर्त्यत्वानुपपत्तिः कथमिति वाच्यम्, दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यात्। तथाहि न तावत्केवलसेतुदर्शनेन ब्रह्महत्यादिपापनिवृत्तिः, किन्तु नियमसहकृतेन। अन्यथा तत्रत्यम्लेच्छादीनामपि पापनिवृत्त्यापत्तेः। न च तदिष्टम्, नियमविधायिधर्म्मशास्त्रस्याप्रामाण्यप्रसङ्गात्। ततश्च तस्य क्रियामिश्रतया तदात्मकत्वेन ततः सत्यस्य निवृत्तिरुपपद्यते। तथा ताक्ष्यंध्यानस्यापि मानसक्रियात्वेन ततो विषस्य सत्यस्य निवृत्तिः सम्भवति। प्रकृते साधनान्तरं निरपेक्ष्यात्मज्ञाननिवर्त्यत्वं श्रूयते बन्धस्य। तत्सत्यत्वेन तदनुपपन्नमिति बन्धस्य मिथ्यात्वक्लृप्तिरिति महद्वैषम्यमिति नार्थापत्तेरन्यथोपपत्तिरिति भावः॥ ३३॥

•

समा०—लोक-व्यवहार में भी ऐन्द्रजालिक (जादूगर) पुरुष की माया से रचित पदार्थ, 'मिथ्या' ही हुआ करते हैं, यह सभी जानते हैं। वैसे ही वे रजतादि पदार्थ भी, 'अविद्या' के कार्य होने से मिथ्या ही हैं। प्रातिभासिक रजत आदि में मिथ्यात्व की सिद्धि, पूर्वोक्त 'दृष्टार्थापत्ति' प्रमाण से होती है। इस रीति से 'दृष्टार्थापत्ति' का निरूपण अभी तक किया गया। अब श्रुतार्थापत्ति को बताते हैं।

श्रुतार्थापत्ति इस प्रकार होती है—'आत्मज्ञानी शोक से तर जाता है'—इस वाक्य में सुना गया है कि शोक से उपलक्षित 'प्रमातापन' (प्रमातृत्व) आदि सारा ही बन्धन, ज्ञान से निवृत्त होता है। यदि बंधन मिथ्या न होकर सत्य होता तो 'ज्ञान' से निवृत्त नहीं हो सकता था। अतः उक्त वाक्य में श्रुत ज्ञाननिवर्त्यत्व, बन्धन की सत्यता में अनुपपन्न होता हुआ उसके मिथ्यात्व का ज्ञान (प्रमा) करा देता है—यही श्रुतार्थापत्ति है।

जैसे—'आत्मज्ञानी पुरुष शोक के पार पहुँच जाता है'—यहाँ पर 'शोक' शब्द से 'प्रमातृत्व, कर्तृत्व' आदि सभी बन्धों को समझना चाहिये। इस वचन से श्रुत होने वाली आत्मज्ञानजन्य जो बन्धन की निवृत्ति (बन्धन में निवर्त्यता) है, वह 'ज्ञान-निवर्त्यता', 'बन्ध' को सत्यमानने पर कैसे संभव हो सकेगी? क्योंकि 'सत्य वस्तु' (सत्य पदार्थ) की 'ज्ञान' से निवृत्ति (सत्यवस्तु की ज्ञान—निवर्त्यता) नहीं हुआ करती। अपितु 'क्रिया' से ही उसकी (सत्यवस्तु की) निवृत्ति होती है। जैसे—'घट आदि सत्य पदार्थों' की 'मुद्गर प्रहार' रूप क्रिया से ही निवृत्ति होती है, और 'मिथ्या वस्तु' की 'ज्ञान' से ही निवृत्ति होती है। जैसे—'रज्जु-सर्प' की 'रज्जु' के ज्ञान से निवृत्ति होती है।

आत्मज्ञान-जन्य जो बन्धनिष्ठ निवर्त्यता, वह 'बन्ध' के मिथ्यात्व होने पर ही हो सकती है, अन्यथा नहीं। अर्थात् 'बन्ध' में 'मिथ्यात्व' के सिद्ध हुए बिना वह 'निवर्त्यता' अनुपपन्न होगी। वह अनुपपद्यमान (अनुपपन्न हुई) 'निवर्त्यता', 'बन्ध' के (में) 'मिथ्यात्व' की कल्पना कराती है। इसी को 'श्रुतार्थापत्ति' कहते हैं।

शङ्का—'सत्य वस्तु' (पदार्थ) की 'ज्ञान' से निवृत्ति नहीं होती, अर्थात् 'सत्य वस्तु' कभी 'ज्ञान निवर्त्य' नहीं हुआ करती—यह कहना असंगत है। क्योंकि श्रीरामचन्द्रकृत 'सेतु' के दर्शन करने से 'सत्य पाप' की निवृत्ति का होना 'शास्त्र प्रमाण' से ज्ञात है। तथा 'गरुड' का ध्यान करने से 'सत्य विष' की निवृत्ति होती देखी जाती है। उसी प्रकार 'सत्य बन्ध' की भी 'आत्मज्ञान' से निवृत्ति क्यों नहीं हो सकेगी? एवं च 'बन्धनिष्ठ मिथ्यात्व' के बिना भी उस बन्ध में 'ज्ञान-निवर्त्यता' उपपन्न हो सकती है। अतः बन्ध को मिथ्या मानने की आवश्यकता नहीं है।

समा०—'सत्यबन्ध' की 'ज्ञान' से निवृत्ति होने में जो सेतुदर्शन, तथा 'गरुड़ ध्यान' का दृष्टान्त बताया, वह ठीक नहीं है, दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में वैषम्य है। 'सेतु' के केवल दर्शन मात्र से 'ब्रह्महत्यादि पापों' की निवृत्ति नहीं होती, किन्तु स्मृति (धर्मशास्त्र) प्रतिपादित, ब्रह्मचर्य, पवित्रता, सत्यभाषण आदि नियमों का पालन करते हुए 'सेतु' दर्शन के करने से ही 'पाप' की निवृत्ति होती है।

यदि उक्त नियमों के बिना केवल सेतुदर्शनमात्र से ही पाप की निवृत्ति होती तो वहाँ निवास करने वाले म्लेच्छादिकों के भी 'सेतु' के दर्शन मात्र से 'पाप' की निवृत्ति होनी चाहिये थी। यदि यह मान लें कि 'सेतु' के दर्शनमात्र से उन म्लेच्छादिकों के भी 'पापकर्म' निवृत्त हो ही जाते हैं, तो पापनिवृत्त्यर्थ सेतुदर्शन करने वाले व्यक्तियों के लिये तत्तत् नियमों को बताने वाले धर्मशास्त्र को अप्रमाण ही मानना होगा। अतः 'क्रियारूप' नियमों से मिश्रित रहने के कारण वह सेतुदर्शन भी 'क्रियारूप'

अन्तःकरणविशिष्टं चैतन्यं प्रमाता कर्त्ता भोक्ता। केवलस्यात्मनोऽसङ्गत्वेन प्रमातृत्वाद्यनुपपत्तेः शुक्तिरजतवदात्माऽज्ञानादन्तःकरणादिकं स्वरूपेण प्रत्यगात्मन्यध्यस्तम्। अध्यासो नाम परत्र परावभासः। स च द्विविधः—ज्ञानाध्यासोऽर्था-

●

ननु प्रमातृत्वादिबन्धस्य ज्ञाननिवर्त्यत्वादुक्तं मिथ्यात्वम्। तत्र कोऽसौ प्रमाता? आदिशब्देन वा किं विवक्षितम्? न तावदात्मा प्रमाता, तस्यासङ्गत्वान्नाप्यन्तःकरणं; तस्य जडत्वेन तदयोगात्, प्रमातृत्वादेश्चेतनधर्म्मत्वाच्चेत्याशङ्क्याह—अन्तःकरणेति। न चात्मान्तःकरणयोः प्रत्येकं प्रमातृत्वाभावे कथं विशिष्टे तत्स्यादिति वाच्यम्, विशिष्टस्य पारमार्थिकप्रमातृत्वस्यासम्भवेऽपि तस्मिंस्तदारोपसम्भवात्। न चारोपस्य प्रमितिपूर्वकत्वात्कथं स इति वाच्यम्, अप्रयोजकत्वाल्लाघवात्पूर्वानुभवस्येव भ्रमनिमित्ततया तस्य पूर्वभ्रमलक्षणस्य सुलभत्वेन विशिष्टे प्रमातृत्वारोपो युक्तः। आदिशब्दार्थमाह—कर्त्तेति। कृतिमानित्यर्थः। कृतिः प्रयत्नः स चोत्साहः। भोगाश्रयो भोक्ता। भोगः सुखदुःखानुभवः, स च धर्म्माधर्म्महेतुकः। इदं प्रमातृत्वादित्रयं विशिष्टस्यैव; नात्मनः केवलस्य[1], न चान्तःकरणस्येति नोक्तदोष इति भावः।

●

ही है, 'ज्ञानरूप' नहीं है। उस क्रियारूप 'सेतु दर्शन' से 'सत्यपाप' की निवृत्ति होना उचित हो है। उसी तरह गरुड का ध्यान भी 'मानस क्रियारूप' है। उस कारण 'क्रियारूपध्यान' से 'सत्यविष' की निवृत्ति होना अनुपपन्न नहीं है।

प्रस्तुत प्रसंग से दृष्टान्त की समानता नहीं है। प्रस्तुत में अन्य साधन की अपेक्षा किये बिना केवल आत्मज्ञान से ही 'बन्ध' की निवृत्ति का होना 'श्रुति' ने बताया है। यह 'ज्ञाननिवर्त्यता', 'बन्ध' को सत्य मानने पर कभी संभव नहीं होगी। उस कारण वह 'ज्ञाननिवर्त्यता', 'बन्ध' के 'मिथ्यात्व' की कल्पना कराती है॥३३॥

शङ्का—'ज्ञाननिवर्त्यता' के बलपर 'प्रमातृत्वादिबन्ध' का 'मिथ्यात्व' सिद्ध किया गया। 'आत्मा' को ही 'प्रमाता' कहते हैं, अथवा 'अन्तःकरण' को 'प्रमाता' कहते हैं। 'असंगोह्ययं पुरुषः'—आदि श्रुतियों ने 'आत्मा' को 'असंग' बताया है। और 'प्रमाज्ञान' के आश्रय को 'प्रमाता' कहा है। उस कारण श्रुतिप्रतिपादित 'असंग आत्मा' को भी 'प्रमाता' कैसे कहा जायगा? उसी तरह 'अन्तःकरण' को भी 'प्रमाता' शब्द से कहना संभव नहीं हो रहा है। क्योंकि वह 'अन्तःकरण' तो 'भूतों' का कार्य है, अर्थात् भूत-जन्य (भूतों से उत्पन्न हुआ) है। अतः घटादिकों के समान वह 'जड' है। और 'प्रमातृत्वादिधर्म' तो 'चेतन' के हैं, 'जड' के नहीं। अतः जड अन्तःकरण में 'प्रमातृत्व' का होना संभव नहीं है। एवं च 'आत्मा' को या 'अन्तःकरण' को 'प्रमाता' शब्द से नहीं कह सकते।

समा०—केवल 'आत्मा' को तथा केवल 'अन्तःकरण' को हम वेदान्ती, 'प्रमाता' नहीं कहते। अपितु 'अन्तःकरण-विशिष्ट चैतन्य' को ही हम 'प्रमाता' कहते हैं। वह 'प्रमाता' ही कर्ता, भोक्ता' होता है। केवल (शुद्ध) आत्मा असंग होने से प्रमाता आदि हो यह संगत नहीं है।

'प्रमाज्ञान' का आश्रय होने से वह 'अन्तःकरण विशिष्ट चैतन्य' ही 'प्रमाता' शब्द से कहा जाता है, और 'प्रयत्नरूप कृति' का आश्रय होने से 'कर्ता' शब्द से कहा जाता है, और धर्माधर्मजन्य सुख-दुःखों के अनुभव रूप भोग का आश्रय होने से वही 'भोक्ता कहा जाता है। प्रमातृत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व—ये तीनों 'अन्तःकरण—विशिष्ट चैतन्यरूप प्रमाता' के ही धर्म हैं। केवल 'आत्मा' के तथा केवल 'अन्तःकरण' के वे (प्रमातृत्वादिक), धर्म नहीं हैं।

शङ्का—'अन्तःकरणविशिष्ट चैतन्यरूप प्रमाता', उस 'अन्तःकरण' से तथा 'चैतन्य' से पृथक् (अलग) नहीं है, और 'प्रमातृत्व' धर्म, 'केवल चैतन्य' में तथा 'केवल अन्तःकरण' में रहता नहीं। उस कारण वह, (प्रमातृत्व धर्म) उस 'अन्तःकरण-विशिष्ट चैतन्य' में भी कैसे रहेगा? अर्थात् नहीं रहेगा।

समा०—जैसे 'केवल आत्मा' में तथा 'केवल अन्तःकरण' में वह 'प्रमातृत्व' वस्तुतः नहीं रहता, वैसे ही 'अन्तःकरण विशिष्ट चैतन्य' में भी वह 'प्रमातृत्व', वस्तुतः नहीं रहता। किन्तु जैसे 'शुक्ति' में 'रजत' का 'आरोप' किया जाता है, वैसे ही उस 'अन्तःकरणविशिष्ट चैतन्य' में उस 'प्रमातृत्व' धर्म का 'आरोप' किया जाता है।

शङ्का—जैसे 'शुक्ति' में 'रजत' का आरोप करने के पूर्व जिस व्यक्ति को 'देशान्तरीय रजत' का 'यथार्थ अनुभव' हुआ है, उस अनुभवजन्य 'संस्कार' से ही 'शुक्ति' में 'रजत' का आरोप वह करता है, वैसे ही उस 'विशिष्ट चैतन्य' में 'प्रमातृत्व'

---

१. चखारो सीरीज पुस्तके अधिकः।

नैयायिकादयः केवलस्यात्मनः प्रमातृत्वादिकं वदन्ति; तन्निरस्यति—केवलस्येति । "साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च", "असङ्गो ह्ययं पुरुषः", "अप्राणोह्यमनाः शुभ्रः", "अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता", "एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः", "अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते", "शरीरस्थोऽपि कौन्तेय ! न करोति न लिप्यते", "यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते । सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते" ॥

इति श्रुतिस्मृतिवाक्यशतैः केवलस्य निरुपाधिकस्यात्मनोऽसङ्गित्वादिप्रतिपादनेन तस्य प्रमातृत्वादिकं नोपपद्यते । अतो विशिष्टस्यैव तत्, अन्यथोदाहृतशास्त्राप्रामाण्यप्रसङ्गात् । नैयायिकादीनामनिर्मोक्षप्रसङ्गश्च; सत्यस्य ज्ञानेन निवृत्त्ययोगात्, शास्त्रस्य ज्ञापकत्वेन कारकत्वायोगाच्च । तस्मान्नैयायिकादिमतमनुपपन्नमिति भावः ॥

नन्वतःकरणविशिष्टस्य प्रमातृत्वादिकमुक्तं तदयुक्तम्, आत्मनोऽसङ्गत्वेन निरवयवतया सावयवक्रियाश्रयान्तःकरणेन वैशिष्ट्यानुपपत्तेः । तथाहि—न तावदात्मनोऽन्तःकरणेन संयोगः सम्भवति प्रागेव निरस्तत्वाद्, नापि तादात्म्यं; तस्य भेदाभेदरूपत्वेन जडाजडयोस्तदयोगात् ।

•

का आरोप तभी संभव होता है, जब आरोप करने के पूर्व किसी 'वस्तु' में 'प्रमातृत्व' का यथार्थ अनुभव हुआ हो। यथार्थ अनुभव हुए विना 'आरोप' नहीं किया जा सकता।

समा०—जिस 'वस्तु' का आरोप करना है, उस वस्तु का 'अनुभवमात्र', पहले रहना चाहिये। वह 'अनुभव' 'यथार्थ' हो, चाहे 'भ्रमरूप' हो। अनादि संसार में इस 'जीव' को, उस 'अन्तःकरणविशिष्ट चैतन्य' में 'प्रमातृत्व' का भ्रम होता आ रहा है। उस पूर्व-पूर्व 'भ्रमरूप अनुभवजन्य संस्कारों' से उत्तर-उत्तर 'प्रमातृत्व' के 'आरोप' का होना संभव है। इसी प्रकार 'कर्तृत्व, भोक्तृत्व' के आरोप को भी समझना चाहिये।

नैयायिक विद्वान् तो 'प्रमातृत्वादि' धर्म, केवल 'आत्मा' के ही मानते हैं। किन्तु उनका यह 'मन्तव्य', श्रुति-स्मृति-प्रमाणों के विरुद्ध होने से असंगत है। क्योंकि श्रुति-स्मृति के वचनों ने 'निरुपाधिक आत्मा' को 'निर्गुण, असंग निर्लेप' बताया है। ऐसे 'असंग आत्मा' में उन 'प्रमातृत्वादि धर्मों' का होना संभव नहीं है। अतः उन 'प्रमातृत्वादि धर्मों' को 'अन्तःकरण-विशिष्ट चैतन्य के ही 'धर्म' मानना उचित होगा।

यदि उन 'प्रमातृत्वादिधर्मों' को केवल 'आत्मा' के ही मानेंगे तो उन धर्मों से विशिष्ट हुए 'आत्मा' की 'असंग, निर्गुण, निर्लेप' रूपता का होना संभव नहीं हो पायगा। तब 'आत्मा' की असंगता, निर्गुणता, निर्लेपता का प्रतिपादन करने वाली श्रुति-स्मृति को अप्रमाण कहना पड़ेगा।

किञ्च—'प्रमातृत्वादि बन्ध' को यदि 'आरोपित' नहीं मानेंगे, अर्थात् 'सत्य' मानेंगे, तो 'सत्य वस्तु' की निवृत्ति, 'ज्ञान' से नहीं होती। उस कारण नैयायिकों के मत में 'बन्धनिवृत्तिरूप मोक्ष' की संभावना करना दुराशामात्र ही होगा। अतः 'बन्ध' को कल्पित ही मानना श्रेयस्कर है।

शङ्का—'प्रमातृत्वादिधर्म', अन्तःकरणविशिष्ट चैतन्य के हैं—यह जो कहा गया है, वह संभव नहीं है। क्योंकि आत्मा 'असंग तथा निरवयव' है। किन्तु 'अन्तःकरण' 'सावयव और क्रियावान्' है, और आत्मा का उस अन्तःकरण के साथ कोई किसी प्रकार का सम्बन्ध भी नहीं है। सम्बन्ध के बिना 'विशिष्टता' हो नहीं सकती।

यदि 'सम्बन्ध' के बिना भी 'विशिष्टता' होती हो, तो 'हिमाचलविशिष्ट 'विन्ध्याचल' है—यह व्यवहार भी होना चाहिये।

किञ्च—'अन्तःकरण' सत्य है या मिथ्या ? प्रथम—'सत्य'—पक्ष का यदि स्वीकार करते हैं, तो 'सत्य अन्तःकरण' का 'सम्बन्ध' भी सत्यरूप ही होगा। तब उस 'सत्य सम्बन्ध' की 'ज्ञान' से निवृत्ति' नहीं होगी। निवृत्ति न होने से किसी भी 'जीवात्मा' का 'मोक्ष' नहीं होगा। मोक्ष के न हो पाने से मोक्षप्रतिपादक शास्त्र को अप्रमाण कहना होगा।

यदि द्वितीय पक्ष—'अन्तःकरण मिथ्या है'—का स्वीकार करते हैं तो वह भी संभव नहीं हो रहा है। क्योंकि 'अन्तःकरण' के मिथ्यात्व में कोई प्रमाण नहीं है। यदि प्रमाण के बिना भी 'अन्तःकरण' को मिथ्या मानते हैं तो 'आत्मा' को भी 'मिथ्या' कहने में कौन सी अड़चन है ? अतः 'अन्तःकरण विशिष्ट चैतन्य' के ही 'प्रमातृत्वादि' धर्म हैं—यह कहना असंगत है।

समा०—जैसे 'शुक्ति' के अज्ञान से, उस शुक्ति में 'रजत' कल्पित होता है, वैसे ही 'आत्मा' के अज्ञान से उस 'प्रत्यक् 'आत्मा' में, ये 'अन्तःकरणादिक' स्वरूपतः अध्यस्त होते हैं, अर्थात् कल्पित होते हैं। 'अध्यस्त, कल्पित, आरोपित'—ये तीनों शब्द, एक ही अर्थ के वाचक हैं।

ध्यासश्चेति। तत्रातस्मिंस्तद्बुद्धिर्ज्ञानाध्यासः। यथा शुक्तौ रजतबुद्धिर्यथा वात्मन्यनात्मबुद्धिः ॥ ३४ ॥

●

किञ्चान्तःकरणस्य सत्यत्वे तद्वैशिष्ट्यस्यापि सत्यत्वेन तस्य ज्ञानानिवर्त्यतयात्मनोऽनिर्मोक्षः प्रसज्येत। तथा च मोक्षशास्त्राऽप्रामाण्यप्रसङ्गः, अन्तःकरणस्य कल्पितत्वे मानाभावात्। तस्माद्विशिष्टस्य प्रमातृत्वादिकमित्यसङ्गतमित्यत आह—शुक्तिरजतवदिति। यथा शुक्त्यज्ञानाद्रजतं कल्पितं शुक्तौ, तथात्माज्ञानात् स्वरूपेण प्रत्यगात्मन्यन्तःकरणादिकमध्यस्तम्। तथा चायम्प्रयोगः—अन्तःकरणमध्यस्तम्, जडत्वाद्दृश्यत्वादाविद्यकत्वाच्च शुक्तिरजतवदिति। "हृदयमपि अहममृते"त्यादिश्रुतेश्च[1] अन्तःकरणमध्यस्तम्। एतेनान्तःकरणस्य कल्पितत्वे मानाभावो निरस्तः। एवमन्तःकरणेऽप्यात्मा संसृष्टरूपेणाध्यस्तः, जडोऽहं चेतनोऽहमितीतरेतराध्यासस्य विवक्षितत्वात्। न च स्वरूपेणात्माध्यस्तः सर्वसाक्षितया बाधायोग्यत्वेन परमार्थत्वात्। उदासीनत्वे सति बोद्धृत्वं साक्षित्वम्। एतत्सर्वमभिप्रेत्य ब्रह्मविदामेकपुण्डरीको[2] भगवान् भाष्यकार आह—"एवमहम्प्रत्ययिनमशेषस्वप्रचारसाक्षिणि प्रत्यगात्मन्यध्यस्य तं च प्रत्यगात्मानं सर्वसाक्षिणं तद्विपर्य्ययेणान्तःकरणादिष्वध्यस्यती"ति। एवञ्चात्मन्यन्तःकरणादिना वास्तववैशिष्ट्याऽभावेऽप्याध्यासिकवैशिष्ट्यस्य सम्भवाद्विशिष्टस्य प्रमातृत्वमुपपद्यत इति भावः ॥

●

'अन्तःकरण' के कल्पित होने में 'अनुमान प्रमाण' भी है—'अन्तःकरण, प्रत्यक् आत्मा में अध्यस्त है, जड होने से, दृश्य होने से, आविद्यक होने से'। जो-जो 'पदार्थ', जड़ तथा दृश्य, और आविद्यक होता है, वह पदार्थ अध्यस्त ही होता है। जैसे 'शुक्ति रजत', जड, दृश्य, आविद्यक होने से अध्यस्त (कल्पित) है—इस अनुमान प्रमाण से अन्तःकरण में 'कल्पितत्व' ही सिद्ध होता है। तथा 'अतोऽन्यदार्तं'—'चैतन्य-आत्मा' के अतिरिक्त समस्त पदार्थ, मिथ्या हैं—इस श्रुति प्रमाण से भी 'अन्तःकरण में कल्पितत्व ही सिद्ध होता है, अतः 'अन्तःकरण' कल्पित ही है।

किञ्च—'जडोऽहं चेतनोऽहम्'—इस अनुभव से 'जड अन्तःकरणादि' कों का 'आत्मा' में अध्यास प्रतीत होता है, और 'चेतन आत्मा' का 'अन्तःकरण' में 'अध्यास' प्रतीत होता है। एवं च 'आत्मा' का तथा 'अन्तःकरणादिक अनात्मा' का परस्पर अध्यास विवक्षित है।

किन्तु जैसे—'अन्तःकरणादिक' स्वरुपतः, 'आत्मा' में अध्यस्त हैं, किन्तु 'चेतन आत्मा', 'अन्तःकरणादि अनात्मा' में 'स्वरूपतः' अध्यस्त नहीं है। अर्थात् 'अन्तःकरणादिकों' में वह 'चेतन आत्मा' 'संसर्गरूप' से अध्यस्त है।

यदि 'अन्तःकरणादिकों' के समान 'आत्मा' को भी 'स्वरूपतः' अध्यस्त कहें तो 'अधिष्ठान' के ज्ञान से जैसे उन 'अन्तःकरणादिकों' का 'बाध' होता है, वैसे उस 'आत्मा' का भी 'बाध' होना चाहिये था। किन्तु उसका 'बाध' नहीं होता। अतः सबका 'साक्षी' होने से बाध के अयोग्य वह 'आत्मा', 'परमार्थतः सत्य' है। उस 'आत्मा' का बाध होना कभी संभव नहीं है। उस कारण 'अन्तःकरणादिकों' में 'आत्मा' का 'स्वरूपतः अध्यास' होना संभव नहीं है, अपितु 'संसर्गरूप' से ही उसका अध्यास होता है।

आत्मा-अनात्मा के इस प्रकार के 'अध्यास' का निरूपण, भाष्यकार आचार्यपाद ने शारीरक मीमांसा के प्रारम्भ में ही किया है। 'असंग आत्मा' में 'अन्तःकरणादिकों' का वास्तविक सम्बन्ध न रहने पर भी 'आध्यासिक सम्बन्ध' रहता है। उस 'आध्यासिक सम्बन्ध' के कारण ही 'आत्मा', अन्तःकरण-विशिष्ट कहलाता है। अतः 'अन्तःकरण-विशिष्ट चैतन्य' में 'प्रमातृत्वादि धर्मों' का होना संभव है।

शङ्का—अन्तःकरण को अध्यस्त कहना संगत नहीं क्योंकि अध्यस्तता क्या पदार्थ है? इसका निरूपण अभी नहीं किया गया है।

समा०—दोष से जन्य होना अध्यस्तता समझ लो।

शङ्का—यह संभव नहीं क्योंकि जन्य न होने से अविद्या आदि को अध्यस्त नहीं कह सकेंगे। किं च दोष-विषयक यथार्थ ज्ञान भी दोष-जन्य होने से अध्यस्त होने लगेगा। किं च 'दोष', ज्ञान का जनक हो भी जाय—किन्तु वह पदार्थ का जनक होता है—इसमें कोई प्रमाण नहीं है।

---

१. 'हृदयं निरभिद्यते' त्यादावुत्पत्तिश्रवणादनात्मतया हृदयमध्यस्तम्। मनोभयोयसंक्रमणश्रुतेश्च मनसोनात्मत्वादध्यस्तत्वं स्फुटम्।

२. व्याघ्रार्थत्वे अद्वितीयशार्दूल इत्यर्थः। सितच्छत्रार्थत्वे च नास्तिकप्रचारसन्तापापहारक इत्यर्थं इत्याचार्याः।

नन्वात्मन्यन्तःकरणमध्यस्तमित्युक्तम्, तदसङ्गतम्, अध्यस्तत्वानिरूपणात्। तथाहि—न तावद्दोषजन्यत्वम्, अविद्यादावव्याप्तेः दोषप्रमायामतिव्याप्तेश्च, दोषस्य ज्ञानं प्रत्येव जनकत्वेनार्थं प्रति तत्त्वे मानाभावाच्च। न चान्वयव्यतिरेकाभ्यां दोषस्यार्थजनकत्वमिति वाच्यम्, तयोर्ज्ञानविषयतयान्यथासिद्धत्वादनन्यथासिद्धान्वयव्यतिरेकाभ्यां कारणत्वावधारणत्वात्। एतेन दोषस्योपादानत्वमध्यस्तं[1] प्रति प्रत्युक्तम्, प्रमातृविषयकरणदोषाणामितरेतरविलक्षणत्वेनाननुगतत्वात्, जन्यतावच्छेदकापरिचयाच्च। नापि सम्प्रयोगजन्यत्वम् तद्, अन्तःकरणाध्यासात् पूर्वमधिष्ठानेन्द्रियसन्निकर्षस्याभावात्। न चाधिष्ठानसामान्यज्ञानं स इति वाच्यम्, निःसामान्यविशेषत्वेनात्मनोऽधिष्ठानसामान्यज्ञानस्य दुर्निरूपत्वात्। नापि संस्कारजन्यत्वमध्यस्तत्वं, भावनाख्यसंस्कारस्य स्मृतिजनकत्वेनार्थं प्रति तत्त्वे मानाभावात् प्रत्यभिज्ञायामतिव्याप्तेश्च। अत एव दोषसम्प्रयोगसंस्कारजन्यत्वं तदित्यपास्तम्।

नापि भ्रमविषयत्वं तद्, भ्रमस्यानिरूपणात्। तथाहि—न तावत्संस्कारजन्यज्ञानत्वं भ्रमत्वं; स्मृतावतिव्याप्तेः। न च तन्मात्रजन्यत्वं तदिति वाच्यम्, तद्ध्वंसेऽतिव्याप्तेः। नापि व्यधिकरणप्रकारकज्ञानत्वं तद्, घटेरूपमित्यादिप्रमायामतिव्याप्तेः। नाप्यसद्विषयज्ञानत्वं तद्, अतीतादिज्ञानेऽतिव्याप्तिः। अतीतत्वं नाम वर्त्तमानध्वंसप्रतियोगित्वम्। अनागतत्वं नाम वर्त्तमानप्रागभावप्रतियोगित्वम्। तदुभयस्याप्यसद्रूपतया तज्ज्ञानेऽतिव्याप्तिर्वज्रलेपायिता। अत एव विशेष्यावृत्तिप्रकारकत्वं तत्, तदभाव-

•

प्रश्न—अन्वय-व्यतिरेक से दोष को पदार्थ का भी उत्पादक (जनक) मान लो।

उत्तर—ऐसा नहीं होगा। 'अन्वय-व्यतिरेक' तो ज्ञान-विषयक होने से अन्यथा सिद्ध है, जबकि कारणता का निश्चय ऐसे अन्वय-व्यतिरेक से होता है जो अन्यथा-सिद्ध न हो।

प्रश्न—जिसके प्रति 'दोष' उपादान होता है वह अध्यस्त है ऐसा मान लो।

उत्तर—नहीं। प्रमाता, विषय और इन्द्रियादि करणों के दोष, आपस में भिन्न-भिन्न हैं जिससे कोई अनुगत दोष मिलता नहीं, जिसे उपादान माना जाय। किं च अध्यस्त-'जन्य वस्तुओं' की जन्यता किससे अवच्छिन्न है—यह ज्ञात न होने से भी उन्हें दोषाद्युपादान से जन्य कैसे माना जाय?

प्रश्न—सम्प्रयोग-जन्यता को अध्यस्त-जन्यों की जन्यतावच्छेदक मान लो।

उत्तर—नहीं मान सकते। अन्तःकरण के अध्यास के पहले अधिष्ठान से इन्द्रिय का सम्प्रयोग ही नहीं होता, अतः अन्तःकरण की जन्यता, 'सम्प्रयोग-जन्यता' से अवच्छिन्न नहीं होगी, अथ च क्या उसे भी 'अध्यस्त-जन्य' मानना चाहते हो?

प्रश्न—अधिष्ठान के सामान्य ज्ञान को ही 'सम्प्रयोग' समझ लो।

उत्तर—आत्मा में सामान्य-विशेष न होने से वहाँ उक्त सम्प्रयोग भी संगत नहीं है।

प्रश्न—अच्छा तो, संस्कार से जन्य होना अध्यस्तता है?

उत्तर—यह भी ठीक नहीं। प्रथमतः भावनानामक संस्कार 'स्मृतिरूप ज्ञान' का ही जनक होता है, पदार्थ का नहीं। दूसरी बात यह है कि यह लक्षण प्रत्यभिज्ञा में अतिव्याप्त भी है।

प्रश्न—तब दोष, सम्प्रयोग व संस्कार तीनों से जन्य होना अध्यस्तता हो जाय।

उत्तर—इसमें तो तीनों पक्षों के दोष इकट्ठे ही प्राप्त होंगे।

प्रश्न—भ्रमविषयता को अध्यस्तता मान लो।

उत्तर—कैसे मान लें? 'भ्रम' का प्रथमतः निरूपण कीजिये।

प्रश्न—संस्कार से उत्पन्न होने वाला ज्ञान 'भ्रम' होता है?

उत्तर—तब तो 'स्मृति' भी भ्रम होने लगेगी! और 'संस्कार-ध्वंस' भी भ्रम होगा!

प्रश्न—'व्यधिकरणप्रकारक ज्ञान' को भ्रम जान लो—जिस विशेष्य में जो धर्म नहीं है, वह उस विशेष्य के ज्ञान में 'प्रकार' बने तो वह 'ज्ञान', भ्रम है?

उत्तर—तब तो घट में 'रूप' है यह 'प्रमा' भी भ्रम होगी।

प्रश्न—जो विषय है नहीं; उसका 'ज्ञान' भ्रम है?

उत्तर—तब अतीत-विषयक शब्दादि प्रमा में अतिव्याप्ति होगी। ऐसे ही अनागत-विषयक ज्ञान में भी होगी। अत एव विशेषतः अवर्तमान-प्रकारक ज्ञान या तद्रहित-विषयक तत्प्रकारवाले ज्ञान को 'भ्रम' कहना उपपन्न नहीं हो पाता।

१. ग, अध्यस्तं प्रतीति पाठो न दृश्यते है।

प्रमाणाऽजन्यज्ञानविषयः पूर्वदृष्टसजातीयोऽर्थाध्यासः ॥ ३५ ॥

●

वृत्तितत्प्रकारकत्वं वा तदित्यपास्तम्। तस्मान्न भ्रमविषयत्वमध्यस्तत्वमित्याशङ्क्याह—अध्यासो नामेति। न चार्थाध्यासेऽव्याप्तिरिति वाच्यम्। अवभास्यत इति कर्म्मव्युत्पत्त्याऽर्थेऽपि तत्सम्भवात्। ततश्च स्वाधिकरणताऽयोग्याधिकरणेऽवभास्यमानत्वमर्थस्य, तादृशाधिकरणेऽवभासत्वं ज्ञानस्येति ज्ञानार्थाध्यासयोर्लक्षणसमन्वयः, अतो न काप्यव्याप्तिः पूर्वेति[1] भावः। अध्यासं विभजते—स चेति। द्वैविध्यमेवाह—ज्ञानेति। ज्ञानाध्यासं शब्दयति—तत्रैवेति[2] ॥ ३४ ॥

अर्थाध्यासं लक्षयति—प्रमाणेति। प्रमाणेन प्रत्यक्षाद्यन्यतमेनाजन्यं यज्ज्ञानं तस्य विषयः पूर्वदृष्टेन पूर्वानुभूतरजतेन सजातीयः रजतत्वेनैकजातीयः पूर्वदृष्टत्वानधिकरणत्वमित्येतत्। अयं निष्कर्षः प्रमाणाजन्यज्ञानविषयत्वे सति पूर्वदृष्टत्वानधिकरणत्वमर्थस्याध्यस्तत्वमिति। पूर्वदलाभावेऽभिनवोत्पन्न-घटेऽतिव्याप्तिः। उत्तरदलाभावे स्मर्य्यमाणशिवविष्णुगङ्गादिषु अतिव्याप्तिरतो-विशेषणद्वयमर्थवद्।

नन्वत्र तत्त्वावेदकं प्रमाणं विवक्षितमुत व्यवहारिकं वा ? आद्येऽपीदं लक्षणं प्रातीतिकव्यावहारिकयोरर्थाध्यासयोरसाधारणं साधारणं वा ? नाद्यः, प्रातीतिकलक्षणत्वे व्यावहारिकाध्यासेऽतिव्याप्तिः स्यात्, व्यावहारिकलक्षणत्वे इतरत्रातिव्याप्तिः स्यादुभयोः प्रमाणजन्यज्ञानविषयत्वात्। न द्वितीयः, धर्माऽधर्मयोरव्याप्तेस्तयोस्तत्त्वावेदकश्रुतिजन्यज्ञानविषयत्वात्। न च तदिष्टं ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य सर्वस्याध्यस्तत्वेन तयोरपि लक्ष्यत्वात्। नापि तृतीयः, उत्तरत्र विभागानुपपत्तेः।

●

शङ्का—अतः आत्मा में 'अन्तःकरणादिकों' को 'अध्यस्त' कहना तभी संभव हो सकेगा, जब 'अध्यास' के स्वरूप का निर्णय पहले किया जाय, उसके पूर्व नहीं। अर्थात् अध्यास के स्वरूप का निर्णय किये बिना अन्तःकरणादिकों को अध्यस्त कह देना उचित नहीं है।

समा०—उक्त शंका के समाधानार्थ 'अध्यास' का लक्षण यह है—

'अन्य' में 'अन्य' का जो 'अवभास' होता है, उसी को 'अध्यास'[3] कहते हैं। वह 'अध्यास'—(१) ज्ञानाध्यास और (२) अर्थाध्यास के भेद से दो प्रकार का होता है।

'ज्ञानाध्यास' के पक्ष में 'अवभास' पद से 'भ्रान्तिज्ञान' का ग्रहण करना चाहिये, और 'अर्थाध्यास' के पक्ष में 'अवभास' पद से 'भ्रमज्ञान' के विषयभूत 'रजतादि' अर्थ का ग्रहण करना चाहिये। ऐसा करने से उक्त अध्यास लक्षण, उभयविध अध्यास में घटित हो जाता है। अर्थात् अध्यास का यह सामान्य लक्षण है।

अब क्रमशः ज्ञानाध्यास का तथा अर्थाध्यास का लक्षण बताते हैं। अर्थात् विशेष लक्षण बताते हैं।

जिस वस्तु की अधिकरणता के अयोग्य अधिकरण में सजातीय वस्तु की बुद्धि होती है, उसे तो 'ज्ञानाध्यास'[4] कहते हैं। यथा—वस्तुतः 'रजत' की अधिकरणता के अयोग्य 'शुक्ति' में जो 'इदं रजतम्' की बुद्धि होती है, तथा वस्तुतः अन्तःकरणादि-रूप अनात्मा की अधिकरणता के अयोग्य 'आत्मा' में जो 'अनात्मबुद्धि' हो रही है, उसी को 'ज्ञानाध्यास कहते हैं ॥ ३४ ॥

प्रत्यक्षादि प्रमाणों में से किसी भी प्रमाण से न होनेवाले (अजन्य) ज्ञान का विषय, जो पूर्वानुभूत रजत के समान (सजातीय) अर्थात् रजतत्वेन एक जातीय हो, वह अध्यासरूप ही होता है। निष्कर्ष यह है कि जो पदार्थ, प्रमाण से अजन्य ज्ञान का विषय हो, तथा पूर्वदृष्टत्व धर्म का अधिकरण भी न हो; वह पदार्थ—'अर्थाध्यास'[5] कहलाता है।

उक्त लक्षण में 'पूर्वदल' के न रखने पर 'अभिनवोत्पन्नघट' में अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि वह 'घट' भी 'पूर्वदृष्टत्व' धर्म का अनधिकरण हो है। उस अतिव्याप्ति के निरासार्थ पूर्वदल—प्रमाणाजन्यज्ञानविषयत्व—की आवश्यकता है। घट में 'प्रमाणाऽजन्यज्ञानविषयता' नहीं है, किन्तु उस घट में 'प्रमाणजन्यज्ञान-विषयत्व' ही है। अतः 'घट' में लक्षण को अतिव्याप्ति नहीं हो पाती। तथा 'उत्तरदल' के न रखने पर स्मर्यमाण शिव, विष्णु, गंगा आदि में अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि 'प्रमाणाऽजन्य

१. पूर्वा पूर्वोक्ताऽव्याप्तिः क्वापि नेति सम्बन्धः।
२. तत्रेति—इति भवेत्।
३. "परत्र परावभासः अध्यासः"।
४. 'अतस्मिंस्तद्बुद्धिः ज्ञानाध्यासः'।
५. 'प्रमाणाजन्यज्ञानविषयत्वेसति पूर्वदृष्टत्वानधिकरणत्वमर्थाध्यासत्वम्'।

किञ्च प्रमाणाजन्यज्ञानं साक्षिचैतन्यं विवक्षितं, किं वा वृत्तिज्ञानम् ? नाद्यः, जीवेऽव्याप्त्यापत्तेः। न द्वितीयः, चैतन्येऽतिव्याप्तेः। जडस्य वृत्त्यविषयतयाऽसम्भवापत्तेः। तस्मादिदं लक्षणमनुपपन्नमिति।

मैवम्। तत्त्वावेदकमेवात्र प्रमाणं विवक्षितम्। तच्च तत्त्वमस्यादिवाक्यं तदजन्यज्ञानं वृत्त्यभिव्यक्तचैतन्यं तद्विषयत्वं घटादौ प्रातिभासिकरजतादौ च वर्त्तत इति नाव्याप्तिः, न चासम्भवः। व्यावहारिकप्रातिभासिकसाधारणलक्षणत्वात् न चातिव्याप्तिः। न च धर्म्माधर्म्मयोस्तत्त्वावेदकश्रुतिजन्यज्ञानविषयतयाव्याप्तिरिति वाच्यम्, ऐकात्म्यबोधकतत्त्वमस्यादिवाक्यव्यतिरिक्तस्य पारमार्थिकतत्त्वावेदकत्वानुपपत्तेः। अतो धर्म्माधर्म्मयोर्नाव्याप्तिरिति लक्षणं सङ्गतमेवेति।

स्मृतिज्ञान' का विषयत्व 'शिव-विष्णु-गंगा' आदि तीनों में रहने से लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। उस अतिव्याप्ति के निरासार्थं लक्षण में 'पूर्वंदृष्टत्वानधिकरणत्वं' कहना आवश्यक है। 'पूर्वंदृष्ट पदार्थ' की 'स्मृति' हुआ करती है। उस कारण स्मर्यमाण पदार्थों में 'पूर्वंदृष्टत्व धर्म' की अनधिकरणता नहीं है। अपितु 'अधिकरणता' ही होती है। उस कारण स्मर्यमाण पदार्थों में अर्थाध्यास के लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो पाती। अतः 'अर्थ' के इन दोनों विशेषणों को देना आवश्यक है।

जैसे—'शुक्ति' में रजत, तथा 'आत्मा' में अन्तःकरणादिक—ये अर्थाध्यासरूप हैं। इनमें 'शुक्ति-रजत' को विषय करनेवाला जो 'इदं रजतम्'—ज्ञान है, वह 'अप्रमा' रूप होने से किसी भी प्रमाण से जन्य नहीं है। उस कारण वह 'रजत', उस 'प्रमाणाऽजन्यज्ञान' का विषय भी है, और वह 'रजत' अपनी प्रतीति होने से पूर्व 'तथा' (वैसा) न होने के कारण, 'वह' 'पूर्वंदृष्टत्व' धर्म का अनधिकरण भी है। उसकारण 'वह रजत', अर्थाध्यासरूप है। इस अर्थाध्यासलक्षण को 'रज्जुसर्प' आदि में भी समन्वित कर लेना चाहिए।

शंका—'प्रमाणाऽजन्य' गत 'प्रमाण' शब्द से 'तत्त्वावेदकप्रमाण' विवक्षित है, अथवा व्यावहारिकप्रमाण विवक्षित है ?

तत्त्वावेदक प्रमाण पक्ष में भी उक्त लक्षण, 'प्रातीतिक—व्यावहारिक—दोनों प्रकार के अर्थाध्यासों का असाधारण लक्षण है या साधारण लक्षण है ?

प्रथम पक्ष ठीक नहीं होगा, क्योंकि प्रातीतिक लक्षण मानने पर व्यावहारिक अध्यास में अतिव्याप्ति होगी। व्यावहारिक लक्षण मानने पर अन्यत्र अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि दोनों में ही 'प्रमाणाऽजन्यज्ञानविषयता' है।

द्वितीयपक्ष भी ठीक नहीं होगा, क्योंकि धर्माधर्म में अव्याप्ति होगी। दोनों में 'तत्त्वावेदक श्रुतिजन्यज्ञानविषयता' है। किन्तु वह अभीष्ट नहीं है। क्योंकि ब्रह्मभिन्न सभी कुछ अध्यस्त रहने से वे दोनों ही 'लक्ष्य' कोटि—में हैं। तृतीयपक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि उत्तरत्र विभाग की उपपत्ति नहीं हो पाती।

किञ्च—उक्त 'प्रमाणाऽजन्यज्ञान' से 'साक्षि चैतन्य' विवक्षित है, किंवा 'वृत्तिज्ञान' विवक्षित है ?

प्रथमपक्ष का यदि स्वीकार करते हैं, तो 'जीव' में अव्याप्ति होगी। यदि द्वितीयपक्ष का स्वीकार करते हैं, तो 'चैतन्य' में अतिव्याप्ति होगी। तथा 'जड' में वृत्त्यविषयता होने से 'असंभव' होगा। अतः उक्त लक्षण, अनुपपन्न है।

इस पर समाधान यह है कि 'यहाँ पर 'तत्त्वावेदकप्रमाण' ही विवक्षित है। वह तत्त्वावेदक प्रमाण 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य ही है, उससे 'अजन्य ज्ञान' अर्थात् 'वृत्त्यभिव्यक्तचैतन्य', उसकी विषयता 'घटादि' में और 'प्रातिभासिक रजतादि' में है, अतः अव्याप्ति नहीं है। एवं च व्यावहारिक तथा प्रातिभासिक दोनों का यह साधारण लक्षण होने से 'असंभव' भी नहीं है। उसी तरह अतिव्याप्ति भी नहीं है।

शंका—'धर्माधर्म' में तत्त्वावेदकश्रुतिजन्यज्ञानविषयता, रहने से 'अव्याप्ति' होगी।

समा०—ऐकात्म्यबोधकतत्त्वमस्यादिवाक्य के व्यतिरिक्त को 'पारमार्थिकतत्त्वावेदकत्व' नहीं होता। अतः 'धर्माधर्म' में अव्याप्ति नहीं है। एवं च उक्त लक्षण, उचित ही है।

कुछ लोग 'प्रातीतिक अध्यास' का लक्षण यह करते हैं—'प्रमाणाऽजन्यज्ञानविषयत्वे सति पूर्वदृष्टत्वानधिकरणत्वम्'—यहाँ पर 'प्रमाण' शब्द से 'अज्ञातार्थबोधक' विवक्षित है।

तब तो 'घट' आदि पदार्थों में 'अज्ञातत्व' न होने से 'अतिव्याप्ति' होगी ?

किन्तु यहाँ अतिव्याप्ति नहीं हो सकेगी, क्योंकि 'प्रमाणाऽजन्यज्ञानविषयत्वं' से 'अज्ञातगोचरवृत्त्यनुपहितवृत्त्युपहित-विशेषचैतन्यविषयत्व' की विवक्षा की गई है। 'घटादि' पदार्थों में वैसा न रहने से अतिव्याप्ति नहीं हो रही है। और 'शुक्ति-

सोऽपि द्विविधः—प्रातीतिको व्यावहारिकश्चेति। तत्रागन्तुकदोषजन्यः प्रातीतिकः। यथा शुक्तिरजतादिः।

अन्ये तु—प्रमाणाजन्यज्ञानविषयत्वे सति पूर्वदृष्टत्वानधिकरणत्वं प्रातीतिकाध्यासस्य लक्षणम्। अत्र प्रमाणमज्ञातार्थ-बोधकं विवक्षितम्। न चैवं सति घटादेरज्ञातत्वाभावात्तत्रातिव्याप्तिरिति वाच्यम्। प्रमाणाजन्यज्ञानविषयत्वमित्यनेनाज्ञातगोचर-वृत्त्यनुपहितवृत्त्युपहितविशेषचैतन्यविषयत्वं विवक्षितं घटादेरतथात्वान्नातिव्याप्तिः। शुक्तिरजतादेस्तथात्वमस्त्येव। भ्रमकाले शुक्तित्वप्रकारकवृत्तेरभावात्। अज्ञातगोचरवृत्त्यनुपहितमिदमाकारवृत्त्युपहितं यद्विशेषचैतन्यं तद्विषयत्वं शुक्तिरजतादौ वर्त्तते। न चाज्ञानान्तःकरणादीनां प्रातिभासिकत्वात्तत्राव्याप्तिरिति वाच्यम्। तेषां सर्वदा साक्षिणानुभूयमानत्वेनादृष्टपूर्वत्वान्नाव्याप्तिः। न च पूर्वदृष्टत्वं नाम पूर्वकालीनदर्शनविषयत्वं पूर्वकालीनदर्शनं साक्षिचैतन्यं तद्विषयत्वानधिकरणत्वम्, अज्ञानादिषु नास्तीत्यव्याप्ति-रिति वाच्यम्। मास्तु तर्हि तेषां प्रातिभासिकत्वं, संसारदशायामबाधितत्वेन व्यावहारिकत्वात्। एवञ्च स्वप्नाध्यासेऽपि योजनीयम्।

यद्वा पूर्वदृष्टत्वं नाम विषयसत्ताप्रयोजकदर्शनविषयत्वं विवक्षितम्, अस्मिन्पक्षे न कुत्राव्याप्तिरतिव्याप्तिर्वा। अयं निष्कर्षः, अज्ञातगोचरवृत्त्यनुपहितवृत्त्युपहितविशेषचैतन्यविषयत्वे सति विषयसत्ताप्रयोजकदर्शनविषयत्वं प्रातिभासिकलक्षणम्। तद्भिन्नत्वं व्यावहारिकाध्यासलक्षणमिति—वदन्ति ॥ ३५ ॥

अर्थाध्यासं विभजते—**सोऽपीति**। प्रातीतिकस्य लक्षणमाह—**तत्रेति**। तत्रोदाहरणमाह—**यथेति**। व्यावहारिकाध्यासं लक्षयति—**प्रातीतिकेति**। प्रतीतिकाले भवः प्रातीतिकः। तदुदाहरति—**यथेति**।। ननु भवत्वेवमध्यस्तत्वं ततः किमित्यत आह—**तथाचेति**।

अपरे तु दोषसंप्रयोगसंस्कारजन्यत्वमध्यस्तत्वमिति वदन्ति। तेषामयमाशयः—इदं लक्षणं प्रातीतिकव्यावहारिकाध्यास-साधारणम्। न चाविद्याध्यासेऽव्याप्तिरिति वाच्यम्, तस्यालक्ष्यत्वात्, कार्याध्यासस्यैवानर्थहेतुतया लिलक्षयिषितत्वेन तस्यैवेदं लक्षणम्। न च विशेषणवैयर्थ्यं, लक्षणद्वयस्यानेन विवक्षितत्वात्। तथाहि—दोषजन्यत्वे सति संस्कारजन्यत्वम्, संप्रयोगजन्यत्वे सति संस्कारजन्यत्वञ्चेति। तत्र संस्कारजन्यत्वमध्यस्तत्वमित्युक्ते स्मृतावतिव्याप्तिस्तद्वारणाय दोषजन्येति। तावत्युक्ते दोषजन्य-

रजतादि' में लक्षण घटित हो जाने से लक्षण का समन्वय हो जाता है। भ्रमकाल में 'शुक्तित्वप्रकारकवृत्ति' नहीं रहती। 'अज्ञात-गोचरवृत्त्यनुपहित इदमाकारवृत्त्युपहित विशेषचैतन्य' की विषयता 'शुक्ति-रजत' में रहती है।

यदि यह कहो कि 'अज्ञान, अन्तःकरण आदि प्रातिभासिक होने से उनमें अव्याप्ति होगी, तो यह कहना भी उचित नहीं है। क्योंकि अज्ञान, अन्तःकरण आदि, सर्वदा 'साक्षी' के द्वारा अनुभूयमान होते रहते हैं, उसकारण दृष्टपूर्व होने से उनमें अव्याप्ति नहीं होगी। 'पूर्वदृष्टत्वं नाम पूर्वकालीनदर्शनविषयत्वम्'—पूर्वकालीनदर्शन की विषयता जिसमें रहती है, उसे 'पूर्वदृष्ट' कहते हैं। पूर्वकालीनदर्शन—'साक्षिचैतन्य' ही है, तद्विषयत्वाऽनधिकरणत्व 'अज्ञानादिकों' में न होने से अव्याप्ति होगी। तो यह कहना भी ठीक नहीं है। अतः संसारदशा में अबाधित रहने से उनकी व्यावहारिकता है, उनमें 'प्रातिभासिकत्व' नहीं है। इसी प्रकार स्वप्नाध्यास में भी समझना चाहिये। अथवा विषय की सत्ता के प्रयोजक के दर्शन की विषयता जिसमें रहे, वह 'पूर्वदृष्ट' है। तब इस पक्ष में कहीं भी न अव्याप्ति है और न अतिव्याप्ति है। यह कुछ लोगों का कहना है ॥३५॥

अब 'अर्थाध्यास' का विभाग करते हैं—

यह 'अर्थाध्यास' (१) प्रातीतिक और (२) व्यावहारिकभेद से दो प्रकार का है। 'प्रातीतिक अध्यास' का लक्षण बताते हैं—जो पदार्थ, आगन्तुकदोष' से जन्य हो, उसे—'प्रातीतिक' कहते हैं। इसी प्रातीतिक को 'प्रातिभासिक' भी कहते हैं। जैसे—'शुक्ति' में 'रजत', तथा 'रज्जु' में 'सर्प', तथा 'मरुभूमि' में 'जल'—इत्यादि पदार्थ, 'आगन्तुकदोष' से जन्य हैं, अतः इन्हें 'प्रातीतिक' कहा जाता है। इन प्रातीतिक पदार्थों को पैदा करनेवाले दोष—(१) प्रमातृदोष, (२) विषयदोष, और (३) कारणदोष—तीन प्रकार के होते हैं। इन दोषों में से—'राग, भय, आदि'—'प्रमातृगत दोष' हैं। तथा 'सादृश्य आदि'—विषयदोष हैं। तथा 'काच-कामलादिक आदि'—करणदोष हैं। इन तीन प्रकार के दोषों में से किसी एक दोष से जन्य होने के कारण 'शुक्ति-रजत' आदि पदार्थ, 'अर्थाध्यासरूप' हैं, अब व्यावहारिक अध्यास को बताते हैं—

प्रातीतिकभिन्नो व्यावहारिकः। यथाकाशादिघटान्तं जगत्। तथाच प्रमातृत्वादिबन्धस्याध्यस्ततया मिथ्यात्वमुपपद्यते। एतदभिप्रायेणोक्तं भगवता भाष्यकारेण "स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः सजातीयावभास"[1] इति। अस्यार्थः—स्मृतिरूपः

●

प्रमायामतिव्याप्तिः। त्रिविधो दोषः—प्रमातृदोषो, विषयदोषः, करणदोषश्चेति। रागादिराद्यः, सादृश्यादिर्द्वितोयः, काचादिस्तृतीयः। प्रत्यक्षे विषयस्य कारणत्वेन सादृश्यप्रत्यक्षप्रमाया दोषजन्यतया तत्रातिव्याप्तिः स्यादेव, तद्वारणाय संस्कारजन्येति। न च दोषत्वेन दोषजन्यत्वविवक्षायामुत्तरदलवैयर्थ्यमिति वाच्यम्, दोषत्वस्याननुगतत्वेन तदयोगात्। न च दोष-संस्कारयोर्ज्ञानजनकत्वेन कथमर्थस्य तज्जन्यत्वमिति वाच्यम्, अन्वयव्यतिरेकाभ्यां तयोरर्थं प्रत्यपि कारणत्वावधारणात्। न च तदन्वयव्यतिरेकयोर्ज्ञानविषयतयाऽन्यथासिद्धत्वेन ताभ्यां तयोरर्थं प्रति कथं कारणत्वावधारणमिति वाच्यम्, विनिगमनाविरहेणोभयत्र हेतुत्वे बाधकाभावात्। तस्माद्दोषजन्यत्वे सति संस्कारजन्यत्वमध्यस्तत्वमिति निरवद्यम्। तथा द्वितीयेऽपि स्मृतावतिव्याप्तिपरिहाराय सम्प्रयोगजन्यत्वे सतीति। तावत्युक्ते प्रमायामतिव्याप्तिरत उत्तरदलम्। न चैवमपि प्रत्यभिज्ञायामतिव्याप्तिस्तत्रोक्तलक्षणसत्त्वादिति वाच्यम्, तद्भिन्नत्वे सतीति विशेषणात्। सम्प्रयोगशब्देनाधिष्ठानेन्द्रियसन्निकर्ष उच्यते। न चैवं सत्यन्तःकरणाध्यासेऽव्याप्तिस्तदधिष्ठानेन्द्रियसन्निकर्षाभावादिति वाच्यम्, तत्राधिष्ठानसामान्यज्ञानस्यैव सन्निकर्षत्वेन विवक्षितत्वात्। न च प्रत्यगात्मनोऽधिष्ठानस्य निःसामान्यविशेषतया कथं तत्सामान्यज्ञानं तत्पूर्वमिति वाच्यम्, वास्तवस्य तस्याभावेऽप्याविद्यकसामान्यविशेषभावस्य सुलभत्वात्। अथ वा सम्प्रयोगजन्यत्वे सति दोषजन्यत्वं लक्षणान्तरमस्तु। तस्मादिदमपि लक्षणं समञ्जसमिति।

●

आगन्तुकदोषजन्य प्रातीतिक पदार्थ से भिन्न पदार्थ को 'व्यावहारिक' कहते हैं। जैसे 'आकाश' से लेकर 'घट' तक के पदार्थ, व्यावहारिक अर्थाध्यासरूप हैं। आत्मज्ञान के पूर्व जिन पदार्थों का बाध नहीं होता, वे पदार्थ, 'व्यावहारिक' कहे जाते हैं। और आत्मज्ञान के पूर्व ही जिन पदार्थों का बाध होता है, वे पदार्थ, 'प्रातीतिक' अथवा 'प्रातिभासिक' कहे जाते हैं। तथा च—'प्रमातृत्वादिबन्ध', अध्यस्त होने से, उसे 'मिथ्या' ही समझना चाहिये। अर्थात् अध्यस्त होने के कारण 'प्रमातृत्वादि-बन्ध' का मिथ्यात्व उपपन्न हो जाता है।

कुछ लोगों का अभिप्राय यह है कि 'प्रातीतिक' और 'व्यावहारिक'—इन उभयविध अध्यासों का यह साधारण लक्षण है। पूर्वोक्त 'दोष', तथा 'शुक्ति आदि अधिष्ठान' के साथ, 'चक्षुरादि इन्द्रिय' का सम्बन्ध (सम्प्रयोग), तथा 'देशान्तरीय रजतादिकों' के अनुभव से उत्पन्न संस्कार,—इन तीनों से होनेवाली जो 'जन्यता' है, वही उन रजतादिकों में 'अध्यस्तता' है।

यद्यपि वेदान्तसिद्धान्त में 'अविद्या' अनादि होने से उक्त 'दोष आदि' से वह जन्य नहीं है। उस कारण इस 'अविद्या-ध्यास' में उक्त लक्षण की 'अव्याप्ति' हो रही है।

तथापि यह उक्त लक्षण, 'अन्तःकरणादिरूप कार्याध्यास' का ही है। 'अनादि अविद्या' का यह लक्षण नहीं है। उस कारण उक्त लक्षण की अलक्ष्यरूप 'अविद्या' में उस लक्षण की अव्याप्ति नहीं हो रही है। अभिप्राय यह है कि 'कार्याध्यास' ही 'जाग्रत्' और 'स्वप्न' में 'जीव' के अनर्थ का 'कारण' होता है। और 'अविद्याध्यास', 'सुषुप्ति' में विद्यमान रहता हुआ भी 'अनर्थ' का कारण (हेतु) नहीं होता। अतः उक्त लक्षण, 'कार्याध्यास' का ही है।

शङ्का—उक्त लक्षण में 'दोष', 'सम्प्रयोग', और संस्कार' इन तीन पदों के कहने की क्या आवश्यकता है?

समा०—उक्त लक्षण में तीन पदों के कहने से 'अध्यास' के ये दो लक्षण[1] निष्पन्न होते हैं—जो पदार्थ, 'दोष' से जन्य होकर, संस्कार से भी जन्य होता है, उस 'पदार्थ' को 'अध्यस्त' कहते हैं। (१) 'अथवा' जो पदार्थ, 'सम्प्रयोग' से उत्पन्न होकर 'संस्कार' से भी जन्य होता है, उस 'पदार्थ' को 'अध्यस्त' कहते हैं। (२) प्रथम लक्षण में—'संस्कारजन्यस्मृति' में अतिव्याप्ति के निरसनार्थ 'दोषजन्य' पद का निवेश किया गया है। तथा 'विषयदोष' से जन्य दोष की 'प्रत्यक्ष प्रमा' में अतिव्याप्ति के निवृत्यर्थ लक्षण में 'संस्कारजन्य' पद का निवेश किया गया है।

प्रश्न—दोषप्रमा में दोष; विषयरूप से कारण है, न कि दोष रूप से! अतः दोषरूप से जो; दोष से जन्य हो, उसे ही यहाँ विवक्षित मानें तो क्या दोष है?

---

१. सजातीयावभास इति पदं सूत्रभाष्ये नास्ति।

संस्कारजन्यत्वेन स्मृतिसदृशः, पूर्वदृष्टावभासः पूर्वदृष्टसजातीयावभास इति ज्ञानाध्यासपक्षे। अर्थाध्यासपक्षे तु प्रमाणा-

●

उक्ताभिप्रायं भाष्यलक्षणे योजनीयमिति भाष्यकारं पूजयन् तल्लक्षणमुदाहरति—एतदिति। भाष्यलक्षणं व्याचष्टे—अस्यार्थ इति। ज्ञानाध्यासपक्षे लक्षणं योजयति—स्मृतीति। स्मृतेरूपमिव रूपमस्येति स्मृतिसदृशोऽध्यासः। संस्कारजन्यत्वेन तयोः सादृश्यमित्याह—संस्कारेति।

●

उत्तर—अनुगत दोषरूपता न मिलने से वह कहा नहीं जा सकता।

प्रश्न—दोष व संस्कार, पदार्थों के उत्पादक कैसे माने जायें?

उत्तर—अन्वय-व्यतिरेक से जैसे वे, ज्ञान के उत्पादक हैं वैसे ही पदार्थ के भी।

प्रश्न—पहले कहा था कि अन्वय-व्यतिरेक तो ज्ञानविषयक है; अतः दोष व संस्कार के रहते तादृश ज्ञान होता है, उनके बिना नहीं होता, इसलिये वे ज्ञान के उत्पादक माने जा सकते हैं। एतावता पदार्थ के उत्पादक क्यों होंगे?

उत्तर—दोष व संस्कार के रहते ही अध्यस्त पदार्थ भी होता है व उनके बिना वह भी नहीं होता, अतः वे ज्ञान के ही जनक हैं—यह आग्रह निराधार होने से पदार्थ के भी वे ही जनक हैं। इसलिये दोष से उत्पन्न होते हुए संस्कार से उत्पन्न होना ही अध्यस्त होना है—इस लक्षण में कोई दोष नहीं है।

उसी तरह द्वितीय लक्षण में भी 'संस्कारजन्यस्मृतिज्ञान' में अतिव्याप्ति के निवृत्त्यर्थ 'सम्प्रयोगजन्य' पद का निवेश किया गया है, और 'सम्प्रयोगजन्य प्रत्यक्षप्रमा' में अतिव्याप्ति के निरासार्थ 'संस्कारजन्य' पद का निवेश किया गया है।

यद्यपि द्वितीय लक्षण की 'सोऽयं देवदत्तः' इस प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष में अतिव्याप्ति हो रही है, क्योंकि वह 'प्रत्यभिज्ञा', 'सम्प्रयोग' और 'संस्कार'—दोनों से 'जन्य' हैं। तथापि उस लक्षण में 'प्रत्यभिज्ञाभिन्नत्वे सति'—यह विशेषण देने पर 'प्रत्यभिज्ञा' में अतिव्याप्ति नहीं होती।

शङ्का—'आत्मा' में जो 'अन्तःकरण' आदि का अध्यास है, उसमें 'सम्प्रयोगजन्यत्व' का होना संभव नहीं है, क्योंकि उसके अधिष्ठानभूत आत्मा के साथ चक्षुरादि इन्द्रियों का सम्बन्ध नहीं है। उस कारण अन्तःकरण आदि के अध्यास में उक्त लक्षण की अव्याप्ति हो रही है।

समा०—लक्षण में प्रयुक्त 'सम्प्रयोग' शब्द से अधिष्ठानभूत आत्मा के सत्ता आदि सामान्य अंश का ज्ञान ही विवक्षित है। वह 'सामान्यज्ञान' उन अन्तःकरणादिकों के अध्यास के पूर्व है ही। उस 'अधिष्ठान भूत आत्मा' का 'सामान्यज्ञान' किसी 'इन्द्रिय' से जन्य नहीं है, अपितु अपने 'स्वयं-प्रकाश' से ही है। उस कारण 'अन्तःकरणादिकों के अध्यास' में उक्त लक्षण की अव्याप्ति नहीं हो रही है।

शङ्का—'रजतादिरूप अर्थ' की जनकता, 'पूर्वोक्त दोषों' को तथा 'संस्कार' को जो कही थी, वह असंभव है। क्योंकि वे 'दोष, और संस्कार', 'रजतज्ञान' के ही जनक होते प्रतीत होते हैं, रजतादिरूप अर्थ' के नहीं।

समा०—अन्वय-व्यतिरेक से अर्थात् 'दोष' और 'संस्कार' के विद्यमान रहने पर ही 'रजतादिरूप अर्थ, की तथा उसके 'ज्ञान' की उत्पत्ति होती है, और उन दोष तथा संस्कारों के विद्यमान न रहने पर रजतादिरूप अर्थ की तथा उसके ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती—इस नियम से वे 'दोष, और संस्कार', 'अर्थाध्यास तथा ज्ञानाध्यास'—दोनों के प्रति कारण होते हैं। उस कारण 'ज्ञानाध्यास' के समान 'अर्थाध्यास' भी 'दोष' तथा 'संस्कार' से उत्पन्न होता है।

उक्त अभिप्राय को भाष्योक्त लक्षण में समन्वित करने की इच्छा से ग्रन्थकार, 'भाष्यकार' के प्रति आदर प्रदर्शित करते हुए भाष्योक्त लक्षण को बता रहे हैं

उक्त अभिप्राय को ध्यान में रखकर ही भगवान् भाष्यकार आचार्यपाद ने—परविषयक पूर्वदृष्ट का स्मृतिरूप अवभास—यह 'अध्यास' का लक्षण किया है—यह 'अध्यासलक्षण', दोनों अध्यासों (ज्ञानाध्यास और अर्थाध्यास) का साधारण लक्षण है।

जन्यज्ञानविषयः पूर्वदृष्टसजातीयावभास इति । एवं श्रुतार्थापत्तिर्निरूपिता ॥ ३६ ॥

अभावप्रमा योग्यानुपलब्धिकरणिका । यथा घटानुपलब्ध्या घटाभावप्रमा भूतले जायते । तत्रानुपलब्धिरेव करणं

ननु पूर्वदृष्टरजतादेरन्यत्र विद्यमानत्वेन तत्सन्निकर्षाभावात् परत्र शुक्त्यादौ पूर्वदृष्टरजतावभासः कथं स्यादित्याशङ्क्य पूर्वदृष्टेत्यंशं व्याचष्टे—पूर्वेति । पूर्वदृष्टेन रजतादिना रजतत्वेन सजातीयस्य भ्रमकालोत्पन्नानिर्वचनीयरजतस्यावभास इत्यर्थः । अर्थाध्यासे लक्षणं योजयति—अर्थेति । पूर्वेति । पूर्वदृष्टत्वानाधार इत्यर्थः । एवञ्चान्तःकरणस्याध्यस्ततया प्रमातृत्वादिबन्धस्य मिथ्यात्वमुपपद्यत इत्यतो नार्थापत्तेरन्यथोपपत्तिरित्यभिप्रेत्य श्रुतार्थापत्तिनिरूपणमुपसंहरति—एवमिति ॥३६॥

क्रमप्राप्तमभावप्रमाम्निरूपयति—अभावेति । अनुपलब्धेरभावप्रमाकरणत्वमुदाहरणमुखेन विशदयति—यथेति । उपलब्धेरभावोऽनुपलब्धिः तया भूतले घटो नास्तीति घटाभावप्रमा जायत इति योजना ।

ननु—तर्कसहकारिणानुपलब्धिसहकृतेन प्रत्यक्षेणाभावग्रहणसम्भवादनुपलब्धेः पृथक् प्रमाणत्वं किमर्थं कल्पनीयं गौरवात् । नचेन्द्रियस्याधिकरणग्रहणोपक्षीणत्वेनाभावेन समं सन्निकर्षाभावाच्च तत् प्रमाकरणत्वानुपपत्तेरनुपलब्धेर्मानान्तरत्वमङ्गीकर्त्तव्यमिति वाच्यम्, इन्द्रियेणाभावग्रहणेऽधिकरणग्रहणस्यावान्तरव्यापारत्वोपपत्तेः, संयोगाद्यभावेऽपि विशेषणविशेष्यभावसन्निकर्षसम्भवेन यथोक्तप्रत्यक्षेणैवाभावप्रमासम्भवात् । किमनुपलब्धेर्मानान्तरत्वकल्पनया ? इति । नैयायिकादीनामाशङ्कामपाकरोति—तत्रेति । अभावप्रमा सप्तम्यर्थः । एवकारव्यवच्छेद्यमाह—नेति । करणमित्यनुषज्यते । तथा च करणं नेन्द्रियमिति योजना । प्रतिज्ञातेऽर्थे हेतुमाह—तस्येति ।

ज्ञानाध्यासपक्ष में भाष्योक्त लक्षण का अर्थ यह होगा कि संस्कारजन्य होने से, 'स्मृति' के सदृश ऐसा जो पूर्वदृष्ट अर्थ उसके सजातीय अर्थ का जो ज्ञान, उसी को 'ज्ञानाध्यास' कहते हैं।

जैसे—'शुक्ति' में 'इदं रजतम्' यह ज्ञान है।

अर्थाध्यास पक्ष में भाष्योक्तलक्षण का अर्थ यह होगा कि 'स्मृतिरूप' अर्थात् प्रमाण से अजन्य ज्ञान का विषय, जो पूर्वदृष्ट अर्थ है उसका सजातीय होना ही 'अर्थाध्यास' है।जैसे—'शुक्ति' आदि पदार्थ में 'रजतादि' है।

इस प्रकार से 'अध्यास' के सिद्ध होने पर 'प्रमातृत्व', 'कर्तृत्व', 'भोक्तृत्व' आदि 'बन्ध' भी अध्यस्त रहने से उनमें 'मिथ्यात्व' उपपन्न हो जाता है। उस कारण 'तरति शोकमात्मवित्'—इस श्रुति से श्रुत हुआ जो 'बन्ध' में 'ज्ञाननिवर्त्यत्व' है; वह, 'बन्ध' के मिथ्यात्व के बिना अनुपपन्न होगा। अतः वह (ज्ञाननिवर्त्य), अपनी उपपत्ति के लिये 'बन्ध' में 'मिथ्यात्व' की कल्पना कराता है, इसी को श्रुतार्थापत्ति कहते हैं।

स्मृति और ज्ञानाध्यास दोनों में 'संस्कारजन्य' होने की समानता है।

शंका—पूर्वदृष्ट 'रजत', अन्यत्र विद्यमान होने से उसके साथ 'सन्निकर्ष' होना संभव नहीं है। तब परत्र अर्थात् 'शुक्ति' में 'पूर्वदृष्टरजत' का अवभास कैसे हो सकेगा ?

समा०—पूर्वदृष्ट रजत से 'रजतत्वेन' रूपेण सजातीय (समान) लगनेवाले भ्रमकालोत्पन्न अनिर्वचनीयरजत का अवभास होना विवक्षित है, अतः उक्त शंका व्यर्थ है।

इसलिये 'अर्थापत्ति' प्रमाण की अन्यथा उपपत्ति नहीं हो सकती। 'अर्थापत्ति' को स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में ही स्वीकार करना चाहिए। इस प्रकार अर्थापत्तिनिरूपण समाप्त हुआ ॥ ३६ ॥

अब क्रम-प्राप्त 'अभाव' प्रमा का निरूपण करते हैं—

योग्य अनुपलब्धि, 'जिस प्रमा' का, 'करण', है, उस 'प्रमा' को 'अभावप्रमा' कहते हैं। जैसे भूतल पर घट की उपलब्धि न होने से वहाँ 'घट' नहीं है (घट का अभाव है)—यह प्रमा उत्पन्न हो जाती है। इस प्रमा का करण घटोपलब्धि न होना ही है, इन्द्रियां नहीं क्योंकि वे तो अधिकरणरूप भूतल को ग्रहण कर ही कृतकार्य हो चुकती हैं तथा अभाव से उनका सम्बन्ध भी स्थापित नहीं हो सकता।

---

१. 'दोषजन्यत्वे सति संस्कारजन्यत्वमध्यस्तत्वम्' । अथवा, 'सम्प्रयोगजन्यत्वे सति संस्कारजन्यत्वमध्यस्तत्वम्' ॥

नेन्द्रियं, तस्याधिकरणग्रहणोपक्षीणत्वात् । अभावेन समं सन्निकर्षाभावाच्च ॥ २७ ॥

नन्वधिकरणज्ञानस्य व्यापारत्वान्नेन्द्रियस्य तत्रोपक्षीणत्वमित्याशङ्क्याह—अभावेनेति । नचेन्द्रियाभावयोर्विशेषण-विशेष्यभावः सन्निकर्ष इति वाच्यम्; सन्निकर्षो नाम सम्बन्धः । स च सम्बन्धिभ्यां भिन्न उभयाश्रितश्चैकश्चेति । विशेषण-विशेष्यभावास्यातथात्वात् । तथाहि विशेषणस्य भावो विशेषणत्वं विशेष्यस्य भावो विशेष्यत्वम् । तथा च तदुभयविशेषणविशेष्य-स्वरूपमेव, नातिरिक्तं । द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणो भावशब्दः प्रत्येकं विशेषणविशेष्याभ्यां सम्बन्धाद्विशेषणभावो विशेष्यभावश्चेति द्वेधा सम्पद्यते नैकः । अतः सम्बन्धलक्षणालक्षितत्वान्न विशेषणविशेष्यभावः सम्बन्धः । किञ्च व्यवहितभूतलस्याभावोऽपि गृह्यते । तत्राप्यभावस्य विशेषणत्वात् । नचेन्द्रियसम्बन्धविशेषणताऽभावग्रहहेतुरिति वाच्यम्, परम्परया तस्यापि सत्त्वात् । न च साक्षात्सा हेतुरिति वाच्यम्, गौरवात् ।

जिस अधिकरण में जिसके अभाव का ज्ञान होता है, उस अधिकरण में उसी अभाव का वह 'प्रतियोगी' कहलाता है । उस अभावीय प्रतियोगी के ज्ञान को 'उपलब्धि' कहते हैं । उपलब्धि को 'उपलम्भ' भी कहते हैं । उस उपलब्धि के अभाव को 'अनुपलब्धि' अनुपलम्भ कहते हैं । वह 'अनुपलब्धि' ही 'अभावप्रमा' को 'करण' होती है ।

जैसे—जिस भूतल पर 'घटः अस्ति' ऐसा 'घटज्ञान' होता है, उस भूतल पर 'घटो नास्ति' ऐसा 'घटाभाव' का ज्ञान नहीं होता । किन्तु 'घटः अस्ति'—इस ज्ञान का जहाँ 'अभाव' रहता है, वहीं पर 'घटो नास्ति' इस प्रकार 'घटाभाव' का ज्ञान होता है । उस कारण 'घटज्ञान' के 'अभावरूप अनुपलब्धि' में 'घटभावविषयकप्रमा' की 'करणता' अन्वय-व्यतिरेक से अवगत होती है । किन्तु उस 'अनुपलब्धि' में 'योग्यता' का होना भी आवश्यक है ।

यदि केवल अनुपलब्धिमात्र से ही 'अभावप्रमा' उत्पन्न होती हो तो अन्धकार में रहनेवाले 'स्थित' घट की भी उपलब्धि नहीं होती, क्योंकि 'घट' की उपलब्धि का अभाव (अनुपलब्धि) वहाँ विद्यमान है ही । उसी तरह 'आत्मा' में स्थित 'धर्माधर्म' की भी उपलब्धि नहीं होती । वहाँ भी धर्माधर्म की उपलब्धि का अभाव (अनुपलब्धि) विद्यमान है ही । अतः 'अनुपलब्धि' से अन्धकार में भी 'घटाभाव' की 'प्रमा' होनी चाहिए थी । उसी तरह 'आत्मा' में धर्माधर्म के 'अभाव की प्रमा' भी होनी चाहिए थी, किन्तु वह 'अभावविषयक प्रमा' होती नहीं है । उस कारण 'अभावप्रमा' की उत्पत्ति के लिए उस 'अनुपलब्धि' प्रमाण को 'योग्यता' की अपेक्षा आवश्यक होती है । अनुपलब्धि प्रमाण से जिस 'अभाव' का ज्ञान होता है उस अभाव के प्रतियोगी का आरोप करके जहाँ उस प्रतियोगी की उपलब्धि का आपादन किया जाता है उस उपलब्धि की अभावरूप जो अनुपलब्धि है, उसे 'योग्यानुपलब्धि' कहते हैं ।

जैसे—प्रकाशवाले भूतल में—इस भूतल पर यदि 'घट' होता तो इस भूतल के समान वह 'घट' भी अवश्य प्रतीत होता । उस कारण इस भूतल पर 'घट' नहीं है—इस प्रकार 'घट' रूप प्रतियोगी के सत्त्व का आरोप करके उस घट की उपलब्धि का आपादन किया जाता है । अतः उस घट की उपलब्धि की अभावरूप घट की अनुपलब्धि 'योग्य' कही जाती है । उस योग्यानुपलब्धि से प्रकाशवाले भूतल में 'घटो नास्ति' इस प्रकार की 'अभावप्रमा' उत्पन्न होती है ।

ऐसी स्थिति अन्धकार में स्थित 'घट' के विषय में तथा 'आत्मा' में स्थित धर्माधर्म के विषय में नहीं है । अन्धकार में विद्यमान होता हुआ भी 'घट' प्रतीत नहीं होता । तथा आत्मा में विद्यमान होते हुए भी 'धर्माधर्म' प्रतीत नहीं होते । उस कारण 'अन्धकार में यदि घट होता तो प्रतीत होता', तथा 'आत्मा' में यदि धर्माधर्म होते, तो प्रतीत होते'—इस प्रकार से 'घटादिरूपप्रतियोगी' के सत्त्व का आरोप करके उनकी उपलब्धि का आपादन नहीं किया जाता । उस कारण अन्धकार में विद्यमान 'घट' की अनुपलब्धि तथा 'आत्मा' में धर्माधर्म की 'अनुपलब्धि योग्य' नहीं है । इसलिए अन्धकार में 'घट' के अभाव का तथा 'आत्मा' में धर्माधर्म के अभाव का तथा 'आत्मा' में धर्माधर्म के अभाव का ज्ञान, केवल 'अनुपलब्धि' प्रमाण से नहीं होता, अपितु अनुमानादि प्रमाणों से उस अभाव का ज्ञान होता है । यहाँ पर 'योग्यानुपलब्धि' तो कारण है, और 'अभावप्रमा' फल है ।

इस विषय में 'नैयायिकों' का कहना यह है कि 'योग्यानुपलब्धि से सहकृत 'इन्द्रियरूप प्रत्यक्ष प्रमा' से ही 'भूतल' में 'घट' के 'अभाव' का (घटाभाव का) ज्ञान हो सकता है । 'अभावज्ञान' के लिए 'योग्यानुपलब्धि' को अलग से पृथक् (स्वतन्त्र) प्रमाण मानने की कोई आवश्यकता नहीं है ।

किञ्चास्य सन्निकर्षत्वकल्पने मानाभावाद्, अभावप्रमाया अन्यथाप्युपपत्तेः। न च समवायप्रत्यक्षे विशेषणतायाः क्लृप्तत्वे-नात्रापि सा भविष्यतीति वाच्यम्, समवायस्य प्रागेव निरस्तत्वात्। किञ्च विशेषणतायाः सन्निकर्षत्वेनैव सर्वत्र घटादिप्रत्यक्षस्यापि सम्भवेन समवायादेः सन्निकर्षत्वं न सिध्येत्। न चेष्टापत्तिः, अपसिद्धान्तात्। न चेन्द्रियेण भावपदार्थग्रहणे संयोगादिः सन्निकर्षः अभावग्रहणे विशेषणतेति वाच्यम्, विनिगमकाभावात्।

न चानुपलब्धेर्मानान्तरत्वकल्पनायां गौरवं तवैवेति वाच्यम्, वैपरीत्यात्। तथाहि—इन्द्रियस्याभावप्रमायां कारणत्वं कल्पनीयम् पश्चात्तस्य करणत्वं च कल्पनीयम्, असम्बन्धस्य तदयोगाद् विशेषणतायाः सन्निकर्षत्वं च कल्पनीयमिति, तव पक्षे

•

शंका—'घटाभाव' का अधिकरण, जो 'भूतल' है उसके साथ तो 'चक्षुरिन्द्रिय' का 'संयोगसम्बन्ध' है, किन्तु 'घटाभाव' के साथ 'चक्षुरिन्द्रिय' का कोई 'सम्बन्ध' नहीं है। उस कारण 'अभाव' के ज्ञान में 'इन्द्रिय' को 'करण' नहीं कह सकते।

समा०—किन्तु यह कथन संगत नहीं है। क्योंकि 'अभाव' के साथ 'इन्द्रिय' का 'संयोगसम्बन्ध' न रहने पर भी 'विशेषण-विशेष्यभावरूप सम्बन्ध' तो है ही। उस सम्बन्ध से 'अभाव' का 'इन्द्रिय' से 'प्रत्यक्ष' हो जायगा।

वेदान्ती—नैयायिकों का उपर्युक्त कथन उचित नहीं है। क्योंकि यद्यपि 'चक्षुरिन्द्रिय' का अधिकरणभूत 'भूतल' के साथ 'संयोगसम्बन्ध' है, 'अभाव के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। तथापि 'चक्षुरिन्द्रिय', अधिकरणभूत भूतल के ज्ञान से ही चरितार्थ हो जाता है। अतः 'अभावज्ञान' के प्रति 'इन्द्रिय' को 'करण' मानना उचित नहीं है। एवञ्च 'अभावप्रमा' के प्रति 'अनुपलब्धि' ही 'करण' है, 'इन्द्रिय' नहीं, क्योंकि 'इन्द्रिय' तो 'अधिकरण' का ज्ञान कराकर क्षीण हो गया है, और 'अभाव' के साथ 'इन्द्रिय' का सन्निकर्ष भी नहीं है।

नैयायिकों ने 'इन्द्रिय' का 'अभाव' के साथ जो 'विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्ध' माना है, वह भी असंगत है। क्योंकि दो पदार्थों का 'परस्पर सम्बन्ध' हुआ करता है। वह 'सम्बन्ध' अपने दोनों सम्बन्धियों से भिन्न होता है, और दोनों सम्बन्धियों के आश्रित होता है, तथा स्वयं 'एक' होता है। जैसे 'चक्षु' और 'भूतल' का जो संयोग सम्बन्ध है, वह 'चक्षु' और 'भूतल'—इन दोनों सम्बन्धियों से भिन्न है, और उन दोनों सम्बन्धियों के आश्रित (निर्भर) भी है, तथा स्वयं में 'एक' है। इसे सम्बन्ध' का लक्षण (स्वरूप) कहते हैं। यह सम्बन्ध का लक्षण, 'विशेषण-विशेष्यभाव' में नहीं घट रहा है। क्योंकि 'घटाभाववत् भूतलम्'—इस प्रतीति में 'घटाभाव' तो विशेषण है, और 'भूतल'—विशेष्य है, और 'भूतलेघटाऽभावः' में 'भूतल'-विशेषण है, और 'घटाभाव'-विशेष्य है। एवञ्च 'अभाव' में रहनेवाली जो 'विशेषणता' है, उसे 'विशेषणभाव' कहते है। उसी प्रकार 'भूतल' में रहनेवाली जो 'विशेष्यता' है, उसे 'विशेष्यभाव' कहते हैं। ऐसी स्थिति में 'विशेषणभाव' तो 'विशेषण' रूप ही है, और 'विशेष्यभाव' भी 'विशेष्यरूप' ही है। 'विशेषण-विशेष्य' से 'विशेषण-विशेष्यभाव' पृथक् नहीं है। 'अभेद' में 'आधाराधेयभाव' नहीं हुआ करता। उस कारण 'विशेषण-विशेष्यभाव' उस 'अभावरूप सम्बन्धी' से भिन्न नहीं है। तथा उस सम्बन्धी के आश्रित भी नहीं है, और 'विशेषणता'-'विशेष्यता' रूप से वह दो प्रकार का है। इसलिए वह स्वयं में भी 'एक' नहीं है। उस कारण 'विशेषण-विशेष्य'भाव को 'सम्बन्धरूप' नहीं कह सकते।

किञ्च—'अभाव' के प्रत्यक्ष में यदि 'विशेषणतासन्निकर्ष' को कारण कहें तो 'व्यवहित भूतल' में विद्यमान 'अभाव' का भी 'चक्षुरिन्द्रिय' से प्रत्यक्ष होना चाहिये। क्योंकि उस 'व्यवहितभूतल' में वह 'अभाव', 'विशेषणरूप' से विद्यमान है ही। तथा 'चक्षुरिन्द्रिय' का भी, उस व्यवहितभूतल के साथ 'संयुक्त-संयोगादिरूप परम्परासम्बन्ध' भी है। किन्तु व्यवहित भूतल में 'अभाव' का प्रत्यक्ष नहीं होता। अतः 'विशेषणतासन्निकर्ष' को 'अभावप्रत्यक्ष' में कारण नहीं कह सकते।

किञ्च—'विशेषणता' को भी यदि 'इन्द्रिय' का 'सन्निकर्ष' कहें तो 'भूतल' में विद्यमान 'घट' का तथा 'घट' के 'रूप आदि' का भी उस 'विशेषणतासन्निकर्ष' से ही प्रत्यक्ष हो जायगा। तब तो नैयायिकाभिमत 'समवाय' आदि सन्निकर्षों का लोप ही हो जायगा। क्योंकि उसकी कोई आवश्यकता ही नहीं रहेगी। 'विशेषणतासन्निकर्ष' से ही सब काम हो जायगा। एवञ्च 'विशेषण-विशेष्यभाव' को सन्निकर्षरूप (सम्बन्धरूप) मानना कथञ्चिदपि सम्भव नहीं है।

प्रश्न—भावरूप वस्तुओं के ग्रहण के लिए संयोगादि सम्बन्धों की तथा उनके अभावग्रहण के लिए 'विशेषणता' की इन्द्रियों को अपेक्षा रहती है—यह व्यवस्था मानें तो क्या हानि है?

असाधारणं कारणं करणम् । नियतपूर्ववृत्ति कारणम् ॥ ३८ ॥

●

कल्पनात्रयम् । अस्मत्पक्षे त्वनुपलब्धेरभावप्रमाकारणस्योभयवादिसिद्धतया तस्याः करणत्वं कल्प्यत इत्यतो लाघवम् । तथाचेन्द्रियं नाभावग्राहकं तदसन्निकृष्टत्वात् । यद्यदसन्निकृष्टं न तत्तद्ग्राहकं यथा गन्धासन्निकृष्टं चक्षुर्गन्धाग्राहकमिति । नचाप्रयोजकत्वं व्यवहितपदार्थस्यापि ग्राहकत्वापत्तेः । नच हेत्वसिद्धिः सन्निकर्षाभावस्योपपादितत्वात् । नच भावग्राहकत्वमुपाधिः, घटादौ साध्याव्यापकत्वात् । पक्षे साधनव्यापकत्वाच्च । तस्मादिन्द्रियेणाभावग्रहासम्भवादभावप्रमाकरणत्वेनानुपलब्धेर्मानान्तरत्वमिति भावः ॥ ३७ ॥

प्रमालक्षणमुक्त्वा तत्करणं प्रमाणमित्युक्तं पूर्वत्र । तत्र प्रमाभेदं निरूप्य किं तत्करणमिति जिज्ञासायां तल्लक्षयति—असाधारणेति । अदृष्टादावतिव्याप्तिवारणायासाधारणेति विशेषणम् ।

●

उत्तर—यह तो मन-मानी हो जायेगी । क्योंकि ऐसा क्यों है ? इसके लिए भाव व अभाव दोनों के प्रत्यक्षों के सम्बन्ध में कोई तर्क मिल नहीं रहा है ।

प्रश्न—हम नैयायिकों के पक्ष में आपने यह दोष दिया कि यदि इन्द्रिय से साक्षात् सम्बद्ध-विशेषणता को सन्निकर्ष मानेंगे तो 'गौरव' होगा । किन्तु वह केवल सम्बन्ध मानने का गौरव है जब कि एक अनुपलब्धिनामक प्रमाण ही नया मानना पड़ रहा है । अतः वस्तुतः आपही के पक्ष में गौरव है ।

उत्तर—ऐसा नहीं है, बल्कि बात विपरीत (उल्टी) ही है । तुम तार्किकों को पहले तो इन्द्रिय में 'अभावप्रमा' की कारणता माननी होगी और उसके बाद उसमें करणता (व्यापारवदसाधारणत्व) अधिक माननी होगी । क्योंकि सम्बन्धरहित इन्द्रिय, प्रमाहेतु नहीं बन सकती । इसलिए विशेषणता को भी सन्निकर्ष (सम्बन्ध) मानना पड़ेगा । तुम्हारे ढंग से तीन कल्पनायें करनी पड़ेंगी । जबकि हमारे पक्ष में केवल 'करणता' की कल्पना 'अनुपलब्धि' में करनी पड़ेगी ।

प्रश्न—आपको भी तो, 'अनुपलब्धि' को पहले 'कारण' मानना होगा ?

उत्तर—वह तो तुम्हें भी मानना ही है, क्योंकि 'अभाव प्रमा' के लिए तुम भी आवश्यक मानते हो कि प्रतियोगी की उपलब्धि न हो । अतः 'अनुपलब्धि' को कारण मानना हमारे पक्ष में कुछ अधिक नहीं है । एवं च लाघव से 'अनुपलब्धि' ही अभावप्रमाण है, न कि 'इन्द्रिय' ।

प्रश्न—केवल लाघव ही प्रमाण है या अन्य भी युक्ति है ?

उत्तर—यह अनुमान भी समझ लो—इन्द्रिय, अभाव को ग्रहण नहीं करती, अभाव से सम्बद्ध न होने के कारण, जो जिससे सम्बद्ध नहीं होता वह उसे ग्रहण नहीं करता, जैसे गन्ध से असम्बद्ध 'चक्षु' गन्ध को ग्रहण नहीं करती ।

प्रश्न—किन्तु सम्बद्ध नहीं है—यह कैसे कहा ? सम्बद्ध तो हमने बताया था ।

उत्तर—बताने से क्या होगा ? उसका हमने खण्डन भी तो कर दिया था ।

प्रश्न—फिर भी 'भावग्राहकता उपाधि' का क्या परिहार है ?

उत्तर—भावग्राहकता यहाँ उपाधि है ही नहीं । घटादि में देखा गया है कि उसमें 'अग्रहण' तो है (उसे अभाव का ज्ञान नहीं होता) किन्तु भावग्राहकता नहीं है—भाववस्तु का भी वह ज्ञान नहीं करता । अतः तुम्हारी 'उपाधि' साध्य को अव्यापक है । ऐसे ही इन्द्रिय में अभाव से असन्निकर्षरूप हेतु के रहते भावग्राहकता भी है, भूतल को वह ग्रहण करती है । अतः 'उपाधि' साधन की व्यापक हो गयी । इस प्रकार 'भावग्राहकता' उपाधि क्योंकर हो सकेगी ?

इसलिए व्यर्थ की कल्पनाएँ छोड़कर 'अनुपलब्धि' को ही अभावप्रमा का कारण स्वीकारना उचित है ॥३७॥

अब अवसरप्राप्त 'करण' का लक्षण कह रहे हैं—

जिस कार्य का जो असाधारण कारण हो, वही उस कार्य का 'करण' कहा जाता है ।

जैसे—'प्रत्यक्ष प्रमा' के 'चक्षुरादि इन्द्रिय' असाधारण कारण हैं, उस कारण वह 'प्रत्यक्षप्रमा' के 'करण' हैं । उसी तरह 'अभावप्रमा' का 'योग्यानुपलब्धि' असाधारण कारण होने से वह भी 'अभावप्रमा' की 'करण' है । इसी प्रकार अनुमानादिकों में भी 'करण' को समझना चाहिए ।

तद्द्विविधम्—उपादानकारणं, निमित्तकारणञ्चेति। कार्य्यान्वितं कारणमुपादानम्, यथा घटादेर्मृदादि। कार्यानुकूल-

ननु करणस्य कारणविशेषत्वात् कारणसामान्यग्रहं विना तद्विशेषो दुर्ग्रह इत्याशङ्क्य तत्सामान्यं लक्षयति—**नियमेति।** नियतत्वमवश्यं भावित्वम्। कार्य्योत्पत्तेः प्राक्कालाधिकरणत्वं पूर्ववर्त्तित्वं न तु प्रागभावोपलक्षितसमयत्वं प्रागभावस्यानङ्गीकारात्। इदं कारणसामान्यलक्षणम्। नच पारिमाण्डल्यपरिमाणे गगनपरिमाणादौ चातिव्याप्तिस्तेषां कुत्राप्यहेतुत्वादिति वाच्यम्। प्रागेव परमाणुवादस्य निरस्तत्वेन पारिमाण्डल्यासिद्धेः। गगनादेः कार्य्यतया निरूपितत्वेन तत्परिमाणस्यापि कारणत्वसम्भवात्। कालस्याविद्यासम्बन्धातिरिक्तत्वे मानाभावात्[1] तत्परिमाणं नास्त्येव। अस्तु वातिरिक्तः कालस्तथापि तस्येश्वरात्मकतया तद्भिन्नत्वे मानाभावात्। तेनैव सर्वव्यवहारोपपत्तेस्तत्परिमाणस्यापि कारणत्वमस्त्येव। दिशोऽप्याकाशात्मतया न तत्परिमाणेऽतिव्याप्तिः। मनसोऽप्यणुत्वे विभुत्वे मानाभावात्, बाधकसद्भावात्, श्रुतिस्मृतिविरोधाच्च श्रुत्या तस्य कार्य्यत्वावगमेनान्तःकरणपरिमाणस्यापि कारणत्वमस्त्येवेति न कुत्राप्यतिव्याप्तिः। विशेषलक्षणं त्वनन्यथासिद्धनियतपूर्ववर्त्तित्वं तच्चास्ति घटादिकं प्रति मृदादेः। अनन्यथासिद्धत्वं नाम अन्वयव्यतिरेकानुपजीव्यान्वयव्यतिरेकप्रतियोगित्वम्। अलमतिविस्तरेण ॥ ३८ ॥

कारणं विभजते—**तदिति।** नच समवायिकारणमसमवायिकारणंनिमित्तकारणञ्चेति त्रैविध्ये वक्तव्ये कथं द्वैविध्योक्तिरिति वाच्यम्, एतादृशपरिभाषाया अप्रामाणिकत्वात्। समवायस्य पूर्वं निरस्तत्वेन समवायिकारणासिद्ध्या तत्प्रत्यासन्नरूपा-

करण के लक्षण में यदि 'असाधारण' पद न रखें तो 'कार्यमात्र' के प्रति 'साधारणकारण' रूप जो 'अदृष्ट, देश, काल आदि हैं, उनमें लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी। उसके निवारणार्थ लक्षण में 'असाधारण' पद रखना आवश्यक है।

शङ्का—कारणविशेष को ही 'करण' कहते हैं। किन्तु 'कारणसामान्य' का ज्ञान हुए विना उसके विशेष का ज्ञान होना कदापि सम्भव नहीं है।

समा०—कारणविशेष के ज्ञानार्थ ही 'कारणसामान्य' को बताते हैं—

जो पदार्थ, जिस कार्य की उत्पत्ति के पूर्व, नियमतः (अवश्य) रहता है, वह पदार्थ, उस कार्य के प्रति 'कारण' कहा जाता है।

जैसे—घटरूप कार्य की उत्पत्ति के पूर्व, 'मृत्तिका, कुलाल, दण्ड, चक्र, चीवर आदि पदार्थ, नियमतः रहते हैं, उस कारण वे मृत्तिका आदि, उस घटरूपकार्य के प्रति 'कारण' कहलाते हैं। 'नियतत्व' का अर्थ है—'अवश्यंभावित्व', न कि प्रागभावोपलक्षितसमयत्व। क्योंकि 'प्रागभाव' को हमारे सिद्धान्त में नहीं माना है। यह कारणसामान्य का लक्षण है।

शङ्का—पारिमाण्डल्यपरिमाण में और गगनपरिमाण आदि में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। उनमें कार्योत्पत्तिप्राक्कालाधिकरणत्वरूप पूर्ववर्तित्व है ही, किन्तु वे किसी भी कार्य के प्रति 'हेतु' (कारण) नहीं कहलाते।

समा०—वेदान्तियों ने परमाणुवाद का खण्डन कर दिया है, उस कारण 'पारिमाण्डल्य' ही असिद्ध है। वेदान्तसिद्धान्त में 'गगन' आदि पदार्थ, स्वयं ही कार्यरूप हैं, तब उसका 'परिमाण', कारण कैसे कहलायेगा ? तथा अविद्यासम्बन्ध के अतिरिक्त 'काल' के होने में कोई प्रमाण नहीं है। अतः उसका कोई 'परिमाण' ही नहीं है। अर्थात् अविद्यासम्बन्ध ही 'काल' है।

यदि 'काल' को अतिरिक्त पदार्थ भी कहें, तो वह 'ईश्वरात्मक' होने से, उससे भिन्न नहीं है। क्योंकि भिन्न मानने में कोई प्रमाण नहीं है। उसी से सम्पूर्ण व्यवहार की उपपत्ति हो जाती है। अतः उसके परिमाण को भी 'कारण' कह सकते हैं। तथा 'दिक्' भी आकाशात्मक होने से उसके परिमाण में भी अतिव्याप्ति नहीं है। 'मन' के अणुत्व में या विभुत्व में कोई प्रमाण नहीं है, प्रत्युत 'बाधक' विद्यमान होने से तथा श्रुति-स्मृति का विरोध रहने से और श्रुति के द्वारा उसमें कार्यत्व का बोध होने से 'अन्तःकरण-परिमाण' में 'कारणत्व' तो है ही। अतः कहीं भी अतिव्याप्ति नहीं है। इस प्रकार 'कारण' का सामान्य-लक्षण बताने के पश्चात् 'कारण का विशेषलक्षण' यह होगा—अन्यथासिद्ध न होते हुए नियमतः पहले रहना—यह लक्षण, घट रूप कार्य के प्रति कारण कहे जाने वाले 'मृत्तिका आदि' में घटित हो जाता है ॥३८॥

अब 'कारण' का विभाग करते हैं—

(१) उपादान कारण और (२) निमित्तकारण के भेद से वह (कारण) दो प्रकार का है। इनमें से कार्य में अन्वित

१. कालस्त्वविद्यैव तस्या एव सर्वाधारत्वादिति सिद्धान्तबिन्दुकृतः (श्लो० ८), 'कालो मायात्मसम्बन्ध', इति सूतसंहितायाम्।

व्यापारवन्निमित्तं यथा घटादेः कुलालादि। ब्रह्म तु मायोपहितं सत्प्रपञ्चस्योपाधिप्राधान्येनोपादानं, स्वप्राधान्येन निमित्तं च

●

समवायिकारणस्य सुतरामसिद्धेः तस्य द्वैविध्योक्तिरुचितेति भावः। उपादानकारणं लक्षयति—कार्य्येति। कार्य्यंतादात्म्यापन्नं कार्य्यान्वितम्। अनन्यथासिद्धनियतपश्चाद्भाविकार्य्यम्। निमित्तकारणेऽतिव्याप्तिवारणायादिविशेषणं, रूपादावतिव्याप्तिवारणाय द्वितीयम्। तत्रोदाहरणमाह—यथेति। निमित्तकारणं लक्षयति—कार्य्यानुकूलेति। नच जगदुपादाने ब्रह्मण्यतिव्याप्तिरिति वाच्यम्, तस्याभिन्ननिमित्तोपादानत्वस्य विवक्षितत्वेन लक्षितत्वात्। नचादृष्टादावव्याप्तिरिति वाच्यम्, तत्राप्युद्बोधस्य कार्य्यानुकूलव्यापारस्य सत्त्वात् न कोऽपि दोष इति भावः।

ननु ब्रह्मणश्चेतनतया कार्य्यप्रपञ्चस्य जडतयेतरेतरविलक्षणत्वात्कथं ब्रह्मणो जगदुपादानत्वम्? नच श्रुत्यैवसमधिगम्यतया धर्म्माधर्म्मवद्ब्रह्मणो नातिशङ्कनीयत्वान्नोक्तदोष इति वाच्यम्, उपपत्तिविरोधे श्रुत्यर्थनिर्णयायोगात्, अन्यथा मीमांसानारम्भप्रसङ्गात्। नच निमित्तमपि तत्सम्भवति असङ्गत्वादिश्रुतिविरोधप्रसङ्गात्। तस्माज्जडस्य जडमेवोपादानं वक्तव्यं; न ब्रह्म। नच श्रुतिविरोधः, स्मृतिन्यायविरोधे श्रुतेरर्थान्तरत्वोपपत्तेरिति वदन्तं साङ्ख्यं प्रत्याह—ब्रह्मेति। चेतनात् पुरुषादचेतनस्य केशादेरचेतनगोमयादेश्चेतनस्य वृश्चिकादेरुत्पत्तेर्दृष्टत्वाद्विलक्षणत्वहेतोरप्रयोजकत्वात् "सोऽकामयते"त्यादिश्रुत्या ब्रह्मण उपादानत्वावगमेन श्रुतिविरोधे केवलोपपत्तेरप्रमाणतया मीमांसारम्भोपपत्तेः श्रुत्यनुकूलन्यायस्यैव प्रमाणत्वाद्ब्रह्मैव जगदुपादानं न प्रधानं, तस्याचेतनस्य स्वातन्त्र्येण प्रवृत्त्याद्यनुपपत्तेः। चेतनाधिष्ठितस्य शकटादेः प्रवृत्तेर्लोके दृष्टत्वात्, दृष्टानुरोधेनादृष्टकल्पनाया न्याय्यत्वात्, मन्वादिस्मृतिसमूलतया तद्विरोधे निर्मूलकापिलादिस्मृतेरप्रमाणत्वाच्च प्रधानादिकल्पनानुपपत्तेः।

●

(तादात्म्यभाव) हुए कारण को 'उपादान-कारण' कहते हैं। जैसे—'घटरूप कार्य' में अन्वित हुई 'मृत्तिका', उस 'घट' का उपादान कारण है, तथा 'घटरूप कार्य' में 'अन्वित-तन्तु', उस घट के उपादान कारण हैं।

उक्त लक्षण में 'कार्यान्वितम्' पद यदि न रखते तो 'घटकार्य' के निमित्तकारणरूप कुलालादिकों में लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती। उसके निवारणार्थ लक्षण में 'कार्यान्वितम्' पद को रखा गया है। कुलालादिक जो 'घट' के निमित्तकारण हैं, वे 'घटरूपकार्य' में 'अन्वित' नहीं रहते। उस कारण उनमें अतिव्याप्ति नहीं होती।

यदि लक्षण में 'कारणम्' पद न रखते तो 'घटरूप कार्य' में अन्वित जो 'रूप' आदि हैं, उनमें लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती। उसके निवारणार्थ 'कारणम्' पद को लक्षण में रखा गया है। वे रूपादिक उस 'घट' के कारण नहीं हैं। अतः उनमें लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो रही है।

अब 'निमित्तकारण' का लक्षण बताते हैं—

कार्य की उत्पत्ति के अनुकूल व्यापार करनेवाले को निमित्तकारण' कहते हैं। जैसे—घटरूपकार्य की उत्पत्ति के अनुकूल व्यापार करनेवाले कुलालआदि, उस 'घटरूप कार्य' के निमित्तकारण कहलाते हैं।

किन्तु 'ब्रह्म' तो, इस जगत् रूप कार्य का 'उपादान' कारण, और 'निमित्तकारण' दोनों है। इसलिये—'ब्रह्म' में 'निमित्तकारण' के लक्षण की तथा 'उपादानकारण' के लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो पाती।

शङ्का—'ब्रह्म' को प्रपञ्च का उपादान-कारण कहना उचित नहीं है, क्योंकि समान स्वभाववाले 'मृत्तिका' और 'घटादिकों' का ही 'परस्पर उपादानोपादेयभाव' लोक में देखा गया है। विलक्षण स्वभाव वाले पदार्थों का 'उपादानोपादेयभाव' कहीं देखा नहीं है। 'ब्रह्म' तो 'चेतनरूप' है, और 'कार्य-प्रपञ्च' जडरूप है, उसकारण दोनों परस्पर विलक्षण हैं। अतः उस 'विलक्षण ब्रह्म' को उस 'विलक्षण प्रपञ्च' का उपादानकारण कहना उचित नहीं है।

किञ्च—यदि यह कहें कि अतीन्द्रिय (इन्द्रियों के अगोचर) 'धर्माधर्म' में 'श्रुतिवचन' को ही जैसे प्रमाण माना जाता है, वैसे 'अतीन्द्रिय ब्रह्म' में भी 'श्रुति' ही प्रमाण है। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि श्रुतिवचन के द्वारा 'जगत्' की उत्पत्ति, स्थिति, और लय का होना बताया गया है। इसलिये 'ब्रह्म' ही 'जगत्' का 'उपादानकारण' अवगत हो रहा है। श्रुतिसिद्ध अर्थ के लिये 'युक्ति' के प्रदर्शन की आवश्यकता नहीं होती है—यह कहना उचित नहीं है। क्योंकि 'युक्ति' का विरोध रहने पर 'श्रुति' के अर्थ का 'निर्णय' नहीं किया जा सकता।

भवति। तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेये"त्यादि श्रुतेः। "प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधादि"ति सूत्राच्च ॥ ३९ ॥

●

न चैवमप्यसङ्गस्य ब्रह्मणः कथं जगदुपादानत्वमिति वाच्यम्, अनिर्वचनीयमायोपहितं ब्रह्मोपाधिप्राधान्येनोपादानं ज्ञानशक्तिमदुपहितस्वरूपप्राधान्येन निमित्तं चेत्यभ्युपगमादविरोधः। तदिदमुक्तम्—उपाधिप्राधान्येनेति। आवरणादिशक्तिमन्मायोपाधिप्राधान्येनेत्यर्थः। स्वेति। ज्ञानशक्तिमन्मायोपहितप्राधान्येनेत्यर्थः। ब्रह्मणोऽभिन्ननिमित्तोपादानत्वे प्रमाणमाह—तदिति। ऐक्षतेत्यनेन निमित्तत्वमवगम्यते बहुस्यामिति। बहुभवनश्रवणेनोपादानत्वमन्यस्य तदनुपपत्तेः। प्रधानादेरीक्षणाद्यसम्भवेनाशब्दतयाऽप्रामाणिकत्वेन न जगत्कारणत्वम् "ईक्षतेर्नाशब्दमि"ति न्यायाच्चेति भावः।

●

यदि 'युक्ति' का विरोध रहने पर भी 'श्रुति' के अर्थ का निर्णय हो सकता हो तो 'उत्तरमीमांसा (वेदान्त) का आरम्भ करना ही व्यर्थ हो जायगा। अतः युक्ति के विरुद्ध, 'श्रुत्यर्थ' होने से ही 'चेतन ब्रह्म' को 'जडजगत्' का 'उपादान कारण' कहना संभव नहीं है। उसी तरह 'ब्रह्म' को 'जगत्' का 'निमित्तकारण' कहना भी संभव नहीं है। क्योंकि लोक में हम देखते हैं कि 'घटादिकार्यों' के निमित्तकारण' जो कुलालादि हैं, उनका दूसरों के साथ 'संग' (सम्बन्ध) रहता है। किन्तु 'ब्रह्म' को तो श्रुति ने 'असंग' बताया है, 'अकर्ता' बताया है। इसलिये 'असंग, अकर्ता' ब्रह्म, 'जगत्' का निमित्तकारण कैसे हो सकेगा ?

अतः 'जड प्रपञ्च' का उपादान कारण 'जड प्रधान' को ही मानना चाहिये। 'चेतन ब्रह्म' को 'जड प्रपञ्च' का उपादान-कारण कहना उचित नहीं है। कपिल स्मृति भी 'जड प्रधान' को ही 'जगत्' का उपादानकारण बता रही है।

किञ्च—पूर्वोक्त युक्ति के साथ तथा कापिल स्मृति के साथ विरोध होने के कारण ही 'श्रुति' ने भी 'प्रधान' को 'जगत्' का उपादानकारण कहा है। अतः 'जड प्रधान' ही 'जड प्रपञ्च' का उपादान कारण है।

समा०—'माया' से उपहित हुआ 'ब्रह्म' ही उपाधि की प्रधानता से 'जड प्रपञ्च' का उपादानकारण तथा स्वयं (खुद) की प्रधानता से 'निमित्तकारण' है।

'विलक्षणपदार्थों' का 'कार्य-कारणभाव' नहीं हुआ करता, यह जो सांख्यवादियों ने कहा था, वह भी असंगत है। क्योंकि लोक में दिखाई देता है कि 'चेतन पुरुष' से जड (अचेतन) 'केश-नख' आदि की उत्पत्ति हुआ करती है। तथा अचेतन (जड) 'गोमय' से 'चेतन वृश्चिक' आदि की उत्पत्ति हुआ करती है। अतः 'विलक्षण पदार्थों' का भी 'कार्य-कारणभाव' लोक-प्रसिद्ध है। उस कारण 'चेतन ब्रह्म' से 'अचेतन प्रपञ्च' की उत्पत्ति का होना असंभव नहीं है।

किञ्च—'सोऽकामयत बहु स्याम्'—इत्यादि श्रुति ने 'ब्रह्म' को ही 'जगत्' का उपादानकारण बताया है। एवञ्च 'श्रुति' का विरोध रहने पर 'केवल युक्ति' को 'अप्रमाण' माना जाता है। अत एव 'उत्तरमीमांसा' (वेदान्त) का आरम्भ करना भी सुसंगत है। 'श्रुत्यनुकूल युक्ति' को ही प्रमाण माना जाता है। 'श्रुतिविरुद्ध केवल युक्ति' को प्रमाण नहीं माना जाता। अतः प्रबल-प्रमाणरूप श्रुति के बल पर 'ब्रह्म' ही जगत्' का उपादानकारण सिद्ध हो रहा है।

सांख्यवादियों के द्वारा प्रतिपादित जो 'प्रधान' है, उसे 'जगत्' का उपादानकारण नहीं मान सकते। क्योंकि 'प्रधान' स्वयं अचेतन (जड) है। 'अचेतन वस्तु' की 'स्वतः प्रवृत्ति' नहीं हुआ करती। क्योंकि 'अचेतन रथ' आदि जड वस्तुओं की प्रवृत्ति, 'चेतन पुरुष' के अधीन ही दिखाई देती है। अतः 'दृष्ट अर्थ' के अनुसार ही 'अदृष्ट अर्थ' की कल्पना की जाती है। उस कारण 'प्रधान' को 'जगत्' का 'उपादानकारण' कहना उचित नहीं है।

किञ्च—मन्वादिस्मृतियाँ 'श्रुतिमूलक' हैं, वैसे 'कापिलस्मृति' श्रुतिमूलक नहीं है, अतः वह 'अप्रमाण' है। 'श्रुतिमूलक स्मृति' को ही प्रमाण माना जाता है। इस कारण उसके बल पर भी 'प्रधान' को 'जगत्' का उपादानकारण नहीं कह सकते।

शङ्का—वेदान्ती के मत में भी 'असंग ब्रह्म', 'जड जगत्' का उपादानकारण कैसे हो पायगा ? क्योंकि वेदान्ती तो 'ब्रह्म' को 'असंग' मानता है।

समा०—वेदान्ती कहता है कि हमारे मत में 'असंग, निर्विकार, विशुद्ध ब्रह्म', 'जगत्' का कारण नहीं है, किन्तु 'अनिर्वचनीय मायोपहित ब्रह्म' ही 'जगत्' का उपादानकारण तथा निमित्तकारण है। 'आवरणशक्तिविशिष्ट मायारूप उपाधि' की 'प्रधानता' से तो वह 'ब्रह्म', 'जगत्' का उपादानकारण है और 'ज्ञानशक्तिविशिष्टमाया' से उपहित अपने स्वरूप' की 'प्रधानता' से वही 'ब्रह्म', 'जगत्' का 'निमित्तकारण' है। अतः हमारे मत के अनुसार मानने में कोई विरोध नहीं है। श्रुति कह

तच्चकारणं द्विविधम्, साधारणासाधारणभेदात्। कार्य्यमात्रोत्पादकं साधारणकारणं यथाऽदृष्टादि। कार्य्यविशेषो-

●

ब्रह्मणोऽभिन्ननिमित्तोपादानत्वे व्याससूत्रं संवादयति—प्रकृतिश्चेति। समन्वये चतुर्थपादे स्थितं—"जन्माद्यस्य यत" इत्यस्मिन्नधिकरणे ब्रह्मणस्तटस्थलक्षणं जगत्कारणत्वं निर्णीतम्। तत्किन्निमित्तत्वमात्रमुतोपादानत्वमपीति विशये "स ईक्षां चक्रे" इत्यादिना ब्रह्मणः कर्त्तृत्वावगमात् लोके मृदादिभिन्नस्य कुलालादेर्घटादिकर्तृत्वदर्शनाच्च ब्रह्म जगतो निमित्तमेव, अन्यदेवो-पादानमिति प्राप्तेऽभिधीयते—ब्रह्म जगतः प्रकृतिरुपादानं निमित्तं च भवति। कुतः? प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्। "येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञात"मित्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञाय "यथासोम्यैकेन मृत्पिण्डेने"त्यादिदृष्टान्तैः ब्रह्मणोऽभिन्न-निमित्तोपादानत्वेऽनयोरनुपरोधो भवति। अन्यथा तद्विरोधः स्यात्। "तदैक्षत बहुस्यामित्यादि श्रुत्या तत्प्रतिपादनाच्च। आगम-गम्येऽर्थे लौकिककुलालादिदृष्टान्तन्यायस्यानवताराच्च। तस्माद्ब्रह्मैव जगतः प्रकृतिर्निमित्तञ्चेति ॥३९॥

कारणरूपं निर्णेतुं कारणं प्रकारान्तरेण विभजते—तच्चेति। कार्य्येति। कार्य्यतावच्छेदकावच्छिन्नकार्य्यानुत्पादकत्वे सति कार्य्यविशेषोत्पादकमसाधारणमित्यर्थः[1]। अस्त्वेवं कारणलक्षणं प्रकृते किमायातमित्याशङ्क्याह—तथाचेति।

●

रही है—'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय'—उस मायोपहित ब्रह्म ने सृष्टि से पूर्व, भावी प्रपञ्चविषयक ज्ञानरूप ईक्षण किया अर्थात् विचार किया कि मैं (परमेश्वर) बहुत रूपों से उत्पन्न होऊँ'—उक्त श्रुति में 'तदैक्षत' कहकर जगत् की उत्पत्ति करने के पूर्व 'ब्रह्म' में 'ईक्षणकर्तृत्व' को बताया है। उस कारण 'ब्रह्म' में जगत् की 'निमित्तकारणता' सिद्ध की गई है। जैसे 'घट' की उत्पत्ति के पूर्व उस घट की उत्पत्ति के अनुकूल ज्ञानसम्पन्न कुलालादिकों में उस घट के प्रति निमित्तकारणता ही मानी जाती है। और 'बहुस्यां प्रजायेय'—कहकर उसका (ब्रह्म का) अनेकरूप (बहुतरूप) होना बताया गया है। उससे 'ब्रह्म' में जगत् की उपादान करणता सिद्ध की गई है। जैसे—'घट-शराव' आदि अनेकरूप होनेवाली मृत्तिका में उन घट-शरावादि कार्यों के प्रति उपादानकारणता मानी जाती है।

किञ्च—ब्रह्मसूत्रकार व्यास भगवान् ने भी उस मायोपहित 'ब्रह्म' को ही जगत् का उपादानकारण तथा निमित्तकारण दोनों बताया है। 'ब्रह्म' के अतिरिक्त अन्य किसी में भी जगत् का उपादानकारणत्व और निमित्तकारणत्व उपपन्न नहीं हो सकता। "ईक्षतेर्नाशब्दम्" अर्थात् 'प्रधान', (प्रकृति) कभी भी 'जगत्' का कारण नहीं है, क्योंकि वह 'अशब्द' है (श्रुति से अप्रतिपादित है), क्योंकि 'तदैक्षत'—श्रुति ने ईक्षणकर्ता को जगत्कारण कहा है। 'जड प्रधान' में ईक्षण करने की शक्ति नहीं है। 'ईक्षण-श्रवणात् वेदशब्दाऽवाच्यम् अशब्दं प्रधानम्। अशब्दत्वात् न कारणमिति'—यह रत्नप्रभा में कहा गया है।

भगवान् व्यास ने ब्रह्मसूत्र के प्रथमाध्याय—चतुर्थपाद के सप्तमाधिकरण, तेईसवें सूत्र के द्वारा स्पष्ट कहा है—कि मायोपहित ब्रह्म ही 'जगत्' का उपादानकारण तथा निमित्तकारण है। इस कथन से ही श्रुत्युक्त प्रतिज्ञा तथा दृष्टान्त की उपपत्ति हो पाती है। श्रुति ने प्रतिज्ञा की है कि 'सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मय विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्'—हे सोम्य! जैसे एक मृत्पिण्ड से सम्पूर्ण मृद्विकारों का ज्ञान हो जाता है, विकार नाममात्र है, जिसका आरंभ केवल वाणी से होता है, 'मृत्तिका' ही सत्य है। उसी प्रकार 'एक ब्रह्म' के ज्ञात होने पर सम्पूर्ण प्रपञ्च का ज्ञान हो जाता है,—यह श्रुति की प्रतिज्ञा है। और 'एक मृत्तिका के ज्ञान से 'घट' शरावादिकों का ज्ञान हो जाता है—यह कथन 'दृष्टान्त' है। एवंच उक्त प्रतिज्ञा तथा 'दृष्टान्त' तभी संभव हो सकेगा, जब कि 'ब्रह्म' को सम्पूर्ण प्रपञ्च का कारण मानेंगे। क्योंकि 'उपादानकारण' के ज्ञान से ही 'कार्य' का ज्ञान होता है। निष्कर्ष यह है कि उक्त सूत्र से भी 'ब्रह्म' में जगत् की अभिन्न निमित्तोपादनकारणता ही सिद्ध होती है ॥ ३९ ॥

अब 'कारण' के स्वरूप का निर्णय करने के लिये प्रकारान्तर से 'कारण' का विभाग करते हैं—'उक्त कारण', (१) साधारण और (२) असाधारण के भेद से दो प्रकार का होता है। 'कार्यमात्र' का उत्पादक जो कारण हो, उसे 'साधारणकारण' कहते है। जैसे—कार्यमात्र के जनक (उत्पादक) 'अदृष्ट', 'देश', 'काल' आदि हैं।

---

१. येषां कारणानां कार्यतावच्छेदको धर्मः कर्यत्वं तानि साधारणकारणानि। येषां पुनरसौ कार्यत्वव्याप्यो घटत्वादिः तान्यसाधारणानीति विधिवादभूमिकायां बदरीनाथशुक्लाः।

त्पादकमसाधारणकारणं। यथा चाक्षुषादिप्रमायां चक्षुरादि। तथा च घटाद्यभावप्रमायां घटाद्यनुपलब्धिरसाधारणं कारणं तदेव करणम् ॥ ४० ॥

यद्यत्र घटः स्यादिति तर्कितेन प्रतियोगिसत्त्वेन तद्वदुपलभ्येतेति प्रसञ्जितोपलब्धिरूपः प्रतियोगी यस्याः सा

●

ननु क्लृप्तेन्द्रियस्यैवाभावप्रमाकरणत्वोपपत्तावनुपलब्धेः किमर्थं करणत्वं कल्पनीयमित्याशङ्क्याह—तदेवेति। असाधारणकारणमनुपलब्धिरित्यर्थः। इन्द्रियस्याधिकरणज्ञानकरणत्वेनान्यथासिद्धत्वात् न तत्र करणत्वं सम्भवति। न चाधिकरणज्ञानस्यावान्तरव्यापारतया नेन्द्रियस्यान्यथासिद्धिरिति वाच्यम्, तर्हि कुलालपितुरपि घटं प्रति कारणत्वप्रसंगात्। उक्तन्यायेन कुलालस्यावान्तरव्यापारत्वसम्भवेन कुलालपितुरन्यथासिद्ध्यभावस्य वक्तुं शक्यत्वात्। तस्मादिन्द्रियस्याभावप्रमाकरणत्वस्यासङ्गतत्वेन तत्रानुपलब्धिरेव करणमिति भावः ॥४०॥

नन्वेवमनुपलब्धेरभावग्राहकत्वे आत्मनि धर्म्माधर्म्मानुपलब्ध्या भूतले घटाभाववत्तदभावो गृह्येत। न च योग्यानुपलब्धेरेवाभावग्राहकत्वाभ्युपगमेन धर्म्माधर्म्मयोरयोग्यतया तदनुपलब्ध्या तदभावो न गृह्येतेति वाच्यम्, अनुपलब्धेर्योग्यताया अनिर्वचनात्। तथाहि—किं योग्यस्य प्रतियोगिनोऽनुपलब्धिर्योग्यानुपलब्धिः, किं वा योग्येऽधिकरणेऽनुपलब्धिः? नाद्यः, स्तम्भे पिशाचान्योन्याभावस्यानुपलब्धिगम्यत्वं न स्यात्प्रतियोगिनोऽयोग्यत्वात्। न द्वितीयः, आत्मनि धर्म्माधर्म्माद्यभावस्यानुपलब्धिगम्यत्वप्रसंगात्। नचेष्टापत्तिः, अतीन्द्रियाऽभावस्याऽनुमानगम्यत्वाभ्युपगमात्। तस्मात् योग्यताया निर्वक्तुमशक्यत्वेन योग्यानुपलब्ध्या तत्सहकृतप्रत्यक्षेण वाभावो गृह्यत इत्यसङ्गतमेव। कथं तर्हि अभावग्रहः? न कथमपि, केवलाधिकरणव्यति-

●

उसी तरह कार्य विशेष के उत्पादक कारण को 'असाधारण कारण' कहते हैं। जैसे—'चाक्षुषादि प्रमा' में 'चक्षुरादि' असाधारण कारण होते हैं। उसी प्रकार 'घटाभावविषयक प्रमा' में उक्त 'घटानुपलब्धि' को असाधारण कारण ही मानना चाहिये। असाधारणकारण होने से 'अनुपलब्धि' को ही 'अभावप्रमा' के प्रति 'करण' कहा गया है। अभावप्रमा के प्रति 'इन्द्रिय' को 'करण' नहीं कह सकते, क्योंकि उससे तो भूतलरूप अधिकरण का ज्ञान होता है। अतः अन्यथा सिद्ध होने से वह अभावप्रमा के के प्रति 'करण' नहीं है।

शंका—अधिकरणज्ञान को अवान्तरव्यापार मान लिया जाय, तब 'इन्द्रिय' में अन्यथासिद्धत्व नहीं होगा।

समा०—तब तो कुलालपिता को भी 'घट' के प्रति कारण कहना होगा। क्योंकि कुलाल को भी अवान्तर व्यापार मानकर कुलालपिता में भी अन्यथासिद्धि का अभाव कहा जा सकेगा। अतः इन्द्रिय को अभावप्रमा के प्रति 'करण' कहना नितान्त असंगत है। इसलिये अभावप्रमा के प्रति 'अनुपलब्धि' को ही 'करण' कहना युक्तियुक्त प्रतीत होता है ॥ ४० ॥

शंका—'अनुपलब्धि' को 'अभावप्रमा' का ग्राहक मानने पर 'आत्मा' में धर्माधर्म की उपलब्धि न होने से 'भूतले घटाऽभावः' के समान 'आत्मा' में धर्माधर्म के भी अभाव का ग्रहण हो जायगा।

यदि यह कहें कि 'अभावप्रमा' की ग्राहक केवल अनुपलब्धि नहीं है, अपितु 'योग्यानुपलब्धि को माना गया है। उस कारण धर्माधर्म में 'योग्यता' के न रहने से उनकी अनुपलब्धिमात्र से उनका 'अभाव' नहीं समझा जायगा।

किन्तु यह समाधन नहीं हो सकता। क्योंकि अनुपलब्धि की 'योग्यता' का अभी तक कोई निर्वचन नहीं किया गया है। तथाहि—'किं योग्यस्य प्रतियोगिनः अनुपलब्धिः' योग्यानुपलब्धिः? किं वा 'योग्ये अधिकरणे अनुपलब्धिः' योग्यानुपलब्धिः? अर्थात् योग्य प्रतियोगी की अनुपलब्धि को 'योग्यानुपलब्धि' समझना है, अथवा योग्य अधिकरण में अनुपलब्धि को 'योग्यानुपलब्धि' समझना है?

किन्तु प्रथमपक्ष का स्वीकार करना ठीक नहीं होगा, क्योंकि 'स्तंभ में पिशाच है'—यहाँ पर 'अन्योन्याभाव' का ज्ञान, अनुपलब्धि से नहीं हो सकेगा, क्योंकि 'प्रतियोगी जो पिशाच' है, वह अयोग्य (प्रत्यक्षयोग्य नहीं) है।

उसी तरह द्वितीय पक्ष का भी स्वीकार करना भी ठीक नहीं होगा। क्योंकि 'आत्मा' में धर्माधर्मादि के अभाव को अनुपलब्धि से जानने का प्रसंग प्राप्त होगा।

यदि उसे इष्टापत्ति कहें तो भी ठीक नहीं होगा, क्योंकि 'अतीन्द्रिय अभाव' का ज्ञान 'अनुमान' से करने के लिये कहा गया है। इसलिये 'योग्यता' का निर्वचन करना शक्य न होने से यह कहना कि 'योग्यानुपलब्धि' से अथवा 'तत्सहकृत प्रत्यक्ष' से 'अभाव-

योग्यानुपलब्धिस्तयाऽभावो गृह्यते। नव्रर्थोल्लिखितधीविषयोऽभावः ॥ ४१ ॥

रेकेणाभावस्याभावात्। तच्च प्रत्यक्षेणैवानुभूयते इति योग्यानुपलब्धिकरणिकाभावप्रमेत्युक्तमनुपपन्नमिति वदन्तं प्रभाकरं निराकर्त्तुं तर्कितप्रतियोगिसत्त्वप्रसञ्जितप्रतियोगिकत्वमनुपलब्ध्येर्योग्यत्वमित्यभिप्रेत्य तन्निर्वचनस्यार्थं वदन् तयाऽभावो गृह्यत इत्याह—यदीत्यादिना। तथा च यदि स्तम्भे पिशाचत्वं स्यात्तर्हि स्तम्भत्ववदुपलभ्येतेति तर्कितेन प्रतियोगिरूपपिशाचत्वसत्त्वेन तदुपलब्धेः प्रसञ्जनसम्भवात्। योग्यवृत्तिजातेर्योग्यत्वात्। अतो योग्यानुपलब्ध्या स्तम्भे पिशाचान्योन्याभावस्य ग्रहणं सम्भवत्येव। आत्मनि धर्माधर्माद्यापादनेन तदुपलब्धेरापादयितुमशक्यत्वात्तत्र तदभावो नानुपलब्धिगम्यः किंत्वनुमानगम्यः। न च केवलाधिकरणव्यतिरेकेणाभाव एव नास्तीति वक्तुं शक्यम्, घटाद्यनुपलब्ध्या भूतले घटो नास्तीत्याधाराधेयभावानुभवस्य सार्वजनीनत्वात्। न हि तदेव तस्याधिकरणं भवति। तस्मादधिकरणातिरिक्तोऽभावोस्त्येव। स च योग्यानुपलब्ध्या गृह्यते इति तत्करणिकाभावप्रमेत्युक्तं सुसङ्गतमिति भावः।

नन्वेवमपि ज्ञातानुपलब्ध्याऽभावो गृह्यते वाऽज्ञातानुपलब्ध्या वा? नाद्यः, अनवस्थाप्रसङ्गात्। न द्वितीयः, सर्वदाऽभावग्रहणप्रसङ्गात् अतोनुपलब्धिकरणकत्वमभावप्रमाया न सङ्गतमिति चेन्न, ज्ञातानुपलब्धेरेवाभावप्रमाकरणत्वात्। न चानवस्था, उपलब्ध्यभावस्य प्रमातृनिष्ठतया तज्ज्ञानस्य स्वप्रकाशसाक्षिरूपत्वेन तदयोगात्। तस्मादभावप्रमाया अनुपलब्धिरेव करणम्।

प्रमा' का ग्रहण (ज्ञान) होता है—नितान्त असंगत ही है। 'अभाव' का ज्ञान तो किसी प्रकार से भी नहीं हो सकता। क्योंकि केवल 'अधिकरण' के व्यतिरिक्त 'अभाव' नामक कोई पदार्थ है ही नहीं। और 'अधिकरण' का ज्ञान 'प्रत्यक्ष' से ही हो जाता है। अतः यह जो कहा था कि 'योग्यानुपलब्धिकरणिका अभावप्रमा'—उसे अनुपपन्न बताने वाले प्रभाकर का निराकरण करने के लिये कहते हैं कि यदि यहाँ घड़ा होता—इस प्रकार प्रतियोगी की विद्यमानता के आरोप से, प्राप्त करायी गयी उपलब्धि है प्रतियोगी जिसकी, वह 'योग्य अनुपलब्धि' होती है। उससे अभाव को प्रमा होती है।

यदि अत्र घटः स्यात्'—इस प्रकार से 'तर्कितप्रतियोगिसत्त्वप्रसंजितप्रतियोगिकत्व' ही 'अनुपलब्धि' को 'योग्यता' समझनी चाहिये। इसी अभिप्राय से योग्यानुपलब्धि का निर्वचन करके उसके द्वारा 'अभावप्रमा' का ज्ञान हो पाता है। तथाच 'यदि स्तंभे पिशाचसत्त्वं स्यात् तर्हि स्तंभत्ववत् उपलभ्येत'—इस प्रकार तर्कित प्रतियोगिरूप पिशाचत्व का सत्त्व रहने से उसकी उपलब्धि का होना संभव हो सकता है। योग्य पर रहने वाली जाति को ही 'योग्यत्व कहते हैं। अतः योग्यानुपलब्धि से स्तंभ में पिशाच के अन्योन्याभाव का ग्रहण हो सकता है। और 'आत्मा' में धर्माधर्मादि के आपादन से उनके अभाव का आपादन करना शक्य नहीं है। उस कारण आत्मा में धर्माधर्म के अभाव का ज्ञान अनुपलब्धि से नहीं होता, अपितु 'अनुमान' से होता है। यह भी नहीं कह सकते कि केवल अधिकरण के अतिरिक्त 'अभाव' नाम की कोई वस्तु ही नहीं है। क्योंकि 'घट' को अनुपब्धि से 'भूतले घटो नास्ति'—इस प्रकार से "आधाराधेयभाव' का अनुभव, सभी को होता रहता है। स्वयं हो स्वयं का अधिकरण तो हो नहीं सकता। अतः अधिकरण से अतिरिक्त 'अभाव' पदार्थ को मानना ही होगा। उस अभाव का ग्रहण 'योग्यानुपलब्धि' से होता है। एवं च 'योग्यानुपलब्धिकरणिका अभावप्रमा'—यह जो कहा है, वह सुसंगत ही है।

योग्यानुपलब्धि से अभाव का ग्रहण सिद्ध होने पर भी पुनः जिज्ञासा होती है कि 'ज्ञात अनुपलब्धि' से 'अभाव' का ग्रहण होता है, किंवा 'अज्ञात अनुपलब्धि' से ?

प्रथम पक्ष का यदि स्वीकार करते हैं तो 'अनवस्था' होगी। द्वितीय पक्ष का स्वीकार करने पर 'सर्वदा ही अभाव का ज्ञान (ग्रहण) होते रहने का प्रसंग आवेगा। अतः 'अभावप्रमा' में 'अनुपलब्धि' को करण कहना असंगत सा ही प्रतीत हो रहा है।

किन्तु उक्त आशंका उचित नहीं है। 'अभावप्रमा' के होने में 'ज्ञात अनुपलब्धि' ही करण है। उसके करण होने से 'अनवस्था' की आशंका नहीं करनी चाहिये। क्योंकि 'उपलब्धि का अभाव', 'प्रमातृनिष्ठ' है और उसका ज्ञान, स्वप्रकाशसाक्षिरूप है। अतः अनवस्था नहीं हो सकती। एवं च 'अनुपलब्धि' ही अभावप्रमा के प्रति करण है।

शंका—यह 'अभाव' नामक कौन-सा पदार्थ है ? उसे द्रव्यादि षट् का अन्योन्याभावरूप नहीं कह सकते, क्योंकि विशेषादि पदार्थ को स्वीकार नहीं किया गया है। उसे भावपदार्थ से भिन्न भी नहीं कह सकते, क्योंकि अन्योन्याश्रय का प्रसंग प्राप्त होगा। अभाव का निरूपण न हो सकने के कारण 'अनुपलब्धि' को स्वतन्त्र पृथक् प्रमाण मानना संभव भी नहीं है।

सचाऽत्यन्ताभाव एक एव, भेदे प्रमाणाभावात् । तथाहि "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" "सत्त्वाच्चापरस्ये"ति[1]

ननु कोऽयमभावः ? न तावद्द्रव्यादिषट्कान्योन्याभावः सः, विशेषादेरनङ्गीकारात् । नापि भावभिन्नः सः, परस्पराश्रयप्रसङ्गात् । अतोऽभावस्यानिरूपणात् अनुपलब्धेर्मानान्तरत्वमनुपपन्नमित्याशङ्क्याह—नञर्थेति । नञो नशब्दस्यार्थमुल्लिखति विषयीकरोति नञर्थोल्लिखिता, सा चासौ धीश्च नञर्थोल्लिखितधीस्तस्या विषयोऽभावो, नास्तीतिप्रत्ययवेद्योऽभावः ।।४१।।

ये तु घटादेरेकैकस्य पदार्थस्य प्रागभावादिभेदेन चतुर्विधाभावमाचक्षते तान्प्रत्याह—स चेति । एकप्रतियोगिकोऽभावोऽत्यन्ताभाव एक एव । नहि सर्वेषां घटादीनामेक एवाभावो वक्तुं शक्यः, प्रतियोगिभेदेनाभावभेदस्य सर्वसम्मतत्वात् । तथा चैकस्य प्रतियोगिनः प्रागभावादिभेदेनाभावभेदोऽनुपपन्नः । तथाहि—प्रतियोगिभेदेनाऽभावभेदो वाच्यः प्रतियोगिनोऽभावनिरूपकत्वेन तद्भेदमन्तरेणाभावभेदायोगात् ।

ननु प्रतियोगिभेदाभावेऽपि प्रतियोगितावच्छेदकभेदेनाभावभेदोऽस्तु, प्रतियोगिवत्प्रतियोगितावच्छेदकस्यापि तन्निरूपकत्वात् । न च प्रतियोगितावच्छेदकस्यापि घटत्वस्यैक्यात्कथं तद्भेदेनाभावभेद इति वाच्यम् ? तस्य वस्तुत एकत्वेऽपि विशिष्टाविशिष्टरूपेण तद्भेदसम्भवात् । तथाहि—भविष्यत्कालसम्बन्धिघटत्वं प्रागभावस्य प्रतियोगितावच्छेदकं, भूतकालविशिष्टं घटत्वं ध्वंसस्य, भूतभविष्यद्वर्त्तमानकालावच्छिन्नघटत्वमत्यन्ताभावस्य, केवलघटत्वमन्योन्याभावस्येति प्रतियोगितावच्छेदकभेदेन प्रतियोग्यैक्येऽप्यभावभेदः सम्भवत्येवेति चेत् ?

न । प्रतियोगितावच्छेदकभेदेनाभावभेदकल्पनायामनन्ताभावकल्पनाप्रसङ्गात् । तथाहि—यथा प्रतियोगिन एकत्वेऽपि भविष्यदादिकालभेदेन प्रागभावादिभेदः, एवं प्रमेयत्वद्रव्यत्वपृथिवीत्वादिप्रतियोगितावच्छेदकभेदेनापि घटाभावः सिध्येत । इह घटोनास्तीत्यनुभववत्पृथिवी; घटो नास्ति, द्रव्यं; घटोनास्तीत्याद्यनुभवस्यापि सम्भवात् । न चैवमभ्युपगम्यते । तस्मात्प्रतियोगितावच्छेदकभेदेनाभावभेदो दुर्निरूप्य इति प्रतियोगिभेदेनैवाभावभेदो वाच्यः । ततश्च घटस्य प्रतियोगिन एकत्वात् तत्प्रतियोगिकाऽभावभेदो नास्त्येवेति । तदत्यन्ताभाव एक एवेति सिद्धम् ।

समा०—उक्त आशंका के समाधानार्थं कह रहे हैं—'नञ्' शब्द के अर्थ को विषय करनेवाली जो 'नास्ति' इत्याकारक प्रतीति है, उस प्रतीति के विषय को 'अभाव' शब्द से कहा जाता है । जैसे 'भूतले घटो नास्ति'—इत्याकारकप्रतीति का विषय 'भूतल में घट का अभाव' है ॥ ४१ ॥

वह 'अभाव'; 'अत्यन्ताभावरूप एक' ही है । प्रागभावादिभेद से 'चार अभाव' मानने में कोई प्रमाण नहीं है । नैयायिकविद्वानों ने जो कहा है कि 'घटादि एक-एक पदार्थ' के 'प्रागभावादिभेद' से चार प्रकार का अभाव होता है—यह कहना उचित नहीं है ।

नैयायिक विद्वान् अपने विचारों को इस प्रकार व्यक्त करते हैं—(१) प्रागभाव, (२) प्रध्वंसाभाव, (३) अत्यन्ताभाव, (४) अन्योन्याभाव—इन भेदों से 'अभाव' के चार प्रकार होते हैं । उनमें से 'घट' की उत्पत्ति से पूर्व उस घट के अवयवरूप कपालों में 'घटो भविष्यति' इत्याकारक प्रतीति होती है । उस प्रतीति के बलपर उन कपालों में घट का प्रागभाव सिद्ध होता है ।

मुद्गरादिकों के प्रहार करने पर वह घट भग्न हो जाता है । तब उसके अवयवभूत कपालों में—'घटो ध्वस्तः'—इत्याकारक प्रतीति होती है । उस प्रतीति के बल पर उन कपालों में उस घट के प्रध्वंसाभाव' की सिद्धि होती है ।

घट के अविद्यमान काल में 'भूतले घटो नास्ति'—इत्याकारक प्रतीति होती है । उस प्रतीति के बलपर उस भूतल पर उस घट का अत्यन्ताभाव सिद्ध होता है ।

भूतल पर 'घट' के विद्यमान रहने पर भी 'भूतलं न घटः'—इत्याकारक प्रतीति होती है । उस प्रतीति के बल पर 'घट' का भेदरूप अन्योन्याभाव सिद्ध होता है । इन विलक्षण प्रतीतियों के बल से उस एक ही घट के चार प्रकार के अभाव सिद्ध होते हैं ।

१. अवरस्येति सूत्रपाठः । इह तु कौस्तुभेऽपि अपरस्येति गृहीत्वा व्याख्यातम् ।

ननु घटो भविष्यति, घटो ध्वस्तः, घटो नास्ति, घटो भूतलं नेति प्रतीतिवैलक्षण्येन घटाभावविषयवैलक्षण्यस्यावश्यकत्वादतः प्रमाणबलेन प्रागभावादयोऽवश्यमभ्युपगन्तव्याः। प्रमाणसिद्धेऽर्थे युक्तीनामनवतारात् ता आभासीभवन्ति। अन्यथा कुत्रापि प्रमाणेन वस्तुनिर्णयो न स्यात्। तदुक्तम्—

"स्वानुभूतावविश्वासे तर्कस्याप्यनवस्थितेः। कथं वा तार्किकम्मन्यस्तत्त्वनिश्चयमाप्नुयादि"ति॥

तस्मात्प्रतियोग्यैक्येऽपि प्रमाणबलेन प्रागभावादिभेदसिद्धिरित्यत आह—भेद इति। अभावभेद इत्यर्थः। नच भविष्यतीत्यादि प्रमाणस्योपन्यस्तत्वात्कथं तदभाव इति वाच्यम्? न हि घटो भविष्यतीत्यादिप्रतीत्याऽभावोऽनुभूयते, तथा नञर्थानुल्लेखनात्। किं तर्हि? घटस्य भविष्यत्कालसत्तासम्बन्धः। न चैवं पूर्वकाले तस्याभावः, असत्त्वप्रसङ्गात्। न चेष्टापत्तिः, असतः शशविषाणादेरुत्पत्तेरदर्शनेन तदुत्पत्त्यनुपपत्तेः। सतो वा कथं तदुत्पत्तिः? कारकव्यापारवैयर्थ्यादिति चेन्न, कारणात्मना विद्यमानस्याभिव्यञ्जकत्वमात्रेण कारकव्यापारस्यार्थवत्त्वोपपत्तेः। एतेन प्रागसतः सता योगो वा आद्यक्षणसम्बन्धो वोत्पत्तिरिति

●

इन अभावों में से 'अनादिः सान्तः प्रागभावः' अर्थात् यह 'प्रागभाव'—अनादि होता है, किन्तु नाशवान् है। और 'प्रध्वंसाभाव'—'सादिः अनन्तः प्रध्वंसः'—अर्थात् 'प्रध्वंसाभाव'—उत्पत्तिमान् है, किन्तु नाशवान् नहीं है। और 'अत्यन्ताभाव'—'त्रैकालिकसंसर्गावच्छिन्नप्रतियोगिताकः अत्यन्ताभावः'। तथा 'अन्योन्याभाव'—'तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकः अन्योन्याभावः' ये दोनों अभाव, उत्पत्ति-विनाश से रहित होने के कारण 'नित्य' होते हैं।

किन्तु यह विभाजन असंगत है कारण कि एक प्रतियोगी वाला अभाव एक ही हो सकता है, एक ही प्रतियोगी के अनेक अभाव हो नहीं सकते। घड़े आदि सभी वस्तुओं का एक ही अभाव तो कहा नहीं जा सकता क्योंकि प्रतियोगी के भेद से अभाव में सभी भेद मानते हैं। इसलिये एक ही प्रतियोगी का अभाव प्रागभावादि भेद से चार प्रकार का कहना गलत है। प्रतियोगी ही जब अभाव का निरूपक है तो उसके एक रहते अभाव को अनेक कहोगे कैसे?

प्रश्न—प्रतियोगितावच्छेदक के भेद से कह देंगे, क्योंकि जैसे प्रतियोगी वैसे प्रतियोगितावच्छेदक भी अभाव का निरूपक है।

उत्तर—किन्तु घटत्वरूप प्रतियोगितावच्छेदक भी तो एक ही है।

प्रश्न—वस्तुदृष्ट्या भले ही एक हो, विशिष्ट और अविशिष्ट रूप से तो उसमें भेद हो जायेगा। भविष्यत्कालसम्बन्धि घटत्व को प्रागभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक मानेंगे, भूतकालविशिष्ट को ध्वंस के लिये, तीनों कालों से विशिष्ट को अत्यन्ताभाव के लिये और केवल घटत्व को भेद के लिये प्रतियोगितावच्छेदक मान लेंगे। इस प्रकार अभावभेद उपपन्न है।

उत्तर—ऐसा कहना अनुचित है। ऐसा हो तो अनन्त अभाव मानने पड़ेंगे। प्रमेयत्व, द्रव्यत्व आदि बहुतेरे प्रतियोगितावच्छेदक उपस्थित हैं जिनके भेद से असंख्य अभाव सिद्ध होने लगेंगे। अनुभव तो जैसे यहाँ घट नहीं है—यह होता है वैसे पृथ्वी घट नहीं है, द्रव्य घट नहीं है—यह भी होता है। अतः उनकी प्रतियोगितावच्छेदकता मना नहीं की जा सकती और अभावों की अनन्तता अर्थात् अपलाप नहीं किया जा सकता तुम्हें भी स्वीकार्य तो नहीं है, केवल चातुर्विध्य ही स्वीकार्य है। अतः अनुभवानुरोध से प्रतियोगी की विभिन्नता को ही अभावभेद का नियामक मानना उचित होने से उक्त चातुर्विध्य असंगत है।

प्रश्न—किन्तु घट बनेगा, घट फूट गया, घड़ा नहीं है, भूतल घड़ा नहीं है—इन विभिन्न प्रतीतियों के कारण विभिन्न अभावों को मानना होगा अन्यथा ज्ञान की आकस्मिकता या साकारता होने लगेगी, जो किसी को इष्ट नहीं। अतः हम युक्ति से सिद्ध भले ही न कर पायें, तथापि अबाधित अनुभव के आधार पर तो विभिन्न अभाव मानने ही होंगे। यदि अनुभूति पर अविश्वास हो तब तो कभी निश्चय हो ही नहीं सकेगा क्योंकि तर्क तो अनवस्थित ही हुआ करता है। एवं च प्रामाणिक अभाव के चातुर्विध्य को आप क्यों नहीं स्वीकार करते?

उत्तर—उक्त मन्तव्य उचित नहीं है। क्योंकि 'घटो भविष्यति'—इस प्रतीति में 'अभाववाचक नञ् शब्द नहीं है। उस कारण उक्त प्रतीति, 'प्रागभाव' को विषय नहीं कर रही है। किन्तु आगे चलकर भविष्यत्काल में होनेवाले 'घट' का 'सत्ता' के साथ जो 'सम्बन्ध' है, उसी को उक्त प्रतीति, विषय करती है। अतः 'घटोभविष्यति'—इस प्रतीति के बलपर घट का 'प्रागभाव' सिद्ध नहीं किया जा सकता।

किञ्च—'घट' की उत्पत्ति के पूर्व 'प्रागभाव' मानने पर तो उत्पत्ति के पूर्व 'घट' के 'असत्' रहने से उस घट की तो उत्पत्ति ही नहीं हो सकेगी।

प्रत्युक्तम्। तद्भविष्यतीति प्रतीतेरन्यविषयत्वात्प्रागभावो दुर्निरूपइत्यभ्युपगम्य तदभ्युपगमे श्रुतिसूत्रविरोधमाह—तथाहीति। इदं दृश्यमानं सर्वं कार्य्यजातमग्रे सृष्टेः पूर्वं सदेवासीदिति कारणात्मना सत्त्वमवधार्य्यते कार्य्यस्य। तथापरस्य कार्य्यस्य प्रागुत्पत्तेः कारणात्मना सत्त्वाद्वर्त्तमानकालेऽपि परमकारणादनन्यत्वं तद्व्यतिरेकेणाभाव इति सूत्रेण प्रतिपाद्यते। प्रागभावश्चेत् स्वीक्रियते तर्हि श्रुतिसूत्रविरोधः स्यात्। तस्मात्स दुर्निरूप इत्यर्थः।

एतेन सर्वं कार्यं स्वसमवायिकारणनिष्ठाभावप्रतियोगि कार्य्यत्वाद्व्यतिरेकेणाकाशवदिति प्रत्युक्तम्। श्रुतिसूत्राभ्यां हेतोर्बाधितविषयत्वादसत्कार्य्यवादस्याप्रामाणिकत्वेनासदुत्पत्तेर्निराकृतत्वेन चानुमानानुपपत्तेश्च। प्रागभावेन विनानुपपत्तेरभावाच्च न तत्सिद्धिरिति।

अतएव ध्वंसो दुर्निरूप इत्याह—प्रागिति। ब्रह्मसाक्षात्कारः[1]। उत्पत्तेः पूर्वं सृष्टिप्रलययोर्बीजाङ्कुरवत्प्रवाहस्या-

•

यदि 'असत्' की भी उत्पत्ति होती हो तो 'असत्' शशविषाण, वन्ध्यापुत्र आदि की भी उत्पत्ति होनी चाहिये। किन्तु उनकी उत्पत्ति कभी भी नहीं होती, क्योंकि वे 'असत्' हैं।

शङ्का—जैसे 'असत्' की उत्पत्ति का होना असंभव है, वैसे ही 'सत्' की उत्पत्ति का होना भी सम्भव नहीं है। क्योंकि जिस घट की उत्पत्ति के होने में कुलाल, दण्ड, चक्र, चीवर आदि कारणों का व्यापार अपेक्षित रहता है, वह 'घट' तो तुम्हारे मत में (सत् की उत्पत्ति माननेवालों के मत में) अपनी उत्पत्ति होने के पूर्व से ही 'सिद्ध' है। उस कारण तदर्थं कारण व्यापार का होना व्यर्थ ही कहा जायगा।

समा०—यद्यपि वह घट, अपनी उत्पत्ति होने के पूर्व, मृत्तिकादिकारणरूप से विद्यमान है ही, तथापि उसकी अभिव्यक्ति, 'कारण व्यापार' के बिना नहीं हो पाती। कारण व्यापार के होने पर ही उस 'घट' की अभिव्यक्ति हुआ करती है। उस कारण वह कारण व्यापार 'घट' का अभिव्यञ्जक मात्र है। अभिव्यञ्जक होने से उसे व्यर्थ नहीं कह सकते।

किञ्च—उत्पत्ति के पूर्व 'कार्य' की कारण के रूप में जो 'सत्ता' बताई गई है, उसमें केवल 'युक्ति' ही नहीं, अपितु श्रुति तथा सूत्र का भी पूर्णतया समर्थन है। श्रुति कहती है—"सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" अर्थात् हे प्रियदर्शन श्वेतकेतो! यह दृश्यमान कार्यरूप जगत् अपनी उत्पत्ति के पूर्व 'सत्' ही था, अर्थात् 'परमकारण परमात्मा के रूप से 'सत्' ही था।

ब्रह्मसूत्र 'सत्त्वाच्चाऽवरस्य'—(ब्र० सू० २।१।६।१६) इस सूत्र से भी अवगत हो रहा है कि 'यह सम्पूर्ण जगत् अपनी उत्पत्ति के पूर्व, ब्रह्मरूप ही था'—इस श्रुतिवचन से प्रतीत होता है कि उत्पत्ति के पहले कार्य की सत्ता है, अतः स्पष्ट है कि कार्य की सत्ता 'कारण' से पृथक् नहीं है।

एवं च प्रपञ्चरूप कार्य का, अपनी उत्पत्ति के पूर्व कारणरूप से 'सत्त्व' होने के कारण इस वर्तमान काल में भी उस परम कारण परमात्मा से इसका अनन्यत्व (अभिन्नत्व) ही है। अर्थात् उस परम कारण रूप परमात्मा से इसकी भिन्नता नहीं है।

यदि 'प्रागभाव' का स्वीकार करते हैं, तो श्रुति और सूत्र के साथ विरोध प्राप्त होगा। एवञ्च श्रुति तथा सूत्र के विरुद्ध होने के कारण 'प्रागभाव' को मानना उचित नहीं है।

तथा प्रागभाव के समान ही 'प्रध्वंसाभाव' के मानने में भी कोई प्रमाण नहीं है। क्योंकि 'ब्रह्मसाक्षात्कार के पूर्व', इस 'कार्यप्रपञ्च' का अत्यन्त नाश नहीं होता। किन्तु बीजाङ्कुर के समान 'सृष्टि-प्रलय' की प्रवाहरूप से अनादिता ही है। अर्थात् जैसे बीज से अङ्कुर और उस अंकुर से पुनः बीज होता रहता है, अर्थात् यह क्रम निरन्तर चलता है। उसी तरह सृष्टि के अनन्तर प्रलय, और प्रलय के अनन्तर पुनः सृष्टि—यह क्रम भी अविच्छिन्न (अखण्ड) चलता रहता है। एवञ्च यह सृष्टि-प्रलय का प्रवाह, अनादिकाल से चल रहा है। प्रलयकाल में भी इस कार्यरूप प्रपञ्च का अत्यन्त नाश नहीं होता, किन्तु अपने कारण में तिरोभूत होकर रहता है। उसी प्रकार वर्तमानकाल में भी भग्न (ध्वस्त) हुए घटादि कार्य भी, अपने कपालादि-रूप कारणों में तिरोभूत हुए रहते हैं। 'घटोध्वस्तः'—यह प्रतीति, उस तिरोभाव की अवस्था को ही विषय करती है। एवञ्च 'घटो ध्वस्तः' इस प्रतीति के बल पर 'घट' के 'प्रध्वंसाभाव' की सिद्धि नहीं कर सकते।

---

१. ब्रह्मसाक्षात्कारोत्पत्तेः पूर्वमिति पाठः स्यात्।

श्रुतिसूत्राभ्यां प्रागुत्पत्तेः कार्य्यस्य कारणात्मना सत्त्वप्रतिपादनेन प्रागभावस्य दुर्निरूप्यत्वात्। प्रागात्मज्ञानात्कार्यस्य निरन्वयनाशानङ्गीकारेण ध्वंसस्यापि दुर्निरूप्यत्वात् ॥ ४२ ॥

अनादिनित्यत्रैकालिकात्यन्ताभावान्योन्याभावसत्त्वेऽद्वैतश्रुतिविरोधापत्तेः। अतोऽत्यन्ताभाव एक एव ॥ ४३ ॥

●

नादित्वेन "सदेव सोम्येदमग्रआसीत्" "ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्" "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्" "नासतो विद्यते भावः" इत्यादिश्रुतिस्मृतिवाक्यशतैः सृष्टेः पूर्वं प्रलीनस्य जगतः कारणात्मना सत्त्वप्रतिपादनेन कार्यस्य निरन्वयनाशाङ्गीकारे तद्विरोधप्रसङ्गात् ध्वंसो दुर्निरूपः। नच घटो ध्वस्त इति प्रतीतेः का गतिरिति वाच्यम्, तस्यास्तिरोभावमात्रविषयत्वोपपत्तेः श्रुत्यादिबाधेनानुमानादिप्रमाणान्तरानवताराच्च, तत्रेतरस्य भ्रममूलत्वोपपत्तेश्चेति भावः ॥४२॥

ननु श्रुतिस्मृतिविरोधेन युक्तिविरोधेन च प्रागभावध्वंसयोरनङ्गीकारेऽप्यत्यन्ताभावान्योन्याभावावश्यमभ्युपगन्तव्यौ। नच तत्र प्रमाणाभावः। भूतले घटोनास्ति, वायौ रूपं नास्तीत्याद्यनुभवः, नाहमीश्वरः, त्वमहं न, भूतलं घटो न इत्याद्यनुभवश्च तत्र प्रमाणम्। उत्पत्तिविनाशकारणानिरूपणात्तावनादो नित्यौ च, अत एव त्रैकालिकौ। नचाद्वैतश्रुतिविरोधः, तस्या भावाद्वैत-परत्वोपपत्तेः, अन्यथा प्रत्यक्षादिप्रमाणविरोधप्रसङ्गात्। तस्मादत्यन्ताभावान्योन्याभावावभ्युपगन्तव्यावित्याशङ्क्याह—अनादीति। किं तौ पारमार्थिकौ उत मिथ्याभूतौ। नाद्य इत्याह—अद्वैतेति। नच श्रुतेर्भावाद्वैतपरत्वमस्तीति[1] वाच्यम्, सङ्कोचे मानाभावात्। किञ्चाभावस्य प्रतियोगिनिरूपणाधीननिरूपणत्वेन तत्सत्तासमसत्ताकतया पारमार्थिकत्वं न सम्भवत्येव।

•

किञ्च—प्रलयकाल में 'कार्यरूपप्रपञ्च' का यदि अत्यन्त नाश मानेंगे तो श्रुति-स्मृतिवचनों के द्वारा सृष्टि के पूर्वलीन हुए कार्य का कारण के रूप में सत्त्व जो प्रतिपादित किया है, वह असंगत होगा। अतः 'प्रध्वंसाभाव' भी श्रुति-स्मृति के विरुद्ध होने से उसे भी स्वीकार करना उचित नहीं है।

किञ्च—नैयायिकों ने 'अत्यन्ताभाव' और 'अन्योन्याभाव' को 'उत्पत्ति-विनाष' से रहित होने के कारण जो उन्हें 'नित्य' बताया है, वह भी असंगत है। क्योंकि 'एकमेवाद्वितीयम् ब्रह्म'—यह श्रुति 'ब्रह्म' को सम्पूर्ण द्वैतप्रपञ्च से रहित बताती है, और 'नेह नानास्तिकिञ्चन'—यह श्रुति, उस 'ब्रह्म' में सम्पूर्ण द्वैतप्रपञ्च का 'निषेध' करती है। तथा 'अतोऽन्यदार्तम्'—यह श्रुति, उस ब्रह्म से भिन्न, सम्पूर्णप्रपञ्च को 'मिथ्या' कहती है।

यदि उस अत्यन्ताभाव को तथा अन्योन्याभाव को 'नित्य' मानते हैं, तो उक्त सभी श्रुतियों से विरोध होगा। उस कारण उन दोनों अभावों को भी 'अनित्य' ही मानना चाहिए।

किञ्च—अभाव के साथ चक्षुरादि इन्द्रियों का किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध भी नहीं बन सकता। उस कारण 'भूतले घटो नास्ति'—इस प्रत्यक्षप्रतीति के बल पर उस 'नित्य अत्यन्ताभाव' को सिद्ध कर पाना भी सम्भव नहीं है।

तथा 'घटःपटो न'—यह प्रतीति, उस 'अन्योन्याभाव' को विषय नहीं करती। किन्तु घट और पट दोनों के अभेद का जो 'अत्यन्ताभाव' है, उसी को वह विषय करती है। उस कारण उक्त प्रतीति के बल पर 'अन्योन्याभाव' की भी सिद्धि नहीं हो पा रही है। एवञ्च 'प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव'—इन तीनों अभावों का निरूपण न हो सकने के कारण केवल एक 'अत्यन्ताभाव' को ही मानना चाहिए।

इस पर यदि यह शंका हो कि 'घटोध्वस्तः' यह प्रतीति कैसे उत्पन्न होगी? तो उसका समाधान यह है कि श्रुति आदि का बाध होने से अनुमानादि किसी प्रमाण का उदय न हो पाने से उक्त प्रतीति को भ्रममूलक समझने से उपपत्ति हो जायगी। अथवा 'घटो ध्वस्तः' इस प्रतीति को 'तिरोभावमात्रविषयक' मानकर उपपत्ति हो सकती है ॥४२॥

शंका—श्रुति-स्मृति और युक्ति तीनों का विरोध होने से 'प्रागभाव और ध्वंस' का स्वीकार न कर सकने पर भी अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव' का स्वीकार करलेने में क्या हानि है? अतः उन्हें स्वीकार कर लेना चाहिए। यदि यह कहें कि उन्हें स्वीकार करने में कोई प्रमाण नहीं है, किन्तु यह कहना उचित न होगा। क्योंकि 'भूतले घटो नास्ति, वायौ रूपं नास्ति'—इत्यादि अनुभव सभी को होता है। और 'नाहम् ईश्वरः, त्वम् अहं न, भूतलं घटो न'—यह अनुभव भी सभी को होता है। अतः उक्त दोनों अभावों को मान लेने में 'अनुभव' ही प्रमाण है। उनके 'उत्पत्ति-विनाश' के 'कारण' भी कोई नहीं हैं, जिनसे

१. दुर्निरूप्य इति पाठः। २. श्रुतिर्भावाद्वैतपराऽस्त्विति।

नच प्रतियोगिनः सत्यत्वमस्ति। तस्य ब्रह्माज्ञानेन कल्पितत्वेन रज्जुसर्पवन्मिथ्यात्वस्योपपादितत्वात्। न च प्रतियोगिमिथ्यात्वे तत्सत्ताधीनसत्ताकस्य वास्तवत्वं सम्भवत्यतो द्वितीयः परिशिष्यते।

अत एवाभावस्य त्रैकालिकत्वं प्रत्युक्तं, कल्पितस्य ज्ञाननिवर्त्यत्वेन तदयोगात्। नच वाय्वादौ भूतभविष्यद्वर्त्तमान-कालेषु रूपानुपलब्ध्या तदभावस्य त्रैकालिकत्वमिति वाच्यम्, तस्यापि कल्पितत्वेन ज्ञाननिवर्त्यत्वेन तदनुपपत्तेः। "यत्र तु अस्य सर्वमात्मैवाभूदिति" श्रुत्या मुक्तिकाले सर्वस्यात्ममात्रत्वप्रतिपादनाच्च। नच कालस्याविद्यासम्बन्धरूपत्वेन मुक्तौ सर्वव्यवहाराऽभावेन सोपाधिककालस्यापि मुक्तावभावेन व्यवहारकाले त्रैकालिकत्वं रूपाद्यभावस्य वाय्वादौ विवक्षितमिति वाच्यम्, इष्टापत्तेः।

अन्योन्याभावस्तूभयथापि नास्त्येव। तथाहि—न तावद्वास्तवः स च सम्भवति, उक्तन्यायेन वास्तवत्वासम्भवात्। नापि कल्पितोऽन्योन्याभावः सम्भवति, प्रमाणप्रतियोगिनोरभावात्। तथाहि—न तावदत्र प्रत्यक्षं प्रमाणमिन्द्रियाणां तदसन्निकृष्टत्वेन तैस्तद्ग्रहणायोगात्। नच विशेषणतैव सन्निकर्षोऽस्त्विति वाच्यम्, प्रागेव निरस्तत्वात्, सम्बन्धान्तरानिरूपणाच्च। नाप्यनुमानं तत्र प्रमाणं, साध्यस्याप्रसिद्धत्वेन तदयोगात्। भूतलं घटो नेत्यादि प्रतीतेर्वक्ष्यमाणविधयाऽन्यथाप्युपपत्तेः। अत एवोपमानादयोऽपि न तत्र प्रमाणम्।

•

उनकी उत्पत्ति तथा विनाश कहा जाय। अतः वे दोनों अभाव 'अनादि और नित्य' भी हैं। अतएव वे त्रैकालिक भी हैं। उनको मान लेने में 'अद्वैतश्रुति' के साथ कोई विरोध भी नहीं है। क्योंकि उस श्रुति को 'भावाद्वैतपरक लगाने से उसकी उपपत्ति लग जायगी। अन्यथा प्रत्यक्षादिप्रमाणों के साथ विरोध उपस्थित होगा। इसलिए 'अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव' दोनों को स्वीकार कर लेना चाहिए।

समा०—अनादि, नित्य, त्रैकालिक 'अत्यन्ताभाव तथा अन्योन्याभाव' को स्वीकार कर लेने पर 'अद्वैतप्रतिपादक श्रुति' के साथ विरोध उपस्थित होगा।

शंका—उक्त दोनों अभाव, क्या 'पारमार्थिक' हैं या 'मिथ्या' हैं?

समा०—यदि प्रथम पक्ष स्वीकार करते हैं तो अद्वैतश्रुति के साथ विरोध होता है। उस श्रुति को 'भावाद्वैतपरक' कहना भी उचित नहीं होगा, क्योंकि 'संकोच' करने में कोई प्रमाण नहीं हैं।

किञ्च—उन अभावों को 'पारमार्थिक' न मानने का एक अन्य कारण यह भी है कि 'अभाव' का निरूपण, 'प्रतियोगी' के निरूपणाधीन होता है। अतः 'तत्सत्तासमसत्ताकं' होने से उक्त अभावों में 'पारमार्थिकत्व' की सम्भावना नहीं की जा सकती। उसी तरह 'प्रतियोगी' को भी सत्य (पारमार्थिक) नहीं कह सकते। क्योंकि 'ब्रह्म' में 'अज्ञान के द्वारा उस प्रतियोगी की कल्पनामात्र की गई है, अतः वह कल्पित है। इसलिए 'रज्जु-सर्प' के समान उसमें मिथ्यात्व बताया जाता है। एवञ्च 'प्रति-योगी' के मिथ्या होने पर तत्सत्ताधीन वाले अभाव की वास्तविकता (पारमार्थिकता) कभी नहीं हो सकती। उसका वास्तविक (पारमार्थिक) होना कभी सम्भव हो नहीं है।

अब अवशिष्ट रहा दूसरा 'मिथ्यात्व' पक्ष। अतएव अभाव के मिथ्या होने से ही उसके 'त्रैकालिकत्व' का भी खण्डन हो जाता है। क्योंकि 'कल्पित पदार्थ' की 'ज्ञान' से निवृत्ति हो जाती हैं। अतः 'अभाव' को त्रैकालिक भी नहीं कह सकते।

शङ्का—भूत-भविष्यत्-वर्तमानकालों में 'वायु' आदि के रूप की उपलब्धि न होने से 'रूपाभाव' आदि को त्रैकालिक क्यों नहीं कह सकते?

समा०—उस 'त्रिकाल' के भी 'कल्पित' रहने से उसकी भी ज्ञान के द्वारा निवृत्ति होती है। एवञ्च 'ज्ञाननिवर्त्य' होने से 'अभाव' को 'त्रैकालिक' कैसे कह सकते हैं? 'अस्य सर्वमात्मैवाभूत्'—यह श्रुति बता रही है कि 'मुक्ति' में सम्पूर्ण व्यवहारमात्र का अभाव हो जाता है। सभी कुछ 'आत्मरूप' हो जाता है।

'काल', 'अविद्यासम्बन्धरूप' है। मुक्तिदशा में समस्त व्यवहारमात्र का अभाव हो जाता है। मुक्तिदशा में 'सोपाधिक-काल' का भी अभाव हो जाता है। किन्तु व्यवहारदशा में 'त्रैकालिकत्व', 'वायु' आदि में 'रूप' आदि का अभाव कहा जाता है।

स च द्विविधः पारमार्थिको व्यावहारिकश्चेति। "नेह नानास्ति किञ्चने"त्यादिश्रुतिप्रतिपादितः प्रपञ्चात्यन्ताभावः

नापि प्रतियोगी तस्य निरूपयितुं शक्यते। तथाहि—न तावद्घटः प्रतियोगी तस्य तदविरोधित्वेन तदयोगात्। नापि तादात्म्यं तत्प्रतियोगी, तस्य घटस्वरूपत्वे तद्भिन्नत्वे वा तदयोगात्। तथाहि—नच तद्घटस्वरूपमेव, उक्तदोषानपायात्। नापि घटस्वरूपातिरिक्तं तत्, तर्हि तदन्योन्याभावस्य घटान्योन्याभावत्वायोगात्। नापि भिन्नत्वे सत्यभिन्नत्वं तत्, अन्योन्याश्रयापत्तेः। नाप्यभिन्नत्वमात्रं तत्, तर्ह्यभेदात्यन्ताभावो भेद इत्यापतेत्; न स घटाभावः, न ह्यन्यप्रतियोगिकोऽन्याभावो भवति। तस्मात् प्रमाणप्रतियोग्यनिरूपणाद्वास्तवत्वाऽवास्तवत्वाभ्यामन्योन्याभावश्च दुर्निरूप इत्यभिप्रेत्य परिशेषादत्यन्ताभाव एक एवेत्याह—**अत इति**। यतः प्रागभावध्वंसाभावान्योन्याभावा दुर्निरूपा अतः कारणादित्यर्थः ॥४३॥

तं विभजते—**स चेति**। आद्यं व्युत्पादयति—**नेति**।। इह प्रत्यगभिन्ने परमात्मनि नाना द्वैतजातं जीवेश्वरजगद्रूपं **नास्ति**, दृश्यमानस्य मायामयत्वेन मिथ्यारूपत्वादिति भावः। ज्ञानानन्दादिगुणकं ब्रह्मेति परे मेनिरे, तदपि नास्तीत्याह—**किञ्चनेति**। गुणगुण्यादिलक्षणं द्वैतमपि नास्तीत्यर्थः। आदिशब्देन "अथात आदेशो नेति नेति" "स एष नेत्यात्मा" इति श्रुतयो गृह्यन्ते।

समा०—यह तो हमें इष्ट ही है। इससे हमें कोई विरोध नहीं है, किन्तु 'अन्योन्याभाव' तो उभयथापि स्वीकाराई नहीं है। अर्थात् वह, न पारमार्थिक है और न मिथ्या है। तथाहि—उसे 'वास्तविक' कहना भी सम्भव नहीं है। क्योंकि उक्त न्याय से उसमें 'वास्तवत्व' का होना असम्भव है। इस 'अन्योन्याभाव' को 'कल्पित' कहना भी सम्भव नहीं है। इसे कल्पित कहने में न कोई प्रमाण है और न इसका कोई 'प्रतियोगी' ही है। तथाहि—'अन्योन्याभाव' के होने में 'प्रत्यक्ष' प्रमाण भी नहीं कह सकते। क्योंकि इन्द्रियाँ उसके सन्निकृष्ट न होने से उन इन्द्रियों से उसका ग्रहण नहीं हो सकता। 'विशेषणता' को ही सन्निकर्ष मानकर उससे उसका ग्रहण कहें, तो वह भी ठीक नहीं है, 'विशेषणता सन्निकर्ष' का निरसन तो पहले ही किया जा चुका है। और अन्य कोई 'सम्बन्धान्तर' नहीं हैं, जिससे उसका ग्रहण हो सके। उसके ग्रहण में 'अनुमानप्रमाण' भी समर्थ नहीं है, क्योंकि 'साध्य' की अप्रसिद्धि है। 'भूतलं घटो न' इत्यादि प्रतीति की उपपत्ति का प्रकार आगे बतायेंगे। एवञ्च उक्त प्रतीति की अन्य प्रकार से (अन्यथा) उपपत्ति लग जाती है।

अत एव 'उपमानादि' प्रमाणों से भी, 'अन्योन्याभाव' का ग्रहण करना संभव नहीं है।

अन्योन्याभाव के 'प्रतियोगी' का निरूपण करना भी शक्य नहीं है। तथाहि—'भूतलं घटो न'—इस अन्योन्याभाव में 'घट' को उसका प्रतियोगी नहीं कर सकते, क्योंकि उक्त अभाव के साथ 'घट' का कोई विरोध नहीं है। एवं च अविरोधी रहने से वह उस अभाव का प्रतियोगी नहीं कहा जा सकता। 'तादात्म्य' को भी उक्त अभाव का प्रतियोगी नहीं कह सकते। क्योंकि उस 'तादात्म्य' को 'घटस्वरूप' अथवा 'घटभिन्न' मानने पर वह उसका प्रतियोगी नहीं कहा जा सकता। तथा हि—'तादात्म्य' को घटस्वरूप कहने पर उक्त दोष से मुक्ति नहीं मिलेगी। उसे 'घटस्वरूप से अतिरिक्त' भी नहीं कह सकते। क्योंकि अन्योऽन्याभाव 'घटान्योन्याभाव' रूप नहीं होगा। उसे भिन्न भी नहीं कह सकते, क्योंकि भिन्न होने पर तादात्म्य में अभिन्नता नहीं रहेगी। अन्यथा अन्योन्याश्रय का प्रसंग आवेगा।

तादात्म्य को केवल अभिन्न मात्र भी नहीं कह सकते। अन्यथा 'अभेदात्यन्ताभावो भेदः' कहना होगा। वह घटाभाव, भी नहीं कहलायेगा, क्योंकि 'अन्यप्रतियोगिक अन्याभाव नहीं हुआ करता। अतः प्रमाण के न होने से, प्रतियोगी को न बतापाने से, अन्योन्याभाव को 'वास्तव या अवास्तव' कुछ भी नहीं कह सकते। अर्थात् 'अन्योन्याभाव' दुर्निरूपणीय है। एवं च परिशेषात् 'अत्यन्ताभाव' एक ही अभाव है। क्योंकि प्रागभाव, ध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव तीनों ही दुर्निरूपणीय हैं। अतः परिशेषात् एक ही अभाव है, जिसे 'अत्यन्ताभाव' कहते हैं ॥४३॥

'अत्यन्ताभाव' के (१) परमार्थिक, (२) व्यावहारिक भेद से दो प्रकार होते हैं। उनमें से पहले भेद को 'नेह नानास्ति किञ्चन'—इस श्रुति ने 'प्रत्यक् अभिन्न ब्रह्म' में, जीव-ईश्वर-जगत्' रूप द्वैत प्रपञ्च के 'अत्यन्ताभाव' को बताया है। दृश्यमान प्रपञ्च, 'मायामय' होने से 'मिथ्यारूप' है। इस 'अत्यन्ताभाव' को 'पारमार्थिक' कहते हैं।

पारमार्थिकः, स चाधिष्ठानस्वरूपः अधिष्ठानातिरिक्त इति केचित्। घटाद्यत्यन्ताभावो व्यावहारिकः। अयमेवाभेदप्रतियोगिकः।

•

ननु श्रुतिप्रतिपादितप्रपञ्चात्यन्ताभावस्य कथं पारमार्थिकत्वम्? प्रतियोगिनः प्रपञ्चस्य कल्पितत्वेन प्रतियोगिसत्ताधीनसत्ताकस्य तदयोगात्, ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य पारमार्थिकत्वेऽद्वैतश्रुत्या विरोधापत्तेश्चेत्याशङ्क्यारोपितात्यन्ताभावस्याधिष्ठानमात्रत्वेन पारमार्थिकत्वमुपपद्यत इत्याह—स चेति। नचारोपितात्यन्ताभावस्याधिष्ठानमात्रत्वाभ्युपगमेऽनुपलब्धिप्रमाणाभ्युपगमविरोधः स्यादिति वाच्यम्। न हि वयं भूतले घटो नास्तीत्यनुभूयमानस्यात्यन्ताभावस्याधिष्ठानमात्रत्वमभ्युपगच्छामः। तस्य घटादिसमानसत्ताकस्य व्यावहारिकत्वेन भूतलादिवदधिष्ठानविलक्षणत्वात्। किन्तु जगदधिष्ठाने ब्रह्मणि "ने"त्यादिश्रुत्या प्रतिपादितप्रपञ्चात्यन्ताभावस्याधिष्ठानमात्रत्वं प्रतिपादयामः। न चैतावतानुपलब्धिप्रमाणाभ्युपगमविरोधोऽस्ति। तस्या भूतलादौ घटाद्यत्यन्ताभावग्राहकत्वेन प्रामाण्योपपत्तेर्न कोपि दोष इति भावः।

मतान्तरमाह—अधिष्ठानेति। निषेधश्रुत्या गम्यमानः प्रपञ्चात्यन्ताभावोऽधिष्ठानब्रह्मस्वरूपापेक्षयातिरिक्त एव। न चाद्वैतश्रुतिविरोधस्तस्या भावाद्वैतपरत्वादिति तात्पर्य्यम्। अत्रेदं चिन्त्यम्, श्रुतिसङ्कोचे मानाभावादधिष्ठानातिरिक्ताभावस्य प्रतियोगिसत्तासमसत्ताकतया प्रतियोगिनः कल्पितत्वेन तदधीनाभावस्यापि कल्पितत्वस्यैव वक्तव्यतया वास्तवत्वस्य दुर्निरूपत्वात्, तस्माद्यत्किञ्चिदेतत्।

•

कुछ लोग 'ज्ञानानन्दादिगुणकं ब्रह्म'—मानते हैं। किन्तु वह ठीक नहीं है, इसे श्रुति 'किञ्चन' से बता रही है। अर्थात् 'गणगुण्यादिलक्षण द्वैत भी नहीं है।

शङ्का—उपर्युक्त 'अत्यन्ताभाव' को पारमार्थिक कहना सम्भव नहीं है। क्योंकि 'प्रतियोगी की 'सत्ता' के अधीन ही 'अभाव' की 'सत्ता' होती है। और 'प्रपञ्च' रूप प्रतियोगी कल्पित है, उस कारण उस प्रपञ्च का अत्यन्ताभाव भी कल्पित ही होगा।

किञ्च—दृश्यमान प्रपञ्च के अत्यन्ताभाव को यदि 'पारमार्थिक' कहें तो 'ब्रह्म' को 'अद्वितीय' कहनेवाली 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' श्रुति से विरोध भी होगा।

समा०—कल्पित वस्तु का 'अभाव', 'अधिष्ठानरूप' ही होता है। अधिष्ठान से भिन्न नहीं होता। उस कारण 'कल्पित प्रपञ्च' का अत्यन्ताभाव भी अधिष्ठान रूप (ब्रह्मरूप) ही है। उस अधिष्ठान से भिन्न नहीं है। उस अधिष्ठानभूत 'ब्रह्म' की पारमार्थिकता का प्रतिपादन, श्रुति-स्मृतियों ने किया है। अधिष्ठानरूपता के कारण वह अत्यन्ताभाव उस 'अधिष्ठान भूत ब्रह्म' से भिन्न नहीं है। उस कारण अद्वैत बोधक श्रुति से भी विरोध नहीं होता।

शङ्का—'अत्यन्ताभाव' को यदि अधिष्ठानरूप मानते हैं, तो 'अधिष्ठान' का ज्ञान 'अनुपलब्धि' प्रमाण से होना कभी सम्भव नहीं है। तब 'अनुपलब्धि प्रमाण' का मानना ही व्यर्थ होगा।

समा०—वेदान्ती कहता है कि 'भूतल पर' जो घट आदि का 'अत्यन्ताभाव' है, उसे 'अधिष्ठानरूप' नहीं मानते। व्यावहारिक घटादिकों का जो व्यावहारिक 'अत्यन्ताभाव' है, वह तो 'अधिष्ठान' से भिन्न ही माना जाता है। उस व्यावहारिक अत्यन्ताभाव के ज्ञानार्थ ही 'अनुपलब्धि प्रमाण' का स्वीकार हमने किया है। 'अनुपलब्धि प्रमाण' का स्वीकार करना व्यर्थ नहीं है।

कुछ ग्रंथकारों का कहना है कि 'नेह नानास्ति किञ्चन' इस श्रुति से प्रतिपादित 'ब्रह्म' में 'प्रपञ्च' का जो -पारमार्थिक अत्यन्ताभाव' है, वह उस अधिष्ठानभूत ब्रह्म से 'भिन्न' ही है, अधिष्ठानस्वरूप नहीं है। क्योंकि 'भाव' और 'अभाव' की एकता का होना कभी सम्भव नहीं है।

और 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म'—इस श्रुति का तात्पर्य 'भावाद्वैत' में है। अर्थात् 'ब्रह्म' से भिन्न, दूसरा कोई 'भाव' पदार्थ नहीं है। अतः 'ब्रह्म' से भिन्न 'अत्यन्ताभाव' के विद्यमान रहने पर भी अद्वैतश्रुति के साथ कोई विरोध नहीं होता।

किन्तु यह मत उचित नहीं है। क्योंकि 'एकमेवाऽद्वितीयं ब्रह्म'—यह श्रुति तो 'ब्रह्म' को सम्पूर्ण भावाऽभाव रूप द्वैत-प्रपञ्च से रहित बताती है। उस श्रुति का संकोच करके केवल 'भावाऽद्वैतपरता' मानने में कोई प्रमाण नहीं है। और 'प्रपञ्चा-

भूतलं घटो नेत्यादिप्रतीतिविषयो भेद इत्युच्यते। घटोनास्तीत्यादिप्रतीतिविषयोऽत्यन्ताभाव इत्युच्यते वादिभिः। सर्वोऽप्यनित्य एव सर्वस्य ब्रह्मज्ञाननिवर्त्यत्वात् ॥४४॥

•

द्वितीयं व्युत्पादयति—घटेति। अयं व्यावहारिकात्यन्ताभावः पूर्वोक्तयोग्यानुपलब्ध्या गृह्यत इत्यनुपलब्धिर्मानान्तरमिति भावः।

नन्वभावैक्याङ्गीकारे भूतले घटो नास्ति, भूतलं घटो नेति प्रतीतिवैलक्षण्यं कथं स्यात्? ताभ्यां प्रमेयवैलक्षण्यस्यावश्यकत्वात्। अन्यथा विलक्षणप्रतीतेराकस्मिकत्वापत्तेरित्यत आह—अयमेवेति। अयमत्यन्ताभाव एव इत्यर्थः। वादिभिरिति नैयायिकादिभिरित्यर्थः। अतो न प्रतीतिवैलक्षण्यस्य आकस्मिकत्वापत्तिरिति भावः। भूतलादावनुभूयमानं घटात्यन्ताभावं नित्यं नैयायिकादयो वदन्ति जीवेश्वरभेदश्च श्रुतितात्पर्यज्ञानशून्यास्तान्निराकरोति—सर्वोऽपीति। जीवेश्वरादिभेदरूपो घटात्यन्ताभावश्च सर्वोपीत्यर्थः। अनित्यत्वं नाम ध्वंसप्रतियोगित्वं वा बाध्यत्वं वा? बाधः पूर्वमेव निरूपितः। तत्र युक्तिं वक्ति—सर्वस्येति। ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य भावाभावात्मकस्य प्रपञ्चस्याविद्याविलसितत्वेन वाक्योत्थब्रह्मसाक्षात्कारेण तन्निवृत्तावुपादाननाशे सत्युपादेयनाशस्यावश्यकत्वेन ज्ञाननिवर्त्यत्वमुपपद्यत इति भावः ॥४४॥

•

त्यन्ताभाव' को यदि अधिष्ठानभूत ब्रह्म से भिन्न मानते हैं तो 'अत्यन्ताभाव' में 'पारमार्थिकता' नहीं बन पायगी। क्योंकि यह नियम है कि अधिष्ठान से भिन्न रहनेवाला जो अभाव हो, उसकी 'सत्ता', अपने प्रतियोगी की सत्ता के समान होती है। यहाँ स्थिति यह है कि 'प्रपञ्चरूपप्रतियोगी', कल्पित है। उस कारण उस कल्पित प्रपञ्च का अत्यन्ताभाव भी कल्पित ही होगा। एवञ्च उसका 'वास्तविकत्व' दुर्निरूपणीय ही है। अतः यह पक्ष ठीक नहीं है।

अब अत्यन्ताभाव के दूसरे व्यावहारिक पक्ष का निरूपण करते हैं—भूतल में घटादिपदार्थों का जो अत्यन्ताभाव है, उसे 'भूतले घटो नास्ति'—यह प्रतीति, विषय करती है। इस अत्यन्ताभाव को 'व्यावहारिक अत्यन्ताभाव कहते हैं। इस व्यावहारिक अत्यन्ताभाव का ही पूर्वोक्त 'योग्यानुपलब्धि' से ग्रहण किया जाता है। उस कारण 'योग्यानुपलब्धि' को पृथक् स्वतन्त्र प्रमाण माना गया है।

शंका—अभाव का ऐक्य स्वीकार करने पर 'भूतले घटो नास्ति' और 'भूतलं घटो न'—इसप्रकार जो प्रतीति होती है, उसका वैलक्षण्य कैसे होगा? क्योंकि प्रतीतिवैलक्षण्य में प्रमेय का 'वैलक्षण्य' होना आवश्यक है। अन्यथा 'विलक्षण प्रतीति' को 'आकस्मिक' कहना होगा।

समा०—यह 'अत्यन्ताभाव' ही 'अभेदप्रतियोगिक' होता है। भूतल में घट के अभेद का जो अत्यन्ताभाव है, उस अत्यन्ताऽभाव को ही नैयायिकों ने 'भूतलं घटो न'—इस प्रतीति का विषय 'भेद' कहा है, तथा उसे 'अन्योन्याभाव' के नाम से कहा है। उस कारण वह भेदरूप अन्योन्याभाव, उस अत्यन्ताभाव से भिन्न नहीं है। एवं च 'भूतलं घटो न'—इस प्रतीति का विषय 'अत्यन्ताभाव' होता है—यह नैयायिकादिवादियों का कहना है। अतः प्रतीति के विलक्षण होने में 'आकस्मिकता' बताना उचित नहीं है। भूतल में अनुभूयमान 'घटात्यन्ताभाव' को नैयायिक विद्वान् 'नित्य' कहते हैं।

श्रुतितात्पर्यज्ञानशून्य नैयायिकों ने 'जीव' और 'ईश्वर' का जो 'भेद' बताया है, उसका निराकरण करते हैं—

जीवेश्वरादिभेदरूप और घटादिपदार्थों का अत्यन्ताभाव—ये सब अभाव अनित्य ही हैं। अर्थात् नैयायिकों ने जीव, ईश्वर आदि का जो 'भेद' माना है, तथा भूतलादि पर घट आदि पदार्थों का जो अत्यन्ताभाव माना है—ये सभी अभाव 'अनित्य' ही हैं। कोई भी अभाव 'नित्य' नहीं है। क्योंकि 'ब्रह्म' से भिन्न यच्च यावत् भाव-अभावरूप जगत् (प्रपञ्च) है, वह सब, 'अविद्या' का 'कार्य' है। और 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यजन्य ब्रह्मसाक्षात्कार से उस अविद्या का नाश हो जाता है। उस अविद्या का नाश होनेपर अविद्या के कार्यरूप प्रप्रञ्च का भी नाश हो जाता है। उस अविद्या का नाश होने पर अविद्या के कार्यरूप प्रपञ्च का भी नाश हो जाता है। क्योंकि 'उपादान' के नष्ट होने पर 'उपादेय' का नाश भी अवश्य होता है। इस प्रकार सम्पूर्ण अनात्मप्रपञ्च, 'आत्मज्ञान' से निवृत्त हो जाने के कारण उस 'अभाव' की अनित्यता ही सिद्ध होती है ॥ ४४ ॥

अन्ये[1] तु लौकिकतन्त्रान्तरबुद्धिमनुसरन्तोऽभावभेदं स्वीचक्रुः। तथाहि—प्रागभावः प्रध्वंसाभावोऽत्यन्ताभावोऽन्योन्याभावश्चेति भेदाच्चतुर्विधोऽभावः। उत्पत्तेः प्राक्कारणे कार्य्याभावः। यथामृदादौ घटाद्यभावः। उत्पन्नस्य कार्य्यस्य कारणेऽभावो ध्वंसाभावः। यथा मुद्गरादिप्रहरणानन्तरं कपालादौ घटाद्यभावः। प्रतियोग्यसमानाधिकरणाभावोऽत्यन्ताभावः।

•

मतान्तरमाह—अन्येत्विति। तत्रान्तरं न्यायशास्त्रादिप्रतिज्ञातार्थमुपपादयति—तथाहीति। प्रागभावं व्युत्पादयति—उत्पत्तेरिति। अनादिप्रतियोगिजनकः प्रागभाव इति निष्कर्षः। अथवा विनाश्यभावोवा स इति द्रष्टव्यम्। ध्वंसं व्युत्पादयति—उत्पन्नेति। जन्याभावो ध्वंस इत्यर्थः। अत्यन्ताभावं लक्षयति-प्रतियोगीति। प्रतियोग्यसमानाधिकरणत्वं नाम प्रतियोग्यनधिकरणाधिकरणत्वं प्रतियोग्यधिकरणानधिकरणत्वं वा प्रतियोग्यधिकरणभिन्नाधिकरणत्वं वा? न चैवं प्रागभावादावतिव्याप्तिरिति वाच्यम्, तृतीये तदभावात् तदेव विवक्षितमित्यर्थः। अन्योन्याभावं लक्षयति—प्रतियोगीति। प्रतियोगिसमानाधिकरणत्वं नाम तदधिकरणाधिकरणत्वम्। न चाकाशस्य विभुत्वेन निरधिकरणत्वात्तदन्योन्याभावस्य प्रतियोगिसमानाधिकरणत्वाभावादव्याप्तिरिति वाच्यम्।

•

अन्य कुछ लोग भी नैयायिकों के मत का अनुसरण करके 'अभाव' को (१) प्रागभाव (२) प्रध्वंसाभाव, (३) अत्यन्ताभाव (४) अन्योन्याभाव के भेद से चार प्रकार का बताते हैं। उन चारों अभावों का लक्षण क्रमशः बता रहे हैं—अपनी उत्पत्ति के पूर्व कार्य का अपने उपादान कारण में जो अभाव, उसे 'प्रागभाव' कहते हैं। जैसे घटादि कार्यों का अपनी उत्पत्ति के पूर्व, अपने उपादानकारण रूप मृत्तिकादि में प्रागभाव रहता है।

अर्थात् जो अभाव अनादि होता है, तथा अपने प्रतियोगी का जनक रहता है, उस अभाव को 'प्रागभाव' कहते हैं। अथवा 'विनाशाऽभावो वा प्रागभावः'—अर्थात् जो 'अभाव' अनादि होता है तथा नाशवान् रहता है, उस अभाव को 'प्रागभाव' कहा करते हैं।

अब ध्वंसाभाव को बताते हैं—उत्पन्न हुए कार्य का अपने उपादानकारण में जो अभाव है, उसे प्रध्वंसाभाव कहते हैं। यह उत्पत्तिमान् तथा अन्तरहित होता है।

जैसे मुद्गर आदि के प्रहार से अपने कपालादिरूप कारण में घटादि कार्य का अभाव रहता है, उसी को प्रध्वंसाभाव कहा करते हैं।

अब अत्यन्ताभाव को बताते हैं—अपने प्रतियोगी के असमानाधिकरण जो अभाव होता है उसे अत्यन्ताभाव कहते हैं। जैसे—भूतल में घट आदि पदार्थों का अत्यन्ताभाव कहा जाता है। प्रतियोगी के अनधिकरणरूप अधिकरण को 'प्रतियोग्यसामानाधिकरण' कहते हैं।

अब अन्योन्याभाव को बताते हैं—जो अभाव, अपने प्रतियोगी के समानाधिकरण होता है, अथवा जिस अभाव का 'तादात्म्य' ही प्रतियोगी होता है, उस अभाव को अन्योन्याभाव कहते हैं। इसी अन्योन्याभाव को 'भेद' भी कहते हैं। जैसे—भूतल में घट का अन्योन्याभावरूप 'भेद' है। यह अन्योन्याभाव, भूतल में 'घट' के विद्यमानकाल में भी रहता है। उस कारण यह 'अन्योन्याभाव'—प्रतियोगिसमानाधिकरण कहलाता है।

प्रतियोगी का अधिकरण ही जिस अभाव का अधिकरण हो, उसे प्रतियोगिसमानाधिकरण कहा है।

शंका—आकाश तो विभु (व्यापक) है, अतः वह निरधिकरण है, तब उसका जो अन्योन्याभाव होगा, वह प्रतियोगिसमानाधिकरण नहीं हो सकेगा, तब अव्याप्ति होगी।

समा०—अव्याप्ति नहीं होगी। आकाश की उत्पत्ति बताई गई है, अतः वह 'कार्यद्रव्य' है, उस कारण वह 'सावयव' है। इसलिये घट के समान उसका अन्योन्याभाव, 'प्रतियोगिसमानाधिकरण हो सकता है। तब अव्याप्ति कैसे हो सकेगी? अर्थात् आकाश का अवयव 'माया' ही है। अतः कोई दोष नहीं है।

---

१. तन्त्रान्तरभाषया सिद्धान्तग्रन्थेष्वपि विषयनिरूपणाच्छिष्याणां तदवबोधसौकर्याय सापि भाषा बोधनीयेत्येषामाशयः। मा चात्रादरो भूदिति ग्रन्थकारोऽन्यमततया पुरस्करोतीति द्रष्टव्यम्।

यथा भूतलादौ घटाद्यभावः। प्रतियोगिसमानाधिकरणाभावोऽन्योन्याभावः। यथा भूतलादौ घटादिभेदः। सर्वेऽप्यभावा अनित्याश्च एवमभावप्रमा निरूपिता ॥४५॥

एवं षड्विधप्रमया सावरणमज्ञानं निवर्त्तते। तत्र परोक्षप्रमयाऽसत्त्वापादकमौढ्याज्ञाननिवृत्तिः। अपरोक्षप्रमयाऽ-

•

आकाशोत्पत्तेः प्राक् साधितत्वेन कार्य्यद्रव्यतयाकाशस्य सावयवत्वाद् घटादिवत्तदन्योन्याभावस्य प्रतियोगिसमानाधिकरणत्व-सम्भवान्न तत्राव्याप्तिः। आकाशावयवौ मायेवेति न कोऽपि दोष इति भावः। सर्वेषामभावानां प्रतियोगिसमानसत्ताकत्वेन मायाकार्य्यत्वाद्ब्रह्मज्ञानबाध्यत्वेनानित्यत्वमेव। न तत्रान्तरवत् केषाञ्चिन्नित्यत्वं केषाञ्चिदनित्यत्वमित्याह—सर्वे इति। नच ध्वंसस्यानित्यत्वे प्रतियोग्युन्मज्जनप्रसङ्ग इति वाच्यम्, प्रागभावध्वंसस्य घटस्यानित्यत्वस्य त्वयैवाभ्युपगतत्वादतो नोक्तदोष इति भावः। अभावप्रमानिरूपणं निगमयति—एवमिति। ॥४५॥

नन्वेवं प्रमानिरुपणमस्तु किं तव तेनेत्यत आह—एवमिति। उक्तप्रकारेण। षड्विधेति। प्रत्यक्षानुमित्युपमितिशब्दार्था-पत्त्यभावप्रमितिभेदाद्भिन्नयेत्यर्थः। आवरणेन सहितं सावरणं। आवरणं नामावरणशक्तिः। साच निरूपिता, ततश्च षड्विध-प्रमाभिः प्रत्यक्षादिभिर्विषयावारकमज्ञानं नश्यतीत्यर्थः।

नन्वेवं सति परोक्षस्थले वह्न्यादेरपि प्रत्यक्षतापत्तिः। तदावरकाज्ञानस्य तद्गोचरप्रमया निवृत्तत्वात्। यदि न निवृत्तं तदावरकाज्ञानं, तर्ह्यनुमित्यादिनिरूपणमनर्थकं स्यात्। न चानुमित्यादिनिरूपणस्य स्वगोचरव्यवहारजनकत्वेनार्थवत्त्वमिति वाच्यम्, स्वगोचरवह्न्याद्यावरकाज्ञाननिवृत्त्यभावेन तदयोगात्। अन्यथा प्रत्यक्षप्रमया निवृत्तेऽप्यज्ञाने विषयस्यापरोक्षाभावप्रसङ्गात्। तस्मा'दुभयतः पाशारज्जुरि'त्याशंक्य तद्व्यवस्थामाह तत्रेति। षड्विधप्रमास्वित्यर्थः। अज्ञानेन स्वगोचरे द्विविधो व्यवहार उत्पाद्यते विषयोनास्तीत्यसत्त्वव्यवहारो विषयो न प्रकाशत इति अप्रकाशव्यवहारश्चेति। तत्रासत्त्वव्यवहारकारणमसत्त्वावरण-मित्युच्यते। अप्रकाशव्यवहारकारणमभानावरणमित्युच्यते। एवञ्च परोक्षप्रमयाऽसत्त्वावरणशक्तियुक्तं मौढ्याज्ञानशब्दवाच्यं निवर्त्तते। अत एवानुमित्यादिप्रमोत्पत्त्यनन्तरं न कश्चिदपि विषयो नास्तीत्यनुभवति। किन्तु वह्न्यादिरस्तीत्येव प्रतिपद्यते। अन्यथा तत्र प्रवृत्त्यनुपपत्तेर्वह्न्याद्यर्थिनाम्। अपरोक्षप्रमया तु द्विविधावरणशक्तिमदज्ञानं निवर्त्तते। अत एव घटः स्फुरति घटं पश्यामीत्याद्यनु-भवः। तदिदमाह—परोक्षेत्यादिना। असत्त्वेति विषयस्यासत्त्वमापादयति असत्त्वव्यवहारं जनयतीत्यसत्त्वापादकं, नास्तीति व्यवहारकारणं। तच्च तन्मौढ्याज्ञानञ्चेति, तथाऽसत्त्वावरणशक्तियुक्तमौढ्याज्ञाननिवृत्तिरित्यर्थः। मौढ्यं नाम विषयसत्ता-व्यवहारशून्यत्वं। ततश्च षड्विधप्रमानिरूपणमर्थवदिति भावः।

•

निष्कर्ष यह है कि सभी अभाव, 'प्रतियोगिसमानसत्ता' वाले हैं, क्योंकि 'माया' के ये सब 'कार्य' हैं। अतः ब्रह्मज्ञान से ये सब बाध (निवृत्त) होने योग्य हैं (बाध्य हैं)। इसलिये—ये सभी अनित्य हैं। नैयायिकों के समान अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव—इन दो अभावों को 'नित्य' कहना, और 'प्रागभाव तथा प्रध्वंसाभाव को 'अनित्य' कहना कदापि उचित नहीं है। क्योंकि सम्पूर्ण प्रपञ्च का निषेध करनेवाली श्रुति से विरोध होता है। अतः सभी अभाव 'अनित्य' हैं।

शंका—ध्वंसाभाव को अनित्य कहने पर प्रतियोगी का उन्मज्जन प्रसंग हो सकता है।

समा०—प्रागभाव—ध्वंसाभाववाले घट की अनित्यता को तुमने ही स्वीकार किया है, अतः कोई दोष नहीं है।

इस प्रकार अभाव प्रमा का निरूपण किया गया ॥ ४५ ॥

प्रश्न—प्रमा का निरूपण किया गया, किन्तु उससे प्रस्तुत में क्या लाभ हुआ ?

उत्तर—इस प्रकार निरूपित जो (१) प्रत्यक्षप्रमा, (२) अनुमितिप्रमा, (३) उपमिति प्रमा, (४) शाब्दप्रमा, (५) अर्था-पत्तिप्रमा, (६) अभावप्रमा—यह जो छह प्रकार की प्रमा है, इन छह प्रकार की प्रमाओं से 'आवरण' शक्तिसहित 'अज्ञान' की ही निवृत्ति होती है, उनमें भी 'अनुमिति' आदि 'परोक्षप्रमा' से तो असत्त्वापादक आवरणशक्ति से विशिष्ट 'अज्ञान' की निवृत्ति होती है और अपरोक्षप्रमा से अभानापादक आवरणशक्तिविशिष्ट अज्ञान की निवृत्ति होती है। उस आवरण शक्ति विशिष्ट अज्ञान की निवृत्ति होने पर 'घटादिपदार्थों का (घटादि विषयों का) भान होता है। इस प्रकार 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यजन्य 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारक अपरोक्षप्रमा से 'ब्रह्म' के आवरक 'मूलाज्ञान' की निवृत्ति होती है। तब अधिकारी पुरुष को 'ब्रह्मसाक्षात्कार' होता है।

सत्त्वाभानापादकाज्ञाननिवृत्तिः ॥४६॥

॥ इति द्वितीयः परिच्छेदः समाप्तः ॥

●

ननु यथा प्रत्यक्षस्थले प्रत्यक्षप्रमानन्तरं घटः स्फुरतीत्यनुभवाद् यथा घटादिस्फुरणं तथा परोक्षस्थलेऽप्यनुमित्यादि-प्रमानन्तरं वह्न्यादिः स्फुरतीत्यनुभवात् वह्न्यादिस्फुरणमस्त्येव। तथा च कथं यथोक्तव्यवस्थासिद्धिरिति? अत्रोच्यते—परोक्ष स्थले वह्निसत्तामात्रस्फुरणम्, प्रत्यक्षस्थले तु रूपादिविशिष्टत्वेन तत्स्फुरणमिति व्यवस्थासम्भवति।

नन्वपरोक्षस्थले घटादीनां वृत्तिसम्बन्ध इव परोक्षस्थले वह्न्यादीनां वृत्तिसम्बन्धोऽस्ति न वा? नाद्यः, तत्र वह्नीन्द्रिय-सन्निकर्षाभावेनान्तःकरणस्य बहिर्निर्गमनाभावेन तदयोगात्। अन्यथा प्रत्यक्षस्थलेऽप्यन्तःकरणस्य बहिर्निर्गमनं विना वृत्तिविषय-सम्बन्धप्रसङ्गात्। न द्वितीयः, वह्न्यादिस्फुरणमेव न स्यात्। नच तत्र वृत्तिविषययोः संयोगसम्बन्धाभावेऽपि सम्बन्धान्तरेण तत् स्फुरणमस्त्विति वाच्यम्, सम्बन्धान्तरानिरूपणात्। तथाहि—न तावद्वृत्तिविषययोः स्वरूपसम्बन्धेन तत्, स्वरूपसम्बन्धस्या-प्रामाणिकत्वात्। किञ्च स्वरूपसम्बन्धाभ्युपगमे तेनैव सर्वत्र वा विशिष्टव्यवहारोपपत्तौ सम्बन्धान्तरं न सिध्येत्।

किञ्च ज्ञानस्वरूपं वा विषयस्वरूपं वा उभयं वा सम्बन्धः? नाद्यः, घटज्ञानदशायां पटप्रतीत्यापत्तेः। न द्वितीयः, अन्धकारस्थघटस्यापि प्रतीत्यापत्तेः। न तृतीयः, पूर्वोक्तदोषापरिहारात्, अनन्तस्वरूपाणां सम्बन्धत्वकल्पने गौरवाच्च। नापि विषय-विषयिभावः सम्बन्धः। तयोः संयोगसम्बन्धमन्तरेण तदयोगात्, अन्यथा अतिप्रसङ्गात्। तस्मात् कथं व्यवस्थोपपत्तिरिति?

●

प्रश्न—उक्त प्रक्रिया से तो परोक्षस्थल में 'वह्नि' का भी प्रत्यक्ष होना चाहिये। क्योंकि वह्निविषयकप्रमा से वह्नि के आवरक अज्ञान की भी निवृत्ति हुई है। यदि उसके आवरक अज्ञान की निवृत्ति नहीं हुई तो अनुमिति आदि प्रमाओं का निरूपण जो किया गया है, उसे व्यर्थ कहना होगा।

यदि यह कहें कि अनुमिति आदि प्रमाओं का निरूपण-स्व-विषयक व्यवहारजनक होने से सार्थक है। किन्तु यह कहना भी संगत नहीं होगा। क्योंकि स्वगोचर (स्वविषयक) वह्न्याद्यावरक अज्ञान की निवृत्ति न हो पाने से स्वविषयकव्यवहारजनक-होना उसमें संभव नहीं है। अन्यथा प्रत्यक्षप्रमा से अज्ञान के निवृत्त होने पर भी विषय का अपरोक्षाभाव होने का प्रसंग आवेगा। अर्थात् विषय का प्रत्यक्ष नहीं होगा। तस्मात् 'उभयतः पाशारज्जुः'।

उत्तर—उक्त षड्विध प्रमाओं में—'परोक्षप्रमा से असत्त्वापादक मौढ्य अज्ञान की निवृत्ति होती है। और अपरोक्ष-प्रमा से असत्त्वाभानापादक अज्ञान की निवृत्ति होती है।

निष्कर्ष यह है कि अज्ञान से अपने विषय में दो प्रकार का व्यवहार उत्पन्न होता है। असत्त्वव्यवहार और अप्रकाश-व्यवहार—यह द्विविध व्यवहार उत्पन्न होता है। उनमें असत्त्वव्यवहारकारण को 'असत्त्वावरण' कहते हैं। और अप्रकाशव्यवहार-कारण को 'अभानावरण' कहते हैं। एवं च 'परोक्ष प्रमा' से असत्त्वावरणशक्तियुक्त मौढ्याज्ञानशब्दवाच्य अज्ञान की निवृत्ति होती है। अतएव अनुमितिआदि—प्रमा की उत्पत्ति होने पर कोई भी पुरुष, 'विषयो नास्ति' यह अनुभव नहीं करता। किन्तु 'वह्नि' है ही, यही अनुभव करता है। अन्यथा वह्न्यर्थी पुरुष की वहाँ प्रवृत्ति ही नहीं होगी। और अपरोक्षप्रमा से द्विविधावरणशक्ति-विशिष्ट अज्ञान की निवृत्ति होती है। अतएव 'घटः स्फुरति', घटं पश्यामि'—यह अनुभव सभी को होता है।

प्रश्न—जैसे प्रत्यक्षस्थल में प्रत्यक्षप्रमा के होने पर 'घटः स्फुरति'—यह अनुभव होता है। अतः जैसे घट स्फुरण होता है, वैसे ही परोक्षस्थल में भी अनुमिति आदि की प्रमा होने पर 'वह्निःस्फुरति' इस अनुभव से 'वह्नि स्फुरण' भी होता ही है। तथा च यथोक्त व्यवस्था कैसे संगत होगी?

उत्तर—परोक्षस्थल में 'वह्निसत्तामात्र' का स्फुरण होता है और प्रत्यक्षस्थल में तो रूपादिविशिष्टत्वेन वह्नि का स्फुरण होता है। इस प्रकार से यथोक्त व्यवस्था सङ्गत होगी।

प्रश्न—अपरोक्षस्थल में जैसे घटादिपदार्थों का 'वृत्ति' के साथ सम्बन्ध होता है, वैसे ही परोक्षस्थल में भी वह्नि आदि पदार्थों का 'वृत्ति' के साथ सम्बन्ध होता है या नहीं?

उक्त दो पक्षों में से प्रथम पक्ष का स्वीकार इसलिये नहीं कर सकते कि परोक्षस्थल में 'वह्नि' का इन्द्रिय के साथ सम्बन्ध न रहने से 'अन्तःकरण' का बहिर्निर्गमन नहीं हो पाता, उसकारण 'वृत्ति' के साथ सम्बन्ध होने का अवसर ही कहाँ है? अर्थात् वृत्ति के साथ 'वह्नि' का सम्बन्ध नहीं होता। अन्यथा प्रत्यक्षस्थल में भी अन्तःकरण के बहिर्गमन की आवश्यकता ही नहीं होगी। बहिर्गमन के विना भी 'वृत्ति' के साथ 'विषय' के सम्बन्ध होने का प्रसङ्ग प्राप्त होगा।

मैवं। परोक्षस्थले विषयेन्द्रियसन्निकर्षाभावेनान्तःकरणबहिर्निर्गमनाभावेन विषयाधिष्ठानचैतन्यस्य प्रमातृचैतन्येनैक्याभावेऽपि लिङ्गज्ञानेन वह्न्याद्याकारवृत्तौ सत्यां प्रमातृचैतन्यविषयचैतन्ययोर्वास्तवैक्यस्य विद्यमानत्वाद्वह्न्यादेर्भानमुपपद्यते। नचातिप्रसङ्ग इति वाच्यम्, तत्तदाकारवृत्तेस्तद्विषयभाने नियामकत्वात्। अत एव वह्न्यादेः परोक्षत्वेन भानम्। अपरोक्षस्थले-त्विन्द्रियार्थसन्निकर्षे बहिर्निर्गतान्तःकरणवृत्त्या विषयस्य संयोगसम्भवात्, वृत्त्या सावरणाऽज्ञानस्य निवृत्तत्वाच्च। विषयप्रमाण-प्रमातृसाक्षिचैतन्यानामेकोपाध्याक्रान्तत्वयैक्यसम्भवेन घटादिविषयस्य सुखादिवत्साक्षिण्यध्यस्तत्वयानावृतसंवित्तादात्म्याद् घटः स्फुरति, घटं साक्षात्कारोमीति ज्ञानविषयापरोक्षानुभवादपरोक्षतया विषयस्फुरणम्। परोक्षस्थले तु तद्वैपरीत्यात् तल्लिङ्गज्ञानेन तदाकारवृत्त्याऽसत्त्वापादकमौढ्याज्ञानस्य निवृत्तत्वाद्विषयप्रमाण-चैतन्ययोर्भेदाच्च परोक्षतया वह्न्यादेःसत्तामात्रेणस्फुरणमिति व्यवस्था सम्भवत्येव।

•

यदि द्वितीय पक्ष (वृत्ति के साथ सम्बन्ध नहीं होता) स्वीकार करें तो वह भी सङ्गत नहीं होगा। क्योंकि सम्बन्धाभाव पक्ष में विषयावरण दूर न हो पाने के कारण 'वह्नि' का स्फुरण ही नहीं होगा।

यदि यह कहें कि वहाँ 'वृत्ति' और 'विषय' का संयोग सम्बन्ध न होने पर भी किसी अन्य सम्बन्ध से 'विषय स्फुरण' हो जायगा। किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि ऐसा अन्य सम्बन्ध (सम्बन्धान्तर) किसी ने बताया नहीं है। तथाहि—वृत्ति और विषय दोनों का 'स्वरूप सम्बन्ध' भी नहीं हो सकता, जिससे 'वह्नि का स्फुरण' हो सके, क्योंकि 'स्वरूप सम्बन्ध' के होने में कोई प्रमाण नहीं है।

किञ्च—'स्वरूप सम्बन्ध' को मान लेने पर उसी से सर्वत्र 'विशिष्ट व्यवहार को उपपत्ति हो जायगी, अतः अन्य किसी सम्बन्धान्तर की आवश्यकता ही नहीं होगी।

किञ्च—'ज्ञानस्वरूप', अथवा 'विषयस्वरूप, अथवा दोनों (उभय) को सम्बन्ध के रूप में मान लें, तो वह भी ठीक नहीं है। क्योंकि 'ज्ञानस्वरूप' को सम्बन्ध मान लें तो 'घटज्ञान' को दशा में 'पट' की भी प्रतीति हो सकेगी। यदि 'विषयस्वरूप' को सम्बन्ध मान लें तो 'अन्धकार' में स्थित घट की भी प्रतीति होने लगेगी। उभय सम्बन्ध यदि मान लें तो पूर्वोक्त दोषों का परिहार नहीं हो सकेगा। और अनन्तस्वरूपों की सम्बन्ध कल्पना करने में गौरव भी होगा। यदि 'विषय-विषयिभाव' सम्बन्ध मान लें तो 'संयोगसम्बन्ध' के विना 'विषय-विषयिभावसम्बन्ध' नहीं हो सकता। अन्यथा अतिप्रसङ्ग होगा। तस्मात् 'व्यवस्था' कैसे हो सकती है ?

उत्तर—उक्त शंकाओं का समाधान यह है कि 'परोक्षस्थल' में विषयेन्द्रियसन्निकर्ष न हो पाने से अन्तःकरण का बहिर्निर्गमन होना सम्भव नहीं है, उस कारण 'विषयाधिष्ठानभूत चैतन्य' का 'प्रमातृचैतन्य' के साथ 'ऐक्य' न हो पाने पर भी 'लिङ्ग' ज्ञान से 'वह्न्याकारवृत्ति' के होने पर 'प्रमातृचैतन्य' और 'विषयचैतन्य' दोनों का वस्तुतः ऐक्य, विद्यमान रहने से 'वह्नि' का भान होना असंभव नहीं है, अर्थात् वह्नि का भान हो सकता है।

प्रश्न—इस रीति से तो अतिप्रसङ्ग होने का सम्भव है।

उत्तर—अतिप्रसङ्ग नहीं होगा। क्योंकि तत्तद् विषय का भान कराने में 'तत्तदाकारवृत्ति' ही नियामक रहेगी। अत एव 'वह्नि' का परोक्षत्वेन भान होता है। किन्तु अपरोक्षस्थल में (प्रत्यक्षस्थल में) इन्द्रियार्थसन्निकर्ष होने पर बहिर्निर्गत 'अन्तःकरणवृत्ति' के साथ 'विषय' का संयोग होना सम्भव है और 'वृत्ति' के द्वारा 'सावरण अज्ञान' की निवृत्ति हो जाती है। उस कारण 'विषय चैतन्य' 'प्रमाण चैतन्य', और 'प्रमातृ चैतन्य' ये तीनों एकोपाध्याक्रान्त रहने से उनका ऐक्य होना सम्भव हो जाता है। सुख आदि के समान 'घटादिविषय', 'साक्षी' में अध्यस्त रहने के कारण उक्त चैतन्यों का विषय के साथ 'अनावृतसंवित्तादात्म्य' हो जाता है। उससे 'घटः स्फुरति', 'घटं साक्षात्करोमि' इस प्रकार से 'ज्ञानविषय' का अपरोक्षानुभव होने के कारण अपरोक्षतया 'विषयस्फुरण' होता है।

किन्तु परोक्षस्थल में उसके विपरीत स्थिति रहने से 'लिङ्ग' ज्ञान से तदाकार वृत्ति हो जाती है, उससे 'असत्त्वापादक मौढ्यअज्ञान की निवृत्ति होती है। और 'विषयचैतन्य' तथा 'प्रमाणचैतन्य' दोनों का भेद (दोनों भिन्न) रहता है, उस कारण परोक्षत्वेन 'वह्नि' का सत्ता मात्रेण स्फुरण होता है। यह व्यवस्था हो ही सकती है। तस्मात् षड्विध प्रमा से सावरण अज्ञान

तस्मात् षड्विधया प्रमया सावरणाज्ञाननिवृत्त्या तद्विषयभानं सम्भवति। "तत्त्वमस्या"दिवाक्यजन्यापरोक्षप्रमया ब्रह्मावरकमूलाज्ञानविवृत्त्या तत्साक्षात्कारः सम्भवत्येव। अतः प्रमानिरूपणमर्थवत्। तस्माद्बोधेद्धावृत्तिर्वृत्तोद्धो बोधो वा प्रमेति प्रमानिरूपणं सिद्धम् ॥ ४६ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य्यश्रीमत्स्वयंप्रकाशानन्दसरस्वतीपूज्यपादशिष्यभगवन्महादेवानन्दसरस्वतीविरचिते तत्त्वानुसन्धानव्याख्यानेऽद्वैतचिन्ताकौस्तुभनाम्नि द्वितीयः परिच्छेदः ॥

•

की निवृत्ति हो जाने के कारण 'विषयभान' का होना संभव हो जाता है। "तत्त्वमसि" आदि महावाक्यजन्य अपरोक्षप्रमा से ब्रह्मावरक 'मूल अज्ञान' की निवृत्ति होती है। अतः ब्रह्मसाक्षात्कार के होने में कोई बाधक नहीं है। ब्रह्मसाक्षात्कार अवश्य ही (निश्चितरूप से) हो जाता है।

अतः प्रमानिरूपण करना व्यर्थ नहीं है, अपितु सार्थक है। तस्मात् प्रमा का लक्षण यही है कि 'बोधेद्धावृत्तिः' अथवा 'वृत्तीद्धः बोधः' प्रमा। अर्थात् ज्ञान से प्रदीप्त वृत्ति, अथवा वृत्ति से प्रदीप्त ज्ञान—ही 'प्रमा' है। इस प्रकार से प्रस्तुत द्वितीय परिच्छेद में 'प्रमा' का निरूपण किया गया है, उसे सार्थक समझना चाहिये ॥४६॥

॥ इति साक्षात्कारनाम्नी हिन्दी व्याख्या में द्वितीय परिच्छेद समाप्त ॥

•

अथ तृतीयः परिच्छेदः

प्रमाभिन्नं ज्ञानमप्रमा। साच द्विविधा—स्मृतिरनुभूतिश्चेति। संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः। सापि द्विविधा—

चराऽचराणामनिशं सुखाय यस्यावतारो भवतीति सन्तः।
वदन्ति योनिं जगतामनन्तं तं कृष्णमाद्यं शरणं प्रपद्ये ॥ १ ॥

वृत्तिर्द्विविधा प्रमाऽप्रमाभेदादित्यत्र प्रमा निरूपिता। तत्राऽप्रतिबन्धायाः प्रमायाः अज्ञाननिवर्त्तकत्वेन प्रतिबन्ध-तन्निवृत्त्युपायौ निरूपणीयौ। तत्रासम्भावनादिः प्रतिबन्धः। तदुक्तम् पराशरेण—

"भावना विपरीता या या चाऽसम्भावना शुक। कुरुते प्रतिबन्धं सा तत्त्वज्ञानस्य नापरमि"ति ॥

तन्निवृत्त्युपायः श्रवणादिः "श्रोतव्ये"त्यादि श्रुतेः। यद्यप्यस्य ज्ञानसाधनत्वमवगम्यते तथाप्यप्रमाणत्वेन साक्षात्तदनुपपत्त्या प्रतिबन्धादिनिवृत्तिद्वारा महावाक्यात्प्रमोत्पत्तावस्योपयोग इति ज्ञानसाधनत्वमुपपद्यते। ततश्च प्रतिबन्धस्यासम्भावनादेरप्रमायामन्तर्भावादवश्यमप्रमानिरूपणीयेत्यतः क्रमप्राप्तामप्रमां निरूपयति—प्रमेति। प्रमात्वावच्छिन्नप्रमाभिन्नं ज्ञानमप्रमेति निष्कर्षः। तेन घटप्रमाभिन्नघटज्ञानेऽतिव्याप्तिर्निरस्ता। प्रमात्वं नामानधिगताबाधितार्थविषयज्ञानत्वम्। घटोऽयं घटोऽयमिति धारावाहिक-

अथ तृतीयः परिच्छेदः

पूर्व निरुपित परिच्छेद में 'प्रमा' और 'अप्रमा' के भेद से 'वृत्ति' के दो प्रकार बताये थे। उनमें से प्रथम प्रकार की 'प्रमावृत्ति' का सप्रमाण और प्रयोजन सहित निरूपण द्वितीय परिच्छेद में किया गया।

अब इस तृतीय परिच्छेद में दूसरे प्रकार की 'अप्रमावृत्ति' का सविस्तर निरूपण कर रहे हैं।

शंका—'अहं ब्रह्मास्मि'—इत्याकारक 'प्रमावृत्ति' तो 'अज्ञान' का नाश करके अधिकारी पुरुष को 'ब्रह्मभाव' की प्राप्ति कराती है। उस कारण उस 'प्रमावृत्ति' का निरूपण करना तो उचित था। किन्तु अब निरूपण कीजाने वाली 'अप्रमावृत्ति' से अधिकारी पुरुष का कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। इसलिए 'अप्रमावृत्ति' का निरूपण करना निष्फल (व्यर्थ) है।

समा०—अज्ञान का 'निवर्तक' प्रमा वही होती है, जो (प्रमा), 'प्रतिबन्ध' से रहित हो। इसलिये 'प्रतिबन्ध' तथा उसकी (प्रतिबन्ध की) निवृत्ति का उपाय जानना अधिकारी पुरुष के लिये आवश्यक है।

प्रश्न—प्रतिबन्ध और उसकी निवृत्ति के उपाय क्या हैं?

उत्तर—'असम्भावना', 'विपरीत भावना', 'सन्दिग्ध भावना'—इन्हें 'प्रतिबन्ध' कहते हैं। तथा 'श्रवण, मनन, और 'निदिध्यासन'—ये तीनों, 'प्रतिबन्धनिवृत्ति' के 'उपाय' कहलाते हैं। यह पराशर मुनि ने भी कहा है—ये भावनाएँ ही आत्मज्ञान की प्रतिबन्धक हुआ करती हैं। तथा 'श्रवण, मनन, निदिध्यासन'—ये, उन प्रतिबन्धों की निवृत्ति के उपाय कहलाते हैं। इन उपायों से उक्त 'असम्भावना, विपरीत भावना, सन्दिग्ध भावना'—रूप प्रतिबन्धों की निवृत्ति किये जाने पर ही 'आत्मसाक्षात्कार' हो पाता है। अन्यथा नहीं। कहा भी है—'श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः'।

शङ्का—'आत्मावाऽरेद्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इस श्रुति से तो 'श्रवणादिकों' में 'ज्ञानसाधनता' प्रतीत होती है, तब इन्हें 'प्रतिबन्धनिवर्तक' कैसे कहा जा रहा है?

समा०—'श्रवणादिकों' को साक्षात् ज्ञान-साधन कहने में किसी प्रमाण के न होने से उक्त कथन उपपन्न नहीं होता। 'प्रतिबन्धादि' निवृत्ति के द्वारा ही महावाक्यजन्य प्रमा की उत्पत्ति में श्रवणादिकों का उपयोग रहने से श्रवणादिकों को ज्ञान-साधन कहने में भी कोई अनुपपत्ति नहीं है। निष्कर्ष यह है कि श्रवणादिकों में आत्मज्ञान की जो साधनता है, वह भी 'प्रतिबन्ध' की निवृत्ति के द्वारा ही है, साक्षात् नहीं है। असंभावना—विपरीत भावना आदि 'प्रतिबन्ध' का अन्तर्भाव, 'अप्रमाज्ञान' में ही होता है, यह आगे बताया जायगा। अतः 'अप्रमावृत्ति' का निरूपण भी अवश्य करने योग्य है, इसी अभिप्राय को ध्यान में रखकर

यथार्थाऽयथार्थभेदात् । यथार्थस्मृतिरपि द्विविधा—अनात्मस्मृतिरात्मस्मृतिश्चेति ॥१॥

●

ज्ञानस्थले विरोधिपटाकारवृत्त्युत्पत्तिपर्य्यन्तं यावद् घटस्फुरणं तावद् घटाकारवृत्तिरेकैवेति नाव्याप्तिः । नच सर्वं ज्ञानं धर्म्मिण्य-भ्रान्तं, प्रकारे तु विपर्यय' इति न्यायेन भ्रमादेर्धर्म्यंशे प्रमारूपत्वेन प्रमाभिन्नत्वाऽभावादव्याप्तिरिति वाच्यम्, धर्म्यंशज्ञानस्यान्तः-करणवृत्तिरूपत्वेन भ्रमस्याविद्यावृत्तिरूपस्य तद्भिन्नत्वान्नाव्याप्तिरिति भावः ।

तां विभजते—सा चेति । स्मृतेर्लक्षणमाह—संस्कारेति । प्रत्यभिज्ञायामतिव्याप्तिवारणाय मात्रेत्युक्तं, तस्याः संस्कार-सहितेन्द्रियजन्यत्वेन तन्मात्रजन्यत्वाभावान्नातिव्याप्तिः । संस्कारध्वंसेऽतिव्याप्तिवारणाय ज्ञानमित्युक्तम् । संस्कारस्त्रिविधः—वेगो भावना स्थितिस्थापकश्चेति । क्रियाजन्यः क्रियाहेतुर्वेगः[1] । सत्त्वेष्वदृष्टनिष्ठोऽनुभवजन्यस्मृतिहेतुर्भावनासंस्कारः । स चान्तः-

●

इस तृतीय परिच्छेद में क्रम प्राप्त 'अप्रमावृत्ति' का निरूपण कर रहे हैं—द्वितीय परिच्छेद में निरूपित जो 'प्रमा' है, उससे भिन्न जो 'ज्ञान', उसे 'अप्रमा' कहते हैं । जैसे—'शुक्तौ इदं रजतम्'—इत्याकारक जो 'ज्ञान' है, वह 'प्रमाज्ञान' से भिन्न होने के कारण 'अप्रमा' रूप है ।

'प्रमाभिन्नं ज्ञानमप्रमा'—इस लक्षण में 'प्रमाभिन्न' पद यदि न रखें, तो 'ज्ञानमप्रमा'—इतना ही लक्षण शेष रहेगा तब उतने ही शेष लक्षण की 'प्रमाज्ञान' में अतिव्याप्ति होगी । उसके निरसनार्थं लक्षण में 'प्रमाभिन्नम्' पद रखना आवश्यक है । तब 'प्रमाज्ञान' में 'प्रमा से भिन्नता' न होने के कारण 'प्रमाज्ञान' में लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो पाती । अब यदि 'प्रमा-भिन्नमप्रमा' इतना ही लक्षण रखें, लक्षण में 'ज्ञानम्' पद न रखें तो 'प्रमाज्ञान से भिन्न जो 'घटादि' पदार्थ हैं, उनमें लक्षण की अतिव्याप्ति होगी । उस अतिव्याप्ति के निरासार्थ लक्षण में 'ज्ञानम्' पद का निवेश करना आवश्यक है । तब 'घटादि' पदार्थ, 'ज्ञानरूप' नहीं हैं । उस कारण 'घटादिपदार्थों' में अप्रमा के लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो पाती ।

किसी भी प्रमाणान्तर से अज्ञात रहने वाले और अबाधित अर्थ को विषय करने वाले 'ज्ञान' को 'प्रमा' कहते हैं ।

शंका—'घटोऽयं घटोऽयं'—इत्याकारक धारावाहिकज्ञान में द्वितीय-तृतीयादि सभी ज्ञान, अधिगत रहने से 'प्रमात्व' की 'अव्याप्ति' हो रही है । उस कारण उसे 'प्रमा' रूप कैसे कहा जायगा ?

समा०—धारावाहिक ज्ञान स्थल में विरोधी 'पटाकार वृत्ति' की उत्पत्ति तक जो 'घटस्फुरण' जब तक होता रहता है, तब तक 'घटाकारवृत्ति' एक ही रहती है । तद्विषयक दूसरी वृत्ति के न होने से 'अधिगत' होने का अवसर ही नहीं है । अतः 'अव्याप्ति' नहीं है । एवं च 'प्रमात्व' के घटित हो जाने से 'धारावाहिकज्ञान' प्रमारूप ही हैं ।

शंका—सभी ज्ञान विशेष्यदृष्ट्या यथार्थ (सही) होते हैं । अयथार्थता तो ज्ञान के प्रकाश में अर्थात् विशेषणदृष्ट्या होती है । 'ज्ञानं धर्मिणि अभ्रान्तं प्रकारे तु विपर्ययः'—इस नियम के अनुसार 'भ्रमादि' ज्ञान, 'धर्मी' के अंश में अर्थात् धर्मी की दृष्टि से देखने पर 'प्रमा' रूप ही है, किन्तु उसमें 'प्रमाभिन्नत्व' नहीं है । उस कारण 'प्रमारूप भ्रमज्ञान' में अव्याप्ति हो रही है ।

समा०—उक्त आशंका ठीक नहीं है । क्योंकि धर्मीरूप अंश का ज्ञान, तो 'अन्तःकरणवृत्ति' रूप है, और 'भ्रमज्ञान' अविद्या वृत्तिरूप है । अतः 'धर्म्यंश' के ज्ञान से 'भ्रमज्ञान' भिन्न ही है । क्योंकि अन्तःकरणवृत्तिरूप प्रमाज्ञान से, अविद्यावृत्तिरूप भ्रमज्ञान, भिन्न होने से 'भ्रमज्ञान' में अप्रमा का लक्षण घट जाता है, अतः अव्याप्ति नहीं है ।

अप्रमावृत्ति का विभाग प्रदर्शित करते हैं—वह 'अप्रमावृत्ति' (१) स्मृति, (२) अनुभूति के भेद से दो प्रकार की होती है । केवल संस्कारमात्र से जन्य होने वाले 'ज्ञान' को 'स्मृति' कहते हैं । जैसे—'सा मे माता, स मे पिता'—इत्यादिज्ञान, 'संस्कारमात्रजन्य' होने से 'स्मृति' शब्द से कहा जाता है । उक्त लक्षण में यदि 'मात्र' पद न रखते तो 'सोऽयं देवदत्तः'—यह 'प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष' भी 'संस्कार' से उत्पन्न होता है । अतः समागत अतिव्याप्ति दोष के निवारणार्थं लक्षण में 'मात्र' पद देना आवश्यक है । उसके रखने पर प्रतीत होता है कि 'प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्ष', केवल संस्कार से जन्य नहीं है, अपितु 'संस्कार-सहकृत इन्द्रिय' से जन्य होता है । अतः 'प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष' में लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती ।

---

१. सत्त्वेष्वादिष्टेत्याद्यपि पाठान्तरमङ्कितम् । सत्त्वनिष्ठइत्येवास्तु 'सत्त्वं द्रव्ये गुणे चित्ते व्यवसायस्वभावयो'रित्याद्यभिधाना-च्चित्तनिष्ठ इत्यर्थः ।

तत्र व्यावहारिकप्रपञ्चो मिथ्या दृश्यत्वात् जडत्वात् परिच्छिन्नत्वात् शुक्तिरूप्यवदित्यनुमानसिद्धमिथ्यात्वानुसन्धानं

●

करणनिष्ठोऽस्मन्मते। न्यायमते त्वात्मनिष्ठः। अस्मदभिमताहंकारस्यैव नैयायिकादीनामात्मत्वात्। स्थितिस्थापकसंस्कारो धनुरादिनिष्ठः। यद्यपि वेगस्थितिस्थापकयोः क्रियाहेतुत्वमेव तथापि भावनासंस्कारस्य ज्ञानहेतुत्वात्तन्मात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिरितिलक्षणमुपपद्यते। स्मृतिं विभजते—सापीति। यथोद्देशं यथार्थस्मृतिं विभागपूर्वकं निरूपयति—यथार्थेति ॥ १ ॥

यथार्थानात्मस्मृतिं निरूपयति—तत्र व्यावहारिकेति। तयोर्मध्य इत्यर्थः। पक्षस्य वा पक्षसमस्य वा दृष्टान्तत्वासम्भवेन तत्र व्याप्तिग्रहायोगात् पक्षं विशिनष्टि——व्यावहारिकेति। अज्ञातसत्ताकत्वं व्यावहारिकत्वम्। शुक्तिरजतादेः प्रतीयमानसत्ताकत्वेन प्रातीतिकत्वात् दृष्टान्त उपपद्यते।

ननु वादिप्रतिवादिनोः सम्प्रतिपत्तिविषयो दृष्टान्तो वक्तव्यः, प्रतिवादिभिः शुक्तिरजतस्यानङ्गीकारेण कथं स दृष्टान्त इति चेन्न। अन्यथाख्यात्यादीनां पूर्वमेव निराकृतत्वेन शुक्तिरजतस्य साधितत्वात् दृष्टान्तोपपत्तेः। ततश्च तत्र हेतुसाध्ययोदृश्यत्वमिथ्यात्वयोर्व्याप्तिग्रहसम्भवेन पक्षेऽपि दृश्यत्वहेतुना मिथ्यात्वं साधयितुं शक्यते। व्यावहारिकेति पक्षो न विशिष्यते चेत्तदा शुक्तिरजतस्य प्रपञ्चान्तर्गतत्वेन पक्षकुक्षिनिक्षिप्तत्वादनुपसंहारिहेत्वाभासः स्याद् दृश्यत्वे[१] हेतुरतः पक्षविशेषणमर्थवदिति भावः। एवञ्चानेनानुमानेन प्रपञ्चस्याकाशादेर्मिथ्यात्वसिद्धौ सत्यां तस्य सिद्धस्य मिथ्यात्वस्य पुनः पुनरनुसन्धानं यथार्थाऽनात्मस्मरणम्।

●

अब लक्षण में यदि 'ज्ञान' पद न रखें तो 'संस्कार रूप प्रतियोगी से जन्य जो 'संस्कारध्वंस' है, उसमें लक्षण को अतिव्याप्ति होगी।

उस अतिव्याप्ति को दूर करने के लिए लक्षण में 'ज्ञानम्' पद का देना आवश्यक है। तब 'ध्वंस' में ज्ञानरूपता के न रहने से उसमें स्मृति के लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी।

'संस्कार पदार्थ'—(१) वेग, (२) भावना, (३) स्थिति-स्थापक भेद से तीन प्रकार का होता है। 'जो संस्कार', 'क्रिया' से जन्य होकर 'अन्य क्रिया' का जनक हो, उसे 'वेगाख्य संस्कार' (वेग नामक संस्कार) कहते हैं। यह 'वेगाख्य-संस्कार', 'बाण' आदि में रहता है।

जो 'संस्कार', 'अनुभवात्मकज्ञान' से जन्य होकर 'स्मृतिज्ञान' का जनक हो, उसे 'भावनाख्य संस्कार' (भावना-नामक संस्कार) कहते हैं। यह 'भावनाख्यसंस्कार', वेदान्त-सिद्धान्त के अनुसार 'अन्तःकरण' में ही रहता है, और नैयायिकों के मतानुसार 'आत्मा' में रहता है। वेदान्तियों के मत में जो 'अहंकार' पदार्थ है, उसी को ये नैयायिक 'आत्मा', मानते हैं।

अन्यथा किये हुए वस्तु की पूर्व की तरह स्थिति कराने वाला जो 'संस्कार' हो, उसे 'स्थितिस्थापक संस्कार' कहते हैं। यह 'स्थितिस्थापक' नाम का संस्कार 'धनुष', 'वृक्ष की शाखा' 'चटाई' आदि में रहता है।

इन तीन प्रकार के संस्कारों में से 'वेग' और 'स्थितिस्थापक'—ये दो संस्कार, यद्यपि 'क्रिया' के ही जनक होते हैं, तथापि 'भावनाख्यसंस्कार', केवल 'ज्ञान' का ही जनक होता है। उसकारण 'स्मृति के लक्षण' में 'संस्कार' शब्द से 'भावनाख्य-संस्कार' की ही विवक्षा की गई है। अतः 'संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः'—यह स्मृतिलक्षण, समीचीन है।

अब स्मृति का विभाग करते हैं—यह 'स्मृति', (१) यथार्थ और (२) अयथार्थ के भेद से दो प्रकार की होती है। उनमें से 'यथार्थानुभवजन्यसंस्कार' से उत्पन्न होनेवाली 'स्मृति' को 'यथार्थस्मृति' कहते हैं। तथा 'अयथार्थानुभवजन्यसंस्कार' से उत्पन्न होनेवाली 'स्मृति' को अयथार्थस्मृति कहते हैं।

यह 'यथार्थस्मृति' भी (१) अनात्मस्मृति, और (२) 'आत्मस्मृति' के भेद से दो प्रकार की होती है ॥ १ ॥

उनमें से 'व्यावहारिक प्रपंच मिथ्या है दृश्य होने से शुक्तिरूप्य की तरह'—इस अनुमान से जन्य 'प्रपञ्च' के मिथ्यात्व का जो अनुभव होता है, उस अनुभवजन्य 'संस्कार' से अधिकारी पुरुष को उत्पन्न होनेवाली प्रपञ्च के मिथ्यात्व की जो स्मृति होती है, उस 'स्मृति' को 'यथार्थ अनात्मस्मृति' कहते हैं।

पक्ष अथवा पक्षसम में दृष्टान्तत्व-असंभव रहने से वहाँ व्याप्तिग्रह नहीं हो पाता। इसलिये पक्ष में 'व्यावहारिक' विशेषण दिया है। उस कारण 'अज्ञातसत्ताकत्वं व्यावहारिकत्वम्'। शुक्ति-रजतादि में प्रतीयमान-सत्ताकत्व होने से प्रातीतिकत्व है। अतः दृष्टान्त उपपन्न होता है।

१. दृश्यत्वम् इति स्यात्। हेतुः सन् हेत्वाभासो मा भूदित्यतः पक्षविशेषणमित्यर्थः।

यथार्थानात्मस्मरणम् ॥२॥

नन्नु मिथ्यात्वं प्रपञ्चनिष्ठं न वा ? आद्ये मायामयप्रपञ्चनिष्ठस्य कथं याथार्थ्यं ? याथार्थ्यस्य वस्तुधर्म्मत्वात्प्रपञ्चस्या-वस्तुत्वाभ्युपगमादवस्तुधर्म्मस्य मिथ्यात्वस्यावस्तुत्वावश्यंभावेन याथार्थ्यानुपपत्तेः। द्वितीयेऽपि पक्षे साध्याभावेनानुमानस्य बाध एव स्यात्। तस्मान्मिथ्यात्वानुसन्धानं यथार्थानात्मस्मरणमित्यनुपपन्नमिति ? नैषदोषः। मिथ्यात्वं प्रपञ्चनिष्ठमेव। न चावस्तु-धर्म्मस्यावस्तुत्वात्तदनुसन्धानस्य कथं याथार्थ्यं ज्ञानगतयाथार्थ्यस्य विषयप्रयुक्तत्वादिति वाच्यम्, ज्ञानस्य याथार्थ्यं नाम—मानान्तराबाध्यत्वं, तदपि विषयकृतमेव स्वरूपेण ज्ञानस्य बाधाबाधयोरयोगाद्विषयबाधाबाधाभ्यां ज्ञानस्य बाध्यत्वव्यपदेशात्। एवञ्च प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वं नामाधिष्ठानसत्तातिरिक्तसत्ताशून्यत्वमेव। तस्य केनापि प्रमाणेन बाधाभावात् प्रत्यक्षादीनां "वाचारम्भणं विकारो नामधेयमि"त्यादि श्रुतिविरोधेनाप्रामाण्योपपत्तेर्मिथ्यात्वस्याबाधेन याथार्थ्यात्तदनुसन्धानस्यापि याथार्थ्यं सम्भवत्येवेत्यनुमानसिद्धमिथ्यात्वानुसन्धानं यथार्थानात्मस्मरणमिति सम्यगुपपन्नमिति भावः ॥ २ ॥

शंका—वादी-प्रतिवादी दोनों को सम्मत विषय जो हो उसे ही 'दृष्टान्त' के रूप में देना चाहिये। प्रतिवादी को 'शुक्ति-रजत' स्वीकार न रहने से उसे दृष्टान्त के रूप में कहना उचित नहीं है।

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं है। क्योंकि 'अन्यथा-ख्याति' का निराकरण हम पहले ही कर चुके हैं। उस कारण 'शुक्ति-रजत' की सिद्धि हो जाने से उसे दृष्टान्त में रखा जा सकता है। अतः 'दृश्यत्व-मिथ्यात्व' इन हेतु-साध्य का व्याप्तिग्रह होना संभव है। इसलिये पक्ष में भी 'दृश्यत्व' हेतु से 'मिथ्यात्व' की सिद्धि की जा सकती है।

'पक्ष' में 'व्यावहारिक'—यह विशेषण न देने पर 'शुक्ति-रजत' भी प्रपञ्च के अन्तर्गत हो जाने से अर्थात् पक्षकुक्षि-निक्षिप्त होने से 'दृश्यत्वहेतु', 'अनुपसंहारी' नाम का हेत्वाभास हो जायगा। अतः पक्ष में विशेषण देना सार्थक है!

एवञ्च उक्त अनुमान से आकाशादि प्रपञ्च में 'मिथ्यात्व' सिद्ध हो जाने पर उस सिद्ध किये गये मिथ्यात्व का पुनः पुनः अनुसन्धान करना ही 'यथार्थअनात्मस्मरण' है।

शंका—उक्त 'मिथ्यात्व' क्या 'प्रपञ्चनिष्ठ' है ? अथवा प्रपञ्चनिष्ठ नहीं है ? यदि 'मिथ्यात्व' को 'प्रपञ्चनिष्ठ' कहते हैं तो 'मायामय प्रपञ्चनिष्ठ मिथ्यात्व' का 'याथार्थ्य' कैसे कहा जायगा ? क्योंकि 'याथार्थ्य' तो 'वस्तुधर्म' होता है। 'प्रपञ्च' को 'अवस्तु' माना गया है। अतः 'अवस्तु' का धर्म जो 'मिथ्यात्व' है, वह भी 'अवस्तु' ही होगा, तब उसमें 'याथार्थ्य' का होना कैसे संभव हो सकता है ?

अब द्वितीय पक्ष (मिथ्यात्व, 'प्रपञ्चनिष्ठ' नहीं है) को यदि मानते हैं, तो 'साध्य' का अभाव रहने से 'अनुमान' का बाध ही होगा। अतः 'मिथ्यात्व' के अनुसन्धान को 'यथार्थ अनात्मस्मरण' कहना उपपन्न नहीं होगा। तब प्रपञ्चनिष्ठ न रहने वाले 'मिथ्यात्व' को 'यथार्थ अनात्मस्मरण कैसे कहा जा रहा है ?

समा०—शंका करने वाले ने जो दोष प्रदर्शन किया है वह ठीक नहीं है। 'मिथ्यात्व'—प्रपञ्चनिष्ठ ही है। शंकाकार ने जो कहा है कि 'अवस्तु' का धर्म भी अवस्तुरूप होने से उसके अनुसन्धान को 'यथार्थ' कैसे कहा जायगा, क्योंकि 'ज्ञानगत-याथार्थ्य' तो 'विषय प्रयुक्त' होता है। किन्तु शंकाकार का उक्त कथन उचित नहीं है। 'ज्ञान के यथार्थ' होने का तात्पर्य यह है कि—'मानान्तराबाध्यत्व' रहना, अर्थात् किसी प्रमाण से उसका बाध, न हो पाना। वह 'मानान्तराबाध्यत्व' भी 'विषयकृत' ही है। क्योंकि 'ज्ञान' का 'बाध' या 'अबाध', स्वरूपतः नहीं हुआ करता। 'विषय' के हो 'बाध' या 'अबाध' से 'ज्ञान' के 'बाध्य' या 'अबाध्य' का व्यवहार किया जाता है।

एवञ्च 'प्रपञ्च' को 'मिथ्या' कहने का तात्पर्य यही है कि 'अधिष्ठानसत्तातिरिक्तसत्ताशून्य'—रहना। उसका किसी भी प्रमाण से बाध नहीं होता। 'प्रत्यक्षादि' प्रमाणों का 'अप्रामाण्य', 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्'—इत्यादि श्रुतियों के साथ 'विरोध' रहने के कारण माना जाता है। अतः 'मिथ्यात्व' का 'बाध' न हो सकने से उसका (मिथ्यात्व का) याथार्थ्य है, और उसके 'अनुसन्धान' का भी याथार्थ्य है। उस कारण अनुमानसिद्ध मिथ्यात्व के 'अनुसन्धान' को 'यथार्थ अनात्मस्मरण' कहना उचित ही है ॥ २ ॥

तत्त्वमस्यादिवाक्यार्थानुसन्धानं यथार्थात्मस्मरणम्। अयथार्थस्मृतिरपि द्विधा पूर्ववत्। प्रपञ्चस्य सत्यत्वानुसन्धान-

●

यथार्थात्मस्मरणं दर्शयति—तत्त्वमिति। तत्त्वमस्यादिवाक्यार्थस्त्वंपदलक्ष्यस्य ब्रह्मत्वं तदनुसन्धानं यथार्थात्मस्मरण-मित्यर्थः। यथोद्देशं यथार्थस्मृतिं निरूप्य क्रमप्राप्तामयथार्थस्मृतिं विभज्य निरूपयति—अयथार्थेति। पूर्ववदिति। यथार्थस्मृति-वदनात्मस्मृतिरात्मस्मृतिश्चेति द्विधेत्यर्थः। अयथार्थानात्मस्मृतिं दर्शयति—प्रपञ्चस्येति। ननु घटः सन् पटः सन्निति प्रत्यक्षेण "प्राणा वै सत्यमि"ति श्रुत्या प्रपञ्चस्य सत्यत्वावगमात्प्रमाणसिद्धस्य ब्रह्मवद्यथार्थत्वात्कथं तत्स्मरणस्यायथार्थत्वमन्यथा ब्रह्मानुसन्धानस्याप्ययथार्थत्वापत्तेरित्याशङ्क्याह—मिथ्येति। प्रपञ्चस्य "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं" "सोऽनृताभिसन्धोऽनृतेनात्मानमन्तर्धाय" "भेदश्च तस्याज्ञानकृतो भवेदि"तिश्रुतिस्मृतिशतैरारम्भणाधिकरणन्यायेन ब्रह्माभिन्नस्य मिथ्यात्वस्य निश्चितत्वाद् घटः सन्नित्यादिप्रत्यक्षादेर्बाधेनाधिष्ठानसत्त्वविषयत्वोपपत्तेः। नच "प्राणा वै सत्यमि"त्यादि श्रुत्येतरश्रुत्यादिबाधः किन्नस्यादिति वाच्यम्, प्राणादीनामुत्पत्तिविनाशश्रवणेन कालत्रयाबाध्यत्वरूपसत्यत्वायोगात्। न्यायशून्यत्वाच्च, "प्राणा वै सत्यमि"त्यादि श्रुतेर्व्यावहारिकसत्यत्वविषयत्वोपपत्तेस्तयेतरश्रुतिबाधायोगात्। प्रत्युत 'वाचारम्भणा"दिश्रुतेर्न्यायमूलत्वेन तयैव प्राणसत्यत्वश्रुतेर्बाधः। तस्मात्प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वात् सत्यत्वानुसन्धानमयथार्थानात्मस्मरणमिति युक्तमेवोक्तमिति भावः।

द्वितीयं निरूपयति—अहङ्कारेति। अहमिति कृतिः करणं यस्य सोऽहङ्कारः स आदिर्येषां तेऽहङ्कारादयस्तेष्विति यावत्।

●

'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्य से जन्य—'अहं ब्रह्मास्मि'—इत्याकारक जो अनुभव होता है, उससे जन्य संस्कार से अधिकारी पुरुष को उत्पन्न होनेवाली जो प्रत्यक्-अभिन्न 'ब्रह्म' की जो 'स्मृति' होती है, उसे 'यथार्थ आत्मस्मृति' कहते हैं।

इसी प्रकार दूसरी 'अयथार्थस्मृति' भी (१) अनात्मस्मृति, और (२) आत्म-स्मृति के भेद से दो प्रकार की होती है।

श्रुतियों से तथा पूर्वोक्त अनुमान से 'प्रपञ्च' का 'मिथ्यात्व' ही सिद्ध होता है। ऐसे मिथ्या प्रपञ्च में जो 'सत्यता' का अनुभव होता है, वह 'भ्रमरूप' ही है। इस अयथार्थ अनुभवजन्य संस्कार से उत्पन्न होने वाली 'प्रपञ्च' की सत्यता की जो 'स्मृति' होती है, उसे 'अयथार्थ अनात्मस्मृति' कहते हैं।

'अहंकार से लेकर 'स्थूल देह' तक सभी अनात्मपदार्थ, 'आत्मभाव' से रहित हैं। उस कारण उन अहंकारादिकों में जो 'आत्मत्व' बुद्धि है—वह अयथार्थानुभव ही है। उस अयथार्थानुभवजन्य संस्कार से उत्पन्न होनेवाली जो 'अहंकारादिकों' में 'आत्मत्व' की स्मृति है, उसे 'अयथार्थ आत्मस्मृति' कहते हैं। आत्मा को कर्तारूप से याद करना भी अयथार्थ आत्मस्मृति है।

शंका—'घटः सन्, पटः सन्'—इस प्रकार 'प्रत्यक्ष प्रमाण' से तथा 'प्राणा वै सत्यम्'—इस श्रुतिप्रमाण से 'प्रपञ्च' की 'सत्यत्वेन' प्रतीति होती है। अतः प्रमाणसिद्ध 'ब्रह्म' के समान प्रपञ्च की भी यथार्थता सिद्ध होने से, उसके स्मरण को 'अयथार्थ' क्यों कहा जा रहा है? अन्यथा 'ब्रह्मानुसन्धान' को भी 'अयथार्थ' कहना होगा।

समा०—ब्रह्मभिन्न प्रपञ्च का मिथ्यत्व, सैकड़ों श्रुति-स्मृतिवचनों से तथा 'आरम्भणाधिकरणन्याय' से निश्चित किया गया है।

यह जो कहा गया था कि 'घटःसन्', 'पटःसन्' इत्याकारक प्रत्यक्षप्रमाण से 'प्रपञ्च' की सत्यता सिद्ध होती है वह भी ठीक नहीं है। क्योंकि 'घटःसन्'—इत्याकारक प्रत्यक्ष का बाध हो जाता है, उस कारण उसमें 'अधिष्ठानसत्त्वविषयता' ही रहती है।

शङ्का—'प्राणा वै सत्यम्'—इत्यादि श्रुति से अन्य विपरीत श्रुतियों का बाध क्यों नहीं किया जाता?

समा०—प्राण आदि की उत्पत्ति और विनाश का होना श्रुत है, उस कारण 'कालत्रयाऽबाध्यत्वरूप सत्यत्व' की प्रतीति उनमें नहीं हो पाती। तथा 'प्राणादिकों' के 'सत्यत्व' का समर्थक कोई 'न्याय' भी नहीं है, और 'प्राणा वै सत्यम्'—इत्यादि श्रुति की उपपत्ति भी, 'व्यावहारिकसत्यत्वविषयत्व' को मानकर हो जाती है। उस कारण उक्त श्रुति, से अन्य श्रुतियों का बाध नहीं हो सकता, प्रत्युत 'वाचारम्भण' श्रुति, न्यायमूलक होने से उसी से 'प्राणसत्यत्व' श्रुति का बाध हो जाता है। एवञ्च 'प्रपञ्च' में मिथ्यात्व ही है। अतः उसका सत्यत्वेनरूपेण अनुसन्धान करना 'अयथार्थ अनात्मस्मरण ही है।

दूसरी 'अयथार्थ आत्मस्मृति' को 'अहङ्कारादिषु, ग्रन्थ से बताया गया है। 'अहंकार शब्द का अर्थ है—'अहम्' इति कृतिः करणं यस्य सः—अहंकारः, अर्थात् 'अहम्' है 'करण' जिसका उसे अहंकार कहते हैं। सः आदिः येषां ते अहंकारादयः—

मयाथार्थानात्मस्मरणम् मिथ्यावस्तुत्वात्तस्य अहङ्कारादिष्वात्मत्वानुसन्धानम् आत्मनि कर्त्तृत्वानुसन्धानं वा अयथार्थात्मस्मरणम्

●

ननु सर्वेषां परीक्षकाणामहमनुभवविषयस्यैवात्मत्वेनाभिमतत्वात्कथं तस्यात्मानुसन्धानमयथार्थात्मरणमिति चेत् ? शृणोतु भवान्—देहाद्यज्ञानसाक्ष्यन्ताः सर्वेऽहमनुभवविषयाः। तत्र कोऽयमात्मा तव ? न तावद्देह आत्मा, उत्पत्तिविनाशवत्त्वाद्रूपादिमत्वाज्जडत्वाच्च घटवत्। नचाप्रयोजकत्वं कृतहानाकृताभ्यागमदोषप्रसङ्गात्। "तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयादन्योऽन्तरात्मा प्राणमय" इति श्रुतेश्च। नापीन्द्रियाणामात्मत्वं करणत्वाद्वास्यादिवत्, वनवद्बहुसमुदायत्वाच्च, घटवद्भौतिकत्वाच्च। नचप्रयोजकं करणस्य ज्ञातृत्वायोगात्। न हि वास्यादेः करणस्य ज्ञातृत्वं दृष्टं, जानामीत्यात्मनो ज्ञातृत्वस्यानुभवसिद्धत्वात्। बहुसमुदायस्यात्मत्वे विरुद्धाभिप्रायतया सद्यः शरीरपातप्रसङ्गाच्च। नच 'वरगोष्ठी'न्यायेन बहूनामात्मत्वमविरुद्धमिति वाच्यम्। योऽहं पश्यामि सोऽहं स्पृशामीत्यभेदप्रत्यभिज्ञाविरोधप्रसङ्गाच्च। भौतिकस्यात्मत्वे पूर्वोक्तदोषानपायात्। अतो नेन्द्रियाणामात्मत्वं, नापि प्राणः आत्मा, वायुविकारत्वाद् बाह्यवायुवत् "तस्माद्वा एतस्मात् प्राणमयादन्योऽन्तरात्मा मनोमय" इति श्रुतेश्च। नापि मन आत्मा करणवदिन्द्रियवत्। नच मनसः करणस्य निराकृतत्वात्ततस्तस्यानात्मत्वं कथमिति वाच्यम्; मिश्रमतानुसारेण न्यायमतानुसारेण वा तदुपपत्तेः। अस्मन्मते तूत्पत्तिविनाशवत्त्वादिति हेतुर्द्रष्टव्यः। "तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयादन्योऽन्तरात्मा विज्ञानमय" इति श्रुतेश्च। नाप्यहङ्कार आत्मा दृश्यत्वात् घटवत्। नचाप्रयोजकत्वं विपक्षहेतूच्छित्तेरेव बाधकत्वात्। नचेष्टापत्तिः, अन्यैस्तस्य दृग्रूपत्वानङ्गीकारात्। अस्मन्मते कार्य्यत्वेन तदयोगात्। एतेन बुद्धिचित्तयोरात्मत्वं प्रत्युक्तम्, "तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयादन्योऽन्तरात्मानन्दमय" इति श्रुतेश्च। नाप्यानन्दमयशब्दवाच्यमज्ञानमात्मा जडत्वात् ज्ञाननिवर्त्यत्वाच्च। "अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति" "अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः" "आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः" "क्षेत्रं क्षेत्री तथाकृत्स्नं प्रकाशयति भारत" "नित्यस्सर्वगतः स्थाणु" रित्यादि श्रुतिस्मृतिभिरात्मनश्चेतनत्वनित्यत्वावगमात् तद्वैपरीत्यानुभवादज्ञानमनात्मैव। एतेन शून्यमात्मेति प्रत्युक्तं तस्यापि साक्षिभास्यत्वात्।

●

तेषु 'अहङ्कारादिषु'। वह अहङ्कार है आदि में जिनके, उन अहङ्कारादिकों में 'आत्मत्व' का अनुसन्धान करना, अर्थात् अहङ्कारादिकों को 'आत्मा समझना'—यही है 'अयथार्थ आत्मस्मृति।

शंका—संसार में व्यवहार करनेवाले सभी लोग 'अहम्' इत्याकारक अनुभव के विषय होने वाले को ही 'आत्मा' समझते हैं। अतः उसके अनुसन्धान को 'अयथार्थ आत्मस्मरण' क्यों कहा जा रहा है ?

समा०—वह इसलिए कहा जा रहा है—सुनिये। हम बताते हैं—स्थूल देह से लेकर अज्ञान तथा साक्षी तक सभी, 'अनुभव' के विषय होते हैं। तब उनमें से तुम्हारा अभिप्रेत 'आत्मा' कौन-सा है ? 'देह' को तो 'आत्मा' कह नहीं सकते, क्योंकि 'देह' तो उत्पत्ति-विनाशशाली है, 'रूपवान्' भी है, और 'जड़' भी है, 'घट' के समान। उसे अप्रयोजक भी नहीं कह सकते, अन्यथा 'कृतहान' और अकृताभ्यागम का दोष प्राप्त होगा। श्रुति से भी 'देह' का 'आत्मत्व' नहीं कह सकते, क्योंकि श्रुति ने अन्नमयकोष से प्राणमयकोश को भीतरी आत्मा कहा है। अतः 'देह'—आत्मशब्दवाच्य नहीं है।

इन्द्रियों' को भी 'आत्मा' नहीं कह सकते। क्योंकि 'वास्या' आदि की तरह 'इन्द्रियाँ' तो 'करण' हैं। और 'वन' की तरह बहुसमुदायरूप वे हैं, तथा 'घट' की तरह भौतिक हैं। करण में 'ज्ञातृत्व' न रहने से उसे अप्रयोजक भी नहीं कह सकते। वास्या आदि करणों में 'ज्ञातृत्व' का होना किसी ने भी देखा नहीं है, किन्तु 'जानामि'—इस प्रकार से 'आत्मा' में 'ज्ञातृत्व' का अनुभव सभी को होता है। 'बहुसमुदाय' को आत्मा मानने पर उनके अभिप्राय परस्पर एक-दूसरे के विरुद्ध होने से तत्काल शरीरपात का प्रसंग प्राप्त होगा।

यदि यह कहें कि 'वरगोष्ठी' न्याय से बहुतों में आत्मत्व का होना विरुद्ध नहीं है। किन्तु यह कहना भी असंगत ही होगा। क्योंकि 'योऽहं पश्यामि, सोऽहं स्पृशामि'—इस 'अभेदप्रत्यभिज्ञा' के साथ विरोध होगा। भौतिक को आत्मा मानने पर पूर्वोक्त दोष दूर नहीं हो पायेंगे। इसलिए इन्द्रियों को 'आत्मा' कहना असंगत है।

'प्राण' को भी 'आत्मा' नहीं कह सकते। क्योंकि बाह्य वायु की तरह 'प्राण' तो 'वायुविकार' ही है। 'प्राण' में 'आत्मत्व' के न होने का प्रतिपादन श्रुति ने भी किया है और उससे भीतरी आत्मा, मनोमयकोश को कहा है। इसलिए 'प्राण' भी 'आत्म' शब्दवाच्य नहीं है।

स्वप्नस्त्वनुभव एव न स्मृतिरिति वक्ष्यते ॥३॥

•

कथं पुनर्देहादीनामहमनुभवविषयत्वादनात्मत्वमित्युच्यते ? देहादीनां चिदात्मनश्चान्योन्याध्यासाद्देहादीनामहमनुभवविषयत्वं, मृतदेहे तददर्शनात्। अन्यथान्यत्रापि तत्प्रसङ्गात्। तस्मादहङ्कारादिष्वात्मत्वानुसन्धानमयथार्थात्मस्मरणमिति निरवद्यम्।

कस्तर्ह्यात्मेति चेद् ? अज्ञानतत्कार्य्याणि सर्वाणि यो निजसत्तया प्रत्यक्षतया भासयति ममाज्ञानं ममाहङ्कारो मम बुद्ध्यादिरिति, स एवात्मा। तस्य स्वप्रकाशचिद्रूपत्वात् स्मरणास्मरणे न सम्भवतः। न हि नित्यस्य स्वप्रकाशानुभवस्य स्वात्मनः स्मरणं वा विस्मरणं भवति। तथा च श्रुतिः—

"त्रिषु धामसु यद्भोग्यं भोक्ता भोग्यश्च यद्भवेत्। तेभ्यो विलक्षणः साक्षी चिन्मात्रोऽहं सदाशिवः ॥

"साक्षी चेताः केवलोनिर्गुणश्चे"त्याद्या देहाद्यज्ञानान्तविलक्षणं स्वप्रकाशं चिद्रूपं साक्षिणं दर्शयन्ति[1]। उक्तञ्च—

"अज्ञानतत्कार्य्यतदीयभेदानध्यक्षयन्ती निजसत्तयैव।
स्मर्तुं च विस्मर्तुमहो न शक्या सुप्त्यादिषु स्वप्रभयास्मि सा चित् ॥" इति।

•

इन्द्रिय की तरह 'मन' को भी 'आत्मा' नहीं कह सकते। यदि यह कहें कि 'मन' के 'करणत्व' (इन्द्रियत्व) का तो निराकरण हो चुका है। अतः उसे 'अनात्मा' क्यों कहा जा रहा है ? यह प्रश्न करना ठीक नहीं है। क्योंकि श्रीवाचस्पतिमिश्र के अनुसार तथा न्यायमत के अनुसार उसके इन्द्रियत्व की उपपत्ति हो सकती है। हमारे सिद्धान्त के (वेदान्तियों के मत के) अनुसार 'मन' को 'आत्मा' न कहने में 'उत्पत्ति-विनाशवत्त्वाद' हेतु है। 'मन' के आत्मा न होने में श्रुति का भी समर्थन प्राप्त है। इससे भीतरी आत्मा विज्ञानमय कहा गया है।

'अहङ्कार' को भी 'आत्मा' नहीं कह सकते, क्योंकि वह भी 'घट' की तरह 'दृश्य' है। उसके 'अनात्मत्व' में 'दृश्यत्व' को 'अप्रयोजक' नहीं कह सकते, क्योंकि विपक्षहेतूच्छिति' ही बाधक है। उसे 'दृष्टापत्ति' कह कर टाल नहीं सकते क्योंकि विपक्षियों ने उसे 'दृक्रूप' नहीं माना है। हमारे मत में तो 'अहङ्कार' को 'कार्य' माना जाता है, अतः वह 'दृक्रूप' नहीं है। यह कहने से 'बुद्धि' और चित्त' के भी 'आत्मत्व' का खण्डन हो जाता है। श्रुति ने भी हमारे मत का ही समर्थन किया है।

आनन्दमय शब्दवाच्य 'अज्ञान' भी 'आत्मा' नहीं है। क्योंकि 'अज्ञान' भी 'जड' है, और 'ज्ञान' से उसकी 'निवृत्ति' होती है। श्रुति-स्मृतियों के वचनों से 'आत्मा' का चेतनत्व, तथा 'नित्यत्व' प्रतीत हो रहा है। 'अज्ञान' में उसके वैपरीत्य का अनुभव होने से उस (अज्ञान) में 'अनात्मत्व' ही सिद्ध हो रहा है। इस कथन से 'शून्यम् आत्मा'—इस बौद्धसिद्धान्त का भी खण्डन हो जाता है। क्योंकि वह 'शून्य' भी 'साक्षिभास्य' है।

शङ्का—'देह' आदि तो 'अहम्'—इत्यकारक अनुभव के विषय होते हैं। तब उन्हें 'अनात्मा' कैसे कहा जा रहा है ?

समा०—'देह' आदि 'अनात्म पदार्थों का और 'चिदात्मा' दोनों का 'अन्योऽन्याध्यास' होता रहता है। उसका कारण 'देह' आदि अनात्मपदार्थ, 'अहम्'—इत्याकारक अनुभव के विषय होते हैं। क्योंकि 'मृत देह' में अन्योन्याध्यास न होने से उसमें 'अहम्' इत्याकारक अनुभव की विषयता नहीं होती है। अन्यथा 'अन्यत्र' भी वह प्रसंग प्राप्त होगा। इसलिए 'अहङ्कारादिकों' में जो 'आत्मत्वानुसन्धान' होता है, वह 'अयथार्थ आत्मस्मरण' ही है, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है।

प्रश्न—तब 'आत्मा' कौन है ?

उत्तर—'अज्ञान' और उसके 'समस्त कार्यों' को जो 'अपनी सत्ता' से प्रत्यक्षतया भासित करता है—अर्थात् 'मम अज्ञानम्', 'मम अहङ्कारः', 'मम बुद्ध्यादिः'—इस प्रकार से ज्ञान कराता है, 'वही' आत्मा है। वह 'स्वप्रकाश' तथा 'चिद्रूप' होने से उसका 'स्मरण' या 'विस्मरण' होना कभी सम्भव नहीं है। क्योंकि 'नित्य स्वप्रकाश, अनुभवरूप अपने आत्मा' का स्मरण अथवा 'विस्मरण' नहीं हुआ करता। अनेक शास्त्रवचन, 'देह' से लेकर 'अज्ञान' तक के पदार्थों से विलक्षण (भिन्न) 'स्वप्रकाश चिद्रूप साक्षी' को बता रहे हैं। अतएव वह (आत्मा) अकर्ता है।

१. दर्शयति—इति स्यात्।

स चात्माऽसङ्गः "असङ्गोऽयं पुरुषः" "असङ्गो न हि सज्जत" इत्यादि श्रुतेः। अत एवाकर्त्ता सः। तदुक्तम् भगवता—

"प्रकृत्यैव च कर्म्माणि क्रियमाणानि सर्वशः। यः पश्यति तथात्मानमकर्त्तारं स पश्यती"ति॥

"अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः। शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते"॥

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते। सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते॥

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः। क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत"॥

इति च। तस्मादात्माऽसङ्गश्चिद्रूपः स्वप्रकाशोऽकर्ता।

कस्तर्हि कर्त्तेति चेद् ? अहङ्कार इति वदामः। साभासान्तःकरणमहङ्कारः। कस्तर्ह्यात्मनोऽहङ्करोमीति कर्त्तृत्वानुभवः ? अहङ्कारचिदात्मनोरितरेतराविवेकेनान्योन्याध्यासात्सः।

तस्मादात्मनि कर्त्तृत्वाद्यनुसन्धानमयथार्थात्मस्मरणमित्याह—आत्मनीति। न च "कर्त्ता शास्त्रार्थवत्त्वादि"ति सूत्रकारेणात्मनः कर्त्तृत्वप्रतिपादनात् तस्मिन् कर्त्तृत्वानुसन्धानस्य कथमयाथार्थ्यमिति वाच्यम्, तत्र सोपाधिकात्मन एव कर्त्तृत्वप्रतिपादनात्। "यथा च तक्षोभयथे" त्युत्तराधिकरणे तेनैव शुद्धस्यात्मनः कर्त्तृत्वापवादादन्यथा "अनुज्ञापरिहारौ देहसम्बन्धाज्ज्योतिरादिवदि"त्युत्तरसूत्रविरोधापत्तेः। न चात्मनः कर्त्तृत्वं प्रतिपाद्य पुनस्तदपवादे सूत्रकारस्य किम्प्रयोजनं "प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वर"मिति न्यायादिति वाच्यम्, आत्मनः सोपाधिकं कर्त्तृत्वमपि नास्तीति वदतः साङ्ख्यस्य निराकरणार्थं तदात्मनोऽस्तीति प्रसाध्य, तच्च कर्त्तृत्वमात्मनः पारमार्थिकमिति वदतो नैयायिकादेर्निराकरणार्थमुत्तरसूत्रे कर्त्तृत्वमपोद्यते। अन्यथा स्ववाक्यविरोधः श्रुतिस्मृतिविरोधश्च प्रसज्येत। तस्मादात्मनः कर्त्तृत्वप्रतिपादनं तदपवादश्चेति द्वयमर्थवदेव। तस्मादात्मनि कर्त्तृत्वाद्यनुसन्धानस्यायथार्थत्वमुपपन्नमेवेति भावः।

शास्त्र-वचनों से स्पष्ट हो रहा है कि 'आत्मा', असङ्ग है, चिद्रूप है, स्वप्रकाश है, और अकर्ता है।

प्रश्न—तब 'कर्ता' कौन है ?

उत्तर—'अहङ्कार' ही कर्ता है।

प्रश्न—'अहङ्कार' कौन है ?

उत्तर—'साभास अन्तःकरण' ही अहङ्कार है।

प्रश्न—'आत्मा' को 'अहं करोमि' इत्याकारक जो 'कर्तृत्वानुभव' होता है, वह क्या है ?

उत्तर—परस्पर के अविवेकवश 'अहंकार' और 'चिदात्मा' का जो 'अन्योऽन्याध्यास' होता है, 'वही', उसका 'कर्तृत्वानुभव' कहा जाता है। वस्तुतः 'कर्तृत्व' धर्म से रहित 'आत्मा' में 'कर्तृत्वबुद्धि' रूप अयथार्थ अनुभवजन्य संस्कार' से उत्पन्न होनेवाली जो 'कर्तृत्व' की स्मृति होती है, उसी को 'अयथार्थ आत्मस्मृति' कहते हैं।

शङ्का—'कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्'—(ब्र० सू० २।३।१४।३३) कर्त्रधिकरण में उक्त सूत्र से 'आत्मा' ही कर्ता है, 'बुद्धि' कर्त्री नहीं है, क्योंकि कर्ता के अपेक्षित उपायों का बोध करनेवाला विधिशास्त्र सार्थक है। यदि 'बुद्धि' कर्त्री है, और 'फल' का भोग करनेवाला 'आत्मा' है—ऐसा कहा जाय, तो तथोक्त विधिशास्त्र निरर्थक हो जायगा। इसलिए 'बुद्धि'; कर्त्री नहीं है, किन्तु 'आत्मा' कर्ता है।

अभिप्राय यह है कि 'बुद्धि' परिणामिनी है। उस कारण क्रियावेशात्मक कर्तृत्व, उसमें हो सकता है। 'आत्मा' तो असंग है। अतः उक्त कर्तृत्व की उसमें सम्भावना नहीं की जा सकती, इस प्रकार जो सांख्यवादियों ने कहा है, वह असंगत है, क्योंकि करणत्वेन प्रसिद्ध 'बुद्धि' में कर्तृत्वशक्ति की कल्पना करना उचित नहीं है। क्योंकि कुठार आदि में ऐसा नहीं देखा जाता है। 'बुद्धि' को कर्त्री माना जाय तो अन्यकरण की कल्पना करनी होगी, तब 'कर्ता' ही न मानो—यह कहना भी उचित न होगा। क्योंकि कर्मकाण्ड में याग आदि व्यापार और वेदान्त में श्रवणादिव्यापार तथा लोक में कृषि आदि व्यापार सर्वदा 'कर्ता' की अपेक्षा करते हैं। इसलिये 'जीवात्मा' कर्ता है, यह स्वीकार करना चाहिये। इस प्रकार सूत्रकार ने 'आत्मा' में कर्तृत्व का प्रतिपादन किया है। एवं च उसके कर्तृत्व के अनुसन्धान को 'अयथार्थ' कैसे कहा जा रहा है ?

समा०—उक्त आशंका ठीक नहीं है, क्योंकि सूत्रकार ने सोपाधिक आत्मा का ही 'कर्तृत्व' प्रतिपादन किया है। सूत्रकार ने अग्रिम तक्षाधिकरण में बताया है कि जैसे लोक में 'बढ़ई', बसूला आदि साधनों की अपेक्षा करके 'कर्ता' होता हुआ दुःखी होता है, और उनकी अपेक्षा न करके स्वरूपतः अकर्ता तथा सुखी होता है, वैसे ही 'आत्मा' भी 'बुद्धि' आदि करणों की

स्मृतिभिन्नं ज्ञानमनुभूतिः। सा च द्विविधा—यथार्थाऽयथार्था चेति। यथार्थानुभूतिः प्रमा सा निरूपिता ॥४॥

●

ननु स्वप्नस्याप्ययथार्थस्मृतित्वात्कुतो न गृह्यत इत्यत आह—**स्वप्नस्त्विति**। रथं पश्यामीत्यनुभवादिति भावः। **न स्मृतिरिति** तथोल्लेखाभावादिति भावः ॥ ३ ॥

स्मृतिं निरूप्य क्रमप्राप्तामनुभूतिं लक्षयति—**स्मृतीति**। स्मृतित्वावच्छिन्नं स्मृतिभिन्नज्ञानमनुभूतिरनुभव इत्यर्थः। स्मृतावतिव्याप्तिवारणाय **स्मृतिभिन्नमि**त्युक्तम्, घटादावतिव्याप्तिवारणाय **ज्ञानमिति**। तां विभजते—**सा चेति**। प्रथमां व्युत्पादयति—**यथार्थेति**। यथार्था चासावनुभूतिश्चेति कर्म्मधारयः। तस्या याथार्थ्यं नामाबाधितार्थविषयत्वं, तद्वति तत्प्रकारकत्वं वा। न च निर्विकल्पकज्ञानस्य निष्प्रकारत्वादव्याप्तिरिति वाच्यम्, अशाब्दनिष्प्रकारकस्य तस्याप्रमाणिकत्वेनानङ्गीकारात्।

●

अपेक्षा करके 'कर्ता' एवं 'संसारी' होता है। और उनकी अपेक्षा न करके स्वभावतः अकर्ता, परमानन्दघन ही है। विधिशास्त्र तो कर्तृत्व के विना उपपन्न न होकर कर्तृत्व को सिद्ध करता है। परन्तु कर्तृत्व की स्वाभाविकता को सिद्ध नहीं करता। इससे सिद्ध हुआ कि आत्मा के कर्तृत्व से 'असंगत्व' श्रुति का विरोध नहीं है। निष्कर्ष यह है—पूर्वपक्षी का कहना है कि पूर्वाधिकरण में सिद्ध किया हुआ 'कर्तृत्व', आत्मा में वास्तविक है, कल्पित नहीं है। उसपर सिद्धान्ती कहता है—'असङ्गोह्ययं पुरुषः'—श्रुति से आत्मा में 'कर्तृत्व' धर्म का सम्बन्ध बाधित ज्ञात होता है। एवं च जैसे जपाकुसुम के सान्निध्य से स्फटिक में 'रक्तत्व' का अध्यास होता है, वैसे ही अन्तःकरण की सन्निधि से 'आत्मा' में 'कर्तृत्व' अध्यस्त है, वास्तविक नहीं है। इस प्रकार इस उत्तराधिकरण में उसी सूत्रकार ने शुद्ध आत्मा के कर्तृत्व का बाध बताया है। अन्यथा इस अधिकरण के साथ विरोध होगा—'अनुज्ञापरिहाराधिकरण' में (ब्र० सू० २।३।१७।४८) 'मित्रं सेव्यम्'—मित्र का सेवन करना चाहिये, 'शत्रवः परिहर्तव्याः'—शत्रुओं से दूर रहना चाहिये, इस प्रकार के विधि, निषेध सर्वत्र 'आत्मा' के अखण्डैकरस होने पर भी 'देह' के साथ तादात्म्य-सम्बन्ध से संगत होते हैं। जैसे अग्नि के एक होने पर भी श्मशान को 'अग्नि' परिहरणीय है, अन्य अग्नियाँ परिहरणीय नहीं हैं। वैसे ही यहाँ पर भी है।

शंका—पहले तो 'आत्मा' के कर्तृत्व को बताया, तदनन्तर उसका बाध (अपवाद = निषेध) करने में सूत्रकार का क्या प्रयोजन (उद्देश्य) है ? एक लौकिक नियम है—'प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्'—इस नियम के विरुद्ध आचरण सूत्रकार ने किया।

समा०—आत्मा में सोपाधिक कर्तृत्व भी नहीं है—इस प्रकार कहने वाले सांख्यवादी के निराकरणार्थ, 'आत्मा' में सोपाधिक कर्तृत्व है—इसे सिद्ध किया। तदनन्तर वह 'कर्तृत्व', आत्मा में पारमार्थिक (वास्तविक) है—यह कहने वाले नैयायिकों के निराकरणार्थ अगले सूत्र से उक्त कर्तृत्व का निषेध कर दिया है। अन्यथा 'स्ववाक्यविरोध और श्रुति-स्मृतिविरोध' भी प्रसक्त होगा। अतः आत्मा के 'कर्तृत्व' का प्रतिपादन और उसका निषेध (अपवाद) दोनों ही सार्थक हैं, व्यर्थ नहीं है। तस्मात् आत्मा में किया जाने वाला जो कर्तृत्वादि का अनुसन्धान है, उसकी 'अयथार्थता को उपपन्न करना ही चाहिये।

शंका—स्वप्न में जो 'पदार्थज्ञान' होता है, वह भी 'अयथार्थ-स्मृति' रूप ही है। तब उस स्वाप्नज्ञान को 'अयथार्थ-स्मृति' के रूप में क्यों नहीं कहा ?

समा०—स्वप्न में होने वाला ज्ञान (स्वाप्नज्ञान) 'स्मृति' रूप नहीं है, अपितु 'अनुभव' रूप ही है। क्योंकि 'स्वाप्नज्ञान' यदि—'स्मृति' रूप होता, तो स्वप्न में लोगों को 'स रथः'—वह रथ है—इस प्रकार से ही 'रथादि' पदार्थों का ज्ञान होता, किन्तु वैसा ज्ञान किसी को होता नहीं है। अपितु मैं रथ को देखता हूँ—इस प्रकार का ही अनुभव लोगों को स्वप्न में होता है। उस कारण 'स्वप्नज्ञान' अनुभवरूप ही है, स्मृतिरूप नहीं है। इस रीति से स्मृति का निरूपण यहाँ तक किया गया ॥३॥

अब क्रमप्राप्त 'अनुभूति' को बताते हैं—

पूर्वोक्त स्मृतिज्ञान से भिन्न जो ज्ञान है, उसे 'अनुभूति' कहते हैं, और इसी अनुभूति को 'अनुभव' भी कहते हैं। जैसे 'अयं घटः'—'इदं रजतम्'—इत्यादि 'ज्ञान', उस 'स्मृतिज्ञान' से भिन्न होने के कारण 'अनुभव' रूप हैं।

यदि 'ज्ञानमनुभूतिः'—इतना ही लक्षण करें तो 'स्मृतिज्ञान' में 'अनुभवलक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी। उस अतिव्याप्ति के निवारणार्थ 'अनुभूतिलक्षण' में 'स्मृतिभिन्नम्'—पद का रखना आवश्यक है। यदि 'स्मृतिभिन्नमनुभूतिः'—इतना ही

नन्वभिनवोत्पन्न-घटाद्यसविकल्पकस्य जन्यविशेषणज्ञानजन्यत्वस्य वक्तव्यत्वेन निर्विकल्पकत्वसिद्धिरिति चेन्न, विशेषण-सन्निकर्षादेव तदुपपत्तेः। अन्यथातिप्रसङ्गाद्विशेषणज्ञानस्य विशिष्टज्ञानहेतुत्वे मानाभावाच्च। न च दण्डीति ज्ञाने विशेषणज्ञानस्य विशिष्टज्ञानत्वावच्छेदेनान्वयव्यतिरेकाभ्यां कारणत्वस्य क्लृप्ततयान्यत्रापि तदस्त्विति वाच्यम्, दण्डीति ज्ञानस्य विशिष्टवैशिष्ट्या-वगाहिज्ञानत्वेन तत्र विशेषणतावच्छेदकप्रकारकज्ञानस्यैव कारणतयाऽन्वयव्यतिरेकयोरन्यथाऽसिद्धत्वेन विशेषणज्ञानस्य तत्त्वे मानाभावात्। तस्मादशाब्दनिष्प्रकारकज्ञानमप्रामाणिकमेवेति न क्वाप्यव्याप्तिः। न च शाब्दनिष्प्रकारकप्रमायामव्याप्तिरिति वाच्यम्, अस्य व्यावहारिकप्रमालक्षणत्वेन तस्यालक्ष्यनिष्प्रकारकप्रमात्वाद्[1]। अतो यथार्थानुभूतिः प्रमेति निरवद्यम्। आद्यव्याख्याने सर्वसाधारणम्[2]।

तर्हि सा प्रमा निरूपणीयेत्याकाङ्क्षायामाह—सेति। द्वितीयपरिच्छेद इति शेषः॥ ४॥

●

'अनुभूति का लक्षण' करें तो 'स्मृतिज्ञान' से भिन्न जो 'घट' आदि पदार्थ हैं, उनमें 'अनुभूतिलक्षण' की अतिव्याप्ति होगी। उसके निवारणार्थ 'अनुभूतिलक्षण' में 'ज्ञानम्' पद रखा गया है।

अब उस 'अनुभूति' का विभाग बताते हैं—वह 'अनुभूति', (१) यथार्थ, और (२) अयथार्थ के भेद से दो प्रकार की होती है। अनुभूति का याथार्थ्य यही है कि 'अबाधितार्थविषयत्व' होना। अर्थात् अबाधित अर्थ को विषय करनेवाली जो 'प्रमा' है, उसे, 'यथार्थानुभूति' कहते हैं। अथवा 'तद्वति तत्प्रकारकत्व' होना भी 'याथार्थ्य' कह सकते हैं। अत एव अन्नंभट्ट ने 'तद्वति तत्प्रकारकोऽनुभवो यथार्थः, सैव प्रमा इत्युच्यते'—कहा है। 'तद्वति' इस सप्तम्यन्त विभक्ति में 'सप्तमी' का अर्थ, 'विशेष्यत्व' है, और 'तत्' शब्द का अर्थ, 'प्रकारीभूत धर्म' समझना चाहिये। तथा च 'तद्वद्विशेष्यकत्वे सति तत्प्रकारकानुभवत्वं यथार्था-नुभवस्य लक्षणम्—यह निष्पन्न हुआ। अभिप्राय यह है कि सभी सविकल्पक ज्ञानों में एक 'विशेष्य' होता है, और एक 'प्रकार' होता है। 'प्रकार' को ही 'विशेषण' कहते हैं। जैसे 'अयं घटः'—इस ज्ञान में जो 'घटांश' है, उसमें 'घटत्व' तो 'प्रकार' है, और 'घट'—'विशेष्य' है। एवं च उक्त ज्ञान 'घटत्वप्रकारक घट विशेष्यक' है। 'घटत्वं प्रकारः, यस्मिन् ज्ञाने, तज्ज्ञानं घटत्वप्रकारकं भवति। यहाँ बहुव्रीहिसमास के कारण 'क' प्रत्यय हुआ है। इसी प्रकार 'घटो विशेष्यो तस्मिन् ज्ञाने, तज्ज्ञानं, घटविशेष्यकं भवति।

निष्कर्ष यह है कि तत्प्रकारक ज्ञान में जो 'विशेष्य' है, वह यदि 'तद्वत्' हो अर्थात् उस 'प्रकार' का 'अधिकरण' हो, तो वह ज्ञान, 'यथार्थ होगा। और 'विशेष्य' यदि 'तद्वत्' न हो तो वह ज्ञान 'अयथार्थ' कहलायगा। ग्रन्थकार ने 'अबाधितार्थ को विषय करनेवाली 'प्रमा' को 'यथार्थ अनुभूति' कहा है।

शंका—'निर्विकल्पज्ञान' तो निष्प्रकारक होता है। अतः उसमें लक्षण को अव्याप्ति होगी।

समा०—'अशाब्द निष्प्रकारक निर्विकल्पक ज्ञान', 'अप्रामाणिक' रहने से वह स्वीकार नहीं है।

शंका—'अभिनव उत्पन्न घट' तो 'सविकल्प' नहीं है। क्योंकि 'सविकल्पक' तो 'जन्यविशेषणज्ञानजन्य' होता है। अतः 'निर्विकल्पकत्व' की स्वयं ही सिद्धि हो जाती है।

समा०—ऐसी बात नहीं है। 'विशेषण-सन्निकर्ष' से ही 'निर्विकल्पक' की उपपत्ति हो जाती है। अन्यथा अतिप्रसङ्ग होगा, और 'विशेषणज्ञान' को 'विशिष्टज्ञान' के प्रति 'हेतु' मानने में कोई प्रमाण नहीं है।

शंका—'दण्डी'—इस 'विशेषण ज्ञान' में 'विशिष्टज्ञानत्वावच्छेदेन' अन्वय-व्यतिरेक के बलपर 'कारणता' सुनिश्चित रहने से, अन्यत्र भी वैसा ही मानना चाहिये।

समा०—'दण्डी'—यह ज्ञान, 'विशिष्ट-वैशिष्ट्यावगाही' ज्ञान है। उसमें 'विशेषणतावच्छेदक प्रकारज्ञान' ही कारण रहने से 'अन्वय-व्यतिरेक' तो अन्यथासिद्ध है। अतः 'विशेषण ज्ञान' को 'विशिष्ट ज्ञान' के प्रति हेतु मानने में कोई प्रमाण नहीं है। एवं च 'अशाब्द निष्प्रकारक ज्ञान' को अप्रामाणिक ही कहना उचित है। अतः कहीं भी 'अव्याप्ति' नहीं हो रही है।

शंका—शाब्द निष्प्रकारक प्रमा में अव्याप्ति होगी।

समा०—ऐसी शंका मत करो। यह लक्षण, 'व्यावहारिक प्रमा' का है। 'निष्प्रकारक प्रमा', उसका लक्ष्य ही नहीं है। अतः उसमें लक्षण के अव्याप्त होने का प्रश्न ही नहीं है। एवं च 'यथार्थानुभूतिः प्रमा'—यह लक्षण, निर्दुष्ट है। अतः उस 'प्रमा' का निरूपण करना चाहिये, यह आकांक्षा होने पर कहते हैं—उसे तो द्वितीय परिच्छेद में बता चुके हैं॥ ४॥

१. तस्या अलक्ष्यत्वात्—इति पाठः कल्प्यते। २. याथार्थ्यमिति शेषः।

बाधितविषयानुभूतिरयथार्था। सापि द्विविधा—संशयो निश्चयश्चेति। एकस्मिन् धर्म्मिणि भासमाने[1] विरुद्धनाना-कोटिकज्ञानं संशयः एकस्मिन् धर्म्मिणि स्वाकारविरुद्धधर्म्मद्वयवैशिष्ट्यावगाहिज्ञानाविरुद्धज्ञानं संशय इति केचित्।

स च द्विविधः—प्रमाणसंशयः प्रमेयसंशयश्चेति। तत्र प्रमाणगतासम्भावनाप्रमाणसंशयः। यथाऽनभ्यासदशायां

●

द्वितीयाया लक्षणमाह—बाधितेति। विषयाभावप्रमा बाधस्तद्विषयो बाधितः स विषयो यस्याः सा तथा। प्रमायामति-व्याप्तिवारणायाद्यविशेषणमयथार्थस्मृतावतिव्याप्तिवारणाय द्वितीयम्, तां विभजते—सापीति। संशयं लक्षयति—एकस्मिन्निति। एकैकस्मिन्धर्म्मिणीत्यर्थः। अन्यथैते आम्रा वा पनसा वेति समूहालम्बनसंशयेऽव्याप्तिः स्यात्। स्थाणुपुरुषाविति समूहालम्बनभ्रमेऽति-व्याप्तिवारणाय भासमानेत्युक्तम्। समूहालम्बनप्रमायामतिव्याप्तिवारणाय विरुद्धेत्युक्तम्। ननूक्तलक्षणसंशयस्य धर्म्यंशमायामतिव्याप्ति रित्याशङ्क्य मतान्तरेण लक्षणमाह—एकेति। एकैकस्मिन्विशेष्ये स्वस्य संशयत्वेनाभिमतस्य योऽयमाकारः स्थाणुत्वादिस्तद्विरुद्धो योऽयमाकारः पुरुषत्वादिस्तदुभयवैशिष्ट्यावगाहि यज्ज्ञानं स्थाणुर्वा पुरुषो वेत्यादि विरुद्ध[2] ज्ञानं संशय इत्यर्थः। अस्मिन् पक्षे एककोटिकज्ञानमपि क्वचित्संशयाभिमतमिति केचिन् नृसिंहाश्रमश्रीचरणाः। संशयं विभजते—स चेति। प्रमाणसंशयं व्युत्पादयति—

●

अब दूसरे प्रकार की अनुभूति अर्थात् 'अयथार्थानुभूति' का निरूपण करते हैं—बाधित अर्थ है विषय जिसका ऐसी जो 'अनुभूति', उसे 'अयथार्थानुभूति' कहते हैं। विषय के 'अभाव' की जो प्रमा (ज्ञान), उसे 'बाध' कहते हैं। उस बाध का जो विषय होता है, उसे 'बाधित' कहते हैं। वह बाधित अर्थ है विषय जिसका ऐसी जो अनुभूति, उसे 'अयथार्थ अनुभूति' कहते हैं।

अयथार्थानुभूति के लक्षण में 'यदि बाधितार्थ विषय' पद को न रखा जाय तो 'प्रमाज्ञान' में अतिव्याप्ति होगी। उसके निरासार्थ, लक्षण में 'बाधितार्थविषय' पद को रखा गया है। अब यदि लक्षण में से 'अनुभूति' पद को हटा दें तो 'अयथार्थस्मृति' में लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि 'अयथार्थस्मृति', 'बाधित अर्थ' को विषय करती है। अतः 'बाधितार्थविषयानुभूतिः अयथार्थानुभूतिः'—यह लक्षण, निर्दुष्ट है। इसका उदाहरण—जैसे, 'नेदं रजतम्'—इस बाधज्ञान के विषय होने से 'शुक्ति-रजतादि' पदार्थ, बाधित होता है। उस बाधित अर्थ (पदार्थ) को विषय करनेवाली 'इदं रजतम्' इत्यादि अनुभूति को 'अयथार्था-नुभूति' कहा गया है।

उस अयथार्थ अनुभूति के भी (१) संशय, और (२) निश्चय के भेद से दो प्रकार होते हैं। उनमें से 'संशय' को बताते हैं—एक ही 'धर्मी' में भासमान जो परस्पर विरुद्ध नाना कोटियाँ हैं, उनको विषय करने वाले ज्ञान को 'संशय' कहते हैं। एक ही का अर्थ है प्रत्येक। अन्यथा 'एते आम्रा वा पनसा वा'—इस समूहालम्बन संशय में अव्याप्ति होगी। 'स्थाणु-पुरुषौ'—इस समूहालम्बन भ्रम में अव्याप्ति के वारणार्थ लक्षण में 'भासमान' कहा गया है। 'समूहालम्बन प्रमा' में अतिव्याप्ति के वारणार्थ 'विरुद्ध' कहा गया है।

उक्त संशय-लक्षण की 'धर्म्यंशप्रमा' में अतिव्याप्ति होगी। अतः मतान्तर के अनुसार लक्षण करते हैं—एक-एक विशेष्य में संशय के रूप में अभिमत जो अपना यह 'स्थाणुत्वादि' आकार है, उसके विरुद्ध जो 'पुरुषत्वादि' आकार है, उन दोनों का अर्थात् उभय वैशिष्ट्यावगाहि 'ज्ञान'—'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इत्यकारक जो विरुद्ध ज्ञान—को 'संशय' कहते हैं—ऐसा कुछ लोगों का कहना है। इस पक्ष में 'एक—कोटिक ज्ञान' भी क्वचित् 'संशय' माना जा सकता है—ऐसा श्री नृसिंहाश्रमश्रीचरणों का कहना है।

इस उक्त संशय के भेद को बताते हैं—यह संशय भी (१) प्रमाणसंशय और (२) प्रमेयसंशय के भेद से दो प्रकार का होता है। 'प्रमाण' के प्रति रहनेवाली 'असम्भावना' को 'प्रमाणसंशय' कहते हैं, और 'प्रमेय' के प्रति रहनेवाली असंभावना को 'प्रमेयसंशय' कहते हैं।

'प्रमाणसंशय' भी (१) प्रमासंशय, (२) 'करणसंशय' के भेद से दो प्रकार का होता है। प्रमाण से जन्य 'प्रमाज्ञान' में जो संशय होता है, उसे 'प्रमासंशय' कहते हैं, और 'प्रमाण के स्वरूप' में जो संशय होता है, उसे 'करण संशय' कहते हैं। पहले न देखे हुए किसी स्थान में स्थित 'जल' के साथ चक्षुरिन्द्रिय का सम्बन्ध होने पर (जल को देखकर) 'इदं जलम्—इत्याकारक प्रमा ज्ञान, मनुष्य को होता है। परन्तु उस मनुष्य ने उस स्थान में पहिले कभी 'जल' देखा नहीं था। उस कारण

---

१. भासमानविरुद्धः इत्यपि पाठः। २. अविरुद्धम् इति पाठेन भाव्यम्।

ममोत्पन्नं जलज्ञानं प्रमाणं नवेति संशयः। स च प्रमाणनिश्चयात् निवर्त्तते ॥५॥

प्रामाण्यनिश्चयस्तु स्वत एव। प्रामाण्यं नाम तद्वति तत्प्रकारकत्वम्। तस्य स्वतस्त्वं नाम—यावत् स्वाश्रयग्राहक-

•

तत्रेति। तयोर्मध्य इत्यर्थः। प्रमाणसंशयो द्विविधः प्रमाणसंशयः करणसंशयश्च। तत्राद्यमाह—यथेति। प्रमाणसंशयः कस्मान्नि-वर्त्तत इत्याशङ्क्याह—स चेति ॥ ५ ॥

ननु प्रमाणस्य भावः प्रामाण्यं तदत्र प्रमात्वमेव किं जातिरुपाधिर्वा ? नाद्यः, अव्याप्यवृत्तित्वात्। न द्वितीयः, तस्या-निर्वचनादित्याशङ्क्य प्रामाण्यलक्षणं वक्तुं—प्रामाण्यं परतो गृह्यते इति नैयायिकाः। स्वतो गृह्यत इति मीमांसकाः। तत्र परमतं दूषयितुं स्वमतमाह—प्रामाण्येति। एवकारेण प्रामाण्यस्य परतोग्राह्यत्वं प्रतिषिध्यते। तल्लक्षणमाह—प्रामाण्यं नामेति। प्रामाण्यनिश्चयस्तु स्वत एवेत्युक्तम्। तत्र प्रामाण्यस्वरूपं निरूप्य स्वतस्त्वं निर्वक्ति—तस्येति। प्रामाण्यस्येत्यर्थः। स्वशब्देन प्रामाण्यमुच्यते तस्याश्रयो ज्ञानं तद्ग्राहिका यावती सामग्री तद्ग्राह्यत्वं स्वतस्त्वमित्यक्षरयोजना।

अत्र भट्टा एवं योजयन्ति—प्रथममयं घट इति ज्ञानं जायतेऽनन्तरं मया घटो ज्ञात इति घटस्य ज्ञातत्वं प्रतिसन्धीयते तया ज्ञाततया ज्ञानमनुमीयते। तथाहि—घटो ज्ञानविषयः ज्ञाततावत्त्वात् सुखादिवदित्यनेन प्रकारेण ज्ञाततालिङ्गकानुमित्या घटज्ञानं तन्निष्ठं घटत्ववति घटत्वप्रकारकं प्रामाण्यं च गृह्यते। ततश्च स्वाश्रयस्य घटज्ञानस्य ग्राहिका यावती सामग्री ज्ञाततालिङ्ग-कानुमितिरूपा तद्ग्राह्यत्वं प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वमिति।

तच्चिन्त्यम्, ज्ञानविषयतातिरिक्तज्ञाततायां प्रमाणाभावात्। ज्ञातो घट इति प्रतीते-र्ज्ञानविषयत्वेनाप्युपपत्तेः। अन्यथा दृष्टो घटो ध्वस्तोघट इति प्रतीत्या दृष्टत्वादिकमपि सिध्येत। किञ्चातीतो घटो ज्ञात इत्यनुसन्धानेन तत्रापि ज्ञातता सिध्येत्। न चेष्टापत्तिर्निराश्रयधर्म्मासम्भवात्। किञ्च[1] ज्ञाततायाः अपि ज्ञानविषयतया तत्रापि ज्ञातता स्यात् तथानवस्थाप्रसङ्गः।

•

उसे 'जलज्ञान' होने पर भी यह 'ज्ञान, प्रमा है या नहीं'—इस प्रकार से उस जल ज्ञान के 'प्रमात्व' को तथा 'प्रमात्व के अभाव' को विषय करनेवाला 'संशय' उत्पन्न होता है—इस संशय को 'प्रमासंशय' कहते हैं। इस 'प्रमासंशय' की निवृत्ति 'प्रमाज्ञान के प्रमात्व के निश्चय' से ही होती है।

'तद्वति तत्प्रकारकत्वं प्रमात्वम्'—ज्ञाननिष्ठ उस धर्म वाले पदार्थ में जो तद्धर्मविषयकत्व है—वही 'प्रमात्व' है। जैसे 'अयं घटः'—इस ज्ञान में 'घटत्वधर्मवाले घट' में जो 'घटत्वधर्मविषयकत्व' है—वही प्रमात्व है। इसी 'प्रमात्व' को 'प्रामाण्य' भी कहते हैं ॥ ५ ॥

शंका—'प्रमाणस्य भावः प्रामाण्यं'—प्रमाण के धर्म को प्रामाण्य कहते हैं। वह 'प्रमाणत्व'—जातिरूप धर्म है या उपाधिरूप धर्म है ? जातिरूप धर्म उसे कह नहीं सकते, क्योंकि वह 'अव्याप्यवृत्ति' है। उसे उपाधिरूप धर्म भी नहीं कह सकते, क्योंकि उसका निर्वचन नहीं किया जा सकता।

समा०—प्रामाण्य का लक्षण बताने के लिये नैयायिकों का कहना है—'प्रामाण्य' परतोग्राह्य है। किन्तु मीमांसकों का कहना है—'प्रामाण्य' स्वतोग्राह्य है। वेदान्ती भी 'प्रामाण्य' को स्वतोग्राह्य कहते हैं। उसी तरह प्रमाज्ञाननिष्ठ 'प्रमात्व' को नैयायिकों ने परतोग्राह्य कहा है, और मीमांसक तथा वेदान्तियों ने 'प्रमात्व' को स्वतोग्राह्य कहा है। प्रमात्व की स्वतोग्राह्यता में भी मीमांसकों के अनेक मत हैं।

अन्यान्य दर्शनकारों का मत खण्डन करने के लिये अपना मत बता रहे हैं—प्रमाणों का 'प्रामाण्य निश्चय' तो स्वतः ही है, परतः नहीं है। 'एव' कारका प्रयोग करके 'प्रामाण्य' के 'परतोग्राह्यत्व' का प्रतिषेध बताया है। अब प्रामाण्य के स्वरूप को बता रहे हैं—प्रामाण्य का स्वरूप तो 'तद्वति तत्प्रकारकत्वम्' है। अब उसके 'स्वतस्त्व' का निर्वचन करते हैं—प्रामाण्य का 'स्वतस्त्व' यह है—'यावत्स्वाश्रयग्राहकग्राह्यत्वम्'—यहाँ 'स्व' शब्द से 'प्रामाण्य' का ग्रहण करना चाहिये। उस प्रामाण्य का आश्रयभूत जो 'ज्ञान', उस ज्ञान की ग्राहिका जितनी भी सामग्री है, उससे 'ग्राह्यत्व' अर्थात् ग्रहण किया जाना ही 'स्वतस्त्व' है। इस विषय को भाट्टानुयायी विद्वान् इस रीति से बताते हैं—प्रथमतः 'अयं घटः'—यह ज्ञान होता है। तदनन्तर 'मया घटो-ज्ञातः'—इस प्रकार से 'घट' का 'ज्ञातत्व' प्रतीत होता है। उस प्रतीयमान 'ज्ञातत्व' से (ज्ञातता से) 'ज्ञान' का अनुमान किया जाता है। अतः 'ज्ञान' को भाट्टविद्वान् 'अनुमेय' मानते हैं। 'घटो ज्ञानविषयः ज्ञाततावत्त्वात् सुखादिवत्'—इस रीति से 'ज्ञातता-

१. ग, घ, तस्मादिति सा०।

-ग्राह्यत्वम् स्वाश्रयो वृत्तिज्ञानं तद्ग्राहकं साक्षिचैतन्यं ते तन्निष्ठं प्रामाण्यं गृह्यत इति स्वतः प्रामाण्यम् ॥६॥

●

तस्माद् ज्ञाततायाः अप्रामाणिकत्वात्तल्लिङ्गकानुमित्या ज्ञानं प्रामाण्यञ्च गृह्यत इत्यसङ्गतमेतदिति मन्यमानाः प्रभाकरास्तु एवं वर्णयन्ति—घटमहं जानामीत्येवं रूपं ज्ञानं घटं कर्मतया भासयति, आत्मानमाश्रयत्वेन, स्वं स्वप्रकाशत्वेन । ततश्च स्वाश्रयज्ञानस्य ग्राहिका यावती सामग्री स्वप्रकाशज्ञानरूपतया स्वनिष्ठप्रामाण्यं गृह्यत इति प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वम् ।

तदपि न; जन्यज्ञानस्य स्वप्रकाशत्वे मानाभावात् । अन्यज्ञानेनान्यग्रहणेऽतिप्रसङ्गात् तदिदमप्यसङ्गतमितिमन्यमाना मुरारिमिश्रा एवं योजयन्ति—घटेन्द्रियसन्निकर्षानन्तरमयं घट इति ज्ञानं जायते, पश्चाद् घटमहं जानामीत्यनुव्यवसायेन व्यवसाय-ज्ञानं गृह्यते, विषय[1]-विषयज्ञानं व्यवसायः । विषयिविषयज्ञानमनुव्यवसायः । ततश्च स्वाश्रयस्य व्यवसायस्य ग्राहिका यावती सामग्री अनुव्यवसायादिरूपा तया व्यवसायनिष्ठं प्रामाण्यं गृह्यते । तेन तस्य पूर्वमुपस्थितत्वादिदमेव प्रामाण्यस्वतस्त्वमिति ।

तत्तुच्छम्, अनुव्यवसायस्य प्रागेव निरस्तत्वात्तेन तद्ग्रहणायोगात् । मनसः प्रामाण्यस्य निराकृतत्वेनात्मनः संयोगा-सम्भवस्योक्तत्वाच्च ज्ञानस्य मानसप्रत्यक्षत्वायोगात् । तस्मादिदमसङ्गतमित्यभिप्रेत्य स्वपक्षे स्वतस्त्वलक्षणं योजयति—स्वाश्रयेति । ततश्च स्वाश्रयस्य ग्राहिका यावतीसामग्री साक्षिरूपा तद्ग्राह्यत्वं प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वमित्याह—इति स्वतः प्रामाण्यमिति ।

●

-लिङ्गक अनुमिति' से 'घटज्ञान' जाना जाता है। और उस ज्ञान में रहने वाले 'घटत्ववति घटत्वप्रकारक' 'प्रामाण्य' को जाना जाता है।

एवञ्च स्वाश्रय (प्रमाण्य के आश्रय) भूत 'घटज्ञान' ग्राहिका 'ज्ञाततालिंगक अनुमिति' रूप जो सामग्री; उससे ग्राह्य होना ही 'प्रामाण्य' का 'स्वतस्त्व' है। इस रीति से भाट्टमीमांसकों ने 'स्वतस्त्व' का निरूपण किया है।

किन्तु भाट्टमीमांसकों का उक्त कथन चिन्त्य प्रतीत हो रहा है। क्योंकि ज्ञानविषयता के अतिरिक्त 'ज्ञातता' के अस्तित्व में कोई प्रमाण नहीं है। 'ज्ञातो घटः'—यह प्रतीति तो उसे 'ज्ञानविषयत्व' मानकर भी उपपन्न हो सकती है। अन्यथा 'दृष्टो घटः, ध्वस्तो घटः'—इस प्रतीति से 'दृष्टत्व' (दृष्टता) आदि की सिद्धि भी की जा सकेगी।

किञ्च 'अतीतो घटो ज्ञातः'—इस अनुसन्धान से उस अतीत घट में भी, 'ज्ञातता' की सिद्धि की जा सकेगी। उसे यदि 'इष्टापत्ति' कहेंगे, तो वह नहीं चल सकेगा, क्योंकि कोई 'धर्म', निराश्रय नहीं रह सकता।

किञ्च—'ज्ञातता' भी 'ज्ञनविषयता' रूप होने से उस पर भी 'ज्ञातता' होगी, तब 'अनवस्था' प्रसंग प्राप्त होगा। उस-कारण 'ज्ञातता' के अप्रामाणिक रहने से 'ज्ञाततालिंगकअनुमिति' से 'ज्ञान' और उसका 'प्रामाण्य' दोनों का ग्रहण होता है।

उक्त विचार को असंगत कहने वाले प्राभाकरमीमांसकों का कहना यह है कि 'घटमहं जानामि'—इत्याकारक ज्ञान 'घट' को 'कर्मतया' (कर्मत्वेन रूपेण = कर्म के रूप में) प्रतीत कराता है, और 'आत्मा' को 'आश्रयत्वेन रूपेण' (आश्रय के रूप में) प्रतीत कराता है। और 'स्वं' को (अपने को) 'स्वप्रकाशत्वेन रूपेण' प्रतीत कराता है। एवञ्च स्वाश्रयज्ञान की ग्राहिका जितनी जो स्वप्रकाशज्ञानरूप सामग्री है, उसी से स्वनिष्ठ (ज्ञाननिष्ठ) प्रामाण्य का ग्रहण किया जाता है—यही 'प्रामाण्य' का 'स्वतस्त्व' है। इसप्रकार से प्रभाकर मीमांसक ने 'स्वतस्त्व' का निरूपण किया है।

किन्तु यह विचार भी असंगत ही है, क्योंकि 'जन्यज्ञान' को 'स्वप्रकाश' कहने में कोई प्रमाण नहीं है। तथा 'अन्य-ज्ञान' से 'अन्य का ग्रहण' (किसी भी ज्ञान से किसी का भी ग्रहण) मानने पर 'अतिप्रसंग' भी होगा

उस कारण उक्त विचार को मुरारिमिश्र ने असंगत मानकर वे अपने विचार के अनुसार 'स्वतस्त्व' का निरूपण करते हैं—'घट' के साथ 'इन्द्रिय' का सन्निकर्ष (सम्बन्ध) होने के अनन्तर 'अयं घटः' यह ज्ञान उत्पन्न होता है। पश्चात् 'घटमहं जानामि'—इस अनुव्यवसाय से 'व्यवसायज्ञान' का ग्रहण होता है। 'विषयविषयकज्ञानं व्यवसायः'—विषयविषयकज्ञान को 'व्यवसाय' कहते हैं और विषयिविषयक ज्ञान को 'अनुव्यवसाय' कहते हैं। एवञ्च—स्वाश्रयरूप व्यवसाय की ग्राहिका जो अनुव्यवसायरूप सामग्री, उससे व्यवसायज्ञान-निष्ठ प्रामाण्य का ग्रहण किया जाता है, क्योंकि वह सामग्री, पूर्व उपस्थित होती है—यही प्रामाण्य का 'स्वतस्त्व' है।

---

१. एकं विषयपदमधिकम् । विषयविषयकं ज्ञानमितिवार्थः ।

नन्वेवं भवतामपि साक्षिणि किं प्रमाणम् ? न तावत्प्रत्यक्षं, रूपादिहीनत्वेन चक्षुराद्यगोचरत्वात्, मनसोऽनिन्द्रियत्वेनाप्रमाणत्वाच्च। नाप्यनुमानं, तद्व्याप्यलिङ्गाभावात्। नचाहङ्कारोऽनात्मा दृश्यत्वाद् घटवदित्यनुमानेन पक्षधर्म्मताबलात् साक्षिसिद्धिरिति वाच्यम्। पक्षतावच्छेदकानिर्वचनेनानुमानानवतारात्। अतएवाहङ्कारः स्वव्यतिरिक्तद्रष्टृको दृश्यत्वात् संमतवदिति परास्तम्। नाप्युपमानं, तस्य नियतविषयत्वात्। नाप्यागमस्तस्यार्थान्तरपरत्वात्। नाप्यर्थापत्तिस्तेन विनातदनुपपत्तेरभावात्। नच सुखादिव्यवहारः स्वगोचरज्ञानं विनाऽनुपपन्नस्सन् तत्कल्पयति, तच्च साक्षिचैतन्यमेवेत्यर्थापत्त्या तत्सिद्धिरिति वाच्यम्। सुखादिव्यवहारस्यात्मसमवेतसुखादिविषयज्ञानेनोपपन्नत्वेनार्थापत्तेरन्यथोपपत्तेः। तस्मात् प्रमाणाभावस्य तवापि तुल्यत्वात् कथं प्रामाण्यस्य साक्षिग्राह्यत्वं स्वतस्त्वं वेत्यतः प्रामाण्यस्य परतस्त्वमभ्युपगन्तव्यम्।

परतस्त्वं नाम—यावत् स्वाश्रयग्राहकातिरिक्तग्राह्यत्वम्। तथाहि—प्रामाण्याश्रयव्यवसायज्ञानमनुव्यवसायेन गृह्यते। प्रामाण्यत्वं त्वनुमानेन गृह्यते। तथाहि—विवादगोचरापन्नं व्यवसायज्ञानं प्रमाणं भवितुमर्हति समर्थप्रवृत्तिजनकत्वाद्व्यतिरेकेणाप्रमाणज्ञानवदिति। अथवा प्रथमानुव्यवसायेन व्यवसायो गृह्यते। द्वितीयानुव्यवसायेन तन्निष्ठं प्रामाण्यम्। अन्यथा प्रथमोत्पन्नं जलज्ञानं प्रमाणमप्रमाणं वेति संशयो न स्यादनभ्यासदशायाम्। तस्मात्परत एव प्रामाण्यग्रह इति।

•

इस विचार को भी 'वेदान्ती' असंगत बता रहा है। क्योंकि 'अनुव्यवसाय' का निरसन, पहले ही कर चुके हैं। उस कारण उससे (अनुव्यवसाय से) व्यवसायज्ञाननिष्ठप्रामाण्य का ग्रहण होना असम्भव है। 'मन' के प्रामाण्य का भी निराकरण कर दिया गया है। उस कारण 'आत्मा' का उसके साथ संयोग होना सम्भव नहीं है; यह भी बता चुके हैं। अतः 'ज्ञान' का 'मानसप्रत्यक्ष' होना भी असम्भव है। एवञ्च मुरारिमिश्र का मत भी असंगत है।

अब वेदान्ती अपने मत के अनुसार 'स्वतस्त्व' के लक्षण को बता रहा है—प्रमात्वधर्म का आश्रयभूत जो 'प्रमाज्ञान' है, उस 'प्रमाज्ञान' के जितने भी ग्राहक हैं, उनसे उस 'प्रमा' में जो 'ग्राह्यता' है, उसी को 'प्रमा' की 'स्वतोग्राह्यता कहते हैं। जैसे—'प्रमात्व' धर्म का आश्रयभूत जो 'अयं घटः'—यह वृत्तिज्ञान है, उस वृत्तिज्ञान को ग्रहण करने वाला जो 'साक्षी चैतन्य' है, उस 'साक्षीचैतन्य' ने उस 'वृत्तिज्ञान' के समान ही उसके 'प्रमात्व' का भी ग्रहण किया है। यही 'प्रमात्व' में 'स्वतोग्राह्यता' है। इसी को ग्रन्थकार ने बताया है कि स्वाश्रय की ग्राहिका जितनी साक्षीरूप सामग्री है, उससे ग्राह्य होना ही 'प्रामाण्य' का 'स्वतस्त्व' है—यही 'स्वतः प्रामाण्य' है।

शंका—आपके अभिमत 'साक्षी' में भी 'क्या प्रमाण है ? उसके होने में 'प्रत्यक्षप्रमाण' का होना सम्भव नहीं है। क्योंकि वह 'साक्षी', रूपरहित रहने से 'चक्षुरादि इन्द्रिय' का विषय नहीं है। 'मानसप्रत्यक्ष' यदि कहें, तो वह भी सम्भव नहीं है। क्योंकि 'मन' की इन्द्रियता का खण्डन हो चुका है। अतः वह अनिन्द्रिय (इन्द्रिय नहीं) है, उस कारण वह अप्रमाण है। अनुमानप्रमाण से भी 'साक्षी' की सिद्धि नहीं हो सकेगी, क्योंकि उससे व्याप्य कोई लिंग नहीं है। यदि यह अनुमान करें कि 'अहंकारः अनात्मा दृश्यत्वात् घटवत्'—इस अनुमान से 'पक्षधर्मता' के बल पर 'साक्षी' की सिद्धि की जा सकती है। किन्तु यह कहना भी उचित न होगा, क्योंकि 'पक्षतावच्छेदक' का अभी निर्वचन न हो सकने से 'अनुमान'[१] ही नहीं किया जा सकता।

'उपमानप्रमाण' से भी 'साक्षी' की सिद्धि नहीं हो सकेगी, क्योंकि 'उपमान', में नियतविषयता रहती है। 'आगमप्रमाण' से भी उसकी सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि वह 'आगम' अर्थान्तरपरक है। 'अर्थापत्तिप्रमाण' से भी उसकी सिद्धि नहीं होगी, क्योंकि उसके विना (साक्षी के विना) उसकी (ग्राह्यत्व की) अनुपपत्ति नहीं हो रही हैं। यदि यह कहें कि सुख-दुःखादि व्यवहार स्वविषयकज्ञान के विना अनुपपन्न होकर, उसकी (साक्षी की) कल्पना करा देगा—इस प्रकार अर्थापत्ति प्रमाण से 'साक्षी' की सिद्धि हो जायगी।

किन्तु यह कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि 'सुख-दुःखादि' व्यवहार की उपपत्ति भी 'आत्मसमवेतसुखादिविषयकज्ञान' से ही हो सकती है, उस कारण 'अर्थापत्ति' की अन्य प्रकार से उपपत्ति लग जाती है। अतः 'प्रमाणाभाव' हमारे जैसा ही तुम्हें भी है। उस कारण वादी-प्रतिवादी दोनों की स्थिति तुल्य ही है। तब 'प्रामाण्य' का 'साक्षिग्राह्यत्व और स्वतस्त्व' कैसे हो सकता है ? अतः 'प्रामाण्य' का 'परतस्त्व' तुम्हें भी स्वीकार कर लेना चाहिये।

'परतस्त्व' का अर्थ है—स्वाश्रयग्राहकसामग्री के अतिरिक्त सामग्री से ग्राह्य होना। तथा हि—'प्रामाण्य' के आश्रयभूत 'व्यवसायज्ञान' को 'अनुव्यवसायज्ञान' से ग्रहण किया जाता है। किन्तु 'प्रामाण्य' को 'अनुमान' से ग्रहण किया जाता

१. अत एव 'अहङ्कारः स्वव्यतिरिक्तद्रष्टृकः दृश्यत्वात्'—यह खण्डित हो जाता है।

अत्रोच्यते "साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्चेति" "वाचः साक्षी मनसः साक्षी" "एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञमिति तद्विदः" "ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते" इत्यादिश्रुतिस्मृतिशतेभ्योऽज्ञानतत्कार्य्यावभासकः साक्षी चिदात्मावश्य-मभ्युपगन्तव्योऽन्यथोदाहृतश्रुतिस्मृतीनामप्रामाण्यप्रसङ्गात्। न च तासामर्थान्तरपरत्वमिति वाच्यम्, उपक्रमादिलिङ्गैस्तत्रैव तात्पर्य्यस्य निश्चितत्वेन तदयोगात्।

तथानुमानादपि तत्सिद्धिः। तथाहि—अन्तःकरणतद्धर्मातिरिक्ताहमनुभवगोचरोऽहमनुभवे प्रकाशमानो वा स्वव्यतिरिक्त-द्रष्टृकः दृश्यत्वाद् घटवत्। न चाप्रयोजकत्वं निरुपाधिकत्वसहचारभङ्गप्रसङ्गात्। एवं सुखादिव्यवहारस्य स्वगोचरज्ञानं विनानुप-पत्त्यासाक्षिसिद्धिः। न चात्मसमवेतसुखादिविषयज्ञानेन तद्व्यवहार इति वाच्यम्। जन्यज्ञानस्यात्मसमवेतत्वासिद्धेः। अन्यथा "ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एवे"ति श्रुतिविरोधप्रसङ्गात्। जीवात्मसमवेतस्य नित्यज्ञानस्य त्वयानङ्गीकाराच्च। किञ्चात्मनः संयोगस्य सम्बन्धिनो निरवयवतया निराकृतत्वेनात्मनि ज्ञानोत्पत्तेरसम्भवेन ज्ञानस्यात्मसमवेतत्वासिद्धेश्च। तस्मादनन्यथासिद्ध-श्रुतिस्मृत्यनुमानार्थापत्तिस्वानुभवैः साक्षी सिद्ध इति तेन प्रामाण्यं गृह्यत इति स्वतस्त्वं प्रामाण्यस्य सम्भवति।

एतेन प्रामाण्यस्य परतोग्राह्यत्वं प्रत्युक्तम्। अनुव्यवसायस्य प्रागेव निरस्ततया तेन ज्ञानं गृह्यत इति दूरत एव; द्वितीयानुव्यवसायेन प्रामाण्यग्रहो दूरतरः। किञ्च निश्चितप्रामाण्येनानुव्यवसायेन प्रामाण्यं गृह्यत आहोस्विदनिश्चितेन वा? नाद्योऽन-

है। तथा हि—विवादविषयीभूत व्यवसायज्ञान, प्रमाण होने योग्य है, समर्थप्रवृत्ति का जनक होने से, व्यतिरेक से अप्रमाणज्ञान के समान[1]।

अथवा—'प्रथम अनुव्यवसाय' से 'व्यवसाय' का ग्रहण किया जाता है, और 'द्वितीय अनुव्यवसाय' से 'तन्निष्ठप्रामाण्य' का ग्रहण किया जाता है। अन्यथा अनभ्यास दशा में 'प्रथमोत्पन्न जलज्ञान' प्रमाण है या अप्रमाण है? यह संशय ही नहीं होगा। अतः प्रामाण्यग्रह 'परतः' ही होता है।

इस पर वेदान्ती कहता है—सैकड़ों श्रुति-स्मृतियों से 'अज्ञान', और उसके 'कार्य' के अवभासक 'साक्षीचिदात्मा' को अवश्य ही स्वीकार करना होगा। अन्यथा श्रुति-स्मृतियों को 'अप्रमाण' कहने का प्रसंग आवेगा। यदि श्रुति-स्मृतियों को अर्थान्तरपरक कहें, तो वह भी ठीक नहीं है। क्योंकि उपक्रमादिलिङ्गों से 'उसी में' उनके तात्पर्य का निश्चय किया गया है, उस कारण उन्हें अर्थान्तरपरक भी नहीं कह सकते।

उसी प्रकार '[2]अनुमान' से भी 'साक्षी' की सिद्धि होती है। तथाहि—अन्तःकरण, और उसके धर्मों से भिन्न 'अहम्' इत्याकारक अनुभव का विषय होनेवाला, अथवा 'अहम्'—इत्याकारक अनुभव में प्रकाशमान रहनेवाला, स्वव्यतिरिक्त द्रष्टा जिसका विषय है दृश्य होने से; घट के समान—इस अनुमान से 'साक्षी' की सिद्धि हो जाती है। इसे 'अप्रयोजक' भी नहीं कह सकते। अन्यथा 'निरूपाधिक' सहचार (व्याप्ति)का भंग होने का प्रसंग आवेगा।

इसी प्रकार स्वविषयक ज्ञान के विना 'सुखादिव्यवहार' की अनुपपत्ति से भी 'साक्षी' की सिद्धि होती है। यदि यह कहें कि 'आत्मसमवेत सुखादिविषयों' के ज्ञान से 'सुखादिव्यवहार' हो सकेगा—किन्तु यह कहना उचित नहीं होगा। क्योंकि 'जन्य-ज्ञान', 'आत्मसमवेत' नहीं हुआ करता। अन्यथा 'ह्रीधीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव'—इस श्रुति के साथ विरोध होगा, और नित्यज्ञान को 'जीवात्मसमवेत' तुमने नहीं माना है।

किञ्च—'आत्मा' के 'संयोग' का 'सम्बन्धी' निरवयव रहने से उसका निराकरण कर देने के कारण 'आत्मा' में 'ज्ञान' की उत्पत्ति का होना सम्भव नहीं है। उस कारण 'ज्ञान' का 'आत्मसमवेतत्व' सिद्ध नहीं हो रहा है। अतः अनन्यथासिद्ध श्रुति-स्मृति-अनुमान-अर्थापत्ति और स्वानुभव के आधार पर 'साक्षी' सिद्ध हो रहा है। उस 'साक्षी' से ही 'प्रामाण्य' का ग्रहण किया जाता है। इसलिए 'प्रामाण्य' का 'स्वतस्त्व' सम्भव हो जाता है। उस कारण 'प्रामाण्य' के परतोग्राह्यत्व' का खण्डन हो जाता है।

'अनुव्यवसाय', का निरसन पहिले ही कर देने के कारण, उससे 'ज्ञान' का ग्रहण होता है—यह कहना तो दूर ही है, और 'द्वितीय अनुव्यवसाय' से 'प्रामाण्य' का ग्रहण होता है—यह कहना तो और भी दूर है। अतः न 'अनुव्यवसाय' से 'ज्ञान' का ग्रहण होता है, और न 'द्वितीय अनुव्यवसाय' से 'प्रामाण्य' का ग्रहण होता है।

१. विवादगोचरापन्नं व्यवसायज्ञानं प्रमाणं भवितुमर्हति समर्थप्रवृत्तिजनकत्वात्, व्यतिरेकेण अप्रमाणज्ञानवदि'त्यनुमानप्रयोगः।

२. 'अन्तःकरणतद्धर्मातिरिक्ताहमनुभवगोचरः, अहमनुभवे प्रकाशमानो वा स्वव्यतिरिक्तद्रष्टृकः दृश्यत्वात् घटवदि'त्यनुमानप्रयोगः।

वस्थापत्तेः। तथाहि—अनुव्यवसायस्य स्वतः प्रामाण्यनिश्चयेऽपसिद्धान्तापत्तेः। अन्येन चेत्तस्यान्येन तस्याप्यन्येनेत्यनवस्थापत्तेः। न च विषयान्तरासञ्चारादनवस्थोपरम इति वाच्यम्। तर्ह्यनिश्चितप्रामाण्येनानुव्यवसायेन प्रामाण्यग्रह इत्यायातं ततश्चानुव्यवसायेनैव प्रमाणग्रहोऽस्तु। किं तेनापराद्धम्।

नन्वेवं ज्ञानग्राहकेणानुव्यवसायेनैव व्यवसायप्रामाण्यनिश्चये इदं ज्ञानं प्रमाणं न वेति संशयो न स्यादिति चेन्न। दोषवशेन तदुपपत्तेः। न च निश्चितेऽर्थे दोषवशेन कथं संशय इति वाच्यम्। दोषघटितसामग्र्यास्तादृशस्वभावत्वात्। अन्यथा प्राच्यां प्रतीचित्वभ्रमसंशयान्यतरानन्तरं सूर्योदयादिनेयं प्राचीति निश्चयानन्तरं पुनः संशयाद्यभावप्रसङ्गात्। नचेष्टापत्तिस्तयोरनुभवसिद्धत्वात्। तस्मादप्रामाण्यशङ्काशून्येनाद्येनैवानुव्यसायेन प्रामाण्यनिश्चयः। अन्यथा सर्वत्रानाश्वासप्रसङ्गात्।

एतेन द्वितीयो विकल्पः परास्तः। अनिश्चितस्य तद्ग्राहकत्वायोगात् अप्रामाण्यशङ्काशून्यस्यैव ज्ञानस्य विषयनिश्चायकत्वाच्च।

अतएवानुमानेन प्रामाण्यं गृह्यत इत्यपास्तमुक्तदोषसत्त्वात्। नन्वस्तु तर्ह्याद्येनैवानुव्यवसायेन प्रामाण्यग्रहः? न, तदसम्भवस्योक्तत्वात्। तस्मात्साक्षिणैव वृत्तिज्ञाननिष्ठं प्रामाण्यं गृह्यते॥६॥

●

शंका—क्या 'निश्चित प्रामाण्य वाले अनुव्यवसाय' से 'प्रामाण्य' का ग्रहण किया जाता है, अथवा 'अनिश्चित प्रामाण्य-वाले अनुव्यवसाय' से 'प्रामाण्य' का ग्रहण किया जाता है?

समा०—यदि 'निश्चित प्रामाण्यवाले अनुव्यवसाय' से 'प्रामाण्यग्रह' होता है कहोगे, तो 'अनवस्था' होगी। तथाहि—'अनुव्यवसाय' का 'स्वतःप्रामाण्यनिश्चय' मानने पर 'अपसिद्धान्त' होगा। और 'अनुव्यवसाय' में 'परतः प्रामाण्यनिश्चय' मानने पर अर्थात् किसी 'अन्य' से प्रामाण्य का निश्चय होना स्वीकार करने पर उस 'अन्य' का भी किसी 'अन्य' से, उसका भी प्रामाण्य निश्चय किसी अन्य से—इस प्रकार की अनवस्था होगी।

यदि यह कहो कि 'विषयान्तर का सञ्चार' जहाँ रुक जायगा वहीं पर 'अनवस्था' का भी विश्राम हो जायगा। तब 'अनवस्था' नहीं रहेगी।

किन्तु यह कहना भी सङ्गत नहीं है। क्योंकि तुम्हारे कथन के अनुसार 'अनिश्चित प्रामाण्यवाले अनुव्यवसाय' से 'प्रामाण्यग्रह' होता है—यह प्रतीत हो रहा है। तब उसी से (अनुव्यवसाय से) 'प्रमाणग्रह' भी होता है, यह मान लीजिये, उसने क्या अपराध किया है?

शंका—इस प्रकार 'ज्ञानग्राहक अनुव्यवसाय' से ही 'व्यवसाय' (ज्ञान) के 'प्रामाण्य' का निश्चय मानने पर 'इदं ज्ञानं प्रमाणं न वा'—यह संशय नहीं हो सकेगा।

समा०—यह शंका ठीक नहीं है। 'दोषवशात्' संशय उपपन्न हो सकेगा।

शंका—'निश्चित अर्थ' में दोषवशात् 'संशय' कैसे हो सकेगा?

समा०—उक्त शंका ठीक नहीं है। क्योंकि 'दोषघटित सामग्री' में 'संशयोत्पादन' करने का स्वभाव होता है। अन्यथा 'प्राची' में 'प्रतीचित्व'—का भ्रम अथवा संशय दोनों में से किसी एक के होने पर 'सूर्योदय' आदि को देखकर 'इयं प्राची' यह निश्चय हो जाता है, तदनन्तर पुनः संशय या भ्रम न होने का प्रसङ्ग प्राप्त होगा। यदि संशयाभाव के प्रसङ्ग को 'इष्टापत्ति' कहोगे तो अनुभव विरोध होगा। क्योंकि पुनः पुनः संशय अथवा भ्रम का होना सर्वानुभवसिद्ध है। अतः 'अप्रामाण्य शंका' से रहित आद्य (प्रथम) अनुव्यवसाय से ही प्रामाण्य का निश्चय हो जाता है—यह मान लेना चाहिये। अन्यथा सर्वत्र अनाश्वास (अविश्वास) का प्रसङ्ग प्राप्त होगा।

इस कथन से द्वितीय विकल्प का भी खण्डन हो जाता है। क्योंकि अनिश्चित प्रामाण्यवाला अनुव्यवसाय, 'प्रामाण्य' का ग्राहक हो ही नहीं सकता। अप्रामाण्य से शंकारहित ज्ञान ही 'विषय' का निश्चायक होता है। अत एव 'अनुमान' से 'प्रामाण्य-ग्रह' होता है—इस कथन में उक्त दोषों के रहने से उसका भी खण्डन हो गया।

शंका—अच्छा, तो 'आद्य अनुव्यवसाय' से ही 'प्रामाण्यग्रह' को मान लीजिये।

समा०—वैसा नहीं मान सकते, क्योंकि हम पहले ही बता चुके हैं कि वह असम्भव है। अतः 'साक्षी' द्वारा ही 'वृत्तिज्ञाननिष्ठ प्रामाण्य' का ग्रहण होता है—यही निश्चय किया जा रहा है॥ ६॥

अप्रामाण्यं तु परतो गृह्यते। तच्च तदभाववति तत्प्रकारकत्वम्। तदभाववत्त्वस्य वृत्तिज्ञानानुपनीतत्वेन साक्षिणा ग्रहीतुमशक्यतया परत एवाप्रामाण्यं गृह्यते ॥७॥

●

नन्वेवं सत्यप्रमाण्यमपि स्वत एव गृह्यतामुक्तन्यायस्य तत्रापि तुल्यत्वादित्याशङ्क्याह—अप्रामाण्यमिति। किं तदप्रामाण्यमित्यत आह—तच्चेति। अस्ति च शुक्त्यादाविदं रजतमिति ज्ञाने रजताभाववति रजतप्रकारकत्वं, वस्तुतो रजतस्य तत्राभावात्। न च भूतले घट इति प्रमायामतिव्याप्तिरिति वाच्यम्। भूतलघटयोरेकचैतन्याध्यस्तत्वेन तद्वति तत्प्रकारकतया तत्प्रमायां तदभावात्, शुक्तौ तु तत्समानसत्ताकतया रजतस्य तत्रासत्त्वेन प्रातीतिकरजतसत्त्वेऽपि नातिव्याप्तिर्नत्वसम्भव इत्यर्थः। वृत्तीति। नेदं रजतं किन्तु शुक्तिरिति बाधात्मकाधिष्ठानतत्त्वतत्साक्षात्कारवृत्त्या तदभाववत्त्वस्यानुपस्थितत्वेन तत्साक्षिणा ग्रहीतुं न शक्यते, अन्यथातिप्रसङ्गात्। तस्मादप्रामाण्यं परत एव गृह्यते ज्ञानग्राहिकातिरिक्तसामग्र्येत्यर्थः।

तथाहि—ज्ञानानन्तरं प्रवृत्तिर्द्विधा संवादिप्रवृत्तिर्विसंवादिप्रवृत्तिश्चेति। आद्या फलपर्य्यन्ता। द्वितीया तच्छून्या। तत्र विसंवादिप्रवृत्त्याऽप्रामाण्यं ज्ञानस्यानुमीयते। तथाहि—विवादास्पदं शुक्तौ रजतज्ञानमप्रमाणं[1] भवितुमर्हति विसंवादिप्रवृत्तिजनकत्वाद्व्यतिरेकेण प्रमावदिति ज्ञानग्राहिकातिरिक्तेनानुमानेन ज्ञानस्याप्रामाण्यं निश्चीयते। ज्ञानं तु साक्षिणा गृह्यतेऽप्रामाण्यं पुनरनुमानेन, तस्मात्परत एवाप्रामाण्यं गृह्यत इति भावः।

●

शंका—जैसे 'प्रमाज्ञान' का 'प्रमात्व स्वतोग्राह्य है, वैसे ही 'इदं रजतम्'—इस 'अप्रमाज्ञान' का 'अप्रमात्व' भी 'स्वतोग्राह्य' क्यों नहीं है ?

समा०—'अप्रमात्व' धर्म तो 'परतः ग्राह्य ही होता है, वह 'स्वतोग्राह्य' नहीं है। 'ज्ञान' में जो उस धर्म के अभाव वाले 'वस्तु' में 'तद्धर्मविषयकत्व' है, उसे 'अप्रमा' कहते हैं। जैसे 'इदं रजतम्'—इस ज्ञान में वस्तुतः 'रजत के अभाववाली शुक्ति' में जो 'रजतविषयकत्व' है—यही 'अप्रमात्व' है। 'शुक्ति' में 'अप्रमात्व' के घटक रजत' का जो 'अभाव' है, उस 'अभाव' को 'वृत्तिज्ञान' अपना विषय नहीं बनाता है। उस कारण उस 'रजताभावघटित' अप्रमात्व को वह 'साक्षी चैतन्य' भी ग्रहण नहीं करता। वह 'साक्षी चैतन्य' केवल उस 'अप्रमात्वधर्म' के आश्रयभूत 'ज्ञान मात्र' को ही ग्रहण करता है। अतः अप्रामाण्य परतः ही ज्ञेय है।

वह, 'साक्षी चैतन्य' यदि कदाचित् 'वृत्तिज्ञान' के अविषयभूत 'अर्थ' को भी प्रकाशित करता हो तो 'घटाकारवृत्ति' के समय 'पटादिकों' का भी 'साक्षी चैतन्य' से प्रकाश होना चाहिये था, किन्तु होता नहीं। अतः 'प्रमात्व' के समान वह 'अप्रमात्व' स्वतोग्राह्य नहीं है, अपितु 'परतोग्राह्य' ही है। 'अप्रमात्वधर्म' का आश्रयभूत जो 'अप्रमाज्ञान' है, उसकी 'ग्राहक सामग्री' से 'भिन्न सामग्री के द्वारा जिसमें ग्राह्यत्व होता है, वही 'अप्रमात्व' की [2]'परतो ग्राह्यता' कही जाती है। जैसे 'अप्रमात्वधर्म' का आश्रयभूत 'इदं रजतम्'—यह 'अप्रमाज्ञान' है। उस 'अप्रमाज्ञान' का ग्राहक तो 'साक्षी चैतन्य' है। वह 'साक्षी चैतन्य' उस 'अप्रमात्वधर्म' का ग्रहण नहीं करता, किन्तु 'साक्षी चैतन्य' से भिन्न जो 'अनुमानरूप सामग्री' हैं, उससे उस 'अप्रमात्व धर्म' का ग्रहण किया जाता है—यही उस 'अप्रमात्व' में 'परतोग्राह्यत्व' है।

शंका—किन्तु 'भूतले घटः'—इस प्रमा ज्ञान में अतिव्याप्ति होगी।

समा०—भूतल और घट दोनों 'एक ही चैतन्य' में अध्यस्त होने से 'तद्वति तत्प्रकारकत्व' ही उस प्रमाज्ञान में है, उस कारण 'भूतले घटः'—इस प्रमाज्ञान में 'तदभाववति तत्प्रकारकत्व' न होने से अतिव्याप्ति नहीं है। किन्तु 'शुक्ति' में 'तत्समानसत्ताकत्व' के रूप में 'रजत', उस शुक्ति में नहीं है, इसलिये वहाँ का 'रजतज्ञान' अप्रमाण है। उसमें 'प्रातीतिक रजत' के रहने पर भी न अतिव्याप्ति है और न असंभव ही है।

'नेदं रजतम्, किन्तु शुक्तिः'—इत्याकारक बाधात्मक अधिष्ठानतत्त्व का साक्षात्कार करनेवाली 'वृत्ति' के होने से 'तदभाववत्त्व' की अनुपस्थिति है। उसके अनुपस्थित होने से उसका ग्रहण 'साक्षी' से भी नहीं किया जा सकता, अन्यथा अतिप्रसंग होगा। इसलिये 'अप्रामाण्य' का ग्रहण 'परतः' ही होता है। अर्थात् ज्ञानग्राहक सामग्री के अतिरिक्त सामग्री से होता

---

१. अप्रमेत्येवास्तु।

२. स्वाश्रयग्राहकातिरिक्तसामग्रीग्राह्यत्वम्परतोग्राह्यत्वम्'।

प्रामाण्यस्वतस्त्वपक्षे संशयो दोषवशादुपपद्यते—इत्ययं प्रमाणसंशयः।

वेदान्ताऽद्वितीये ब्रह्मणि प्रमाणं न वेति संशयः करणगताऽसम्भावना। सा च श्रवणेन निवर्त्तते, तच्च निरूपितम्। तदपि श्रवणं शारीरकप्रथमाध्यायपठनेन निष्पद्यते।

एवं प्रमा स्वत एवोत्पद्यते च। स्वतस्त्वं नामोत्पत्तौ ज्ञानसामान्यसामग्रीमात्रप्रयोज्यत्वम्। नचाप्रमायामतिव्याप्तिस्तस्यास्तदतिरिक्तदोषजन्यत्वात्। न च प्रमायामपि दोषाभावजन्यतया परतस्त्वापत्तिरिति वाच्यम्। परमते गुणजन्यत्वस्यैवोत्पत्तौ परतस्त्वेन विवक्षितत्वात्। तस्यास्माभिरनङ्गीकारात्। प्रमामात्रेऽनुगतगुणस्यासम्भवेन तस्याप्रामाणिकतया च प्रमायास्तज्जन्यत्वानुपपत्तेः। किञ्च दोषाभावस्यापि न प्रमाहेतुत्वमभावमात्रस्य श्रुत्या करणत्वप्रतिषेधात्[1]। किन्तु दोषाभावस्य परमते दण्डत्वादिवदनुकूलमात्रत्वम्। अपि च दोषस्यान्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रमोत्पत्तिप्रतिबन्धकत्वेन तदभावस्य कारणत्वं न सम्भवत्येव। प्रतिबन्धकाभावस्य कार्य्यानुत्पादकस्याग्रिमसमयसम्बन्धविघटकतयावाऽन्यथासिद्धत्वात्। तस्मात्स्वत एव ज्ञानसामान्यसामग्रीमात्रात्प्रमोत्पद्यत इति सिद्धम्।

अप्रमा तु परत एवोत्पद्यते[2]। ज्ञानसामान्यसामग्र्यतिरिक्तस्य दोषस्यान्वयव्यतिरेकाभ्यामप्रमां प्रति कारणत्वावधारणाच्च तस्मादुत्पत्तावपि परत एवाप्रामाण्यमिति सर्वमवदातम्॥ ७॥

ननु प्रामाण्यस्योत्पत्तौ ज्ञप्तौ च स्वतस्त्वाङ्गीकारेऽनभ्यासदशायामिदं जलज्ञानं प्रमाणमप्रमाणं वेति संशयः कथं स्यान्निश्चितेऽर्थे संशयायोगादत आह—प्रामाण्येति। स्वत इति ज्ञानग्राहकग्राह्यत्वपक्ष इत्यर्थः। दोषेति। दोषघटितसामग्र्याः बलवत्त्वात्प्रामाण्यसंशय उपपद्यते इत्यर्थः। एवमुत्पत्तौ ज्ञप्तौ च प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वस्य निश्चितत्वात् प्रामाण्यनिश्चयेन संशयनिवृत्तिरुत्पद्यत इत्यभिप्रेत्योक्तं प्रामाण्यसंसयमुपसंहरति—इतीति।

है। तथाहि—'ज्ञान' होने के बाद 'प्रवृत्ति' दो तरह की होती है—(१) संवादि-प्रवृत्ति और (२) विसंवादि-प्रवृत्ति। पहली प्रवृत्ति 'जलप्राप्ति' तक और दूसरी प्रवृत्ति 'जल की अप्राप्ति' तक। उनमें 'विसवादि प्रवृत्ति' से 'ज्ञान' के अप्रामाण्व का अनुमान[3] किया जाता है। अतः ज्ञानग्राहकातिरिक्त अनुमान से ज्ञान के अप्रामाण्य का निश्चय किया जाने से परतस्त्व है। 'ज्ञान' का ग्रहण 'साक्षी' से किया जाता है, और 'अप्रामाण्य' का ग्रहण 'अनुमान' से किया जाता है। तस्मात् 'अप्रामाण्य' परतः ही है।

एवं 'प्रमा' स्वत[4] एव उत्पन्न होती है अर्थात् ज्ञानसामान्य की सामग्री से ही प्रयुक्त होती है; तो उस सामग्री से अतिरिक्त दोषजन्य है। 'प्रमा' में भी दोषाभावजन्यता रहने से 'परतस्त्व' की शंका नहीं करनी चाहिये। क्योंकि पूर्वपक्षी के मत में 'गुणजन्यत्व' ही परतस्त्वेन विवक्षित है। किन्तु हम सिद्धान्ती उसे स्वीकार नहीं करते। प्रमामात्र में अनुगत गुण का संभव न रहने से और उसके अप्रामाणिक रहने से भी 'प्रमा' में तज्जन्यत्व अनुपपन्न है।

किञ्च—'दोषाभाव' में 'प्रमाहेतुत्व' नहीं है। क्योंकि श्रुति ने अभावमात्र में 'करणत्व' का निषेध किया है। किन्तु पूर्वपक्षी के मत में 'दण्डत्व' की तरह 'दोषाभाव' में अनुकूलमात्रत्व ही स्वीकृत है।

अपि च—अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा 'दोष' तो 'प्रमोत्पत्ति' में प्रतिबन्धक होने से उसके 'अभाव' में 'करणत्व' का होना संभव ही नहीं है। कार्य का अनुत्पादक प्रतिबन्धकाभाव तो अग्रिम समय के सम्बन्ध का विघटक होने से अन्यथासिद्ध ही है। तस्मात् ज्ञानसामान्यसामग्रीमात्र से ही 'प्रमा' स्वत एव उत्पन्न होती है; किन्तु 'अप्रमा' 'परत एव' उत्पन्न होती है। क्योंकि ज्ञानसामान्यसामग्री से भिन्न अतिरिक्त-दोषसामग्री से उत्पन्न होने के कारण, अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा अप्रमा के प्रति वह कारण होती है। इसलिये उत्पत्ति में भी परत एवं अप्रामाण्य है, यह निश्चित होता है॥ ७॥

शंका—प्रामाण्य की उत्पत्ति और ज्ञप्ति में 'स्वतस्त्व' स्वीकार करने पर अनभ्यासदशा में 'इदं जलज्ञानं प्रमाणम् अप्रमाणं वा'—यह संशय कैसे हो सकेगा? क्योंकि अर्थ के निश्चित रहने पर 'संशय' नहीं हुआ करता। इसी को ग्रन्थकार बता रहे हैं—'स्वतस्त्व पक्ष में अर्थात् 'ज्ञानग्राहकग्राह्यत्वपक्ष' में दोषघटित-सामग्री प्रबल रहने से 'प्रामाण्यसंशय' हो सकता है। एवं 'उत्पत्ति' और 'ज्ञप्ति' में 'प्रामाण्य का स्वतस्त्व' निश्चित रहने से प्रामाण्य का निश्चय रहता है। उस कारण 'संशय' की निवृत्ति हो सकती है।

१. कारणत्वप्रतिषेधादिति च वक्तुम्। २. एतेन सांख्यसौगतयोर्निरासस्ताभ्यामप्रामाण्यस्वतस्त्वसमाश्रयणात्।

३. विवादास्पदं शुक्तौ रजतज्ञानमप्रमाणं भवितुमर्हति, विसंवादिप्रवृत्तिजनकत्वात् व्यतिरेकेण प्रमावत् इत्यनुमानप्रयोगः।

४. स्वतस्त्वं नाम उत्पत्तौ ज्ञानसामान्यसामग्रीमात्रप्रयोज्यत्वम्।

प्रमेयगताऽसम्भावना द्विविधा—अनात्मगतात्मगता चेति। स्थाणुर्वा पुरुषो वेत्यनात्मसंशयः। आत्मसंशयोऽनेकविधः। तथाहि—ब्रह्माद्वितीयं सद्वितीयं वा। अद्वितीयत्वेऽपि आनन्दगुणकं वानन्दस्वरूपं वा इत्यादि परमात्मगतसंशयः। आत्मा देहाद्यतिरिक्तो वा न वा, देहाद्यतिरिक्तत्वेऽपि कर्त्ता वाऽकर्त्ता वा, अकर्तृत्वेऽपि चिद्रूपोऽचिद्रूपो वा, चिद्रूपत्वेऽपि आनन्दात्मको

•

इदानीं करणसंशयं निरूपयति—वेदान्तेति। सा कस्मान्निवर्त्तते इत्यपेक्षयामाह—सा चेति। तर्हि श्रवणं निरूप्यतामित्याकाङ्क्षायामाह—तच्चेति। द्वितीयपरिच्छेदे तात्पर्यनिरूपणावसरे इति शेषः। तच्च श्रवणं कुतो निष्पद्यत इत्याशङ्क्याह—शारीरक इति।

प्रमाणगतासम्भावनां द्विप्रकारां निरूप्य प्रमेयगताऽसम्भावनां निरूपयितुं विभजते—प्रमेयेति। केयमनात्मगताऽसम्भावनेत्याकाङ्क्षायामाह—स्थाणुर्वेति। अयं साधारणदर्शनजो विशेषदर्शनेन निवर्त्तते इति द्रष्टव्यम्। विप्रतिपत्तिजन्यात्मसंशयोऽनेकप्रकार इत्याह—आत्मेति। विरुद्धार्थप्रतिपादकानेकवचनं विप्रतिपत्तिः। सा भाष्यकारेण निरूपिता—"देहमात्रं चैतन्यविशिष्टमात्मेति प्राकृता लोकायतिकाश्च प्रतिपन्नाः। इन्द्रियाण्यात्मेत्यपरे[1]। मन आत्मेत्यन्ये[2]। क्षणिकं[3] विज्ञानमात्मेत्यपरे। शून्यमात्मेत्यपरे[4]। देहेन्द्रियादिव्यतिरिक्तः[5] संसारी कर्त्ता भोक्तेत्यन्ये[6]। आत्मा तु केवलं भोक्ता न तु कर्त्तेत्येके[7]। तदन्यः[8] सर्वज्ञः सर्वशक्तिरीश्वर इति केचित्। आत्मा तु भोक्ता स इत्येके[9]। एवं बहवो विप्रतिपन्ना" इत्येवम्। विप्रतिपत्तिवशाज्जायमानमनेकप्रकारमात्मसंशयं दर्शयति—तथाहीत्यादीति।

•

अभिप्राय यह है कि 'प्रमात्व की उत्पत्ति में तथा ज्ञान में' यदि 'स्वतस्त्व' स्वीकार करोगे तो 'यह जलज्ञान 'प्रमा' है अथवा 'अप्रमारूप है ? यह संशय नहीं होना चाहिये। क्योंकि 'स्वतस्त्ववादी' के अनुसार 'ज्ञान' का 'प्रमात्व' (प्रामाण्य), 'साक्षीचैतन्य' से गृहीत होने के कारण निश्चित ही है, तब निश्चित अर्थ में संशय होना उचित नहीं है।

इस पर कह सकते हैं कि अनभ्यासदशा में संशय के उत्पादक जो असंभावना, विपरीत भावना आदि दोष हैं, उन दोषों से घटित रहने वाली संशयसामग्री, उस 'प्रमात्वग्राहकसामग्री से प्रबल है। उस कारण अनभ्यासदशापन्न जलज्ञान में 'प्रमात्व' का निश्चय नहीं हो पाता अर्थात् अनिश्चय रहता है। अतः प्रमात्व में संशय का होना संभव है। इस प्रमासंशय को निवृत्ति, 'प्रमात्व' की उत्पत्ति तथा ज्ञप्ति में 'स्वतस्त्व' का निश्चय होने से हो जाती है। इस प्रकार यह प्रमाणसंशय समझाया गया।

अब 'करणसंशय' निरूपण करते हैं—'तत्त्वमसि'—आदि वेदान्तवाक्यप्रतिपादित 'अद्वितीय ब्रह्म' के होने में कोई 'प्रमाण' है अथवा नहीं ?—इस प्रकार की वेदान्तवाक्यरूप प्रमाण में जो 'असंभावना' होती है, इसी को 'करणसंशय' कहते हैं। यह 'करण-गत' 'असंभावना' (करणसंशय), किससे निवृत्त होती है ? वह 'करणगत संशय; ब्रह्मनिष्ठगुरू के मुख से वेदान्तशास्त्र के श्रवण करनेपर निवृत्त हो जाता है।

शंका—यदि करणगत संशय की निवृत्ति, वेदान्तश्रवण से होती है, तो 'श्रवण' का निरूपण करना चाहिये।

समा०—'श्रवण' के स्वरूप को द्वितीय परिच्छेद में तात्पर्य निरूपण के प्रसंग से बता चुके हैं।

शंका—वेदान्त के श्रवण से 'करणगत संशय' की निवृत्ति होती है, यह कैसे ज्ञात हुआ ?

समा०—शारीरक मीमांसा के प्रथम अध्याय के अध्ययन से वह ज्ञात होता है।

यहाँ तक 'प्रमाणगत असंभावना' के दो प्रकारों को बताया गया।

अब 'प्रमेयगत असंभावना' का निरूपण करने के लिये उसका विभाग बताते हैं—प्रमाणजन्य ज्ञान का जो 'विषय' होता है, उसे 'प्रमेय' कहते हैं। उस 'प्रमेय' में जो 'संशय' उत्पन्न होता है, उसे 'प्रमेयसंशय' कहते हैं। वह 'प्रमेयगत संशय' भी (१) अनात्मगत संशय और (२) आत्मगतसंशय'—के भेद से दो प्रकार का होता है। इनमें से 'अनात्मरूप जो स्थाणु आदि हैं, उनको देखकर 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा'—इत्याकारक जो 'संशय' होता है, उसे 'अनात्मगत संशय' कहते हैं। यह 'अनात्मगत संशय', 'साधारण धर्म' के दर्शन से उत्पन्न होता है। जैसे—स्थाणु तथा पुरुष के साधारणधर्म (साढे तीन हाथ परिमाण का उँचाई) को देखकर यह संशय उत्पन्न होता है। किन्तु 'स्थाणु' आदि के 'असाधारण-धर्मज्ञानरूप विशेष दर्शन' से उस संशय को

---

१. इन्द्रियाण्येव चेतनान्यात्मेत्यपर इति भाष्यपाठः। २. भाष्येऽत्रात्मपदं न। ३. विज्ञानमात्रं क्षणिकमिति भाष्ये। ४. आत्मपदं नास्ति भाष्ये। ५. अस्तीति पदमधिकं भाष्ये। ६. अपर इति भाष्ये। ७. भोक्तैव केवलं न कर्तेत्येक इति भाष्ये। ८. अस्ति तद्व्यतिरिक्त ईश्वर इति भाष्ये। ९. आत्मा स भोक्तुरित्यपर इति भाष्यपाठः।

वा न वेत्यादि जीवगतः संशयः, जीवस्य सच्चिदानन्दरूपत्वेऽपि परमात्मना सहैक्यं सम्भवति न वा, ऐक्येऽपि तज्ज्ञानं मोक्षसाधनं न वा, मोक्षसाधनत्वेऽपि तज्ज्ञानं कर्म्मसमुच्चितं मोक्षसाधनं वा केवलज्ञानं वेत्यैक्यगतसंशयः। अयं सर्वोऽपि संशयो मननेन तर्कात्मकेन निवर्त्तते ॥८॥

•

"सलिल एको द्रष्टाऽद्वैत"इत्यादि श्रुत्याऽद्वैतात्मावगम्यते। स चोपाधिभेदाद्द्विविधः—परमात्मा जीवात्मा चेति। तत्र मायोपाधिकः परमात्मा। स्थूलसूक्ष्मकारणशरीरोपाधिको जीवात्मा, स एव कर्त्ता भोक्ता च उपाधिविवेके, न द्वयं किन्तु शुद्धोऽद्वैतो भवति। तदुक्तम्—

"जीवात्मा परमात्मा चेत्यात्मा द्विविध ईरितः। चित्तादात्म्यात्त्रिभिर्देहैर्जीवः सन् भोक्तृतां व्रजेत् ॥
परमात्मा सच्चिदानन्दस्तादात्म्यं नामरूपयोः। गत्वा भोग्यत्वमापन्नस्तद्विवेके तु नोभयम्" ॥

•

'निवृत्ति' होती है। 'स्थाणु' की 'स्थाणुता' का निश्चय कराने वाले जो वक्र कोटरादिक हैं, वे 'स्थाणु' के 'असाधारणधर्म' हैं। और 'पुरुष' का निश्चय करानेवाले जो हाथ, पैर, शिर आदि अवयव हैं, वे 'पुरुष' के 'असाधारणधर्म' हैं। इन असाधारण धर्मों के ज्ञान से उक्त 'संशय' की निवृत्ति हो जाती है। यहाँतक 'अनात्मगत संशय' और उसकी निवृत्ति के उपाय बता दिये।

अब 'आत्मगत संशय' को बताते हैं—यह 'आत्मगत संशय' 'विप्रतिपत्तिजन्य' होता है। अतएव 'अनेक प्रकार' का होता है। वादियों के परस्पर विरुद्ध अर्थ के प्रतिपादक वचनों को 'विप्रतिपत्ति' कहते हैं। इस विप्रतिपत्ति को भगवान् भाष्यकार के वर्णनानुसार ही बता रहे हैं। (१) प्राकृत और लोकायतिकों (चार्वाकों) का कहना है कि चैतन्यविशिष्ट जो यह स्थूलदेह है, वही 'आत्मा' है।

(२) कुछ अन्य लोगों का कहना है कि 'इन्द्रिय' ही 'आत्मा' है।
(३) कुछ अन्य लोग कहते हैं कि 'मन' ही 'आत्मा' है।
(४) कुछ लोगों का कहना है कि क्षणिक विज्ञान ही आत्मा है।
(५) इनके अतिरिक्त अन्य लोग कहते हैं कि 'शून्य' ही आत्मा है।
(६) कुछ अन्य लोग कहते हैं देह तथा इन्द्रियादिकों से भिन्न, संसारी, कर्ता, भोक्ता 'आत्मा' है।
(७) कुछ लोग कहते हैं कि 'आत्मा' केवल 'भोक्ता' ही है, 'कर्ता' नहीं है।
(८) कतिपय लोगों का कथन है कि कर्ता, भोक्ता से भिन्न सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ईश्वर ही 'आत्मा' है।
(९) कुछ अन्य लोग कहते हैं कि 'उपाधि' के सम्बन्ध से कर्ता, भोक्ता रहने पर भी 'आत्मा' तो वस्तुतः सिद्ध ही है।
इस प्रकार से विप्रतिपन्न विचार वाले कितने ही लोग, बिप्रतिपत्तिवशात् आत्मा के विषय में अनेक प्रकार के संशयों से ग्रस्त हैं।

'सलिल एको द्रष्टाऽद्वैत' इत्यादि श्रुति से 'आत्मा', यद्यपि वास्तव में 'एक, अद्वितीय' है। तथापि 'उपाधि' के भेद से परमात्मा और (२) जीवात्मा के भेद से वह दो प्रकार का माना गया है। उनमें से 'मायोपाधिक परमात्मा है अर्थात् महावाक्य में स्थित 'तत्' पद की अर्थरूप 'माया' से उपहित जो 'ब्रह्म', उसी का नाम 'परमात्मा' है। उसी प्रकार—'स्थूल-सूक्ष्म-कारण शरीरोपाधिको जीवात्मा'—'त्वम्' पद के अर्थरूप जो तीन शरीर हैं, उनसे उपहित जो चैतन्य है, उसी का नाम 'जीवात्मा' है। वही, उपाधि के अविवेक से कर्ता भोक्ता दोनों है, तथापि वह शुद्ध, अद्वैत है। एवञ्च पूर्वोक्त 'परमात्मा', 'तत्' पद का अर्थ है। उस तत् पदार्थरूप परमात्मा में अनेक प्रकार के संशय प्रदर्शित करते हैं—वह 'ब्रह्म', अद्वितीय है अथवा सद्वितीय है ? अद्वितीय रहने पर भी वह 'ब्रह्म', 'आनन्दगुण' से युक्त है अथवा 'आनन्दस्वरूप' है ? तथा वह 'ब्रह्म', 'ज्ञानगुण' से युक्त है, अथवा 'ज्ञानस्वरूप' है ? तथा वह 'ब्रह्म', 'सत्ताजाति' से युक्त है, अथवा 'सत्तास्वरूप' है ? तथा वह 'ब्रह्म', 'सगुण' है अथवा 'निर्गुण' है ?—इत्यादि अनेक प्रकार के संशय, 'तत् पदार्थ ब्रह्म' में होते रहते हैं।

अब 'त्वंपदार्थ जीवात्मा' में भी अनेक प्रकार के संशय दिखाते हैं—यह 'आत्मा', 'देह' तथा 'इन्द्रियादिकों' से भिन्न है, अथवा नहीं ? देहेन्द्रियादिकों से भिन्न रहने पर भी वह आत्मा, 'कर्ता' है अथवा 'अकर्ता' है ? और 'अकर्ता' रहने पर भी वह आत्मा, 'चिद्रूप' है अथवा 'अचिद्रूप' है ? और 'चिद्रूप' रहने पर भी वह 'आत्मा', 'आनन्दरूप' है अथवा नहीं ?

तर्को नामानिष्टप्रसङ्गः। व्याप्यारोपेण व्यापकापादानमिति यावत्। व्याप्त्याश्रयो व्याप्यं, व्याप्तिनिरूपकं व्यापकम्। तथा च यदि प्रपञ्चः सत्यस्स्यात्तर्हि अद्वितीयश्रुतिविरोधः स्यात्[1] ॥९॥

●

एवञ्च पूर्वोक्तः परमात्मा तत्पदार्थः। जीवस्त्वं पदार्थः। ततस्तत्पदार्थस्य परमात्मनः संशयमनेकप्रकारं दर्शयति—ब्रह्मेति। आदिशब्देन ज्ञानगुणकं वा ज्ञानस्वरूपं वा सत्ताजातिमद्वा सत्तास्वरूपं वा सगुणं वा निर्गुणं वेत्यादिसंशया गृह्यन्ते। त्वंपदार्थे संशयमनेकप्रकारं दर्शयति—आत्मेति। आदिशब्देनेन्द्रियादयो गृह्यन्ते। अत्राप्यादिशब्देन परिणामी वा कूटस्थो वा सत्ताजातिमान् वा सद्रूपो वेत्यादिसंशया गृह्यन्ते ?

एवं पदार्थसंशयं प्रदर्श्य वाक्यार्थे संशयमाह—जीवस्येति।

इदानीं मोक्षसाधने संशयं दर्शयति—ऐक्येऽपीति। ऐक्यगतेति। ऐक्यगतस्तज्ज्ञानगतः संशयः। अयं संशयः कस्मान्निवर्त्तत इत्याह—अयमिति ॥ ८ ॥

ननु कोऽयं तर्को येन सर्वोऽपि संशयो निवर्त्तते ? तत्राह—तर्को नामेति। प्रसञ्जयतीति प्रसङ्गः, अनिष्टप्रसञ्जक इत्यर्थः। तमेव विवृणोति—व्याप्येति। व्यापकेति व्यापकप्रसञ्जनमित्यर्थः। ननु किं तद्व्याप्यं, किं तद्व्यापकमित्याकाङ्क्षायां तदुभयं व्युत्पादयति—व्याप्तीति व्याप्तिं निरूपयति—ज्ञापयतीति[2]। व्याप्तिनिरूपकं व्याप्तिप्रतियोगीत्यर्थः। व्याप्तिः पूर्वमेव निरूपिता इति भावः।

एवं तर्कं निरूप्य बहूंस्तर्कांस्तत्तत्संशयनिवर्त्तकानुदाहरति—तथाचेति। प्रपञ्चस्य सत्यत्वे जडाजडयोरैक्यायोगात्परमात्मनोऽद्वितीयत्वसाधकं तर्कमुदाहरति—यदीति। नच भेदश्रुतिविरोधादद्वितीया[3] श्रुतेरन्यपरतया न तद्विरोध इति वाच्यम्।

●

आनन्दरूप रहने पर भी वह आत्मा, 'परिणामी' है अथवा 'कूटस्थ' है ? और कूटस्थ रहने पर भी वह 'आत्मा' 'सत्ताजाति' से युक्त है अथवा 'सत्तारूप' है ? इस प्रकार के अनेक संशय, 'तत्'—'त्वम्' पदार्थरूप 'आत्मा' और 'जीव' के विषय में होते हैं।

इस रीति से 'पदार्थ-संशय' को प्रदर्शित कर 'वाक्यार्थ' में भी संशय का प्रदर्शन करते हैं—यह 'जीवात्मा'—'सत्-चित्-आनन्दरूप' होते हुए भी 'परमात्मा' के साथ इस 'जीवात्मा की 'एकता' सम्भव हो सकती है अथवा नहीं ?

अब 'मोक्षसाधन' में भी संशय दिखाते हैं—'जीव-ब्रह्म' की एकता रहने पर भी वह 'एकता का ज्ञान' 'मोक्ष' का साधन है अथवा नहीं ? और वह 'ऐक्यज्ञान' मोक्ष का साधन होने पर भी वह 'ज्ञान', 'कर्मसहित' होकर 'मोक्ष' का साधन है अथवा 'केवल ज्ञान', मोक्ष का साधन है ? इत्यादि संशय, 'आत्मगतसंशय' कहलाते हैं। यह ऐक्यगत ज्ञानगत संशय है।

यह संशय, किससे निवृत्त होता है। उसे बताते हैं—ये सभी आत्मगत संशय, 'तर्क' रूप मनन से निवृत्त होते हैं ॥ ८ ॥

शङ्का—यह 'तर्क' क्या है, जिससे सम्पूर्ण संशय निवृत्त होता है ?

समा०—उस पर कहते हैं—जो 'युक्ति' प्रतिवादी के अनिष्ट को सिद्ध करती है, उस युक्ति को 'तर्क' कहते हैं। अर्थात् 'व्याप्य' का आरोपण करके जो 'व्यापक' का आपादन करता है, उसे 'तर्क' कहते हैं। 'व्याप्ति' के आश्रय को 'व्याप्य' कहते हैं, और 'व्याप्ति' के 'निरूपक' को 'व्यापक' कहते हैं। जैसे 'पर्वत' पर 'धूम' को देखकर भी जो प्रतिवादी उस 'पर्वत' पर 'अग्नि' को नहीं स्वीकार कर रहा है, उस प्रतिवादी के प्रति इस प्रकार का 'तर्क' किया जाता है। 'धूम' और 'वह्नि' का 'कार्य-कारणभाव' लोकप्रसिद्ध है। 'कारण' के बिना 'कार्य' नहीं होता—यह भी लोग जानते हैं। उस कारण 'पर्वते यदि वह्निर्न-स्यात् तर्हि धूमोऽपि न स्यात्'—पर्वत में यदि 'वह्नि' न हो तो वह्नि का कार्य धूम भी नहीं होगा—किन्तु 'पर्वत पर धूम का अभाव' प्रतिवादी को अनिष्ट है। प्रतिवादी के इस अनिष्ट की सिद्धि उक्त तर्क से की गई है। उक्त तर्क में 'वह्न्यभावरूप व्याप्य' का आरोप करके 'धूमाभावरूप व्यापक' का आपादन किया गया है।

इस प्रकार 'तर्क' को बताकर तत्तत्संशयनिवर्तक अनेक तर्कों के उदाहरणों को प्रस्तुत कर रहे हैं। पहले आत्मसंशय के निवर्कक तर्क को बता रहे हैं। उन तर्कों में भी प्रथम 'तत्पदार्थरूप परमात्मा के अद्वितीयत्व का साधक तर्क बता रहे हैं

१. एषां तर्काणां व्यवहितेन (अनु० ११) 'इत्यादिव्याप्यारोपेण' इत्यादिनान्वयः।

२. मूले कश्चन् पाठो भवेद्।

३. अद्वितीयबोधिका श्रुतिरप्यद्वितीया। अद्वितीयश्रुतेरिति पाठः स्यात्।

यदि परमात्मा जीवभिन्नः स्यात् तर्हि घटादिवदनात्मत्वेनानित्य एव स्यात् ॥१०॥

●

फलवत्यज्ञातेऽर्थे श्रुतेस्तात्पर्यनियमादद्वैतस्याज्ञातत्वेन तज्ज्ञानान्निरतिशयपुरुषार्थसम्भवेन वाऽद्वैते श्रुतितात्पर्य्यस्य युक्तत्वान्न तच्छ्रुतेरन्यपरत्वं, भेदस्य मानान्तरसिद्धत्वेन तत्प्रतिपादकश्रुतेरनुवादकतयाऽप्रामाण्यप्रसङ्गात्। "उदरमन्तरं कुरुतेऽथ तस्य भयम्भवती"ति भेददर्शिनोऽनर्थश्रवणात्। "अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मी"ति 'न स वेद यथा पशुरि'ति भेदस्य निन्दितत्वाच्च श्रुतेस्तत्र तात्पर्यं न सम्भवत्येवातो अद्वैतश्रुतेरतत्परत्वेन दुर्वलत्वाद् अद्वैतश्रुतेस्तत्परत्वेन बलवत्त्वाद्बलवद्विरोधोऽनुपपन्न इति प्रपञ्चस्य सत्यत्वमनुपपन्नम्। एवञ्च ब्रह्मणः पारमार्थिकत्वमद्वितीयत्वमनेन तर्केण सिद्धतीति भावः ॥ ९ ॥

जीवपरमात्मैक्यसंशयनिवर्त्तकं तर्कमुदाहरति—**यदि परमात्मेति**। नच परमात्मैव नास्ति यस्यानित्यत्वमापद्येतेति वाच्यम्। श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणैस्तस्यावश्यमभ्युपेयत्वात्। ननु "आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानामि"ति जैमिनिना कृत्स्नस्य वेदस्य विधिनिष्ठतया प्रामाण्यस्य प्रतिपादितत्वादीश्वरप्रतिपादकश्रुतीनां तद्विरुद्धतया स्वार्थे प्रामाण्यायोगात् कथं तद्बले-

●

यदि 'आकाशादि प्रपञ्च' को सत्य कहें तो 'ब्रह्म' को अद्वितीय बतानेवाली 'एकमेवाऽद्वितीयं ब्रह्म' श्रुति से विरोध होगा। अर्थात् सद्वितीय ब्रह्म को अद्वितीय कहने वाली वह श्रुति, मिथ्यावादी होने से अप्रमाण कहलाएगी। किन्तु आस्तिकवादी, श्रुति को कभी भी अप्रमाण नहीं कह सकता। श्रुति का अप्रामाण्य (अप्रमाणता) आस्तिकवादी की दृष्टि से अनिष्ट है। इसलिए प्रपञ्च को 'मिथ्या' ही मानना चाहिये। प्रपञ्च को मिथ्या मानने पर ही अद्वैतश्रुति से विरोध नहीं हो पाता।

शङ्का—ब्रह्म को अद्वितीय मानने पर तो भेदप्रतिपादक श्रुतियों से विरोध होता है। अतः उन श्रुतियों के साथ विरोध होने के कारण वह 'अद्वैतश्रुति'—अद्वैत का प्रतिपादन नहीं कर रही है, अपितु किसी अन्य पदार्थ का ही प्रतिपादन कर रही है, यह मानने पर 'प्रपञ्च' की सत्यता स्वीकार करने में भी कोई किसी प्रकार का विरोध नहीं होगा।

समा०—श्रुति का तात्पर्य उसी अर्थ में होता है, जो 'इष्टफल' का हेतु हो तथा प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अज्ञात हो। इस नियम के अनुसार 'अद्वैत' अर्थ, 'प्रत्यक्षादिप्रमाणों' से 'अज्ञात' है, तथा उस 'अद्वैत ब्रह्म' के ज्ञान से अधिकारी पुरुष, 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति', 'तरति शोकमात्मवित्'—इत्यादि श्रुतियों से प्रतिपादित निरतिशय मोक्षरूप पुरुषार्थ को भी प्राप्त होता है। अतः अन्य किसी अर्थ में श्रुति के तात्पर्य की कल्पना करना सम्भव नहीं है। और 'भेद' (द्वैत) रूप अर्थ, तो 'प्रत्यक्षादि' प्रमाण से 'ज्ञात' भी है, तथा 'भेदज्ञान' से किसी 'इष्टफल' की प्राप्ति भी नहीं होती। प्रत्युत श्रुतियों ने उस 'भेददर्शी पुरुष' को 'अनर्थ' की प्राप्ति होना बताया है। और भेददर्शी पुरुष को पशु के तुल्य बताकर 'भेद' की निन्दा की है। अतः 'भेद' रूप अर्थ में श्रुति के तात्पर्य की कल्पना करना सम्भव नहीं है।

यदि उस श्रुति को भेदप्रतिपादक ही कहा जाय तो वह प्रत्यक्षप्रमाण से सिद्ध रहनेवाले 'भेद' की अनुवादक ही कहलाएगी, तब उस श्रुति को 'अप्रमाण' ही मानना होगा।

किञ्च—'अद्वैतार्थप्रतिपादक श्रुति' तो 'फलवान्, अज्ञात अर्थ' की बोधक होने से 'प्रबल' है, और फलशून्य-ज्ञात अर्थ को प्रतिपादक होने से 'द्वैतार्थ (भेद अर्थ) 'श्रुति', 'दुर्बल' है। व्यवहार में देखा करते हैं कि 'प्रबल' से ही 'दुर्बल' का बाध होता है, 'दुर्बल' से 'प्रबल' का बाध नहीं हुआ करता। अतः 'भेदश्रुति' के विरोध को देखकर अद्वैतश्रुति को अन्यपरक कहना नितान्त अनुचित होगा। प्रत्युत अद्वैतश्रुति के विरोध के कारण 'भेदश्रुति' को ही अन्यपरक बनाया जा सकता है। एवञ्च अद्वैतश्रुति के विरोध से 'प्रपञ्च' में सत्यता की कल्पना करना असम्भव है। इस प्रकार से 'ब्रह्म' का 'अद्वितीयत्व', तथा 'पारमार्थिकत्व', 'तर्क' के बलपर सिद्ध होता है। उस कारण 'ब्रह्म' अद्वितीय है अथवा सद्वितीय है इत्याकारक संशय की निवृत्ति 'तर्करूप मनन' से होती है ॥ ९ ॥

यदि 'तत्' पदार्थरूप परमात्मा को 'त्वम्' पदार्थरूप जीवात्मा से भिन्न कहें तो 'घट' आदि के समान अनात्मभाव (जड होने) के कारण उसे अनित्य कहना होगा। उसे अनित्य कहने पर परमात्मा के नित्यरूप का प्रतिपादन करने वालीं श्रुति-स्मृतियों से तथा पुराण-इतिहास के वचनों से विरोध प्राप्त होगा।

किञ्च—जीव और ब्रह्म का भेद मानने पर जीव और ब्रह्म के अभेद-प्रतिपादक श्रुति-स्मृतियों के वचनों से विरोध होगा। किन्तु उनसे विरोध होना तो किसी को भी अभीष्ट नहीं है। अतः जीवात्मा को ब्रह्म (परमात्मा) से अभिन्न ही मानना

नैतदभ्युपगमः ? नचेश्वरप्रतिपादकश्रुतेरध्ययनविधिपरिगृहीतत्वेन कथमप्रामाण्यमिति वाच्यम्। कर्त्रादिस्तावकतया विध्यपेक्षित-देवतादिप्रकाशनपरत्वेन वा विधिपरत्वेन प्रामाण्योपपत्तेः। नच भिन्नप्रकरणनिष्ठानां कथं कर्मविधिपरत्वमिति वाच्यम्। तर्ह्युपासनाविधिपरत्वोपपत्तेः। न चोपासनाविधिशेषत्वेन परमात्मनः सिद्धत्वात्कथं तदभाव इति वाच्यम्। "असावादित्यो देवमधु"रित्यादिनादित्ये मधुत्वोपासनवज्जीवेऽविद्यमानारोप्योपासनोपपत्तेः। परमात्मप्रतिपादकश्रुतीनां तत्प्रतिपादने प्रवृत्ति-निवृत्त्योरसम्भवेन तत्र सङ्गतिग्रहायोगात्। परमात्मनः सिद्धवस्तुत्वेनापरिच्छिन्नतया हेयोपादेयशून्यतया च तत्प्रतिपादनफला-भावाच्च। तस्माद्वेदनमात्रस्य विधिपरत्वेन प्रामाण्यमभ्युपगन्तव्यम्। तस्मात्कथं श्रुत्यादिभिः परमात्माभ्युपगमोऽस्तो निर्विषयोऽयं तर्क इति ?

अत्रोच्यते—परमात्मावश्यमभ्युपगन्तव्यः। नच तत्र प्रमाणाभावः। श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणानां सत्त्वात्। तथा हि

"सदेव सोम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम्" "सत्यं ज्ञानमनन्तम्ब्रह्म" "विज्ञानमानन्दम्ब्रह्म" "यः सर्वज्ञः स सर्व-विद्यस्य ज्ञानमयं तपः" "एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्यामी" "यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरोऽयं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरोऽयमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः" "ब्रह्म वा इदम आसीत्" "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्"

"यद्वेदादौ स्वरः प्रोक्तो वेदान्ते च प्रतिष्ठितः। तस्य प्रकृतिलीनस्य यः परः स महेश्वरः॥"
"नारामणः परम्ब्रह्म तत्त्वं नारायणः परम्। नारायणः परं ज्योतिरात्मा नारायणः परम्॥"
"ऋतं सत्यं परम्ब्रह्म पुरुषं कृष्णपिङ्गलम्। ऊर्ध्वरेतं विरूपाक्षं विश्वरूपाय वै नमः॥"

•

चाहिये। 'यदि जीवात्मा, परमात्मनः अभिन्नो न स्यात् तर्हि श्रुति-स्मृत्यविरोधोऽपि न स्यात्'—इस तर्क से परमात्मा-जीवात्मा के भेदाभेद का संशय (जीव-परमात्मैक्यसंशय) निवृत्त हो जाता है।

शङ्का—यदि दोनों में भेद मानने से परमात्मा में अनित्यत्वापत्ति होती है तो परमात्मा को ही न माना जाय। उसे न मानने पर अनित्यत्व का प्रश्न ही नहीं उठेगा।

समा०—उक्त आशंका नितान्त अनुचित है, क्योंकि श्रुति-स्मृति-पुराण-इतिहास में उसकी अवश्य अभ्युपेयता बताई गई है।

शङ्का—जैमिनिमुनि ने सम्पूर्ण वेद का प्रामाण्य, उसके विधिनिष्ठ होने के कारण बताया है। अतः उसके विरुद्ध रहने वाली ईश्वरप्रतिपादक श्रुतियों का स्वार्थ में प्रामाण्य कैसे माना जा सकेगा ? अतः श्रुति के बल पर ईश्वर का अभ्युपगम करना उचित नहीं है।

यदि ईश्वरवादी यह कहे कि ईश्वरप्रतिपादक श्रुति का परिग्रह 'अध्ययनविधि' (स्वाध्यायोऽध्येतव्यः) के द्वारा किये जाने के कारण उस श्रुति को अप्रमाण कैसे कह सकेंगे ?

उसपर अनीश्वरवादी का उत्तर यह है कि ईश्वर-प्रतिपादकश्रुति का प्रामाण्य, उसे कर्ता आदि की स्तावक मानकर अथवा विध्यपेक्षित देवता आदि की प्रकाशनपरक मानकर विधिपरक होने से उपपन्न हो सकता है। अतः श्रुति के अप्रामाण्य का प्रसङ्ग नहीं है।

इसपर ईश्वरवादी यदि यह कहे कि भिन्न प्रकरणगत श्रुति को कर्मविधिपरक कैसे कह सकेंगे ?

उसपर अनीश्वरवादी का उत्तर यह है कि उस श्रुति को उपासनाविधिपरक मानकर उसकी उपपत्ति की जा सकती है।

इस पर ईश्वरवादी का कहना है कि परमात्मा तो उपासना विधि का शेष (अङ्ग) होने से उसका अभाव कैसे कहा जायगा ? उपासना में परमात्मा का अङ्गत्व तो सिद्ध ही है।

उसपर अनीश्वरवादी का उत्तर है कि श्रुति से 'आदित्य' में 'मधुत्वोपासना के समान 'जीव' में अविद्यमान रहनेवाली आरोप्य उपासना मानकर उपपत्ति हो सकती है। परमात्मप्रतिपादक श्रुतियों से ईश्वर का प्रतिपादन करने पर किसी प्रकार की प्रवृत्ति-निवृत्ति का होना संभव नहीं है, उस कारण प्रवृत्ति-निवृत्ति रूप क्रिया में उससे संगति-ग्रह (शक्तिज्ञान) का होना कदापि सम्भव नहीं है।

किञ्च—परमात्मा तो एक सिद्ध वस्तु रूप है, और वह अपरिच्छिन्न भी है, उस कारण वह हेयोपादेय शून्य भी है, ऐसे परमात्मा का प्रतिपादन करने से कोई फल नहीं है, अर्थात् उसका प्रतिपादन करना निष्फल है। अतः उसके वेदन मात्र

"तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवानां[1] परमञ्च दैवतम् ।
पतिं पतीनां प्रथमं पुरस्ता[2]द्विदाम देवं भुवनेशमीड्यम् ॥"

"स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यः" "स ईक्षाञ्चक्रे" "एतद्वै सत्यकाम परञ्चापरम्ब्रह्म" हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं स नो बुद्धया शुभया संयुनक्तु" "यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै । तं ह देवात्मा बुद्धिप्रकाशं[3] मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये" ।
सर्वाणि रूपाणि विचिन्त्य धीरो नामानि कृत्वाभिवदन् यदास्ते ।"

"उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः । परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषःपरः ॥"
"समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् । विनश्यत्स्वविनश्यन्तं य पश्यति स पश्यति ॥"
"उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः । ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ॥"
"आकाशमेकं हि यथा घटादिषु पृथक् पृथक् । तथात्मैकोऽप्यनेकः स्यात् जलाधारेष्विवांशुमान् ॥"
"क्षेत्रज्ञस्येश्वरज्ञानाद्विशुद्धिः परमा मता । ममान्तरात्मा तव च ये चान्ये देहिसंज्ञकाः ॥"
सर्वेषां साक्षिभूतोऽसौ न ग्राह्यः केनचित् क्वचित् । विश्वमूर्द्धा विश्वभुजो विश्वनासाक्षिबाहुकः ॥
"एकश्चरति भूतेषु स्वैरचारी यथा सुखम् । यदक्षरं परम्ब्रह्म य ईश्वरः परः पुमान् ॥"
गुणोर्मिसृष्टिस्थितिकालसंलयः प्रधानबुद्धयादिजगत्प्रपञ्चसूः ।स नोऽस्तु विष्णुर्मतिभूतिमुक्तिदः ॥
ब्रह्माक्षरमजं नित्यं यथासौ पुरुषोत्तमः । हिरण्यगर्भपुरुषप्रधानाव्यक्तरूपिणे ॥
ॐ नमोवासुदेवाय शुद्धज्ञानस्वभाविने ।
यस्याज्ञया जगत्स्रष्टा विरञ्चिः पालको हरिः । संहर्ता कालरुद्राख्यो नमस्तस्मै पिनाकिने ॥
अपुण्यपुण्योपरमोऽपुनर्भवनिर्भयाः । शान्ताः संन्यासिनो यान्ति तस्मै मोक्षात्मने नमः ॥"

•

(ज्ञानमात्र) को ही विधिपरक मानकर ही श्रुति का प्रामाण्य मान लेना उचित है । अतः श्रुति के बलपर 'परमात्मा' का स्वीकार कैसे किया जा सकेगा ? उस कारण आपका 'तर्क', विषयशून्य (निर्विषय) है ।

समा०—परमात्मा के स्वीकार करने में कोई प्रमाण नहीं है—यह कहना नितान्त अनुचित है, क्योंकि श्रुति-स्मृति-इतिहास पुराणों के सेकड़ों वचन उसके अस्तित्व को बता रहे हैं ।

श्रुति-स्मृति-इतिहास-पुराणों के सहस्रों वचन, उपक्रमोपसंहारादि षड्विध लिंगों के द्वारा नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव, सर्वशक्तिमान्, अनन्तकल्याणादिगुणों से सम्पन्न परमात्मा में ही अपने तात्पर्य का निश्चय करते हैं ।

किञ्च—उक्त वचनों का अर्थान्तर करना भी उचित नहीं है, अन्यथा श्रुतहानि—अश्रुतकल्पना का प्रसंग प्राप्त होगा । उक्त वचनों को भिन्न प्रकरणगत होने से कर्ता आदि का स्तावक भी नहीं कह सकते । उक्त वचनों को उपासनाविधिपरक भी नहीं कह सकते, क्योंकि उनमें उपासना के विधान का श्रवण नहीं हो रहा है । "आत्मावारे द्रष्टव्यः"—इस वचन को सुनकर उक्त वचनों को ज्ञानविधिपरक भी नहीं कह सकते, क्योंकि ज्ञान का प्रामाण्य, परतन्त्र रहने से उसमें 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम्' शक्ति को बताना संभव नहीं हो सकेगा । इसलिये उक्त वचनों को ज्ञानविधिपरक कहना उचित नहीं है ।

शंका—इस पर अनीश्वरवादी कह सकता है कि उक्त वचनों को विधिपरक न मानने पर प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप क्रिया का होना संभव न रहने से सङ्गतिग्रह (शक्तिग्रह) न हो पाने के कारण श्रुति-स्मृत्यादि के वचनों में अप्रामाण्य प्राप्त होगा ।

समा०—ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये । 'पुत्रस्तेजातः' यह वाक्य सुनने पर पिता के मुखमण्डल पर जो हर्षोल्लास चमकने लगता है, उसी से समीप स्थित भाषानभिज्ञों को अनुमान हो जाता है, और पुत्रादि शब्दों का संगतिग्रह जैसे हो जाता है, उसी तरह यहाँ भी उपपत्ति हो सकती है । अतः अप्रामाण्य की आपत्ति नहीं हो सकती ।

शंका—इस पर अनीश्वरवादी कह सकता है कि नदी किनारे पाँच फल हैं—की तरह वेदान्तवाक्यों को सिद्धार्थपरक मानने पर उनमें अप्रामाण्य होगा, और परमात्मा अपरिच्छिन्न होने से उसमें हेयोपादेयता के न रह सकने से आनर्थक्य भी होगा ।

समा०—परमात्मा का ज्ञान, किसी अन्य प्रमाण से न हो सकने से वह अज्ञात है । अज्ञात होने से उसका ज्ञान, वेदान्तवाक्य करा देते हैं, उससे परमपुरुषार्थ की प्राप्ति होती है । अतः परमात्मप्रतिपादक वेदान्तवाक्यों का प्रामाण्य सिद्ध है । एवं च

---

१. देवतानामिति श्रुतौ श्रूयते । २. परमंपरस्तादिति दृश्यते । ३. देवमात्मबुद्धिप्रकाशमिति श्रुतौ वर्तते ।

इत्यादि श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणवचनसहस्राणि नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं सर्वशक्तिमनन्तकल्याणगुणकं परमात्मानमुपक्रमोपसंहारादिलिङ्गनिश्चिततात्पर्य्याणि प्रतिपादयन्ति। न चैषामर्थान्तरता युक्ता श्रुतहान्यश्रुतकल्पनाप्रसङ्गात्। नचैषां कर्त्रादिस्तावकत्वं; भिन्नप्रकरणस्थत्वात्। नचोपासनाविधिपरत्वं तच्छ्रवणात्। नचा"त्मा वारे द्रष्टव्य" इत्यादिश्रवणात् ज्ञानविधिपरत्वं, ज्ञानस्य प्रमाणवस्तुपरतन्त्रतया कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथा कर्त्तुमशक्यत्वेन विधेयत्वायोगात्।

न चैषां विधिपरत्वानङ्गीकारे प्रवृत्तिनिवृत्त्योरसम्भवेन सङ्गतिग्रहायोगादप्रामाण्यापत्तिरिति[1] वाच्यम्। 'पुत्रस्ते जात' इति वाक्यश्रवणानन्तरं हर्षादिनानुमानेन पुत्रादिपदानां सङ्गतिग्रहदर्शनात्। तथात्रापि तदुपपत्तेर्नाऽप्रामाण्यापत्तिः। न च नद्यास्तीरे पञ्च फलानि सन्तीत्यादिवद्वेदान्तानां सिद्धार्थपरत्वेनाप्रामाण्यं तत्प्रतिपाद्यपरमात्मनोऽपरिच्छिन्नत्वेन हेयोपादेयत्वाभावेनानर्थक्यञ्चेति वाच्यम्। परमात्मनो मानान्तरायोग्यतयाऽज्ञातत्वेन तज्ज्ञानात् परमपुरुषार्थसम्भवेन च तत्प्रतिपादकवेदान्तानां प्रामाण्यप्रयोजनवत्त्वोपपत्तेः।

किञ्च ज्ञानविधिपरत्वे वेदान्तानां विधेयज्ञानसाध्यस्य मोक्षस्य स्वर्गादेरिवानित्यत्वं प्रसज्येत अदृष्टजन्यभावकार्य्यस्यानित्यत्वनियमात्। न च तदिष्टम्। सर्वे मोक्षवादिनो मोक्षं नित्यमभ्युपगच्छन्ति। ततश्च सर्वतन्त्रविरोधः प्रसज्येत। "अनावृत्तिः शब्दादि"ति सूत्रविरोधश्च। तस्मादयुक्तमेतत्। अपि च मोक्षो नाम ब्रह्मभावो वाऽज्ञाननिवृत्तिर्वा, सर्वथापि तस्य ज्ञानैकसाध्यत्वेन विधेयज्ञानजन्यापूर्वस्यानुपयोगान्निरर्थको ज्ञानविधिः।

किञ्च मोक्षस्योत्पत्त्याद्यसम्भवेन ज्ञानैक्यव्यङ्ग्यतया ज्ञानविधिर्निरर्थकः। उत्पत्त्याद्यन्यतमस्य विधिफलत्वात्। अभिव्यक्तिस्तु प्रमाणजन्येन केवलज्ञानेनापि सम्भवति।

•

वेदान्तवाक्यों में प्रामाण्य की सिद्धि होना—यह प्रयोजन भी सिद्ध है। अतः वेदान्तवाक्य सप्रयोजन होने से उन्हें अनर्थक नहीं कहा जा सकता।

किञ्च—वेदान्त वाक्यों को विधिपरक मानने पर विधेय जो ज्ञान, उससे 'मोक्ष' साध्य होगा, तब 'स्वर्ग' आदि फलों की तरह उसे भी अनित्य कहना होगा। क्योंकि जो अदृष्टजन्य भाव कार्य होता है, वह अनित्य हुआ करता है—यह नियम है। 'मोक्ष' फल को अनित्य कहना किसी को अभीष्ट नहीं होगा, क्योंकि सभी मोक्षवादी उसे 'नित्य' मानते हैं। ऐसी स्थिति में उसे अनित्य कहने पर एक तो 'सर्वतन्त्रविरोध' होगा, और 'अनावृत्तिः शब्दात्'—इस सूत्र से विरोध भी होगा। इसलिये वेदान्तवाक्यों को विधिपरक कहना उचित नहीं है।

अपिच—'ब्रह्मभाव' को प्राप्त करना—'मोक्ष' है, अथवा अज्ञान की निवृत्ति का होना—'मोक्ष' है। कुछ भी हो, वह 'ज्ञानैकसाध्य' ही है अर्थात् 'ज्ञान' के बिना 'मोक्ष' की प्राप्ति की आशा करना केवल स्वप्न देखने के तुल्य है। अतएव कहा गया है—'नहि ज्ञानादृते मुक्तिः', तथा 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' ॥ इति ॥

एवं च वह (मोक्ष), ज्ञानैकसाध्य होने से विधेयभूतज्ञानजन्य अपूर्व का 'मोक्ष' प्राप्ति में कोई उपयोग नहीं है। इसलिये 'ज्ञान' का विधान करना निरर्थक है, अर्थात् ज्ञानविधि, निरर्थक है।

किञ्च—मोक्ष की उत्पत्ति आदि का असंभव रहने से ज्ञानैक्यव्यङ्ग्य होने के कारण ज्ञानविधि को निरर्थक ही समझना चाहिये। क्योंकि विधि का फल तो उत्पत्ति आदिकों में से अन्यतम हुआ करता है। किन्तु—अभिव्यक्ति तो प्रमाण से जन्य होने के कारण केवल ज्ञान से भी संभव हो सकती है।

किञ्च—विधिवादी यह बतावे कि 'आत्मावारे द्रष्टव्यः'—से ब्रह्मज्ञान का विधान किया जा रहा है अथवा उसके साधनभूत 'श्रवणादि' का विधान बताया जा रहा है ?

उक्त वाक्य से ब्रह्मज्ञान का विधान तो किया नहीं जा सकता, क्योंकि 'ब्रह्म'—में विधेयज्ञान की विषयता का होना संभव नहीं है। श्रुति ने "ब्रह्म" में विदिक्रिया के 'कर्मत्व' का निषेध किया है।

इस पर विधिवादी कहता है कि 'ब्रह्म' में यदि 'ज्ञान' की विषयता नहीं है, तो प्रदेशान्तरविहित 'उपासना' की विषयता उसमें मान ली जाय।

१, एकमप्रामाण्यपदमधिकम्।

किञ्च ब्रह्मज्ञाने विधिराहोस्वित्तत्साधने श्रवणादौ वा ? नाद्यः, ब्रह्मणो विधेयज्ञानविषयत्वायोगात् । "अन्यदेव तद् विदितादथोऽविदितादधी"त्यादि श्रुत्या ब्रह्मणो विदिक्रियाकर्म्मत्वप्रतिषेधात् ।

किञ्चास्तु तर्हि प्रदेशान्तरविहितोपासनाकर्म्मत्वमिति चेदतिनिपुणमतिर्भवान् यतो ज्ञानाविषयस्योपासनाविषयत्वं ब्रवीति । किञ्च "यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते" इत्यादि श्रुतिरुपासनाकर्म्मत्वमपि तस्य निषेधति । अविषयत्वे ब्रह्मणः "शास्त्रयोनित्वादि"त्यधिकरणविरोध इति चेन्न । तन्निष्ठाज्ञाननिवर्त्तकत्वेन तद्विषयत्वोपचाराद-विरोधः ।

न द्वितीयः, इष्टापत्तेः । वेदान्तानां ब्रह्मणि महातात्पर्य्येऽप्यवान्तरतात्पर्य्येण श्रवणादिविध्युपगमे बाधकाभावात् ।

तस्माद्वेदान्तानां विधिपरत्वासम्भवात्, सङ्गतिग्रहसम्भवाच्च फलवदज्ञातार्थबोधकत्वेन प्रामाण्यसम्भवाच्च तन्मूलभूत-स्मृत्यादीनामपि तुल्यन्यायत्वाच्छ्रुत्यादिभिः परमात्माङ्गीकार्य्यः ।

किञ्च जडस्य कर्म्मणः फलदातृत्वायोगात् परमात्मावश्यमभ्युपगन्तव्यः । तदेतत् सर्वमभिप्रेत्य भगवद्बादरायणेनोक्तम्— "फलमत उपपत्ते"रिति ।

तस्मात् स परमात्मा यदि जीवभिन्नः स्यात्तर्हि घटादिवदनात्मत्वेनानित्य एव स्यात् । नच तदिष्टं नित्यत्वप्रतिपादक-श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणविरोधप्रसङ्गात् ।

•

यह सुनकर सिद्धान्ती, कहता है कि हे विधिवादिन् ! आप तो बहुत अधिक (आवश्यकता से अधिक) बुद्धिमान् प्रतीत हो रहे हैं ! क्योंकि जो 'ज्ञान' का भी विषय नहीं हो सकता, उसे आप 'उपासना' का विषय बता रहे हैं । इस तरह कहकर विधिवादी का उपहास सिद्धान्ती ने किया है ।

किञ्च—श्रुति ने उसमें (ब्रह्म में), उपासनाकर्मत्व का भी निषेध किया है । अर्थात् 'वह', उपासना का भी विषय नहीं है ।

उस पर विधिवादी कहता है कि 'ब्रह्म' को अविषय कहने पर 'शास्त्रयोनित्वात्' इस अधिकरण के साथ विरोध होगा । क्योंकि शास्त्रयोनित्वाधिकरण (ब्र० सू० १।१।३) के द्वितीय वर्णक में 'ब्रह्म' को केवल ऋग्वेदादिशास्त्रगम्य ही बताया है । अर्थात् वह प्रमाणान्तरवेद्य नहीं है ।

तब सिद्धान्ती कहता है कि तन्निष्ठ अज्ञान का निवर्तक होने से उसमें तद्विषयत्व का उपचार किया गया है, उस-कारण कोई विरोध नहीं है । अतः प्रथम पक्ष का खण्डन हो गया ।

अब रहा द्वितीय पक्ष । वह तो हमें इष्ट ही है । वेदान्तवाक्यों का 'ब्रह्म' में 'महातात्पर्य' रहने पर भी 'अवान्तरतात्पर्य' से 'श्रवणादि' विधि का स्वीकार करने में कोई बाधक नहीं है ।

एवञ्च वेदान्तवाक्यों को विधिपरक कहना संभव नहीं है और सङ्गतिग्रह हो ही जाता है । तथा फलवदज्ञातार्थबोधक होने से उनका प्रामाण्य भी संभव है । अतएव तन्मूलभूतस्मृति-इतिहास-पुराणादिकों का भी प्रामाण्य अक्षुण्ण है । अतः श्रुति-स्मृति-इतिहास-पुराण आदि के बलपर 'परमात्मा' का स्वीकार करना ही उचित होगा ।

किञ्च—विधेयभूत कर्म, स्वयं 'जड' होने के कारण उसमें 'फलदातृत्व' का होना संभव नहीं है । इसलिये 'परमात्मा' का स्वीकार अवश्य ही करना चाहिये । इसी समस्या की ओर ध्यान देकर ही भगवान् बादरायण ने कहा कि (ब्र० सू० ३।२।३८) परमात्मा ही समस्त प्राणियों को फल देता है, क्योंकि 'कर्म' क्षणिक तथा जड है, अतः वह फल देने में समर्थ नहीं है । अतः परमात्मा में ही फलदातृत्व मानना उचित है । उस परमात्मा को यदि 'जीवात्मा' से भिन्न समझा जाय तो घट-पट' आदि पदार्थों की तरह उसके भी अनात्मरूप होने से उसे अनित्य ही कहा जायगा । किन्तु उसे अनित्य कह देना, किसी को भी इष्ट नहीं है । और नित्यत्वप्रतिपादक श्रुति-स्मृति-इतिहास-पुराणादि के वचनों के साथ विरोध होने का भी प्रसङ्ग प्राप्त होगा ।

इस विवेचन से 'सांख्यवादी' दार्शनिकों को परास्त कर दिया गया । अचेतन (जड) प्रधान को जगत्कारण कहने में कोई प्रमाण उपलब्ध न रहने से 'परमेश्वर' को ही जगत् का 'अभिन्ननिमित्तोपादानकारण' माना गया है । यह कहने से पतञ्जलि अर्थात् योगदार्शिनिकों का और नैयायिकों का भी निराकरण कर दिया गया है ।

इस पर निरीश्वरवादी का कहना है कि ईश्वर को जगत्सर्जन के प्रति 'निमित्तकारण' कहने पर उसमें 'वैषम्य-नैर्घृण्य' का प्रसङ्ग आवेगा ।

यद्यात्मानन्दो न स्यात्तर्हि कोऽपि न व्याप्रियेत इत्यादिव्याप्यारोपेण व्यापकप्रसञ्जनरूपास्तर्काः श्रुत्युक्ता द्रष्टव्याः।

●

एतेन सांख्यादयः परास्ता वेदितव्याः। अचेतनस्य प्रधानस्याप्रामाणिकत्वेन परमेश्वरस्यैव जगतोऽभिन्ननिमित्तोपादानत्वात्। अत एव पतञ्जलिनैयायिकादयोऽपि निराकृताः। निरपेक्षेश्वरस्य निमित्तत्वे वैषम्यनैर्घृण्यप्रसङ्गात्, श्रुत्यातदङ्गीकारे यथाश्रुति सोपाधिकसगुणेश्वरस्याभिन्ननिमित्तोपादानत्वं तस्यैव मायाविनिर्मुक्तस्य प्रत्यगभिन्नत्वमुक्तदोषपरिहाराय श्रुत्याद्यविरोधाय च सर्वैरवश्यमभ्युपगन्तव्यम्। तस्माद्यथोक्ततर्कस्य सविषयत्वात्ततो ब्रह्मात्मैक्यसंशयो निवर्त्तत इति भावः॥ १०॥

इदानीं शोधितत्वंपदार्थस्य सुखात्मत्वसाधकं तर्कमुदाहरति—यद्यात्मेति। आत्मा शोधितत्वंपदार्थः, आनन्द आनन्दस्वरूपः कोऽपि कश्चिदपि जनो न व्याप्रियेत न प्रवर्त्तेत स्वार्थमित्यक्षरार्थः। तथा च श्रुतिः "कोह्येवान्यात्कः प्राण्याद्यदेष आकाश आनन्दो न स्यादि"ति। यद्यप्यत्राकाशशब्दः परमात्मपरः "आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशादि"ति न्यायेन "रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवती"ति पूर्ववाक्ये रसशब्देनानन्दवाचिना परमात्मनो विवक्षितत्वात् "एष ह्येवानन्दयती"त्युत्तरवाक्येऽपि एतच्छब्दार्थस्यान्येषामानन्दयितृत्वप्रतिपादनेन तस्यैव विवक्षितत्वाच्च मध्येऽपि स एव विवक्षित इति, तथापि शोधितयोस्तत्त्वंपदार्थयोर्नाममात्रभेदमन्तरेण स्वरूपभेदाभावात्, अत्रापि श्रुतिः प्रमाणं भवत्येव।

नन्वेवं स्वसमवेतसुखार्थमपि प्रवृत्तिसम्भवात्। कथमनेन तर्केणात्मनः सुखात्मनः सुखात्मकत्वसिद्धिः? न, सुखत्वेनैव सुखस्योद्देश्यत्वान्न स्वसमवेतसुखत्वेन गौरवात्। न चैवं वैरिसुखोद्देशेनापि प्रवृत्तिप्रसङ्ग इति वाच्यम्। तस्य प्रेमगोचरत्वाभावात्। स्वस्वरूपसुखस्य निरुपाधिकप्रेमगोचरत्वेन तदुद्देशेनैव निरुपाधिकप्रवृत्तेर्दर्शनात्। न च निरुपाधिकप्रेमगोचरत्वमपि सुखसमवायित्वेनात्मन इति वाच्यम्। तर्हि दुःखसमवायित्वेन निरुपाधिकद्वेषगोचरत्वमपि स्यात्। न च तत्कस्यचिदस्ति! तस्मात्सर्वेषां स्वार्थे प्रवृत्तिदर्शनादात्मा सुखस्वरूप एवेति भावः।

●

उस पर सिद्धान्ती कहता है कि हम श्रुति के बल पर उसे जगत् का 'निमित्त कारण' मान रहे हैं। श्रुति के अनुसार 'सोपाधिक सगुण ईश्वर ही जगत्सर्जन के प्रति 'अभिन्न निमित्तोपादान' है। अतः उक्तदोष-परिहारार्थ और श्रुति आदि के विरोधपरिहारार्थ भी उसी मायाविनिर्मुक्त परमात्मा को ही प्रत्यगभिन्न कहा गया है। अतः उसका स्वीकार सभी को करना चाहिये। एवं च यथोक्त तर्क, निर्विषय न होकर 'सविषय' है। उसी से ब्रह्मात्मैक्य के संशय की निवृत्ति होती है। अर्थात् 'परमात्मा', इस 'जीवात्मा' से भिन्न हैं, या अभिन्न है—इस संशय की निवृत्ति हो जाती है॥ १०॥

परिशोधित 'त्वम्' पदार्थ के सुखात्मत्व (आनन्दरूपता) के साधक 'तर्क' को बता रहे हैं—यह 'जीवात्मा' ही परिशोधित 'त्वम्' पदार्थ है। तर्क का [1]आकार इस प्रकार है—यदि यह जीवात्मा, आनन्द स्वरूप न होता, तो कोई भी व्यक्ति, अपने स्वार्थ-सम्पादनार्थ प्रवृत्त न होता। इसी तथ्य को श्रुति भी अभिव्यक्त कर[2] रही है—यदि यह आकाश आनन्द न होता तो प्राणन और अपानन कौन करता? यहाँ पर यद्यपि 'आकाश'—शब्द 'परमात्मपरक' है, तथापि 'आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात्'—इस न्याय से 'रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति'—इस प्रकार पूर्ववाक्य में आनन्दवाची 'रस' शब्द से परमात्मा की ही विवक्षा होने से 'एषह्येवानन्दयति'—इस उत्तरवाक्य में भी 'एतत्' शब्द का अर्थ—'दूसरों को आनन्दित करने वाला'—बताया गया है, और उसी की विवक्षा भी की गई है। तथा मध्य में भी उसी की विवक्षा की गई है। तथापि परिशोधित 'तत्' और 'त्वम्' इन दो पदार्थों के केवल 'नाम' का ही भेद है, उनके 'स्वरूप' का भेद नहीं है, अर्थात् उनके स्वरूप में भिन्नता नहीं है, दोनों का स्वरूप एक ही (अभिन्न ही) है। इस विषय में भी श्रुति ही प्रमाण है।

शङ्का—इस रीति से तो स्व-समवेत सुखार्थी की भी प्रवृत्ति हो सकती है। अतः उक्त तर्क से आत्मा की सुखात्मकता कैसे होगी? 'सुख' तो उद्देश्य होने के कारण 'सुखरूप' से उसकी प्रतीति नहीं हो सकती। स्व-समवेत सुख के रूप में मानने में भी गौरव होगा। शत्रु के सुख को उद्देश्य करके भी प्रवृत्ति हो सकती है।

उस पर सिद्धान्ती का कहना है कि शत्रु के ऊपर प्रेम न होने से अर्थात् 'शत्रु' किसी के प्रेम का विषय न होने से उसके सुख को उद्देश्य करके प्रवृत्ति का होना सम्भव ही नहीं है। स्व-स्वरूपभूत सुख, निरुपाधिक प्रेम का विषय होने से उसी के उद्देश्य से निरुपाधिक प्रवृत्ति हुआ करती है।

---

१. 'यदि आत्मा आनन्दो न स्यात् तर्हि कोऽपि न व्याप्रियेत'। २. 'को ह्येवान्यात्काप्राण्याद्यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्'।

एतच्च मननं निरूपितम्, एतन्मननं शारीरक-द्वितीयाध्यायपठनेन निष्पद्यते ॥११॥
संशयविरोधि ज्ञानं निश्चयः।

•

आदिशब्देन यदि परमात्मानन्दो न स्यात् तत्प्राप्तेरपुरुषार्थत्वं स्यात्। यदि परमात्मा चिद्रूपो न स्यात् तर्हि घटादिवज्जडत्वेन सूर्य्याद्यवभासकत्वं न सम्भवेत्। न चेष्टापत्तिः, "तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" "तच्छुभ्रं" ज्योतिषांज्योतिः "आधारमानन्दमखण्डबोधं" "विज्ञानमानन्दम्ब्रह्म" "ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यत" इत्यादि श्रुतिस्मृतिविरोधप्रसङ्गः। यदि परमात्मा सगुणः न स्यात्तर्हि निर्विशेषस्वरूपप्रतिपादकश्रुतिविरोधः स्यात्। यदि जीवश्चिद्रूपो न स्यात् तर्हि जड़त्वेन सावयवतया घटादिवदनात्मत्वेन जगदान्ध्यप्रसङ्गः। "योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः" "स्वयं ज्योतिर्भवति" "क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत" इत्यादिश्रुतिस्मृतिविरोधश्च प्रसज्येत। यद्यात्मा कर्त्ता स्यात्तर्हि विकारितया परिणामित्वेनानित्यःस्यात्। यदि कर्म्मसमुच्चितं ज्ञानं मोक्षसाधनं स्यात् तर्हि मोक्षस्यापि कर्म्मजतया स्वर्गस्येवानित्यत्वं[1] प्रसज्येदेवमादि तर्का गृह्यन्ते।

तर्हि तर्कात्मकं मननं निरूपणीयमित्याकाङ्क्षायामाह—एतदिति। इदं मननं कुतो निष्पद्यतेऽत्राह—एतन्मननमिति ॥ ११ ॥

क्रमप्राप्तस्य निश्चयस्य लक्षणमाह—संशयेति। तं विभजते—स चेति। यथोद्देशं यथार्थं निरुपयति—अविसंवादीति। फलपर्य्यवसायिज्ञानं यथार्थनिश्चयः। निष्फलं ज्ञानं विसंवादि। अयथार्थनिश्चयं विभजते—स चेति। तर्क इति। उक्तोनिरुपितः अतीतानन्तरगन्थ इति शेषः। विपर्य्ययलक्षणमाह—विपर्य्यय इति। किमिदं ज्ञानस्य मिथ्यात्वम्? न तावद्बाध्यत्वं, ज्ञानस्य

•

उसपर पूर्वपक्षी कहता है कि निरूपाधिक प्रेम का विषय, सुखसमवायित्वेन रूपेण 'आत्मा' ही होगा।

सिद्धान्ती कहता है कि तुम्हारे उक्त कथन के अनुसार तो दुःखसमवायित्वेनरूपेण (दुःखसमवायी होने के कारण) निरुपाधिक द्वेष का विषय भी 'आत्मा' को मानना होगा। किन्तु आत्मा को निरूपाधिक द्वेष का विषय कोई नहीं कहता। अतः कहना होगा कि सभी की प्रवृत्ति, 'स्वार्थ' में ही हुआ करती है, इसलिये 'आत्मा' सुखस्वरूप ही है।

'आदि' शब्द से ये [2]तर्क विवक्षित हैं—यदि परमात्मा आनन्द न होता तो उसकी प्राप्ति पुरुषार्थ न होती; यदि परमात्मा चेतन न होता तो घट आदि की तरह जड़ होने से सूर्य आदि का प्रकाशक न हो पाता किन्तु उसकी प्राप्ति में अपुरुषार्थता तथा परमात्मा में अवभासकता का न होना किसी को भी इष्ट नहीं है। अतः कोई भी उस कथन पर अपनी ईष्टापत्ति नहीं कहेगा। क्योंकि श्रुति-स्मृति के वचनों से विरोध होने लगेगा। यदि परमात्मा को 'सगुण' कहते हैं, तो निर्विशेषस्वरूपप्रतिपादक श्रुति के साथ विरोध होगा। यदि जीव को चिद्रूप नहीं कहते हैं, तो उसे जड़ कहना होगा, जड़ होने से उसे सावयव मानना होगा। सावयव होने पर घट आदि पदार्थों की तरह अनात्मरूप होने से जगत् में अन्धत्व प्राप्त होगा, तथा [3]श्रुति-स्मृतियों के साथ विरोध भी होगा।

'यदि आत्मा, कर्ता होता तो विकारी होने से परिणामी होगा। तब उसे अनित्य कहना होगा। यदि कर्मसमुच्चित ज्ञान, मोक्ष का साधन होता तो मोक्ष भी कर्मजन्य होने से स्वर्ग की तरह अनित्य होता—इत्यादि ये सब तर्क हैं। व्याप्य का आरोप करके व्यापक का प्रसञ्जनरूप तर्क, जो प्रदर्शित किया गया है, उसे श्रुति ने प्रदर्शित किया है। यह मनन, शारीरक मीमांसा के द्वितीय अध्याय के पठन से निष्पन्न हो पाता है ॥ ११ ॥

अब क्रमप्राप्त 'निश्चय' का लक्षण बताते हैं—पूर्वोक्त संशय का जो विरोधी ज्ञान है, उसे निश्चय कहते हैं। जिस व्यक्ति को जब किसी पदार्थ का निश्चय हो जाता है, तब उसे ज्ञात हुए पदार्थ में संशय नहीं रहता। अतः 'निश्चय' में संशय का विरोधित्व रहता है।

---

१. प्रसज्येतैवमादि पठितव्यम्।

२. 'यदि परमात्मा आनन्दो न स्यात् तत्प्राप्तेरपुरुषार्थत्वं स्यात्'। तथा—'यदि परमात्मा चिद्रूपो न स्यात् तर्हि घटादिवत् जडत्वेन तस्य सूर्याद्यवभासकत्वं न सम्भवेत्'।

३. 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तज्योतिः पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवति', 'क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत' इत्यादि।

स च द्विविधः यथार्थोऽयथार्थश्चेति । अविसंवादी यथार्थनिश्चयः । स च उक्त एव । विसंवाद्ययथार्थनिश्चयः । स च द्विविधः तर्को विपर्ययश्चेति । तर्कस्तूक्त एव । विपर्ययो मिथ्याज्ञानम् । अतस्मिंस्तद्बुद्धिरिति यावत् । स च द्विविधः—निरुपाधिकः सोपाधिकश्चेति । तत्राद्यो द्विविधः—बाह्य आभ्यन्तरश्चेति । शुक्त्यादाविदं रजतमित्यादिर्बाह्यः । अहमज्ञो ब्रह्म न जानामीत्यादिराभ्यन्तरः ।

•

स्वरूपेण तदयोगात् । नापि निर्विषयत्वं निर्विषयज्ञानाभावादित्याशङ्कायामाह—अतस्मिंस्तदिति । तदभाववति तज्ज्ञानं मिथ्याज्ञानमित्यर्थः । स्वतो ज्ञानस्य बाधाभावेऽपि विषयबाधेन तत्सम्भवात् । बाध्यत्वं ज्ञानस्य मिथ्यात्वमित्यर्थः । विपर्ययं विभजते—स चेति । निरुपाधिकं विभज्य यथोद्देश्यं व्युत्पादयति—आद्येति । शुक्ताविति । इदं रजतमिति भ्रमः । बाह्यो निरुपाधिकभ्रम इत्यर्थः । अहमित्याभ्यन्तरो निरुपाधिकभ्रम इत्यर्थः ।

सोपाधिकं भ्रमं विभज्य यथाक्रमं व्युत्पादयति—सोपाधिकेति । लोहितेति । बाह्यः सोपाधिकभ्रम इत्यर्थः । सोपाधिक इति सोपाधिकभ्रम इत्यर्थः । ननु आकाशादिप्रपञ्चभ्रमस्य कथं सोपाधिकभ्रमत्वम् ? जपाकुसुमादिवत् तदनुपलम्भादित्याशङ्क्याह—कर्मेति । ननु अस्तु कर्माविद्याकार्यम्, तथापि कथं सोपाधिकत्वम् ? इत्याशङ्क्याह—तत्त्वज्ञानेन इति ॥ ज्ञानेनावरणशक्तिमदज्ञाने निवृत्तेऽपि विक्षेपशक्तिमदज्ञानेन प्रारब्धक्षयपर्यन्तमाकाशादिप्रपञ्चस्यानुभूयमानत्वात्तद्भ्रमः सोपाधिक एव । न चोपाधेरनुपलम्भः; कर्मसहितविक्षेपशक्तिमदज्ञानस्यैवोपाधित्वादिति भावः । आभ्यन्तरसोपाधिकभ्रमं दर्शयति—कर्तृत्वादीति । अहं कर्तेत्यात्मनि कर्तृत्वादिबुद्धिराभ्यन्तरः सोपाधिकः । तत्रान्तःकरणमुपाधिः,[1] तन्निष्ठकर्तृत्वादिरात्मन्यविवेकेनारोप्यते, तस्याऽसङ्गत्वेन स्वतः कर्तृत्वायोगात्, अतस्तस्य सोपाधिकत्वमिति भावः ॥

•

वह निश्चय दो प्रकार का होता है—(१) यथार्थ व (२) अयथार्थ । अविसंवादी अर्थात् फलपर्यवसायी ज्ञान यथार्थ निश्चय है । उसे प्रमानिरूपण में बता दिया गया है । विसंवादी अर्थात् निष्फल ज्ञान को अयथार्थ निश्चय कहते हैं । वह पुनः दो प्रकार का है—(१) तर्क और (२) विपर्यय । तर्क अभी ही बताया जा चुका है । विपर्यय कहते हैं मिथ्या ज्ञान को । तात्पर्य यह है कि जो ज्ञान वस्तु को वैसा देखे जैसी वह है नहीं, तब उसे मिथ्या या विपर्यय कहा जाता है । वह भी दो प्रकार का है-(१) निरुपाधिक एवं (२) सोपाधिक । इनमें निरुपाधिक पुनः दो प्रकार का है—(१) बाह्य तथा (२) आभ्यन्तर या भीतरी । सीप आदि में यह चाँदी है—आदि बाह्य निरुपाधिक विपर्यय है । मैं अज्ञानी हूँ, परमात्मा को जानता नहीं—इत्यादि आभ्यन्तर या भीतरी निरुपाधिक विपर्यय है ।

यहाँ फलपर्यवसायी का अर्थ है—ज्ञान के अनुसार चेष्टा करने पर तदनुसार ही फल मिलना । अर्थात् वहाँ आग है—समझकर यदि वहाँ पहुँचे और आग मिली तो उस ज्ञान को संवादी या अविसंवादी कहेंगे एवं यदि आग न मिली और ज्ञात हुआ कि जब हमने वहाँ आग समझी थी तब भी वहाँ आग नहीं थी तो उसी ज्ञान को असंवादी या विसंवादी कहेंगे ।

तर्क की अयथार्थता भी स्पष्ट है । यदि धूप 'आग' का लिंग न होता तो आग से जन्य भी न होता—यही तर्क का स्वरूप कहा था । धुआँ 'आग' का लिंग भी है और कार्य भी, अतः दोनों 'न होना'—ग़लत ज्ञान या अयथार्थ निश्चय का सूचक है ।

शंका—'ज्ञान' में जो मिथ्यात्व है, उसका स्वरूप क्या है ? क्या उसका स्वरूप—'बाध्यत्व' होना है, अर्थात् 'बाध्यत्व' को ही मिथ्यात्व कहते हैं ? अथवा ज्ञान का अपने विषय से रहित रहना अर्थात् ज्ञान का 'निर्विषय' रहना ही मिथ्यात्व है ? याने 'निर्विषयत्व' को ही मिथ्यात्व कहते हैं । किन्तु किसी भी ज्ञान का स्वरूपेण (स्वरूपतः) बाध कभी भी नहीं होता । उस कारण 'बाध्यत्व' का नाम मिथ्यात्व नहीं है । तथा कोई भी 'ज्ञान', निर्विषय भी नहीं रहता । 'ज्ञान' सर्वदा सविषयक ही होता है । अतः 'मिथ्यात्व' का स्वरूप क्या है ? उसका निर्वचन करना आवश्यक है ।

समा०—अन्य वस्तु में अन्य वस्तु का ज्ञान होना ही 'मिथ्या ज्ञान' है । जैसे—अन्य वस्तुरूप 'शुक्ति' में, अन्य वस्तुरूप 'रजत' का ज्ञान होना, याने 'शुक्तौ इदं रजतम्'—यह ज्ञान होना, 'मिथ्या ज्ञान' है ।

---

१. अध्यासभाष्ये तु आत्मान्तःकरणयोः परस्परतादात्म्याध्यासपूर्वकत्वं कर्तृत्वाध्यासस्य निरूपितमिति निरुपाधिकभ्रमत्वपक्ष एवोरीकृतः । यदि तु सोपाधिकाध्यासे धर्मितादात्म्याध्यासोऽप्यपेक्षितस्तर्हि जपाकुसुमतादात्म्याध्यासोऽपि तत्र कल्प्येतेत्याद्यन्यत्र विस्तरः । कर्तृत्वाध्यासस्य सोपाधिकत्वेजीवन्मुक्तौतत्प्रतीतिः; निरुपाधिकत्वे न सेति विशेषो दर्शनीयः ।

सोपाधिको द्विविधः—बाह्य आभ्यन्तरश्चेति। लोहितः स्फटिकः इत्यादिः बाह्यः। आकाशादिप्रपञ्चभ्रमोऽपि बाह्यः सोपाधिकः; कर्माऽविद्याकार्यत्वात्, तत्त्वज्ञानिनो निवृत्तेऽप्यज्ञाने प्रारब्धक्षयपर्यन्तं प्रपञ्चोपलब्धिदर्शनात्। कर्तृत्वादिभ्रम आन्तरः।

•

नैयायिकास्तु स्वप्नमयथार्थस्मरणं वदन्ति, तन्निराकर्तुं स्वप्नस्य सोपाधिकभ्रमान्तर्भावमाह—स्वप्नोऽपीति। सोपाधिकभ्रमः अनुभव इत्यर्थः। ननु स्वप्नस्य स्मृतिरूपत्वात् कथं भ्रमानुभवत्वम्? न च—तत्तोल्लेखाभावादिदं पश्यामीत्यनुभवाच्च तथात्वमिति—वाच्यम्; दोषवशेन तदितिस्थाने इदमित्युदयात् स्वप्नः स्मृतिरेव, निद्रादोषवशात् पश्यामीत्यपि भ्रम एव, अन्यथा रथतदुचितदेशादीनामभावाद्रथाद्युत्पादनसामग्र्यभावात्कथं तदुत्पत्तिस्तदनुभवो वा स्यात्? तस्मात् स्मृतिरेव स्वप्न इत्याशङ्क्याह—न स्मृतिरिति। जाग्रत्कालीनरथतदुचितदेशतदुत्पादकसामग्र्यभावेऽपि जाग्रत्कालीनरथोत्पादकसामग्रीतो विलक्षणसामग्रीवशेन प्रातिभासिकरजतोत्पत्त्यनुभवाविव स्वप्नकालीनरथोत्पत्त्यनुभवौ न विरुध्येते इत्युपपादयति—तथाहीति। दारुतक्षादिः व्यावहारिकरथोत्पादकसामग्री, जाग्रदनुभवजनितवासनाविशिष्टमन्तःकरणं प्रातिभासिकरथगजाद्युत्पादकसामग्री तद्विलक्षणा च, ततो रथाद्युत्पत्तिस्तदनुभवश्च द्वयं युक्तमेव, अतो स्वप्नो[२] न स्मृतिरिति भावः। ननु जाग्रद्भोगप्रदकर्मणि सति कथं स्वप्नः स्यादित्याशङ्क्याह—जाग्रदिति। तथापि भोगप्रदकर्मोपरमे सुषुप्तिरेव स्यात्, न स्वप्नः, इत्याशङ्क्याह—स्वप्नेति। ननु स्वप्ने प्रमाणप्रमेय-

•

यद्यपि 'ज्ञान' का स्वरूप से (स्वरूपतः) बाध नहीं होता, तथापि 'विषय' का बाध होने से, उस 'ज्ञान' का 'बाध' कहा जाता है। एवं च 'ज्ञान' में रहनेवाला 'बाध्यत्व' ही 'ज्ञान' के मिथ्यात्व को सिद्ध करता है।

यह 'विपर्यय' रूप भ्रम भी (१) 'निरुपाधिक भ्रम', और (२) 'सोपाधिकभ्रम' के भेद से दो प्रकार का होता है। उनमें से जो 'भ्रम', 'अधिष्ठान' के ज्ञान से निवृत्त हो जाता है, उस भ्रम (विपर्यय) को 'निरुपाधिकभ्रम' कहते हैं। तथा जो 'भ्रम', 'अधिष्ठान' के ज्ञात होने पर भी निवृत्त नहीं होता, उस भ्रम को 'सोपाधिकभ्रम कहते हैं।

'शुक्ति' तथा 'रज्जु' आदि अधिष्ठान का ज्ञान हो जाने पर 'इदं रजतम्', 'अयं सर्पः'—इत्यादि 'भ्रम' की निवृत्ति हो जाती है। तथा अधिष्ठानभूत 'आत्मा' का ज्ञान होने से 'अहं अज्ञः'—इस प्रकार के भ्रम की निवृत्ति हो जाती है। इसलिए इन उक्तभ्रमों में 'निरुपाधिकभ्रमत्व' है।

इसी प्रकार सोपाधिक भ्रम भी (१) बाह्य (२) आन्तर के भेद से दो प्रकार का होता है। जैसे—रक्त वर्ण (रक्तगुण) से रहित, निर्मल-श्वेत स्फटिकमणि में, रक्तवर्ण के जपाकुसुमादि द्रव्य के समीप रहने पर 'लोहितः स्फटिकः'—यह भ्रम होता है, इस भ्रम को 'बाह्य सोपाधिक भ्रम' कहते हैं। यह स्फटिकमणि, श्वेत है, 'रक्त' (लाल) नहीं है इसप्रकार अधिष्ठानभूत स्फटिकमणि का ज्ञान होने पर भी जबतक वहाँ से 'जपाकुसुम' रूप 'उपाधि' की निवृत्ति नहीं होती, तबतक 'लोहितः स्फटिकः'—इस भ्रम की निवृत्ति नहीं होती है। उस कारण 'लोहितः स्फटिकः'—इस भ्रम में 'सोपाधिक भ्रमरूपता' रहती है।

इसीप्रकार तत्त्वज्ञानी पुरुष को जो 'आकाशादिप्रपञ्च' का अनुभव होता है, वह भी 'बाह्य सोपाधिक भ्रम' है।

शङ्का—'लोहितः स्फटिकः'—इस भ्रम में तो 'जपाकुसुम' रूप उपाधि' विद्यमान रहता है, उस कारण उस 'भ्रम' को 'सोपाधिक' कहना उचित है, किन्तु इस 'प्रपञ्चभ्रम' में तो कोई 'उपाधि' दिखाई नहीं देता। तब इस 'प्रपञ्चभ्रम' को 'सोपाधिक' कैसे कहा जायगा?

समा०—इस 'प्रपञ्चभ्रम' में भी 'प्रारब्ध कर्मसहित विक्षेप-शक्तिविशिष्ट अज्ञान' ही 'उपाधि' रूप है। क्योंकि 'अहं ब्रह्मास्मि'—इत्याकारक 'अधिष्ठानभूत ब्रह्म' के ज्ञान से 'आवरणशक्तिविशिष्ट अज्ञान' की निवृत्ति होने पर भी 'विक्षेपशक्तिविशिष्ट अज्ञान' के कारण 'प्रारब्धकर्म' तो बना ही रहता है। उसका नाश जबतक नहीं होता, तबतक तत्त्वज्ञानी पुरुष को

---

१. ब्रह्मानन्दसरस्वत्यस्तु—अप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितपटुतमसंस्कारसहितभुज्यमानादृष्टाभावादिसहिताधिष्ठानसाक्षात्कारस्यैवाज्ञाननिवर्तकत्वात् न प्रारब्धक्षयात् पूर्वमज्ञानं निवर्तते, इत्याकाशादिभ्रमो निरुपाधिक एवेति मन्यन्ते।

२. अनुभूतसजातीयस्यैव स्वप्ने भानं न तु तस्यैव। अतः स्वसमानविषयकसंस्काराजन्यत्वात् न स्मृतित्वम्। स्मृतिरूपत्वं तु अध्याससामान्यस्याविद्यमानविषयत्वेन इति भामत्यादौ व्यक्तम्।

स्वप्नोऽप्याभ्यन्तरः सोपाधिकभ्रम एव, न तु स्मृतिः। तथाहि—जाग्रद्भोगप्रदकर्मोपरमे सति स्वप्नभोगप्रदकर्मोद्रेके-सक लविषयेन्द्रियादिवासनावासितं निद्रादोषोपप्लुतमन्तःकरणं[1] रथादिविषयाऽऽकारेण ग्राहकेन्द्रियाद्याकारेण रथादिविषया-

•

व्यवहारस्य जाग्रद्व्यवहारतुल्यत्वात्कथं रथादेः प्रातिभासिकत्वम् ? इत्याशङ्क्य, जाग्रत्पदार्थस्य भौतिकत्वेन चिरस्थायित्वात् स्वप्नपदार्थस्य वासनाविशिष्टान्तःकरणपरिणामत्वेन वासनामयत्वादुभयोर्वैलक्षण्यमस्तीत्यभिप्रेत्याह—सकलेति। विषयाश्चेन्द्रियाणि च तेषां वासनाः ताभिर्वासितं वासनाश्रयमिति यावत्। ननु भ्रमस्य दोषजन्यत्वात् प्रकृते तदभावात्कथं भ्रमः स्यात् स्वप्नः ? इत्याशङ्क्याह—निद्रेति। निद्रादोषसत्त्वाद्भ्रमः सम्भवतीत्यर्थः। ननु अन्तःकरणं सर्वाकारेण परिणमते चेत् तदानीं ग्राह्यग्राहक-व्यवहारः कथं स्यात् तद्ग्राहकेन्द्रियाणामुपरतत्वात् ? इत्याशङ्क्याऽन्तःकरणस्यैव ग्राह्यग्राहकोभयाकारेण परिणतत्वात्तथा व्यवहार

•

भी 'आकाशादिप्रपञ्च' का अनुभव होता रहता है। उस कारण 'लोहितः स्फटिकः'—इस भ्रम के समान 'प्रपञ्चभ्रम' को भी सोपाधिक भ्रम ही कहा जाता है। और 'अहं कर्ता, अहं भोक्ता'—मैं कर्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ—इत्याकारक जो 'आत्मा' में 'कर्तृत्व', 'भोक्तृत्व' बुद्धि होती रहती है, उस 'बुद्धि' को 'आन्तर (आभ्यन्तर) सोपाधिक भ्रम' कहा जाता है। इस 'भ्रम' में 'अन्तःकरण' ही 'उपाधि' है। क्योंकि 'आत्मा' तो वस्तुतः 'असंग' और 'निर्विकार' है। ऐसे 'आत्मा' में 'स्वरूपतः' तो 'कर्तृत्व-भोक्तृत्व' का होना सम्भव नहीं है। किन्तु 'अन्तःकरण' के 'कर्तृत्व'-'भोक्तृत्व' आदि धर्मों का, अविवेक से 'आत्मा' पर आरोप किया जाता है। उस कारण 'अहं कर्ता, अहं भोक्ता'—इत्यादि ज्ञान में आन्तर सोपाधिक भ्रमरूपता है।

नैयायिक विद्वान् 'स्वप्न' को 'अयथार्थस्मरण' कहा करते हैं। उनके उक्त वक्तव्य का खण्डन करने के लिए वेदान्ती विद्वान् 'स्वप्न' का 'सोपाधिक भ्रम' में अन्तर्भाव बता रहे हैं—वेदान्ती का कहना है कि 'स्वप्न' भी 'आभ्यन्तर सोपाधिक भ्रम' (अनुभव) ही है। अर्थात् 'स्वप्न' में जो रथादि पदार्थों का ज्ञान होता है, वह ज्ञान भी 'आन्तर सोपाधिक भ्रम' ही है, वह 'स्मृति' रूप नहीं है। क्योंकि 'स्वप्न' में होने वाला ज्ञान, यदि 'स्मृति' रूप होता तो उस 'स्मृतिरूप ज्ञान' का आकार 'सः रथः' होता। किन्तु स्वप्न में 'सः रथः' इत्याकारक ज्ञान नहीं होता, अपि तु यह रथ है, रथ को मैं देख रहा हूँ—यह 'ज्ञान' होता है। उसकारण यह 'स्वप्नज्ञान' भी 'आन्तर सोपाधिक भ्रमरूप' अयथार्थ 'अनुभव' ही है। उसे 'स्मृति' रूप कहना उचित नहीं है। अतः 'स्वप्न' को 'अयथार्थस्मृति'रूप कहनेवाले तार्किकों (नैयायिकों) का मत, असंगत ही है।

शङ्का—नैयायिक कहता है कि 'स्वप्नज्ञान' को 'स्मृतिरूप' न मानकर यदि 'अनुभवरूप' मानोगे तो 'अनुभव' के विषयभूत 'रथादि पदार्थों' की वहाँ 'उत्पत्ति' भी माननी होगी। किन्तु 'स्वप्न' में 'रथादिकों' की उत्पत्ति का होना सम्भव नहीं है। क्योंकि जाग्रदवस्था में 'जितने देश' में 'जितनेकाल' में उन 'रथादिपदार्थों' की उत्पत्ति हुआ करती है, उतना देश और उतना काल' स्वप्न' में कहाँ है ? अर्थात् नहीं है। और लोकप्रशिद्ध रथादिकों को बनाने के लिए जो काष्ठ, तक्षा (बढाई) आदि सामग्री अपेक्षित रहती है, वह सामग्री भी 'स्वप्न' में नहीं है, और 'कारणभूत सामग्री' के बिना 'कार्य' की उत्पत्ति कभी नहीं हुआ करती। उस कारण 'स्वप्न' में उन 'रथ' आदि पदार्थों की उत्पत्ति का होना सम्भव नहीं है। अतः स्वप्न में होनेवाले रथादिपदार्थों के ज्ञान को 'स्मृतिरूप' ही मानना चाहिए। किञ्च—वह स्वप्नज्ञान 'निद्रा' आदि दोष से उत्पन्न होता है, अर्थात् निद्रादिदोषजन्य है। उस कारण 'सः रथः'—यह ज्ञान, न होकर, उसके स्थान में 'अयं रथः'—इत्याकारक जो ज्ञान होता है, वह 'भ्रम' ही है।

समा०—जैसे हट्टस्थित (बाजार=सराफा बाजार में स्थित) व्यावहारिक (असली) रजत की उत्पादक सामग्री से भिन्न ही (विलक्षण) 'प्रातिभासिक रजत' की उत्पादक सामग्री होती है, उसी प्रकार जाग्रदवस्था के रथादिपदार्थों की उत्पादक सामग्री से भिन्न (विलक्षण), ही स्वाप्निक रथादिपदार्थों की उत्पादक सामग्री होती है। सामग्री की विलक्षणता (भिन्नता) को बताते हैं—जाग्रत्कालिक सुख-दुःखादिभोगप्रद पुण्य-पापरूप कर्मों का उपराम होने पर, तथा स्वप्नकालिक सुख-दुःखादिभोगप्रद कर्मों का उद्भव होने पर, तथा 'चक्षुरादि इन्द्रियों' के लीन होने पर, 'जाग्रत्कालीन' रथादि पदार्थों की जो 'संस्काररूप वासना' है, तथा इन्द्रियादिकों की जो संस्काररूप वासना है, उन समस्त वासनाओं का आश्रयभूत, तथा 'निद्रादि दोषों' से युक्त जो 'अन्तःकरण' है, वह 'अन्तःकरण' ही 'स्वप्नावस्था' में उन रथादिविषयों (पदार्थों) के आकारों में परिणत हो जाता है। तथा उन रथादिविषयों के ग्राहक 'चक्षुरादि', इन्द्रियाकार में परिणत हो जाते हैं। तथा वे 'रथादि', विषयाकार वृत्ति के

१. प्रातीतिकानाभाविघकत्वनियमादन्तःकरणमिति तत्कारणीभूतमज्ञानमित्यर्थः।

कारवृत्त्याकारेण च परिणमते। अन्तःकरणोपहितसाक्षी स्वयमन्यानवभास्यस्तत्सर्वमवभासयति। अतः स्वप्ने साक्षिणः स्वप्रकाशत्वं सुविज्ञेयम्। जाग्रदवस्थायां सूर्यादितेजोभिः संकीर्णत्वात् साक्षिणः स्वप्रकाशत्वं दुर्विज्ञेयम्। स्वप्ने तु सूर्यादीनां

●

इत्याह—रथादीति। ननु आलोकसहकृतचक्षुष एव रूपग्राहकत्वात्तदानीं तदभावात्कथं रूपाद्यनुभवः? इत्याशङ्क्य सर्ववासनाश्रयान्तःकरणोपहितसाक्षिबलेन रूपादिसर्वविषयानुभव उपपद्यत इत्याह—अन्तःकरणेति। ननु साक्षी साक्ष्यन्तरेण प्रथते चेत्तदाऽनवस्था स्यात्। न चेद्, अज्ञायमानो जडः कथं विषयमवभासयेत्? इत्याशङ्क्याह—स्वयमिति। स्वयंप्रकाशमानत्वात्स्वयमन्यानवभास्यः सन् सर्वस्वप्नपदार्थजातमवभासयतीत्यर्थः। ननु जाग्रदवस्थायां साक्षिणः स्वयम्प्रकाशत्वस्याननुभूयमानत्वात्कथमन्यानवभास्यत्वम्? इत्याशङ्क्य जाग्रति सूर्यादितेजोभिः संकीर्णतयाऽविवेकिनां साक्षिणः स्वयम्प्रकाशत्वस्याननुभवेऽपि स्वप्ने

●

रूप में परिणत हो जाते हैं। इस प्रकार से जाग्रत्कालिक रथादिकों की सामग्री से, स्वप्न की प्रातिभासिक रथादिकों की सामग्री विलक्षण (भिन्न) ही होती है।

शङ्का—जैसे जाग्रत् अवस्था में 'प्रमाता', 'प्रमाण', और 'प्रमेय' का व्यवहार किया जाता है, वैसे ही स्वप्न में भी प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय' का व्यवहार किया जाता है। उस कारण स्वाप्निक पदार्थों को 'प्रातिभासिक' कहना उचित नहीं है।

समा०—जाग्रदवस्था के जो पदार्थ हैं, वे भौतिक (पृथिव्यादिभूतों से पैदा हुए) कार्य हैं, उस कारण वे पदार्थ, चिरकाल तक स्थायी रहते हैं। किन्तु स्वप्नावस्था के 'रथादिपदार्थ', 'वासनाविशिष्ट अन्तःकरण' के परिणामरूप होने से 'वासनामय' है। यही कारण है कि वे स्वप्नकाल के पदार्थ, अल्पकाल तक ही स्थित रहते हैं, अर्थात् चिरकाल तक स्थायी नहीं रहते। एवं च स्वाप्निक पदार्थों में जाग्रत् के पदार्थों से विलक्षणता होने के कारण उनमें प्रातिभासिकता का होना असंभव नहीं है, अपितु सर्वथा संभव है।

किञ्च—'शुक्ति' में 'रजत' का ज्ञान, जैसे दोषजनित है, वैसे ही स्वाप्नपदार्थों का ज्ञान भी 'निद्रा' रूप दोष से जन्य है। उस कारण उस स्वाप्नज्ञान में 'भ्रमरूपता' का होना भी संभव है, असंभव नहीं।

शंका०—जाग्रदवस्था में सूर्यादिज्योतियों के प्रकाश की सहायता प्राप्त किये चक्षुरादि इन्द्रिय रहते हैं, अर्थात् चक्षुरादि इन्द्रियाँ आलोकसहकृत रहती हैं। उस कारण उन इन्द्रियों से 'रूपादि' पदार्थों का ज्ञान (ग्रहण) होता है। किन्तु स्वप्नावस्था में उन चक्षुरादि इन्द्रियों का अभाव रहता है। अभाव रहने से स्वप्न में उन रूपादि पदार्थों का अनुभव कैसे हो सकता है?

समा०—स्वप्नावस्था में जो 'वासना (संस्कार) विशिष्ट अन्तःकरण' है, उससे उपहित साक्षी चैतन्य ही, स्वाप्निक रथादि-पदार्थों को प्रकाशित करता है।

शंका—स्वप्न में जो 'साक्षी' है, वह किसी दूसरे साक्षी से प्रकाशित होकर उन रथादि पदार्थों को प्रकाशित करता है, अथवा दूसरे के द्वारा अप्रकाशित रहकर ही (दूसरे से प्रकाशित न होकर ही) स्वप्न के रथादि पदार्थों को प्रकाशित करता है?

प्रथम पक्ष का स्वीकर यदि करते हो तो 'अनवस्थादोष' होगा। क्योंकि प्रथम साक्षी के समान, दूसरा साक्षी भी किसी तीसरे साक्षी से प्रकाशित होकर ही प्रकाश करेगा, उसी तरह तीसरा साक्षी भी किसी चतुर्थ साक्षी से प्रकाशित होकर ही प्रकाश करेगा। इस प्रकार पूर्व-पूर्व साक्षी के प्रकाशार्थ उत्तर-उत्तर साक्षी का स्वीकार करने से अनवस्था का प्रसंग प्राप्त होगा।

यदि दूसरा पक्ष स्वीकार करते हो तो 'अज्ञात' रहने से जड बना हुआ साक्षी, उन स्वाप्न पदार्थों को कैसे प्रकाशित करेगा?

समा०—वह साक्षी चैतन्य, स्वयं प्रकाशमान है, अर्थात् वह स्वत एव प्रकाशमान है। उस कारण उस साक्षी में पूर्वोक्त-अनवस्था, तथा जडता नहीं होगी। यह स्व-प्रकाश साक्षी ही उन स्वाप्निक पदार्थों को प्रकाशित करता है। एवं च स्वप्नावस्था में उस साक्षीचैतन्य का 'स्व-प्रकाशत्व' सहजगम्य है। अर्थात् सरलता से जाना जा सकता है।

शंका—श्रुतियां, उस साक्षी चैतन्य को सूर्य-चन्द्रादि समस्त जगत् का प्रकाशक, कह रही हैं। तथा सूर्य-चन्द्रादि की ज्योतियों से उस साक्षी चैतन्य को प्रकाशित नहीं किया जा सकता। यही साक्षी चैतन्य का 'स्वप्रकाशत्व' है। उस कारण साक्षी

जाग्रत्पदार्थानामुपरतत्वात्स्वयम्प्रकाशत्वं विवेक्तुं शक्यते ॥ १२ ॥

तथाच श्रुतिः "स यत्र प्रस्वपित्यस्य लोकस्य सर्वतो मात्रामुपादाय स्वयं विहत्य स्वयं निर्माय स्वेन भासा स्वेन

●

सूर्यादिज्योतिषामुपरतत्वात्तस्य स्वप्रकाशत्वं सुग्रहमित्याह—अत एवेति। यतः स्वयमन्यानवभास्यः सन् तत्सर्वमवभासयत्यत एवेत्यर्थः। सुज्ञेयत्वमेवोपपादयति—जाग्रदिति। यद्यपि जाग्रदवस्थायामपि स्वप्रकाशसाक्षिबलेन सूर्यादिज्योतिषां भानम् "येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः" "तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाती"त्यादिश्रुतेः" स्वयमादित्यादिभिरनवभास्यः, "न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकमि"त्यादिश्रुतेः, तथाप्यविवेकिनां साक्षिणः स्वप्रकाशत्वं दुर्विज्ञेयमेव जडप्रकाशैः संकीर्णत्वात्। स्वप्ने तु तत्संकीर्णाभावात्सुज्ञेयमितिभावः ॥ १२ ॥

स्वप्नपदार्थानामन्तःकरणपरिणामित्वेन तत्साक्षिणः स्वप्रकाशत्वे श्रुतिमुदाहरति—तथा चेति। सः[1] बुद्ध्युपाधिको जीवः। यत्र यस्यामवस्थायाम्। लोकस्य जाग्रत्पदार्थजातस्य। मात्राम् वासनाम्। स्वयं विहत्य स्थूलशरीराभिमानं मनुष्योऽहमित्याकारं त्यक्त्वा। स्वयं निर्माय वासनामयान् रथादिपदार्थान् सृष्ट्वा। स्वेन भासा स्वोपाधिभूतान्तःकरणविषयाकाररूपया वृत्त्या। स्वेन ज्योतिषा स्वप्रकाशचैतन्यज्योतिषा। अत्र स्वप्नावस्थायाम्। स्वयं ज्योतिर्भवति जडप्रकाशानामादित्यादीनामुपरतत्वादात्मा स्वप्रकाशचिद्रूपस्सन् विवक्ततयाऽवतिष्ठत इत्यर्थः, तत्र स्वप्नावस्थायां रथादयस्तदुचितदेशाश्च केऽपि न सन्तीत्यर्थः। अथ तदा। रथादीन् वासनामयान् तदुचितदेशांश्च। सृजति उत्पादयति निद्रादोषेण स्वात्मन्यारोपयतीत्यर्थः। आदिशब्देन—स्वप्नेन शरीरमभिप्रहत्याचेतनः "सुप्तः सुप्तानभिकाचाशीति शुक्रमादाय पुनरेतिस्थानं हिरण्मयःपुरुष एकहंसः" इत्याद्याः श्रुतयो गृह्यन्ते। श्रुतिं व्याचष्टे—स्वयं ज्योतिरिति।

●

चैतन्य का स्वप्रकाशत्व, जाग्रदवस्था में भी निर्णीत ही है। उस जाग्रदवस्था को न कहकर स्वप्नावस्था में उस साक्षीचैतन्य के 'स्वप्रकाशत्व' को सुविज्ञेय कहना उचित नहीं है।

समा०—यद्यपि विवेकशील पुरुषों को जाग्रदवस्था में भी साक्षीचैतन्य का स्वप्रकाशत्व सुविज्ञेय है, तथापि अविवेकी पुरुषों को जाग्रदवस्था में साक्षी का स्वप्रकाशत्व दुर्विज्ञेय ही है। क्योंकि जाग्रदवस्था में सबके गमनागमनादिव्यवहार, सूर्यरूप-ज्योति से होते हैं, और सूर्यरूप ज्योति के अभाव में चन्द्ररूप ज्योति से वे व्यवहार चलते हैं, चन्द्ररूप ज्योति के भी अभाव में अग्निरूप ज्योति से वे व्यवहार होने लगते हैं। और अग्निरूप ज्योति का अभाव होने पर घने अन्धकार में शब्दरूप ज्योति से वे व्यवहार सम्पन्न हो जाते हैं। इस प्रकार जाग्रदवस्था में व्यवहारसम्पादक (साधक) सूर्यादि अनेक ज्योतियों से मिश्रित हुआ वह साक्षी चैतन्य-रूप ज्योति है। उस कारण जाग्रदवस्था में अविवेकी जनों को उस साक्षी चैतन्य के स्वप्रकाशत्व का निर्णय नहीं हो पाता। और स्वप्नावस्था में तो जाग्रदवस्था की उन सूर्य-चन्द्रादिक समस्त ज्योतियों का लय हो जाता है। तथापि जाग्रदवस्था के समान ही स्वप्नावस्था में भी वे सभी व्यवहार हुआ करते हैं। जो भी व्यवहार किया जाता है वह ज्योति की सहायता से प्रकाश में ही किया जाता है। अतः उन स्वाप्न व्यवहारों की साधक किसी ज्योति (प्रकाश) को भी अवश्य मानना होगा। यद्यपि स्वप्नावस्था में 'अन्तःकरण', तथा 'अज्ञान' विद्यमान है, तथापि वह 'अन्तःकरण', 'विषय' के आकार में परिणत हो गया है। इसलिये उस अन्तःकरण को भी ज्योतिःस्वरूप नहीं कह सकते, और 'अज्ञान' तो 'तम' के समान 'प्रकाश' का 'विरोधी भाव पदार्थ' ही है। इसलिये उस अज्ञान को भी ज्योतिरूप नहीं कह सकते। परिशेषात् वह साक्षीचैतन्यरूप ज्योति ही, स्वाप्नव्यवहारों की साधक (सम्पादक) है, यही मानना पड़ता है। इस रीति से अविवेकी पुरुषों को भी स्वप्नावस्था में उस साक्षी चैतन्य के 'स्वप्रकाशत्व' का निर्णय हो सकता है। इसलिये स्वप्नावस्था में साक्षी चैतन्य का स्वप्रकाशत्व, सुविज्ञेय है—यह कहा था ॥ १२ ॥

शंका—उन स्वाप्न पदार्थों का प्रकाश, 'स्वप्रकाश साक्षी' से भले ही होता रहे, तथापि वे रथादि स्वाप्न पदार्थ, स्वप्न में नवीन ही उत्पन्न होते हैं—इसमें कौन-सा प्रमाण है ?

समा०—साक्षात् 'श्रुति' ही उक्त वक्तव्य में प्रमाण है। 'श्रुति' का अर्थ इस प्रकार है—'सः'—वह बुद्ध्युपाधिक जीव, 'अत्र'—जिस अवस्था में, 'लोकस्य'—जाग्रत्कालिक पदार्थों की, 'मात्राम्'—वासना को, 'स्वयं विहत्य'—स्थूलशरीराभिमान को अर्थात् 'मनुष्योऽहम्'—इस आकार को त्याग कर, 'स्वयं निर्माय'—वासनामय रथादिपदार्थों को उत्पन्न करके 'स्वेन भासा'—स्वोपाधिभूत अन्तःकरणविषयाकाररूप वृत्ति से—'स्वेन ज्योतिषा'—स्वप्रकाशचैतन्यरूप ज्योति से, 'अत्र'—स्वप्ना-

१. अहंकारोपहितचैतन्यं स्वप्नाध्यासस्योपादानमिति मताभिप्रायमिदं विवरणम्। सर्वत इत्यस्य सर्वावत इति श्रुतौ पाठः।

ज्योतिषा प्रस्वपित्यत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवति न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्ति अथ रथान् रथयोगान् पथः

ननु—किमिदं स्वप्रकाशत्वम् ? न तावत् ज्ञानाविषयत्वम्; "तन्त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि" इत्यादिश्रुतिविरोधप्रसङ्गात् । नापि स्वसमानजातीयज्ञानाविषयत्वम्; अप्रसिद्धेरसम्भवात् । नापि स्वविषयत्वम्; एकस्य कर्मकर्तृभावायोगात् । एतेन—अवेद्यत्वं स्वप्रकाशत्वमिति—प्रत्युक्तम् । न च—फलाव्याप्यत्वं तदिति—वाच्यम्; धर्माधर्मयोरतिव्याप्तेः । नापि—अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वं तदिति—वाच्यम्; आत्मनोऽसङ्गतया निर्धर्मकत्वेन योग्यतावच्छेदकापरिज्ञानाद्योग्यत्वस्यासम्भवात् । तस्मात् स्वप्रकाशत्वं दुर्निरूपम्—इति ?

तत्राह—चैतन्येति[1] । ननु—आत्मनः सर्वात्मनाऽविषयत्वे व्यवहारः कथं स्याद्, व्यवहारस्य स्वसमानविषयव्यवहर्तव्यज्ञानसाध्यत्वादिति—चेत् ? न; लाघवात् व्यवहर्तव्यज्ञानमेव व्यवहारकारणम् न तु स्वसमानविषयत्वेन, गौरवात् । ज्ञानस्य स्वस्मिन् स्वविषयभ्रमसंशयादिनिवर्तकत्वनियमादविषयत्वम्, अन्यथा जडत्वप्रसङ्गात् ।

ननु—एवं सति व्यवहर्तव्यज्ञानस्य चैतन्यस्य सदातनत्वेन सर्वदा घटादिव्यवहारप्रसङ्गः स्वसमानविषयत्वस्य तत्राप्रयोजकत्वात्; नहि कस्यचित्सर्वदा घटादिव्यवहारो भवति । किञ्च वृत्तिनिर्गमनाभ्युपगमवैयर्थ्यप्रसङ्गः; घटादीन्द्रियसन्निकर्षे सति

वस्था में 'स्वयंज्योतिर्भवति' जब प्रकाशवाले आदित्य आदि के उपरत होने से स्वप्रकाश आत्मा, चिद्रूप होकर विविक्त (पृथक्) रूप से स्थित रहता है । उस स्वप्नावस्था में रथ आदि, और उसके योग्य देश (स्थान), प्रभृति कुछ भी नहीं रहता है । 'अथ'—तब, 'रथादीन्' वासनामय रथों को एवं तदुचित देशों को, 'सृजति'—उत्पन्न करता है । अर्थात् निद्रादोष से अपने में (स्वात्मनि) आरोपित कर लेता है । अर्थात् जाग्रदवस्था में जो व्यावहारिक रथ है, तथा उन रथों में जुतनेवाले जो अश्व हैं, तथा उन अश्वों के चलने योग्य जो मार्ग है, उन सभी का स्वप्न में अभाव है । तथापि स्वप्न में रथों को, अश्वों को, तथा उनके मार्गों को उत्पन्न करता है—यह श्रुति बता रही है कि 'स्वप्न' में, जाग्रदवस्था के रथों का अभाव है, और प्रातिभासिक रथादिकों की उत्पत्ति हुआ करती है । यह कहने से सिद्ध हो रहा है कि रथादिकों को विषय करनेवाला जो स्वाप्नज्ञान है, वह 'अनुभवरूप' ही है । स्मृतिरूप नहीं ।

यह 'स्वप्रकाशत्व' क्या है ? 'ज्ञानाऽविषयत्व' को यदि स्वप्रकाशत्व कहते हैं, तो उसे उपनिषद् से ज्ञेयपुरुष बतानेवाली श्रुतियों के साथ विरोध का प्रसंग प्राप्त होगा । यदि 'स्वसमानजातीयज्ञानाऽविषयत्व स्वप्रकाशत्व—कहते हैं तो अप्रसिद्ध होने से असम्भव' ही है । यदि 'स्वविषयत्व' कहते हैं, तो एक ही वस्तु में 'कर्मत्व' तथा 'कर्तृत्व' दोनों का रहना सम्भव नहीं है । एवञ्च 'अवेद्यत्वं स्वप्रकाशत्वम्'—इस लक्षण का खण्डन हो गया । 'फलाव्याप्यत्वं स्वप्रकाशत्वम्'—यह भी नहीं कह सकते । क्योंकि धर्माधर्म में अतिव्याप्ति होगी । 'अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वंस्वप्रकाशत्वम्'—यह भी नहीं कह सकते । क्योंकि 'आत्मा' के असंग होने से निर्धर्मक रहने के कारण योग्यतावच्छेदक का परिज्ञान न हो पाने से 'योग्यत्व' ही असम्भव है । अतः 'स्वप्रकाशत्व' का निरूपण करना दुःसाध्य है ।

उस पर सिद्धान्ती कहता है 'चैतन्याऽविषयत्व ही स्वप्रकाशत्व है' अर्थात् चैतन्य में तादात्म्येन अनारोपित होना (आरोपित न होना) ही स्वप्रकाशत्व है ।

आत्मा को सर्वात्मना अविषय मानने पर व्यवहार कैसे उपपन्न होगा ? इस पर यदि यह कहें कि व्यवहार, 'स्वसमानविषयव्यवहर्तव्यज्ञानसाध्य होने से हो सकेगा । किन्तु यह कहना ठीक नहीं है । लाघव की दृष्टि से 'व्यवहर्तव्यज्ञान' के होने से ही व्यवहार की उपपत्ति हो जाती है । 'अतः 'व्यवहर्तव्यज्ञानमेव व्यवहारकारणम्'—यह कहने में ही 'लाघव' है । 'स्वसमानविषयत्वेन' व्यवहर्तव्य ज्ञान को कहने में 'गौरव' है । क्योंकि यह नियम है कि 'ज्ञान', में स्वविषयभ्रमसंशय आदि की निवर्तकता रहा करती है । उस कारण 'ज्ञान' में अविषयता रहती है, अर्थात् ज्ञान किसी का विषय नहीं होता । अन्यथा 'जडता' प्राप्त होगी ।

शङ्का—ऐसी स्थिति में व्यवहर्तव्यज्ञान का चैतन्य, तो सर्वदा (सदातन) रहने से सर्वदा ही घटादिव्यवहार चलते रहने का प्रसंग आवेगा । इस पर यदि यह कहा जाय कि 'स्वसमानविषयत्व' को व्यवहार के होने में अप्रयोजक माना है, उस कारण सर्वदा व्यवहार का प्रसंग नहीं होगा । कोई भी व्यक्ति, सदा-सर्वकाल घटादि व्यवहार नहीं किया करता । दूसरी बात यह भी

१. तादात्म्येन चैतन्येऽनारोपितत्वमिति यावत् । अत्र च प्रतीयमानत्वस्यापि विशेषणत्वात् न शशश्रृङ्गादीनामप्रतीयमानाना स्वप्रकाशत्वमिति बोध्यम् ।

सृजते" इत्यादिः। स्वयंज्योतिः स्वयंप्रकाशश्चैतन्याऽविषय इति यावत् ॥ १३ ॥

●

साक्षिचैतन्येनैव व्यवहारोपपत्तेः, तस्मात् स्वसमानविषयत्वमन्तरेण व्यवहर्तव्यज्ञानं व्यवहारकारणमित्यसङ्गतमिति—चेत्? नैवम्; व्यवहर्तव्यज्ञानत्वेन व्यवहारत्वेन सामान्यतः कार्यकारणभावः, घटादिव्यवहारे तु स्वसमानविषयत्वेन विशेषतोऽपि, "यत्सामान्ययोः कार्यकारणभावः बाधकं विना तद्विशेषयोरपि" इति न्यायात्, अन्यथा सर्वत्रातिप्रसङ्गात्। एवं च स्वप्रकाशचैतन्यं व्यवहर्तव्यज्ञानत्वेन स्वव्यवहारहेतुः, घटादिव्यवहारे तु स्वसमानविषयत्वेन तद्धेतुः। ततश्च न सर्वदा घटव्यवहारापत्तिः, न वा वृत्तिनिर्गमनवैयर्थ्यम्; इन्द्रियसंयोगस्य ज्ञानशब्दवाच्यत्वाभावेन तद्धेतुत्वायोगात्। तथा चात्मनः स्वप्रकाशत्वेन सामान्यसामग्रीतो व्यवहारः तद्वपरीत्याद्घटादेस्सामान्यविशेषाभ्यामुपपद्यते। तस्माच्चैतन्याविषयत्वं स्वप्रकाशत्वमिति निरवद्यम्।

न च श्रुतिविरोधः; तज्जन्यवृत्तिविषयत्वाभ्युपगमात्, अन्यथा तद्गताज्ञाननिवृत्तिर्न स्यात्। न च "यन्मनसा न मनुते" इति श्रुतिविरोधः, तस्याः फलव्याप्यत्वप्रतिषेधपरत्वात्। इन्द्रियजन्यवृत्त्यभिव्यक्तं चैतन्यं फलम्। न च तद्विषयत्वमात्मनः, स्वप्रकाशत्वात्। तदुक्तम्—

'ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिरपेक्ष्यते। फलव्याप्यत्वमेवास्य शास्त्रकृद्भिर्निवारितम्" ॥ इति।

अथवा—अवेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वं स्वप्रकाशत्वम्; फलाव्याप्यत्वमवेद्यत्वम्। अपरोक्षव्यवहारः प्रमाणजन्यवृत्तिः, तद्योग्यत्वम्[1] आत्मचैतन्यस्वरूपमेव न त्वतिरिक्तम्, येन योग्यतावच्छेदकज्ञानाभावात्तन्निरूपणाभावः प्रसज्येत। एवञ्च घटादौ धर्माधर्मयोश्चातिव्याप्तिवारणाय विशेषणद्वयम्। तस्मात् स्वप्रकाशत्वस्य निरूपितत्वादात्मा स्वयंज्योतिःस्वभावः।

●

है कि व्यवहार को सार्वकालिक यदि कहा जाय तो 'वृत्तिनिर्गमन' का स्वीकार करना ही व्यर्थ हो जायगा। घट और इन्द्रिय का सन्निकर्ष होने पर साक्षिचैतन्य से व्यवहार उपपन्न हो जाता है। उस कारण 'स्वसमानविषयत्व' के विना भी व्यवहर्तव्यज्ञान से व्यवहार हो सकता है—'स्वसमानविषयत्वमन्तरेण व्यवहर्तव्यज्ञानं व्यवहारकारणम्'—यह कहना असंगत है।

समा०—व्यवहर्तव्यज्ञानत्वेन और व्यवहारत्वेन सामान्यतः कार्य-कारणभाव हुआ करता है। किन्तु घटादिव्यवहार में 'स्वसमानविषयत्वेन विशेषतः भी कार्यकारणभाव होता है। क्योंकि एक नियम है कि 'कोई विरोध न हो तो सामान्यों में जो कार्यकारणभाव होता है वही विशेषों में भी—इस नियम के अनुसार होता है। अन्यथा सर्वत्र अतिप्रसंग होने लगेगा। एवञ्च 'स्वप्रकाशचैतन्य'—व्यवहर्तव्यज्ञानत्वेन 'स्व-व्यवहार का हेतु होता है। उसका फल यह होता है कि सर्वदा घटव्यवहार का प्रसंग नहीं हो पाता, तथा 'वृत्तिनिर्गमन' भी व्यर्थ नहीं हो पाता। इन्द्रिय संयोग में 'ज्ञानशब्दवाच्यत्व' के न होने से वह उसमें कारण भी नहीं है। तथा च 'आत्मा', स्वप्रकाश होने से सामान्य सामग्री से व्यवहार की उपपत्ति हो जाती है। और उसके वैपरीत्य से हट्टस्थ रजत का सामान्य और वेशेष के द्वारा व्यवहार उपपन्न हो जाता है। उस कारण 'चैतन्याविषयत्वं स्वप्रकाशत्वम्'—यह निर्दुष्ट लक्षण सिद्ध होता है। और 'तज्जन्यवृत्तिविषयत्व' का स्वीकार करने से श्रुतिविरोध भी नहीं होता है। अन्यथा तद्गत अज्ञाननिवृत्ति नहीं हो सकेगी।

यदि 'यन्मनसा न मनुते'—इस श्रुति के साथ विरोध को कोई बताता है, तो उस पर उत्तर यह है कि वह श्रुति, 'फलव्याप्यत्व' का निषेध कह रही है। इन्द्रियजन्यवृत्ति से अभिव्यक्त होनेवाला 'चैतन्य' ही फल है। 'आत्मा' उसका विषय नहीं है, क्योंकि वह तो 'स्वप्रकाश' है। यह विवरणकार के मत से बताया गया है। भामती-कल्पतरुकार के सिद्धान्त से तो 'शुद्धचैतन्य' में वृत्तिविषयता भी नहीं है। 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामी'त्यादिक तो 'उपहित चैतन्यविषयक है। 'अद्वैतसिद्धि' में भी जडत्वनिरुक्ति के प्रसंग में इस अवेद्यत्व को बताया गया है।

अथवा—'अवेद्य रहते हुए अपरोक्षव्यवहार की योग्यता स्वप्रकाशता है। 'अवेद्यत्व' का अर्थ है—'फलाऽव्याप्यत्व'। 'अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्व' का अर्थ है—प्रमाणजन्यवृत्तियोग्यत्व। एवञ्च फलाव्याप्यत्वेसति प्रमाणजन्यवृत्तियोग्य, केवल 'आत्मचैतन्य-

---

१. अत्रावेद्यत्वं फलाव्याप्यत्वं चेत् शुक्तिरूप्यादीनामपि तत्त्वाद् अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वाच्च स्वप्रकाशत्वापत्तिः, यदि तु वृत्त्यविषयत्वं, तर्ह्यात्मन्यसम्भवः। न च—अपरोक्षव्यवहारपदेन प्रमाणजन्यवृत्तेरेव विवक्षणात् शुक्तिरूप्याकारवृत्तेः प्रमाणाजन्यत्वाद् अवेद्यत्वपदेन फलाव्याप्यत्वविवक्षायामपि न दोष इति—वाच्यम्, एवमपि घटादीनां चैतन्यरूपज्ञानाविषयत्वात् फलाव्याप्यत्वेनोक्तापरोक्षव्यवहारविषयत्वेन च स्वप्रकाशत्वापत्तिरित्यत आह—तद्योग्यत्वं स्वरूपचैतन्यमेवेति, तथा च न कोऽपि दोष इति भावः।

एवं स्वप्नोऽनुभवरूप एव न स्मृतिः; अन्यथा रथं पश्यामीत्यनुभवविरोधप्रसङ्गात् । स्वप्नपदार्थानामन्तःकरणमाया-

•

एवमात्मनः स्वप्रकाशत्वेऽर्थापत्तिरपि प्रमाणम् । तथाहि—अन्तःकरणतद्धर्मगोचरानुभवस्य भासकत्वं स्वप्रकाशत्वं विनाऽनुपपन्नं सत्तस्य स्वप्रकाशत्वं कल्पयति । न चाज्ञायमानस्य वाऽनुव्यवसायविषयस्य वा सन्दिह्यमानस्य वाऽनुभवस्य विषय-सत्तानिश्चायकत्वं सम्भवति । अज्ञायमानस्य विषयसत्तानिश्चायकत्वे निर्विकल्पत्वेन निर्विकल्पादपि विषयसिद्धिप्रसङ्गात् । अनुव्यवसायविषयस्य तथात्वेऽनवस्थापत्तेः । संशयेत्वर्थनिश्चायकत्वाभावस्य सर्वानुभवसिद्धत्वात् । तस्मात् स्वप्रकाशत्वं विनाऽन्तः-करणतद्धर्मविषयानुभवस्य तदवभासकत्वानुपपत्त्या तदवश्यमभ्युपगन्तव्यम् । अन्यथा तस्य जडत्वेन जगदान्ध्यप्रसङ्गः । एवं च जन्यज्ञानस्य स्वप्रकाशत्वे प्रमाणाभावात् अनादिनित्यत्वमवश्यमभ्युपगन्तव्यम् । अन्तःकरणतद्धर्मयोरनुभवस्योत्पत्तिविनाशयोर-निरूपणात् । न च—दुःखज्ञानं नष्टं सुखज्ञानमुत्पन्नमित्यनुभवात्कथं तदनिरूपणम् ? इति—वाच्यम्; साक्षिणोऽनादिनित्यत्वेन सुखदुःखयोरुत्पत्तिविनाशाभ्यां तदुपचारोपपत्तेः अन्यथा "न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते" इत्यादिश्रुतिविरोधप्रसङ्गात् । तस्मा-दनाद्यनन्तासङ्गस्वप्रकाशचिद्रूप आत्मेति सिद्धम् ॥ १३ ॥

एवं प्रसङ्गादात्मनः स्वप्रकाशत्वमुक्त्वा प्रकृतमुपसंहरति—एवमिति । विपक्षे दण्डमाह—अन्यथेति । तस्मात् स्वप्नस्य स्मृतिरूपत्वमनुपपन्नमिति भावः । ननु एवं स्वप्नस्यानुभवत्वे स्वप्नाध्यस्तपदार्थानां रथादीनां तदधिष्ठानतत्त्वसाक्षात्काराभावेन बाधाभावात् निवर्तकान्तराभावाच्च जाग्रदवस्थायामनुवृत्तिः स्यात् । न चेष्टापत्तिः; अनुभवविरोधात्, तस्मात्तदनुभवत्वमनुपपन्नम् ?

•

स्वरूप' ही होगा, उसके अतिरिक्त अन्य कोई नहीं होगा । अतः योग्यतावच्छेदकज्ञानाभाव के कारण उसके निरूपणाभाव का प्रसंग प्राप्त नहीं है । एवञ्च घट आदि में तथा धर्माधर्म में अतिव्याप्तिवारणार्थ दो विशेषण दिये गये हैं । एवञ्च 'स्वप्रकाशत्व' का निरूपण हो सकने से 'आत्मा', स्वयंज्योतिः स्वभाव है, यह सिद्ध हुआ ।

इसी प्रकार आत्मा के स्वप्रकाशत्व में 'अर्थापत्ति' प्रमाण भी है । अन्तःकरण-तद्धर्मगोचर अनुभव का भासकत्व होना स्वप्रकाशत्व' के विना अनुपपन्न होकर उसके 'स्वप्रकाशत्व' की कल्पना कराता है । अज्ञायमान, अथवा अनुव्यवसायविषय, अथवा सन्दिह्यमान अनुभव, 'विषय की सत्ता' का निश्चायक नहीं हुआ करता । अज्ञायमान अनुभव को विषयसत्ता का निश्चायक मानने पर उसके निर्विकल्परूप होने से निर्विकल्प से भी विषय की सिद्धि होने लगेगी । अनुव्यवसायविषय को विषय-सत्ता का निश्चायक मानने पर अनवस्था होने लगेगी । संशय में अर्थनिश्चायकत्वाभाव तो सर्वानुभवसिद्ध ही है । इसलिए 'स्वप्रकाशत्व' के विना अन्तःकरण-तद्धर्मविषयानुभव में तदवभासकता की अनुपपत्ति से उसे अवश्य ही स्वीकार करना होगा । अन्यथा उसके जड़ रहने से जगदान्ध्यप्रसंग होगा । एवञ्च 'जन्यज्ञान' को स्वप्रकाश मानने में कोई प्रमाण न होने से उसमें 'अनादिनित्यत्व' अवश्य मानना चाहिए । अनुभव के धर्म, 'उत्पत्ति-विनाश' नहीं है, वे तो अन्तःकरण के धर्म हैं ।

'दुःखज्ञानं नष्टं', 'सुखज्ञानमुत्पन्नम्'—यह अनुभव तो सभी को होता है । तब कैसे कहा जाय कि उत्पत्ति और विनाश 'अनुभव' के धर्म नहीं हैं ? इसका समाधान तो यह है कि 'साक्षी', अनादि और नित्य होने से सुख और दुःख की उत्पत्ति-विनाश के द्वारा उसमें उपचार किया जाता है । अन्यथा श्रुतिविरोध होने लगेगा । तस्मात् अनादि, अनन्त, असंग, स्वप्रकाश, चिद्रूप 'आत्मा' है—यह सिद्ध हुआ ॥ १३ ॥

प्रसंगवश आत्मा के स्वप्रकाशत्व को बताकर प्रकृत प्रसंग का उपसंहार कर रहे हैं—उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि रथादिकों को विषय करने वाला 'स्वाप्नज्ञान" अनुभव रूप ही है, 'स्मृति' रूप नहीं है । यदि वह अनुभवरूप न हो तो रथ देख रहा हूँ—इस स्वाप्न अनुभव का विरोध होगा । स्वप्नसिद्ध वस्तुएँ अन्तःकरण व माया के द्वारा शुद्ध चेतन पर अध्यस्त होती हैं और जगने पर शुद्ध चेतन का साक्षात्कार होता नहीं, अतः स्वाप्नवस्तुओं का बाध नहीं होता । क्योंकि स्वप्न सोपाधिक भ्रमानुभव है, इसलिए उपाधि के हट जाने से स्वाप्न वस्तुओं की निवृत्ति हो जाती है, जिससे जगने पर उनका अनुभव होता नहीं । स्वप्न में फलीभूत होने वाले कर्म; निद्रा, तथा जाग्रत् में एकत्र हुई वासनाओं से युक्त अन्तःकरण ही स्वप्नभ्रम के लये उपाधि है ।

द्वारा शुद्धचैतन्याऽध्यस्तत्वेन इदानीं तत्साक्षात्काराऽभावेन बाधाऽभावेऽपि सोपाधिकतयोपाधिनिवृत्त्या तन्निवृत्तिरिति न जाग्रदवस्थायामनुवृत्तिः । कर्मनिद्रोपप्लुतमन्तःकरणमुपाधिः ॥ १४ ॥

●

इत्याशङ्क्याह—स्वप्नेति । द्विविधः कार्यनाशः—बाधो लयश्चेति । अधिष्ठानतत्त्वसाक्षात्कारेण बाधो भवति । अनुभूयमानस्याभावप्रमा बाधः । अथवा—अधिष्ठानतत्त्वसाक्षात्कारेण स्वोपादानाज्ञानेन सह कार्यस्य नाशो बाधः । उपादाने सत्यपि कार्यस्य तिरोभावो लयः । तथा च शुक्तितत्त्वसाक्षात्कारेण रजतबाधवदिदानीं स्वप्नपदार्थाधिष्ठानब्रह्मसाक्षात्काराभावेन स्वप्नपदार्थानां बाधाभावेऽप्युपाधिभूतजपाकुसुमादिनिवृत्त्या स्फटिके लौहित्यादिनिवृत्तिवत्स्वप्नपदार्थानामुपाधिनिवृत्त्या निवृत्तिसंभवान्न जाग्रदवस्थायां स्वप्नपदार्थानुवृत्तिरिति भावः । कस्तत्रोपाधिः ? इत्यत आह—कर्मेति । जाग्रद्वासनावासितमित्यपि विशेषणीयम्; अन्यथा निर्वासनस्योपाधित्वायोगात् । उपाधिर्नाम स्वस्मिन्निव स्वसंसर्गिणि स्वधर्मासञ्जकः । तथा च स्वप्नस्य सोपाधिकभ्रमत्वादनुभवत्वमुपपन्नमिति भावः ॥ १४ ॥

●

शंका—उक्त विवेचन के अनुसार 'स्वाप्नज्ञान' को यदि 'अनुभवरूप' कहा जाय तो स्वप्नकालिक रथादि पदार्थों की अनुवृत्ति, जाग्रत् अवस्था में भी होनी चाहिये । क्योंकि जो पदार्थ, जिस अधिष्ठान में कल्पित (आरोपित) होते हैं, उस अधिष्ठान का ज्ञान हो जाने पर उन कल्पित (आरोपित) पदार्थों का नाश (बाध) हुआ करता है । और वे स्वप्नकालीन पदार्थ, 'ब्रह्मचैतन्य' रूप अधिष्ठान पर ही कल्पित (आरोपित) हैं । उस कारण ब्रह्मचैतन्यरूप अधिष्ठान के साक्षात्कार (ज्ञान) से ही उन कल्पित स्वाप्नपदार्थों का नाश (बाध) हो जाएगा । किन्तु अधिष्ठानभूत 'ब्रह्म' का साक्षात्कार (ज्ञान) तो अभी हुआ नहीं है । और 'अधिष्ठान साक्षात्कार' के अतिरिक्त अन्य किसी से भी उन स्वाप्न पदार्थों की निवृत्ति नहीं होती है । अर्थात् उनका निवर्तक अन्य कोई नहीं है । इसलिये जाग्रदवस्था में उन स्वाप्न पदार्थों की अनुवृत्ति अवश्य होनी चाहिये । यदि इस अनुवृत्ति को 'इष्टापत्ति' मानोगे तो सब लोगों के अनुभव के साथ विरोध होगा । क्योंकि सभी लोग, जाग्रदवस्था में स्वाप्न पदार्थों के अभाव का ही अनुभव करते हैं । उस कारण 'स्वाप्नज्ञान' को अनुभवरूप कहना संभव नहीं है ।

समा०—'कार्य' का नाश दो प्रकार से होता है—(१) 'बाध' से और (२) 'लय' से । अधिष्ठान के वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार करके 'कार्य' का अपने उपादानकारणरूप 'अज्ञान' के सहित जो 'नाश' होता है, उसे 'बाध' शब्द से कहा जाता है । जैसे—शुक्तिरूप अधिष्ठान के साक्षात्कार से 'रजत' रूप कार्य का अपने उपादानकारण 'अज्ञान' के सहित नाश होता है । इसी को 'बाध' कहते है और 'उपादानकारण' के विद्यमान रहनेपर भी 'कार्य' का जो 'तिरोभावमात्र' होता है, उसे 'लय' कहते हैं । स्वाप्निक रथादिपदार्थ, माया के द्वारा 'शुद्धचैतन्य' में अध्यस्त हैं, और उस शुद्धचैतन्यरूप अधिष्ठान का साक्षात्कार, जाग्रत्काल में अनधिकारी पुरुष को है नहीं, उस कारण शुक्तिरजत के समान उन स्वाप्न पदार्थों का बाध (नाश) तो हो नहीं सकेगा । अतः पूर्वोक्त रीति से 'स्वप्न' को 'सोपाधिक भ्रम' ही कहना होगा । जैसे—जपाकुसुमादिरूप उपाधि की निवृत्ति होने से स्फाटिक लौहित्य की निवृत्ति होती है । उसी तरह 'उपाधि' की निवृत्ति होने से उन स्वाप्न पदार्थों की निवृत्ति का होना भी संभव है । उस कारण जाग्रदवस्था में उन स्वाप्न पदार्थों की अनुवृत्ति का होना संभव हो नहीं है । जाग्रत् के संस्कार, तथा स्वप्न में भोग देनेवाला कर्म और निद्रादोष—इन तीनों से विशिष्ट हुआ अन्तःकरण ही 'स्वाप्नभ्रम' में 'उपाधि' है । उस अन्तःकरणरूप उपाधि की निवृत्ति से जाग्रदवस्था में उन स्वाप्न पदार्थों की निवृत्ति होती है ।

यद्यपि जाग्रदवस्था में वह 'अन्तःकरण' 'स्वरूप' से विद्यमान ही है, तथापि उस जाग्रदवस्था में वह 'अन्तःकरण' स्वाप्नभोगप्रद नहीं है, क्योंकि वह स्वाप्नभोगप्रद कर्म तथा 'निद्रादोष' से युक्त नहीं है ।

जो पदार्थ, अपने में स्थित धर्मों को अपने से संबंधित पदार्थ में आरोपित करता है, उसे 'उपाधि' कहते हैं । जैसे जपाकुसुम अपने में 'रक्तवर्ण' को अपने से संबंधित स्फटिकमणि में आरोपित करता है, उस कारण 'जपाकुसुम' को 'उपाधि' शब्द से कहा जाता है । उसी तरह वह 'अन्तःकरण' भी अपने 'कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि धर्मों को अपने से संबंधित 'आत्मा' में आरोपित करता है । उसकारण उस अन्तःकरण को भी 'उपाधि' शब्द से कहा जाता है । इस रीति से स्वप्नद्रष्टा मनुष्य को सोपाधिक भ्रम होने से 'स्वप्न' को 'अनुभव' रूप ही कहा गया है, 'स्मृति' रूप नहीं ॥ १४ ॥

केचित्तु स्वप्नाऽध्यासं निरुपाधिकं वदन्ति । तत्र विरोधिजाग्रत्प्रत्ययेन तन्निवृत्तिः ॥ १५ ॥

●

मतान्तरमाह—केचित्त्विति । ननु स्वप्नाध्यासस्य निरुपाधित्वे इदानीमधिष्ठानसाक्षात्काराभावेन स्वप्नपदार्थानां बाधाभावाज्जाग्रदवस्थायामनुवृत्तिः स्यात्, इत्याशङ्क्य रजतभ्रमानन्तरं शुक्तितत्त्वसाक्षात्काराभावेऽपि विरोधिदण्डादिज्ञानाद्यथा रजतभ्रमनिवृत्तिरुपादाने सत्यपि, तथाऽधिष्ठानसाक्षात्काराभावेऽपि विरोधिजाग्रत्प्रत्ययेन स्वप्नपदार्थनिवृत्तिरुपपद्यते, अतो न जाग्रदवस्थायामनुवृत्तिरित्याह—तत्रेति । [1]न स्वप्नस्य निरुपाधिकत्वे । न च—उत्पन्नब्रह्मसाक्षात्काराणामज्ञानस्य निवृत्तत्वात् स्वप्नाध्यासो न स्यादिति—वाच्यम् । ज्ञानेनाऽज्ञाने निवृत्तेऽपि तत्कार्यनिवृत्तेरभावात्, स्वप्नपदार्थानां साक्षादन्तःकरणोपा[2]दानत्वेन ज्ञानिनामपि स्वप्नाध्यासो भवत्येव । अन्यथा जाग्रदवस्थायामपि विषयाभावप्रसङ्गात् । तस्मात्स्वप्नोऽनुभव एवेति भावः ॥ १५ ॥

●

कुछ ग्रन्थकारों का कहना है कि वह 'स्वप्नाध्यास'—'सोपाधिकभ्रम' नहीं है, अपितु 'शुक्ति-रजतभ्रम' के समान 'निरुपाधिक भ्रम' ही है।

शंका—'स्वप्नाध्यास' को 'निरुपाधिक भ्रम' कहने पर उन स्वप्नकालिक पदार्थों की जाग्रदवस्था में भी अनुवृत्ति होनी चाहिये। क्योंकि निरुपाधिक भ्रम की निवृत्ति, 'अधिष्ठान' के ज्ञान से हुआ करती है। और 'स्वप्नभ्रम' का अधिष्ठान 'ब्रह्म-चैतन्य' है। किन्तु अनधिकारी पुरुष को जाग्रदवस्था में ब्रह्मचैतन्यरूप अधिष्ठान का साक्षात्कार तो है नहीं। उस कारण उन स्वाप्न पदार्थों का जाग्रदवस्था में बाध, न हो पाने से उनकी अनुवृत्ति जाग्रदवस्था में भी होनी चाहिये।

समा०—जैसे 'रजतभ्रम' का अधिष्ठान जो 'शुक्ति' है, उस शुक्ति का साक्षात्कार (प्रत्यक्ष) न होने पर भी तथा 'रजतभ्रम' की निवृत्ति, विरोधी जाग्रत्प्रत्यय से अर्थात् विरोधी दण्डादि पदार्थों के ज्ञान से हो जाती है, उसी प्रकार 'स्वाप्नभ्रम' के अधिष्ठानरूप 'ब्रह्मचैतन्य' का साक्षात्कार न होने पर भी 'विरोधिजाग्रत्प्रत्यय' से अर्थात् जाग्रत्कालिक अन्यान्य विरोधी पदार्थों के ज्ञान से उन स्वाप्न पदार्थों की निवृत्ति हो जाती है। इसलिये उन स्वाप्न-पदार्थों की अनुवृत्ति, जाग्रदवस्था में नहीं होती। उस कारण रजतभ्रम के समान ही 'स्वाप्नभ्रम' भी 'निरुपाधिक भ्रम' ही है।

शंका—'स्वाप्नभ्रम' को यदि 'निरुपाधिक भ्रम' कहेंगे तो 'ब्रह्मज्ञानी' अधिकारी पुरुष को 'स्वप्नभ्रम' (स्वप्न) नहीं होना चाहिये। क्योंकि 'स्वाप्नपदार्थों' का अधिष्ठान जो 'ब्रह्मचैतन्य' है, उसका साक्षात्कार तो उसे हो चुका है। उस कारण उस ब्रह्मज्ञानी पुरुष का 'अज्ञान' (जो स्वाप्नभ्रम का उपादान कारण है) भी निवृत्त हो गया है। तब ब्रह्मज्ञानी को 'स्वप्न' क्यों दिखाई देते हैं?

समा०—ब्रह्मसाक्षात्कार होने से 'अज्ञान' के निवृत्त होने पर भी उस अज्ञान के कार्यरूप अन्तःकरण आदि की निवृत्ति, 'प्रारब्ध कर्मों का नाश' जब तक नहीं हो पाता, तब तक नहीं होती। प्रारब्धकर्म के नाश के साथ ही अन्तःकरण की निवृत्ति होती है। यह 'अन्तःकरण' ही 'स्वाप्न पदार्थों' का साक्षात् 'उपादानकारण' है। इसलिये 'प्रारब्धकर्मों के नष्ट होने तक ब्रह्मज्ञानी को भी स्वप्नभ्रम का होना संभव है। अर्थात् उसे भी स्वप्न दिखाई देते हैं। ब्रह्मसाक्षात्कार से 'अज्ञान' को निवृत्ति होने से यदि ब्रह्मज्ञानी को 'स्वाप्नभ्रम' का होना नहीं मानोगे, तो उस ब्रह्मज्ञानी को जाग्रदवस्था में भी शब्दादि विषयों का अनुभव नहीं होना चाहिये, किन्तु जाग्रदवस्था में वह ब्रह्मज्ञानी पुरुष, सभी व्यवहार करता रहता है, यह सभी का प्रत्यक्ष अनुभव है। इसलिये कहना होगा कि ब्रह्मज्ञानी पुरुष को भी स्वप्नभ्रम हुआ करता है। तथापि वह ब्रह्मज्ञानी पुरुष, 'अज्ञानी पुरुषों' के समान अपने स्वरूप में किसी व्यवहार को नहीं मानता, अर्थात् उस व्यवहार करने का अभिमान उसे नहीं रहता ॥ १५ ॥

---

१. अत्र यद्वक्तव्यं तत् पूर्वमेवोक्तम् ।

२. यद्यपि स्वाप्निकानां रथादीनां अविद्योपादानकत्वमेव, न तु कामादीनामिवान्तःकरणोपादानकत्वम् । अन्यथा तेषामिव स्वाप्निकानामपि व्यावहारिकत्वापत्तेः, तथापि अहंकारोपहितचैतन्यस्य स्वाप्निकविवर्तोपादानत्वेनाधिष्ठानत्वपक्षे रजतं प्रति शुक्तेरिवाधिष्ठानावच्छेदकत्वात् गौण, उपादानत्वव्यवहारोऽन्तःकरणस्याप्युपपन्न इति मन्तव्यम् ।

पुनश्च विपर्ययः प्रकारान्तरेण द्विविधः—अन्तःकरण[1]वृत्तिरूपोऽविद्यावृत्तिरूपश्चेति। स्वप्नादिरन्तःकरणवृत्तिरूपः। रजतादिभ्रमोऽविद्यावृत्तिरूपः। संशयस्त्वविद्यावृत्तिरेव[2]। तत्रैवं सति निरुपाधिकविपर्ययोनिदिध्यासनेन निवर्तते सोपाधिकस्तूपाधिनिवृत्त्या। निदिध्यासनं निरूपितमेव। तदपि शारीरकतृतीयाऽध्यायपठनेन निष्पद्यते।

●

प्रकारान्तरेण विपर्ययं विभजते—पुनश्चेति। अन्तःकरणवृत्तिरूपं[3] विपर्ययं व्युत्पादयति—स्वप्नेति। आदिशब्देन मनोराज्यनष्टपुत्रसाक्षात्कारो गृह्यते। द्वितीयं व्युत्पादयति—रजतादीति। आदिशब्देन रज्जुसर्पादि गृह्यते। न च—रजतभ्रमस्येदमाकारवृत्त्युपहितसाक्षिरूपतया कथमविद्यावृत्तिरूपत्वम्? इति—वाच्यम्; साक्षिणोऽनादिनित्यतयोत्पत्तिविनाशशून्यत्वेनान्याकारवृत्तिनाशेनान्यसंस्कारोत्पत्तावतिप्रसक्त्या कालान्तरे प्रातिभासिकरजतस्मृतिहेतुसंस्कारार्थं तदाकाराविद्यावृत्तेरावश्यकत्वेनोक्तत्वादिति भावः। ननु—किं संशयोऽपि वृत्तिद्वयात्मकः? नेत्याह—संशयस्त्विति। ननु—विपर्ययनिवृत्तिः कस्मात् भवति? इत्यत आह—तत्रेति। एवमुक्तप्रकारेण द्विविधे विपर्यये निरूपिते सति तयोर्मध्ये निदिध्यासनेन निरुपाधिकस्य निवृत्तिमाह—निरुपाधिकेति। सोपाधिकः कस्मान्निवर्तत इत्यत आह—सोपाधिकस्त्विति। निवर्तते इत्यनुषज्यते। वाक्यान्तरे श्रुतपदस्य वाक्यान्तरे योजनमनुषङ्गः। तर्हि तन्निरूप्यतामित्याशङ्क्याह—निदिध्यासनमिति। शब्दप्रमाणनिरूपणावसरे तात्पर्यनिरूपणप्रसङ्गेनेति शेषः। तन्निदिध्यासनं कुतो निष्पद्यते? इत्याशङ्क्याह—तदपीति।

ततः किम्? इत्यत आह—एवं चेति। श्रवणेन मानगताऽसम्भावना निवर्तते, मननेन मेयगताऽसम्भावना, निदिध्यासनेन विपरीतभावना। तदुक्तम्—

"शृण्वन्त्वज्ञाततत्त्वास्ते जानन् कस्माच्छृणोम्यहम्। मन्यन्तां संशयापन्ना न मन्येऽहमसंशयः॥

●

पहले बता चुके हैं कि 'विपर्यय'—दो प्रकार का होता है, (१) निरुपाधिक और (२) सोपाधिक। उसी को अभी तक बताया गया। अब उक्त विपर्यय, 'रजतभ्रम' के उपादानकारणरूप 'अज्ञान' के विद्यमान रहने पर भी उसका ही अन्य प्रकार से पुनः विभाग बता रहे हैं। पूर्वोक्त भ्रमरूप विपर्यय, पुनः दो प्रकार का होता है। उनमें से एक (१) तो 'अन्तःकरणवृत्तिरुप' होता है, और दूसरा (२) अविद्यावृत्तिरुप' होता है। उनमें से, 'स्वाप्न पदार्थों का ज्ञान, तथा मनोराज्य, और नष्ट पुत्रादिकों का प्रत्यक्ष इत्यादि भ्रम, तो 'अन्तःकरणवृत्तिरुप' हैं। और 'शुक्ति' में 'रजतज्ञान' या 'रज्जु' में 'सर्प' का ज्ञान—इत्यादि भ्रम तो, 'अविद्यावृत्तिरुप' है। इसी प्रकार पूर्वोक्त 'संशय' भी 'अविद्यावृत्तिरुप' ही है। 'भावाऽभावकोटिक संशय',—एक अंश में तो 'अन्तःकरणवृत्तिरुप' है, और दूसरे अंश में 'अविद्यावृत्तिरुप' है—यह बात 'दृश्यत्वनिरुक्ति' के उपक्रम में ब्रह्मानन्दसरस्वती ने बताई है।

शंका—'रजतभ्रम'—इदमाकारवृत्ति से उपहित साक्षीरुप होने से उसे 'अविद्यावृत्ति' रूप क्यों कहा जा रहा है?

समा०—उक्त शंका करना उचित नहीं है। 'साक्षी' के अनादिनित्य होने से, वह उत्पत्ति-विनाश रहित है। अन्याकारवृत्ति के नष्ट होने से अन्यसंस्कार की उत्पत्ति में उसकी अतिप्रसक्ति होती है। अतः कालान्तर में होने वाली प्रातिभासिक रजतस्मृति के हेतुभूत संस्कारोत्पत्ति के लिये तदाकार हुई 'अविद्यावृत्ति' की आवश्यकता होने से उसे कहा गया है।

शंका—उक्त 'विपर्यय' की निवृत्ति किस उपाय से होती है?

समा०—उक्त प्रकार से द्विविध विपर्यय की निवृत्ति का उपाय बता रहे हैं। उनमें से पूर्वोक्त 'अहम् अज्ञः'—यह 'निरुपाधिक विपर्यय' 'निदिध्यासन' से निवृत्त होता है। और सोपाधिक तो उपाधि हटने से ही हटता है। पूर्वोक्त 'विपरीत भावनारूप विपर्यय' का निवर्तक जो 'निदिध्यासन' है, उसका स्वरूप, द्वितीय परिच्छेद में बता चुके हैं। तथा शारीरक मीमांसा के तृतीय अध्याय में भी 'निदिध्यासन' को बताया गया है।

एवं च 'श्रवण' से 'प्रमाणगत असंभावना' निवृत्त होती है। 'मनन' से 'प्रमेयगत असम्भावाना' निवृत्त होती है। और 'निदिध्यासन' से विपरीत भावना' निवृत्त होती है। अन्य प्रतिबन्धक न हों तो इन सब के निवृत्त होने पर 'अधिकारी

---

१. नेति भास्तु। तत्रपदस्यार्थः स्वप्नेत्यादिः।

२. भावाभावकोटिकसंशयस्यैकांशेऽन्तःकरणवृत्तिरूपत्वमपरांशेऽविद्यावृत्तिरूपत्वमिति दृश्यत्वनिरुक्त्युपक्रमे ब्रह्मानन्दसरस्वत्यो निरूपयन्ति।

३. साम्प्रदायिकास्तु सर्वो विपर्ययोऽविद्यावृत्तिरूप एवेति स्वीचिकीर्षन्ति। तन्मतेऽत्राप्यन्तःकरणपदं तदवच्छिन्नचिन्निष्ठाविद्यापरं ज्ञेयम्। न चैवं विपर्ययद्वैविध्यविरोधः, अधिष्ठानभेदेनोपपत्तेरिति दिक्।

एवं च श्रवणमनननिदिध्यासनैरसम्भावनाविपरीतभावनानिवृत्तावसत्यन्यस्मिन्प्रतिबन्धे तत्त्वमस्यादिवाक्यादहं ब्रह्मास्मीति अपरोक्षप्रमा जायते। तदुक्तम् "ऐहिकमप्यप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात्" इति ॥ १६ ॥

•

विपर्यस्तो निदिध्यासेत् किं ध्यानमविपर्यये।" इति॥ ननु श्रवणमनननिदिध्यासनानि कुर्वतां केषांचित् कुतः साक्षात्कारो न जायते? इत्याशङ्क्याह—असत्यन्यस्मिन्निति। भूतभाविवर्तमानः प्रतिबन्धः येषां यावत् वर्तते ज्ञानोत्पत्तौ, तावत्तेषां न ज्ञानोदयः श्रवणादि कुर्वतामपि, येषां स नास्ति तेषां विचारिततत्त्वमस्यादिवाक्याद्ब्रह्मसाक्षात्कारो भवत्येवेत्यर्थः। उक्तार्थे व्याससूत्रं संवादयति—तदुक्तमिति। तृतीये स्थितम्—ब्रह्मज्ञानमुद्दिश्यान्तरङ्गबहिरङ्गसाधनानि निरूपितानि। तत्र कृतैः श्रवणमनननिदिध्यासनैर्ब्रह्मज्ञानमिहैव भवति वा, अमुत्रापि वा। तत्रहैवेतिप्राप्तम्; अस्मिन्नेव जन्मनि ब्रह्मापरोक्षज्ञानं मे भूयादिति श्रवणादीनामनुष्ठानात्? ननु—यज्ञादीनामपि ब्रह्मज्ञानसाधनत्वश्रवणेन तेषामामुष्मिफलत्वात् कथं श्रवणादिनाऽस्मिन्नेव जन्मनि ज्ञानं स्यात् इति—चेत्? न; तेषां विविदिषाहेतुत्वेन साक्षात् ज्ञानसाधनत्वाभावात्, श्रवणादीनां तु साक्षात् ज्ञानसाधनत्वेन तेषु सत्सु ब्रह्मज्ञानमिहैव भवत्येव, तस्य प्रमाणफलत्वात्। तस्माद्ब्रह्मज्ञानमैहिकमेवेति प्राप्ते।

ब्रूमः, अप्रस्तुतप्रतिबन्धे ब्रह्मज्ञानमैहिकं भवति, प्रस्तुतप्रतिबन्धे त्वामुष्मिकमपि। तथाच श्रुतिः—प्रतिबन्धयुक्तानामात्मनो दुर्ज्ञेयतां दर्शयति—"श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विदुः" इति। स्मृतिरपि—"आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्" इत्युक्तार्थं दर्शयति। ननु जन्मान्तरकृतश्रवणादीनां ब्रह्मसाक्षात्कारहेतुत्वं कुतोऽवगम्यत इति चेत्? "गर्भ एवैतच्छयानो वामदेव एवमुवाच"त्यादि श्रुत्या। तस्मात् श्रवणाद्यनुतिष्ठतः पुंसः प्रस्तुतप्रतिबन्धाभावे इहैव ब्रह्मापरोक्षज्ञानं भवति तस्मिन् सत्यमुत्र जन्मान्तरेऽपि भवति। यत्कर्म फलोन्मुखं ब्रह्मसाक्षात्कारोत्पत्तिविरोधिवासना वा स एव प्रतिबन्धः तदभावे ज्ञानमैहिकम्, अन्यथा वैपरीत्यमिति सिद्धम् ॥ १६ ॥

•

पुरुष' को 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य से 'अहं ब्रह्मास्मि'—इत्याकारक 'अपरोक्षज्ञान' उत्पन्न होता है। उस अपरोक्षज्ञान के होने पर 'अज्ञान-निवृत्ति' पूर्वक 'परमानन्द' की प्राप्ति होती है।

शंका—'श्रवण-मनन-निदिध्यासन' को करते हुए भी कितने ही लोगों को 'ब्रह्मसाक्षात्कार' नहीं हो पाता, यह देखा गया है। अतः उसके न हो पाने में क्या कारण है?

समा०—पहले बता चुके हैं कि जैसे—'आत्मज्ञान' के उत्पन्न होने में 'असंभावना' तथा 'विपरीतभावना' रूप प्रतिबन्ध हुआ करते हैं, वैसे ही (१) भूत, (२) भावी, (३) वर्तमान—यह तीन प्रकार का अन्य प्रतिबन्ध भी होता है। ये प्रतिबन्ध, जिन पुरुषों में विद्यमान रहते हैं, उनको 'श्रवण' आदि के करने पर भी 'आत्मसाक्षात्कार' नहीं हो पाता। और जिन पुरुषों को यह प्रतिबन्ध नहीं रहता, उनको श्रवणादि के अनन्तर 'तत्त्वमसि' महावाक्य से 'ब्रह्मसाक्षात्कार' अवश्य होता है। इस रहस्य को बादरायण व्यासने अपने ब्रह्मसूत्र में ऐहिक इत्यादि सूत्र से बताया है। उक्त सूत्र का अभिप्राय यह है कि फलोन्मुख' हुए कर्म-'विशेष को 'प्रस्तुत प्रतिबन्ध कहते हैं। अथवा ब्रह्मसाक्षात्कार के उत्पन्न होने में जो 'विरोधी वासनाविशेष' है, उसे 'प्रस्तुत प्रतिबन्ध' कहते हैं। इस प्रस्तुत प्रतिबन्ध के न रहने पर (अभाव में) 'श्रवण-मननादि' के करने से इसी जन्म में 'ब्रह्मसाक्षात्कार' हो जाता है। और 'प्रस्तुत प्रतिबन्ध' के विद्यमान रहने पर जन्मान्तर में भी ब्रह्मसाक्षात्कार हो सकता है। जैसे 'वामदेव' आदि को हुआ है। जो 'पुरुष', भूत-भावी-वर्तमान प्रतिबन्ध से युक्त रहता है, उसके लिये 'आत्मा' को दुर्विज्ञेयता को श्रुति-स्मृति ने भी बताया है। श्रुति कहती है—कितने ही लोगों को उसके सम्बन्ध में 'श्रवण' भी प्राप्त नहीं होता, अर्थात् आत्म-सम्बन्धी श्रवण करने की इच्छा तक नहीं होती, यदि जैसे-तैसे इच्छा हो भी तो वैसा अवसर ही प्राप्त नहीं होता। कितने ही लोग, आत्मश्रवण करते हुए भी किसी 'प्रतिबन्ध' के कारण 'आत्मसाक्षात्कार' नहीं कर पाते।

शंका—यज्ञ आदि को भी ब्रह्मज्ञान का साधन होना बताया गया है, क्योंकि उनका 'फल' आमुष्मिक (पारलौकिक) होता है। अतः प्रतिबन्ध रहित पुरुष को 'श्रवणादि' साधनों से इसी जन्म में 'आत्मज्ञान' का होना कैसे सम्भव होगा?

समा०—उन यज्ञादिकों को 'विविदिषाहेतुत्व' होने से ,साक्षात् ज्ञानसाधनत्व' नहीं है, किन्तु 'श्रवणादिकों' को 'साक्षात् ज्ञानसाधनत्व' श्रुत है। अतः श्रवणादिकों के होने पर इसी जन्म में 'ब्रह्मज्ञान' अवश्य हो जाता है। क्योंकि वह तो 'प्रमाण' का 'फल' है इसलिए 'ब्रह्मज्ञान' 'ऐहिक फल' है, 'आमुष्मिक फल' नहीं है। किन्तु यह समाधान, अभी पर्याप्त नहीं है। अतः यह और कहना चाहिये कि 'अप्रस्तुत प्रतिबन्धे ब्रह्मज्ञानमैहिकं भवति', 'प्रस्तुतप्रतिबन्धे तु आमुष्मिकमपि'। इतना निवेश करने पर समाधान पर्याप्त हो जाता है।

प्रतिबन्धस्त्रिविधः—भूतभाविवर्तमानभेदात्। भूतप्रतिबन्धः पूर्वाऽनुभूतविषयस्याऽऽवेशेन पुनः पुनः स्मरणम्। तदुपाधिकब्रह्माऽनुसंधानेन तन्निवृत्तिः। यथा भिक्षोः पूर्वानुभूतमहिष्यादिस्मरणेन तत्त्वज्ञानानुत्पत्तौ गुरूपदिष्टतदुपाधिकब्रह्माऽनुसन्धानेन तन्निवृत्तिरिति वदन्ति।

भाविप्रतिबन्धो द्विविधः—प्रारब्धशेषो ब्रह्मलोकेच्छा चेति।

●

सूत्रोक्तप्रतिबन्धं विभजते—प्रतिबन्ध इति। तत्राद्यप्रतिबन्धं तन्निवृत्त्युपायं च सदृष्टान्तमाह—भूतेति। भाविप्रतिबन्धं विभजते—भावीति। ननु प्रारब्धस्य कर्मणो ज्ञानप्रतिबन्धकत्वे कस्यचिदपि ब्रह्मसाक्षात्कारो न स्यात्, तथाच "श्रोतव्यः" इत्यादि विधेरप्रामाण्यापत्तिरित्याशङ्क्य तत्परिहाराय प्रारब्धं कर्म विभजते—प्रारब्धमिति। तत्राद्यं फलभोगेनैव क्षीयते इत्याह—तत्रेति। तयोर्मध्ये इत्यर्थः। स्वर्गो मे भूयादित्यादीच्छा फलाभिसन्धिरस्तु, ततः किम्? तत्राह—तस्मिन्निति। फलाभिसन्धिकृते कर्मणि। तत्र युक्तिमाह—तस्येति। इच्छाघटितसामग्र्याः प्रबलत्वेनेतरकार्योत्पत्तिप्रतिबन्धकत्वात्तस्य प्राबल्यमिति भावः। फलाभिसन्धिकृतस्य प्राबल्ये प्रमाणमाह—तथाचेति। सः पुरुषः यथाकामः यत्फलकामवान् यत्फलानुकूलसंकल्पः। तत्क्रतुः। संकल्पितं कर्म तत्कर्म। तदभिसम्पद्यते कर्मानुरूपं फलं प्राप्नोतीत्यर्थः। फलितमाह—तादृशेति।

●

शङ्का—जन्मान्तर में किये गये श्रवणादिक भी 'ब्रह्मसाक्षात्कार'—होने में कारण होते हैं, यह कैसे जाना जाय?

समा०—गर्भस्थ वामदेव की अद्वैतनिष्ठा और मोक्षानुभूति बताने वाली श्रुति के वचन से जाना जाता है। अतः श्रवणादि साधनों का अनुष्ठान करने वाले पुरुष को 'प्रस्तुत प्रतिबन्ध' का अभाव रहने पर इसी जन्म में (इसी लोक में) ब्रह्म-साक्षात्कार हो जाता है, और 'प्रस्तुत प्रतिबन्ध के विद्यमान रहने पर 'जन्मान्तर' में भी होता है॥ १६॥

प्रतिबन्धों के तीन भेद हैं—(१) भूत, (२) भावी, (३) वर्तमान। इन तीन प्रतिन्धों का स्वरूप तथा उनकी निवृत्ति के उपाय को दृष्टान्त के साथ बता रहे हैं—उक्त तीन प्रकार के प्रतिबन्धों में से पहिला (१) भूतप्रतिबन्ध यह है—'पूर्वानुभूत प्रियविषय के दृढसंस्कारवशात् उसका 'ब्रह्मचिन्तनकाल' में बार-बार स्मरण होना'—इसी को 'भूतप्रतिबन्ध' कहते हैं। उस 'भूतप्रतिबन्ध' की निवृत्ति, अनुभूत विषय से उपहित 'ब्रह्म' के चिन्तन करने से होती है। जैसे—किसी संन्यासी ने पूर्व के गृहस्थाश्रम में जिन 'महिषी' आदि पदार्थों का अनुभव किया था, उन सब पदार्थों का स्मरण, उस संन्यासी को ब्रह्म-चिन्तन काल में भी बार-बार हो आने से तत्त्वज्ञानोत्पत्ति नहीं हो पा रही थी, यह देखकर तत्त्वज्ञानोपदेशक गुरु ने उस भूत-प्रतिबन्ध की निवृत्ति के लिये उस संन्यासी को उन अनुभूत महिषी आदि पदार्थों से 'उपहित ब्रह्म' के चिन्तन करते रहने का उपदेश किया। उस उपहितब्रह्म का चिन्तन करने से उस संन्यासी का 'भूतप्रतिबंध' निवृत्त हो गया। तदनन्तर उस संन्यासी को श्रवणादिसाधनों के अनुष्ठान से 'आत्मसाक्षात्कार' हुआ।

अब भाविप्रतिबन्ध का विभाग बताते हैं—यह भाविप्रतिबन्ध तो (१) प्रारब्धकर्म का शेष, तथा (२) ब्रह्मलोक की इच्छा के भेद से दो प्रकार का होता है। इस भाविप्रतिबन्ध के विद्यमान रहने पर श्रवणादिसाधनों का अनुष्ठान करते हुए भी 'आत्मज्ञान' नहीं हो पाता।

शंका—प्रारब्धकर्म को यदि 'आत्मज्ञान' के उत्पन्न होने में 'प्रतिबन्धक' माना जाय तो किसी को भी 'आत्म-साक्षात्कार' (आत्मज्ञान=ब्रह्मज्ञान) नहीं हो सकेगा। क्योंकि जब तक 'शरीर' की स्थिति है, तब तक 'प्रारब्धकर्म' का नाश नहीं होता है। और उस प्रारब्धकर्मरूप प्रतिबन्ध के विद्यमान होने के कारण जब किसी को भी ब्रह्मसाक्षात्कार नहीं होगा, तब ब्रह्मसाक्षात्कार कराने वाले श्रवणादि साधनों की विधायक 'आत्मा वाऽरे श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः'—इत्यादि श्रुतियों को अप्रमाण कहने का प्रसंग आवेगा।

समा०—उक्त शंका का परिहार करने के लिये 'प्रारब्धकर्म' का विभाग करते हैं—'प्रारब्ध कर्म' दो प्रकार का होता है। (१) फलाभिसन्धिकृत प्रारब्ध, और (२) केवल प्रारब्ध। फल की इच्छा को 'फलाभिसन्धि' कहते हैं। उस फलाभिसन्धि से किये हुए कर्म को 'फलाभिसन्धिकृत' कहते हैं। जैसे—अमुक कर्म, हम स्वर्गफल की प्राप्ति की इच्छा से कर रहे हैं। तथा फलाभिसन्धि के विना किये हुए कर्म को 'केवल प्रारब्ध' कहते हैं।

इनमें से 'फलाभिसन्धिकृत प्रारब्ध कर्म' का तो उसके फलभोग को प्राप्त करने से ही नाश होता है। अन्य किसी उपाय से उस कर्म का नाश नहीं होता। अतः फलाभिसंधिकृत कर्म के विद्यमान रहते, श्रवणादिसाधनों का अनुष्ठान करने पर

तत्र प्रारब्धकर्म द्विविधम्। फलाऽभिसंधिकृतं केवलं चेति। तत्र फलाभिसन्धिकृतं फलं दत्त्वैव नश्यति। तस्मिन् सति ज्ञानं नोत्पद्यते; तस्य प्रबलत्वात्। तथाच श्रुतिः—"स यथाकामो भवति तथा क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते यत् कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते"—इति। तादृशप्रारब्धशेषो भाविप्रतिबन्धः।

केवलं प्रारब्धं तत्त्वज्ञानहेतुः पापनिवृत्तिद्वारा। तथाच श्रुतिस्मृती "धर्मेण पापमपनुदति" "ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात् पापस्य कर्मणः" इति। "कषाये कर्मभिः पक्वे ततो ज्ञानं प्रवर्तते" इति च। एवञ्च भाविप्रतिबन्धस्य प्रारब्धशेषस्य भोगेनानिवृत्तौ सत्यपि श्रवणादौ न ज्ञानोदयः। यथाहुः "एकेन जन्मना क्षीणो भरतस्य त्रिजन्मभि"रिति।

द्वितीयस्य फलाभिसन्धिरहितस्य प्रारब्धस्य कर्मणः पुण्यस्य ब्रह्मज्ञानोत्पत्त्यनुकूलतामाह—केवलमिति। फलाभिसन्धिरहितमित्यर्थः। सुकृतप्रारब्धस्य फलाभिसन्धिरहितस्य पापनिवृत्तिद्वारा तत्त्वज्ञानानुकूलत्वे प्रमाणमाह—तथाचेति। पापं प्रारब्धं फलाभिसन्धिकृतं केवलं चोभयमपि ज्ञानप्रतिबन्धकप्रबलतरोत्तेजकेन तिरोभूय गच्छति। अन्यथा ज्ञानोत्पत्तिं प्रतिबध्नातीति भावः। ननु भाविप्रतिबन्धस्य कियता कालेन क्षयो भवतीत्याशङ्क्य तत्र नियमो नास्तीत्यत्र सम्मतिमाह—यथाहुरिति। रामस्यैकेन जन्मना भाविप्रतिबन्धः क्षीणः, भरतस्य त्रिभिर्जन्मभिः क्षीणः, तथा च न कालनियम इति भावः।

द्वितीयं भाविप्रतिबन्धं विद्यारण्यवचनेन स्पष्टयति – ब्रह्मलोकेति। अभिवाञ्छायाम् इच्छायां। तां निरुध्येति योजना। ननु कृतश्रवणादीनां व्यर्थत्वात् स किमधः पतति? नेत्याह—स पुनरिति। तत्र प्रमाणमाह—तथाचेति। "न हि कल्याणकृत्

ब्रह्मसाक्षात्कार नहीं हो पाता, क्योंकि 'इच्छाघटित सामग्री, सर्वत्र प्रबल हुआ करती हैं'। जैसे—लोकव्यवहार में हम देखते हैं कि दो पदार्थों के ज्ञान की सामग्री विद्यमान रहने पर भी मनुष्य को जिस पदार्थ के ज्ञान की इच्छा होती है, उसी पदार्थ का ज्ञान 'प्रथम' होता है। एवं च 'फलेच्छासहित प्रारब्धकर्म' के प्रबल रहने से उसकी विद्यमानता में श्रवणादिक साधनों के करते रहनेपर भी ब्रह्मसाक्षात्कार नहीं होता। किन्तु उस फलाभिसन्धिकृत प्रारब्धकर्म का फलभोग कर लेने पर ही 'ब्रह्मसाक्षात्कार' हो पाता है।

फलाभिसन्धिकृत की प्रबलता को श्रुति बता रही है—

इस मनुष्य को जिस फल की कामना होती है, उस फल के अनुकूल 'कर्म' करने का वह संकल्प करता है और संकल्प के अनुसार वह उस कर्म को करता है। और उस कर्म के अनुसार ही तत्तत् स्वर्गादिफलों को वह पाता है। एवं च इस प्रकार के 'फलाभिसन्धिकृत प्रारब्ध कर्म' को ही 'भावीप्रतिबन्धक' कहते हैं।

और दूसरा जो 'केवल प्रारब्धकर्म' है, वह 'फल' की इच्छा से रहित रहता है। वह 'केवल प्रारब्धकर्म' भी (१) पुण्य और (२) पाप के भेद से दो प्रकार का होता है। इन दोनों में से 'केवल पुण्य प्रारब्ध' तो 'पापनिवृत्ति' के द्वारा मनुष्य को तत्त्वज्ञान कराने में कारण बन जाता है। इस तथ्य को श्रुति-स्मृतियों के वचन बता रहे हैं—यह पुरुष, 'धर्म' का अनुष्ठान करके 'पाप' को नष्ट करे। 'पाप' के नाश से ही अधिकारी निष्पाप पुरुषों को 'ब्रह्मसाक्षात्कार' होता है। पुण्यकर्मो के अनुष्ठान से 'पापादिकर्मों' की निवृत्ति होती है, तब उस पुरुष का अन्तःकरण, निर्मल हो जाता है, और उसमें 'आत्मज्ञान' उत्पन्न होता है। एवंच उक्त वचनों से यह स्पष्ट होता है कि 'पुण्य प्रारब्ध', पापनिवृत्तिपूर्वक आत्मज्ञानोत्पत्ति' में कारण है।

दूसरा जो 'पाप प्रारब्ध' है, वह चाहे 'फलाभिसन्धिकृत' हो, चाहे 'फलाभिसन्धिरहित' हो दोनों प्रकार का (उभयविध) वह 'पापप्रारब्ध', 'आत्मज्ञानोत्पत्ति' में 'प्रतिबन्धक' होता है। अतः मुमुक्षु को चाहिये कि वह, शास्त्रविहित किसी प्रबल पुण्यकर्म के द्वारा 'पापप्रारब्ध' को नष्ट करे। अन्यथा आत्मज्ञानोत्पत्ति में वह प्रतिबन्ध करेगा। एवंच 'प्रारब्धशेषरूप भावी प्रतिबन्ध' जब तक 'फलभोग' देकर निवृत्त नहीं होता, तब तक 'श्रवणादि साधनों' को करते हुए भी मनुष्य को 'आत्मसाक्षात्कार नहीं होता। किन्तु जब 'फलभोग' देकर 'भावी प्रतिबन्ध' निवृत्त हो जाता है, तभी मनुष्य को उन 'श्रवणादिसाधनों' से 'आत्मसाक्षात्कार' (आत्मज्ञान) उत्पन्न होता है। अतः 'आत्मसाक्षात्कार' के लिये उन 'श्रवणादिसाधनों' का विधान करनेवाली 'श्रुति' का 'अप्रामाण्य' कैसे कहा जायगा?

शंका—उक्त 'भावी प्रतिबन्ध' कितने समय के बाद निवृत्त होता है?

समा०—उक्त 'भावी प्रतिबन्ध' के निवृत्त होने के समय का कोई नियम नहीं है। किसी का तो 'एक जन्म' में भी वह निवृत्त हो जाता है, और किसी का दो-तीन जन्मों में भी निवृत्त होता है। इस तथ्य को अनेक ग्रन्थों में बताया गया है—

(१) ब्रह्मलोकेच्छाया ब्रह्मसाक्षात्करोत्पत्तिप्रतिबन्धकत्वं विद्यारण्यस्वामिनो वदन्ति स्म—

"ब्रह्मलोकाऽभिवाञ्छायां सम्यक् सत्यां निरुध्यताम् । विचारयेद्यस्त्वात्मानं ननु साक्षात्करोत्ययम् ॥" इति ॥

स पुनर्वेदान्तश्रवणादिमहिम्ना[1] ब्रह्मलोकं गत्वा निर्गुणं ब्रह्म साक्षात्करोति । तथाच श्रुतिः "वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः, ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे" इति । स पुनस्तत्रैव मुच्यते ॥ १७ ॥

कश्चित् दुर्गतिं तात गच्छती"ति स्मृतिं चकारेण समुच्चिनोति । वेदान्तविज्ञानेन श्रवणजनितेन सुष्ठु निश्चितोऽर्थोऽद्वितीयब्रह्मस्वरूपो येषां ते तथोक्ताः,—संन्यासयोगात् श्रुतिस्मृतिविहितसर्वकर्मपरित्यागपूर्वकज्ञानाभ्यासयोगात् शुद्धसत्त्वाः निर्मलान्तःकरणाः यतयः सन्यासिनो ये ते ब्रह्मलोके निर्गुणं ब्रह्म साक्षात्कृत्य परस्य हिरण्यगर्भस्य अन्तकाले अवसाने । परामृतात् उत्पन्नसाक्षात्कारात् बन्धनात् परिमुच्यन्ति मुक्ता भवन्तीत्यर्थः । तथा च स्मृतिः ।

"ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे । परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम्" इति । तत्रैव विदेहकैवल्यमनुभवतीत्याह—स पुनरिति ॥ १७ ॥

"आगामिप्रतिबन्धो हि वामदेवे समीरितः । एकेनजन्मनाक्षीणो भरतस्य त्रिजन्मभिः ॥"

पूर्वोक्त 'प्रारब्धशेषरूप भावी प्रतिबन्ध' वामदेव तथा भरत का जिस प्रकार से हुआ है, उसे बताया गया है । वामदेव का तो वह भावी प्रतिबन्ध, एक जन्म में ही निवृत्त हुआ है, किन्तु भरत का तीन जन्म में निवृत्त हुआ है । अतः भावी प्रतिबन्ध की निवृत्ति का कोई काल नियम नहीं है । वामदेव के इस वृत्त को आत्मपुराण के प्रथम अध्याय में सविस्तर बताया गया है । 'प्रारब्धशेष' और 'ब्रह्मलोक आदि की इच्छा'—इस प्रकार से होनेवाले 'भावी प्रतिबन्ध' को पहिले बता चुके हैं । उनमें से 'प्रारब्धशेष' रूप प्रथम प्रतिबन्ध का निरूपण अभी तक किया गया ।

अब 'ब्रह्मलोक' की इच्छारूप 'द्वितीय भावीप्रतिबन्ध' का निरूपण कर रहे हैं—जिस मनुष्य के मन में 'ब्रह्मलोकादि' की प्राप्ति की इच्छा है, उसे श्रवणादि के करते रहने पर भी 'आत्मसाक्षात्कार' नहीं हो पाता है । अतः वह 'ब्रह्मलोक' प्राप्ति की इच्छा भी, 'आत्मज्ञान' की उत्पत्ति में 'भावी प्रतिबन्धरूप' है । श्री विद्यारण्यस्वामिपाद कहते हैं जिस मनुष्य के मन में ब्रह्मलोक प्राप्ति की अत्यन्त उत्कट इच्छा रहती है, वह पुरुष उस 'इच्छा' को रोककर 'श्रवणादिकों' को करता हुआ भी उसे 'आत्मसाक्षात्कार' नहीं होता है ।

शंका—ब्रह्मलोक प्राप्ति की साधनरूप जो 'उपासना' है, उसे भी उस मनुष्य ने नहीं किया, जिससे वह, ब्रह्मलोक को प्राप्त कर सके, तथा जिन 'श्रवणादिकों' को उसने किया है; उनसे, 'इच्छारूप प्रतिबन्ध' के कारण 'आत्मज्ञान' को भी प्राप्ति नहीं हुई । अतः वह मनुष्य तो 'इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः' अर्थात् दोनों फलों से भ्रष्ट होने के कारण कहीं का भी नहीं रहा, अर्थात् उसका तो अधःपतन ही हुआ ।

समा०—वह मनुष्य देहपात (मृत्यु) के पश्चात् पूर्व अनुष्ठित श्रवणादिसाधनों के प्रभाव से अपनी उत्कट इच्छा के अनुरूप वहाँ 'निर्गुण ब्रह्म' का 'अहं ब्रह्मास्मि'—इस प्रकार से 'साक्षात्कार' कर लेता है, उस साक्षात्कार से वहाँ उसे 'विदेह कैवल्य' रूप मोक्ष प्राप्त होता है । इस उक्त तथ्य के समर्थन में श्रुति का प्रमाण है ।

प्रमाणभूत श्रुतिवचन का अर्थ इस प्रकार है वेदान्त का श्रवण करके उत्पन्न हुए ज्ञान से जिन्हें अपना अद्वितीय ब्रह्मरूप लक्ष्य पदार्थ, सुनिश्चित हो गया है, तथा जिनका 'अन्तःकरण', श्रुति-स्मृति विहित समस्त कर्मों का विधि के अनुसार त्याग करके 'ज्ञानाभ्यासरूप योग' से शुद्ध (निर्मल) हुआ है, वे 'संन्यासी', किसी प्रतिबन्ध के कारण इस जन्म में 'ब्रह्मसाक्षात्कार' के न हो पाने पर भी उन 'श्रवणादिकों के प्रभाव से 'ब्रह्मलोक' में पहुँच कर वहाँ 'निर्गुण ब्रह्म' का साक्षात्कार कर लेते हैं, और "स पुनस्तत्रैव मुच्यते" कहकर स्पष्ट किया है कि ब्रह्मलोक के अधिपति 'हिरण्यगर्भ के अन्तकाल में (अवसान = समाप्तिकाल में) वे संन्यासी, उत्पन्न हुए 'ब्रह्मसाक्षात्कार' से 'बन्धनमुक्त' अर्थात् 'विदेहकैवल्यरूप मोक्ष' को प्राप्त होते हैं ।

इसी तथ्य अर्थ को इस स्मृति ने भी बताया है ।

एवं च उस मुमुक्षु मनुष्य के जो 'श्रवणादिसाधन' हैं, वे निष्फल नहीं हैं । अपितु ब्रह्मलोक की प्राप्ति कराते हुए 'आत्मज्ञान' को उत्पन्न कराने के कारण वे 'मोक्ष' के ही साधन सिद्ध हो रहे हैं ॥ १७ ॥

---

१. आदिपदं सगुणोपासनापरम् । ब्रह्मलोकमिच्छतस्तदुपपत्तेः श्रवणादित्रितयमात्रस्य ब्रह्मलोकफलकत्वे मानदौर्लभ्यात् ।

वर्तमानप्रतिबन्धं तन्निवृत्त्युपायं च विद्यारण्यस्वामिनो वर्णयांचक्रुः—

"प्रतिबन्धो वर्तमानो विषयाऽऽसक्तिलक्षणः। प्रज्ञामान्द्यं कुतर्कश्च विपर्ययदुराग्रहः ॥
शमाद्यैः श्रवणाद्यैर्वा तत्र तत्रोचितैः क्षयम्। नीतेऽस्मिन्प्रतिबन्धे तु स्वस्य ब्रह्मत्वमश्नुते ॥" इति ॥

●

वर्तमानप्रतिबन्धं सम्मतिदर्शनेन व्युत्पादयति—वर्तमानेति। विषयेति। विषयेष्वासक्तिः राग इति यावत्। प्रज्ञायाः बुद्धेः मान्द्यं श्रुतार्थग्रहणधारणापटुत्वम्। कुत्सितः तर्कः कुतर्कः श्रुतिविरोधितर्क इत्यर्थः। विपर्यये आत्मनः कर्तृत्वे दुराग्रहः आत्मा कर्तैवेत्यभिमानः। एतेषां चतुर्णां वर्तमानप्रतिबन्धानां निवृत्त्युपायं तत्सम्मत्या दर्शयति—शमाद्यैरिति। शमदमादिभिर्विषयासक्तिलक्षणस्य वर्तमानप्रतिबन्धस्य निवृत्तिः। श्रवणेन प्रज्ञामान्द्यस्य, मननेन कुतर्कस्य, निदिध्यासनेन विपर्ययदुराग्रहस्य। शमाद्यैरित्यनेन दमादयो गृह्यन्ते। शमादीन्यनुपदमेव निरूपयिष्यति। श्रवणाद्यैरित्याद्यशब्देन मनननिदिध्यासने गृह्येते। श्रवणादीनि निरूपितानि। तत्र तत्र तस्मिन् तस्मिन् प्रतिबन्धे प्रथमस्य निवृत्तौ समाधिरुचितः कारणत्वेन, द्वितीयस्य निवृत्तौ श्रवणं, तृतीयस्य मननं, चतुर्थस्य निदिध्यासनम्। क्षयं नीते नाशं गते; यथोक्तसाधनचतुष्टयेन यथोक्तवर्तमानप्रतिबन्धचतुष्टये नष्टे सतीत्यर्थः। स्वस्य अन्तःकरणतद्वृत्तिसाक्षिणोऽहंपदलक्ष्यस्य। ब्रह्मत्वम् अखण्डैकरसानन्दस्वरूपत्वम्। अश्नुते मुमुक्षुरनुभवतीत्यर्थः।

श्रवणादिनाऽधिकारिणो ब्रह्मसाक्षात्कारोत्पत्तावन्तरङ्गसाधनानि दर्शयति—श्रवणादिनेति। साधनानि व्युत्पादयति—अन्तरिन्द्रियेति। अन्तरिन्द्रियं मनः। इदं प्रस्थानान्तररीत्यैष्टव्यम्; अन्यथा पूर्वोत्तरव्याघातापत्तेरिति भावः[1]। पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणीति बाह्येन्द्रियाणि दश। शीतोष्णसुखदुःखमानापमाननिन्दास्तुत्यादीति द्वंद्वानि। श्रवणादीत्यादिशब्देन मनननिदिध्यासने गृह्येते। चित्तस्य अन्तःकरणस्यैकाग्र्यम्। ऐकाग्र्यं नाम विजातीयप्रत्ययतिरस्कारेण लक्ष्यैकगोचरसजातीयप्रत्ययप्रवाहः। तदुक्तम्—"शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रता परिणामः" इति ॥ शमादीनामन्तरङ्गसाधनत्वे प्रमाणमाह—शान्त इति। आत्मनि अन्तःकरणे। तत्र सम्मतिमाह—सूत्रकारोऽपीति।

●

पूर्वोक्त तीसरे 'वर्तमान प्रतिबन्ध' को सम्मति प्रदर्शन के सहित बता रहे हैं—यह 'वर्तमान प्रतिबन्ध', (१) विषयासक्ति, (२) बुद्धि की मन्दता, (३) कुतर्क, (४) विपर्ययदुराग्रह के भेद से चार प्रकार का होता है।

शब्द-स्पर्शादि विषयों में जो 'राग', उसे—'विषयासक्ति' कहते हैं। श्रवण किये हुए 'अर्थ' के ग्रहण और धारण करने में बुद्धि की जो अकुशलता, उसे—'बुद्धि की मन्दता' अर्थात् 'प्रज्ञामान्द्य' कहते हैं। तथा श्रुतिविरोधीतर्क को 'कुतर्क' कहते हैं। वस्तुतः अकर्ता, अभोक्ता जो 'आत्मा', उसे कर्ता-भोक्ता मनवाने के लिये जो दुराग्राह, अर्थात् 'आत्मा' ही कर्ता-भोक्ता है—इत्याकारक जो अभिमान, उसे—'विपर्ययदुराग्रह' कहते हैं।

इन चतुर्विध 'प्रतिबन्धों' में से किसी एक के भी विद्यमान रहते, श्रवणादिकों को करते रहने पर भी मुमुक्षु को 'आत्मसाक्षात्कार' नहीं हो पाता। अतः ये चारों, 'आत्मज्ञान' के होने में 'वर्तमान प्रतिबन्ध' कहे जाते हैं। इन वर्तमान प्रतिबन्धों की निवृत्ति होने पर ही मुमुक्षु को श्रवणादि के करने से 'आत्मज्ञान' हो पाता है।

इस चतुर्विध वर्तमान प्रतिबन्धों की निवृत्ति का उपाय, श्रीविद्यारण्यस्वामिपाद की सम्मति के रूप में बता रहे हैं—'शम-दम' आदि साधनों से तो 'विषयासक्ति' रूप प्रतिबन्ध की निवृत्ति होती है। 'वेदान्त के श्रवण' से 'बुद्धिमन्दतारूप प्रज्ञामान्द्य' नामक प्रतिबन्ध की निवृत्ति होती है। तथा 'मनन' करने से 'कुतर्करूप प्रतिबन्ध' की निवृत्ति होती है। और 'निदिध्यासन' करते रहने से 'विपर्यय दुराग्रह' नामक प्रतिबन्ध की निवृत्ति होती है।

एवं च यथोक्त साधनचतुष्टय से यथोक्त वर्तमान प्रतिबन्धचतुष्टय के निवृत्त (नष्ट) होने पर 'स्वस्य ब्रह्मत्वमश्नुते'—अन्तःकरण-तद्वृत्ति साक्षी, अहं पदलक्ष्य अपने को ('स्व' को) अखण्डैकरस आनन्द स्वरूप 'ब्रह्म' ही समझने लगता है। अर्थात् मुमुक्षु, अपने में ('स्व' में) ब्रह्मत्व का अनुभव करने लगता है।

श्रवण-मनन-निदिध्यासन—तीनों का स्वरूप, द्वितीय परिच्छेद में बता चुके हैं। अब श्रवणादिक के द्वारा अधिकारी बने हुए मुमुक्षु के लिये ब्रह्मसाक्षात्कार की उत्पत्ति में अन्तरङ्ग साधनों को बता रहे हैं—'श्रवण-मनन आदि' के द्वारा सम्पूर्ण प्रतिबन्धों के निवृत्त होने पर 'गुरु के उपदेशवाक्य' से 'ब्रह्मसाक्षात्कार' की उत्पत्ति हो जाती है। 'उस उत्पत्ति' में (१) शम,

१. अन्तरिन्द्रियपदस्यान्तःकरणे रूढतया स्वप्रस्थानेऽप्यविरोधो द्रष्टव्यः।

ततश्च श्रवणादिभिः[1] सकलप्रतिबन्धनिवृत्त्या वाक्याद् ब्रह्मसाक्षात्कारोत्पत्तौ शमदमोपरतितितिक्षाश्रद्धासमाधानानि अन्तरङ्गसाधनानि ।

●

बहिरङ्गसाधनानि दर्शयति—यज्ञादय इति । श्रवणादिना सकलप्रतिबन्धनिवृत्तौ वाक्याद् ब्रह्मसाक्षात्कारोत्पत्ताविति शेषः । यज्ञादीनां सत्त्वशुद्धिद्वारा विविदिषोत्पादनमुखेन ब्रह्मसाक्षात्कारोपयोगाद्बहिरङ्गसाधनत्वमित्यर्थः । तत्र प्रमाणमाह—तमेतमिति । वेदानुवचनम् ब्रह्मचर्याङ्गाध्ययनम् । बहिर्वेदिदानम् दानम् । हितमितमेध्याशनम् तपः । अत एवानाशकेनेति विशेषणम् ।

केचित्तु—अनशनं वा कृच्छ्रानुष्ठानं वा तपः; "तप इति तपो नानशनात्परमि"ति श्रुतेरिति—वदन्ति । अस्मिन् पक्षे नाशकेनेति पदच्छेदः अयमर्थः—नाशकेन पृथूदकगङ्गायमुनासङ्गमादिषु बुद्धिपूर्वकतनुत्यागेन विविदिषोत्पत्तिद्वारा ब्रह्मशाक्षात्कारो भवति, श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणेषूपलम्भात् । अत एवोक्तं कालिदासेनापि ।

"समुद्रपत्न्योर्जलसन्निपाते पूतात्मना मन्त्रकृताभिषेकात् ।
तत्त्वावबोधेन विनापि भूयस्तनुत्यजां नास्ति शरीरबन्धः ॥" इति ।

तत्त्वावबोधेन विनेति प्रशंसा । अन्यथा "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवती"ति श्रुतिविरोधप्रसङ्गात्, ज्ञानमेवाज्ञाननिवर्तकं न कर्मेति न्यायविरोधापत्तेश्चेति ।

अन्ये तु—बुद्धिपूर्वकप्रयागादिमरणं युगान्तरविषयम्, त्रैवर्णिकव्यतिरिक्तविषयं वा; कलिकाले सति सामर्थ्ये ब्राह्मणादीनां

●

(२) दम, (३) उपरति, (४) तितिक्षा, (५) श्रद्धा, (६) समाधान-ये छह 'अन्तरङ्ग साधन, कहलाते हैं । इसे 'शमादिषट्कसम्पत्ति' कहते हैं ।

उन अन्तरङ्गसाधनों के स्वरूप को बताते हैं—जैसे 'श्रवण-मनन-निदिध्यासन'—ये तीनों, उक्तप्रतिबन्ध' की निवृत्ति के द्वारा 'आत्मज्ञान' की उत्पत्ति में 'अन्तरंग' साधन हैं, उसी प्रकार यह 'शमादिषट्कसम्पत्ति' भी 'उक्त 'प्रतिबन्ध' की निवृत्ति के द्वारा 'अन्तरग साधन' हैं । अन्तरिन्द्रिय के निग्रह को 'शम' कहते हैं । यहाँ पर 'अन्तरिन्द्रिय' शब्द से 'मन' को समझना है । श्री वाचस्पति मिश्र के मतानुसार 'मन' को 'इन्द्रिय' कहा गया है । किन्तु विवरणकार के मत में 'मन' को 'इन्द्रिय' नहीं माना जाता । अतः प्रस्थानान्तर की दृष्टि से 'मन' को यहाँ पर 'इन्द्रिय' कहा गया है । अन्यथा पूर्वोत्तर व्याघात होगा । वेदान्त शास्त्र में (१) 'वाचस्पतिमिश्र' (भामतीकार) का प्रस्थान है, और (२) 'विवरणकार' का प्रस्थान है । एवं च अन्तरिन्द्रिय मन का, उसके अपने 'विषयचिन्तन' से निग्रह करना ही 'शम' कहलाता है । श्रोत्रादि बाह्य इन्द्रियों का उसके अपने शब्दादिविषयों की ओर निग्रह करना ही 'दम' कहलाता है शास्त्रविधिपूर्वक समस्त विहित कर्मों के संन्यास (त्याग) को 'उपरति' कहते हैं । तथा 'शीत-उष्ण', 'सुख-दुःख', 'मान-अपमान', 'निन्दा-स्तुति' आदि द्वन्द्वधर्मों के सहन करने (सहिष्णुता) को 'तितिक्षा' कहते हैं । तथा गुरुवचनों में और वेदान्त वचनों में विश्वास करने को 'श्रद्धा' कहते हैं । और 'श्रवण' आदि साधनों के अनुष्ठान के समय 'चित्त' की 'एकाग्रता' को 'समाधान' कहते हैं । विजातीय वृत्तियों का तिरस्कार करके 'लक्ष्य वस्तुविषयक सजातीय वृत्तियों के प्रवाह' को 'चित्त की एकाग्रता' कहते हैं । श्रुति ने भी 'शम-दमादिषट्कसम्पत्ति' को 'आत्मसाक्षात्कार' के प्रति 'अन्तरङ्गसाधन' कहा है—'शम-दम-उपरति-तितिक्षा-श्रद्धा-समाधान'—इन षट् (छह) सम्पत्तियों से युक्त हुआ मुमुक्षु, अपने अन्तःकरण में 'आत्मा' का साक्षात्कार कर पाता है । इस उक्त तथ्य को ही ब्रह्मसूत्रकार भगवान् व्यास ने एक (ब्र० सू० ३।४।२७) सूत्र के द्वारा बताया है । यद्यपि 'यज्ञेन विविदिषन्ति'—में वर्तमान काल का प्रयोग होने से 'विधि' नहीं है, तथापि मुमुक्षु को शम-दम' आदि से युक्त होना आवश्यक है । क्योंकि 'तस्मादेवं विच्छान्तो दान्त उपरतः'—इस श्रुति ने 'शमादि' का विधान किया है । अतः विहित होने के कारण 'शमादि' अवश्य अनुष्ठेय हैं ।

एवं च 'श्रवणादि' साधनों के समान ही 'शमादिषट्कसम्पत्ति' भी 'आत्मसाक्षात्कार' के प्रति 'अन्तरंग साधन' है ।

अब 'आत्मज्ञान' के प्रति बहिरंग साधनों को बताते हैं—स्वर्गादि फल की इच्छा से रहित होकर अनुष्ठीयमान जो यज्ञ-दानादि कर्म है, वे, 'आत्मज्ञान' के 'बहिरंगसाधन' हैं । क्योंकि 'निष्काम यज्ञ-दान' आदि कर्मों के अनुष्ठान से अधिकारी पुरुष के 'अन्तःकरण' की शुद्धि होती है । उस शुद्ध (निर्मल) हुए अन्तःकरण में आत्मज्ञान की इच्छा (आत्मा के जानने की इच्छा) रूप 'विविदिषा' उत्पन्न होती है । तदनन्तर 'श्रवण' आदि साधनों के अनुष्ठान से उसको 'आत्मसाक्षात्कार' होता है ।

---

१. श्रवणादिवेति टीकानुसारी पाठः ।

अन्तरिन्द्रियनिग्रहः शमः। बाह्येन्द्रियनिग्रहो दमः। उपरतिः संन्यासः। तितिक्षा द्वन्द्वसहिष्णुता। श्रद्धा गुरुवेदान्तविश्वासः। समाधानं श्रवणादिषु चित्तैकाग्र्यम्। 'शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वा आत्मन्येवात्मानं पश्येदि"-त्यादि। सूत्रकारोप्याह—"शमदमाद्युपेतः स्यात्तथापि तु तद्विधेस्तदङ्गतया तेषामवश्याऽनुष्ठेयत्वादि"ति।

•

तत्प्रतिषेधात्, धर्मशास्त्रे मरणान्तप्रायश्चित्तप्रतिषेधाच्चेति—वदन्ति। यज्ञादीनां समुच्चित्य विविदिषासाधनत्वमिति केचित्। विकल्पेनेत्यपरे।

न च—कर्मणां साक्षादेव मुक्तिसाधनत्वात्कथं विविदिषाहेतुत्वमिति—वाच्यम्; मुक्तेरविद्यानिवृत्तेर्वा ब्रह्मभावस्य वा ज्ञानैकसाध्यत्वात्, शुक्त्यज्ञानस्याधिष्ठानसाक्षात्कारान्निवृत्तेर्दृष्टत्वाच्च। ब्रह्मात्मभावस्यानादित्वाच्च मुक्तेः कर्मसाध्यत्वमनुपपन्नम्। तदुक्तं।

"भ्रान्त्या प्रतीतः संसारो विवेकान्न तु कर्मभिः। न रज्ज्वारोपितः सर्पो घण्टाघोषान्निवर्तते॥" इति।

तस्माद्यज्ञादीनां विविदिषाहेतुत्वमेव न मोक्षहेतुत्वमिति।

अत्र यज्ञादिश्रुतेरविशेषात् फलाभिसन्धिमन्तरेणानुष्ठितानि नित्यनैमित्तिककाम्यप्रायश्चित्तरूपाणि सर्वाणि कर्माणि विविदिषाहेतवः, सगुणोपासनं चित्तैकाग्र्यहेतुरिति केचित्। आचार्यास्तु—"काम्यानां कर्मणां न्यासः" इति स्मृत्या काम्यकर्मणामननुष्ठेयत्वं प्रतिपाद्य फलाभिसन्धिमन्तरेण नित्यकर्मणां मुमुक्षुभिरनुष्ठेयत्वप्रतिपादनान्नित्यकर्माण्यग्निहोत्रादीनि विविदिषाहेतुत्वेन विधीयन्ते खादिरतादिवद्वीर्यायेति—आहुः। यज्ञादीनां बहिरङ्गसाधनत्वे सूत्रसंमतिमप्याह—सर्वापेक्षा चेति। तृतीये स्थितम्—ब्रह्मविद्यया मुक्तिफले जनयितव्ये कर्माणि नापेक्ष्यन्ते इत्युक्तम्—"अत एवाग्नीन्धनाद्यनपेक्षे"त्यत्र। इदानीं ब्रह्मविद्या

•

इस प्रक्रिया (परम्परा) से 'यज्ञादिकर्म' भी 'आत्मसाक्षात्कार' (आत्मज्ञान) के 'साधन' होते हैं। उस कारण उन 'यज्ञ-दान' आदि कर्मों को 'आत्मज्ञान' के प्रति 'बहिरंगसाधन' कहा गया है। श्रुति कहती है—(बृ. ४।४।२२) कि अधिकारी ब्राह्मण इस आत्मा को वेदानुवचन से तथा यज्ञ-दान करके जानने की इच्छा करते हैं। इस श्रुतिगत 'वेदानुवचन' शब्द से 'नित्य सांग वेदाध्ययन' को समझना चाहिए। तथा 'यज्ञ' शब्द से 'अग्निहोत्रा'दि यज्ञों को तथा 'दान' शब्द से 'यज्ञ के बहिर्भूत दान' को समझना चाहिए। और हितकारक, परिमित तथा पवित्र अन्न के भोजन को 'तप' कहा गया है। अतएव 'अनाशकेन'—यह 'विशेषण' जोड़ा गया है। जो 'तप', शरीर के नाश का कारण नहीं होता, उस 'तप' को 'अनाशक' कहा गया है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी कहा है कि जो परिमाण से अधिक खाता है, जो सर्वदा सोता ही रहता है, जो जागता ही रहता है, जो कुछ खाता ही नहीं है, उसकी योगसाधना कभी भी सिद्ध नहीं होती। चित्तनिरोध करने वाला योगी, शरीरस्थिति के लिए कर्म करता हुआ भी 'पाप' से लिप्त नहीं होता।

कुछ ग्रन्थकारों ने श्रुतिवचन में 'अनाशकेन' ऐसा पदच्छेद न करके 'तपसा नाशकेन' यह पदच्छेद करते हैं। और उक्त श्रुति का अर्थ करते हैं कि 'शरीर' के नाश का हेतुभूत जो 'अनशन व्रत' है, तथा प्रयाग में स्थित तीर्थराज गंगा-यमुना के संगम में जो मनुष्य, बुद्धिपूर्वक देहपात (शरीर त्याग) करता है, तथा शरीर को क्षीण करने वाले जो 'कृच्छ्र चान्द्रायणादि व्रत' हैं, उन्हें 'तप' कहते हैं। अतएव श्रुति, 'अनशन व्रत' को समस्त तपों से 'उत्कृष्ट तप' बताती है। तथा प्रयाग में बुद्धिपूर्वक शरीरत्याग करनेवाले मनुष्य को 'विविदिषा' द्वारा 'ब्रह्मसाक्षात्कार' की प्राप्ति का होना श्रुति-स्मृति-पुराण-इतिहासादि ग्रन्थों ने बताया है। अतएव महाकवि कालिदास ने भी कहा है (रघु० १३-५८) कि समुद्र की दोनों पत्नियों का जल जहां मिलता है वहाँ पवित्र मन से मन्त्रोच्चारण करते हुए स्नान करने से शरीर त्यागने वालों को तत्त्वज्ञान के विना भी पुनः शरीर में बँधने से छुटकारा मिल जाता है। यहाँ 'तत्त्वज्ञान के विना' यह केवल प्रशंसामात्र है। अन्यथा श्रुति और न्याय के साथ विरोध होगा। एवंच श्रुतिगत 'तप' शब्द से 'अनशन' आदि 'तप' को जानना चाहिए।

कुछ ग्रन्थकारों का कहना है कि प्रयाग स्थित संगम में बुद्धिपूर्वक शरीर त्याग करना, जो बताया गया है, वह 'कलियुग' के लिए नहीं है, अपितु त्रेत्रादि युगों के लिए वह बताया है। इस कलियुग में तो बुद्धिपूर्वक मरण का सर्वथा निषेध ही है। यदि देहपातविधायक वचनों की अवस्था, युगभेदपरक न भी करें तो उन वचनों को त्रैवर्णिकेतरपरक समझना चाहिए। त्रैवर्णिकों के लिए वह विधान नहीं है। अतएव धर्मशास्त्र में ब्राह्मणादि त्रैवर्णिकों के लिए मरणान्त प्रायश्चित्त कानिषेध किया है। कलियुग में सामर्थ्य होते हुए, ब्राह्मणादिकों के लिए उसका प्रतिषेध किया गया है।

यज्ञादयो बहिरङ्गसाधनानि; "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेने"त्यादिश्रुतेः।

•

स्वोत्पत्तौ कर्माण्यपेक्षते न वेति संशये, नापेक्षते इति तावत्प्राप्तम्, प्रमाणप्रवृत्तौ सत्यां ज्ञानस्य स्वत एवोत्पत्तिसंभवेन कर्मणां तत्राप्रयोजकत्वात्। किञ्च स्वर्गोद्देशेन यजेतेति यागविधिवत् ब्रह्मज्ञानोद्देशेन कर्मविधानाभावात् न कर्मणां मोक्षहेतुत्वम्। नच—विविदिषन्तीति विविदिषावाक्ये तदुद्देशेन तद्विधानात्कर्मणां ज्ञानहेतुत्वमिति—वाच्यम्; तत्र विधिप्रत्ययाश्रवणेन वर्तमानापदेशितया तस्य स्तावकत्वात्। तस्मात् ब्रह्मविद्या स्वोत्पत्तौ कर्माणि नापेक्षते इति प्राप्ते—

•

कुछ ग्रन्थकारों का कहना है कि श्रुति में बताए गए जो 'वेदाध्ययन, यज्ञ, दान, तप'—हैं, उन सबका समुच्चय, ही 'विविदिषा' का साधन होता है।

किन्तु कुछ ग्रन्थकार उन यज्ञादि कर्मों को विकल्प के रूप में 'विविदिषा' का साधन (हेतु) मानते हैं। अतः यज्ञ-दान आदि कर्मों का अनुष्ठान करने से ही 'विविदिषा' होती है।

शंका—यज्ञ-दानादि कर्म तो 'मुक्ति' के साक्षात् ही साधन हो सकते हैं। तब उनको 'विविदिषा) का साधन कहना उचित प्रतीत नहीं हो रहा है।

समा०—अविद्या की निवृत्ति, अथवा ब्रह्मभाव की प्राप्ति को ही 'मुक्ति' कहते हैं। वह 'मुक्ति', केवल 'आत्मज्ञान' से ही हो सकती है। कर्मानुष्ठान से उस मुक्ति को प्राप्ति होना कभी सम्भव नहीं हैं। क्योंकि 'शुक्ति' का अज्ञान ही, 'रजतभ्रम' का कारण है। उस 'अज्ञान' की निवृत्ति, उस शुक्तिरूप अधिष्ठान के ज्ञान (साक्षात्कार) से ही होती है। अन्य किसी उपाय से नहीं। और 'ब्रह्मात्मभावरूप मोक्ष' तो अनादि है। अतः उसमें (मोक्ष में) भी 'कर्मरूप साध्यता' का होना संभव नहीं है। अर्थात् भ्रान्ति से रज्जु पर आरोपित (कल्पित) किया गया सर्प, उस रज्जुरूप अधिष्ठान के ज्ञान से निवृत्त होता है। घण्टाघोष करने से अथवा गारुडादिमन्त्र से उस कल्पित सर्प की निवृत्ति नहीं होती। उसी तरह 'आत्मा' पर भ्रान्तिवशात् आरोप किये गये संसार की निवृत्ति, उसके अधिष्ठानरूप आत्मा के साक्षात्कारात्मक विवेकज्ञान से ही हो सकती है। कर्मानुष्ठान से उस आरोपित (कल्पित) संसार की निवृत्ति नहीं हो सकती।

किञ्च—श्रुतिवचनों ने 'कर्म' की साक्षात् मोक्षसाधनता का निषेध किया है और 'आत्मज्ञान' को ही 'मोक्ष' का साक्षात् साधन बताया है। उस कारण 'कर्म' में 'मोक्ष' की साक्षात् साधनता का रहना कभी सम्भव नहीं है। अतः पूर्वोक्त प्रकार से वे कर्म, 'अन्तःकरण' की शुद्धिद्वारा 'विविदिषा' के ही 'कारण' (हेतु) हो सकते हैं।

शंका—श्रुतिप्रतिपादित यज्ञादि कर्म, भले ही विविदिषा के हेतु रहें, तथापि वे चारों प्रकार के ((१) नित्य, (२) नैमित्तिक, (३) काम्य, (४) प्रायश्चित्त) 'यज्ञादि कर्म; उस 'विविदिषा' के हेतु (कारण) होते हैं, अथवा केवल 'नित्यकर्म' ही उस विविदिषा के हेतु होते हैं?

समा०—कुछ ग्रन्थकारों का तो कहना है कि श्रुति ने तो केवल 'यज्ञ-दान आदि कर्म' मात्र को ही 'विविदिषा' के प्रति 'हेतु' कहा है। उसने नित्य-नैमित्तिक-काम्य या प्रायश्चित्त—इन विशेषणों को उन कर्मों के साथ, जोड़ा नहीं है। उस कारण फलेच्छा से रहित होकर (निष्काम) होकर अनुष्ठीयमान नित्य-नैमित्तिक-काम्य-प्रायश्चित्तरूप सभी यज्ञादि कर्म, 'अन्तः-करण' की शुद्धि के द्वारा 'विविदिषा' के प्रति 'हेतु' होते हैं। तथा सगुणब्रह्म की उपासना से 'चित्त' की एकाग्रता होती है।

किन्तु पूज्यपाद आचार्य का कहना तो यह है कि स्मृति ने 'काम्य कर्मों' के अनुष्ठान का निषेध करके निष्काम (फलेच्छा से रहित) 'अग्निहोत्रादि' नित्य कर्मों के अनुष्ठान का विधान किया है। क्योंकि उक्त श्रुति ने भी निष्काम अग्निहोत्रादि नित्य कर्मों को ही 'विविदिषा' का हेतु कहकर विहित बताया है। 'नैमित्तिक', 'काम्य', तथा 'प्रायश्चित्त' कर्मों का विधान उसने नहीं किया है। अतः 'यज्ञादिकर्म', 'आत्मज्ञान' की प्राप्ति में 'बहिरंग' साधन ही हैं।

आत्मज्ञान के प्रति 'यज्ञादिकर्मों' की बहिरंगसाधनता को ब्रह्मसूत्रकार भगवान् व्यास ने भी बताया है—वे कहते हैं कि (ब्र० सू० ३।४।२६) 'ब्रह्मविद्या' को अपनी उत्पत्ति में उन यज्ञादि कर्मों की (समस्त आश्रम कर्मों की) अपेक्षा घोड़े की तरह होती है, क्योंकि श्रुति ने ऐसा बताया है। अतएव पूर्वोक्त श्रुति ने (बृ० ४।४।२२) अर्थात् ब्राह्मण लोग, वेद के नित्य स्वाध्याय से, यज्ञ से, दान से और निष्काम तप से जानने की इच्छा करते हैं। यह श्रुति, यज्ञादि कर्मों को 'ब्रह्मविद्या' की साधन होना बता रही है। और 'विविदिषा' के साथ इन यज्ञादिकों का संयोग होने से वे कर्म, ब्रह्मविद्या की 'उत्पत्ति' में साधन हैं—

सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववदि''त्यप्युक्तम् ॥ १८ ॥

•

ब्रूमः, अस्ति कर्मापेक्षा ब्रह्मविद्यायाः स्वोत्पत्तौ। कस्मात् ? ''तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेने''त्यादिश्रुतेः। नच—वर्तमानापदेशितयाऽनुवादकत्वेनास्य स्तावकत्वमिति—वाच्यम्; विविदिषासंयोगस्यापूर्वत्वेन लेट्परिग्रहेण विधायकत्वोपपत्तेः। अन्यथा—''उपांशुयाजमन्तरा यजति'' ''पूषा प्रपिष्टभागः'' इत्यादौ सर्वत्र विध्यभावप्रसङ्गः, ''विधिर्वा धारणवत्''[१] इति सूत्रविरोधप्रसङ्गश्च स्यात्। तस्मात् यथाऽश्वः लाङ्गलाकर्षणेऽयोग्यतया न नियुज्यते, किन्तु योग्यत्वेन रथचर्यायां नियुज्यते तथा कर्माणि ब्रह्मविद्यया मोक्षफले जनयितव्ये नापेक्ष्यन्ते, तेषां तत्रायोग्यत्वात्। स्वोत्पत्तौ तु अपेक्ष्यन्ते, चित्तशुद्धिविविदिषोत्पत्तिद्वारा तद्योग्यत्वात्। तथाच स्मृतिः—

''कषायपक्तिः कर्माणि ज्ञानं च परमा गतिः। कषाये कर्मभिः पक्वे ततो ज्ञानं प्रवर्तते॥'' इति।

•

यह निश्चित होता है। ये आश्रम कर्म यज्ञादि, 'ब्रह्मविद्या' को फलसिद्धि के लिये अपेक्षित नहीं हैं, परन्तु उत्पत्ति के लिये उनकी अपेक्षा है। मोक्षरूप फल प्राप्ति कराने में उन कर्मों की योग्यता नहीं है। जिसकी जहाँ योग्यता होती है, उसी की वहाँ अपेक्षा की जाती है। जैसे 'अश्व' की 'हल' जोतने में योग्यता नहीं है, किन्तु 'रथ' के खींचने में हो उसकी योग्यता होती है। उस कारण 'अश्व' को 'रथ' में ही जोता जाता है। 'हल' खींचने में उसे नहीं जोता जाता। उसी तरह यज्ञादि कर्मों में 'मोक्ष' प्राप्त कराने की योग्यता नहीं है, अपितु 'चित्त' की शुद्धि द्वारा 'विविदिषा' को उत्पन्न करते हुए 'ब्रह्मविद्या' को उत्पन्न कराने को ही योग्यता है। अतः यज्ञ-दानादि कर्मों में 'आत्मज्ञान' के प्रति बहिरंग साधनता हो है। एवंच सूत्रकार ने सूत्र के द्वारा स्पष्ट कह दिया है कि 'मुक्तिफल' को प्राप्ति कराने में 'आश्रमकर्म यज्ञादिकों' की अपेक्षा नहीं है। अविद्या और अन्धकार को नष्ट करने में 'ज्ञान' और 'दीपक' निरपेक्ष (स्वतन्त्र) रहते हैं। अतः 'विद्या' भी फल की प्राप्ति कराने में निरपेक्ष होकर ही कारण होती है।

इसी तथ्य को सूत्रकार ने अग्नीन्धनाद्यधिकरण में (ब्र० सू० ३।४।२५) स्पष्ट किया है। यहाँ पर पूर्वपक्ष यह है कि 'ब्रह्म' 'तत्त्वावबोध', अपने फल के प्रदान करने में अपने अंगभूत कर्म की अपेक्षा करता है, 'अङ्गी' होने से, 'प्रयाज' सापेक्ष 'दर्शपूर्णमास' आदि के समान'—इस अनुमान में 'हेत्वसिद्धि' की आशंका नहीं करनी चाहिये। यद्यपि प्रथमाधिकरण में 'विद्या' के स्वतन्त्र पुरुषार्थत्व का प्रतिपादन होने से 'कर्माङ्गत्व' का निराकरण किया गया है, तथापि 'अङ्गित्व' का निराकरण नहीं किया है। अतः 'हेतु', असिद्ध नहीं है। एवं च 'आत्मतत्त्वज्ञान', 'कर्म' की अपेक्षा करता है—यह पूर्वपक्ष करनेपर, 'सिद्धान्त' किया गया है कि विप्रतिपन्न (विमत = विवादविषयीभूत) 'ब्रह्मज्ञान', अपने विरोधी पदार्थ के निवर्तन में किसी दूसरे (अन्य) की अपेक्षा नहीं करता है, प्रकाशरूप होने से, 'दीप' के समान। और 'अङ्गित्व' प्रयुक्त जो शंका की गई है, उसपर यह प्रष्टव्य है—कर्म में कैसा अंगत्व अभिप्रेत है ? क्या 'प्रयाज' आदि के समान 'फलोपकारित्वरूप अंगत्व' अभीष्ट है, अथवा 'अवघात' आदि के समान 'स्वरूपोपकारित्वरूप अंगत्व' अभीष्ट है ?

किन्तु प्रथम पक्ष तो युक्त नहीं होगा, क्योंकि 'कर्मजन्य' होने से 'मुक्ति' को अनित्य कहना होगा।

तथा द्वितीयपक्ष भी निर्दोष नहीं है, क्योंकि 'दृष्टान्ताऽसिद्धि' होगी—अवघात आदि में 'प्रयाजादि' का 'स्वरूपोपकारित्वरूप अंगत्व' नहीं है। उस कारण विद्या (आत्मतत्त्वबोध), अपने फल की प्राप्ति कराने में कर्म की अपेक्षा नहीं करती।

एवञ्च प्रमाण की प्रवृत्ति होने पर 'ज्ञान' की उत्पत्ति तो स्वत एव हो जायगी, उसकी उत्पत्ति में 'कर्म' प्रयोजक नहीं है।

किञ्च—'स्वर्गोद्देशेन यजेत'—इस यागविधि के समान ब्रह्मज्ञानोद्देशेन 'कर्म' का विधान न होने से 'कर्म' को मोक्ष-प्राप्ति में कारण नहीं कह सकते।

शंका—'विविदिषन्ति'—इस विविदिषा वाक्य में उसके उद्देश्य से उसका विधान होने से 'विद्या' (ज्ञान) के प्रति कर्म को हेतुत्व तो है ही।

यदि यह कहें कि 'विविदिषा वाक्य' में 'विधिप्रत्यय', श्रुत नहीं हो रहा है। वर्तमानकाल में उसका प्रयोग होने से वह स्तावक मात्र है। उस कारण ब्रह्मविद्या, अपनी उत्पत्ति में 'कर्म' की अपेक्षा नहीं करती है।

समा०—उपर्युक्त शंका उचित नहीं है। ब्रह्मविद्या को अपनी उत्पत्ति में 'कर्म' की अपेक्षा होती है। क्योंकि 'तमेतं वेदानुवचनेन०'—यह श्रुति बता रही है।

---

१. यथा ''उपरि हि देवेभ्यो धारयती''त्यादौ हिरण्यदश्वणेऽपि अपूर्वत्वाल्लेट्परिग्रहस्तद्वदिति भावः।

ज्ञानस्य प्रमाणफलत्वेऽपि पापिष्ठस्य श्रुतेऽपि वाक्ये ब्रह्मज्ञानानुदयेन कर्मणां पापनिवृत्तिद्वारा ब्रह्मसाक्षात्कारहेतुत्वं संभवत्येव। यदि कर्मणां तद्धेतुत्वमनुपपन्नमित्याग्रहः, तदापि शमदमाद्युपेतोऽधिकारी स्यात्। "शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुस्समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्येत्" इति विधेश्शमादिविधानात्। विहितानां तेषां ब्रह्मविद्याङ्गतयावश्यानुष्ठेयत्वात्। नच कर्मणां विद्योत्पत्तौ नात्यन्तापेक्षा; यज्ञादिश्रुतेः। ननु एवमपि शमादीनामन्तरङ्गसाधनत्वं, यज्ञादीनां बहिरङ्गसाधनत्वं कुतोऽवगम्यते ? इति—चेत्, शृणु इत्थम्—'तस्मादेवंविच्छान्तो दान्तः' इति शमादीनां विद्यासंयोगावगमादन्तरङ्गसाधनत्वं विद्योत्पत्तौ। यज्ञादीनां "विविदिषन्ति यज्ञेन" इत्यादिना विविदिषासंयोगावगमात् बहिरङ्गसाधनत्वमिति विवेकः। नच—एवमन्तरङ्ग-बहिरङ्गसाधनविवेकेन किं प्रयोजनम् ? इति—वाच्यम्; ज्ञानसाधनश्रवणादिप्रवृत्तेस्तेन विनाऽसम्भवात्। न हि कश्चित् अन्तरङ्गबहिरङ्गसाधनमज्ञात्वा सर्वसमंसंन्यासपूर्वकं श्रवणादौ प्रवर्तते। तस्मात् तद्विवेकोऽपि वैराग्यादिवच्छ्रवणादिप्रवृत्तौ कारणमेवेति सप्रयोजन एवेति ॥ १८ ॥

•

शंका—विविदिषावाक्य में वर्तमानापदेश होने से उस वाक्य में अनुवादकता है। अतः उसे स्तावक कहना ही उचित है।

समा०—'यज्ञादिभिर्विविदिषन्ति'—'यज्ञादि कर्मों से जानने की इच्छा (विविदिषा) करते हैं'—इसमें 'विधि' उपलब्ध नहीं है, यह जो हमने कहा है, वह ठीक ही कहा है। तथापि यज्ञादिकर्मों का जो 'विद्यासाधनत्वरूप संयोग' है, वह 'अपूर्व' है। उस कारण अवान्तरवाक्य से विधि की कल्पना को जाती है। क्योंकि ब्रह्मविद्यावाक्य के साथ महवाक्यैकवाक्यता है। यज्ञादि कर्मों का 'विविदिषा' के साथ जो 'संयोग' है, वस पहले किसी अन्य प्रमाण से प्राप्त नहीं है। जिस कारण उसका अनुवाद किया जाय। परप्रकरण में भी अवान्तरविधि है। इस कथन में पूर्वतन्त्र (पूर्वमीमांसा) की सम्मति बता रहे हैं—पूषा प्रपिष्टभागोऽदन्तको हि' अर्थात् पूषा देवता के उद्देश्य से सम्यक् प्रकार से पिष्टभाग करना चाहिये, क्योंकि वह दन्तरहित है। इत्यादि वाक्यों में, जिनमें 'विधि' का श्रवण नहीं है, किन्तु अपूर्व होने से 'विधि' की कल्पना की जाती है। और पूषा सम्बन्धी पेषण (पिष्ट भाग) विकृति में किया जाता है, क्योंकि प्रकृति (दर्शपूर्णमास) में उसका विधान नहीं है। यह विचार पूर्वतन्त्र (पूर्वमीमांसा) में किया गया है। एवंच विविदिषासंयोग, अपूर्व होने से 'लेट्' लकार का स्वीकार करने से उसके विधायकत्व की उपपत्ति हो सकती है। अन्यथा "उपांशुयाजमन्तरा यजति", 'पूषा प्रपिष्टभागः'—इत्यादि वाक्यों में सर्वत्र 'विधि' के अभाव को मानना पड़ेगा।

"विधर्वा धारणवत्" (ब्र० सू० ३।४।२०)—इस सूत्र के साथ विरोध का प्रसंग प्राप्त होगा। 'पुण्यलोकफलास्त्रयो धर्म-ब्रह्मसंस्थतात्वमृतत्वफला' (छां० २।२३।१)—इस वाक्य में आश्रमों की विधि का ही स्वीकार करना चाहिये, 'अनुवाद नहीं'। आश्रम के विधान करने में यद्यपि वाक्यभेद होगा, तथापि आश्रमों के 'अपूर्व' होने से वाक्यभेद इष्ट है। एकवाक्यता की प्रतीति होने पर भी अपूर्वार्थ विधि में दृष्टान्त बताया है—'धारणवत्–अधस्तात्'—स्रुक्दण्ड के नीचे समिध् को धारण करके अनुद्रवण करे, देवताओं के लिये ऊपर धारण करे—इस वाक्य में स्रुग्दण्ड के अधोभाग में समिध् धारण की विधि के साथ एकवाक्यता की प्रतीति होने पर भी ऊपर धारण के अपूर्व होने से एकवाक्यता के भंगप्रसंग से भी 'विधि' को जैसा माना गया है, वैसे ही प्रकृत में भी 'विधि' समझना चाहिये।

एवंच जैसे लांगलाकर्षण में अश्व के अयोग्य रहने से उसको उसमें नहीं जोता जाता, अपितु उसकी योग्यता को देखकर रथचर्या में उसकी नियुक्ति की जाती है, उसी प्रकार मोक्षफल के उत्पादन में ब्रह्मविद्या को 'कर्म' की अपेक्षा नहीं होती। क्योंकि उनकी उसमें योग्यता नहीं है। किन्तु ब्रह्मविद्या को अपनी उत्पत्ति में मात्र उन कर्मों की अपेक्षा करनी पड़ती है। क्योंकि चित्तशुद्धिविविदिषोत्पत्ति के द्वारा उनकी उत्पादनयोग्यता है। प्रमाण का फल 'ज्ञान' होने पर भी, पापीपुरुष को महावाक्य के के सुनने पर भी ब्रह्मज्ञान नहीं हो पाता है, अतः पापनिवृत्ति द्वारा 'कर्म', को ब्रह्मसाक्षात्कार में 'हेतु' कह सकते हैं।

यदि 'कर्म में 'ब्रह्मसाक्षात्कार' की हेतुता अनुपपन्न है'—यही आग्रह हो, तथापि शम-दमादि से युक्त पुरुष ही अधिकारी हो सकता है। क्योंकि इस विधि से शमादिकों का विधान किया गया है। इस प्रकार विहित हुए शम-दमादिकों का अनुष्ठान ब्रह्मविद्या के अङ्ग समझकर करना चाहिये। विद्या की उत्पत्ति में 'कर्म' की अत्यन्त अपेक्षा नहीं है।

शङ्का—उपर्यक्त विवेचन उचित रहने पर भी 'शम-दमा'दिकों को अन्तरङ्ग साधन कहना, और यज्ञादि कर्मों को बहिरङ्ग साधन कहना कैसे जाना ?

तदेवं मननादिसंस्कृतचित्तदर्पणसहकृतविचारितमहावाक्योत्पन्नेनाऽहं ब्रह्मास्मीत्यप्रतिबद्धब्रह्मसाक्षात्कारेणाऽज्ञाने

•

एवमन्तरङ्गबहिरङ्गसाधने निरूप्य सहकारिसम्पन्नमहावाक्यात् ब्रह्मसाक्षात्कारेणाज्ञाननिवृत्तौ मुमुक्षोः स्थितिमुपसंहरति—तदेवमिति। तद् यस्मात् कारणात् प्रतिबन्धनिवृत्त्युपायान्तरङ्गबहिरङ्गसाधनानि निरूपितानि तस्मात् कारणात्। एवं उक्तेन प्रकारेण। मननादीत्यादिशब्देन निदिध्यासनं गृह्यते।

ननु—ज्ञानेनाज्ञाने निवृत्ते विषयानुभवोऽनुपपन्नः; मुमुक्षोर्देहाभिमानशून्यत्वात्। नच प्रारब्धवशात्तदनुभव इति वाच्यम्; क्लृप्तकारणाभावे तदयोगात्। देहाभिमाने सत्येव प्रमाणप्रमेयव्यवहारदर्शनात्तदभावे तददर्शनादन्वयव्यतिरेकाभ्यां देहाभिमानस्य विषयानुभवं प्रति कारणत्वस्य क्लृप्तत्वात्, तदभावे ज्ञानिनां प्रारब्धवशात्कथं विषयानुभवः स्यात्? अतएवोक्तं भाष्यकृता—"तमेतमविद्याख्यमात्मानात्मनोरितरेतराध्यासं पुरस्कृत्य सर्वे प्रमाणप्रमेयव्यवहारा लौकिका वैदिकाश्च प्रवृत्ताः" इति॥ अन्यथा, व्यवहारः अध्यासपूर्वकः, व्यवहारत्वादित्यत्र हेतोः ज्ञानिनो व्यवहारेऽनेकान्तिकत्वप्रसङ्गात्। नच—ज्ञानिनामपि बाधितानुवृत्त्या देहाभिमानसत्वान्नानैकान्तिकत्वमिति—वाच्यम्; शुक्तिसाक्षात्कारेण तदज्ञाननिवृत्तौ रजतभ्रमनिवृत्तौ पुनस्तदनुवृत्तेरदृष्टत्वात्। अन्यथा, तत्रापि प्रसङ्गः। नच—सोपाधिकस्थले शुद्धः स्फटिक इति साक्षात्कारे सत्यपि जपाकुसमोपाधिसन्निधाने लोहितः स्फटिक इत्यनुभवस्य सार्वजनीनत्वात् तथात्रापि भविष्यतीति—वाच्यम्; तद्वदत्रोपाधेरनिरूपणात्। तस्मात् ज्ञानेनाज्ञाने निवृत्ते तत्कार्यनिवृत्त्या ज्ञानिनः प्रारब्धवशाद्विषयानुभवोऽसङ्गत एवेति—चेत्?

•

समा०—उसे जानने का प्रकार यह है—"तस्मादेवंविच्छान्तो दान्तः" इस वाक्य से शमादिकों का 'विद्यासंयोग' अवगत होने से उन्हें विद्योत्पत्ति में अन्तरङ्ग साधन जाना जाता है। और 'विविदिषन्ति यज्ञेन'—इस वाक्य से 'विविदिषा' के साथ 'यज्ञादि'कों का संयोग अवगत होने से उनकी बहिरङ्ग साधनता ज्ञात होती है। अत एव 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' में साधन-चतुष्टय सम्पत्ति के कारण 'अथ' शब्द का अर्थ 'आनन्तर्य' ही किया जाता है। कर्मविबोधानन्तर्य' नहीं, यह भाष्यकार का सिद्धान्त है। अन्यथा 'कर्म को अन्तरङ्गसाधन मानने पर' 'कर्मानन्तर्य' ही 'अथ' शब्द का अर्थ कहना होगा।

शङ्का—उक्तरीति से अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग साधन का विचार करने से प्रयोजन कौन सा निष्पन्न होता है?

समा०—ज्ञान के साधनभूत श्रवणादि में मुमुक्षु की प्रवृत्ति होती है। उसके बिना 'प्रवृत्ति' होना सम्भव नहीं है। कोई भी व्यक्ति 'अन्तरङ्ग-बहिरङ्गसाधन' को बिना जाने सर्वकर्मसंन्यासपूर्वक 'श्रवणादि' में प्रवृत्त नहीं हो सकता। अतः अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग साधन का विवेक करना भी 'वैराग्य' आदि के समान 'श्रवण' आदि में प्रवृत्त होने का कारण ही है। इसलिये अन्तरङ्ग-बहिरङ्गसाधनविवेक करना सप्रयोजन है, निष्प्रयोजन नहीं है। एवं च यज्ञ-दानादि कर्म, 'आत्मज्ञान' के 'बहिरङ्ग साधन' हैं॥ १८॥

इस प्रकार अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग साधनों का निरूपण करके सहिकारिसम्पन्न महावाक्य से उत्पन्न हुए ब्रह्म साक्षात्कार से अज्ञान की निवृत्ति होने पर मुमुक्षु की स्थिति को बताते हुए उपसंहार कर रहे हैं—उपर्युक्तरीति से अन्तरङ्ग-बहिरङ्गसाधनों के अनुष्ठान से समस्त प्रतिबन्धों से रहित हुए मुमुक्षु पुरुष का 'मनन-निदिध्यासन' के द्वारा सुसंस्कृत हुआ जो चित्तरूप दर्पण है, उस शुद्धचित्त के द्वारा विचार किये हुए 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य से उत्पन्न जो 'अहं ब्रह्मास्मि'—इत्याकारक जो अप्रतिबद्ध साक्षात्कार है, उस आत्मसाक्षात्कार से अधिकारी पुरुष के अज्ञान का नाश हो जाता है, अनेक पूर्व जन्मार्जित संचित पुण्य-पाप कर्म भी, उस आत्मसाक्षात्कार (आत्मज्ञान) से नष्ट हो जाते हैं। और आत्मज्ञान होने के पश्चात् जो 'आगामि कर्म' हैं, उनका स्पर्श भी उस मुमुक्षु पुरुष को आत्मज्ञान के प्रभाव से नहीं हो पाता। और प्रारब्धकर्म से प्राप्त हुए अन्न-पानादि विषयों का अनुभव करता हुआ वह मुमुक्षु पुरुष, 'अखण्ड-एकरस-सच्चिदानन्द ब्रह्मात्मरुप से स्थित रहता है। यही आत्मज्ञान का 'मोक्षरूप फल' है। ऐसा फल शारीरक मीमांसा के चौथे अध्याय के अध्ययन से सम्भव होता है ऐसी परम्परा वेत्ताओं की मर्यादा है।

शङ्का—आत्मसाक्षात्कार (आत्मज्ञान) से 'अज्ञान' की निवृत्ति हो जाने पर उस मुमुक्षु पुरुष को 'विषयों का अनुभव' होना कैसे सम्भव हो सकता है? क्योंकि 'विषय' का अनुभव लेने में 'देहाभिमान' ही 'कारण' होता है। किन्तु उस आत्मज्ञानी पुरुष में वह 'देहाभिमान' तो है ही नहीं।

यदि यह कहा जाय कि देहाभिमान के बिना ही 'प्रारब्धकर्म' वशात् उस ज्ञानी पुरुष को 'विषयानुभव' होता रहता है। किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि लोकव्यवहार में सभी लोग जानते हैं कि 'विषयानुभव' की कारणता 'देहाभिमान'

उच्यते—ज्ञानिनो निवृत्ताज्ञानस्य प्रारब्धवशाद्विषयानुभव उपपद्यते। नच—स्थूलकारणदेहाभिमानाभावे कथं सः? इति—वाच्यम्; बाधितानुवृत्त्या तस्य सत्त्वात्। नच—कारणीभूताज्ञानस्य निवृत्तत्वेन तत्कार्यस्य देहाभिमानस्य कथमनुवृत्तिः, उपादाननाशे सत्युपादेयानुवृत्तेरदृष्टचरत्वादिति—वाच्यम्; उपादाननाशानन्तरं क्षणं उपादेयानुवृत्तेस्तार्किकैरभ्युपगतत्वेन तथाऽस्माकमपि सम्भवात्। नच—तेषामभ्युपगमस्याप्रामाणिकत्वात् सिद्धान्तेऽपि तथा प्रसज्येतेति—वाच्यम्; अस्माकं श्रुतिस्मृतियुक्त्यनुभवप्रमाणानां सत्त्वात्। नच—एवमपि यदुपादाननिवर्तकं तदुपादेयनिवर्तकं भवतीति ज्ञानस्याज्ञानतत्कार्यनिवर्तकत्वेन तस्मिन् सति देहाभिमाननिवृत्तेरावश्यकत्वेन कथं ततो विषयानुभवः? इति—वाच्यम्; तदपेक्षया प्रारब्धस्य बलवत्त्वात्। तथाहि—ज्ञानमज्ञानतत्कार्यनिवर्तकम्, तथापि प्रवृत्तफलत्वात् मुक्तेषुवत् प्रारब्धं तत्त्वज्ञानात्प्रबलम्।

ननु अज्ञाननिवृत्तिरपि ज्ञानान्न स्यात्, प्रबलेन प्रारब्धेन तस्य प्रतिबन्धादिति चेत्? न; ज्ञानस्याज्ञाननिवर्तकत्वांशे प्रारब्धस्याप्रतिबन्धकत्वात्तेन विनापि स्वफलभोगोपपत्तेः। पुरुषस्याज्ञानकार्याभावे फलभोगासम्भवात् ज्ञानस्याज्ञानकार्यनिवर्तकत्वांशं प्रारब्धं प्रतिबध्य पुरुषस्य फलं प्रयच्छतीत्यतो ज्ञानेनाज्ञाननिवृत्तावपि ज्ञानिनो बाधितानुवृत्त्या देहाभिमानसत्वेन प्रारब्धापादितविषयभोगो न विरुध्यते। तथाच पारमर्षं सूत्रम्—"भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा ततः सम्पद्यते" इति। तदभिप्रायज्ञो भगवान् वार्तिककारोप्याह स्म।

"शास्त्रार्थस्य समाप्तत्वात् मुक्तिः स्यात्तावता मितेः।
रागादयः सन्तु कामं न तद्भावोऽपराध्यते" इति॥

•

में 'अन्वय-व्यतिरेक' से ही सिद्ध है। क्योंकि जाग्रदवस्था तथा स्वप्नावस्था में 'देहाभिमान' के विद्यमान होने से ही 'विषयानुभव हुआ करता है, और सुषुप्ति अवस्था में 'देहाभिमान के न रहने से 'विषयानुभव' नहीं होता है। इस प्रकार के 'अन्वय-व्यतिरेक' से 'विषयानुभव' के प्रति 'देहाभिमान' में ही 'कारणता' सिद्ध होती है। 'देहाभिमान' के 'अभाव' में केवल 'प्रारब्धकर्म' वशात् ज्ञानी पुरुष को 'विषयानुभव' नहीं हो सकता। एवं च 'प्रारब्धकर्म' तो उस 'विषयानुभव' के प्रति 'अदृष्ट कारण' है। किन्तु 'देहाभिमान', उस 'विषयानुभव' के प्रति 'दृष्टकारण' है। 'दृष्टकारण सामग्री' के बिना केवल 'अदृष्टकारणसामग्री' किसी कार्य को उत्पन्न नहीं कर सकती। अन्यथा मृत्तिका-कुलालादि दृष्टकारणसामग्री के बिना ही केवल अदृष्टकारण सामग्री से 'घटादिकार्य' की उत्पत्ति होनी चाहिये थी, किन्तु होती नहीं है। एवं च 'देहाभिमान' के अभाव में ज्ञानी पुरुष को केवल प्रारब्ध कर्मवशात् 'विषयानुभव' का होना सम्भव नहीं है।

किञ्च—देहाभिमान के बिना ही ज्ञानी पुरुष का यदि विषयानुभवादि व्यवहार माना जाय तो भाष्यकार ने जो कहा है कि समस्त लौकिक-वैदिक व्यवहार 'अध्यास पूर्वक' ही हुआ करते हैं इस कथन का भी विरोध होगा।

किञ्च—'व्यवहारः अध्यासपूर्वकः व्यवहारत्वात्—इस अनुमान से भी सभी व्यवहारों में 'अध्यासपूर्वकता' ही सिद्ध हो रही है। इस अनुमान को भी 'व्यभिचारी' कहना होगा अर्थात् ज्ञानी पुरुष के व्यवहार में 'हेतु' को 'अनैकान्तिक' कहना पड़ेगा। क्योंकि ज्ञानी पुरुष के व्यवहार में 'व्यवहारत्व' रूप 'हेतु' के विद्यमान रहने पर भी 'अध्यासपूर्वकत्वरूप साध्य' नहीं है। एवं घट आदि में भी भी अध्यास के बिना व्यवहार देखा जाता है।

यदि यह कहें कि ज्ञानी पुरुष में भी 'बाधितानुवृत्ति' से 'देहाभिमान' रहता है, उस कारण ज्ञानी पुरुष के व्यवहार में 'अध्यास पूर्वकत्वरूप साध्य' विद्यमान है, इसलिये 'व्यवहारत्वरूप हेतु', अनैकान्तिक (व्यभिचारी) नहीं हो रहा है। उस कारण भाष्यकार के उक्त कथन से भी विरोध नहीं है।

किन्तु यह कहना भी सम्भव नहीं है। क्योंकि जैसे—'शुक्ति' का साक्षात्कार होने पर 'शुक्ति' के 'अज्ञान' की निवृत्ति होती है, जिससे 'रजतभ्रम' निवृत्त हो जाता है, पुनः उस 'रजतभ्रम' की अनुवृत्ति नहीं हुआ करती। उसी प्रकार 'आत्मसाक्षात्कार' से 'अज्ञान' की निवृत्ति होने पर 'देहाभिमान' की निवृत्ति हो जाती है, पुनः उसकी अनुवृत्ति का होना अत्यन्त असम्भव है।

यदि कदाचित् 'आत्मज्ञान' से बाधित (निवृत्त) हुए 'देहाभिमान' की अनुवृत्ति का होना पुनः माना जाय तो 'शुक्तिज्ञान' से बाधित हुए 'रजतभ्रम' की अनुवृत्ति को भी पुनः मानना होगा।

यदि यह कहो कि जैसे सोपाधिक भ्रमस्थल में 'शुक्लः स्फटिकः' इस प्रकार से अधिष्ठान का साक्षात्कार विद्यमान रहने पर भी 'जपापुष्प' रूप उपाधिके समीप होने पर 'लोहितः स्फटिकः' इत्याकारक अनुभव का होना सर्वत्र प्रसिद्ध है, उसी

सर्ववेदान्तरहस्यज्ञैर्विद्यारण्यैरप्युक्तम्—
"अप्रवेश्य चिदात्मानं पृथक् पश्यन्नहंकृतिम्। इच्छँस्तु कोटिवस्तूनि न बाधो ग्रन्थिभेदतः॥
ग्रन्थिभेदेऽपि सम्भाव्या त्विच्छा प्रारब्धभोगतः[1]। बुद्धवापि पापबाहुल्यादसन्तोषो यथा तव" इति॥

ननु—तैरेव रागादिः प्रतिषिद्धः—
"रागो लिङ्गमबोधस्य चित्तव्यापारभूमिषु। न चाध्यात्माभिमानोऽपि विदुषोऽस्त्यासुरत्वतः।
विदुषोऽप्यासुरत्वं चेन्निष्फलं ब्रह्मदर्शनम्। बुद्धतत्त्वो न विध्यहं इति चेद् वासनाबलात्॥
अबुद्ध इव संक्लिश्नन् विधिं ध्याने तदार्हति॥"

इत्याक्षेपपूर्वकं ज्ञानिनो ध्यानविधिमङ्गीकुर्वद्भिर्विद्यारण्यैरप्याभासरागोऽपि ज्ञानिनः प्रतिषिद्धः इति ? नैवम्; आचार्यैरध्यासपूर्वकरागस्यैव प्रतिषेधात्। अन्यथा पूर्वोत्तरव्याघातः स्यात्। "सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते" इति स्मृतिविरोधश्च प्रसज्येत। विद्यारण्यवचनमप्यदृढज्ञानविषयम्। दृढज्ञानिनो ध्यानविध्यसम्भवः; "तत्त्ववित्त्वविरोधित्वाल्लौकिकं सम्यगाचरेत्"। इत्यादिनोक्तत्वात्। पुनश्चाग्रे ज्ञानिनो ध्यानविध्यसम्भवं वक्ष्यामः। ननु तर्हि ज्ञानिनो यथेष्टाचरणं किमभ्युप-

●

प्रकार प्रस्तुत में भी अधिष्ठानभूत आत्मा के साक्षात्कार से 'अज्ञान' की निवृत्ति होने पर भी 'उपाधि' की स्थिति जबतक रहेगी तबतक ज्ञानी पुरुष को देहाभिमान तथा देहाभिमान पूर्वक 'विषयानुभव' का होना सम्भव है।

किन्तु यह कहना भी उचित नहीं होगा। क्योंकि जपा पुष्प के समान प्रस्तुत प्रसङ्ग में किसी उपाधि को नहीं बताया जा सकता। क्योंकि 'अज्ञान' को अथवा 'अज्ञान के कार्य' को ही 'उपाधि' कहना होगा। किन्तु इन दोनों की 'आत्मज्ञान' से 'निवृत्ति' हो चुकी है। एवं च 'आत्मज्ञान' से 'अज्ञान' निवृत्ति होने के कारण उसके (अज्ञान के) कार्य की भी निवृत्ति हो चुकी है। अतः ज्ञानी पुरुष के विषयानुभव को 'प्रारब्धकर्म' के कारण बताना सर्वथा असङ्गत है।

समा०—जिस पुरुष का 'अज्ञान', 'अहं ब्रह्मास्मि'—इस प्रकार के आत्मज्ञान से निवृत्त हो चुका है, उस ज्ञानी पुरुष को भी प्रारब्ध कर्म वशात् विषयानुभव हो सकता है। तथा उस विषयानुभव के कारणभूत 'देहाभिमान' की 'बाधितानुवृत्ति' भी उस ज्ञानी पुरुष में हो सकती है।

शङ्का—'आत्मज्ञान' से देहाभिमान के हेतुभूत 'अज्ञान' की तो निवृत्ति हो चुकी है। वह 'अज्ञान' ही 'देहाभिमान' का 'उपादान कारण' है। 'उपादान कारण' के नष्ट होने पर 'कार्य' की 'अनुवृत्ति' का होना कहीं भी नहीं दिखाई देता। अतः ज्ञानी पुरुष में 'देहाभिमान' की अनुवृत्ति कहना उचित नहीं है।

समा०—'उपादान कारण' के नष्ट हो जाने पर भी 'कार्य' की अनुवृत्ति का होना देखा गया है। जैसे—नैयायिकों के मत में 'तन्तु आदि उपादान कारण' का विनाश होने पर भी 'एक क्षण' तक 'पट' आदि कार्य की अनुवृत्ति का होना माना गया है। उसी तरह हमारे सिद्धान्त में 'अज्ञान' रूप उपादान कारण के नष्ट होने पर भी 'देहाभिमान' रूप कार्य की अनुवृत्ति मानी जाती है।

शङ्का—नैयायिकों का सिद्धान्त तो श्रुति-स्मृत्यादि प्रमाणों से रहित है। उसी सिद्धान्त को यदि तुम स्वीकार करोगे तो तुम्हारे सिद्धान्त को भी श्रुति-स्मृत्यादि प्रमाणरहित हो जाने से उसे अप्रमाण कहना होगा।

समा०—अज्ञाननिवृत्ति के पश्चात् भी ज्ञानी मुमुक्षुपुरुष में बाधितानुवृत्ति के होने से 'देहाभिमानादि' रहते हैं। हमारा यह कथन नैयायिकों के सिद्धान्त के समान प्रमाणहीन नहीं है अपितु हमारे सिद्धान्त के साधक 'श्रुति, स्मृति, युक्ति, अनुभव आदि अनेक प्रमाण विद्यमान हैं। अतः नैयायिकों के सिद्धान्त के समान हमारा सिद्धान्त, अप्रामाणिक नहीं है।

हम वेदान्तियों के सिद्धान्त में 'उत्पत्तिक्रम से विपरीत क्रम 'प्रलय' का माना गया है। अतएव "जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे पृथिव्यप्सु प्रलीयते। तेजस्यापः प्रलीयन्ते तेजो वायौ प्रलीयते। वायुश्च लीयते व्योम्नि तच्चाव्यक्ते प्रलीयते"॥—(वि० पु०)। तथा "विपर्ययेणतु क्रमोऽत उपपद्यते च" (ब्र० सू० २।३।१४) वैयासिक सूत्र भी उसका समर्थन कर रहा है। अर्थात् उत्पत्ति क्रम से विपरीत क्रम वाला ही 'प्रलयक्रम' है। क्योंकि अपने कारण में 'कार्यों' का लय होना दृष्टिगोचर है। और विपरीत क्रम से ही 'लयक्रम' का होना संभव है। अन्यथा, 'कार्य' के अस्तित्व में 'कारण' का नाश होने से अनिष्टापत्ति होगी।

१. इच्छाः प्रारब्धदोषत इति पञ्चदशीपाठः।

निवृत्ते संचितकर्मणां नष्टत्वादागामिकर्मणामश्लेषात्प्रारब्धापादितविषयमनुभवन् मुमुक्षुरखण्डैकरससच्चिदानन्दब्रह्मात्मनाऽ-

गम्यते ? भ्रान्तोऽसि। न हि वयं ज्ञानिनो यथेष्टाचरणमभ्युपगच्छामः। किं तर्हि ? प्रारब्धभोगानुकूलाभासरागद्वेषानुवृत्तिर्न तत्त्वज्ञानविरोधिनीति। अन्यथा तत्त्वज्ञानमेव न स्यात् कस्यापि। तदुक्तम्—

"कादाचित्कं रागलेशं चिकित्सितुमशक्नुवन्। यो ब्रह्मनिष्ठां संद्वेष्टि कदा स्यात्तस्य निश्चयः" इति।

एतेन—बाधितदेहाभिमानानुवृत्तौ ज्ञानिनोऽभ्युपगम्यमानायां बाधितरजतभ्रान्त्यनुवृत्तिरपि स्यादिति—प्रत्युक्तम्; शुक्तिज्ञानस्य भ्रमनिवर्तकत्वांशे प्रतिबन्धाभावात्॥

अथवा मुमुक्षोस्तत्त्वज्ञानानन्तरमज्ञानलेशानुवृत्त्या प्रारब्धभोगोऽस्तु। तदुक्तम्—"द्वैतच्छायारक्षणायास्ति लेशो ह्यस्मिन्नर्थे स्वानुभूतिः प्रमाणम्" इति। ननु ज्ञानेन निवृत्तस्याज्ञानस्य कोऽयं लेशो नाम ? न तावदवयवः; न निरवयवं न सावयवम-

वेदान्तपरिभाषा में भी बताया है कि "भूतानां भौतिकानां च न 'कारणलय क्रमेण' लयः। कारणलयसमये कार्याणामाश्रयमन्तरेण अवस्थानानुपपत्तेः। एवं च तार्किकों का जो सिद्धान्त है कि 'कारण के नष्ट होने पर भी कार्य की अनुवृत्ति रहती है'—वह श्रुति-स्मृति-सूत्र आदि प्रमाणों के विरुद्ध है। किन्तु वेदान्तियों के मत में संस्कार के रूप में शेष रहनेवाले विक्षेपशक्ति के अंशभूत अज्ञानानुवृत्ति हुआ करती है। इस अज्ञानानुवृत्ति पक्ष के द्वारा ही जीवन्मुक्ति पक्ष को वेदान्ती लोग सिद्ध करते हैं। एवं च यहां का प्रस्तुत सम्पूर्ण ग्रन्थ, 'तुष्यतु दुर्जनन्याय' से नैयायिकों के सन्तोषार्थं ही समझना चाहिये।

शङ्का—जो पदार्थ, 'उपादान कारण' निवर्तक होता है, वही (पदार्थ), उसके 'कार्य' का भी निवर्तक हुआ करता है। जैसे 'अग्नि', पट के उपादान कारणरूप 'तन्तु' का निवर्तक है, अतः वही, उसके कार्यरूप 'पट' का भी निवर्तक होता है। उसी तरह 'आत्मज्ञान' भी 'अज्ञानरूप उपादानकारण' की निवृत्ति करता हुआ उस 'अज्ञान के कार्य' की भी निवृत्ति अवश्य ही करेगा। एवं च 'देहाभिमान' भी उस अज्ञान का ही कार्य है। उस कारण देहाभिमान के निवृत्त होने से ज्ञानी मुमुक्षु पुरुष को 'विषयानुभव' होना सम्भव नहीं है।

समा०—यद्यपि 'आत्मज्ञान', अज्ञान का तथा उसके कार्य का निवर्तक है, तथापि धनुष से छूटे हुए बाण के समान, अपना 'फल' देने के लिये प्रवृत्त हुआ 'प्रारब्धकर्म', उस 'आत्मज्ञान' से प्रबल है। उस कारण वह 'प्रारब्धकर्म', उस अज्ञान कार्य की निवृत्ति होने में 'प्रतिबन्धक' होता है।

शंका—'प्रारब्धकर्म' को यदि 'आत्मज्ञान' से प्रबल माना जायगा तो प्रबल प्रारब्ध कर्मरूप प्रतिबन्ध के विद्यमान रहने के कारण 'आत्मज्ञान' से 'अज्ञान' की भी निवृत्ति नहीं होनी चाहिये।

समा०—'आत्मज्ञान' में दो अंश हैं—(१) अज्ञाननिवर्तकत्व, अंश, और (२) अज्ञानकार्यनिवर्तकत्व अंश। अतः 'अज्ञान' के विना भी ज्ञानी मुमुक्षु पुरुष को प्रारब्ध कर्म के फल का भोग, उपपन्न हो सकता है क्योंकि आत्मज्ञान में जो 'अज्ञाननिवर्तकत्व अंश' है, उसका प्रतिबन्धक, वह 'प्रारब्धकर्म' नहीं है। किन्तु अज्ञान के कार्यरूप जो देह, इन्द्रियादिक हैं, जिनके विना 'पुरुष' को प्रारब्ध कर्म के फलभोग का होना संभव नहीं, उन्हीं का प्रतिबन्धक, वह प्रारब्धकर्म है। एवं च आत्मज्ञान में जो 'अज्ञानकार्यनिवर्तकत्व' अंश है, उसी का प्रतिबन्धक, वह प्रारब्ध कर्म है। अर्थात् वह प्रारब्ध कर्म, अपना फलभोग देने के लिये उन देह-इन्द्रियादिरूप कार्य को निवृत्त नहीं होने देता। उस कारण 'आत्मज्ञान' से 'अज्ञान' के निवृत्त होने पर भी 'बाधितानुवृत्ति' के होने से उस पुरुष में 'देहाभिमान' विद्यमान रहता है। अतः प्रारब्धकर्म से प्राप्त हुआ विषयानुभव 'विद्यमान रहता है। अतः प्रारब्धकर्म से प्राप्त हुए 'विषयानुभव' का होना असंभव नहीं है, अपितु संभव है। इसी तथ्य को ब्रह्मसूत्रकार भगवान् व्यास ने भी बताया है—(ब्र० सू० ४।१।१९)। सूत्र का तात्पर्य है कि 'आत्मज्ञान' से 'सञ्चितकर्मों' का नाश होता है, तथा आत्मज्ञान होने के पश्चात् किये जाने वाले (क्रियमाण) कर्मों का उस ज्ञानी को स्पर्श भी नहीं होता (वे बन्धक नहीं होते), शेष रहे 'प्रारब्धकर्म' उनकी निवृत्ति, तो 'भोग' से ही होती है। अत एव कहा है—'प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षयः'। एवं च उनका 'भोग' लेकर क्षय कर के यह ज्ञानी मुमुक्षु पुरुष, 'निर्विशेष ब्रह्म' रूप हो जाता है। अर्थात् विदेह कैवल्यरूप मोक्ष को प्राप्त होता है।

इसी तथ्य को वार्तिककार ने भी कहा है कि वेदान्तशास्त्र का प्रतिपाद्य जो 'जीव-ब्रह्मैक्य' (जीव-ब्रह्म का एकत्व है) है, उस 'ऐक्य' का साक्षात्कार करके ही मुमुक्षु पुरुष को 'मुक्ति' की प्राप्ति होती है। उस ज्ञानी मुमुक्षु पुरुष में 'रागद्वेषादिक'

ज्ञानमित्यभ्युपगमात्, अवयविनि निवृत्ते सत्यवयवानिवृत्तेरयोगाच्च। नापि शक्तिरेव लेशः; ज्ञानेन शक्तिमतोऽज्ञानस्य नाशे निराश्रयशक्त्यवस्थानायोगात्, तस्मात् कथं लेशानुवृत्त्या भोगः—इति ? उच्यते—ज्ञानेनावरणशक्तितादात्म्याध्यासौ नश्यतः, अज्ञानं विक्षेपशक्तिमद्वर्तते। अयमेव लेश इत्युच्यते। विक्षेपशक्तेर्ज्ञानाविरोधित्वात्, तेन प्रारब्धभोगो ज्ञानिनो न विरुध्यते। ननु एवं तर्हि तेनैव जन्मान्तरमपि ज्ञानिनः स्यादिति चेत् ? न; निमित्ताभावात्। न ह्यज्ञानं स्वरूपेण जन्महेतुः। किं तर्हि ? धर्माधर्मौ, तावपि न प्रारब्धौ जन्मान्तरहेतू, किन्त्वनारब्धौ। तत्स्थितिहेतुरावरणशक्तिमदज्ञानम्। तस्य ज्ञानेन निवृत्तौ

•

बाधितानुवृत्ति से भले ही रहें। उन राग-द्वेषादिकों के विद्यमान रहने पर भी उस ज्ञानी मुमुक्षु को 'मुक्ति' के होने में किञ्चिन्मात्र भी हानि नहीं है।

तथा इसी रहस्यमय तथ्य को वेदान्तमर्मवित् श्री विद्यारण्यस्वामि चरणों ने भी कहा है कि जो मुमुक्षु पुरुष, 'चेतन आत्मा' को 'अहंकारादिकों' से पृथक् जानता है, तथा उन 'अहंकारादिकों' को भी उस 'चेतन आत्मा' से पृथक् जानता है, वह ज्ञानी मुमुक्षु पुरुष यदि करोड़ों पदार्थों (वस्तुओं) की भी इच्छा करे, तो भी उस ज्ञानी पुरुष की किञ्चिन्मात्र भी हानि नहीं होती, क्योंकि उसकी 'अध्यासरूप ग्रन्थि' का भेदन हो चुका है। उस 'अध्यास रूप ग्रन्थि' के निवृत्त (नष्ट) होने पर भी उस ज्ञानी मुमुक्षु पुरुष को प्रारब्ध दोष के कारण इच्छाएँ हो सकती हैं। जैसे—अहंकारादिकों से 'आत्मा' को पृथक् समझते हुए भी 'पापकर्मों' की बहुलता के कारण तुमको असन्तोष हो रहा है। अर्थात् तुम्हारा विश्वास नहीं हो रहा है। एवं च ज्ञानी मुमुक्षु पुरुष में भी प्रारब्ध कर्म फल को भोगने के लिये बाधितानुवृत्ति के कारण 'देहाभिमान' तथा राग द्वेषादिकों का होना सम्भव हो सकता है।

शंका—श्रीविद्यारण्यस्वामी—आदि अन्य आचार्यों ने भी उन ज्ञानी मुमुक्षु पुरुषों में 'राग-द्वेषादिकों' का न होना (निषेध) भी बताया है पुरुष के चित्त में जो विषयों के प्रति राग है, वही उसके अज्ञान का ज्ञापक (बोधक) चिह्न है। उस रागात्मक चिह्न (लिङ्ग) से ही उस पुरुष के अज्ञान का अनुमान किया जाता है। और पुरुष का जो 'अभिमान' है, वही उस पुरुष में 'आसुरभाव' की प्राप्ति करा देता है। किन्तु ज्ञानी मुमुक्षु पुरुष को अपने 'अध्यात्मज्ञान' का 'अभिमान' भी नहीं होता। यदि उस 'ज्ञानी मुमुक्षु पुरुष' में भी अभिमान रहेगा तो वह भी 'आसुरभाव' को प्राप्त होगा। तब तो उसका 'ब्रह्मसाक्षात्कार' करना निष्फल ही हो जायगा। इन उपर्युक्त वचनों से उस ज्ञानी पुरुष में 'विषयराग' आदि तथा 'देहाभिमान' का निषेध किया गया है। अतः ज्ञानी पुरुष में उन रागादिकों का सम्भव नहीं है।

समा०—पूर्वाचार्यों ने उक्त वचनों के द्वारा 'ज्ञानी पुरुष' में 'रागादिकों' का जो निषेध किया है, वह दृढ़ अध्यास पूर्वक सुदृढ़ रागादिकों का निषेध किया है। जैसे अज्ञानी मनुष्य में अहंकारादिकों के अध्यास पूर्वक दृढ़ रागादिक होते हैं, वैसे ज्ञानी पुरुष में अहंकारप्रयुक्त अध्यास से दृढ़ रागादिक नहीं हुआ करते।

यदि उक्त वचनों का यह अभिप्राय नहीं मानेंगे तो ज्ञानी पुरुष में रागादिकों के प्रतिपादक वचनों के साथ इन वचनों का विरोध होगा। तथा सब प्रकार से वर्तमान रहने पर भी ज्ञानी के जन्म का अभाव, भगवान् ने बताया है—उस भगवद्वचन के साथ भी विरोध होगा। इन सब विरोधों के परिहारार्थ राग के उन निषेधक वचनों का तात्पर्य, दृढ़ अध्यास पूर्वक रागादिकों के ही निषेध में है।

शंका—यदि ज्ञानी पुरुष में भी रागादिकों को स्वीकार किया जायगा, तो उसका यथेष्टाचरण भी स्वीकार करना होगा। तब शास्त्र मर्यादा का उल्लंघन होगा। क्योंकि शास्त्रनिषिद्ध विषयों में जो प्रवृत्ति, उसी को यथेष्टाचरण कहते हैं। उसी को शास्त्रीय मर्यादा का उल्लंघन कहते हैं।

समा०—'ज्ञानी पुरुष' कभी भी यथेष्टाचरण नहीं किया करते। प्रारब्ध कर्म के फलभोग में अनुकूल जो आभास मात्र राग-द्वेष की अनुवृत्ति, 'आत्मज्ञान' की विरोधिनी नहीं है। यदि आभास मात्र राग-द्वेषादिकों की अनुवृत्ति भी आत्मज्ञान की विरोधिनी होती हो, तो किसी को भी 'आत्मज्ञान' नहीं हो पाएगा। इस तथ्य को अन्यत्र भी कहा गया है। चित्त में कदाचित् उत्पन्न हुआ जो 'लेशमात्र राग' है, उसकी निवृत्ति करने में असमर्थ रहने वाला जो पुरुष 'ब्रह्मनिष्ठा' के प्रति द्वेष करता है, उसे तो किसी भी काल में आत्मनिश्चय नहीं हो पाता। इससे यह सिद्ध होता है कि प्रारब्ध कर्म की समाप्ति होने तक ज्ञानी पुरुष में भी देहाभिमान तथा रागद्वेषादिक, 'बाधितानुवृत्ति' से रहते हैं।

वतिष्ठते। एतादृशं फलं चतुर्थाऽध्यायपठनेन सम्भवतीति साम्प्रदायिकानां रीतिः॥ १९॥

•

संचितकर्मणामपि निवृत्तत्वादागामिकर्माश्लेषाद् भोगेन प्रारब्धस्य क्षयात् शरीरारम्भककारणाभावान्न ज्ञानिनो जन्मान्तरम्। विक्षेपशक्तिमदज्ञानं तु दग्धबीजवत्प्रारब्धभोगोपयोगिविषयोपदर्शनहेतुर्न जन्मान्तरहेतुः। तन्निवृत्तिस्तु प्रारब्धक्षयादेव, न तत्र ज्ञानमपेक्षते। तदवस्थानप्रयोजकीभूतावरणशक्तिमदज्ञानस्य पूर्वमेव निवृत्तत्वात्। तस्मात् ज्ञानेनाज्ञाननिवृत्तावपि तल्लेशानुवृत्त्या ज्ञानिनः प्रारब्धभोगो न विरुध्यते।

यद्वा—आवरणशक्तितादात्म्ये केवलाज्ञानकृते, ते एव ज्ञानोत्पत्त्या नश्यतः, तयोर्निरुपाधिकभ्रमत्वात्। कर्मसहिताविद्याकृतो विक्षेपः, ततश्च विद्ययाऽविद्यानिवृत्तावपि प्रारब्धक्षयपर्यन्तं विक्षेपो न निवर्तते, तस्य सोपाधिकभ्रमत्वात्। कर्मसहितविक्षेप-

•

ज्ञानी पुरुष में यदि बाधित हुए देहाभिमान की अनुवृत्ति मानी जायेगी तो 'शुक्ति' का साक्षात्कार करनेवाले पुरुष में भी बाधित हुए रजतभ्रम की अनुवृत्ति पुनः होनी चाहिये।

समा०—'शुक्ति' में जो 'रजतभ्रम' है, वह 'निरुपाधिक भ्रम' है। उस कारण 'रजतभ्रम' को निवृत्त करने में 'शुक्तिज्ञान' कोई प्रतिबन्धक नहीं है। इसलिये शुक्तिज्ञान से निवृत्त हुए 'रजतभ्रम' की पुनरावृत्ति नहीं होती।

किन्तु 'देहाभिमानादिक' तो 'सोपाधिक भ्रम' है। यहाँ तो 'प्रारब्ध कर्म' ही 'उपाधिरूप' है। उस कारण 'आत्मज्ञान' के द्वारा 'अज्ञान' के निवृत्त होने पर भी उस 'प्रारब्धकर्मरूप उपाधि' की स्थिति जबतक रहेगी तबतक ज्ञानी पुरुष में बाधितानुवृत्ति के रूप से उन 'देहाभिमानादिकों' की स्थिति का होना संभव है।

अथवा इस तरह भी कह सकते हैं कि आत्मज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति होने पर भी उस अज्ञान का 'लेशमात्र' शेष रह जाता है। इस 'अज्ञानलेश' को ही 'लेशाऽविद्या' कहते हैं। इस अज्ञानलेश की अनुवृत्ति से ही ज्ञानी पुरुष को प्रारब्ध कर्म का भोग प्राप्त होता है। इस को सर्वज्ञ मुनि ने भी कहा है।

आत्मज्ञान से अज्ञान के निवृत्त होने पर भी आभास मात्र द्वैत के रक्षणार्थ उस अज्ञान का 'लेश' शेष रहता है। इस विषय में स्वानुभव ही प्रमाण हो सकता है।

शंका—'आत्मज्ञान' से अज्ञान की निवृत्ति होने पर भी उसका 'लेश' तो विद्यमान रहता ही है। किन्तु उस अज्ञानलेश का स्वरूप क्या है, उसे स्पष्ट करना चाहिये। क्या अज्ञान के किसी 'अवयव' को 'लेश' कहते हैं? अथवा उसकी 'शक्ति' को लेश कहते हैं? इन दो विकल्पों में से प्रथम विकल्प (पक्ष) का सम्भव तो हो नहीं सकता। क्योंकि वेदान्त सिद्धान्त में 'अज्ञान' को न 'निरवयव' कहा है, और न 'सावयव' ही कहा है, किन्तु दोनों से विलक्षण अर्थात् 'अनिर्वचनीय' उसे माना है।

यदि 'अज्ञान' को 'सावयव' स्वीकार कर उसके 'अवयव' को 'लेश' कहें, तो वह उचित नहीं होगा। क्योंकि 'आत्मज्ञान' से 'अज्ञानरूप अवयवी' के निवृत्त होने पर उसके 'अवयव' की अनुवृत्ति का होना सम्भव नहीं है।

यदि अज्ञान की 'शक्ति' को 'लेश' कहें, तो वह भी संभव नहीं है, क्योंकि 'आत्मज्ञान' से उस शक्तिविशिष्ट अज्ञान की निवृत्ति होने पर, उस अज्ञानरूप 'आश्रय' के बिना निराश्रय शक्ति कैसे रह सकेगी? कोई भी शक्ति, निराश्रित नहीं रह सकती। एवं च अज्ञानलेश की अनुवृत्ति बताकर ज्ञानी पुरुष को प्रारब्ध कर्म का भोग कहना उचित नहीं है।

समा०—आत्मज्ञान से 'आवरण शक्ति' तथा 'तादात्म्याध्यास'—ये दोनों निवृत्त होते हैं। किन्तु 'विक्षेपशक्तिविशिष्ट अज्ञान', तो 'आत्मज्ञान' होने पर भी रहता है। उस 'विक्षेपशक्तिविशिष्ट अज्ञान' को ही 'लेश' कहते हैं।

किञ्च—जैसे 'आवरण शक्ति' का 'आत्मज्ञान' के साथ विरोध है, वैसे इस 'विक्षेपशक्ति' का 'आत्मज्ञान' के साथ विरोध नहीं है। इसलिये 'विक्षेपशक्तियुक्त अज्ञान' को अनुवृत्ति होने से ज्ञानी पुरुष को 'प्रारब्ध का भोग होना संभव हो सकता है।

शंका—विक्षेपशक्तियुक्त अज्ञान के कारण ज्ञानी को जैसे प्रारब्ध कर्मभोग, प्राप्त होते हैं, वैसे ही उसे जन्मान्तर की भी प्राप्ति हो सकती है।

समा०—ज्ञानी पुरुष को जन्मान्तर की प्राप्ति होने में कोई निमित्त नहीं है। क्योंकि 'अज्ञान', स्व-स्वरूप से तो जन्मप्राप्ति कराने में 'हेतु' होता नहीं अपितु 'धर्माधर्म' ही, जन्मप्राप्ति कराने में कारण (हेतु) होते हैं। और वे (धर्माधर्म) भी सञ्चितरूप में स्थित होकर ही 'जन्मप्राप्ति' कराने में कारण होते हैं। उन सञ्चित धर्माधर्म की स्थिति में, 'आवरणशक्तियुक्त अज्ञान' ही कारण (हेतु) होता है। उस 'आवरणशक्तियुक्त अज्ञान' की 'आत्मज्ञान' से निवृत्ति होने के कारण वे 'सञ्चित

शक्तिमदज्ञानमुपाधिः। भोगेन प्रारब्धक्षये ज्ञानेन देहावस्थानप्रयोजकीभूतावरणशक्तिमदज्ञाननिवृत्तावारब्धकर्मनिवृत्तौ वर्तिनाशे दीपनाशवत् विक्षेपशक्तिमदज्ञानं स्वयमेव नश्यति, न तत्र योगं वा ज्ञानं वापेक्षते, प्रमाणाभावात्। यथाऽऽऽहुः।

"अविद्यावृत्तितादात्म्ये विद्ययैव विनश्यतः। विज्ञेयस्य स्वरूपं तु प्रारब्धक्षयमीक्षते" इति।

ततश्च ज्ञानिनो विषयानुभवस्य सोपाधिकतया साक्षात्काराविरोधित्वेन ज्ञानेनाज्ञाने निवृत्तेऽपि प्रारब्धप्रापादितं विषयमनुभवन्मुमुक्षुर्ब्रह्मात्मनाऽवतिष्ठत इत्यविरोधः। तस्मात् तत्सर्वमविषमम्।

इदं फलं कुतो भवतीत्यत आह—एतादृशमिति शारीरिक इति शेषः॥ १९॥

धर्माधर्मरूपकर्म' भी नष्ट (निवृत्त) हो जाते हैं। और आत्मज्ञान के पश्चात् किये जाने वाले (क्रियमाण) कर्मों का, उस ज्ञानी पुरुष को 'लेप' नहीं होता, अर्थात् वे कर्म उसके लिये 'बन्धक' नहीं बनते। और 'प्रारब्ध कर्मों' की निवृत्ति, तज्जनित फल भोग से हो जाती है। एवं च सञ्चित, क्रियमाण, प्रारब्ध—ये तीनों ही प्रकार के कर्म, उसे जन्मान्तर प्राप्ति कराने में निष्फल हो जाते हैं। इस प्रकार शरीरारंभक कारण के अभाव में उस ज्ञानी पुरुष को जन्मान्तर की प्राप्ति होना संभव ही नहीं है। जैसे अग्निदग्ध बीज (व्रीहि, यव आदि का) 'तृप्ति' का हेतु, रहने पर भी 'अंकुर' का उत्पादक नहीं होता, अर्थात् अंकुरोत्पत्ति में हेतु (कारण) नहीं बन पाता। उसी प्रकार 'विक्षेपशक्तियुक्त अज्ञान' ज्ञानी पुरुष के लिये प्रारब्ध कर्म के फलोपभोग में उपयुक्त विषय के दर्शन का हेतु होता हुआ भी 'जन्मान्तर' की प्राप्ति में 'हेतु' नहीं बनता। और 'आत्मज्ञान' से 'आवरणशक्तिविशिष्ट अज्ञान' की निवृत्ति के समय जिस प्रारब्धकर्म के फलभोगार्थं 'विक्षेपशक्तिविशिष्ट 'अज्ञानलेश' को सुरक्षित रखा था, वह अज्ञानलेश, 'प्रारब्ध कर्मरूप प्रतिबन्ध के निवृत्त होने पर स्वयं ही (अपने आप ही) निवृत्त हो जाता है। उस अज्ञान लेश की निवृत्ति के लिये पुनः 'आत्मज्ञान' की अपेक्षा नहीं होती। क्योंकि उस अज्ञानलेश की स्थिति का प्रयोजक जो 'आवरण शक्तिविशिष्ट अज्ञान' था, उसकी निवृत्ति तो पहिले ही 'आत्मज्ञान' से हो चुकी है। उस कारण आत्मज्ञान से 'अज्ञान' के निवृत्त होने पर भी उक्त 'अज्ञानलेश' की अनुवृत्ति होने से ज्ञानी पुरुष को प्रारब्ध कर्म का फलभोग होना संभव है।

अथवा अन्य प्रकार से भी एक व्यवस्था बन सकती है—'आत्मा' को 'आवरण' करना तथा 'अहंकारादिकों' के साथ उसका (आत्मा का) 'तादात्म्याध्यास'—ये दोनों ही 'केवल अज्ञान' के किये हुए हैं। उस कारण 'आत्मज्ञान' से उन दोनों की निवृत्ति हो जाती है। अर्थात् वे दोनों ही 'निरुपाधिक भ्रम' हैं। इसलिये अधिष्ठानरूप 'आत्मा' के साक्षात्कार से उन दोनों की निवृत्ति होना संभव है। किन्तु 'विक्षेपशक्ति' तो 'कर्मसहित अविद्या' से निर्मित है। उस कारण 'ब्रह्मविद्या' से 'अविद्या' की निवृत्ति होने पर भी 'प्रारब्धकर्म' के नाश तक उस 'विक्षेप' का नाश नहीं होता। वह 'विक्षेप', सोपाधिक भ्रम है। क्योंकि 'कर्मसहित विक्षेप शक्तियुक्त अज्ञान' ही वहाँ 'उपाधि' है। जब 'फलभोग' से 'प्रारब्धकर्म' का नाश हो जाता है, तभी वह 'विक्षेपशक्तिविशिष्ट अज्ञान (अज्ञानलेश), अपने आप ही (स्वयं ही) नष्ट हो जाता है। उसे नष्ट करने के लिये पुनः 'आत्मज्ञान' की अथवा 'योगसाधना' की आवश्यकता नहीं होती। जैसे 'तेल', अथवा 'बत्ती' के नष्ट होने पर 'दीपक' अपने आप ही नष्ट हो जाता है, वैसे ही 'आत्मज्ञान' से 'आवरणशक्ति विशिष्ट अज्ञान' के निवृत्त होने पर तथा 'संचित कर्मों' के निवृत्त होने पर तथा फलभोग के द्वारा 'प्रारब्धकर्म' के निवृत्त होने पर वह 'विक्षेपशक्तियुक्त अज्ञान', अपने आप ही निवृत्त हो जाता है। उक्त तथ्य को अन्य ग्रन्थकारों ने भी बताया है। अविद्याकृत आवरण तथा अहंकारादिकों के साथ आत्मा का 'तादात्म्याध्यास'—ये दोनों, 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारक 'विद्या' (ज्ञान) से ही निवृत्त (नष्ट) हो जाते हैं। किन्तु विक्षेप का स्वरूप तो प्रारब्ध कर्म के नाश की प्रतीक्षा करता रहता है। अर्थात् 'प्रारब्धकर्मनाश' होने के पूर्व, उस विक्षेप का स्वरूप (विक्षेप) नष्ट नहीं होता। किन्तु प्रारब्ध कर्म के नाश के अनन्तर ही वह नष्ट होता है।

इस विवेचन से यह सिद्ध हुआ कि ज्ञानी पुरुष को जो विषयानुभव होता है, वह, 'स्फटिकमणि' में 'लोहित (रक्त) भ्रम के समान 'सोपाधिक भ्रम' है। अतः वह 'विषयानुभव', उस आत्मज्ञान (आत्मसाक्षात्कार) का विरोधी नहीं है, उस कारण आत्मज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति होने के पश्चात् प्रारब्धकर्मवशात् प्राप्त होने वाले अन्न-पानादि विषयों का अनुभव करता हुआ भी ज्ञानी पुरुष, 'अखण्ड-एकरस-सच्चिदानन्द ब्रह्मरूप होकर स्थित रहता है। 'आत्मज्ञान' का यही 'फल' है, यह तथ्य, वेदान्तसूत्र के चतुर्थाध्याय को पढ़ने से अवगत होता है। शारीरक मीमांसाशास्त्र (वेदान्तशास्त्र) के प्रथम अध्याय के पढ़ने से 'वेदान्तश्रवण', और द्वितीय अध्याय के पढ़ने से 'मनन', तृतीय अध्याय के पढ़ने से 'निदिध्यासन' और चतुर्थ अध्याय के पढ़ने से 'आत्मसाक्षात्काररूप फल' का ज्ञान होता है। इस क्रम को वेदान्त के साम्प्रदायिक विद्वानों ने माना है। वेदान्तसूत्र (शारीरक मीमांसा) की चतुरध्यायी की सफलता, उक्त विवेचन से स्पष्ट होती है॥ १९॥

अन्ये[1] तु गुरुमुखात्सम्पूर्णशास्त्रपठनं श्रवणं, तस्य पठितस्य युक्तिभिरनुसन्धानं मननम्, तस्यैव पुनः पुनरावृत्तिर्निदिध्यासनम्, अनन्तरं साक्षात्कार इत्याहुः।

वस्तुतस्तु शुद्धसत्त्वानां मुख्याऽधिकारिणां व्युत्पन्नानामव्युत्पन्नानां च श्लोकेन श्लोकार्द्धेन वा ब्रह्मसाक्षात्कारो भवत्येव; शब्दस्याऽचिन्त्यशक्तित्वात्। शास्त्रस्य शारीरकादेरमुख्याधिकारिविषयोपपत्तेः। तदुक्तं महाभारते—

*

मतान्तरमाह—अन्येत्विति। ननु शास्त्रानधिकारिणां मैत्रेयीप्रभृतीनां तदधिकारिणां जनकभरतप्रभृतीनां शास्त्रश्रवणादिकमन्तरेण सिद्धगीताश्रवणमात्रेण श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणेषु तत्त्वज्ञानोत्पत्त्यवगमात् कथमयं नियमः सेत्स्यतीत्यपरितोषादाह—वस्तुतस्त्विति। सगुणसाक्षात्कारपर्यन्तं कृतोपासना मुख्याधिकारिणः। जन्मान्तरश्रवणादिसामग्रीसम्पन्नाः प्रतिबन्धवशान्मानुषं जन्म प्राप्ता वा मुख्याधिकारिणः। विदितपदतदर्थसङ्गतिका व्युत्पन्नाः। तद्विपरीता अव्युत्पन्नाः। ननु भवतु व्युत्पन्नानामुक्तप्रकारेण साक्षात्कारः, अव्युत्पन्नानां सङ्गतिग्रहाभावात् कथं वाक्यात् ब्रह्मसाक्षात्कार इत्याशङ्क्याह—शब्दस्येति। यथा सुप्तप्रबुद्धस्येन्द्रियार्थसन्निकर्षानन्तरं चक्षुरादिना घटादिसाक्षात्कारो जायते, तथाऽतीतानेकसुकृतपरिपाकवशेन भगवदनुगृहीतस्य नितान्तनिर्मलस्वान्तस्यैकश्लोकश्रवणेन श्लोकार्धश्रवणेन वाक्यमात्रश्रवणेन वा ब्रह्मसाक्षात्कारो भवत्येव। न ह्युन्मत्तानां विक्षिप्तचित्तानां घटादिषु विपरीतव्यवहारो दृष्ट इति स्वस्थचित्तानामपि तादृशव्यवहारो भवतीति शक्यं कल्पयितुम्। एवं विषयाभिलाषिणां रजस्तमोवृत्त्युपहतचित्तानां पण्डितानां ब्रह्मसाक्षात्काराभावेऽपि कारुण्यामृतवारिराशिभक्तवत्सलश्रीकृष्णानुगृहीतस्य निरस्तसमस्तरजस्तमोवृत्तिस्वान्तस्य वाक्यमात्रश्रवणेन ज्ञानोत्पत्तौ बाधकाभावात् न कोऽपि दोष इति भावः।

•

कतिपय आचार्यों का कहना है कि श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के मुख से सम्पूर्ण वेदान्तशास्त्र (शारीरक मीमांसा) का अध्ययन ही 'श्रवण' है। और उस अधीतशास्त्र के अर्थ का जो युक्तिपूर्वक चिन्तन है, वही 'मनन' है। और उस मनन किए अर्थ का पुनः-पुनः स्मरण (आवृत्ति) करना ही 'निदिध्यासन' है। इस प्रकार के श्रवण-मनन-निदिध्यासन के पश्चात् ही मुमुक्षु को 'अहं ब्रह्मास्मि'—इत्याकारक साक्षात्कार होता है।

शंका—उपनयनसंस्कार न होने के कारण वेदान्तशास्त्राध्ययन के अनधिकारी 'मैत्रेयी' आदि स्त्रियों को तथा 'विदुर' आदि शूद्रों को भी आत्मज्ञान (आत्मसाक्षात्कार) के होने को चर्चा, श्रुति, स्मृति, पुराणों में की गई है। और वेदान्तशास्त्राध्ययन के अधिकारी 'राजा जनक' 'जडभरत' आदि को शारीरक मीमांसाशास्त्र के श्रवण (अध्ययन) के विना भी केवल 'गीता' आदि के श्रवण से ही आत्मज्ञान (आत्मसाक्षात्कार) हुआ है—यह सर्वत्र प्रसिद्ध ही है। अतः 'सम्पूर्ण वेदान्तसूत्रादि' के अध्ययन से ही 'श्रवण' की निष्पत्ति का नियम बताना उचित प्रतीत नहीं हो रहा है।

समा०—कोई भी व्यक्ति, चाहे वह 'व्युत्पन्न' हो अथवा 'अव्युत्पन्न' हो, यदि वह विशुद्ध (निर्मल) अन्तःकरण का है तो वह 'मुख्य अधिकारी' ही है। उस मुख्य अधिकारी को तो उसे, 'जीव-ब्रह्मैक्य' का प्रतिपादन करनेवाले 'एक श्लोकमात्र' से किं वा 'अर्धश्लोकमात्र' से ही 'ब्रह्मसाक्षात्कार' (आत्मसाक्षात्कार) हो जाता है।

अमुक शब्द की अमुक अर्थ में 'शक्ति' है, अमुक अर्थ में 'लक्षणा' है—इस प्रकार 'पद-पदार्थ' के 'शक्ति-लक्षणा' रूप संगति (सम्बन्ध) का जिन व्यक्तियों को ज्ञान रहता है, उन्हें 'व्युत्पन्न' समझा जाता है, और जो लोग 'पद-पदार्थ' के सम्बन्ध (संगति) को नहीं जानते, उन्हें 'अव्युत्पन्न' कहा जाता है। और जिन व्यक्तियों ने 'सगुण ब्रह्म' के साक्षात्कार प्राप्त करने तक उपासना की हुई है, उन व्यक्तियों को 'मुख्य अधिकारी' कहा जाता है। अथवा पूर्वजन्म में श्रवण-मननादि सामग्री से सम्पन्न होने पर भी किसी 'प्रतिबन्ध' की उपस्थितिवश वे पुनः मनुष्य शरीर में आ गये हैं, वे लोग भी 'मुख्य अधिकारी' हैं। उन व्युत्पन्न मुख्य अधिकारियों को तथा अव्युत्पन्न मुख्य अधिकारियों को 'आत्मसाक्षात्कार' की प्राप्ति करने में सम्पूर्ण वेदान्तशास्त्र श्रवण की अपेक्षा नहीं हुआ करती। अपितु 'वाक्यमात्र' श्रवण से ही उनको 'आत्मसाक्षात्कार' हो जाता है।

शंका—व्युत्पन्न मुख्य अधिकारियों को भले ही 'वाक्यमात्र' के श्रवण से आत्मसाक्षात्तार होता हो, किन्तु 'अव्युत्पन्न को साक्षात्कार' होना सम्भव नहीं है।

समा०—शब्द की शक्ति, 'अचिन्त्य' है। उस कारण अव्युत्पन्न मुख्य अधिकारी को भी वाक्यश्रवणमात्र से आत्म (ब्रह्म) साक्षात्कार हो सकता है। जैसे निद्रित (सुप्त) मनुष्य को पद-पदार्थसंगति का ज्ञान न होने पर भी किसी दूसरे के वाक्य

१. चतुर्थ्याव्याः श्रवणरूपत्वमूरीकुर्वाणामधुसूदनादयः।

"आत्मानं विन्दते यस्तु सर्वभूतगुहाश्रयम् । श्लोकेन यदि वार्द्धेन क्षीणं तस्य प्रयोजनम् ॥" इति ।

साम्प्रदायिकैरप्युक्तम् । "वाक्यश्रवणमात्रेण पिशाचवदवाप्नुया"[1]दिति ॥ २० ॥

●

ननु तर्हि शरीरकादिशास्त्रप्रणयनं व्यर्थं स्यात्, तेन विनापि ब्रह्मसाक्षात्कारसम्भवादित्याङ्क्याह—शास्त्रस्येति । मुख्याधिकारिणां श्लोकेन श्लोकार्धेन वा ब्रह्मसाक्षात्कारो भवतीत्यत्र वचनमुदाहरति—तदुक्तमिति । विन्दते साक्षात्करोति देहादिविलक्षणत्वेन । आत्मानम् स्वस्वरूपसच्चिदानन्दलक्षणमपरिच्छिन्नम् ।

"यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह । यस्य स्यात् सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति चोच्यते ॥"

इति स्मरणादात्मा त्रिविधपरिच्छेदशून्यो भवति । पुनः कथं भूतम् ? सर्वभूतगुहाश्रयम् सर्वेषां भूतानां ब्रह्मादिस्थावरान्तानां हृदि गुहायामन्तःकरणे शेते तत्साक्षितया तिष्ठतीति सर्वभूतगुहाश्रयम् सर्वभूतबुद्धिसाक्षिणमित्यर्थः । तस्य ज्ञानिनो मानुषानन्दमारभ्य ब्रह्मानन्दान्तप्राप्तिरूपप्रयोजनं श्लोकेन श्लोकार्धेन वा । देहादिविलक्षणप्रत्यग्रूपाखण्डैकरसात्मलाभे क्षीणं अन्तर्भूतम् । "एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ती" तिश्रुतेरित्यस्य श्लोकस्य तात्पर्यार्थः ।

तत्र नैष्कर्म्यसिद्धिश्लोकार्धमुदाहरति—साम्प्रदायिकैरपीति ।

"कृत्स्नानात्मनिवृत्तौ तु कश्चिदाप्नोति निर्वृतिम् । श्रुतिवाक्यस्मृतेश्चान्यत् स्मार्यते च वचोऽपरम् ॥"

इति पूर्वश्लोकः । अत्र चत्वारः श्रोतारः (१) विराट् (२) भृगुः (३) श्वेतकेतुः (४) पिशाचश्च । तत्र श्वेतकेतोरावृत्त्यपेक्षायामपि इतरेषां तदभावान्मुख्याधिकारिणां श्लोकेन वा तदर्धेन वा ब्रह्मसाक्षात्कारो भवत्येवेति न काऽप्यनुपपत्तिरिति भावः ॥ २० ॥

●

को सुनते ही वह जाग जाता है । उसी तरह अव्युत्पन्न मुख्य अधिकारी को भी वाक्यमात्र के श्रवण से ब्रह्मसाक्षात्कार के होने में कोई भी प्रतिबन्धक नहीं है । अभिप्राय यह है कि जैसे निद्रा से जगा हुआ मनुष्य, घटादि पदार्थों के साथ चक्षुरिन्द्रिय का सन्निकर्ष (सम्बन्ध) होते ही 'अयं घटः'—इस प्रकार के चाक्षुष साक्षात्कार का अनुभव करता है, उसी प्रकार पूर्वजन्म-जन्मान्तरों में अर्जित पुण्यकर्म के परिपाकवशात् परमेश्वर के अनुग्रह से शुद्ध अन्तःकरण वाले मनुष्य को वाक्यश्रवणमात्र से ही अथवा श्लोकश्रवणमात्र से ही आत्मसाक्षात्कार अवश्य हो जाता है ।

उत्तम अर्थात् विक्षिप्तचित्तवाले मनुष्यों का घटादि पदार्थों के विषय में विपरीत व्यवहार होता दिखाई देता है, अतः उसी आधार पर स्वस्थ चित्तवाले मनुष्यों के व्यवहार को भी वैसे ही समझलेना उचित नहीं होगा । अर्थात् घटादि वस्तुओं के साथ चक्षुरादि इन्द्रियों का सम्बन्ध होने पर भी उन घटादिकों के विषय में (पागल) मनुष्यों का विपरीत व्यवहार ही दृष्टिगोचर होता है, उसी प्रकार स्वस्थ चित्तवाले (अच्छे भले सज्जन) मनुष्य का भी इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष होने के पश्चात् विपरीत व्यवहार ही होता होगा । ऐसी कल्पना करना उचित नहीं होगा ।

अतः विषयाभिलाषी रजस्तमोवृत्ति से उपहत चित्तवाले साक्षर पण्डितों को ब्रह्मसाक्षात्कार के न होने पर भी कारुण्यामृतवारिधि भक्तवत्सल भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के अनुग्रहपात्र, सम्पूर्ण रजस्तमोवृत्ति के निरस्त हो जाने से निर्मल अन्तःकरणवाले मनुष्य को केवल वाक्यश्रवणमात्र से ब्रह्मसाक्षात्कार के होने में कोई किसी प्रकार की बाधा नहीं है ।

शंका—पूर्वोक्त मुख्य अधिकारियों को यदि वाक्यश्रवणमात्र से ही ब्रह्मसाक्षात्कार के होने में कोई बाधा नहीं हैं, अर्थात् ब्रह्मसाक्षात्कार का होना निश्चित ही है, तो 'शारीरकमीमांसाशास्त्र' के प्रणयन को व्यर्थ ही कहना होगा । क्योंकि उसके विना भी ब्रह्मसाक्षात्कार का होना सम्भव हो रहा है । एवञ्च शारीरकशास्त्र का कोई उपयोग नहीं है ।

समा०—मुख्य अधिकारियों से भिन्न जो अमुख्य अधिकारी हैं, उनके बोधनार्थ ही शारीरक मीमांसाशास्त्र की रचना की गई है । अर्थात् अमुख्य अधिकारियों को वाक्यमात्र के श्रवण से ब्रह्मसाक्षात्कार नहीं होता है, किन्तु शारीरक मीमांसाशास्त्र के अध्ययन से ही ब्रह्मसाक्षात्कार हो पाता है । एवं च अमुख्य अधिकारियों के लिये ही शारीरकमीमांसाशास्त्र का आरंभ (प्रणयन) करना सप्रयोजन ही है, निष्प्रयोजन नहीं है ।

मुख्य अधिकारी को श्लोक-अर्धश्लोक आदि के श्रवण मात्र से ही ब्रह्मसाक्षात्कार के होने में महाभारतकार भगवान् व्यास कह रहे हैं अर्थात् देशपरिच्छेद, कालपरिच्छेद, और वस्तु परिच्छेद तीनों से रहित, तथा समस्त प्राणियों (भूतों) के

१. पिशाचकवद् इति सिद्धौ पाठः ।

एतावानत्र विशेषः । अव्युत्पन्नानां परतन्त्रप्रज्ञत्वादसम्भावनादिसम्भवाद् ध्याननिष्ठापेक्षिता । तदुक्तं भगवता—

"अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वाऽन्येभ्य उपासते । तेऽपि चाऽतितरन्त्येव मृत्युं श्रुतपरायणाः ॥" इति ।

●

ननु—मुख्याधिकारिणां व्युत्पन्नानामव्युत्पन्नानां चोक्तप्रकारेण ब्रह्मसाक्षात्कारे सम्पन्ने कर्तव्यशेषोऽस्ति न वेति विमर्शे निर्णयमाह—एतावानिति । अत्र व्यवहारभूमौ अव्युत्पन्नानां ब्रह्मसाक्षात्कारानन्तरं ध्याननिष्ठाऽपेक्षितेति सम्बन्धः । तत्र युक्तिं वक्ति—परतन्त्रेति । परतन्त्रा पराधीना प्रज्ञा येषां ते तथोक्ताः परतन्त्रप्रज्ञास्तेषां भावः तत्त्वं तस्मादित्यर्थः । अस्तु परतन्त्रप्रज्ञत्वम्, साक्षात्कारानन्तरं किं ध्याननिष्ठयेत्याशङ्क्याह—असम्भावनेति । आदिशब्देन विपरीतभावना गृह्यते । तथाचाव्युत्पन्नानां स्वतः प्रमाणकुशलत्वाभावात् व्युत्पन्नस्यापि साक्षात्कारस्यासत्सङ्गादिदोषवशेनाऽसम्भावनाविपरीतभावनाभ्यां प्रतिबन्धादज्ञाननिवर्तकत्वायोगात् परमपुरुषार्थो न स्यादतो निरन्तर ध्याननिष्ठायामभ्यस्यमानायामसत्सङ्गादीनामभावात्प्रतिबन्धकारणाभावेनाप्रतिबद्धब्रह्मसाक्षात्कारेण परमपुरुषार्थः सम्भवतीति ध्याननिष्ठाऽवश्यमपेक्षितेति भावः ।

तत्र गीतावचनमुदाहरति—तदुक्तमिति । ध्यानदीपिकाश्लोकमुदाहरति—विद्यारण्यैरिति । पञ्चीकरणोक्तप्रकारेण निर्गुणं ब्रह्म ध्यातव्यमित्यर्थः । तेन ध्यानेन किं भवतीत्याशङ्क्य विद्यारण्यसम्मतोत्तरमाह—मरण इति । उक्तार्थे योगसूत्रं संवाद-

●

बुद्धियों का साक्षी जो सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा है उसका 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारक साक्षात्कार, एक श्लोक से अथवा अर्धश्लोक से अधिकारी पुरुष को होता है । साक्षात्कार होने से उस ज्ञानी अधिकारी पुरुष के सम्पूर्ण प्रयोजन क्षीण हो जाते हैं। अर्थात् मनुष्य लोक से लेकर ब्रह्मलोक तक के जितने आनन्द रूप प्रयोजन हैं, वे सभी 'ब्रह्मानन्द' के ही अन्तर्गत हैं। उस ब्रह्मानन्द के प्राप्त होने पर इस ज्ञानी अधिकारी पुरुष को किसी लोक के आनन्द की इच्छा नहीं होती ।

इसी अभिप्राय को साम्प्रदायिक नैष्कर्म्यसिद्धिकार ने भी बताया है—वाक्यश्रवणमात्र से ही पिशाच की तरह वह प्राप्त कर सकता है । एवं च मुख्य अधिकारी को वाक्यमात्र के श्रवण से ब्रह्मसाक्षात्कार हो जाता है । नैष्कर्म्यसिद्धि में उक्त श्लोक के पूर्व के श्लोक में चार प्रकार के 'श्रोता' बताये गये हैं—(१) विराट्, (२) भृगु, (३) श्वेतकेतु, (४) और पिशाच । इनमें 'श्वेतकेतु' को आवृत्ति की अपेक्षा रहने पर भी तदतिरिक्त तीनों को 'आवृत्ति' की अपेक्षा नहीं है । उस कारण मुख्य अधिकारियों को केवल श्लोकमात्र से अथवा अर्धश्लोक से ही 'ब्रह्मसाक्षात्कार' के होने में कोई अनुपपत्ति नहीं है ॥ २० ॥

शंका—व्युत्पन्न तथा अव्युत्पन्न—इन दो प्रकार के मुख्य अधिकारियों को वाक्यश्रवण मात्र से होने वाले ब्रह्मसाक्षात्कार के पश्चात् कुछ कर्तव्य, शेष रहता है अथवा नहीं ?

समा०—उन दो प्रकार के मुख्य अधिकारियों में से व्यवहार भूमिक जो अव्युत्पन्न मुख्य अधिकारी हैं, उनको तो ब्रह्मसाक्षात्कार होने के पश्चात् ब्रह्माकार वृत्ति की प्रवाहरूप 'ध्याननिष्ठा' की अपेक्षित रहती है क्योंकि अव्युत्पन्न अधिकारियों की बुद्धि, 'परतन्त्र' होती है । अर्थात् अन्य पुरुषों को बुद्धि उपदेशाधीन रहती है। क्योंकि वे अव्युत्पन्न अधिकारी, शास्त्र समझने में कुशल नहीं हैं । उस कारण अव्युत्पन्न पुरुषों को, वाक्यश्रवणमात्र से ब्रह्मसाक्षात्कार के उत्पन्न होने पर भी भेदवादी पुरुषों के संगदोष से उन्हें 'असम्भावना', 'विपरीत भावना' उत्पन्न होने की सम्भावना हो सकती है, जिससे उस अव्युत्पन्न अधिकारी की 'बुद्धि', के प्रतिबद्ध (विकृत) होने की सम्भावना है । अतः ध्याननिष्ठा आवश्यक है । तब प्रतिबद्ध (विकृत) हुए ज्ञान से 'अज्ञान' की निवृत्ति, तथा 'परम पुरुषार्थ' (मुक्ति) की प्राप्ति नहीं हो सकती । किन्तु वे अव्युत्पन्न मुख्य अधिकारी, जब ध्याननिष्ठा में रहेंगे, तब उन्हें, भेदवादी पुरुषों का सङ्ग नहीं होगा, यदि सङ्ग होगा भी तो उसका उनपर कोई प्रभाव नही पड़ेगा । उस कारण उन्हें असम्भावना तथा विपरीत भावना भी नहीं होगी । उस स्थिति में प्रतिबन्ध रहित ब्रह्मसाक्षात्कार से उन अव्युत्पन्न मुख्य अधिकारियों के अज्ञान को निवृत्ति तथा परमपुरुषार्थ की प्राप्ति उन्हें अवश्य होगी । इसलिये उन अव्युत्पन्न मुख्य अधिकारियों को ब्रह्मसाक्षात्कार होने के बाद भी 'ध्याननिष्ठा' की अपेक्षा आवश्यक है ।

उक्त तथ्य के समर्थन में श्रीमद्भगवद्गीता का वचन दे रहे हैं—भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं कह रहे हैं—कि जो लोग 'शास्त्र' का अर्थ समझने में निपुण नहीं हैं, वे भी अन्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुओं के मुख से 'ब्रह्म' के स्वरूप का श्रवण करके, उसका निरन्तर ध्यान (निदिध्यासन) यदि करते रहते हैं, तभी, उन श्रवणपरायण अव्युत्पन्न अधिकारियों के अज्ञान का नाश (निवृत्ति) हो पाता है । अन्यथा नहीं ।

'ध्यान' को ही 'उपासना' कहते हैं । वह ध्यान, 'स्वतन्त्रफल' के लिये और 'कर्मसमृद्धि' के लिये भी होता है । कर्मसमृद्धि के लिये जो उपासना (ध्यान) की जाती है, उसमें कर्माधिकारियों को ही अधिकार है, अन्य को नहीं ।

विद्यारण्यैरप्युक्तम्—

"अत्यन्तबुद्धिमान्द्याद्वा सामग्र्या वाऽप्यसम्भवात् । यो विचारं न लभते ब्रह्मोपासीत सोऽनिशम् ।।" इति ।

"मरणे ब्रह्मलोके वा तत्त्वं ज्ञात्वा विमुच्यते" इति च ।

●

यति—पतञ्जलिनेति । ततः परमात्मध्यानात् । प्रत्यक्त्वेनाधिगमः प्रत्यगात्मसाक्षात्कारः । अन्तरायापगमः ज्ञानोत्पत्तौ सकल-प्रतिबन्धनिवृत्तिश्च भवतीति शेषः । तदुक्तं बादरायणेन—"पराभिध्यानात्तिरोहितं तु ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ" इति । श्रुतिरपि—

"ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैः जन्ममृत्युप्रहीणः[1] ।
तस्याभिध्यानात्तृतीयदेहभेदे विश्वैश्वर्यं केवलं आप्तकामः" ।। इति ।

ननु अव्युत्पन्नानां प्रमाणकौशलाभावेन परतन्त्रप्रज्ञतया ब्रह्मसाक्षात्कारानन्तरं सम्भावितप्रतिबन्धवारणाय ध्याननिष्ठा-पेक्षायामपि प्रमाणकुशलानां पण्डितानां स्वतन्त्रप्रज्ञत्वेन ध्याननिष्ठा नापेक्षितेत्याशङ्क्य; किं सर्वेषां सा नापेक्षिता, उत केषांचित् ? न द्वितीयः, इष्टापत्तिरित्यभिप्रेत्य[2]; नाद्यः, नानाशास्त्रपरिशीलनेन जन्मान्तरीयदुरितवशेन च संशयविपर्यासग्रस्तानां पण्डितानामुत्पन्नस्यापि साक्षात्कारस्याप्रामाण्यशङ्काकलङ्कितत्वेनाज्ञाननिवर्तनक्षमत्वाभावात् ।

"परीक्षया न गृह्णाति गृह्णाति चाविपर्ययात् । दृढपूर्वश्रुतत्वाच्च प्रमादाच्चापि लौकिकात् ।
चतुर्भिः कारणैरेतैर्याथातथ्यं न विन्दति" ।

●

वर्णाश्रम भेद के कारण विभक्त हुए कर्मों में देहधर्म ब्राह्मणत्वाद्यभिमानियों को ही अधिकार है। जैसे, "ब्राह्मणो यजेत"—इत्यादि विधिविहित कर्मों में 'कर्माधिकारियों' का ही अधिकार होता है। उनमें 'ज्ञानियों' का अधिकार नहीं है। सगुणविषयक स्वतन्त्र उपासना में भी वर्णाश्रमधर्म वाले ब्राह्मणादिकों का ही अधिकार होता है, देहाभिमान वाला ही उसका कर्ता हो सकता है। अतः उसमें भी ज्ञानियों को अधिकार नहीं है। ज्ञानी को विधिपरतन्त्रता के न रहने पर भी निषेध परतन्त्रता तो रहती ही है—(भामती) ।

इसी सन्दर्भ में श्रीविद्यारण्यस्वामी ने भी ध्यान दीपिका में कहा है कि बुद्धि की अत्यन्त मन्दता से अथवा विचार सामग्री के प्राप्त न हो सकने से जो पुरुष 'ब्रह्म' विचार (चिन्तन) नहीं कर पाते हैं, वे पुरुष, अहर्निश (निरन्तर) 'निर्गुण ब्रह्म' का ध्यान करें। वह ध्यानकर्ता पुरुष, मृत्यु के समय, अथवा ब्रह्मलोक में उस निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप का साक्षात्कार करके मोक्ष की प्राप्ति करलेता है (मुक्त हो जाता है) । निर्गुण ब्रह्म का ध्यान, पञ्चीकरणोक्त प्रकार से करना चाहिये ।

इसी तथ्य को भगवान् पतञ्जलि ने भी अपने योगसूत्र में बताया है—परमात्मा के ध्यान से ध्यानकर्ता को प्रत्यक्—आत्मा का साक्षात्कार होता है, और आत्मसाक्षात्कार के होने में जितने भी प्रतिबन्धक (अन्तराय) हैं, उन सभी प्रतिबन्धकों की निवृत्ति, उस ध्यान से हो जाती है। इससे स्पष्ट है कि अव्युत्पन्न मुख्य अधिकारी को ब्रह्मसाक्षात्कार के पश्चात् भी ध्यान-निष्ठा की आवश्यकता होती है ।

शंका—उक्त विवेचन की दृष्टि से अव्युत्पन्न मुख्य अधिकारी को ब्रह्मसाक्षात्कार के पश्चात् भी ध्यान निष्ठा की आवश्यकता नहीं होनी चाहिये ।

प्रश्न०—क्या सभी व्युत्पन्न अधिकारियों को ध्याननिष्ठा की आवश्यकता (अपेक्षा) नहीं होती है, अथवा किसी विरले व्युत्पन्न अधिकारी को ध्याननिष्ठा की आवश्यकता (अपेक्षा) नहीं रहतो है ?

यदि द्वितीय पक्ष स्वीकृत हो तो वह हमें भी स्वोकार है। और यदि प्रथम पक्ष का स्वीकार करोगे तो वह संभव नहीं है। क्योंकि न्याय-मीमांसा आदि अनेक शास्त्रों का विचार करते रहने से तथा पूर्वजन्मार्जित पापकर्म के कारण विद्वानों का चित्त, नानाविध संशयों से ग्रस्त रहता है। अतः पण्डित व्युत्पन्न पुरुष को भी वेदान्त विचार से ब्रह्मसाक्षात्कार के उत्पन्न होने पर भी उसमें सन्दिग्ध भावना, अथवा विपरीत भावना के कारण अप्रामाण्य की आशंका बनी रहती है। उस कारण व्युत्पन्न-पुरुष को वेदान्त विचार से उत्पन्न हुआ भी ब्रह्मसाक्षात्कार, 'अज्ञान' का नाश करने में समर्थ नहीं हो पाता। अतः व्युत्पन्न अधिकारी को भी 'सन्दिग्धभावना', 'विपरीत भावना' आदि प्रतिबन्धकों के निवारणार्थ 'ध्याननिष्ठा' की अपेक्षा, (आवश्यकता)

---

१. प्रहीणैरिति तृतीयमिति च श्रुतिपाठः ।

२. इष्टापत्ते—इति पाठश्चेत्, सम्यगन्वयो भवति । यथाश्रुते यत् इति पदमध्याहार्यम् ।

पतञ्जलिनाप्युक्तम्—"ततः प्रत्यक्त्वेनाधिगमोऽप्यन्तरायापगमश्चे"ति।

प्रमाणकुशलानां संशयादिग्रस्तानां पण्डितानामपि ध्याननिष्ठाऽपेक्षिता। तदुक्तम्—"अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्या"मिति।

इति वार्तिकाचार्योक्तेश्च। केषांचित् परमेश्वरानुगृहीतानामसम्भावनादिरहितानां पण्डितानां ब्रह्मापरोक्षज्ञानिनां ध्याननिष्ठापेक्षाभावेऽपि तद्विपरीतानां ध्याननिष्ठाऽपेक्षितैवेत्याह—प्रमाणेति। तथा संशयादिनिवृत्त्याऽप्रतिबद्धब्रह्मसाक्षात्कारेण परमपुरुषार्थो मोक्षस्तेषां भवतीति भावः।

तत्राचार्यसम्मतिमाह—तदुक्तमिति। तृतीये स्थितम्—"प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः"। "द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवाऽमूर्तं चे"त्युपक्रम्याधिदैवमध्यात्मं च ब्रह्मणो मूर्तामूर्तलक्षणे द्वे रूपे मूर्तामूर्तरसौ समष्टिव्यष्टिरूपौ महारजनाद्युपमं लिङ्गगतं वासनारूपं चोपन्यस्याम्नायते—"अथात आदेशो नेति नेती"ति। अत्र यद्यपि निषेध्यं किञ्चिन्न प्रतीयते; तथाप्येवंशब्दसमानार्थकेनेतिशब्देन सन्निहितवाचिना निषेध्यं किंचित् समर्प्यते।

तत्र संशयः—किमत्र रूपे परिशिनष्टि, ब्रह्म प्रतिषिद्धयते, आहोस्वित् ब्रह्म परिशिनष्टि रूपे प्रतिषिध्येते इति। तत्र प्राप्तं तावत्—रूपे परिशिनष्टि, ब्रह्म प्रतिषिध्यत इति। कुत इति चेत्? प्रत्यक्षादिसिद्धस्य रूपादेः प्रतिषेधायोगात्, "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" इति श्रुत्या ब्रह्मणो वाङ्मनसातीतत्वप्रतिपादनेन तस्यैव निषेधो युक्त इति प्राप्ते—

अभिधीयते। न तावत् ब्रह्मप्रतिषेधः सम्भवति; रूपिणं विना रूपानवस्थानात्। किंच ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य मूर्तामूर्तलक्षणस्य कार्यतयाऽनित्यत्वेन ब्रह्मप्रतिषेधे शून्यवादः प्रसज्येत। तर्हि किं प्रतिषिध्यत इति चेत्? प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति;

अवश्य रहती है। उस ध्याननिष्ठा से ही उसकी सन्दिग्धभावना तथा विपरीत भावनारूप प्रतिबन्धकों की निवृत्ति हो पाती है। तब प्रतिबन्धरहित ब्रह्मसाक्षात्कार उसे होता है, और मोक्ष प्राप्ति होती है।

किन्तु परमेश्वर के अनुग्रह पात्र, असम्भावना–सन्दिग्धभावना–विपरीत–भावनाओं से रहित जो व्युत्पन्न अधिकारी रहते हैं, उन्हें ब्रह्म साक्षात्कार के पश्चात् ध्याननिष्ठा की अपेक्षा (आवश्यकता) नहीं होती है।

'ध्यान' ही 'ब्रह्मसाक्षात्कार' के होने में कारण (हेतु) है—इस तथ्य को ब्रह्मसूत्रकार व्यास भगवान् ने भी अपने ब्रह्मसूत्र में बताया है—(ब्र० सू० ३।२।२४) धीर पुरुष, उस परमात्मा का, समाधिदशा में अर्थात् ध्यानकाल में एकाग्रचित्त से आत्मरूप में ब्रह्मसाक्षात्कार कर पाता है। (भक्ति, ध्यान, प्रणिधानादि के अनुष्ठान को 'संराधन' कहते हैं)। क्योंकि श्रुति तथा स्मृति ने भी 'ध्यान' से ही 'ब्रह्मसाक्षात्कार' का होना बताया है। श्रुति कहती है—(मुं० उ० ३।१।८) ज्ञान की निर्मलता से जिनका अन्तःकरण विशुद्ध (निर्मल) हुआ है, वह ध्यान करता हुआ समस्त अवयवभेद से रहित आत्मा को देखता है। अर्थात् निर्मल अन्तःकरण वाला पुरुष 'निर्गुण ब्रह्म' का ध्यान करता हुआ उस निर्गुण ब्रह्म का साक्षात्कार करता है, और वाह्य रूपादिविषयों से मोड़ लिया है चक्षुरादि इन्द्रियों को जिसने वही ध्याननिष्ठ पुरुष, मोक्षप्राप्ति की इच्छा करने वाला पुरुष 'प्रत्यक् आत्मा' का साक्षात्कार करता हैं। तथा स्मृति भी बता रही है कि निद्रारहित, श्वास को जीतनेवाले, संयतेन्द्रिय मनुष्य, ध्यान लगाकर जिस ज्योति को देखते हैं, उस योगलभ्य आत्मा को प्रणाम है। उस सनातन परमेश्वर को योगी लोग सम्यक्तया देखते हैं। अर्थात् संयत निद्रावाले, तथा प्राणायाम के द्वारा श्वास-प्रश्वास को जीतनेवाले, तथा यथालाभ में ही सन्तुष्ट रहनेवाले, तथा जितेन्द्रिय पुरुष, ध्यानयोग के द्वारा जिस परमात्मज्योति का साक्षात्कार करते हैं उस योगलभ्य (योगरूप) परमात्मा को हमारा नमस्कार है। एवञ्च परमेश्वर का ध्यान करने से 'प्रत्यगात्मा' का साक्षात्कार होता है और ज्ञानोत्पत्ति के होने में जितने भी प्रतिबन्धक हैं, उन सबकी निवृत्ति होती है। बादरायण व्यास ने भी कहा है—(ब्र० सू० ३।२।५) अर्थात् जीवात्मा का अविद्या' आदि से व्यवहित ऐश्वर्य, परमात्मा के ध्यान से अभिव्यक्त होता है, क्योंकि परमेश्वर का 'ज्ञान' न होने से जीवात्मा का 'बन्ध', और 'ज्ञान' होने से 'मोक्ष' होता है। श्रुति (श्वेता० १।११) भी बता रही है—'वह मैं ही हूँ' इसप्रकार परमेश्वर को जानकर 'जीव' के समस्त बन्धनों का नाश हो जाता है। अविद्यादि क्लेशों के क्षीण होने पर जनन-मरणादि दुःखहेतु का नाश हो जाता है—उस परमेश्वर के अभिध्यान से शरीरपात होने पर तृतीय विश्वैश्वर्यलक्षण फल की प्राप्ति होती है। तब वह अनुभवी व्यक्ति, उसका त्याग करके केवल पूर्णानन्द अद्वितीय ब्रह्मरूप हो जाता है। इसी तथ्य को सूत्रकार ने भी बताया है —बृ० उ० २।३।६)। सन्दर्भ यह चल रहा है कि—'ब्रह्म' के दो रूप हैं—मूर्त और अमूर्त, मर्त्य और अमृत, स्थिर और चर तथा सत् और त्यत्। जो वायु और अन्तरिक्ष से भिन्न है, वह मूर्त है। यह मर्त्य है, यह स्थित है, और यह सत् है। उस

अन्यत्राऽप्युक्तम्—

"बहुव्याकुलचित्तानां विचारात् तत्त्वधीर्न चेत्। योगो मुख्यस्ततस्तेषां धीदपस्तेन नश्यति ॥" इति।

नेति नेतीति श्रुतिः पूर्ववाक्ये प्रकृतं ब्रह्मणो रूपत्वेनोपन्यस्तं मूर्तामूर्तलक्षणतद्रसतद्गतवासनारूपमेतावन्मात्रं प्रतिषेधति, "अथात आदेशो नेति नेती"ति, न रूपि ब्रह्म प्रतिषेधति, शून्यवादप्रसङ्गात् सर्वप्रतिषेधे। आदरार्थे नेति नेतीति वीप्सा। इदं कुतो ज्ञायत इति चेत्? ततः प्रतिषेधानन्तरं भूयो ब्रवीति "न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत् परमस्तीति"। नेति। कोऽर्थः? नेत्येतस्मात् निषेधावधिभूतात् ब्रह्मणोऽन्यत् परं न ह्यस्तीति योजना।

यदा तु नेत्येतस्मादतिदेशादन्यत् परं अतिदेशान्तरं नह्यस्तीति योजना क्रियते, तदा ततो ब्रवीति च भूय इत्यस्यायमर्थः—ततः नेतिनेत्यादेशानन्तरं भूयः ब्रवीति स्तुतिः "अथ नाम ध्येयम्[1] सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यम् तेषामेव सत्यमि"ति।

यदुक्तम्—प्रमाणसिद्धस्य रूपस्य प्रतिषेधायोगादिति; तदसत्। रूपस्याऽविद्याविलसितत्वेन तद्बोधकमानानामाभासत्वात् ॥ यदुक्तम्—ब्रह्मणो वाङ्मनसातीततत्त्वप्रतिपादनेन प्रतिषेधो युक्त इति; तत्तुच्छम्। नहि ब्रह्मणो निरात्मतया वाङ्मनसातीतत्वं प्रतिपाद्यते। किं तर्हि? ब्रह्मणः सर्वेषां नः प्रत्यगात्मतया विषयित्वेन श्रुत्या तत्प्रतिपाद्यते। तस्मात् ब्रह्म परिशिनष्टि, रूपे प्रतिषेधति।

तर्हि ब्रह्म सर्वैः कस्मात् न गृह्यते? इति चेत्, अव्यक्तत्वात्। तदपि कुतः? इति चेत्, "न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा" "स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यते" "अस्थूलमनणु" "यत्तदद्रेश्यमग्राह्यम्" "अव्यक्तोऽ-

मूर्त का, उस मर्त्य का, उस स्थिति का, उस सत् का यह रस है, जो यह तपता है, यह सत् का ही रस है। तथा वायु और अन्तरिक्ष अमूर्त हैं, ये अमृत हैं, ये यत् हैं और ये ही त्यत् हैं। इस अमूर्त का, इस अमृत का, इस यत् का, इस त्यत् का यह सार है, जो कि इस मण्डल में पुरुष है, यही इस त्यत् का सार है। यह अधिदैवत दर्शन है। अब अध्यात्म मूर्तामूर्त का वर्णन कर रहे हैं—जो प्राण से तथा यह जो देहान्तर्गत आकाश हैं, उससे भिन्न है, यही मूर्त है। यह मर्त्य है, यह स्थित है, यह सत् है। यह जो नेत्र है, वही इस मूर्त का, इस स्थिति का एवं इस सत् का सार है। यह सत् का ही सार है।

अब अमूर्त का वर्णन कर रहे हैं—प्राण और इस शरीर के अन्तर्गत जो आकाश है, ये अमूर्त है, यह अमृत है, यह है और यही त्यत् है। इस अमूर्त का, इस अमृत का, इस यत् का, इस त्यत् का यह रस है, जो कि यह दक्षिण नेत्रान्तर्गत पुरुष है, यह त्यत् का ही रस है। उस पुरुष का रूप-चमत्कार ऐसा है जैसा हरिद्रा से रंगा हुआ वस्त्र हो, जैसा सफेद ऊनी वस्त्र हो, जैसा इन्द्रगोप (वीरबहूटी) हो, जैसी अग्नि की ज्वाला हो, जैसा श्वेतकमल हो, और जैसी बिजली की चमक हो। जो ऐसा जानता है, उसकी 'श्री', बिजली की चमक के समान (सर्वत्र एक साथ फैलनेवाली) होती है।

इतना कहने के पश्चात् अब 'नेति-नेति' यह ब्रह्म का निर्देश है। 'नेति-नेति'—इससे बढ़कर कोई उत्कृष्ट आदेश नहीं है। 'सत्य का रस' यह उसका नाम है। प्राण ही सत्य है, उनका यह सत्य है। अभिप्राय यह है कि "द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवाऽमूर्तं च" ऐसा उपक्रम करके अधिदेव और अध्यात्म मूर्तामूर्तलक्षण दो रूप—ब्रह्म के हैं, और समष्टि-व्यष्टिरूप दो मूर्तामूर्त रस हैं। और हरिद्रा (महारजन) की उपमा देकर लिंगगत वासनारूप का उपन्यास करके "अथात आदेशो नेति-नेति" यह कहा गया है।

यद्यपि यहां पर किसी निषेध्य वस्तु की प्रतीति नहीं हो रही है, तथापि 'नेति-नेति' में 'नञ्' के साथ जो 'इति' शब्द है, वह 'एवं' शब्द का तुल्यार्थक प्रतीत हो रहा है। जैसे—'इति ह स्मोपाध्यायः कथयति'—ऐसा उपाध्याय ने कहा। 'इति' शब्द, 'सन्निहित' का अवलम्बन करता है। अतः यहां पर प्रकरण के सामर्थ्य से सन्निहित तो प्रपञ्चयुक्त 'ब्रह्म' के दो रूप हैं। जिसके ये दो रूप हैं, वही ब्रह्म है। यहां पर संशय होता है कि यहां का निषेधार्थक 'नञ्', 'दो रूपों और रूपवत्'—इन दोनों का निषेध करता है, या दो में से एक का? यदि एक का करता है, तो क्या 'ब्रह्म' का निषेध करता है, और दो रूपों को अवशिष्ट रखता है? अथवा दो रूपों का प्रतिषेध करता है, और ब्रह्म को अवशिष्ट रखता है?

तब पूर्वपक्षी कहता है—'प्रकृत' के समान होने से अर्थात् प्रकरण से रूपद्वय और रूपी ब्रह्म, निर्विशेष 'ब्रह्म' नहीं है। इस प्रकार आक्षेप संगति से पूर्वपक्ष को उपस्थित किया है—ये दो प्रतिषेध हैं, क्योंकि 'नेति' शब्द का दो बार प्रयोग किया है। उन दो बार प्रयुक्त हुए शब्दों में से एक के द्वारा 'सप्रपञ्च ब्रह्म' के रूप का प्रतिषेध होता है, और दूसरे से 'रूपवद् ब्रह्म'

१, नामधेयमिति श्रुतिपाठः।

संशयादिरहितानां ध्याननिष्ठा चेत् स्याद् दृष्टं सुखम्। तदुक्तं भगवता—

•

यमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते" इत्यादिश्रुतिस्मृतिभिरिन्द्रियाद्यग्राह्यत्वप्रतिपादनाद् ब्रह्मणोऽव्यक्तत्वम्। तर्हि तद्ब्रह्म मुमुक्षवः कथं कदा साक्षात्कुर्वन्ति ? इत्याकाङ्क्षायां तत्प्रकारं भगवान् सूत्रकारः उपदिशति—अपीति। संराधने ध्यानकाले एकाग्रचित्तेन प्रत्यगात्मतया ब्रह्म साक्षात्कुर्वन्ति। कस्मात् ? प्रत्यक्षानुमानाभ्यां प्रत्यक्षं श्रुतिः, प्रामाण्ये निरपेक्षत्वात्। अनुमानं स्मृतिः, प्रामाण्यं प्रति सापेक्षत्वात्। श्रुतिस्तावत्—"ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वः तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः" "कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत् आवृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्" इत्याद्या।

"यं विनिद्राः जितश्वासाः सन्तुष्टाः संयतेन्द्रियाः। ज्योतिः पश्यन्ति युञ्जानाः तस्मै योगात्मने नमः।"

इत्याद्या स्मृतिः ततश्च ध्यानेन प्रतिबन्धनिवृत्तौ ब्रह्मसाक्षात्कारान्मोक्षो भवत्येव। नच—इदं ध्यानं सर्वसाधारण्येनोपदिश्यमानं संशयादिग्रस्तपण्डितकर्तव्यत्वेन उपदिष्टमिति कथमुच्यत इति—वाच्यम्; "शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्" इत्यत्र संशयादिरहितानां पण्डितानां तत्त्वमस्यादिमहावाक्यार्थज्ञानमात्रेण परमपुरुषार्थप्रतिपादनेनास्य सूत्रस्य संशयादिग्रस्तपण्डितविषयत्वावगमात्; अन्यथा पूर्वोत्तरयोर्विरुद्धं वदन् सूत्रकार उन्मत्ततुल्यः स्यात्। तस्मादिदं सूत्रं संशयादिग्रस्तपण्डितविषयमेव, न सर्वसाधारणमिति भावः॥

•

का प्रतिषेध होता है, अथवा 'रूपवद् ब्रह्म' का ही प्रतिषेध होता है, क्योंकि वाणी और मन से अतिक्रान्त होने के कारण (वाङ्मनसातीत होने से) उसका सद्भाव (अस्तित्व) नहीं हो सकता। अतः वह प्रतिषेध के योग्य है। किन्तु 'रूपप्रपञ्च',—प्रत्यक्षादि प्रमाणों का विषय होने से प्रतिषेध के योग्य नहीं है।

इस पर सिद्धान्ती कहता है कि 'दोनों का प्रतिषेध करना सम्भव नहीं है। क्योंकि ब्रह्मव्यतिरिक्त जितना भी मूर्त-अमूर्त है, वह सब 'कार्यरूप' होने से अनित्य है, उस कारण 'ब्रह्म' का प्रतिषेध करने पर शून्यवाद का प्रसंग प्राप्त होगा। किसी एक परमार्थ के आधार पर 'अपरमार्थ' का प्रतिषेध हुआ करता है। जैसे रज्जु आदि में सर्पादि का। 'ब्रह्म' का प्रतिषेध करना भी सम्भव नहीं है, क्योंकि रूपवान् (रूपी) के विना 'रूप' की स्थिति नहीं हुआ करती। तब किस का प्रतिषेध किया जा रहा है ? यह प्रश्न करने पर उसके उत्तर में कहा गया है कि "प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति" अर्थात् 'नेति-नेति' यह श्रुति तो प्रकृत में प्रधानतया उपन्यस्त ब्रह्म के मूर्त और अमूर्त रूप इन दो रूपों का ही निषेध कर रही है। क्योंकि 'इति' शब्द, प्रधानरूप से 'प्रकृत' का परामर्श करता है। और वे ही प्रधानतया प्रकृत हैं। 'ब्रह्म' प्रधानतया प्रकृत नहीं है। किन्तु रूपद्वयात्मक जगत् के उपसर्जनरूप से निर्दिष्ट है। अतः उसका निषेध नहीं किया जा रहा है। किञ्च प्रपञ्चनिषेध के पश्चात् भी 'नह्येतस्मादिति नेति नेति इत्यादि निर्वचनवाक्य 'ब्रह्म' को बता रहा है। अथवा 'अथ नामधेयम्' इत्यादिवाक्य 'ब्रह्म' को ही बता रहा है। अतः उसका निषेध नहीं है, यह तो निर्विवाद है। 'प्रत्यक्ष-विरोध होने से प्रपञ्च का निषेध नहीं है'—यह आशंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि उसमें तो 'व्यावहारिक प्रामाण्य' है। अतः दोष नहीं है।

यदि सब निषेध करके ब्रह्म ही यदि अवशिष्ट रहता है, तो सबको उसका ज्ञान क्यों नहीं होता ? इस प्रश्न का समाधान तो सरलता से यही होगा कि वह 'अव्यक्त' है। तब पुनः यह प्रश्न हो सकता है कि यह कैसे अवगत हुआ ? तो उसका उत्तर यह है कि श्रुति-स्मृतियों ने उसे इन्द्रियाऽग्राह्य बताया है। अतः 'ब्रह्म', अव्यक्त है।

ऐसी स्थिति में मुमुक्षुओं को उस ब्रह्म का साक्षात्कार कब होता है ? यह आशंका होने पर, उसके साक्षात्कार का प्रकार भगवान् सूत्रकार ने बता दिया है—'अपि संराधने' इस सूत्र के द्वारा। ध्यानकाल में एकाग्रचित्त से प्रत्यगात्मतया ब्रह्म का साक्षात्कार उन्हें होता है। यह कैसे जाना जाय ? सूत्रकार ने कहा कि 'प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्'—प्रत्यक्ष श्रुति कह रही है, वह अपने प्रामाण्य में निरपेक्ष है। अतः उसी से जाना जाता है, तथा 'स्मृति'—अनुमानरूप है। क्योंकि वह अपने प्रामाण्य में सापेक्ष रहती है। श्रुति इस प्रकार की है—"ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वः"। "यं विनिद्राः" इत्यादि स्मृतिरूप अनुमान से जाना जाता है। यह सब पूर्व बता चुके हैं। एवंच ध्यान करने से प्रतिबन्ध की निवृत्ति हो जाती है, तब ब्रह्मसाक्षात्कार होता है, और उससे मोक्षप्राप्ति होती है।

"अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते। तेषां नित्याऽभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥"
"मच्चिता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्। कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥" इति ॥ २१ ॥

संमत्यन्तरमाह—अन्यत्रेति। धीदर्पः संशयादिः। ननु केचित् ज्ञानिनः संशयादिरहिता पण्डिताः ध्यानं कुर्वन्तो दृश्यन्ते, तत् किमर्थं कुर्वन्ति? इत्याशङ्क्य दृष्टसुखार्थमित्याह—संशयेति। पण्डितानामित्यनुषङ्गः। दृष्टमिति। तदर्थं ध्यानं कुर्वन्ति इति भावः। तत्र भगवद्वचनमुदाहरति—तदुक्तमिति। न विद्यतेऽभिनिवेशोऽन्यस्मिन् मायिके येषां तेऽनन्याः मां सर्वेषां प्रत्यगात्मानं वासुदेवं "ज्ञेयं यत् तत् प्रवक्ष्यामि" इत्युपक्रम्य "अनादिमत् परं ब्रह्म न सत् तत् नासदुच्यते" इत्यादिना प्रतिपाद्यमानम्। चिन्तयन्तः अन्वेषणं कुर्वन्तः। ये जनाः साधनचतुष्टयसंपन्नाः। पर्युपासते विजातीयप्रत्ययानन्तरिततया ध्यानं कुर्वन्ति। अतएव नित्याभियुक्तानां तेषां अहम् योगक्षेमं वहामि। अप्राप्तप्राप्तिर्योगः। प्राप्तस्य परिपालनं क्षेमः। ननु अखण्डैकरसानन्द-

शंका—ध्यान का उपदेश तो सर्वसाधारण के लिये है, तब संशयादिग्रस्त पण्डितों को ही ध्यान का उपदेश दिया गया है, यह कैसे कहा जा रहा है?

समा०—उक्त आशंका करना उचित नहीं है। क्योंकि (ब्र० सू० १।१।३०) वामदेव, शुकाचार्य आदि के समान इन्द्र भी ब्रह्मज्ञानी था, इन्द्र को ('मैंपरब्रह्म हूँ'—यह ज्ञान हो गया था) उसी ब्रह्मदृष्टि से उसने 'मामेव विजानीहि'—इस प्रकार प्रतर्दन को उपदेश किया था। यहाँ पर संशयादिरहित पण्डितों को 'तत्त्वमस्यादिमहावाक्य' के अर्थज्ञानमात्र से ही परमपुरुषार्थ (मोक्ष) का प्रतिपादन करने से स्पष्ट है कि यह सूत्र, संशयादि से ग्रस्त पण्डितों के लिए ही है। अन्यथा पूर्वोत्तर विरुद्ध कथन करने के कारण सूत्रकार को उन्मत्ततुल्य समझा जायगा। अतः उक्त संराधन सूत्र को संशयादिग्रस्त पण्डितविषयक ही समझना चाहिए। सर्वसाधारण के लिए नहीं है।

उक्त अर्थ में अन्य ग्रन्थकारों की भी सम्मति प्रदर्शित कर रहे हैं

अन्यत्र भी कहा गया है—अनेक विध विचारों के कारण अत्यधिक व्याकुल चित्त के लोगों को (पण्डितों को) विचार करने पर भी यदि आत्मज्ञान न होता हो तो उसके लिए 'ध्यानरूप योग' ही मुख्य साधन है। उस ध्यानयोग से ही उनकी बुद्धि में स्थित 'सन्दिग्ध भावना' 'विपरीत भावना' आदि दोषों (धीदर्प की) निवृत्ति हो सकती है।

शंका—संशयादि दोषों से रहित ज्ञानी पण्डितजन भी 'ध्यानयोग' की साधना करते पाये जाते हैं। अतः जिज्ञासा होती है कि दोषरहित वे ज्ञानी पण्डित लोग किस प्रयोजन से ध्यानयोग किया करते हैं?

समा०—उसका प्रयोजन दृष्टसुखार्थ है, यही कहा जायगा। उसे बता रहे हैं—संशय-विपरीत भावना से रहित पण्डित लोग 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारक वृत्तियों के प्रवाहरूप ध्यान को करते रहते हैं, तो उससे बाह्य विक्षेपों की निवृत्ति होती है और ब्रह्मानन्दरूप दृष्ट सुखविशेष (अलौकिक = लोकोत्तर सुख = आनन्द) मिलता रहता है। उस लोकोत्तर आनन्द (सुख) के लिए ही वे ज्ञानी लोग ध्यानयोग किया करते हैं। उनके ध्यान करने का अन्य कोई प्रयोजन नहीं है। क्योंकि 'संशय-विपरीत भावना रूप प्रतिबन्ध की निवृत्ति तथा आत्मसाक्षात्कार'—ये दोनों उन ज्ञानी पण्डितों को पूर्व से ही प्राप्त हुए रहते हैं। एवंच परिशेषतः उनके ध्यानयोग का फल, वह दृष्टसुख ही है। किसी मायिक पदार्थ में जिनका अभिनिवेश नहीं रहता उन अनन्य भक्तों के द्वारा मुझ पृथक् अभिन्न परमात्मा का चिन्तन किये जाने पर अर्थात् साधनचतुष्टयसम्पन्न जो अविकारी व्यक्ति, मुझ निर्गुण परमात्मा का ध्यान करते हैं, (विजातीय वृत्तियों का परित्याग करके सजातीयवृत्तिप्रवाहरूप ध्यान मेरा किया करते हैं) उन ध्यानपरायण तत्त्ववेत्ता पुरुषों का योग, क्षेम, मैं (परमेश्वर) चलाता हूँ।

अप्राप्त वस्तु (अर्थ) की प्राप्ति को 'योग' कहते हैं। और प्राप्तवस्तु के परिरक्षण को 'क्षेम' कहते हैं। मैं वासुदेव, सभी प्राणियों का प्रत्यगात्मा हूँ। "ज्ञेयं यत् तत् प्रवक्ष्यामि"—यहाँ से आरम्भ कर "अनादिमत् परं ब्रह्म न सत् तत् नासदुच्यते"—इत्यादि ग्रन्थ से जिसे बताया है, वह मैं ही हूँ। इस प्रकार मुझे पहचान कर जो लोग मुझ वासुदेव का अन्वेषण (चिन्तन) करते रहते हैं, उनको मैं अप्राप्त एवं अप्राप्य वस्तु भी दिया करता हूं, और दिये हुए की रक्षा भी किया करता हूं!

शंका—अखण्डैकरस आनन्दरूप ब्रह्मात्मा में निष्ठा रखने वाले जो ज्ञानी पुरुष हैं, उनके लिये अप्राप्त आनन्द तो कोई है ही नहीं, क्योंकि मनुष्य लोक से लेकर ब्रह्मलोक तक के समस्त आनन्दों का जिस 'ब्रह्मानन्द' में अन्तर्भाव है, वह ब्रह्मानन्द, ही तो उन ज्ञानी पुरुषों का अपना 'आत्मा' है, जो नित्य प्राप्त ही है। और वह, उत्पत्ति-विनाश रहित होने से उस

न तु ज्ञानिनो ध्यानविधिः; देहाभिमानशून्यतया कर्तृत्वाऽभावेन तस्य विधिकिङ्करत्वाऽयोगात्। तदुक्तम्—अनुज्ञापरिहारौ देहसम्बन्धाज्ज्योतिरादिव"दिति। भाष्यकारैरप्युक्तम्—"अहं ब्रह्मास्मीत्येतदवसाना एव सर्वे

•

ब्रह्मात्मनिष्ठानां लौकिकानन्दजातस्य तत्रैवान्तर्भावादप्राप्तांशस्यैवाभावात् ब्रह्मानन्दस्य प्रत्यग्रूपतया नित्यप्राप्तत्वात् कथं भगवान् तेषां योगक्षेमं वहामीति वदति इति चेत्? उच्यते; यद्यपि तेषामप्राप्तांशस्याभावात् ब्रह्मानन्दस्य नित्यप्राप्तत्वाच्च योगक्षेमो न स्तः; तथापि अनात्मन्यात्मबुद्धिपरित्यागेन ब्रह्मानन्दात्मनाऽवस्थानं योग इत्युपचर्यते। प्रबलप्रारब्धभोगेनापि ब्रह्मनिष्ठातोऽप्रच्युतिः क्षेम इत्युपचर्यते। एतादृशयोगक्षेममेव वहामीति भगवानाह; त्यक्तसर्वैषणानामन्यादृशयोगक्षेमवहनायोगात्। अतः ध्याननिष्ठानां नियतादृष्टसुखं भवतीति भावः। भगवद्वचनान्तरमुदाहरति—मच्चित्ता इति। मयि सर्वेषां प्रत्यगात्मन्यखण्डैकरसानन्दे नित्यशुद्ध-बुद्धमुक्तस्वभावे वासुदेवे चित्तं येषां ते तथोक्ताः। एवं सर्वत्र बोध्यम्॥ २१॥

ननु एवं ज्ञानिनां ध्यानविधिः कुतो न स्यात्, "तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः" इति श्रुतेः सत्त्वात्। न च—साक्षात्कारेण परमपुरुषार्थलाभादुत्तरं ध्यानविधिर्निष्फलः इति—वाच्यम्; इदानीं ब्रह्मसाक्षात्कारे सत्यपि यथा पूर्वंसुखदुःखादि-संसारोपलंभान्न तावता पुरुषार्थसिद्धिः, किन्तु गुरूपसत्तिपूर्वकं श्रवणादिना ब्रह्म निश्चित्य यावज्जीवं ब्रह्मध्यानाभ्यासः कर्तव्य एव, अन्यथा यथेष्टचेष्टाप्रसक्त्या मुमुक्षोर्नरकपातः स्यात्। तथाहुः—

"निःसंगता मुक्तिपदं यतीनां संगादशेषाः प्रभवन्ति दोषाः।
आरूढयोगोऽपि निपात्यतेऽधः संगेन योगी किमुताल्पसिद्धिः"॥ इति।

•

ब्रह्मानन्द के रक्षण करने का प्रश्न ही नहीं है, क्योंकि रक्षण तो 'अनित्य वस्तु का ही किया जाता है। अतः 'मैं परमेश्वर, ज्ञानी पुरुषों के 'योगक्षेम' को चलाता रहता हूँ'—यह कहना संगत, प्रतीत नहीं हो रहा है।

समा०—उन ज्ञानी पुरुषों के लिये कोई अप्राप्त अंश नहीं है और 'ब्रह्मानन्द' (लोकोत्तर आनन्द) उन्हें नित्य ही प्राप्त है। अतः उन ज्ञानियों के योग-क्षेम को चलाने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। उस कारण 'योगक्षेमं वहाम्यहम्'—यह कथन यद्यपि असंगत प्रतीत हो रहा है, तथापि 'योग-क्षेम' शब्दों का अर्थ, यहाँ पर यह होगा कि 'देहादिक सम्पूर्ण अनात्म वस्तुओं' में 'आत्मत्वबुद्धि' का परित्याग करके ज्ञानी को जो 'ब्रह्मानन्द' के रूप में प्राप्त हुआ है, वही 'योग' है। अर्थात् अज्ञान अवस्था में अप्राप्त ब्रह्मानन्द की जो ज्ञानावस्था में प्राप्ति हुई है, वही 'योग' है। और प्रबल प्रारब्ध भोग को सहते हुए भी ब्रह्म-निष्ठा से न डिगपाना अर्थात् प्रच्युति न होना ही 'क्षेम' है। अर्थात् ब्रह्मनिष्ठा से च्युति न होना (अप्रच्युति) ही 'क्षेम' शब्द से कहा जाता है। 'इस प्रकार का योग-क्षेम, मैं ज्ञानियों का चलाता हूँ'—भगवत्कथन का यही अभिप्राय है, क्योंकि जिस ज्ञानी ने समस्त एषणाओं का परित्याग कर दिया है, उसका योग-क्षेम, अन्य अज्ञानियों जैसा कैसे होगा? इसलिये ज्ञानियों के 'योग-क्षेम' का उपर्युक्त अर्थ करना ही उचित है। तब कोई असंगति नहीं हो सकती। एवं च ध्याननिष्ठ ज्ञानवान् पुरुष को निरन्तर 'दृष्ट सुख' प्राप्त होता है।

इसी अर्थ को भगवान् ने एक अन्य स्थान पर भी कहा है—जिनका चित्त मुझ में (सविशेष ईश्वर में), एवं जिनकी वाग् आदि इन्द्रियाँ मेरे स्वरूप के प्रतिपादक वाक्यों के उच्चारण आदि में लगी हैं, वे बुध (मुमुक्षु), परस्पर अपने-अपने अनुभवानुसार वाक्यार्थ का बोधन करते हुए तथा अपने अनुभव का कथन करते हुए सन्तुष्ट होते हैं और सदा स्मरण करते हैं, अर्थात् मेरा सर्वदा श्रवण, मनन और निदिध्यासन करते हुए काल का यापन करते हैं॥ २१॥

शंका—जैसे मुमुक्षु जनों के 'श्रवणादिकों' की आवश्यकर्तव्यता का बोधक विधि है, वैसे ही सन्दिग्ध भावना-विपरीत भावना से रहित ज्ञानीजनों के लिए भी 'ध्यान' की अवश्यकर्तव्यता का बोधक विधि क्यों नहीं है? अर्थात् 'ज्ञानी पुरुषों को भी 'ध्यान' अवश्य करना चाहिये' ऐसी वेदाज्ञा क्यों नहीं है? यदि यह कहो कि ज्ञानी को ध्यान का विधान करने वाला कोई वेदवाक्य नहीं है। इसलिये ज्ञानी को ध्यान का विधि नहीं है। किन्तु ऐसी बात नहीं है "तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः" अर्थात् धीरप्रकृति ब्राह्मण, परमेश्वर का साक्षात्कार करके उसका (परमेश्वर का) ध्यान करे—ऐसा श्रुतिवचन उपलब्ध होने से 'ध्यान' का विधान, ज्ञानी के लिए भी होना चाहिये, जो इसी श्रुतिवचन ने ज्ञानी के लिये भी ध्यान का विधान किया है।

विषयः"[1] "सर्वाणि च शास्त्राणि विधिप्रतिषेधमोक्षपराणी"ति[2] "देहेन्द्रियादिष्वहं ममाभिमानहीनस्य प्रमातृत्वाऽनुपपत्तौ प्रमाणप्रवृत्त्यनुपपत्ति"रिति। तदुक्तं—

●

अतो विषयासंगलक्षणयथेष्टचेष्टानिवृत्त्यर्थं ध्यानविधिरपेक्षितः। तदप्युक्तम्—

"संगं त्यजेत् मिथुनव्रतिनां मुमुक्षुः सर्वात्मना विसृजेद् बहिरिन्द्रियाणि[3]।
एकश्चरेत् रहसि चित्तमनन्त ईशे युञ्जीत तद्व्रतिषु साधुषु चेत्प्रसंगः॥ इति।

न च इदं साधकविषयं न सिद्धविषयमिति—वाच्यम्; "यस्मात् भिक्षुः हिरण्यं रसेन दृष्टं चेत् स ब्रह्महा भवेत्" इत्यादिना सिद्धस्यापि विषयासक्त्या पातित्याभिधानात्, "तमेव धीरो विज्ञाये"ति श्रुतिमूलत्वाच्च। अतएव वेदान्तशास्त्रं ध्यानविधिपरमिति वदन्ति। अन्यथा प्रवृत्तिनिवृत्तिप्रयोजनत्वाभावेन परिनिष्पन्नवस्तुपरतयाऽनुवादकत्वेन शास्त्रस्याप्रामाण्यप्रसङ्गात्। तस्मात् शास्त्रेण ज्ञानानन्तरं ध्यानविधानात् सर्वैर्मुमुक्षुभिः पण्डितैरपण्डितैः संशयादिरहितैः तद्ग्रस्तैर्वा ब्रह्मज्ञानोत्तरं यावज्जीवं ब्रह्मध्यानं कर्तव्यमेवेत्याशङ्क्याह—न तु ज्ञानिन इति। वेदाभिमानो द्विविधः—कर्मजो भ्रान्तिजश्चेति। कर्म साक्षाद् आद्यो निवर्तते, द्वितीयस्याज्ञानमूलत्वेन ज्ञानेनाज्ञाने निवृत्ते तन्मूलभ्रान्तेरपि निवृत्तत्वाद् भ्रान्तिजाभिमानोऽपि निवर्तते। ततश्च देहाभिमानशून्यस्य कर्तृत्वादिनिवृत्तौ सर्वाधिकारनिवृत्तेः कुतो ध्यानविधिः? तदुक्तम्—

"व्याचक्षतां ते शास्त्राणि वेदानध्यापयन्तु वा। येऽत्राधिकारिणो मर्त्या नाधिकारोऽक्रियत्वतः॥
शृण्वन्त्वज्ञाततत्त्वास्ते जानन् कस्मात् शृणोम्यहम्। मन्यन्तां संशयापन्नाः न मन्येऽहमसंशयः॥
विपर्यस्तो निदिध्यासेत् किं ध्यानमविपर्यये।" इति।

●

इस पर यदि यह कहो कि ज्ञानी को साक्षात्कार हो जाने से परमपुरुषार्थ का लाभ तो पहले ही हो चुका है, उसके बाद भी उसे ध्यान का विधान करना निष्फल ही रहेगा। अर्थात् आत्मसाक्षात्कार के अनन्तर ध्यान करना निष्फल ही है।

किन्तु ऐसा समझ लेना और कह देना उचित नहीं है। क्योंकि वर्तमान समय में ब्रह्मसाक्षात्कार के विद्यमान रहने पर भी उसे ध्यान रहित स्थिति में पूर्वकालीन अज्ञान की अवस्था के समान सुख-दुःखादिरूप संसार की प्रतीति तो बनी ही रहती है। उससे स्पष्ट है कि उस ब्रह्मसाक्षात्कारमात्र से उस ज्ञानी को 'मोक्ष' रूप परमपुरुषार्थ की प्राप्ति अभी हुई नहीं है।

उस ज्ञानी को, ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय गुरु के समीप ही जाना होगा। गुरु के मुखारविन्द से उपदेश का श्रवण भी करना होगा, तब उससे (श्रवणादिकों से) ब्रह्म का साक्षात्कार करके वह ज्ञानी पुरुष, जबतक जीवन है तबतक अर्थात् आजीवन उस ब्रह्म के ध्यान का निरन्तर अभ्यास करता रहे, तभी उसे मोक्ष की प्राप्ति होती है। अन्यथा मनमानी चेष्टा करने से संभाव हो सकती है, जिससे मुमुक्षु का नरकपात होना संभव है। इस तथ्य को अन्य ग्रन्थों में भी कहा गया है कि विषयासक्त बहिर्मुख लोगों के संसर्ग का जो परित्याग है, उसी का नाम 'निःसंगता' है। वह निःसंगता ही सन्यासियों के लिये 'मुक्ति' प्राप्ति का मार्ग है। क्योंकि उस प्रकार के संसर्ग से मुमुक्षु में कामादिक अनेक दोषों के उत्पन्न होने की सम्भावना हो सकती है। उन दोषों के होने से ज्ञानी पुरुष का भी अधःपतन हो जाता है। तब मुमुक्षु के विषय में तो कहना ही क्या है? अतः यथेष्टाचरण की निवृत्ति के लिये संशय-विपरीत भावना से रहित हुए ज्ञानी पुरुष को भी आजीवन 'ब्रह्म' का ध्यान, करना आवश्यक ही है। एवं च ज्ञानी पुरुष के लिये भी 'ध्यान' का विधान आवश्यक है।

उक्त कथन को साधकपरक कहना और सिद्धपरक न मानना उचित न होगा। क्योंकि भिक्षु यदि हिरण्य को राग पूर्वक देखे तो वह ब्रह्महत्यारा होवे इत्यादि कथन के श्रवण से स्पष्ट होता है कि सिद्ध भी विषयासक्त हो सकता है, जिससे वह पतित हो जाता है। "तमेव धीरो विज्ञाय"—उक्त कथन श्रुतिमूलक है। अतएव वेदान्तशास्त्र, ध्यानविधि परक है—ऐसा

१. सर्वाणि चेतराणि प्रमाणानि—इति वाक्यशेषः (सूत्रभाष्ये चतुःसूत्रीसमाप्ता)।

२. इतरेतराध्यासं पुरस्कृत्य सर्वे प्रमाणप्रमेयव्यवहारा लौकिका वैदिकाश्च प्रवृत्ताः इति वाक्यशेषः (अध्यासभाष्ये)। देहेन्द्रियादिष्वित्याद्यप्यध्यासग्रन्थे तत्रैव।

३. आद्यपादयोः पञ्चमाक्षरत्रुटिः। त्यजेतेति प्रथमे, सर्वात्मना नेति च द्वितीये यथापुराणं पाठः।

"गौणमिथ्यात्मनोऽसत्त्वे पुत्रदेहादिबाधनात् । तत्सद्‌ब्रह्माऽहमस्मीति बोधे कार्यं कथं भवेत् ॥" इत्युक्तम् ॥ २२ ॥

न च—एवं शास्त्रस्याप्रामाण्यापत्तिः ब्रह्मात्मभावस्य मानान्तरायोग्यत्वेन शास्त्रस्य विधिपरत्वानङ्गिकारे ततः प्रवृत्ति-निवृत्त्यभावेन शास्त्रत्वमेव न स्यादिति—वाच्यम्, हितशासनाच्छास्त्रत्वोपपत्तेः । न च—एवमप्यनुवादकत्वेनाप्रामाण्यमिति—वाच्यम्, ब्रह्मणो मानान्तरायोग्यत्वेन तदयोगात् । तस्मात् वेदान्तशास्त्रं न ध्यानविधिपरम् । अत एव सूत्रकारभाष्यकाराभ्यां समन्वयाध्याये चतुर्थाधिकरणे "तत्तु समन्वयादि"त्यत्र शास्त्रस्य विधिपरत्वं पूर्वपक्षीकृत्य सिद्धान्ते वस्तुनिष्ठत्वेन वेदान्तानां प्रामाण्यं समर्थितम् ।

ननु एवं सति "तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः" इति श्रुतेरप्रामाण्यप्रसंग इति चेत् ? न; विज्ञायेत्यनेन श्रवणजन्यज्ञानस्यैव विवक्षितत्वेन तदुत्तरं ब्रह्मसाक्षात्कारमुद्दिश्य ब्रह्मध्यानविधानोपपत्तेर्नाप्रामाण्यं श्रुतेः । न च एवमपि साक्षात्कारानन्तरं ध्यानविध्यनङ्गीकारे यथेष्टचेष्टाप्रसंग इति—वाच्यम्; देहाभिमानशून्यत्वेन[1] तदयोगात् । "निस्संगता मुक्तिपदम्" "सगं त्यजेत्" इति वचनद्वयस्य साधकविषयत्वाच्च । यद्यपि "यस्माद्भिक्षुर्हिरण्यं रसेन दृष्टं चेदित्या"दि वाक्यं विद्वत्संन्यासप्रकरणे पठितं सिद्धविषयमिवाभाति; तथापि सिद्धस्य देहाभिमानशून्यतया रागादिप्रसक्तेरभावेन साधकविषयकमेवेदं वाक्यं सिद्धं स्तौति[2] ।

तदेतत्सर्वमभिप्रेत्याह—देहाभिमानेति । ज्ञानिनः ध्यानविध्यभावे व्याससूत्रं संवादयति—तदुक्तमिति । अधिकरणं पूर्वमनुक्रान्तम् । यद्यात्मा ब्रह्म स्यात् तनुज्ञापरिहारौ निर्विषयौ स्याताम् इति चेन्न, देहसंबन्धात् देहाभिमानात् "गृहस्थः सदृशीं भार्यामुपेयात्", इत्यनुज्ञा, "गुर्वङ्गनां नोपेयात्" इति परिहारः", एतौ अनुज्ञापरिहारौ देहाभिमानात् आत्मनो

कहते हैं । अन्यथा प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप प्रयोजन के न हो पाने से परिनिष्पन्न (सिद्ध) वस्तुपरक हो उसे कहना होगा, तब उसमें अनुवादकत्व की प्रसक्ति होगी, जिससे शास्त्र को अप्रमाण मानने का प्रसंग प्राप्त होगा । अतः ज्ञान के अनन्तर भी 'ध्यान' का विधान, 'शास्त्र' ने किया है । उस कारण सभी मुमुक्षुओं को चाहे वह 'पण्डित' हो, अथवा 'अपण्डित' हो, वह संशयादिदोषों से रहित हो, चाहे उन दोषों से ग्रस्त हो, उसे ब्रह्मज्ञान के होने पर भी यावज्जीव 'ब्रह्मध्यान' तो करना ही होगा । इस प्रकार ध्यानवादी पूर्वपक्षी ने अपना विचार उपस्थित किया है ।

समा०—पूर्वपक्षी के उक्त पूर्वपक्ष पर समाधान दे रहे हैं—सन्दिग्ध भावना तथा विपरीत भावना से रहित ज्ञानी पुरुष के लिये ध्यान करने का विधान नहीं है । क्योंकि जिस पुरुष को दृढाध्यासपूर्वक देहाभिमान रहता है, उसी पुरुष को 'आत्मा' में 'कर्तृत्वबुद्धि' हुआ करती है । अपनी आत्मा में कर्तृत्व बुद्धि रखने वाला अज्ञानी पुरुष ही शास्त्र के विधि-निषेधों का अधिकारी होता है । किन्तु ज्ञानी पुरुष को तो 'देहाभिमान' नहीं रहता । उस कारण उसे अपनी आत्मा में कर्तृत्वबुद्धि भी नहीं रहती । अतः वह ज्ञानी पुरुष, उस शास्त्र के विधि-निषेधों का भी अधिकारी नहीं है ।

देहाभिमान भी दो प्रकार का होता है । (१) कर्मजन्य और (२) भ्रान्तिजन्य । उनमें से कर्मजन्य देहाभिमान तो, कर्मनाश के पश्चात् ही निवृत्त हो जाता है । किन्तु दूसरा जो भ्रान्तिजन्य देहाभिमान है, वह तो अज्ञानकाल में रहता ही है । जब आत्मज्ञान होने पर अज्ञान की निवृत्ति होती है, तभी उस भ्रान्ति की निवृत्ति हुआ करती है । भ्रान्ति की निवृत्ति होने पर ही वह भ्रान्तिजन्य देहाभिमान भी निवृत्त हो जाता है । उस देहाभिमान के निवृत्त होने पर ही कर्तृत्वबुद्धि से रहित हुआ जो ज्ञानी पुरुष है, उसके शास्त्रप्रतिपादित समस्त अधिकार भी निवृत्त हो जाता हैं । अतः उस ज्ञानी पुरुष के लिये शास्त्र प्रतिपादित ध्यानविधि का होना कैसे संभव हो सकता है ? अर्थात् उसके लिए वह ध्यानविधि नहीं है ।

इसी अभिप्राय से श्रीविद्यारण्यस्वामी ने पञ्चदशी ग्रन्थ में उन ज्ञानी पुरुषों के अनुभव को बताया है जो पुरुष कर्तृत्व-बुद्धि का अभिमान रखते हैं, वे ही अधिकारी होने के कारण, शास्त्रों का व्याख्यान करें, तथा वेदों को पढावें । किन्तु कर्तृत्वबुद्धि के अभिमान से रहित हुआ मैं तो 'अक्रिय' हूँ । उस कारण मेरे लिये कोई अधिकार नहीं है । जिन पुरुषों ने प्रत्यक् अभिन्न ब्रह्म को नहीं जाना है, वे पुरुष ही वेदान्तशास्त्र को सुना करें । मैं तो उस प्रत्यगभिन्न ब्रह्म को अपरोक्षतया जान रहा हूँ । अतः मैं किसलिये वेदान्त का श्रवण करूँ ? 'आत्मा' के विषय में जिसे संशय हो, वह मनुष्य, उस संशय को निवृत्त करने के लिये 'मनन'

१. देहाभिमानोऽत्र भ्रान्तिजो बोध्यः ।

२. यदा सिद्धोपि रागेण सदोषो भवेत्तर्हि साधकस्य का कथेति स नूनं रागहीनः स्यादित्यस्य साधकविषयत्वम् । यदैवं साधकोऽपि दोषभिया रागं परित्यजति तर्हि का कथा सिद्धस्येति सिद्धस्तुतिरिति भावः ।

ब्रह्मत्वाज्ञानदशायामुपपद्येते, ब्रह्मज्ञानदशायामात्मनस्तदभावादुभयमपि नास्त्येव। तत्र ज्योतिरादिवदिति दृष्टान्तः। यथाऽग्निः श्मशानसम्बन्धी परिह्रियतेऽन्यस्तूपादीयते, यथा वा पुरीषं मनुष्यशरीरसम्बन्धिपरित्यज्यते, गवां शरीरसम्बन्ध्युपादीयते, तस्य पवित्रत्वात्, तद्वत् देहाभिमानिनोऽनुज्ञापरिहारौ, अन्यस्य तु न किमपि कर्त्तव्यमस्ति। तदुक्तम्—

"यस्त्वात्मरतिरेव स्यात् आत्मतृप्तस्य मानवः। आत्मन्येव च सन्तुष्टः तस्य कार्यं न विद्यते।
नैव तस्य कृतेनार्थः नाकृतेनेह कश्चन। न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः।" इति।

पुराणेऽप्युक्तम्—

"ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः। नैवास्ति किञ्चित् कर्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित्॥" इति।

तथा देहाभिमानादनुज्ञापरिहारौ दर्शयत् सूत्रं अर्थात् तच्छून्यस्य सर्वकर्तव्यताऽभावं दर्शयतीत्यभिप्रायः।

तत्र भाष्यसम्मतिमाह—भाष्यकारैरिति।

"सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र वाक्यैः सूत्रानुकारिभिः। स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः॥"

●

करे। मैं तो समस्त संशयों से रहित हूँ, तब मैं किसलिये 'मनन' करूँ? तथा जो लोग, विपरीत भावना से ग्रस्त हैं, वे ही उस विपरीत भावना की निवृत्ति के लिए 'निदिध्यासन' करें। मैं तो विपरीत भावना से रहित हूँ। उस कारण मुझे ध्यान करने की क्या आवश्यकता है?

देहाभिमान का अर्थ है—देह को 'आत्मा' समझना। वह देहाभिमान ही पुरुष को कर्म करने का अधिकार दिलाता है, अर्थात् वही कर्माधिकार दिलाने में प्रयोजक है। घट-पटादि पदार्थों के समान 'देहसत्त्वज्ञानमात्र' को ही 'देहाभिमान' नहीं समझना चाहिए। तथा च ज्ञानी पुरुष को देह के विद्यमान रहने पर भी उसमें आत्मबुद्धि न रहने के कारण उसे कर्म करने का अधिकार नहीं है। यह देहाभिमान 'अध्यासपूर्वक ही है। कर्मजन्य नहीं है। 'कर्म से देहाभिमान, और देहाभिमान से कर्म'—इस प्रकार अन्योन्याश्रय है।

शंका—ज्ञानी पुरुष के लिए ध्यान की कर्तव्यता यदि नहीं मानी जायगी तो आत्मसाक्षात्कार के अनन्तर ध्यानविधायक 'तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः'—श्रुति को 'अप्रामाण्य' प्राप्त होगा।

समा०—उक्त श्रुति, आत्मा के अपरोक्षज्ञान (साक्षात्कार) के पश्चात् ध्यान का विधान नहीं कर रही है। अपितु वेदान्तश्रवणमात्र से उत्पन्न हुए ब्रह्मसाक्षात्कार के अनन्तर ही उस ब्रह्म के अपरोक्षज्ञान की प्राप्ति के लिये 'निदिध्यासनरूपध्यान' का विधान कर रही है। उस कारण उक्त श्रुति के अप्रामाण्य का प्रसंग नहीं है।

शंका—ब्रह्मसाक्षात्कार के अनन्तर ज्ञानी के लिये 'ध्यान' की कर्तव्यता यदि नहीं मानी जायगी तो 'चित्त' की बहिर्मुखता के कारण वह ज्ञानी यथेष्टाचरण करने लगेगा।

ज्ञानी पुरुष, 'भ्रान्तिजन्य देहाभिमान' से रहित रहता है। उस कारण वह यथेष्टाचरण में कभी भी प्रवृत्त नहीं होता। देहाभिमानवाले पुरुष ही यथेष्टाचरण में प्रवृत्त हुआ करते हैं। जो पुरुष, मुमुक्षुदशा में भी 'शम-दम-उपरति' आदि का अभ्यास करने से 'यथेष्टाचरण' से निवृत्त हो जाता है, वह पुरुष, 'ज्ञानदशा' में 'यथेष्टाचरण' करने कैसे प्रवृत्त होगा? अर्थात् ऐसी दुष्प्रवृत्ति उसकी कभी हो ही नहीं सकती है। देहाभिमानवाले पुरुषों की ही यथेष्टाचरण में प्रवृत्ति हुआ करती है। 'निःसंगता-मुक्तिपदं यतीनाम्'—यह वचन तो आत्मज्ञानरहित साधक पुरुष-परक है। तत्त्वज्ञानी सिद्ध पुरुष परक नहीं है। अतः इस वचन से ध्यानरहित ज्ञानी पुरुष का अधःपतन सिद्ध नहीं हो रहा है।

किञ्च—'ज्ञानी पुरुष के लिये 'ध्यान' का विधि नहीं है'—यह बात, सूत्रकार भगवान् व्यास ने ब्रह्मसूत्र में बताई है—देहसम्बन्ध से अनुज्ञा-परिहार उपपन्न हैं, जैसे अग्नि आदि।

यह कार्य अवश्य कर्तव्य है'—इत्याकारक शास्त्रविधि को 'अनुज्ञा' कहते हैं। और 'यह कार्य, करने योग्य नहीं है'—इत्याकारक शास्त्र निषेध को 'परिहार' कहते हैं। इस प्रकार के अनुज्ञा-परिहाररूप विधि-निषेध, 'आत्मज्ञान' होने के पूर्व, 'देहाभिमान' के कारण मनुष्य को हुआ करते हैं। किन्तु आत्मसाक्षात्कार होने पर देहाभिमान के निवृत्त हो जाने से ज्ञानी-पुरुष को शास्त्रप्रतिपादित विधि-निषेधों की प्राप्ति नहीं हुआ करती। जैसे श्मशानाग्नि को 'त्याज्य' समझाता है, किन्तु 'अन्य-अग्नि' को ग्राह्य समझा जाता है। अथवा जैसे मनुष्य का विष्ठा-मूत्र 'त्याज्य' रहता है, किन्तु 'गौ' का विष्ठा-मूत्र 'ग्राह्य' माना

इति श्लोकोक्तलक्षणं भाष्यं कुर्वन्तीति भाष्यकाराः तैरित्येतत्। ब्रह्मविदां वचनमपि संवादयति—गौणेति। आत्मा त्रिविधः—गौणात्मा मिथ्यात्मा मुख्यात्मा चेति। पुत्रभार्यादयो गौणात्मानः। अन्नमयादयः पञ्चकोशाः मिथ्यात्मानः। तेषामधिष्ठानभूतो यश्चिदात्मा साक्ष्यानन्दैकरसः स मुख्यात्मा। आत्मनोऽसत्व इत्यार्षत्वात् रेफलोपो न दोषाय। ततश्च गौणमित्यात्मनोरसत्त्वे मिथ्यात्मनिश्चये पुत्रदेहादीनामात्मत्वबाधनात् सर्वेषामधिष्ठानभूतसच्चिदानन्दैकरसब्रह्माहमस्मि इति बोधे जाते सति कार्यं कर्तव्यं

जाता है। उसी तरह देहाभिमानी अज्ञानी पुरुषों के लिये ही शास्त्रप्रतिपादित विधि-निषेध हुआ करते हैं, किन्तु देहाभिमान-रहित ज्ञानी पुरुषों के लिये वे विधि-निषेध, नहीं हुआ करते।

किञ्च—'ज्ञानी पुरुष के लिये किञ्चिन्मात्र भी कर्तव्य नहीं है'—यह श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने (गी० ३।१७–१८) स्वयं कहा है—

जो पुरुष अपनी आत्मा में ही क्रीडा करता है, अर्थात् जो मनुष्य, बाहर-भीतर सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि ही रखता है, उसी का सर्वदा भजन करता है, वही आत्मरति कहलाता है, वह सर्वदा अपनी आत्मा में ही विहार करता है। अनात्मा में कभी विहार नहीं करता। और आनन्दैकरस पूर्णतया साक्षात् किये गये आत्मा में ही तृप्त होता है, क्योंकि आत्मलाभ से बढ़कर अन्य कोई लाभ नहीं है। अतः दूसरे प्राप्तव्य का अभाव होने से आत्मप्राप्ति से ही सम्पूर्ण प्राप्तव्य वस्तुओं में जिसकी अहं बुद्धि हुई हो वही आत्मतृप्त कहलाता है। और जो आत्मा में ही सन्तुष्ट रहता है जैसे नेत्र, 'रूप' में सन्तुष्ट होता है, वैसे ही बाहर-भीतर सर्वत्र वृत्ति के विषयभूत चिदानन्दैकरस ब्रह्म में ही जो सन्तुष्ट होता है। अथवा कामी पुरुष अपने अभीष्ट अर्थ में सन्तुष्ट होता है, वैसे ही जो अपने आप में ही (आत्मा में ही) सन्तुष्ट रहता है, उसे आत्मतुष्ट कहते हैं, उस महात्मा आत्माराम कृतकृत्य यति के लिये कोई कर्तव्य कर्म है ही नहीं, क्योंकि पूर्णकाम होने से उसे कोई भी वस्तु, प्राप्तव्य के रूप में शेष नहीं है।

सर्वत्र आत्मभाव को देखनेवाले यति का 'कर्म' करने से या न करने से कोई भी प्रयोजन नहीं है। 'अहमेव इदं सर्वम्' मैं ही यह सब हूँ—इस प्रकार सब को अद्वितीय आत्मा के रूप में देखनेवाले उस आत्माराम यति के लिये अनुष्ठित कर्म से प्राप्त होने योग्य अर्थ—(फल) कुछ भी नहीं है, क्योंकि वह अपनी आत्मा में ही तृप्त है। और सबको मिथ्या देखता है। योगसाधना से प्राप्त होने योग्य आकाशगमन, अणिमा आदि सिद्धियों की उसे अपेक्षा नहीं है। सर्वात्मभाव को प्राप्त होने के कारण तपोरूप क्रिया से प्राप्त होने योग्य ब्रह्मा, इन्द्र आदि किसी पद की अपेक्षा भी नहीं है। और जीवन्मुक्त होने से वैदिक क्रिया से प्राप्त होनेवाली चित्तशुद्धि के द्वारा प्राप्य मोक्ष की अपेक्षा भी नहीं है। अतः उत्तम ब्रह्मज्ञानी को कर्म से साधनीय कोई भी अर्थ नहीं है।

शंका—कर्म से प्राप्तव्य अर्थ के न होने पर भी 'विधि' के उल्लंघन का दोष और न करने में प्रत्यवाय का दोष अवश्य ही होगा। उस कारण उसके ज्ञान की हानि अथवा स्वरूप की हानि का प्रसंग प्राप्त होगा।

समा०—नाऽकृतेनेह कश्चन—उक्त लक्षणवाले ब्रह्मज्ञानी को न करने से (विहित कर्म का आचरण न करने से) यहाँ पर (इस लोक में) उक्त कोई अनर्थ नहीं हो सकता। मायामात्रमिदं द्वैतम्'—यह द्वैत मायामात्र है—इस न्याय से 'विधि' भी अविद्यारूप होने से मिथ्या है। इसलिए ज्ञानी को उसके उल्लंघन से दोष नहीं होता। 'उभे ह्येवैष सते आत्मानं स्पृणुते'—इन दोनों को वह आत्मा जानता है—इस श्रुति से स्पष्ट है कि अकर्म की भी ब्रह्ममात्रदर्शन से पृथक् सत्ता नहीं है। इसलिए अकर्म भी दोषावह नहीं है। निरन्तर ब्रह्मनिष्ठा से ही स्थिर रहनेवाले विद्वान् ज्ञानी पुरुष के ज्ञान को हानि का होना भी उससे सम्भव नहीं है। 'एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य'—ब्राह्मण की यह नित्य महिमा है—इस श्रुति से स्पष्ट है कि ब्रह्मज्ञानी के स्वरूप की 'कर्म' और 'अकर्म' से कोई वृद्धि और क्षति नहीं हुआ करती। अतः अकर्म में ब्रह्मज्ञानी के स्वरूप की भी हानि नहीं है। इसलिए कर्म के न करने से उसका कोई अनर्थ नहीं होता।

शंका—तथापि ब्रह्मज्ञानी को मुक्ति के प्रतिबन्धक की निवृत्ति के लिए अथवा आध्यात्मिकादि उपद्रवों की निवृत्ति के लिए उपासना क्रिया के द्वारा शिव, विष्णु अथवा अन्य किसी का आश्रय तो करना ही होगा। अथवा शरीरयात्रा (शरीर निर्वाह के लिये ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय का आश्रयण तो करना ही होगा। अतः विद्वान् ब्रह्मज्ञानी के लिए सर्वदा, कर्म का त्याग करना उचित नहीं है।

समा०—'न चास्य सर्वभूतेषु' से समाधान किया जा रहा है। वह ज्ञानी पुरुष, किसी भी प्रयोज के लिए न शिव आदि देवताओं में से और न ब्राह्मण आदि में से किसी का आश्रय लेता है। अर्थात् उक्त लक्षणवाले ब्रह्मज्ञानी को देवताओं से शिव

कथं भवेत् न किमपि कर्तव्यं स्यादित्यर्थः। तथा च श्रुतिः—"स ब्राह्मणः केन स्यात् येन स्यात् तेनेदृश एव एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न कर्मणा वर्द्धते नो कनीयान्" इत्याद्या स्मृतिरपि—"एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत। स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्" इत्याद्या ज्ञानिनः सर्वकर्तव्यताभावं कृतकृत्यताञ्च दर्शयतः। तस्मात् ज्ञानिनः कर्तव्यताभावात् ध्याननिष्ठा चेत् स्यात् तदा दृष्टसुखं भवति, अतो न तद्विधिगन्धोऽपीति भावः॥ २२॥

●

या विष्णु. भूतों में से ब्राह्मण या अन्य कोई भी किसी भी कार्य के निमित्त आश्रयण (व्यापाश्रय) करने योग्य नहीं है। वह स्वयं ही शरीरसम्बन्ध से रहित होकर सर्वदा स्थिर रहता है, इसलिए वह ज्ञानी तो यहीं मुक्त हो गया है। अतः मुक्ति के प्रतिबन्धक का सम्भव न होने से देवादिकों का मिथ्याकोटि में प्रवेश रहने से, उसके लिए शिव, विष्णु आदि कोई आराध्य नहीं है। आध्यात्मिकादि उपद्रव और शरीर की रक्षा (शरीरयात्रा) प्रारब्धाधीन होने से और पुरुष प्रयत्न की व्यर्थता दिखाई देने से ब्राह्मणादि में से भी कोई आश्रय करने योग्य नहीं हैं। एवं च ब्रह्मज्ञानी मुक्त पुरुष के लिए कोई भी कर्म, कर्तव्य के रूप में नहीं है। यदि कर्तव्य हो तो वह ब्रह्मवित् हो नहीं है।

इसी बात को पुराणों में बताया गया है—जो पुरुष 'अहं ब्रह्मास्मि'—इस प्रकार के आत्मज्ञानरूप अमृत का पान करके तृप्त हुआ है, उस कारण वह कृतकृत्य हो गया है। अर्थात् जो सम्पादन करने योग्य था उसे उसने सम्पादन कर लिया है, अतः उस ज्ञानी को अब किञ्चिन्मात्र भी कर्तव्यशेष नहीं है। किन्तु जिस पुरुष को किञ्चिन्मात्र भी कर्तव्य शेष है, वह पुरुष 'ज्ञानी' ही नहीं है—यह समझना चाहिए।

किञ्च—भगवान् भाष्यकार ने भी इसी तथ्य को अभिव्यक्त किया है।

जितने भी शास्त्रीयविधि और विधि-निषेध एवं मोक्षकारक शाखाएँ हैं वे सब 'अहं ब्रह्मास्मि'—इस अनुभव तक ही हैं। अर्थात् इनका क्षेत्र ब्रह्मानुभव होने तक ही है, उसके पश्चात् नहीं। क्योंकि देह-इन्द्रियादिकों में 'अहं-मम' इत्याकारक अभिमानशून्य व्यक्ति में 'प्रमातृत्व' का होना सम्भव ही नहीं है। अर्थात् अभिमानशून्य व्यक्ति, 'प्रमाता' नहीं हो सकता, तब 'प्रमाण प्रवृत्ति' उसके लिए कैसे उपपन्न हो सकेगी? अर्थात् शास्त्र और उनके विधि-निषेधादि प्रमाण उसके लिए लागू नहीं हैं।

तथा ब्रह्मवेत्ता विद्वानों का (भा० १।४१४) भी कहना है—'आत्मा'—तीन प्रकार का है (१) गौणात्मा, (२) मिथ्यात्मा और (३) मुख्यात्मा। इनमें से 'पुत्र-भार्या' आदि 'गौण आत्मा' है। 'अन्नमयादि पञ्चकोश'—मिथ्या आत्मा है। और उनका अधिष्ठानभूत जो चिदात्मा, साक्षी, आनन्दैकरस है, वह 'मुख्य आत्मा' है। श्लोक में 'आत्मनोः असत्त्वे' = 'आत्मनोऽसत्त्वे', यह 'आर्ष- प्रयोग है। अतः 'रेफलोप' दोषावह नहीं है।

एवंच 'गौणमिथ्यात्मनोःअसत्त्वे'—अर्थात् गौण और मिथ्या आत्मा में 'मिथ्यात्व' का निश्चय हो जाने पर 'पुत्र-देहादिकों' में होनेवाली 'आत्मत्व बुद्धि का बाध हो जाता है। उसके अनन्तर 'सबका अधिष्ठानभूत सच्चिदानन्दैकरस ब्रह्म'-मैं ही हूँ, यह बोध जब हो जाता है, तब उसके लिए कोई भी अन्य कर्तव्य, (कार्य) कहाँ शेष रह जाता है? अर्थात् उस ज्ञानी के लिए कोई 'कर्तव्य' शेष नहीं रहता है, क्योंकि वह कृतकृत्य हो गया है।

इसी तथ्य को श्रुति व स्मृति ने भी प्रकट किया है। श्रुति-स्मृतियों ने 'ब्रह्मज्ञानी' को समस्त कर्तव्यों से शून्य अर्थात् कृतकृत्य बताया है। अतः ज्ञानीपुरुष के लिए किसी प्रकार का कोई भी कर्तव्य (कार्य), शेष नहीं है, फिर भी यदि वह 'ध्यान-निष्ठ' रहता है (ध्यान लगाता है), तो उसका फल उसे 'दृष्टसुख' अवश्य उपलब्ध होता है। अर्थात् लोकोत्तर आनन्द (महान् आनन्द) की प्राप्ति होती है। एवं च उस ज्ञानी महात्मा के लिये 'ध्यानविधि' की बात करना अनुचित ही है। उसके लिये कोई 'विधि' नहीं है। उसे मोक्ष प्राप्त होने में कोई किसी प्रकार की रुकावट (प्रतिबन्ध) नहीं होती। क्योंकि चिरकाल तक उसने श्रवण, मनन निदिध्यासन किया है, उस कारण उसे 'ब्रह्मतत्त्व' के विषय में दृढतर निश्चय हो चुका है। अतः करतल पर स्थित आमलक (आंवले) के समान, वह अपने अद्वयभेद स्वरूप का अनुभव करता रहता है, उस ज्ञानी पुरुष को प्रारब्धकर्म-वशात् बाह्य व्यवहार करते रहने पर भी उनके इष्टानिष्ट परिणामों से किसी प्रकार की कोई सन्दिग्धभावना, विपरीतभावना अथवा असंभावना आदि उसके मन में उत्पन्न नहीं होती हैं। वह तो अपने स्वरूप में रमता रहता है।

गीता में भी बताया गया है कि बुद्धिमान् वही है, जो इस ब्रह्मतत्त्व को जान लेता है और कृतकृत्य हो जाता है। हे भारत! सम्पूर्ण मनुष्य समाज में उस बुद्धिमान् पुरुष के लिये कोई भी कर्तव्य कर्म, शेष नहीं रहता। उसने सब कर्तव्य कर्मों को कर लिया है। इत्यादि स्मृतियों ने उस बुद्धिमान् पुरुष के लिये 'सर्वकर्तव्यताभाव' और 'कृतकृत्यता' का निरूपण कर दिया है। उस कारण उस बुद्धिमान् ज्ञानी पुरुष के लिये 'ध्यान विधि' की शंका करना उचित नहीं है॥ २२॥

ज्ञानिनो ध्यानाऽभावे व्यवहारप्राचुर्याद् दृष्टदुःखमात्रं, न मोक्षप्रतिबन्धः। तदुक्तं—"तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशा"दिति। तस्मिन् ब्रह्मात्मनि निष्ठा अनन्यव्यापारतया परिसमाप्तिः पर्यवसानं यस्य स तथा तस्य, ज्ञानैकशरणस्येति यावत्।

●

ननु ज्ञानिनो ध्यानविध्यभावेन प्रारब्धवशेन बहिर्व्यवहारप्रसक्त्या असम्भावनादिप्रसक्त्या मोक्षो न स्यादित्याशङ्क्याह—ज्ञानिन इति। दृष्टेति। मात्रशब्देनासम्भावनादि व्यावर्त्यते। नहि श्रवणमनननिदिध्यासनैर्निश्चततत्त्वस्य स्वतो निवृत्तस्य करतलामलकवत् स्वरूपमद्वयानन्दमनुभवतः संशयादि सम्भवति। तदुक्तम्—

"विद्याविग्रहमग्रहेण पिहितं प्रत्यञ्चमुच्चैस्तरां उत्कृष्टोत्तमपुरुषं मुनिधिया मुञ्जादिषिकामिव।

कोशात् कारणकार्यरूपविकृतात् पश्यामि निःसंशयं नासीदस्ति[1] भविष्यति क्व नु गतः संसारदुःखोदधि॥" इति।

ननु मास्तु संशयादिः, अज्ञानमेव मोक्षप्रतिबन्धकं स्यात्, कथमन्यथा प्रारब्धभोगः? इत्याशङ्क्याह—नेति। अपरोक्षज्ञाने विरोधिनि सति ब्रह्मज्ञानायोगात् बाधितानुवृत्त्याबाधितानुवृत्त्या द्वैतदर्शनमात्रेण प्रारब्धभोगोपपत्तेर्न मोक्षप्रतिबन्धः। तदुक्तं वार्तिककारैः—

"तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थसम्यग्धीजन्ममात्रतः। अविद्यासह कार्येण नासीदस्ति भविष्यति॥ इति।

●

शंका—ज्ञानी के लिये 'ध्यानविधि' यदि न माना जाय तो प्रारब्धवशात् बाह्यव्यवहारप्रसक्ति तथा असंभावना आदि की प्रसक्ति की संभावना से उसे 'मोक्षलाभ' कैसे हो सकेगा?

समा०—उक्त आशंका के समाधानार्थ ही ग्रन्थकार ने कहा है—ध्यान के अभाव में बाह्यव्यवहार के प्राचुर्य से उस ज्ञानी को 'दृष्ट दुःखमात्र' हो सकता है, किन्तु 'मोक्षलाभ' में कोई रुकावट (प्रतिबन्ध) नहीं हो सकती। 'दुःखमात्रं' में 'मात्र' शब्द के प्रयोग से 'असंभावना' आदि की व्यावृत्ति का होना सूचित किया है। क्योंकि 'ब्रह्मतत्त्व' के विषय में उसे सुदृढ़तम निश्चय हो चुका है।

शंका—'संशय' आदि, उस ज्ञानी को भले ही न हों किन्तु 'अज्ञान' ही 'मोक्ष' का प्रतिबन्धक हो जायगा। अन्यथा उसे 'प्रारब्ध भोग' क्यों भोगना पड़ रहा है?

समा०—उक्त आशंका के निरासार्थ ही ग्रन्थकार ने कहा है कि मोक्ष में कोई रुकावट नहीं हो सकती। अज्ञान के विरोधी ब्रह्म के अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) ज्ञान की उपस्थिति में 'अज्ञान' कैसे टिक सकता है? जैसे तमस् के विरोधी प्रकाश की उपस्थिति में 'तमस्' नहीं ठहर पाता, उसी तरह यहाँ भी समझना चाहिये। बाधितानुवृत्ति के कारण द्वैतदर्शनमात्र होता है, उससे प्रारब्धभोग की उपपत्ति लग जाती है, किन्तु मोक्षलाभ में कोई प्रतिबन्ध (रुकावट) नहीं होता। वार्तिककार ने भी यही कहा है।

एवञ्च 'ज्ञान' से 'अज्ञान' और उसके कार्यभूत संशयादि की निवृत्ति, हो जाने से प्रारब्धीन व्यवहार के विद्यमान रहने पर भी 'ज्ञानी' के मोक्षलाभ की उपपत्ति लग जाती है।

उक्त कथन में ब्रह्मसूत्रकार की सम्मति प्रदर्शित कर रहे हैं। समन्वयाध्याय में "ईक्षतेर्नाशब्दम्" प्रसंग में "सदेव" यह उपक्रम करके "तदैक्षत"—इत्यादि श्रुति से प्रतीत होता है कि 'जगत्' का 'कोई कारण' अवश्य है। तब अनेक विचारकों ने अपने-अपने विचारों को उपस्थित किया है। भिन्न-भिन्न विचारों के उपस्थित होने पर मन में संशय होता है कि 'जगत्' का कारण 'प्रधान' (प्रकृति) है, अथवा 'ब्रह्म' है? तब सांख्यदार्शनिक कहता है कि 'ज्ञान क्रियाशक्ति' से युक्त होने के कारण और 'परिणामित्व' होने से 'त्रिगुणात्मक प्रधान' ही 'जगत्' का कारण है, 'ब्रह्म' नहीं है। क्योंकि वह (ब्रह्म) 'अपरिणामी' है। यह पक्ष, सांख्य ने उपस्थित किया है।

उस पर वेदान्ती ने कहा कि 'प्रधान' को 'जगत्' का कारण नहीं कह सकते। जगत् कारण तो 'सत्' शब्द से वाच्य होता है। 'प्रधान' कभी भी 'सत्' शब्द से वाच्य नहीं होता। क्योंकि 'अशब्द' है। अर्थात् वह (प्रधान) श्रुति से प्रतिपादित नहीं है। क्योंकि 'तदैक्षत'—इस श्रुति में जगत्कारण को 'ईक्षण' का कर्ता कहा गया है। 'प्रधान' तो 'जड' है। जड प्रधान में ईक्षण करने की शक्ति नहीं है। 'तदैक्षत' में 'तत्' शब्द का अर्थ है 'सत्' शब्दवाच्य कारण। श्रुति ने सच्छब्दवाच्य कारण को ईक्षिता बताया है, अर्थात् उसमें 'ईक्षितृत्व' धर्म का रहना बताया है। 'ईक्षितृत्व' धर्म, 'चेतन' का ही हो सकता है, 'प्रधान' का नहीं, क्योंकि वह (प्रधान) अचेतन (जड) है। अचेतन में ईक्षितृत्वधर्म, नहीं होता।

---

१. क्वासीदस्तीति सर्वज्ञग्रन्थपाठः।

तथैव[1] भगवानप्याह—

"य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह। सर्वथा वर्त्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥"

"यस्य नाऽहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते। हत्वापि स इमान् लोकान् न हन्ति न निबध्यते ॥" इति।

•

संक्षेपशारीरकाचार्यैरप्युक्तम्—

"पश्यामि चित्रमिव सर्वमिदं द्वितीयं तिष्ठामि निष्कलचिदेकवपुष्यनन्ते।
आत्मानमद्वयमनन्तसुखैकरूपं पश्यामि दग्धरशनामिव च प्रपञ्चम् ॥
अद्वैतमप्यनुभवामि करस्थबिल्वतुल्यं शरीरमहिनिर्ल्वयनीव वीक्षे।
एवञ्च जीवनमिव प्रतिभासनञ्च[1] निःश्रेयमाधिगमनं[2] मम सुप्रसिद्धम् ॥" इति।

तस्मात् ज्ञानेनाज्ञानतत्कार्यसंशयादीनां निवृत्तत्वात् प्रारब्धाधीनव्यवहारे सत्यपि ज्ञानिनो मोक्ष उपपद्यत इति भावः। तत्र सम्मतिमाह—तदुक्तमिति। समन्वयलक्षणे स्थितम्—"ईक्षतेर्नाशब्दम्"। "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" इत्युपक्रम्य "तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय" इत्यादिश्रुत्या जगतः कारणं किञ्चित् श्रूयते। तत्र संशयः—प्रधानादि जगत्कारणम्, आहोस्वित् ब्रह्म वेति। तत्र ज्ञानक्रियाशक्तिमत्त्वात् परिणामित्वाच्च त्रिगुणात्मकं प्रधानमेव जगत्कारणम् न ब्रह्म; तस्यापरिणामित्वात् इति प्राप्ते—अभिधीयते; न प्रधानं जगत्कारणं सच्छब्दवाच्यम्; अशब्दम् यतः। कथमशब्दत्वमिति चेत् "तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय" इति कारणस्येक्षितृत्वश्रवणात् इक्षितृत्वस्य चेतनधर्मत्वात् प्रधानस्याचेतनत्वेन तदयोगात्। ननु प्रधानस्यापि गौणमीक्षितृत्वं भविष्यतीति चेत्? नः "सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता" "अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" इति कारणे सत्यात्मशब्दप्रयोगादचेतने तदयोगात्।

•

शंका—'प्रधान' में भी 'गौण ईक्षितृत्व' मानने में क्या हानि है?

समा०—"सेयं देवतैक्षत" इस श्रुति ने 'कारण' के लिये सत्य (मुख्य) आत्मशब्द का प्रयोग किया है, 'अचेतन' में 'मुख्य' आत्म शब्द का प्रयोग नहीं किया जाता।

शंका—अचेतन में भी 'आत्म' शब्द का गौण प्रयोग मान लेंगे।

समा०—इसी आशंका का उत्तर, 'सूत्रकार भगवान् व्यास' ने दिया है—

यदि 'प्रधान' को 'जगत्' का कारण कहें, तो श्रुति-स्मृति के द्वारा प्रतिपादित मोक्ष प्राप्ति 'ब्रह्मनिष्ठ ज्ञानी पुरुष' को नहीं हो सकेगी। किन्तु श्रुति तो कह रही है कि उस ज्ञानी पुरुष को 'मोक्ष' की प्रतीक्षा तभी तक करनी है, जब तक भोग के द्वारा प्रारब्ध कर्मों का क्षय नहीं होता है। प्रारब्धकर्मों के क्षीण होते ही वह ज्ञानी पुरुष, 'निर्विशेष ब्रह्मभाव' रूप विदेह मुक्ति को अवश्य ही प्राप्त करता है। इस प्रकार बताया हुआ, ब्रह्मनिष्ठ ज्ञानी पुरुष का जो मोक्षोपदेश है, वह संगत नहीं होगा।

'अचेतनप्रधाननिष्ठ पुरुष' के लिये उक्त मोक्षोपदेश का होना संभव नहीं हो सकता। क्योंकि श्रुति से निश्चित है कि परमात्म विज्ञान के अतिरिक्त अन्य कोई भी 'मोक्ष प्राप्ति' का उपाय (साधन) नहीं है।

किञ्च—'तत्त्वमसि'—यह उपदेश, चेतन श्वेतकेतु को किया गया है। अचेतनतादात्म्यनिष्ठ पुरुष को उक्त उपदेश नहीं किया गया है। अतः अचेतन के ध्यान से मोक्ष मिलना संभव नहीं है। अतः जगत्कारण, 'प्रधान' नहीं है किन्तु 'ब्रह्म' ही है। इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात्' सूत्र यह बता रहा है कि ब्रह्मज्ञानैकशरण हुए पुरुष को मोक्ष प्राप्ति के होने में कोई प्रतिबन्ध (रुकावट) नहीं है। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र स्वयं अपने मुखारविन्द से कह रहे हैं—

समस्त इन्द्रियों की जो बाह्यविषयाभिमुख प्रवृत्ति है, उसका परित्याग कर अनन्यभाव से मेरी ही शरण में आओ। तब मैं समस्त पापों से तुमको मुक्त करा दूँगा। अतः शोक मत करो।

तथा भगवान् ने और भी कहा है—

हे अर्जुन! पुरुष और प्रकृति के स्वरूप को महत् से लेकर स्थूलान्त गुणों (कार्यों) के साथ जो जानता है, वह व्यावहारिक वर्ताव करता हुआ भी पुनः जन्म-मरण के चक्र में नहीं आता। अभिप्राय यह है कि प्रकृति और पुरुष के स्वरूप का

१. प्रतिभासमानमिति तद्ग्रन्थे पाठः। २. निःश्रेयसोऽधिगमनमिति तत्र मुद्रितम्।

शेषोऽपि—

"हयमेधशतसहस्राण्यथ कुरुते ब्रह्मघातलक्षाणि ।
परमार्थविन्न पुण्यैर्न च पापैः स्पृश्यते विमलः ॥" इति ।

●

अचेतनेऽप्यात्मशब्दो गौणो भविष्यतीत्याशङ्क्य तदुत्तरत्वेनेदमाह—तन्निष्ठेति । सूत्रं व्याचष्टे—तस्मिन्निति । अयमर्थः—यदि प्रधानं जगत्कारणं स्यात्, तर्हि "आचार्यवान् पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये" इति तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशो न स्यात् । न ह्यचेतनप्रधाननिष्ठस्य मोक्षोपदेशः सम्भवति; "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" इति परमात्मविज्ञानादन्यस्य मोक्षसाधनत्वप्रतिषेधात् । किञ्च तत्त्वमसीति चेतनस्य श्वेतकेतोरचेतनतादात्म्यनिष्ठोपदेशायोगाद् न तद्ध्यानात् मोक्षः सम्भवति । तस्मात् न प्रधानं जगत्कारणम्, किन्तु ब्रह्मैव । ततश्च तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् ब्रह्मज्ञानैकशरणस्य न मोक्षप्रतिबन्धः ।

"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज । अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥"

इति भगवद्वचनाच्चेति भावः ।

तत्र भगवत्सम्मतिमाह—तथैवेति । पुरुषं पूर्णं अपरिछिन्नानन्दस्वरूपमिति यावत् । गुणैः सत्त्वादिभिः सह प्रकृतिञ्च वेत्तीति सम्बन्धः । सः निवृत्ताविद्यो ब्रह्मीभूतः । सर्वथा सर्वप्रकारेण । वर्तमानः यथेष्टव्यवहारं कुर्वन्नपीत्यर्थः । उक्ताभिप्रायो भगवतेवोद्घाटित इति दर्शयितुमष्टादशाध्यायश्लोकमुदाहरति—यस्येति । उक्तार्थे शेषवचनमुदाहरति—शेषोऽपीति । हयमेधः अश्वमेधः । परमार्थवित् अहंब्रह्मास्मीतिसाक्षात्कारवान् । वृद्धवचनान्तरमुदाहरति—विद्यारण्यैरिति । वैराग्योपरमावन्यौ द्वौ ।

"वैराग्यबोधोपरमाः सहायास्ते परस्परम् । प्रायेण सह वर्तन्ते वियुज्यन्ते क्वचित् क्वचित् ॥"

●

नीर-क्षीर के समान विवेक करके गुणसहित प्रकृति को ज्ञान के द्वारा विलीन करके 'ब्रह्मैवाहम्'—ब्रह्म ही मैं हूँ—इस प्रकार अविक्रिय ब्रह्मरूप से स्थित होने वाले ज्ञानी पुरुष का सर्वथा वर्तनरूप मन-माना यथेष्टाचार नहीं हो सकता, क्योंकि 'अनात्मा' में उसका 'मैं—मेरा' इत्याकारक अभिमान नहीं है । देहादि अनात्मपदार्थों में 'मैं—मेरा'—इत्याकारक अभिनिवेश होने पर ही 'इदं कर्तव्यं, इदं भोक्तव्यम्'—यह कर्तव्य है, यह भोक्तव्य है—इत्याकारक इच्छा का आवेग होने पर ही 'दुष्ट', 'अदुष्ट' कर्मों में मनुष्य की प्रवृत्ति हुआ करती है, अन्यथा नहीं । अतः ब्रह्मज्ञानी की 'सत् और असत्' में प्रवृत्ति होना संभव ही नहीं है । क्योंकि सर्वत्र ब्रह्मदर्शन और प्रपञ्चदर्शन का परस्पर विरोध है ।

अपने अभिप्राय को भगवान् स्वयं ही स्पष्ट कर रहे हैं—(गी० १८।१७) ।

जिस ब्रह्मज्ञानी पुरुष का अन्तःकरण, 'अहंभाव' से रहित है, और जिसकी बुद्धि, 'धर्माधर्मसंस्कार' से रहित है, वह पुरुष, त्रिलोकी के प्राणियों का हनन करके भी 'हनन' नहीं करता है, और उसके पुण्य-पापरूप फल से सम्बद्ध नहीं होता है ॥

निष्कर्ष यह है—जो ज्ञानी पुरुष, 'देश, काल, वस्तु'—इन तीनों परिच्छेदों से रहित आनन्दस्वरूप परमात्मा को 'अहं ब्रह्मास्मि' इस रूप में जानता है, तथा 'सत्त्व-रजस्-तमस्'—इस त्रिगुणात्मक प्रकृतिरूप 'माया' को 'मिथ्या' समझता है, वही ज्ञानी पुरुष, समस्त व्यवहार करता हुआ भी अर्थात् प्रबल प्रारब्धकर्मवशात् कदाचित् यथेष्टाचरण करता हुआ भी पुनः जन्म नहीं पाता है । इसी का स्पष्टीकरण भगवान् ने स्वयं ही अठारहवे अध्याय के सत्रहवें श्लोक से किया है—जिस ज्ञानी को अपने कर्मकर्तृत्व की भावना, नहीं है, तथा 'मैं इस कर्म के फल को भोगंगा' मया इदं कर्मफलं भोक्तव्यम्—इस प्रकार से कर्मफल में जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती, वह ज्ञानी पुरुष, कदाचित् समस्त लोकों का भी हनन करे, तो भी वह 'हननक्रिया' का 'कर्ता' नहीं होता है, तथा हननक्रियाजन्य 'अनिष्टफल' के साथ उसका संबंध भी नहीं हो पाता है ।

इसी अभिप्राय से शेष भगवान् भी कहते हैं—'अहं ब्रह्मास्मि'—इस प्रकार साक्षात्कार करनेवाला पुरुष, अर्थात् जो तत्त्वज्ञानी पुरुष है, वह, कदाचित् शतसहस्र अश्वमेध यज्ञों को करे, अथवा लक्षसंख्याक ब्राह्मणों का हनन भी करे तो उस तत्त्वज्ञानी पुरुष को, न अश्वमेधजन्य पुण्य प्राप्त होते हैं, और न ही ब्रह्महत्याजन्य पाप लगते हैं । क्योंकि वह तत्त्वज्ञानी पुरुष 'विमल' है । अर्थात् अविद्यादि मलों से रहित है ।

इसी अभिप्राय को विद्यारण्यस्वामी ने भी व्यक्त किया है (१) वैराग्य, (२) बोध, (३) उपरति—इन तीनों में से इस ज्ञानी पुरुष को आत्मसाक्षात्काररूप 'बोध' तो पूर्णतया हो गया, किन्तु किसी पापरूप प्रारब्धकर्म का उदय होने से 'वैराग्य'

विद्यारण्यैरप्युक्तम्—

"पूर्णे बोधे तदन्यौ द्वौ प्रतिबद्धौ यदा तदा।
मोक्षो विनिश्चितः किं तु दृष्टं दुःखं[1] न नश्यति ।।" इति । ।। २३ ।।

●

इति वैराग्यादीनां परस्परसहायत्वमुक्त्वा क्वचित् क्वचित् वियोगमुक्त्वा, कस्य पुंसः त्रयाणां सहावस्थानं केन वा कस्यचित् वियोगो भवतीत्याकांक्षायां—

"त्रयोऽप्यत्यन्तपक्वाश्चेत् महतस्तपसः फलम् । दुरितेन क्वचित् किञ्चित् कदाचित् प्रतिबध्यते ।।"

इति कस्यचिदुत्तमाधिकारिणः पुरुषधौरेयस्य महता तपसा परमेश्वरानुग्रहेण च वैराग्यादीनां महावस्थानमुक्त्वा मध्यमाधिकारिणः दुरितेन त्रयाणामन्यतमस्य प्रतिबन्धमुक्त्वा कस्मिन् पूर्णे किं फलं भवतीत्याकांक्षायां—

"वैराग्योपरमे[2] पूर्णे बोधस्तु प्रतिबध्यते यस्य तस्य न मोक्षोऽस्ति पुण्यलोकस्तपोबलात् ।।"

इति वैराग्योपरमयोः पूर्णत्वे बोधस्य प्रतिबन्धफलमुक्त्वा तद्विपरीत इदमाह—पूर्णं इति । तत्र त्रयाणां साधनस्वरूपं फलं चतैरेव व्युत्पादितम्—

"दोषदृष्टिर्जिहासा च पुनर्भोगेष्वदीनता[3] । असाधारणहेत्वाद्या वैराग्यस्य त्रयो ह्यमी ।।
श्रवणादित्रयं तद्वत् तत्त्वमिथ्याविवेचनम् । पुनर्ग्रन्थेरनुदयो बोधस्यैते त्रयो मताः ।।
यमादिर्धीनिरोधश्च व्यवहारस्य संक्षयः । स्युर्हेत्वाद्याः उपरतेरित्यसङ्कर ईरितः ।।"
ब्रह्मलोकतृणीकारो वैराग्यस्यावधिर्मतः ।"
सुप्तिवत् विस्मृतिः सीमा भवेदुपरमस्य हि ।"
देहात्मवत् परात्मत्वदार्ढ्ये बोधः समाप्यते ।।" इति ।

●

और 'उपरति'—ये दोनों प्रतिबद्ध हो गये हों तभी उस ज्ञानी पुरुष को मोक्ष की प्राप्ति निश्चितरूप से होती है। किन्तु 'वैराग्य' और 'उपरति' के न रहने से उस ज्ञानी का दृष्ट दुःख निवृत्त नहीं होता।

निष्कर्ष यह है—'वैराग्य, बोध, उपरति'—ये तीनों परस्पर एक-दूसरे के सहायक रहने से प्रायः इकट्ठे ही रहते हैं, किन्तु कभी-कभी किसी स्थल विशेष में इन तीनों का परस्पर वियोग भी हो जाता है।

जो महान् तपस्वी तथा परमेश्वरानुगृहीत उत्तम अधिकारी पुरुष होता है, उसमें ये तीनों इकट्ठे ही रहते हैं।

"त्रयोऽप्यत्यन्तपक्वाश्चेत् महतस्तपसः फलम् । दुरितेन क्वचित् किञ्चित् कदाचित् प्रतिबध्यते ।।"

किन्तु मध्यम अधिकारी पुरुष में किसी प्रारब्ध पापकर्म के कारण तीनों का वियोग भी रहता है। उसमें भी यह विशेष है कि जिस पुरुष में वैराग्य और उपरति ये दोनों तो पूर्णतया हैं, किन्तु आत्मसाक्षात्काररूप बोध, प्रतिबद्ध हो गया है (रुक गया है), उस पुरुष को मोक्षप्राप्ति नहीं होती। तथापि किये हुए तप के प्रभाव से 'उत्तमलोक' की प्राप्ति होती है। किन्तु जिस पुरुष को आत्मसाक्षात्काररूप बोध तो पूर्ण रूप से हो गया है, और किसी प्रारब्ध पापकर्म के कारण 'वैराग्य और उपरति'—ये दोनों प्रतिबद्ध हो गये हैं, अर्थात् नहीं हो पाये, उस पुरुष को मोक्ष प्राप्ति तो अवश्य होती है, "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति", परन्तु उसका दृष्टदुःख निवृत्त नहीं होता। क्योंकि प्रारब्धकर्मवशात् व्यवहारप्राचुर्य के कारण दृष्ट दुःख का नाश नहीं हो पाता, क्योंकि दुःखनिवर्तक 'योग' प्रतिवद्ध है।

शंका—प्रारब्ध की अपेक्षा 'योग' के प्रबल होने से उसका प्रतिबन्ध कैसे हो सकता है ?

समा०—'अवश्यंभावि प्रारब्ध', योग की अपेक्षा प्रबल होता है।

अवसर प्राप्त 'वैराग्य, बोध, उपरति'—इन तीनों के 'साधन', 'स्वरूप', 'फल' और 'पूर्णता की अवधि' का निरूपण कर रहे हैं।

---

१. दृष्टदुःखमिति तत्पाठः। २. वैराग्योपरतीति पञ्चदश्यां मुद्रितम् ।
३. पुनर्भोगेष्वदीनतेति तत्र दृश्यते । एवमन्ते त्रयोप्यमीति ।

बोधस्य पूर्णत्वावधिर्विष्णुपुराणे पराशरेण दर्शितः—

"अहं हरेः[1] सर्वमिदं जनार्दनो नान्यत्ततः कारणकार्यजातम् ।
ईदृङ्मनो यस्य न तस्य भूयो भवोद्भवा द्वन्द्वगदा भवन्ति ॥" इति ।

ब्रह्मगीतायां ब्रह्माणं प्रति शिवेनापि—

"अहं हि सर्वं न च किंचिदन्यन्निरूपणायामनिरूपणायाम् ।
इयं हि वेदस्य परा हि निष्ठा ममाऽनुभूतिश्च न संशयश्च ॥" इति ।

●

ततश्च यस्य बोधः पूर्णः वैराग्योपरमौ प्रारब्धकर्म्मणा प्रतिबद्धौ यदा, तदा तस्य मोक्षः सिद्ध एव; "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" इत्यादिश्रुतेः। किन्तु प्रारब्धकर्मवशेन व्यवहारप्राचुर्यात् दृष्टदुःखं न नश्यति, तन्निवर्तकस्य योगस्य प्रतिबद्धत्वादिति भावः। न च—प्रारब्धापेक्षया योगस्य प्रबलत्वात् कथं तस्य प्रतिबन्ध इति—वाच्यम्; अवश्यम्भाविप्रारब्धस्य योगापेक्षया प्रबलत्वात् तदुक्तम् ।

"अवश्यम्भाविभावानां प्रतीकारो भवेद्यदि । तदा दुःखैर्न लिप्येरन् नलरामयुधिष्ठिराः ॥" इति ॥ २३ ॥

ननु बोधे पूर्णे वैराग्योपरमयोः प्रतिबन्धेऽपि मोक्षो भवतीत्युक्तम्, तत्र बोधस्य पूर्णत्वं कीदृशमित्याकाङ्क्षायां असम्भावना-विपरीतभावनाराहित्यं ब्रह्मसाक्षात्कारस्य पूर्णत्वमित्यभिप्रेत्य तत्र विष्णुपुराणवचनमुदाहरति—बोधस्येति । अज्ञानतत्कार्य्यं हरतीति हरिः भगवान् वासुदेवः परमात्मा । ततो हरेः कारणञ्च कार्यजातञ्च कारणकार्यजातम् अन्यत् किमपि नास्ति; कार्यकारणयो-

●

इस लोक के तथा परलोक के विषयों में सातिशयता, अनित्यता आदि दोषों को जो दृष्टि है, वह तो 'वैराग्य' का साधन है और इस लोक तथा परलोक के विषयों के त्याग को जो इच्छा है, वही 'वैराग्य' का स्वरूप है और विना प्रयत्न के प्राप्त हुए भोगों के प्रति चित्त की जो अदीनता है, वही वैराग्य का 'फल' है। और समस्त लोकों से उत्कृष्ट जो 'ब्रह्मलोक' है, उसे भी 'तृण' के समान तुच्छ समझना, यही वैराग्य की पूर्णता का 'अवधि' है, और 'श्रवण-मनन-निदिध्यासन'—ये तोनों 'बोध' के उपाय (साधन) हैं, और मिथ्यादेहादि जडपदार्थों से 'प्रत्यगात्मा' का विवेचन (भेद) ही 'बोध' का स्वरूप है, और अहंकारादिकों के साथ आत्मा की जो तादात्म्याध्यासरूप ग्रन्थि का पुनः उदय न होना ही 'बोध' का फल है। जैसे अज्ञानी पुरुष को 'देह' में 'आत्मत्वबुद्धि' दृढ़ होती है, वैसे ही 'परमात्मा' में आत्मत्व बुद्धि का दृढ़ रहना ही 'बोध' की पूर्णता का अवधि है। और 'यम-नियम आदि' 'उपरति' के साधन हैं, और मन की समस्त वृत्तियों का जो निरोध है, वही 'उपरति' का स्वरूप है और लौकिक वैदिक समस्त व्यवहारों का जो अभाव है वही उपरति का 'फल' है, और सुषुप्ति के समान समस्त पदार्थों की जो 'स्मृति' है, वही 'उपरति' की पूर्णता का अवधि है ॥ २३ ॥

शंका—पहिले बता चुके हैं कि 'बोध' की पूर्णता होने पर 'वैराग्य' और 'उपरम'—इन दोनों के प्रतिबद्ध होने पर भी 'मोक्ष' के होने में कोई प्रतिबन्ध नहीं होता। किन्तु 'बोध' की पूर्णता कैसी समझी जाय ?

समा०—उक्त आशंका का समाधान यही है कि 'असम्भावना, विपरीतभावना, सन्दिग्धभावना'—इन तीनों भावनाओं का राहित्य (न हो पाना) ही ब्रह्मसाक्षात्कार (बोध) की पूर्णता है—यह समझना चाहिये। इसी अभिप्राय से ग्रन्थकार विष्णुपुराण के बचन को उद्धृत कर रहे हैं—बोध के पूर्णत्व का अवधि, महर्षि पराशर ने विष्णुपुराण में बताया है—अर्थात् मैं तथा यह सम्पूर्ण जगत्, आत्मरूप ही है। उस परमात्मा से भिन्न कोई भी कारण या कार्य नहीं है। इस प्रकार की सर्वात्म-बुद्धि जिस पुरुष को प्राप्त हुई हो, उस पुरुष को सांसारिक शीतोष्णद्वन्द्व, मानापमानादि द्वन्द्वरूप रोग, पुनः प्राप्त नहीं होते। ठीक इसी आशय का एक अन्य श्लोक भी है—

"हरिरेव जगत् जगदेव हरिः जगतो हरितो नहि भिन्न तनुः ।
इति यस्य मतिः परमार्थगतिः स नरो भवसागरमुद्धरति ॥"

---

१. हरिरिति पुराणेऽत्र च टीकायां पाठः ।

उपदेशसहस्रिकायामपि—

"देहात्मज्ञानवद् ज्ञानं देहात्मज्ञानबाधकम् । आत्मन्येव भवेद्यस्य सोऽनिच्छन्नपि मुच्यते ॥" इति ॥ २४ ॥

"अयमस्मीति पुरुषः" इत्यत्राऽयमिति श्रुतेरतात्पर्यप्रतिपादनव्याजेन विद्यारण्यैरपि दर्शितं तृप्तिदीपे—

"असन्दिग्धाऽविपर्यस्तबोधो देहात्मताक्षये । तद्वदात्मनि निर्णेतुमयमित्युच्यते पुनः ॥" इति ।

●

इंद्वाणि कल्पितत्वेन तद्व्यतिरेकेणाभावादिति भावः । द्वंद्वगदाः शीतोष्णमानापमानानि द्वन्द्वव्याधयः । संशयविपर्यासशून्यतया गुरूपदिष्टमहावाक्यात् ब्रह्मसाक्षात्कारे सत्यज्ञानतत्कार्यं विनश्यति; "तरतिशोकमात्मवित्" इति श्रुतेरिति भावः । तत्र स्कन्दपुराणवचनमप्युदाहरति—ब्रह्मेति । शिवेनापि बोधस्य पूर्णत्वावधिर्दर्शित इत्यनुषज्यते । तत्र आचार्यवचनमप्युदाहरति—उपदेशेति ॥२४॥

ग्रन्थान्तरसम्मतिमाह—अयमित्यादिना । परमप्रकृतमुपसंहरति—सर्वथेति । ततः किं ? तत्राह—तत इति । तं परमात्मानम् । विदित्वा ब्रह्मास्मीति साक्षात्कृत्य । मृत्युं संसारकारणमज्ञानम् । अत्येति अतिक्रामति नाशयतीत्यर्थः । शोकमिति संसारकारणमज्ञानमुपलक्ष्यते । सम्यक् प्रसीदत्यस्मिन् जीव इति संप्रासाद इति सुषुप्तिवाचकेद सम्प्रसादशब्देन तद्वान् जीवो लक्षणया प्रतिपाद्यते । अस्माच्छरीरात् स्थूलरूपात् । समुत्थाय विवेकेन तदभिमानं त्यक्त्वा । स्वेन रूपेण ब्रह्म अभिनिष्पद्यते । अयमर्थः—अहं ब्रह्मास्मीति स्वस्वरूपेण ब्रह्म साक्षात्कृत्य परं ज्योतिः सम्पद्यते परमात्मा भवतीति । यो ब्रह्मीभूतः सः उत्तमः पुरुषः उद्गतं निवृत्तं तमः अज्ञानं यस्यासावुत्तमः, अज्ञानतत्कार्य्यातीतः पुरुषः पूर्णः "नैतेन किञ्चनानावृतं नैतेन किञ्चनासंवृतमि"ति श्रुतेः । अयं नित्यापरोक्षस्वरूपः पुरुषः सर्वसाक्षी अहमस्मीति । आत्मानं प्रत्यगात्मानम् जानीयात् चेत् कश्चित् स किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेदिति सम्बन्धः । अत्र चेदिति ज्ञानाधिकारिणोऽत्यन्तदुर्लभत्वं सूचयति; "कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत्" इति श्रुत्यन्तरात् ।

●

तथा उक्त 'बोध' की पूर्णता के अवधि को स्कन्दपुराणस्थित ब्रह्मगीता में 'ब्रह्मा' को 'शिव' ने भी बताया है—मैं ही सम्पूर्ण जगद्रूप हूँ, मुझसे भिन्न कोई वस्तु नहीं है । इस प्रकार का जो 'सर्वात्मभाव' है, वही समस्त वेदों का परम तात्पर्य है, और हमारा भी यही अनुभव है । इस सर्वात्म भाव के विषय में किंचिन्मात्र भी संशय नहीं करना चाहिये ।

इसी सन्दर्भ में आचार्यवचन को भी उद्धृत कर रहे हैं—बोध की पूर्णता के अवधि को भगवत्पूज्यपाद आचार्य शंकर ने अपनी उपदेशसाहस्री में भी बताया है—जैसे अज्ञानी पुरुष को अपने 'देह' में 'अहं मनुष्यः'—इत्याकारक दृढ़ ज्ञान होता है, वैसे ही जिस पुरुष को 'प्रत्यगात्मा' में 'अहं ब्रह्मास्मि'—इस प्रकार का 'संशय तथा विपरीत भावनाओं' से रहित वृढ़ ज्ञान होता है, वही ज्ञान, 'देहात्मज्ञान' का नाशक होता है, अर्थात् देहात्मज्ञान की भ्रान्ति को नष्ट करता है । एवं च 'अहं ब्रह्मास्मि' इस सुदृढ़ज्ञान से सम्पन्न हुआ पुरुष 'मोक्ष' को न चाहते हुए भी 'मोक्ष' को अवश्य प्राप्त करता है ॥ २४ ॥

ग्रन्थान्तर की सम्मति को भी बताते हैं—"अयमस्मीति पुरुषः"—इस श्रुति के तात्पर्य प्रतिपादन के बहाने इस बोध की पूर्णता के अवधि को श्रीविद्यारण्य स्वामी ने भी 'तृप्तिदीप' प्रकरण में बताया है—लौकिक पुरुषों को अपने देहरूप आत्मा में जिस प्रकार संशय-विपरीत भावना से रहित 'मैं मनुष्य हूँ', 'मैं ब्राह्मण हूँ'—इस प्रकार का ज्ञान रहता है, उसी प्रकार मुमुक्षु पुरुष को भी अपनी लक्ष्यसिद्धि (मुक्ति प्राप्ति) के लिये 'प्रत्यगात्मा' में संशय-विपरीत भावना से रहित होकर 'अहं ब्रह्मास्मि'—मैं ब्रह्म हूँ—इत्याकारक 'बोध' ही सम्पादन करना चाहिये । उक्त निर्णय करने के लिये ही 'अयमस्मीति पुरुषः'—इस श्रुति में 'अयम्' पद का प्रयोग किया है, इत्यादि अनेक श्रुति-स्मृति-आचार्यवाक्यरूप प्रमाणों से 'बोध' की पूर्णता का अवधि बताया गया है । एवं च सर्वथापि श्रवण-मननादि के द्वारा 'आत्मब्रह्म साक्षात्कार' होता है । उस प्रकार के साक्षात्कार से 'ब्रह्मभावरूपा मुक्ति' होती है । अर्थात् विवेकादि साधनचतुष्टयसाधनसम्पन्न मुमुक्षु पुरुष को श्रवण-मनन-निदिध्यासन के द्वारा 'अहं ब्रह्मास्मि'—इत्याकारक ब्रह्मसाक्षात्कार होता है । उस ब्रह्मसाक्षात्कार से 'अविद्या' की निवृत्ति तथा ब्रह्मभावरूप मुक्ति होती है ।

शंका—ब्रह्मसाक्षात्कार से उस मुमुक्षु पुरुष को अविद्यानिवृत्तिपूर्वक ब्रह्मभावरूपा मुक्ति होती है—इसमें प्रमाण क्या है ?

समा०—इसमें श्रुति और स्मृति वचन ही प्रमाण है ।

सर्वथापि श्रवणादिनात्मब्रह्मसाक्षात्कारस्ततो[1] ब्रह्मभावलक्षणा मुक्तिर्भवतीति सिद्धम् । 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति" "तरति शोकामात्मवित्" "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति" "एवमेवैष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाऽभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः" ।

"आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः । किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ॥'

●

"मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चित् यतति सिद्धये । यततामपि सिद्धानां कश्चित् मां वेत्ति तत्त्वतः ॥"

इति भगवद्वचनाच्च । कृतं कृत्यं येनासौ कृतकृत्यः । एतत् कृतकृत्यत्वं विद्यारण्यश्रीपादैः प्रपञ्चितम् ।

"ऐहिकामुष्मिकव्रातसिद्धौ[3] मुक्तेश्च सिद्धये । बहु कृत्यं युगस्याभूत्[2] तत्सर्वमधुना कृतम् ॥

तदेतत् कृतकृत्यत्वं प्रतियोगिपुरस्सरम् । अनुसंदधते चायमेवं[4] तृप्यति नित्यशः ॥

दुःखिनोऽज्ञाः संसरन्तु कामं पुत्राद्यपेक्षया । परमानन्दपूर्णोऽहं संसरामि किमिच्छया ॥

अनुतिष्ठन्तु कर्म्माणि परलोकययियासवः । सर्वलोकात्मकः कस्मादनुतिष्ठामि किं कथम् ॥ व्याचक्षतां ते शास्त्राणि वेदानध्यापयन्तु वा । येऽत्राधिकारिणो मर्त्या[5] नाऽधिकारोऽक्रियत्वतः ॥

●

यह मुमुक्षु पुरुष 'अहं ब्रह्मास्मि'—इस प्रकार से उस परमात्मा (ब्रह्म) का साक्षात्कार करके संसार के कारणभूत अज्ञानरूप मृत्यु का नाश कर देता है, अर्थात् उस मृत्यु का अतिक्रमण करता है, तथा आत्मसाक्षात्कार करने वाला पुरुष, 'शोक' के पार हो जाता है। अर्थात् संसार के कारणीभूत अज्ञान का नाश कर देता है। ब्रह्मविदिति–ब्रह्म का साक्षात्कार करने वाला पुरुष 'ब्रह्मरूप' ही हो जाता है। एवमिति सम्प्रसाद नाम का जीव 'सम्यक्-प्रसीदति अस्मिन् जीव इति सम्प्रसादः'—इस निरुक्ति से सषुप्ति वाचक सम्प्रसाद शब्द से 'तद्वान् जीव' लक्षणा से बताया गया है। वह जीव, स्थूल शरीर के अभिमान को 'विवेक' के द्वारा त्याग करके अपने स्व-स्वरूप से सम्पन्न हो जाता है। अर्थात् 'अहं ब्रह्मास्मि' इस प्रकार स्व-स्वरूप में ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है, और परं ज्योतिःस्व-स्वरूप (परमात्मा = ब्रह्म) ही हो जाता है। जो मुमुक्षु पुरुष, ब्रह्मसाक्षात्कार करके ब्रह्मरूप हुआ है, वही 'उत्तम पुरुष' है। अर्थात् वही उत्तम है और वही पुरुष है। ब्रह्मसाक्षात्कार के द्वारा जिसका अज्ञानरूपतम, निवृत्त हो चुका हो, उसे ही 'उत्तम' कहा जाता है, और सर्वत्र पूर्ण जो हो, उसे 'पुरुष' कहा जाता है। आत्मानमिति—'नित्य अपरोक्षरूप तथा सर्वसाक्षी परमात्मा (ब्रह्म), मैं हूँ'—इस प्रकार से जब किसी पुरुष को प्रत्यगात्मा का साक्षात्कार होता है, तब वह ज्ञानी पुरुष, किस वस्तु की इच्छा करता हुआ, किस लिये अपने शरीर में सन्तप्त होगा? अर्थात् कभी सन्तप्त नहीं होगा। क्योंकि उसने सब कुछ पालिया है, वह 'पूर्णकाम, आप्तकाम' हो चुका है। 'आत्मानं चेत्' यहाँ 'चेत्' के प्रयोग से यह सूचित किया है कि 'अधिकारी ज्ञानी पुरुष' अत्यन्त दुर्लभ है। 'कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैच्छत्' यह भी एक श्रुति है, तथा भगवद्वचन (गी० ७।३) भी है कि हजारों मनुष्यों में से कोई विरला ही ज्ञान की सिद्धि के लिये (ज्ञान प्राप्ति के लिये) यत्न करता है, और ज्ञानसिद्धि के लिये प्रयत्न करने वाले उन सिद्ध मनुष्यों में से कोई एक-आध ही मुझ परमात्मा को यथार्थरूप से जान पाता है॥ इस 'कृतकृत्यता' को श्रीविद्यारण्य श्रीपादों ने बताया है। (टीकोक्त श्लोकों का क्रमशः यह अर्थ है—) तत्त्वज्ञान होने के पूर्व ऐहलौकिक सुख प्राप्ति और दुःख निवृत्ति के लिये कृषि-वाणिज्य आदि तथा पारलौकिक स्वर्ग प्राप्ति के लिये यज्ञ उपासना आदि, तथा मोक्षसाधनीभूत ज्ञान प्राप्ति के लिये श्रवण, मनन, निदिध्यासनादि अनेक प्रकार के कर्म करने पड़ते थे। किन्तु अब ज्ञानप्राप्ति होने पर तो उसे संसार सुख की इच्छा नहीं रही। अत एव ब्रह्मानन्द साक्षात्कार की सिद्धि उसे हो पाई है। इसलिये वे सब उसके द्वारा किये हुए के समान ही हैं, अब उसके लिये कोई कर्तव्य शेष बचा नहीं है।

इसप्रकार पूर्व की स्थिति का स्मरण कर अपनी कृतकार्यता को नित्य मन में लाकर वह सर्वदा ही तृप्त रहता है।

---

१. आत्म-पदं सोरीजपुस्तके नास्ति ।
२. सिद्धयै—इति तत्र पाठः ।
३. पुराऽस्याभूदिति तत्पाठः ।
४. अनुसन्दधदेवायमिति तत्पाठः ।
५. मे तु—इति पाठः ।

"यत्पूर्णानन्दैकबोधस्तद्ब्रह्माहमस्मीति कृतकृत्यो भवती"ति।

"एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारते"त्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यः॥ शेषोऽप्याह—

"वृक्षाग्राच्च्युतपादो यद्वदनिच्छन्नपि क्षितौ पतति।
तद्वद्गुणपुरुषज्ञोऽनिच्छन्नपि केवली भवति॥" इति॥ २५॥

॥ इति तत्त्वानुसन्धाने तृतीयः परिच्छेदः॥

●

निद्राभिक्षे स्नानशौचे नेच्छामि न करोमि च। द्रष्टारश्च कल्पयन्तु[1] किं मे स्यादन्यकल्पनात्॥
गुञ्जापुञ्जादि दह्येत नान्यारोपितवह्निना। नान्यारोपितसंसारधर्मान्नेवमहं[2] भजे।" इत्यादि।

एतत् ब्रह्मात्मतत्त्वम्। बुध्वा ब्रह्मास्मीति साक्षात्कृत्य। बुद्धिमान् कुशलः। तत्र शेषवचनमुदाहरति—शेषोऽपीति। तस्माद्विचारिततत्त्वमस्यादिवाक्यजन्यसाक्षात्कारेण नित्यनिरतिशयाखण्डैकरसानन्दब्रह्मभावलक्षणा मुक्तिर्भवतीति सिद्धम्॥ २५॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य-श्रीमत्स्वयंप्रकाशानन्दसरस्वती-पूज्यपाद-शिष्यभगवन्महादेवसरस्वती-विरचिते तत्त्वानुसंधानव्याख्यानेऽद्वैतचिन्ताकौस्तुभे तृतीयः परिच्छेदः॥

●

वह ज्ञानी पुरुष उपर्युक्त प्रकार से स्वयं को धन्य समझता है। अज्ञानी लोग, दुःखी होते हुए पुत्रादिकों की अपेक्षा करके यदि संसार करते हैं, तो भले ही करें। मैं तो परमानन्द से पूर्ण हूँ, अतः मुझे किसी भी वस्तु की इच्छा नहीं है। अतः मैं किसलिये संसार करूँ।

जिन्हें परलोक की इच्छा हो, वे यज्ञयागादि कर्मों का अनुष्ठान भले ही करें। मैं तो सर्वव्यापक हूँ, उस कारण मुझसे रहित (शून्य) कोई भी लोक नहीं है। तब मुझे कर्मानुष्ठान करने की आवश्यकता ही क्या है? जो अधिकारी हो वे, वेद-शास्त्रों का अध्ययन भले ही करें, तथा अध्यापन करें। मैं तो सर्वथैव अक्रिय हो गया हूँ, अतः उनके पढ़ने-पढ़ाने का मुझे अधिकार ही कहाँ है? निद्रा, भिक्षा, स्नान, शौच आदि कर्म करने की मैं इच्छा भी नहीं करता और उन्हें करता भी नहीं। देखनेवालों को 'मैं कर्म करता हुआ सा दीखता हूँ, तो भले ही उनको वैसा प्रतीत हो, उनको वैसा प्रतीत होने से मुझमें कौन सा अन्तर होना है? जिस प्रकार गुंजाओं की राशि को किसी के द्वारा अग्नि, कहे जाने पर भी वह गुंजाराशि दाहक नहीं बनती, उसी प्रकार 'मैं संसार करता हूँ'—इस प्रकार किसी दूसरे के द्वारा कहे जाने पर भी उस कथन का मुझे स्पर्श तक हो नहीं पाता। अपरिच्छिन्न आनन्दरूप जो ब्रह्म है, वह एक है तथा बोधरूप है, वह, मैं ही हूँ—इस ज्ञान से सम्पन्न होने वाला पुरुष वस्तुतः कृतकृत्य ही है।

भगवान् स्वयं गीता में बता रहे हैं—हे अर्जुन! 'अहंब्रह्मास्मि'—इस प्रकार 'ब्रह्मतत्त्व' का साक्षात्कार करके यह ज्ञानी पुरुष, 'बुद्धिमान्' कहलाता है तथा कृतकृत्य होता है। अर्थात् वही बुद्धिमान् है और वही कृतकृत्य भी है। 'ज्ञानी पुरुष', मेरा आत्मरूप ही है। अर्थात् मुझ परमेश्वर की 'आत्मा' है।

इसी अभिप्राय से शेष भगवान् भी कह रहे हैं—जैसे वृक्ष पर से गिरा हुआ पुरुष, भूमि पर गिरने की इच्छा नहीं करता, तथापि वह भूमि पर अवश्य ही गिरता है, उसी प्रकार आत्मसाक्षात्कार किया हुआ पुरुष, मोक्ष को न चाहता हुआ भी मोक्ष को अवश्य ही प्राप्त करता है। एवं च विचारित तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्य साक्षात्कार से नित्य निरतिशय अखण्डैकरस आनन्द ब्रह्मभावरूप मुक्ति तो उसे प्राप्त हो ही जाती है। अतः अनेक श्रौत-स्मार्त वचनों से बोधित ब्रह्मसाक्षात्कार से अविद्या की निवृत्ति तथा ब्रह्मभावरूप मुक्ति की प्राप्ति होती है—यह स्पष्ट किया गया।

इति 'साक्षात्कार' नाम्नी हिन्दी व्याख्या में तीसरा परिच्छेद समाप्त हुआ॥

---

१. द्रष्टारश्चेत्कल्पयन्तीति तत्पाठः।

२. धर्मविवमहमिति तत्पाठः। अत्रत्य पाठे ………… वरोहमित्यर्थः।

अथ चतुर्थः परिच्छेदः

सा च मुक्तिर्द्विविधा—विदेहमुक्तिर्जीवन्मुक्तिश्चेति ;

●

यच्चिन्तयाऽऽप्ताः परमात्मभावज्ञानतत्कार्यनिवर्तनेन ।
त्यक्तैषणाः संयमिनो महान्तस्तं कृष्णमाद्यं शरणं प्रपद्ये ॥ १ ॥

ब्रह्मसाक्षात्काराद्विदेहमुक्तिरेकैव भवति, न जीवन्मुक्तिः प्रमाणाभावात् । न च—"विमुक्तश्च विमुच्यते" "स जीवन्मुक्त उच्यते" "स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते" इत्यादि श्रुतिस्मृतिवचनानां सत्त्वात् कथं प्रमाणाभाव इति—वाच्यम्; तेषामन्यपरत्वात् ।

किञ्च, केयं जीवन्मुक्तिः—अज्ञाननिवृत्तिर्वा, ब्रह्मभावो वा, आहोस्वित् जीवदवस्थायां कर्तृत्वादिबन्धनिवृत्तिर्वा ? नाद्यः; विदेहमुक्तावतिव्याप्तेः । अतएव न द्वितीयः । नापि तृतीयः; जीवदवस्थायां भोगप्रदे प्रारब्धे कर्मणि सति कर्तृत्वादिबन्धनिवृत्तेरयोगात् ।

किञ्च कर्तृत्वादिबन्धः किं साक्षिणो निवार्यते, आहोस्विदहंकाराद्वा । नाद्यः, तत्त्वज्ञानेनैव वारितत्वात् । न द्वितीयः; भोगप्रदप्रारब्धकर्मणि सत्यहंकारगतस्य स्वाभाविकस्य कर्तृत्वादेः वारणायोगात् । न च—योगेन तदभिभव इति—वाच्यम् योगात् प्रारब्धस्य बलवत्त्वात् ।

●

तृतीय परिच्छेद के अन्त में बता चुके हैं कि 'ब्रह्मसाक्षात्कार' से 'मुक्ति' होती है । वह मुक्ति (१) जीवन्मुक्ति और (२) विदेहमुक्ति के भेद से दो प्रकार की होती है । परन्तु कतिपय ग्रन्थकार 'जीवन्मुक्ति' को स्वीकार नहीं करते । वे 'विदेह-मुक्ति' को ही स्वीकार करते हैं । उनके मत के खन्डनार्थं प्रथमतः उनके मत को बता रहे हैं—उनका कहना है कि 'ब्रह्म-साक्षात्कार' होने पर 'ज्ञानी पुरुष' को विदेहमुक्ति' की ही प्राप्ति होती है, 'जीवन्मुक्ति' नहीं होती है । क्योंकि 'जीवन्मुक्ति' के होने में कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है । तथा 'जीवन्मुक्ति' का कोई लक्षण करना भी सम्भव नहीं है । तथा 'जीवन्मुक्ति' के किसी साधन का होना भी सम्भव नहीं है । उसी तरह 'जीवन्मुक्ति' के किसी अधिकारी का होना भी सम्भव नहीं है । और 'जीवन्मुक्ति' का कोई फल (प्रयोजन) भी नहीं है एवं च 'जीवन्मुक्ति' के होने में न कोई प्रमाण है, न उसका कोई लक्षण ही है, और न उसकी प्राप्ति का कोई साधन है, और न उसका कोई अधिकारी है, तथा न उससे कोई प्रयोजन (फल) ही निष्पन्न होता है । किसी भी पदार्थ का अस्तित्व, लक्षण तथा प्रमाण पर ही निर्भर रहता है—'लक्षण-प्रमाणाभ्यां हि वस्तुसिद्धिः'—यह नियम सर्वत्र प्रसिद्ध ही है । अतः लक्षण तथा प्रमाण के न होने से 'जीवन्मुक्ति' को मान लेना उचित नहीं है । 'जीवन्मुक्ति' के विषय में किसी श्रुति या स्मृति का वचन भी उपलब्ध नहीं है, जिसे प्रमाणरूप में कहा जाय । अतः जीवन्मुक्ति को मान लेना अनुचित है ।

शङ्का—'विमुक्तश्च विमुच्यते', 'सजीवन्मुक्त उच्यते', 'स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते',—इत्यादि श्रुति-स्मृतियों के वचन ही 'जीवन्मुक्ति' के होने में प्रमाण है । अतः 'जीवन्मुक्ति' में प्रमाण का अभाव कहना असंगत है ।

समा०—उन 'श्रौत-स्मार्त वचनों' का ब्रह्मविद्या की स्तुति के द्वारा 'ब्रह्म' में ही तात्पर्य है । 'जीवन्मुक्ति' को बताने में उन वचनों का तात्पर्य नहीं है । अतः उन वचनों से 'जीवन्मुक्ति' की सिद्धि नहीं हो सकती ।

अब 'लक्षण' के न बन पाने से भी 'जीवन्मुक्ति' के अभाव को सिद्ध करते हैं । जीवन्मुक्ति के स्वरूप के विषय में अनेक वैकल्पिक प्रश्न उपस्थित किए जा सकते हैं—(१) 'अज्ञान की निवृत्ति' को 'जीवन्मुक्ति' कहते हैं अथवा (२) ब्रह्मभाव' को जीवन्मुक्ति कहते हैं ? अथवा (३) 'जीवित अवस्था में कर्तृत्व-भोक्तृत्वादिरूप बन्ध की निवृत्ति' को जीवन्मुक्ति कहते हैं ?

इन लक्षणों में के प्रथम लक्षण अथवा द्वितीय लक्षण को यदि स्वीकार करते हैं तो, वह सम्भव नहीं है, क्योंकि 'विदेह मुक्ति' में भी 'अज्ञान' की निवृत्ति, तथा 'ब्रह्मभाव' विद्यमान है ही । उस कारण दोनों लक्षणों की विदेहमुक्ति में अतिव्याप्ति होगी और अतिव्याप्ति दोष से दूषित हुआ 'लक्षण', अपने 'लक्ष्यभूत अर्थ' की सिद्धि करने में समर्थ नहीं रहता । अतः प्रथम-द्वितीय लक्षणों से 'जीवन्मुक्ति' को सिद्ध नहीं किया जा सकता ।

तत्र तत्त्वज्ञानिनो भोगेन प्रारब्धकर्मक्षये वर्तमानशरीरपातो विदेहमुक्तिः। तदुक्तं "भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा सम्पद्यते" इति ॥ १ ॥

•

किञ्च साधनाभावाच्च जीवन्मुक्तिर्न सिध्यति तत्त्वज्ञानस्य विदेहमुक्तिकारणत्वात्। न च—योगाभ्यास एव तत्साधनमिति—वाच्यम्; तस्य तत्त्वज्ञानसाधनत्वेनातत्साधनत्वात्।

"ज्ञानामृतेन तृप्तस्य नित्यतृप्तस्य योगिनः। नैवास्ति किञ्चित् कर्तव्यमस्ति चेत् न स तत्त्ववित् ॥"

"तस्य कार्यं न विद्यते," इति च साक्षात्कारोत्तरं कर्तव्यप्रतिषेधाच्च।

किञ्च ज्ञानिनो देहाभिमानशून्यस्य कर्तृत्वाभावेन कर्तव्यप्रवृत्त्यसम्भवेन तत्र अधिकारासम्भावात् सा न सम्भवति। नहि निरधिकारजीवन्मुक्तिसाधनाभ्यासः सम्भवति।

किञ्च प्रयोजनञ्च न पश्यामः तत्सिद्धेः। न च—ज्ञानरक्षादिकमेव तत्प्रयोजनमिति—वाच्यम्; प्रमाणजन्यज्ञानस्याज्ञाननिवर्तनक्षमस्य बाधकासक्तौ[1] तद्रक्षाया दुर्निरूपत्वात्, तपसोऽन्यफलत्वात्, विसम्वादाभावस्य समाध्यन्तर्भूततया ज्ञानासाधनत्वेन तत् फलत्वात् दुःखनाशसुखाविर्भावयोः ज्ञानफलत्वाच्च। तस्मात् प्रमाण-स्वरूप-लक्षण-साधनाधिकारि-प्रयोजनानां दुर्निरूपत्वात् जीवन्मुक्त्यभ्युपगमो निरर्थकः। तस्मात् तत्त्वज्ञानात् मुक्तिरेकरूपैवेति केचिद्वावदुकाः मन्यन्ते। तान्निराकर्तुंकामो मुक्तिं विभजते—सा चेति।

•

अब तृतीय लक्षण को यदि स्वीकार करते हैं, तो वह भी सम्भव नहीं है। क्योंकि जीवित अवस्था में भोग देने वाले 'प्रारब्ध कर्मों' के विद्यमान रहते उन 'कर्तृत्व-भोक्तृत्व' आदि बन्धों की निवृत्ति का होना सम्भव नहीं है। अतः 'गोरेकशफवत्त्वं' के समान 'असम्भव' दोष से दूषित होने के कारण 'तृतीय लक्षण' भी 'जीवन्मुक्ति' को सिद्ध नहीं कर पा रहा है।

किञ्च—अर्थात् जीवदवस्था में 'कर्तृत्वादि बन्धों' को 'साक्षीचैतन्य' से निवृत्त करते हो, अथवा 'अहङ्कार' से उसको निवृत्त करते हो।

यहाँ भी प्रथम पक्ष का स्वीकार करना सम्भव नहीं है, क्योंकि 'साक्षी चैतन्य' में वस्तुतः वह 'बन्ध' हैं ही नहीं। अपितु 'अन्तःकरण' के 'तादात्म्याध्यास' से उस बन्ध की प्रतीतिमात्र होती रहती है। जब भी आत्मसाक्षात्कार से तादात्म्याध्यास की निवृत्ति होती है, तभी उस आरोपित बन्ध की भी निवृत्ति हो जाती है। अतः साक्षी के बन्ध की निवृत्ति करने के लिए 'जीवन्मुक्ति' का सम्पादन करना व्यर्थ है।

उसी तरह द्वितीय पक्ष का स्वीकार करना भी सम्भव नहीं है। क्योंकि भोग प्राप्त करनेवाले 'प्रारब्धकर्म' के विद्यमान रहते 'अहंकारगत स्वाभाविक बन्ध' की निवृत्ति का होना सम्भव नहीं है। अर्थात् जिस धर्मी का जो 'स्वाभाविक धर्म' रहता है, वह स्वाभाविक धर्म, उस 'धर्मी' के विद्यमान रहते निवृत्त नहीं होता। जैसे अग्नि का 'उष्णत्व धर्म', तथा जल का 'द्रवत्व धर्म', अग्निरूप धर्मी तथा जलरूप धर्मी के विद्यमान रहते निवृत्त नहीं होता। वैसे ही 'अहंकार' का स्वाभाविक धर्म जो 'कर्तृत्व' आदि बन्ध है, वह भी 'अहंकाररूप धर्मी' के विद्यमान रहते निवृत्त नहीं होगा।

शङ्का—अहंकारगत 'कर्तृत्वादि बन्ध' का यद्यपि स्वरूपतः नाश नहीं होता, तथापि योगाभ्यास के द्वारा उस 'बन्ध' का अभिभव हो सकता है।

समा०—जैसे आत्मसाक्षात्कार (आत्मज्ञान) की अपेक्षा 'प्रारब्धकर्म' प्रबल होता है, वैसे ही योगाभ्यास की अपेक्षा भी प्रारब्धकर्म प्रबल होता है। और उस प्रारब्धकर्म का भोग, 'कर्तृत्वादि के अभिमान' के विना हो नहीं सकता। अतः प्रबल प्रारब्धकर्म के विद्यमान रहते उस योगाभ्यास के द्वारा 'कर्तृत्वादि बन्ध' का अभिभव हो नहीं सकेगा। उस कारण 'जीवित अवस्था में कर्तृत्वादि बन्ध की निवृत्ति को 'जीवन्मुक्ति' शब्द से नहीं कह सकते। इस प्रकार जीवन्मुक्ति का लक्षण बनना सम्भव नहीं है। एवं च जीवन्मुक्ति के न होने में उसके लक्षण का अभाव रहना ही एक कारण है।

अब जीवन्मुक्ति के साधन का अभाव रहने से भी जीवन्मुक्ति के अभाव को बता रहे हैं।

---

१. बाधकप्रसक्ताविति स्यात्।

द्वैविध्यमेवाह—विदेहेति। अयं भावः—जीवन्मुक्तेः स्वरूपः प्रमाण-साधन-फलान्यनुपदमेव निरूपयिष्यति। तत्तदाक्षेपाणां तत्तन्निरूपणावसरे समाधानं वक्ष्यामः। न चात्राधिकार्यसम्भवः; उत्पन्नब्रह्मसाक्षात्कारस्य चित्तविश्रान्ति कामयमानस्य विद्वत्संन्यासिनः तत्राधिकारित्वात्[1]। न च—निवृत्ताविद्यस्य ब्रह्मसाक्षात्कारेणाभिमानशून्यतया कर्तृत्वाभावेन कथं तत्राधिकार इति—वाच्यम्; ज्ञानेनावरणशक्तिमदज्ञाननाशेऽपि प्रारब्धानुसारेण विक्षेपशक्तिमदज्ञानस्य लेशशब्दवाच्यस्य सर्वैरवस्थानाभ्युपगमेन बाधितानुवृत्या विदुषो देहाभिमानेन कर्तृत्व सम्भवात्। न च—"तस्य कार्यं न विद्यते," "ज्ञानामृतेन तृप्तस्य" इत्यादिस्मृत्या विदुषः कृतकृत्यस्य कर्तव्यप्रतिषेधात् न कर्तव्यशेषाभ्युपगम इति—वाच्यम्; अकृतोपास्तेर्विदुषोऽविश्रान्तचित्तस्य कर्तव्यशेषसत्त्वेन

•

जीवन्मुक्ति को मानने वाले वादी से हम यह पूछते हैं कि 'जीवन्मुक्ति' का साधन 'आत्मज्ञान' है अथवा 'योग' है ?

यदि प्रथम पक्ष (विकल्प) को स्वीकार करते हैं, तो वह संभव नहीं है, क्योंकि 'आत्मज्ञान' तो 'विदेहमुक्ति' का ही 'साधन' है। वह 'जीवन्मुक्ति' का साधन नहीं है। 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्'—इस श्रुति ने तो 'आत्मज्ञान' से 'मुक्ति' की प्राप्ति बताई है। 'जीवनमुक्ति' की प्राप्ति नहीं बताई है। क्योंकि 'आत्मज्ञान' तो 'विदेहमुक्ति' का ही साधन है। अतः प्रथम पक्ष का स्वीकार करना संभव नहीं है।

उसी तरह द्वितीय पक्ष (विकल्प) का भी स्वीकार करना भी संभव नहीं है। क्योंकि जैसे 'श्रवणादिक'—आत्मज्ञान के साधन हैं, वैसे ही 'योग' भी 'आत्मज्ञान' का ही साधन है। उस कारण 'योग' को भी 'जीवन्मुक्ति' का साधन कहना संभव नहीं है। अतः द्वितीय पक्ष को भी स्वीकार नहीं कर सकते।

अब 'अधिकारी के अभाव के कारण भी 'जीवन्मुक्ति' का अभाव बता रहे हैं।

'जीवन्मुक्ति' का अधिकारी 'मुमुक्षु' तो हो नहीं सकता। अतः 'जीवन्मुक्ति' का अधिकारी 'ज्ञानी' पुरुष को ही कहना होगा। किन्तु वह भी संभव नहीं हो रहा है। क्योंकि शास्त्र के वचनों ने ज्ञानी पुरुष के लिये सभी कर्तव्यों का निषेध किया है।

यदि ज्ञानी पुरुष को 'जीवन्मुक्ति' का अधिकारी कहें तो उसे 'जीवन्मुक्ति' के साधनों को अवश्य करना होगा। अर्थात् उन साधनों का अनुष्ठान करना होगा। तब पूर्वोक्त निषेधक वचनों के साथ विरोध होगा।

किञ्च—देहाभिमान होने पर ही पुरुष, किसी कर्म का कर्ता हो सकता है, अन्यथा नहीं। ज्ञानी पुरुष तो 'देहाभिमान-शून्य होता है। उस कारण वह 'कर्तृत्व' से रहित है। अर्थात् वह किसी भी कर्म का कर्ता नहीं हो सकता। अतः उसमें 'कर्तृत्व' न रहने से उस ज्ञानी पुरुष की प्रवृत्ति, जीवन्मुक्ति के साधनों के अनुष्ठान में हो ही नहीं सकती। इसलिये 'ज्ञानी पुरुष' को 'जीवन्मुक्ति' में अधिकार का होना संभव नहीं है। और अधिकार प्राप्त हुए बिना जीवन्मुक्ति के साधनों का अनुष्ठान करना भी संभव नहीं है।

अब 'फल' (प्रयोजन) के अभाव के कारण भी 'जीवन्मुक्ति' के अभाव को बता रहे हैं।

जीवन्मुक्ति को मानने वाले वादी से हम यह पूछ रहे हैं कि 'जीवन्मुक्ति' का 'फल' (प्रयोजन) क्या है ? क्योंकि किसी फल प्राप्ति के विना 'मन्दपुरुष' की किसी कार्य में प्रवृत्ति नहीं होती है, तब बुद्धिमान् पुरुष की प्रवृत्ति, विना प्रयोजन के जाने कैसे होगी ? इसलिये जीवन्मुक्ति के सम्पादनार्थ पुरुषप्रवृत्ति के निमित्त 'जीवन्मुक्ति' का कोई प्रयोजन (फल) अवश्य बताना होगा। अतः बताइये कि क्या उत्पन्न हुए आत्मज्ञान का रक्षण, उस जीवन्मुक्ति का प्रयोजन है, अथवा 'दुःखनाश' उसका प्रयोजन है ? अथवा 'स्वरूप सुख' का आविर्भाव होना उसका प्रयोजन है।

इन तीन विकल्पों में से प्रथम विकल्प का स्वीकार कर संभव नहीं है, क्योंकि 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यरूप प्रमाणों

---

१. बुद्धया विशुद्धयेत्यादिगीतायां बुद्धिरध्यवसाय इति भाष्यस्य व्याख्याने 'अध्यवसायो ब्रह्मात्मत्वनिश्चय' इति वदन्नानन्दगिरिस्वामिनोऽपि ज्ञानिवे निष्ठोपायोपदेशं भगवतो मन्यते। निश्चयस्यापि संशयविपर्ययशून्यत्वं समिच्छन्ति। अत्र ज्ञानदाढर्यादार्ढ्याभ्यां प्रतिबद्धाप्रतिबद्धत्वाभ्यां वाऽविरोध उपपादनीयः। न च चित्तविश्रान्तिकामनानुपपत्तिः, क्षुधादिवत् सम्भवाद्भिक्षाटनादिवच्च तदुपायानुष्ठान सम्भवाद्। अत एव भोगकाले कदाचिन्मर्त्योऽस्मीत्यनुभूतिं स्वीचकाराचार्यो जीवन्मुक्तेव्रतरूपतामपवन् वस्तुस्थितिं विदधानः पञ्चदश्याम् (७.२४५–६)। किं च ज्ञाननिष्ठाप्राप्तेरितिकर्तव्यताविचारोऽयमिति न तर्केण निरसनीयः किन्तर्हि अनुष्ठेय इति। यस्त्वकर्तृत्वधीमान्न कुर्याद् न तं प्रति विधीयतेऽपीति।

निरंकुशकृतकृत्यत्वासंभवात्। न च—अकृतोपास्तेः विश्रान्तचित्तस्य ज्ञानमेव नास्ति इति—वाच्यम्; ज्ञानस्य प्रमाणवस्तुपरतन्त्रत्वेन सर्वसाधारणत्वात्, अन्यथा याज्ञवल्क्यकहोलादीनां तत्त्वज्ञानाभावप्रसंगात्। न चेष्टापत्तिः, तद्दृष्टान्तेनास्मदादेः कस्यापि ज्ञानसाधनश्रवणादौ प्रवृत्त्यभावप्रसंगात्। उदाहृतस्मृतेर्विश्रान्तचित्तज्ञानिविषयत्वात्। तस्मात् उत्पन्नब्रह्मसाक्षात्कारः चित्तविश्रान्ति कामयमानो विद्वत्संन्यासी जीवन्मुक्तिसाधनाभ्यासेऽधिकारीति मुक्तिविभागो युक्त इति संतोष्टव्यमायुषमतेति ॥ प्रथमोद्दिष्टां विदेहमुक्तिं निरूपयति—तत्रेति। तयोर्मध्य इत्यर्थः। तत्र सम्मतिमाह—तदुक्तमिति। "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये" इति वाक्यं विषयः। तत्र ज्ञानिनो वर्तमानदेहपाते वासनावशात् जन्मान्तरं भवति न वेति संशयः। तत्र तत्त्वज्ञानिनो

•

से उत्पन्न होने वाला, तथा 'अज्ञान' की निवृत्ति करने में समर्थ (अज्ञान निवारक) जो 'आत्मज्ञान' है, उसका कोई 'बाधक' नहीं है। यदि कोई 'बाधक' होता तो उससे 'रक्षा' करने का प्रसङ्ग प्राप्त होता। अतः 'आत्मज्ञान' का रक्षण करना,—यह प्रयोजन नहीं कहा जा सकता।

उसी प्रकार 'दुःखनाश' तथा 'सुखाविर्भाव' को भी जीवन्मुक्ति का 'प्रयोजन' नहीं कह सकते। क्योंकि वे दोनों ही 'आत्मज्ञान' से प्राप्त होते हैं। जो 'वस्तु', जिस साधन से प्राप्त होती है, वह वस्तु, उसी साधन का 'फल' कहलाती है। किसी अन्य साधन का फल, नहीं होती। दुःखनाश, तथा 'सुख' का आविर्भाव—ये दोनों 'आत्मज्ञान' के ही फल हैं, उस जीवन्मुक्ति के फल नहीं हैं। एवं च 'प्रमाण, स्वरूप, लक्षण, साधन, अधिकारी और प्रयोजन'—इन पाँचों के न रहने से 'जीवन्मुक्ति' को स्वीकार करना व्यर्थ ही है। अतः 'आत्मज्ञान' से एकमात्र 'विदेहमुक्ति' ही होती है, 'जीवन्मुक्ति' नहीं इस प्रकार कुछ वावदूकों का कथन है।

उनका निराकरण करने की इच्छा से ग्रन्थकार मुक्ति का विभाग बता रहे हैं—वह **'मुक्ति' दो प्रकार की होती है—(१) विदेहमुक्ति और (२) जीवन्मुक्ति।**

यद्यपि जीवन्मुक्ति के अनन्तर ही विदेहमुक्ति होती है, उस कारण प्रथमतः जीवन्मुक्ति को ही बताना उचित है, तथापि उसके विवादग्रस्त रहने से उसको सविस्तर कहना होगा। और विदेहमुक्ति में किसी प्रकार का विवाद न रहने से उसके बताने में विशेष प्रयास नहीं करना पड़ेगा इसलिये परिगणन में पहले विदेहमोक्ष कहा। आगे चलकर शीघ्र ही जीवन्मुक्ति के स्वरूप-प्रमाण-साधन-फल का निरूपण करेंगे। उस पर जो आक्षेप किये गये हैं, उनका समाधान भी तत्तत् निरूपण के प्रसङ्ग पर किया जायगा।

जीवन्मुक्ति प्राप्त करने का 'अधिकारी' कोई नहीं है'—यह कहना उचित नहीं है। क्योंकि चित्त की विश्रान्ति की की इच्छा रखने वाला ब्रह्मसाक्षात्कारसम्पन्न विद्वत्संन्यासी पुरुष, 'जीवन्मुक्ति' प्राप्त करने का अधिकारी है।

शंका—अविद्या रहित और ब्रह्मसाक्षात्कार हो जाने से अभिमान शून्य हो जाने के कारण उस ज्ञानी पुरुष में 'कर्तृत्व' का अभाव रहने से उसको उस जीवन्मुक्ति का अधिकारी कैसे कह सकते हैं? कर्तृत्व के न रहने से उसका तो जीवन्मुक्ति की प्राप्ति में अधिकार ही नहीं है।

समा०—ब्रह्मज्ञान (ब्रह्मसाक्षात्कार) के होने से आवरण शक्ति विशिष्ट अज्ञान का नाश हो जाने पर भी प्रारब्ध कर्म के अनुसार 'लेश' शब्दवाच्य विक्षेपशक्तिविशिष्ट अज्ञान का स्वीकार तो सभी ने किया है। अतः बाधिताऽनुवृत्ति से विद्वान् ज्ञानी पुरुष में भी देहाभिमान के रहने से उसमें 'कर्तृत्व' की संभावना की जा सकती है।

शंका—'तस्य कार्यं न विद्यते', 'ज्ञानामृतेन तृप्तस्य'—इत्यादि स्मृति के द्वारा कृतकृत्य हुए ज्ञानी पुरुष के लिये 'कर्तव्य' का निषेध किया है। अतः उसके लिये कोई कर्तव्य, शेष नहीं है, जो उसे करना हो। तब उसमें 'कर्तृत्व' की संभावना कैसे की जायगी?

समा०—उक्त आशंका ठीक नहीं है, क्योंकि जिसने उपासना नहीं की है उस विद्वान् ज्ञानी पुरुष के चित्त में विश्रान्ति नहीं होती, अर्थात् उसका चित्त 'अविश्रान्त' रहता है। उस कारण उसके लिए अभी 'कर्तव्य' करना 'शेष' है। उस पुरुष में अभी निरंकुश 'कृतकृत्यता' नहीं' हो पाई है।

शङ्का—उपासनारहित होने में अविश्रान्त चित्त वाले पुरुष को 'ज्ञान' ही नहीं हो पाया है, वह अज्ञानी ही है—यही क्यों न माना जाय?

अन्ये तु भाविशरीराऽनारम्भो विदेहमुक्तिः ।

●

ज्ञानेनाज्ञाने निवृत्तेऽपि यथा वासनावशात् प्रारब्धभोगः तथा भोगेन प्रारब्धक्षये वर्तमानदेहपाते वासनाबलादपूर्वदेहान्तरप्राप्तिलक्षणं जन्म भवत्येवेति प्राप्ते—अभिधीयते—भोगेन सुखदुःखानुभवेन इतरे प्रारब्धपुण्य पापे क्षपयित्वा नाशयित्वा । ब्रह्म सम्पद्यते अखण्डैकरसानन्दब्रह्मात्मनाऽवतिष्ठते, न देहान्तरप्राप्तिलक्षणं जन्म प्राप्नोति; कारणाभावात् तथाहि—ज्ञानेनाज्ञानसञ्चितकर्म्मणां नष्टत्वादागामिकर्मणामश्लेषात् भोगेन प्रारब्धकर्मणि प्रतिबन्धे नष्टे सवासनस्य विक्षेपशक्तिमदज्ञानस्यापि नष्टत्वात् ज्ञानी देहान्तरप्राप्तिलक्षणं जन्म न प्राप्नोति, किन्तु ब्रह्मैव सम्पद्यते । तथा च श्रुतिः—"तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये" इति ॥ १ ॥

ननु—अनेकजन्मप्रदप्रारब्धकर्मणि सति प्रथमजन्मनि तत्त्वज्ञानोत्पत्तौ जन्मान्तरं भवति न वा । आद्ये, ज्ञानस्य पाक्षिकत्वप्रसङ्गः । द्वितीये, "नाभुक्तं क्षीयते कर्म" इति शास्त्रविरोधः प्रसज्येतेति—चेत्,

●

समा०—'ज्ञान' तो 'प्रमाणवस्तु परतन्त्र' रहता है, उस कारण वह, 'सर्वसाधारण' होता है । अन्यथा याज्ञवल्क्य, कहोला आदिकों को भी 'तत्त्वज्ञान' नहीं था—यह कहना पड़ेगा । किन्तु ऐसा कहना, किसी को भी अभीष्ट नहीं होगा । अर्थात् कोई भी व्यक्ति उसे 'इष्टापत्ति' नहीं कहेगा । अन्यथा उसी दृष्टान्त से हम में से किसी की भी ज्ञानसाधनभूत श्रवण आदि में प्रवृत्त नहीं हो पाएगी । अतः पूर्वोदाहृत 'स्मृति' को 'विश्रान्तचित्त' वाले ज्ञानी पुरुष से सम्बन्धित समझना चाहिए । एवं च उत्पन्न ब्रह्मसाक्षात्कार से सम्पन्न और चित्त में विश्रान्ति की चाहनेवाला विद्वत्संन्यासी पुरुष, 'जीवन्मुक्ति' के साधनों के अनुष्ठान का अधिकारी है । इसी अभिप्राय से 'मुक्ति' का विभाजन करना उचित ही है ।

अब प्रथमतः कथित 'विदेह मुक्ति' को बता रहे हैं—

अर्थात् 'सूचीकटाहन्याय' से पहले 'विदेह मुक्ति' का निरूपण करना ही उचित प्रतीत हो रहा है ।

'अहं ब्रह्मास्मि'—इत्याकारक तत्त्वज्ञान—हुए पुरुष का भी भोग के द्वारा प्रारब्धकर्म जब नष्ट हो जाता है, तब उसके विद्यमान शरीर का जो नाश होता है, उसी को 'विदेह मुक्ति' का निरूपण अपने सूत्र में इस प्रकार किया है—कि ज्ञानी पुरुष सुख दुःख के अनुभवरूप भोग से पुण्य-पापरूप प्रारब्धकर्म का नाश करके जब शरीर नष्ट (पात) हो जाता है, तब वह अखण्ड-एकरस-आनन्द ब्रह्मरूप में स्थित होता है । पुनः उसे 'जन्म' की प्राप्ति नहीं होती । क्योंकि उस ज्ञानी पुरुष का उसे प्राप्त हुए आत्मसाक्षात्कार से 'अज्ञान' तथा 'संचितकर्म' नष्ट हो जाता है, और उस 'आत्मसाक्षात्कार' के प्रभाव से उस ज्ञानी पुरुष को क्रियमाण पुण्य-पापरूप कर्म का स्पर्श तक नहीं हो पाता । और प्रतिबन्धरूप प्रारब्धकर्म का 'भोग' से नाश होने पर वासनासहित विक्षेपशक्तिविशिष्ट 'अज्ञान' भी नष्ट हो जाता है । उस कारण 'जन्म' की प्राप्ति करानेवाले 'संचितकर्म' रूप कारण के अभाव में उस ज्ञानी पुरुष को पुनः जन्म की प्राप्ति नहीं होती । इस वर्तमानशरीर का पात (नाश) होने पर वह ज्ञानी पुरुष, 'निर्विशेष ब्रह्मरूप' ही हो जाता है । विदेहमुक्ति के इस स्वरूप को "तस्य तावदेवचिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये'—इस श्रुति ने भी बताया है) ।

इस विषयवाक्य को लेकर विचार किया जा रहा है । यहाँ पर संशय यह हो रहा है 'ज्ञानी पुरुष का वर्तमान देह का पतन (मृत्यु) होने पर वासनावशात् क्या 'जन्मान्तर (पुनर्जन्म) होता है अथवा नहीं होता है ?

यह संशय होने पर पूर्वपक्षी का कहना यह है कि 'ज्ञान' से तत्त्वज्ञानी का 'अज्ञान' निवृत्त होने पर भी जैसे वासनावशात् उसका 'प्रारब्धभोग' भुगतना होता है, वैसे ही 'भोग' से 'प्रारब्धक्षय' होने वर्तमानदेह का पात (मृत्यु) जब होता है, तब वासनाबलात् उसका अपूर्वदेहान्तरप्राप्तिरूप जन्म, भी अवश्य होता है—यह पूर्वपक्ष उपस्थित होनेपर उसके समाधानार्थ भगवान् सूत्रकार ने उपर्युक्त सूत्र से इस श्रुति को दोनों मोक्षों का प्रतिपादक बता दिया है ।

उस कारण श्रुति-सूत्रादिप्रमाणों से 'विदेहमुक्ति' के होने में कोई विवाद ही नहीं है ॥ १ ॥

शंका—अनेक जन्म प्राप्त करानेवाला 'प्रारब्धकर्म', जिनका विद्यमान रहता है, उन पुरुषों को प्रथम जन्म में 'तत्त्वज्ञान' (आत्मसाक्षात्कार) यदि हो जाता है, तो उनका पुनः 'दूसरा जन्म' होता है, अथवा नहीं ?

सा च तत्त्वज्ञानोत्पत्तिसमकालेव। ज्ञानेनाऽज्ञाने निवृत्ते सञ्चितकर्मणां नाशादागामिकर्मणामश्लेषाद्भोगेन प्रारब्ध-क्षयाच्छरीरान्तरान्तराऽऽरम्भकस्याऽसम्भवात् भाविशरीराऽनारम्भस्य ज्ञानसमकालत्वं युज्यते।

तदुक्तम्— "तीर्थे श्वपचगृहे वा नष्टस्मृतिरपि परित्यजन् देहम्।
ज्ञानसमकालमुक्तः कैवल्यं याति हतशोकः॥"

अत्र केचित्—यथा "यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकारणामि"त्यत्र देवादीनां देहान्तरप्राप्तावपि तत्त्वज्ञानस्य न बाधोऽस्ति स्वधिकारावसाने मोक्षश्च भवतीत्यभ्युपगतम्, तथात्रापि प्रमाणबलात् तत्त्वज्ञानोत्पत्तावपि प्रथमजन्मनि प्रारब्धकर्म-प्राबल्येन जन्मान्तरं भवति अज्ञानस्य बाधश्च भवति प्रारब्ध फलस्य ज्ञानाविरुद्धत्वात्। अन्यथा अधिकारिपुरुषाणामपि तथात्व-प्रसङ्गः। ततश्च ब्रह्मभावलक्षणो मोक्षोऽपि न विरुध्यते। अतो ज्ञानस्य न पाक्षिकत्वम्, न वा "नाभुक्तं क्षीयते कर्मेति" शास्त्र-विरोधः इति—वदन्ति॥

अपरे तु—"यस्तु विज्ञानवान् भवत्यमनस्कस्सदा शुचिः। स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते॥"
"य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिञ्च गुणैः सह। सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते॥"

इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यां तत्त्वज्ञानिनो जन्मप्रतिषेधात् तादृशप्रारब्धकर्मणि सति प्रथमजन्मनि श्रवणादौ सत्यपि ज्ञानं नोत्पद्यते, किन्तु चरमजन्मनि तत्त्वज्ञानमुत्पद्यते। तदुक्तम्—

"यस्येदं जन्म पाश्चात्यं तस्मिन्नेव महामते। विशन्ति विद्या विमला मुक्ता वेणुमिवोत्तमम्। इति।

कालिदासेनाप्युक्तम्—

"जन्तोरपश्चिमतनोः सति कर्मसाम्ये निश्शेषपाशपटलच्छिदुरा निमेषात्।
कल्याणि! देशिककटाक्षसमाश्रयेण कारुण्यतो भवति सा भववेददीक्षा॥" इति।

सर्वथापि, प्रारब्धक्षये ज्ञानी ब्रह्मात्मनाऽवतिष्ठत इति सिद्धमिति चतुर्थे निरूपितम्।

यदि प्रथम पक्ष का स्वीकार करते हैं तो 'तत्त्वज्ञान' को पाक्षिक कहना होगा, अर्थात् 'आत्मसाक्षात्कार', को 'जन्म निवृत्ति' का नियत हेतु, नहीं कहा जायगा।

यदि द्वितीय पक्ष को स्वीकार करते हैं, तो—फल भोगे विना अनन्त कल्पों में भी कर्म क्षीण नहीं होता—इस वचन के साथ विरोध होगा।

समा०—उक्त शंका का समाधान कुछ विद्वान् इस प्रकार करते हैं—अर्थात् सृष्टि के आरंभकाल में जगत् का व्यवहार चलाने के लिये परमेश्वर ने नियुक्त किये हुए जो देव आदि अधिकारी हैं, उनका जितने समय तक अधिकार रहता है, उतने ही काल तक उनकी स्थिति रहती है। उस काल (समय) के बीच में ही यदि किसी के 'वर' अथवा 'शाप' के कारण उस अधिकारी पुरुष को अन्यजन्म की प्राप्ति होने पर भी उसको हुए 'आत्मज्ञान' की निवृत्ति—नहीं होती। तथा अधिकारकाल के समाप्त होने पर अर्थात् स्थितिकाल के समाप्त होनेपर उसे 'मोक्ष' भी अवश्य प्राप्त होता है। एवंच जिस पुरुष को प्रथम जन्म में 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्य के प्रभाव से आत्मसाक्षात्कार हो जाता है। तदनन्तर उस प्रबल प्रारब्धकर्मवशात् जन्मान्तर की प्राप्ति होने पर भी उसके आत्मसाक्षात्काररूप ज्ञान की निवृत्ति नहीं होती। क्योंकि उस प्रारब्धकर्म का जो 'फल' है, वह उस आत्मज्ञान का विरोधी नहीं है।

यदि वह प्रारब्धकर्मफल, उस आत्मज्ञान का विरोधी होता, तो देवता जैसे अधिकारी—पुरुषों के आत्मज्ञान की भी उस प्रारब्धकर्म के फल निवृत्ति होनी चाहिये। उस देवता आदि अधिकारी पुरुष का पूर्व हुए आत्मज्ञान से ही ब्रह्मभावरूप मोक्ष भी निश्चित रूप से हो जाता है। अतः 'आत्मज्ञान' को 'पाक्षिक' (वैकल्पिक) भी नहीं कह सकते। इस प्रतिपादित व्यवस्था के पूर्वोक्त वचन के साथ कोई विरोध भी नहीं होता।

कुछ अन्य विद्वान् उक्त आशंका का—समाधान इस प्रकार से करते हैं—उनका कहना है कि अनेक स्मृति वचनों से ज्ञानी पुरुष के जन्म होने का निषेध प्रतीत हो रहा है। उस कारण यह स्पष्ट हो रहा है कि जिस पुरुष का प्रारब्धकर्म, उसकी अनेक जन्म प्राप्ति कराने का कारण है उस पुरुष को प्रथम जन्म में श्रवणादि उपायों से आत्मज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ है, अपितु—अन्तिम जन्म में ही उसे आत्मज्ञान होना है।

इति, एवं वर्णयांचक्रुः।

श्रवणादिभिरुत्पन्नसाक्षात्कारस्य विद्वत्संन्यासिनः कर्तृत्वाद्यखिलबन्धप्रतिभासनिवृत्तिर्जीवन्मुक्तिः।

भोगप्रदप्रारब्धप्राबल्येऽपि योगाऽभ्यासेन तदभिभवात्, प्रारब्धाऽपेक्षया योगाऽभ्यासस्य प्रबलत्वात्; अन्यथा पुरुषप्रयत्नवैयर्थ्येन चिकित्साशास्त्रमारभ्य मोक्षशास्त्रपर्यन्तस्याऽनारम्भप्रसङ्गात्। अतएव पुरुषप्रयत्नस्य साफल्यमाह वसिष्ठः—

"आ बाल्यादलमभ्यस्तैः शास्त्रसत्संगमादिभिः। गुणैः पुरुषयत्नेन सोऽर्थः सम्पाद्यते हितः॥" इति।

•

विदेहमुक्तौ पक्षान्तरमाह—अन्येस्त्विति। भाविशरीरानारम्भलक्षणाया विदेहमुक्तेर्ज्ञानसमकालत्वं कथमित्याशङ्क्याह—ज्ञानेनेति। तत्र सम्मतिमाह—तदुक्तमिति। क्रमप्राप्तां जीवन्मुक्तिं निरूपयति—श्रवणेति। जीवदवस्थायामिति शेषः। अन्यथा विदेहमुक्तावतिव्याप्तिः स्यात्। यदुक्तम्—भोगप्रापकप्रारब्धकर्मणि जाग्रति सति कर्तृत्वादिप्रतिभासस्यावश्यकत्वात्तस्य साक्षिणः सकाशात् तत्त्वज्ञानेन निवारितत्वात् जलगतद्रवत्ववदन्तःकरणनिष्ठस्य वारयितुमशक्यत्वात् वारणे प्रारब्धभोगायोगात् कर्तृत्वादिप्रतिभासनिवृत्तिः जीवन्मुक्तिरित्यसंगतम्—इति, तत्राह—भोगेति। तत्त्वज्ञानापेक्षया यथा प्रारब्धं प्रबलं तथा प्रारब्धापेक्षया योगाभ्यासस्य प्रबलत्वात्। तेन प्रारब्धभोगानुकूलकर्तृत्वादिप्रतिभासस्यात्यन्तिकनिवृत्त्यभावे तदभिभवो भवत्येव, तथाच न तु दोष इति भावः। विपक्षे दण्डमाह—अन्यथेति। न च—योगाभ्यासेन प्रारब्धप्रतिबन्धे "नाभुक्तं क्षयीते कर्म" इति शास्त्रविरोध इति—वाच्यम्; असति विरोधिनि तदुपपत्तेः। अन्यथा

"जन्मान्तरकृतं पापं व्याधिरूपेण बाधते। तच्छान्तिरौषधैर्दानैर्जपहोमार्चनादिभिः"॥

इति शास्त्रविरोधस्तवापि प्रारब्धकर्मण्यत्यन्तभक्तस्य प्रसज्येत्! तस्मात् प्रारब्धापेक्षया योगाभ्यासस्य प्रबलत्वात् तेन कर्तृत्वादिप्रतिबन्धप्रतिभासाभिभवरूपा जीवन्मुक्तिः सिध्यतीति न कोऽपि दोष इति भावः।

प्रारब्धापेक्षया योगाभ्यासस्य प्रबलत्वे प्रमाणमाह—अत एवेति। पुरुषप्रयत्नो द्विविधः—अशास्त्रीयः शास्त्रीयश्चेति तत्र पुरुषोऽशास्त्रीयेण पुंयत्नेन नरकं प्राप्नोति; तस्य रागद्वेषपूर्वकत्वात्। द्वितीयेन बाल्यमारभ्य शास्त्रसत्संगादिभिरभ्यस्तैर्गुणैः शान्त्यादिभिर्युक्तेन पुरुषप्रयत्नेन परमपुरुषार्थो हितः संप्राप्यते। तथाचोक्तम्—

"उच्छास्त्रं शास्त्रितं चेति पौरुषं द्विविधं स्मृतम्। तथोच्छास्त्रमनर्थाय परमार्थाय शास्त्रितम्॥"

इति।

•

ब्रह्मर्षि वसिष्ठ ने भी यही कहा है कि—

हे महामतिशालिन् राम! जिस पुरुष का जो—अन्तिम जन्म रहता है, उसी पुरुष में यह निर्मल ब्रह्मविद्या प्रवेश करती है, अर्थात् उसे ही यह निर्मल ब्रह्मविद्या प्राप्त होती है। जैसे उत्तम जाति के वेणुओं (बांसों) में ही मोती (मुक्ताफल) प्रवेश करते हैं।

महाकवि कालिदास ने भी इस बात का समर्थन किया है। निष्कर्ष यह है कि सर्वथापि प्रारब्धक्षय होने पर ज्ञानीपुरुष ब्रह्मभाव से ही स्थित रहा है।

कुछ विद्वानों का कहना है कि 'विदेह मुक्ति' का स्वरूप यह है—जन्मान्तर की प्राप्ति न होना अर्थात् भावी शरीर की अनारम्भकता को ही 'विदेहमुक्ति' 'ज्ञान' की उत्पत्ति के समकाल में ही होती है। अर्थात् जिस काल में आत्मज्ञान होता है; उसी काल में 'विदेह मुक्ति' होती है। क्योंकि आत्मज्ञान से 'संचितकर्म' का भी नाश हो जाता है। और संचित कर्म' ही 'भावी शरीर' का आरंभक होता है। उसकारण 'आत्मज्ञान' की उत्पत्ति के समय ही भावी शरीर का 'अनारम्भकत्व' रूप 'विदेहमुक्ति' का होना उपपन्न हो जाता है। इसी अभिप्राय को अन्य ग्रन्थों में भी कहा गया है—कि प्रयाग-काशी आदि तीर्थ क्षेत्र में अथवा चाण्डाल के घर में देहत्याग करनेवाला तथा सन्निपातादिदोषवशात् 'ब्रह्मात्मस्मृति' से शून्य रहता हुआ भी ज्ञानी पुरुष, मोक्ष (कैवल्य) को ही प्राप्त होता है। क्योंकि वह तत्त्वज्ञानी पुरुष, आत्मज्ञान के समकाल ही 'मुक्त' हो चुका है तथा समस्त शोकों से रहित हो चुका है। इस प्रकार विदेह मुक्ति का अभी तक निरूपण किया गया।

अब 'जीवन्मुक्ति' का निरूपण करते हैं—

वेदान्तश्रवण आदि के करने से ब्रह्मसाक्षात्कार सम्पन्न विद्वत्संन्यासी को 'जीवदवस्था' में 'कर्तृत्वभोक्तृत्वादिरूप समस्त बन्ध प्रतीति की जो निवृत्ति होती है, उसी को 'जीवन्मुक्ति' कहते हैं।

तत्र श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणवचनानि प्रमाणानि ।
विमुक्तश्च विमुच्यते" इति श्रुतिः ।
"यो जागर्ति सुषुप्तिस्थो यस्य जाग्रन्न विद्यते । यस्य निर्वासनो बोधः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥" इति वासिष्ठे ।

●

एवं जीवन्मुक्तिस्वरूपं निरूप्येदानीं तस्यां प्रमाणमाह"—तत्रेति । जीवन्मुक्तिः सप्तम्यर्थः । न च—श्रुत्यादीनां ब्रह्मण्येव तात्पर्यात् कथं तत्र प्रामाण्यमिति—वाच्यम्; ब्रह्मणि महातात्पर्येऽपि देवताधिकरणन्यायेन मानान्तराविरोधेऽन्यत्रावान्तरतात्पर्ये[1] बाधकाभावात् । अन्यथा "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" "श्रोतव्यो मन्तव्यः" इत्यादीनामप्रामाण्यं प्रसज्येत । तस्मात् यत्किञ्चिदेतत् । कठवल्लीवाक्यमुदाहरति—विमुक्तश्च विमुच्यते इति । यद्यपि ज्ञानात् पूर्वमपि रागादिभिर्मुक्तः; "शान्तो दान्त" इत्यादिश्रुत्या शमदमाद्युपेतस्य श्रवणाद्यधिकारावगमात्, तथापि ज्ञानात्पूर्वं रागद्वेषातिमुक्तिर्यत्नसाध्या, ज्ञानोत्तरन्तु योगाभ्यासेन वासनाक्षयमनोनाशयोर्दृढतरं सम्पन्नत्वेनाभासरूपस्य रागादेरप्यसम्भवात् रागद्वेषादिमुक्तिः स्वतः सिद्धा भवतीत्यतो विमुक्तः विशेषेण मुक्तः आत्यन्तिकरागद्वेषादिनिवृत्तिमानित्यर्थः । एतादृशो जीवन्मुक्त उच्यते । भोगेन प्रारब्धे कर्मणि क्षीणे वर्तमानदेहपाते भाविबन्धात् विशेषेण मुच्यते । यद्यपि प्रलयकाले कञ्चित्कालं भाविबन्धान्मुच्यते, तथापि नात्यन्तिकी तत्र मुक्तिरिति विशेषेण मुच्यत इत्युक्तम् । ज्ञानान्तरभोगेन प्रारब्धकर्मक्षये वर्तमानदेहपाते पुनर्देहान्तरसम्बन्धाभावात् । तस्मादियं श्रुतिः तत्त्वज्ञानोत्तरं विदेहमुक्तिविलक्षणायां कर्तृत्वादिबन्धप्रतिभासनिवृत्तिरूपायां जीवनन्मुक्तौ प्रमाणम् । तथा "तद्यथाऽहिनिर्ल्वयिनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीत एवमेवेदं शरीरं शेते" "अथायमशरीरोऽमृतः" "प्राणो ब्रह्मैव तेजं एवे"त्यादिश्रुतिस्तत्र प्रमाणत्वेनोदाहर्तव्या ।

●

शंका—'जीवन्मुक्ति' का उक्त लक्षण, संगत प्रतीत नहीं हो रहा है । क्योंकि भोग देने वाले 'प्रारब्ध कर्म' के विद्यमान रहते 'ज्ञानी पुरुष' को भी उन कर्तृत्वादि बन्धों की प्रतीति अवश्य ही होगी । क्योंकि उन कर्तृत्व, भोक्तृत्व की प्रतीति हुए बिना उस प्रारब्ध कर्म के फल का भोग होना संभव नहीं है ।

यद्यपि वह 'कर्तृत्वादि बन्ध', साक्षीभूत आत्मा का 'ज्ञान' होने से ही निवृत्त हो चुका है, तथापि जल के 'द्रवत्व' धर्म के समान अथवा अग्नि के उष्णत्व धर्म के समान वह 'कर्तृत्वादि बन्ध' रूप धर्म तो 'अन्तःकरण' का स्वाभाविक धर्म है । उस कारण 'अन्तःकरण' से उसका निवृत्त होना कदापि शक्य नहीं है । अतः 'कर्तृत्वादि समस्त बन्ध की निवृत्ति' को 'जीवन्मुक्ति' का लक्षण बताना उचित नहीं है ।

समा०—जैसे 'तत्त्वज्ञान' की अपेक्षा 'प्रारब्धकर्म' प्रबल होता है, वैसे ही उस प्रारब्धकर्म की अपेक्षा 'योगाभ्यास' प्रबल होता है । यद्यपि 'योगाभ्यास' से प्रारब्धभोगानुकूल 'कर्तृत्वादिबन्धप्रतीति' की 'आत्यन्तिकनिवृत्ति' नहीं होती, तथापि 'योगाभ्यास' के द्वारा उस 'कर्तृत्वादि बन्ध प्रतीति' का 'अभिभव' तो अवश्य होता ही है । उस कारण पूर्वोक्त 'जीवन्मुक्तिलक्षण' संगत है । उसे असंगत कहना उचित नहीं है ।

यदि प्रारब्धकर्म की अपेक्षा 'योगाभ्यास' को प्रबल न माना जाय तो 'पुरुषप्रयत्न' ही व्यर्थ हो जायगा । पुरुषप्रयत्न के व्यर्थ होने पर 'चिकित्साशास्त्र' से लेकर 'मोक्षशास्त्र' तक सभी शास्त्रों का आरंभ निष्फल हो जायगा ।

शंका—योगाभ्यास से 'प्रारब्धकर्म' प्रतिबन्ध मानने पर बिना भोगे कर्म की असमाप्ति बताने वाले वचन का विरोध उपस्थित होगा ।

समा०—'प्रारब्धकर्म' के विरोधी जो 'योगाभ्यास' हों, उनके अभाव में ही अर्थात् उनके विद्यमान न रहने पर ही उक्त वचन, सार्थक होता है । अभिप्राय यह है कि जो 'योगाभ्यास', जिस 'प्रारब्ध कर्म' का प्रतिबन्धक नहीं है, वह 'प्रारब्धकर्म' तो भोग के विना निवृत्त नहीं होगा । यदि किसी भी उपाय से जिस प्रारब्धकर्म का प्रतिबन्ध नहीं हो पाता, उस प्रारब्धकर्म में अत्यन्त श्रद्धा रखने वाले वादी को भी पूर्व जन्म में किये हुए पापकर्म, इस जन्म में ज्वारादिव्याधि के द्वारा दुःख देते हैं । उनकी शान्ति, औषधिसेवन, दान, जप, होम, अर्चना आदी से की जाती है । इत्यादि—शास्त्रवचन का विरोध होगा । अतः यह मानना होगा कि 'योगाभ्यास' से 'प्रारब्धकर्म' का अभिभव होना संभव है ।

---

१. अवान्तरेति महतोऽविरोधस्पष्टीकरणायाऽवान्तरस्य महद्विरोधायोगात्तच्छेषतयैव चोपयोगात् । एवं चावान्तरप्रकरणसिद्धस्य महदर्थतयैवावस्थानमिति स्थितिः । यथाहुराचार्याः 'प्रधानबुद्धिफलत्वाऽविरोधेनाऽवान्तरबुद्धिफलत्वम् अवान्तरतात्पर्यम्'; 'निरुपाधिकशेषिबुद्धिफलत्वं महातात्पर्यम्' इति निबन्धाख्यप्रमाणमालाटीकायां प्रकटार्थकृतः ।

"प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्। आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥"
इति गीतायाम्।

•

तत्र वसिष्ठवचनमप्युदाहरति—यो जागर्तीति। यः ब्रह्मविदिन्द्रियाणामुपरमाभावाज्जार्गात जाग्रदवस्थामनुभवति। इन्द्रियैरर्थग्रहणाभावात्सुषुप्तिस्थः। अतएवेन्द्रियैरर्थोपलब्धिर्जागरितमित्युक्तलक्षणजाग्रद्यस्य न विद्यते, यस्य निर्वासनः शुभाशुभ-वासनारहितो बोधः स्वस्वरूपाखण्डैकरसानन्दानुभवः स जीवन्मुक्त उच्यते इत्यर्थः।

भगवद्गीतासु द्वितीयाध्यायगतस्थितप्रज्ञलक्षणगतश्लोकमुदाहरति—प्रजहातीति। यदा यस्यामवस्थायाम् मनोगतान् त्रिप्रकारकान् बाह्याभ्यान्तरवासनामात्ररूपान् कामान् प्रजहाति सर्वात्मना परित्यजति। आत्मनि प्रत्यग्भूताखण्डैकरसानन्दे आत्मना योगाभ्यासपाटवेन वशीकृतमनसा वृत्तिरहितान्तःकरणेन स्वस्वरूपानन्दमनुभवन् संतुष्टः तदा तस्यामवस्थायां स्थिता प्रतिष्ठिता प्रज्ञायस्य स तथोक्तः।

•

किञ्च—'प्रारब्धकर्म' की अपेक्षा 'योगाभ्यासादि शास्त्रीय प्रयत्न' की प्रबलता भगवान् वसिष्ठ ने भी बताई है—

"आबाल्यादलमभ्यस्तः शास्त्रसत्सङ्गमादिभिः।
गुणैः पुरुषयत्नेन सोऽर्थः सम्प्राप्यते हितः ॥"

'पुरुष-प्रयत्न' दो प्रकार का होता है। एक 'अशास्त्रीय' और दूसरा 'शास्त्रीय'। श्रुति-स्मृति आदि के द्वारा जिसका निषेध किया गया हो, उसे 'अशास्त्रीय' प्रयत्न कहते है। जैसे—चोरी, हिंसा, आदि। और श्रुति-स्मृति आदि के द्वारा विधान किया हुआ 'प्रयत्न' शास्त्रीय कहलाता है। जैसे—यज्ञ, दान, जप, होमादि। अशास्त्रीय पुरुष प्रयत्न से मनुष्य, नरकगामी होता है। वसिष्ठ जी ने कहा है कि—बाल्यावस्था से किये गये अध्यात्मशास्त्र के सत्समागम के अभ्यास से शान्त-दान्त आदि गुणों से युक्त शास्त्रीय पुरुष प्रयत्न से मनुष्य, मोक्षरूप परमपुरुषार्थ को प्राप्त कर लेता है।

इस विवेचन से निष्कर्ष यही निकला कि योगाभ्यास रूप शास्त्रीय प्रयत्न से 'प्रारब्धकर्म' का अभिभव हो सकता है। अतः पूर्वोक्त 'कर्तृत्वादिबन्ध प्रतीति की निवृत्ति' रूप 'जीवन्मुक्ति' का लक्षण, निर्दुष्ट है।

इस प्रकार 'जीवन्मुक्ति' के स्वरूप का निरूपण कर दिया गया। अब उस जीवन्मुक्ति के विषय में प्रमाण बता रहे हैं—जीवन्मुक्ति के होने में श्रुति-स्मृति, इतिहास, पुराण आदि अनेकानेक वचन, प्रमाण हैं।

शंका—उपर्युक्त श्रुति आदिकों का 'ब्रह्म' में ही तात्पर्य रहने से जीवन्मुक्ति के विषय में उनको प्रमाण कैसे कहा जायगा ?

समा०—आप ठीक कह रहे हैं, तथापि श्रुत्यादिकों का महातात्पर्य 'ब्रह्म' में रहने पर भी देवताधिकरण न्याय से किसी अन्य प्रमाण का विरोध न रहने पर अन्यत्र अवान्तरतात्पर्य मानने में कोई बाधक नहीं बन सकता। अन्यथा "ब्रह्म वेद-ब्रह्मैव भवति", "श्रोतव्यो मन्तव्यः"—आदि वचनों को अप्रमाण कहना पड़ेगा। अतः आपकी शंका, अविचारित रमणीय ही है।

जीवन्मुक्ति के लिये कठवल्ली का वाक्य प्रस्तुत करते हैं—"विमुक्तश्च विमुच्यते" अर्थात् जीवित काल में मुक्त ही मरने पर भी मुक्त होता है। 'शान्तो दान्त'—इत्यादि श्रुति से 'शम-दमादि' गुणों से सम्पन्न पुरुष को ही 'श्रवण' आदि करने में अधिकार बताने से यद्यपि तत्त्वज्ञान के पूर्व से ही वह पुरुष, 'रागादि' कों से मुक्त हो गया है, तथापि 'तत्त्वज्ञान' के पूर्व जो 'रागद्वेषादिमुक्ति' होती है, वह प्रयत्न साध्य होती है। और तत्त्वज्ञानोत्तर तो योगाभ्यास के द्वारा 'वासनानाश' और 'मनोनाश' दृढ़तर हो जाने से राग-द्वेषादिका आभास तक होना संभव नहीं हैं, उस कारण 'राग-द्वेषादि' से मुक्ति तो 'स्वतः सिद्ध' हो जाती है, उसके लिये प्रयत्न को आवश्यकता नहीं है। अतः 'विमुक्त' का अर्थ, होगा 'विशेषेणमुक्तः' अर्थात् 'आत्यन्तिक राग-द्वेषादि-निवृत्तिमान्' 'पुरुष' जो हो, उसे 'जीवन्मुक्त' कहा जाता है। 'भोग' के द्वारा 'प्रारब्धकर्म' के क्षीण होने पर 'वर्तमान देहपात' जब होता है, तब 'भावी बन्ध' (भविष्यत्कालीन बन्ध) से विशेषतया मुक्त हो जाता है। यद्यपि 'प्रलयकाल' में भी कुछ समय तक के लिये 'भावी बन्ध' से मुक्त रहता है, तथापि वह 'मुक्ति' आत्यन्तिकी नहीं है, इसलिये 'विशेषेण मुच्यते' कहा है। क्योंकि

"अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च। निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी ॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः। मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥"

●

प्रज्ञा द्विधा स्थिराऽस्थिरा चेति। जन्मान्तरीयपुण्यपुञ्जपरिपाकेनाकाशफलपातन्यायेन तत्त्वमस्यादिवाक्यश्रवणमात्रेण ब्रह्मात्मैक्यगोचरमहं ब्रह्मास्मीतिज्ञानमुत्पद्यते, तत्र गृहकृत्यादिव्यासंगेन पुनर्विस्मर्यते। यद्वा पुनर्योगाभ्यासेनात्यन्तं वशीकृतचित्तस्य जारानुरक्तायाः जारमिव बुद्धिस्तत्त्वमेव निरन्तरं धावति सेयं स्थिरप्रज्ञा। एतदभिप्रायेणोक्तं वसिष्ठेन—

"परव्यसनिनी नारी व्यग्रापि गृहकर्मणि। तदेवाऽऽस्वादत्यन्तः परसङ्गरसायनं ॥
एवं तत्त्वे परे शुद्धे विश्रान्तिमागतः। तदेवास्वादयत्यन्तः बहिर्व्यवहरन्नपि ॥ इति।

अयं स्थिरप्रज्ञ एव जीवन्मुक्त इत्यर्थः। तत्र द्वादशाध्यायवचनमप्युदाहरति—अद्वेष्टेति।

●

तत्त्वज्ञान होने के बाद, 'भोग' के द्वारा 'प्रारब्धकर्म' का क्षय होने पर जब वर्तमान शरीर का पात हो जाता है (मृत्यु होती है) तदनन्तर पुनः अन्य शरीर सम्बन्ध (अन्य शरीर प्राप्ति) नहीं होता। अत एव वह 'विमुक्त' कहलाता है।

एवं च उक्त श्रुतिवचन ने यह बता दिया है कि 'तत्त्वज्ञान' के अनन्तर जो 'जीवन्मुक्ति' है, वह 'विदेहमुक्ति' से भिन्न है। यह 'जीवन्मुक्ति'—'कर्तृत्वादिबन्धप्रतिभासनिवृत्तिरूप' है। इस प्रकार जीवन्मुक्ति के होने में 'श्रुतिप्रमाण' को बताया हैं। इस तरह अन्यान्य श्रुतिवचन भी प्रमाण के रूप में दिये जा सकते हैं।

भगवान् वसिष्ठ ने भी 'जीवन्मुक्ति' के अस्तित्व का समर्थन यों किया है—जो ब्रह्मज्ञानी पुरुष इन्द्रियों का उपरम न होने के कारण (इन्द्रियों का लय न होने से) जागता है, अर्थात् जाग्रदवस्था का अनुभव करता है, किन्तु जाग्रदवस्था में भी चक्षुरादि इन्द्रियों से 'रूपादि विषयों' का ग्रहण नहीं करता है, उस कारण वह ब्रह्मज्ञानी पुरुष उस जाग्रदवस्था में स्थित रहता हुआ भी वह 'सुषुप्ति' में ही स्थित समझा जाता है। उस कारण ही 'इन्द्रियों' से 'पदार्थज्ञान' रूप जाग्रदवस्था, जिस 'ब्रह्मज्ञानी' की नहीं कही जाती, और जो 'ब्रह्मज्ञानी' अपने अखण्ड-एकरस आनन्द का अनुभव, शुभाशुभ समस्त वासनाओं रहित होकर करता रहता है, उस ब्रह्मज्ञानी को 'जीवन्मुक्ति' कहा जाता है।

किञ्च—श्रीमद्भगवद्गीता के द्वितीय अध्याय में स्वयं भगवान् उस जीवन्मुक्त को 'स्थित प्रज्ञ' के नाम से बता रहे हैं—हे अर्जुन! जिस अवस्था में यह ज्ञानी पुरुष, मन में स्थित तीन प्रकार के बाह्य आभ्यन्तर वासनामात्ररूप समस्त कामनाओं का (इच्छाओं का) सर्वात्मना परित्याग कर देता है, और अखण्ड एकरस आनन्दरूप असङ्ग आत्मा में योगाभ्यास की पटुता के द्वारा वश किये हुए मन से अर्थात् वृत्तिरहित अन्तःकरण से अपने आनन्द स्वरूप का अनुभव करता हुआ सन्तुष्ट रहता है, अर्थात् उस अवस्था में ही जिसकी 'प्रज्ञा' प्रतिष्ठित (स्थित) रहती है, उसे ही 'स्थित प्रज्ञ' कहा जाता है। निष्कर्ष यह है कि 'अहं ब्रह्मास्मि' इस प्रकार की 'प्रज्ञा' (निश्चित बुद्धि) जिसकी हो, उसे 'स्थितप्रज्ञ' कहा गया है।

'प्रज्ञा' दो प्रकार की होती है—(१) स्थिर प्रज्ञा और (२) अस्थिर प्रज्ञा। जन्म-जन्मान्तरों के 'पुण्य समूह' के परिपाक से आकाश से गिरे हुए 'फल' के समान 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य के श्रवणमात्र से इस 'पुरुष' को 'जीव-ब्रह्मैक्य' को विषय करने वाला जो 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारक 'ज्ञान' उत्पन्न होता है, वह (ज्ञान), गृहकृत्यादिव्यासंग के कारण पुनः पुनः विस्मृत होता रहता है। अर्थात् व्यवहार की बहुलता के कारण तथा विषयों में आसक्ति रहने के कारण 'अहं ब्रह्मास्मि' अर्थात् जीव ब्रह्मैक्य ज्ञान का विस्मरण हो जाता है। अतः उस 'बुद्धि' को 'अस्थिरप्रज्ञा' कहा गया है। ऐसे अस्थिर प्रज्ञा वाले पुरुष को 'अस्थिरप्रज्ञ' कहते हैं। और योगाभ्यास के द्वारा अपने चित्त (मन) को जिसने वश (अधीन) कर लिया है, उस पुरुष की 'बुद्धि',—जारानुरक्त (परपुरुषासक्त) जारिणी स्त्री की बुद्धि के समान निरन्तर 'ब्रह्मात्मैक्य' का ही चिन्तन करती रहती है, अन्य वस्तु का चिन्तन नहीं करती, तब उस 'बुद्धि' को 'स्थिरप्रज्ञा' कहा गया है। उस 'स्थिर प्रज्ञा वाले पुरुष' को 'स्थिर-प्रज्ञ' कहते हैं।

भगवान् वसिष्ठ ने भी इसी अभिप्राय को व्यक्त किया है—परपुरुषासक्त नारी, घरेलू सब काम-काज करती हुई भी अपने मन में परपुरुषसंगजन्य सुख का ही निरन्तर चिन्तन करती रहती है, उसी प्रकार जिस ज्ञानी पुरुष का मन 'विशुद्ध

इत्यत्र जीवन्मुक्तः भक्त उच्यते।

'प्रकाशञ्च प्रवृत्तिञ्च मोहमेव च पाण्डवे" त्यारभ्य "गुणातीतः स उच्यते" इत्यन्तेन जीवन्मुक्तो दर्शितः।

•

ननु—अनेन वचनेन भगवद्भक्तः प्रतिपाद्यत इत्याशङ्क्याह—अत्रेति। ननु एवं साधकोऽपि यथोक्तगुणविशिष्टः, "शान्तो दान्तः" इत्यादि श्रुतेः। ततो जीवन्मुक्तस्य को विशेषः इति ? उच्यते—अस्त्येव विशेषस्तयोः, साधकस्य अद्वेष्टृत्वादयो गुणाः यत्नसाध्याः जीवन्मुक्तस्य स्वभावसिद्धा इति ततो विशेषः। तदुक्तम्—

"उत्पन्नात्मैक्यबोधस्य ह्यद्वेष्टृत्वादयो गुणाः। अयत्नतो भवन्त्यस्य न तु साधनरूपिणः।" इति॥

तत्र चतुर्दशाध्यायगतगुणातीतलक्षणमप्युदाहरति—प्रकाशञ्चेत्यादि।

"प्रकाशञ्च प्रवृत्तिञ्च मोहमेव च पाण्डव। न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति॥
उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते। गुणा वर्तन्त इत्येवं योऽवतिष्ठति नेङ्गते॥
समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः। तुल्यप्रियाप्रियो धीरः तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥
मानापमानयोस्तुल्यः तुल्यो मित्रारिपक्षयोः। सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥"

•

परमात्मतत्त्व' में विश्रान्तिसुख का निरन्तर अनुभव कर रहा है, वह, लौकिक-वैदिक बाह्यव्यवहारों को करता हुआ भी अपने चित्त (मन) में उस परमात्मतत्त्व का ही निरन्तर चिन्तन करता रहता है।

किञ्च—श्रीमद्भगवद्गीता के बारहवें अध्याय में भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र प्रभु ने उस 'जीवन्मुक्त पुरुष' को ही 'भगवद्भक्त' के नाम से सम्बोधित किया है—(गीता, अ० १२।१३–१४) जो पुरुष, किसी प्राणी से द्वेष नहीं करता, तथा सभी को अपना 'मित्र' समझता है, और सभी पर 'करुणा' (दया) करता है, तथा 'अहं, मम'—अर्थात् 'मैं', और 'मेरा'—इत्याकारक अभिमान से शून्य (रहित) रहता है, और 'सुख-दुःख' को समान समझता है, तथा अपराधी को भी जो 'क्षमा' कर देता है और सर्वदा 'सन्तुष्ट' रहता है, अपने 'मन' पर जो 'निग्रह' रखता है, तथा जिसका 'निश्चय' सुदृढ रहता है, और जिसने अपने 'मन' तथा 'बुद्धि' को 'परमात्मा' के अर्पण कर दिया है, ऐसा जो मेरा 'भक्त' हो, वही मुझे (मुझ परमात्मा को) 'अत्यन्त प्रिय' लगता है, अर्थात् वही, मुझे प्यारा है।

शंका—उक्त गीतावचन में भगवत्प्रतिपादित जो—'अद्वेष्टृत्वादिक' गुण हैं, वे गुण तो साधक मुमुक्षु में भी 'शान्तो दान्तः'—इस श्रुति ने बताये हैं। अतः 'साधक मुमुक्षु' से उस 'जीवन्मुक्त पुरुष' में क्या अन्तर है ?

समा०—'साधक मुमुक्षु' में वे 'अद्वेष्टृत्वादिक गुण',—प्रयत्नसाध्य होते हैं। और 'जीवन्मुक्त' (स्थिरप्रज्ञ) पुरुष में वे 'अद्वेष्टृत्वादिगुण' स्वभावसिद्ध होते हैं। उस कारण 'साधक मुमुक्षुपुरुष' की अपेक्षा उस 'जीवन्मुक्त पुरुष' में यही विशेषता (अन्तर) है। उक्त तथ्य को नैष्कर्म्यसिद्धि (४. ६९) में कहा है 'अहं ब्रह्मास्मि'—इत्याकारक बोध प्राप्त हुए पुरुष को वे 'अद्वेष्टृत्वादिक गुण' बिना प्रयत्न के ही (अनायास ही) विद्यमान रहते हैं। 'मुमुक्षु पुरुष' की तरह वे साधनरूप नहीं होते, अर्थात् उन गुणों को अपने में उतारने के लिये उसे प्रयत्न (अभ्यास) नहीं करना पड़ता।

किञ्च—उस 'जीवन्मुक्त पुरुष' को ही भगवान् ने गीता के चौदहवें अध्याय में 'गुणातीत' शब्द से बताया है—उक्त अध्याय का सन्दर्भ यह है कि अर्जुन ने भगवान् से तीन प्रश्न (गीता १४।२१) किये हैं। अर्जुन भगवान् से पूछ रहा है कि हे भगवान् ! 'सत्त्वादि' तीन गुणों का अतिक्रमण कर ब्रह्मस्वरूप से स्थित रहनेवाला यति, किन लक्षणों से जाना जाता है ? वह किस तरह का आचरण करता है ? तथा किस उपाय से उन तीन गुणों का अतिक्रमण करता है ?

इन तीनों प्रश्नों के उत्तर, भगवान् स्वयं अपने श्रीमुख से दे रहे हैं—हे अर्जुन ! तुम्हारे प्रथम प्रश्न का उत्तर तो यह है—सत्त्वादि गुणों का और उनके कार्यों का स्वयं अविषय होकर, उन दोनों का 'चिद्वृत्ति' से सम्यक्तया अतिक्रमण कर जो 'ब्रह्म' में ही सदा ब्रह्मस्वरूप से स्थित रहता है, वह गुणातीत ब्रह्मविद् यति, 'प्रकाश, प्रवृत्ति, तथा मोह', जो 'सत्त्व, रजस् और तमस्' के कार्य कहलाते हैं—के प्राप्त होने पर भी उनसे द्वेष नहीं करता। क्योंकि उनका विषय 'चिदाभास' है। अपना

"निराशिषमनारम्भं निर्नमस्कारमस्तुतिम् । अक्षीणं क्षीणकर्माणं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥"

इति महाभारते ।

●

इति । गुणात्ययसाधनं भक्तियोगमप्याह—

"मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते । स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ इति ।

तत्र भारतवचनमप्युदाहरति—निराशिषमिति ।

तत्र स्कन्दपुराणवचनमप्युदाहरति—यथेति । मयि अन्तःकरणोपलक्षितप्रत्यगात्मनि मायाविजृंभितः कल्पितः । मायात्वं नाम निरूपयितुमशक्यत्वे सति विस्पष्टं । भासमानत्वम् । तदुक्तम्—

"न निरुपयितुं शक्या विस्पष्टं भासते च या । सा मायेतीन्द्रजालादौ लोकाः सम्प्रतिपेदिरे ॥"

●

उनसे 'सम्बन्ध' नहीं है । अतः किञ्चिन्मात्र भी विक्षेप को प्राप्त नहीं होता । अर्थात् विक्षेपकारण गुण कार्यों के प्राप्त होने पर भी द्वेष का अभाव गुणातीत का अन्तर लिङ्ग स्वप्रत्यक्ष है ।

शंका—गुणातीत विद्वान् सत्त्वादि गुणों के कार्यों के प्रवृत्त होने पर यदि द्वेष नहीं करता और उनकी निवृत्ति नहीं चाहता, तो सब मिथ्या ही है, ऐसा समझकर तत्-तत् गुणों की वृत्ति के अनुसार क्या यथेष्ट आचरण करता है ?

समा०—ऐसी शंका करना उचित नहीं है, क्योंकि उसकी प्रवृत्ति की हेतु वासनात्मक अविद्या, कार्य के साथ, निर्विकल्प समाधिरूप अग्नि से जल चुकी है । अतः वैदिक-लौकिक और अन्य स्थान में उसकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती, किन्तु स्वानन्द के अनुभव से आत्मरूप ब्रह्म में निश्चय ही स्थित रहता है, किञ्चित् भी विकार को प्राप्त नहीं होता ।

वादी और प्रतिवादी दोनों में से किसी एक के पक्ष का अवलम्बन न कर उन दोनों के व्यापार को तटस्थरूप से देखने वाला पुरुष 'उदासीन' कहलाता है । उस उदासीन के समान ही विषयों में प्रवर्तक प्रकाश, दया, दाक्षिण्य, सत्य, विनय, राग, द्वेष, लोभ, मोह आदि 'सत्त्वादि गुणों' का तथा प्रवर्त्य देह, इन्द्रिय आदि और उनके व्यापारों का द्रष्टा, स्वयं उदासीन के समान उनके और उनके व्यापारोंके साक्षीरूप से दूर वर्तमान जो विद्वान्, 'प्रकाश' आदि सात्त्विक गुणों से, 'रागादि' राजस गुणों से, और 'मोह' आदि तामस गुणों से विचलित नहीं होता, अर्थात् आत्मनिष्ठा से विचलित नहीं होता है, जैसे बाह्य वासनाओं से बँधा हुआ पुरुष, उनसे विचलित होता है, वैसे यह पुरुष 'ब्रह्माकारवृत्ति' से विचलित नहीं किया जा सकता ।

शंका—यदि ऐसा है तो देहयात्रारूप कर्म में यह विद्वान् कैसे प्रवृत्त होता है ?

समा०—चिरकाल तक नित्य (निरन्तर) निर्विकल्पक समाधिनिष्ठा से निश्चल प्रज्ञावाला जो संसिद्ध है वही 'ब्रह्मवित् यति' है । 'गुण' (देह, इन्द्रिय आदि) ही 'फल' का अनुभव करनेवाले कर्म से 'काल' के अनुसार प्रेर्यमाण होकर गुणों (विषयों) में प्रवृत्त होते हैं, अर्थात् भोजनादि क्रिया करते हैं, किन्तु उनका तथा उनके व्यापारों का—'साक्षी प्रत्यग्रूप मैं' तो प्रवृत्त नहीं होता, सदा निष्क्रिय ही रहता हूँ, अर्थात् ब्रह्माकार वृत्ति से 'ब्रह्म' में ही सदा (ब्रह्मस्वरूप से) स्थित रहता हूँ । मैं स्वयं 'गुणों' से तथा गुणों के कार्यों से किञ्चिन्मात्र भी नहीं हिलता । 'मैं कर्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ, मेरा यह भोग्य है,—इस प्रकार कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि का अध्यास नहीं करता । ये लक्षण जिसमें विद्यमान होते हैं, वही 'ब्रह्मवित्तम' है, वही 'गुणातीत' है—ऐसा कहा जाता है । निष्कर्ष यह है—विषयों में देह, इन्द्रिय आदि के प्रवृत्त होने पर भी 'औदासीन्य' और 'अविकारित्व' ही विद्वान् के 'गुणातीत' होने में 'लिङ्ग' है । इस प्रकार 'किमाचारः' इस प्रश्न का उत्तर भी भगवान् ने दे दिया ।

शंका—'देह, इन्द्रिय' आदि के होने पर (स्वस्थता की दशा में) 'गुणों' के द्वारा यद्यपि स्थितप्रज्ञ, 'आत्मनिष्ठा' से विचलित नहीं होता, तथापि आध्यात्मिक, आधिभौतिक दुःख के और निन्दा आदि अनर्थ के प्राप्त होने पर गुणों द्वारा 'निष्ठा' से विचलित पुरुष, खेद-मोह आदि को भोगता ही है ।

समा०—उक्त शंका ठीक नहीं है, क्योंकि बाह्य सुख-दुःखादि का और निन्दा-स्तुति का विषय 'अनात्मा' ही है । 'मैं'—निर्विशेष, निराकार, चिदेकरस 'आत्मा' ही हूँ । इस प्रकार की बुद्धि की निश्चलता से बाह्य सुख-दुःखादि की अवस्था में में भी अपनी आत्मा में ही स्थित होता है, 'अनात्मा' में 'अहं-मम' अर्थात् 'मैं'-मेरा'—इस प्रकार मूढ के समान अध्यास नहीं

"यथा स्वप्नप्रपञ्चोऽयं मयि मायाविजृम्भितः। एवं जाग्रत्प्रपञ्चोऽयं मयि मायाविजृम्भितः ॥" इति[1]।

इति। तस्माज्जीवन्मुक्तौ श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणां प्रमाणानां सम्भवाज्जीवन्मुक्तिरवश्यं विदेहमुक्तिवदस्त्येव। तदुक्तम्—"जीवन्मुक्तिस्तावदस्ति प्रतीतेः द्वैतच्छायारक्षणायास्ति लेशः। अस्मिन्नर्थे स्वानुभूतिः प्रमाणमि"ति ॥

यदुक्तम्—साधनाऽनिरूपणाज्जीवन्मुक्तिरनुपपन्नेति, तत्राह—सेयमिति। तत्त्वज्ञानञ्च वासनाक्षयश्च मनोनाशश्च तत्त्वज्ञान-वासनाक्षय-मनोनाशाः तेषामभ्यासः यत्नतः पुनः पुनरावर्तनं तस्माज्जीवन्मुक्तिः यथोक्तस्वरूपा सिद्ध्यति। तत्रापि तत्त्वज्ञानवासनाक्षयमनोनाशानां समकालाभ्यासोऽपेक्षतः अन्वयव्यतिरेकाभ्यां तेषां परस्परहेतुत्वात्। तथाहि—दृश्यमानस्य सर्वस्य मिथ्यात्वेनाद्वितीयात्मनः पारमार्थिकत्वेनात्मैव सर्वं ततोऽन्यत्किमपि नास्तीति तत्त्वज्ञाने सम्पन्ने विषयाभावाद्रागद्वेषादिलक्षणा वासना क्षीयते, तत्त्वज्ञानाभावे विषयसत्यत्वानापायात् उत्तरोत्तरं रागद्वेषादिलक्षणा वासना प्रवहतीत्यतोऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां वासनाक्षयं प्रति तत्त्वज्ञानं कारणम्।

करता है। 'यत्र शोभनानि हृष्टानि खानि भवन्ति तत्-सुखम्'—जहाँ शोभन (हृष्ट) इन्द्रियाँ होती हैं, वह 'सुख' है। 'यत्र दुष्टनि खानि भवन्ति तद् दुःखम्'—जहाँ दुष्ट इन्द्रियाँ होती हैं, वह 'दुःख' है। दुःख और सुख-दोनों जिसको समान है, उसे 'समदुःख-सुख' (समचित्त) कहते हैं। 'चित्त' का इष्ट तथा अनिष्ट भाव से रहित रहना ही 'समचित्तत्व' है। उसी कारण वह स्थितप्रज्ञ 'स्वस्थ' रहता है अर्थात् सभी अवस्थाओं में सर्वदा अपने में ही (पर ब्रह्म में ही) ब्रह्मरूप से रहता है। अतः केवल 'ब्रह्मवित्' को ही 'स्वस्थ' शब्द से तथा आध्यात्मिकादि दुःखों से वह अभिभूत नहीं हो पाता। अन्य लोग तो 'अस्वस्थ' ही रहा करते हैं। क्योंकि वे 'बहिर्मुख' होते हैं। उसी कारण जन्म-मरणादिदुःखों से और आध्यात्मिकादि दुःखों से तथा अनात्म धर्मों से, अन्य आधिभौतिक आदि से अभिभूत होते रहते हैं। विक्षेप होने पर भी ब्रह्मस्वरूप से स्थित चित्तवृत्ति का च्युत न होना ही 'स्वस्थत्व' है, अर्थात् धैर्य से उसको सहते रहना ही स्वस्थत्व है। तथा मिट्टी-पत्थर- और सुवर्ण में समान दृष्टि रखना अर्थात् तीनों को एक सा समझना, अतएव 'प्रिय' (इष्ट), 'अप्रिय' (अनिष्ट), ये दोनों प्रिय और अप्रिय जिसके लिये समान है, उसे 'तुल्यप्रियाप्रिय' कहते हैं। अर्थात् दोनों के प्रति जो समभाव रखता है।

शंका—प्रिय, अप्रिय और सुख-दुःख में 'विद्वान्' सम नहीं हो सकता क्योंकि अतिमधुर और अतिकटु (अतितिक्त) पदार्थ को खाने वाले, और प्रखर गर्मी, तथा प्रचण्ड सर्दी में बैठने वाले विद्वान् को भी इष्टत्व-अनिष्टत्व की अनुभूति होना निश्चित ही है, उस कारण उसे बिषमबुद्धि हो सकती है, वह समबुद्धि नहीं रह सकता।

समा०—उक्त आशंका ठीक नहीं है। क्योंकि सुख-दुःखरूप प्रिय-अप्रिय के प्राप्त होने पर विद्वान् की भी 'विषमबुद्धि' हो जाती है। क्योंकि 'ग्राह्य के भेद' से 'ग्रहण का भेद' होता है। फिर भी 'ब्रह्मनिष्ठ पुरुष' की 'विषमबुद्धि' नहीं होती। क्योंकि 'कारण' के अभाव में 'कार्य' का भी अभाव रहता है। इस नियम के अनुसार यहाँ कारण के न रहने से 'विषमबुद्धि' रूप कार्य नहीं हो पाता। विषमबुद्धि का कारण 'बुद्धि' का 'विषम पदार्थ' से संयोग होना ही है। उसके होने पर ही 'इष्टत्व'—'अनिष्टत्व' का ज्ञान होता है। इष्टत्व-अनिष्टत्व का ज्ञान होने पर 'विषमबुद्धि' होती है। अन्यथा नहीं। चिरकाल नित्य-निरन्तर समाधि के अभ्यास के प्रभाव से ब्रह्माकारता प्राप्त करके ब्रह्म में ही बुद्धिवृत्ति के सदा निश्चलरूप से स्थित होने पर बुद्धि का विषम विषयों से सम्बन्ध नहीं हो सकता। और उसके न होने से इष्ट-अनिष्ट का ज्ञान नहीं हो सकता। और उसके न होने से ब्रह्मनिष्ठ विद्वान् को विषम बुद्धि नहीं होती। उस कारण सुख-दुःख में, प्रिय-अप्रिय में विद्वान् पुरुष का 'समत्व' विरुद्ध नहीं है।

शंका—बलवान् विक्षेपकारण के प्राप्त होने पर बुद्धि की ब्रह्मस्वरूप से स्थिति कैसे हो सकती है?

समा०—ब्रह्मस्वरूप से बुद्धि की स्थिति होने में 'अभ्यास' का अतिशय ही कारण है। औषध, मन्त्र या लययोग उसमें कारण नहीं है। अनभ्यास से ही सत्पुरुष भी बहिर्मुख होते हैं, अविवेक से नहीं। 'अभ्यासेन तु कौन्तेय'—यह कहने से श्रद्धा-भक्ति पूर्वक समाधि का अभ्यास करने से बाहर का आलम्बन न करने वाली ब्रह्मनिष्ठा सिद्ध होती है। अतः सर्वत्र अभ्यास ही बलवान् कारण है। क्योंकि अभ्यास से परिपक्व ज्ञान वाला मनुष्य कैवल्य को प्राप्त होता है। ब्रह्मनिष्ठ पुरुष, लोष्ठ, पत्थर और काञ्चन में सम बुद्धि रखता है। न उनमें उसका प्रेम रहता है, न द्वेष रहता है। अथवा उन सबको वह ब्रह्मदृष्टि से देखता है।

१. इदं पदमुत्तरपादस्य। 'इति यो वेद वेदान्तैरि'त्यादिपाठः पुराणे।

"यो वेद वेदवेदान्तैः सोऽतिवर्णाश्रमी भवेत् ॥" इति पुराणे।

•

एवं वासनाक्षयोऽप्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां तत्त्वज्ञानं प्रति कारणम्। तथाहि—विवेकदोषदर्शनप्रतिकूलवासनोत्पादनादिना रागद्वेषादिवासनायां क्षीणायां श्रुत्याचार्यप्रसादेन निर्मले मनसि तत्त्वज्ञानमुदेति—इदं सर्वमात्मैव ततो नान्यत्किञ्चिदस्तीति। एवं वासनाक्षयाभावे मनसो रागादिकलुषितत्वेन शमदमादिसाधनसम्पत्तेरभावाच्छ्रवणाद्यसम्भवेन विषयोन्मुखस्य तत्त्वज्ञानं नोत्पद्यत इत्यतोऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां वासनाक्षयः तत्त्वज्ञानं प्रति कारणम्। एवं तत्त्वज्ञानवासनाक्षययोरन्योन्यकारणत्वम्।

एवं तत्त्वज्ञानमनोनाशयोरन्योन्यकारणत्वमन्वयव्यतिरेकाभ्याम्। तथाहि—तत्त्वज्ञाने मति मिथ्यात्वनिश्चयेन प्रपञ्चस्य बाधितत्वेन मनस्तत्र न प्रवर्तते, ततश्च निरिन्धनाग्निवत्स्वयमेवोपशाम्यति। तथा वृत्तिक्षयं चित्तं स्वयोनावुपशाम्यति ॥" इति।

•

क्योंकि वह, आभास की वासना से बहिर्मुख होने वाली बुद्धि को रोकता रहता है, अर्थात् उसे वह अपने आकार से स्थापन करता है। अतएव उस पुरुष को 'धीर' कहा जाता है। अर्थात् उसकी बुद्धि, स्वनिष्ठा से अव्यभिचरित रहती है। उस पुरुष के लिये, उसकी निन्दा-स्तुति दोनों ही समान रहती है। एवं च सुख-दुःख, प्रिय-अप्रिय आदि में सम होना ही विद्वान् की जीवन्मुक्ति में पर प्रत्यक्ष लिंग है। मान और अपमान में, मित्र और शत्रु में समदृष्टि रखने वाला तथा समस्त श्रौतादिकर्मों का परित्याग करने वाला जो ब्रह्मनिष्ठ पुरुष है, उसे ही 'गुणातीत कहा जाता है। क्योंकि ब्रह्म भाव की प्राप्ति से सकल कामनाओं की पूर्ति हो जाने से सर्वारम्भसाध्यशून्यत्व बुद्धि से कर्मों के त्याग करने का शील ही जिसका हो गया है, उसे ही सर्वारम्भ परित्यागी कहा जाता है। ब्रह्मभाव को प्राप्त हुए आप्तकाम, श्रोत्रिय, निष्काम ब्रह्मज्ञानी के लिये कर्म से ऐसा कुछ भी प्राप्तव्य नहीं है, जिसके लिये 'कर्म' की कर्तव्यता प्राप्त हो, उसके न होने से सर्वारंभपरित्याग युक्त ही है। जो ब्रह्मवित् अव्यभिचरित भक्तियोग से सर्वदा मेरा अनुसंधान करता रहता हो, वही इन गुणों का अतिक्रमण कर जीवित अवस्था में ही ब्रह्मभाव को (मोक्ष को) प्राप्त हो जाता है एवं च सत्त्वादि तीनों गुण और उनके कार्यों के अतिक्रमण का उपाय एकमात्र अव्यभिचरित भक्ति ही है। इस प्रकार अर्जुन के तीनों प्रश्नों के उत्तर भगवान् ने दे दिये।

किञ्च—इस प्रकार के 'जीवन्मुक्त' को ही महाभारत में भगवान् व्यास ने 'ब्राह्मण' शब्द से कहा है—जो ब्रह्मज्ञानी पुरुष इष्ट वस्तु की प्रार्थना नहीं करता, तथा लौकिक-वैदिक किसी कर्म का आरम्भ नहीं करता, तथा आशीर्वाद की इच्छा से या किसी को प्रसन्न करने की इच्छा से प्रणाम नहीं करता, तथा जो अपनी अथवा दूसरे की स्तुति-निन्दा भी नहीं करता, तथा अनायास प्राप्त हुए वस्तु से जो न प्रसन्न होता है, उसके न मिलने से जो न, 'दीन' होता है, तथा सभी लौकिक-वैदिक कर्मों से जो निवृत्त रहता है, उस तत्त्ववेत्ता पुरुष को देवता लोग 'ब्राह्मण' कहते हैं।

किञ्च—इस जीवन्मुक्त पुरुष को ही स्कन्दपुराण में 'अतिवर्णाश्रमी' शब्द से कहा गया है—जैसे 'मैं' (अन्तःकरणोपलक्षित इस प्रत्यगात्मा) में यह स्वप्नप्रपञ्च, 'माया' से कल्पित है, वैसे ही जो पुरुष, इस जाग्रत्प्रपञ्च को भी अपनी 'आत्मा' में 'माया' से कल्पित समझता है उसे 'अतिवर्णाश्रमी' कहा गया है। वेदवाक्यों से सम्पूर्ण प्रपञ्च कल्पना के अधिष्ठानभूत 'आत्मा' का साक्षात्कार जिस तत्त्ववेत्ता पुरुष को होता है, उसे 'अतिवर्णाश्रमी' कहते हैं।

पुराणों के प्रमाण उपलब्ध होने से 'जीवन्मुक्ति' को भी 'विदेहमुक्ति' के समान अवश्य ही स्वीकार करना चाहिए। अब यह जो कहा था कि उसके साधनों का निरूपण न किये जाने के कारण 'जीवन्मुक्ति' अनुपपन्न है। उस पर कह रहे हैं—जीवन्मुक्ति के साधन ये हैं—(१) तत्त्वज्ञान, (२) वासनाक्षय और (३) मनोनाश। इन तीनों के अभ्यास से 'जीवन्मुक्ति' होती है। अर्थात् ये तीनों जीवन्मुक्ति के साधन (उपाय) हैं। प्रयत्नपूर्वक पुनः पुनः उनका आवर्तन करने से यथोक्तस्वरूप की 'जीवन्मुक्ति' सिद्ध होती है। उक्त तत्त्वज्ञानादि' तीनों का अभ्यास सभी 'समकालीन' अर्थात् एक काल में साथ-साथ ही करना चाहिए, तभी वे तीनों 'जवन्मुक्ति' के हेतु (साधन) हो पाते हैं। क्योंकि 'अन्वय-व्यतिरेक' से उन तीनों का परस्पर 'कार्य-कारण-भाव' है। उस कारण प्रथमतः 'तत्त्वज्ञान' और 'वासनाक्षय'—इन दोनों में परस्पर 'कार्य-कारणभाव' को बता रहे हैं—दृश्यमान सम्पूर्ण प्रपञ्च मिथ्या है, केवल अद्वितीय 'आत्मा' ही पारमार्थिक (सत्य) है, उस कारण यह 'आत्मा' ही सबकुछ है, उससे भिन्न कोई है ही नहीं—यह 'तत्त्वज्ञान' उत्पन्न होने पर, उस तत्त्वज्ञानी पुरुष के लिए किसी भी विषय के न रहने से 'राग-द्वेष'

सेयं जीवन्मुक्तिस्तत्त्वज्ञानवासनाक्षयमनोनाशाऽभ्यासात् सिध्यति ॥ २ ॥

●

एवं तत्त्वज्ञानाभावे प्रपञ्चसत्यत्वबुद्धेरनिवारणात् वृत्तिभिरुपक्षीयमानं चित्तं पीनं भवति। ततश्च कुतो मनोनाशः स्यादतोऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां तत्त्वज्ञानं मनोनाशे कारणम्। एवं मनोनाशे सति निखिलद्वैतवृत्तीनामुपरमान्निरुपाधिकतया श्रुत्याचार्यप्रसादेन ब्रह्मसाक्षात्कारो भवति, तद्भावे न भवतीति ताभ्यां मनोनाशोऽपि तत्त्वज्ञानकारणमित्येतयोरन्योन्यकारणत्वम्।

एवं वासनाक्षयमनोनाशयोरप्यन्योन्यकारणत्वमन्वयव्यतिरेकाभ्याम्। तथाहि—वासनाक्षयाभावे रागद्वेषादिभिरुपक्षीयमानं चित्तं विषयोन्मुखं तदाकारेण परिणमते, ततो मनोनाशः कुतः स्यात्? क्षीणायां वासनायां बीजनाशाद्वृत्तीनामनुदयान्मनो नश्यति। एवं मनोनाशे सति निखिलवृत्तीनामनुदयात्सर्वा वासनाः क्षीयन्ते, मनोनाशाभावे प्रारब्धकर्मवशेन विषयोपभोगे प्रवर्तमाने चित्ते हविषा कृष्णवर्त्मेव रागादिवासनोद्भवति। तथाच श्रुतिः—

●

रूप वासनाओं को क्षय हो जाता है। और 'तत्त्वज्ञान' उत्पन्न न होने पर 'विषयों' के प्रति 'सत्यता' की प्रतीति होती रहती है, वह निवृत्त नहीं होती, उस कारण उत्तरोत्तर राग-द्वेषादिरूप वासना का प्रवाह चलता रहता है। एवं च—'तत्त्वज्ञान' के होने पर 'वासनाक्षय' का होना और 'तत्त्वज्ञान' के न होने पर 'वासनाक्षय का न होना'—इस प्रकार के 'अन्वय-व्यतिरेक' से 'वासनाक्षय' और 'तत्त्वज्ञान'—इन दोनों में 'कार्य-कारणभाव' को प्रतीति होती है, अर्थात् 'तत्त्वज्ञान' कारण है, और 'वासनाक्षय' उस 'तत्त्वज्ञात' का 'कार्य' है—यह समझ में आता है।

इसीप्रकार 'वासनाक्षय' भी 'तत्त्वज्ञान' का 'कारण' होता है, क्योंकि 'वासनाक्षय' जब तक नहीं होगा, तबतक 'तत्त्वज्ञान' की उत्पत्ति नहीं हो सकती। अतः अन्वय-व्यतिरेक से ही 'तत्त्वज्ञान' की उत्पत्ति में 'वासनाक्षय' भी 'कारण' कहलाता है। उसी का उपपादन करते हैं—'विवेक' करके, तथा 'दोषदर्शन' से, तथा 'मैत्री-करुणा' आदि विरोधी (प्रतिकूल) वासना की सहायता से 'रागद्वेषादिरूप वासना' का 'क्षय' हो जाता है, तभी इस जिज्ञासु पुरुष को 'वेदभगवान्' की कृपा से तथा आचार्य के प्रसाद से निर्मल हुए मन में 'तत्त्वज्ञान' उत्पन्न होता हैं। और 'वासनाक्षय' के न होने पर 'मन', राग-द्वेषादिकों से दूषित रहता है। ऐसे दूषित मन वाले पुरुष, 'शमदमादि साधनों से युक्त नहीं हो पाते। शम-दमादि साधनसम्पत्ति के अभाव में 'श्रवणादिकों' का होना भी सम्भव नहीं है। इसी स्थिति में 'तत्वज्ञान' भी उत्पन्न नहीं होगा। एवंच 'वासनाक्षय' के होने पर 'तत्त्वज्ञानोत्पत्ति', और 'वासनाक्षय' के न होने पर 'तत्त्वज्ञान' की अनुत्पत्ति—इस अन्वय-व्यतिरेक से स्पष्ट हो जाता है कि 'वासनाक्षय', 'तत्त्वज्ञानोत्पत्ति' में कारण है। एवं च 'तत्त्वज्ञान' और 'वासनाक्षय'—दोनों का परस्पर कार्य-कारणभाव, 'अन्वय-व्यतिरेक' से सिद्ध होता है।

इसीप्रकार 'तत्त्वज्ञान' और 'मनोनाश'—इन दोनों का भी परस्पर 'कार्य-कारणभाव', 'अन्वय-व्यतिरेक' से सिद्ध होता है। तथाहि—'तत्त्वज्ञान' होने पर ही मनुष्य को 'प्रपञ्च' के 'मिथ्यात्व' का निश्चय हो पाता है। उस मिथ्यात्वनिश्चय से 'शुक्ति-रजत' के समान 'प्रपञ्च' का बाध होता है। उस बाधित प्रपञ्च में 'मन' की प्रवृत्ति नहीं होती और 'सत्यत्वेन रूपेण' अर्थात् सत्यरूप से (आत्मैवसत्यः)—इस प्रकार निश्चय किया गया 'आत्मा' भी उस 'मन' का विषय नहीं है। उस कारण उस 'आत्मा' में भी 'मन' की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। इस प्रकार अन्तर्बाह्य प्रवृत्तिरहित हुआ 'मन', काष्ठरहित 'अग्नि' (वह्नि) के समान अपने-आप (स्वयं) ही 'शान्त' हो जाता है। श्रुति भी कहती है कि—जैसे काष्ठ (इन्धन) रहित वह्नि, अपने 'सामान्य तेजरूप कारण' में लीन हो जाता है, वैसे ही 'अन्त-र्बाह्य समस्त वृत्तियों के नष्ट हो जाने से 'चित्त' (मन) भी अपने अधिष्ठान-रूप कारण में लीन हो जाता है। इसप्रकार लीन होना ही उस 'मन' का विनाश है।

'तत्त्वज्ञान' के न होने पर 'प्रपञ्च' की 'सत्यता' निवृत्त नहीं होती। उस कारण पदार्थाकार वृत्तियों के कारण वृद्धिगत हुआ 'मन' अत्यन्त 'स्थूल' होता है। इस प्रकार स्थूलता को प्राप्त हुए 'मन' का विनाश नहीं होता। निष्कर्ष यह हुआ कि 'तत्त्वज्ञान' होने पर ही 'मनोनाश' होता है। और 'तत्त्वज्ञान' के न होने पर 'मनोनाश' नहीं होता—इस 'अन्वय-व्यतिरेक' से प्रतीत होता है कि 'तत्त्वज्ञान', उस 'मनोनाश' के होने में 'कारण' है। इसी प्रकार 'मनोनाश' भी उस 'तत्त्वज्ञान' के प्रति 'कारण' होता है। तथाहि—'मनोनाश' होने पर ही समस्त 'द्वैतवृत्तियों' की निवृत्ति होती है। उस कारण समस्त उपाधियों से रहित 'पुरुष' हो जाता है। तब उस पुरुष को, वेदभगवान् (श्रुति) के प्रसाद से एवं आचार्य श्रीसद्गुरु के अनुग्रह से 'ब्रह्मसाक्षा-

उत्पन्नस्य तत्त्वज्ञानस्याऽभ्यासो नाम पुनः पुनः केनाऽप्युपायेन तत्त्वाऽनुसंधानम्[1]। तदुक्तम्—

"न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते॥"

इति। तस्मादन्वयव्यतिरेकाभ्यां वासनाक्षयौ मनोनाशे हेतुस्ताभ्यां मनोनाशोऽपि वासनाक्षयहेतुरित्यतोऽनयोरन्योन्य-कारणत्वम्। तस्मात्तत्त्वज्ञानवासनाक्षयमनोनाशानां परस्परं कारणत्वात्समकालमभ्यासः कर्तव्यः, ततो जीवन्मुक्तिः सिद्धयति॥ तदुक्तम्—

"वासनाक्षयविज्ञानमनोनाशा महामते। समकालं चिराभ्यस्ता भवन्ति फलदायिनः"॥ इति॥ २॥

ननु साधनचतुष्टयसम्पत्त्यनन्तरं तत्त्वज्ञानोद्देशेन विविदिषासंन्यासं कृत्वा श्रवणमनननिदिध्यासनानि कुर्वतस्तत्त्वज्ञान-मुत्पद्यत इति वदन्ति, तत्त्वज्ञानानन्तरं जीवन्मुक्त्युद्देशेन विद्वत्संन्यासं कृत्वा तत्त्वज्ञानमनोनाशवासनाक्षयाभ्यासं कुर्वतो जीवन्मुक्तिः सिध्यति इत्युच्यते, तत्र श्रवणाद्यनन्तरं प्रमाणजन्यज्ञानाभ्यासः कीदृशः? तत्र न तावद् ज्ञानस्य कर्तव्यत्वं सम्भवति; तस्य

त्कार' होता है। और 'मनोनाश' के न होने पर (अभाव) में 'चित्त' (मन) की 'विक्षिप्त अवस्था' वाले 'पुरुष' को 'ब्रह्म-साक्षात्कार' नहीं होता।

एवंच 'मनोनाश' के होने पर 'ब्रह्मसाक्षात्कार' होता है और मनोनाश के न होनेपर (अभाव में) 'ब्रह्मसाक्षात्कार' नहीं होता—इस प्रकार के 'अन्वय-व्यतिरेक' से प्रतीत होता है कि 'मनोनाश', उस 'तत्त्वज्ञान' के होने में 'कारण' है। एवंच 'मनोनाश' और 'तत्त्वज्ञान'—दोनों का परस्पर 'कार्य-कारणभाव' प्रदर्शित किया गया।

अब इसीप्रकार 'अन्वय-व्यतिरेक' के द्वारा 'वासनाक्षय' और 'मनोनाश'—इन दोनों के परस्पर कार्यकारणभाव' को भी बता रहें हैं। तथाहि—'वासनाक्षय' के अभाव में अर्थात् 'वासनाक्षय' के न होने पर 'राग-द्वेषादिकों' से 'स्थूलभाव' (स्थूलता) को प्राप्त हुआ 'चित्त', जब 'विषय' के सम्मुख होता है, तब वह 'विषय' के आकार में परिणत हो जाता है। अर्थात् वह 'विषयाकार' हो जाता है। विषयाकार हुए 'मन' का कभी भी 'नाश' नहीं होता। निष्कर्ष यह है कि 'वासनाक्षयाभावे मनोनाशाभावः'—अर्थात् 'वासनाक्षय' का जब 'अभाव' रहता है, तब 'मनोनाश' का भी 'अभाव' रहता है। इस प्रकार 'कारण' के अभाव से 'कार्य' का अभाव होना—यही 'व्यतिरेक' है। एवं च 'वासनाक्षय', उस 'मनोनाश' में कारण है। 'वासनाक्षय' होने पर 'वृत्तियों' की उत्पत्ति नहीं होती। क्योंकि 'वासना' ही 'वृत्तियों' की उत्पत्ति का बीज है। 'बीज' के नष्ट होने पर ही 'अंकुर' की उत्पत्ति होती है। बीज का नाश हुए बिना अंकुरोत्पत्ति नहीं होती। अतः 'वासनाक्षय' होने से ही 'मनोनाश' होता है। इस प्रकार के 'अन्वय-व्यतिरेक' से 'वासनाक्षय' में 'मनोनाश' की कारणता सिद्ध होती है।

इसीप्रकार 'मनोनाश' भी उस 'वासनाक्षय' के प्रति कारण होता है। तथाहि—'मनोनाश' होने पर किसीप्रकार की भी 'वृत्ति', उत्पन्न नहीं होती, क्योंकि 'सर्ववासनाओं का क्षय' हुआ रहता है। और 'मनोनाश' के अभाव में अर्थात् 'मनोनाश' के न होने पर 'प्रारब्धकर्मवशात्' 'विषयभोग' में प्रवृत्त हुए 'चित्त' (मन) में 'रागादिक अनेक वासनाएँ' उत्पन्न होती हैं। जैसे—'हविषा कृष्णवर्त्मेव'—अर्थात् 'घृतादि हविष्' से 'अग्नि' की ओर अधिक अभिवृद्धि होती है, वैसे ही 'विषय भोग' से 'रागादि-वासनाओं' की भी अत्यधिक वृद्धि होती है। तस्मात् 'अन्वय-व्यतिरेक' से 'वासनाक्षय', उस 'मनोनाश' में 'हेतु' कारण है, और 'अन्वय-व्यतिरेक' से ही 'मनोनाश' भी 'वासनाक्षय' में हेतु है। इसप्रकार दोनों ही परस्पर एक-दूसरे के 'कारण' होते हैं। एवंच 'तत्त्वज्ञान', 'वासनाक्षय', और मनोनाश'—इन तीनों का परस्पर 'कार्य-कारणभाव' रहने से 'तीनों' का 'समकाल' में (एक काल में) ही अभ्यास करना चाहिए। उस अभ्यास से मनुष्य को 'जीवन्मुक्ति' का लाभ होता है। इसी तथ्य का उद्‌घाटन भगवान् वसिष्ठ ने भी किया है—हे महाबुद्धिशालिन् राघवेन्द्र राम! 'वासनाक्षय-तत्त्वज्ञान-मनोनाश'—ये तीनों का एक साथ ही दीर्घकालतक अभ्यास करने पर मनुष्य को 'जीवन्मुक्ति' रूप फल प्राप्त होता है॥ २॥

चाहे जिस उपाय से तत्त्व का बारम्बार अनुसन्धान ही उत्पन्न तत्त्वज्ञान का अभ्यास कहा जाता है।

शंका—'विवेकादिसाधनचतुष्टयसम्पत्ति' की प्राप्ति होने पर 'तत्त्वज्ञान' की प्राप्ति के लिए 'विविदिषा संन्यास' लेकर 'श्रवण-मनन-निदिध्यासन' करने वाले व्यक्ति को 'तत्त्वज्ञान' हो पाता है। उस 'तत्त्वज्ञान' होने के पश्चात् 'जीवन्मुक्ति' की

१. अत आचार्या आहुः 'प्रत्यगात्मविषयप्रत्ययसन्तानकरणाभिनिवेशश्च ज्ञाननिष्ठे'ति (गी॰ भा॰ १८.५५)।

"तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम्। एतदेव परं तत्त्वं[1] ब्रह्माऽभ्यासं विदुर्बुधाः" ॥ इति।

●

प्रमाणफलत्वेन निष्पन्नत्वाद्वस्तुपरतन्त्रत्वेन कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुमशक्यत्वाच्च। नापि तत्साधनश्रवणादिकर्तव्यत्वं युक्तम्; फलीभूतज्ञाने सति तदनुष्ठानवैयर्थ्यात्। तस्मादुत्पन्नज्ञानस्याभ्यासो दुर्निरूप इत्याशङ्क्याह—उत्पन्नस्येति केनेति। श्रवणेन कथनेन वा पुस्तकावलोकनेन वा पाठनेन वा केनापि प्रकारेणेत्यर्थः। तत्र सम्मतिमाह—तदुक्तमिति। तस्य तत्त्वस्य याथात्म्यस्य चिन्तनं अनुदिनमनुसन्धानमनुस्मरणमिति यावत्। अथवा तच्चिन्तनं तत्त्वविचारः तत्त्वं याथात्म्यं ब्रह्मात्मैक्यमिति यावत्। तत्कथनं तत्त्वकथनमन्यस्मै मुमुक्षवे यथोक्तसाधनसम्पन्नाय विनीताय शिष्याय भक्ताय विश्वासिने ॥ तथाच श्रुतिः—तस्मै विद्वानुपसन्नाय प्राहेति[2] सम्यक् प्रशान्तचिन्ताय शमान्विताय।

"येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्"।

"तस्मै मृदितकषायाय तमसः पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमारः" इत्याद्या ॥ स्मृतिरपि—

"य इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति। भक्ति मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥

●

प्राप्ति के लिए 'विद्वत्संन्यास' को लेकर 'तत्त्वज्ञान' 'वासनाक्षय' और 'मनोनाश' इन तीनों का अभ्यास करनेवाले को 'जीवन्मुक्ति' की प्राप्ति होती है—'यह 'तथ्य', पूर्वकथन से स्पष्ट होता है।

फिर भी विचारणीय विषय यह है कि 'श्रवण, मनन' आदि के बाद 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यरूप प्रमाण से उत्पन्न होनेवाले 'तत्त्वज्ञान' का 'अभ्यास किस प्रकार किया जाता है?

पहिली बात तो यह है कि 'ज्ञानी पुरुष' को उस 'तत्त्वज्ञान' की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि 'तत्त्वज्ञान' तो 'महावाक्यप्रमाण' का फलस्वरूप है, जो उसे पहिले से सिद्ध है। कर्तव्यता (आवश्यकता) तो असिद्ध (जो पहिले से न हो) वस्तु को हुआ करती है। 'सिद्ध (प्राप्त) वस्तु की कर्तव्यता (आवश्यकता) नहीं होती। 'अप्राप्त' को ही प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता है, प्राप्तवस्तु' को प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं किया जाता। 'ज्ञान' तो 'विषयरूप वस्तु' के अधीन होता है। वस्तु परतन्त्र होने के कारण 'ज्ञान' को 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम्' नहीं किया जा सकता। अर्थात् 'ज्ञान' के सम्बन्ध में 'करना, न करना या अन्यथा करना'—कभी सम्भव नहीं है।

उसी प्रकार 'ज्ञानी व्यक्ति' के लिये 'ज्ञानसाधनीभूत श्रवणादि' की भी कर्तव्यता (आवश्यकता) नहीं है। क्योंकि श्रवणादिकों के पूर्व ही 'ज्ञानरूप फल' उसे प्राप्त हो चुका है। अतः तदर्थ श्रवणादिकों का पुनः अनुष्ठान करना व्यर्थ ही है। अतः हुए 'तत्त्वज्ञान' का अभ्यास निरूपण क्यों किया जा रहा है?

समा०—श्रवणादिकों से उत्पन्न जो 'अहं ब्रह्मास्मि'—इत्याकारक 'तत्त्वज्ञान' है, उसके 'अभ्यास' करने के कथन का तात्पर्य यह है कि 'उस ब्रह्मात्मतत्त्व' का किसी भी प्रकार से (प्रयत्न पूर्वक) पुनः-पुनः 'चिन्तन' करते रहना। अर्थात् वेदान्तशास्त्र के श्रवण से करिये, अथवा वेदान्तशास्त्र के प्रवचन से करिये, अथवा वेदान्त के ग्रन्थों का अवलोकन करके करिये, अथवा वेदान्तशास्त्र के अध्ययनाध्यापन के द्वारा करिये। अर्थात् किसी भी प्रकार से उस 'ब्रह्मात्मतत्त्व' का जो पुनः-पुनः अनुसंधान करना ही उस तत्त्वज्ञान का 'अभ्यास' कहलाता है।

इस प्रकार के 'अभ्यासस्वरूप' को अन्य ग्रन्थकारों ने भी बताया है—

'जीव-ब्रह्म' का ऐक्यरूप जो 'तत्त्व' है, उसके पुनः पुनः चिन्तन को, तथा अधिकारी मुमुक्षुजनों के प्रति उस तत्त्व के कथन को, तथा अपने तुल्य विद्वान् पुरुषों के साथ बैठकर उस तत्त्व के बोधन को, इत्यादि किसी प्रकार से भी—'ब्रह्मात्मैक्य' के चिन्तन की मग्नता को ही विद्वानों में 'ब्रह्माभ्यास' शब्द से कहा है।

शंका—किसी भी प्रकार से किये गये 'ब्रह्मात्मतत्त्व' के चिन्तन को यदि 'ब्रह्माभ्यास' शब्द से कहा जाय तो 'अनधिकारी पुरुषों' को दिये जाने वाले 'ब्रह्मात्मतत्त्व' के 'उपदेश' को भी 'ब्रह्माभ्यास' शब्द से कहना होगा।

---

१. एतदेकपरत्वं चेति पञ्चदश्यां पाठः।

२. तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यगिति मुण्डकपाठः।

यद्यपि तत्त्वज्ञानात् प्रागपि वासनाक्षयमनोनाशाभ्यासोऽपेक्षितस्तथापि विविदिषासंन्यासिन उपसर्जनभूतः सः,

●

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः। भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवी"ति ॥

यथोक्तलक्षणरहितायामुमुक्षवे तत्त्वं न वक्तव्यम्। तथा च श्रुतिः—

"वेदान्ते परमं गुह्यं पुराकल्पप्रचोदितम्। नाप्रशान्ताय दातव्यं नापुत्रायाशिष्याय वै पुनरि"ति ॥

स्मृतिरपि—

"इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन। न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति" ॥

अशिष्यायाविरक्ताय यत्किञ्चिदुपदिश्यते। तत्प्रयात्यपवित्रत्वं गोक्षीरं श्वदृतौ यथा" ॥

"नापृष्टः कस्यचिद्ब्रूयात् न चान्यायेन पृच्छतः। जानन्नपि च मेधावी जडवल्लोकमाचरेत्" ॥

●

समा०—उक्त शंका ठीक नहीं है। जो व्यक्ति, 'विवेकादिसाधनचतुष्टय' रूप साधनों से सम्पन्न हो, तथा विनम्र हो, जिसमें 'शिष्यभाव' हो, तथा जो, गुरु और ईश्वर में दृढ भक्ति रखता हो, तथा जिसे गुरुवाक्य एवं वेदान्तवाक्य में अटूट विश्वास हो, वही 'व्यक्ति', 'ब्रह्मविद्या' का अधिकारी है। ऐसे अधिकारी व्यक्ति को ही तत्त्वज्ञानी गुरु, 'ब्रह्मविद्या' का उपदेश करे। वही अधिकारी पुरुष, 'ब्रह्मविद्या' के श्रवण-मनन आदि करने से 'आत्मज्ञान' तथा 'मोक्ष' प्राप्त कर सकता है।

इसी रहस्य को श्रुतियों ने भी बताया है।

तथा इसी अर्थ को भगवान्, गीता में भी बता रहे हैं—(१८।६८–६९) जो श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठयति, इस परम गुह्य (गीता) शास्त्र का मेरे भक्तों को बतावेगा, वह मेरी भक्ति को पाकर मुझको ही प्राप्त होगा, इसमें सन्देह मत करो।

मनुष्यों में मुमुक्षुओं को गीता शास्त्र का उपदेश करने वाले पुरुष की अपेक्षा दूसरा कोई भी पुरुष, मेरा प्रिय करने वालों से बढ़कर इस भूलोक में नहीं है, और न भविष्य में ही उसकी अपेक्षा अन्य, मेरा प्रियतर होगा।

इन गीता वचनों से भी उक्त कथन का समर्थन किया गया है।

जो व्यक्ति, पूर्वोक्त अधिकारी के लक्षणों से रहित हो, उसे 'अनधिकारी' कहा जाता है। उस अनधिकारी व्यक्ति को कोई तत्त्वज्ञानी गुरु 'ब्रह्मविद्या' का उपदेश न करे। ऐसा अनधिकारी पुरुष, 'ब्रह्मविद्या' का श्रवण भले ही करता रहे तो भी उसे 'आत्मज्ञान' नहीं हो पाता, और न ही 'मोक्षलाभ' उसे होता है।

इस तथ्य को पुष्टि श्रुति ने भी की है—

पूर्वकल्प में कहे गये 'वेदान्तरहस्य' को अशान्तचित्त, तथा अशिष्य, तथा जो अपना पुत्र न हो उसे नहीं बताना चाहिये। अर्थात् शान्तचित्त वाले शिष्य या पुत्र को ही उसे बताना चाहिये।

इसी बात को गीता में भगवान् भी कह रहे हैं—

हे अर्जुन! इस मोक्षशास्त्र का उपदेश, तुम ऐसे पुरुष को कभी मत देना, जो वेदविहित कर्म का अनुष्ठान नहीं करता, देवता और गुरु में भक्ति नहीं रखता, गुरु की शुश्रूषा नहीं करता, और जो मुझे प्राकृत पुरुष समझकर मेरी निन्दा करता है।

अन्य स्मृतियों में भी इसी प्रकार कहा है कि—

जो पुरुष, शिष्यभाव से रहित है, तथा जिसमें वैराग्य की भावना नहीं है अर्थात् जो विरक्त नहीं है, ऐसे अनधिकारी को जो गुरु, उपदेश करता है, वह उपदेश, 'अपवित्र' हो जाता है। जैसे कुत्ते के चमड़े की बनी हुई कुप्पी में रखा गया (भरा हुआ), गाय का दूध, 'अपवित्र' हो जाता है।

किञ्च—इसी अर्थ को अन्य स्मृति में भी कहा है—कि विद्वान् पुरुष को चाहिये कि वह, पूछने वाले को ही उपदेश करे अर्थात् बिना प्रश्न किये किसी को भी उपदेश न करे। तथा अन्याय से (मर्यादारहित होकर) पूछने वाले को भी उपदेश न करे। सब कुछ जानता हुआ भी वह ज्ञानी गुरु, संसार में अर्थात् लोकव्यवहार में 'जड' (मूर्ख) की तरह विचरण करे।

श्रवणाद्यभ्यास एव प्रधानः। विद्वत्संन्यासिनस्तु तत्त्वज्ञानाभ्यास उपसर्जनभूतो वासनाक्षयमनोनाशाऽभ्यासः प्रधान इत्यविरोधः।

•

"धर्मार्थौ यत्र न स्यातां शुश्रुषा वापि तादृशी। तत्र विद्या न वक्तव्या शुभं बीजमिवोषरे"

इत्याद्याः। समाभ्यां मुमुक्षुभ्यां अन्योन्यं तत्प्रबोधनम्। किं बहुना सर्वथा केनाप्युपायेन ब्रह्मैकव्यापारतयाऽवस्थानम्। ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः ब्रह्मात्मवेदिनः इत्यक्षरार्थः॥

स्यादेतत्--प्राक्तत्त्वज्ञानात्साधकस्यापि वासनाक्षयमनोनाशभ्यासोऽपेक्षितः; विषयासक्तचित्तस्य शमादिशून्यस्यानेकाग्रचित्तस्य तत्त्वज्ञानासम्भवात्। ननु तत्त्वज्ञानस्य प्रमाण-वस्तु-परतन्त्रतया सतोर्विषयप्रमाणयोस्तदुत्पत्तेरावश्यकत्वेन वासनाक्षयमनोनाशाभ्यासः क्वोपयुज्यत इति चेत्? सत्यं ज्ञानं प्रमाणवस्तुपरतन्त्रम्; तथापि प्रमाणं न व्यासक्तस्य ज्ञानमुत्पादयितुं शक्नोति, स्वविषये अनेकाग्रचित्तस्य व्यासङ्गादेर्ज्ञानोत्पत्तिप्रतिबन्धकत्वात्। अन्यथा सर्वेषां ज्ञानोत्पत्तिः प्रसज्येत। न चेष्टापत्तिः; शास्त्रारम्भवैयर्थ्यापत्तेः। ततश्च व्यासङ्गादिः ज्ञानोत्पत्तिप्रतिबन्धक एव। वासनाक्षय-मनोनाशाभावे तत्त्वज्ञानासम्भवात् साधकस्यापि ज्ञानार्थं सोऽपेक्षित एव। तस्मात् तत्त्वज्ञानात् प्राक् सिद्धयोर्वासनाक्षयमनोनाशयोः सतोस्तयोर्ज्ञानोत्तरमभ्यासो नापेक्षित एवेति कथं ततो जीवन्मुक्तिरित्याशङ्क्य परिहरति--यद्यपीति।

•

एवंच अधिकारी पुरुष को किये जाने वाले ब्रह्मात्मतत्त्व' के उपदेश को ही 'ब्रह्माभ्यास' कहते हैं। अनधिकारी पुरुष को दिये गये 'ब्रह्मात्मतत्त्वोपदेश' को 'ब्रह्माभ्यास' शब्द से नहीं कहा जाता।

वस्तुतस्तु ब्रह्मोपदेश होने से वह ब्रह्माभ्यास तो है किन्तु शास्त्र में निन्दित होने से वैसा करना जीवन्मुक्त के लिये अनुचित है क्योंकि तब उसका अनुकरण अन्य भी लोग करेंगे व पापभागी बनेंगे, इसलिये जीवन्मुक्त ऐसा करेगा नहीं। यह नहीं है कि यदि अनधिकारी को वेदान्त सुना दिया तो जीवन्मुक्त को कोई दोष लगेगा। अन्यों के लिये भी पर्युदस्त को वेदान्त न सुनायें यही मर्यादा माननी होगी अन्यथा असंभव होगा। पर्युदस्त कहते हैं। जिसके लिये शास्त्र ने निषेध किया है उसे। उनमें भी कुछ को केवल किन्ही ग्रंथविशेषों के ग्रहणादि में पर्युदस्त कहा है। उन्हें भी अन्य पौरुषेयादि ग्रंथों से वेदान्तों का अर्थ बताना सर्वथा शास्त्रमर्यादा के अनुकूल है। केवल उन ग्रंथविशेषों की आनुपूर्वी उन्हें नहीं सुनानी चाहिये। यदि अनधिकारमात्र को अनुपदेश का प्रयोजक मानें तो उपदेश असंभव होगा कारण कि वेदान्ताधिकारी तो विवेकादि साधनों से सम्पन्न ही है। वे विवेकादि भी वेदान्तश्रवण की अपेक्षा रखते हैं क्योंकि उनसे ही उनके वर्धनादि के उपाय मालूम पड़ते हैं। विना वेदांत सुने नित्य वस्तु एकमात्र ब्रह्म है उससे भिन्न सब मिथ्या अतः अनित्य है—यह ज्ञान असंभव है और यही विवेक नामक प्रथम गुण है अधिकारी का। अतः अनधिकारी को उपदेश न देने का नियम नहीं। उपदेश अनधिकारी को भी देंगे, आगे उसमें यदि योग्यतादि होगी व भगवत्कृपा हुई तो वह अधिकार प्राप्त करेगा एवं फलसम्बद्ध हो जायेगा। हां, पर्युदस्त को विद्या न दें यह आवश्यक है। अप्रशान्त, अतपस्क आदि ही यहां पर्युदस्त है। 'बिना पूछे नहीं बताना चाहिये' इस स्मृति को तो 'बोधयन्ति बलादेव सानुकम्पा हि साधवः' (कृपालु साधु बलपूर्वक भी समझाते हैं) आदि स्मृत्यंतर से (वासिष्ठ निर्वा० ६६.३) तथा ऋभु-निदाघादि की कथारूप अर्थवाद से वेदान्तविद्या से अन्य विद्याओं के लिये संकुचित हो समझना चाहिये।

अनधिकारी व्यक्ति को 'ज्ञान' (विद्या) देने से न धर्म की प्राप्ति होती है, और 'अर्थ' (प्रयोजन-यशोलाभ आदि) पुरुषार्थ की भी प्राप्ति नहीं होती है। और शुश्रूषा (सुनने की इच्छा तथा श्रद्धा-भक्तिपूर्वक सेवा) भी जैसी अपेक्षित है वैसी वह नहीं करता है, ऐसे अनधिकारी को विद्या (उपदेश) देना, ऊषरजमीन में अच्छा बीज बोने (वपन) के समान ही है। इन सब वचनों से यही सिद्ध होता है कि अधिकारी व्यक्ति को ही विद्यादान (उपदेश) करना चाहिये। अतः पूर्वोक्त ब्रह्माभ्यास का स्वरूप, ग्रन्थकार ने यही बताया है—

ब्रह्मात्मैक्य के निरन्तर चिन्तन को, उसी के प्रतिपादन को, अपने तुल्य ही जो मुमुक्षु हों उनके साथ की जाने वाली चर्चा को ही 'ब्रह्माभ्यास' शब्द से कहा गया है। निष्कर्ष यही है कि किसी भी प्रकार से ब्रह्मैकप्रवण होकर रहना ही मुमुक्षु के लिये आवश्यक है।

कृतोपास्तिकस्य मुख्याऽधिकारिणस्तदपेक्षाऽभावेऽपि अकृतोपास्तेरस्मदादेस्तदभावे चित्तविश्रान्त्यभावादुत्पन्नमपि

●

एतदुक्तं भवति—"आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यः" इत्यादिश्रुत्या साधनचतुष्टयसम्पन्नस्य विविदिषासंन्यसिनस्तत्त्वज्ञानमुद्दिश्य श्रवणाभ्यासः प्रधानः श्रवणस्य प्रमाणविचारात्मकत्वेन ज्ञानं प्रत्यन्तरङ्गसाधनत्वान्मनोनाशवासनाक्षययोः प्रमाणसहकार्यन्तःकरणशोधकत्वेन श्रवणादिसहकारित्वात्तयोरभ्यासस्तस्योपसर्जनभूतः। ततश्च यथाकथञ्चिद्वासनाक्षयमनोनाशाभ्यासनिरवशेषं श्रवणाद्यनुतिष्ठतस्तत्त्वज्ञानमुत्पद्यते। उत्पन्नतत्त्वज्ञानस्य विद्वत्संन्यासिनस्तु।

"ग्रन्थमभ्यस्य मेधावी ज्ञानविज्ञानतत्परः। पलालमिव धान्यार्थी त्यजेद् ग्रन्थिमशेषतः॥"

इत्युक्तप्रकारेण तत्त्वज्ञाने सम्पन्ने पूर्ववत् श्रवणाद्यभ्यासे प्रयोजनाभावात् प्रारब्धापादितविषयभोगकाले वासनाभिभवार्थं श्रवणाद्यभ्यासोऽपेक्षित इति उपसर्जनभूतः। पूर्ववासनाक्षयमनोनाशयोर्दृढतराभ्यासाभावे चित्तविश्रान्तेरभावात् तदर्थं ज्ञानोत्तरं नियमेन वासनाक्षयमनोनाशाभ्यासोऽवश्यं कर्तव्य इति विद्वत्संन्यासिनस्तदभ्यासः प्रधानः। ततो जीवन्मुक्तिः सिध्यतीति न कोऽपि दोषः। तत्फलमग्रे वक्ष्यति।

●

'तत्त्वज्ञान' होने के पूर्व भी साधक मुमुक्षु पुरुष के लिये भी 'वासनाक्षय' का तथा 'मनोनाश' के अभ्यास की अपेक्षा रहती ही है, क्योंकि जिस पुरुष का 'चित्त' विषयासक्त रहेगा, तथा 'शम-दम' आदि षट्कसम्पत्तिरहित रहेगा, तथा, जिसका 'एकाग्र' नहीं रहेगा अर्थात् चञ्चल रहेगा, उसे 'तत्त्वज्ञान' हो ही नहीं सकता। इसलिये 'तत्त्वज्ञान' होने के पूर्व 'वासनाक्षय' तथा 'मनोनाश' का अभ्यास उसे अवश्य करना ही चाहिये।

शंका—'तत्त्वज्ञान' तो 'प्रमाण' और 'वस्तु' (विषय) के अधीन (परतन्त्र) है। तब—वस्तु (विषय) और प्रमाण के विद्यमान रहते 'तत्त्वज्ञान' की उत्पत्ति का होना अनिवार्य ही है। अतः 'वासनाक्षय' और 'मनोनाश' का उपयोग कहाँ होगा?

समा०—शंका करने वालों का कहना ठीक है कि 'ज्ञान', सर्वदा ही 'प्रमाण-वस्तुपरतन्त्र' होता है। तथापि अन्यान्य विषयों में व्यासक्त हुए पुरुष को 'ज्ञानोत्पत्ति', कराने में 'प्रमाण' असमर्थ रहता है। क्योंकि 'प्रमाण' का जो अपना 'विषय' है, उसमें 'एकाग्रचित्त' न होनेवाले व्यक्ति को उसका 'अन्य विषय-व्यासंग' ही उसे 'ज्ञानोत्पत्ति' कराने में प्रतिबन्धक होता है। है। अन्यथा सभी को 'ज्ञानोत्पत्ति' होने लगेगी। उसे इष्टपत्ति यदि कहें तो 'शास्त्र' का आरंभ करना करना ही व्यर्थ होगा। अतः उसे इष्टापत्ति कहना भी संगत नहीं होगा। अतः 'अन्यान्यविषयव्यासंग आदि' को 'ज्ञानोत्पत्ति' में प्रतिबंधक मानना ही होगा। 'वासनाक्षय' और 'मनोनाश' के अभाव में 'तत्त्वज्ञानोत्पत्ति' का होना असंभव रहने से उसके उत्पत्त्यर्थ (तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति के लिये) साधक मुमुक्षु को भी अपनी साधनावस्था में उनकी (वासनाक्षय और मनोनाश की) आवश्यकता होती ही है।

शंका—इससे यह प्रतीत होता है कि जब 'आत्मज्ञान' के पूर्व ही 'वासनाक्षय' और 'मनोनाश' हो चुका है तो 'आत्मज्ञान' होने के पश्चात् 'जीवन्मुक्ति' के लिये पुनः 'वासनाक्षय' और 'मनोनाश' का अभ्यास करना व्यर्थ ही है, अर्थात् उसका पुनः अभ्यास करना निष्फल है। क्योंकि पूर्व किये गये 'वासनाक्षय' और 'मनोनाश' के अभ्यास से ही 'तत्त्वज्ञानी' को 'जीवन्मुक्ति' प्राप्त हो ही जाएगी।

समा०—यद्यपि 'तत्त्वज्ञान' के पूर्व भी उस तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के निमित्त 'वासनाक्षय' और 'मनोनाश' का अभ्यास अपेक्षित है, तथापि 'तत्त्वज्ञान' के पूर्व 'विविदिषा संन्यासी' के लिये उन 'दोनों' का अभ्यास 'गौण' रहता है। और 'श्रवण मनन' आदि का अभ्यास 'प्रधान' रहता है। क्योंकि 'श्रवण, मनन, निदिध्यासन'—ये तीनों, 'तत्त्वमसि' आदि वेदान्तवाक्यों के 'विचाररूप' हैं। उस कारण वे तीनों (श्रवण-मनन-निदिध्यासन), 'आत्मज्ञान' के 'अन्तरङ्गसाधन' हैं, और 'वासनाक्षय' तथा 'मनोनाश'—ये दोनों 'अन्तःकरण' के शोधक हैं। उस कारण ये दोनों, 'श्रवण' आदि के 'सहायक' हैं। उनकी सहायता से तत्त्वज्ञान के पूर्व यथाकथंचित् 'वासनाक्षय' और 'मनोनाश' का अभ्यास करके निरन्तर 'श्रवण' 'मनन' 'निदिध्यासन' करनेवाले विविदिषा संन्यासी को 'आत्मज्ञान' उत्पन्न होता है।

किन्तु 'विद्वत्संन्यासी' के लिये 'तत्त्वज्ञान' का अभ्यास 'गौण' होता है। और 'वासनाक्षय' तथा 'मनोनाश' का अभ्यास 'प्रधान' होता है। क्योंकि 'तत्त्वज्ञान' की उत्पत्ति के अनन्तर उन श्रवणादिकों के अभ्यास का कोई 'प्रयोजन' नहीं रहता है। तथापि 'प्रारब्ध कर्मवशात् प्राप्त हुए 'विषयभोग' के समय में ही 'वासना' को अभिभूत करने के निमित्त, 'श्रवण'

तत्त्वज्ञानं विषयाऽबाधात्प्रमारूपमज्ञाननिवर्त्तकमप्यसम्भावनादिसम्भवान्न सुकरमिति वासनाक्षयमनोनाशाऽभ्यासोऽपेक्षितः ॥ ३ ॥

नन्वेवमप्यधिकारिणः श्रवणादिना प्रतिबन्धापगमे तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्यापरोक्षज्ञानेनाज्ञानकृतावरणनिवृत्त्या परमपुरुषार्थलाभात् नातः परं किमप्यवशिष्यते कर्तव्यम्। न च—चित्तविश्रान्त्यर्थं वासनाक्षयमनोनाशाभ्यासः कर्तव्यशेषो वर्तत इति—वाच्यम्; वाक्यजन्यापरोक्षज्ञानस्य नित्यनिरतिशयब्रह्मानन्दविषयतया तल्लग्नमनसोऽन्यत्र प्रवृत्त्यसम्भवेन विश्रान्तेः स्वभावसिद्धत्वात्। नहि सार्वभौमानन्दमनुभवन् राजा ग्रामाधिपतिसुखं तुच्छमपेक्षते। एवं मुमुक्षुरखण्डैकरसपरमानन्दमनुभवन्नान्यत्तुच्छं सुखमपेक्षत इति ज्ञानिनः चित्तविश्रान्तेः स्वतः सिद्धत्वान्न किञ्चित्कर्तव्यमवशिष्यते। तस्मात्तत्त्वज्ञानोत्तरं वासनाक्षयमनोनाशाभ्यासकर्तव्यनियमनं निरर्थकमित्याशङ्क्याह—कृतोपास्तिकस्येति।

शास्त्राधिकारिणो द्विविधाः—मुख्याः अमुख्याश्चेति। ये सगुणसाक्षात्कारपर्यन्तामुपास्ति कृत्वा परमेश्वरप्रसादेन दोषदर्शनाद्वैराग्यादिसाधनसम्पन्नाः ज्ञानोद्देशेन श्रवणादौ प्रवर्तन्ते तेषां सकृच्छ्रवणादिना जीवन्मुक्तिपर्यवसायि तत्त्वज्ञानमुदेति, प्रागेव योगाभ्यासेन चित्तैकाग्रतायाः सम्पन्नत्वात्। कृतोपासनानां तादृशमुख्याधिकारिणां वासनाक्षयमनोनाशाभ्यासो नापेक्षितः। ये पुनरिदानीन्तना अकृतोपास्तिकाः साधनासम्पन्ना जिज्ञासया श्रवणादौ प्रवर्तन्ते तेषाममुख्याधिकारिणामस्मदादीनां सम्यगनु-

आदि का किञ्चिन्मात्र अभ्यास, अपेक्षित होता है। उस कारण विद्वत्संन्यासी के लिये 'तत्वज्ञान' का अभ्यास 'गौण' हो जाता हैं। और 'वासनाक्षय' तथा 'मनोनाश' इन दोनों का अभ्यास 'प्रधान' होता है। तत्वज्ञान के पूर्व इस विद्वत्संन्यासी ने 'वासनाक्षय' और 'मनोनाश' का दृढ अभ्यास नहीं किया था, उस कारण इस विद्वत्संन्यासी के 'चित्त' की विश्रान्ति नहीं हो पाई। और चित्त की विश्रान्ति हुए बिना 'दृष्ट दुःख' की निवृत्ति नहीं होती है। अतः 'चित्त' की विश्रान्ति प्राप्त करने के लिये, विद्वत् संन्यासी' को 'आत्मज्ञान' होने के पश्चात् भी 'वासनाक्षय' और 'मनोनाश' का नियमपूर्वक अभ्यास करना आवश्यक होता है। उस कारण विद्वत्संन्यासी के लिये 'वासनाक्षय' और 'मनोनाश' के 'अभ्यास' को प्रधान बताया गया है। उन दोनों के अभ्यास से से ही 'विद्वत्संन्यासी' को 'जीवन्मुक्ति' की प्राप्ति होती है।

शंका—साधनचतुष्टय सम्पन्न अधिकारी को 'श्रवण-मनन' आदि के करने से 'असंभावना, विपरीतभावना, सन्दिग्धभावना' रूप प्रतिबन्ध, नहीं हो पाते। उन प्रतिबन्धों के न हो पाने से 'तत्वमसि' आदि महावाक्य के उपदेश से 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारक अपरोक्षज्ञान हो जाता है। अपरोक्षज्ञान के होने पर 'अज्ञान' कृत 'आवरण' की निवृत्ति हो जाती है, और 'ब्रह्मानन्द' रूप 'परमपुरुषार्थ' की प्राप्ति होती है। उस परमपुरुषार्थ की प्राप्ति से बढ़कर अन्य कोई कर्तव्य 'शेष' नहीं रहता है। 'तस्य कार्यं न विद्यते' आदि स्मृतिवाक्य भी उस ज्ञानी के लिये 'समस्त कर्तव्यों' का निषेध कर रहे हैं।

यदि यह कहें कि 'चित्त' की विश्रान्ति के लिए तत्वज्ञानी के लिए भी 'वासनाक्षय' तथा 'मनोनाश' का अभ्यास करना अभी शेष (बाकी) है।

किन्तु यह कहना भी सम्भव नहीं है। क्योंकि 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों से उत्पन्न होने वाले 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारक अपरोक्षज्ञान का विषयभूत जो 'नित्य निरतिशय ब्रह्मानन्द' है, उस ब्रह्मानन्द में रमते (मग्न रहनेवाले) 'मन' की अन्य क्षुद्र विषयों में प्रवृत्ति का होना कदापि सम्भव नहीं है उस कारण ज्ञानी के 'चित्त' की विश्रान्ति तो स्वभावसिद्ध है। जैसे सार्वभौम राज्य के आनन्द का अनुभव करनेवाला चक्रवर्ती राजा, एक जमींदार के तुच्छ (क्षुद्र) सुख की इच्छा नहीं करता, वैसे ही 'अखण्डैकरस' ब्रह्मानन्द का अनुभव करनेवाले ज्ञानी पुरुष का 'चित्त', तुच्छविषयसुख की इच्छा, कदाचिदपि नहीं करेगा। अभिप्राय यह है कि ज्ञानी पुरुष के चित्त की विश्रान्ति तो स्वभावसिद्ध है। उसके लिए उस ज्ञानी पुरुष को कुछ भी अब कर्तव्य (करना) नहीं है। अतः 'तत्त्वज्ञान' उत्पन्न होने के बाद 'वासनाक्षय' तथा 'मनोनाश' के अभ्यासार्थ नियम करना निष्प्रयोजन है।

कृतोपास्ति अतः मुख्य अधिकारी के लिए उक्त नियम अपेक्षित न होने पर भी हम जैसे अकृतोपास्ति अधिकारियों के लिए यदि वह न होगा तो चित्त की प्रशान्ति न होने से उत्पन्न हो चुका भी तत्वज्ञान, तो अपने विषय के अबाध से प्रमा और अज्ञान हटानेवाला भी है, असम्भावनादि से प्रतिबद्ध हो जायेगा व प्रतिबन्धकनिवृत्ति कठिन होगी। अतः वासनाक्षय और मनोनाश का अभ्यास अपेक्षित है।

ष्ठितश्रवणादिभिः तत्त्वसाक्षात्कार उत्पद्यत एव, उत्पन्नेऽपि तत्त्वसाक्षात्कारे वासनाक्षयमनोनाशयोः सम्यगनभ्यस्तत्वेन चित्त-विश्रान्तेरभावात् प्रमाणजन्यत्वाद्विषयाबाधाच्च प्रमाणरूपोऽपि ब्रह्मसाक्षात्कारः कदाचिदसम्भावनादिप्रतिबन्धसम्भवेनाज्ञान-निवर्तनयोग्योऽपि प्रारब्धापादितभोगवासनया दोधूयमानत्वात् सवातस्थदीपवत् अज्ञाननिवर्तनक्षमो न स्यादस्तेषाममुख्याधिकारिणां सम्भावित प्रतिबन्धनिवृत्त्यर्थं वासनाक्षयमनोनाशाभ्यासः कर्तव्योऽपेक्षितः।

अत एवैतदभिप्रेत्य चतुर्थाध्याये—"आवृत्तिरसकृदुपदेशात्"। "आप्रायणात्तत्रापि हि दृष्टमि"ति भगवान् सूत्रकारो ब्रवीति[1]। तद्व्याकुर्वन् भगवान् भाष्यकारोऽप्यावृत्त्यधिकरणे[2]—"यः पुनर्निपुणमतिर्यथोक्तलक्षणो मुख्याधिकारी सकृच्छ्रुत्वा प्रत्यक्षं ब्रह्मसाक्षात्करोति तं प्रत्यावृत्त्यानर्थक्यमिष्टमेव; यः पुनरमुख्याधिकारी यथोक्तलक्षणः तस्यैव प्रत्ययावृत्तिलक्षणो ध्यानयोगो नियम्यते श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः इति" इममेवार्थं स्फुटीचकार। अतएव "आत्मेत्येवोपासीते"ति श्रुतिरप्येतदभिप्राया न विरुध्यते। अतएवैतदभिप्रायेण भाष्यकारस्तत्रापि नियमविधिमङ्गीचकार। अतएव विद्यारण्यैर्वार्तिकसारेऽयमर्थो दर्शितः।

•

समा०—वेदान्तशास्त्र के श्रवण करने वाले दो प्रकार के अधिकारी होते हैं। (१) मुख्य अधिकारी और (२) अमुख्य (गौण) अधिकारी। जो व्यक्ति, 'सगुण ब्रह्म' का साक्षात्कार होने तक 'उपासना' करके परमेश्वर के अनुग्रह का पात्र हुआ, और उसके अनुग्रह से ही उसे सांसारिक विषयों में दोषदर्शन होने लगा, जिससे वह वैराग्य को प्राप्त हुआ, अर्थात् उन सांसारिक विषयों के प्रति उसका 'मन' विरक्त हो गया। इस प्रकार विरक्त होकर जो व्यक्ति, 'वेदान्तश्रवण' करता है, वह तो 'मुख्य अधिकारी' कहलाता है। उस मुख्य अधिकारी को एकबार के श्रवण से (सकृत् श्रवण से) ही जीवन्मुक्ति पर्यवसायी 'तत्त्वज्ञान' हो जाता है। अर्थात् 'मुख्य अधिकारी' को 'तत्त्वज्ञान' के साथ ही (समकाल ही) जीवन्मुक्ति प्राप्त हो जाती है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि उस मुख्य अधिकारी 'तत्त्वज्ञान' होने के पूर्व ही 'उपासना' के द्वारा 'चित्तैकाग्रता' रूप 'चित्त-विश्रान्ति' को प्राप्त कर लिया है। ऐसे 'कृतोपास्ति' (जो उपासना कर चुका है) मुख्य अधिकारी के लिए 'तत्त्वज्ञान' होने के पश्चात् 'वासनाक्षय और मनोनाश' के 'अभ्यास' की अपेक्षा (आवश्यकता) नहीं होती। पूर्वोक्त श्रुति-स्मृतिवचनों ने भी 'ऐसे मुख्य अधिकारी' को लक्ष्य करके ही 'तत्त्वज्ञान' के पश्चात् 'कर्तव्यता' का निषेध किया है।

दूसरा 'अमुख्य अधिकारी' वह हैं, जो 'सगुण ब्रह्म' की उपासना से रहित हैं, वह किसी तरह 'विवेकादि साधन सम्पन्न' होकर 'ब्रह्म' को जानने के भिए उत्सुक हो जाता है, अर्थात् 'ब्रह्मजिज्ञासु' बन जाता है। उस कारण वह भी 'वेदान्त-श्रवण' करने लगता है। ऐसे 'अकृतोपास्ति' व्यक्ति को 'अमुख्य अधिकारी' कहा गया है। इस 'अमुख्य अधिकारी' को भी 'श्रवणादि साधनों' से 'तत्त्वज्ञान' (तत्त्वसाक्षात्कार) तो हो जाता है, किन्तु उसने 'तत्त्वज्ञान' होने के पूर्व 'वासनाक्षय' और 'मनोनाश' का 'अभ्यास' सम्यक्तया किया नहीं है। उस कारण उसके 'चित्त' की विश्रान्ति, अभी नहीं हो पाई है।

इस अमुख्य अधिकारी व्यक्ति को वेदान्तश्रवण करने से जो 'ब्रह्मसाक्षात्कार' (तत्त्वज्ञान = तत्त्वसाक्षात्कार) हुआ है, वह भी 'तत्वमसि'—इस महावाक्यरूप 'प्रमाण' से ही उत्पन्न (जन्म) है। उस कारण उस प्रमाण का विषय, 'ब्रह्मात्मैक्य' ही है, और वह 'निर्बाध' (बाधरहित) रहने के कारण 'प्रमा' रूप भी है। प्रमारूप रहने से 'अज्ञान' का निवर्तक भी है। तथापि हवा में रखे हुए दीपक के समान 'प्रारब्धकर्म' से होनेवाली 'भोगवासना' रूप 'हवा' (वायु) से वह ब्रह्मात्मैक्य रूप प्रभा, कम्पायमान हो सकती है। उस कारण पूर्वोत्पन्न हुआ साक्षात्कार (तत्वज्ञान), कदाचित् 'असम्भावना, विपरीत भावना, सन्दिग्धभावना' रूप प्रतिबन्धकों की उपस्थिति हो जाय तो 'अज्ञान' की निवृत्ति करने में समर्थ नहीं हो सकेगा। इसलिए अकृतोपास्ति अमुख्य अधिकारी के सम्भावित प्रतिबन्धकों की निवृत्ति के लिए 'तत्वज्ञान' होने के बाद भी 'वासनाक्षय' और 'मनोनाश' का अभ्यास उसे करना ही चाहिए।

इसी अभिप्राय से भगवान् व्यास ने अपने ब्रह्मसूत्र में "आवृत्तिः सकृदुपदेशात्" (ब्र० सू० ४।१।१)। इस सूत्र से अमुख्य अधिकारियों के लिए 'अभ्यास की' आवृत्ति करने का उपदेश किया है। अर्थात् 'आत्मज्ञान' (तत्वज्ञान' के पश्चात् 'वासनाक्षय'

१. इदन्त्वभ्युदयफलकोपासनविषयमधिकरणम्। तत्रापि 'यानि तावत् सम्यग्दर्शनार्थान्युपासनानि तान्यवघातादिवत् कार्यपर्यवसानानीति ज्ञातमेवैषमावृत्तिपरिमाणम्' इति भाष्यं राजते। तत्स्मारयितुमेवेहामुष्य प्रदर्शनम्।

२. तद्व्याकुर्वन्नित्यत्रवत्तद्सावृत्त्यधिकरणं परामृशति। यः पुनरित्यादि च भाष्यस्यार्थतोनुवाद इति द्रष्टव्यम्।

वासनासामान्यलक्षणं तद्विभागं तत्प्रयोजनं लक्षणं च वसिष्ठ आह—

'दृढभावनया त्यक्तपूर्वाऽपरविचारणम् । यदादानं पदार्थस्य वासना सा प्रकीर्तिता ॥
वासना द्विविधा प्रोक्ता शुद्धा च मलिना तथा । मलिना जन्महेतुः स्याच्छुद्धा जन्मविनाशिनी ॥

•

"बुद्धतत्त्वो न विद्याहं इति चेद्वासनाबलात् । अबुद्ध इव संक्लिश्यन् विधि ध्याने तदाहं'ती"ति ॥

तस्मान्मुख्याधिकारिणां वासनाक्षयमनोनाशाभ्यासाभावेऽप्यमुख्याधिकारिणां तत्त्वज्ञानानन्तरं चित्तविश्रान्त्यर्थं वासनाक्षयमनोनाशभ्यासोऽपेक्षितः । तदाह वसिष्ठः—

तस्माद्राघव यत्नेन "पौरुषेण विवेकि (क) ना (तः) । भोगेच्छां दूरतस्त्यक्त्वा तत्त्वमेतत्समाश्रयेत्" ।

इति । तस्मात्सर्वं समञ्जसम् ॥ ३ ॥

ननु केयं वासना यस्याः क्षयाय प्रयत्येतेत्याशङ्क्य वसिष्ठेन सा दर्शितेत्याह—वासनेति । समानस्य भावः सामान्यं साधारणलक्षणमित्यर्थः । तस्या वासनाया विभागं तासां विभक्तानां प्रत्येकं लक्षणम् । यथा भावनया त्यक्तं पूर्वापरविचारणं यथा भवति तथा पदार्थस्य स्वाभिमतस्यादानं ग्रहणं भवति, अस्मद्भाषा समीचीना अस्मद्देशः समीचीनः अस्मद्वंशोऽस्मत्पुत्र इति वासना प्रोक्ता पण्डितैरित्यर्थः ॥ मोक्षहेतुः शुद्धा, बन्धहेतुः मलिनाः इममेवार्थं स्पष्टयति—मलिनेत्यादिना । मलिना जन्महेतुः स्यादित्युक्तमेवार्थं स्पष्टयति—अज्ञानेति । ब्रह्मस्वरूपावरकेणाज्ञानेन सुष्ठु घनीभूत आकारो यस्य स तथोक्तः स चासौ घनाहङ्कारश्चेति तथा तच्छालिनी तत्सहितेति यावत् । अहङ्कारस्य घनाकारो भ्रान्ति परम्परा, सा चासुरसम्पत्प्रस्तावे भगवता दर्शिता—

•

और 'मनोनाश' के अभ्यास की अपेक्षा (आवश्यकता) न रहने पर भी उन 'अमुख्य अधिकारियों' को 'चित्त' की विश्रान्ति के लिए उनका (वासनाक्षय और मनोनाश का) अभ्यास करना ही चाहिये। 'षड्जादि स्वरों के साक्षात्कार के समान दुर्ज्ञेय 'आत्मसाक्षात्कार' है। वह आवृत्तिविशिष्ट श्रवण करते रहने से साध्य होता है। इसलिये उसकी आवृत्ति करनी ही चाहिए। क्योंकि "आत्मा वारे द्रष्टव्यः"इत्यादि श्रुतियों में उसका बार-बार उपदेश किया गया है। इसी प्रकार 'वेद', 'उपासीत' आदि श्रवण से उपास्य के साक्षात्कार रूप फल की हेतुभूत उपासनाओं में आवृत्ति करनी चाहिए।

आप्रायणादिति। मरणपर्यन्त उपासना करनी चाहिए क्योंकि 'स यावत्क्रतुरयमस्माल्लोकात्प्रैति'—इस श्रुति से उपास्य के प्रत्यय की अनुवृत्ति दृष्टिगोचर हो रही है। अतः मरणपर्यन्त 'अहङ्ग्रहोपासना' करनी चाहिए। एवं च इन सूत्रों से स्पष्ट हो रहा है कि अमुख्य अधिकारियों के लिए 'अभ्यास' की आवृत्ति करना कहा गया है। अतः अमुख्य अधिकारी को तत्वज्ञान हो चुकने पर भी चित्त की विश्रान्ति निमित्त 'वासनाक्षय' और 'मनोनाश' का अभ्यास अवश्य करते रहना चाहिए। 'मुख्य अधिकारी' के लिये 'तत्वज्ञान' होने के पश्चात् 'वासनाक्षय' और 'मनोनाश' के अभ्यास की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि उसका 'चित्त' विश्रान्त हो चुका है।

उक्त दो सूत्रों की भाष्यकार आचार्य शंकरपाद ने भी इसीप्रकार व्याख्या की है। अतएव 'आत्मेत्येव उपासीत',— इस श्रुति के अभिप्राय से कोई विरोध नहीं हो रहा है। इसी अभिप्राय से भाष्यकार ने भी वहाँ पर नियमविधि को स्वीकार किया है। इसी प्रकार विद्यारण्य स्वामी ने भी वार्तिकसार में इसी अर्थ को बतायाहै—यदि कहो कि जिसने तत्व समझ लिया है वह ध्यान का अधिकारी नहीं, तो हमारा कहना है कि वासना के प्रभाव से वह भी यदि गैर-समझ की तरह क्लेश का अनुभव करे तो ध्यानविधि का विषय अवश्य हो सकता है। पंचदशी में (४.५१) में भी बोध के बाद क्लेश रहने को हेय बताया है।

इसी अभिप्राय को वसिष्ठ ने भी बताया है—हे राघव ! पौरुषपूर्वक विवेक कर भोग की इच्छाओं से दूर रहते हुए इस तत्व का पूर्ण सहारा लेना चाहिये। अतः अमुख्याधिकारी के लिये जो बताया गया है, वह उचित ही है ॥ ३ ॥

शंका—वासना का क्षय करने में मनुष्य की प्रवृत्ति तभी हो सकेगी, जब उसे वासना के स्वरूप का ज्ञान हो। वासना का स्वरूप ही जब तक उसे ज्ञात न हो तब तक वासना के क्षय करने में उसकी प्रवृत्ति होना सम्भव नहीं है।

समा०—'वासना' का साधारण (सामान्य) लक्षण, 'वासना' का विभाग, 'वासना' का फल (प्रयोजन), तथा उस वासना का 'विशेष लक्षण'—इन सबको भगवान् वसिष्ठ ने बताया है—

जन्ममृत्युकरी प्रोक्ता मलिना वासना बुधैः । अज्ञानसुघनाकारघनाहङ्कारशालिनी ॥
पुनर्जन्माऽङ्कुरं त्यक्त्वा स्थिता सम्भ्रष्टबीजवत् । देहार्थं ध्रियते ज्ञातज्ञेया शुद्धेति चोच्यते" ॥ इति ।

तत्र ताश्च मलिनवासना जन्महेतवोऽनेकप्रकारार्दाशिताः—

"लोकवासनया जन्तोर्देहवासनयाऽपि च । शास्त्रवासनया ज्ञानं यथावन्नैव जायते" ॥ इति ।
"दम्भो दर्पोऽभिमानश्च[1] क्रोधः पारुष्यमेव च । अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम्" ॥ इति च ।

●

"इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् । इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥
असौ मया हतः शत्रुः हनिष्ये चापरानपि । ईश्वरोऽहमहं योगी[2] सिद्धोऽहं बलवान् सुखी ॥
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया । यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञान विमोहिताः ।"

इति । शुद्धा जन्मविनाशिनीत्युक्तमर्थं स्पष्टयति—जन्मांकुरं जन्ममूलं त्यक्त्वा परित्यज्य विनाश्येति यावत् । भर्जितबीजं नष्टबीजं प्रारब्धभोगाश्रयदेहार्थं देहस्थित्यर्थं ज्ञातं ज्ञेयमखण्डैकरमानन्दात्मवस्तु यथा तयोक्ताया वासना ध्रियते सा शुद्धेति योजना।

पुनर्जन्मकरीति पदं व्याचष्टे—तत्रेति । तयोर्मध्य इत्यर्थः । ननु मलिनवासना कतिविधा उत्पाद्यतामित्याशङ्क्य मलिनवासना अनन्ता । संक्षेपतस्त्रिविधा व्युत्पादिता स्मृतावित्याह—ताश्चेति । यथा सर्वे न निन्दन्ति यथा स्तुवन्ति तथाहमाचरिष्यामि इत्यभिनिवेशो लोकवासना सा सम्पादयितुमशक्या जन्मकोटिशतैरतः सा मलिनवासना । कथं लोकवासना सम्पादयितुमशक्येति चेत्, यत एव लोके श्रूयते—

"निरवधिगुणग्रामे रामे निरागसि वागसि स्फुरणमुषितालोका लोका वदन्ति तदन्तिके ।
वरतनुहृति बालिद्रोहं मनागपसमर्पणमपरिमितगुणे स्पष्टादुष्टे मुधा किमुदासतः ॥"

●

प्रथमतः 'वासना' का साधारण (सामान्य) लक्षण कर रहे हैं—जिस दृढ़ भावना से पूर्वापर के विचार के विना ही पदार्थों का ग्रहण होता है, जैसे—हमारी भाषा, सभी भाषाओं की अपेक्षा समीचीन है, तथा हमारा देश, अन्य समस्त देशों की अपेक्षा उत्तम है, तथा हमारा कुल, अन्य सभी कुलों की अपेक्षा श्रेष्ठ है, तथा हमारे पुत्र आदि अन्य सभी की अपेक्षा उत्तम हैं—इत्यादि अभिनिवेश जिस भावना से उत्पन्न होते हैं उस 'भावना' को विद्वानों ने 'वाचना' शब्द से कहा है ।

अब उस भावना (वासना) के विभाग को तथा 'फल' को बताते हैं—

वह 'वासना' दो प्रकार की होती है । (१) शुद्धवासना, और दूसरी (२) मलिनवासना । उनमें 'मलिन वासना' तो मनुष्य को जन्मप्राप्ति कराने में कारण (हेतु) होती है, अर्थात् मलिनवासना से 'जन्म', प्राप्त होता है । और शुद्धवासना, 'जन्म' की निवृत्ति कराने में कारण (हेतु) होती है, अर्थात् शुद्धवासना से 'मोक्ष' होता है ।

अब 'मलिनवासना' का 'स्वरूपलक्षण' बताते हैं—

ब्रह्म के स्वरूप को आवृत करनेवाले 'अज्ञान' से घनीभूत हुए 'अहंकार' के सहित जो 'वासना' है, उसे विद्वानों ने 'मलिनवासना' शब्द से कहा है । यह 'मलिनवासना' ही मनुष्य को पुनः पुनः जन्म की प्राप्ति कराती है ।

भ्रान्तिज्ञान की परम्परा ही 'अहंकार' का घनीभूत आकार है । अहंकार के घनीभूत आकार को (अहंकार के घनेपन को = अहंकार की घनता को) श्रीमद्भगवद्गीता के सोलहवें अध्याय में (श्लोक १३-१५) आसुरी सम्पत्ति का निरूपण करते हुए भगवान् ने बताया है ।

तेरहवें श्लोक का पूर्वार्ध—'इदमद्य' इत्यादि है । अर्थात् मैंने आज यह प्राप्त कर लिया है, अब मैं इस मनोरथ को प्राप्त करूँगा । मेरे पास इस समय इतना धन है और वह, भविष्य में इससे भी प्रचुर हो जायगा ।

---

१. अतिमानश्चेति भाष्यकारपाठः ।
२. भोगीति गीतापाठः ।

योषित्पुत्रादिविषयाऽभिलाषाश्च मलिनवासना द्रष्टव्याः। विवेकदोषदर्शनसत्सङ्गसन्निधित्यागप्रतिकूलवासनोत्पादनेन उक्तानां मलिनवासनानामन्तःकरणगतानामनुत्पादो वासनाक्षयाऽभ्यासः। तथैव वसिष्ठादिभिर्दर्शितम्—

"दृश्याऽसम्भवबोधेन रागद्वेषादितानवे। रतिर्घनोदिता या तु बोधाभ्यासं विदुः परम्" ॥ इति।

"असङ्गव्यवहारित्वाद्भवभावनवर्जनात् । शरीरनाशदर्शित्वाद्वासना न प्रवर्त्तते" ॥ इति च।

"नैष्कर्म्येण न तस्यार्थो न तस्याऽर्थोऽस्ति कर्मभिः। न समाधानजप्याभ्यां यस्य निर्वासनं मनः॥

आत्माऽसङ्गस्ततोऽन्यत् स्यादिन्द्रजालमिदं जगत्। इत्यचञ्चलनिर्णीते कुतो मनसि वासना" ॥ इति।

●

निर्दुष्टमपि परमात्मानं राममनन्तकल्याणगुणनिलयं प्रणतिमात्रेण सर्वपुरुषार्थदं श्रीरामं केचन पुरुषधौरेयाः स्तुवन्ति, केचन पुरुषाः सदा निन्दन्ति किमु वक्तव्यमस्मदादिषु। तस्माल्लोकवासनायाः सम्पादयितुमशक्यत्वात् स्वहितमेव कर्तव्यम्, तदाह—

"विद्यते न खलु कश्चिदुपायः सर्वलोकपरितोषकरो यः।
सर्वथा स्वहितमाचरणीयं किं करिष्यति जनो बहुजल्पः॥" इति।

तथा भर्तृहरिरपि—

"निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः" ॥' इति।

तस्माल्लोकवासनायाः सम्पादयितुमशक्यतया तत्राभिनिविष्टचित्तस्य ज्ञानप्रतिबन्धकतया मलिनत्वम्। एतदभिप्रेत्योक्तम्—

●

मैं बहुत बड़ा धनी हूँ, और अंगोंसहित वेदों का परिज्ञाता हूँ। मेरे सदृश दूसरा कौन है ? मैं याग करूँगा, दान दूँगा और आमोद-प्रमोद करूँगा—इस प्रकार अज्ञानवश मोह को प्राप्त हुए, अनेक प्रकार के चित्तविकारों से भ्रान्त हुए, मोहजाल से आवृत हुए, विषयों के भोगों में अत्यन्त आसक्त रहने वाले आसुर स्वभाव के मनुष्य अपवित्र नरक में गिरते हैं।

अब 'शुद्धवासना' का 'स्वरूपलक्षण' बताते हैं—जो 'वासना' जन्म के मूल को नष्ट करके दग्धबीज के समान देह की स्थिति के निमित्त स्थित रहती है, तथा जिस वासना से अखण्ड-एकरस-आनन्दात्मक वस्तु का ज्ञान होता है, उस 'वासना' को 'शुद्ध वासना' कहते हैं।

अब पूर्वोक्त 'मलिन वासना' के विभाग को बताते हैं। 'जन्म' दिलाने वाली वह 'मलिनवासना' यद्यपि अनन्त होती है, तथापि स्मृतियों में संक्षेपतः उसके तीन प्रकार बताये हैं। पूर्वोक्त मलिन वासना, (१) लोक वासना, (२) शास्त्र-वासना, (३) देह वासना के भेद से तीन प्रकार की होती है। इन तीन वासनाओं में से कोई भी वासना, जिस व्यक्ति में रहती है, उसे वासनारूप प्रतिबन्ध के कारण 'आत्मा' का यथार्थज्ञान नहीं होता।

लोकवासना को बताते हैं—हम ऐसा आचरण (वर्ताव-व्यवहार) करें, जिससे लोग हमारी निन्दा न करें,—इस 'अभिनिवेश' को 'लोकवासना' कहते हैं। इस लोकवासना को सैकड़ों-करोड़ों जन्मों में भी पूर्णतया सम्पन्न कर पाना सम्भव नहीं है। क्योंकि सम्पूर्ण दोषों से रहित, तथा समस्त शुभगुणों से सम्पन्न, तथा जिनका नामस्मरण तथा प्रणाम, समस्त पुरुषार्थों की प्राप्ति करा देता है, जो राम-कृष्ण आदि ईश्वर कहे जाते हैं, उनकी भी स्तुति (प्रशंसा) सब लोग नहीं करते। कुछ विवेकी श्रेष्ठ लोग तो उनकी स्तुति करते हैं, और कुछ अधम प्रकृति के नीच लोग, उनकी निन्दा भी करते हैं। जब कि राम-कृष्ण जैसे ईश्वर की भी सब लोग स्तुति नहीं करते, तो हम जैसे जीवों की सभी लोग, स्तुति कैसे करेंगे ? अर्थात् नहीं करेंगे ? अर्थात् नहीं करेंगे। अतः 'लोकवासना' का सम्पादन कर पाना कभी भी सम्भव नहीं है, अर्थात् अशक्य है। इसलिए अधिकारी मनुष्य को चाहिये कि वह लोकवासना का परित्याग करके अपना 'कल्याण' सम्पन्न करे।

इसी अभिप्राय को अन्य ग्रन्थकारों ने भी व्यक्त किया है। इसका कोई लौकिक उपाय, लोक में या शास्त्र में नहीं है, जिसके आचरण से सभी लोग स्तुति करने लग जांय। अतः मुमुक्षु पुरुष को चाहिए कि वह 'लोकवासना' का परित्याग कर

१. स्तुवन्त्विति पदमिति च पाठो दृश्यते।

"दुःखं जन्म जरा दुःखं मृत्युदुःखं पुनः पुनः । संसारमण्डलं दुःखं पच्यन्ते यत्र जन्तवः" ॥ इति इतिहासे ।

"निःसङ्गता मुक्तिपदं यतीनां सङ्गादशेषाः प्रभवन्ति दोषाः ।
आरूढयोगोऽपि निपात्यतेऽधः सङ्गेन योगी किमुताऽल्पसिद्धिः" ॥ इति विष्णुपुराणे ।

तथा भागवतेऽपि—

"सङ्गं त्यजेत मिथुनव्रतिनां मुमुक्षुः सर्वात्मना न विसृजेद् बहिरिन्द्रियाणाम् ।
एकश्चरेद्रहसि चित्तमनन्त ईशे युञ्जीत तद्व्रतिषु साधुषु चेत्प्रसङ्गः" ॥ इति ।

●

"न लोकचित्तग्रहणे रतस्य न भोजनाच्छादनतत्परस्य ।
न शब्दशास्त्राभिरतस्य मोक्षो न वाऽतिरम्यावसथप्रियस्य" ॥ इति ।

शास्त्रवासना त्रिविधा—पाठव्यसनमर्थव्यसनमनुष्ठानव्यसनञ्चेति । त्रयाणामपि दुःसम्पादत्वान्मलिनत्वम् । तथाहि—पाठस्य दुःसम्पादत्वं तैत्तरीयश्रुतौ भारद्वाजोपाख्यानेनावगम्यते । "भारद्वाजो ह त्रिभिरायुर्भिर्ब्रह्मचर्यमुवास । तं ह जीर्णं स्थविरं शयानं इन्द्र उपव्रज्योवाच । भरद्वाज यत्ते चतुर्थमायुर्दद्यां किमेतेन कुर्याः इति । ब्रह्मचर्यमेवैतेन चरेयमिति होवाच । तं ह त्रीन् गिरिरूपानविज्ञातानिव दर्शयाञ्चकार । तेषां हैकैकस्मान्मुष्टिमाददे । स होवाच भरद्वाजेत्यामन्त्र्य । वेदा वा एते । अनन्ता वै वेदाः । एतद्वा गतैः त्रिभिरायुर्भिरन्ववोक्षेथाः । अथ त इतरदनूक्तमेव । एहीमं विद्धी"ति ॥ पञ्चसप्ततिवार्षिकं स्वाध्यायमधीयानं शयानं भरद्वाजं दृष्ट्वा चतुर्थमायुर्दास्यामीत्युक्तवान् । तच्छ्रुत्वा भरद्वाजोऽध्ययने मतिं चकार । पश्चात्तद्दोषदर्शनेन ततो निवार्य तस्मै ब्रह्मविद्यामुपदिदेश इत्युपाख्यानश्रुतेरर्थः ॥ अतएव—

"अनन्तशास्त्रं बहु वेदितव्यमल्पश्च कालो बहवश्च विघ्नाः ।
यत्सारभूतं तदुपासितव्यं हंसो यथा क्षीरमिवाम्बुमिश्रम्" ॥
"अधीत्य चतुरो वेदान् धर्मशास्त्राण्यनेकशः । यस्तु ब्रह्म न जानाति दर्वी पाकरसं यथा ॥
बहुशास्त्रकथाकन्थारोमन्थेन वृथैव किम् । अन्वेष्टव्यं प्रयत्नेन तत्त्वज्ञैर्ज्योतिरान्तरम् ॥" इति ।

●

सभी प्रयत्न, 'आत्मकल्याण' के लिए करे । लोगों की निन्दा-स्तुति की ओर ध्यान न दें। क्योंकि निन्दक या स्तावक लोग, निन्दा, स्तुति करके कोई हानि या लाभ नहीं कर सकते 'न काऽपि हानिर्न च कोऽपि लाभः ।'

भर्तृहरि ने भी इसी तथ्य को व्यक्त किया है—नीतिकुशल विद्वान् निन्दा करें कि वा स्तुति करें, तथा लक्ष्मी प्राप्त हो अथवा चली जाय, तथा आज ही मृत्यु हो जाय अथवा चिरकाल के बाद हो—इन सब बातों का विचार नहीं करते । वे धैर्यशाली विवेकी पुरुष तो शास्त्रविहित मार्ग से एक पग भी विचलित नहीं होते । अर्थात् लोककृत निन्दास्तुति आदि की उपेक्षा करके अपना आत्मकल्याण करने में ही अहर्निश प्रयत्न करते रहते हैं ।

लोकवासना में अभिनिविष्ट रहनेवाले मनुष्य को 'आत्मज्ञान' नहीं हो पाता—यह बात अन्य शास्त्रों में भी कही गई है । जो मनुष्य, लोगों का चित्तरंजन करने में ही अहर्निश सब प्रकार के प्रयत्न करता रहता है, तथा जो व्यक्ति, भोजन-आच्छादन के जुटाने में ही रात-दिन अपने को लगाए रखता है, तथा जो मनुष्य, व्याकरण आदि अनात्मशास्त्र के अध्ययन में ही अभिनिवेश रखता है, तथा जो व्यक्ति, सुन्दर-अतिसुन्दर मनोरम गृह-भवनों में ही सुख का अनुभव करने का अभिनिवेश रखता है, उस मनुष्य को 'मोक्ष' की प्राप्ति नहीं होती । अतः लोकवासना का पूर्णतया सम्पादन करना शक्य न होने से (अशक्य रहने से), उसमें अभिनिविष्ट होकर रहने वाला चित्त तो 'ज्ञान' का प्रतिबन्धक हो जाता है । यही 'लोकवासना' की मलिनता है । इसलिये मुमुक्षुपुरुष को चाहिये कि वह 'लोकवासना' का सभी प्रकार से (सर्वथा) परित्याग करे ।

अब 'शास्त्रवासना' को बताते हैं—शास्त्र के अभिप्राय (रहस्य-हृदय-तात्पर्य) को न जानकर, केवल वाद-विवादार्थ अथवा लोकप्रसिद्ध्यर्थं, शास्त्राध्ययन की वासना को 'शास्त्रवासना' कहते हैं ।

वह शास्त्रवासना भी (१) पाठवासना, (२) अर्थवासना, (३) अनुष्ठानवासना के भेद से तीन प्रकार की होती है । सम्पूर्ण आयु तक वेद-शास्त्रों का पाठ पढ़ते रहना,—उनके तात्पर्य (हृदय-रहस्य) को न जानना—इसी को 'पाठवासना' कहते हैं । यह पाठवासना महर्षि भरद्वाज को थी । वे अपनी आयु के तीन भाग तक अर्थात् आयु के पञ्चसप्तति (७५) वर्ष तक वेद के पाठ का अध्ययन ही करते रहे । पढ़ते-पढ़ते वृद्ध हो गये, शरीर अत्यन्त जीर्ण-शीर्ण हो गया । इस प्रकार हुए भरद्वाजमहर्षि

"स्त्रीणां तत्संङ्गिनां सङ्गं त्यक्त्वा दूरत आत्मवान् । क्षेमे विविक्त आसीनश्चिन्तयेन्मामतन्द्रितः" ॥ इति च ।

"महत्सेवां द्वारमाहुर्विमुक्तेस्तमोद्वारं योषितां सङ्गिसङ्गम् ।
महान्तस्ते समचित्ताः प्रशान्ता विमन्यवः सुहृदः साधवो ये" ॥ इति च ।

तत्सङ्गे पातित्यमाह—

"योषिद्धिरण्याऽऽभरणाऽम्बरादिद्रव्येषु मायारचितेषु मूढः ।
प्रलोभितात्मा ह्युपभोगबुद्धया पतङ्गवन्नश्यति नष्टदृष्टिः" ॥ इति ।

●

तस्मादर्थव्यसनमपि दुःसंपाद्यमेव । अनुष्ठानव्यसनं विष्णुपुराणे निदाघस्योपलभ्यते—ऋतुना पुनः पुनर्बोध्यमानोऽपि निदाघोऽनुष्ठानव्यसनेन तत्त्वं न बुबुधे । तृतीये पर्यायेऽतिक्लेशेन सर्वपरित्यागेन तत्त्वं विज्ञातवान् । अतोऽनुष्टानव्यसनमपि तत्त्वज्ञानप्रतिबन्धकमेव । तस्मात्त्रिविधवासनाया ज्ञानप्रतिबन्धकत्वान्मलिनत्वं ।

देहवासना द्विविधा—आत्मवासना तत्सम्बन्धिवासना चेति । मनुष्योऽहमित्यात्मवासना । इतरा द्विविधा—शास्त्रीया लौकिकी चेति । प्रथमा द्विविधा—गुणद्वेषापनयनप्रयुक्ता ध्यानप्रयुक्ता चेति । गङ्गास्नान-शालग्रामोदकाभिषेकादिनाऽद्या, शौचाचमनादिना द्वितीया । लौकिकी वासना द्वितीया—तैलपानमरीचभक्षणादिना प्रथमा, अभ्यङ्गस्नानादिना द्वितीया, ज्ञानप्रतिबन्धकत्वात् जन्महेतुत्वाच्च समस्तदेहवासनानां मलिनत्वमिति ।

अन्यदपि ज्ञानप्रतिबन्धकीभूतं मलिनवासनाजातं भगवता दर्शितम्—दम्भेति । स्वानुभवसिद्धमलिनवासनाजातमन्यदप्यस्तीत्याह—योषिदिति ।

●

को देखकर एक बार देवराज़ इन्द्र, उनके समीप आये और बोले—हे भरद्वाज ! यदि मैं, तुम्हें आयु का चतुर्थ भाग दे दूँ, तो तुम उस आयु को पाकर क्या सम्पादन करोगे ? देवराज इन्द्र के प्रश्न को सुनकर महर्षि भरद्वाज ने कहा कि प्राप्त हुए आयु के चतुर्थ भाग में भी मैं वेदों के पाठ का ही अध्ययन करूँगा ।

यह सुनकर देवराज इन्द्र को उनपर दया आई, तब भरद्वाजमहर्षि की उस पाठवासना को निवृत्त करने के लिये इन्द्र ने उन्हें, महान् पर्वतों के आकारों में वेदों का दर्शन कराया ।

इन्द्र ने वेदरूप पर्वतों से एक मुष्टि लेकर भरद्वाज महर्षि से कहा कि हे भरद्वाज ! अब तक तुमने मुष्टिमात्र वेद का अध्ययन किया है, अभी तो ये पर्वताकार वेद, तुम्हारे अध्ययनार्थ शेष बचे हैं ।

इन्द्र के इस वचन को सुनकर भरद्वाज महर्षि की 'पाठवासना' निवृत्त हो गई । तदनन्तर देवराज इन्द्र ने भरद्वाज को ब्रह्मविद्या का उपदेश किया । यह कथा तैत्तिरीय श्रुति में भरद्वाजोपाख्यान के नाम से प्रसिद्ध है ।

तथा वेद के और शास्त्र के तात्पर्य को बिना जाने ही समग्र आयु तक उनके अर्थ का अध्ययन करते रहना ही 'अर्थवासना' शब्द से कही जाती है । वह अर्थवासना भी 'पाठवासना' के समान ही दुःसम्पाद्य रहने से 'मलिनवासना' ही है । अतएव विद्वानों ने कहा है—'शास्त्र' अनन्त हैं तथा शास्त्रों में प्रतिपादित पदार्थ भी अनन्त हैं । उन पदार्थों को स्वल्प समय में जानना संभव नहीं है । मनुष्य की आयु अत्यन्त अल्प है । उस अल्प आयु में भी रोग (आधि-व्याधि) रूप अनेक विघ्न उपस्थित होते हैं । अतः विघ्नों से घिरी हुई अल्प आयु में समस्त वेदों का तथा शास्त्रों का अर्थ जानना शक्य ही नहीं है । अतः जेसे हंस-पक्षी, 'जलमिश्रित क्षीर' से क्षीरमात्र को ही ग्रहण कर लेता है, उसी प्रकार अधिकारी मुमुक्षु को भी चाहिये कि समस्त शास्त्रों का सारभूत जो 'ब्रह्मात्म' रूप अर्थ है, उसी को ग्रहण कर ले ।

किञ्च—जो व्यक्ति चारों वेदों के अर्थ का अध्ययन तथा अनेक धर्मशास्त्रों के अर्थ का अध्ययन करता है, किन्तु 'अहम्ब्रह्मास्मि'—इस प्रकार से 'ब्रह्म' को यदि नहीं जानता है, तो वह व्यक्ति, उस 'दर्वी' (करछी) के ही समान है, जो विविध व्यञ्जनों में फिरती रहती है, तथापि उन व्यञ्जनों के 'रस' को नहीं जानती, यही 'अर्थवासना' का स्वरूप है । अनेक शास्त्रों को कथारूप कन्या की जुगाली (रोमन्थ) करते रहने से क्या लाभ ? तत्त्वज्ञ को चाहिये कि वह अपनी अन्तर ज्योति का अन्वेषण करे । अन्यत्र भी जो कहा गया है—वह भी दुःसम्पाद्य है ।

प्रतिकूलवासना मैत्र्यादिवासनाः। ताश्च दर्शिताः "मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्याऽपुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादन"मिति।

●

उक्तानामनेकजातानां मलिनवासनानां कुतो निवृत्तिरित्याशङ्क्याह—**विवेकेति**। तत्र सम्मतिमाह—**तथैवेति**। दृश्यमानं सर्वमात्मव्यतिरिक्ततया वस्तुतो नास्तीति बोधो **दृश्यासम्भवबोधः**, तेन स्वात्मनि रागादिप्रतिवन्धासम्भवादात्मव्यतिरिक्तविषयस्य परमार्थतोऽभावाद्रागादीनां तनुत्वं सम्पद्यते। ततश्च **रागद्वेषादितानवे** स्वात्मानन्दानुभवे या रतिरुपैति रतेराभिमुख्येनात्मन्यन्तःकरणस्यात्मानन्दैकाकारतेति यावत्। **बोधाभ्यासं** वासनाक्षयाभ्यासं। **बुधाः** पण्डिताः ब्रह्मनिष्ठा इत्यर्थः। मलिनवासनानामनन्तत्वात्प्रकारान्तरेण तन्निवृत्युपायप्रतिपादकं श्लोकं पठति—**असङ्गेति**। असङ्गोऽहमिति व्यवहारोऽस्यास्तीत्यसङ्ग—व्यवहारी तस्य भावः तत्त्वं तस्मादित्येतत्। व्यवहारो द्विविधः[1]—अभिज्ञाव्यवहारो अभिलापनव्यवहारश्चेति। तत्रासङ्गोऽहमिति निरन्तरप्रत्ययावृत्तिं कुर्वतस्तदितरवासना न प्रवर्तते; आत्मानुबन्धानवासनायाः प्रवलत्वात्। तदुक्तम्—"अजं सर्वमनुस्मृत्य जातं नैव तु पश्यति" इति। वक्ष्यमाणप्रकारेण दोषदर्शनेन भवस्य संसारस्य भावनस्य स्मरणानुकूलसंस्कारात्मकवासनायाः **विवर्जनात्** परित्यागात्तिरोभावादित्यर्थः ततो वासना न प्रवर्तते इति। तदाऽहुः—"दुःखं सर्वमनुस्मृत्य कामभोगान्निवर्तते"। तथाचोक्तम्—

●

'अनुष्ठानवासना' का स्वरूप इस प्रकार है—श्रुति-स्मृतिरूप शास्त्रों से विहित 'कर्मों' के अनुष्ठान करने में ही सम्पूर्ण आयु को व्यतीत करना ही 'अनुष्ठानवासना' शब्द से कहा जाता है। यह 'अनुष्ठानवासना' एक समय 'निदाघ' नामक मुनि को हुई थी। 'ऋभु' नामक ऋषि ने उसे दो बार 'उपदेश' किया, तथापि 'निदाघ' मुनि के मन में 'अनुष्ठानवासना' विद्यमान' रहने के कारण उसे 'ब्रह्मतत्त्व' का ज्ञान नहीं हो पाया। जब तीसरी बार 'ऋभु' ने उसे उपदेश किया, तब अतिक्लेश से समग्र अनुष्ठान का उसने परित्याग किया, और उसे 'आत्मतत्त्व' का साक्षात्कार हो पाया। अतः अनुष्ठानवासना भी 'तत्त्वज्ञान' की प्रतिबन्धक है। यह कथा विष्णुपुराण में बताई गयी है। यह तीनों प्रकार की 'शास्त्रवासना', 'आत्मज्ञान' के होने में प्रतिबन्धक है। अतः 'शास्त्रवासना' को भी 'मलिनवासना' के नाम से कहा गया है।

अब 'देहवासना' को बताते हैं—भौतिक स्थूल शरीर में जो 'अभिनिवेश' है, उसे 'देहवासना' कहते हैं।

वह 'देहवासना भी दो प्रकार की होती है—(१) देहविषयक होती है और (२) देह सम्बन्धी गुणविषयक होती है। अर्थात् एक 'आत्मवासना और दूसरी 'तत्सम्बन्धी वासना' उनमें से 'मनुष्योऽहं, ब्राह्मणोऽहम्'—इस प्रकार की जो वासना है, उसे 'देहविषयक वासना' (आत्मवासना) कहते हैं।

दूसरी जो 'देहसम्बन्धी गुणविषयक' वासना (तत्सम्बन्धीवासना) है, उसके भी दो प्रकार होते हैं—(१) शास्त्रीयावासना, और दूसरी (२) लौकिकी वासना। उनमें भी पहिली जो 'शास्त्रीयावासना' है, उसके भी दो प्रकार हैं—(१) गुणाधानप्रयुक्ता, और (२) दोषापनयनप्रयुक्ता। उनमें से शास्त्रविहित गंगास्नान, शालग्रामोदक, अभिषेक आदि के करने से 'देह' में सद्गुणों के भरने की जो 'वासना' है, उसे 'गुणाधानप्रयुक्त' कहा जाता है। और 'शौच-आचमन' आदि के करने से 'देहस्थितदोषों' के अपनयन करने की जो 'वासना' है, उसे 'दोषापनयन (दोषनिवृत्ति) प्रयुक्ता' कहा जाता है।

इसी प्रकार 'लौकिकीवासना' भी दो प्रकार की होती है—(१) तैलपान, मरीचिभक्षण आदि करके 'देह' में सौन्दर्यादि गुणों के धारण करने की वासना, और (२) मलनिवर्तक औषध भक्षण, तथा जलपान आदि करके 'देह' से 'मल' का अपसारण करने की वासना।

यह 'देहवासना', ज्ञान की प्रतिबन्धक रहने से 'जन्मान्तर' की प्राप्ति कराने में 'कारण' होती है। अतः इसे भी 'मलिनवासना' कहते हैं। एवं च (१) लोक वासना, (२) शास्त्रवासना, (३) देहवासना—ये तीनों वासनाएँ 'मलिनवासनाएँ ही कहलाती हैं। उक्त त्रिविध वासनाओं के अतिरिक्त अन्य भी, जो ज्ञान की प्रतिबन्धक 'मलिनवासनाएँ' हैं, उन्हें गीता के सोलहवें अध्याय में भगवान् ने बताया है—दम्भेति। हे पार्थ! **आसुरी सम्पत्ति के अनुसार उत्पन्न हुए पुरुष के दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, कठोरता और अज्ञान—ये सब गुण होते हैं। अर्थात् दम्भ, दर्प आदि आसुरी सम्पत्तियाँ हैं।**

---

१. उपादानार्थक्रिययोः प्रकृतेऽनुपयोगाद्विवरणोक्तचातुर्विध्येऽरुचिरिति ज्ञेयम्।

अस्यार्थः—सुखिप्राणिष्वेते मदीया इति मैत्रीं; दुःखिप्राणिषु यथा मम दुःखं मा भूदेवमन्येषामपि दुःखं मा भूदिति करुणां; पुण्यकारिषु पुरुषेषु मुदितां; पापिषूपेक्षां भावयतो रागद्वेषाऽसूयामदमात्सर्यादिनिवृत्त्या चित्तप्रसादो भवतीति।

●

"मस्तकस्थायिनं मृत्युं यदि पश्येदयं जनः। आहारोऽपि न रोचेत किमुतान्या विभूतयः॥" इति।

श्रीमद्भागवते भगवताप्युक्तम्—

"कोन्वर्थः सुखयत्येनं कामो वा मृत्युरन्तिके। आघातं नीयमानस्य वध्यस्येव न तुष्टिदः॥" इति॥

अथवा शरीरनाशदर्शित्वाद्भवभावनवर्जनं ततोऽसङ्गव्यवहारित्वं ततो वासनानिवृत्तिरित्युत्तरोत्तरहेतुत्वं द्रष्टव्यम्। दोषप्रतिपादकं वचनं पठति—दुःखमिति। एवमात्मव्यतिरिक्तं सर्वं दुःखात्मकमनुसन्दधतः सर्वानात्मवासनानिवृत्तिर्भवतीति तात्पर्यम्।

लम्पटसङ्गराहित्यस्य मोक्षसाधनत्वप्रतिपादकं श्लोकं पठति—निःसङ्गतेति। सङ्गराहित्यमित्यर्थः। मुक्तिपदं मोक्षमार्गः। तदुक्तं मनुना—

●

इसी प्रकार उत्तमप्रकृतिलोकानुभवसिद्ध अन्य कितनी ही मलिनवासनाएँ हैं, उनको बता रहे हैं—स्त्री-पुत्रादि-विषयों की अभिलाषा भी मलिन वासना ही है। ये सभी मलिनवासनाएँ 'ज्ञान' की प्रतिबन्धक रहने से इन्हें दूर करना मुमुक्षु-पुरुषों के लिये अपरिहार्य है।

शंका—उन मलिनवासनाओं की निवृत्ति किस उपाय से होती है?

समा०—ये मलिन वासनाएँ पूर्वोक्त रीति से अनेक प्रकार की हैं। अतः वसिष्ठ भगवान् ने उन वासनाओं की निवृत्ति के उपाय भी अनेक प्रकार के बताये हैं।

(१) नित्य—अनित्य वस्तु का विवेक, (२) विषयों में दोषदर्शन, (३) महात्मा पुरुषों का सत्संग, (४) विषयीजनों के संसर्ग का परित्याग, तथा (५) मैत्री—करुणा आदि विरोधी वासना की उत्पत्ति, इत्यादि उपायों से मलिन वासनाओं की निवृत्ति होती है। इन विवेकादि उपायों से अपने अन्तःकरण में मलिन वासनाओं को उत्पत्ति न होने देना ही 'वासनाक्षय' का अभ्यास कहा जाता है। यही तथ्य, वसिष्ठ भगवान् के शब्दों में इस प्रकार है—

यह दृश्यमान समग्र प्रपञ्च, अधिष्ठानरूप आत्मा से भिन्न नहीं है, अर्थात् वास्तविक नहीं है—इस प्रकार से दृश्यप्रपञ्च के असम्भव का जो ज्ञान हो रहा है, उससे प्रपञ्चरूप विषय का अभाव प्रतीत होता है, उस कारण मुमुक्षु के मन में राग-द्वेषादि-रूप वासना की निवृत्ति हो जाती है। तब यह मुमुक्षु अपने ही आनन्दस्वरूप का अनुभव करने लगता है। उसी में उसको दृढ़ प्रेम हो जाता है। इसी को विद्वानों ने 'वासनाक्षय' का अभ्यास'—यह नाम दिया है।

मलिन वासनाओं के निवृत्त्यर्थ अन्य उपाय भी बताये गये हैं—

'मैं असंग हूँ'—इस प्रकार की वृत्तियों के प्रवाहरूप व्यवहार को निरन्तर करते रहने से 'मन' में अन्य वासना का उदय ही नहीं होता, तथा 'प्रपञ्च' के स्मरण का त्याग करने से भी 'अन्य वासना' का उदय नहीं होता। तथा निरन्तर अपने देहपात (मृत्यु) का विचार करते रहने से भी अन्य रागादिरूप वासना उदित नहीं हो पाती।

अथवा—'शरीरनाशदर्शित्व', 'भव-भावन-वर्जन' में हेतु है और 'भव-भावन-वर्जन', असङ्गव्यवहारित्व में हेतु है, और 'असंगव्यवहारित्व', वासनानिवृत्ति में हेतु है—इस रीति से उत्तरोत्तर 'हेतुत्व' समझना चाहिए।

समाधि और जप से जिसका मन अशुद्ध वासनाओं से शून्य नहीं हुआ है, उसे न कर्म से कोई मतलब है और न कर्मत्यागरूप संन्यास से ही। जिसके मन में यह अप्रकम्प्य निश्चय है कि आत्मा सब सम्बन्धों से रहित है और आत्मा से भिन्न यह जगत् इन्द्रजाल-सा मिथ्या है, उसके मन में वासना क्यों होगी?

इसी अभिप्राय से ग्रन्थकार, दोषप्रतिपादक वचन को बता रहे हैं—

'जन्म' भी दुःखरूप है, तथा 'जरा' भी दुःखरूप है, तथा पुनः-पुनः मरण (मृत्यु) भी दुःखरूप है। कहाँ तक कहें, यह सम्पूर्ण संसारमण्डल ही दुःखरूप है। जिस संसारमण्डल में ये समस्त अज्ञानी जीव, पुनः-पुनः 'जन्म-मरणादि' को प्राप्त होते रहते हैं। इस प्रकार 'आत्मा' के अतिरिक्त यह सम्पूर्ण 'जगत्' दुःखरूप है—यह निरन्तर चिन्तन करते रहने पर मनुष्य के मन की 'राग-द्वेषादि' मलिनवासनाएँ निवृत्त होती हैं।

तथा दैवसम्पदभ्यासेनाऽऽसुरसम्पन्नश्यति। दैवी सम्पद्भगवता दर्शिता—"अभयं सत्त्वसंशुद्धि"रित्यारभ्य "भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारते"त्यन्तेन। "अमानित्व"मित्यादिनोक्ताऽमानित्वादिधर्माभ्यासेन तद्विपरीतमानादयो नश्यन्ति॥

तथा च मैत्र्यादिवासनां सङ्कल्पपूर्वकमभ्यस्याऽनन्तरमजिह्वत्वादिधर्मानभ्यसेत्।

●

"अध्यात्मरविरासीनो निरपेक्षो निराशिषः! आत्मनैव सहायेन सुखार्थी विचरेदिह॥

"कपालं वृक्षमूलानि कुचेलमसहायता। समता चैव सर्वस्मिन्नेतन्मुक्तस्य लक्षणम्॥" इति।

अन्यत्रापि—

"तस्माच्चरेत वै योगी सतां धर्ममदूषयन्। जना यथाऽवमन्येरन् गच्छेयुर्नैव सङ्गतिमि"ति॥

भारतेऽपि—

अहेरिव गणाद्भीतः सम्मानान्नरकादिव। कुणपादिव च स्त्रीभ्यस्तं देवाः ब्राह्मणं विदुः॥" इति।

संगे सति किं न भवतीत्याह—संगादिति। दोषाः राग-द्वेष-मोहाः; मोहो भ्रान्तिः। किं कुर्वन्तीत्यत आह—आरूढेति। संगोत्पन्नदोषैरारूढयोगो योग्यधः नरके पात्यते किमु वक्तव्यमल्पसिद्धिरारुरुक्षुः पात्यत इत्यत्र। तस्मान्निःसङ्गत्वं मुमुक्षूणामावश्यकमिति भावः। इदानीं दम्पतिसङ्गत्यागप्रतिपादकं सौभरिवचनमुदाहरति—संगमिति। मिथुनवृत्तीनां दम्पतीनामेकादशेन्द्रियाणि बहिर्न विसृजेत् तद्विसर्जनेन नरके पात्यते। प्राह मनुः—

●

तथा "निःसंगता" आदि वचनों के द्वारा विष्णुपुराण में भी कहा गया है कि 'विषयलंपट पुरुषों का संसर्ग-परित्याग करने से भी मलिनवासना की निवृत्ति होती है। उस निवृत्ति के द्वारा 'संगपरित्याग' भी मुमुक्षु के मोक्ष का साधन होता है। विषयासक्त (लम्पट) पुरुषों के संगपरित्यागरूप निःसंगता (असंगता) ही यतियों (संन्यासियों) को मुक्ति प्राप्ति का मार्ग है। क्योंकि विषयासक्त पुरुषों के 'संग' से मनुष्य में राग-द्वेष-मोहादिक दोष प्राप्त होते हैं। उन मलिन वासनारूप दोषों से 'योगारूढ़ पुरुष' का भी अधःपतन हो जाता है, तो योगारूढ़ होने की इच्छा रखनेवाला पुरुष, क्यों नहीं नीचे गिर सकता है? अतः तत्त्ववेत्ता पुरुष, सब प्रकार से विषयलम्पट पुरुष से संसर्गरहित होकर रहे। तथा चोक्तम्—

यह तत्त्वज्ञानी पुरुष, श्रेष्ठ सज्जन पुरुषों के धर्म की निन्दा न करता हुआ (उस धर्म में दोष प्रदर्शन न करता हुआ) इस प्रकार से लोकव्यवहार में रहे, जिससे विषयासक्त लोग इसका अपमान करे, और स्वयं ही उस तत्त्वज्ञानी का संग करना छोड़ दें।

श्रीमन्महाभारत में इसी तथ्य को बताया है—

जैसे देहाभिमानी पुरुष, 'सर्प' से भयभीत रहता है, वैसे ही जो तत्वज्ञानी पुरुष, 'लोकसमूह' से भयभीत होकर रहता है, तथा जैसे लोग, 'नरक' से डरते हैं, वैसे ही जो विद्वान् पुरुष 'सम्मान प्राप्ति' से भयभीत रहता है, एवं लोग, जिसप्रकार मृत शरीर से भय खाते हैं, वैसे ही जो पुरुष, स्त्रीवर्ग से भयभीत रहता है, उस विद्वान् पुरुष को देवता लोग 'ब्राह्मण' कहते हैं। अर्थात् 'जीवन्मुक्त' कहते हैं। एवं च मुमुक्षु को निःसंग रहना आवश्यक है।

अब दम्पतिसङ्गत्यागप्रतिपादक सौभरिवचन को भागवतकार बता रहे हैं—

मुमुक्षु लोगों को चाहिए कि वे, विषयासक्त स्त्री-पुरुषों के संसर्ग का सर्वप्रकार से परित्याग करे। तथा चक्षु-श्रोत्रादि एकादश इन्द्रियों को बाह्य रूपादिविषयों की ओर न जाने दे।

क्योंकि इन्द्रियों को विषयों में प्रवृत्त (प्रेरित) करने से भगवान् मनु ने नरक प्राप्ति बताई है।

जो शास्त्रोपदिष्ट कर्म नहीं करता, और जो शास्त्रनिषिद्ध कर्म करता है, और जो विषयों में अत्यन्त आसक्त रहता है, उस मनुष्य का पतन हो जाता है।

प्रश्न—अतः मुमुक्षु को सर्वसंगपरित्याग करके अपनी इन्द्रियों पर निग्रह रखना चाहिए। इन्द्रियों को निगृहीत करके क्या करें?

उत्तर— वह मुमुक्षु व्यक्ति एकान्त प्रदेश में एकाकी रहकर अपरिच्छिन्न ईश्वर में अपने चित्त को लगावे। अर्थात् निरन्तर 'ब्रह्म' का चिन्तन (ध्यान) करे।

अजिह्वत्वादयो दर्शिताः—

"अजिह्वः षण्ढकः पङ्गुरन्धो बधिर एव च। मुग्धश्च मुच्यते भिक्षुः षड्भिरेतैर्न संशयः॥" इति।

इदमिष्टमिदं नेति योऽश्नन्नपि न सज्जते। हितं सत्यं मितं वक्ति तमजिह्वं प्रचक्षते॥

•

"अकुर्वन्विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन्। प्रसृजन्निन्द्रियार्थेषु नरः पतनमृच्छति॥" इति।

ततः सङ्गं परित्यज्येन्द्रियनिग्रहं कुर्वन् किं कुर्यादित्यत आह—एक इति। एकाकिना स्थित्वा निरन्तरब्रह्मध्यानं कर्तव्यमित्यर्थः। ननु—मनः चञ्चलत्वात्परमात्मनि न तिष्ठति, किं कर्तव्यमित्याशङ्क्याह—तद्रतिष्विति। तस्मिन्परमात्मनि रतिः येषां ते तद्रतयः तेषु साधुषु सङ्गः कर्तव्य इति शेषः। कदापि लम्पटसङ्गो न कर्तव्य इत्याह—स्त्रीणामिति।

"कदापि युवतीं भिक्षुर्न स्पृशेद्दारवीमपि। स्पृशन् करीव बध्येत करिण्या अङ्गसङ्गतः॥"

•

प्रश्न—अर्जुन ने भगवान् श्रीकृष्ण से कहा है कि 'मन' तो बहुत ही चञ्चल है, क्षोभकारक है, बलवान् और दृढ़ है। तदनुसार यह मन (चित्त) अपने चञ्चल स्वभाव के कारण उस 'परब्रह्म' में यदि स्थिर न हो सके तो क्या करना चाहिए?

उत्तर—परब्रह्म में प्रीति रखनेवाले महात्माओं का सत्संग करे।

कदाचिदपि 'लम्पटसंग' नहीं करना चाहिए—मुमुक्षुजनों को चाहिये कि वे, 'स्त्रियों' के तथा स्त्रैण (स्त्रियों में आसक्त) पुरुषों के संग को दूर से ही त्याग कर एकान्त देश में स्थित होकर मुझ परमात्मा का सर्वविध प्रयत्न से 'अहं ब्रह्मास्मि'—इस आकार में ध्यान करता रहे।

उस ध्यान का 'फल' स्मृति में कहा गया है—जिसका नाम 'वासुदेव' है, वही अनादि-अनन्त (उत्पत्ति-विनाशरहित) 'परब्रह्म', 'मैं' ही हूँ—इस प्रकार की स्थिरबुद्धि जिस पुरुष की हो, उस पुरुष को 'मुक्त' ही समझना चाहिये। इसमें किञ्चिन्मात्र भी संशय नहीं है।

ब्रह्मध्यान के फल को यमराज ने भी अपने सेवकों से कहा है—

यह सम्पूर्ण जगत् तथा मैं 'वासुदेवरूप' ही है। वह वासुदेव 'परमपुरुष' हैं, तथा 'परमेश्वर' है, तथा 'एक' और 'अद्वितीय' है। इस प्रकार की स्थिर बुद्धि, हृदय में स्थित 'परमात्मा' के प्रति जिनकी होती है, उन पुरुषों को हे भृत्यों! (सेवकों!) तुम लोग दूर से ही त्याग देना, और आगे चल देना, वहाँ मत ठहरना॥ अर्थात् परब्रह्म का ध्यान करनेवाले पुरुषों को मृत्यु की प्राप्ति पुनः नहीं होती। इससे यह स्पष्ट होता है कि जो पुरुष, विषयासक्त रहनेवाले स्त्री-पुरुषों के (लम्पटों के) संसर्ग का परित्याग करके ब्रह्मचिन्तन करते रहते हैं, उन पुरुषों की समस्त मलिन वासनाएँ निवृत्त हुआ करती हैं। एवं च ब्रह्मानुसन्धान करने से 'सर्ववासनानिवृत्ति' रूप फल प्राप्त होता है, और मोक्षप्राप्ति होती है।

अब 'सत्संग' भी वासनाक्षय द्वारा मोक्ष का साधन होता है—और स्त्रैण पुरुषों का संग, नरक प्राप्ति का साधन होता है—विद्वान् लोग कहते हैं—

जिनका चित्त, ब्रह्मचिन्तन में निरन्तर समान रूप से लगा रहता है, उन पुरुषों को 'समचित्त' कहा जाता है। अथवा अखण्डएकरस जो 'ब्रह्म' है, उसे 'समब्रह्म' कहते हैं; उस 'समब्रह्म' में जिनका चित्त रममाण रहता है अथवा जिनका चित्त, अपने शत्रु और मित्रों के प्रति समानभाव रखता है उसको 'समचित्त' कहते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता में (६।९) 'समबुद्धि' का लक्षण बताया है—योगारूढ ब्रह्मवित् यति को सुहृत्, मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य, और बन्धुओं में तथा साधुओं और पापियों में सर्वत्र समबुद्धि अर्थात् समता को प्राप्त हुई बुद्धि स्थिर रहती है।

तथा जो पुरुष, अत्यन्त शान्तस्वभाव के होते हैं, तथा क्रोधरहित होते हैं, तथा सदयहृदय के होते हैं, अर्थात् अनुपकारी या अपकारी पर भी जो उपकार करते हैं, तथा जो साधु स्वभाव के होते हैं, अर्थात् 'शम-दमादि' गुणों से सम्पन्न रहते हैं, उन पुरुषों को 'महान् पुरुष' कहते हैं। ऐसे महान् पुरुषों के साथ श्रद्धा-भक्तिपूर्वक जो 'संग' किया जाता है, वह भी 'मलिन-वासनाओं' की निवृत्ति कराता हुआ 'मोक्ष' का साधन होता है।

किञ्च—'स्त्री' और स्त्रीसंगी, अर्थात् विषयासक्त 'स्त्री' और 'स्त्रैण' पुरुषों का संग, 'नरक' प्राप्ति का साधन होता है।

अद्य जातां यथा नारीं तथा षोडशवार्षिकीम् । शतवर्षां च यो दृष्ट्वा निर्विकारः स षण्ढकः ॥
भिक्षार्थं गमनं यस्य विण्मूत्रकरणाय च । योजनान्न परं याति सर्वथा पङ्गुरेव सः ॥
तिष्ठतो व्रजतो वापि यस्य चक्षुर्न दूरगम् । चक्षुर्युगां भुवं मुक्त्वा परिव्राट् सोऽन्ध उच्यते ॥

●

इति स्त्रीसङ्गस्य बन्धहेतुत्वप्रतिपादनेन तत्सङ्गिसङ्गस्यापि तथात्वेन च तदुभयं त्यक्त्वा मनोरमे एकान्तदेशे स्थित्वा सर्वेषामात्मानं वासुदेवं सर्वसाक्षिणमहं ब्रह्मास्मीति ध्यायेदित्यर्थः । तथा च स्मृतिः तत्फलबोधिनी—

"अहमस्मि परं ब्रह्म वासुदेवाख्यमव्ययम् । इति यस्य स्थिरा बुद्धिः स मुक्तो नात्र संशयः ॥" इति ।

विष्णुपुराणेऽपि यमोऽपि भृत्यान् प्रत्याह—

"सकलमिदमहं च वासुदेवः परमपुमान् परमेश्वरः स एकः ।
इति मतिरचलां भवत्यनन्ते हृदयगते व्रज तान्विहाय दूरात् ॥" इति ।

●

'स्त्री' और स्त्रीसंगीपुरुषों का संग, 'नरकप्राप्ति' का साधन है, शास्त्र कहता है—

'स्त्री', 'सुवर्ण', 'आभूषण', 'वस्त्र', आदि, से रचित पदार्थों के प्रति लोभ में फँसा हुआ अविवेकी पुरुष, उन पदार्थों का जब उपभोग करने लगता है, तब वह 'पतंगे' की तरह नष्ट हो जाता है । क्योंकि वह पुरुष, 'विवेकदृष्टि' से रहित है ।

मैत्री-करुणा आदि विरोधी वासनाओं से भी उन 'मलिनवासनाओं' की निवृत्ति होती है । उन्हीं को बताने के लिये पतञ्जलि का सूत्र (१-३३ योगशास्त्र) उसका अर्थ (यो० सू० पा० १।३३) (१) मित्रता, (२) करुणा, (३) मुदिता, (४) उपेक्षा—ये चार प्रकार की 'शुभवासनाएँ' कही जाती हैं । 'सुखी, दुःखी, पुण्यात्मा, तथा पापात्मापुरुषविषयक क्रमशः मित्रता, दया, हर्ष तथा उपेक्षा की भावना रखने से 'चित्त' में प्रसन्नता होती है ।

'चित्त' में चार प्रकार के 'कालुष्य' होते हैं (१) ईर्ष्या कालुष्य, (२) परापकारचिकीर्षाकालुष्य, (३) असूयाकालुष्य, (४) अमर्षकालुष्य, इन चारों को 'चित्तमल' कहा जाता है । क्योंकि ये 'चित्त' को 'विक्षिप्त' करके 'मलिन' करते रहते हैं । अतः इन चारों के रहते 'चित्त' का प्रसन्न रहना बहुत ही कठिन है । अतएव उपर्युक्त 'मैत्री आदि भावना के द्वारा, इन 'चित्तमलों' की निवृत्ति करना मुमुक्षुयोगी का प्रथम कर्तव्य है ।

सुखी मनुष्यों के विषय में 'ये सब हमारे ही हैं'—इच प्रकार की भावना को 'मैत्रीभावना' कहते हैं । दुःखी प्राणियों के विषय में यह सोचना चाहिये कि 'जैसे हमें दुःख प्राप्त न हो, वैसे ही इन प्राणियों को भी दुःख की प्राप्ति न हो'—इस प्रकार की भावना को 'करुणाभावना' कहा जाता है ।

किसी पुण्यात्मा पुरुष के सद्गुणों में दोषारोपण करना 'असूयाकालुष्य' कहा जाता है । क्योंकि पुण्यात्मा पुरुष की यह निन्दा भी 'राजस-तामस' होने से 'चित्त' को विक्षिप्त करके मलिन करती है । अतः उन पुण्यात्माओं के प्रति 'मुदिताभावना' करनी चाहिये, अर्थात् धर्माचरण करनेवाले व्यक्तियों को देखकर चित्त में आनन्द का अनुभव करना चाहिये । इस प्रकार की 'मुदिताभावना' करने से अर्थात् उन धार्मिक पुण्यात्माओं को देखकर आनन्दित होने से 'चित्त' का 'असूयाकालुष्य' नष्ट हो जाता है ।

किसी 'पापात्मा व्यक्ति' के 'कठोर वचन' सुनने से अपने को अपमानित समझकर उसका बदला लेने की चेष्टा करना 'अमर्षकालुष्य' कहा जाता है । क्योंकि वह भी राजस-तामस होने से चित्त को विक्षिप्त करके मलिन करता है । ऐसे पापी व्यक्तियों के प्रति 'उपेक्षा (तटस्थता) भावना' करने से 'अमर्षकालुष्य' की निवृत्ति हो जाती है ।

इस प्रकार की 'मैत्री आदि चार भावनाओं' से मनुष्य को 'राग-द्वेष-असूया-मद-मात्सर्य' आदि समस्त 'मलिन-वासनाएँ' निवृत्त हो जाती हैं । इन चारों भावनाओं के करने से 'शुक्ल धर्म' की उत्पत्ति होती है । 'पापसंबंध' से रहित केवल 'पुण्यमात्र' को शुक्लधर्म कहते हैं । जैसे—स्वाध्याय (वेद) के अध्ययन रूप 'नित्य कर्म' के अनुष्ठान से 'पापसम्बन्धरहित' केवल 'पुण्यरूप शुक्लधर्म' की उत्पत्ति होती है । एवंच ये 'चारों भावनाएँ', मनुष्य के 'चित्त' को 'शुद्ध' (निर्मल) कर देती हैं ।

हिताऽहितं मनोरामं वचः शोकाऽऽवहं च यत्। श्रुत्वाऽपि यो न शृणुते बधिरः स प्रकीर्त्तितः ॥
"सांनिध्ये विषयाणां च समर्थोऽविकलेन्द्रियः। सुप्तवद्वर्त्तते नित्यं स भिक्षुर्मुग्ध उच्यते ॥" इति।

तदनन्तरं चिन्मात्रवासनामभ्यसेत्।

●

इति। तथाच दम्पतिलम्पटसङ्गत्यागपूर्वकं ब्रह्मानुसन्धानेन सर्ववासनानिवृत्तिः फलं भवति। सत्सङ्गस्य वासनाक्षयद्वारा मोक्षसाधनत्वप्रतिपादकं वचनमुदाहरति—महदिति। द्वारं साधनं। स्त्रीसङ्गिसङ्गो न कर्तव्यः तस्य नरकसाधनत्वादित्याह—तमोद्वारमिति। नरकप्राप्तिसाधनमित्यर्थः। ते के महान्त इत्याकाङ्क्षायामाह—महान्त इति। समे ब्रह्मणि चित्तं येषां ते तथोक्ताः। "समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरमि"ति स्मृतेश्च। अथवा शत्रुमित्रयोः समं चित्तं येषां ते तथा।

"सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु। साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥"

इति भगवद्वचनात्। अनुपकृतोपकारिणः सुहृदः। शमदमसम्पन्नाः साधवः।

तत्सङ्गे स्त्रीसङ्गिसङ्गे मूढोऽविवेको प्रलोभितः उत्पादितलोभ आत्मा मनो यस्य स तथोक्तः प्रतिकूलेति। मैत्र्यादिवासना व्युत्पादयितुं पतञ्जलिसूत्रमुदाहरति—ताश्चेति। सूत्रं व्याचष्टे—अस्यार्थ इति। रागेति। भावनयेति शेषः।

●

इसी प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता के सोलहवें अध्याय में भगवान् ने स्वयं, 'दैवीसम्पद्रूप विरोधी वासना के अभ्यास से 'दर्प-दम्भ' आदि 'आसुरीसम्पद्रूप मलिनवासनाओं' की निवृत्ति का होना बताया है—

दैवी सम्पत्ति को बता रहे हैं—

अभयमिति।

अभयम्—भय का अभाव अर्थात् आध्यात्मिकादि उपद्रवों के प्राप्त होने पर भी मन में किसी प्रकार का भय न होना।

सत्त्वसंशुद्धिः—अन्तःकरण की शुद्धता, अर्थात् राग-द्वेष-लोभ मोह, असूया, मत्सर, अहंकार आदि दोषों से रहित अन्तःकरण (चित्त) का होना।

ज्ञानयोगव्यवस्थितिः—ज्ञानयोग में विशेषरूप से तत्परता अर्थात् श्रवण-मनन आदि 'ज्ञानयोग' में (सर्वदा केवल उसी में) तत्पर रहना।

दानम्—याचकों को श्रद्धापूर्वक यथाशक्ति अन्न आदि का दान करना।

दमः—इन्द्रियों का दमन अर्थात् बाह्येन्द्रियों को दुष्ट वृत्तियों (बुरे कामों) से रोकना, अथवा 'चित्त' को दण्ड देना।

यज्ञः च—अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास, सोमयाग आदि श्रौत याग, और 'च' कार से स्थालीपाकादि स्मार्त यागों का अनुष्ठान करना।

स्वाध्यायः—वेदाध्ययन तथा तदंगभूत शास्त्रों का अध्ययन करना, तथा ब्रह्मयज्ञ, पञ्चमहायज्ञ, आदि का अनुष्ठान करना।

तपः—देव, द्विज, गुरु और विद्वान् का पूजन आदि का (कायिक-वाचिक-मानसिक तीनों प्रकार से) आचरण करना।

आर्जवम्—मन, वाणी, और काय के कर्मों में सर्वत्र सर्वदा एकरूपता का रहना ॥ १ ॥

अहिंसा—शास्त्रोक्त हिंसा को छोड़कर प्राणिमात्र की हिंसा न करना।

सत्य—यथार्थ भाषण करना।

अक्रोध—अपकार करने पर भी क्रोध न करना।

त्याग—नित्यक्रियमाण श्रौत-स्मार्तादि कर्मों के फल का त्याग करना, अर्थात् उन कर्मों को ईश्वरार्पण करना।

शान्ति—चित्त की चञ्चलता का अभाव, अर्थात् अन्तःकरण की सर्वत्र उपरति। त्रिगुणात्मक प्रकृति के सात्त्विक परिणाम को 'चित्त' कहते हैं।

अपैशुन—परोक्ष में दूसरे के मर्म को न खोलना, अर्थात् परोक्ष में किसी की निन्दा न करना।

भूतेषु दया—आर्त, अन्धे, लंगड़े आदि दीन प्राणियों पर करुणा करना।

नामरूपात्मकस्य जगतश्चैतन्ये कल्पितत्वेन स्वतःसत्ताशून्यतया चैतन्यसत्तास्फुरणपूर्वकमेव स्फुरणं भवति। ते च नामरूपे मिथ्यात्वनिश्चयेनोपेक्ष्य चिन्मात्रोऽहमिति भावयेत्।

•

प्रतिकूलवासनान्तराभ्यासेनापि मलिनवासना नश्यतीत्याह—तथेति। केयं दैवी सम्पदित्याकाङ्क्षायामाह—दैवीति।

"अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः। दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्। दया भूतेष्वलोभत्वमार्जवं ह्रीरचापलम्॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता। भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥"

इत्यनेन दैवीसम्पद्दर्शितेत्यर्थः। वासनानामनन्तत्वात्प्रकारान्तरेण प्रतिकूलवासनाभ्यासेन मलिनवासनानां निवृत्तिमाह—अमानित्वेति।

"अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्। आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः॥
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च। जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥

•

अलोलुप्त्व—विषयों की सन्निधि में भी इन्द्रियों का विकाररहित होना।

मार्दव—चित्त में कठोरता (काठिन्य) का न होना, अर्थात् शीतलता रहना।

ह्री—लज्जा अर्थात् अकार्य के करने में चित्त का संकोच।

अचापल—निमित्त के विना मन और इन्द्रियों की व्यापारशून्यता।

तेज—तेजस्त्व अर्थात् बुद्धि की सूक्ष्मता अथवा अधिक प्रकाश।

क्षमा—क्षान्ति अर्थात् क्षमा—उपस्थित हुए उपद्रव को विकाररहित होकर सहन करना।

धृति—धैर्य, अर्थात् विक्षेप होनेपर भी देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि को निश्चल रखने की (चञ्चल न होने देने की) शक्ति।

शौच—आन्तर और बाह्य शुद्धि। मृत्तिका और जल से शरीर के मल को दूर करना बाह्य शौच है। और सत् तथा असत् के विवेकज्ञान से चित्त के दुर्वासनारूप मल को दूर करना आन्तर शौच है।

अद्रोह—अपकार करनेवाले को मारने की इच्छा न करना। अपकारी को मारने की इच्छा करना 'द्रोह' कहा जाता है, और वैसी इच्छा न करना 'अद्रोह' कहलाता है।

नातिमानिता—अपने में पूज्यता का अभिनिवेश न करना। अपने को अतिपूज्य समझना 'अतिमान' कहा जाता है। वैसा अभिनिवेश चित्त में न करना 'नातिमानिता' कहलाती है। अर्थात् अपने में पूज्यता के अभिमान का अभाव रहना 'नातिमानिता' है। तात्पर्य यह है कि चित्त में अपनी प्रतिष्ठा की अपेक्षा न रखना। 'अभय' से लेकर 'नातिमानिता' तक ये छब्बीस सात्त्विकगुण हैं। इन दैवी सम्पत्तियों में 'सत्त्वगुण' की निर्मलता के कारण प्रकाशकत्व और अनामयत्व रहता है। अर्थात् जो दीप्त होता है (निर्मल होने से प्रकाश करता है) उसे 'देव' (सत्त्वगुण) कहते हैं, उससे सम्बन्धित जो सम्पत्ति, उसे 'दैवीसम्पत्' कहते हैं। दैवी सम्पत् (समृद्धि, उत्कर्ष) में अर्थात् उस दैवीसम्पत्ति का अनुसरण कर पूर्वजन्मार्जित पुण्य की अधिकता से (सत्त्व की अधिकता के अनुसार) जन्मे हुए मनुष्य के ये छब्बीस सात्त्विकगुण (धर्म) हुआ करते हैं। दैवी सम्पद् के अनुसार उत्पन्न हुए पुरुष में अभय आदि, मोक्ष के हेतुभूत सात्त्विकगुण उत्पन्न हुआ करते हैं। 'आसुरी सम्पत्ति की 'विरुद्ध सम्पत्ति' 'दैवीसम्पत्ति', कहलाती है।

इस दैवीसम्पत्तिरूप विरोधी वासना के अभ्यास से दम्भ, दर्प आदि आसुरीसम्पत्तिरूप मलिनवासना की निवृत्ति हो जाती है।

गीता के तेरहवें अध्याय में भगवान् स्वयं बता रहे हैं—

मान (अपने को श्रेष्ठ समझना), दम्भ (वेष-भूषा, भाषण आदि से अपना महत्त्व प्रकट करना), और हिंसा (मानसिक, वाचिक, कायिक कर्मों से दूसरे को पीड़ा पहुँचाना), इन तीनों बातों से मुमुक्षु को दूर रहना चाहिये। और क्षान्ति (आध्यात्मिकादि उपद्रवों को सहन करना अर्थात् क्षमा रखना), ऋजुता (स्वधर्म में मन, वचन, और शरीर की एकरूपता रखना), तथा आचार्योपासन (ज्ञानोपदेशक गुरु की श्रद्धा, भक्ति से सेवा करना), शौच (बाह्य और आभ्यन्तर

सेयं चिन्मात्रवासना द्विप्रकारा—कर्तृकर्मकरणाऽनुसन्धानपूर्विका, केवला चेति। तत्र सर्वं जगच्चिन्मात्रमहं मनसा भावयामीति क्रियमाणा प्रथमा। सा सम्प्रज्ञातसमाधिकोटावन्तर्भवति। कर्तृकर्मकरणाऽनुसन्धानरहिता चिन्मात्रोऽहमिति भावना केवला। सर्वस्य चिन्मात्रत्वं शुक्रेण बलिं प्रत्युपदिष्टं—

"चिदिहास्तीह चिन्मात्रं सर्वं चिन्मयमेव तत्। चित्त्वं चिदहमेवेति लोकश्चिदिति संग्रहः॥

•

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु। नित्यञ्च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु॥
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी। विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि॥

"अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।"

इत्यनेनोक्तामानित्वादिज्ञानसाधनाभ्यासेन तद्विपरीतभ्रान्तिसाधनमानादयो नश्यन्तीत्यर्थः। ननु मलिनवासनानामनन्तत्वात् तासाममूर्तत्वेन सम्मार्ज्जनीसमूहीकृतधूलिराशिवत्त्यक्तुमशक्यत्वात् कथं वासनाक्षयः स्यादित्याकाङ्क्षायामाह—तथाचेति।

प्रैषमन्त्रेण संकल्पपूर्वकमुपवासजागरणाभ्यासेन मैत्र्यादिवासना दैवीसम्पत्। अमानित्वादिधर्मेष्वाभाष्यमाणेषु सर्वा मलिनवासनाः क्षीयन्ते सूर्योदये तम इव। तेषु सम्यग्जितेष्वजिह्वत्वादीन् धर्मान् वक्ष्यमाणानभ्यसेदित्यर्थः। के तेऽजिह्वत्वादय

•

शुद्धता), आत्मविनिग्रह (मन को वेदान्तश्रवण आदि में ही स्थिर करना, और विषयस्मरण आदि के प्रति अन्तःकरण का निरोध करना) करना चाहिये॥ ७॥

इन्द्रियेति—भोग्य वस्तुओं में आसक्ति का सर्वथा त्यागकरना, अनहंकार (जाति आदि के श्रेष्ठत्व का अहंकार न करना), गर्भवास, जन्म-मृत्यु, वृद्धावस्था, विविध प्रकार की व्याधियों के दुःख और दोषों को जानने का प्रयत्न करते रहना चाहिये॥ ८॥

असक्तिरिति—पुत्र-कलत्र-गृह-धन आदि में अनुराग एवं अभिष्वंग (ममता एवं इष्टत्व की बुद्धि) नहीं करनी चाहिये। तथा इष्ट एवं अनिष्ट वस्तु के प्राप्त होने पर बाह्य और आन्तर विकारों से सर्वदा रहित होना चाहिये। अर्थात् 'समचित्त' होना चाहिये॥ ९॥

मयीति—मुमुक्षु को विजातीय प्रत्यय से रहित होकर समाधि के द्वारा मुझ परमात्मा का अवलम्बन करके—'मैं ब्रह्म ही हूँ, और ब्रह्म मैं हो हूँ'—यह अनुसन्धान सर्वदा करते रहना चाहिये। एवं 'निदिध्यासन' के लिये जनसम्पर्क रहित देश में निवास और बहिर्मुख मनुष्यों के समूह में अरुचि करनी चाहिये॥ १०॥

अध्यात्मेति—वेदान्तशास्त्र को समझने के लिये सर्वदा तत्पर रहना चाहिये। तथा तत्त्वज्ञान के मोक्षरूप फल की प्राप्ति के लिये शास्त्रीय प्रक्रिया का सहारा (आश्रय) लेना चाहिये। महर्षियों ने 'अमानित्वम्' से लेकर 'तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्' तक 'ज्ञान प्राप्ति' के बीस साधनों को बताया है॥ ११॥

उक्त पाँच श्लोकों के द्वारा बताये गये 'अमानित्वादि' ज्ञानसाधनों का अभ्यास करते रहने से विपरीतज्ञान (भ्रान्तिज्ञान) के साधनभूत 'मानदम्भ' आदि की निवृत्ति हो जाती है।

शंका—'मलिनवासनाएँ' तो अनन्त हैं, और वे, 'अमूर्त' हैं। अतः झाड़ू (सम्मार्जनी) से इकट्ठी की हुई धूलिराशि के समान उन मलिनवासनाओं का त्याग करना शक्य (सम्भव) नहीं है। तब 'वासनाक्षय' कैसे हो सकेगा?

समा०—'प्रैषमन्त्र से सङ्कल्पपूर्वक उपवास जागरण'—न्याय से जब विद्वत्संन्यासी संकल्पपूर्वक पूर्वोक्त 'मैत्री-करुणा' आदि शुभवासनाओं का तथा 'अमानित्वादि' धर्मों का सम्पादन, उनके 'अभ्यास' के द्वारा कर लेता है, तब जैसे 'सूर्य' के उदित होने पर 'तम' की निवृत्ति हो जाती है, उसी प्रकार 'विद्वत्संन्यासी' की पूर्वोक्त समस्त मलिनवसनाएं; निवृत्त हो जाती हैं।

तदनन्तर विद्वत्संन्यासी को 'अजिह्वत्वादि' 'षट्धर्मों' का अभ्यास करना चाहिये।

उन 'अजिह्वत्वादि धर्मों' को स्मृतियों में बताया गया है—(१) अजिह्व, (२) षण्डक, (३) पंगु, (४) अन्ध, (५) बधिर, (६) मुग्ध—इन षट् (६) धर्मों का सेवन करने से वह 'विद्वत्संन्यासी' जीवन्मुक्त हो जाता है। अतः मुमुक्षु को 'षट्धर्मों का सम्पादन अवश्य करना चाहिये।

द्वितीयाऽसंप्रज्ञातसमाधिकोटावन्तर्भवति ।

तस्यां चिन्मात्रवासनायां दृढाऽभ्यस्तायां पूर्वोक्तामलिनवासना सर्वा क्षीयते । अयं[1] वासनाक्षयाऽभ्यासः ॥ ४ ॥

●

इत्याकांक्षायां तत्प्रतिपादिकां स्मृतिं पठति—अजिह्व इत्यादिना । अजिह्वत्वादिधर्मेषु जितेषु किं कर्तव्यमित्याकांक्षायामाह—तदनन्तरमिति । केयं चिन्मात्रवासनेत्याकांक्षायामाह—नामरूपात्मकस्येति ।

चिन्मात्रवासनां विभजते—ज्ञेयमिति । प्रथमां चिन्मात्रवासनामभिनीय दर्शयति । सर्वमिति । तर्ह्यभ्यस्यमानायाः चिन्मात्रवासनाया योगान्तर्भावः स्यादिति चेदिष्टापत्तेः प्रथमायाः चिन्मात्रवासनायाः कस्मिन्योगेऽन्तर्भाव इत्यत आह—सेति । द्वितीयामभिनीय दर्शयति—कर्त्रिति । ननु सर्वं चिन्मात्रं भावयामीति प्रथमा वासनोदाहृता, तत्र सर्वस्य चिन्मात्रत्वं कुतोऽवगम्यते ? इत्याशङ्क्य बलिशुकसंवादादवगम्यत इत्याह—सर्वस्येति ।

"किमिहास्तीह चिन्मात्रं सर्वं चिन्मयमेव तत् । कस्य कोऽहं क एवेमे लोका इति वदाशु मे ॥"

●

उन 'अजिह्वत्वादि' षट्धर्मों के लक्षण शास्त्र में इस प्रकार बताये गये हैं—

(१) अजिह्व का लक्षण—

जो मुमुक्षु, अन्न आदि भक्ष्य, लेह्य, चोष्य पदार्थों का भक्षण करता हुआ भी 'यह पदार्थ, स्वादु' है, यह 'अस्वादु' है—नहीं कहता तथा हितकारक, सत्य और स्वल्प (मित) भाषण करता है, उसे 'अजिह्व' कहा गया है ।

(२) 'षण्डक' का लक्षण—

जैसे आज उत्पन्न (पैदा) हुई बालिका (स्त्री = नारी) को देखकर तथा शत (सौ) वर्ष की वृद्धा स्त्री को देखकर कोई किसी प्रकार का 'कामविकार' उत्पन्न नहीं होता, वैसे ही षोडशवर्ष की युवती स्त्री को देखकर भी जिस मुमुक्षु को कामविकार (कामवासना) उत्पन्न नहीं होता, उसे 'षण्डक' (नपुंसक) कहा गया है ।

(३) 'पङ्गु' का लक्षण—

जो शरीरनिर्वाहार्थ 'भिक्षा' के लिये ही जाता है, तथा मल-मूत्र विसर्जन करने के लिये ही जाता है, इसके अतिरिक्त अन्य किसी प्रयोजन के लिये नहीं चलता-फिरता । तथा जो एक योजन (४ कोस) से अधिक मार्ग तय नहीं करता अर्थात् नहीं चलता, उस मुमुक्षु को 'पङ्गु' कहा गया है ।

(४) 'अन्ध' का लक्षण—

किसी एक स्थान पर स्थित हुए या मार्ग चलते हुए भी जिस मुमुक्षु संन्यासी के चक्षुरिन्द्रिय (नेत्र), चतुर्युग भूमि से अधिक दूर तक नहीं देखते उसको 'अंध' कहा गया है । (चारहस्तपरिमाण को 'युग' कहते हैं । अतः चतुर्युगभूमि का परिमाण 'षोडश हस्त' होता है।) ।

(५) बधिर का लक्षण—

हर्षप्रद अनुकूल वचन तथा शोकप्रद प्रतिकूल वचन सुनकर भी जो अनसुने के समान रहता है, अर्थात् जिसे हर्ष अथवा शोक नहीं होता है, उस मुमुक्षु को 'बधिर' कहा गया है ॥

(६) मुग्ध का लक्षण—

जिस मुमुक्षु संन्यासी के समीप, सांसारिक विषयों (पदार्थ = वस्तुओं) की प्राप्ति होने पर भी जो संन्यासी मुमुक्षु, अपनी समस्त इन्द्रियों से सम्पन्न एवं समर्थ रहता हुआ भी उन प्राप्त हुए विषयों की ओर प्रवृत्त नहीं होता, किन्तु निद्रित (सुप्त) पुरुष की तरह उन विषयों से उपरत रहता है, उसे 'मुग्ध' कहा गया है ।

इस प्रकार 'अजिह्वत्वादि' षट् धर्मों का अभ्यास करने के पश्चात् 'चिन्मात्र' वासना का अभ्यास करना चाहिये ।

---

१. सोऽयमिति टीकानुसारी पाठः ।

यत्तु सुवर्णादिवत् सावयवं कामादिवृत्तिरूपेण परिणममानमन्तःकरणं मननात्मकत्वान्मनः, तच्च सत्त्वरजस्तमो-

इति पृष्टवन्तं बलिं प्रति सर्वस्य चिन्मात्रत्वं शुक्रेणोपदिष्टमिति योजना। द्वितीयायाः कुत्रान्तर्भाव इत्याकांक्षायामाह—द्वितीयेति। एवं चिन्मत्रवासनायां जातायां किं भवतीत्याशङ्क्याह—तस्यामिति। वासनाक्षयसाधननिरूपणमुपसंहरति—सोऽयमिति ॥ ४ ॥

ननु जीवन्मुक्तिसाधनत्वेन मनोनाशाभ्यासः प्रतिज्ञातः, स नोपपद्यते। मनसो नित्यत्वेन तन्नाशायोगात्। न च तत्र प्रमाणाभावः; धर्मिग्राहकमानेनैव तत्सिद्धेः। तथाहि—सुखाद्युपलब्धयः करणसाध्याः जन्यसाक्षात्कारत्वात् रूपादिसाक्षात्कारवदिति। सुखादिसाक्षात्कारं प्रति चक्षुरादीनां करणत्वबाधात् तत्करणत्वेन सिध्यन्मनो नित्यमेव सिध्यति, तत्कारणानिरूपणात्। तथाहि—आत्मनो विभुत्वेन निरवयवतया तदारम्भकत्वायोगः। अत एवाकाशादीनां तदारम्भकत्वमपास्तम्। न च—पृथिव्यादीनां तथात्वमस्तीति—वाच्यम्; निःस्पर्शद्रव्यत्वेन तत्कार्यत्वायोगात्। अन्यस्य कारणान्तरस्यानिरूपणात्। न च—मायैव तत्कारणम्-

यह 'नाम-रूपात्मक सम्पूर्ण जगत्' 'चैतन्य' में ही कल्पित है। उक्त कारण वह (जगत्) 'स्वतः सत्तास्फुरण' से रहित है। क्योंकि 'अधिष्ठानभूत चैतन्य' की सत्ता का स्फुरण होने पर ही 'जगत्' की सत्ता का स्फुरण होता है—यह सोचकर सम्पूर्ण जगत् के 'नाम' और 'रूप' दोनों अंशों में 'मिथ्यात्व' का निश्चय करना चाहिये। इस प्रकार मिथ्यात्व का निश्चय होने पर 'जगत्' के प्रति पूर्णतया 'उपेक्षा का भाव हो जाएगा। तब सर्वत्र परिपूर्ण 'अस्ति, भाति, प्रिय' प्रतीत होने वाला जो 'अधिष्ठान चैतन्य' है, 'वही "मैं" हूँ'—इस प्रकार की भावना निरन्तर करते रहनी चाहिये। इसी 'भावना' को 'चिन्मात्र-वासना' कहते हैं।

यह 'चिन्मात्रवासना' भी दो प्रकार की होती है—(१) 'कर्ता-कर्म-करण' इस त्रिपुटी का स्मरण करते हुए 'चिन्मात्र-वासना', और (२) उक्त त्रिपुटी का स्मरण न रखते हुए 'केवल चिन्मात्रवासना का होना।

'सम्पूर्ण जगत् को मैं अपने 'मन' के द्वारा 'चिन्मात्र' स्वरूप समझता हूँ'—इस तरह की जाने वाली 'भावना' तो 'त्रिपुटीस्मरणपूर्वक चिन्मात्रवासना' है।

प्रश्न—इस प्रकार अभ्यास की जाने वाली चिन्मात्रवासना का तो 'योग' में ही अन्तर्भाव हो सकता है।

उत्तर—'योग' में उसका अन्तर्भाव यदि होता है, तो वह, हमें अभीष्ट ही है, अर्थात् हमारे लिये 'इष्टापत्ति' ही है। इस 'चिन्मात्रवासना' का 'सम्प्रज्ञात समाधि' में अन्तर्भाव हो सकता है। इस प्रथमकोटि की 'चिन्मात्रवासना' को ही योगसाधना सम्पन्न योगी लोग 'सम्प्रज्ञात समाधि' कहा करते हैं। और दूसरी 'कर्ता-कर्म-करण'—इस 'त्रिपुटी' का विस्मरण होकर 'मैं चिन्मात्र हूँ'—इस प्रकार की जो 'भावना' होती है, उसे 'केवल 'चिन्मात्रवासना' कहते हैं। इस 'केवल चिन्मात्र भावना (वासना) का 'असम्प्रज्ञात समाधि' में अन्तर्भाव हो सकता है। इस द्वितीय कोटि की 'केवल चिन्मात्र वासना' को ही योग-साधना सम्पन्न योगी लोग 'असम्प्रज्ञात समाधि' कहा करते हैं।

प्रश्न—'सर्वं चिन्मात्रं भावयामि'—इस प्रथम वासना में 'सर्वस्य चिन्मात्रत्वं'—'सम्पूर्ण विश्व' की चिन्मात्रता, किससे प्रतीत हुई? अर्थात् 'सब' को 'चिन्मात्र' समझने में कौन सा 'प्रमाण' है?

उत्तर—सब को चिन्मात्र समझने में प्रमाण 'बलि-शुक्र संवाद' ही है।

दैत्यगुरु शुक्राचार्य, अपने शिष्य 'राजा बलि' को बता रहे हैं—हे राजन्! इस सम्पूर्ण जगत् में उसका अधिष्ठान होकर 'चैतन्य' ही सर्वत्र व्याप्त है। उस कारण यह 'समस्त जगत्', 'चैतन्यमात्र' ही है, 'तू' भी चैतन्यरूप ही है, और 'मैं' भी 'चैतन्यरूप' ही हूँ तथा ये 'सब लोग' भी 'चैतन्यरूप' हैं। इस प्रकार को 'चिन्मात्रवासना' का दृढ़तर अभ्यास होने पर पूर्वोक्त 'मलिन वासनाओं' की निवृत्ति, अनायास हो जाती है। इसे ही 'वासनाक्षय का अभ्यास' कहते हैं ॥ ४ ॥

शंका—जीवन्मुक्ति के साधन के रूप में 'मनोनाश' के अभ्यास करने की प्रतिज्ञा की गई थी, किन्तु वह संभव नहीं हो सकती। क्योंकि 'मन' तो नित्य है। उसके नित्य होने से उसका नाश होना कभी भी संभव नहीं है।

यदि कहें कि उसके नित्य होने में कोई प्रमाण नहीं है, तो यह कहना उचित नहीं है। क्योंकि धर्मिग्राहक प्रमाण से ही उसकी नित्यता सिद्ध हो जाती है। तथाहि—सुखादि ज्ञान किसी करण से होता है क्योंकि सादि ज्ञान है जैसे रूपादि ज्ञान—इस 'अनुमान प्रमाण से 'मन' की नित्यता, सिद्ध की जाती है। सुखादि साक्षात्कार के प्रति 'चक्षुरादि इन्द्रियों' की 'करणता' तो

१. 'सुखाद्युपलब्धयः करणसाध्याः जन्यसाक्षात्कारत्वात् रूपादिसाक्षात्कारवत्'—इत्यनुमानप्रयोगः।

गुणात्मकम्; तदाश्रयत्वेन सत्त्वरजस्तमोविकाराणां सुखदुःखमोहादीनामुपलम्भात्। रजस्तमोवृत्तिभिरुपचीयमानमन्तःकरणं

●

स्त्विति—वाच्यम्; तस्या दुर्वचत्वात्। नच—"मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वर"मित्यादि श्रुत्या तत्सिद्धिरिति—वाच्यम्; तस्यार्थान्तरपरत्वात्, अन्यथा तवापि तात्त्विकप्रमाणसिद्धतया मिथ्यात्वाभावप्रसङ्गात्। किञ्चैवमनित्यत्वे मनसोऽनन्तप्रागभावध्वंसाः कल्प्याः, अनन्तमनांसि चैकैकस्य कल्पनीयानि, ततश्च कल्पनागौरवम्। तस्माल्लाघवादेकैकस्यैकैकमेव नित्यं निरवयवं मनोऽभ्युपगन्तव्यम्; तस्य विभुत्वे आत्मसंयोगानङ्गीकारेणासमवायिकारणस्यात्ममनःसंयोगस्याभावेन ज्ञानाद्यनुत्पत्तिप्रसङ्गात्। तस्मादेव मनो नित्यं चेति तन्नाशासम्भवात् तन्नाशे जीवन्मुक्तिः सिद्ध्यतीत्यसङ्गतमिति—चेत् ?

अत्र ब्रूमः—"एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च"। "तन्मनोऽकुरुत" इत्यादिश्रुतिभ्यः परमात्मनः सकाशान्मनस उत्पत्त्यवगमेनानित्यमेव मनः; भावकार्यस्यानित्यत्वावश्यम्भावात्। न च—परमात्मनोऽद्वितीयत्वेन निरवयवतया कथं तदारम्भकत्वमिति—वाच्यम्; आरम्भवादानङ्गीकारेण तस्य तद्विवर्तत्वे बाधकाभावात्। न च—मायाया अप्रामाणिकत्वेनान्यस्योपाध्यन्तरस्यानिरूपणान्निरुपाधिकस्य परस्य कथं तद्विवर्ताधिष्ठानत्वमितिवाच्यम्; मायायां प्रमाणस्योक्तत्वात्।

न च—तस्याः प्रमाणसिद्धत्वे मिथ्यात्वाभावप्रसङ्ग इति—वाच्यम्; नहि प्रमाणैः तस्या वास्तवत्वं बोध्यते, "एकमेवाऽद्वितीयं" "नेह नानास्ति किञ्चन" इत्यादिश्रुतिविरोधप्रसङ्गात्, अपि त्वसत्त्वशङ्काव्यावृत्तिमात्रं क्रियते। नचैतावता मिथ्यात्वाभावप्रसङ्गः; सद्विलक्षणत्वस्यैव मिथ्यात्वलक्षणत्वात्। ततश्च मायोपहितात्परादाकाशाद्युत्पत्तौ महाभूतोपहितादब्रह्मणोऽन्तःकरणोत्पत्तेः सम्भवात् मनसोऽनित्यत्वमेव। किञ्च नित्यत्वे मनसो "येनाश्रुतं श्रुतं भवती"त्याद्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञा बाध्येत, अतोऽपि कार्यमनित्यं मनः।

●

बाधित है, क्योंकि उनसे सुखादिकों का साक्षात्कार नहीं हुआ करता। तथापि सुखादिकों का साक्षात्कार तो सभी को होता है। करण (साधनरूप इन्द्रिय) के बिना 'साक्षात्कार' का होना कदापि संभव नहीं है। अतः सुखादिसाक्षात्कार का भी कोई 'करण' तो अवश्य ही होगा। बाह्येन्द्रियां तो सुखादिसाक्षात्कार के प्रति 'करण' (साधन) हो नहीं सकतीं। अतः उस साक्षात्कार के प्रति 'करण' मन को ही मानना होगा। इस रीति से 'मन' की नित्यता सिद्ध होती है। 'मन' का 'उत्पादक कारण' कोई नहीं है। तथाहि—'मन' का उत्पादक कारण 'आत्मा' हो नहीं सकता, क्योंकि वह 'विभु' होने से 'निरवयव' है। निरवयव होने से 'मन' का वह आरम्भक (उत्पादक) हो नहीं सकता। अतएव 'आकाशादिक' भी उसके आरम्भक (उत्पादक) नहीं कहे जा सकते। पृथिवी आदिकों को भी उसका आरम्भक (उत्पादक) नहीं कह सकते, क्योंकि 'मन' स्पर्श रहित द्रव्य है, उस कारण वह 'पृथिवी आदि' का कार्य नहीं हो सकता। इनके अतिरिक्त अन्य कोई कारण, 'मन' का आरम्भक है,—ऐसा किसी ने भी नहीं कहा है।

यदि 'मन' का आरम्भक कोई कारण नहीं है, तो 'माया' को ही उसका 'आरम्भक कारण' मान लिया जाय। किन्तु 'माया' को भी 'मन' का उत्पादक कारण नहीं कह सकते। क्योंकि 'माया' का निर्वचन कर पाना संभव नहीं है, अतएव उसे 'अनिर्वचनीय' कहा गया है। उसके 'दुर्वच' होने से उसके अस्तित्व को ही सिद्ध नहीं कर सकते।

इस पर यदि कोई कहे कि श्रुति के द्वारा उसके अस्तित्व की सिद्धि की गई है। अतः 'माया' का अस्तित्व नहीं है—यह नहीं कह सकते।

किन्तु उक्त कथन उचित नहीं है, क्योंकि उक्त श्रुति का अर्थ, 'कुछ अन्य' ही है। वह श्रुति 'माया' को सिद्ध नहीं कर रही है। अन्यथा जगन्मिथ्यात्ववादी अद्वैती वेदान्ती को भी तात्त्विक प्रमाण से 'माया' की सिद्धि होने से 'माया' को मिथ्या कहना संभव नहीं हो सकेगा। अर्थात् उसे 'सत्य' मानना पड़ेगा।

किञ्च—'मन' को 'अनित्य' मानने पर उसके अनन्त प्रागभाव तथा अनन्त ध्वंसों की भी कल्पना करनी होगी। और एक-एक (प्रत्येक) के लिये अनन्त 'मनों' की कल्पना करनी होगी। इस प्रकार से महान् कल्पना गौरव होगा। इसलिये एक-एक के लिये 'नित्य-निरवयव-एक ही मन' का होना स्वीकार करने में लाघव है।

किञ्च—'मन' को यदि 'विभु' मानते हैं, तो 'आत्मा' के साथ उसके 'संयोग' का संभव न हो सकने से 'असमवायि-कारणभूत आत्म-मनः संयोग' भी नहीं होगा, तब किसी प्रकार का कोई 'ज्ञान' ही उत्पन्न नहीं होगा। इन सब आपत्तियों के

पीनमात्मदर्शनाऽयोग्यं भवतीत्यतस्तत्सिध्यर्थं वृत्तिनिरोधनेन सूक्ष्मताऽऽपादनं मनसो नाश इत्युच्यते ॥ ५ ॥

किञ्चैवं सुखाद्युपलब्धिकरणत्वेन मनः सिद्ध्यतु, तस्य नित्यत्वं कथं सिद्ध्येत् ? अणुत्वाद्, इति चेन्न; तत्र प्रमाणाभावात्। न च उत्पत्तिकारणानिरूपणात्तथात्वमितिवाच्यम्; तस्य श्रुत्यादिभिः प्रतिपादितत्वात्। न च—उत्पत्तिमत्त्वे मनस एकैकस्यानन्तप्रागभावध्वंसकल्पनागौरवमिति—वाच्यम्; प्रमाणमूलत्वेन तस्यादोषत्वात्। अन्यथा नैयायिकादीनां कथं परमाणवो जगदुपादानत्वेन सिद्ध्येयुः।

अस्तु वा मनसोऽणुत्वम्, तथापि तस्य कथं नित्यत्वम्? परिच्छिन्नस्य घटादेः सावयवतयाऽनित्यत्वस्य लोके दृष्टत्वात्, दृष्टपूर्वकत्वाददृष्टकल्पनायाः। तस्मात्कार्यंद्रव्यं सावयवं मध्यमपरिमाणमनित्यं मन इति सिद्धम्। अतो मनोनाशाज्जीवन्मुक्तिरुपपद्यते। न च—मनोनाशे विदेहमुक्तिरेव स्यात् प्रतिबन्धकाज्ञानतत्कार्ययोर्नष्टत्वात् इति—वाच्यम्; मनोनाशो द्विविधः—अरूपनाशः सरूपनाशश्चेति। आद्ये स्यादेव। द्वितीयेऽखिलवृत्तिनाशेऽपि स्वरूपेणान्तःकरणस्य सत्त्वेन भोगप्रापकप्रारब्धेन

कारण ही 'मन' को 'नित्य' मानना चाहिये, उसे नित्य मान लेने पर उसका नाश होना कदापि संभव नहीं है। अतः 'मन' का नाश होने पर 'जीवन्मुक्ति' होती है—यह कथन नितान्त असंगत है।

समा०—उक्त शंका उचित नहीं है। श्रुतिवचनों से स्पष्ट हो रहा है कि 'परमात्मा' के प्रकाश से 'मन' की उत्पत्ति हुई है। अतः 'मन' को अनित्य ही मानना चाहिये। और जो 'भावकार्य' होता है, उसका 'अनित्य' होना निश्चित है।

इस पर कोई कह सकता है कि 'परमात्मा' तो अद्वितीय है, निरवयव है। तब वह 'मन' का उत्पादक (आरम्भक) कैसे होगा ?

किन्तु यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि हम वेदान्तीगण, 'आरम्भवाद' को न मानकर 'विवर्तवाद' के मानने वाले हैं। अतः 'मन' को परमात्मा के 'विवर्त' रूप में स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं है। एवं च 'मन', उस परमात्मा का 'विवर्तरूप' है।

शंका—'माया' तो अप्रामाणिक है। और अन्य किसी उपाधि को दिखाया नहीं गया है। ऐसी स्थिति में निरुपाधिक (उपाधिरहित) परमात्मा में उस 'विवर्त' का अधिष्ठानत्व कैसे संभव हो सकेगा ?

समा०—यह शंका उचित नहीं है, क्योंकि 'माया' के होने में 'प्रमाण' बता चुके हैं।

शंका—यदि 'माया' को प्रमाण सिद्ध (प्रामाणिक) कहते हैं, तो उसे 'मिथ्या' नहीं कह सकेंगे।

समा०—ऐसी शंका मत करिये, क्योंकि किसी प्रामाण से 'माया' की 'वास्तविकता' नहीं बताई गई है। अन्यथा "एकमेवाऽद्वितीयम्", "नेह नानास्ति किञ्चन" इत्यादि श्रुतिवचनों के साथ विरोध होने का प्रसङ्ग आवेगा। अपितु उक्त श्रुतिवचनों से 'माया' के असत्त्व की 'आशंका मात्र' दूर की गई है। अतः उससे 'माया' के मिथ्यात्वाभाव (सत्यत्व) का प्रसङ्ग नहीं प्राप्त होता।

'सत्' पदार्थ से विलक्षण होना ही मिथ्यात्व है—यही 'मिथ्यात्व' का लक्षण है।

उस कारण 'मायोपहित परमात्मा से आकाशादिकों की उत्पत्ति होने पर महाभूतोपहित ब्रह्म से 'अन्तःकरण' की उत्पत्ति का होना संभव है, असंभव नहीं। अतः 'मन' की अनित्यता ही सिद्ध होती है।

किञ्च—'मन' को नित्य कहने पर "येनाऽश्रुतं श्रुतं भवति'—इस एक विज्ञान से सर्वविज्ञान की प्रतिज्ञा का बाध होने लगेगा। इसलिये भी 'मन' को अनित्य कार्यरूप ही मानना चाहिये।

शंका—सुखादिकों की उपलब्धि कराने से 'करण' (साधन) के रूप में भले ही 'मन' की सिद्धि हो, तथापि उसका 'नित्यत्व' कैसे हो सकता है ? क्योंकि वह (मन) तो 'अणु' परिमाणवाला है।

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं है। उसके 'अणु' होने में कोई प्रमाण नहीं है।

शंका—'मन' की उत्पत्ति होने में 'किसी कारण' का निरूपण न किये जाने से उसका 'अणुत्व' होना संभव हो सकता है।

समा०—यह कहना उचित नहीं है, क्योंकि 'मन' के स्वरूप (परिमाण) को श्रुति ने बताया है।

पुनरुत्थानसम्भवात् सरूपमनोनाशेन जीवन्मुक्तिरेव सिध्यति न विदेहमुक्तिः। न हि विदेहमुक्तस्योत्थानं सम्भवति; तद्बीजस्य नष्टत्वात् इत्यभिप्रेत्य जीवन्मुक्तिसाधनमनोनाशं निरूपयितुं तत्पतियोगि मनो निरूपयति यत्तु सुवर्णादीति। आदिशब्देन रजतादयो गृह्यन्ते। तस्यारूपनाशं दर्शयितुं गुणात्मकत्वमाह—तच्चेति। त्रिगुणात्मकत्वे हेतुमाह—तदिति। सुखं सत्त्वविकारः; दुःखं रजोविकारः; मोहः तमोविकारः, एतेषां त्रयाणामन्तःकरणाश्रयत्वेनोपलम्भात् तत् सत्त्वाद्यात्मकमेवेत्यर्थः। ततः किम्? तत्राह—रजइति। पीनं स्थूलम्। न च—तावता कथमात्मदर्शनायोग्यत्वमस्येति—वाच्यम्, आत्मनोऽतिसूक्ष्मत्वेन स्थूलेन मनसा तद्दर्शनाऽसम्भवात्। न हि स्थूलेन खनित्रेण सूक्ष्मपरसूतिः[1] सम्भवत्यतः सूक्ष्मेण मनसा आत्मदर्शनं कर्तव्यम्। "दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः" इति श्रुतेः। तस्मादात्मदर्शनार्थं मनसः सूक्ष्मत्वमपेक्षितम्, स एव मनोनाश इत्याह—इत्यत इति। इति शब्दो हेत्वर्थः। यतः पीनं मन आत्मदर्शनायोग्यम्, अतः कारणादित्यर्थः॥ ५॥

•

शंका—'मन' की उत्पत्ति मानने पर प्रत्येक 'मन' के अनन्त 'प्रागभाव' और 'ध्वंसों' की कल्पना करनी होगी, जिससे 'गौरव' दोष होगा।

समा०—वे कल्पनाएँ प्रमाणमूलक (प्रामाणिक) रहने से उन्हें 'दोष' नहीं कह सकते। अतः 'गौरव दोष' नहीं है। अन्यथा नैयायिकों के मत में 'परमाणुओं' की जगदुपादानकारणता कैसे हो सकेगी?

किञ्च—आपके कथनानुसार 'मन' का 'अणुत्व' मान भी लिया जाय तो भी उसका 'नित्यत्व' कैसे संभव हो सकता है? क्योंकि लोक व्यवहार में देखा जाता है कि 'परिच्छिन्नघट-पटादि पदार्थ, सावयव रहने से 'अनित्य' ही हुआ करते हैं। दृष्ट (प्रत्यक्ष) के आधार पर ही 'अदृष्ट कल्पना' की जाती है। अदृष्ट कल्पना, निराधार नहीं हुआ करती।

एवं च यह स्पष्ट है कि 'मन'—'कार्य द्रव्य' है, 'सावयव' है, 'मध्यमपरिमाणवाला' है, और 'अनित्य' है। अतः 'मनोनाश' होने पर—'जीवन्मुक्ति' का होना संगत है, असंगत नहीं।

शंका—'मनोनाश' होने पर 'विदेह मुक्ति' का होना ही संभव होगा, क्योंकि प्रतिबन्धकरूप 'अज्ञान' और उसके 'कार्य' दोनों ही नष्ट हो जाते हैं।

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं है। 'मनोनाश' दो प्रकार का होता है—(१) अरूपनाश, और (२) सरूपनाश। प्रथम पक्ष (अरूपनाश) में तो 'विदेहमुक्ति' का होना उचित ही है। किन्तु द्वितीय पक्ष (सरूपनाश) में अखिल वृत्तियों का नाश होने पर भी 'स्वरूपेण' 'अन्तःकरण' विद्यमान रहता है। उस कारण 'भोगप्राप्त कराने वाले प्रारब्ध कर्म' के द्वारा पुनः 'वृत्तियों' का उत्थान हो सकता है। अतः 'सरूप मनोनाश' से 'जीवन्मुक्ति' ही होती है, 'विदेहमुक्ति' नहीं।

'विदेहमुक्त पुरुष' की 'वृत्तियों' के उत्थान का होना कभी संभव नहीं है, क्योंकि उनमें वृत्तियों का बीज ही विद्यमान नहीं है, वह तो नष्ट हो चुका है। इसी अभिप्राय को ध्यान में रखकर ग्रन्थकार जीवन्मुक्तिसाधनीभूतमनोनाश के निरूपणार्थ उसके प्रतियोगी 'मन' का निरूपण कर रहे हैं—

'लाक्षा, रजत, सुवर्ण' के समान 'काम, संकल्प' आदि वृत्तियों के रूप में परिणत होनेवाला जो 'सावयव अन्तःकरण है, वही 'मन' है। मननरूप होने से ही उसे 'मन' कहा जाता है।

उसके 'अरूपनाश' को बताने के लिये उसकी गुणात्मकता को बता रहे हैं—वह 'मन' 'सत्त्व, रज, तम' रूप है। अर्थात् 'त्रिगुणात्मक' है। क्योंकि उसकी त्रिगुणात्मकता में 'हेतु' बता रहे हैं—तदिति। विकारस्वरूप क्रमशः जो 'सुख, दुःख और मोह'—ये तीन धर्म हैं, वे तीनों धर्म, 'मन' के आश्रित रहते प्रतीत होते हैं। उन तीनों धर्मों का आश्रय 'मन' ही है। उस कारण 'मन' की 'सत्त्वादित्रिगुणात्मकता' स्पष्ट होती है।

अभिप्राय यह है कि सत्वगुण का विकार 'सुख' है, रजोगुण का विकार 'दुःख' है, और तमोगुण का विकार 'मोह' है। ये तीनों, अन्तःकरण (मन) के आश्रित रहते हैं, अर्थात् अन्तःकरण, उन तीनों का आश्रय है। वह 'मन', सत्त्वाद्यात्मक है।

उक्त कथन से लाभ क्या हुआ? उस पर कह रहे हैं—राजस-तामस वृत्तियों से वृद्धि को प्राप्त हुआ 'मन', अति 'स्थूल' होता है। वह 'स्थूलमन', आत्मसाक्षात्कार के योग्य नहीं होता। क्योंकि दुर्विज्ञेय होने से 'आत्मा', अत्यन्त सूक्ष्म है। ऐसे 'सूक्ष्म आत्मा' का साक्षात्कार 'स्थूल मन' से होना संभव नहीं है। जैसे 'सूक्ष्म वस्त्र' की सिलाई, 'स्थूल कील' से किया जाना कभी संभव नहीं, किन्तु 'सूक्ष्म सुई' से ही सूक्ष्म वस्त्र की सिलाई करना संभव होता है, उसी प्रकार 'सूक्ष्म मन' से ही

१. सूक्ष्मपटस्यूतिः इति पाठः स्यात्। स्यूतिः सीवनम्।

तत्साधनानि दर्शितानि—

"अध्यात्मविद्याऽधिगमः साधुसङ्गम एव च। वासनासम्परित्यागः प्राणस्पन्दनिरोधनम्।
एतास्तु युक्तयः पुष्टाः सन्ति चित्तजये किल॥"

●

ननु वृत्तिनिरोधेन मनसः सूक्ष्मतापादनं मनोनाशश्चेत्तर्हि वृत्तिनिरोधः कस्माद्भवतीत्यत आह—तत्साधनानीति। प्रतीचो ब्रह्मैकविद्याप्राप्तिरध्यात्मविद्याधिगमः। नामरूपात्मकं दृश्यमानं सर्वं मिथ्यैव, अहमेव पूर्णपरमानन्दैकरसो मत्तोऽन्यत् किमपि कारणं कार्यं वा नास्ति, अहमेव सर्वमित्यध्यात्मविद्याधिगमे दृश्यस्य मिथ्यात्वेन निश्चितत्वादविषयत्वादात्मन उभयत्राप्रवर्तमानं चित्तं निरिन्धनाग्निवदखिलवृत्तीनामनुदयात् स्वयोनावुपशाम्यति। ततश्चाध्यात्मविद्याधिगमो मनोनाशं प्रति मुख्यसाधनम्। बुद्धिमान्द्यादिना तत्राशक्तचित्तं प्रत्युपायान्तरं—साधुसङ्गमः। साधवस्तु पुनः स्मारयन्ति पुनःपुनर्बोधयन्ति[1] ततोऽध्यात्मविद्याप्राप्त्या मनोनाशो भवति विद्यामद-धनमद-कुलमदाचारमदादिना पीड्यमानः साधूननुवर्तितुं नोत्सहते चेत्तं प्रत्युपायान्तरं—वासनासंपरित्यागः। विवेकेन वासनानां निवर्तनम्। तथाहि अहमत्र पण्डितः, अन्यः को वा किं जानाति ? सर्वोऽप्यप्रयोजकः;

●

'सूक्ष्म आत्मा' का साक्षात्कार करना संभव होता है। "दृश्यतेत्वग्र्या" यह श्रुतिवचन भी, 'अति सूक्ष्मबुद्धि से ही आत्मसाक्षात्कार का होना बता रहा है। अतः 'आत्मसाक्षात्कार' के लिये 'मन' की सूक्ष्मता का होना आवश्यक है। मन को सूक्ष्म करने का उपाय बताते हैं। 'इति' शब्द; हेत्वर्थक है अर्थात् स्थूल मन को आत्मदर्शन के अयोग्य माना गया है; उस कारण मन की सूक्ष्मता, 'राजस, तामस वृत्तियों' का निरोध करने से होती है। राजस-तामस वृत्तियों के निरोध से 'मन' को 'सूक्ष्म' करना ही मनोनाश' है।

पहले बता चुके हैं कि 'मन' का नाश, दो प्रकार का—(१) अरूपनाश, और (२) सरूपनाश होता है। पुनरुत्थान से रहित 'मन' का जो स्वरूप से ही नाश होता है, उसे 'अरूपनाश' कहते हैं, और 'मन' स्व-स्वरूप से विद्यमान रहते हुए भी उपाय के (साधन के) द्वारा उसकी (मन की) 'वृत्तियों' के नाश को 'सरूपनाश' कहते हैं। इन द्विविध मनोनाश में से मन के 'अरूपनाश' से तो तत्वज्ञानी को 'विदेहमुक्ति' की प्राप्ति होती है। और मन के 'सरूपनाश' से तत्वज्ञानी को 'जीवन्मुक्ति' की प्राप्ति होती है। जीवन्मुक्ति के सिद्ध्यर्थ, यहाँ पर 'मनोनाश' शब्द से 'सरूपनाश' की ही विवक्षा की गई है॥ ५॥

शंका—राजस-तामस वृत्तियों के निरोध से 'मन' की सूक्ष्मता का सम्पादन ही यदि 'मनोनाश' है, तो उन वृत्तियों का निरोध किन उपायों से किया जाता है ?

समा०—उन वृत्तियों के निरोध करने के चार उपायों को भगवान् वसिष्ठ ने बताया है—(१) 'अध्यात्मविद्याधिगम, (२) साधुसंगम, (३) वासनासम्परित्याग, (४) प्राणस्पन्दनिरोधन—ये चार प्रकार के उपाय 'चित्त' का जय करने में प्रबल कारण हैं। इनमें से 'आत्मा को 'ब्रह्म' रूप बताने वाली प्रत्येक विद्या को 'अध्यात्मविद्या' कहते हैं। उस अध्यात्मविद्या की प्राप्ति को 'अध्यात्मविद्याधिगम' शब्द से कहा गया है। 'चित्त' को जीतने का यह एक उपाय हुआ। क्योंकि 'नाम-रूपात्मक यह सम्पूर्ण जगत्' 'मिथ्या' ही है। परिपूर्णपरमानन्द एकरस 'मैं' ही सर्वत्र हूँ, मुझसे भिन्न, कोई भी 'कारण' तथा 'कार्य' नहीं है। 'मैं' ही 'सर्वरूप' हूँ—इस प्रकार की 'अध्यात्मविद्या' को जाननेवाला तत्त्वज्ञानी व्यक्ति, 'सम्पूर्ण दृश्य प्रपञ्च' को 'मिथ्या' समझता है। उस कारण ज्ञानी व्यक्ति का मन, उस मिथ्या प्रपञ्च में नहीं फसता, अर्थात् प्रपञ्च की ओर उसकी प्रवृत्ति नहीं होती।

किञ्च—'आत्मा' तो 'मन' का 'वाणी' का अविषय है। न 'मन' की वहाँ तक पहुँच है, और न 'वाणी', उसे बता पाती है। उस कारण 'आत्मा' में भी 'मन' की प्रवृत्ति नहीं होती। इस प्रकार आन्तर तथा बाह्य प्रवृत्ति से रहित हुआ 'मन', समस्त वृत्तियों के उदित न हो पाने से इन्धन (काष्ठादि) रहित अग्नि के समान अपने अधिष्ठानरूप कारण में लीन हो जाता है। अतः 'अध्यात्मविद्याधिगम' अर्थात् अध्यात्म विद्या की प्राप्ति को 'मनोनाश' के प्रति प्रधान कारण माना गया है।

जो व्यक्ति अपनी बुद्धि की मन्दता के कारण, अध्यात्मविद्या के सम्पादन करने में असमर्थ रहता है, उसके लिये दूसरा उपाय 'साधुसंगम' (सत्संगति) बताया गया है। क्योंकि साधु महात्मा महापुरुष उस अधिकारी व्यक्ति को पुनः-पुनः (बार-बार) प्रत्यगात्मा (जीवात्मा) की ब्रह्मरूपता (जीव-ब्रह्मैक्य) की तथा 'प्रपञ्च' के मिथ्यात्व की याद कराते रहते हैं। अर्थात् ब्रह्मात्मैक्य तथा प्रपञ्चमिथ्यात्व को उसे बताते रहते हैं। उससे अधिकारी व्यक्ति को 'अध्यात्मविद्या' की प्राप्ति होती है

१. 'बोधयन्ति बलादेव सानुकम्पा हि साधवः' इति निर्वाणपूर्वार्धे (६६.३) वसिष्ठः।

प्राणिनिरोधोपायो दर्शितः—

"प्राणायामदृढाऽभ्यासाद्युक्त्या च गुरुदत्तया। आसनाऽशनयोगेन प्राणस्पन्दो निरुध्यते॥" इति॥ ६॥

●

न मत्तोऽन्यः पण्डितोऽस्तीति मनसोऽभिमानविशेषो मदः। अयं विरोधिविवेकेन निवर्तनीयः। दृप्तबालाकिशाकल्यप्रभृतीनां पण्डिताभिमानिनामजातशत्रुयाज्ञवल्क्यप्रभृतिभिः परिभवदर्शनात्, मनुष्यमारभ्य दक्षिणामूर्तिपर्यन्तं तारतम्येन विद्योत्कर्षदर्शनाच्च। चन्द्रशिखामणेः सर्वेषामादिगुरोः सदाशिवस्य दक्षिणामूर्तेरेव निरतिशयविद्योत्कर्ष इतरेषां सातिशयः। तस्मान्मामधिकः कश्चित् पण्डितः पराभविष्यतीति निरन्तरं चिन्तयेत्ततो विद्यामदो निवर्तते। एवं धनमदस्याप्यासुरसंपद्रूपत्वेन पूर्वोक्तदैवसंपदभ्यासेन धनमदं निवर्तयेत्। एवं लक्षपतिना यावान् व्यवहारः क्रियते तावान् अलक्षपतिना कर्तुमशक्यत्वात्तेन तस्य पराभवसम्भवाच्च। अहं को वा वराकः? मत्तोऽधिकाः कुबेरतुल्या बहवो वर्तन्त इत्येवं चिन्तयतो धनाभिमानो निवर्तते। एवमन्योऽपि वारणीयः। वासनाप्राबल्ये विवेकेन तत्यागोऽशक्यश्चेत्तं प्रत्युपायान्तरं—प्राणस्पन्दनिरोधनम्। प्राणस्पन्दनिरोधनं कस्मात् भवतीत्यत आह—प्राणेति॥ ६॥

●

और उससे 'मनोनाश' होता है। अतः 'साधु संगम' भी 'अध्यात्मविद्या' की प्राप्ति द्वारा उस 'मनोनाश' का उपाय (साधन=कारण) है।

किञ्च—जो व्यक्ति, विद्यामद, धनमद, कुलमद, आचारमद आदि मदों से युक्त होने के कारण 'साधुसंगम' को भी नहीं कर सकता, उसको 'मनोनिरोध करने के लिये 'वासना-सम्परित्याग' रुप उपाय बताया गया है। अर्थात् विवेक बुद्धि' से 'मदादि मलिन वासना' को निवृत्ति करना हो 'वासना सम्परित्याग' कहलाता है।

विद्यादिकों के मद का स्वरूप तथा मद के निवर्तक विवेक का स्वरूप बताते हैं—

(१) विद्यामद—मैं ही एकमात्र विद्वान् हूँ, मेरे सिवाय अन्य कोई विद्वान् नहीं है। जो लोग, विद्वान्–पण्डित, कहे जाते हैं, वे कुछ भी नहीं जानते। इस प्रकार के मानस अभिमान को 'विद्यामद' कहते हैं।

उस विद्यामद की निवृत्ति, इस प्रकार के विवेक से होती है—अपने वैदुष्य का अभिमान करनेवाले 'बालाकि शाकल्य' आदि विद्वानों का भी अजातशत्रु, याज्ञवल्क्य आदि विद्वानों ने पराभव कर दिया था। और मनुष्य से लेकर श्रीदक्षिणामूर्ति तक 'तर-तमभाव' से विद्या की उत्कृष्टता दृष्टिगोचर होती हैं। सब के आदि गुरु जो 'श्रीदक्षिणामूर्ति सदाशिव' हैं, वे ही एकमात्र निरतिशय विद्या के भण्डार हैं। उनसे भिन्न जितने विद्वान्-पण्डित हैं, उनमें विद्या का तर-तमभाव ही रहता है। अतः हमारा भी पराभव, हमसे अधिक कोई विद्वान् कर सकता है। इस प्रकार निरन्तर चिन्तन करते रहने से 'विद्यामद' निवृत्त हो जाता है।

(२) धनमद—मैं ही धनवान् हूँ। मेरे समान अन्य कोई भी धनवान् नहीं है—इस मानस अभिमान को 'धनमद' कहते हैं। उस 'धनमद' की निवृत्ति, इस प्रकार के विवेक से होती है—लखपति–करोड़ पति–अरब पति–खरब पति पुरुष, जैसा व्यवहार करता है, वैसा व्यवहार, उतना धन न रखने वाला पुरुष, कभी नहीं कर सकता। एवंच लक्षपति पुरुष से अलक्षपति पुरुष का, कोटिपति पुरुष से अकोटिपति पुरुष का, अखरबपति पुरुष से करोड़पति पुरुष का, खरबपति पुरुष से अरबपति पुरुष का भी पराभव होता है, तब मुझ जैसे रंक-दरिद्र की कौन गिनती है? मुझसे भी अधिक; कुबेर के समान बहुत धनवान् लोग इस जगत् में हैं—इस प्रकार निरन्तर चिन्तन करते रहने से 'धनमद' की निवृत्ति होती है।

(३) कुलमद—हमारा कुल, सबसे श्रेष्ठ है—इस प्रकार के अभिमान को 'कुलमद' कहते हैं।

(४) आचारमद—हमारा आचार, सबसे श्रेष्ठ है—इस प्रकार के अभिमान को 'आचारमद' कहते हैं। इन दोनों मदों की निवृत्ति, यथोचित विवेक से करनो चाहिये। इस प्रकार जो व्यक्ति, विवेक के द्वारा विद्यामद आदि मलिन वासनाओं की निवृत्ति करता है, उस व्यक्ति का 'मनोनाश' साधुसंगम आदि उपायों से हो जाता है। एवं च 'वसनासम्परित्याग' भी 'मनोनाश' का उपाय है।

किञ्च—मलिन वासनाओं की प्रबलता के कारण जो व्यक्ति, निर्दिष्ट विवेक के द्वारा मलिन वासनाओं का परित्याग करने में समर्थ नहीं है, उस व्यक्ति के लिये, शास्त्र ने 'प्राणस्पन्द' का निरोध करना बताया है। अतः 'प्राणस्पन्दनिरोधन' भी 'मनोनाश' का उपाय है।

प्राणायामप्रकारो दर्शितः—

"इडया पिब षोडशभिः पवनं चतुरुत्तरषष्टिकमोदरिकम् ।
त्यज पिङ्गलया शनकैः शनकैर्दशभिर्दशभिर्दशभिर्द्विघिकैः ॥" इति ।

इडया वामनासिकया पिब पूरय; त्यज रेचय पिङ्गलया दक्षिणनासिकयेत्यर्थः ।

●

कथं प्राणायामाभ्यासः कर्तव्य इत्याकाङ्क्षायामाह—प्राणायामेति । कारिकां व्याचष्टे—इडयेति । प्राणायामेति । प्राणनिरोधद्वारेति शेषः । योगी द्विविधः—दैवसम्पदादिशुभवासनोपेतस्तद्रहिताऽऽसुरसम्पन्नमलिनवासनायुक्तश्चेति । आद्यस्य पूर्वेण मन्त्रेण ब्रह्मानुसन्धानलक्षणो राजयोग उपदिष्टः—

"त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य ।
ब्रह्माप्यते येन प्रतरेत् स विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ॥ इति ।

द्वितीयस्योत्तरेण मन्त्रेण हठयोगः प्राणनिरोधोपायो दर्शितः । पूर्वोक्तरेचकपूरककुम्भकक्रमेण प्राणान् प्रपीडच प्राणायामं कृत्वा प्राणे क्षीणे गतिविच्छेदेन प्राणवृत्तिनिरोधे सतीत्यर्थः । सुष्ठु उक्ता चेष्टा यस्मिन् स तथोक्तः । एवं प्राणायामाभ्यासेन प्राण-

●

'प्राणस्पन्दनिरोध' कैसे किया जाता है ? उसे बताते हैं—योगाभ्यास करने वाले गुरु के द्वारा प्रदर्शित युक्ति से किये जाने वाले 'प्राणायाम के दृढ़ अभ्यास' से तथा 'आसानयोग' से और 'अशनयोग' से 'प्राणों' की गति (स्पन्दन) का निरोध किया जाता है ॥ ६ ॥

प्राणायामों का अभ्यास कैसे करना चाहिये ? इस जिज्ञासा का समाधान दे रहे हैं—प्राणायाम करने का प्रकार यह है—सोलह मात्राओं में इडा से वायु भीतर लो, चौसठ मात्राओं तक उसे भीतर रखो, पिंगला द्वारा उसे धीरे-धीरे बत्तीस मात्रा में छोड़ो।

(१) पूरक, (२) रेचक और (३) कुम्भक के भेद से 'प्राणायाम' तीन प्रकार का है—

वामनासापुट (इडा) से बाह्य वायु को भीतर खींचना चाहिये, इसी को 'पूरक' कहते हैं। और दक्षिण नासापुट (पिङ्गला) से पहिले भीतर को ओर खींचीं गई बाह्य वायु को अर्थात् आन्तर वायु को बाहर त्यागना चाहिये, इसी को 'रेचक' कहते हैं। और 'प्राणवायु' को जो भीतर रोक रखना है, इसी को 'कुम्भक' कहते हैं। अर्थात् 'बाह्य वायु' को खींचना 'पूरक' है. और उसे पुनः बाहर निकाल देना 'रेचक' है, और 'प्राणवायु' को भीतर रोक रखना 'कुम्भक' कहलाता हैं।

यह 'कुम्भक' भी (१) आन्तर और (२) बाह्य के भेद से 'दो प्रकार' का होता है। अर्थात् 'आन्तर' कुम्भक और 'बाह्यकुम्भक' दो प्रकार का 'कुम्भक' होता है। अर्थात् 'पूरक' किये हुए 'वायु' को 'हृदय' में रोक रखने को 'आन्तरकुम्भक' कहते हैं, और 'रेचक' किये हुए 'प्राणवायु' को शरीर के बाहर रोक रखने को 'बाह्यकुम्भक' कहते हैं। अर्थात् षोडश मात्राओं को करते हुए (सोलह क्षणों की पूर्ति तक) पवन (वायु) को खींचना (पूरक करना) चाहिये। और चौसठ मात्राओं को करते हुए (चौसठ क्षणों तक की पूर्ति होने तक) उस 'पूरक वायु' को हृदय में रोक रखना चाहिये—यही 'कुम्भक' है। तदनन्तर बत्तीस मात्राओं को करते हुए (बत्तीसक्षणों तक की पूर्ति होने तक) पिंगला (दक्षिण नासा पुट) के द्वारा धीरे-धीरे 'रेचन' करना (निकाल देना] चाहिये, इसी को 'रेचक' कहते हैं। अर्थात् 'पूरक' से 'द्विगुणित' (दुगना) 'रेचक' करना, और 'रेचक' से दुगना 'कुम्भक' करना चाहिये। 'मात्रा' का अर्थ 'कालपरिमाण' है। अभिप्राय यह है कि 'इडा' अर्थात् वामनासिका से 'पिब' = पूर्णकरो और 'पिंगला' अर्थात् दक्षिण नासिका से 'त्यज' रेचन करना चाहिये।

इस रीति से किये हुए प्राणायाम के अभ्यास से 'प्राण' की गति का निरोध होता है। उस 'प्राणनिरोध' से 'मनोनाश' होता है।

किञ्च—'मनोनाश' के प्रति प्राणनिरोध के द्वारा 'प्राणायाम' को साधन (उपाय) कहा गया है—'योगी' दो प्रकार के होते हैं। एक तो 'दैवीसम्पद्'रूप शुभवासनावाला योगी, और दूसरा 'दैवीसम्पत्' से रहित आसुरी सम्पत्रूप मलिनवासना वाला योगी। इनमें से शुभवासनावाले प्रथम योगी को निरन्तर 'ब्रह्मचिन्तन' रूप 'राजयोग' का उपदेश भगवती श्रुति कर रही है—

प्राणायामस्य मनोनाशोपायत्वं श्रुतावप्युक्तम्—

"प्राणान् प्रपीडयेह सुयुक्तचेष्टः क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत।
दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं विद्वान्मनो धारयेताप्रमत्तः॥" इति ॥ ७ ॥

आसनयोगं तत्साधनं तत्फलं च पतञ्जलिरसूत्रयत्—

"तत्र स्थिरसुखमासनं", "प्रयत्नशैथिल्याऽनन्तसमापत्तिभ्याम्"। प्रयत्नशैथिल्यं लौकिक-वैदिककर्मत्यागः। फणानां

•

निरोधं कुर्वन् पुनः किं कुर्यादित्यत आह—दुष्टेति। अशिक्षिताश्वयुक्तं वाहं रथशकटादिकं यथा सारथिरप्रमत्तो रश्मिग्रहणेन सन्मार्गे धारयेत् तथा योगीश्वरोऽप्रमत्तो विद्वान् ब्रह्मनिष्ठो दुष्टेन्द्रिययुक्तं मनो विषयेभ्यो निवार्याऽऽनन्दैकरसे ब्रह्मणि धारयेत्, तत्रैवैकाग्रचित्तो भवेदित्यर्थः ॥ ७ ॥

"आसनाशनयोगेन प्राणस्पन्दो निरुध्यते" इत्युक्तं, तत्राऽऽसनं पतञ्जलिसूत्रेण व्युत्पादयति—आसनेति। सूत्रं व्याचष्टे—

•

यह विद्वान् ज्ञानी पुरुष, एकान्त प्रदेश में पवित्र आसन पर बैठकर अपने शरीर, कटि, ग्रीवा आदि को समतया स्थापन करके अपने हृदय में 'मन' के सहित सम्पूर्ण इन्द्रियों का निरोध करके 'अहं ब्रह्मास्मि' इस प्रकार निरन्तर चिन्तन करे। उस ब्रह्मचिन्तनरूप नौका की सहायता से वह विद्वान् ज्ञानी पुरुष, भयानक मायारूप नदी के प्रवाह के पार हो जाता है।

पूर्वनिर्दिष्ट दूसरे योगी के लिये श्रुति ने दूसरे मंत्र के द्वारा 'हठयोग' को प्राण निरोधका साधन (उपाय) बताया है—युक्त आहार-विहारादि करनेवाला विद्वान् योगी पुरुष, पूर्वोक्त पूरक, कुंम्भक, रेचक क्रम से 'प्राणान् प्रपीडयेत्'—प्राणायाम के द्वारा 'प्राणों' की गति का निरोध करे। जैसे प्रमादरहित सारथी, 'दुष्ट अश्व जुते हुए रथ को बलात् (जबरदस्ती=हठात्) उचित मार्ग पर ले जाता है, उसी तरह प्रमादरहित विद्वान् योगी, 'दुष्ट इन्द्रियों के सहित मन' को विषयों से विमुख कराते हुए 'आनन्दैकरस ब्रह्म' में स्थापित करे। अर्थात् 'ब्रह्म' में एकाग्रचित्त हो जाय ॥ ७ ॥

अब आसनयोग को बता रहे हैं। भगवान् पतञ्जलि ने अपने योगसूत्र में आसनयोग के स्वरूप को तथा आसनयोग के साधन को और आसनयोग के फल को यथाक्रम बताया है—(यो० सू० साध० पाद, सू० ४६-४७-४८)। यथाक्रम उन सूत्रों का अर्थ यह है—"स्थिरसुखम्"—'आस्यते अनेन आस्ते वा इति आसनम्'—इस व्युत्पत्ति से प्रतीत होता है कि जिसके द्वारा स्थिरता तथा सुख, पुरुष को प्राप्त हो उसे 'आसन' कहते हैं। जैसे—पद्मासन, बद्धपद्मासन, भद्रासन, वीरासन, स्वस्तिकासन, दण्डासन, आदि अनेक आसन हैं। इन आसनों में से जिस प्रकार स्थित रहने से योगी की स्थिरता तथा उसे सुख प्रतीत हो उसी आसन को 'स्थिरसुखासन' कहा जाता है। उसी आसन का सेवन योगी को करना चाहिए। इस प्रकार उक्त ४६वें सूत्र के द्वारा आसन का स्वरूप बताया है।

अब ४७वें सूत्र से उसके 'साधन' को बताते हैं—इस सूत्र के अन्त में 'भवति' को जोड़ लेना चाहिए। शरीर की स्वाभाविक चेष्टा को शिथिल (न्यून) करने से तथा 'अनन्त' नामक भगवान् शेषराजविषयक चित्त एकतान (एकाग्र) करने से आसन' सिद्ध होता है। यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि 'प्रयत्न शैथिल्य' ही 'आसन' का हेतु है, 'प्रयत्न' नहीं। शरीर-विधारक स्वाभाविक चेष्टा को 'प्रयत्न' कहते हैं। और 'स्थिर सुख' के हेतु को 'आसन' कहा गया है। 'आसन' लगाने में 'प्रयत्न' कारण नहीं है, अपितु 'प्रयत्न', उस 'आसन' का विनाशक है। आसन सिद्ध होने पर शरीरके अवयवों में 'कम्पन' नहीं होता है। यदि 'प्रयत्न' को 'आसन' का हेतु (कारण) माना जाय तो वह स्वभावसिद्ध होने से उसका उपदेश करना व्यर्थ है। अतः आसन लगाने की इच्छा रखनेवाले योगी को प्रयत्नशैथिल्य के लिए ही प्रयत्न करना चाहिये। लौकिक-वैदिक कर्मों के त्याग को 'प्रयत्नशैथिल्य' कहते हैं। जो व्यक्ति लौकिक-वैदिक कर्मों में प्रवृत्त रहता है; वह व्यक्ति 'स्थिर आसन' से बैठ नहीं सकता। अतः लौकिक-वैदिक कर्म का त्याग भी 'स्थिर आसन' लगाने में 'हेतु' है। 'एकाग्रता' का हेतु 'ध्यान' है, और 'ध्यान' का हेतु 'स्थिरता' है, व 'स्थिरता' का हेतु 'आसन' है। अतः स्थिरता के हेतुभूत आसन की सिद्धि के लिये किसी स्थिर पदार्थ का चिन्तन अपेक्षित है। सबसे अधिक स्थिर पदार्थ भगवान् अनन्त (शेषराज) हैं, क्योंकि उनकी सहस्रफणाओं पर 'ब्रह्माण्ड' स्थित है। वे सबसे अधिक स्थिर न हों तो उनकी फणाओं पर स्थित ब्रह्माण्ड भी स्थिर नहीं रह सकता। इसलिए अत्यन्त स्थिर

सहस्रेण धरणीं धृत्वा योऽनन्तो वर्तते स एवाऽहमस्मीत्यनुसन्धानम् अनन्तसमापत्तिः। अनयाऽऽसनप्रतिबन्धकं दुरितं क्षीयते। "ततो द्वन्द्वाऽनभिघातः"। आसनाऽभ्यासस्य फलं द्वन्द्वनिवृत्तिः।

आसनयोगोऽपि दर्शितः—

"द्वौ भागौ पूरयेदन्नैर्जलेनैकं प्रपूरयेत्। मारुतस्य प्रचारार्थं चतुर्थमवशेषयेत्॥" इति॥ ८॥

एवं प्राणायामादिना प्राणस्पन्दे निरुद्धेऽखिलाश्चित्तवृत्तयो निरुध्यन्ते, प्राणस्पन्दाऽधीनत्वाच्चित्तवृत्त्युदयस्य। ततश्च स्वभावत आत्माऽनात्माकारमन्तःकरणमनात्माकारवृत्तिनिरोधादात्मैकाकारं भवति, यथाहुः—

"आत्माऽनात्माकारं स्वभावतोऽवस्थितं सदा चित्तम्।
आत्मैकाकारतया तिरोहिताऽनात्मदृष्टि विदधीत॥" इति॥ ९॥

•

प्रयत्नेति। लौकिकवैदिककर्मसु वर्तमानस्यासम्भवात्तत्त्यागः तत्साधनमित्यर्थः। अनन्तसमापत्तिं व्युत्पादयति—फणानामिति। अनन्तसमापत्तेः फलमाह—अनयेति। फलसूत्रं व्याचष्टे—आसनेति। आसनं योगसम्पत्तिप्रदर्शनेन व्युत्पादयति—आसनेति॥ ८॥

ननु प्राणायामादिना प्राणस्पन्दे निरुद्धे किं भवतीत्यत आह—एवमिति। तत्रोपपत्तिमाह—प्राणेति। यथा तन्त्वधीनः पटः तन्तुनिरोधे निरुध्यते, यथा वा चित्ताधीनानि बाह्येन्द्रियाणि चित्तनिरोधे निरुध्यन्ते, एवं प्राणसन्दाधीनाः चित्तवृत्तयः तन्निरोधे निरुध्यन्त इत्यर्थः ततः किमित्यत आह—ततश्चेति।

अयमेव वृत्तिनिरोधो मनोनाश इत्युच्यते। तस्मिन्मनोनाशे सम्यक् सम्पन्ने आत्मैकाकारेण मनसाऽऽनन्दैकरसोऽपरिच्छिन्नप्रत्यगात्माऽनुभूयते। "यदा यात्यमनीभावं तदा तत्परमं पदमि"त्यादिश्रुतेरिति भावः। तत्र वृद्धसंमतिमाह[1]—यथेति॥ ९॥

•

भगवान् अनन्त में 'चित्त' को एकतान करने से उनकी कृपा के द्वारा 'आसन' सिद्ध होता है। अतः योगी को उनका ध्यान करना चाहिए।

अब ४८वें सूत्र के द्वारा 'आसनसिद्धि' का फल बताते हैं—आसनसिद्धि होने पर 'द्वन्द्वानभिघातः'—शीतोष्णादि द्वन्द्वों का अनभिघात होता है, अर्थात् शीतोष्णादि द्वन्द्वों से योगी, पीड़ित नहीं होता है। अपितु वह सहनशील (तितिक्षु) बन जाता है। यह आसनयोग का 'फल' है।

'आसनयोग' के फल को बताने के पश्चात् अब 'अशनयोग' को बताते हैं—योगाभ्यासी पुरुष, अपने उदर (पेट) के 'दो भागों' को 'अन्न' से पूर्ण करे और 'एक भाग' को जल से पूर्ण करे और 'प्राणवायु' के सुखपूर्वक संचरण के लिये एक भाग को खाली रखे। यही 'अशनयोग' है॥ ८॥

इस रीति से (१) प्राणायाम, (२) आसनयोग, और (३) अशनयोग—इन तीनों के द्वारा 'प्राणवायु' की गति का निरोध किया जाता है। प्राणवायु का निरोध करने पर 'चित्त' की 'सम्पूर्ण वृत्तियों' का निरोध हो जाता है। क्योंकि 'चित्त' की 'वृत्तियों' का उदय, 'प्राण' की 'गति' के अधीन होता है। निष्कर्ष यह है—जो पदार्थ, जिस वस्तु के अधीन होता है, वह पदार्थ, 'उस वस्तु' के निरुद्ध होने पर 'निरुद्ध' हो जाता है। जैसे 'पट', अपने कारणभूत 'तन्तुओं' के अधीन होता है, उस कारण 'तन्तुओं' का निरोध होने पर 'पट' अपने आप 'निरुद्ध' हो जाता है। जैसे—'बाह्येन्द्रियाँ', 'चित्त' के अधीन रहती हैं, अतएव 'चित्त' का निरोध हो जाने पर, वे 'बाह्येन्द्रियाँ' अपने-आप निरुद्ध हो जाती हैं।

उसी तरह 'चित्तवृत्तियाँ', 'प्राणगति' के अधीन रहती हैं। अतः 'प्राणगति' का निरोध कर देने पर 'चित्तवृत्तियों का निरोध, अपने आप (स्वयं ही) हो जाता है। उन वृत्तियों के निरोधार्थ अलग से (पृथक्) प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं होती। प्राणायाम के द्वारा मनोवृत्ति का निरोध होने से मन; जो स्वभावतः आत्मा व अनात्मा दोनों आकारों का बनता रहता है, वह अनात्मा के आकारवाली वृत्तियाँ छोड़कर केवल आत्मा के आकारवाला बन जाता है। अनात्माकार वृत्तियों का निरोध हो जाने पर स्वभाव से ही यह आत्माकार हो जाता है। इस प्रकार से 'चित्त की वृत्तियों' का जो 'निरोध' है उसी को 'मनोनाश' शब्द से कहा जाता है। 'मनोनाश' होने पर उस तत्त्ववेत्ता पुरुष को आत्मा के साथ एकाकार हुए 'मन' से आनन्दैकरस, अपरिच्छिन्न प्रत्यगात्मा का अनुभव होने लगता है। भगवती श्रुति कह रही है—'यदा यात्यमनीभावं तदा तत्परमं पदम्'। इन अनात्माकार वृत्तियों के निरोध को ही भगवान् पतञ्जलि ने 'योग' शब्द से कहा है॥ ९॥

---

१. गीतागूढार्थदीपिकारादयोवृद्धाः।

अयमेव योगः। यथाहुः—"योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" इति।

•

वृत्तिनिरोधो योगविद्भिर्योग इत्युच्यत इत्याह—अयमिति। तत्र योगशास्त्रसंमतिमाह—यथाहुरिति। प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतीनां पञ्चानां विरोधो योगः। प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानीति पातञ्जलाः। प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दार्थापत्त्यनुपलब्धयः षड्विधानि प्रमाणानीति तु वयम्। प्रमाकरणं प्रमाणं। प्रत्यक्षप्रमाकरणं प्रत्यक्षप्रमाणं। अनुमितिप्रमाकरणमनुमानम्।

•

यह 'वृत्तिनिरोध' ही 'योग' है। भगवान् पतञ्जलि ने इसी अभिप्राय को सूत्र से प्रकट किया है। 'चित्त' की 'वृत्तियों' के निरोध को 'योग' के नाम से कहा है। ये 'वृत्तियाँ' पांच प्रकार की होती हैं—(१) प्रमाण, (२) विपर्यय, (३) विकल्प, (४) निद्रा, (५) स्मृति। 'प्रमाण' से उत्पन्न होने वाले 'प्रमाज्ञान' को 'प्रमाणवृत्ति' कहते हैं। योग शास्त्र में (१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान और (३) शब्द—'तीन ही प्रमाण' माने जाते हैं। अतः उनके मत में उन प्रमाणों से उत्पन्न होनेवाली 'प्रमावृत्ति' भी 'तीन ही प्रकार' की होती है।

किन्तु वेदान्त सिद्धान्त में—(१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान, (३) उपमान, (४) शब्द, (५) अर्थापत्ति, (६) अनुपलब्धि—छह प्रमाण माने जाते हैं। अतः वेदान्तसिद्धान्त में उन छह प्रमाणों से उत्पन्न होने वाली 'प्रमावृत्ति' भी 'छह (षट्) प्रकार की ही होती है। पञ्चविध वृत्तियों में से प्रथम 'प्रमाणवृत्ति' को बताया।

अब द्वितीय 'विपर्यय वृत्ति' है। उसका लक्षण है—जो पदार्थ, अपने रूप में स्थित न हो, ऐसे मिथ्याज्ञान को 'विपर्यय' कहते हैं। जैसे—'शुक्ति' में 'रजत' का ज्ञान होना 'मिथ्याज्ञान' है।

अब तीसरी 'विकल्प वृत्ति' है। उसका लक्षण है—'शब्दज्ञानानुपातीवस्तुशून्यो विकल्पः' अर्थात् वस्तुशून्य जो वृत्तिज्ञान, 'वस्तु' से शून्य अलीक पदार्थ विषयक तथा शब्दज्ञानानुपाती—अर्थात् पदार्थ के न रहनेपर भी शब्द को सुनकर उसके समान ही चित्तवृत्ति का हो जाना 'विकल्पवृत्ति' है। शब्दजन्य ज्ञान के प्रभाव से हो अलीक पदार्थाकार से अनुपाती हो, उसे 'विकल्प' कहते हैं। जैसे—'वन्ध्यापुत्रः आगच्छति' इन शब्दों के द्वारा होने वाले ज्ञान से जो अलीक (शून्य) 'वन्ध्यापुत्राकार चित्त' की 'परिणामरूप वृत्ति' है, उसे 'विकल्पवृत्ति' कहा जाता है। इस विकल्पज्ञान (विकल्पवृत्ति) से कहीं 'अभेद' में 'भेद', जैसे 'राहोः-शिरः', तथा कहीं 'भेद' में, अभेद—जेसे 'अयःपिण्डो दहति' में 'अभेद' का आरोप करके 'व्यवहार' किया जाता है, तथापि 'आरोपित' ज्ञान होने से उसे 'प्रमाण' नहीं माना जाता। तथा 'वन्ध्यापुत्र' शब्द से सभी को बोध होने से और 'उत्तरकालिक ज्ञान' से उसका 'बाध' न होने से इस 'विकल्पवृत्ति' का 'विपर्ययवृत्ति' में भी अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता। अतः यह 'विकल्पज्ञान', एक स्वतन्त्रवृत्ति विशेष है। 'विपर्ययज्ञान' सभी को नहीं होता, जिसके इन्द्रिय में 'दोष' हो, उसी को होता है, किन्तु 'विकल्पज्ञान' सभी को होता है। यही दोनों में भेद है।

अब चौथी 'निद्रावृत्ति' है। उसका लक्षण है—"अभावप्रत्ययालम्बनावृत्तिर्निद्रा'—जाग्रत्, तथा स्वप्न कालीन पदार्थ विषयक वृत्तियों के कारण जो सत्त्वगुण तथा रजोगुण का आवरक 'तमोद्रव्य' रूप अज्ञान है, उस 'अज्ञानविषयक वृत्ति' को 'निद्रावृत्ति' कहते हैं। इसी का दूसरा नाम 'सुषुप्ति' है। इसी निद्रावृत्तिवाले पुरुष को 'सुषुप्त' और 'अन्तःप्रज्ञ' भी कहा जाता है। 'निद्रा' को 'वृत्ति' मानने में कुछ दार्शनिकों का विरोध है।

निद्रावृत्ति के लक्षण में प्रयुक्त 'अभाव' पद से जाग्रत् तथा स्वप्न के पदार्थों का 'अभाव' समझना चाहिए। 'प्रत्यय' पद से उक्त अभाव का कारण, 'सत्त्वगुण तथा राजोगुण' का आवश्यक 'तमोद्रव्यरूप अज्ञान' समझना चाहिए। 'आलम्बन' पद से 'विषय' समझना चाहिए 'वृत्ति' पद से प्रकरणप्राप्त 'चित्तवृत्ति' समझनो चाहिए। 'निद्रा' पद से 'सुषुप्ति' अवस्था की 'चित्तवृत्ति' समझनी चाहिए।

'बुद्धिसत्त्व'—त्रिगुणात्मक है। उसके तीनों गुण परस्पर एक-दूसरे का अभिभव करते रहते हैं। अतः जिस समय 'सत्त्वगुण' को तथा 'रजोगुण' को अभिभूत कर इन्द्रियादि समस्त 'ज्ञानकरणों' को आवृत करनेवाला 'तमोगुण' आविर्भूत होता है, उस समय 'चित्तवृत्ति' के विषयाकार होने में द्वारभूत इन्द्रियों का अभाव रहने से 'बुद्धिसत्त्व', विषयाकार नहीं हो पाता। उस कारण अज्ञानरूप से परिणत हुए 'तमोगुण' को विषय करने के लिए 'तमोगुणप्रधान चित्तवृत्ति' उत्पन्न होती है। उसी 'चित्त-

तत्साधनं चाहुः "अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः" इति ।

●

उपमितिप्रमाकरणमुपमानम् । शाब्दप्रमाकरणमागमः । उपपादकप्रमाकरणमर्थापत्तिः । ज्ञानकरणाजन्याभावानुभवासाधारणकारणमनुपलब्धिः । सामान्यविशेषलक्षणाभ्यां विस्तरेण प्रमा निरूपिता, करणञ्च निरूपितम् । विपर्ययो निरूपितः । विकल्पः संशयः[1] असद् ज्ञानं, सोऽपि निरूपितः । तामसी वृत्तिर्निद्रा । स्मृतिर्निरूपिता । एतासां सर्ववृत्तीनां निरोधो योग इत्यर्थः । अथवा

●

वृत्ति' को 'निद्रावृत्ति' कहा गया है। यही 'निद्रावृत्ति', सुषुप्तिकालिक स्वरूप (आनन्द) तथा अज्ञान आदि को विषय करती है। अर्थात् 'तामसीवृत्ति' को निद्रा कहा गया है।

नैयायिक विद्वान् 'निद्रा' को 'वृत्ति' (ज्ञान) रूप नहीं मानते, वे उसे 'ज्ञानाभाव' रूप मानते हैं। क्योंकि निद्रा (सुषुप्ति) में ज्ञान के साधन बाह्य-आभ्यन्तर इन्द्रियों का अभाव रहता है। उस कारण 'ज्ञान' (वृत्ति) की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती।

किन्तु 'सुखमहमस्वाप्सम्', 'दुःखमहमस्वाप्सम्', और 'गाढं मूढोऽहमस्वाप्सम्'—इस प्रकार क्रमशः सात्त्विक-राजस-तामस निद्रा से जगे हुए (प्रबुद्ध) व्यक्ति को जो 'स्मृति' हो रही है, उसका अपलाप कैसे किया जा सकता है ? अतः सुषुप्ति में (निद्रा में) भी 'ज्ञान' (वृत्ति) का सद्भाव है, यह कहना पड़ता है। निद्रा को 'वृत्ति' न मानने में नैयायिकों को 'भ्रम' ने ही ग्रस लिया है, यही कहना होगा।

वेदान्ती विद्वान् सुषुप्ति अवस्था में 'चित्त' का अपने उपादानकारण 'अविद्या' में लय होना बताते हैं। अतः वे 'निद्रा' को 'चित्त' की 'वृत्ति' न मानकर उसे 'अविद्या'की 'वृत्ति' कहते हैं। इस 'अविद्यावृत्ति' के द्वारा ही 'साक्षी चेतन' अपने स्वरूप (सुख) तथा अज्ञान को प्रकाशित करता है। क्योंकि 'सत्ता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति'—(छां० उ० ६।८) प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेदनान्तरम्'—(बृ० उ०), 'सुषुप्तकाले सकले विलीने तमोभिभूतः सुखरूपमेति'—(कै० उ० १३) इत्यादि श्रुतिवचनों से अपने कारणभूत 'प्रकृति' में 'चित्त' का 'लय' होना बताया गया है। वेदान्ती लोग 'प्रकृति' को ही 'अविद्या' शब्द से कहते हैं।

योगशास्त्र के विद्वान् भी कारणावस्थापन्न सूक्ष्म (कारण में लीन) चित्तवृत्ति को ही सुषुप्तिरूप निद्रा कहते हैं। अन्यथा निर्दिष्ट श्रुतिवचनों के साथ विरोध होगा।

वेदान्तियों ने भी 'सुषुप्तिरूप निद्रा' को जो 'अविद्या' की 'वृत्ति' कहा है, वह भी 'वृत्त्युपहित अज्ञान' को वृत्ति को ही कहा है।

ऐसी स्थिति में 'कारणावस्थावाली चित्तवृत्ति' में और 'अविद्यावृत्ति' में कौन-सी भिन्नता है ? कोई भिन्नता नहीं है। एवञ्च वृत्त्युपहित (अविद्योपाधिक) साक्षिचेतन, 'स्वरूपसुख तथा अज्ञान' को प्रकाशित करता है।

उसी तरह योगशास्त्री भी 'वृत्ति' के 'जड़' होने से वह 'विषय' को प्रकाशित नहीं कर पाती, अपि तु 'पुरुषप्रतिबिम्बित बुद्धि-बोधरूप वृत्ति' 'विषय' को प्रकाशित करती है यह मानते हैं। यह कहने से प्रतीत हो रहा है कि दोनों के मत में 'सुषुप्ति' अवस्था का स्वरूप 'सुख' तथा 'अज्ञान' 'साक्षिभास्य' ही है। इस प्रकार योग, और वेदान्त—दोनों के मत में कोई विरोध नहीं है। अब पांचवीं 'स्मृति' वृत्ति है। उसका लक्षण है—"अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः"—इस लक्षण में प्रयुक्त 'अनुभूत' पद से 'पौरुषेय' बोधरूप 'ज्ञान' से 'ज्ञात हुआ विषय' समझना चाहिए, 'विषय' पद से 'घट-पट आदि विषय', तथा तद्विषयक बुद्धिबोधरूप 'चित्तवृत्ति', और असम्प्रमोष' पद से जितना अर्थ, 'अनुभव' से ज्ञात हो, उतने ही को विषय करनेवाला ज्ञान, और 'स्मृति' पद से 'चित्त' के वृत्तिविशेष को समझना चाहिये। तब लक्षण का अर्थ यह हुआ—अनुभूत विषयों का पुनः आरोहपूर्वक जो अनुभवमात्रविषयक चित्तवृत्तिविशेष, उसी को 'स्मृति' कहते हैं।

यहां प्रश्न हो सकता है कि 'चित्त', किसका स्मरण करता है ? 'घटज्ञान' का स्मरण करता है, अथवा 'घटादिविषय' का स्मरण करता है ? इस प्रश्न का उत्तर यही होगा कि 'चित्त', 'विषय' और उसके 'ज्ञान' दोनों का स्मरण करता है।

---

१. शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्य इति तु योगिनः ।

भगवानपि तत्रैव—

"असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् । अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥" इति ॥ १० ॥

वैराग्यं निरूपितम् ।

●

देवासुरसम्पत्तीनां निरोधो योग इत्यर्थः । देवासुरसंपत्तयः पूर्वमेव निरूपिताः । ननु किं तन्निरोधनसाधनमित्याकाङ्क्षायां सूत्रेण तदाह—तत्साधनं चेति । तत्र भगवद्गीतावचनमप्युदाहरति—भगवानपीति ॥ १० ॥

किं तद्वैराग्यमित्याकांक्षायामाह—वैराग्यमिति । तद्वंभ्यासो निरूपणीय इत्यपेक्षायामभ्यासस्य योगं प्रत्यन्तरङ्ग-साधनत्वाद्बहिरङ्गसाधनेन विना तदसिद्धेः सोपायं बहिरङ्गसाधनम् निरूप्य तन्निरूपयितुं निरोधं विभजते—निरोध इति । वृत्तिनिरोध इत्यर्थः । संप्रज्ञातस्य लक्षणमाह—तत्रेति । तयोर्मध्य इत्यर्थः । अङ्गसमाधिव्यावृत्त्यर्थं कर्त्राद्यनुसन्धानं विनेत्युक्तम् ।

●

ये प्रमाणादि पांचों वृत्तियाँ, सुख-दुःख-मोहरूप हैं । सुख, दुःख क्रमशः 'राग' तथा 'द्वेष' से होते हैं । अतः कार्य-कारण में अभेद मानकर 'सुख-दुःख' को 'राग-द्वेषरूप क्लेश' समझना चाहिए । 'मोह' तो अविद्या का ही दूसरा नाम है । अतः इन क्लेशदायक वृत्तियों का निरोध करने के लिए कहा गया है ।

स्मृति की प्रक्रिया यह है कि कोई भी ज्ञान, उत्पन्न होकर वह सर्वदा विद्यमान नहीं रहता । वह तृतीयक्षणध्वंस-प्रतियोगी होता है, अर्थात् तीसरे क्षण में उसका नाश हो जाता है, प्रथम क्षण में उत्पन्न होता है । द्वितीय क्षण में उसकी स्थिति रहती है और तृतीय क्षण में वह नष्ट होता है । अर्थात् एक उत्पत्तिक्षण, दूसरा स्थितिक्षण और तीसरा विनाशक्षण, प्रत्येक ज्ञान का होता है ।

ज्ञान के नष्ट होने पर भी वह अपना संस्कार 'चित्त' में छोड़ जाता है । वह संस्कार भी चित्त में अनुद्बुद्ध (सुप्त) होकर रहता है । इस प्रकार के अनेकानेक जन्मों के असंख्य संस्कार सुप्तावस्था में पड़े हैं । जब कभी उनमें से किसी का उद्बोधक (जगानेवाला) कारण, जैसे—'चित्त की एकाग्रता', 'अभ्यास', 'सहचारदर्शन' आदि में से कोई एक भी उपस्थित हो जाय तो वह सुप्त संस्कार उद्बुद्ध (जाग्रत्) हो जाता है, और 'स्मृति' को उत्पन्न करता है । संस्कार के जागरूक होने पर वह 'प्रमुष्टतत्ताक' और 'अप्रमुष्टतत्ताक' दोनों प्रकार की स्मृति को पैदा करता है । जैसे 'सा मे माता'—यह 'अप्रमुष्ट तत्ताक' स्मृति है, और 'मे माता'—यह 'प्रमुष्टतत्ताक' स्मृति है । अर्थात् एक में 'तत्' शब्द का प्रयोग है, और एक में 'तत्' शब्द का प्रयोग नहीं है ।

'अनुभव' और 'स्मृति' में 'भेद' इतना ही है कि 'अनुभव'—अज्ञातवस्तुविषयक होता है और 'स्मृति' ज्ञातवस्तु-विषयक होती है ।

इन पञ्चविध वृत्तियों के निरोध को योगविदों ने 'योग' कहा है ।

अथवा—पूर्वोक्त मैत्री-करुणा आदि जो दैवी वृत्तियाँ (दैवी सम्पत्तियाँ) तथा दंभ-दर्प आदि जो आसुरी वृत्तियाँ (आसुरी सम्पत्तियाँ) हैं, उन समस्त वृत्तियों के निरोध का नाम 'योग' है ।

प्रश्न—उक्त द्विविध वृत्तियों के निरोध का साधन क्या है ?

उत्तर—पतञ्जलि महर्षि ने उनके निरोध का उपाय (साधन) बताया है—अभ्यास और वैराग्य दोनों को ही उन वृत्तियों के निरोध का साधन (उपाय) बताया है ।

उसी तरह भगवान् भी बता रहे हैं—इस दुर्निग्रह और चञ्चल मन को अभ्यास तथा वैराग्य के द्वारा ही निगृहीत किया जा सकता है । अर्थात् अभ्यास और वैराग्य ही 'मनोनिग्रह' के उपाय हैं । जिस 'वस्तु' के प्रति दोषदृष्टि हो जाती है, उसके प्रति वैराग्य हो जाता है, तब उसकी ओर 'मन' की प्रवृत्ति नहीं होती है । अतः मनोनिग्रह का साधन वैराग्य है तथा अभ्यास भी है । उनमें भी 'अभ्यास' तो 'योग' के प्रति 'अन्तरंग' साधन है । अन्तरंग साधन की सिद्धि, 'बहिरंग' साधन के बिना नहीं होती । उस कारण उपाय सहित उन बहिरंग साधनों का निरूपण किया गया है ॥ १० ॥

उन्हीं बहिरंग साधनों के अभ्यासार्थ, प्रथमतः फलरूप वृत्तिनिरोध के विभाग को बता रहे हैं—चित्त की वृत्तियों का निरोधरूप योग दो प्रकार का होता है । एक तो 'सम्प्रज्ञात समाधिरूप निरोध' और दूसरा 'असम्प्रज्ञातसमाधिरूप निरोध' है । उनमें से सब ('कर्ता, कर्म, करण' इस 'त्रिपुटी') के अनुसन्धान से रहित एकमात्र 'लक्ष्य वस्तु' का ही 'सजातीय वृत्तिप्रवाह'

निरोधो द्विविधः—संप्रज्ञातोऽसंप्रज्ञातश्चेति ।

'कर्त्राद्यनुसन्धानं विना चिन्मात्रलक्ष्यैकगोचरप्रत्ययप्रवाहः संप्रज्ञातसमाधिः । यथाहुः—

"विलाप्य विकृतिं कृत्स्नां सम्भवव्यत्ययक्रमात् । परिशिष्टं तु चिन्मात्रं सदानन्दं विचिन्तयेत् ॥
ब्रह्माऽऽकारमनोवृत्तिप्रवाहोऽहंकृतिं विना । सम्प्रज्ञातसमाधिः स्याद् ध्यानाऽभ्यासप्रकर्षजः ॥" इति ॥११॥

अस्य सम्प्रज्ञातसमाधेरङ्गिनो यमादीन्यष्टाङ्गानि । तत्र यमनियमाऽऽसनप्राणायामप्रत्याहारा बहिरङ्गानि ।

अहिंसा-सत्याऽस्तेय-ब्रह्मचर्याऽपरिग्रहा यमाः । अष्टाङ्गमैथुनवर्जनं ब्रह्मचर्यम् । यथाऽऽहुः—

●

आदिशब्देन कर्मकरणग्रहणम् । तत्र सम्मतिमाह—यथाहुरिति ॥ "स्थूलसूक्ष्मक्रमात्सर्वं चिदात्मनि विलापयेदि"ति वार्तिकोक्तन्यायेन कृत्स्नं विकृतिमध्यस्थमज्ञानतत्कार्यं स्थूलसूक्ष्मक्रमेण चिदात्मनि विलाप्य तद्व्यतिरेकेण नास्तीति निश्चित्येत्यर्थः । सम्भवेति । "विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते चे"ति न्यायेनोत्पत्तिक्रमापेक्षया विपरीतक्रमादित्यर्थः । एवमुक्तप्रकारेणाज्ञानपर्यन्तं चिन्मात्रे विलाप्य परिशिष्टं चिन्मात्रं गुरूपदिष्टमहावाक्येन स्वात्मन्येव चिन्तयेत् ध्यायेत् सच्चिदानन्दब्रह्मैवाहमस्मीति ॥ ११ ॥

सम्प्रज्ञातसमाधेरन्तरङ्गबहिरङ्गसाधनानि विभज्य दर्शयितुं तदङ्गानामियत्तामाह—अस्येति । बहिरङ्गसाधनान्युद्दिशति—तत्र यमेति । धारणाद्वारा सम्प्रज्ञातोपायत्वं बहिरङ्गत्वम् । यमादीन्युपदिशति—अहिंसेत्यादिना । मनसा वाचा कर्मणा प्राणिनामपीडनमहिंसा । यथार्थंभाषणं सत्यम् । वञ्चनया परस्वापहरणं स्तेयम्, न स्तेयोऽस्तेयः । ब्रह्मचर्यं निरूपयति—अष्टाङ्गेति । किं तदष्टाङ्गमैथुनमित्याकाङ्क्षायां स्मृत्या तदाह—यथाहुरिति । तद्वर्तनं कस्माद्भवतीत्याकाङ्क्षायामाह—विपरीतमिति । अष्टाङ्ग-

●

निरन्तर चलता रहता है, तब उसी को 'सम्प्रज्ञात समाधि' कहा जाता है। किन्तु इस सम्प्रज्ञात समाधि के 'अंगभूत समाधि' में तो 'त्रिपुटी' के अनुसन्धानपूर्वक सजातीय वृत्तियों का प्रवाह चलता रहता है। इस अंगभूत समाधि में 'सम्प्रज्ञात समाधि' के लक्षण की अतिव्याप्ति के निवारणार्थ; लक्षण में 'त्रिपुटी के अनुसन्धान से रहित' कहा गया है। 'सम्प्रज्ञात समाधि' का लक्षण इस प्रकार किया गया है—'कर्त्राद्यनुसन्धानं विना चिन्मात्रलक्ष्यैकगोचरप्रत्ययप्रवाहः सम्प्रज्ञातसमाधिः'। लक्षणगत 'आदि' शब्द से 'कर्म-करण' को भी समझना चाहिये।

उक्त 'सम्प्रज्ञातसमाधि' के स्वरूप के विषय में पूर्वाचार्यों की सम्मति बता रहे हैं—'चैतन्य' में अध्यस्त जितना भी यच्चयावत् सम्पूर्ण अज्ञान, और उस अज्ञान का कार्यभूत जो 'प्रपञ्च' है उसका 'विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च' इस न्याय से अर्थात् उस प्रपञ्चोत्पत्ति क्रम के विपरीत क्रम से उस स्थूल-सूक्ष्म प्रपञ्च का क्रमशः 'चिदात्मा' में लय करके अर्थात् 'चिदात्मा' से 'यह प्रपञ्च' भिन्न नहीं है—इस प्रकार का निश्चय करके शेष रहा जो 'सदानन्दरूप चिन्मात्र' है, उसका, गुरुपदिष्ट महावाक्य से अभेदरूप में चिन्तन करे, अर्थात् 'मैं सच्चिदानन्द परब्रह्मरूप ही हूँ'—इस भावना से चिन्तन करे॥

और त्रिपुटी के अनुसन्धानरूप अहंकार से रहित होकर 'अहं ब्रह्मास्मि'—इस आकार में मनोवृत्ति का जो प्रवाह है, उसी को सम्प्रज्ञात समाधि कहा गया है। इस प्रकार का 'सम्प्रज्ञात प्रवाहरूप समाधि' अर्थात् सम्प्रज्ञात समाधि, 'ध्यान' के अत्यधिक अभ्यास से अर्थात् ध्यानाभ्यास के प्रकर्ष से उत्पन्न होता है॥ ११ ॥

योगशास्त्र के अनुसार 'सम्प्रज्ञात समाधि' रूप योग के आठ अंगों को बता रहे हैं—सम्प्रज्ञात समाधि के अन्तरंग और बहिरंग साधनों को विभागशः बताने के लिए उसके अंगों की इयत्ता (परिमाण) बताई जा रही है—(१) यम, (२) नियम, (३) आसन, (४) प्राणायाम, (५) प्रत्याहार, (६) धारणा, (७) ध्यान, (८) समाधि—ये आठ तो 'सम्प्रज्ञात समाधि' के अंग हैं। उनमें भी 'यमादि पाँच' तो 'सम्प्रज्ञात समाधि' के 'बहिरंग साधन' हैं, और 'धारणादि तीन' 'सम्प्रज्ञात समाधि' के 'अन्तरङ्ग साधन' हैं।

अब 'यमादि पाँच बहिरंग साधनों' में से 'यमों' को बता रहे हैं—(१) अहिंसा, (२) सत्य, (३) अस्तेय, (४) ब्रह्मचर्य, (५) अपरिग्रह—इन पाँचों को 'यम' नाम से कहा गया है। उनके स्वरूपों को बता रहे हैं—

(१) अहिंसा—मनसा, वाचा, कर्मणा किसी भी प्राणी को पीड़ा न पहुँचाना।

१. इतः पूर्वं तत्रेति टीकायामधिकः पाठः ।

"स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् । संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च ॥
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः । विपरीतं ब्रह्मचर्यमनुष्ठेयं मुमुक्षुभिः ॥
सत्सङ्ग-सन्निधित्याग-दोषदर्शनतो भवेत् ॥" इति ।

●

मैथुनं परित्यज्य तूष्णीमवस्थानं मुमुक्षुभिः सम्पाद्यमित्यर्थः । "यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति" "सत्येन लभ्यः तपसा ह्येष आत्मा; सम्यक् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यमन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः" इत्यादि श्रुतेः । सत्सङ्गस्य ब्रह्मचर्यसाधनत्वमाचार्यैर्दर्शितम्—

"का तव ःकान्ताऽधरगतचिन्ता वातुल किं तव नास्ति नियन्ता ?
त्रिजगति सज्जनसङ्गतिरेका भवति भवोदधितरणे नौका" ॥ इति ।

दोषदर्शनं प्रह्लादेन दर्शितम्—

"मांसासृक्पूयविण्मूत्रस्नायुमज्जास्थिसङ्गते । देहे यः प्रीतिमान् मूढो भविता नरकेऽपि सः" ॥ इति ।

●

(२) सत्य—यथार्थ भाषण करना ।

(३) अस्तेय—वञ्चनया परस्वानपहरणम्, अर्थात् बलात्कार से छल-कपट से पराये धन के अपहरण को 'स्तेय' कहते हैं और वैसा न करना 'अस्तेय' है ।

(५) 'ब्रह्मचर्य' अर्थात् अष्टाङ्गमैथुन का परित्याग कर तूष्णीम् (चुपचाप) शान्त रहना ।

(४) अपरिग्रह—शरीरयात्रा के उपयुक्त पदार्थों से अधिक पदार्थों का संग्रह न करना ।

प्रश्न—अष्टाङ्गमैथुन का स्वरूप क्या है ?

उत्तर—अष्टाङ्ग मैथुन का स्वरूप, शास्त्र में इस प्रकार बताया है—(१) स्मरण, (२) कीर्तन, (३) केलि, (४) प्रेक्षण, (५) गुह्य भाषण, (६) संकल्प, (७) अध्यवसाय, (८) क्रियानिर्वृति—इन आठों को 'अष्टाङ्ग मैथुन' कहते हैं ।

(१) स्मरण—भोग्यबुद्धि से स्त्रियों का चिन्तन करना ।

(२) कीर्तन—किसी स्त्री को भोग्य समझ कर, उसके गुणों का बखान करते रहना ।

(३) केलि—किसी स्त्री को भोग्य दृष्टि से देखकर उसके साथ द्यूत, ताश, चोपट, टेनिस, हॉकी, क्रीकेट, फुटबाल, नृत्य, गाना आदि करना ।

(४) प्रेक्षण—किसी स्त्री को भोग्यबुद्धि से देखना ।

(५) गुह्य भाषण—एकान्त में स्त्रियों के साथ भाषण, गप्पें, हास-उपहास करना ।

(६) संकल्प—भोग करने के हेतु किसी स्त्री को प्राप्त करने की इच्छा ।

(७) अध्यवसाय—भोग करने के हेतु किसी स्त्री को प्राप्त करने का निश्चय कर लेना ।

(८) क्रियानिर्वृति—स्त्रियों से सम्भोग करना ।

इन आठों को अष्टांग मैथुन कहा जाता है ।

इस प्रकार के अष्टाङ्गमैथुन से रहित ब्रह्मचर्य का पालन, मुमुक्षु के लिए आवश्यक है ।

क्योंकि श्रुतिवचन, 'ब्रह्मचर्य को ही 'आत्मज्ञान' का साधन बता रहे हैं ।

उक्त प्रकार का 'ब्रह्मचर्य', 'सत्संगति' से ही होता है । तथा कामुक स्त्री-पुरुषों की संगति का त्याग करने से भी होता है । तथा 'देह' के दोषदर्शन से भी ब्रह्मचर्य का पालन होता है ।

ब्रह्मचर्य के साधनभूत 'सत्संग' के सम्बन्ध में आचार्य ने कहा है—आचार्यचरण के ग्रन्थोक्त इस उपदेश से सिद्ध हो रहा है कि 'सत्संगति', ब्रह्मचर्यपालन का उपाय है ।

शरीर (देह) में दोषों का प्रदर्शन प्रह्लाद ने किया है—मांस, रुधिर, पूय, विष्ठा, मूत्र, नाडी, मज्जा, अस्थि इत्यादि मलिन पदार्थों के समूहरूप शरीर (देह) में जो मूढ व्यक्ति, प्रेम करता है, वह मूढ (मूर्ख) पुरुष, 'नरक' से भी प्रेम अवश्य करेगा ।

किञ्च—इसी तथ्य को भगवान् ने भी अभिव्यक्त किया है—जो पुरुष, अपने देह (शरीर) के अशुचि (अपवित्र) गन्ध से

अत एव स्त्रीणां सम्भाषणादिनिषेधोऽपि मुमुक्षूणाम्—
"न सम्भाषेत स्त्रियं कांचित् पूर्वदृष्टां न च स्मरेत्। कथां च वर्जयेत्तासां न पश्येल्लिखितामपि॥" इत्यादि स्मृतौ।
शौच-संतोष-तपः-स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।
आसनं निरूपितम्। तच्च पद्मस्वस्तिकादि अनेकप्रकारम्॥
रेचक-पूरक-कुम्भकाः प्राणायामाः।

•

भगवतापि—

"स्वदेहाशुचिगन्धेन न विरज्येत यः पुमान्। वैराग्यकारणं तस्य किमन्यदुपदिश्यते"॥ इति।

एवं दोषमनुसन्दधतः कथं तत्र प्रवृत्तिः स्यादतः सत्सङ्गसन्निधित्यागदोषदर्शनैर्ब्रह्मचर्यं सुसम्पाद्यमिति भावः। तत्रोपष्टम्भकमाह—अत एवेति।

नियमानाह—शौचेत्यादिना। मिताशनादि[1] तपः। प्रणवादिपवित्रमन्त्राणां जपः स्वाध्यायः। स्वेनानुष्ठितनित्यादिकर्मणः परमेश्वरे वासुदेवे परमगुरौ समर्पणमीश्वरप्रणिधानम्।

•

ही विरक्त नहीं होता अर्थात् वैराग्य को प्राप्त नहीं होता, उस पुरुष को वैराग्य प्राप्त करने का और दूसरा कारण क्या बताना है? अर्थात् उसे उपदेश देना व्यर्थ है।

इस रीति से अपने देह के तथा स्त्री के देह के दोषों का निरन्तर चिन्तन करने वाले पुरुष को 'देह' के प्रति कभी 'राग' (प्रेम) नहीं होता है। अतः यह शरीरगत दोषों का दर्शन करते रहना भी 'ब्रह्मचर्य पालन' का उपाय (साधन) है। एवं च 'सत्संग', 'कामुक स्त्री-पुरुषसंगपरित्याग' और 'दोषदर्शन'—इन तीन उपायों से 'ब्रह्मचर्य' का पालन करना सुकर हो जाता है।

कामुकजनों के परित्याग का समर्थन स्मृतिकारों ने भी किया है—'कामुकजनसंसर्गपरित्याग' भी ब्रह्मचर्यपरिपालन का उपाय होने से ही स्मृति ने मुमुक्षु के लिए 'स्त्री-सम्भाषण' तक का निषेध किया है। मुमुक्षु व्यक्ति किसी भी स्त्री के साथ 'सम्भाषण' न करे, तथा पहिले देखी हुई स्त्री का चित्त में 'स्मरण' भी न करे, और उन स्त्रियों के सम्बन्ध में कोई किसी प्रकार की 'चर्चा' भी न करे, तथा स्त्री का 'चित्र' तक न देखे॥

'यम' के सम्बन्ध में प्राप्त हुई प्रासंगिक चर्चा को समाप्त करके अब 'नियमों' को बतला रहे हैं—शौचेति।

(१) शौच, (२) सन्तोष, (३) तप, (४) स्वाध्याय, (५) ईश्वरप्रणिधान'—ये पाँच प्रकार के नियम होते हैं।

'शौच'—दो प्रकार का होता है, (१) आन्तरशौच और (२) बाह्यशौच। उनमें 'मैत्रीकरुणादिकों' के द्वारा 'अन्तःकरण' को 'राग-द्वेषादिकों' से रहित करना 'आन्तरशौच' कहलाता है, अर्थात् 'अन्तःकरण' को निर्मल बनाना 'आन्तरशौच' है, और 'जल' से 'मृत्तिका' से 'शरीर' को शुद्ध करना 'बाह्यशौच' कहलाता है।

सन्तोष—यदृच्छा से अर्थात् 'अयाचितवृत्ति' से जो प्राप्त हो, उसी में प्रसन्न रहना 'संतोष' कहलाता है।

तप—'हितकर', 'परिमित' और 'पवित्र' अन्न का भोजन करना 'तप' कहलाता है।

स्वाध्याय—'प्रणवादि' पवित्र मन्त्रों का जप करना 'स्वाध्याय' कहलाता है।

ईश्वरप्रणिधान—अनुष्ठीयमान 'नित्य' आदि कर्मों को ईश्वरार्पण करना 'ईश्वरप्रणिधान' कहलाता है। 'शौच' से लेकर 'ईश्वरप्रणिधान' तक की क्रिया को 'क्रियायोग' कहते हैं।

'आसन' का स्वरूप तथा साधन और उसका फल पूर्व बता चुके हैं। आसन के 'स्वस्तिकादि' अनेक प्रकार हैं। पद्म, स्वस्तिक, भद्र आदि आसनों को शारीरिक आसन कहते हैं। और सर्वोपद्रवरहित एकान्तदेश में बिछाये जाने वाले 'कुशासन', मृगचर्म, व्याघ्रचर्म, कम्बलादिकों, के आसनों को 'वाह्य आसन' कहते हैं।

सूत्रगत क्रम से प्राप्त 'प्राणायाम' को बताते हैं। इसे भी यद्यपि पूर्व बता चुके हैं; तथापि सूत्रक्रमानुरोध से पुनः संक्षेपतः बता रहे हैं।

---

१. देवपूजाद्विजगुरुप्राज्ञपूजनमनुद्वेगकरवचआदिवाचिकं मनःप्रसादादिमानसं तप आदिशब्दार्थः।

इन्द्रियाणां विषयेभ्यो निवर्तनं प्रत्याहारः। एतेषु बहिरङ्गेषु जितेष्वन्तरङ्गेषु यत्नः कर्तव्यः॥ १२॥

धारणा-ध्यान-समाधयः संप्रज्ञातसमाधेरन्तरङ्गसाधनानि।

धारणा नाम मूलाधारमणिपूरकस्वाधिष्ठानाऽनाहताऽऽज्ञाविशुद्धचक्रदेशानामन्यतमे प्रत्यगात्मनि वा चित्तस्य स्थापनम्। तदेकस्मरणमिति यावत्।

•

रेचकेति। कुम्भको द्विविधः—आभ्यन्तरो बाह्यश्चेति। पूर्वोक्तप्रकारेण वायुमापूर्य हृदये वायुरोध आभ्यन्तरः। यथाशास्त्रं वायुं विरिच्य शरीराद्बहिर्वायुरोधो बाह्यकुम्भकः। एवमन्ये प्रकारा ग्रन्थान्तरोक्तास्तत्रैवानुसन्धेयाः।

एतेष्विति। अयं शास्त्रीयोऽनुक्रमोऽस्तिचित्तस्य। यस्य तु जन्मान्तरसुकृतपरिपाकवशेन शुद्धसत्त्वस्य प्रथममेव धारणाद्यन्तरङ्गसाधनानि; तेन बहिरङ्गयमादिषु यत्नो न कर्तव्यः॥ १२॥

कानि ताऽन्यन्तरङ्गसाधनानीत्यत आह—धारणेति। केयं धारणेत्यत आह—धारणा नामेति।

"मनः सङ्कल्पकं ध्यात्वा संक्षिप्यात्मनि बुद्धिमान्। धारयित्वा तथात्मानं धारणा परिकीर्तिता॥"

इति श्रुत्या प्रत्यगात्मनि मनसः संस्थापनं धारणा भवत्येवेत्याह—प्रत्यगात्मनि वेति। किं तच्चित्तस्थापनमित्याकाङ्क्षायामाह—तदिति। ध्यानं लक्षयति—ध्यानं नामेति। तत्र लक्ष्ये प्रत्ययानां सजातीयवृत्तीनामेकतानता प्रवाहीकरणम्। इममेवार्थ-

•

(१) 'पूरक', (२) 'रेचक', (३) 'कुंभक'—के भेद से तीन प्रकार का 'प्राणायाम' होता है। 'कुंभक' दो प्रकार का होता है—(१) आभ्यन्तर, और 'बाह्य'। पूर्वोक्त प्रकार से वायु का आपूरण करके हृदय में वायुरोध करना 'आभ्यन्तर' कुंभक' है। यथाशास्त्र 'वायु' का विरेचन करके शरीर के बाहर वायुरोध करना 'बाह्यकुंभक है।

प्रत्याहार—चक्षुरादि इन्द्रियों को उनके 'रूपादिविषयों' से दूर रखना (निवृत्त करना) 'प्रत्याहार' कहलाता है। 'यम' से लेकर 'प्रत्याहार' तक इन पाँच बहिरंगसाधनों का सुदृढ अभ्यास हो जाने पर 'अधिकारी पुरुष' को 'सम्प्रज्ञात समाधि' के 'धारणा' 'ध्यान' और 'समाधि'—इन तीन 'अन्तरंग साधनों' का अभ्यास करना चाहिये।

बहिरंग साधनों को अभ्यस्त कर चुकने के अनंतर अन्तरंगसाधनों के अभ्यास का यह शास्त्रोक्त क्रम, 'अजितचित्त पुरुष' के लिये हैं।

किन्तु जिस पुरुष ने पूर्वजन्मार्जित पुण्यपरिपाकवशात् अन्तःकरण की शुद्धि प्राप्त कर ली है, उस कारण उसने पहिले ही 'धारणादि' अन्तरंग साधन कर लिये रहते हैं, अतः उसे 'यमादि' पाँच बहिरंग साधनों को पुनः करने की आवश्यकता नहीं होती॥ १२॥

'सम्प्रज्ञात'—'समाधि' के 'धारणा', 'ध्यान', 'समाधि'—ये तीन अन्तरंग साधन होते हैं।

धारणा—(१) 'मूलाधार, (२) मणिपूरक, (३) स्वाधिष्ठान, (४) अनाहत, (५) आज्ञा, (६) विशुद्ध'—इन छह चक्रों में से किसी एक चक्र में 'चित्त' का स्थापन करना, अथवा 'प्रत्यगात्मा' में 'चित्त' का स्थापन करना, अर्थात् 'प्रत्यगात्मा' का निरन्तर स्मरण करना (स्थापना करना) 'धारणा' कहलाती है।

ध्यान—'चैतन्य' रूप लक्ष्य वस्तु में जो 'सजातीय वृत्तियों' का प्रवाह, उसे 'ध्यान' कहते हैं।

वह सजातीय वृत्तियों का प्रवाह भी 'दो प्रकार' का होता है। उनमें से एक प्रवाह, तो 'विजातीय वृत्तियों' से 'विच्छिन्न' होता है। और दूसरा प्रवाह, 'विजातीय वृत्तियों' से 'अविच्छिन्न' रहता है। इनमें से 'प्रथम प्रवाह' को तो 'ध्यान' कहते हैं। और 'दूसरे प्रवाह' को 'समाधि' कहते हैं।

शंका—यदि 'सम्प्रज्ञात समाधि' को अंगी (प्रधान-मुख्य) कहते हैं, तो 'अंगसमाधि' के निरूपण में उस 'अंगीसमाधि' का उल्लेख क्यों कर रहे हैं? 'अंगसमाधि' को उस 'अंगीसमाधि' से पृथक् (भिन्न) बताना उचित नहीं है। क्योंकि अंग और अंगी में वैलक्षण्य (भिन्नता) नहीं हुआ करती।

समा०—अंगसमाधि और अंगीसमाधि की भिन्नता (वैलक्षण्य) बताने के लिये 'समाधि' का विभाग बता रहे हैं—सोऽपीति।

ध्यानं नाम तत्र प्रत्ययैकतानता । लक्ष्यैकगोचरप्रत्ययप्रवाह इत्येतत् ।

'प्रत्ययप्रवाहो द्विविधः—विजातीयप्रत्ययान्तरितस्तदनन्तरितश्चेति । आद्यो ध्यानम्, द्वितीयः समाधिः ।

सोऽपि द्विविधः—कर्त्राद्यनुसन्धानपूर्वकस्तद्रहितश्चेति । आद्योऽङ्गसमाधिः । द्वितीयोऽङ्गी ॥ १३ ॥

सम्प्रज्ञातसमाध्युदये लय-विक्षेप-कषाय-रसास्वादाश्चत्वारो विघ्नाः सन्ति । लयो निद्रा । पुनः पुनर्विषयाऽनुसन्धानं विक्षेपः । चित्तस्य रागादिना स्तब्धीभावः कषायः । समाध्यारम्भसमये सविकल्पकानन्दाऽऽस्वादो रसास्वादः । यथाहुः—

•

माह—लक्ष्येति । ध्यानसमाध्योर्भेदं वक्तुं प्रत्यय प्रवाहंविभजते—स चेति । आन्तरितोऽवच्छिन्नः, तद्विपरीतोऽनन्तरितः । यदर्थो विभागस्तमाह—आद्य इति ।

ननु सम्प्रज्ञातसमाधेरङ्गित्वात्कथमङ्गस्थापने तदुदाहरणम् ? न चाङ्गसमाधिः ततो भिन्न इति वाच्यम्; अङ्गाङ्गिनोर्वैलक्षण्यादर्शनादित्याशङ्क्या तयोर्वैलक्षण्यं वक्तुं समाधिं विभजते—सोऽपीति ।

विभागफलमाह—आद्य इति । आद्यसमाधिं भगवत्पाद उदाजहार—

"दृशिस्वरूपं गगनोपमं परं सकृद्विभातं त्वजमेकमक्षरम् ।
अलेपमेकं सर्वगतं यदद्वयं तदेव चाहं सततं विमुक्त ओमि"ति ॥

द्वितीयं वार्तिकाचार्य उदाजहार—

"ज्ञात्वा विवेचकं चित्तं तत्साक्षिणि विलापयेत् । चिदात्मनि विलीनं चेत्तच्चित्तं न विचालयेत् ॥
पूर्णबोधात्मनाऽऽसीत पूर्णचित्तसमुद्रवत् ।" इति ॥ १३ ॥

समाध्यभ्यासेन सम्भावितविघ्नान् परिहर्तुं तान् व्युत्पादयति—सम्प्रज्ञातेति । के ते लयादय इत्याकाङ्क्षायां तानाह—लय इति । तत्र गौडपादाचार्यसम्मत्या तत्परिहार्यतामाह—यथाहुरिति । सम्मतिं व्याचष्टे—अस्यार्थ इति । आदि शब्देन

•

समाधि—यह 'समाधि' भी 'दो प्रकार' की होती है । एक तो 'कर्ता, कर्म, करण'—इस त्रिपुटी का अनुसंधान करते हुए होती है । और 'दूसरी समाधि'—'कर्ता-कर्म-करण'—इस त्रिपुटी का अनुसन्धान बिना किये अर्थात्—'त्रिपुटी के अनुसंधान से रहित' होती है ।

इनमें से 'प्रथम समाधि' को 'अंगरूप समाधि' कहते हैं । और 'दूसरी समाधि', 'अंगीरूप समाधि' कही जाती है । अर्थात् 'यम-नियमादि' में परिगणित समाधि, अर्थात् 'त्रिपुटी के सहित समाधि' को 'अंगसमाधि' कहते हैं, और 'त्रिपुटी' से रहित समाधि को 'अङ्गी समाधि' कहते हैं । 'साधन' को 'अंग' और 'फल' को 'अंगी' कहते हैं । अर्थात् 'पहिली समाधि' का 'फल'—दूसरी समाधि है ।

आद्य (पहली) समाधि के सम्बन्ध में भगवत्पाद आचार्य शंकर कह रहे हैं—

(उपदे० सा० १०।१) जो चैतन्यस्वरूप आत्मतत्त्व आकाश के समान सर्वव्यापक, माया से परे, सर्वदा एक सा प्रकाशित होनेवाला, जन्मरहित, एक अर्थात् सजातीय-विजातीय-स्वगत भेद से रहित, अक्षर अर्थात् अविनाशी, निर्लिप्त अर्थात् अविद्यादिदोषों से रहित, सर्वव्यापक, और अद्वय अर्थात् स्वगतभेद से रहित है, वही 'मैं' हूँ, उस कारण सर्वदा मुक्त हूँ । 'ॐ' यह चैतन्य आत्मतत्त्व, 'ॐ'कार स्वरूप है, वही स्वरूप मेरा है ।

द्वितीय अंगी समाधि का उल्लेख वार्तिकाचार्य ने किया है—

विवेचक 'चित्त' को पहचान कर, उसे उसके साक्षिभूत चैतन्य में विलीन कर देना चाहिये । चिदात्मा में विलीन कर-देने पर उस चित्त को पुनः विचलित न करे । और फिर समुद्र के समान विलीन चित्तवाला योगी पूर्णबोधस्वरूप होकर स्थित रहे ॥ १३ ॥

समाधि के अभ्यास के द्वारा सम्भावित विघ्नों के परिहारार्थ, उन विघ्नों को बता रहे हैं—सम्प्रज्ञात समाधि की उत्पत्ति में (१) लय, (२) विक्षेप, (३) कषाय (४) रसास्वाद—ये चार विघ्न हुआ करते हैं । इन विघ्नों के रहने पर 'सम्प्रज्ञात समाधि' नहीं लग पाती ।

"लये सम्बोधयेच्चित्तं विक्षिप्तं शमयेत् पुनः। सकषायं विजानीयाद् ब्रह्मप्राप्तं[1] न चालयेत्।
नाऽऽस्वादयेद्रसं तत्र निःसङ्गः प्रज्ञया भवेत् ॥" इति।

•

निद्राशेषपरिहारस्वल्पभोजनादयो गृह्यन्ते। तदुक्तम्—"समाप्य निद्रां सुजीर्णेऽल्पभोजी श्रमत्याज्याबाध्ये सुविविक्तप्रदेशे समाहितनिष्टब्धः एव प्रयत्नोऽथवा प्राणनिरोधो निजाभ्यासमार्गादि"ति ॥ दोषेति। तथाचोक्तम्—

"दुःखं सर्वमनुस्मृत्य कामभोगान्निवर्तते। अजं सर्वमनुस्मृत्य जातं नैव तु पश्यती"ति ॥

आदिशब्देन सगुणध्यानसत्सङ्गादयो गृह्यन्ते। तदुक्तम् भगवता—

"विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते। मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते ॥" इति।

वसिष्ठेनापि—

"सन्तः सदैव गन्तव्या यद्यप्युपदिशन्ति न। या हि स्वैरकथास्तेषामुपदेशा भवन्ति ताः ॥" इति।

•

उन 'लयादिकों' का स्वरूपपरिचय इस प्रकार है—

(१) लय—'निद्रा' को लय कहा गया है।

(२) विक्षेप—विषयों के पुनः पुनरनुसन्धान को 'विक्षेप' कहते हैं।

(३) कषाय—राग-द्वेष आदि के कारण होनेवाला चित्त का जो 'स्तब्धीभाव है उसे 'कषाय' कहा जाता है।

(४) रसास्वाद—समाधि के आरंभकाल में जो 'सविकल्प आनन्द' का आस्वादन है, उसे 'रसास्वाद' कहते हैं। श्रीगौडपादाचार्य की सम्मति के अनुसार उन विघ्नों के परिहारार्थ उपाय बता रहे हैं—

योगाभ्यास करनेवाले पुरुष का 'चित्त', जब निद्रारूप लय के सम्मुख होने लगे, अर्थात् नींद का झोंका आने लगे, तो तत्काल ही प्राणायाम करने से निद्रा का शेष अंश, निवृत्त हो जाता है, तथा स्वल्पभोजन-जलपान-आदि के द्वारा चित्त को निद्रा से जागरित करे।

दोषेति। विक्षेप को प्राप्त हुए चित्त को, विषय के दोषों का प्रदर्शन, ब्रह्म का चिन्तन, सत्संग, उपासना आदि उपायों से एकाग्र करे। अर्थात् विषयचिन्तनरूप विक्षेप की ओर से चित्त को मोड़कर उसे ब्रह्मचिन्तन में लगावे, तब वह चित्त, विक्षेपरहित हो जाता है।

मूलग्रन्थ के 'आदि' शब्द से 'सगुणध्यान', 'सत्संग' आदि के द्वारा भी 'विक्षेप' को नष्ट किया जा सकता है।

भगवान् ने कहा है—विषयचिन्तन करनेवाले पुरुष का चित्त, उन विषयों में ही और अधिक आसक्त हो जाता है। और मेरा (परमेश्वर का) स्मरण (चिन्तन) करनेवाले पुरुष का चित्त, मुझमें ही (परमेश्वर में ही) विलीन हो जाता है।

तथा भगवान् वसिष्ठ ने 'सत्संग' को भी 'विक्षेप' का निवर्तक बताया है—

जो मुमुक्षुपुरुष हों, उन्हें साधु, महात्मा, ब्रह्मनिष्ठ, वेद-शास्त्रपारंगत शीलवान् ब्राह्मण, वैष्णवादिभक्त, योगी आदि महान् पुरुषों के समीप सर्वदा जाते रहना चाहिये। यद्यपि वे महात्मा पुरुष, अपने समीप आनेवाले लोगों को साक्षात् उपदेश नहीं करते, तथापि उन महात्मा पुरुषों की सहजरूप से होनेवाली बातें भी श्रोताओं के लिये उपदेशरूप हो जाती हैं ॥

जैसे मुचुकुन्द ने भगवान् से कहा है—तथा आचार्यचरणों ने भी—

"संगः सत्सु विधीयतां भगवतो भक्तिर्दृढा धीयताम्" कहकर 'सत्संग' और 'भगवद्भक्ति' करने के लिये कहा है।

इस प्रकार 'विक्षेप' की निवृत्ति करने के पश्चात् 'चित्त' में से 'कषाय' की भी निवृत्ति करने का प्रयत्न करना चाहिये। अर्थात् किसी से भी 'राग-द्वेष' न करे। क्योंकि 'राग-द्वेष' से ही 'चित्त' में 'स्तब्धीभाव' रूप 'कषाय' पैदा होता हैं। राग-द्वेषरूप कारण के अभाव में 'कषाय' का होना संभव नहीं है। 'लय' (निद्रा-तन्द्रा) से चित्त को 'सम्बोधित' करनेपर भी एवं 'विषयों'

---

१. समप्राप्तमिति तु भाष्यकृत्पाठः।

अस्यार्थः—प्राणायामादिना लयाऽभिमुखं चित्तमुत्थापयेत्। दोषदर्शनब्रह्माऽनुसन्धानादिना विक्षिप्तं चित्तं शमयेत्। ब्रह्मप्राप्तं चित्तं न चालयेत्। समाध्यारम्भसमये सविकल्पकाऽऽनन्दं नाऽऽस्वादयेत्, किन्तूदासीनो ब्रह्मप्रज्ञया युक्तो भवेदिति ॥१४॥

एवं निर्विघ्नेन सम्प्रज्ञातसमाध्यभ्यासेनाऽऽत्मप्रसादमात्रे मनसि ऋतम्भरा प्रज्ञोदेति।

●

यथा भगवन्तं प्रति मुचुकुन्देन—

"भवापवर्गो भ्रमतो यथा भवेज्जनस्य तर्ह्यच्युत तत्समागमः।
सत्सङ्गमो यर्हि तदैव सद्गतौ परावरेशे त्वयि जायते मतिः॥" इति।

तथाऽऽचार्यैरपि—

"सङ्गः सत्सु विधीयतां भगवतो भक्तिर्दृढा धीयताम्॥" इति।

उक्तसाधनकलापैर्विघ्नेषु परिहृतेषु सम्प्रज्ञातसमाधिरुदेति ॥ १४ ॥

तेन सम्प्रज्ञातसमाध्यभ्यासेन प्रत्ययगात्मन्येकाग्रतामापन्ने मनसि ऋतम्भरा प्रज्ञोदेतीति योगशास्त्रप्रक्रियामनुस्मरन्नाह—एवमिति। केयं ऋतम्भरा प्रज्ञेत्यत आह—अतीतेति। ऋतम्भरप्रज्ञानिष्ठस्य निर्विकल्पकस्य समाधेरसम्भवात्तां निरुध्य

●

से व्यावृत्त करने पर भी यदि वह (चित्त), समता (ब्रह्मभाव) को नहीं प्राप्त कर पा रहा है, तो समझ लेना चाहिये कि कहीं न कहीं बीच में 'कषाय'; मन में छिपा हुआ है। उस 'कषाय' को हटाये विना 'चित्त', समता (ब्रह्मभाव)'को प्राप्त नहीं हो पा रहा है। अतः 'कषाय' को 'चित्त' से हटाना आवश्यक है।

तदनन्तर अर्थात् 'लय, विक्षेप, और कषाय'—इन तीनों से रहित हुआ 'चित्त', जब शान्त हो जाय, तब उसे पुनः 'चञ्चल' न होने दे। उसे अखण्ड, सच्चिदानन्दघन चैतन्य ब्रह्म, में ही 'स्थिर' करके रखे। वासना का क्षय हो जाने पर 'चित्त' स्वयं ही 'सम' हो जाता है। अर्थात् 'ब्रह्म' को प्राप्त हो जाता है। क्योंकि 'सम' को 'ब्रह्म' कहा गया है—'निर्दोषं हि समं ब्रह्म' (गीता ५।१९)।

समाधि के आरम्भकाल में (सविकल्प समाधि में) योगी को जो आनन्द का अनुभव होने लगता है, उसका भी वह आस्वादन न करे। अर्थात् उस आनन्द से स्वयं को कृतकृत्य न समझे। उस आनन्द के प्रति अनासक्त रहे। उस समय विवेक को जागरित रखकर विचारना चाहिये कि जो यह सुख प्राप्त हो रहा है, वह 'अविद्या' से जन्य होने के कारण 'मिथ्या' ही है। उसे मिथ्या समझ लेने पर आसक्ति नहीं होगी। तब उदासीन रहकर 'ब्रह्मप्रज्ञा से' युक्त रहना चाहिये ॥ १४ ॥

इस प्रकार निर्दिष्ट साधनकलापों के द्वारा विघ्नचतुष्टय के नष्ट हो जाने पर 'सम्प्रज्ञात समाधि' का उदय होता है। अर्थात् 'चित्त' चञ्चलता से रहित होकर सुस्थिर हो जाता है। जैसे वातरहित स्थान में दीपक की 'ज्योति' (लौ) निश्चल हो जाती है।

श्री गौडपादाचार्य इस अवस्था का निरूपण करते हुए बताते हैं कि एक ऐसी अवस्था होती है, जिसमें यह 'चित्त' न तो 'लय' को और न ही 'विक्षेप' को प्राप्त होता है, किन्तु निर्वातदीप' के तुल्य स्थिर होकर स्वयं अपना अवभास भी खो देता है, तब समझना चाहिए कि वह 'ब्रह्मभाव' को प्राप्त हो गया है।

"यदा न लीयते चित्तं न च विक्षिप्यते पुनः।
अनिङ्गनमनाभासं निष्पन्नं ब्रह्म तत् तदा॥ —(मांडू० का० ३।४६)

इसी अवस्था को 'मन' का 'अमनीभाव' भी कहते हैं—

"मनोदृश्यमिदं द्वैतं यत्किञ्चित् सचराचरम्।
मनसो ह्यमनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते॥" —(मांडू० का० ३।३१)

यह समस्त जडाजड जगद्रूप द्वैत 'मन' के द्वारा कल्पित मात्र (मनोदृश्य) है। क्योंकि मन के अस्तित्व में उसका अस्तित्व, और 'मन' के अनस्तित्व में उसका भी अनस्तित्व रहता है। समाधि के द्वारा 'मन' के निरुद्ध होने पर 'द्वैत' की उपलब्धि नहीं हो पाती।

अतीताऽनागतविप्रकृष्टव्यवहितसूक्ष्मवस्तुविषयं योगिप्रत्यक्षम् ऋतम्भरा प्रज्ञा। तामपि निरुद्धचा समाधिमभ्यस्यतो गुणवैतृष्ण्यं परवैराग्यमुदेति। तत्तु निरूपितम्। ततोऽप्यऽभ्यासः कर्तव्यः ॥ १५ ॥

उत्साहप्रयत्नोऽभ्यासः। यथाहुः—"तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः" इति। तस्यापि निरोधे सर्वथोनिरोधो भवति। अयमेवाऽसम्प्रज्ञातसमाधिः।

•

सम्प्रज्ञातसमाधिमभ्यस्यत आत्मसाक्षात्कारद्वारा परं वैराग्यं भवतीत्याह—तामपीति। तर्हि परं वैराग्यं निरूप्यतामित्याकाङ्क्षायामाह—तदिति। ततः परं किं कर्तव्यमित्याकाङ्क्षायामाह—ततोऽपीति। परवैराग्यानन्तरमित्यर्थः॥ १५ ॥

ततः परं कीदृशोऽभ्यासः कर्तव्य इत्याकाङ्क्षायामाह—उत्साहेति। केनाप्युपायेन निखिलवृत्त्युपरोधरूपासंप्रज्ञातसमाधौ निष्ठायामत्युत्साह एव प्रयत्नः; स एवाभ्यास इत्यर्थः। तत्र सम्मतिमाह—यथाहुरिति। तत्र प्रशान्तवाहितायां स्थितौ। ननु तेनाभ्यासेन किं भवतीत्याकाङ्क्षायां तेन सर्ववृत्तिनिरोधे स्वस्यापि निरोधादसम्प्रज्ञातसमाधिर्भवतीत्याह—तस्यापीति। ननु

•

सम्प्रज्ञात समाधि के विघ्नरहित अभ्यास से जब 'मन', 'प्रत्यगात्मा' में एकाग्र हो जाता है, तब आत्मप्रसादमात्र 'मन' में 'ऋतम्भरा' नाम की 'प्रज्ञा' उत्पन्न होती है। अतीत, अनागत, दूर, व्यवहित, सूक्ष्म आदि सम्पूर्ण पदार्थों को प्रत्यक्ष कर पाना ही 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' कहलाती है। इस 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' में स्थित रहने वाले योगी को भी 'निर्विकल्प समाधि' का लाभ तब तक नहीं होता है जब तक उसका भी निरोध नहीं किया जाता। अतः 'ऋतम्भरा प्रज्ञा का भी 'निरोध' करके 'सम्प्रज्ञात समाधि' का अभ्यास करते रहना चाहिए। इस प्रकार अभ्यास करनेवाले योगी को 'आत्मसाक्षात्कार' की प्राप्ति होकर 'पर वैराग्य' का उदय होता है। अर्थात् 'गुणवैतृष्ण्य हो जाता है। पर वैराग्य के स्वरूप को द्वितीय परिच्छेद में बता चुके हैं। पर वैराग्य के उदित होने पर भी सम्प्रज्ञात समाधि का अभ्यास करते ही रहना चाहिए ॥ १५ ॥

परवैराग्य होने के पश्चात् कैसा अभ्यास करना चाहिए ? यह आकांक्षा होने पर कहते हैं—किसी भी उपाय से अखिल वृत्तियों के निरोधरूप असम्प्रज्ञात समाधि में मेरी निष्ठा हो, अर्थात् स्थिति हो जाय, इसप्रकार का जो उत्साहरूप 'प्रयत्न' है उसी को 'अभ्यास' कहते हैं। इसी अभ्यास में पतञ्जलि की सम्मति बता रहे हैं— तत्रेति। 'चित्तवृत्ति' का निरोध करने में 'अभ्यास' और 'वैराग्य' ये दो उपाय बताए गए हैं। इन दो उपायों में से प्रथम निर्दिष्ट 'अभ्यास' का स्वरूप तथा 'प्रयोजन' को उक्त सूत्र के द्वारा बताया गया है। तत्र अर्थात् चित्तवृत्ति के निरोध में स्थितौ चित्त की स्थिरता के निमित्त जो, 'यत्नः' मानसिक उत्साहपूर्वक 'यम, नियम' आदि योगांगों का जो अनुष्ठान किया जाता है, उसी को 'अभ्यास' कहते हैं। अर्थात् राजस-तामस आदि विषयों की वृत्तियों से रहित चित्त की जो प्रशान्तवहिता स्थिति (हर्ष, शोकादिरहित सात्त्विक निर्मल तथा एकाग्रवृत्तिप्रवाहरूप स्थिति), को प्राप्त करने के लिए जो मानसिक उत्साह तथा दृढ़तापूर्वक प्रयत्न (यम-नियमादि योगांगों का अनुष्ठान) करने की इच्छा से जो 'श्रद्धा-वीर्य (दृढ़तापूर्वक प्रयत्न) आदि साधनों के अनुष्ठान करने की तत्परतारूप 'यत्न' को ही 'अभ्यास' कहते हैं। यह अभ्यास का स्वरूप बताया गया है, और सूत्रगत 'स्थिति' पद से 'अभ्यास' का 'फल' (प्रयोजन) बताया गया है।

शंका—वैराग्य के द्वारा अन्तर्मुख हुई भी चित्तवृत्तियाँ अपनी जन्म-जन्मान्तर की अनादि एवं स्वाभाविक चञ्चलता को त्याग कर कैसे निरुद्ध हो सकती हैं ? क्योंकि आगन्तुक (किसी निमित्त से प्राप्त हुआ) जो धर्म हो, वह तो 'उपाय' से दूर हो सकता है, किन्तु स्वाभाविक चञ्चलतावाली चित्तवृत्तियाँ 'अभ्यास' से कैसे निरुद्ध हो सकती हैं ?

समा०—अभ्यास में एक ऐसी विलक्षण शक्ति है, जो अति दुःसाध्य को भी सुसाध्य बना देती है.।

किञ्च—'चित्त' की चञ्चलता 'भोगजन्य' है, अतः वह 'आगन्तुक' है, 'स्वाभाविक' नहीं है, किन्तु 'चित्त' की 'स्थिरता', 'नैसर्गिक' (स्वाभाविक) है। 'आगन्तुक' की अपेक्षा 'नैसर्गिक' प्रबल होता है। अतः 'बलवता दुर्बलो बाध्यते' इस न्याय से चंचलता की निवृत्तिरूप स्थिरता सम्पन्न हो सकती है।

शंका—अनन्तजन्मों की भोगवासना से सम्पादित संस्कार बड़े प्रबल विरोधी हैं, उस कारण एकजन्म (स्वल्पकाल)-साध्य दुर्बल 'अभ्यास', वृत्तिनिरोधरूप चित्तस्थिरता को कैसे सम्पन्न कर सकेगा ?

समा०—"स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः" उक्त शंका का समाधान इस सूत्र के द्वारा महर्षि पतञ्जलि ने दिया है।

न केवलं परवैराग्यादेव समाधिलाभः, किन्त्वीश्वरप्रणिधानादपि। तथाचोक्तम्—"ईश्वरप्रणिधानाद्वा" "क्लेशकर्मविपाकाऽऽशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः" "तस्य वाचकः प्रणवः" "तज्जपस्तदर्थभावन"मिति। एतदुक्तं भवति—ईश्वर-

●

उत्साहनिरोधेऽन्यसाधनमस्ति, न वा ? नाद्यः; अनवस्थाप्रसङ्गात्। न द्वितीयः; तन्निरोधायोगात्। न च—स्वयमेव स्वस्य निरोध इति—वाच्यम्; निरुद्धत्वात्, लोके तथाऽदर्शनाच्च। तस्मादिदमसङ्गतमिति चेत् ? न; कतकरजोन्यायेन तस्य स्वपरनिवर्तकत्वात् स्यादिदं सङ्गतमिति भावः। ननु भवतु सर्वधीनिरोधः, प्रकृते किमायतमित्याशङ्क्य यः पूर्वमुपदिष्टः द्वितीयोऽसम्प्रज्ञातः स एवायमित्याह—अयमेवेति। सर्वधीनिरोध एवेत्यर्थः। अतो धीशब्देन प्रवृत्तिरित्युच्यते। तदुक्तम्—

●

अनादिकाल के 'व्युत्थान संस्कार' यद्यपि 'चित्त' के 'स्वाभाविक कर्म' बन गये हैं, तथापि चिरकालपर्यंत निरन्तर एवं आदरपूर्वक यम-नियमादि योगों के अनुष्ठान का 'अभ्यास', उन 'संस्कारों' से भी प्रबल हो जाता है। प्रबल हो जाने से वह 'व्युत्थान संस्कारों' का बाध कर देता है।

यदि इस प्रकार अभ्यास करके आगे उसे कष्टसाध्य जानकर छोड़ दिया जाता है, तो 'व्युत्थान संस्कार' ही किए हुए उस 'अभ्यास' को दबा देता है। अतः अभ्यास को न त्यागकर सावधानी से 'अभ्यास' को सतत करते रहना आवश्यक है।

शंका—इस प्रकार सतत अभ्यास करने से कौन-सा फल प्राप्त होगा ?

समा०—'चित्त' के दो अधिकार होते हैं—(१) भोगाधिकार और (२) विवेकख्याति अधिकार। ऋतम्भराप्रज्ञासंस्कार से 'योगाधिकार' की शान्ति (निवृत्ति) होती है।

प्रश्न—ऋतम्भराप्रज्ञा के संस्कारों वाला चित्त, 'प्रज्ञासंस्कार प्रवाह' का जनक होने से व्युत्थानकाल में 'भोगाधिकार' के समान, इस काल में भी अधिकारयुक्त ही रहेगा। उस अधिकार के उच्छेदार्थ योगी का अन्य कुछ कर्तव्य है अथवा नहीं ?

उत्तर—'तस्याऽपि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः' इस सूत्र के द्वारा महर्षि पतञ्जलि ने उत्तर दिया है। सूत्रगत 'अपि' पद से 'प्रज्ञा' का और 'तस्य' पद से 'प्रज्ञाजन्य संस्कार' का ग्रहण किया गया है। इन दोनों का निरोध 'पर वैराग्य' के अभ्यास से होता है। 'परवैराग्य' के अभ्यास द्वारा 'प्रज्ञा' तथा 'प्रज्ञाजन्य संस्कार' का निरोध होने पर नूतन तथा पुरातन समस्त संस्कारों का निरोध होने से जो 'समाधि' होती है, उसे 'निर्बीज समाधि' कहा गया है। इस निर्बीज समाधि' को ही 'असम्प्रज्ञात समाधि' कहते हैं। अर्थात् 'समस्त वृत्तियों के निरोध' को ही 'असम्प्रज्ञात समाधि' कहते हैं।

शंका—उत्साहरूप प्रयत्न के निरोधार्थ अन्य कोई साधन है अथवा नहीं ? यदि 'प्रथम पक्ष' का स्वीकार करते हैं, तो 'अनवस्था दोष' होगा, क्योंकि उत्साहरूप प्रयत्न के निरोधार्थ स्वीकृत किये गये अन्य साधन के विद्यमान रहते 'असम्प्रज्ञात समाधि' तो हो नहीं पायेगा। अतः उस साधन के निरोधार्थ किसी तीसरे साधन को स्वीकार करना होगा। उस तीसरे साधन के निरोधार्थ किसी चतुर्थ साधन को स्वीकार करना होगा। इस प्रकार साधनों की धारा को मानना कभी समाप्त ही नहीं होगा यही 'अनवस्था दोष' कहलाता है।

यदि 'द्वितीय पक्ष' का स्वीकार करते हैं तो 'किसी साधन के अभाव' में अर्थात् किसी साधन के न रहने पर उत्साह रूप 'प्रयत्न' का निरोध करना असम्भव ही है। यदि यह मान लिया जाय कि 'वह प्रयत्न, स्वयं ही स्वयं का निरोधक हो जायगा', तो यह होना भी सम्भव नहीं है। क्योंकि 'स्वयं' के द्वारा 'स्वयं' का निरोध हो पाना अत्यन्त विरुद्ध है, अर्थात् सम्भव ही नहीं है। लोकव्यवहार में ऐसा कहीं दिखाई नहीं देता।

समा०—जो 'उत्साहरूप प्रयत्न' है, वह समस्त वृत्तियों का निरोध करता हुआ अपना निरोध स्वयं कर लेता है। जैसे 'कतकरज' 'जल' की मृत्तिका को निवृत्त करके 'स्वयं' भी निवृत्त हो जाता है। उस 'कतक' (निर्मली) की निवृत्ति के लिए किसी अन्य साधन की आवश्यकता नहीं होती है। उसी तरह उत्साहरूप प्रयत्न का निरोध करने के लिए किसी अन्य साधन की अपेक्षा नहीं होती। उस कारण अनवस्था दोष तथा 'दृष्टविरोध' दोष का प्रसंग नहीं है।

किञ्च—इस असम्प्रज्ञात समाधि के स्वरूप को अन्यत्र भी कहा गया है—समस्त वृत्तियों से रहित 'मन' की स्थिति जो ब्रह्माकाररूप में स्थित है, उस स्थिति को ही योगशास्त्र के विद्वानों ने 'असम्प्रज्ञात' समाधि के नाम से कहा है।

प्रणिधानाद्वा समाधिलाभः। क्लेशादिभिरसम्बद्धः सर्वज्ञः सर्वशक्तिरीश्वरः। ईश्वरस्याऽभिधायकः शब्दः प्रणवः। प्रणवजपो

●

"मनसो वृत्तिशून्यस्य ब्रह्माकारतया स्थितिः। असम्प्रज्ञातनामाऽसौ समाधिरभिधीयते ॥
प्रशान्तचित्तकं चित्तं परमानन्ददीपकम् ॥

असंप्रज्ञातसमाधि प्रति साधनान्तरमाह—न केवलमिति। तत्र सम्मतिमाह—तथाचेति। सूत्रतात्पर्यमाह—एतदुक्तमिति। वेति विकल्पार्थे उक्तक्रमाद्वा समाधिलाभः, ईश्वरप्रणिधानाद्वेति विकल्पार्थः। कोऽयमीश्वरः इत्याकाङ्क्षायां क्लेशकर्म-

●

अथवा उक्त अभ्यास के द्वारा जिसकी समस्त वृत्तियाँ निवृत्त हो चुकी हैं, ऐसा जो परमानन्द का प्रकाशमय चित्त है वही असम्प्रज्ञात समाधि है, जो योगियों को प्रिय प्रतीत होता है।

इस 'असम्प्रज्ञात समाधि' के अन्य साधन भी हैं। यह 'असम्प्रज्ञात समाधि' जैसे 'पर वैराग्य' से प्राप्त होता है, उसी तरह 'ईश्वर प्रणिधान' से भी प्राप्त होता है। योगसूत्रकार पतञ्जलि बताते हैं—यह 'असम्प्रज्ञात समाधि' पूर्वोक्त क्रम से भी प्राप्त होता है, तथा 'ईश्वर प्रणिधान' से भी प्राप्त होता है। ईश्वरप्रणिधान के स्वरूप को बताने के लिए प्रथमतः ईश्वर के स्वरूप को बता रहे हैं—(१) क्लेश, (२) कर्म, (३) विपाक, (४) आशय—इन चारों से अपरामृष्ट असमबद्ध जो 'पुरुषविशेष' है, उसी का नाम 'ईश्वर' है।

'क्लेश' पाँच प्रकार का होता है—(१) अविद्या, (२) अस्मिता, (३) राग, (४) द्वेष और (५) अभिनिवेष—ये पाँच प्रकार हैं। इन पञ्चविध क्लेशों का निरूपण प्रथम परिच्छेद में किया जा चुका है। (१) शुक्ल, (२) कृष्ण, (३) मिश्र के भेद से 'कर्म' तीन प्रकार के होते हैं। उनमें से 'शास्त्रविहित पुण्य कर्म' का नाम 'शुक्ल कर्म' है। शास्त्रनिषिद्ध पापकर्म का नाम 'कृष्णकर्म' है, और 'पुण्य-पाप' दोनों का नाम 'मिश्रकर्म' है। यह त्रिविध (तीन प्रकार का) कर्म, योगसाधनाविहीन लोगों का (अयोगी का) हुआ करता है। किन्तु योगसाधनासम्पन्न योगी पुरुषों का कर्म, 'अशुक्लकृष्ण'—यह चतुर्थ कर्म होता है। इसे महर्षि पतञ्जलि ने एक (यो० सू० पा० ४।७) सूत्र से बताया है। अर्थात् योगियों के यम-नियमादि कर्म,—'अशुक्ल', 'अकृष्ण' हुआ करते हैं, और अयोगियों के कर्म, 'शुक्ल, कृष्ण, तथा शुक्ल-कृष्ण' के भेद से तीन प्रकार के होते हैं। उस कारण 'योगियों' को 'पुण्य-पाप' का सम्बन्ध, नहीं हो पाता है, और 'अयोगियों' को 'पुण्य-पाप' का सम्बन्ध होता है। योगियों का 'चित्त' विलक्षण होने से यह तारतम्य है। उसी तरह योगियों का कर्म भी अयोगियों के 'कर्म' से विलक्षण होता है, उस कारण भी योगियों को पुण्य-पाप का सम्बन्ध नहीं हो पाता, अयोगियों को ही पुण्य-पाप का सम्बन्ध होता है।

अभिप्राय यह है कि पुण्यजनक शुभ कर्म को 'शुक्ल' कर्म कहते हैं। पापजनक अशुभ कर्म को 'कृष्णकर्म' कहते हैं। एवं जो 'कर्म' 'पुण्य-पाप' उभयजनक हों, उन्हें 'शुक्ल-कृष्ण' कर्म कहते हैं। 'यज्ञादि कर्म', उभयजनक होने से 'शुक्ल-कृष्ण कर्म' कहे जाते हैं। क्योंकि योगमतानुसार उसमें 'पशुवध', 'व्रीहि-यवादि बीजवध', तथा पिपीलिकादि क्षुद्रप्राणिवध होने से 'पाप' और ब्राह्मणों को दक्षिणादानादि के देने से पुण्य भी होता है। अतः यज्ञादिकर्म, 'पुण्य-पाप' उभयजनक होने से 'शुक्ल-कृष्णकर्म' कहलाता है। वेदान्तानुसार तो शास्त्रविहित कर्म से पाप नहीं होता।

कर्म के फल को 'विपाक' कहते हैं। यह 'विपाक', (१) जाति, (२) आयु, और (३) भोग के भेद से 'तीन प्रकार' का होता है। इन कर्मफलों के भोग से उत्पन्न होने वाले जो 'संस्कार' हैं, उन्हें 'वासना' कहते हैं। उसी 'वासना' का दूसरा नाम 'आशय' भी है। इन क्लेश, कर्म, विपाक और आशय—इन चारों से सम्बद्ध 'जीव' होता है; और 'ईश्वर', इन चारों से सम्बद्ध नहीं होता, वह इनसे असम्बद्ध रहता है, तथा वह सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् रहता है। यह 'ईश्वर' के स्वरूप का वर्णन किया गया है।

अब 'ईश्वर प्रणिधान' का स्वरूप बताते हैं—उस 'ईश्वर' का वाचक 'प्रणव' है। उस ॐकाररूप प्रणव का जो 'जप' है, तथा माण्डूक्योपनिषद् तथा पञ्चीकरणवार्तिकोक्त प्रकार से उस 'प्रणव' के अर्थ का जो चिन्तन है, उसी को 'ईश्वरप्रणिधान' कहते हैं। कायिक, वाचिक और मानसिक यत्त्प्रावत् कर्म सभी परमेश्वर के अधीन होते हैं। निषिद्ध कर्मों को त्यागकर शुभ कर्मों का ही अनुष्ठान करना और सभी कर्मों के फल को—

माण्डूक्योपनिषत्पञ्चीकरणतद्वार्तिकोक्तप्रकारेण। प्रणवार्थाऽनुसन्धानं च ईश्वरप्रणिधानम् ॥ १६ ॥

●

त्यादि सूत्रं प्रवृत्तम्, तदर्थमाह—क्लेशेति। आदिशब्देन कर्मविपाकाशया गृह्यन्ते। अस्यार्थः—अविद्यादयः पञ्च क्लेशाः, कर्म त्रिविधं शुक्लं कृष्णं मिश्रं चेति। पुण्यं शुक्लं, कृष्णं पापमुभयं मिश्रम्। तदुक्तम्—"कर्माऽशुक्लाकृष्णं योगिनः त्रिविधमितरेषामि"ति। विपाकः कर्मफलम्। तदुक्तम्—"विपाको जात्यायुर्भोगाः" इति। आशयस्तु तज्जन्यवासना। ततश्च क्लेशकर्मविपाकाशयैः सम्बद्धा जीवाः, तद्विपरीत ईश्वरः। पुरुषविशेष इति सूत्रांशस्यार्थमाह—सर्वज्ञ इति। तस्येश्वरस्य प्रणिधानं कीदृशमित्याकाङ्क्षायां "तस्य वाचकः प्रणव" इति सूत्रम्, तत् व्याकरोति—ईश्वरस्येति। 'तज्जपस्तदर्थभावनमी'श्वरप्रणिधानमिति सूत्रम्, तदारुयापयति—प्रणवेति। अनुसन्धानप्रकारः प्रथमपरिच्छेदे निरूपितः ॥ १६ ॥

●

"यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥"—(गी० ९।२७)।

इस वचन के अनुसार ईश्वर के अर्पण करना और उन्हीं के ध्यान में मग्न होकर एकतानता से उन्हीं का चिन्तन करना तथा अहर्निश भगवन्नाम-स्मरण करते रहना ही 'ईश्वर-प्रणिधान' कहलाता है, और इसी को 'भक्ति' कहते हैं। इस प्रकार की ईश्वर-भक्ति से शीघ्र ही 'समाधिलाभ' तथा 'समाधिफल' प्राप्त होता है। भगवान् ने इसी 'ईश्वर-प्रणिधान' को गीता में 'योगक्षेम' का निर्वाहक कहा है—

"अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥"

अतः ईश्वर की शरण लेकर 'ईश्वर-प्रणिधान' रूप भक्ति करना मनुष्यमात्र का कर्तव्य है।

शंका—'ईश्वर' को 'जड' माना जाय, या 'चेतन'? यदि उसे 'जड' मानते हैं, तो कार्य-कारणात्मक 'सम्पूर्ण जगत्' ही जडरूप (प्रकृतिस्वरूप) होने से 'भक्तों' पर उसका अनुग्रह करना असम्भव है। और उसे यदि 'चेतन' मानते हैं तो 'चितिशक्ति' 'असंग तथा उदासीन' होने से उसके द्वारा भक्तों पर अनुग्रह करना अत्यन्त असंगत होगा।

समा०—उक्त आशंका के समाधानार्थ ही सूत्रकार ने 'ईश्वर' का लक्षण किया है—जो तीनों कालों में मुक्त है, वही 'ईश्वर' है, अर्थात् वह 'पुरुषविशेष' कहलाता है। ब्रह्मादिदेवता और अंगिरादि महर्षि, काल परिच्छिन्न हैं, वैसा 'परमेश्वर' नहीं है। वह कालपरिच्छेद देशपरिच्छेद आदि से रहित है। 'परमेश्वर', इन सबका 'गुरु' है। उस ईश्वर का नाम, 'प्रणव' अर्थात् ॐ है। 'प्रकर्षेण नूयते स्तूयते अनेनेति प्रणवः' इस व्युत्पत्ति से ॐ को ही 'प्रणव' कहते हैं। इस ॐ शब्द से परमेश्वर की विशेष स्तुति की जाती है। इसी प्रकार 'अवति इति ॐ'—इस विग्रह से जो रक्षा करता है, उसे 'ॐ' कहते हैं। परमेश्वर ही प्राणिमात्र की रक्षा करता है। अतः परमेश्वर का नाम 'ॐ' है।

शंका०—'प्रणव' और 'ईश्वर' का जो 'वाच्य-वाचक भाव सम्बन्ध' है, वह 'संकेतजन्य' (सांकेतिक) है, अथवा 'संकेतद्योत्य' (संकेत से प्रकाशित) है?

समा०—मीमांसकों के समान ही योगशास्त्र वालों ने 'शब्दार्थ-सम्बन्ध' को 'नित्य' माना है। नित्य होने से उसे 'संकेतद्योत्य' माना है। क्योंकि महाभाष्य में भगवान् पतञ्जलि ने—

"सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे" इस वार्तिक की व्याख्या में "अथ सिद्धशब्दस्य कः पदार्थः। नित्यपर्यायवाची सिद्धशब्दः। कथं ज्ञायते। यत्कूटस्थेषु अविचालिषु भावेषु वर्तते। तद्यथा सिद्धा द्यौः, सिद्धा पृथिवी, सिद्धमाकाशमिति"

इन पंक्तियों से स्पष्ट हो रहा है कि पतञ्जलि ने 'शब्दार्थसम्बन्ध' को 'नित्य' स्वीकार किया है। जो 'पदार्थ' नित्य होता है, उसे 'संकेतजन्य' नहीं कहा जाता।

किञ्च—'नित्यता' दो प्रकार की होती है—(१) कूटस्थ रूप नित्यता और (२) प्रवाहरूप नित्यता। शब्दार्थसम्बन्ध में जो नित्यता है, वह 'कूटस्थनित्यता' नहीं है, अपितु 'प्रवाहरूप नित्यता' है।

'प्रणवः' शब्द की निष्पत्ति इस प्रकार होती है—'प्र' उपसर्गपूर्वक 'स्तु स्तवने' धातु से 'ऋदोरप्'—सूत्र से 'अप्' प्रत्यय, 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः'—सूत्र से 'गुण', 'एचोऽयवायावः'—सूत्र से 'अवादेश', 'उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य'—

अथवा "तद्योऽहं सोऽसौ योऽसौ सोऽहं"मित्यत्र सशब्देन परमात्मोच्यते। अहं शब्देन प्रत्यगात्मोच्यते। अनयोः

•

प्रकारान्तरेण सदृष्टान्तं प्रवणार्थमाह—अथवेति। ननु दृष्टान्ते सोऽहमीश्वर इति पदयोः सामानाधिकरण्येन तद्ब्रह्मात्मैक्यं प्रतिपाद्यतां तत्कथं दार्ष्टान्तिक इत्याशङ्क्योपपादयति—तथाहीति। 'पृषोदरादि यथोपदिष्टमि'ति न्यायेन लोपः "एङः पदान्तादती'ति सन्धिः। तत्र सम्मतिमाह—तदुक्तमिति।

अस्त्वेवं प्रणवशब्दनिष्पत्तिः, प्रकृते किमायातमित्यत आह—ततश्चेति। ततोऽपि किम्? तत्राह—सर्वथापीति। परमेश्वरेति। अनुग्रहोऽभिध्यातमनोगतेच्छा अस्याभिमतमस्त्विति।

•

सूत्र से 'णत्व', 'कृत्तद्धितसमासाश्च'—सूत्र से 'प्रादिपादिकसंज्ञा', तदनन्तर 'सु' प्रत्यय, अनुबन्धलोप, रुत्व, विसर्ग करने पर 'प्रणवः'—शब्दरूप निष्पन्न होता है।

उसी प्रकार 'प्रणव' शब्द के पर्यायभूत 'ओम्' शब्द की निष्पत्ति इस प्रकार होगी—'अव रक्षणे' धातु से 'अवतेष्टिलोपश्च'—इस उणादिसूत्र से 'मन्' प्रत्यय, 'मन्' प्रत्यय के 'टि' का लोप, करने पर 'अव्+म्' हुआ, 'ज्वरत्वर्'—सूत्र से 'उपधा और व्' को 'ऊठ्' करने पर 'ऊ+म्' होने पर 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः'—सूत्र से 'गुण' होने पर 'ओम्' शब्द निष्पन्न होता है।

उस 'प्रणव' का जप और उसके अर्थ की भावना करने से चित्त एकाग्र होता है। अर्थात् ॐकार का जप और ॐकार के अर्थरूप ईश्वर का पुनः पुनः चित्त में निवेश करना चाहिए। यह करने से 'चित्त' की एकाग्रता सम्पन्न होती है। यद्यपि एक काल में 'जप' और 'भावना' दोनों का होना सम्भव नहीं है, तथापि ध्यान (भावना) के पूर्व, 'जप' कर लेना चाहिए, अथवा भावना के पश्चात् जप कर लेना चाहिये।

विष्णुपुराण में कहा भी है—

"स्वाध्यायाद् योगमासीत योगात् स्वाध्यायमासते।
स्वाध्याय-योगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते॥" —(वि० पु० ६।६।२)

'स्वाध्यायात्' प्रणवजप के पश्चात् 'योगमासीत' ईश्वर की भावना करे, अथवा 'योगात्' ईश्वरभावना के पश्चात् 'स्वाध्याय मासते' प्रणव जप करे। 'स्वाध्याययोगसम्पत्त्या' इस प्रकार जप तथा योग की प्राप्ति होने पर 'परमात्मा प्रकाशते' परमेश्वर का साक्षात्कार हो जाता है। एवं च ईश्वरप्रणिधान (ईश्वरभक्ति) से समाधिलाभ होता है। प्रणव के जप और उसके अर्थ के चिन्तन करने का एक प्रकार बता दिया॥ १६॥

अब 'प्रणव' शब्द के अर्थ के चिन्तन (अनुसन्धान) का एक अन्य प्रकार दृष्टान्त के साथ बताते हैं—"तद्योऽहं सोऽसौ, योऽसौ सोऽहम्"—इति श्रुति में 'स' शब्द से 'परमात्मा' को बताया गया है, और 'अहं' शब्द से 'प्रत्यगात्मा' (जीव) को बताया गया है।

यद्यपि 'प्रति वस्तु अञ्चति इति प्रत्यक्'—इस व्युत्पत्ति से तथा 'प्रत्यक् प्रशान्तं भगवच्छब्दसंज्ञं यद्वासुदेवं कवयो वदन्ति'—इत्यादि शास्त्र से 'प्रत्यक्' शब्द का अर्थ, 'प्रत्येक वस्तु में व्यापकरूप से विद्यमान ईश्वर'—ही है, 'जीव' नहीं, तथापि 'प्रतीपं विपरीतं अञ्चति विजानाति इति प्रत्यक्'—इस व्युत्पत्ति से विपरीत ज्ञान वाले 'जीवात्मा' को भी 'प्रत्यक्' शब्द से कहा जाता है। एवं च ईश्वरप्रणिधान से प्रथमतः अव्यवहित होने से 'जीवात्मा' के विशुद्धरूप का साक्षात्कार होता है, पश्चात् 'ईश्वर' से उसके अभेद का साक्षात्कार होता है—यह क्रम है।

'सोऽहम्'—यहां पर 'सः-अहम्'—इन दो शब्दों का परस्पर सामानाधिकरण्य है, क्योंकि दोनों शब्दों ने 'ब्रह्म' और 'आत्मा' के 'एकत्व' को ही बताया है। अतः 'सोऽहम्'—वाक्य का अर्थ यह हुआ कि 'परमात्मा, 'मैं' ही हूँ'—इस प्रकार का 'जीव-ब्रह्मैक्य' है, 'जीव और ब्रह्म'—ये पृथक्-पृथक् नहीं है। उसी प्रकार ॐकाररूप 'प्रणव' का भी 'जीव-ब्रह्मैक्य'—अर्थात् 'जीव और ब्रह्म का एकत्व' ही अर्थ है। इसी अर्थ को व्याकरण की दृष्टि से भी बता रहे हैं—'सोऽहम्'—यहां पर 'पृषोदरादियथोपदिष्टम्'—इस नियम के अनुसार 'स' कार और 'ह' कार, इन दोनों वर्णों का लोप कर देने पर 'ओ+अम्' शेष रहा, तब 'एङःपदान्तादति' सूत्र से पूर्वरूपसन्धि करने पर 'ॐ' निष्पन्न होता है।

सामानाधिकरण्याद् ब्रह्मात्मैक्यमुच्यते। ततश्च सोऽहमित्यस्य परमात्माऽहमित्यर्थो यथा तथा प्रणवस्यापि। तथाहि—सोऽहमित्यत्र सकारहकारयोर्लोपे कृते परिशिष्टयोः 'ओ अम्' इत्यनयोः सन्धिं कृत्वोच्चारणे ओमिति शब्दो निष्पन्नः। तदुक्तम्—

"सकारं च हकारं च लोपयित्वा प्रयोजयेत्। संधिं च पूर्वरूपोत्थं ततोऽसौ प्रणवो भवेत्॥ इति।

●

अथवा भूमिकाजयक्रमेण वासनाद्यभ्यासः कर्तव्यः। तथा च श्रुतिः—"यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेत् ज्ञाने आत्मनि। ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेच्छान्त आत्मनी"ति।

अस्यार्थः—लौकिकवैदिकाभिलपनव्यवहारहेतुभूता या वाक् तां मनसि नियच्छेत्। ईकारः छान्दसः। प्राज्ञः पण्डितो विवेकी वाग्व्यवहारं सर्वं समुत्सृज्य मनोमात्रेणावतिष्ठेत्। तथापि प्रणवजपो न त्याज्यो यावत्समाध्युदयम् तथा च श्रुतिः—

"मौनं योगासनं योगः तितिक्षैकान्तशीलता। निस्पृहत्वं समत्वं च सदैतान्येकदण्डिनाम्॥" इति।

योगः प्रणवजपस्तदर्थभावना, ततश्च गोमहिषादिवत्सम्यङ् निरोधः प्रथमा भूमिः। तस्यां जितायां मनोनिरोधे द्वितीयभूमौ प्रयतेत्। तत्सङ्कल्पात्मकं मनो ज्ञानात्मनि नियच्छेत्। ज्ञानात्मा विशेषाहङ्कारः अमुष्य पुत्रोऽहमित्यादिः तन्मात्रेणावतिष्ठेत्। सर्वसङ्कल्पविकल्पांस्त्यक्त्वा बालमूकादिवन्निर्मनस्कता द्वितीया भूमिः॥ तस्यां जितायां विशेषाहङ्कारनिरोधे तृतीय-

●

एवं च 'सोऽहम्' शब्द के समान 'ॐ' इस 'प्रणव' शब्द का भी 'सः परमात्मा, अहम् मैं हूँ'—यही अर्थ सिद्ध होता है।

अथवा—भूमिका जयक्रम से वासनादिका अभ्यास करे। श्रुति ने भी कहा है—लौकिक-वैदिकाभिलपन व्यवहार की हेतुभूत जो 'वाक्' है, उसे 'मन' में, नियन्त्रित करे। प्राज्ञः विवेकी पण्डित, 'वाग्व्यवहार' को सम्पूर्णतया त्याग कर केवल 'मनोमात्र' से 'स्थित रहे। तथापि जब तक समाधि नहीं लग पाती तब तक 'प्रणवजप' का त्याग नहीं करना चाहिये।

श्रुति कहती है—प्रणवजप के अविरिक्त अन्य वाक्–व्यापार नहीं करना, गाय-भैंस के समान वाणी का जो सम्यक् निरोध है, वह 'निरोध' ही प्रथम भूमिका है। अर्थात् प्रथमभूमिका—'वाङ्निरोध' है।

वाङ्निरोधरूप प्रथम भूमिका का जय करने के बाद, 'मनोनिरोध' रूप द्वितीय भूमिका को जीतने का प्रयत्न करे। अर्थात् उस 'संकल्प-विकल्परूप 'मन' को 'ज्ञानात्मा' में लीन करे। 'मनुष्योऽहम्', 'ब्राह्मणोऽहम्' आदि जो 'विशेष अहंकार है', इसी का दूसरा नाम 'ज्ञानात्मा' है। उस 'ज्ञानात्मा' के रूप में स्थित रहे सम्पूर्ण संकल्प-विकल्पों का त्यागकर बाल-मूकादिकों के समान निर्मनस्कतारूप मनोनिरोध कर लेना, यही द्वितीय (दूसरी) भूमिका है।

मनोनिरोधरूप द्वितीय भूमिका पर जय प्राप्त कर लेने के बाद 'विशेष अहंकार' रूप 'ज्ञानात्मा का निरोध' रूप जो तृतीय भूमिका है, उसे जीतने का प्रयत्न करे। अर्थात् उस 'विशेष अहंकार' को 'महत् आत्मा' में लीन करे। अर्थात् ब्राह्मणोऽहं, मनुष्योऽहम्' इत्यादि विशेष अहंकार का परित्याग करके 'अस्मिता मात्र' शेष रहे 'अहंकार' की 'सूक्ष्मअवस्था' को अस्मिता कहते हैं।। इसी अस्मिता को 'महत्तत्व' कहते हैं तथा इसी को 'सूक्ष्म अहंकार (सामान्याहंकार) भी कहते हैं। एवं च आलसी, उदासीन के समान 'विशेष अहंकार' से रहित हो जाना, यह तृतीय भूमिका है। इस 'विशेषाहंकार-राहित्य' रूप तृतीय भूमिका जीतने के पश्चात् वह योगी 'अस्मितानिरोध' रूप चतुर्थ भूमिका में जाने का प्रयत्न करे। अर्थात् अस्मितारूप महत्तत्वरूप 'आत्मा' को 'एक रस चैतन्य' रूप 'शान्त आत्मा' में लीन कर दे। अर्थात् उस 'अस्मिता' का भी 'परित्याग' करके केवल 'चैतन्यमात्र' शेष रहे।

शंका—कतिपय अन्य श्रुतियों ने तो 'महत्तत्व' से परे 'अव्यक्त' को बताया है। तथा 'अव्यक्त' से परे 'चैतन्यपुरुष' को बताया है। अतः यहाँ भी 'महत्तत्त्व' का 'अव्यक्त' में ही 'लय' कहना चाहिये था। किन्तु वैसा न कहकर 'एकरस चैतन्यरूप शान्त आत्मा' में 'महत्तत्त्व' का 'लय' क्यों बताया ?

समा०—'कारण' में 'कार्य' का निरोध करना ही 'लय' है। तब 'अव्यक्त' रूप कारण में 'महत्तत्व' रूप कार्य, का 'लय' करने से इस योगी को 'निद्रा' ही प्राप्त होगी। 'निरोध समाधि' की प्राप्ति नहीं होगी। अतः 'अव्यक्त' को त्याग कर

ततश्च ओमित्यस्य शब्दस्य परमात्माऽहमित्यर्थः। सर्वथापि प्रणवजपप्रणवार्थाऽनुसन्धानरूपेण ईश्वरप्रणिधानेन परमेश्वराऽनुग्रहात् समाधिलाभो भवत्येव।

एवं समाध्यभ्यासेनाऽन्तःकरणस्याऽतिसूक्ष्मताऽऽपादनं मनोनाश इत्युच्यते॥ १७॥

अनेन सूक्ष्मेण मनसा त्वंपदलक्ष्ये साक्षात्कृते महावाक्येन स्वस्य ब्रह्मत्वसाक्षात्कारो भवति। न केवलं समाधिनैव साक्षात्कारः, किं तु विवेकेनाऽपि भवति। अन्तःकरणतद्वृत्तीनामवभासको यश्चिदात्मा साक्षी तस्मिन् साक्षात्कृते वाक्याद् ब्रह्मसाक्षात्कारः सम्भवत्येव। तदाह—

•

भूमौ प्रयतेत। ब्राह्मणोऽहं मनुष्योऽहमिति विशेषाहङ्कारः, तं महति नियच्छेत्। ब्राह्मणोऽहमित्याद्यभिमानं त्यक्त्वाऽस्मितामात्रावशेषो भवेत्। अहङ्कारसूक्ष्मावस्थाऽस्मिता। इदमेव महत्तत्त्वम् सामान्याहङ्कार इति चोच्यते। अलसोदासीनवद्विशेषाहङ्काररहित्यं तृतीयभूमिः। तस्यां जितायामस्मितामात्रावशेषं महान्तमात्मानं शान्ते चिदेकरसात्मनि नियच्छेत्। ननु महतोऽव्यक्ते निरोधः कुतो नोच्यते? इति चेन्न; कार्यं कारणे निरुध्यमानं लीनमेव स्यात्, तथा च निद्रा स्यात्, न निरोधसमाधिः। अतो महान्तमात्मानं चिदात्मनि नियच्छेत्। चिदात्मनि सर्वात्मना चित्तं निरुद्धं चेदियमेवासम्प्रज्ञातसमाधिः चतुर्थभूमिः। एवं भूमिकाजयेन समाध्यभ्यासः कर्तव्यः।

ततः किमित्यत आह—एवमिति। उक्तप्रकाराणामन्यतमेन॥ १७॥

ननु सूक्ष्मेण मनसा किं भवति? इत्याशङ्क्य तादृशमनसाऽन्तःकरणतद्वृत्तिसाक्षिणि त्वंपदलक्ष्ये प्रतीचि साक्षात्कृतेऽनन्तरं तत्त्वमस्यादिवाक्येन स्वस्य ब्रह्मत्वसाक्षात्कारो भवतीत्याह—अनेनेति।

ननु "एतेन योगः प्रत्युक्तः" इति सूत्रकारैर्योगस्य दूषितत्वात्कथं साक्षात्कारसाधनत्वेन समाध्यभ्यासो नियम्यते इति चेत्? सत्यम्; तत्र प्रधानकारणतावादनिराकरणताभिप्रायेण योगशास्त्रं निराकृतं, न तु चित्तनिरोधलक्षणयोगनिराकरणाभिप्रायेण। अनिरुद्धचित्तस्य विषयप्रवणस्य ब्रह्मसाक्षात्कारासम्भवाच्च।

•

अर्थात् 'अव्यक्त' में 'महत्तत्त्व' का लय नहीं कहा, अपितु उसका (महत्तत्त्व का) 'चैतन्य आत्मा' में लय होना बताया है। इस प्रकार 'चैतन्य आत्मा' में 'चित्त' का पूर्णतया जो 'निरोध' है, उस निरोध को ही 'असम्प्रज्ञातसमाधि' रूप चतुर्थ भूमिका कहते हैं।

इस रीति से चार भूमिकाओं में पूर्व-पूर्व भूमिका का जय प्राप्त कर लेने पर उत्तर-उत्तर भूमिका पर जय प्राप्त करने का जो क्रम है, जिसे समाधि का अभ्यास कहते हैं, उससे (उस अभ्यास से) भी 'असम्प्रज्ञात समाधि' की प्राप्ति होती है।

समाधि का अभ्यास करने के लिये जो अनेक प्रकार पहिले बताये गये हैं, उनमें से किसी भी प्रकार के द्वारा 'समाधि' का अभ्यास करके अपने 'अन्तःकरण' को 'अतिसूक्ष्म' बना देना ही 'मनोनाश' शब्द से कहा जाता है॥ १७॥

शंका—'मन' को (अन्तःकरण को) इतना सूक्ष्म बनाने से कौन-सा फल (प्रयोजन) उपलब्ध होता है?

समा०—उस 'सूक्ष्म मन' से, अन्तःकरण और उसके साक्षी कहे जाने वाले, 'त्वंपदलक्ष्य प्रत्यक् जीव चैतन्य' का साक्षात्कार होता है। अर्थात् उस योगी को प्रथमतः 'त्वम्' पद के लक्ष्यार्थरूप 'प्रत्यगात्मा' (जीवात्मा) का साक्षात्कार होता है। तदनन्तर 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य से 'अहं ब्रह्मास्मि'—इस प्रकार का अर्थात् 'प्रत्यगात्मा' (जीवात्मा के) 'ब्रह्मरूपत्व' का साक्षात्कार होता है। अतः 'ब्रह्मसाक्षात्कार' करने का साधन, 'समाधि का अभ्यास' भी है। इस सम्प्रज्ञात समाधि का अभ्यास करते रहने से 'असंप्रज्ञात समाधि' का लाभ होता है, अर्थात् 'असंप्रज्ञात समाधि' लगने लगती है।

समाधि का अभ्यास करने के अनेक प्रकार पहिले बताये गये हैं, उनमें से किसी भी प्रकार के अभ्यास से अन्तःकरण (मन) की जो अतिसूक्ष्मता होती है, उसी को 'मनोनाश' कहते हैं।

शंका—ब्रह्मसूत्रकार व्यास ने अपने ब्रह्मसूत्र में सांख्यशास्त्र के समान ही 'योगशास्त्र' का भी खण्डन किया है। और पूर्वोक्त समाधि का अभ्यास करना योगशास्त्र ने ही बताया है। ऐसी स्थिति में 'समाधि' के 'अभ्यास' को यदि 'ब्रह्मसाक्षात्कार' का साधन मानते हैं, तो व्याससूत्र से विरोध उपस्थित होगा।

"द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानं च राघव। योगस्तद्वृत्तिनिरोधो ज्ञानं सम्यगवेक्षणम् ॥
असाध्यः कस्यचिद्योगः कस्यचिद् ज्ञाननिश्चयः। प्रकारौ द्वौ तदा देवो जगाद परमेश्वरः ॥" इति।

•

किञ्च "समाध्यभावाच्च" "अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्यां" "निदिध्यासितव्यः" "विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीति" "ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति" "ध्यानयोगेन सम्पश्यन्नात्मन्यात्मानमात्मने" त्यादि सूत्रश्रुतिस्मृतिशतैर्योगस्य साक्षात्कारसाधनत्वावगमात्समाध्यभ्यासोऽवश्यमपेक्षित एव महावाक्याद्ब्रह्मसाक्षात्कारोत्पत्तौ॥

नन्वेवं जनकादीनां सिद्धगीताश्रवणमात्रेण ब्रह्मसाक्षात्कारो जात इति प्रतिपाद्यते वासिष्ठादौ समाध्यभावेऽपि, तत्कथं स्यादित्याशङ्क्य बहुव्याकुलचित्तानां तदपेक्षायामप्यव्याकुलबुद्धीनां विवेकेन मनसा त्वंपदलक्ष्ये साक्षात्कृते महावाक्याद्ब्रह्मसाक्षात्कारो भवत्येव समाधिं विना। तदुक्तम्—

"अव्याकुलधियां मोहमात्रेणाच्छादितात्मनाम्। साङ्ख्यानां मे विचारोऽयं मुख्यो झटिति सिद्धिदः ॥" इति।

•

समा०—सांख्यशास्त्र की तरह 'योगशास्त्र' भी 'अचेतन (जड) प्रधान' को ही महत्तत्वादि के क्रम से 'जगत्' का कारण मानता है। किन्तु वेदान्त के सिद्धान्त में 'प्रधानकारणवाद' स्वीकृत नहीं किया गया है। अर्थात् वेदान्ती विद्वान् 'जड प्रधान' को 'जगत्' का कारण नहीं मानते। वेदान्त के सिद्धान्त में तो 'ब्रह्मकारणवाद' माना गया है। अर्थात् 'चेतन ब्रह्म' से ही जगत् का सर्जन होता है। इस सत् विरोध के कारण ब्रह्मसूत्रकार व्यास ने 'एतेन योगः प्रत्युक्तः' कहकर योगशास्त्र का खण्डन करने के अभिप्राय से 'योगशास्त्र' का खण्डन नहीं किया है। वस्तुतस्तु यमादि समाधिपर्यन्त के साधन श्रुतिस्मृतिसिद्ध ही हैं अतः उनका स्वीकार करना किसी भी अंश में योगदर्शन का स्वीकार नहीं कहा जा सकता। क्योंकि मोक्षशास्त्र में उनका विस्तृत वर्णन है। इसलिये लोक में यह भ्रम हो गया है कि ये अंग पतंजलि के द्वारा ही आविष्कृत हैं। वेदांत शास्त्र में तो साधना के लिये इनका संग्रह शास्त्रानुसार स्वसम्प्रदाय सिद्ध ही है।

सिद्धान्त में भी जिस कारण से चित्तनिरोध के विना 'विक्षिप्त पुरुष' को 'ब्रह्मसाक्षात्कार' नहीं हो पाता है, उस कारण ब्रह्मसाक्षात्कार के निमित्त 'चित्त' का निरोध करना अत्यावश्यक है।

किञ्च—अनेक सूत्र, श्रुति, स्मृति के शतशः वचनों से 'निरोधरूप योग' में ब्रह्मसाक्षात्कार की साधनता स्पष्टतया प्रतीत हो रही है। उस कारण महावाक्यजन्य 'ब्रह्मसाक्षात्कार' के होने में 'समाधि का अभ्यास' अत्यन्त आवश्यक है।

'समाध्यभावाच्च'—(ब्र० सू० २।३।३९) सूत्र का अर्थ इस प्रकार है—'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्योमन्तव्यो निदिध्यासितव्यः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः'—(बृ० २।४।५), अरे मैत्रेयि! आत्मा, दर्शन करने योग्य है, श्रवण करने योग्य है, मनन करने योग्य है और निदिध्यासन करने योग्य है, उसका अन्वेषण करना चाहिए, उसकी जिज्ञासा करनी चहिए। 'ओमित्येवम्' (मु० २२।६)—'ओम्' इस प्रकार से तुम आत्मा का ध्यान करो। औपनिषद् आत्मा के प्रतिपत्तिरूप प्रयोजन के लिए वेदान्त में 'समाधि' कही गई है। तथा 'अपि च संराधने ? सूत्र का यह भाव है—समस्त प्रपञ्च से शून्य और अव्यक्त इस आत्मा को योगिजन संराधन (भक्ति, ध्यान, प्रणिधान) के समय में परमात्मा को देखते हैं, यह प्रत्यक्ष (श्रुति), और अनुमान (स्मृति) से जाना जाता है।

एवं च महावाक्यजन्य ब्रह्मसाक्षात्कार प्राप्त करने के लिए 'समाधि' का अभ्यास आवश्यक है।

शंका—'ब्रह्मसाक्षात्कार' के होने में यदि 'समाधि' को साधन (उपाय) कहेंगे तो समाधिरहित पुरुषों को 'ब्रह्मसाक्षात्कार' नहीं होना चाहिये और योगवासिष्ठ में वर्णित 'जनक' आदि को 'समाधि' के बिना ही केवल 'सिद्धगीता' के श्रवणमात्र से 'ब्रह्मसाक्षात्कार' कैसे हुआ ?

समा०—बहुव्यानुल चित्तवाले लोगों को 'समाधि' (चित्तनिरोध) की अपेक्षा होने पर भी अव्याकुल चित्तवाले लोगों को 'विवेक' से भी 'ब्रह्मसाक्षात्कार' होता है। 'अन्तःकरण' का तथा 'अन्तःकरण' की वृत्तियों का प्रकाशक (अवभासक) जो, 'त्वम्' पद का लक्ष्यार्थरूप 'प्रत्यगात्मा' (जीवात्मा) साक्षिचैतन्य है, उस 'साक्षी आत्मा' को 'अन्नमयादि' पांचों कोषों से पृथक् समझना, यही 'विवेक' है। इस 'विवेक' से अधिकारी पुरुष को 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य से 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारक 'ब्रह्मसाक्षात्कार' निश्चित रूप से होता है। अतः 'समाधि' की तरह 'विचाररूप विवेक' भी 'ब्रह्मसाक्षात्कार' का साधन (उपाय) है। एवं च बहुव्याकुल चित्त वाले अधिकारी को निरोध समाधि के अभ्यास से ही ब्रह्मसाक्षात्कार होता है, और

ज्ञानं विवेकः। तृतीयाऽध्याये "इन्द्रियाणि पराण्याहु" रित्यारभ्य "कामरूपं दुरासद"मित्यन्तेन विवेकम्, षष्ठाऽध्याये योगं च "यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते" इति वासुदेवः सर्वज्ञो भगवान् द्वौ प्रकारौ जगादेति श्लोकार्थः। तदेवं

समाधिविवेकयोरधिकारिभेदविषयतया सार्थकत्वेन तयोर्ब्रह्मसाक्षात्कारं प्रति विकल्पेन साधनत्वमित्यभिप्रेत्याह—न केवलमिति। तत्र सम्मतिमाह—तदाहेति। चित्तनाशस्य सूक्ष्मतापादनस्य द्वौ क्रमावुत्पादकौ कारणे। द्वैविध्यमेवाह—योग इति। योगस्य लक्षणमाह—योग इति। तस्य चित्तस्य वृत्तीनां निरोधः तद्वृत्तिनिरोधः। जडाजडौ विविच्य सम्यगसङ्कीर्णतयाऽवेक्षणं दर्शनं विवेक इत्यर्थः। अनयोर्विकल्पेन मनोनाशद्वारा साक्षात्कारहेतुत्वमित्याह—असाध्य इति।

सम्मतिं व्याचष्टे—ज्ञानमिति। कोऽसौ देवः परमेश्वरः, द्वौ प्रकारौ कुत्र जगादेत्यकाङ्क्षायां श्रीकृष्णो भगवान् गीतायां जगादेत्याह—तृतीयेति।

ननु योगाभ्याससाध्यमनोनाशस्य ब्रह्मसाक्षात्कारहेतुतया तेन ब्रह्मसाक्षात्कारे सति निखिलसम्बन्धनिवृत्त्या पुंसः सर्वकर्तव्यताहान्या कृतकृत्यात्वस्कृतं तदनन्तरं तत्त्वज्ञानवासनाक्षयमनोनाशाभ्यासेनेत्याशङ्क्य यस्य योगाभ्यासपूर्वकं ब्रह्मसाक्षात्कारो

दूसरे अव्याकुल चित्तवाले अधिकारी पुरुष को समाधि का अभ्यास किए बिना ही केवल विवेक मात्र (विचारमात्र) से वह ब्रह्मसाक्षात्कार हो जाता है। अन्तःकरण और उसकी वृत्तियों का प्रकाशक जो चेतन आत्मा साक्षी है, उस शुद्ध त्वमर्थ का साक्षात्कार हो जाने पर महावाक्य से परमात्मा का साक्षात्कार अवश्य हो सकता है।

कहा भी है—जिन अधिकारी लोगों की बुद्धि, व्याकुलता से रहित है, और केवल 'अज्ञानमात्र' से 'आत्मा' आवृत है उन लोगों के लिए यह सांख्योक्त 'विचार' (विवेक) ही 'ब्रह्मसाक्षात्कार' का मुख्य साधन है। क्योंकि यह सांख्योक्त 'विवेक', अव्याकुल चित्तवाले अधिकारी पुरुष को 'समाधि' के 'अभ्यास' की अपेक्षा किए बिना ही 'ब्रह्मसाक्षात्कार' की प्राप्ति त्वरित करा देता है। इस रीति से 'समाधि' तथा 'विवेक' (विचार) की सार्थकता 'अधिकारी के भेद' से समझनी चाहिए। इसलिए इनमें वैकल्पिक साधनता मानी गई है। उस कारण समाधि के बिना केवल विवेक मात्र से ब्रह्मसाक्षात्कारप्राप्ति के प्रतिपादक वचनों का और समाधि से ब्रह्मसाक्षात्कार प्राप्ति के प्रतिपादकवचनों का परस्पर कोई विरोध नहीं है। किन्तु अधिकारी के भेद से दोनों प्रकार के वचन, पूर्णतया सार्थक हैं।

इसी उक्त अभिप्राय को भगवान् वसिष्ठ ने भी बताया है—हे राघव! ब्रह्मसाक्षात्कार की प्राप्ति में उपयुज्यमान 'चित्त' की सूक्ष्मता का सम्पादन करना ही 'चित्त' का नाश अर्थात् 'मनोनाश' कहा जाता है। उस 'मनोनाश' के 'दो कारण' बताये गये हैं—(१) योग और (२) विवेक। चित्त की समस्त वृत्तियों के निरोध को 'योग' कहते हैं। तथा 'अन्नमयादिपञ्चकोशों' से 'प्रत्यगात्मा' (जीवात्मा) को पृथक् देखना (समझना) 'विवेक' है। इन दोनों उपायों में से किसी अधिकारी को 'योग' सुगम प्रतीत होता है और 'विवेक' कठिन लगता है, और किसी अधिकारी को 'योग' कठिन लगता है, और 'विवेक' सुगम प्रतीत होता है।

अतएव श्रीमद्भगवद्गीता में अधिकारी के भेद से भगवान् ने दो प्रकार बताये हैं। गीता के तृतीय अध्याय में—'रसवर्जम्'—इस न्याय से सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी परमात्मा को जानकर और उसी का आश्रय लेकर तुम 'काम' को मारो,—यह समझाने के लिए 'आत्मा' को जानने का प्रकार 'इन्द्रियाणि' (४२-४३) श्लोकों से बता रहे हैं—

विषयों की अपेक्षा 'इन्द्रियाँ' पर (श्रेष्ठ) हैं, इन्द्रियों से 'मन' श्रेष्ठ है, मन की अपेक्षा बुद्धि श्रेष्ठ है, और जो बुद्धि से पर है अर्थात् साक्षीरूप में स्थित होकर 'बुद्धि आदि को जो प्रकाशित करता है, वह 'आत्मा' है।

हे महाबाहो! बुद्धि आदि सम्पूर्ण दृश्य जगत् से विलक्षण, अखण्डैकरस 'आत्मा' को जानकर और अन्तःकरण को उस आत्मा के साथ संयुक्त कर कामरूपी दुर्जय शत्रु का नाश करो।

यहाँ पर 'इन्द्रियाणि पराण्याहुः' से लेकर 'कामरूपं दुरासदम्' तक भगवान् ने 'विवेक' को उपाय के रूप में बताया है। तथा गीता के षष्ठ अध्याय में योग का प्रतिपादन किया है।

छठे अध्याय में कहा है (श्लो० १४) प्रशान्तअन्तःकरण (आत्मा), भयरहित, और ब्रह्मचर्य का पालन करता हुआ तथा मन पर संयम करके, मुझमें चित्त लगाकर अर्थात् 'अहं ब्रह्मास्मि'—इत्याकारक ब्रह्मग्राहक वृत्ति से युक्त होकर आसन पर बैठना चाहिए।

तत्त्वज्ञानवासनाक्षयमनोनाशाऽभ्यासाज्जीवन्मुक्तिः सिध्यतीति सिद्धम् ॥ १८ ॥

तस्य जीवन्मुक्तेः पञ्च प्रयोजनानि सन्ति। ज्ञानरक्षा, तपोविसंवादाऽभावो, दुःखनिवृत्तिः, सुखाऽऽविर्भावश्चेति।

निर्वृत्तो वाक्येन तस्य तदनन्तरं तदपेक्षाभावेऽपि यस्य विवेकपूर्वकं वाक्याद्ब्रह्मसाक्षात्कारो निर्वृत्तः तस्य तदनन्तरं प्रबलप्रारब्ध-भोगापादितकर्तृत्वभोक्तृत्वादिलक्षणबन्धप्रतिभासवारणस्य कर्तव्यशेषस्य विद्यमानत्वेन तत्त्वज्ञानवासनाक्षयमनोनाशाभ्यासोऽपेक्षित इत्यभिप्रायेणोपसंहरति—तदेवमिति ॥ १८ ॥

यदुक्तं जीवन्मुक्तिसिद्धया प्रयोजनाभावात्तदर्थं यत्नो नापेक्षितः इति, तत्राह—तस्या इति। ज्ञानरक्षां निरूपयति—तत्रेति। तेषु पक्षेषु मध्य इत्यर्थः। ननु प्रमाणोत्पन्नस्य ज्ञानस्य निश्चयत्वेन कथं तद्विषयसंशयविपर्यासप्रसक्तिः? ततश्च जीव-न्मुक्त्यभ्यासेनाप्रसक्तयोस्तयोरनुत्पादः कथं रक्षा स्यादिति? उच्यते; यद्यपि प्रमाणकुशलानां मुख्याधिकारिणां संशयविपर्यास-प्रसक्तिरेव नास्ति; तथाप्यन्येषां सा भवत्येव।

किं तत्र निमित्तमिति चेत्? शृणु, अनन्तानि निमित्तानि सन्ति। तथाहि—साक्षात्कारानन्तरं यथापूर्वं मनुष्योऽह-मित्यादिव्यवहारदर्शनात् रागद्वेषाद्युपलब्धेश्चोत्पन्नं ज्ञानमापातरूपमेवेति केनचिद्वाचाटेनापादितस्य जीवन्मुक्त्यभ्यासाभावे संशयविपर्यासौ स्यातामिति केचित्।

इस रीति से मन को सर्वदा आत्मा में समाहित करके अप्रतिहत ज्ञान से युक्त होकर, निरतिशय सुख से युक्त होकर आत्मभावापत्तिरूप शान्ति को योगी प्राप्त करता है।

तथा पंचमाध्याय में (श्लो० ५) जिस स्थान को सांख्यवित् 'विवेक' के द्वारा प्राप्त करता है, उसी स्थान को कर्मयोगी भी प्राप्त करता है। अतएव सांख्य और योग को जो एकरूप देखता है, वही सम्यग्दर्शी है। इन बचनों को देखने से विवेक-रूप सांख्यविचार तथा योग ये दोनों, एकही फल के साधक हैं, यह प्रतीत होता है।

शंका—योगाभ्यास से होनेवाले 'मनोनाश' को यदि 'ब्रह्मसाक्षात्कार' का साधन स्वीकार किया जाय तो 'मनोनाश' से ब्रह्मसाक्षात्कार की प्राप्ति होने पर सम्पूर्ण बन्ध की निवृत्ति का होना अनिवार्य ही है, तब योगी पूर्णतया कृतकृत्य हो जाता है। तब उस ज्ञानी योगी को पुनः 'वासनाक्षय' आदि का अभ्यास करने की कोई आवश्यकता नहीं होनी चाहिये।

समा०—जिस अधिकारी योगी को योगाभ्यासपूर्वक महावाक्य से ब्रह्मसाक्षात्कार प्राप्त हुआ हो, उसे तो ब्रह्मसाक्षा-त्कारप्राप्ति के पश्चात् पुनः तत्त्वज्ञान, वासनाक्षय, मनोनाश के अभ्यास की आवश्यकता नहीं रहती।

किन्तु जिसको विवेकपूर्वक महावाक्य से ब्रह्मसाक्षात्कार की प्राप्ति हुई है, उस पुरुष को ब्रह्मसाक्षात्कार की प्राप्ति होने के पश्चात् प्रारब्धभोग से प्राप्तकर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि बन्ध की प्रतीति होती रहती है, उसकी निवृत्ति के लिए उसे तत्त्वज्ञान, वासनाक्षय, मनोनाश का अभ्यास अवश्य अपेक्षित होता है। इन तीनों के अभ्यास से ही उसे जीवन्मुक्ति का लाभ होता है।

अतः (१) तत्त्वज्ञान, (२) वासनाक्षय, (३) मनोनाश—ये तीनों 'जीवन्मुक्ति' के उपाय (साधन) हैं। इस विवेचन से यह स्पष्ट हो गया है कि पूर्वपक्ष करने वाले वादी ने जो कहा था कि 'साधनों के अभाव में जीवन्मुक्ति का अभाव है'—उसका पूर्णतया खण्डन कर दिया गया है ॥ १८ ॥

पूर्वपक्षी ने जो यह कहा था कि 'जीवन्मुक्ति' को बताना 'मिथ्या' है, क्योंकि जीवन्मुक्ति का कोई फल (प्रयोजन) नहीं है, इसलिए उसकी प्राप्ति के लिए 'प्रयत्न' करना व्यर्थ है।

पूर्वपक्षी के उक्त कथन पर ग्रन्थकार कह रहे हैं—

निर्दिष्ट जीवन्मुक्ति के पाँच प्रयोजन हैं—(१) ज्ञानरक्षा, (२) तप, (३) विसंवादाभाव, (४) दुःखनिवृत्ति, (५) सुखाविर्भाव।

(१) ज्ञानरक्षा—ब्रह्मसाक्षात्कार प्राप्त किये हुए तत्त्वज्ञानी को पुनः 'संशय', 'विपर्यय' का न होना ही 'ज्ञानरक्षा' कहलाती है। वह 'ज्ञानरक्षा' जीवन्मुक्ति के अभ्यास से ही होती है। उस कारण 'ज्ञानरक्षा' को 'जीवन्मुक्ति' का प्रयोजन कहा गया है।

तत्रोत्पन्नब्रह्मसाक्षात्कारस्य पुनः पुनः संशयविपर्ययाऽनुत्पादो ज्ञानरक्षा ॥

●

अन्येत्वामरणं ब्रह्मसाक्षात्कार एव न सम्भवति, वाक्यात्परोक्षमेव ज्ञानं जायते; तल्लिङ्गदर्शनात् । किञ्च यदीदानीं ब्रह्मसाक्षात्कारः स्यात्, तर्हि तेन सावरणज्ञाननिवृत्त्या ईश्वरस्येव ज्ञानिनः सर्वज्ञत्वादिप्रसङ्गः; सनकादीनां शुकादीनां च तथा दर्शनात् । न च—सर्वज्ञत्वादेस्तयोर्योगफलत्वात् ज्ञानफलत्वाभावान्नोक्तदोष इति—वाच्यम्; तर्हि योगादिहीनस्य ज्ञानं वा कथं स्यात् ? प्रमाणबलात्स्यादिति चेत् ? योगमन्तरेण प्रमाणस्यापि साक्षात्कारजनकत्वायोगात् । तस्मादुत्पन्नज्ञानमापातरूपमेवेति केनचित् मूर्खेण यदापादितं प्रारब्धभोगवशेन विक्षिप्तचित्तस्य ज्ञानिनः संशयादि स्यादेवेति, तदभ्यासाभावे । एवमन्यानि संशयनिमित्तान्यूहेन द्रष्टव्यानि ।

तस्माज्जीवनमुक्त्यभ्यासेन परोक्षज्ञानिनोऽपि सम्भावितसंशयविपर्यासानुत्पादो ज्ञानरक्षेत्युच्यते । इममेवार्थं सदृष्टान्तमुपपादयति—तथाहीति । ज्ञानिनामपरोक्षज्ञानिनाम् । शुकस्य प्रथमं स्वत एव विवेकेन ब्रह्मसाक्षात्कारो जातः, पश्चात्संदिहानेन पृष्टः पिता । व्यासः पुत्राय तदुपदिदेश पुनश्च संदिहानं मत्वा जनकसमीपं गच्छेत्युवाच स तं गतः तेनानुशिष्टः निर्विकल्पकं समाधिं प्राप्य मुक्तिं गत इति वासिष्ठरामायणे तथा श्रूयते । निदाघोपाख्यानं दर्शितम् । आदिशब्देन भगीरथादयो गृह्यन्ते ।

●

शंका०—जिस पुरुष को 'वेदान्तशास्त्र' रूप प्रमाण से 'ब्रह्मसाक्षात्कार' हुआ है, उस पुरुष को 'ब्रह्मसात्कार' के पश्चात् 'संशय', 'विपर्यय' तो हो ही नहीं सकता । जब संशय, विपर्यय की प्राप्ति ही नहीं है, तब उसका निषेध कैसा ? क्योंकि प्राप्त वस्तु का ही निषेध हुआ करता है, 'अप्राप्तवस्तु' का निषेध नहीं किया जाता । अतः 'ज्ञानरक्षा' को जीवन्मुक्ति का प्रयोजन कहना असंगत है ।

समा०—वेदान्तशास्त्र जैसे प्रमाण में निष्णात जो मुख्य अधिकारी हैं, उनको 'ब्रह्मसाक्षात्कार' होने के बाद 'संशय', 'विपर्यय' का होना यद्यपि सम्भव नहीं है, तथापि उनके अतिरिक्त जो अन्य अमुख्य अधिकारी हैं, उन्हें किसी निमित्तवश, वे संशय, विपर्यय, हो सकते हैं, उनका होना असम्भव नहीं है । भ्रान्त अज्ञानी लोगों के कथन को बार-बार सुनकर 'संशय, विपर्यय' हो सकते हैं । अर्थात् मूर्ख लोगों के कथन ही संशय, विपर्यय की उत्पत्ति में निमित्त बन जाते हैं ।

कभी कोई मूर्ख, अथवा धूर्त मनुष्य यह कहने लगता है कि जो पुरुष अपने को 'ब्रह्मज्ञानी' मानते हैं वे पुरुष भी अज्ञानी पुरुषों की तरह 'मनुष्योऽहम्', 'ब्राह्मणोऽहम्'—इस प्रकार का व्यवहार करते दिखाई देते हैं । तथा उनमें 'राग-द्वेषादि भी दृष्टिगोचर होते हैं । यदि कदाचित् इस पुरुष को वेदान्त के श्रवण से 'ब्रह्म' का अपरोक्ष साक्षात्कार हुआ होता तो इसमें राग-द्वेषादिक न दिखाई देते । अतः यह स्पष्ट है कि वेदान्त के श्रवण से इस पुरुष को आपाततः ही (कुछ थोड़ा सा ऊपरी-ऊपरी ही) ज्ञान हुआ है । इस प्रकार भ्रान्त, वाचाल लोगों की बातें सुनकर उस अव्युत्पन्न अधिकारी का मन, अपने अनुभूत ब्रह्म-साक्षात्कार के विषय में सन्दिग्ध, विपर्यस्त हो जाता है, अर्थात् अपने को हुए ब्रह्मसाक्षात्कार के विषय में उसे संशय एवं विपर्यय होने लगता है ।

उसी तरह कतिपय भ्रान्त, एवं मूर्ख लोग कहने लगते हैं कि सम्पूर्ण आयु तक वेदान्त श्रवण करके भी इसे ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान (साक्षात्कार) हो ही कैसे सकता है ? क्योंकि वेदान्त वाक्यों से तो 'परोक्ष ज्ञान' ही होता है । यही कारण है कि ब्रह्मज्ञानी पुरुषों में 'परोक्षज्ञान' के ही चिह्न दृष्टिगोचर हुआ करते हैं । अपरोक्षज्ञान का कोई भी चिह्न नहीं दिखाई देता ।

किञ्च—यदि कदाचित् इस पुरुष को अभी-अभी वर्तमान में ही ब्रह्मसाक्षात्कार हुआ है, यह माना जाय तो उस साक्षात्कार से उसके आवरणसहित अज्ञान की निवृत्ति हो जानी चाहिये । सावरण अज्ञान की निवृत्ति होने से इस ज्ञानी पुरुष को ईश्वर के समान 'सर्वज्ञ' होना चाहिये था । क्योंकि शुक-सनकादिक पूर्ववर्ती ज्ञानियों ने ईश्वर के समान ही सर्वज्ञता प्राप्त कर ली थी—यह स्मृति-पुराणादिकों से अवगत होता है ।

इस पर कदाचित् कोई यह कहे कि 'सर्वज्ञता' तो 'तप' का अथवा 'योग' का फल है । वह 'ज्ञान' का फल, नहीं है । शुक-सनकादिक जो थे, वे 'तपस्वी' थे, 'योगसाधना सम्पन्न योगिराज थे, उस कारण उन्हें सर्वज्ञता प्राप्त हुई थी । आजकल

तथाहि—ज्ञानिनां शुक-राघव-निदाघादीनामिवाऽकृतोपास्तेरज्ञानिनोऽस्मदादेश्चित्तविश्रान्त्यभावात्पुनः कदाचित्

•

ननु भवेतां संशयविपर्यासौ, तावता को दोष इत्याशङ्क्याह—अज्ञानवदिति। तत्र भगवद्वचनमुदाहरति—तदाहेति। ननु जीवन्मुक्त्यभ्यासरहितस्य दृढापरोक्षज्ञानिनो मोक्षोऽस्ति न वा? आद्ये जीवन्मुक्त्यभ्यासवैयर्थ्यम्, द्वितीये तु शास्त्रविरोधः सत्यम्; दृढज्ञानिनो मोक्षे सिद्धेऽपि दृष्टसुखार्थं जीवन्मुक्त्यभ्यासोपपत्तेः, जीवन्मुक्तानामपि भूमिकातारतम्येन दृष्टसुखतारतम्यमस्त्येव।

तथा च श्रूयते—"आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेव ब्रह्मविदां वरिष्ठः" इति॥ अस्यार्थः—आत्मनि क्रीडा रमणं अपरोक्षानुभवो यस्य स तथोक्तः अयं ब्रह्मविदित्युच्यते। आत्मनि रतिः विजातीयानुभवतिरस्कारेण साक्षात्कारो यस्य स तथोक्तः आत्मानन्दोऽपरोक्षानुभविता। अयमेव ब्रह्मविद्वर इत्युच्यते। क्रिया ब्रह्मध्यानं तदस्यास्तीति क्रियावान् ब्रह्मात्मैक्यसमाधिमानिति यावत्। अयं ब्रह्मविद्वरीयानित्युच्यते। अयं स्वतो नोत्तिष्ठति, यः स्वतः परतोऽपि नोत्तिष्ठति स ब्रह्मविदां वरिष्ठः॥ एते चत्वार एव वसिष्ठेनोक्ताः। सप्तसु योगभूमिषु चतुर्थभूमिमारभ्य प्रतिपादिताः सप्त भूमयो दर्शिताः।

•

के लोग, न ज्ञान सम्पन्न हैं और न तपस्वी ही हैं। ज्ञान और तपस्या दोनों से रहित ही आज कल के लोग हैं। उस कारण उनमें 'सर्वज्ञता' नहीं दिखाई देती।

किन्तु उपर्युक्त कथन भी उचित प्रतीत नहीं हो रहा है। क्योंकि तपस्वी और योगी पुरुषों को ही 'आत्मज्ञान' हुआ करता है। तपस्या और योग से रहित पुरुषों को 'आत्मज्ञान' ही नहीं होता। अतः यही कहना होगा कि आज कल के लोगों को वेदान्तश्रवण से होने वाला 'ज्ञान', आपाततः ही होता है। अज्ञान की निवृत्ति करने में असमर्थ रहने वाले 'ज्ञान' को आपात ज्ञान कहते हैं।

भ्रान्त, मूर्ख लोगों के इन वचनों को सुनकर अव्युत्पन्न अधिकारी को अपने अनुभूत ब्रह्मसाक्षात्कार के विषय में भी 'संशय, एवं 'विपर्यय' होने लगता है।

किन्तु जब वे अव्युत्पन्न अधिकारी पुरुष, 'ब्रह्मसाक्षात्कार' के होने पर भी पूर्वोक्त प्रकार से जीवन्मुक्ति का अभ्यास करने में तत्पर रहते हैं, तब उन अव्युत्पन्न अधिकारी पुरुषों को उन भ्रान्त-मूर्ख पुरुषों का संसर्ग नहीं हो पाता। उनके साथ-संग (सम्पर्क) न हो पाने से उस अधिकारी को अपने अनुभूत ब्रह्मसाक्षात्कार के विषय में 'संशय', 'विपर्यय' भी उत्पन्न, नहीं हो पाते। अर्थात् उनका अनुभूत ब्रह्मसाक्षात्कारात्मकज्ञान, स्थिररूप से पूर्णतया सुरक्षित रहता है—यही 'ज्ञान' की रक्षा है। अत एव 'ज्ञानरक्षा' को 'जीवन्मुक्ति' का प्रयोजन कहा गया है।

किन्तु हम जैसे अकृतोपासनावाले उपासक पुरुषों को ब्रह्मसाक्षात्कार के होने पर भी किसी न किसी निमित्त से संशयादिकों का होना कोई आश्चर्य नहीं है। पूर्वकाल में 'शुक, राघव, निदाघ, भगीरथ' आदि महान् पुरुषों को भी 'अपरोक्ष-ज्ञान' होने के पश्चात् 'संशय' आदि हुए हैं।

शुकदेव को प्रथमतः अपने आप ही (स्वयमेव) 'विवेक' जन्य ब्रह्मसाक्षात्कार हुआ था। तदनन्तर उस ब्रह्मसाक्षात्कार-विषयक ज्ञान में उन्हें संशय होने लगा, तब वे, अपने पिता भगवान् व्यास के पास गये, और उनसे पूछा। उनके पूंछनेपर भगवान् व्यास ने 'शुकदेव' को 'तत्त्वोपदेश' किया, किन्तु उस उपदेश से शुकदेव के संशय की निवृत्ति नहीं हुई। तब उनके पिता व्यासदेव ने अपने पुत्र शुक को राजा जनक के पास भेजा। वहां जानेपर राजा जनक के उपदेश से 'शुकदेव' के संशय की निवृत्ति हुई। संशयरहित होकर शुकदेव ने 'निर्विकल्पक समाधि लगाकर 'मोक्ष' प्राप्त किया। यह योगवासिष्ठ से अवगत हो रहा है।

इसी प्रकार निदाघादिकों की कथा का उल्लेख अन्यान्य पुराणों में किया गया है।

शंका—ब्रह्मसाक्षात्कार प्राप्त किये पुरुषों के 'मन' में 'संशय, विपर्यय' के होने से उनकी कौन सी हानि होती है?

समा०—जैसे 'मोक्षप्राप्ति' में 'अज्ञान' प्रतिबन्धक होता है, वैसे ही 'संशय, विपर्यय' भी मोक्षप्राप्ति में प्रतिबन्धक होते हैं। भगवान् ने 'गीता' में इसका उल्लेख किया है। श्रीमद्भगवद्गीता के चतुर्थ अध्याय में (श्लोक ४०) अज्ञानी, तथा श्रद्धा से रहित एवं संशयालु पुरुष नष्ट हो जाता है। संशयग्रस्त पुरुष को न ऐहिक सुख प्राप्त होता है, न पारलौकिक सुख प्राप्त होता है, और न विषयसुख ही मिलता है।

संशयविपर्ययौ भवेताम् अज्ञानवत् तावपि मोक्षप्रतिबन्धकौ। तदाह भगवान्—
"अज्ञश्चाऽश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यती"ति।

●

"ज्ञानभूमिः शुभेच्छा स्यात् प्रथमा समुदाहृता। विचारणा द्वितीया स्यात् तृतीया तनुमानसी॥
सत्त्वापत्तिः चतुर्थी स्यात्ततोऽसंसक्तिनामिका। पदार्थभाविनी षष्ठी सप्तमी तुर्यगा स्मृते'ति॥"

भूमिकास्तिस्रः श्रवणमनननिदिध्यासनात्मिकाः। चतुर्थ्यां भूमौ साक्षात्कारोदयः। अत एव चतुर्थभूमिनिष्ठो ब्रह्मविदित्युच्यते। पञ्चम्यादिभूमिनिष्ठानां विश्रान्तितारतम्येन दृष्टसुखतारतम्याद्वरवरीयोवरिष्ठा इत्युच्यन्ते॥ एते त्रयोऽपि जीवन्मुक्ता एव।
"ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः। तेषामादित्यवत् ज्ञान प्रकाशयति तत्परम्॥"

●

एवं च 'संशय', 'विपर्यय' में 'मोक्षप्रतिबन्धकता' सिद्ध होती है। अतः मुमुक्षुपुरुष को जीवन्मुक्ति का अभ्यास करते रहना चाहिये, जिससे 'संशय, विपर्यय' के उत्पन्न होने की संभावना नहीं रहती।

शंका—जिस अधिकारी मुमुक्षु पुरुष को संशय-विपरीत भावना से रहित दृढ, अपरोक्षरूप से आत्मसाक्षात्कार हुआ है, किन्तु व्यवहारबहुलता के कारण पूर्वोक्त जीवन्मुक्ति का अभ्यास नहीं कर पा रहा है, उसे 'मोक्ष' की प्राप्ति होती है अथवा नहीं?

यदि प्रथम पक्ष (मोक्ष प्राप्ति होती है) का स्वीकार करते हैं तो जीवन्मुक्ति का अभ्यास करते रहना, व्यर्थ ही है। क्योंकि 'मोक्ष' से श्रेष्ठ (बढ़कर) कोई वस्तु नहीं है। 'मोक्षप्राप्ति' तो 'आत्मज्ञान' से हो ही गई है। उस कारण जीवन्मुक्ति का अभ्यास करने के लिए कहना व्यर्थ होगा।

यदि द्वितीय पक्ष (मोक्ष प्राप्ति नहीं होती) का स्वीकार करते हैं तो 'आत्मज्ञान' से 'मोक्ष' की प्राप्ति बतानेवाले 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्'—इत्यादि श्रुति-स्मृति के साथ विरोध होगा।

समा०—दृढ अपरोक्षज्ञान जिसको हुआ है उस ज्ञानी पुरुष को मोक्ष की प्राप्ति तो निश्चित होती है, किन्तु जीवन्मुक्ति के अभ्यास के विना 'दृष्ट सुख' की प्राप्ति नहीं हो पाती। उस कारण अर्थात् दृष्टसुख की प्राप्ति के लिये ज्ञानी पुरुष को भी जीवन्मुक्ति का अभ्यास करना आवश्यक है। वह 'दृष्ट सुख' ही जीवन्मुक्ति के अभ्यास का प्रयोजन है। जीवन्मुक्त पुरुषों के दृष्ट सुख में भी उनकी भूमिका में तारतम्य (न्यूनाधिक्य) रहता है।

इसी तथ्य को श्रुति ने भी कहा है—

आत्मक्रीडः—आत्मा में ही अपरोक्षानुभवरूप क्रीडा जिसकी होती रहती है, उसे श्रुति ने 'आत्मक्रीड' शब्द से कहा है। निष्कर्ष यह है कि 'अहं ब्रह्मास्मि'—इत्याकारक अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त करने वाले ज्ञानी पुरुष का नाम 'आत्मक्रीड' है। इसी 'आत्मक्रीड' नामक ज्ञानी पुरुष को ही शास्त्रकारों ने 'ब्रह्मवित्' शब्द से कहा है।

आत्मरतिः—'आत्मा में ही विजातीय वृत्तियों का तिरस्कार करते हुए 'साक्षात्कार' रूप 'रति' जिसकी रहती है, उसे 'आत्मरति' के नाम से कहा गया है। अर्थात् आत्माऽऽनन्द का अहर्निश अपरोक्ष अनुभव करनेवाले पुरुष का नाम 'आत्मरति' है। इसी आत्मरति नामक ज्ञानी पुरुष को शास्त्रकारों ने 'ब्रह्मविद्वर' के नाम से कहा है।

क्रियावान्—'ब्रह्म' के ध्यान को 'क्रिया' कहते हैं। उस ब्रह्मध्यानरूप क्रिया के अनुष्ठाता पुरुष को 'क्रियावान्' शब्द से कहा गया है। अर्थात् 'ब्रह्मात्मैक्य' में समाधि लगानेवाले योगी का नाम 'क्रियावान्' है। इसी क्रियावान् विद्वान् को शास्त्रकारों ने 'ब्रह्मविद्वरीयान्' शब्द से कहा है। यह ब्रह्मविद्वरीयान् स्वतः होकर (अपने आप) उत्थान को प्राप्त नहीं होता, किन्तु दूसरे के द्वारा उत्थान को प्राप्त होता है। और जो ज्ञानी पुरुष, स्वयं होकर अथवा दूसरे के द्वारा भी उत्थान को प्राप्त नहीं होता, उस 'ज्ञानी पुरुष' को 'ब्रह्मविद्वरिष्ठ' कहा जाता है।

भगवान् वसिष्ठ ने ज्ञान की सप्त (सात) योग भूमिकाओं में से चतुर्थ-पंचम-षष्ठ-सप्तम भूमिका के श्रुत्युक्त चार ज्ञानियों को ही यथाक्रम बयाया है।

ज्ञान की सप्त योगभूमिकाएँ—(१) शुभेच्छा, (२) विचारणा, (३) तनुमानसी, (४) सत्त्वापत्ति, (५) असंसक्ति, (६) पदार्थभाविनी, (७) तुरीया—ये 'ज्ञान' की सात (सप्त) योगभूमियाँ हैं।

ततश्च जीवन्मुक्त्यभ्यासेन सम्भवति संशयविपर्ययनिवृत्तिर्ज्ञानरक्षा नाम प्रथमं प्रयोजनम् ॥ १९ ॥

चित्तैकाग्र्यं तपः।

"मनसश्चेन्द्रियाणां च ह्यैकाग्र्यं परमं तपः। स ज्यायान् सर्वधर्मेभ्यः स धर्मः पर उच्यते ॥" इति स्मरणात्।

•

इत्यादि स्मृत्या ज्ञानेनाज्ञाननिवृत्तेः प्रतिपादनात्; "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" "ब्रह्मविदाप्नोति परमि"त्यादिश्रुत्या ब्रह्मज्ञानाद्ब्रह्मभावापत्तेः प्रतिपादनात्; ब्रह्मविद्वरादीनां चतुर्णां मोक्षः समान एव। दृष्टसुखं तारतम्येन भवति। तदुक्तम्—

"तारतम्येन सर्वेषां चतुर्णां सुखमुत्तमम्। तुल्या चतुर्णां मुक्तिः स्यात् दृष्टसौख्यं विशिष्यते ॥" इति।

ज्ञानरक्षानिरूपणमुपसंहरति—ततश्चेति। यतो जीवन्मुक्त्यभ्यासरहितस्य संशयादिप्रसक्त्या मोक्षप्रतिबन्धः स्यात्तस्मादित्यर्थः ॥ जीवन्मुक्तीति। तत्त्वज्ञानाद्यभ्यासेनेत्यर्थः ॥ १९ ॥

द्वितीयं प्रयोजनं तपो निरूपयति—चित्तेति। तत्र स्मृतिप्रमाणमाह—मनसश्चेति। अग्निहोत्रादिसर्वधर्मेभ्यः स चित्तैकाग्र्यलक्षणो धर्मो ज्यायान् श्रेष्ठः परम उत्कृष्ट उच्यते। योगविद्भिरित्यर्थः तदाह—

•

इन सप्त भूमिकाओं में से प्रथम भूमिका 'शुभेच्छा' तो वेदान्तश्रवणरूप है। द्वितीय 'विचारणा' नाम की भूमिका 'मननरूप' है तृतीय 'तनुमानसी' नामक भूमिका 'निदिध्यासनरूप' है। 'श्रवण, मनन, निदिध्यासन' का स्वरूप, द्वितीय परिच्छेद में बता चुके हैं। ये 'तीनों' भूमिकाएँ'—साधनरूप हैं। तदनन्तर चतुर्थ 'सत्त्वापत्ति' नामकी भूमिका में योगी को 'ब्रह्मसाक्षात्कार' होता है। यही कारण है कि चतुर्थ भूमिका में स्थित 'ज्ञानी पुरुष' को 'ब्रह्मवित्' कहा गया है।

पञ्चमादिक भूमिकाओं में स्थित ज्ञानी पुरुषों के चित्त की विश्रान्ति में तारतम्य होने से उनके दृष्ट सुख में भी तारतम्य रहता है। उस कारण पञ्चम भूमिका में स्थित ज्ञानी को 'ब्रह्मविद्वर' कहा गया है। और षष्ठभूमिका में स्थित ज्ञानी को 'ब्रह्मविद्वरीयान्' कहा गया है। और सप्तम भूमिका पर स्थित हुए ज्ञानी को 'ब्रह्मविद्वरिष्ठ' कहा जाता है। ये-(१) ब्रह्मविद्वर, (२) ब्रह्मविद्वरीयान्, (३) ब्रह्मविद्वरिष्ठ—तीनों 'जीवन्मुक्त' ही कहलाते हैं। श्रुतियों ने तथा स्मृतियों ने भी 'ब्रह्मज्ञान' से 'ब्रह्मभाव' की प्राप्ति का उल्लेख किया है।

जैसे उदित हुआ सूर्य, तम को दूरकर, पदार्थों को प्रकाशित करता है, वैसे ही जिनका आत्मविषयक ज्ञान से बुद्धिनिष्ठ अज्ञान नष्ट हो गया है, उनका वह ज्ञान, 'परमात्मवस्तु' को प्रकाशित करता है।

तथा 'अहं ब्रह्मास्मि'—इत्याकारक ब्रह्मज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति बताई गई है। और श्रुति-स्मृति के वचनों के द्वारा 'ब्रह्मज्ञान' से 'ब्रह्मभाव' की प्राप्ति बताई गई है। अज्ञाननिवृत्ति पूर्वक ब्रह्मभाव की प्राप्ति को ही 'मोक्ष' कहते हैं। इस 'मोक्ष' को प्राप्ति (१) ब्रह्मवित्, (२) ब्रह्मविद्वर, (३) ब्रह्मविद्वरीयान्, (४) ब्रह्मविद्वरिष्ठ—इन चारों को समानरूप से प्राप्त होती है। इन चारों के 'मोक्ष' में किञ्चिन्मात्र भी विलक्षणता (भिन्नता) नहीं है। किन्तु इन चारों के 'दृष्टसुख' की प्राप्ति में 'तारतम्य' (न्यूनताधिकता) अवश्य है।

अन्यत्र कहा भी है ब्रह्मविदादि चारों की सुखप्राप्ति में तारतम्य तो अवश्य रहता है। किन्तु 'मुक्तिलाभ' चारों को समानरूप से प्राप्त होता है। उनकी मुक्तिप्राप्ति में किञ्चिन्मात्र भी तारतम्य नहीं है। केवल दृष्टसुख की प्राप्ति में ही तारतम्य (न्यूनाधिकता) रहता है। यह बताकर अब ज्ञानरक्षा के निरूपण का उपसंहार कर रहे हैं—उस कारण अर्थात् जीवन्मुक्ति के अभ्यास से रहित योगी के मन में संशयादि की प्रसक्ति होने के कारण मोक्ष प्राप्ति में प्रतिबन्ध (रुकावट) होने की सम्भावना रहने के कारण उसे जीवन्मुक्ति का (तत्त्वज्ञान का) अभ्यास करते रहना ही चाहिये। उस अभ्यास से ही संशय, विपर्यय की निवृत्ति हो पाती है। इस प्रकार 'ज्ञानरक्षा' नाम का प्रथम प्रयोजन बताया गया है ॥ १९ ॥

अब जीवन्मुक्ति के 'तप' नामक द्वितीय प्रयोजन को बता रहे हैं।

तपः—'चित्त' की एकाग्रता को 'तप' कहते हैं। इस 'तप' के स्वरूप को स्मृति ने बताया है, 'मन' की तथा 'चक्षुरादि इन्द्रियों' की जो एकाग्रता है, उसी को 'परम तप' कहा गया है। अग्निहोत्रादि समस्त धर्मों से 'चित्तैकाग्रता' रूप जो धर्म है, वह श्रेष्ठ (ज्यायान्), अर्थात् परमोत्कृष्ट धर्म है। इस 'एकाग्रतारूप तप' को करने के लिये भगवान् ने गीता में (६।४६) कहा है—हे अर्जुन! चान्द्रायणादि तप के अनुष्ठान; करने वालों से, वेदान्तादि शास्त्रों का ज्ञान रखने वालों से, तथा अग्नि-

ज्ञानिनो जीवन्मुक्तस्याखिलवृत्तीनामनुदयान्निरङ्कुशं चित्तैकाग्र्यं सम्पद्यते, तदेव तपः। तच्च लोकसंग्रहाय भवति। तदुक्तं "लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन् कर्तुमर्हसी"ति।

संग्राह्यो लोकस्त्रिविधः। शिष्यो, भक्तस्तटस्थश्चेति। तत्र सन्मार्गवर्त्ती शिष्यो गुरूपदिष्टमार्गेण श्रवणादिना ब्रह्मसाक्षात्कुर्वन्मुच्यते; "आचार्यवान् पुरुषो वेद" "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये" इति श्रुतेः।

●

"तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽप्यधिको मतः। कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥" इति।

भवत्येवं चित्तैकाग्र्यं तपः, प्रारब्धभोगेन विक्षिप्तचित्तस्य तु ज्ञानेन तत्कथं स्यादित्याशङ्क्याह—ज्ञानिन इति। ज्ञानिनोऽपि यद्यपि प्रपञ्चमिथ्यात्वनिश्चयेन चिदात्मनः सत्यत्वावधारणात् चित्तैकाग्र्यमस्त्येव तथापि प्रारब्धभोगकाले आपाततो नामरूपादिप्रतिभाससम्भवेन न निरङ्कुशचित्तैकाग्र्यं तस्य जीवन्मुक्तस्य तु योगाभ्यासेन मनसो नष्टत्वेन निखिलवृत्तीनामनुदयान्निरङ्कुशं चित्तैकाग्र्यं भवति। तदेव तप इत्यर्थः।

●

होत्रादि कर्मों का अनुष्ठान करने वाले कर्मठों से भी 'योगी' अत्यन्त श्रेष्ठ है। अतः तुम 'योगी' बनो यह कहकर भगवान् ने 'एकाग्रतारूप तप' को सबसे श्रेष्ठ बताया है।

शंका—प्रारब्धकर्म के भोग से विक्षिप्त चित्तवाला ज्ञानीपुरुष, चित्तैकाग्रतारूप तप को कैसे कर पायगा?

समा०—चतुर्थ भूमिका पर स्थित ज्ञानी पुरुष ने यद्यपि 'प्रपञ्च' के मिथ्यात्व का निश्चय कर लिया है, तथा चेतन आत्मतत्त्व के 'सत्यत्व' का भी निश्चय कर लिया है, जिससे उसके चित्त की एकाग्रता का होना सम्भव है, तथापि प्रारब्धकर्म के भोगकाल में बाधितानुवृत्ति' का सम्भव रहने से 'नाम-रूपात्मक प्रपञ्च' की प्रतीति उसे होती है। उस कारण उस ज्ञानी को 'निरङ्कुश चित्त की एकाग्रता' नहीं हो पाती है। किन्तु जीवन्मुक्त ज्ञानी पुरुष का 'मन' तो योगाभ्यास चलते रहने के कारण नष्ट हो चुका है। यही कारण है कि जीवन्मुक्त योगी की समस्त चित्तवृत्तियों का निरोध रहने के कारण, किसी भी वृत्ति का उदय ही नहीं हो पाता। अतः निरंकुश चित्त की एकाग्रता का होना जीवन्मुक्त पुरुष के लिये तो सम्भव है। एवं च निरङ्कुश चित्त की 'एकाग्रता' नाम का 'तप' ही उस जीवन्मुक्ति का द्वितीय प्रयोजन है।

शंका—जीवन्मुक्त पुरुषों के 'तप' का उपयोग कहाँ होता है?

समा०—जीवन्मुक्त पुरुषों का तप, 'लोकसंग्रह' के लिये होता है। स्वयं सदाचार में प्रवृत्त होकर, अन्य लोगों को भी 'सदाचार' में प्रवृत्त करते रहना ही 'लोकसंग्रह' कहलाता है। ज्ञानी, विद्वान् पुरुष, 'तप' आदि सदाचार का अनुष्ठान, लोकसंग्रह के लिये ही किया करते हैं।

गीता में भगवान्, इसी तथ्य को बता रहे हैं जनक, अजातशत्रु आदि लोग, कर्मानुष्ठान करके ही 'ज्ञाननिष्ठा' को प्राप्त हुए थे। अतः उनके 'आचार' को देखकर, तुम्हें कर्म करना चाहिये, तथा लोकसंग्रहरूप प्रयोजन के लिये भी अर्थात् लोग उन्मार्गगामी न हों एतदर्थ, तुम्हें 'कर्म' अवश्य करते रहना चाहिये।

संग्रह करने योग्य लोग, तीन प्रकार के हुआ करते हैं—(१) शिष्य, (२) भक्त, (३) तटस्थ—ये लोकसंग्रह के पात्र हैं। गुरु तथा शास्त्रप्रतिपादित सन्मार्ग पर चलनेवाले को 'शिष्य' कहते हैं। वही शिष्य, 'ब्रह्मनिष्ठ गुरु के द्वारा उपदिष्टमार्ग से तथा वेदान्तशास्त्र का श्रवण-मननादि करता हुआ 'प्रत्यगभिन्न ब्रह्म' का साक्षात्कार प्राप्त कर सकता है, और 'मुक्ति' को भी पा सकता है।

श्रुति कहती है—ब्रह्मनिष्ठ आचार्य के शरण में जाकर ही 'शिष्य' को ब्रह्मसाक्षात्कार होता है। उस ज्ञानी पुरुष को तब तक ही विदेहमुक्ति की प्राप्ति में विलम्ब है, जबतक उसने प्रारब्धकर्म को भोग नहीं लिया है। भोग के द्वारा प्रारब्ध कर्म का क्षय होते ही वह ज्ञानी पुरुष, 'विदेहमुक्ति' को प्राप्त कर लेता है।

उस जीवन्मुक्त ज्ञानी पुरुष का जो भक्त होगा वह भी उस ज्ञानी जीवन्मुक्त पुरुष का पूजन-अर्चन, प्रशंसा-स्तुति करने से तथा अन्न-पान, वस्त्र आदि के देने से मनोवाञ्छित फल को प्राप्त करता है, अर्थात् उसकी समस्त मनःकामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं। इसी तथ्य को श्रुति ने भी बताया है—श्रद्धा-भक्तिपूर्वक शुद्ध अन्तःकरण से आत्मज्ञानी पुरुष की पूजा-अर्चा करनेवाला भक्त, जिस-जिस तपोलोक, सत्यलोक आदि में जाने की इच्छा करता है, तथा जिन-जिन पदार्थों के पाने की कामना-

भक्तोऽपि ज्ञानिनः पूजाऽन्नपानादिनाऽभीष्टं प्राप्नोति। तथा च श्रुतिः—

"यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान्।
तं तं लोकं जयति तांश्च कामान् तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद्[1] भूतिकामः॥" इति।

स्मृतिरपि—

"यद्येको ब्रह्मविद् भुङ्क्ते जगत्तत्पर्यतेऽखिलम्। तस्माद् ब्रह्मविदे देयं यद्यस्ति वस्तु किंचन॥" इत्यादि।

तटस्थो द्विविधः। सन्मार्गवर्त्यसन्मार्गवर्ती चेति। तत्र सन्मार्गवर्ती मुक्तस्य सदाचारे प्रवृत्तिं दृष्ट्वा स्वयमपि तत्र प्रवर्तते। तदाह भगवान्—

•

ननु जीवन्मुक्तानां तपः क्वोपयुज्यत इत्याशङ्क्याह—तच्चेति। तत्र भगवद्गीतासम्मतिमाह—तदुक्तमिति। ब्रह्मवित्पूजादिनाऽभीष्टप्राप्तौ प्रमाणमाह—तथाचेति। आदिशब्देन—

"यत्फलं लभते मर्त्यः कोटिब्राह्मणभोजनैः"।

•

करता है, उन सबको प्राप्त कर लेता है। अतः सम्पत्ति-समृद्धि चाहने वाला पुरुष, श्रद्धा-भक्ति पूर्वक ब्रह्मज्ञानी जीवन्मुक्त पुरुष की पूजा-अर्चा, स्तुति-प्रशंसा अवश्य करे। जीवन्मुक्त पुरुष की निन्दा कभी भी न करे, उसके लिये अपशब्दों का प्रयोग कभी न करे। उस ब्रह्मज्ञानी जीवन्मुक्त पुरुष के महत्त्व की स्मृति ने बताया है जिसके घर में एक भी ब्रह्मज्ञानी पुरुष, भोजन पा लेता है, तो समझना चाहिए कि उसने एक को भोजन खिलाकर सम्पूर्ण जगत् को तृप्त कर दिया है। अर्थात् सम्पूर्ण जगत् की तृप्ति करने से जो पुण्य (अदृष्ट) होता हैं, वह 'पुण्य', एक ब्रह्मवेत्ता पुरुष के भोजन कराने मात्र से होता है। अतः जो कुछ भी अन्नवस्त्रादि अच्छी प्रिय वस्तु अपने पास हो तो उसे बड़ी प्रसन्नता से उस ब्रह्मज्ञानी के लिये अर्पण कर देना उचित है।

इसी तथ्य को अन्य स्मृतियों में भी बताया गया है—जो मनुष्य, करोड़ ब्राह्मणों को भोजन कराकर जिस फल को पाता है, वही फल, एक ज्ञानी पुरुष के भोजन कराने मात्र से वह प्राप्त कर लेता है, उसका महत्त्व कोटिगुण अधिक मात्रा में हो जाता है। इत्यादि अनेक श्रुति-स्मृति के वचनों ने ज्ञानी पुरुष की सेवा करने से अभीष्ट फल की प्राप्ति का होना बताया है।

तटस्थ पुरुष, दो प्रकार के होते हैं। कतिपय तटस्थ पुरुष तो सन्मार्ग का अनुसरण करनेवाले होते हैं, और दूसरे कतिपय तटस्थ पुरुष असन्मार्ग का ही अनुसरण करनेवाले होते हैं। इन दोनों में से सन्मार्ग का अनुसरण करनेवाले पुरुष की सदाचरणशील प्रवृत्ति को देखकर स्वयं भी सदाचार करने में प्रवृत्त हो जाते हैं।

इस तथ्य को भगवान् ने गीता में (३।२१) बताया है वेद-शास्त्रों के पठन-पाठन में, उनके अर्थ को समझने-समझाने में, उनमें कहे गए कर्मों का अनुष्ठान करने-कराने में दक्ष, कुल और शील से सम्पन्न जो द्विजश्रेष्ठ, जिन श्रौत-स्मार्त अथवा अन्य किसी प्रकार का सत्कर्म, करता रहता है, उसी का आचरण, दूसरा साधारण सज्जन मनुष्य करता है। स्वयं उसके विपरीत आचरण नहीं करता। शास्त्र, का ज्ञान शास्त्र विहित कर्म का परिज्ञान उसे नहीं है। और शास्त्रीय आचरण करनेवाला श्रेष्ठ पुरुष, जिसे प्रमाण मानता है, अन्य लोग भी उसके द्वारा प्रमाणित किये गये शास्त्र के अनुसार ही व्यवहार करते हैं। क्योंकि साधारण लोग, श्रेष्ठ पुरुष का ही अनुसरण किया करते हैं। अतः श्रेष्ठ पुरुष, कृतार्थ रहने पर भी, लोकहितार्थ उसे 'कर्म' करना ही चाहिये।

दूसरा तटस्थ जो असन्मार्ग का अनुसरण करता है, उसपर यदि जीवन्मुक्त ज्ञानी पुरुष, अपना दृष्टिपात भी कर दे, तो उतने मात्र से ही वह असन्मार्गवर्ती तटस्थ पुरुष, सम्पूर्ण पापों से रहित हो जाता है। इसी तथ्य को स्मृति भी बता रही है—'अहं ब्रह्मास्मि'—इत्याकारक अपरोक्षानुभव तक जिसकी बुद्धि 'प्रत्यक्तत्त्व' में प्रवृत्तिशील है, उस ज्ञानी पुरुष की दृष्टि जिन लोगों पर पड़ती जाती है, वे लोग, समस्त पापों से मुक्त हो जाते हैं। और जो दुष्ट लोग, उस जीवन्मुक्त से द्वेष रखते हैं, उसकी निन्दा करते हैं, वे दुष्ट लोग, उस जीवन्मुक्त ज्ञानी पुरुष के 'पापों' को ग्रहण करते है, अर्थात् उसके पापों को भोगते हैं। इसी तथ्य को श्रुति ने बताया है—

१. ह्यर्चयेदिति श्रुतिपाठः।

"यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः । स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥" इति ।

असन्मार्गवर्ती तु जीवन्मुक्तस्य दृष्टिपातेन सर्वपापैः प्रमुच्यते । तथा च स्मृति :—

"यस्याऽनुभवपर्यन्ता बुद्धिस्तत्त्वे प्रवर्तते । तद्दृष्टिगोचराः सर्वे मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ॥" इति ।

द्वेषिणस्तु ज्ञानिनो दुष्कृतं सम्भावितं गृह्णन्ति । तथा च श्रुतिः—"तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्या"मिति । एवं जीवन्मुक्तस्य तपो लोकसंग्रहाय भवतीति तपो नाम द्वितीयं प्रयोजनम् ॥ २० ॥

जीवन्मुक्तस्य व्युत्थानदशायामसत्कृतनिन्दादिश्रवणेऽपि पाखण्डकृतनिष्ठुरादिदर्शनादावपि चित्तवृत्त्यनुदयाद्विसंवादो न भवति । यथाऽहु :—

"ज्ञात्वा वयं तत्त्वनिष्ठां ननु मोदामहे वयम् । अनुशोचाम एवाऽन्यान्न भ्रान्तैर्विवदामहे ॥" इतीति ।

विसंवादाऽभावो नाम तृतीयं प्रयोजनम् ॥ २१ ॥

दुःखनिवृत्तिर्द्विविधा—ऐहिकदुःखनिवृत्तिरामुष्मिकदुःखनिवृत्तिश्चेति । तत्र ज्ञानेन भ्रान्तनिवृत्ततया योगाऽभ्यासेनाऽखिलवृत्तिनिरोधेन चित्तस्याऽऽत्मैकाकारतया ऐहिकसमस्तदुःखनिवृत्तिः प्रारब्धभोगे सत्यपि । तथा च श्रुतिः । "आत्मानं

●

तत्फलं समवाप्नोति ज्ञानिनो यस्तु भोजयेत् ॥
ज्ञानिभ्यो दीयते यच्च तत्कोटिगुणितं भवेत् ॥" इति गृह्यते ।

तत्त्वज्ञमनोदृष्टिपातेनेतरेषां पापनिवृत्तौ प्रमाणमाह—तथाचेति ॥ २० ॥

विसंवादाभावं तृतीयं प्रयोजनं निरूपयति—जीवन्मुक्तस्येति ॥ २१ ॥

दुःखनिवृत्तिरूपं चतुर्थं प्रयोजनं विभज्य निरूपयति—दुःखेति । यद्यपि ज्ञानिनोऽपि दुःखनिवृत्तिरस्ति; तथापि तस्य

●

उस ज्ञानी पुरुष के धनादि वस्तुओं को तो उसके पुत्रादिवर्ग प्राप्त करते हैं और उसके 'पुण्यफलों' को उसकी सेवा करने वाले मित्र (सुहृद्वर्ग) लोग प्राप्त करते हैं, तथा उससे द्वेष रखने वाले, उसकी निन्दा करनेवाले लोग, उसके पापकर्मों के फलों को प्राप्त करते हैं। अतः पुण्य-पापरहित एवं लौकिक धनादि सम्पत्ति से रहित हुए जीवन्मुक्त पुरुष का 'तप' करना तो लोकसंग्रहार्थ ही होता है। इस 'तप' को जीवन्मुक्ति का द्वितीय प्रयोजन कहा गया है ॥ २० ॥

विसंवादाभावः—अब 'विसंवादाभाव' रूप तृतीय प्रयोजन को बता रहे हैं—वह जीवन्मुक्त, व्युत्थानकाल में दुष्ट लोगों के मुख से अपनी निन्दा को भी सुनता रहता है, तथा पाखण्डी, क्रूर, निष्ठुर, आदि लोगों को देखता भी है, तथापि उस जीवन्मुक्त पुरुष के मन में राग-द्वेषादि वृत्तियों का उदय कभी भी नहीं हो पाता अर्थात् उसके मन में उन लोगों के प्रति किञ्चिन्मात्र भी उसके मन में राग-द्वेष, उत्पन्न नहीं होते। उस कारण उस जीवन्मुक्त का उन निन्दकों के साथ कलहरूप विसंवाद भी नहीं होता। किन्तु जो पुरुष, उस जीवन्मुक्ति के अभ्यास से रहित है, उसका तो उन दुष्ट लोगों के साथ सर्वदा ही कलहरूप विसंवाद होता ही रहता है। अतः यह विसंवादाभाव भी जीवन्मुक्ति का तृतीय प्रयोजन है। इस तथ्य को वृद्ध आचार्यों ने भी बताया है—सर्वदा तत्त्वनिष्ठा में स्थित रहनेवाले पुरुषों को देखकर हमें आनन्द होता है, और तत्त्वनिष्ठा से रहित रहने वाले लोगों को देखकर हमें शोक होता है। अतः भ्रान्त रहने वाले लोगों के साथ हम विवाद नहीं करते। इस प्रकार यह 'विसंवादाभाव' उस जीवन्मुक्ति का तृतीय प्रयोजन है ॥ २१ ॥

दुःखनिवृत्तिः—अब 'दुःखनिवृत्तिरूप' चतुर्थ प्रयोजन को बताते हैं—यह 'दुःखनिवृत्ति'—दो प्रकार की होती है—(१) ऐहिक दुःखनिवृत्ति, और (२) पारलौकिक दुःखनिवृति।

यद्यपि ज्ञानी पुरुष की भी आत्मज्ञान से दुःखनिवृत्ति होती है, तथापि उसे प्रारब्ध भोग के समय बाधितानुवृत्ति के होने से 'मैं दुःखी हूँ'; अथवा 'मैं सुखी हूँ'—यह अनुभव होता है। अतः ज्ञानी पुरुष की 'दुःखनिवृत्ति' सुरक्षित' नहीं है, किन्तु जीवन्मुक्त पुरुष की 'दुःखनिवृत्ति', योगाभ्यास के कारण समस्त (अखिल) वृत्तियों का निरोध हो जाने के कारण सुरक्षित रहती है। अर्थात् जीवन्मुक्त पुरुष का 'चित्त' केवल 'आत्माकार' ही रहता है, अन्याकार नहीं होता। उस कारण 'प्रारब्ध-भोग' के होते रहने पर भी उस 'जीवन्मुक्तपुरुष' को 'दुःख' की प्रतीति नहीं हो पाती अर्थात् उसके समस्त दुःखों की निवृत्ति हो जाती है। यही उसकी 'ऐहिक दुःखनिवृत्ति' है। इसी 'ऐहिक दुःखनिवृत्ति' को श्रुति ने भी बताया है—

चेद्विजानीया"दित्यदिना ऐहिकदुःखनिवृत्तिं मुक्तस्य दर्शयति । ज्ञानेनाऽज्ञाननिवृत्त्या संचिताऽऽगामिकर्मणामश्लेषविनाशाभ्यामामुष्मिकदुःखानामपि निवृत्तिः । तथा च श्रुतिः—"एतं ह वाव न तपति किमहं साधु नाऽकरवं किमहं पापमकरवम्" इत्यादि, इति दुःखनिवृत्तिर्नाम चतुर्थं प्रयोजनम् ॥२२॥

मुक्तस्य ज्ञानयोगाभ्यासेऽज्ञानतत्कृताऽऽवरणविक्षेपनिवृत्त्या बाधकाऽभावात्परिपूर्णब्रह्मानन्दाऽनुभवसुखाऽऽविर्भावः । इममेवार्थं श्रुतिर्दर्शयति—

"समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत् ।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते ॥" इति ।

इति सुखाविर्भावो नाम पंचमं प्रयोजनम् ॥ २३ ॥

●

प्रारब्धभोगकाले बाधितानुवृत्त्या दुःख्यहं सुख्यहमित्याद्यनुभवसम्भवात् ज्ञानिनो दुःखनिवृत्तिः सुरक्षिता न भवति, जीवन्मुक्तस्य तु योगाभ्यासेनाखिलवृत्तीनां निरोधात्मा सुरक्षिता भवतीति दुःखनिवृत्तिः प्रयोजनं जीवन्मुक्तेर्भवत्येव एतेन ॥ २२ ॥

सुखाविर्भावं पञ्चमं प्रयोजनं निरूपयति—मुक्तस्येति । जीवन्मुक्तस्येत्यर्थः । ज्ञानं ब्रह्मसाक्षात्कारः योगो निर्विकल्पसमाधिपर्यन्तो ध्यानयोगः । नायमर्थोऽस्मदुत्प्रेक्षामात्रसिद्धः, किन्तु श्रुतिसिद्ध इत्याह—इममिति ॥ २३ ॥

●

यदि मनुष्य ने 'आत्मतत्त्व' को जान लिया है अर्थात् आत्मसाक्षत्कार प्राप्त कर लिया है, तो उसे अब किस फल को प्राप्त करना शेष (बाकी) रह गया है ? जिसके लिए उसके शरीर को पीडा (दुःख) होगी ? इस प्रकार उसके ऐहिक दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है यह श्रुति ने बताया है। उसी प्रकार उसके पारलौकिक दुःख की भी आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है। क्योंकि 'आत्मज्ञान' के होने से उस ज्ञानी जीवन्मुक्त पुरुष को 'आगामी कर्मों' का स्पर्श ही नहीं हो पाता, और पारलौकिक दुःख के हेतुभूत जो 'अज्ञानसहित सञ्चित कर्म' हैं, उसका नाश, 'आत्मज्ञान' से पूर्णतया हो जाता है। क्योंकि भगवान् स्वयं कहते हैं—'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन'। यह 'आत्मज्ञानरूपी अग्नि, समस्त सञ्चित कर्मों को भस्मसात् कर देता है। इस रीति से जीवन्मुक्त पुरुष के सम्पूर्ण पारलौकिक दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है। श्रुति कह रही है—अर्थात् मैंने पुण्यकर्मों को क्यों नहीं किया, तथा मैंने पाप कर्मों को क्यों किया ? इस प्रकार की चिन्तारूपी अग्नि, अज्ञानी पुरुष को सर्वदा सन्तप्त करती रहती है, किन्तु 'जीवन्मुक्त पुरुष' का उस प्रकार की चिन्तारूप अग्नि, सन्तप्त नहीं किया करती। सबका निष्कर्ष यही है कि ज्ञानी पुरुष को भी दुःखनिवृत्ति हुआ करती है, तथापि उसे प्रारब्धभोग के समय 'बाधितानुवृत्ति' के कारण 'अहं सुखी, अहं दुःखी'-इत्यादि अनुभव होते रहते हैं, उस कारण उसकी 'दुःखनिवृत्ति' सुरक्षित (स्थिर) नहीं है।

किन्तु जीवन्मुक्त पुरुष की समस्त वृत्तियों का निरोध, योगाभ्यास के द्वारा हुआ रहने से उसकी 'दुःखनिवृत्ति' सुरक्षित (सुस्थिर) रहती है। अर्थात् जीवन्मुक्त को किसी भी समय (किसी भी काल में) 'दुःख' की प्रतीति नहीं हुआ करती। अतः इस प्रकार की आत्यन्तिक 'दुःखनिवृत्ति' भी जीवन्मुक्ति का चतुर्थ फल (प्रयोजन) है॥ २२ ॥

सुखाविर्भाव—अब जीवन्मुक्ति के 'सुखाविर्भाव' रूप पंचम प्रयोजन को बताते हैं—जीवन्मुक्त पुरुष को जो 'ब्रह्मसाक्षात्कार' हुआ है, उससे, तथा उसने जो 'योगाभ्यास' (योगसाधना) किया है, उससे उस जीवन्मुक्त पुरुष का, 'अज्ञान' और 'अज्ञानकृत आवरण', तथा 'व्यवहाररूप विक्षेप' निवृत्त हो जाता है। क्योंकि 'ब्रह्मानन्द' के अनुभव में बाधक (प्रतिबंधक) 'अज्ञान, अज्ञानकृत आवरण; और लौकिक-वैदिक व्यवहार' ही तो हुआ करते हैं। इन प्रतिबन्धकों (बाधकों) की निवृत्ति हो जाने से वह जीवन्मुक्त पुरुष, निरन्तर ही 'ब्रह्मानन्द' का अनुभव करता रहता है। इस अनुभव को ही 'सुखाविर्भाव' कहते हैं। इसी तथ्य को श्रुति भी बता रही है समाधि के द्वारा राग-द्वेषादिमल जिसके नष्ट हो चुके हैं, उस कारण जिसका 'चित्त', केवल 'आत्माराम' में ही स्थिर रहता है, उस 'चित्त' को समाधि के समय जो स्वरूप सुख प्राप्त होता रहता है, उसे वाणी के द्वारा अर्थात् किसी शब्द के द्वारा बताया नहीं जा सकता। उस सुख का 'अनुभव' तो उसका अन्तःकरण ही कर पाता है। अर्थात् वह 'ब्रह्मानन्दसुख' तो अनुभवैकगम्य है। यह 'सुखाविर्भाव', उस जीवन्मुक्ति का पञ्चम प्रयोजन है॥ २३ ॥

एवं स्वरूपप्रमाणसाधनफलनिरूपणैः द्विधा मुक्तिर्निरूपिता। तस्मात् ब्रह्मवित् जीवन्मुक्तो भागेन प्रारब्धभोगेन क्षीणे वर्तमानशरीरपातेऽखण्डैकरसब्रह्मानन्दात्मनाऽवतिष्ठते। "न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति अत्रैव समवलीयन्ते" "ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति" "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति।"

●

इयता प्रबन्धेनोपपादितमर्थमुपसंहरति—एवमिति। प्रकरणप्रतिपाद्यमर्थं क्रोडीकृत्योपसंहारव्याजेन दर्शयति—तस्मादिति। ब्रह्मविदः प्रारब्धक्षये ब्रह्मानन्दात्मनाऽवस्थाने पुनरुत्थानाभावे च प्रमाणान्युपन्यस्यति—न तस्येति। तस्य ज्ञानिनः प्राणा नोत्क्रामन्ति, यथाऽज्ञानिनः स्वकर्मफलोपभोगाय वर्तमानशरीरारम्भके प्रारब्धे क्षीणे प्राणा उत्क्रामन्ति परलोकजिगीषया, तथा भोगेन प्रारब्धस्य नष्टत्वात् ज्ञानेन सञ्चितकर्मणां नष्टत्वादागामिकर्मणामश्लेषात् ज्ञानोत्पत्तित एवाज्ञानस्य नष्टत्वात् जन्मबीजाभावात् प्राणा नोत्क्रामन्तीत्यर्थः। तर्हि कुत्र तिष्ठन्तीत्याशङ्क्याह—अत्रेति। अत्र प्रत्यगात्मनि प्राणाः समवलीयन्ते लयं प्राप्नुवन्तीत्यर्थः। तथाच श्रुत्यन्तरम्—"एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमा षोडशकलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति" इति। सूत्रकारोऽप्याह—"तानि परे तथा ह्याहे ही"ति।

●

इस प्रकार जिस जीवन्मुक्ति के पाँच प्रयोजन विद्यमान हैं, उस जीवन्मुक्ति को 'प्रयोजनरहित' (फलशून्य) बताकर उसे 'मिथ्या' कहना अर्थात् 'जीवन्मुक्ति' नाम की कोई अवस्था ही नहीं है—यह कहना नितान्त अनुचित है।

एवं च 'जीवन्मुक्ति' का 'स्वरूपलक्षण', 'प्रमाण', 'साधन', 'अधिकारी और फल'—इन पाँचों का निरुपण करते हुए इस चतुर्थ परिच्छेद के द्वारा 'विदेहमुक्ति' और 'जीवन्मुक्ति' के भेद से दो प्रकार की मुक्ति को बताया गया है।

किये गये इस विवेचन से यह सिद्ध होता है कि ब्रह्मसाक्षात्कार प्राप्त किया हुआ जीवन्मुक्त पुरुष, 'भोग' के द्वारा 'प्रारब्धकर्म' का नाश होने पर उसके वर्तमान शरीर का जब नाश हो जाता है (देहपात होता है) तब वह, अखण्डैकरस ब्रह्मानन्द में स्थिर रूप से स्थित हो जाता है। उसका पुनरुत्थान नहीं होता।

उसके पुनरुत्थान के न होने में श्रुति का प्रमाण दे रहे हैं—न तस्येति। अर्थात् उस ज्ञानी जीवन्मुक्त पुरुष के 'प्राण', अर्थात् 'लिङ्ग शरीर', मृत्यु के समय उसके 'शरीर' से उत्क्रमण नहीं करता, अपितु उसकी 'प्रत्यगात्मा' में ही लीन हो जाता है। अभिप्राय यह है कि जैसे, अज्ञानी (प्राकृत-साधारण) लोगों का 'लिङ्गशरीर', इस स्थूल शरीर का नाश होने पर (देहपात होनेपर), कृत कर्मों का फलभोग प्राप्त करने के लिये 'परलोक' में गमन करता है, वैसे ज्ञानी जीवन्मुक्त पुरुष का 'लिंगशरीर' 'परलोक' में नहीं जाता। क्योंकि उस जीवन्मुक्त पुरुष का 'प्रारब्धकर्म' तो 'भोग' से नष्ट हो चुका है। तथा 'सञ्चितकर्म' का नाश, 'आत्मज्ञान' से हो गया है, और 'क्रियमाणकर्म' का तो उससे स्पर्श ही नहीं हो पाता। क्योंकि वह जीवन्मुक्त, 'त्रिगुणातीत' हो गया है। 'अज्ञान' का भी 'आत्मज्ञान' से नाश हो गया है। 'अज्ञानसञ्चितकर्म' ही 'जन्मप्राप्ति' में कारण हुआ करते हैं। कारणभूत सञ्चित कर्मों का नाश हो जाने से 'जीवन्मुक्तपुरुष' का 'लिङ्गशरीर' पुनः जन्मप्राप्त्यर्थं, उसके शरीर से उत्क्रमण नहीं करता, अपितु उसकी प्रत्यगात्मा में ही लीन हो जाता है। इसी तथ्य को एक अन्य श्रुति ने भी बताया है—(प्र० उ० ६।५)। ब्रह्मसूत्रकार भी उक्त तथ्य की पुष्टि कर रहे हैं—"तानि परे तथा ह्याह"—(ब्र० सू० ४।२।१५)। 'परब्रह्म' का साक्षात्कार करने वाले की 'प्राण' शब्द से कही गई इन्द्रियाँ और भूत, उसी परमात्मा में लीन होते हैं। क्योंकि उपर्युक्त श्रुति 'एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडशकलाः'—ने कहा है कि 'जैसे ये नदियाँ, समुद्र में प्राप्त होकर विलीन हो जाती हैं, वैसे ही समन्तात् अनवच्छिन्न 'प्रत्यग् ब्रह्म' का दर्शन करनेवाले इस जीव की स्वानुभवगम्य पुरुष में, कल्पित प्राणादि सोलह कलाएँ 'पुरुष' को प्राप्त करके उसी में विलीन हो जाती हैं।

तथा ब्रह्मसूत्रकार भी कह रहे हैं—

"सम्पद्याविर्भावः स्वेन शब्दात्"—(ब्र० सू० ४।४।१) उक्त सूत्र के अधिकरण का नाम है—'सम्पद्याविर्भावाधिकरण' है। इस अधिकरण का अभिप्राय यह है—'एष सम्प्रसाद इत्यादि श्रुति है। उसका अर्थ है उपाधि के शान्त होने पर जो ठीक तरह से प्रसन्न होता है, वह सम्प्रसाद 'जीव' है। यह जीव तीनों शरीरों के अभिमान को छोड़कर परब्रह्म को प्राप्त करके मुक्तिरूप से (ब्रह्मभाव से) रहता है। इस अवस्था में हमलोग यह नहीं कह सकते कि 'जीव' का यह स्वरूप, पूर्व से ही सिद्ध है, वह तो स्वर्ग के समान आगन्तुक है, यही कह सकते हैं। यदि उस स्वरूप को 'पूर्वसिद्ध' मान लिया जाय, तो संसार दशा में उसकी सत्ता रहने से उसमें 'फलत्व' की उपपत्ति नहीं होगी। अतः 'मुक्ति का स्वरूप भी स्वर्ग के समान नवीन है—यह पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर—

"विभेदजनके ज्ञाने नाशमात्यन्तिकं गते। आत्मनो ब्रह्मणो भेदमसन्तं कः करिष्यति॥"
"तद्भावभावमापन्नस्ततोऽसौ परमात्मना। भवत्यभेदी भेदश्च तस्याज्ञानकृतो भवेत्॥"

•

जीवदवस्थायामेव ब्रह्मसाक्षात्कारेणाज्ञाननिवृत्त्या ब्रह्मरूप एव सन् ब्रह्माप्येति प्रारब्धनिवृत्तौ ब्रह्मस्वरूपेणावतिष्ठत इत्यर्थः। तथाच श्रुत्यन्तरं "एवमेवैष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतीरूपं सम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः" इति। तथा च पारमर्षं सूत्रं—"सम्पद्याविर्भावः स्वेन शब्दादि"ति।

तत्र विष्णुपुराणवचनमुदाहरति—विभेदेति। विरुद्धो भेदो यस्यासौ विभेदः। अभेद इति यावत्। तथा च ज्ञानेन-भेदजनके ज्ञाने नष्टे सत्यात्मब्रह्मणोरसन्तं अभेदं कः करिष्यतीति कश्चिन्मूर्खो योजयांचकार, तद् वाक्यशेषापरिज्ञानदोषकृतमत एव तस्य मूर्खत्वमित्याह—तद्भावेति।

ब्रह्मसाक्षात्कारवशात् ब्रह्मभावापत्तौ व्याससूत्रं संवादयति—भगवानिति। अस्मिन् ब्रह्मणि अस्य ब्रह्मविदः तद्योगं ब्रह्मभावापत्तिं शास्ति शास्त्रं "यदाह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दतेऽथ सोऽभयं गतो भवती"त्यादि। अस्यार्थः—यदा यस्मिन् काले एष साधनचतुष्टयसम्पन्नोऽधिकारी श्रवणादिसाधनतत्परः अदृश्ये दृश्यविलक्षणे प्रत्यग्रूपे नित्यापरोक्षसाक्षिणि "यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमस्थूलमन एव ह्रस्वमशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं" "स वा एष महानजरो आत्माऽजरोऽमरः" "सपर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणं" "स एष नेति नेत्यात्मे"त्यादि श्रुत्यन्तरेभ्यः। नात्ममनात्म्यं तस्मिन् स्थूलशरीरविलक्षणे। "अशरीरं शरीरेष्ववनवस्थेष्ववस्थितमि"ति श्रुत्यन्तरात्। न निरुक्तमनिरुक्तं तस्मिन्सूक्ष्मशरीरविलक्षणे।

•

सिद्धान्त किया गया है कि 'स्वेन रूपेण अभिनिष्पद्यते'—इस श्रुति में 'स्व' शब्द से 'मुक्ति' का स्वरूप विशेषित किया गया है। उस कारण पूर्व में भी 'मुक्ति' का स्वरूप है ही।

यदि यह शंका की जाय कि 'स्व' शब्द से 'स्वकीय वस्तु' को बताया जा रहा रहा है, तो यह कहना उचित नहीं है। क्योंकि इस अवस्था में 'विशेषण' व्यर्थ हो जायगा। अर्थात् जिस स्वरूप का 'मुक्ति' में ग्रहण किया जाता है, वह 'स्वकीय' ही है, तो किसको व्यावृत्ति के लिये यह 'विशेषण' दिया गया है? 'स्व' शब्द को यदि 'आत्मवाचक' माना जाय, तो 'स्वकीयत्व' की 'व्यावृत्ति' को प्रयोजन कहना होगा। और 'अभिनिष्पत्ति' से 'उत्पत्ति' विवक्षित नहीं है, क्योंकि जो पूर्व से ही सिद्ध है, उसकी पुनः उत्पत्ति नहीं हो सकती। इसलिये 'अभिनिष्पत्ति' का अर्थ—'तत्त्वज्ञान' से 'ब्रह्मत्व' का आविर्भाव—करना चाहिये। यदि कोई यह कहे कि 'उपसम्पद्य', 'अभिनिष्पद्यते'—इन शब्दों की पुनरुक्ति हो रही है, तो उसका यह कहना उचित नहीं है। क्योंकि 'उपसम्पत्ति' शब्द से 'तत्' पदार्थ का 'शोधनमात्र' विवक्षित है, 'अभिनिष्पत्ति' तो वाक्यार्थ का अवबोध है। अर्थात् 'अभिनिष्पत्ति' का अर्थ,—'आविर्भाव' है। यदि 'मुक्ति' को पूर्व से ही सिद्ध कहा जाय, तो उसमें 'फलत्व' की उपपत्ति कैसे होगी? उपपत्ति इस प्रकार होगी—यद्यपि स्वरूपतः 'मुक्ति' पूर्व से ही सिद्ध है, तथापि 'अज्ञान' से वह 'पूर्वसिद्ध' नही है। अतः 'मुक्ति' का स्वरूप प्राचीन ही है, यह निर्विवाद सिद्ध होता है।

किञ्च—ब्रह्मैवेत्यादि श्रुति का तात्पर्य है—यह आत्मज्ञानवान् जीवन्मुक्त पुरुष, अपनी जीवित अवस्था में ही ब्रह्मसाक्षात्कार के द्वारा 'अज्ञान' के परे हो जाता है, अर्थात् उसका अज्ञान उससे निवृत्त हो जाता है। उस कारण वह एक प्रकार से ब्रह्मरूप बनकर ही देहपात होने तक प्रारब्ध कर्म फल भोगने के किये 'शरीर' धारण किये रहता है। फल भोगने के पश्चात् प्रारब्धकर्मों का क्षय होने पर 'ब्रह्मरूप' से ही स्थित रहता है। अर्थात् ब्रह्मवेत्ता जीवन्मुक्त पुरुष 'ब्रह्मरूप' हो हो जाता है (मुक्त हो जाता है)।

'आत्मज्ञान' का फल 'मोक्ष' (ब्रह्मरूपता, ब्रह्मभावता) ही है। जैसा कि विष्णुपुराण में कहा गया है—'जीव और ब्रह्म' में भेद प्रतीति करानेवाला तो 'अज्ञान' ही है। उस अज्ञान का 'ब्रह्मसाक्षात्कार' के द्वारा आत्यन्तिक नाश हो जाने पर 'जीव' (आत्मा) और 'ब्रह्म' के 'असत् भेद' को कौन करेगा? अर्थात् कोई भी नहीं कर सकेगा। अतः 'ब्रह्मसाक्षात्कार' को प्राप्त करके 'ब्रह्मभावापन्न हुआ यह जीवात्मा', 'ब्रह्म' रूप ही होता है, उससे भिन्न नहीं रहता। इस जीवात्मा का अभी तक 'ब्रह्म' के साथ जो 'भेद' प्रतीत हो रहा था, वह 'अज्ञान' से हो रहा था। उस 'अज्ञान' के नष्ट (निवृत्त) होने से वह 'भेद' भी निवृत्त (नष्ट) हो गया। उस कारण यह जीवन्मुक्त पुरुष, 'अखण्डैक रस ब्रह्मरूप ही हो जाता है। अर्थात् 'मुक्त' हो जाता है।

इत्यादि श्रुतिस्मृतिशतेभ्यः। भगवान् सूत्रकारोऽप्याह—

"अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ती"ति ॥ २४ ॥

तस्मादहं ब्रह्मास्मीति तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्यज्ञानात् ब्रह्मभावलक्षणो मोक्षो भवतीति सिद्धम्; "न स पुनरावर्तते ॥"

•

"इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिः बुद्धेरात्मा महान् परः।
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः ॥"

"प्राणा वै सत्यं तेषामेषसत्यमि"त्यादि श्रुत्यन्तरेभ्यः। निलीयतेऽस्मिन् जगति निलयनं न निलयनमनिलयनं तस्मिन्नज्ञानविलक्षणे। "अक्षरात्परतः पर" इति श्रुत्यन्तरात्। एष कार्यकारणविलक्षणे प्रत्यगभूते सत्यज्ञानानन्दैकरसे ब्रह्मणि अखण्डैकरसब्रह्मात्मनाऽवतिष्ठत इति ॥ २४ ॥

परमप्रकृतमुपसंहरति—तस्मादिति। तत्र श्रुतिस्मृती उदाहरति—नेति। तथा व्यासोऽप्याह—"अनावृत्तिः शब्दादि"ति। तस्मान्मुमुक्षूणामिहैवोत्पन्नसाक्षात्काराणां ब्रह्मलोकं गतानां निष्कामानामुपासकानां वा नाऽऽवृत्तिः। आवृत्तिः शरीरान्तरस्वीकारः, न आवृत्तिरनावृत्तिः जन्ममरणनिवृत्तिर्मोक्ष इति यावत्।

•

विभेदजनके ज्ञाने'—की व्याख्या किसी मूर्ख ने (द्वैतो ने) इस प्रकार की है, जो उपेक्षणीय है विभेद का अर्थ है अभेद। अतः अभेद जनक ज्ञान सर्वथा नष्ट हो जाने पर आत्मा व ब्रह्म के अविद्यमान अभेद को कौन संभव करेगा ? यो अभेदम् ऐसा उसने पदच्छेद किया है। उसकी की हुई यह व्याख्या 'वाक्यशेष' का परिज्ञान, न होने के कारण उचित नहीं है। इस व्याख्या से तो व्याख्याकार की मूर्खता ही स्पष्ट हो जाती है। अत एव यहाँ उससे अगला श्लोक भी दे दिया है जिससे सारा सन्दर्भ स्पष्ट हो जाये।

ब्रह्मसाक्षात्कारवशात् ब्रह्मभावापत्ति होने में व्याससूत्र का संवाद दे रहे हैं—अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति"—(ब्र० सू० १।१।१९) इस ब्रह्मज्ञानी पुरुष का 'ब्रह्म' से अभेद ही है ॥ २४ ॥

इसी तथ्य को श्रुति ने भी बताया है—(तै० उ० २।७) जब यह साधक अदृश्य, अशरीर, अनिर्वचनीय, मायाशून्य, 'ब्रह्म' में भयरहित आत्मभाव (प्रतिष्ठा) करता है, तब वह अभय प्राप्त करता है। और जब वह उस ब्रह्म में किञ्चिन्मात्र भी भेददृष्टि करता है, तब उसे भय प्राप्त होता है। यह 'शास्त्र' अभेद का शासन कर रहा है। अर्थात् साधनचतुष्टयसम्पन्न अधिकारी मुमुक्षुपुरुष, जब 'स्थूल-सूक्ष्म-कारण शरीर' से विलक्षण नित्य अपरोक्षरूप साक्षी 'प्रत्यगात्मा' में अभय प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है, तब वह अधिकारी मुमुक्षुपुरुष, अखण्डैकरस ब्रह्मभाव को प्राप्त होता है।

इससे यह निष्कर्ष निकला कि 'अहं ब्रह्मास्मि', 'तत्त्वमसि'—इत्यादि महावाक्यजन्य अपरोक्ष ज्ञान से 'अज्ञान' की निवृत्तिपूर्वक ब्रह्मभावरूप 'मोक्ष' प्राप्त करता है। अर्थात् उस मुक्त पुरुष की 'पुनरावृत्ति' नहीं होती (उसका पुनः जन्म नहीं होता)। उस प्रत्यगात्मा नित्य अपरोक्ष साक्षी को श्रुति बताती है)। अभिप्राय यही है कि यह जीवात्मा, उस कार्यकारण विलक्षण प्रत्यग्भूत सत्यज्ञानानन्दैकरस ब्रह्म में अखण्डैकरसब्रह्मात्मना स्थित रहता है। उस मुक्तपुरुष का पुनः जन्म नहीं होता। श्रुति कहती है—'न स पुनरावर्तते'—वह मुक्त पुरुष पुनः जन्म को प्राप्त नहीं करता। ब्रह्मसूत्रकार व्यास ने भी 'अनावृत्तिः शब्दात्'—(ब्र० सू० ४।४।२२) इसी जन्म में 'आत्मसाक्षात्कार होने से ब्रह्मलोक को प्राप्त हुए मुमुक्षुओं की अथवा निष्काम उपासकों की अथवा निष्काम उपासकों को अनावृत्ति होती है। 'आवृत्ति' का अर्थ है—'शरीरान्तरस्वीकार'। 'न आवृत्तिः अनावृत्तिः'। अर्थात् उनके 'जन्म-मरण' की निवृत्ति हो जाती है (मोक्ष हो जाता है)। अभिप्राय यह है कि जिस पुरुष को इसी मनुष्य शरीर में 'वेदान्तश्रवण' आदि के द्वारा ब्रह्मसाक्षात्कार हुआ है, उस पुरुष को इसी मनुष्य शरीर में 'ब्रह्मभावरूप मोक्ष' भी हो जाता है। इसी तथ्य को श्रुति ने भी बताया है—

जो निष्काम पुरुष 'अहंग्रहोपासना' करके ब्रह्मलोक को जाते हैं, उन उपासक पुरुषों को 'ब्रह्मलोक' में ही 'ब्रह्मसाक्षात्कार' हो जाता है, और 'ब्रह्मा' के साथ उनका मोक्ष हो जाता है। इसी को स्मृति ने कहा है।

स्मृतिवचन से भी 'ब्रह्मलोक' में पहुँचे हुए निष्काम उपासकों को उस ब्रह्मलोक में ही 'ब्रह्मसाक्षात्कार' हो जाता है, और उनका 'मोक्ष' हो जाता है। किन्तु जो 'सकाम उपासक' हैं, उनके 'ब्रह्मलोक' पहुँचने पर भी पुनरावृत्ति (जन्म प्राप्ति) होती

"तद्बुद्धयस्तदात्मनस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः। गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥"
इत्यादि श्रुतिस्मृतिभ्यः ॥ २५ ॥

श्रीमत्स्वयंप्रकाशाख्यगुरुणा करुणावशात् ॥ उपदिष्टं परात्मैक्यं तत्त्वमावेदितं मया ॥ १ ॥

ब्रह्मेशविष्ण्वादिसमस्तदेवाः स्वस्वाधिकारेषु विभीतचित्ताः ॥
आज्ञावशाद्यस्य वसन्ति सर्वे तं कृष्णमाद्यं शरणं प्रपद्ये ॥ २ ॥

•

"यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा यस्य हृदि श्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥"
इति श्रुतेरस्मिन्मनुष्यशरीरे उत्पन्नब्रह्मसाक्षात्काराणामत्रैव मोक्षो भवति।
"ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे। परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम् ॥"
इत्यादिस्मृतेश्च ब्रह्मलोकगतानां निष्कामानां उपासकानां तत्रैवोत्पन्नब्रह्मसाक्षात्काराणां ब्रह्मणा सह मोक्षो भवति। सकामानां तु ब्रह्मलोकं गतानामपि पुनरावृत्तिरस्त्येव, नेतरेषाम् "इमं मानवमावर्तन्ते" इति श्रुतेरिति सूत्रतात्पर्यार्थः ॥ २५ ॥

इदं सर्वं परमरहस्यं परमकृपालुना गुरुणाऽहमुपदिष्टः, तदेव मया प्रतिपादितमित्याह—श्रीमदिति।

तत्त्वं याथात्म्यं परश्चात्मा च परमात्मानौ तयोरैक्यमथवा परमात्मनो ब्रह्मण ऐक्यं प्रतीचः तच्च तत्त्वं च परमात्मैक्यतत्त्वं उपदिष्टं च परमात्मैक्यतत्त्वञ्च इति तथा। आवेदितं ज्ञापितम् ॥ १ ॥

"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥" इति।

भगवद्वचनानुसारेण भगवन्तं श्रीकृष्णं शरणं याति—ब्रह्मेति। मायोपहितस्य परमात्मन एवान्तर्यामिणः कृष्णशब्दार्थत्वात् ब्रह्मादीनां तदाज्ञावशवर्तित्वमुपपद्यत इति भावः तदुक्तं भगवता—

"अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्। परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥" इति।
"महात्मनन्तु मां पार्थं दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः। भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिव्ययम् ॥" इति।

"श्रीकृष्णस्तु भगवान् स्वयमि"ति श्रीमद्भागवते ॥ २ ॥

•

है। अन्य लोगों की अर्थात् निष्काम उपासकों की नहीं। अर्थात् सकाम पुरुष, 'पंचाग्निविद्या' को उपासना करके 'ब्रह्मलोक' में तो पहुँच जाते हैं, किन्तु उन सकाम पुरुषों को उस ब्रह्मलोक में 'ब्रह्मसाक्षात्कार' नहीं हो पाता। उस कारण उन सकाम पुरुषों को 'ब्रह्मलोक' से पुनः मृत्युलोक में आने के लिये जन्म ग्रहण करना पड़ता है। अर्थात् उनकी पुनरावृत्ति होती है। इस तथ्य को भी श्रुति ने तथा "आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तितोऽर्जुन। इस स्मृति ने उनका पुनरावर्तन बताया है। किन्तु गीता (५.१७) में कहा है—

सर्वत्र परब्रह्म का दर्शन करनेवाले 'ब्रह्म' में सर्वदा 'अहम्' प्रतीति रखनेवाले, 'ब्रह्म' में स्थिर वृत्ति रखनेवाले, अद्वितीय आत्मतत्त्वपरायण, एवं जिन्होंने आत्मज्ञान के द्वारा सम्पूर्ण पापों का प्रक्षालन कर दिया है—ऐसे मुमुक्षु यति, देह-सम्बन्धरहित मुक्ति को प्राप्त होते हैं। एवं च श्रुति तथा स्मृतियों ने अधिकारी मुमुक्षुओं की अपुनरावृत्ति बताई है ॥ २५ ॥

इस प्रकार तत्त्वानुसन्धान का राजमार्ग बताकर ग्रन्थकार अपनी कृतज्ञता प्रदर्शित करते हैं—मेरे गुरु श्रीमत्स्वयम्-प्रकाशचरणों ने करुणार्द्रहृदय होकर 'जीव-ब्रह्मैक्य' रूप तत्त्व का उपदेश मुझे दिया उसे मैंने यथास्थित रूप में सभी के कल्याणार्थ प्रकट कर दिया है ॥ १ ॥

'तत्त्वम्' का अर्थ है—याथात्म्य।

तदनन्तर ग्रन्थकार अपनी भगवच्छरणागति को प्रकाशित कर रहे हैं—

सर्वधर्मानित्यादि भगवद्वचन का (गीता १८।६६) अर्थ यह है कि मोक्ष की कामना-आरुरुक्षु को 'मोक्ष' प्राप्ति के लिये केवल ईश्वर की शरण लेकर 'कर्मयोग' का ही अनुष्ठान करना चाहिये। किन्तु जो 'आरूढ' है, उसको तो आविर्भूत आत्म-विज्ञान के अप्रतिबद्धत्व की सिद्धि के लिये सर्वकर्मसंन्यासपूर्वक 'ज्ञाननिष्ठा' ही करनी चाहिये' ॥—इस भगवद्वचन के अनुसार अपनी शरणागति को समर्पित कर रहे हैं—ब्रह्मा, महेश और विष्णु, आदि समस्त देवगण, अपने-अपने कार्यों के सम्पादन करने में अर्थात् स्वकर्तव्यपालन बड़ी दक्षता से करते रहते हैं, कर्तव्यपालन करने में कहीं प्रमाद न हो जाय तदर्थ

या भारती शर्वविरिञ्चिविष्णुदेवादिभिर्नित्यमुपास्यमाना ॥
सदाऽक्षमालाविलसत्कराग्रां वाग्वादिनीं तां प्रणमामि देवीम् ॥ ३ ॥
आकाशपुष्पमिव विश्वमहं निरीक्षे मग्नोऽस्मि नित्यसुखबोधरसामृताब्धौ ॥
प्रत्यक्षमद्वयमनन्तसुखप्रबोधं साक्षात्करोमि पदभावनया गुरूणाम् ॥ ४ ॥
यत्पादयुग्मकमलाश्रयणं विनाऽहम् । संसारसिन्धुपतितः सुखदुःखभाक् स्याम् ॥
यत्पादयुग्मकमलाश्रयणात्सुतीर्णः तद्देशिकाङ्घ्रिकमलं प्रणतोऽस्मि नित्यम् ॥ ५ ॥

•

इदानीं स्वेष्टदेवतां वाग्वादिनीं नमस्करोति—येति ॥ ३ ॥

ननु—"उदरमन्तरं कुरुतेऽथ तस्य भयं भवती"ति भेददर्शिनोऽनर्थश्रवणान्निर्गुणं ब्रह्मैवानुसन्धेयमित्याशङ्क्य गुरुप्रसादादहमेव निर्गुणं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं ब्रह्म, न मत्तोऽन्यत् किञ्चिदस्ति दृश्यमाननामरूपयोर्वन्ध्यापुत्रवदत्यन्ततुच्छत्वेन निश्चितत्वादित्यभिप्रेत्याह—आकाशेति । श्रीगुरूणां पादारविन्दभावनया प्रत्यगात्मानमद्वितीयंसाक्षात्करोमि ।

"यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ । तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥"

इति श्रुतेरिति भावः ॥ ४ ॥

इममेवार्थमन्वयम् यत्पादेति ॥ ५ ॥

•

सर्वदा साशंकमन से रहते हैं । सभी देवगण ही क्या, सम्पूर्ण विश्व, जिसकी आज्ञा के वंशगत रहता है । उस आद्यपरब्रह्मरूप भगवान् श्रीकृष्ण के पादपद्म में मैं शरण जा रहा हूँ ॥

'माया' रूप उपाधि से उपहित अन्तर्यामी परमात्मा ही 'कृष्ण' शब्द का अर्थ है । अतः ब्रह्मादि समस्त देवताओं का उसके वंशगत रहना उचित ही है ।

भगवान् ने गीता (९।११) में कहा भी है—

सम्पूर्णभूतों के (प्राणिमात्र के) ईश्वर मेरे विलक्षण सच्चिदानन्दस्वरूप को शास्त्र या आचार्य के द्वारा न जानकर मूढपुरुष, सम्पूर्ण प्राणियों के शरीर में साक्षीरूप से स्थित मेरा तिरस्कार करते हैं, किन्तु (९।१३) हे पार्थ ! दैवी सम्पत्ति (प्रकृति) का आश्रय करने वाले, जन्म-जन्मान्तर से समाराधित परमेश्वर के अत्यन्त अनुग्रहपात्र हुए महात्मा लोग, समस्त भूतों (चराचरजगत्) के उत्पादक मुझ अव्यय को जानकर बड़ी प्रसन्नता से अनन्यचित्त होकर मेरी ही सेवा करते हैं । अर्थात् यह दृश्यमान सम्पूर्ण जगत् भी 'ब्रह्मरूप' है और मैं स्वयं भी 'ब्रह्मरूप' हूँ—इस प्रकार की अप्रतिबद्धवृत्ति से सर्वदा 'ब्रह्म' को ही देखते हैं ॥ १३ ॥

श्रीमद्भागवत ने तो 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'—'श्रीकृष्ण' को स्वयं भगवान् (परब्रह्म) ही कहा है ॥ २ ॥

अब ग्रन्थकार अपनी इष्टदेवता वाग्वादिनी को प्रमाण कर रहे हैं—जिस भारती सरस्वती की शिव, ब्रह्मा, विष्णु तथा अन्य सभी देव-दानव आदि नित्य उपासना किया करते हैं, और जसकी करांगुलि पर जपमाला सर्वदा सुशोभित रहती है, उस 'वाग्वादिनी' देवी को मैं प्रणाम करता हूँ ॥ ३ ॥

शंका—भेददर्शी के लिये 'अनर्थ' का श्रवण होने से 'निर्गुणब्रह्म' का ही अनुसंधान करना योग्य है । सगुण ब्रह्म का अनुसंधान करना उचित नहीं है ।

समा०—गुरुचरणों की कृपा से 'मैं' स्वयं ही निर्गुण, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव ब्रह्म हूँ, मुझसे अन्य कहीं कुछ भी नहीं है, यह दृश्यमान 'नाम-रूप', वन्ध्यापुत्र के समान निश्चित ही अत्यन्त तुच्छ है—इस अभिप्राय से ग्रन्थकार कह रहे हैं—

आकाशपुष्प की तरह मैं सम्पूर्ण विश्व को देखता हूँ । और नित्यसुखबोधरसामृतसिन्धु में मग्न रहता हूँ, अर्थात् उसी अमृतसमुद्र में डूबा रहता हूँ । तथा श्रीसद्गुरु के चरणकमलों का ध्यानकर 'प्रत्यक् अद्वय-अनन्त-सुख-प्रबोधात्मक ब्रह्म का साक्षात्कार करता हूँ ॥ ४ ॥

श्रीसद्गुरु के चरणकमलों का ध्यान किये बिना अद्वितीय प्रत्यगात्मा का साक्षात्कार होना संभव नहीं है । क्योंकि गुरुभक्ति के बिना शास्त्रप्रतिपादित तत्त्वों का प्रकाश, शिष्यों के हृदय में नहीं हो पाता । गुरुभक्ति से ही शास्त्रीयतत्त्व हृदय में स्फुरित होने लगते हैं ।

परमसुखपयोधौ मग्नचित्तो महेशं हरिविधिसुरमुख्यान् देशिकं देशिकानाम् ।
जगदपि न विजाने पूर्णसत्यात्मसंवित् सुखतनुरहमात्मा सर्वसंसारशून्यः ॥ ६ ॥

•

गुरुचरणारविन्दध्यानलब्धब्रह्मानुभवं प्रकटयति द्वाभ्यां श्लोकाभ्याम्—परमेत्यादिना। प्रपञ्चमिथ्यात्वनिश्चयेन ध्यानयोगेन परमानन्दाकारान्तःकरणसौक्ष्म्यात् साक्षात्कारेणाज्ञान-तत्कार्ययोर्बाधितत्वात् ब्रह्मविष्णुमहेश्वरोपाधीनां गुणिमायाबाधेन तदुपाधीनां च बाधात् जगदपि किञ्चित् न जानामीति। तर्हि कथं तिष्ठति ? इत्याकाङ्क्षायां तदवस्थितिं दर्शयति—पूर्णेति।

पूर्णः अपरिच्छिन्नः॥ सत्यात्मा कालत्रयाबाधितस्वरूपः। संवित् चिद्रूपः। सुखतनुः सुखस्वरूपः। सर्वसंसारशून्यः। "असङ्गो ह्ययं पुरुष" इत्यादिश्रुत्या कर्तृत्वादिसर्वसंसारवर्जितः आत्माऽहमित्यनुभवामीत्यर्थः॥ ६॥

भिन्नतया स्वेष्टदेवतामपि न पश्यामीत्याह—यदुकुलेति। तत्र हेतुमाह—परमसुखेति॥ ७॥

उपासकानां कार्यार्थं तमसो विनिवर्तकम्॥ श्रीकृष्णस्य गलेऽद्वैतचिन्ताकौस्तुभमर्पितम्॥ १॥

अध्यारोपापवादोन्मृदितजडतनुर्द्वैतहेतुः परात्मा आम्नायान्तैकगम्यः श्रुतिमतिसहितध्यानयोगेन बन्द्यें॥

क्षीणे साक्षात्कृतोसौ मुनिवरनिकरैः शुद्धसत्वैरुदारैर्मुकुंगम्यो मुकुन्दो यदुकुलतिलकः श्रेयसे भूयसेऽस्तु॥ २॥

जिज्ञासितव्यो विमलान्तरङ्गैरानन्दविज्ञानसदेकरूपः॥ वेदान्तवेद्यो यतिवर्यगम्यो गोपीजनेशः प्रदिशत्वभीष्टम्॥ ३॥

वाणीति वेदवचनानि वदन्ति देवीम् यामात्मयोनिगृहिणीं हृदये स्मरन्ति।

यच्चिन्तया सकलशास्त्रकृतो भवन्ति तामनतोऽस्मि सततं प्रणतेष्टदात्रीम्॥ ४॥

•

अर्थात् यह दृश्यमान सम्पूर्ण जगत् भी 'ब्रह्मरूप' है और मैं स्वयं भी 'ब्रह्मरूप' हूँ—इस प्रकार की अप्रतिबद्धवृत्ति से सर्वदा 'ब्रह्म' को ही देखते हैं॥ १३॥

श्रीमद्भागवत ने तो 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'—'श्रीकृष्ण' को स्वयं भगवान् (परब्रह्म) ही कहा है॥ २॥

अब ग्रन्थकार अपनी इष्टदेवता वाग्वादिनी को प्रणाम कर रहे हैं—जिस भारती सरस्वती को शिव, ब्रह्मा, विष्णु तथा अन्य सभी देव-दानव आदि नित्य उपासना किया करते हैं, और जिसकी करांगुलि पर जयमाला सर्वदा सुशोभित रहती है, उस 'वाग्वादिनी' देवी को मैं प्रणाम करता हूँ॥ ३॥

शंका—भेददर्शी के लिये 'अनर्थ' का श्रवण होने से 'निर्गुणब्रह्म' का ही अनुसंधान करना योग्य है। सगुण ब्रह्म का अनुसन्धान करना उचित नहीं है।

सम०—गुरुचरणों की कृपा से 'मैं' स्वयं ही निर्गुण, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव ब्रह्म हूँ, मुझसे अन्य कहीं कुछ भी नहीं है, यह दृश्यमान 'नाम-रूप', वन्ध्यापुत्र के समान निश्चित ही अत्यन्त तुच्छ है—इस अभिप्राय से ग्रन्थकार कह रहे हैं। आकाश पुष्प की तरह मैं सम्पूर्ण विश्व को देखता हूँ। और नित्यसुखबोधरसामृतसिन्धु में मग्न रहता हूँ, अर्थात् उसी अमृत-समुद्र में डूबा रहता हूँ। तथा श्रीसद्गुरु के चरण कमलों का ध्यान कर 'प्रत्यक् अद्वय-अनन्त-सुख-प्रबोधात्मक ब्रह्म का साक्षात्कार करता हूँ॥ ४॥

श्री सद्गुरु के चरणकमलों का ध्यान किये बिना अद्वितीय प्रत्यगात्मा का साक्षात्कार होना संभव नहीं है। क्योंकि गुरुभक्ति के बिना शास्त्रप्रतिपादित तत्त्वों का प्रकाश, शिष्यों के हृदय में नहीं हो पाता। गुरुभक्ति से ही शास्त्रीयतत्त्व हृदय में स्फुरित होने लगते हैं। उक्त अर्थ को ही अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा अभिव्यक्त कर रहे हैं—जिन गुरुचरणों के पादपद्मयुगल का आश्रय किये बिना मैं संसारसमुद्र में गिरकर सुख-दुःख से युक्त हो जाऊँगा। किन्तु जिन श्री सद्गुरु के चरणकमलयुगलों का आश्रय करने पर संसार समुद्र को मैंने पार कर लिया उन सद्गुरु के चरणकमलों पर मैं नित्य प्रणाम करता हूँ॥ ५॥

अब सद्गुरु के चरणारविन्द का ध्यान करने से ब्रह्मानुभव को प्राप्ति को दो श्लोकों के द्वारा प्रकट कर रहे हैं—परमानन्द (परमसुख) के क्षीर समुद्र में मग्न चित्त हुआ मैं, महेश, विष्णु, ब्रह्मा, तथा अन्यान्य प्रधान देवताओं को तथा गुरुओं के भी गुरु को एवं जगत् को भी नहीं जान पा रहा हूँ, अर्थात् आत्मतत्त्व के सिवाय मैं सबको भूल गया हूँ। प्रपञ्च मिथ्यात्व का निश्चय करानेवाले ध्यानयोग के द्वारा परमानन्दाकार हुए अन्तःकरण की सूक्ष्मता के कारण जो आत्म-

यदुकुलवररत्नं कृष्णमन्यांश्च देवान् मनुजपतिमृगादीन् ब्राह्मणादीन्न जाने ।
परमसुखसमुद्रे मज्जनात्तन्मयोऽहम् गलितनिखिलभेदः सत्यबोधैकरूपः ।। १५ ।।

इति श्रीपरमहंस-परिव्राजकाचार्य-श्रीमत्स्वयंप्रकाशानन्दसरस्वतीपूज्यपादशिष्य-भगवन्महादेवसरस्तीमुनिविरचिते तत्त्वानुसन्धाने चतुर्थः परिच्छेदः । समाप्तश्चायं ग्रन्थः
ॐ तत्सत् ।। शुभं भवतु ।।

•

दुरन्तसंसारमहाम्बुराशेः समुद्धृतो येन कृपालुनाऽहम् । महत्तमं तं पुरुषोत्तमं श्रीस्वयंप्रकाशं गुरुमानतोऽस्मि ।। ५ ।।
यन्नामरूपाणि निरस्य वेदो यद्बोधयेन्नित्यनिरस्तमोहम् । प्रसन्नरूपं परिपूर्णरूपमहं तदेवास्मि विमुक्तमव्ययम् ।। ६ ।।

इति श्रीमत्परहंसपरिव्राजकाचार्य-श्रीमत्स्वयंप्रकाशानन्दसरस्वतीपूज्यपादशिष्य-भगवन्महादेवानन्दसरस्वतीमुनिविरचिते तत्त्वानुसंधानव्याख्यानेऽद्वैतचिन्ताकौस्तुभे चतुर्थः परिच्छेदः समाप्तः ।।
ॐ तत्सत् । शुभमस्तु ।।

•

साक्षात्कार हुआ, उससे अज्ञान और उसके कार्य का बाघ हो गया । उस कारण उपाधियों का बाघ होने से मैं जगत् को भी कुछ नहीं जानता । यदि जगत् को नहीं जानते तो रहते कैसे हो ! यह शंका होने पर उसकी अवस्थिति को प्रदर्शित करते हैं-- मुझे पूर्णसत्यात्मसंवित् हो गई है । अर्थात् अपरिच्छिन्न (पूर्ण), और तीनों कालों में जिसका स्वरूप अवाधित (सत्यात्मा) है, और जो संवित् अर्थात् चिद्रूप है । जो सुखतनु अर्थात् सुखस्वरूप है, और जो सर्वसंसार शून्य है । अर्थात् 'असंगोह्ययं पुरुषः' इस श्रुति ने बताया है कि कर्तृत्वादि सर्वसंसारवर्जित ऐसा 'आत्मा',—'मैं' हूँ–यह अनुभव कर रहा हूँ ।।

अपने से भिन्नरूप में अपनी इष्ट देवता को भी मैं नहीं देख पा रहा हूँ---इसे बता रहे हैं, यदुकुल के श्रेष्ठ रत्न श्रीकृष्ण को तथा अन्य देवताओं को मनुजपति राजा, महाराजाओं को तथा मृगादि पशुओं को एवं ब्राह्मण-क्षत्रियादिकों को भी मैं अब नहीं जान पा रहा हूँ। अर्थात् मुझे अब किसी की भी पहिचान (प्रत्यभिज्ञा) नहीं रही । क्योंकि परमानन्द के समुद्र में अवगाहन करने से मैं तन्मय (आनन्दमय) हो गया हूँ, अब सम्पूर्ण भेदबुद्धि, पूर्णतया गल गई है (नष्ट हो गई है) । अब तो मैं 'सत्यबोधैकरूप' हो गया हूँ ।। ७ ।।

।। अद्वैतचिन्ताकौस्तुभसंवलित तत्त्वानुसंधान की मुसलगाँवकरोपनामक श्रीगजाननशास्त्री द्वारा विरचित 'साक्षात्कार' नामक व्याख्या में चतुर्थ परिच्छेद समाप्त हुआ ।।
।। श्रीकृष्णार्पणमस्तु ।।